अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

(Principles of Economics)

लेखक :-
विजयेन्द्र पाल सिंह
एम० ए०, एल- एल० बी०,
अर्थशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

PRINCIPLES OF ECONOMICS

नवयुग साहित्य सदन,
लोहामन्डी, आगरा-२

अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' का ग्यारहवाँ संस्करण प्रस्तुत करते हुए लेखक अत्यन्त हर्ष अनुभव करता है। इसका पहला संस्करण सन् १९५६ से प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार एक अल्प अवधि में ही पुस्तक के इतने संस्करण बिकना इस बात का साक्षी है कि वह विद्यार्थियों के लिए पर्याप्त उपयोगी प्रमाणित हुई।

पिछले संस्करण में महत्वपूर्ण संशोधन किये गये थे। प्रस्तुत संस्करण के संशोधन भी महत्वपूर्ण और विस्तृत हैं। विषय सामग्री में नये विकासों को दृष्टिगत रखते हुए अनेक सुधार किये गये हैं। अभी हाल में विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में कुछ असाधारण परिवर्तन किये गये हैं। संशोधन करने में इन परिवर्तनों का भी समुचित ध्यान रखा गया है।

सम्पूर्ण पुस्तक को भाषा की दृष्टि से अधिक रोचक और सरल बनाने की चेष्टा की गई है। आशा है कि पुस्तक अब अधिक उपयोगी प्रमाणित होगी।

लेखक उन अध्यापकों और विद्यार्थियों के प्रति आभारी है जिन्होंने इस पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने हेतु विभिन्न सुझाव दिये हैं।

—लेखक

अनुक्रमणिका

[पहला भाग]
विषय-परिचय

[दूसरा भाग]
उपभोग

[तीसरा भाग]
उत्पत्ति

१

अर्थशास्त्र की परिभाषा

(Definition of Economics)

प्रारम्भिक—परिभाषा की समस्या

किसी भी वस्तु को परिभाषा के बन्धन मे बाँधना कठिन होता है। उन शब्दों की परिभाषा तो और भी कठिन होती है जिनसे हम अपने दैनिक जीवन मे सबसे अधिक परिचित होते हैं। किन्तु फिर भी परिभाषा की आवश्यकता तो होनी ही है किसी भी विषय अथवा शास्त्र का अध्ययन आरम्भ करने से पहले उसकी परिभाषा दी जाती है। परिभाषा का प्रमुख लाभ यह होता है कि हम आरम्भ में ही यह जान लेते हैं कि जिस विषय का हम अध्ययन करने जा रहे है, वह यथार्थ मे क्या है। अर्थशास्त्र का अध्ययन भी हम इसकी परिभाषा से ही आरम्भ करते हैं। किन्तु अर्थशास्त्र की परिभाषा के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन कठिनाइयाँ हैं :—

(१) क्या अर्थशास्त्र की परिभाषा देना आवश्यक है ? अर्थशास्त्रियों के एक वर्ग की सम्मति मे अर्थशास्त्र की परिभाषा देने की कोई आवश्यकता नहीं है। रिचार्ड जोन्स एवं काम्टे और आधुनिक विद्वान **जेकब वीनर, मौरिस डौब वॉन माइजेस एव गुन्नार मिर्डल** ऐसे ही अर्थशास्त्री है। इनका कहना है कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे निरन्तर विस्तार होता जा रहा है, जिस कारण आज जो परिभाषा दी जाती है वह कल अनुपयुक्त हो जाती है। पुनः अन्य शास्त्रों से भी अर्थ-शास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध है, अतः अर्थशास्त्र की एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है। जब ऐसा है तो परिभाषा देने का प्रयास बेकार है। जेकब वीनर (Jacob Viner) ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "अर्थशास्त्री जो करें वही अर्थशास्त्र है।"[1] हमारी सम्मति मे परिभाषा देना आव-श्यक है, क्योंकि इससे अध्ययन का क्षेत्र स्पष्ट हो जाता है।

(२) पहले परिभाषा की जाय या विषय की विवेचना ? प्राचीन अर्थशास्त्री विषय की विवेचना पहले करते थे और परिभाषा बाद मे। इसके पीछे सम्भवतः यह तर्क छिपा था कि जब हमें यही ज्ञान नहीं है कि अर्थशास्त्र का विषय क्या है, तो हम उसकी परिभाषा को कैसे समझेंगे ? इसके विपरीत, आधुनिक अर्थशास्त्री पहले परिभाषा करते है और विषय की विवेचना बाद मे, जिसका कारण उन्होंने यह बताया है कि परिभाषा अध्ययन के क्षेत्र को सीमित कर देती है और जिज्ञासु इधर-उधर भटकने नहीं पाता है।

(३) कौन-सी परिभाषा को मानें ? कालान्तर मे अर्थशास्त्र की परिभाषाओं के निर्माण का कार्य बराबर होता चला आया है और अभी तक भी नई परिभाषायें बनाने और दूसरों की परिभाषाओं की आलोचना करने का क्रम बन्द नहीं हुआ है। आज भी हम यह नहीं कह सकते कि भविष्य मे अर्थशास्त्र की और नई परिभाषायें नहीं होंगी।[2] अर्थशास्त्र की इतनी परिभाषाएँ हुई है कि डा० कीन्स को यह कहना पड़ा कि इस शास्त्र ने परिभाषाओं मे अपना

---

1. "Economics is what economists do" —Jacob Viner.
2. "Eonomics is an unfinished science."—F. Zuethen : *Economic Theory and Method*, p. 3.

गला घोट लिया है ।[1] बारबरा ऊटन के इस व्यंग्य में भी कटु सत्य छिपा हुआ है कि जब कभी भी छ: अर्थशास्त्री एकत्रित होते है तो मत सात होते हैं ।[2] परिभाषाओं की इस अधिकता के कारण विद्यार्थी को इस विषय के समझने मे बहुधा कठिनाई होती है । वैसे भी इन विभिन्न परिभाषाओं मे आपस मे इतने अधिक अन्तर हैं कि किसी का भी उलझन मे पड जाना स्वाभाविक ही है । इस उत्तर के निम्नलिखित तीन मुख्य कारण है :—

(अ) **प्राय: प्रत्येक प्राचीन लेखक ने अर्थशास्त्र के विषय की विवेचना पहले की और परिभाषा बाद में दी ।** इसी का परिणाम यह था कि प्रत्येक लेखक ने जो परिभाषा दी उसकी रचना में उसने उन सभी समस्याओं को, जिनकी वह विवेचना कर चुका था, सम्मिलित करने का यत्न किया । अन्य शब्दो मे, आर्थिक समस्याओं पर विचार पहले किया गया, अर्थशास्त्र पर बाद में । चूंकि किन्हीं दो लेखकों की चुनी हुई आर्थिक समस्याएं एक जैसी न थीं, इसलिये विभिन्न लेखको द्वारा दी गई परिभाषाएं भी भिन्न प्रकार की थी ।

(ब) *बहुधा अर्थशास्त्र के लेखकों ने इस शास्त्र की परिभाषा तथा इसके विषय के* सम्बन्ध मे एक न एक कारणवश (जैसे—रसकिन और कारलयल जैसे विद्वानों की आलोचना के फलस्वरूप) **उलट-फेर करने का** प्रयत्न किया । इस प्रकार, बार-बार परिभाषाओं के बदलने के कारण अर्थशास्त्र की अनेक और विभिन्न परिभाषाएं जमा हो गईं ।

(स) **अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य और उसकी क्रियाओं से है ।** एक ओर तो स्वयं मनुष्य ही एक परिवर्तनशील प्राणी है और दूसरी ओर, जीवन की भौतिक दशायें भी बदलती रही हैं । फलतः अर्थशास्त्र भी निरन्तर उन्नति कर रहा है और इसलिए इसकी परिभाषायें बार-बार बदली गयी हैं ।

सौभाग्यवश अर्थशास्त्र के विषय मे अन्धकार अब बहुत कुछ दूर हो गया है, क्योंकि (i) आजकल अर्थशास्त्र के पण्डितों को उन सभी आक्षेपो का सामना नही करना पड़ता जो कि उनके पूर्वजों को भुगतने पडे थे । (ii) अर्थशास्त्र के महत्त्व को भी समार ने अब समझ लिया है । (iii) वर्तमान काल में अर्थशास्त्रीय लेखको को काम करने मे सुविधा भी हो गई है । (iv) अर्थशास्त्र का विषय और इसका क्षेत्र एक बडे अंश तक निश्चित हो चुके हैं । अत. अब इसकी परिभाषा तर्कशास्त्र(Logic) के नियमों के आधार पर बनाना सम्भव हो गया है । सच पूछिये तो परिभाषा देने के पश्चात् अर्थशास्त्र के विषय की विवेचना करने का श्रेय *आधुनिक अर्थशास्त्रियों* को ही है ।

अर्थशास्त्र की परिभाषाओं का इतिहास

विवेचन का अभाव—सदेह नही कि प्राचीन काल में भी आर्थिक समस्याएं थी और इन समस्याओ पर विचार भी किया गया था, परन्तु प्राचीन काल मे मनुष्य का जीवन वर्तमान समय की भांति संघर्षमय न था, जनसख्या थोडी थी और मनुष्य की आवश्यकताओं का विकास नही हुआ था । मानवी आवश्यकताओ की सख्या भी वर्तमान की तुलना मे बहुत कम थी । इसके अतिरिक्त प्राकृतिक साधनो की प्रचुरता थी और प्रकृति की कृपणता अपने वर्तमान रूप में विद्यमान नही थी । यही कारण है कि लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओ मे साहित्य, ललित कलाओं और दर्शन-शास्त्र का तो विकास दृष्टिगोचर होता है, परन्तु अर्थशास्त्र की विवेचना कम दिखाई पडती है ।

---

1 "Political Economy is said to have strangled itself with *definitions.*" —**Dr. J M Keynes** *Scope and Methods of Political Economy*, p. 153.

2 "Whenever six economists are gathered there are seven opinions." —**Barbara Wootten** . *Lament for Economics*, p. 14.

संकुचित विवेचना—ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि एक आर्थिक तथ्य के ' में धन की विवेचना १५वीं और १६वीं शताब्दी में आरम्भ हुई। इस काल में पहले जिन त्तों ने आर्थिक विषयों की विवेचना की थी वे शायद आर्थिक समस्याओं की वास्तविक प्रकृति परिचित न थे। ये समस्यायें वास्तविक रूप में उनके सामने आती भी न थी। आरम्भ में नी विद्वानों ने अर्थशास्त्र को **'घरबार के प्रबन्ध की कला'** के रूप में समझा था। आगे चल- ' अर्थशास्त्र के क्षेत्र में थोड़ा विस्तार हुआ और इसे **'राज्य के प्रबन्ध की कला'** कहा गया। द्ध यूनानी विद्वान प्लेटो (Plato) और अरस्तू (Aristotle) ने अपने अध्ययन को घर के प्रबन्ध, ज्य की आय (State Revenues) तथा व्यवसायों के नियन्त्रण तक ही सीमित रखा। इसी गर, **वाणिज्यवादी अर्थशास्त्रियों** (Mercantilists) ने भी अर्थशास्त्र को राज्य द्वारा बहुमूल्य तुएँ बटोरने के साधन के रूप में ही ग्रहण किया। इन सभी विद्वानों का दृष्टिकोण संकुचित '। बाद में **प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों** (Physiocrats) ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र का थोड़ा विस्तार र दिया है।

पृथक अध्ययन का आरम्भ—वास्तविक अर्थ में अर्थशास्त्र का अध्ययन एडम स्मिथ से ारम्भ होता है, जिन्हें 'अर्थशास्त्र के पिता' की पदवी दी गई है। तब अर्थशास्त्र को पृथक शास्त्र रूप में अध्ययन करने की प्रथा बराबर चली आ रही है और तभी अर्थशास्त्र की परिभाषाएँ रने का क्रम भी सच्चे अर्थ में आरम्भ हुआ है।

यहाँ अर्थशास्त्र के नाम के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है जो यह कि जन्म के मय (१७७६) में इस शास्त्र का नाम **'राज्य-अर्थ-व्यवस्था'** (Political Economy) था। किन्तु ८९० में, जब मार्शल ने अपनी अर्थशास्त्र विषयक प्रसिद्ध पुस्तक का नाम (Principles of conomics रखा, इसका नाम **'राज्य-अर्थ-व्यवस्था'** के बजाय **'अर्थशास्त्र'** हो गया। कारण स समय तक अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत विकसित हो गया था, जिस कारण राज्य-अर्थ-व्यवस्था सा संकीर्ण नाम अनुपयुक्त प्रतीत हुआ। आजकल एक नये नाम **'आर्थिक विश्लेषण'** (Econo- nic Analysis) का प्रयोग बढ़ता जा रहा है, उदाहरण के लिए, प्रो० बोल्डिंग ने अपनी अर्थ- शास्त्र सम्बन्धी पुस्तक का नाम 'आर्थिक विश्लेषण' रखा है।

परिभाषाओं का वर्गीकरण
(Classification of Various Definitions)

यद्यपि अर्थशास्त्र की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं, परन्तु कुछ सामूहिक विशेषताओं के आधार पर इन परिभाषाओं को साधारणतया चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(I) धन-परिभाषायें—(Wealth Definitions) ऐसी परिभाषाओं में अर्थशास्त्र को 'धन का, प्राकृत ... , एडम स्मिथ, जे. वेकर, मार्शल, जे. एस. मिल, ... , ... अर्थशास्त्रियों ने यह दृष्टिकोण अपनाया। इन परिभाषाओं में मनुष्य की अपेक्षा धन को अधिक महत्व दिया गया, जो एक संकुचित दृष्टिकोण है।

(II) कल्याण परिभाषाएँ (Welfare Definitions)—ये परिभाषायें धन की अपेक्षा मनुष्य पर अधिक बल देती हैं। इनमें अर्थशास्त्र को मनुष्य के भौतिक कल्याण का शास्त्र बताया जाता है। इस प्रकार की परिभाषायें मुख्यतः मार्शल (Marshall) से आरम्भ होती हैं। अधि- कांश आधुनिक लेखकों का दृष्टिकोण यही है।

(III) दुर्लभता परिभाषाएँ (Scarcity Definitions)—इन परिभाषाओं में अर्थ- शास्त्र को सीमित साधनों का अध्ययन बताया गया है। कहा जाता है कि आर्थिक समस्या उत्पन्न हो इस कारण होती है कि हमारे पास हमारी आवश्यकता की तुलना में साधन सीमित होते हैं।

यह दृष्टिकोण प्रो॰ रोबिन्स (Robbins) ने प्रस्तुत किया है और इसे 'नया दृष्टिकोण' कहा जाता है।

(IV) अन्य परिभाषाएँ (Other Definitions)—चौथे वर्ग में उन सभी परिभाषाओं को सम्मिलित किया जाता है जो ऊपर के तीन वर्गों में से किसी में भी सम्मिलित नहीं की जा सकती है। ऐसी परिभाषाओं को हम 'अन्य परिभाषायें' कह सकते है। इनमे समाजवादी एवं अन्य परिभाषायें सम्मिलित है।

(I) धन परिभाषायें
(Wealth Definitions)

अर्थशास्त्र का प्राचीन नाम 'राजनीतिक शास्त्र' (Political Economy) था। लगभग सभी प्राचीन लेखकों ने राजनीतिक अर्थशास्त्र को ऐसा अध्ययन बताया है कि जिसका सम्बन्ध धन से है। जैसा कि नाम से ही सिद्ध होता है, राजनीतिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य राज्यों के लिए धन या साधन जुटाना था। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को 'राज्य के कर लगाने और इन्हे एकत्रित करने की कला' के रूप मे समझा था। यही कारण है कि इस शास्त्र को 'धन का शास्त्र' (Science of Wealth) कहा गया। इस सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण परिभाषायें दी जा रही है :—

(१) अंग्रेज विद्वान एडम स्मिथ—इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "वैल्थ ऑफ नेशन्स" (Wealth of Nations) का नाम ही इस प्रकार रखा कि अर्थशास्त्र का विषय क्षेत्र स्पष्ट हो जाय। स्मिथ के अनुसार, अर्थशास्त्र "राष्ट्रों के धन के स्वरूप और कारणों की जाँच" करने वाला शास्त्र है।[1]

(२) फ्रांसीसी लेखक जे॰ बी॰ से—"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो धन का अध्ययन करता है।"[2]

(३) अमेरिकन अर्थशास्त्री वाकर (Walker)—"अर्थशास्त्र ज्ञान का वह समूह है जो धन से सम्बन्धित है।"[3]

(४) भारतीय विद्वान चाणक्य—"धर्म अथवा सदाचार (Virtue) और आनन्द (Enjoyment) धन से ही मिलते है।"

(५) शुक्र—"मनुष्यों को पवित्रता" सन्तोष और मुक्ति धन से ही प्राप्त होते हैं।

मुख्य विशेषतायें—

(१) मनुष्य के अध्ययन की उपेक्षा—उक्त परिभाषाओं को देखने से पता चलता है कि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने विशेष महत्व धन और इसके अध्ययन को दिया, मनुष्य को नहीं, यद्यपि इस सम्बन्ध मे भारतीय विद्वान दूसरों से फिर भी आगे बढ गये थे।

(२) आर्थिक मनुष्य की कल्पना—एडम स्मिथ ने तो अर्थशास्त्र मे आर्थिक मनुष्य (Economic Man) के विचार को उत्पन्न करके और भी कठिनाई उत्पन्न कर दी। स्मिथ का विचार था कि आर्थिक मनुष्य केवल अपने स्वार्थ को ही ध्यान मे रखकर कार्य करता है और उसी को आगे बढाने का प्रयत्न करता है।

---

1 "An Enquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations." —Adam Smith.

2 "Economics is the science which treats of wealth."—J. B. Say.

3 "Economic is that body of knowledge which relates to wealth"—Francis A. Walker : *Political Economy*, (1883).

प्रमुख आलोचनायें—

(१) *'धन' को मनुष्य से अधिक महत्व देना*—उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में धन को, जो यथार्थ में मानव सुख का एक साधन मात्र है, मनुष्य से भी ऊँचा स्थान दिया गया, जिस कारण ऐसा आभास हुआ कि मनुष्य के जीवन में धन ही सब कुछ है। परिणामतः यूरोप के पूँजीपतियों ने उचित और अनुचित रीति से धन का जुटाना ही जीवन का लक्ष्य बना लिया। निःसन्देह इससे धन की तो बहुत वृद्धि हुई, परन्तु मानव समाज के हितों की उन्नति न हो सकी। इन परिस्थितियों में यह स्वाभाविक था कि अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्री दोनों की ही निन्दा की जाये। १९वीं शताब्दी में कारलायल (Carlyle), विलियम मोरिस (William Morris), रस्किन (John Ruskin) और दूसरे विद्वानों ने अर्थशास्त्र की कड़ी आलोचनायें कीं। उन्होंने इस शास्त्र को "कुबेर की विद्या" (Gospel of Mammon), "रोटी व मक्खन का शास्त्र" (Bread and Butter Science) तथा इस प्रकार के अन्य घृणित नामों से सम्बोधित किया। इन लेखकों ने कुछ इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न कर दिया कि सभी ने अर्थशास्त्र को एक तुच्छ, निकृष्ट तथा नीचा शास्त्र समझना आरम्भ कर दिया। इस दृष्टिकोण ने अर्थशास्त्र के विकास में बहुत बाधा डाली।

(२) *मानव जीवन का उद्देश्य संकुचित होना*—इन अर्थशास्त्रियों ने धन को जमा करना ही मानव जीवन का उद्देश्य बना दिया और आर्थिक मनुष्य के विचार को उत्पन्न करके मनुष्य को स्वार्थी बनाने और अपने ही हित की ओर देखने का परामर्श दिया। यह परामर्श इस मान्यता पर दिया गया था कि व्यक्तिगत और सामूहिक हितों में किसी प्रकार का विरोध न था और दोनों एक ही साथ उत्पन्न होते थे। वास्तव में यह मान्यता ही गलत थी। अनुभव बताता है कि विभिन्न व्यक्तियों के हितों के बीच संघर्ष सम्भव है और फिर व्यक्तिगत तथा सामूहिक हितों का एक ही साथ पूरा होना तो और भी कठिन है, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में दोनों बहुधा एक दूसरे के विरोधी होते हैं।

(३) *'धन' शब्द का उपयोग जो कि अस्पष्ट है*—सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इन परिभाषाओं के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि इनमें 'धन' शब्द का उपयोग किया गया है, जो स्वयं एक अस्पष्ट शब्द है और इसलिए अर्थशास्त्र की परिभाषा में अस्पष्टता उत्पन्न कर देता है। [अभी भी अर्थशास्त्रियों में इसके अर्थ के विषय में मतैक्य नहीं हो सका है और अलग-अलग लेखकों ने इसके अलग-अलग अर्थ किये हैं।]

सबसे अधिक लोकप्रिय परिभाषा टॉजिग (Taussig) की है। उनका विचार है कि कोई भी ऐसी वस्तु, जो मनुष्य की आवश्यकता को पूरी करे तथा सीमित मात्रा में हो, अर्थात्, जिसका मूल्य हो और जो हस्तान्तरणीय (Transferable) हो, "धन" है। इस परिभाषा के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु धन होगी, क्योंकि ऊपर दिए हुये तीनों गुण प्रत्येक वस्तु में पाये जाते हैं। अचल सम्पत्ति (जैसे—मकान, खेत इत्यादि) का भी स्वामित्व (Ownership) बदला जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि धन शब्द की परिभाषा करना ही व्यर्थ है, क्योंकि सभी वस्तुएँ धन हैं।

परन्तु स्मरण रहे कि बहुधा अर्थशास्त्र में धन को भी भौतिकता से सम्बन्धित किया गया है अर्थात् केवल भौतिक वस्तुओं को ही धन बताया गया है। यदि ऐसा है तो भौतिक और अभौतिक के भेद की आपत्ति सम्मुख आ जाती है, जिसे जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, सुलझाना सरल नहीं है। इसके अतिरिक्त, टॉजिग (Taussig) की इस परिभाषा में एक महान् अन्तर-विरोध (Contradiction) भी है। इस परिभाषा के अनुसार जितनी ही किसी मनुष्य या देश के पास हस्तान्तरणीय उपयोगी वस्तुएँ सीमित होंगी उतना ही वह अधिक धनवान होगा। यह विचार धन के विषय में साधारण विचार के बिल्कुल विपरीत है। धन से सम्बन्धित

मतभेद (Controversy) से बचने के लिए सम्भवतः यह आवश्यक है कि इस शब्द का उपयोग ही न किया जाय।

(II) कल्याण-परिभाषायें
(Welfare Definitions)

दृष्टिकोण के परिवर्तन का प्रथम चरण—

अर्थशास्त्र को धन का शास्त्र बता कर अर्थशास्त्रियों ने जो कठिनाई उत्पन्न कर दी थी उससे बचने के लिए अर्थशास्त्रियों ने अपने दृष्टिकोण को बदला। उदाहरणार्थ, मिल (J. S. Mill) ने, जो स्वयं प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) में से थे और एडम स्मिथ के अनुयायी थे, इस बात पर जोर दिया कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय मनुष्य है, धन नहीं। रोशे (Roscher) ने कहा कि, "हमारे विज्ञान का प्रारम्भिक बिन्दु और लक्ष्य मनुष्य है।"[1] इस प्रकार धन के स्थान पर मनुष्य को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। प्रो० कारवर ने इसी बात को और भी स्पष्ट किया और बताया कि, *"हमारे विज्ञान की विषय सामग्री आर्थिक वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि आर्थिक क्रियाएँ हैं।"*[2]

धीरे-धीरे यह विचारधारा बल पकड़ती गई और सभी अर्थशास्त्रियों ने मनुष्य को अर्थशास्त्र का विषय बताना आरम्भ कर दिया, यद्यपि प्रायः सदा ही इस बात पर जोर दिया जाता था कि अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य का केवल धन से सम्बन्धित व्यवहार था। आरम्भ में मार्शल ने भी अर्थशास्त्र की परिभाषा इसी दृष्टिकोण से की थी, यथा . "राजनैतिक अर्थशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र साधारण जीवन व्यवसाय में मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन है, यह इस बात का पता लगाता है कि वह (मनुष्य किस प्रकार आय प्राप्त करता है और किस प्रकार उसका उपयोग करता है।..........इस प्रकार, एक ओर तो यह धन का अध्ययन है एवं दूसरी ओर तथा अधिक महत्त्वपूर्ण दिशा में मनुष्य के अध्ययन का एक अङ्ग है।"[3]

प्रो० एली० ने भी लिखा है कि, "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो उन सामाजिक घटनाओं का, जो मनुष्य की धन कमाने और धन का उपयोग करने की क्रियाओं से उत्पन्न होती हैं, अध्ययन करता है।"[4]

फिशर (Fisher) के अनुसार, "आरम्भ में ही इस बात पर बल देना चाहिए कि *अर्थशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य धन का मानव जीवन और मानव कल्याण से सम्बन्ध बताना है*, किन्तु मानव जीवन और कल्याण के सभी पक्षों का अध्ययन करना अर्थशास्त्र के क्षेत्र में नहीं आता, बल्कि केवल ऐसे ही पक्षों का अध्ययन आता है जो कि प्रत्यक्ष रूप में धन से सम्बन्धित होते हैं।"[5]

---

1 "The starting point and goal of our science is man."—Roscher.

2 "Economic activities rather than economic goods form the subject-matter of the Science."—Carver *The Distribution of Wealth.*

3 "Political Economy or Economics is a study of man's actions in the ordinary business of life; it enquires how he gets his income and how he uses it..........Thus it is, on the one side, a study of wealth, and on the other and more important side, a part of the study of man."
—Marshall : *Economics of Industry*, p. 1.

4 Economics is the science which treats of those phenomena that are due to the wealth-getting and wealth-using activities of man."—Ely.

5 (Footnote see on next page)

ने आय के उत्पादन और व्यय दोनों से सम्बन्धित मानव क्रियाओं को अर्थशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र मे सम्मिलित किया है। (२) कैनन और बैविरिज के दृष्टिकोण मे भी अन्तर है। कैनन का विचार है कि अर्थशास्त्र उन "कारणों की खोज" करता है जिन पर मनुष्य का भौतिक सुख निर्भर होना है, जबकि बैविरिज के अनुसार यह उन "विधियों का अध्ययन" करता है जिनके द्वारा मनुष्य मिल-जुल कर अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। (३) मार्शल और कुछ अन्य विद्वानों ने मनुष्य की "व्यक्तिगत" तथा "सामाजिक" दोनो ही प्रकार की क्रियाओं को अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे सम्मिलित किया है, परन्तु सभी लेखको ने स्पष्टतापूर्वक ऐसा नहीं कहा है। सीजर ने तो इसे एकदम सामाजिक विज्ञान (Social Science) ही कह डाला है। (४) पीगू का दृष्टिकोण अन्य सभी अर्थशास्त्रियों से थोडा भिन्न है। पीगू के अनुसार अर्थशास्त्र "भौतिक कल्याण" के स्थान पर "आर्थिक कल्याण" का अध्ययन करता है और आर्थिक कल्याण से उनका अभिप्राय सामाजिक कल्याण के उस भाग से है जिसकी मुद्रा मे माप को जा सकती है। नि:सन्देह पीगू का दृष्टिकोण अन्य अर्थशास्त्रियों की तुलना मे अधिक संकुचित है।

परन्तु उपर्युक्त अन्तरों के रहते हुए भी विभिन्न परिभाषाओ मे कोई मौलिक भेद *दृष्टिगोचर नहीं होता है।*

कल्याण-परिभाषाओं की आलोचनायें—

(I) 'भौतिक' और 'अभौतिक' वर्गीकरण की कठिनाइयाँ—प्रत्येक विद्वान ने मनुष्य की आवश्यकताओं को दो प्रकार का माना है 'भौतिक' और 'अभौतिक' (Material and Non-material) और यह बताया है कि अर्थशास्त्र केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अध्ययन करता है, अभौतिक आवश्यकताओं तथा उनकी पूर्ति से अर्थशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार गायक, देशभक्त या राजनीतिज्ञ इत्यादि की क्रियायें अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर पडती है। किन्तु खाना, कपडा, तथा मकान इत्यादि की आवश्यकतायें एवं उनकी पूर्ति अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक अंग है। सच पूछिये तो लगभग सभी प्राचीन लेखको ने इसी दृष्टिकोण को अपनाया था और एक बडे अंश तक भारत के कुछ आर्थिक लेखकों में तो वह विचारधारा अब भी प्रचलित है। 'भौतिक' एवं अभौतिक' का वर्गीकरण अपनाने से निम्नांकित कठिनाइयाँ सामने आती हैं :—

(१) भौतिक और अभौतिक क्रियाओं के बीच जो अन्तर है उसे स्पष्ट करना कठिन है, अर्थात् इन दोनों को अलग-अलग भागों में बाँटने वाली रेखा खींचना सम्भव नहीं है। पुन: आवश्यकता-पूर्ति मे एक गायक का कार्य उतना ही महत्त्व रखता है जितना कि बढई का और दोनो ही कार्यों से मनुष्य के सुख मे वृद्धि की जा सकती है, अत: अर्थशास्त्र मे दोनों का अध्ययन होना आवश्यक है।

कैनन (Cannon) ने मनुष्य की भौतिक और अभौतिक क्रियाओं के अन्तर को स्पष्ट करने हेतु रोबिन्सन क्रूसो का दृष्टान्त दिया है। रोबिन्सन क्रूसो उस अकेले द्वीप मे, जहाँ जहाज के टूटने के कारण वह जा फँसा था, दो प्रकार के कार्य करता था—एक तो वे जिनका सम्बन्ध उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से था (जैसे—खाने के लिए फल तथा जडें इत्यादि एकत्रित करना) और दूसरा वह जिनका सम्बन्ध इस प्रकार की आवश्यकताओं से नहीं था (जैसे—तोते के साथ बात करना)। इन दोनो क्रियाओं मे से दूसरी 'अभौतिक' है। इस प्रकार, कैनन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य की भौतिक और अभौतिक क्रियाओं मे भेद किया जा सकता है तथा भौतिक क्रियाओं को अर्थशास्त्र मे अध्ययन के लिए छाँटा जा सकता है।

(२) यदि यह मान भी लिया कि इस प्रकार का भेद सम्भव है तथा सही है, तो

भी एक बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है जो यह कि इस प्रकार विभाजित की हुई भौतिक और अभौतिक क्रियाओं का एक दूसरे से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध देखने में आता है कि एक को दूसरे से पृथक करना ठीक होगा। यह निश्चय है कि रोबिन्सन क्रूसो के पास समय और शक्ति सीमित होंगे, जिस कारण यदि वह तोते से बात करने में अधिक समय लगा दे, तो उसकी दूसरी क्रियाओं में बाधा पड़ जायेगी। इसी प्रकार, पहले की क्रियाओं पर अधिक समय लगाने का अर्थ यह होगा कि दूसरे प्रकार की क्रियाओं के लिए समय का अभाव हो जाय। स्पष्टतः भौतिक और अभौतिक क्रियायें एक दूसरे पर निर्भर (Dependent) हैं तथा किसी एक के स्वभाव और महत्त्व को जानने के लिये दूसरे का अध्ययन करना आवश्यक है।

(३) दोनों में भेद करने से किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती, वरन् भौतिक और अभौतिक क्रियाओं के बीच निर्णय अथवा चुनाव (Choice) की समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। मनुष्य की क्रियाओं का उनकी आवश्यकता-पूर्ति तथा सुख पर प्रभाव जानने के लिए दोनों ही प्रकार की क्रियाओं का अध्ययन करना आवश्यक है। इसके बिना अर्थशास्त्र अधूरा रहेगा और आवश्यकता की पूर्ति के सभी पहलुओं तथा उनकी "समस्तता" (totality) को समझना कठिन होगा। अतः यह आवश्यक है कि इस प्रकार के भेद पर ध्यान न दिया जाय, क्योंकि इस भेद के बिना भी अर्थशास्त्र का अध्ययन अधिक सच्चा एवं अधिक लाभदायक होगा।

(४) प्रो० रोबिन्स का विचार है कि आर्थिक सिद्धान्तों के अध्ययन में भौतिक और अभौतिक दोनों का मिश्रण है, 'मजदूरी का कोई भी ऐसा सिद्धान्त, जो उन सभी भुगतानों पर ध्यान नहीं देता है, जो अभौतिक सेवाओं के लिये दिये जाते हैं अथवा अभौतिक उद्देश्यों पर व्यय किये जाते हैं, सहनीय नहीं हो सकता है।'[1] इसी प्रकार के उन्होंने और भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अन्त में वे यहाँ तक कहते हैं, "अर्थशास्त्र का सम्बन्ध किसी भी चीज से हो सकता है, किन्तु इतना निश्चय है कि इसका सम्बन्ध 'केवल' भौतिक कल्याण के कार्यों से नहीं है।"[2]

(II) अर्थशास्त्र का कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए—रोबिन्स ने केवल भौतिक शब्द पर ही आक्षेप नहीं किया, वरन् वे तो ऐसा समझते हैं कि अर्थशास्त्र का कल्याण (Welfare) से भी कोई सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। कल्याण के दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र का अध्ययन करने में कुछ विशेष कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। उदाहरणस्वरूप—

(१) चूँकि मादक पदार्थ माँग की तुलना में दुर्लभ हैं, इसलिए उनका भी मूल्य होता है और इस नाते उनका भी अर्थशास्त्र में अध्ययन होना चाहिये, परन्तु उनका कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२) साथ ही स्वयं कल्याण का विचार भी कोई 'निश्चित' विचार नहीं है। समय, व्यक्ति, देश और परिस्थितियों के अनुसार कल्याण सम्बन्धी विचारों में अन्तर होता रहता है। उसे परिमाणात्मक रूप से (Quantitatively) मापा नहीं जा सकता है (द्रव्य रूपी पैमाने द्वारा भी नहीं)। कल्याण का विचार इतना अस्पष्ट और अनिश्चित है कि उसे लेकर किसी विज्ञान का निर्माण नहीं किया जा सकता है।

---

1 "A theory of wages which ignored all those sums which were paid for immaterial services or were spent on immaterial ends would be intolerable."—**Robbins** : *An Essay on the Nature and Significance of Economic Science*, p. 6.

2 "Whatever Economics is concerned with, it is not concerned with the causes of material welfare as such."—*Ibid.*, p. 7.

(३) यदि हम आर्थिक कल्याण को अर्थशास्त्र का विषय समझते है, तो हमें यह *भी निर्णय करना पडेगा कि मानव कल्याण किन-किन बातों से उत्पन्न होता है और किन-किन* बातों से नही। दूसरे शब्दों मे, हमें नैतिकता के आधार पर निर्णय देना होगा, जबकि वास्तव मे अर्थशास्त्र तो एक "तटस्थ विज्ञान" (Ethically Neutral Science) है, जो अच्छे और बुरे का निर्णय नही करता है।

(III) आर्थिक और अनार्थिक क्रियाओं में जो भेद किया है वह भी मान्य नहीं हो सकता—**कारण : प्रथमतः**, किसी भी कार्य को सदा के लिए आर्थिक अथवा अनार्थिक नही कहा जा सकता। उदाहरण के लिये जब एक व्यक्ति अपने मनोरंजन के लिए गाना गाता है, तो यह 'अनार्थिक क्रिया' है, और जब यही गाना पैसे कमाने के लिए गाता है, तो यह 'आर्थिक कार्य' होगा। **द्वितीय**, यदि हम इस प्रकार की क्रियाओं मे भेद भी कर लेते हैं, तो मनुष्य के पास समय और शक्ति सीमित होने के कारण दोनो प्रकार की क्रियाएँ एक दूसरे पर निर्भर रहेंगी। ऐसी दशा मे एक को दूसरी से अलग करके अध्ययन करने से कोई लाभ न होगा।

मार्शल की परिभाषा का विशेष अध्ययन—

कुछ अज्ञात कारणो से हमारे देश में मार्शल (Marshall) का विशेष महत्त्व है और उसकी परिभाषा सबसे अधिक पसन्द की गई है। अतः इस परिभाषा के विषय मे दो-चार शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। इसमे तो कोई सन्देह नही है कि मार्शल अर्थशास्त्र के उच्च कोटि के विद्वान थे और उनके विचारो से इस शास्त्र की उन्नति तथा स्पष्टीकरण मे बडी सहायता मिली है, परन्तु तर्क की कसौटी पर मार्शल के विचार सही नही उतरते। परिभाषा के विषय मे मार्शल ने पहले दी गई परिभाषाओं पर कोई विशेष सुधार नही किया है। उनकी परिभाषा का मुख्य गुण यह है कि यह बहुत साधारण है और सरलता से समझ मे आ जाती है। *परन्तु केवल इन गुणों से ही कोई परिभाषा अच्छी नही बन जाती। परिभाषा की सच्ची कसौटी* 'तर्क' है। **मार्शल की परिभाषा के सम्बन्ध में निम्न बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—**

(१) धन के स्थान पर मनुष्य को अधिक महत्त्व—उनके विचार मे अर्थशास्त्र का *विषय मनुष्य है तथा अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है।* इस सम्बन्ध मे मार्शल के विचारो से कोई मतभेद सम्भव नही है। इस दिशा में उनका कार्य सराहनीय है, क्योकि उन्होने अन्य प्राचीन लेखकों के विपरीत 'धन' के स्थान पर 'मनुष्य' को अधिक महत्त्व दिया है।

(२) साधारण और असाधारण क्रियाओं का भेद अस्पष्ट—*उनका* कथन है कि यह शास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन व्यापार सम्बन्धी क्रियाओ का अध्ययन करता है। इस पर आपत्ति हो सकती है। प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य की कुछ असाधारण जीवन व्यापार सम्बन्धी क्रियाएँ भी हैं ? यदि है तो कौन-सी ? और फिर साधारण तथा असाधारण क्रियाओं मे भेद करने की रीति क्या है ? मार्शल ने स्वय कोई उत्तर इस सम्बन्ध मे नही दिया है और न उन्होने यही बताया है कि असाधारण क्रियाओं को अर्थशास्त्र में सम्मिलित क्यों नही करना चाहिए।

(३) भौतिकता से नाता—मार्शल भी दूसरे लेखको की भाँति अर्थशास्त्र का नाता "भौतिकता" से जोडते है। किन्तु, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, ऐसा करना न तो आवश्यक ही है और लाभदायक ही।

(४) 'सुख के भौतिक साधनों' और 'धन' में विशेष अन्तर नहीं—इतना कहने से काम नही चल सकता कि अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य है। सामाजिक शास्त्रों का विषय मनुष्य है तो फिर उनमे और अर्थशास्त्र मे क्या अन्तर है ? क्या ये सब असाधारण क्रियाओं का अध्ययन करते है जो अर्थशास्त्र से छूट जाती हैं ? सच बात तो यह है कि मार्शल के 'सुख के भौतिक

साधनों' (Material Requisites of well-being) और धन (Wealth) में कोई विशेष अन्तर नहीं है तथा धन से सम्बन्धित सभी आपत्तियाँ यहाँ भी उठ सकती हैं।

पीगू की परिभाषा का विशेष अध्ययन—

यहाँ पीगू की परिभाषा पर विश्लेषण भी असंगत न होगा। पीगू वर्तमान युग के महान् अर्थशास्त्री हैं। उनकी विद्वता पर किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। उन्होंने अर्थशास्त्र की परिभाषा के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया है वह बहुत ही व्यावहारिक है। यथार्थ में, वे ऐसे किसी भी सिद्धान्त के निर्माण में विश्वास नहीं करते, जो कि व्यावहारिक जीवन में लागू न किया जा सके। उन्होंने सामाजिक कल्याण के उस भाग को अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय बताया है जिसकी मुद्रा में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में माप की जा सकती है। इस प्रकार पीगू के अनुसार, अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय केवल आर्थिक कल्याण तक सीमित है और हम मनुष्य की केवल उन क्रियाओं का अध्ययन करते हैं जिनका मूल्य मुद्रा में आँका जा सकता है। पीगू की परिभाषा की आलोचनाएँ निम्नलिखित दो आधारों पर हुई हैं :—

(१) आर्थिक एवं अनार्थिक दोनों ही प्रकार की क्रियायें सामाजिक कल्याण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण—अर्थशास्त्र में मनुष्य की केवल उन्हीं क्रियाओं का अध्ययन क्यों किया जाय जिनका मूल्य मुद्रा में नापा जा सकता है और ऐसी क्रियाओं को क्यों छोड़ दिया जाय जिनका मूल्य इस प्रकार नहीं आँका जा सकता, जबकि दोनों ही सामाजिक कल्याण की दृष्टि से समान रूप में महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त, मनुष्य की एक ही क्रिया कुछ परिस्थितियों में मुद्रा के माप-दण्ड से सम्बन्धित की जा सकती है, किन्तु अन्य परिस्थितियों में उसी की मौद्रिक माप सम्भव नहीं होती है।

पीगू स्वयं इस कठिनाई से परिचित थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में **दो उदाहरण** देकर यह बताया कि एक ही व्यक्ति की एक-सी ही सेवाएँ केवल परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण कभी तो अर्थशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र में सम्मिलित की जायेंगी और कभी नहीं। उदाहरण-स्वरूप, एक गायक जब किसी ऐसी सभा में कोई गाना गाता है जो परोपकार हेतु है और जहाँ से उसे कोई पारितोषण नहीं मिलता है, तो उसकी सेवाओं को अर्थशास्त्र के अध्ययन में सम्मिलित नहीं किया जायगा; किन्तु वही गायक जब उक्त गाना किसी ऐसी सभा में गाता है जहाँ से उसे पारितोषण मिलता है तो उसकी यह सेवा अर्थशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में आ जाती है।

इस प्रकार केवल परिस्थितियों के परिवर्तन से अर्थशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र भी बदल जाता है, जिसे किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता है। पीगू ने स्वीकार किया है कि उनकी परिभाषा में ऐसी कठिनाइयाँ हैं, परन्तु उनका कहना है कि आर्थिक अध्ययन में निश्चित और व्यावहारिकता लाने हेतु उनके द्वारा अर्थशास्त्र के लिए दी हुई परिभाषा ही उपयुक्त है। वैसे भी वास्तविक जीवन में इस प्रकार की कठिनाइयाँ कम हो जाती हैं।

(२) अकल्याणप्रद वस्तुओं का भी आर्थिक महत्त्व—पीगू ने अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय सामाजिक कल्याण बताया है। इस पर भी आपत्ति हो सकती है, क्योंकि इससे एक ओर तो अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान (Normative Science) बन जाता है, और दूसरी ओर स्वयं यह भी सन्देहपूर्ण है कि क्या कल्याण (Welfare) को अर्थशास्त्र का उद्देश्य बनाना उचित है। जैसा कि रोबिन्स ने भी बताया है, मादक पदार्थों को सभी ने धन (Wealth) कहा है, परन्तु यह तो सभी जानते हैं कि वे किसी भी प्रकार का मानव कल्याण को उन्नत नहीं करते हैं। इतने पर भी अर्थशास्त्र में उनका अध्ययन होता है, क्योंकि माँग की तुलना में सीमित होने के कारण उनका आर्थिक महत्त्व है।

(III) 'दुर्लभता' परिभाषाय
(Scarcity Definitions)

प्रो० रोबिन्स ने, जो लन्दन स्कूल ग्रॉफ इकॉनॉमिक्स से सम्बन्धित है, सन् १६३२ में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'An Essay on the Nature and Significance of Economic Science' प्रकाशित करके अर्थशास्त्र की परिभाषा के क्षेत्र मे एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। उन्होंने सभी प्रचलित परिभाषाओं का खण्डन किया और एक नये आधार पर अर्थ-विज्ञान की रचना की। उनकी परिभाषा ने एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

[स्मरण रहे कि यद्यपि रोबिन्स ने अर्थशास्त्र की परिभाषा के क्षेत्र में एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया, तथापि उनके विचार बिल्कुल ही मौलिक विचार नहीं थे। उनसे भी पूर्व अंग्रेज अर्थशास्त्री विकस्टीड (Wicksteed) ने दुर्लभता दृष्टिकोण का संकेत किया था, जिसे बाद मे रोबिन्स ने अपनी परिभाषा का आधार बनाया। विकस्टीड के अनुसार, "अर्थशास्त्र प्रशाधनो की व्यवस्था और वैकल्पिक प्रयोगो मे चुनाव करने के सिद्धान्तो का अध्ययन है।"[1] हाँ, यह स्वीकार करना होगा कि विकस्टीड की अपेक्षा रोबिन्स की परिभाषा अधिक स्पष्ट, वैज्ञानिक और पूर्ण है।]

तब से अब तक रोबिन्स के प्रशसक और आलोचक दोनो बराबर व्यस्त रहे हैं, परन्तु अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने रोबिन्स के दृष्टिकोण को स्वीकार किया है और समर्थको की सख्या बराबर बढती ही जा रही है, यद्यपि आलोचको की सख्या भी बहुत है।

रोबिन्स की परिभाषा के मुख्य आधार—

रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र को भली-भाँति समझने के लिए हमे मनुष्य और इसके व्यवहारों, प्रेरणाओ तथा क्रियाओं का अध्ययन करना चाहिए।

(१) प्रत्येक मनुष्य की विविध आवश्यकतायें—जब हम अपने चारो ओर दृष्टि डालते हैं, तो हमे प्रत्येक मनुष्य कोई न कोई कार्य करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ, *एक किसान दिन भर खेत मे कार्य करता है, एक श्रमिक दिन भर हथोड़ा चलाता है* और एक दफ्तर का बाबू प्रातः से सध्या तक अपने कागजों को पलटता है। मनुष्य के जीवन मे यह एक ऐसी बात है जो हर समय तथा हर देश में घटित होती रहती हैं। अतः हमारे मस्तिष्क में यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक ही है कि मनुष्य कार्य क्यो करता है? क्या कार्य करना उसके लिए आवश्यक है? कुछ थोड़ी-सी दशाओं को छोड़कर कार्य करना हमे अच्छा तो नही लगता, फिर भी हम कार्य मे क्यो लगे रहते हैं? इन प्रश्नो का उत्तर जाने बिना हमारे लिए मनुष्य के व्यवहारो और उनकी क्रियाओ को समझना कठिन होगा। परन्तु सौभाग्य से, इन प्रश्नो का उत्तर बडा ही सरल है।

मनुष्य कार्य इसलिए करता है कि उसकी कुछ आवश्यकताये (Wants) होती हैं, जिन्हे पूरा करना या तो उसके लिए आवश्यक है या उनको पूरा करने से उसे सुख एवं तृप्ति प्राप्त होती है और ये आवश्यकताएँ बिना कार्य या प्रयत्न किये पूरी नही हो सकती है। इन आवश्यकताओ में बिल्कुल प्राचीन साधारण आवश्यकताओ से लेकर वर्तमान सभ्यता मे ढले हुए आधुनिक जीवन की नाना भाँति की जटिल आवश्यकताएँ सम्मिलित है। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि मनुष्य की आवश्यकतायें—भोजन की आवश्यकता से लेकर हवाई जहाज मे बैठकर

---

[1] "Economics...a study of the principles of administration of resources and selection between alternatives."—Wicksteed : *The Common sense of Political Economy*, Vol. I, p. 17.

सैर करने तक की होती हैं। इन्ही आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे कार्य करना पड़ता है। यदि हमे किसी भी आवश्यकता को पूरी करने की जरूरत न हो, तो शायद हम कुछ भी न करें और तब हमारी दशा टैनीसन (Tennyson) के लोटस ईटर्स (Lotus Eaters) जैसी हो जाय। अस्तु आवश्यकतायें ही हमारी सारी क्रियाओ और प्रेरणाओं की जन्मदाता हैं। यदि हम मनुष्य के व्यवहारों को, जो क्रियाओ के रूप में प्रकट होते हैं, समझना चाहते हैं, तो हमे उसकी आवश्यकताएँ, इनके रूप तथा गुण अच्छी प्रकार समझने पड़ेंगे। मनुष्य की क्रियाओ का प्रेरणा स्रोत उसकी आवश्यकताओ मे सन्निहित है।

(२) आवश्यकताएँ अनन्त हैं सीमित नहीं—जब मानवीय आवश्यकताओं की विवेचना करते हैं, तो उनमे हमे दो मुख्य गुण दिखाई पड़ते है। प्रथमतः, आवश्यकताएँ अनन्त हैं। किसी भी मनुष्य या मनुष्य-समुदाय के लिए यह सम्भव नही है कि वह अपनी समस्त आवश्यकताओ को पूरा कर सके या किसी अमुक समय पर यह कह सके कि अब उसकी कोई भी आवश्यकता शेष अथवा अतृप्त नहीं बची है। दूसरे, कोई भी आवश्यकता व्यक्तिगत रूप मे पूरी की जा सकती है, अर्थात् इन असीमित आवश्यकताओ मे से यदि कोई सी भी एक आवश्यकता छाँट ली जाय और फिर इसे पूरा करने के लिए सकल्प कर लिया जाय, तो वह आवश्यकता पूरी की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि सामूहिक रूप मे आवश्यकताओ का पूरा करना असम्भव है, परन्तु व्यक्तिगत रूप से किसी भी आवश्यकता का पूरा कर लेना सम्भव है। जिस प्रकार कच्चे सूत के धागो को एक-एक करके तोडा जा सकता है, परन्तु सबको मिलाकर एक साथ तोडना सम्भव नही होता है, ठीक उसी प्रकार आवश्यकताओ को व्यक्तिगत रूप मे पूरा करना तो सम्भव होता है, परन्तु सामूहिक रूप मे नही।

(३) आवश्यकता-पूर्ति के साधनों का सीमित होना एवं उनके वैकल्पिक उपयोग—आवश्यकताओ को पूरा करने हेतु विभिन्न वस्तुओ की जरूरत पड़ती है, जैसे—भूख मिटाने के लिए भोजन, शरीर ढंकने के लिए कपडे तथा नदी पार करने के लिए नाव। इन सभी वस्तुओ को, जिनसे मनुष्य की आवश्यकतायें पूरी होती हैं, "साधन" (Means or Resources) कहते हैं। आवश्यकताओ की भाँति साधनो मे भी निम्न **दो मुख्य गुण हैं :—**

(अ) साधन सीमित हैं, आवश्यकताओं की तरह असीमित नहीं—किसी भी मनुष्य के पास एक समय इतने साधन नही होते हैं कि वह उनसे अपनी उस समय की सारी आवश्यकताओ को पूरा कर सके। यदि मनुष्य की सभी आवश्यकतायें पूरी हो सकती और उसे किसी भी वस्तु की इच्छा न रहती, तो फिर आर्थिक समस्यायें मनुष्य के मस्तिष्क में कभी भी हलचल न मचाती और न फिर अर्थशास्त्र के विद्वानो को ऐसी समस्यायें सुलझाने हेतु अर्थशास्त्र जैसे विज्ञान की ही कोई आवश्यकता थी।

(ब) प्रत्येक साधन एक से अधिक उपयोग मे लाया जा सकता है—ऐसा नही है कि एक साधन विशेष केवल एक ही आवश्यकता को पूरा करे। वह दूसरी आवश्यकता को पूरा करने मे भी काम आ सकता है। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी अपने जेब के पैसे को जरूरत की किताबें खरीदने पर भी व्यय कर सकता है अथवा सिनेमा देखने पर भी। इसी प्रकार, विद्यार्थी चाहे तो अपना समय किसी पुस्तक के पढ़ने मे लगा सकता है अथवा किसी अन्य कार्य में। इस प्रकार, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए और भिन्न-भिन्न कालो मे साधनो के अलग-अलग उपयोग अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

(४) आर्थिक समस्या का रूप—ऊपर दी गई विवेचना मे पता चलता है कि सारी आवश्यकतायें पूरी नही हो सकती हैं, केवल कुछ ही पूरी होती है और साधनो मे से प्रत्येक साधन के एक से अधिक उपयोग हो सकते हैं। अत मनुष्य के जीवन मे सदैव एक गम्भीर समस्या

उठती है और यह समस्या निर्णय करने की समस्या है और अर्थशास्त्र मे इसी समस्या का अध्ययन किया जाता है। प्रथम तो यह निर्णय करना पड़ता है कि कौन-सी आवश्यकता को पूरा किया जाय एवं द्वितीय यह है कि किस साधन को किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कार्य में लाया जाये। इस प्रकार, मनुष्य की समस्या "निर्णय करने (Choice Making) की समस्या है। यदि सभी आवश्यकताएँ पूरी हो सके, तो आवश्यकताओं के चुनने का प्रश्न ही न उठता। इसी प्रकार, यदि एक साधन का केवल एक ही उपयोग सम्भव होता, तो भी चुनने का प्रश्न न था।

रोबिन्स की नवीन परिभाषा—

प्रो० रोबिन्स (Robbins) का मत है कि "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के व्यवहार का, वैकल्पिक उपयोग वाले सीमित साधनो तथा लक्ष्यो के सम्बन्ध के रूप में अध्ययन करता है।"[1] दूसरे शब्दो मे, अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के व्यवहार का इस दृष्टिकोण से अध्ययन करता है कि वह अपने सीमित साधनों द्वारा, जिनमे से प्रत्येक के एक से अधिक उपयोग हो सकते हैं, अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न किस प्रकार करता है। इस सम्बन्ध मे हमें एक बात याद रखनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि उसके पास जो कुछ भी है उसका उपयोग करके वह अधिक से अधिक सन्तोष प्राप्त करे। इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर ही यह निर्णय किया जाता है कि कौन-कौन सी आवश्यकतायें पूरी की जाये और किस साधन को किस आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए उपयोग किया जाये। इस प्रकार, मनुष्य की निर्णय करने की समस्या उसकी अधिकतम् सन्तोष प्राप्त करने की इच्छा पर निर्भर होती है।

रोबिन्स की परिभाषा की विशेषतायें—

ऊपर दी हुई परिभाषा से सिद्ध होता है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के व्यवहार के उस पहलू (Aspect) से है जो निर्णय करने (Choice Making) से सम्बन्धित है। इस परिभाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ है, जिनको ध्यान मे रखना आवश्यक है :—

(१) **भौतिक और अभौतिक आवश्यकताओं में कोई अन्तर नहीं**—अर्थशास्त्र में, जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है, एक परम्परा (Tradition) सी चली आ रही थी कि इस शास्त्र का सम्बन्ध भौतिकता से है। परन्तु प्रोफेसर रोबिन्स ने इस बात पर जोर दिया है कि अर्थशास्त्र के विषय में ऐसी मान्यता ठीक नहीं है।

(२) **केवल विज्ञान**—प्रो० रोबिन्स ने अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान ही माना है। इस पर कुछ विद्वानों को आपत्ति हो सकती है, क्योंकि अभी तक इस विषय मे मतभेद चल रहा है कि क्या अर्थशास्त्र केवल विज्ञान (Science) है, अथवा, कला (Art) और विज्ञान दोनो ही है।

(३) **विवेचित विषय-मनुष्य का व्यवहार**—अर्थशास्त्र का विवेचित विषय (Subject-matter) मनुष्य का व्यवहार बताया गया है, धन या अन्य वस्तु नही। अर्थात् अर्थशास्त्र केवल मनुष्य की क्रियायो तथा प्रेरणाओं से सम्बन्धित है, अन्य वस्तुओं से नही।

(४) **मानव व्यवहार के एक विशेष पहलू का ही अध्ययन**—रोबिन्स ने यह मान लिया है कि मनुष्य के व्यवहार के बहुत सारे पहलू अथवा पक्ष होते हैं और इन सब पक्षो को हम अर्थशास्त्र मे नही पढते **वरन् इस व्यवहार के केवल एक पक्ष का हम अध्ययन करते हैं।** यह बात स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र अन्य अनेक विज्ञानो की भाँति एक सामाजिक शास्त्र ही है। इन शास्त्रो मे से प्रत्येक का विषय मनुष्य का व्यवहार है। किन्तु केवल इतना अन्तर है कि

[1] "Economics is a science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses."—**Robbins** : ***An Essay on the Nature and Significance of Economic Science*, p. 16.**

प्रत्येक इस व्यवहार के एक विशेष पक्ष का अध्ययन करता है। उदाहरणार्थ, जबकि इतिहास "उन्नति-विधायक" (Progress-making) पक्ष को लेता है, तब राजनीतिक शास्त्र 'संघ विधायक' (Association-making) पक्ष को तथा मनोविज्ञान 'मानसिक' (Mental) पक्ष को लेता है। ठीक, इसी प्रकार, अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल 'निर्णय करने' (Choice Making) के पक्ष से है। इस प्रकार का भेद कर देने से सामाजिक शास्त्रो की सीमाएँ अलग-अलग निश्चित हो जाती हैं।

(५) **तर्क सम्मत**—इसके साथ-साथ यह परिभाषा तर्क-शास्त्र (Logic) के नियमो के अनुकूल है और इस दृष्टि से भी इसकी उपयुक्तता पर सन्देह नही किया जा सकता है।

रोबिन्स की परिभाषा का विश्लेषण—

रोबिन्स की परिभाषा की विवेचना करने से हमे उसमे तीन महत्त्वपूर्ण बातें साफ-साफ दिखाई पडती है। विशेषत: इस परिभाषा मे तीन ऐसे वाक्य है जिनको ध्यानपूर्वक समझने की आवश्यकता है :—

(१) **लक्ष्य** (Ends) 'लक्ष्य' से रोबिन्स का अभिप्राय मानवीय आवश्यकताओ की सन्तुष्टि (Satisfaction) से है। आवश्यकताएँ ही हमे कार्यशील करती है और चूँकि हमारी आवश्यकताएँ असीमित हैं इसलिए हमे इन आवश्यकताओं के बीच निर्णय अथवा चुनाव करना पडता है। अर्थशास्त्र मे मानवीय आवश्यकताओ और इनकी सन्तुष्टि के महत्व को स्पष्ट करने का श्रेय रोबिन्स को ही है।

(२) **सीमित साधन** (Scarce Means)—रोबिन्स ने 'सीमितता' शब्द को एक विशेष अर्थ मे उपयोग किया है। सीमितता का अर्थ आवश्यकता अथवा माँग की तुलना मे सीमितता है। एक वस्तु थोडी मात्रा मे होते हुए भी असीमित हो सकती है, यदि उसकी किसी को भी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार, एक वस्तु का विशाल सग्रह होते हुए भी वह सीमित हो सकती है, यदि माँग की तुलना मे उसकी पूर्ति कम है। अत: स्पष्ट है कि किसी वस्तु की सीमितता केवल उसकी मात्रा के द्वारा ही नही बल्कि, उसकी माँग के द्वारा भी निश्चित होती है।

(३) **वैकल्पिक उपयोग** (Alternative uses)—सीमित साधनो मे से प्रत्येक के एक से अधिक उपयोग हो सकते हैं। यदि किसी वस्तु का केवल एक ही उपयोग सम्भव है, तो उसके विषय में कोई भी आर्थिक समस्या उत्पन्न न होगी। उसके उपयोग को चुनने का तो प्रश्न ही नही उठेगा। वास्तविक जीवन मे प्रत्येक वस्तु के वैकल्पिक उपयोग होते है, जिसके कारण किसी भी वस्तु के उपयोग को चुनने मे आर्थिक समस्या निरन्तर हमारे सामने रहती है। इसके अतिरिक्त इन वैकल्पिक उपयोगो मे से प्रत्येक का महत्व अलग-अलग होता है जिसमे चुनाव का महत्त्व और भी बढ जाता है।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि रोबिन्स ने **अर्थशास्त्र की परिभाषाओं का पुराना ढांचा तोड़ डाला है और इसके स्थान में आवश्यकताओ की असीमितता और साधनों की सीमितता के आधार पर एक नया ढांचा तैयार किया है। आर्थिक समस्या उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि ऊपर की तीन शर्तें पूरी हो। इन में से किसी एक के रहने से ही आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं होती है।** रोबिन्स ने ठीक ही कहा है कि :—"जब लक्ष्य को पूरा करने के लिए समय और साधन सीमित होते है, उनके वैकल्पिक उपयोग हो सकते हैं तथा महत्त्व के आधार पर विभिन्न प्रकार के लक्ष्यो के बीच भेद किया जा सकता है, तो व्यवहार निर्णय का रूप धारण कर लेता है, अर्थात् इसके आर्थिक पक्ष (Economic Aspect) का उदय होता है।"[1]

---

[1] "But, when time and means for achieving ends are limited and capable

(Contd. on next page.)

स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र 'चुनाव का विज्ञान' है। चुनाव के साथ ही साथ मूल्यांकन (Valuation) की भी समस्या उठती है। किसी भी वस्तु का मूल्य इसी कारण होता है कि वह अपनी माँग की तुलना मे सीमित होती है।

रोबिन्स की परिभाषा की आलोचनाएँ—

कहा जा सकता है कि रोबिन्स का विचार सबसे अधिक सही है, क्योंकि उनकी परिभाषा पर पहले बताये हुए आक्षेप नही उठाये जा सकते और साथ ही उन्होने अर्थशास्त्र के क्षेत्र तथा इसके विषय को ठीक रूप से निश्चित कर दिया है। किन्तु आलोचको ने रोबिन्स की परिभाषा को भी निर्दोष नही बताया है। इसकी विभिन्न आलोचनायें निम्न प्रकार से वर्णित की जा सकती हैं :—

(I) सुधारात्मक आलोचनायें—

कुछ लोगों का विचार है कि इस परिभाषा मे कुछ और सुधार हो सकता है। उदाहरणस्वरूप :—

(१) 'सीमित' शब्द का अनावश्यक प्रयोग—यह कहा जाता है कि रोबिन्स की परिभाषा में साधनो के साथ जो 'सीमित' शब्द जुडा हुआ है उसकी आवश्यकता नही है, क्योंकि साधनों का सीमित होना एक स्वयं सिद्धि है, एक स्वाभाविक गुण है। अतः यदि सीमित शब्द साधनो के साथ न लगाया जाय, तो कोई हानि न होगी। [हमारी सम्मति है कि उपरोक्त कथन बिलकुल सत्य है और सीमित शब्द के प्रयोग करने की आवश्यकता भी नही है, फिर भी इस शब्द का बना रहना बुरा नही है, क्योंकि इसके रहने से हमारा ध्यान साधनो के इस गुण पर विशेष रूप से जम जाता है।]

(२) वैकल्पिकता पर बल देना अनावश्यक—यह वाक्य 'जिनमे से प्रत्येक को एक से अधिक काम मे लाया जा सकता है' भी अनावश्यक है, क्योंकि यह भी एक ऐसी साधारण बात है, जिसे सभी जानते है और साधनों का स्वाभाविक गुण है। [हमारी सम्मति मे यह डर है कि कही अर्थशास्त्र का अध्ययन करते समय हम इस साधारण, किन्तु आवश्यक बात को भूल न जाएँ। अतः इस वाक्य का बना रहना भी आवश्यक है।]

(II) विचार-भेद सम्बन्धी आलोचनायें—

कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जिनके मतानुसार रोबिन्स का विचार सही नही है। इस विषय मे उन्होंने निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किये है :—

(१) अर्थशास्त्र को केवल 'विज्ञान' कहना एक भूल—आलोचको का कहना है कि अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान कहना भूल है, क्योंकि अर्थशास्त्र कला भी है, जिसका दैनिक जीवन से बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। [विज्ञान और कला के विषय मे विस्तारपूर्वक विवेचना आगे दी जायेगी। यहाँ पर केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि अर्थशास्त्र के कला होने मे सन्देह नही है और न इससे किसी को इन्कार है। बात केवल इतनी है कि जिस अर्थशास्त्र का हम अध्ययन करते हैं वह केवल विज्ञान है, क्योंकि इसका सम्बन्ध जानने से है, करने से नही। अर्थशास्त्र कला के रूप मे वाणिज्यशास्त्र (Commerce) बनकर हमारे सामने आता है। अर्थशास्त्र और वाणिज्यशास्त्र के बीच भेद करने के लिए अर्थशास्त्र को विज्ञान मानना आवश्यक है।]

---

of alternative application, and the ends are capable of being distinguished in order of importance, then behaviour necessarily assumes the form of choice, *i. e*, it has an economic aspect"—**Robbins** : *An Essay on the Nature and Significance of Economic Science*, p. 6.

(२) **अर्थशास्त्र के क्षेत्र को संकुचित बना देना**—यह भी कहा जाता है कि, यदि रोबिन्स के मत को मान लिया जाय तो सारा अर्थशास्त्र सिमट कर अर्थशास्त्र के एक नियम के भीतर आ जाता है, जिसका नाम है अधिकतम् सन्तोष नियम (Law of Maximum Satisfaction)। इस प्रकार, अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है। [ऐसे आलोचकों से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि बिना सन्देह यह नियम ही अर्थशास्त्र का आधार है। किन्तु ऐसा होते हुए भी इसका क्षेत्र सीमित हो जाने का डर निर्मूल है, क्योंकि अर्थशास्त्र का विषय बहुत विस्तृत है।]

(III) अन्य महत्वपूर्ण आलोचनायें—

रोबिन्स के विचारों का सबसे अधिक महत्त्व यह है कि उन्होंने अर्थशास्त्र को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है और वर्गीकरण प्रणाली (Classificatory Method) के स्थान पर विवेचनात्मक प्रणाली (Analytical Method) का उपयोग किया है। इन गुणों के होते हुए भी रोबिन्स की परिभाषा की महत्त्वपूर्ण आलोचनायें की जा सकती हैं, जोकि निम्न प्रकार हैं :—

(१) **कोरा सैद्धान्तिक विश्लेषण मात्र**—रोबिन्स लक्ष्यों के चुनने में पूर्णतया तटस्थ हैं। उन्होंने अर्थशास्त्र की विवेचना एक वैज्ञानिक की भाँति की है। उनके दृष्टिकोण में न तो मानवता का प्रश्न है और न नैतिकता का और न वे मानव कल्याण को ही कोई महत्त्व देते हैं। ऐसे दृष्टिकोण में व्यावहारिकता नहीं हो सकती है। यह तो कोरा सैद्धान्तिक विश्लेषण मात्र है। इसका अर्थ यह निकलता है कि रोबिन्स अर्थशास्त्र को फिर उस अव्यावहारिकता की ओर ले जाते हैं, जिससे मार्शल ने उसे निकालने का प्रयास किया था। पीगू भी इस मत से कभी भी सहमत नहीं हैं। वास्तव में ऐसे अर्थशास्त्र के अध्ययन से लाभ ही क्या है जो वास्तविक जीवन में हमारे किसी काम न आ सके। अधिकांश अर्थशास्त्रियों का यह निश्चित मत है कि अर्थशास्त्री को केवल 'सिद्धान्त बनाने वाला' ही नहीं होना चाहिये वरन् 'सिद्धान्तों का प्रयोग करने वाला भी होना चाहिए। **बारबारा ऊटन** ने कहा है कि, "अर्थशास्त्रियों के लिये यह बहुत ही कठिन है कि वे अपनी विवेचना में नैतिकता की पुट बिल्कुल भी न रहने दें।"[1] **फरेजर** ने भी लिखा है कि, "अर्थशास्त्र केवल मूल्य का सिद्धान्त अथवा सन्तुलन की विवेचना मात्र नहीं है।"[2] रोबिन्स का विचार कितना ही वैज्ञानिक क्यों न हो, वह रसहीन और अव्यक्तिगत (Impersonal) है।

[रोबिन्स ने एक अन्य पुस्तक (Economic Planning and International Order) भी लिखी है, जिसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं रोबिन्स भी अप्रत्यक्ष रूप से अर्थशास्त्र में कला-पक्ष होना मानते हैं।]

(२) **लक्ष्य और साधन का अस्पष्ट भेद**—रोबिन्स ने लक्ष्य और साधन का जो भेद *किया है वह भी स्पष्ट नहीं है। सच तो यह है कि लक्ष्यों और साधनों के बीच कोई स्पष्ट भेद* सम्भव भी नहीं है। रोबिन्स ने सन्तोष को अधिकतम् बनाना ही लक्ष्य समझा है, परन्तु वास्तव में यह भी प्रसन्नता (Happiness) प्राप्त करने का एक साधन मात्र है (और प्रो० मेहता के अनुसार तो इस रीति से प्रसन्नता मिलेगी ही नहीं)। लक्ष्य तो केवल एक ही है, अर्थात् प्रसन्नता को प्राप्त करना, यद्यपि इस लक्ष्य को पूरा करने के अनेक साधन हो सकते हैं। यदि लक्ष्य एक ही है तो रोबिन्स की बताई हुई आर्थिक समस्या उत्पन्न न होगी। प्रो० मेयर (Meyer) ने कहा है

---

1 "It is very difficult for economists to divest their discussions completely of all normative significance."—**Barbara Wootton**

2 "Economics is *more than a value theory* or equilibrium analysis"—**Fraser.**

है कि, "जब लक्ष्य एक होता है और साधन अनेक, तो रीति (Technique) की समस्या उठती है किन्तु आर्थिक समस्या तब उठती है, जबकि लक्ष्य और साधन दोनों ही बहु-मात्रा में हो।"[1] ऐसी दशा में रोबिन्स का यह कहना कि आर्थिक समस्या सदा ही हमारे सामने बनी रहती है, सारहीन प्रतीत होता है।

(३) **अर्थशास्त्र के क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार**—कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि रोबिन्स ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत बना दिया है। पीगू ने आर्थिक विवेचन में निश्चितता और व्यावहारिकता लाने हेतु मुद्रा के माप-दण्ड का उपयोग किया है, परन्तु रोबिन्स ने ऐसी किसी विधि का उपयोग नहीं किया है। यह निश्चित है कि मुद्रा की माप की सीमा के बिना अर्थशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र शायद इतना विस्तृत हो जाय कि इस विज्ञान की सही विवेचना में कठिनाई हो।

(४) **प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार विवेकशील नहीं**—रोबिन्स ने मनुष्य के व्यवहार को बहुत ही विवेकशील (Rationalised) माना है, क्योंकि वे ऐसा समझते है कि प्रत्येक मनुष्य सदा ही अपनी क्रियाओं को इस प्रकार निर्देशित करता है कि अधिकतम् सन्तोष प्राप्त करने का लक्ष्य पूरा हो जाय। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा बहुधा कम ही होता है। अधिकांश मानवीय आवश्यकतायें या तो आदत पर निर्भर होती हैं या कृत्रिम। कोई व्यक्ति उपभोग के लिये व्यय करते समय किंचित ही इस बात की चिन्ता करता हो कि उसके व्यय के फलस्वरूप उसे अधिकतम् सन्तोष मिलता है या नहीं। अधिकांश दशाओं में हमारा व्यय बहुत सोच-समझ के बिना ही हो जाता है।

(५) **आगमन प्रणाली की उपेक्षा**—रोबिन्स की परिभाषा से पता लगता है कि उन्होंने आर्थिक निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए निगमन प्रणाली (Deductive Method) का उपयोग किया है। किन्तु जैसा कि हम एक आगे के अध्याय में देखेंगे, केवल निगमन प्रणाली से ही हमारा काम नहीं चल सकता। वास्तविकता लाने हेतु आगमन प्रणाली (Inductive Method) का उपयोग भी आवश्यक है।

(६) **नियमों के स्वभाव के प्रति त्रुटि**—रोबिन्स ने अर्थशास्त्रके नियमों को उतना ही अटल, निश्चित और सही मान लिया है जितना कि भौतिक विज्ञानों (Physical Sciences) के नियम हुआ करते हैं। किन्तु हमें यह याद रखना चाहिए कि अर्थशास्त्र के नियम मनुष्य के विषय में है और मनुष्य की प्रकृति को देखते हुए इन नियमों में कुछ न कुछ अनिश्चितता अवश्य रहेगी।

(७) **मानवी क्रियाओं का उद्देश्य समझने में गलती**—ऐसा प्रतीत होता है कि रोबिन्स ने मनुष्य की क्रियाओं के उद्देश्य को ही गलत समझा है। आर्थिक क्रियायें स्वयं अपना उद्देश्य नहीं होती है। उनका उद्देश्य मानव कल्याण (Human welfare) को बढ़ाना है। परोक्ष रूप में स्वयं रोबिन्स ने भी इस बात को स्वीकार किया है। ऐसी दशा में अर्थशास्त्र को मानव कल्याण का शास्त्र कहने में क्या आपत्ति हो सकती है ?

(८) **अनेक समस्यायें आर्थिक न होते हुए भी विषय-क्षेत्र में सम्मिलित हो जाती हैं**—बहुत-सी समस्यायें ऐसी भी हैं जिन्हें किसी भी प्रकार आर्थिक समस्यायें नहीं कहा जा सकता, परन्तु रोबिन्स की परिभाषा के आधार पर उन्हें भी अर्थशास्त्र के विषय क्षेत्र में सम्मिलित करना होगा। उदाहरणार्थ, जब एक व्यक्ति अपने समय को काम और आराम में विभाजित

---

[1] "The problem of technique arises when there is one end and a multiplicity of means, the problem of economy when both the ends and the means are multiple"—**Meyer.**

करता है, तो आर्थिक समस्या उठती है; परन्तु जब आराम के समय को पढ़ने, सोने, सैर करने *आदि में बाँटा जाता है तो आर्थिक समस्या नहीं उठती, यद्यपि यहाँ भी एक सीमित साधन का* वैकल्पिक उपयोगों में वितरण किया जाता है।

(६) प्रचुरता की समस्याओं का समावेश—अर्थशास्त्र मे कुछ ऐसी समस्याओं को भी सम्मिलित किया जाता है, जो प्रचुरता की समस्याये होती हैं, सीमितता की नहीं। उदाहरण के लिए, बेरोजगारी की समस्या। किन्तु रोबिन्स की परिभाषा इसे स्वीकार नहीं करती है।

(१०) विनिमय हीन देश के लिए उनका अर्थशास्त्र निरर्थक होगा—रोबिन्स की परिभाषा केवल ऐसी अर्थ-व्यवस्था (Economy) से सम्बन्धित है जहाँ विनिमय प्रणाली का प्रचलन होता है। परन्तु ऐसा समाज भी सम्भव है जहाँ विनिमय वर्जित हो। उस समाज मे रोबिन्स का अर्थशास्त्र अर्थहीन हो जायेगा क्योंकि, वहाँ दुर्लभता (Scarcity) और निर्णय की समस्यायें नहीं होगी।

रोबिन्स और मार्शल की परिभाषाओं में तुलना—

समानतायें—रोबिन्स ने मार्शल तथा अन्य पुराने अर्थशास्त्रियो की बहुत ही कड़ी आलोचना की है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि दोनो के विचारो मे भिन्नता है। केवल दो दिशाओं मे इनकी परिभाषाओं मे समानता है :—**(१) दोनों ही ने अर्थशास्त्र को मनुष्य और उनकी क्रियाओं का अध्ययन बताया है।** प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने धन को महत्त्व दिया था, परन्तु मार्शल और रोबिन्स दोनो ही मनुष्य पर जोर देते है। **(२) बहुत से अर्थशास्त्रियों का विचार है कि रोबिन्स और मार्शल मे दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कोई भेद नहीं है।** मार्शल अपनी परिभाषा मे "सुख के भौतिक साधन" (Material requisites of well-being) शब्द का उपयोग किया है, पुराने अर्थशास्त्रियो ने 'धन' शब्द का उपयोग किया था और रोबिन्स ने 'सीमित साधन' वाक्य का उपयोग किया है। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि ये तीनो यथार्थ मे एक ही वस्तु के अलग-अलग नाम हैं। 'धन' से सम्बन्धित कार्यों का अर्थ सीमित साधनो के मितव्ययिता-*पूर्ण उपयोग से लिया जा सकता है। वास्तव मे रोबिन्स की परिभाषा का आशय भी यही है।* मार्शल और रोबिन्स दोनो का उद्देश्य एक ही है, अर्थात् मानव सुख को अधिकतम् करना। अन्तर केवल इतना है कि मार्शल ने आवश्यकता पूर्ति के साधनो की 'प्राप्ति और उपयोग' पर जोर दिया है, जबकि रोबिन्स ने इन साधनो को 'सीमितता' अथवा 'दुर्लभता' (Scarcity) पर। केवल इतने माद से ही दोनो के दृष्टिकोण एक से बिल्कुल अलग नही हो जाते।

दोनों में अन्तर—उपरोक्त समानताओं के आधार पर यह समझ लेना भूल होगी कि रोबिन्स और मार्शल की परिभाषाओं मे कोई अन्तर नही है। कुछ ऐसे भी हैं जो आधारभूत हैं। ये बुनियादी अन्तर निम्नलिखित हैं :—

(१) सब या कुछ क्रियाएँ—मार्शल का विचार है कि अर्थशास्त्र मे मनुष्य की केवल उन्ही क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिनका धन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उन्होने मनुष्य की क्रियाओं को दो बिल्कुल अलग भागों मे बाँट दिया है और अर्थशास्त्र मे केवल आर्थिक क्रियाओं के अध्ययन को सम्मिलित किया है। इसके विपरीत, रोबिन्स के अनुसार, अर्थशास्त्र से मनुष्य की सभी क्रियाओं का अध्ययन होता है, यद्यपि वे इन क्रियाओं के *केवल आर्थिक पक्ष को लेते हैं। अन्य शब्दो मे, रोबिन्स मनुष्य की सभी क्रियाओं का अध्ययन* करते है, किन्तु एक विशेष दृष्टिकोण से। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र मे निश्चितता लाने के लिए मार्शल ने अनार्थिक क्रियाओं के अध्ययन को छोड़ दिया था और पीगू ने मनुष्य की केवल इन्ही क्रियाओं के अध्ययन को अर्थशास्त्र मे सम्मिलित किया जिनको मुद्रा मे नापा जा सकता है।

इसके विपरीत, रोबिन्स का विचार है कि अब हमारे अध्ययन की रीतियों की इतनी उन्नति हो चुकी है कि *इस प्रकार की सीमितता नहीं रह गई है।*

(२) **भौतिक एवं अभौतिक**—मार्शल की परिभाषा भौतिकता पर आधारित है। उन्होंने केवल भौतिक क्रियाओं और वस्तुओं को अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित किया है। इसके विपरीत रोबिन्स ने भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार की क्रियाओं और वस्तुओं तथा सेवाओं के अध्ययन को अर्थशास्त्र में सम्मिलित किया है।

(३) **उद्देश्य**—मार्शल ने मानवीय क्रियाओं का अध्ययन इस उद्देश्य से किया है कि मानव कल्याण को उन्नत किया जा सके। इसके विपरीत, रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र का *कल्याण के अध्ययन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।* उनका दृष्टिकोण *यथार्थवादी (Positive)* है, आदर्शवादी (Normative) नहीं। इस कारण रोबिन्स के अर्थशास्त्र का क्षेत्र मार्शल के अर्थशास्त्र के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। रोबिन्स के विचार में अर्थशास्त्र को निर्णय देने की आवश्यकता नहीं है। उसे तो एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति केवल विवेचना करनी चाहिये।

(४) **सामाजिक विज्ञान या मानव विज्ञान**—मार्शल ने साधारण (Normal), वास्तविक (Real) और समाज में रहने वाले (Social) *मनुष्यों की क्रियाओं के अध्ययन को ही* अर्थशास्त्र में सम्मिलित किया है। समाज से दूर रहने वाले व्यक्तियों और पागलों आदि का अध्ययन इस शास्त्र के क्षेत्र से बाहर है। इसके विपरीत, रोबिन्स ने सभी मनुष्यों की क्रियाओं के अध्ययन को भी अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित किया है। उनके अनुसार साधु, महात्माओं और पागलों की क्रियाओं का भी आर्थिक महत्त्व होता है। रोबिन्स ने कहा है कि जहाँ कहीं सीमितता है वहीं आर्थिक समस्या भी विद्यमान है। इस प्रकार मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र केवल एक सामाजिक शास्त्र है, परन्तु रोबिन्स के अनुसार यह इससे भी अधिक अर्थात् एक *"मानव विज्ञान"* (Science of man) है।

(IV) अन्य परिभाषायें
(Other Definitions)

अर्थशास्त्र की परिभाषाओं के इस वर्ग में हम उन परिभाषाओं को सम्मिलित करते हैं जिन्हें उपर्युक्त तीनों वर्गों में नहीं रखा जा सकता है।

(१) "अर्थशास्त्र मूल्य निर्धारण का विज्ञान है"—

कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार अर्थशास्त्र केवल मूल्य निर्धारण का एक स्पष्टीकरण मात्र है (Economics is simply an explanation of price)। इस परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र में केवल निर्धारण की समस्या का अध्ययन होता है। आर्थिक जगत की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या मूल्य-निर्धारण की ही है। *और अन्य सभी समस्यायें अन्तिम अवस्था में इसी समस्या* पर आकर केन्द्रित हो जाती हैं। निःसन्देह आज के संसार में, विशेषकर पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में, आर्थिक जीवन की प्रत्येक घटना कीमत-यन्त्र (Price Mechanism) और इसके व्यवहार पर निर्भर होती है। सभी प्रकार के आर्थिक निर्णय कीमत को ध्यान में रखकर ही किये जाते हैं। हमारे चुनाव या निर्णय करने (Choice Making) की समस्या भी इस यन्त्र के व्यवहार पर निर्भर होती है। कीमत को ध्यान में रखकर ही यह निर्णय किया जाता है कि किस वस्तु का उपभोग करना है, कौन-सी आवश्यकता पूरी करनी है, किस वस्तु की उत्पत्ति करनी है अथवा किस वस्तु का और उसका कितनी मात्रा में विनिमय करना है?

आलोचना—*यह परिभाषा भी बहुत कुछ रोबिन्स की परिभाषा से ही मिलती-जुलती* है। वास्तव में मूल्य निर्धारण की समस्या उठती ही इसलिए है कि माँग की तुलना में साधनों की मात्रा सीमित है। इस पर भी, अर्थशास्त्र की यह परिभाषा सही प्रतीत नहीं होती, क्योंकि

इस परिभाषा में आर्थिक विषयों में विचारयुक्त निर्णय के महत्त्व को भुला दिया है। वर्तमान युग 'आर्थिक नियोजन का युग' है, जिसमें कीमत-यन्त्र पर निर्भर रहने के बजाय सभी आर्थिक घटनाओं के सम्बन्ध में विचार-युक्त निर्णय किये जाते हैं। वैसे भी समाजवादी विचारों वाले व्यक्ति इस परिभाषा से सहमत हो सकेंगे।

(२) "अर्थशास्त्र आर्थिक परिमाणों का वैज्ञानिक अध्ययन है"—

बोल्डिंग (Boulding) का कहना है कि किसी शास्त्र की सीमायें बहुत कम स्पष्ट होती हैं क्योंकि जो बातें आज इसके अन्तर्गत अध्ययन की जा रही हैं वे परिस्थितियों में परिवर्तन होते रहने से कल उसके बाहर हो सकती हैं। अर्थशास्त्र के बारे में भी ऐसा ही है। अतः अर्थशास्त्र की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है और वीनर का यह कहना सही प्रतीत होता है कि 'अर्थशास्त्र वह है जो अर्थशास्त्री करते हैं'। बोल्डिंग की धारणा है कि, "अर्थशास्त्र को मनुष्य जाति के साधारण जीवन व्यवसाय का अध्ययन बताना निश्चय ही बहुत व्यापक है। इसे भौतिक धन का अध्ययन बताना बहुत ही संकुचित है। इसे मानवीय मूल्यांकन और चुनाव का अध्ययन बताना भी सम्भवतः पुनः बहुत व्यापक है और मुद्रा के पैमाने से मापी जाने वाली मानवीय क्रिया का अध्ययन बताना पुनः बहुत ही संकुचित।"[1]

बोल्डिंग ने आगे लिखा है : "अर्थशास्त्री केवल इतना ही आलस्यपूर्वक नहीं देखते कि उत्पादन, उपभोग और विनिमय किया जा रहा है वरन् वे इस पर भी ध्यान देते हैं कि कितनी मात्राओं का उत्पादन, उपभोग एवं विनियोग हो रहा है। उदाहरणार्थ, गेहूँ की उत्पत्ति, उपभोग एवं एकत्रित स्टॉक, मक्खन की कीमत, राज-मजदूरों की मजदूरियाँ, भवनों के किराये, बैंक ऋणों पर ब्याज, तम्बाकू पर कर, वस्त्रों पर टैरिफ आदि परिणाम या मात्रायें अर्थशास्त्री के आकर्षण का केन्द्र है।" इस प्रकार, बोल्डिंग के अनुसार, अर्थशास्त्र में मनुष्य के सामान्यतः तीन कार्यों का अध्ययन किया जाता है, जोकि उपभोग, उत्पादन और विनिमय हैं। इनके अध्ययन हेतु कुछ परिमाणों (जैसे—उत्पादन की मात्रा, संचित स्टॉक की मात्रा, आदि) की जाँच करना आवश्यक होता है। इन्हें उसने 'आर्थिक परिमाण' (Economic quantities) की संज्ञा दी है और कहा है कि आर्थिक परिमाणों से सम्बन्धित आँकड़े एकत्रित करने का कार्य 'आर्थिक साँख्यिकी' और 'आर्थिक इतिहास' का है किन्तु इनके विश्लेषण का कार्य 'आर्थिक विश्लेषण' का। अत, उनके अनुसार, अर्थशास्त्र आर्थिक परिमाणों का वैज्ञानिक अध्ययन है।

[हमारी सम्मति में बोल्डिंग ने जो कुछ कहा है वह अर्थशास्त्र के विषय की व्याख्या है, परिभाषा नहीं।]

(३) "अर्थशास्त्र आवश्यकताओं के लोप का अध्ययन है"—

परम उद्देश्य—प्रो० जे० के० मेहता एक पूर्णतया नया विचार प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि मानव जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य परम आनन्द की प्राप्ति है। इस उद्देश्य को समझाने के लिए उन्होंने सुख (Pleasure), दुख (Pain) और परम आनन्द (Happiness) के बीच भेद किया है। उनका कहना है कि "मानव मस्तिष्क असन्तुलन को नापसन्द करता है और इसलिए सन्तुलन की व्यवस्था प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।...... ... असन्तुलन की दिशा की अनुभूति दुख कहलाती है, जबकि इस बात की अनुभूति कि असन्तुलन घट रहा है अथवा सन्तुलन स्थापित हो रहा है, सुख कहलाती है। इस प्रकार सुख केवल दुख का निवारण है।... आवश्यकता और दुख दोनों का सह अस्तित्व है। जब तक कोई अपूर्ण आवश्यकता उपस्थित रहती है, दुख बना रहता है और इसके परित्याग या इसकी सन्तुष्टि की प्रक्रिया

[1] K E Boulding : *Economic Analysis*, p 3

सुख प्रदान करती है। जैसे ही कोई आवश्यकता पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाती है या उसे छोड़ दिया जाता है, दुःख समाप्त हो जाता है, और साथ ही अधिक सुख प्राप्त करने की सम्भावना भी इस दिशा में मस्तिष्क साम्यावस्था मे होता है, जिसमें न तो दुःख है और न सुख, बल्कि आनन्द होता है।"[1]

परम उद्देश्य की पूर्ति का साधन—आवश्यकतायें घटाना—उपरोक्त विवेचन से यह पता चलता है कि परम आनन्द की प्राप्ति का उद्देश्य आवश्यकताओं को बढ़ाने और उन्हें सन्तुष्ट करने से पूरा नही होता जैसा कि अर्थशास्त्री कालान्तर से समझते आये हैं। ऐसा करके तो हम केवल दुःख को बढाते हैं और इसका निवारण करके सुख प्राप्त करते है। यह एक ऐसा चक्र है जिसका कभी भी अन्त न होगा और सुख तथा दुःख के चक्कर मे पडा हुआ व्यक्ति कभी भी परम आनन्द प्राप्त नही कर पायेगा। केवल सुख-दुःख के चक्र को काटकर ही वास्तविक आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। *यह आवश्यकतायें घटाने से होगा बढ़ाने से नहीं। परम आनन्द की स्थिति* वह होगी जिसमे आवश्यकतायें पूर्णतया समाप्त हो जायें, क्योंकि वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के जो प्रयत्न किये जाते है उनसे तो और नई आवश्यकतायें उत्पन्न हो जाती है।

परिभाषा—*"इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्थशास्त्र वह विज्ञान है* जो मानव व्यवहार का अध्ययन एक ऐसे साधन के रूप में करता है जिससे आवश्यकताओं के पूर्ण परित्याग का उद्देश्य पूरा हो जाय।"[2] आवश्यकताओं की समाप्ति धीरे-धीरे मन और *शरीर पर नियन्त्रण रखकर की जा सकती है। जैसा कि हमने पहले भी बताया है,* प्रो० मेहता के अनुसार आवश्यकताओं से मुक्ति पाने की समस्या को भी एक आर्थिक समस्या कहा जा सकता है।"[3]

मेहता और रोबिन्स के विचारों की तुलना—*यहाँ मेहता तथा रोबिन्स के विचारों की* तुलना करना बहुत ही रोचक है—(अ) रोबिन्स के अनुसार साधन और लक्ष्य दोनों बहुमात्रा मे हैं और आर्थिक समस्या इस कारण उत्पन्न होती है कि दुर्लभ साधनो को प्रतियोगी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उपयोग किया जाता है। इसके विपरीत, मेहता का विश्वास है कि लक्ष्य केवल एक है, अर्थात् परम आनन्द की प्राप्ति और इसी प्रकार साधन भी एक ही है, अर्थात् आवश्यकताओं का परित्याग। (आ) जबकि रोबिन्स अर्थशास्त्र को एक वास्तविक विज्ञान मानते है,

---

[1] "It is the law of human mind that it dislikes disequilibrium and strives therefore to attain the state of equilibrium.......The consciousness of the state of disequilibrium is called pain, while the consciousness of the fact that disequilibrium is being reduced or that equilibrium is being approached is called pleasure thus, pleasure is merely the removal of pain ....The presence of want and that of pain are concurrent phenomena. So long as a want remains unsatisfied there is pain and the process of its removal or satisfaction yields pleasure. When the want is entirely removed there is no further pain left to be got rid of and consequently there is no possibility of getting any further pleasure. The state of mind in such a *situation is one of equilibrium. There is no pain, no pleasure, but happiness*."—**J. K. Mehta** . *Advanced Economic Theory*, pp. 1-2.

[2] "The conclusion then to which we reach is that Economics is a science that studies human behaviour as a means to the end of wantlessness" —*Ibid.* p. 11.

[3] *Ibid.*, p. 14.

मेहता केवल आदर्श विज्ञान।[1] (इ) मेहता की दृष्टि मे अर्थशास्त्र का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। (ई) वे रोबिन्स की भाँति यह विश्वास नही करते कि लक्ष्य पूर्व निश्चित होते हैं। उनके अनुसार लक्ष्य सोच-विचार कर निश्चित किये जाते हैं दोनो दृष्टिकोणो के बीच सन्तोष (Satisfaction) के अर्थ के सम्बन्ध मे भी मतभेद है।

मेहता के विचारों की आलोचना—मेहता के अर्थशास्त्र को 'आवश्यकताविहीन अर्थशास्त्र' कहा जा सकता है। इसमे अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र का समावेश है। इसका आधारभूत विचार निर्वाण के बौद्ध दर्शन से लिया गया प्रतीत होता है। आलोचको ने इस दृष्टिकोण को काल्पनिक तथा अव्यावहारिक कहा है परन्तु भारतीय परम्पराओं को देखते हुए यह कहना गलत होगा कि आवश्यकताओं का परित्याग अव्यावहारिक है। कुछ आलोचको का कहना है कि इस दृष्टिकोण को ग्रहण करके अर्थशास्त्र स्वय अपने आपको मिटा लेगा। कारण, जब आवश्यकताएँ ही समाप्त हो जायेगी तो निर्णय करने की समस्या स्वयं ही मिट जाएगी। किन्तु प्रश्न यह है कि जब परम आनन्द प्राप्त हो जाय, तब भी क्या हमे अर्थशास्त्र की मृत्यु पर आँसू बहाने चाहिए ? मेहता के विरुद्ध सबसे बड़ा तर्क यह है कि उन्होने अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र को मिला दिया है। अर्थशास्त्र की यह विवेचना ऐसा आभास देती है मानो नीतिशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र का विवेचन हो रहा है। इसी प्रकार, अर्थशास्त्र को केवल आदर्श विज्ञान कहना भी उचित प्रतीत नही होता। मेहता का दृष्टिकोण केवल आदर्शवादी है।

(४) "अर्थशास्त्र व्यावसायिक कार्यकलापों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है"—

प्रो० हिक्स के अनुसार, "मानवीय व्यवहार के जिस विशेष पहलू का अर्थशास्त्र मे अध्ययन किया जाता है वह व्यवसाय से सम्बन्धित मानव-व्यवहार है और अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो व्यावसायिक कार्यकलापो का अध्ययन करता है।"[2] इस परिभाषा को भली प्रकार से समझने हेतु इसमे प्रयोग किये गये 'व्यवसाय' (Business) शब्द का अर्थ जान लेना बहुत ही आवश्यक है।

व्यवसाय शब्द का अर्थ—हिक्स ने 'व्यवसाय' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ मे किया है। इससे उनका आशय उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण और राजस्व सम्बन्धी क्रियाओं का है। उदाहरणार्थ, एक गृहस्वामिनी किसी दूकान से दूध खरीदने जाती है। दूकानदार की दृष्टि से एक 'व्यावसायिक क्रिया' है और इसलिये अर्थशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र मे आ जाती है। किन्तु, एक साधारण व्यक्ति, दूध खरीदने की क्रिया को 'व्यावसायिक क्रिया' नही कहेगा। किन्तु एक अर्थशास्त्री गृहस्वामिनी के क्रय करने की क्रिया पर भी उतना ही ध्यान देगा, जितना कि दूकानदार के बेचने की क्रिया पर। अन्य शब्दों मे, दूध के क्रय की क्रिया उसी प्रकार से एक आर्थिक प्रश्न है जिस प्रकार से कि इसे बेचने की क्रिया है। एक अन्य उदाहरण लीजिये—लाभ पर टैक्स देना स्पष्ट रूप से एक आर्थिक प्रश्न है। किन्तु इस पर अर्थशास्त्र केवल उन व्यक्तियो और सस्थाओ की दृष्टि से ही विचार नही करेगा जो कि टैक्स देते हैं, वरन् सरकार, जिसे टैक्स मिलता है, और उन व्यक्तियो की दृष्टि से भी, जिनको सरकार, टैक्स के धन मे से वेतन आदि देती है,

---

[1] It is interesting to note here that Mehta argued that even Robbins makes economics a normative science by making maximum satisfaction as its goal.

[2] "We may say that the particular aspect of human behaviour which is dealt with by economics is the behaviour of human beings in business. Economics is the science which deals with business affairs"—Hicks.

विचार करता है। संक्षेप में, अर्थशास्त्र उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण और राजस्व सम्बन्धी व्यावसायिक क्रियाओं का अध्ययन है।

गुण—हिक्स की परिभाषा (मार्शल की परिभाषा के समान) सरल और व्यावहारिक है और सामाजिक मनुष्यों के व्यवसायिक कार्यकलापों को अर्थशास्त्र के अध्ययन की परिधि में रखती है। किन्तु इसकी एक विशेषता यह है कि इसमें 'साधारण' शब्द को निकाल दिया गया (जबकि मार्शल की परिभाषा में इसको रखा गया है)। इसी प्रकार, इसमें 'आर्थिक क्रियाओं' या 'भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति' जैसे वाक्यांशों को भी प्रयोग नहीं किया गया है, जिस कारण उस पर श्रेणी-विभाजक (Classificatory) होने का दोषारोपण नहीं किया जा सकता।

दोष—उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ हिक्स की परिभाषा में कुछ दोष भी बताये गये हैं। प्रथमतः, वह अर्थशास्त्र के स्वभाव को स्पष्ट नहीं करती, अर्थात् यह नहीं बताती कि अर्थशास्त्र केवल एक वास्तविक विज्ञान है या इसका एक आदर्शात्मक पहलू भी है और कि वह कला भी है अथवा नहीं। दूसरे, मार्शल की भाँति हिक्स की परिभाषा के अनुसार भी मानवीय व्यवहार के व्यावहारिक पहलू का अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है। अन्य शब्दों में, वह भी (मार्शल के समान) अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान के साथ-साथ उसके आदर्शात्मक और कलापक्ष को मानती है। ऐसी दशा में इस पर भी वही सब दोष लगाये जा सकते हैं जो कि रोबिन्स ने मार्शल की परिभाषा के विरुद्ध लगाये थे।

(५) अर्थशास्त्र के प्रति समाजवादियों का दृष्टिकोण—

"अर्थशास्त्र इस बात की व्याख्या करता है कि मनुष्य अपनी जीविका कैसे उपार्जित करते हैं। वह उत्पादन और वितरण का अध्ययन करता है और यह जानने का प्रयत्न करता है कि मानव समाज में जीवन की भौतिक आवश्यकताओं (जैसे भोजन, वस्त्र, मकान, परिवहन आदि) की प्राप्ति कैसे होती है? इसका उत्पादन के तकनीकी पक्ष से कम से कम प्रत्यक्ष रूप में कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु वह उन सम्बन्धों का अध्ययन करता है जो उत्पादन और विनिमय की क्रियाओं में मनुष्य के बीच स्थापित होते हैं।"[1] उत्पादन की क्रिया, जो वास्तव में श्रम द्वारा सम्पन्न होती है, प्रकृति द्वारा दिये हुए पदार्थों को धन में परिवर्तित कर देती है और इस प्रकार प्राकृतिक पदार्थ मनुष्यों की आवश्यकतायें पूरा करने के योग्य बन जाते हैं। मार्क्स (Marx) का कहना है कि "यह (श्रम) मानवीय अस्तित्व के लिये एक स्थायी और प्रकृति द्वारा थोपी गई आवश्यकता है और इसलिये सामाजिक विकास की प्रत्येक अवस्था में श्रम आवश्यक होता है।" अतः मनुष्यों के उत्पादन विषयक सम्बन्धों में समय-समय पर जो परिवर्तन होते रहते हैं उनका अध्ययन करना ही अर्थशास्त्र की विषय सामग्री है। लेनिन के शब्दों में अर्थशास्त्र, "सामाजिक

[1] "Political Economy explains how men get their living; it deals with the production, and distribution, within human societies, of the material needs of life—food clothing shelter, transport, etc. It is not—directly at least—concerned with the technical side of production, but with the relations between men in the process of production and exchange."

—**John Eaton** : *Political Economy*, p. 1.

उत्पादन के ऐतिहासिक क्रम के विकास का अध्ययन है।"[1] इसके विपरीत मार्क्स ने अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य आधुनिक समाज की प्रगति के नियमों की खोज करना बताया है।[2]

अन्तिम निष्कर्ष (Conclusion)—

अर्थशास्त्र की अनेक प्रकार की परिभाषायें की गई हैं और इन परिभाषाओं में दृष्टिकोण के विशाल अन्तर हैं। यह निर्णय वास्तव में कठिन है कि अर्थशास्त्र की कौन-सी परिभाषा को ग्रहण किया जाय। अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्री रोबिन्स की परिभाषा को अधिक पसन्द करते हैं और यही आजकल की सब से महत्त्वपूर्ण परिभाषा है। व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से पीगू की परिभाषा अधिक उपयुक्त है और साथ ही समाजवादी दृष्टिकोण के अधिक अनुकूल भी।

परीक्षा प्रश्न :

१. अर्थशास्त्र की परिभाषा 'धन के विज्ञान' के रूप में दी गई है। क्या आप इस परिभाषा को पर्याप्त समझते हैं?

[*सहायक संकेत :—सर्व प्रथम 'धन परिभाषायें' दीजिये, उनकी व्याख्या करिये एवं* आलोचना देते हुए उनकी संकीर्णता व त्रुटियों पर प्रकाश डालिये तत्पश्चात् मार्शल और रोबिन्स की परिभाषायें संक्षिप्त विवेचन सहित दीजिये और फिर अन्त में मार्शल की परिभाषा को उचित ठहराइये।]

२. "अर्थशास्त्र रोटी-मक्खन का स्वार्थपूर्ण विज्ञान है।" अर्थशास्त्र की आधुनिक धारणा के सन्दर्भ में इस कथन का विवेचन करिये।

[सहायक संकेत—इस प्रश्न में दिये गये कथन का संकेत 'धन परिभाषाओं' से है। इसका उत्तर भी प्रश्न १ के अनुसार होगा।]

३. "अर्थशास्त्र मनुष्य के सामान्य व्यावसायिक जीवन से सम्बन्धित कार्यों का अध्ययन करता है।" इस कथन को समझाइये और बताइये कि राजगिरि की निर्जन गुफा में रहने वाले साधु के कार्यों का अध्ययन हम अर्थशास्त्र में क्यों नहीं करते हैं?

अथवा

"अर्थशास्त्र मनुष्य का सामान्य जीवन व्यवसाय के सम्बन्ध में अध्ययन है।" अर्थशास्त्र की इस परिभाषा की आलोचनात्मक व्याख्या दीजिये।

[सहायक संकेत :—सर्व प्रथम मार्शल की परिभाषा, इसकी विशेषतायें एवं आलोचना देनी चाहिए। आलोचना देते समय एकान्तवासी साधू के विषय में रोबिन्स एवं अन्य अर्थशास्त्रियों के मत दीजिये कि उसके समक्ष भी आर्थिक समस्या उपस्थित है। बाद में, रोबिन्स की परिभाषा का विवेचन कीजिये और अन्त में निष्कर्ष निकालिये।]

४. समय-समय पर अर्थशास्त्र की परिभाषायें दी गई हैं उनकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। आपके विचार में, कौन-सी परिभाषा श्रेष्ठ है और क्यों?

---

[1] "......the science dealing with the *development of historical system of* production."—Lenin.

[2] ".......our object is to find out the law of motion of human society."
—Karl Marx *Capital*, Vol. I, p. XIX.

अथवा

आप अर्थशास्त्र की परिभाषा कैसे करेंगे ? सविस्तार समझाइये ।

[सहायक संकेत :—यहाँ 'धन', 'कल्याण' एवं 'दुर्लभता' तीनों ही प्रकार की परिभाषाओं की संक्षिप्त आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये और अन्त में निष्कर्ष दीजिये ।]

५. "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो लक्ष्यों और वैकल्पिक प्रयोग करने वाले दुर्लभ साधनों से सम्बन्धित मानव व्यवहार का अध्ययन करता है ।" (रोबिन्स) विवेचन कीजिए ।

अथवा

रोबिन्स ने अर्थशास्त्र की जो परिभाषा दी है उसका पूर्ण विवेचन करिये ।

[सहायक संकेत :—यहाँ रोबिन्स की परिभाषा, इसके आधार, इसकी विशेषतायें, इसका विश्लेषण एवं इसकी आलोचनायें देनी चाहिये ।]

६. प्रो० रोबिन्स की अर्थशास्त्र की परिभाषा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये । क्या कल्याणवादी अर्थशास्त्र का अध्ययन उनकी परिभाषा के अन्तर्गत सम्मिलित है ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम रोबिन्स की परिभाषा को पूर्ण रूप से समझाइये तत्पश्चात् आलोचना देते हुए बताइये कि रोबिन्स अपनी परिभाषा में कल्याणवादी अर्थशास्त्र को सम्मिलित नहीं करते हैं । अन्त में, कुछ आलोचकों के इस कथन को समझाइये कि रोबिन्स के न चाहने पर भी कल्याण का विचार उनकी परिभाषा में चोर-द्वार से प्रवेश कर गया है ।]

७. मूल आर्थिक समस्या क्या है ? रोबिन्स की परिभाषा इससे किस प्रकार सम्बन्धित है ?

अथवा

"मूल आर्थिक समस्या चुनाव की समस्या है"—विवेचन कीजिये ।

अथवा

चुनाव की समस्या क्यों उदय होती है ? यह अर्थशास्त्र की मौलिक समस्या क्यों बताई गई है ?

[सहायक संकेत :—मानवीय आवश्यकतायें अनन्त और इनकी पूर्ति के साधन सीमित एवं वैकल्पिक प्रयोग वाले हैं, *जिस कारण अर्थशास्त्र की बुनियादी समस्या चुनाव या* निर्णय की समस्या है । रोबिन्स ने अपनी परिभाषा में इसी समस्या पर ध्यान दिया है । अतः यहाँ रोबिन्स की परिभाषा का पूर्ण विवेचन करना चाहिये ।]

८. "अर्थशास्त्र वैकल्पिक प्रयोगों में दुर्लभ साधनों के वितरण का अध्ययन करता है ।" और "अर्थशास्त्र मनुष्य जाति का साधारण जीवन व्यवसाय के सम्बन्ध में अध्ययन है । वह व्यक्तिगत एवं सामाजिक कार्य के उस भाग की व्याख्या करता है, जो कि भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति एवं इनके प्रयोग से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है ।" इन दोनों परिभाषाओं में से किसे आप श्रेष्ठ समझते हैं और क्यों ?

अथवा

रोबिन्स की परिभाषाओं की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये । यह पूर्व परिभाषाओं से कैसे भिन्न है ?

अथवा

मार्शल और रोबिन्स द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषाओं का मूल्यांकन कीजिये । इनमें से किसे आप पसन्द करते हैं और क्यों ?

अथवा

अर्थशास्त्र की मार्शल की परिभाषा की तुलना रोबिन्स की परिभाषा से कीजिये ।

अथवा

क्या रोबिन्स द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषा मार्शल की परिभाषा पर सुधार है ? पूर्ण रूप से समझाइये ।

[सहायक-संकेत :—पहले मार्शल की परिभाषा की संक्षिप्त व्याख्या और आलोचना दीजिये तत्पश्चात् रोबिन्स की परिभाषा को भी संक्षिप्त व्याख्या और आलोचना सहित दीजिए । फिर यह बताइये कि दोनों परिभाषाओं के अपने-अपने गुण-दोष हैं, कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं है, वस्तुतः ये परस्पर पूरक हैं। जबकि मार्शल की परिभाषा सुगम और व्यावहारिक है, रोबिन्स की परिभाषा अधिक वैज्ञानिक और सैद्धान्तिक है । इस प्रकार, यह कहना कठिन है कि रोबिन्स की परिभाषा सभी दृष्टियों से मार्शल की परिभाषा के ऊपर सुधार है ।]

९. मार्शल की परिभाषा का सावधानी के साथ विवेचन करिये । प्रो० रोबिन्स ने अपनी अर्थशास्त्र की परिभाषा के द्वारा जो परिवर्तन प्रचलित किये हैं उनकी समीक्षा कीजिये । [सहायक-संकेत :—सर्वप्रथम मार्शल की परिभाषा की व्याख्या और आलोचना कीजिए । तत्पश्चात् रोबिन्स की परिभाषा की संक्षिप्त व्याख्या देते हुए मार्शल की परिभाषा से उसकी तुलना करिये और यह बताइये कि इसने क्या नये परिवर्तन किये हैं ? अन्त में यह निष्कर्ष निकालिये कि दोनों परिभाषाओं के अपने-अपने गुण-दोष हैं और वस्तुतः वे परस्पर पूरक हैं ।]

१०. "अर्थशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जिसमे मानवीय आचरण का आवश्यकता रहित अवस्था को प्राप्त करने के साधन के रूप मे अध्ययन किया जाता है ।" विवेचन कीजिये । *[सहायक-संकेत :—यहाँ प्रो० मेहता की परिभाषा की आलोचनात्मक व्याख्या करनी चाहिए ।]*

११. "हम यह कह सकते हैं कि मानवीय व्यवहार का वह विशेष पहलू, जिसका अर्थशास्त्र मे अध्ययन किया जाता है, मनुष्य का व्यवसाय सम्बन्धी व्यवहार है । अर्थशास्त्र व्यवसाय सम्बन्धी कार्यकलापो का अध्ययन करने वाला विज्ञान है ।" (हिक्स) इस कथन का सावधानी के साथ विवेचन करिये और 'व्यवसाय' शब्द के अर्थ को स्पष्ट कीजिये ।

[सहायक-संकेत :—यहाँ प्रो० हिक्स की परिभाषा का पूर्ण विवेचन करना चाहिए ।]

१२. निम्न की समीक्षा कीजिए :—(अ) "अर्थशास्त्र उत्पादन की ऐतिहासिक प्रणाली के विकास का अध्ययन है," (ब) "अर्थशास्त्र आर्थिक परिणामों का वैज्ञानिक अध्ययन है," एवं (स) "अर्थशास्त्र व्यावसायिक कार्यकलापों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है ।" [सहायक-संकेत :—इस प्रश्नोत्तर के आधीन क्रमशः लेनिन, बोल्डिंग और हिक्स की परिभाषाओं का विवेचन कीजिये ।]

१३. रोबिन्स और जे० के० मेहता द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषाओं की तुलना कीजिये । आप इनमे से किसे अधिक पसन्द करते हैं और क्यो ?

२

अर्थशास्त्र का क्षेत्र

(The Scope of Economics)

प्रारम्भिक—

परिभाषा के सम्बन्ध मे विभिन्न अर्थशास्त्रियों के बीच भारी मतभेद है, इसलिए वे अर्थशास्त्र के क्षेत्र के सम्बन्ध मे भी सहमत नही हैं। केन्ज (Dr. J. M. Keynes) ने कहा है कि किसी अध्ययन के क्षेत्र में दो बाते सम्मिलित होती हैं—**प्रथम**, उस वस्तु की प्रमुख विशेषतायें, जिसका इसमे अध्ययन किया जाता है और दूसरे, अध्ययन-विशेष और अन्य विषयों का पारस्परिक सम्बन्ध। अतः इन बातो को ध्यान में रखकर ही हमें अर्थशास्त्र को निश्चित करना चाहिये। अन्य विषयों से अर्थशास्त्र के विषय का सम्बन्ध तो एक अगले अध्याय में देखा जायेगा, प्रस्तुत अध्याय मे हम अर्थशास्त्र के विषय पर विचार करेंगे। इस सम्बन्ध मे हमें मुख्यतया निम्न तीन प्रश्नों का उत्तर देना चाहिये :—(I) अर्थशास्त्र की विषय सामग्री (Subject matter) क्या है ? (II) अर्थशास्त्र का स्वभाव (Nature) अर्थात् यह (अ) कला है या विज्ञान ? (ब) यदि वह विज्ञान है, तो वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान ? (III) अर्थशास्त्र एक व्यक्तिगत शास्त्र है अथवा सामाजिक शास्त्र ?

(I) अर्थशास्त्र की विषय सामग्री
(Subject Matter of Economics)

आर्थिक अध्ययन का विषय—मनुष्य एवं उसका व्यवहार

एडम स्मिथ और अन्य पुराने अर्थशास्त्रियों ने 'धन' को अर्थशास्त्र का विषय बताया था। आगे चलकर मनुष्य की उन क्रियाओं को अर्थशास्त्र का विषय बताया गया जिनका सम्बन्ध धन से है। तत्पश्चात् इसमे भी सुधार किया गया और अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित हैं) बताई गई। मार्शल और उनके साथियों ने यही दृष्टि-कोण अपनाया था। उन्होंने मानवीय क्रिया को दो भागों मे बाँटा भौतिक और अभौतिक तथा केवल भौतिक क्रियाओं को ही अर्थशास्त्र की विषय सामग्री बनाया।

मनुष्य की सभी क्रियाओं का अध्ययन एक निश्चित दृष्टि से—

इस प्रकार, यह तो निश्चित हो गया है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय मनुष्य और उसका व्यवहार है। मतभेद केवल इस दिशा मे रह जाता है कि क्या सभी मानव क्रियाओं और सभी मनुष्यो की क्रियाओं का अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है अथवा इनमे से कुछ को छोड़ दिया जाता है।

(१) मार्शल और उनके साथियों के अनुसार, साधारण और सामाजिक मनुष्यो की केवल भौतिक क्रियाओं का ही अर्थशास्त्र मे अध्ययन किया जाता है। इस सम्बन्ध मे मार्शल के दृष्टिकोण के दोषों का विस्तृत अध्ययन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। भौतिक और

अभौतिक क्रियाओं का भेद लगभग असम्भव है और यदि इस प्रकार का भेद किया भी जाता है, तो उससे कोई लाभदायक परिणाम नहीं निकल सकता।

(२) पीगू का मत है कि मनुष्यों की केवल उन्ही क्रियाओ का अर्थशास्त्र मे अध्ययन किया जाता है जो मुद्रा मे नापी जा सकती हैं। जहाँ तक पीगू के दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, यह इसलिए महत्वपूर्ण है कि इससे अर्थशास्त्र मे निश्चितता और व्यावहारिकता आ जाती है परन्तु पीगू के दृष्टिकोण को अपनाने से भी निम्नलिखित तीन कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं :—(i) पीगू ने आर्थिक कल्याण को अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय माना है; किन्तु उस कल्याण को, जो आर्थिक है और उस कल्याण को, जो आर्थिक नहीं है, एक दूसरे से पूर्णतया अलग करना सम्भव नहीं है। दोनो मे परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध है। (ii) यदि केवल उन्ही क्रियाओं को अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे सम्मिलित किया जाय, जो कि मुद्रा मे नापी जा सकती हैं, तो विभिन्न परिस्थितियों मे *एक ही क्रिया आर्थिक अथवा अनार्थिक (Non-economic) हो जायगी।* उदाहरण के लिए, एक कलाकार जब दान हेतु अपनी कला का प्रदर्शन करता है तो उसकी यही क्रिया अनार्थिक होगी; परन्तु वही कलाकार जब पैसे कमाने के लिए ऐसा करता है, तो उसकी यही क्रिया आर्थिक हो जायगी। (iii) रोबिन्स का विचार है (और यह सही भी है) कि पीगू का दृष्टिकोण भी भौतिकवादी (Materialistic) ही है।

(३) रोबिन्स के अनुसार, मनुष्य की सभी क्रियायें अर्थशास्त्र के विषय में सम्मिलित हैं, क्योंकि मानव क्रियाओ का आर्थिक एवं अनार्थिक क्रियाओ मे अथवा भौतिक एवं अभौतिक क्रियाओ मे वर्गीकरण नहीं किया जा सकता।

सब कुछ देखते हुए रोबिन्स का विचार ही अधिक सही प्रतीत होता है। हमारे अध्ययन का विषय मनुष्य है और मनुष्य की सभी क्रियाएँ अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे आ जाती है, चाहे उनका सम्बन्ध भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति से हो, या अभौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से। *स्मरण रहे कि यद्यपि मनुष्य की सभी क्रियायें अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे आ जाती हैं,* किन्तु इन क्रियाओ के केवल निर्णय विधायक पक्ष (Choice making aspect) का ही अर्थशास्त्र मे अध्ययन किया जाता है। मानव व्यवहार के अन्य पक्षो का अध्ययन राजनीति, इतिहास, मनोविज्ञान आदि दूसरे सामाजिक विज्ञानो के अन्तर्गत किया जाता है।

अब चूँकि मनुष्य समाज का अंश है, इसलिए उसकी क्रियाओ और विचारों का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतएव मनुष्य के व्यवहार के साथ-साथ इस व्यवहार का सामाजिक जीवन पर प्रभाव भी अर्थशास्त्र के विषय मे आ जाता है आजकल के युग मे मनुष्य और समाज को एक दूसरे से अलग करके अध्ययन करना सम्भव नहीं है, क्योंकि यह दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं।

इस प्रकार, अर्थशास्त्र का क्षेत्र मनुष्य की सभी क्रियाओ तक फैला हुआ है, किन्तु इन क्रियाओं के केवल एक रूप का अध्ययन किया जाता है। सच बात तो यह है कि इसी आधार पर अर्थशास्त्र तथा दूसरे सामाजिक शास्त्रों में भेद किया जा सकता है।

सभी मनुष्यों की क्रियाओं का अध्ययन—

कुछ अर्थशास्त्री भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यों मे जो भेद करते है, वह भी ठीक नहीं है। सारे मनुष्यों का व्यवहार, चाहे वे समाज के सदस्य हों या न हों, अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे आता है। कारण, आर्थिक समस्या (निर्णय करने की समस्या) सभी मनुष्यों के लिए रहती है और सभी की क्रियाओ का आर्थिक महत्त्व होता है। पुन, जैसा कि रोबिन्स ने बताया है, विनिमय, विनरण और राजस्व सम्बन्धी कार्य व नियम तो अवश्य एक समाज मे ही रह कर सम्भव हैं किन्तु उपभोग और उत्पत्ति के नियम समाज मे न रहने वालो (अर्थात् एकान्त सेवी साधु-

सन्यासी आदि) पर भी लागू होते हैं। हाँ, पागल अथवा इस प्रकार के दूसरे मनुष्य इस शास्त्र से छूट जाते हैं, क्योंकि उनके विषय में सामान्य नियम नहीं बनाये जा सकते हैं।

(II) अर्थशास्त्र का स्वभाव
(Nature of Economics)

अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान, यह जानने हेतु कला और विज्ञान का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। अधिकतर महाविद्यालयों (Colleges) में कला और विज्ञान (Art and Science) दोनों ही की शिक्षा दी जाती है तथा पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाया जाता है कि कुछ विषयों की शिक्षा कला विभाग में तथा कुछ की विज्ञान विभाग में दी जाती है। अर्थशास्त्र बहुधा कला के विभाग का एक विषय है, परन्तु इस शास्त्र की शिक्षा विभाग में भी होती है। विदेश के कुछ विश्वविद्यालयों में, विशेष रूप से पेरिस में यह विषय कानून (Law) विभाग में पढ़ाया जाता है। अतः विद्यार्थियों को बहुधा यह निर्णय करने में कठिनाई होती है कि अर्थशास्त्र को कला माना जाय या विज्ञान अथवा कुछ और ही। किन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि शिक्षा-संस्थाओं में कला और विज्ञान का जो अर्थ होता है, अर्थशास्त्र में उनका अर्थ उससे बिल्कुल भिन्न है। अतः यदि कोई विश्वविद्यालय अर्थशास्त्र को कला के पाठ्यक्रम में रखता है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि अर्थशास्त्र केवल कला है विज्ञान नहीं।

विज्ञान का अर्थ—

विज्ञान से हमारा अभिप्राय है **'जानने' से और कला से आशय है 'करने'** से। इस प्रकार, विज्ञान 'ज्ञान' या 'जानकारी' (Knowledge) है और कला 'क्रिया' (Action) है। किन्तु केवल तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर लेना ही विज्ञान नहीं है। उसमें एक गुण यह भी होना चाहिए, ऐसी जानकारी समबद्ध (Systematic) हो। जैसा कि **पोइनकेअर (Poincare)** ने कहा है : "विज्ञान तथ्यों से उसी प्रकार निर्मित होता है, जिस प्रकार एक मकान पत्थरों से बनता है; किन्तु तथ्यों को संग्रह करना मात्र ही उसी प्रकार से विज्ञान नहीं है जिस प्रकार कि पत्थरों का ढेर मकान नहीं कहा जा सकता।"[1] **दूसरे शब्दों में, समबद्ध ज्ञान या जानकारी के संग्रह को विज्ञान कहते हैं।** यह संग्रह ज्ञान की किसी भी शाखा के बारे में हो सकता है और इसमें उस शाखा से सम्बन्धित नियमों का वर्णन और विश्लेषण रहता है।

अर्थशास्त्र को विज्ञान मानने के पक्ष में तर्क—

विज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा के सन्दर्भ में यह कहना ठीक है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है, क्योंकि :—(अ) वह आर्थिक बातों के कारण और परिणाम के बीच व्यवस्थित रूप से सम्बन्ध स्थापित करता है; (आ) इसमें आर्थिक आँकड़ों और सूचनाओं का व्यवस्थित तरीके से संग्रह, वर्गीकरण और विश्लेषण किया जाता है; (इ) इसके पास आर्थिक तत्त्वों को मानने के लिए मुद्रा का मापदण्ड भी है, जो बहुत सीमा तक निश्चतता ला देता है।

अर्थशास्त्र को विज्ञान मानने के विरोध में तर्क—

किन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार अर्थशास्त्र को विज्ञान नहीं मानना चाहिए, क्योंकि (अ) अर्थशास्त्री आपस में एक मत नहीं रहते; (आ) मानव व्यवहार के बारे में ठीक-ठीक भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है और न कोई निश्चित नियम ही बनाये जा सकते हैं;

---

1 "Science is built up of facts as a house is built up of stones; but an occumulation of facts is no more a science than a heap of stones is a house."—**Poincare** : *Science and Hypothesis*, p. 41. *Quoted by* Pigou : *Economics of Welfare*, p. 7.

(इ) अर्थशास्त्री जो सूचियाँ और तालिकायें बनाते हैं वे सभी अवास्तविक होती हैं। अतः इनके आधार पर जो नियम बनाये जाते हैं वे ऐतिहासिक होते है स्थायी नही; एवं (ई) आर्थिक नियम परिमाणात्मक (Quantitative) नही होते।

अर्थशास्त्र एक 'विज्ञान' है—

यदि हम अर्थशास्त्र को विज्ञान मानने के विरोध मे दिये गये तर्कों का सावधानी से विश्लेषण करे, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि ये तर्क थोथे हैं। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र विज्ञान की परिभाषा के गुणो को पूरा करता है, *जिस कारण मत-भिन्नता होने पर भी उसे विज्ञान ही* कहा जायेगा। पुनः मत-भिन्नता विज्ञान के स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक है। साथ ही यह स्वाभाविक है कि अर्थशास्त्रियों मे मत-भिन्नता हो, क्योकि इस शास्त्र का विकास पूरा नही हुआ है और वह निरन्तर बढ़ रहा है।

इसी प्रकार, मानव व्यवहार की अनिश्चितता का तर्क भी जितना गम्भीर दिखाई देता है वास्तव मे उतना नही है; क्योकि (i) प्रायः सभी मनुष्यों मे कुछ बुनियादी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, जो उनके व्यवहार को शासित करती हैं। अतः समान परिस्थितियो मे मनुष्य *बुनियादी प्रवृत्तियो के शासन के आधीन समान आचरण करते हैं; जिससे मानवीय व्यवहार का* पूर्वानुमान बहुत सीमा तक सही लगाया जा सकता है; (ii) अर्थशास्त्र मे मनुष्य के व्यवहार का चुनाव-पहलू से ही अध्ययन किया जाता है और यह कल्पना की जाती है कि मनुष्य एक विवेकशील होता है, जिस कारण दिये हुए उद्देश्यो की पूर्ति के लिए वह अपने साधनो को किस प्रकार प्रयोग मे लायेगा इसकी भविष्यवाणी की जा सकती है, (iii) निस्सन्देह, आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तन होते रहते हैं, जिस कारण आर्थिक तालिकायें व सूचियाँ अवास्तविक बन जाती हैं। किन्तु मनुष्य का बुनियादी व्यवहार सन्तोष को अधिकतम् करना, साधनो की सीमितता आदि प्रत्येक *आर्थिक स्थिति मे समान रहते हैं। अतः इन पर आधारित नियमो के द्वारा बदलती हुई परि-*स्थितियों को सुगमतापूर्वक समझाया जा सकता है; एवं (iv) यद्यपि आर्थिक नियम गणितात्मक रूप से निश्चित सम्बन्ध तो नही दर्शाते तथापि द्रव्य के रूप मे उनके पास एक काम चलाऊ माप तो है। अतः अर्थशास्त्र एक विज्ञान है।

अर्थशास्त्र कैसा विज्ञान है—वास्तविक या आदर्शात्मक ?

अब प्रश्न उठता है कि अर्थशास्त्र कैसा विज्ञान है ? विज्ञान दो प्रकार के होते हैं—वास्तविक विज्ञान एवं आदर्शात्मक विज्ञान। **वास्तविक विज्ञान** (Positive Science) अपने आपको वास्तविकता तक ही सीमित रखता है। वह किसी भी विषय का अध्ययन उसके वास्तविक रूप या दशा मे करता है, अर्थात् जैसी बात वास्तव मे है वैसी ही उल्लेख करता है। उसकी अच्छाई-बुराई से उसका कोई सम्बन्ध नही है और वह इस विषय मे बताता है कि वह कैसा होना चाहिए। इसके विपरीत, **आदर्शात्मक विज्ञान** (Normative Science) कोई उद्देश्य लेकर चलता है। जो नियम बनाये जाते हैं या जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं वे किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाये जाते हैं। ऐसा विज्ञान आदेश देता है और 'कैसा है' के विपरीत 'कैसा होना चाहिए' का बोध कराता है। इस प्रकार, वास्तविक विज्ञान यह बताता है कि 'कैसा है' और आदर्शात्मक विज्ञान यह बताता है कि 'कैसा होना चाहिए'।

[विज्ञान की परिभाषा देते समय यह बताया गया था कि क्रमबद्ध ज्ञान ही विज्ञान है और वह कारण एवं परिणाम के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है। यही परिभाषा वास्तविक विज्ञान की भी है, जिसमे प्रगट होता है कि विज्ञान और वास्तविक विज्ञान एक ही हैं। जब ऐसा है, तो विज्ञान को वास्तविक और आदर्शात्मक इन दो भागों मे कैसे बाँटा जा सकता है ? अथवा, यदि यह विभाजन सम्भव नही है, तो आदर्श विज्ञान का क्या अर्थ है ? यथार्थ मे, आदर्श

विज्ञान कोई पृथक विज्ञान नही है । यह तो वास्तविक विज्ञान के एक पहलू को सूचित करता है । जब हम वास्तविक विज्ञान (या विज्ञान) के अध्ययन को एक निश्चित आदर्श से सम्बन्धित कर देते हैं, तो उसका पहलू आदर्शात्मक हो जाता है । अतः आदर्श विज्ञान वास्तविक विज्ञान का ही एक पहलू है । हमारे विवाद का विषय भी यह होना चाहिए कि अर्थशास्त्र केवल वास्तविक विज्ञान है अथवा इसका एक आदर्शात्मक पहलू (Normative aspect) भी है ।]

वास्तविक विज्ञान होना निर्विवाद किन्तु आदर्शवादी पहलू होने पर विवाद—

प्राय: सभी अर्थशास्त्री यह स्वीकार करते है कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है । किन्तु विवाद बहुधा इस प्रश्न को लेकर चलता है कि क्या अर्थशास्त्र का एक आदर्शात्मक पहलू भी है । एक ओर ऐसे अर्थशास्त्री है जो अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानते हैं। इनके नेता हैं आधुनिक अर्थशास्त्री प्रो० रोबिन्स । दूसरी ओर, वे अर्थशास्त्री हैं जो अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानने के साथ-साथ इसके आदर्शात्मक पहलू को भी स्वीकार करते हैं । इस वर्ग के नेता है पीगू और मार्शल ।

रोबिन्स का दृष्टिकोण—रोबिन्स का विचार है कि अर्थशास्त्र केवल एक वास्तविक विज्ञान है और उसका आदर्शवादी पहलू नही है । आदर्शवादी पहलू तब ही हो सकता है जबकि अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र से सहयोग ले; किन्तु "दुर्भाग्यवश इन दोनो अध्ययनो को किसी तर्क-सम्मत ढङ्ग से संयुक्त करना सम्भव प्रतीत नही होता । अधिक से अधिक इन्हें समीप ही रखा जा सकता है । जबकि अर्थशास्त्र जाँचने योग्य तथ्यों का अध्ययन करता है, नीतिशास्त्र मूल्यांकन और आभारो का । ये दोनों अध्ययन वार्तालाप के समान स्तर पर नही है ।"[1] रोबिन्स मूल्य सिद्धान्त को ही अर्थशास्त्र मानते हैं और मूल्य सिद्धान्त का कोई आदर्शात्मक पहलू नही होता ।[2] अर्थशास्त्र के केवल वास्तविक विज्ञान होने के पक्ष मे रोबिन्स और उनके समर्थकों ने जो तर्क दिए हैं वे निम्न प्रकार है :—

(१) अर्थशास्त्र एक विज्ञान है और विज्ञान होने के कारण वह भी अन्य विज्ञानो की भाँति 'तर्क' पर आधारित है । तर्क के आधार पर 'कारण' और 'परिणाम' के मध्य सम्बन्ध तो स्थापित किया जा सकता है और यह भी बताया जा सकता है कि अमुक कार्य का अमुक परिणाम होगा परन्तु यह नही बताया जा सकता कि क्या होना चाहिए और क्या न होना चाहिए । आदर्शवादी दृष्टिकोण तर्क पर नहीं, वरन् 'भावना' पर आधारित है । अतः इसे अर्थशास्त्र से, जिसका आधार तर्क है, पृथक ही रखना चाहिए ।

(२) अर्थशास्त्रियों को सारे कार्य स्वयं ही नहीं करने चाहिए, क्योंकि यह सब कार्यों को कुशलतापूर्वक नहीं कर सकता है । अतः श्रम विभाजन के सिद्धान्त के अनुसार, उसे किसी विषय के वास्तविक स्वरूप पर ही अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करना चाहिए तथा विषय की अच्छाई-बुराई बताने और सुझाव देने का कार्य राजनीतिज्ञों और आचार-शास्त्रियों पर छोड़ देना चाहिए ।

---

[1] "Unfortunately it does not seem logically possible to associate these two studies in any form but mere just a position. Economics deals with ascertainable facts, ethics with valuation and obligations. The two fields of enquiry are not on the same plane of discourse."—Robbins : *An Essay on the Nature and Significance of Economics*, p. 148

[2] "There is no penunbra of approbation around the theory of value. Equilibrium is just an equilibrium."—Robbins.

(३) 'क्या है' के अध्ययन को 'क्या होना चाहिए' के अध्ययन से मिला देने पर भ्रम पैदा होने का भय है। जिससे आर्थिक विषयों के विकास में कठिनाई होगी।

(४) आदर्शात्मक पहलू मानने से अर्थशास्त्र की प्रगति में बड़ी बाधा प्रस्तुत हो जायेगी, क्योंकि 'क्या होना चाहिए' की खोज बहुत वाद-विवाद को जन्म देगी, किन्तु यह बात 'क्या है' की खोज के विषय में नहीं है।

(५) यदि अर्थशास्त्र के वास्तविक पहलू के साथ आदर्शात्मक पहलू को मिलाया गया, तो इससे अर्थशास्त्री पर कार्यभार बढ़ जायेगा, क्योंकि 'क्या है' के साथ-साथ उसे 'क्या होना चाहिए' का विवेचन करना पड़ेगा, और यदि वह केवल 'क्या है' का विवेचन करता है 'क्या होना चाहिए' के विषय में शान्त रहता है तो लोग उसको गलत समझ सकते हैं। वे सोचेंगे कि अर्थशास्त्री एक अमुक अन्वेषण से सहमत है जबकि उसका सहमत होना जरूरी नहीं है। अतः अर्थशास्त्री को गलत समझने की सम्भावना के निवारणार्थ आदर्शवादी पहलू को अलग ही रखना चाहिए।

पीगू का दृष्टिकोण—अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानने का पीगू ने कड़ा विरोध किया है। उनका कहना है कि इस प्रकार का अर्थशास्त्र मनुष्य के लिए बेकार होगा, क्योंकि अर्थशास्त्र के द्वारा हमें जीवन की विभिन्न समस्याओं को हल करना होता है और यह निर्णय करना पड़ता है कि हम क्या करना चाहिए। उसके विचार में अर्थशास्त्र प्रकाश डालने वाला (Light bearing) विज्ञान न होकर फलदायक (Fruit bearing) विज्ञान है और इसी कारण यह शास्त्र बड़ा लाभदायक और महत्त्वपूर्ण है। अर्थशास्त्र का आदर्शात्मक पहलू होने के पक्ष में पीगू और उसके साथियों के निम्नलिखित विचार महत्त्वपूर्ण हैं —

(१) अर्थशास्त्र को उद्देश्यों के प्रति तटस्थ नहीं होना चाहिये। उसे उद्देश्यों को जान-बूझकर निर्धारित करना चाहिए। यदि उद्देश्य को दिया हुआ माना गया, तो सीमित साधनों का सदुपयोग नहीं हो सकेगा। अन्य शब्दों में, सीमित साधनों के सदुपयोग की दृष्टि से उद्देश्यों को जानबूझकर निश्चित करना चाहिए।

(२) मनुष्य तार्किक (logical) होने के साथ-साथ भावुक (sentimental) भी है, जिस कारण यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र में मानव व्यवहार का दोनों वास्तविक एवं आदर्शात्मक दृष्टिकोणों से अध्ययन किया जाय। एक के बिना दूसरा अध्ययन बेकार है।

(३) किसी विषय के अध्ययन द्वारा 'कारण और परिणाम' में सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य अर्थशास्त्री करें, और निर्णय देने का कार्य राजनीतिज्ञ या नीतिशास्त्र वेत्ता करें, ऐसा श्रम विभाजन गलत है और समय व शक्ति का मितव्ययितापूर्वक प्रयोग नहीं है। यह उसी प्रकार से असंगत और विचित्र है जिस प्रकार दो व्यक्तियों के मध्य इस प्रकार का श्रम विभाजन कि उनमें एक व्यक्ति खाना खाये और दूसरा केवल पानी पीये।

(४) रोबिन्स का यह तर्क भी ठीक नहीं है कि साम्य केवल साम्य है। भारतीय गाँवों में ब्याज की ऊँची दर प्रचलित है, जो निस्सन्देह माँग पूर्ति की शक्तियों के साम्य का परिणाम है। किन्तु, साम्य केवल साम्य है ऐसा समझते हुए इस अनुचित रूप से ऊँची दर को घटाने हेतु सरकार को कोई उपाय नहीं करना चाहिए ? यदि सरकार निष्क्रिय रहे, तो यह एक गलत नीति होगी। इस प्रकार, अर्थशास्त्र के आदर्शवादी पहलू को छोड़ा नहीं जा सकता।

(५) हमारे इच्छा करने पर भी यह सम्भव नहीं है कि अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानते हुए तदनुरूप आचरण कर सकें। अर्थशास्त्री एक रक्त-मांस का आदमी है, जिसके अपने दृष्टिकोण एवं भाव होते हैं। जब वह आर्थिक समस्याओं का अन्वेषण करता है, तो उसकी भावनाओं और दृष्टिकोण का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

(६) यदि अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान ही माना जाय, तो उसका अध्ययन **फीका और अरुचिकर** प्रतीत होगा। किन्तु कुछ उद्देश्यों और आदर्शों को सामने रखकर अध्ययन करने से वह रुचिप्रद हो जायेगा।

(७) अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है। यदि इसे **समाज के उत्थान के लिये एक इंजन का कार्य** करना है, तो नीति शास्त्र से सम्बन्ध रखना ही पड़ेगा। किसी समस्या पर विचार-विमर्श करते समय यह हो सकता है कि उद्देश्यों को पूर्व निश्चित मान लें किन्तु बाद में इन पूर्व निश्चित उद्देश्यों के कल्याण सम्बन्धी अर्थों पर भी विचार-विमर्श करना आवश्यक है।

(८) **आर्थिक नियोजन** की लोक प्रियता आजकल बहुत बढ़ गई है। इसमें उद्देश्य जानबूझ कर निर्धारित किये जाते है। अतः अर्थशास्त्र का आदर्शात्मक पहलू अपरिहार्य हो गया है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र केवल वास्तविक विज्ञान ही नही है, वरन् उसका आदर्शात्मक पहलू भी है। अत. अर्थशास्त्री का कार्य केवल व्याख्या और खोज करना ही नही है वरन् अच्छाई और बुराई को भी बताना है। इस सम्बन्ध मे यह जानना बड़ा सहायक होगा कि **यद्यपि रोबिन्स अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानते हैं, किन्तु अपने सभी आर्थिक लेखों में वे इस विचार को नहीं निभा पाये हैं।** उदाहरणार्थ, जब वे युद्ध अर्थ-व्यवस्था के विषय मे लिखते हैं तो वास्तविक विज्ञान की सीमा को पार करके सलाह देने लगते है। इस प्रकार पीगू का मत है कि अर्थशास्त्र केवल आदर्श विज्ञान है, परन्तु जब वे मुद्रा-प्रसार (Inflation) अथवा राष्ट्रीय आय (National Income) के विषय मे लिखते है तो एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति विषय की विवेचना करके रुक जाते है और वास्तविकता की सीमा के बाहर पैर नही रखते है।

क्या अर्थशास्त्र कला है ?

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या अर्थशास्त्र कला है, अर्थात्, क्या वह व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने मे सहायता दे सकता है ?

'कला' का अर्थ—जबकि विज्ञान तथ्यों की खोज करता है और उनकी व्याख्या करता है, कला निर्देशन करती है, व्यावहारिकता की ओर ले जाती है अथवा नियम प्रस्तुत करती है। अन्य शब्दों मे, कला केवल तथ्यों का वर्णन ही नहीं करती है, वरन् समस्याओं को हल करने के उपाय भी बताती है। **कोसा के** अनुसार, "विज्ञान का सम्बन्ध जानने से है किन्तु कला का सम्बन्ध करने से है।" केन्ज के शब्दों मे, "कला एक दिये हुये लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नियमों की एक प्रणाली है।"[1] इस प्रकार, कला और विज्ञान एक दूसरे के पूरक है।[2] जीवन के सभी क्षेत्रों में विज्ञान और कला दोनो हो सकते है, जैसे—चित्रकला के बारे मे सम्बन्ध ज्ञान 'विज्ञान' है तथा इन नियमों के अनुसार चित्र खीचना 'कला' है। इसी प्रकार, भौतिक शास्त्र के नियमों का ज्ञान 'विज्ञान' है और इन नियमों को प्रयोग करना 'कला' है।

एडम स्मिथ रिकार्डो, केन्ज, मिल, मार्शल, पीगू इत्यादि अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को कला मानते है किन्तु सीनियर, वालरस, कूरनो, शुम्पीटर इत्यादि ऐसा नही मानते। आधुनिक अर्थशास्त्रियों मे रोबिन्स ने भी प्रभावशाली शब्दो मे मत प्रकट किया है कि **अर्थशास्त्र** केवल एक वास्तविक विज्ञान है और इसका व्यावहारिक नीतियों के निर्माण से कोई सम्बन्ध नही है।

---

1 "An art is a system of rules for the attainment of a given end."—Keynes : *Scope and Method of political Economy*, p 46.

2 "Science requires art, art requires science, each being complementary to the other."—Cossa.

अर्थशास्त्र के कला होने के विरोध में तर्क—अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र के कला होने के विरोध मे निम्न तर्क दिये हैं :—(i) यदि अर्थशास्त्र नीति के निर्माण मे सहयोग देता है, तो वह अपने वैज्ञानिक स्वभाव से वंचित हो जायेगा। अतः उसे विभिन्न कार्यों की विशेषतायें बताने मे एक विशेषज्ञ की भाँति कार्य करना चाहिए, निर्णय देने वाले जूरी की भाँति नही। (ii) अधिकांश समस्यायें केवल आर्थिक ही नही होती हैं, वरन् उनके राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक पहलू भी होते हैं, जिस कारण नीति के निर्माण का कार्य अकेला अर्थशास्त्री नही कर सकता। (iii) अर्थशास्त्र हमें कुछ बने बनाये नुस्खे प्रदान नही करता, जिन्हें कि व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए एक नीति के रूप में तत्काल ही लागू किया जा सके।

अर्थशास्त्र के कला होने के पक्ष में तर्क—यद्यपि उपर्युक्त तर्कों मे सत्यता का अंश है तथापि इसके आधार पर ही अर्थशास्त्र को कला न मानना अनुचित है। अर्थशास्त्र के कला होने के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते है :—

(१) यह तो सच है कि अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप को बनाये रखना एक आवश्यक बात है किन्तु अर्थशास्त्र के कला होने मे इसमे कोई बाधा नही पड़ती है। दूसरी ओर वैज्ञानिक स्वरूप पर अति कठोरता से अमल करने से विषय की व्यापकता कम हो जाती है। प्रायः सभी अर्थशास्त्रियों ने—रोबिन्स सहित—अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप को लाघते हुए उद्देश्यों पर वाद-विवाद किया है। पुनः अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है, जिस कारण इसकी उपयोगिता इस बात मे है कि आर्थिक समस्याओं के समाधान मे योग दे।

(२) जहाँ कुछ समस्यायें मिश्रित स्वभाव की है वहाँ अनेक समस्यायें विशुद्ध आर्थिक स्वभाव की है, यथा—विनिमय दर, मुद्रा व साख आदि समस्यायें, जिनका हल अर्थशास्त्री ही बता सकता है, अन्य कोई नहीं। मिश्रित स्वभाव की समस्याओं के सम्बन्ध मे भी अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता है और अर्थशास्त्री जो सम्मति दे वह एक सुझाव के रूप मे ग्रहण की जा सकती है।

(३) निस्सन्देह अर्थशास्त्र बने-बनाये नुस्खे (Ready-made-solutions) प्रदान नही करता, किन्तु इससे यह अर्थ तो नही लिया जा सकता कि अर्थशास्त्र कला स्वभाव का नहीं। कारण, जैसा कि केन्ज ने स्वयं ही आगे बताया है, अर्थशास्त्र एक रीति, मस्तिष्क का एक यन्त्र एवं सोचने की एक टेक्नीक है, जो अपने अधिकारी को निष्कर्ष निकालने मे सहायता देती है।

(४) आधुनिक युग मे व्यावहारिक अर्थशास्त्र का महत्त्व व्यावहारिक अर्थशास्त्र की तुलना मे बहुत बढ़ गया है। स्टिगलर (Stigler) के अनुसार, जो अर्थशास्त्री अपना आधे से अधिक समय आर्थिक सिद्धान्तो के निर्माण मे लगाता है वह विशुद्ध या सैद्धान्तिक अर्थशास्त्री है। किन्तु देखने मे आया है कि लगभग ६०% अर्थशास्त्री अपना आधे से अधिक समय व्यावहारिक अर्थशास्त्र के अध्ययन पर खर्च करते हैं। यदि अर्थशास्त्री व्यावहारिक समस्याओं को हल करने मे सफलता न पाता, तो व्यावहारिक अर्थशास्त्र की महत्ता इतनी न बढ़ी होती।

(५) आर्थिक नियोजन हमारी समस्त आर्थिक बुराइयों की रामबाण दवा माना जाने लगा है। इसके अन्तर्गत उद्देश्य पहले से निश्चित किये जाते हैं तथा इनकी प्राप्ति के लिए अर्थशास्त्री व्यावहारिक नीति बनाते हैं।

अर्थशास्त्र विज्ञान होने के साथ-साथ कला भी है—

अत. यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र एक कला भी है और वह व्यावहारिक नीतियों को बनाने मे पूरा सहयोग देता है। केन्ज (Keynes) अर्थशास्त्री के व्यावहारिक समस्याओं के समाधान मे सहयोग देने के विषय मे सहानुभूति रखते है। हाँ उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि अर्थशास्त्री को एक संकीर्ण विशेषज्ञ' के रूप मे कार्य नही करना चाहिये, वरन्

उसे अन्य सामाजिक विद्वानों का भी अध्ययन करना चाहिये जिससे इनका काम चलाऊ ज्ञान हो जाय। रोबिन्स की यह शिकायत उचित है कि अर्थशास्त्र की सीमा पर बहुत से नीम-हकीम खिलवाड़ करते हैं। किन्तु, जब ऐसा है तो उन्हें दूर भगाने का काम अर्थशास्त्री के अतिरिक्त अन्य कौन ठीक-ठीक कर सकता है? अर्थशास्त्री ही यह काम ठीक-ठीक कर सकते हैं, क्योंकि उनके पास समुचित वैज्ञानिक दक्षता होती है। पीगू ने ठीक ही कहा है कि, "हमारी मनोवृत्ति एक दार्शनिक जैसी नहीं होती, अर्थात् हम ज्ञान के लिए ज्ञान की खोज नहीं करते, वरन् हमारी *मनोदशा एक डाक्टर जैसी होती है अर्थात् हम ज्ञान इसलिए प्राप्त करते हैं कि प्राप्त ज्ञान की* सहायता से स्वास्थ्य-उपचार कर सकें।"[1]

जिस रूप में हम अर्थशास्त्र का अध्ययन करते हैं उसमें वह केवल विज्ञान है—

अर्थशास्त्र के जिस रूप का प्रस्तुत अध्ययन से सम्बद्ध है वह केवल विज्ञान ही है। हम केवल मनुष्य-व्यवहार के निर्णय-विधायक पक्ष के विषय में नियमों, सिद्धान्तों और तथ्यों, का अध्ययन करते हैं। अर्थशास्त्र की कला से हमारे वित्त मन्त्रियों, उद्योगपतियों और व्यापारियों को काम पड़ता है। अतः यह कहना गलत न होगा कि हमारे लिए अर्थशास्त्र केवल विज्ञान है। मार्शल अर्थशास्त्र को कला के स्थान पर 'कला का आधार' कहते हैं।[2] अर्थशास्त्र के आधार पर जो कला विकसित होती है उसे 'वाणिज्यशास्त्र' (Commerce) कहा जाने लगा है। इससे अर्थशास्त्र के कला या विज्ञान होने के विषय में बहुत सारी उलझन समाप्त हो जाती है। पीगू के निम्न शब्दों के उल्लेख बिना अर्थशास्त्र के कला स्वभाव का विवेचन अधूरा ही रहेगा "यद्यपि अर्थशास्त्री के लिए सामाजिक उन्नति के लक्ष्य को सदा दृष्टिगत रखना आवश्यक है तथापि *उसका अपना मुख्य मार्ग आक्रमण की सीमा के सामने खड़े होने का नहीं, वरन् धैर्यपूर्वक उस* सीमा के पीछे खड़े होकर ज्ञान की युद्ध सामग्री तैयार करना है।"

(III) अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है या व्यक्तिगत शास्त्र ?

यह तो अब सभी स्वीकार करते हैं कि अर्थशास्त्र में मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन *किया जाता है। परन्तु इस विषय में, कि अर्थशास्त्र मनुष्य का अध्ययन केवल समाज के सदस्य* के रूप में करता है अथवा यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य समाज का सदस्य हो ही, अभी भी एक मत नहीं है।

मार्शल और उनके समर्थकों ने अर्थशास्त्र के सामाजिक पक्ष पर बल दिया है, क्योंकि उनका विचार है कि समाज से अलग रहने वाले मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन मानव जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में किसी प्रकार सहायक नहीं है। पीगू अर्थशास्त्र को आर्थिक कल्याण का अध्ययन मानते हैं और वे भी अर्थशास्त्र को एक सामाजिक शास्त्र ही मानते हैं।

इसके विपरीत रोबिन्स का मत है कि अर्थशास्त्र में समाज के भीतर और बाहर रहने

---

[1] "......Our impulse is not the philosophers impulse, knowledge for the sake of knowledge, but rather the physiologist's knowledge for the healing that knowledge may help to bring."—**Pigou** : *The Economics of Welfare*, p. 5.

[2] "The type of science that the economist will endeavour to develop must be one adopted to form the basis of an art. It is a science pure and applied, rather than a science and an art."—**Marshall** : *Principles of Economics*. p. 43.

वाले दोनो ही प्रकार के मनुष्यो की क्रियाओ का अध्ययन किया जाता है और अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल समाज मे रहने वाले व्यक्तियो के अध्ययन से ही नही है, जिस कारण अर्थशास्त्र को केवल सामाजिक शास्त्र कहना ठीक न होगा। **रोबिन्स और उनके समर्थकों** ने निम्न तर्क प्रस्तुत किए है :—(i) उनका कहना है कि समाज के भीतर अथवा समाज के बाहर रहने वाले मनुष्य के व्यवहार मे कोई आधारभूत अन्तर नही है। दोनो ही दशाओ मे मानव व्यवहार पर परिस्थितियो का प्रभाव पड़ता है और जिस प्रकार समाज से बाहर रहने वाले विभिन्न व्यक्तियो की परिस्थितियो मे अन्तर होते हैं ठीक उसी प्रकार समाज मे रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों की भी परिस्थितियाँ अलग-अलग होती है। (ii) **रोबिन्स** का कहना है कि निर्णय की समस्या समाज के भीतर अथवा बाहर रहने वाले व्यक्तियो के सम्मुख इस एक ही रूप मे रहती है कि वे अपने सीमित तथा वैकल्पिक उपयोगो वाले साधनो को अपनी अनन्त आवश्यकताएँ पूरी करने में किस प्रकार लगाये। (iii) कुछ अर्थशास्त्री तो यहाँ तक कहते हैं कि समाज मे रहने वाले मनुष्य की जटिल समस्याओ को समझने के लिए समाज के बाहर रहने वाले मनुष्य की क्रियाओ का अध्ययन आवश्यक है, क्योकि वहाँ जटिलता नही होती है।

निस्सन्देह, सामाजिक मनुष्यो मे जिस प्रकार से परिस्थिति भेद है उसी प्रकार से अ-सामाजिक मनुष्यो के मध्य है। किन्तु हमारा विचार है कि एक सामाजिक मनुष्य और एक अ-सामाजिक मनुष्य की परिस्थिति एक दूसरे से बहुत भिन्न है। जिससे उनका व्यवहार एक दूसरे से बहुत अलग हो जाता है।

सच तो यह है कि समाज से पूर्णतया अलग रहने वाले व्यक्ति का अस्तित्व ही नही है। यह तो इतना ही कल्पित है जितना कि 'आर्थिक मनुष्य'। यदि हम समाज से बाहर रहने वाले व्यक्तियो का अध्ययन करते भी हैं तो उद्देश्य केवल यही होना है कि मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को और अधिक स्पष्टता से समझ सके। इस कारण अर्थशास्त्र को एक सामाजिक शास्त्र कहना ही अधिक उचित होगा। **सोमबर्ट (Sombart)** ने ठीक ही कहा है कि "शुद्ध और सामाजिक आर्थिक वर्गो के बीच भेद करना असम्भव है। सभी आर्थिक वर्ग सामाजिक ही होते हैं। एकाकी मनुष्य के अध्ययन का केवल यही उपयोग हो सकता है कि हम मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को और भी भली-भांति समझ सकें। इस कारण अर्थशास्त्र के सामाजिक पक्ष पर बल देना ही अधिक उचित है।"

आर्थिक अध्ययन का सामाजिक दृष्टिकोण वर्तमान ससार मे तो एक दम स्पष्ट दीख पड़ता है। सभी आर्थिक घटनाएँ साथ-साथ सामाजिक घटनाएँ भी होती हैं। श्रम-विभाजन, बड़े पैमाने का उत्पादन, मूल्य नियन्त्रण, एकाधिकार नियन्त्रण, आर्थिक नियोजन आदि घटनाएँ सामाजिक दृष्टिकोण ही रखती हैं। अतः अर्थशास्त्र को सामाजिक शास्त्र कहना ही अधिक उचित होगा।

अर्थशास्त्र की सीमाएँ
(Limitation of Economics)

अर्थशास्त्र के क्षेत्र का वर्णन इसकी सीमाओ का उल्लेख बिना अधूरा ही रह जावेगा। ये सीमायें, जिनसे अर्थशास्त्र का अध्ययन सीमित है, निम्नलिखित हैं :—(१) मार्शल एव उनके समर्थको के अनुसार अर्थशास्त्र मे अनार्थिक क्रियाओ का अध्ययन नही किया जाना। रोबिन्स मनुष्य की सभी क्रियाओ को अर्थशास्त्र के अध्ययन मे सम्मिलित करते है, किन्तु इन क्रियाओ के निर्णय-पक्ष के अतिरिक्त अन्य पक्ष को आर्थिक अध्ययन से बाहर ही रखते है। (२) मार्शल आदि के अनुसार अर्थशास्त्र मे समाज से बाहर रहने वाले व्यक्तियो की क्रियाओ का अध्ययन नही किया जाता। रोबिन्स समाज मे और समाज से बाहर लेने वाले दोनो प्रकार के व्यक्तियों की

क्रियाओं को अर्थशास्त्र के क्षेत्र में गिनते हैं। (३) रोबिन्स आदि के अनुसार अर्थशास्त्र केवल वास्तविक विज्ञान है, वे इसके आदर्शात्मक पहलू और कला-स्वभाव को नहीं मानते। किन्तु मार्शल और अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को एक पूर्ण विज्ञान मानते हैं और इसके कला-स्वभाव को भी स्वीकार करते हैं।

अर्थशास्त्र के विभाग
(Departments of Economics)

अर्थ-विज्ञान के विकास के साथ विभिन्न विभागों का जन्म—

प्राचीन-काल के आर्थिक लेखकों ने केवल आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया था। उस समय अर्थ-विज्ञान का विकास नहीं हुआ था। बहुधा प्राचीन लेखकों के विचार फुटकर आर्थिक विषयों पर टिप्पणी मात्र ही थे। आरम्भ में न्यायोचित मूल्य (Just price), व्यापार और उचित ब्याज पर अधिक बल दिया गया था। उस समय तक आर्थिक जीवन की समस्यायें इतनी जटिल न थी जितनी कि वे आधुनिक काल मे बन गई है, अतः उन दिनों उत्पादन तथा वितरण की समस्यायें बहुत महत्त्वपूर्ण न थी।

औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के पश्चात् संसार के आर्थिक संगठनों का ढांचा बिल्कुल बदल गया है और आर्थिक सम्बन्धों की, विशेष रूप से मजदूरों और मिल-मालिकों के बीच की समस्याओं की, गम्भीरता बढ गई। उत्पादन और वितरण ने विशेष महत्त्व प्राप्त किया, क्योंकि इस क्रान्ति ने मनुष्य की प्रकृति पर विजय पाने की शक्ति को बहुत बढ़ा दिया था तथा उत्पादन की बहुत-सी नई और आश्चर्यजनक रीतियों का पता लगा लिया था। इसी काल मे एक बड़ा सामाजिक संघर्ष भी उत्पन्न हो गया। उत्पत्ति में पूँजी का स्थान बहुत ऊँचा हो गया तथा उत्पत्ति और रोजगार के साधनों पर एक विशेष वर्ग का अधिकार हो गया। समाज का एक बहुत बड़ा अंग ऐसा बन गया जिसे अपने जीवन निर्वाह तथा रोजगार के लिए पूँजीपतियों पर निर्भर रहना पड़ता था। मजदूर और पूँजीपतियों के दो अलग और प्रति-विरोधी दल बन गये। उत्पादन का अधिकतर भाग समाज के थोड़े से व्यक्तियों के पास जाने लगा, जिसके कारण जन-संख्या की वृद्धि को रोकने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। इस काल के आर्थिक लेखक इन परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना न रह सके और इसलिए उन्होंने उत्पादन तथा वितरण की समस्याओं के अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया।

आगे चलकर, जैसे-जैसे आर्थिक जीवन की कठिनाइयाँ बढ़ती गईं तथा अर्थशास्त्र का अध्ययन आर्थिक विषयों के रूप मे न होकर अर्थ-विज्ञान के रूप में आरम्भ हुआ, अन्य अनेक प्रकार की समस्याओं का भी इस विज्ञान के अन्तर्गत अध्ययन होने लगा।

अर्थशास्त्र के चार विभाग—

अध्ययन की सुविधा के लिए अर्थशास्त्रियों ने इस विज्ञान के विषय को चार भागों मे विभाजित कर लिया है—उपभोग (Consumption), उत्पत्ति (Production), विनिमय (Exchange), और वितरण (Distribution) है और इन विभागों से सम्बन्धित नियमों का अलग-अलग अध्ययन किया जाता है। किन्तु इस विभाजन का अर्थ यह नहीं कि इनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध ही न हो। अर्थशास्त्र के विषय की एकता को तो सभी स्वीकार करते हैं। एक विभाग को दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। अतः जो विभाजन किया गया वह इस प्रकार है कि एक जैसी कुछ समस्याओं का अध्ययन एक साथ कर लिया जाय। दूसरे शब्दों में आर्थिक ज्ञान को समबद्ध (Systematic) बनाने के लिए ऐसा करना आवश्यक था।

कुछ विद्वानों ने अर्थशास्त्र का एक पाँचवा विभाग भी बताया है, जिसे राजस्व (Public Finance) का नाम दिया गया है। स्मरण रहे कि राजस्व अर्थ विज्ञान का एक

आवश्यक अङ्ग है, किन्तु यह उसी प्रकार का एक अङ्ग है जैसा कि बैंक प्रथा तथा मुद्रा का अध्ययन अर्थशास्त्र का अङ्ग है। आधुनिक जगत में राजस्व का अध्ययन एक पृथक-शास्त्र के रूप मे किया जाता है।

विभाजन की परिपाटी नई है, बहुत पुरानी नहीं—

अर्थशास्त्र के विषय का विभाजन करने की प्रथा अर्थशास्त्र मे बहुत पुरानी नही है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका प्रयास, सर्वप्रथम फ्रांस के प्रसिद्ध आर्थिक लेखक जे० बी० से० (J. B. Say) ने किया था। उन्होने अर्थशास्त्र को तीन विभागो मे बाँटा था—उत्पत्ति, विनिमय तथा वितरण। इससे सिद्ध होता है कि उपभोग के अध्ययन का महत्त्व उस समय तक नही समझा गया था। उपभोग को छोडे रखने की प्रथा बहुत समय तक चलती रही। सर्वप्रथम इटली के एक अर्थशास्त्री **कौनडोलैक** (Condilac) ने उपयोगिता के विचार का अर्थशास्त्र से परिचय कराया। इसके पश्चात् आस्ट्रियन सम्प्रदाय के लेखकों ने उपभोग का सही रूप में अध्ययन आरम्भ किया। आधुनिक काल के अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक रूप पर अधिक बल दिया है, जिसके कारण उपभोग का अध्ययन विशेष रूप मे महत्त्वपूर्ण हो गया है प्रोफेसर **रोबिन्स** द्वारा दी हुई अर्थशास्त्र की परिभाषा मे हम देख चुके हैं कि किस प्रकार अर्थशास्त्र का आधार उपभोग ही है तथा सारा अर्थ-विज्ञान उपभोग के एक नियम पर अवलम्बित है। अत: इस विभाजन मे उपभोग को सर्वप्रथम स्थान मिलना चाहिये।

उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण एवं राजस्व की परिभाषायें—

उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण और राजस्व के अर्थों की विस्तारपूर्वक व्याख्या आगे चलकर की जायेगी। इस स्थान पर केवल इतना बता देना पर्याप्त होगा कि ये यथार्थ में हैं क्या ?

'उपभोग' आवश्यकता पूर्ति हेतु किसी वस्तु की उपयोगिता को कम करने की क्रिया का नाम है। उपयोगिता में यह कमी विभिन्न रीतियों से हो सकती है। उदाहरणार्थ, कपडे का उपभोग पहनने के रूप मे होता है, भोजन का खाने के रूप मे तथा गाने का सुनने के रूप मे।

'उत्पादन' से हमारा अभिप्राय मानव आवश्यकता की तृप्ति हेतु किसी वस्तु की उपयोगिता मे वृद्धि करने के कार्य से है। यह भी विभिन्न रीतियो से किया जा सकता हैं, जैसे—वस्तु का रूप, स्थान, उपभोग का समय, इत्यादि बदल कर। एक दूकानदार उसी प्रकार उत्पादक है जैसे कि एक किसान।

'विनिमय' का अर्थ वस्तुओं की इस प्रकार की अदला-बदली से है, जो स्वतन्त्र, ऐच्छिक एव वैध हो। जब दो मनुष्य अपनी इच्छा से एक वस्तु दूसरी वस्तु से बदलते हैं, तो उनका यह कार्य विनिमय का कार्य होता है।

'वितरण' मे इस बात का अध्ययन किया जाता है कि विभिन्न साधनो के सहयोग से जो उत्पत्ति हुई है उसमे से किस साधन को किस प्रकार तथा कितना हिस्सा मिलता है।

'राजस्व' का अध्ययन बहुधा एक पृथक विज्ञान के रूप मे किया जाता है। राजस्व वह विज्ञान है जिसमे राज्यो की आय और व्यय का अध्ययन किया जाता है। व्यक्तियों और राज्यो द्वारा आय प्राप्त करने के सम्बन्ध मे कुछ ऐसे आधारभूत अन्तर होते हैं जिनके कारण राजस्व का एक पृथक विधान के रूप मे अध्ययन करना ही अधिक उपयुक्त होता है।

जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, अर्थशास्त्र के ये विभाग एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही किया गया है। उपभोग उत्पत्ति पर निर्भर होता है और उत्पत्ति उपभोग पर निर्भर होती है। ठीक इसी प्रकार विनिमय, उपभोग

और उत्पत्ति दोनों पर आश्रित हैं और स्वयं भी उपभोग और उत्पत्ति का रूप निश्चित करता है। इसी प्रकार वितरण और दूसरे विभाग भी एक दूसरे पर निर्भर हैं। वास्तविकता यह है कि अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागों के बीच परस्पर निर्भरता (Inter-dependence) का सम्बन्ध है। राजस्व का भी अर्थशास्त्र के दूसरे विभागों से पूर्णतया अलग कर देना सम्भव नहीं है।

अर्थशास्त्र का महत्त्व
(The Significance of Economics)

ज्ञानवर्धक एवं फलदायक अध्ययन—

जब किसी विषय का अध्ययन किया जाता है तो उस विषय की जाँच या तो सैद्धान्तिक होती है या व्यावहारिक, अर्थात्, यह अध्ययन या तो केवल ज्ञान-वृद्धि के लिए किया जाता है या उद्देश्य प्राप्त किये हुए ज्ञान से व्यावहारिक जीवन की समस्याओं को सुलझाना होता है। **सौभाग्य से अर्थशास्त्र का अध्ययन इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति करता है। इसके नियम हमें मानव जीवन के नये नये तथा आश्चर्यजनक तथ्यों का पता देते हैं और साथ ही हमारे दैनिक जीवन में सहायक भी होते हैं।** आधुनिक युग समाजवाद का युग है और समाजवाद का एक मूल सिद्धान्त यह है कि मानव जीवन, समाज तथा संस्थाओं के आधार आर्थिक हैं। ऐसे युग में अर्थविज्ञान के महत्त्व की महिमा गाने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।

अर्थशास्त्र पर लगाया जाने वाला आक्षेप—

अर्थशास्त्र तीन चौथाई साधारण ज्ञान एवं एक चौथाई व्यर्थ ज्ञान—किन्तु कभी-कभी आर्थिक अध्ययन पर एक बड़ा हास्यजनक और अनूठा आक्षेप लगाया जाता है। कहा जाता है कि अर्थशास्त्र-तीन-चौथाई साधारण ज्ञान (Commonsense) है और एक चौथाई व्यर्थ ज्ञान (Nonsense), अर्थात् अर्थशास्त्र का तीन-चौथाई ज्ञान जीवन के व्यावहारिक तथ्यों से सम्बन्धित है, जो प्रत्येक साधारण बुद्धि का व्यक्ति अर्थशास्त्र का अध्ययन किये बिना ही प्राप्त कर सकता है और एक-चौथाई भाग ऐसा है जो सैद्धान्तिक मात्र है, एक प्रकार से केवल मस्तिष्क का व्यायाम है, उसका वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है एवं इसलिए उसका अध्ययन बेकार है।

आक्षेप का उत्तर—(१) उपर्युक्त कथन सही है यह तो इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि आधुनिक युग की अर्थ-समस्याओं को हल करने में विलक्षण बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है साधारण बुद्धि की नहीं, और सैद्धान्तिक आधार पर ही व्यावहारिक जीवन का सूत्रपात होता है। (२) परन्तु, यदि यह मान भी लिया जाय कि यह आरोप सही है, तब भी आर्थिक अध्ययन का महत्त्व कम नहीं होता है। संसार में कितने मनुष्य ऐसे हैं जो 'साधारण ज्ञान' रखने का दावा कर सकते हैं। इस संसार की सबसे बड़ी कमी यही है कि लोगों में 'साधारण ज्ञान' की कमी है। यदि अधिकांश मनुष्य साधारण ज्ञान से अनभिज्ञ न होते तो मानव जीवन और विश्व शान्ति की बहुत-सी समस्यायें उठती ही नहीं। अतः जो कोई भी विज्ञान साधारण ज्ञान की शिक्षा देता है वह मानव जीवन की वास्तविक सेवा करता है। (३) अब रही सैद्धान्तिक भाग की बात तो यह निश्चित है कि सैद्धान्तिक आधार पर ही व्यावहारिक नियम बनाये जाते हैं। (४) इसके अतिरिक्त सैद्धान्तिक ज्ञान हमें ठीक और सही सोचने की शिक्षा देता है। किसी भी विषय को सही दृष्टिकोण से देखने के लिए एक प्रकार की मानसिक शिक्षा आवश्यक है। अर्थशास्त्र का सैद्धान्तिक भाग यही कार्य करता है।

"अर्थशास्त्र बने-बनाये निष्कर्ष प्रदान नहीं करता वरन् इन्हें
निकालने में सहायता करता है"

केन्ज ने लिखा है कि "अर्थशास्त्र हमें कोई ऐसे बने-बनाये (या तैयार) निष्कर्ष प्रदान

नही करता, जिन्हे नीति के लिए तत्काल ही लागू किया जा सके। यह कोई सिद्धान्त नही, वरन् एक रीति है, मस्तिष्क का एक यन्त्र और सोचने की एक तकनीक है, जो इसके अधिकारी को सही निष्कर्ष निकालने मे सहायता देती है।"[1]

केन्ज के कथन की व्याख्या—

सभी अर्थशास्त्री यह तो मानते है कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है किन्तु अर्थशास्त्र के आदर्शात्मक पहलू और उसके कला होने के विषय मे वे एक मत नहीं हैं। रोबिन्स और कुछ दूसरे अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र के आदर्शात्मक पहलू और इसके कला स्वभाव को मान्यता नही देते। किन्तु आजकल सभी देशो मे आर्थिक विकास के लिए नियोजन की टेक्नीक न्यूनाधिक सीमा तक अपनाई जा रही है, जिसके अनुसार विकास के उद्देश्य पूर्व-निश्चित होते हैं। उद्देश्यो के चुनाव के पूर्व सरकार के आर्थिक सलाहकार विभिन्न आर्थिक समस्याओ का अध्ययन करके इनके औचित्य एव इनकी प्राथमिकता का निश्चय करते हैं और फिर इन्हे प्राप्त करने हेतु व्यावहारिक नीति बनाते हैं। इस प्रकार, अर्थशास्त्र के आदर्शात्मक पहलू और इसके कला-स्वभाव को सर्वत्र लोक प्रियता मिल रही है। केन्ज के कथन से भी यह पता चलता है कि वे अर्थशास्त्र के आदर्शात्मक पहलू और इसके कला-स्वभाव को मानते है, अन्यथा वे यह सकेत न करते कि आर्थिक समस्याओं को हल करने मे अर्थशास्त्र एक सीमा तक ही सफल सहयोग दे सकता है किन्तु सीमा होने का अर्थ यह नही लेना चाहिए कि अर्थशास्त्री व्यावहारिक समस्याओ से अलग रहे। इसके विपरीत, केन्ज ने अर्थशास्त्री के व्यावहारिक समस्याओ के समाधान मे भाग लेने का समर्थन किया है। हाँ, उन्होने इस बात पर बल दिया है कि अर्थशास्त्र आर्थिक समस्याओ के समाधान के लिए कोई पेटेन्ट या तैयार नुस्खे प्रस्तुत नही करता, वरन् मनुष्य को सोचने की एक यान्त्रिक व्यवस्था प्रदान करता है, जिसकी सहायता से अर्थशास्त्री जो भी समस्या जब उपस्थित हो उसके लिए उसी समय उचित निष्कर्ष या समाधान ढूँढ ले। केन्ज से मिलते-जुलते विचार **मार्शल[2] और ब्राउन[3]** ने भी प्रस्तुत किये हैं।

किन्तु, अर्थशास्त्री व्यावहारिक समस्याओं के समाधान मे सहयोग दे सके इस हेतु यह आवश्यक है कि वह एक 'सकीर्ण' विशेषज्ञ मात्र न हो। अन्य शब्दो मे, उसे अन्य विज्ञानो का भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। केन्ज के शब्दो मे : "उसे विभिन्न दिशाओं मे योग्यता का एक ऊँचा स्तर प्राप्त होना चाहिये और उसके पास विभिन्न योग्यताओं का एक अपूर्व मिश्रण होना चाहिये, जो प्राय अन्य मनुष्यो के पास नही पाया जाता।" फ्रेजर (Fraser) ने भी कहा है कि "वह अर्थशास्त्री जो केवल अर्थशास्त्री है एक सोचनीय सुन्दर मछली के समान है।" इसका यह अर्थ नही है कि अर्थशास्त्री सभी सामाजिक विज्ञानो का विशेषज्ञ हो। ऐसा होना सम्भव और व्याव-

---

[1] "The Theory of Economics does not furnish a body of settled conclusions immediately applicable to policy. It is a method rather than a doctrine an apparatus of the mind, a technique of thinking, which helps its possessor to draw correct conclusions."—**Keynes**. *Introduction to Combridge Economics.*

[2] "......(Economics) is not a body concrete truth, but an engine for the discovery of concrete truth, similar to say, the theory of mechanics" —**Marshall :** *Quoted by* Pigou in *Memorials of Alfred Marshall.*

[3] "Economic Theory does not itself provide answers to practical problems but is an equipment for use in the inquiry into them."—**Brown :** *A Course in Applied Economics.*

हारिक भी नहीं है । हाँ, अर्थशास्त्र का विशिष्ट ज्ञान रखते हुए उसे अन्य सामाजिक शास्त्र का काम चलाऊ ज्ञान होना आवश्यक है ।

अर्थशास्त्र बने-बनाये निष्कर्ष (नुस्खे) प्रदान क्यों नहीं करता ?

अनेक आर्थिक समस्यायें (जैसे—बेकारी, जनाधिक्य) इतनी तात्विक होती हैं कि यह आकांक्षा की जाती है कि यदि अर्थशास्त्र इनके समाधान के लिये बने-बनाये नुस्खे (Ready-made solutions) दे सकता तो अच्छा होता, क्योंकि इन्हे नीति के रूप में तत्काल ही लागू करके सम्बद्ध समस्या का निवारण किया जा सकता था । किन्तु हम कितना भी चाहें, अर्थशास्त्र ऐसे नुस्खे प्रदान करने मे असमर्थ है, जिसके कारण निम्न प्रकार हैं :—

(i) अर्थशास्त्र मे जड़ पदार्थों का नही, वरन् मनुष्य का अध्ययन किया जाता है, जो कि चेतन, विवेकशील एवं स्वतन्त्र इच्छा रखने वाला है, जिस कारण उसकी क्रियाओं के बारे मे कोई निश्चित भविष्यवाणी नही की जा सकती है ।

(ii) अर्थशास्त्र मे भी सामाजिक व्यक्तियों का अध्ययन किया जाता है । विभिन्न सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक कारणों से उनकी परिस्थितियों में बहुत अन्तर होता है, जिससे कोई सर्वव्यापी नियम बनाना सम्भव नही है ।

(iii) आर्थिक घटक भी समयानुसार बदलते रहे हैं । मनुष्य का स्वभाव आदि भी बदलता रहता है, जिससे आर्थिक नियम कम निश्चित होते हैं ।

बहुत सीमा तक सही निष्कर्ष निकालने में सहायक—

उपर्युक्त कारणों से अर्थशास्त्र बने बनाये निष्कर्ष प्रस्तुत नही करता । किन्तु वह ऐसी रीति, यन्त्रों और टेक्नीक प्रदान करता है, जिसके प्रयोग द्वारा सही निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं । सर्वप्रथम, आर्थिक तत्वों (Data) पर निर्गमन अथवा आगमन या दोनों प्रणालियों के प्रयोग द्वारा, सूक्ष्म या व्यापक या दोनों ही दृष्टियों से, विचार किया जाता है और तत्पश्चात् निष्कर्ष निकाले जाते हैं, जो यदि पूर्णतः नही तो एक पर्याप्त सीमा तक सही होगे । उदाहरणार्थ, प्रतिस्थापन का नियम एक उपभोक्ता को यह बताता है कि वह अपनी सीमित आय को किस प्रकार खर्च करे कि उसे अधिकतम् सन्तुष्टि मिले ।

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चय होता है कि केन्ज का कथन पूर्णतः सत्य है । अर्थशास्त्र बने-बनाये नुस्खे तो नहीं दे सकता, किन्तु इससे उसका व्यावहारिक महत्त्व घटता नहीं है, क्योंकि वह अर्थशास्त्री को बहुत सीमा तक सही निष्कर्ष निकालने मे सहायक होता है ।

परीक्षा प्रश्न :

१. "अर्थशास्त्र का अध्ययन ज्ञान प्राप्ति हेतु और व्यावहारिक जीवन विशेषतः सामाजिक जीवन मे मार्ग दर्शन हेतु होता है ।" (मार्शल) । इस कथन के सन्दर्भ में अर्थशास्त्र के क्षेत्र का विवेचन करिये ।

अथवा

अर्थशास्त्र की विषय सामग्री और इसके क्षेत्र का विवेचन करिये ।

[सहायक संकेत :—अर्थशास्त्र के क्षेत्र से सम्बन्धित चार बातें हैं—(अ) विषय सामग्री, (ब) स्वभाव (कला, विज्ञान या दोनों), (स) व्यक्तिगत शास्त्र या सामाजिक शास्त्र एवं (द) सीमायें । इन सभी बातों का विवेचन मार्शल और रोबिन्स के विचारों के सन्दर्भ मे कीजिये ।]

२. अर्थशास्त्र के क्षेत्र का विवेचन करिये। यह एक विज्ञान है या कला ?

[सहायक संकेत :—विद्यार्थियो को अर्थशास्त्र के क्षेत्र से सम्बन्धित चारों बातो पर संक्षेप मे प्रकाश डालना चाहिये। इन्हीं मे एक बात 'अर्थशास्त्र का स्वभाव' अर्थात् इस बात का विवेचन करना है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है या कला अथवा दोनो है। अतः अर्थशास्त्र का विवेचन करने से ही प्रश्न के द्वितीय भाग का उत्तर भी मिल जाता है।]

३ एक विज्ञान कहलाने के अर्थशास्त्र के दावो का विवेचन करिये। "अर्थशास्त्र को विज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योकि अर्थशास्त्रियो मे बहुत मतभेद पाया जाता है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम 'विज्ञान' शब्द का अर्थ बताइये। तत्पश्चात् अर्थशास्त्र के विज्ञान होने के पक्ष-विपक्ष मे तर्क दीजिये। अन्त मे, यह बताते हुए कि अर्थशास्त्रियो मे मत भिन्नता होने पर भी उसका विज्ञान का स्वरूप समाप्त नहीं होता, निष्कर्ष दीजिये कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान ही है।]

४ "अर्थशास्त्री की भूमिका को एक ऐसे विशेषज्ञ की भूमिका के सदृश्य समझा जाने लगा है, जो यह कह सकता है कि यदि अमुक कार्य किया जाय, तो इसके अमुक परिणाम होंगे, *परन्तु वह उस कार्य की वांछनीयता पर, एक अर्थशास्त्री के रूप मे, कोई निर्णय नहीं दे सकता।"* विवेचन कीजिये।

अथवा

"अर्थशास्त्री एक साक्षी देने वाला विशेषज्ञ है, निर्णय देने वाला जूरी नहीं।" इस कथन को स्पष्ट कीजिये।

अथवा

"प्रतियोगी सामाजिक योजनाओ के मध्य अर्थशास्त्र उसी प्रकार से तटस्थ है जिस प्रकार कि रेल निर्माण की वैकल्पिक योजनाओ के मध्य यन्त्रशास्त्र।" विवेचन कीजिए।

अथवा

"अर्थशास्त्री का कार्य गवेषण एवं स्पष्ट करना है, पुष्टि अथवा भर्त्सना करना नहीं।" विवेचना कीजिये।

अथवा

'अर्थशास्त्र साधनो का अध्ययन करता है, उद्देश्यो का अध्ययन इसके क्षेत्र मे सम्मिलित नहीं है।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

अथवा

'अर्थशास्त्र जांचने योग्य तथ्यो का अध्ययन करता है किन्तु नीतिशास्त्र मूल्य-निरूपण का। खोज के ये दोनो क्षेत्र विचार विमर्श के समान स्तर पर नहीं हैं।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं।

[सहायक संकेत :—इन सभी प्रश्नो का उत्तर एक ही है। अर्थशास्त्र के वास्तविक विज्ञान और आदर्शात्मक विज्ञान होने के पक्ष एवं विपक्ष मे तर्क दीजिये और अन्त मे यह निष्कर्ष निकालिये कि अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान मात्र नहीं हैं वरन् इसका एक आदर्शात्मक पहलू भी है।]

५. "मूल्य सिद्धान्त के आस-पास स्वीकृति का कोई क्षेत्र नहीं है। साम्य तो केवल साम्य ही है।" (रोबिन्स)। इस कथन की समीक्षा कीजिये और आर्थिक विश्लेषण मे साम्य के अध्ययन का महत्व बताइये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम अर्थशास्त्र के वास्तविक विज्ञान और आदर्शात्मक विज्ञान

होने के पक्ष एवं विपक्ष मे तर्क दीजिए। तत्पश्चात् यह निष्कर्ष दीजिए कि अर्थशास्त्र वास्तविक मात्र नही है बल्कि इसका एक आदर्शात्मक पहलू भी है। अन्त मे, अध्याय ६ की सहायता से, अर्थशास्त्र मे साम्य के अध्ययन का महत्त्व बताइये।]

६. "अर्थशास्त्र का सम्बन्ध चाहे जिससे हो, वह भौतिक कल्याण के कारणों से कदापि नहीं है।" विवेचन कीजिये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम अर्थशास्त्र के वास्तविक विज्ञान और आदर्शात्मक विज्ञान होने के पक्ष एवं विपक्ष मे तर्क दीजिये। तत्पश्चात् यह निष्कर्ष दीजिये कि अर्थशास्त्र का भौतिक कल्याण के कारणो से सम्बन्ध है अर्थात् उसका एक आदर्शात्मक पक्ष भी होता है।]

७. "आर्थिक विश्लेषण का उद्देश्य न केवल सत्य की खोज करना वरन् ठोस समस्याओं को सुलझाने मे सहयोग देना भी है।" इस कथन की समीक्षा करिये।

अथवा

"अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान, आदर्शात्मक विज्ञान और कई कलाओं का एक संयोग है।" स्पष्ट कीजिये।

अथवा

विवेचन कीजिये कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है या कला या दोनों ही है।

अथवा

"हमारी मनोदशा एक दार्शनिक जैसी नही होती है अर्थात् हम ज्ञान की खोज केवल ज्ञान के लिये नही करते, वरन् हमारी मनोदशा एक डाक्टर के सदृश होती है, जो कि ज्ञान को इसलिये प्राप्त करता है कि इसके प्रयोग द्वारा स्वास्थ्य-उपचार कर सके।" (पीगू)। इस कथन का विवेचन कीजिये।

[सहायक संकेत :—इन प्रश्नों के उत्तर के हेतु यह दिखाइये कि अर्थशास्त्र केवल वास्तविक विज्ञान ही नही है, वरन् एक आदर्शात्मक विज्ञान भी है। वह कला भी है अर्थात् समस्याओं को सुलझाने मे मदद देता है।]

८. "अर्थशास्त्र कोई ऐसे निश्चित या तैयार निष्कर्ष प्रस्तुत नही करता, जिन्हें नीति के लिए तुरन्त ही प्रयोग किया जा सके। वह एक रीति है न कि एक सिद्धान्त, मस्तिष्क का एक यन्त्र और सोचने की एक कला है, जो अपने स्वामी को सही निष्कर्षों पर पहुँचने मे सहायता करती है।" (केन्ज)। विवेचन कीजिये।

[सहायक संकेत :—देखिये इस अध्याय में इसी शीर्षक के विवेचन को।]

३

आर्थिक नियमों की प्रकृति

(The Nature of Economic Laws)

प्रारम्भिक—'नियम' शब्द का अर्थ

साधारण बोलचाल मे 'नियम' शब्द का अर्थ व्यवहार के नियम से होता है किन्तु व्यवहार ने नियम का अर्थ भी पूर्णत: स्पष्ट नही है। अलग-अलग सन्दर्भों मे इसके अलग अलग अर्थ लगाये जा सकते है। मार्शल का कहना है कि, "नियम शब्द का आशय केवल सामान्य सत्य अथवा प्रवृत्तियो के कथन से है जो लगभग निश्चित और सही होती हैं।"[1] टगवैल (Tugwell) के शब्दो मे, "एक नियम देखे गये सम्बन्धो का साराश है, अनुभव का सक्षिप्त विवरण है, एक सक्षिप्त चिन्ह है, जो अनेक सबद्ध घटनाओ को समझने मे सहायता देता है।"[2]

नियमो के प्रकार
(Kinds of Laws)

नियमो का होना बहुत ही आवश्यक है, इसके बिना किसी भी ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती है। सस्थाओ का कार्यचालन नियमानुकूल होने पर ही सफल रहता हैं। इसी से प्रत्येक सस्था, सरकार, धर्म, आचरण, खेल और प्रत्येक ज्ञान के अपने अपने नियम होते हैं। अर्थशास्त्र के भी कुछ नियम हैं। विभिन्न नियमो को निम्न ढङ्ग से श्रेणी-बद्ध किया जा सकता है :—

(१) **सामाजिक नियम**—ये नियम वे हैं जो समाज की पुरानी प्रथाओ और रीति-रिवाजो द्वारा निर्धारित होते हैं। इन्हें 'प्रथामूलक नियम' (Customary laws) भी कहते हैं। उदाहरणार्थ, विवाह, जन्म, मृत्यु आदि अवसरो पर किस तरह व्यवहार करना चाहिए इसे बताने वाले नियम 'सामाजिक' या 'प्रथामूलक' नियम है। इन नियमो का उल्लघन करने वाले को समाज अनादर की दृष्टि से देखता है। आर्थिक नियम सामाजिक नियमो की श्रेणी मे नही आते, क्योकि वे प्रथामूलक नही हैं।

(२) **नैतिक नियम**—इस प्रकार के नियमो का उल्लेख नीति और धर्म सम्बन्धी पुस्तको मे मिलता है। ये नियम लोगो को यह बताते हैं कि इन्हें कैसा व्यवहार करना चाहिए और कैसा नही करना चाहिए। ऐसे नियमों का धार्मिक विश्वास और जनमत के भय से पालन किया जाता है। आर्थिक नियमो मे नीति या आदर्शों का तत्त्व रहता है, क्योकि अर्थ-विज्ञान का आदर्शात्मक पहलू है किन्तु वे इस दृष्टि से नैतिक नियम नही होते कि यदि इनका पालन न किया गया, तो कोई दण्ड देगा।

---

[1] "The term 'Law' means, then, nothing more than the general proposition or statements of tendencies, more or less certain, more or less definite."
—Marshall : *Principles of Economics*, p 27.

[2] "A law is a summary of observed relations, a brief resume of experience, a shorthand symbol which assists in the understanding of a number of related phenomena."—Tugwell : *The Trend of Economics*, p 42

(३) **संस्थागत नियम**—ये नियम किसी कार्य के सचालन का तरीका बताते है, जैसे—प्रत्येक सभा और समिति के नियम होते है, जिनके द्वारा इन सभाओं के सदस्य सभा का कार्य चलाते है। इसी प्रकार, प्रत्येक खेल के नियम होते हैं, जिनके द्वारा वह खेल खेला जाता है, जैसे—फुटबाल के नियम यह बताते हैं कि वह किस प्रकार खेला जायगा।

(४) **सरकारी कानून**—सरकारी कानून वे हैं जो देश के शासन को चलाने तथा शान्ति आदि की व्यवस्था बनाये रखने के लिए बनाये जाते है। इनका पालन करना बहुधा अनिवार्य होता है तथा इनका उल्लघन करने पर दण्ड मिलता है। ऐसे नियम प्राय: देश की ससद (Parliament) द्वारा बनाये जाते हैं और सरकार द्वारा इनका पालन कराया जाता है, जैसे—श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, कम्पनी अधिनियम, आदि। आर्थिक नियम सरकारी नियमो से भिन्न होते हैं क्योंकि वे आदेशमूलक नही है।

(५) **वैज्ञानिक नियम**—कुछ नियम ऐसे होते है जो 'कारण' (Cause) और 'परिणाम' (Effect) के पारस्परिक सम्बन्ध को बताते हैं। वे उस सम्बन्ध का उल्लेख करते हैं जो दो परिस्थितियों या घटनाओं के बीच का कारण परिणाम के आधार पर उत्पन्न होता है। भौतिक-शास्त्र, रसायनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इत्यादि के नियम इसी प्रकार के होते है। उदाहरणार्थ रसायनशास्त्र का यह नियम है कि यदि ऑक्सीजन और हाइड्रोजन का मिश्रण दो और एक के अनुपात मे किया जाय, तो पानी बन जाता है। यह नियम दोनो गैसों का मिश्रण (कारण) और पानी (परिणाम)के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है। अर्थशास्त्र के नियम वैज्ञानिक नियमों की ही श्रेणी में आते हैं, क्योकि वे भी 'कारण' और 'परिणाम' का सम्बन्ध बताते है, जैसे—यह कथन कि किसी वस्तु के दाम गिरने से उसके ग्राहकों की सख्या बढ जाती है अर्थशास्त्र का एक नियम है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के नियमों और प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो मे अन्तर नही है। किन्तु प्राय: देखने मे आता है कि अर्थशास्त्र के नियम उतने निश्चित नही होते जितने कि 'भौतिक-शास्त्र, रसायनशास्त्र, इत्यादि प्राकृतिक विज्ञानो के नियम होते हैं। **किन्तु जैसा कि हम आगे बतायेंगे, अर्थशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानो के नियमों की तुलना करना उचित नहीं है।**

आर्थिक नियम की परिभाषा

आर्थिक नियमों का सम्बन्ध मनुष्य के व्यवहार से है। वे इस बात को व्यक्त करते है कि दी हुई परिस्थितियो मे एक आर्थिक वर्ग के सदस्यो के व्यवहार की प्रवृत्ति किस प्रकार की होती है। नीचे आर्थिक नियमो की प्रसिद्ध विद्वानो द्वारा दी गई परिभाषायें प्रस्तुत की जाती है।

(१) **मार्शल**—"आर्थिक नियम अथवा आर्थिक प्रवृत्तियो के कथन वे सामाजिक नियम है जो कि व्यवहार की उन शाखाओ से सम्बन्धित हैं जिनमे उद्देश्यों के बल को मुद्रा मे नापा जा सकता है।[1]

(२) **रोबिन्स**—"आर्थिक नियम उन समानताओं के कथन है, जो सीमित साधनो द्वारा असीमित आवश्यकताओ को पूरा करने से सम्बन्धित मानव व्यवहार को शासित करते हैं।"[2]

---

1 "Economic laws, or statement of economic tendencies are those social laws which relate to those branches of conduct in which the strength of the motives chiefly concerned can be measured by money price."

—**Marshall.**

2 Economic laws are "statement of uniformities about human behaviour concerning the disposal of scarce means with alternative uses for the achievement of ends that are limited,"—**Robbins.**

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से निम्न बातें पता चलती हैं :—(i) आर्थिक नियम आर्थिक प्रवृत्तियों, सम्भावनाओं या आशाओं के सूचक होते हैं; वे किसी अटल, निश्चित या अनिवार्य परिणाम को व्यक्त नहीं करते। (ii) आर्थिक नियम सामाजिक नियमों की शाखा हैं, और अन्य सामाजिक नियमों से इस बात में भिन्न हैं कि उनका सम्बन्ध मानव व्यवहार के उस भाग से होता है जो कि मुद्रा द्वारा मापा जा सकता है किन्तु अन्य सामाजिक नियमों का सम्बन्ध मानव व्यवहार के ऐसे भाग से है जोकि मुद्रा द्वारा नहीं मापा जा सकता।

आर्थिक नियमों की विशेषतायें अथवा इनका स्वभाव
(Characteristics of the Nature of Economic Laws)

आर्थिक नियमों के स्वभाव को इनकी आलोचनाओं के सन्दर्भ में भली-भांति समझा जा सकता है। कुछ विद्वानों ने अर्थशास्त्र तथा उसके नियमों की कड़ी आलोचना की है और अर्थशास्त्र के अध्ययन पर गम्भीर आक्षेप लगाये हैं, जोकि इस प्रकार हैं :—(i) अर्थशास्त्र के नियम अनिश्चित हैं और इसी कारण गलत है। वे प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों की भांति प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक परिस्थिति में लागू नहीं होते हैं। (ii) इन नियमों की सत्यता अन्य बातों के यथास्थित होने पर निर्भर है और इसलिए ये कल्पित (Hypothetical) भी हैं। (iii) इन नियमों का अध्ययन व्यर्थ है, क्योंकि ये हमारे दैनिक जीवन की किसी भी व्यावहारिक समस्या को हल नहीं कर सकते। ऐसे विज्ञान और उसके नियमों के अध्ययन से क्या लाभ जिनकी सत्यता पर कोई विश्वास न किया जा सके तथा जिनसे मनुष्य के जीवन की किसी भी समस्या का हल न हो सके। ये आरोप बहुत गम्भीर हैं। अत: इनके ध्यानपूर्वक अध्ययन की आवश्यकता है। यदि अर्थशास्त्र के नियम अनिश्चित, कल्पित एवं अनुपयोगी हैं, तो नि सन्देह इनके अध्ययन पर समय और शक्ति का व्यय बेकार होगा।

(I) क्या अर्थशास्त्र के नियम कल्पित हैं ?—

यह सच है कि अर्थशास्त्र के लगभग सभी नियमों के साथ यह वाक्य "यदि अन्य बातें यथास्थित रहें" जुड़ा रहता है। इसी आधार पर सैलिगमैन ने यह स्वीकार किया है कि, "नि सन्देह ही अर्थशास्त्र के नियम कल्पित (Hypothetical) हैं।"[1] हमें पता इस बात का लगाना है कि क्या यह वाक्य अर्थशास्त्र के नियमों से ही सम्बन्धित है अथवा अन्य विज्ञानों के नियमों से भी इसका कोई सम्बन्ध है।

ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि यह केवल अर्थशास्त्र के नियमों की ही विशेषता नहीं है, वरन् सभी विज्ञानों के नियमों में ऐसी बात है। अन्तर केवल इतना है कि अर्थशास्त्र में इस महत्त्वपूर्ण सत्य का उल्लेख कर दिया जाता है, जबकि अन्य विज्ञानों में ऐसा नहीं किया जाता है। उदाहरण के लिए, रसायनशास्त्र के ही इस नियम को लीजिये कि ऑक्सीजन और हाइड्रोजन को १ और २ के अनुपात में मिला देने से पानी बन जाता है। इस नियम की सत्यता सन्देह से परे बताई जाती है, परन्तु अधिकांश व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि इस मिश्रण से पानी *एक निश्चित तापमान तथा एक निश्चित दबाव पर ही बनेगा। नियम की सत्यता तापमान,* दबाव, इत्यादि महत्त्वपूर्ण दशाओं के यथास्थित होने पर निर्भर है। इसी प्रकार, भौतिकशास्त्र के प्रसिद्ध भू-आकर्षण नियम (Law of Gravitation) को देखने से पता चलता है कि इसकी सत्यता भी कुछ मान्यताओं (Assumptions) पर निर्भर है। पृथ्वी का किसी वस्तु को अपनी ओर खींचना इस बात पर निर्भर है कि वह वस्तु पृथ्वी से एक निश्चित दूरी से अधिक न हो, कोई अन्य शक्ति किसी और दिशा में खींचने वाली न हो, वायु का कोई प्रभाव न हो, इत्यादि।

1 "Economic laws are essentially hypothetical"—Seligman · *Principles of Economics*, p. 32.

इन बातों से पता चलता है कि भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के नियमों का कल्पित होने से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि अर्थशास्त्र के नियमों का। हां, कल्पना के अंश में अन्तर हो सकता है। अतः, यदि कल्पित होना दोष है, तो यह दोष केवल अर्थशास्त्र के नियमों में ही नहीं है, वरन् सभी विज्ञानों के नियमों में है। इसलिए इस दोष के कारण आर्थिक नियमों की आलोचना करना ठीक नहीं है। दोष देना ही है तो सभी विज्ञानों के नियमों को देना चाहिए।[1]

यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमों के समान सही और ठीक होते हैं। उत्पत्ति ह्रास नियम एक ऐसा ही नियम है। यह नियम मनुष्य से बाह्य घटकों पर आधारित है। कृषि में वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग द्वारा इस नियम को कुछ समय तक क्रियाशील होने से रोका जा सकता है लेकिन अन्ततः यह अवश्य लागू होता है। इसी प्रकार प्राकृतिक नियमों के समान कुछ आर्थिक नियम स्वयं सिद्ध हैं। जैसे—कुल आय में से व्यय के बाद हुई बचत से पूँजी उदय होती है। यह एक ऐसा आर्थिक सत्य है जिसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

B-109
744

(II) क्या अर्थशास्त्र के नियम अनिश्चित हैं ?

निःसन्देह अर्थशास्त्र के सभी नियम अनिश्चित नहीं हैं तथा कल्पित होना केवल आर्थिक नियमों की ही विशेषता नहीं है। इस पर भी यह मानना पड़ेगा कि प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों की अपेक्षा अर्थशास्त्र के नियम अधिक अनिश्चित हैं और उनके गलत होने की सम्भावना भी अधिक है। कारण, प्राकृतिक विज्ञानों का विषय जड़ पदार्थ है, जो बेजान हैं अथवा जिसमें *स्वयं अपनी प्रकृति में परिवर्तन कर लेने की शक्ति नहीं है। स्पष्ट है कि ऐसे पदार्थों के सम्बन्ध* में जो नियम बनाये जायेंगे उनकी सत्यता में सन्देह नहीं होगा, क्योंकि इन पदार्थों की प्रकृति तथा गुण अपरिवर्तनशील रहेंगे। इसके विपरीत, अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य है, जो एक जीता-जागता प्राणी ही नहीं है वरन् सोचने-समझने और तर्क करने की शक्ति भी रखता है। मनुष्य के भीतर यह गुण है कि वह एक बड़े अंश तक अपने स्वभाव, प्रकृति तथा व्यवहार को स्वयं बदल सकता है। अतः मनुष्य के व्यवहार के सम्बन्ध में जो नियम बनाये जायेंगे वे अटल तथा अपरिवर्तनशील न होंगे। समय और परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य की प्रकृति तथा व्यवहार में परिवर्तन हो जाने के कारण हो सकता है कि वे नियम सही न रहें। 428.00

एक छोटे से उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये कि यदि लोहे के बारे में यह नियम बनाया जाता है कि पानी और हवा से उसमें मोरचा (Rust) लग जाता है तो बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यह नियम सदैव सही होगा। कहीं भी और किसी भी समय प्रयोग द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि नियम सही है। किन्तु इसी प्रकार का नियम *यदि मनुष्य के सम्बन्ध में बनाया जाय कि पानी तथा वायु में रहने से उसे जुकाम हो जायगा, तो इस नियम का उतने अंश तक सही होना सम्भव नहीं है। यह नियम मनुष्य के विषय में केवल* साधारणतः सही हो सकता है, सभी मनुष्यों के लिये सभी स्थानों और प्रत्येक समय इसका सही होना आवश्यक नहीं है। कारण, लोहे के भीतर परिस्थितियों पर विजय पा लेने का गुण नहीं है। वह हवा और पानी से अपनी रक्षा नहीं कर सकता है और न इनसे प्रभावित होने वाली प्रकृति को ही बदल सकता है। दूसरी ओर, मनुष्य पानी और हवा से अपनी रक्षा कर सकता

[1] "In this sense (if the data that the laws postulate are given than the consequences they predict necessary follows) they are on the same footing as other scientific laws, and as little capable of suspension"—**Robbins.**

है तथा इनसे प्रभावित होने वाली अपनी प्रकृति को भी बदल सकता है। यह जान लेना कठिन नहीं है कि मनुष्य किसी औषधि आदि के सेवन के पश्चात हवा और पानी के प्रभाव से विमुख हो सकता है। इसके अतिरिक्त बार-बार पानी और वायु के प्रभाव को सहन करके वह इनसे प्रभावित होने वाली अपनी प्रकृति व स्वभाव को बदल भी सकता है।

ऊपर दी हुई बातों से सिद्ध होता है कि यदि **अर्थशास्त्र के नियमों में अनिश्चितता है तो दोष अर्थशास्त्र का नहीं है, क्योंकि अर्थशास्त्र का विषय ही ऐसा है, जिसके सम्बन्ध में निश्चित नियम नहीं बनाये जा सकते हैं। विषयों की इतनी बड़ी भिन्नता के कारण अर्थशास्त्र तथा उसके नियमों को तुलना प्राकृतिक विज्ञानों और उनके नियमों से करना अनुचित है।** मनुष्य के व्यवहार सम्बन्धी जितने भी नियम होंगे, चाहे वे राजनीति शास्त्र के हों, इतिहास के हों, मनोविज्ञान के हो अथवा अर्थशास्त्र के हों, अनिश्चित ही रहेंगे और उन्हें ऐसा रहना भी चाहिये, क्योंकि मनुष्य समस्त ससार मे सबसे अधिक परिवर्तनशील एवं प्रगतिशील है।

(III) क्या हमारे नियम बेकार हैं ?

अब यह देखना है कि क्या अनिश्चितता के कारण ये नियम व्यर्थ हो जाते हैं ? क्या इनसे हमारे व्यावहारिक जीवन मे कोई लाभ नही है ? **इस सम्बन्ध में यह बात महत्वपूर्ण है कि अनिश्चितता होना एक बात है और बेकार होना दूसरी।** दोनो के मध्य कोई गहरा या अटूट सम्बन्ध नही है। निश्चित न होते हुये भी कोई बात लाभदायक हो सकती है तथा मनुष्य के दैनिक जीवन मे सहायक हो सकती है।

उदाहरण के लिये, सभी जानते हैं कि ज्वार-भाटे का नियम बड़ा अनिश्चित है। इस बात का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है कि एक ज्वार के पश्चात दूसरा कब आयेगा। साधारणतया इनमे २५ घण्टे का समय लगता है, किन्तु समुद्र मे उठने वाले तूफानो तथा समुद्र पर चलने वाली आँधियो के कारण यह समय बदलता रहता है। यदि वायु अनुकूल है तो समय से पहले ज्वार आ सकता है और यदि वायु प्रतिकूल है तो इसमे विलम्ब हो सकता है और यह भी सम्भव है कि ज्वार आये ही नही। परन्तु किसी बन्दरगाह के निकट समुद्र के किनारे पर खडे हुये जहाजो को देखकर कोई भी अनुमान लगा सकता है, कि ज्वार का नियम व्यावसायिक जीवन मे बेकार नही है, क्योंकि वे जहाज इसी प्रतीक्षा मे रहते हैं कि कब ज्वार आये, ताकि वे बन्दरगाह के भीतर जा सकें। **आर्थिक नियमों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है क्योंकि अर्थशास्त्र के नियम हमारे प्रतिदिन के कार्य में न केवल सहायक ही होते हैं, वरन् लाभ भी पहुँचाते हैं।**

अर्थशास्त्र के नियमों पर लगाये गये आरोपो का उत्तर दिया जा चुका है। इन नियमों का उतना ही महत्त्व है जितना और किसी भी विज्ञान के नियमो का हो सकता है। अनिश्चित या कल्पित होने से इस महत्व मे कोई कमी नही पड़ती। आर्थिक नियमों का अध्ययन करते समय मार्शल का यह कथन कि **अर्थशास्त्र के नियमो को तुलना भू-आकर्षण के सीधे तथा निश्चित नियम के स्थान पर ज्वार-भाटे के नियमों से करनी चाहिए,** सदैव याद रखना चाहिये।[1] इसके साथ-साथ यह भी समझ लेना चाहिये कि आर्थिक नियम मनुष्य के व्यवहार की केवल साधारण प्रवृत्तियों का उल्लेख करते है। रोबिन्स के अनुसार वे उन प्रवृत्तियो को बताते हैं जो सीमित साधनो से असीमित आवश्यकताओ को पूरा करने मे मनुष्य के व्यवहार को निश्चित करती हैं।

---

1 "The laws of economic are to be compared with the laws of tides rather than with the simple and exact law of gravitation."—Marshall.

(IV) क्या अर्थशास्त्र के नियम प्रयोग-सिद्ध (Empirical) हैं ?—

अर्थशास्त्र में हमें दो प्रकार के नियम देखने को मिलते हैं :—(i) वे नियम जो सभी दशाओं में सही होते हैं और (ii) वे नियम जो सापेक्षिक (Relative) हैं। साधारणतया उपभोग और माँग तथा पूर्ति से सम्बन्धित नियम सर्वव्यापी (Universal) और सभी मनुष्यों के व्यवहार पर लागू होते हैं, परन्तु चलन (Currency) और बैंकिंग तथा व्यापार में सम्बन्धित नियम सापेक्षिक होते हैं। अर्थशास्त्र के अधिकतर नियम अन्तिम श्रेणी के हैं और वे कुछ विशेष व्यक्तियों पर अथवा कुछ विशेष परिस्थितियों में ही लागू होते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि अर्थशास्त्र के अधिकांश नियम व्याप्तिमूलक अथवा अनुभव प्रणाली (Inductive method) की सहायता से बनाये जाते हैं और बहुधा अनुभव तथा प्रयोगों पर आधारित होते हैं, जिस कारण उनका सभी पर लागू होना आवश्यक नहीं है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अर्थशास्त्र के नियम हमारे लिए बेकार हैं। हाँ, उनके उपयोग में अधिक सावधानी आवश्यक होती है।

प्राकृतिक नियमों से आर्थिक नियमों की भिन्नता

प्राकृतिक नियमों और आर्थिक नियमों में भिन्नता यह है कि आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमों की अपेक्षा कम निश्चित होते हैं। आर्थिक नियमों को अपेक्षाकृत कम निश्चित होने के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) जड़ पदार्थों के बजाय चेतन मनुष्य का अध्ययन—जब कि प्राकृतिक विज्ञानों में जड़ पदार्थों का अध्ययन किया जाता है, जिनकी कोई इच्छा नहीं होती, तब अर्थशास्त्र में चेतन मनुष्य का अध्ययन किया जाता है, जो विवेक और स्वतन्त्र इच्छा रखता है।[1] अतः इसके व्यवहार का क्या स्वरूप होगा, इस बारे में कोई निश्चित बात कहना कठिन है, क्योंकि समान परिस्थितियों में स्वभाव, रुचि आदि की भिन्नता के कारण विभिन्न मनुष्य और एक ही मनुष्य विभिन्न आचरण दिखलाते हैं।

(२) प्रयोग की सुविधा का अभाव—प्राकृतिक विज्ञानों में जड़ पदार्थों पर प्रयोगशाला के अन्दर कृत्रिम परिस्थितियाँ बनाकर अध्ययन किया जा सकता है लेकिन मनुष्य को इस प्रकार से प्रयोगशाला की परिस्थितियों में बाँधकर प्रयोग करना सम्भव नहीं है।

(३) मुद्रा रूपी दोषयुक्त पैमाना—एक वैज्ञानिक के पास नाप तोल के लिये एक विश्वसनीय तराजू होती है अर्थशास्त्री के पास भी नाप के लिये मुद्रा का पैमाना है तो किन्तु वह अपूर्ण और अविश्वसनीय होता है, क्योंकि :—प्रथमतः, अर्थशास्त्री का पैमाना स्वयं अस्थिर है, अर्थात्, मुद्रा का मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। दूसरे, मुद्रा की उपयोगिता एक धनी व्यक्ति के लिये कम और एक निर्धन व्यक्ति के लिये अधिक होती है, जिससे यह मानवीय आवश्यकताओं की तीव्रता को ठीक-ठीक नहीं माप सकता है। तीसरे, मनुष्य पर मुद्रा-अर्जन की भावना के अतिरिक्त देश प्रेम इत्यादि का भी प्रभाव पड़ता है।

(४) भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रभाव—मनुष्य के व्यवहार पर केवल आर्थिक परिस्थितियों का ही नहीं, वरन् सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है, जिससे आर्थिक नियमों का व्यवहार में लागू होना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र की यह मान्यता है कि श्रमिक वहीं पर काम करेगा, जहाँ उसे अधिक मजदूरी मिलेगी। लेकिन पारिवारिक कारण और कभी-कभी राजनैतिक प्रतिबन्ध उसकी गति-

---

1 "The matter with which the chemist deals is the same always; but Economics like biology, deals with a matter, of which the inner nature and constitution, as well as the outer form, are constantly changing."—Marshall.

शीलता मे बाधक हो जाते हैं तथा वह कम मजदूरी पर ही कार्य करने के लिये विवश हो जाता है।

(५) **प्रभाव डालने वाली प्रवृत्तियों का स्वयं भी परिवर्तनशील होना**—कारणों को अपना परिणाम पैदा करने में कुछ समय लगता है किन्तु इस बीच न केवल कारण द्वारा प्रभावित तत्त्व बदल सकते हैं, बल्कि ये कारण स्वय भी बदल सकते हैं जिससे आशानुकूल परिणाम प्राप्त न हो सकेगा. या आंशिक ही प्राप्त हो सकेगा। अतः मानव व्यवहार के बारे में कोई निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। उदाहरणार्थ उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार, जैसे-जैसे व्यक्ति के पास किसी वस्तु का स्टॉक बढ़ता जाता है उसकी उपयोगिता उसके लिये कम होती जाती है। मान लीजिये कि एक व्यक्ति गेहूँ की रोटियाँ खा रहा है। प्रत्येक अगली रोटी के साथ उसकी उपयोगिता घटती जा रही है लेकिन पाँचवीं रोटी, जो बाजरे की बनी थी, देने पर इसकी उपयोगिता उपभोक्ता के लिये बढ़ जायेगी, घटेगी नहीं।

(६) **अज्ञात घटकों का प्रभाव**—बहुत बार अज्ञात घटक भी प्रभाव दिखलाते हैं, जिससे ज्ञात घटकों के बारे में की गई भविष्यवाणी गलत सिद्ध हो सकती है।

क्या अर्थशास्त्र को एक-विज्ञान कहना ठीक है ?
(Is it Correct to call Economics a Science ?)

आर्थिक नियमों के स्वभाव का विवेचन करते हुए हमने यह देखा था कि आर्थिक नियम अधिक काल्पनिक, निश्चित और सार्वभौमिक नहीं होते, क्योंकि अर्थशास्त्र की विषय सामग्री प्राकृतिक, विज्ञानों की भाँति जड़ पदार्थ नहीं है वरन् चेतन, विवेकशील और स्वतन्त्र इच्छा रखने वाला मनुष्य है। इस पर भी अर्थशास्त्र को एक विज्ञान कहना उचित होगा। इस सम्बन्ध मे हम निम्नांकित तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) **कुछ नियम ऐसे हैं जो मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा से प्रभावित नहीं होते।** उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति भोजन करता ही चला जाय और यह इच्छा करे कि तृप्ति न हो, तो ऐसा होना असम्भव है।

(२) **कुछ आर्थिक नियम बाह्य प्रकृति पर आधारित होते हैं,** जिस पर मनुष्य का काबू नहीं है। जैसे—क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम।

(३) ***मानव-व्यवहार को मापने के लिए अर्थशास्त्र* के पास मुद्रा के रूप में पैमाना प्राप्त है,** जिसने इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा अधिक निश्चित बना दिया है भले ही वह उसे प्राकृतिक विज्ञान की भाँति निश्चित न बना सका हो।[1]

(४) **सामूहिक व्यवहार की भविष्यवाणी** गणित शास्त्र के सम्भावना-सिद्धान्त के आधार पर की जा सकती है, चाहे व्यक्तिगत रूप से एक व्यक्ति का व्यवहार भविष्यवाणी के अनुसार न निकले।

(५) **अर्थशास्त्र जीव विज्ञान और मौसम विज्ञान की भाँति उपयोगी है।** यह सत्य है कि अर्थशास्त्र निश्चित और अटल भविष्यवाणियाँ करने में असमर्थ है, क्योंकि उसके नियमों में काल्पनिकता का अंश अधिक होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि अर्थशास्त्र के नियम अवैज्ञानिक हैं, क्योंकि (1) हम सही आर्थिक कारणों से परिचित नहीं होते,

---

[1] "Just as the chemist's fine balance has made chemistry more exact than most of the other physical, sciences, so this economist's balance (money), rough and imperfect as, it is,has made economics more exact than any other branch of social sciences."—Marshall.

जिससे भविष्यवाणी गलत हो जाती है। किन्तु जीव विज्ञान और मौसम विज्ञान की भविष्य-वाणियाँ भी कभी-कभी, बाद की घटनाओं के आधार पर गलत हो जाती है। (ii) अर्थशास्त्र आने वाली व्यापारिक मन्दी का समय जितना पहले बता सकता है उतना पहले मौसम विज्ञान तूफान के आगमन के बारे में नहीं बता सकता। (iii) वैज्ञानिकों की भाँति अर्थशास्त्री भी अपने नियमों को अधिक निश्चित बनाने के प्रयत्न में लगे रहते है। अतः निश्चित भविष्यवाणी करने की शक्ति के कम होने के आधार पर हम अर्थशास्त्र को इसके विज्ञान कहलाने के अधिकार से वंचित नहीं कर सकते हैं।

आर्थिक विश्लेषण की मान्यतायें
(Assumptions of Economic Analysis)

अर्थशास्त्र में मनुष्य के व्यवहार का चुनाव करने के पहलू से अध्ययन किया जाता है। किन्तु मनुष्य एक चेतन, तर्क एवं भावना-प्रभावित और अत्यन्त परिवर्तनशील स्वभाव का व्यक्ति है, जिससे उसके व्यवहार का अध्ययन करना बहुत ही कठिन है जब तक कि कुछ मान्य-तायें लेकर न चले। मान्यतायें लेकर चलने से अध्ययन सुगम हो जाता है। उदाहरण के लिये, मूल्य के परिवर्तनों का माँग पर क्या प्रभाव होता है, इसका अध्ययन करने हेतु अर्थशास्त्री यह मान कर चलते हैं कि मनुष्य एक विवेकपूर्ण ढङ्ग से कार्य करता है, उसकी रुचि, आय आदि में अल्पकाल में कोई परिवर्तन नहीं होते है, इत्यादि। विभिन्न मान्यताओं को सूचित करने के लिये अर्थशास्त्री "अन्य बातें समान रहें" वाक्यांश का प्रयोग करते है। किसी विशेष आर्थिक समस्या के सम्बन्ध में क्या मान्यतायें लेकर चला जायेगा यह तो उस समस्या के स्वभाव पर निर्भर होगा, किन्तु फिर भी कुछ सामान्य मान्यतायें निम्नांकित हैं।

(१) **सन्तोष को अधिकतम् करने की मान्यता**—प्रत्येक व्यक्ति अपने सन्तोष को अधिकतम् करने के लिये प्रयत्न करता है।

(२) **मनुष्य की विवेकशीलता की मान्यता**—प्राचीन तथा प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि विवेकशीलता (Rationality) स्वार्थ के आधार पर काम करने में थी। यही कारण है कि विवेकशील उपभोक्ता को प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने 'आर्थिक मनुष्य' का नाम दिया। प्रतिष्ठित दृष्टिकोण रिकार्डो और मिल की भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है। रिकार्डो का निम्न कथन में अधिकतम् करने का सिद्धान्त साफ-साफ दिखाई पड़ता है, "यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूँजी का इच्छानुसार कहीं भी उपयोग कर सकता है तथापि स्वाभाविक रूप में वह उसे वहीं लगाना चाहेगा जहाँ लाभ सबसे अधिक होगा। यदि वह अपनी पूँजी को कहीं और लगाकर पन्द्रह प्रतिशत लाभ कमा सकता है तो उसे दस प्रतिशत लाभ से कभी सन्तोष न होगा।"[1] इससे भी अधिक सरल भाषा में मिल ने कहा है, "......................मनुष्य स्वभाव से ही ऐसा प्राणी है कि वह सभी दशाओं में कम लाभ की स्थिति की तुलना में अधिक लाभ की स्थिति को पसन्द करता है...............।"[2] इस प्रकार, अर्थशास्त्र इस मान्यता को

---

[1] Whilst every man is free to employ his capital where he pleases, he will naturally seek for it that employment which is most advantageous; he will naturally be dissatisfied with a profit of 10% if by removing his capital, he can obtain a profit of 15%."—David Ricardo : *Principles of Political Economy and Taxation.*

[2] Man is a being who is determined by the necessity of his nature to prefer a greater portion of wealth to smaller in all cases............"—Mill : *Essay on Some Unsettled Questions.*

लेकर चलता है कि प्रत्येक उपभोक्ता अपने सन्तोष अथवा अपनी उपयोगिता को अधिकतम् करना चाहता है और प्रत्येक उत्पादक अपने लाभो को अधिकतम् करना चाहता है। विवेकशीलता की मान्यता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम त्याग और प्रयत्न द्वारा अधिक से अधिक प्राप्ति का इच्छुक समझा जाय इसी बात को श्रीमती रोबिन्सन ने इस प्रकार कहा है, "आर्थिक विवेचन की आधारभूत मान्यता यही है कि प्रत्येक व्यक्ति विवेकपूर्ण ढङ्ग से कार्य करता है और विवेकपूर्ण ढङ्ग से कार्य करने का अर्थ है कि वह सामान्य व्यय और सीमान्त लाभ मे समानता लाये..................विवेकपूर्ण आचरण के द्वारा मौद्रिक लाभ अधिकतम् होता है।"[1]

अब हम एक व्यक्ति के सम्बन्ध मे विवेकशीलता का अध्ययन कुछ अधिक विस्तार के साथ करेंगे। विवेकशीलता का अभिप्राय यह नही है कि कोई व्यक्ति शिक्षित अथवा बुद्धिमान है वरन् इसका अर्थ है कि वह व्यक्ति समझदार है और उपयुक्त परिस्थितियों के अन्तर्गत उसमे दूरदर्शिता का गुण है। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति पूर्ण विवेकशीलता भी एक कोरी कल्पना है। व्यक्तियो के चुनाव पर दो कारणों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। ये दो कारण आदतें और रीति-रिवाज हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी चीज का आदी हो जाता है, तो वह उसे आसानी से नही छोड सकता, भले ही वह यह जानता हो कि उसका छोड़ना ही अच्छा है। आदत का इतना अधिक प्रभाव पडता है कि एक व्यक्ति समझदारी छोड़कर भी उस वस्तु को चाहता है जिसकी उसे आदत पड गई है। रीति रिवाजों का भी इसी प्रकार का प्रभाव पडता है। वे चुनने की स्वतन्त्रता समाप्त कर देते है, जैसे कि भारत मे जाति प्रथा। इस प्रकार, आदतें और रीति-रिवाज मानव व्यवहार की विवेकशीलता को सीमित कर देते हैं।

(३) औसत या साधारण मनुष्य की मान्यता—"अर्थशास्त्री मनुष्य का अध्ययन उसी रूप मे करते हैं जिसमे कि वह वास्तव मे है, न कि किसी अमूर्त्त अथवा आर्थिक मनुष्य का; अध्ययन जीते-जागते मनुष्य का किया जाता है ऐसे मनुष्य का जो अहंकारी भावनाओं से बडे अंश तक प्रेरित होता है। वह मनुष्य मानवीय दुर्बलताओं से परे नहीं होता और न ही वह मनुष्य किसी कार्य को इस कारण करता है कि इसके करने से उसे प्रसन्नता मिलती है, बल्कि वह सभी प्रकार की मानवीय अच्छाइयो और बुराइयो वाला मनुष्य होता है। वह अपने परिवार, अपने पडोसियों अथवा अपने देश के प्रेम के लिए भी कार्य करता है।" विशुद्ध अर्थ वाला विवेकशीलता पैटर्न कुछ अंश तक एक सामान्य, औसत तथा वास्तविक मनुष्य की दशा में संशोधित हो जाता है।

(४) साम्य की मान्यता—साम्य का अभिप्राय सन्तुलन स्थापित करने तथा उसे बनाये रखने के प्रयत्न से होता है। साम्य की स्थिति उस दशा मे प्राप्त होती है जबकि परस्पर विरोधी शक्तियाँ एक दूसरे के प्रभाव को इस प्रकार नष्ट कर देती हैं कि दोनो के फलस्वरूप किसी भी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न नहीं होता है। रोबिन्स के शब्दों में, "हम यह मानकर चलते

---

[1] "The fundamental assumption of economic analysis is that every individual acts in a sensible manner and it is sensible for the individual to balance marginal cost and marginal gain......sensible conduct leuds to maximization of money gains "—**John Robinson** : *Economics of Imperfect Competition*, p. 241.

है कि किसी आर्थिक प्रणाली में ऐसी शक्तियाँ कार्यशील हैं जो निश्चित समय अवधि में उस प्रणाली के विभिन्न भागों के बीच सन्तुलन स्थापित कर देती हैं।"[1]

उपरोक्त विवेचन यह स्पष्ट कर देता है कि आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन कुछ मान्यताओं के आधार पर ही किया जाता है। अर्थशास्त्र के किसी भी विद्यार्थी के लिए इन मान्यताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है क्योंकि, यदि इन्हें भुला दिया जाता है तो आर्थिक सिद्धान्तों को वास्तविक जीवन में लागू करना कठिन हो जायेगा। मान्यतायें ही वे आधार हैं जिन पर वास्तविक और कल्पित परिस्थितियों के बीच भेद किया जाता है।

निष्कर्ष—

सभी बातों को देखने के पश्चात् अन्त में हम निम्न महत्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—(अ) मनुष्य के व्यवहार से सम्बन्धित होने के कारण अर्थशास्त्र के नियमों में कुछ अनिश्चतता अवश्य रहती है। (ब) ये नियम एक अंश तक कल्पित भी हैं, परन्तु इन नियमों के अध्ययन के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता है। (स) प्राकृतिक नियमों की तुलना में अर्थशास्त्र के नियम कुछ ढीले दिखाई पड़ते हैं, परन्तु प्राकृतिक नियमों से इनकी तुलना करना ठीक नहीं है। हमें देखना तो यह चाहिए कि अन्य सामाजिक शास्त्रों के नियमों की तुलना में अर्थशास्त्र के नियम कैसे हैं। (द) नि:सन्देह इनकी तुलना में आर्थिक नियम अधिक निश्चित और स्पष्ट है। कारण, अर्थशास्त्र में सभी बातों और घटनाओं को नापने के लिए मुद्रा को माप-दण्ड रहता है, जिससे निश्चितता और व्यावहारिक दोनों प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु अन्य सामाजिक विज्ञानों के पास ऐसा कोई माप दण्ड नहीं है।

परीक्षा प्रश्न:

१. आर्थिक नियम क्या है ? उनमें तथा अन्य प्रकार के नियमों में अन्तर समझाइये।
[सहायक संकेत—सर्वप्रथम आर्थिक नियमों का अर्थ बताइये, तत्पश्चात् इनकी विशेषतायें अति संक्षेप में दीजिए और फिर इनके वैज्ञानिक नियमों की अपेक्षा कम निश्चित होने पर प्रकाश डालते हुए अन्य नियमों से इनकी भिन्नता समझाइये।]

२. "अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण जैसे ठीक नियमों की अपेक्षा ज्वार-भाटा के नियमों से करनी चाहिए।" (मार्शल) इस कथन की व्याख्या कीजिये।
[*सहायक संकेत :—सर्वप्रथम, आर्थिक नियम क्या होते हैं इन्हें बताइये, तत्पश्चात् इनकी* विशेषताओं का विवेचन करिये और संक्षेप में यह बताइये कि आर्थिक नियम कम निश्चित क्यों होते हैं। अन्त में यह निष्कर्ष निकालिये कि ये गुरुत्वाकर्षण जैसे सरल और सही नियमों की अपेक्षा ज्वार-भाटा के नियमों से तुलना के अधिक योग्य हैं।]

३. आर्थिक नियमों के स्वभाव की चर्चा कीजिये। आर्थिक नियम बिल्कुल सही क्यों नहीं होते ?

---

[1] "We assume that there are operative in different parts of the system certain tendencies which make for the restoration of an equilibrium in respect of certain limited points of reference."—**Robbins** : *An Essay on the Nature and Significance of Economic Science*, p. 102.

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम, आर्थिक नियमों का अर्थ और उनकी विशेषतायें बताइये, तत्पश्चात् उनके कम निश्चित होने के कारण दीजिये और अन्त मे निष्कर्ष निकालिये कि ये प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो की अपेक्षा कम निश्चित किन्तु अन्य सामाजिक विज्ञानो के नियमों की अपेक्षा अधिक निश्चित होते हैं।]

४. आर्थिक नियमो के स्वभाव की व्याख्या कीजिये तथा उन रीतियों को भी बताइये जिनके द्वारा इनको निकाला जाता है।

अथवा

आर्थिक नियमो की विशेषताओं का विवेचन करिये। क्या ये नियम उसी प्रकार प्राप्त किये जाते है जिस प्रकार कि प्राकृतिक विज्ञानो के नियम ?

अथवा

आर्थिक नियमो के स्वभाव की व्याख्या कीजिये और यह बताइये कि निगमन और आगमन रीतियो का प्रयोग इन नियमो को बनाने मे किस प्रकार किया जाता है ?

[सहायक संकेत :—सर्व प्रथम आर्थिक नियमो के अर्थ और उनकी विशेषताओ को बताइये। तत्पश्चात् यह बताते हुए कि आर्थिक नियम वैज्ञानिक या प्राकृतिक नियमों की श्रेणी मे आते हैं, और इसलिए लगभग उसी तरह से निकाले जाते हैं जिस तरह से कि प्राकृतिक नियम, इन नियमो को निकालने की आगमन एव निगमन रीतियो का संक्षिप्त विवेचन कीजिये।]

५. "यदि आर्थिक नियम काल्पनिक है, तो अर्थशास्त्र का अध्ययन करने से कोई लाभ नहीं है।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम आर्थिक नियमो का अर्थ और इनकी विशेषतायें समझाइये। तत्पश्चात् यह बताइये कि आर्थिक नियमो के स्वभाव के सन्दर्भ मे अर्थशास्त्र के अध्ययन को व्यर्थ मानना ठीक नहीं है अर्थात् आर्थिक नियमो के सन्दर्भ मे अर्थशास्त्र को विज्ञान बनाने के कारण दीजिये। अन्त मे, आर्थिक नियमो के कम निश्चित होने के कारण दीजिये।]

६. आर्थिक नियमों के स्वभाव का विवेचन कीजिये। इस विवेचन के सन्दर्भ मे यह बताइये कि अर्थशास्त्र को एक विज्ञान कहना कहाँ तक उचित है ?

अथवा

आर्थिक नियमो की व्याख्या कीजिये। ये किस अर्थ मे काल्पनिक होते हैं ? अर्थशास्त्र के विज्ञान होने के दावे को बताइये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम आर्थिक नियमों के अर्थ और उनकी विशेषताओं को बताइये। तत्पश्चात् उनकी काल्पनिकता पर प्रकाश डालिये और अन्त मे, आर्थिक नियमो की विशेषताओं के सन्दर्भ मे, अर्थशास्त्र के विज्ञान होने के दावे की पुष्टि कीजिये।]

अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियाँ

(The Methods of Economic Science)

प्रारम्भिक—

प्रत्येक विज्ञान के अध्ययन के दो मुख्य उद्देश्य होते हैं। सबसे पहले तो कारण और परिणाम के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है, इसके पश्चात् इस अध्ययन की सहायता से कुछ नियम बनाये जाते हैं अथवा कुछ निष्कर्ष (Conclusion) निकाले जाते हैं। यही निष्कर्ष हमें उस विज्ञान के मूल तथ्यों का ज्ञान दिलाते हैं। उस रीति या प्रणाली को, जिसके द्वारा किसी विज्ञान में किसी निष्कर्ष या सत्य पर पहुँचा जाता है, उसे विज्ञान के 'अध्ययन की रीति' कहते हैं। अन्य विज्ञानों की भाँति अर्थशास्त्र के अध्ययन की भी रीतियाँ होती हैं, अर्थात् इस शास्त्र के विद्वानों ने भी कुछ विधियों को अपनाया है, जिनके द्वारा आर्थिक तथ्यों की खोज की जाती है। अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियों से हमारा अभिप्राय उन रीतियों तथा प्रणालियों से है जिनकी सहायता से आर्थिक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इन रीतियों के उपयोग की आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि हम इस बात का प्रयत्न करते हैं कि जो अनुमान लगाये जायें अथवा जो निष्कर्ष निकाले जायें वे ठीक हों और तर्क की दृष्टि से सही हों। जब हम अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियों का विवेचन करते हैं, तो हमें यह देखना पड़ता है कि अर्थशास्त्रियों ने इनमें से कौन-सी रीतियाँ अपनाई हैं और हमारे आर्थिक तथ्यों की खोज में कौन-सी रीति सबसे अच्छी है। इन रीतियों पर नीचे प्रकाश डाला गया है।

समता प्रणाली
(Method of Analogy)

समता प्रणाली क्या है ?

सबसे पहले समता प्रणाली को लीजिए। यह ऊपर दी हुई तीन प्रणालियों में से अधिक सरल है। कोई भी व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के इसका उपयोग कर सकता है। समता प्रणाली में समानता (Similarity) के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। जैसे—यदि हम एक फल को देखें, जिसका रंग हरा है और उसके विषय में हमें यह ज्ञात हो कि वह कच्चा है तो इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कोई दूसरा फल भी, जिसका रंग हरा है, कच्चा होगा। अथवा, यदि हम बाजार में किसी एक ग्राहक का ऐसा व्यवहार देखें कि वह सबसे कम दाम माँगने वाले दुकानदार से माल खरीदता है, तो इससे किसी दूसरे ग्राहक के भी विषय में यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वह भी सबसे सस्ता बेचने वाले दुकानदार से माल खरीदेगा। ये निष्कर्ष समानता के आधार पर हैं। किन्तु निष्कर्ष निकालने के लिए हमें समानता के आधार का ठीक तरह अध्ययन करना पड़ता है, क्योंकि यदि समानता का आधार ही गलत हुआ, तो निष्कर्ष की सत्यता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

समता प्रणाली के गुण-दोष—

गुण—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, समता प्रणाली मे एक बहुत बडा गुण यह है कि वह सरल है और इसे थोडी सावधानी के साथ काम मे लाने से सही निष्कर्ष निकाल लेना सम्भव है ।

दोष—किन्तु देखने में आता है कि समानता के आधार पर बनाये हुए **निष्कर्ष बहुत गलत होते हैं** । कारण, ऐसे निष्कर्ष अधिकतर एक ही गुण (या प्रकृति) की समानता पर आधारित होते है, जिस कारण यह सम्भव है कि एक दिशा की समानता दूसरी दिशा की असमानता के कारण अर्थहीन हो जाये और इसलिए असमानता को देखे बिना जो निर्णय किया जायगा उसका सही होना आवश्यक नही है । इस त्रुटि के कारण इस प्रणाली का उपयोग बडा सीमित रहा है ।

समता प्रणाली का आर्थिक अध्ययन में प्रयोग—

अर्थशास्त्र मे इस प्रणाली को काम मे ही न लाया गया हो ऐसी बात नही है । इसका उपयोग हुआ है परन्तु कम । जहाँ कहीं भी निष्कर्ष की सत्यता महत्त्व रखती है, इसका उपयोग कम ही रहेगा । अर्थशास्त्र मे इसका उपयोग इतना कम हुआ है कि हम इसकी गणना आर्थिक अध्ययन की रीतियो मे नही करते है ।

निगमन प्रणाली
(Deductive Method)

निगमन प्रणाली से आशय—

इस प्रणाली में हम सामान्य (General) सत्य के आधार पर विशिष्ट (Particular) सत्य का पता लगाते हैं । इस प्रकार तर्क का मार्ग सामान्यता से विशिष्टता की ओर है । यदि हमे कोई सामान्य सत्य ज्ञात हो, तो हम किसी विशेष सत्य के विषय मे निश्चित कर सकते है । कभी-कभी सामान्य सत्य स्वय-सिद्ध के रूप मे होता है तथा उसकी सचाई स्वय ही प्रत्यक्ष होती है और कभी-कभी वह अनुभव पर आधारित होता है । निगमन प्रणाली द्वारा दिये हुए आधार पर नये सत्य की खोज कर ली जाती है ।

जैसा कि बोल्डिग (Boulding) ने बताया है, वास्तविक विश्व बहुत ही जटिल और गुथा हुआ है, जिस कारण इसका प्रत्यक्ष और वास्तविक रूप मे अध्ययन नही किया जा सकता । अत: पहले सरल और कम वास्तविक दशाओ व मान्यताओ को लेकर चला जाना है एव बाद मे अन्य जटिल मान्यतायें सम्मिलित कर ली जाती हैं, जिससे कि वास्तविकता के निकटतम् पहुँच सकें ।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—अनुभव से हमे यह ज्ञात है कि सभी मनुष्य मरणशील है । अब यदि हमे यह भी ज्ञात हो कि श्याम एक मनुष्य है, तो हम सुगमता से कह देंगे कि श्याम भी मरणशील है, या, यदि यह ज्ञात हो कि सभी मनुष्य सामाजिक प्राणी हैं, तो यह कहने मे कठिनाई न होगी कि अमुक ५० आदमी भी सामाजिक प्राणी हैं । इसी प्रकार, यदि हमारा अनुभव हमे यह बताता है कि सभी मनुष्य अधिकतम् तृप्ति की खोज मे लगे रहते है, तो यह कहने मे देर न लगेगी कि राम भी, जो एक मनुष्य है, अधिकतम् तृप्ति की खोज मे लगा होगा । इस प्रकार की तर्क प्रणाली को 'निगमन प्रणाली' कहते है । किसी समय अर्थशास्त्र के अध्ययन मे इस प्रणाली का बहुत प्रचलन था और आज भी इसका महत्त्व अधिक है ।

निगमन प्रणाली को 'काल्पनिक रीति' (Hypothetical Method) भी कहते हैं, क्योंकि इसमे आर्थिक नियम कुछ कल्पनाओ या मूल सिद्धान्तों के आधार पर बनाये जाते हैं । इसे 'अमूर्त'-रीति (Abstract Method) इसलिये कहा जाता है कि इसमे जिन बातों को आधार

माना जाता है उनका सार निकाल कर नियम बनाये जाते हैं। चूँकि इस पद्धति में समस्या पर इसके भिन्न-भिन्न भागों को अलग अलग करके विचार किया जाता है, इसलिये इसे विश्लेषणात्मक रीति (Analytical Method) भी कहते हैं।

निगमन प्रणाली के गुण—

इस प्रणाली में कुछ विशेष गुण हैं, जिनके कारण अर्थशास्त्र में इसका उपयोग बहुत अधिक हुआ है :—

(१) निष्कर्ष तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों के अधिक अनुकूल—इस प्रणाली द्वारा निकाले हुए निष्कर्ष तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों के अधिक अनुकूल होते हैं। उनमें त्रुटियाँ (Fallacies) कम होती हैं तथा जो भी त्रुटियाँ होती हैं उनका तर्कशास्त्र के नियमों के अनुसार पता लगाया जा सकता है और समाधान किया जा सकता है। अतः निष्कर्षों की सत्यता के विश्वसनीय होने के कारण यह प्रणाली बड़ी महत्वपूर्ण और लाभदायक है। पहले ही हम देख चुके हैं कि अर्थशास्त्र को बहुत से व्यक्ति एक अनिश्चित विज्ञान बताते हैं, इसलिये किसी भी ऐसी प्रणाली का, जिसके द्वारा निकाले गये निष्कर्ष अधिक विश्वसनीय हों, अर्थशास्त्र में बड़ा ऊँचा स्थान रहेगा। कैरीनज का विचार है कि, "यदि समुचित सावधानी से काम लिया जाता है, तो निगमन प्रणाली अतुल्य है, मनुष्य की बुद्धि के लिए यह खोज का सबसे शक्तिशाली यन्त्र है।"[1]

(२) सर्व साधारण के लिए बहुत उपयोगी—यह प्रणाली सर्व-साधारण के लिए बड़ी उपयोगी है। प्रत्येक मनुष्य के पास इतनी शक्ति, साधन तथा बुद्धि नहीं होती कि वह स्वयं मनुष्य के व्यवहार का निरीक्षण कर सके तथा इन निरीक्षणों द्वारा प्राप्त की गई सूचना के आधार पर अपने आर्थिक निष्कर्ष बना सके। कुछ थोड़े से मनुष्यों को छोड़ दीजिये, अधिकांश मनुष्य किसी ऐसी प्रणाली को अपनाने में असमर्थ रहेंगे जिसमें निरीक्षण, प्रयोग तथा बहुत-सा शारीरिक और मानसिक परिश्रम करके सूचना प्राप्त की जाय और फिर इस सूचना के आधार पर निष्कर्ष निकाले जायें। निगमन प्रणाली में इस प्रकार सूचना एकत्रित करने की आवश्यकता नहीं है। कुछ स्वयं सिद्धियों तथा मोटे-मोटे अनुभवों के आधार पर घर में बैठकर निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस प्रणाली का यही गुण यथार्थ में इसकी लोकप्रियता का कारण है।

(३) भविष्यवाणी करने के लिए उपयुक्त—चूँकि इस प्रणाली में निकाले गये निष्कर्ष निश्चित होते हैं, इसलिए वह अनुमान लगाने और भविष्यवाणी (Forecasting) करने के लिये भी बहुत उपयुक्त है।

(४) निष्पक्षता—इस प्रणाली में निष्कर्ष सामान्य सत्य के आधार पर तर्क द्वारा निकाले जाते हैं, जिस कारण अन्वेषक उन्हें अपने दृष्टिकोण से प्रभावित नहीं कर सकता।

(५) आर्थिक विषयों के अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी—यह पद्धति अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के लिए बहुत ही उपयुक्त है, क्योंकि मानव व्यवहार के ऊपर प्रयोग करना कठिन होता है।

(६) सर्व-व्यापकता—इस पद्धति से निकाले गये निष्कर्ष प्रायः मनुष्य की सामान्य प्रकृति पर आधारित होते हैं, जिस कारण वे हर समय तथा प्रत्येक देश में लागू होते हैं। उदाहरणार्थ, सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम इसी प्रकार का नियम है।

(७) आगमन रीति की पूरक—इस पद्धति की सहायता से आगमन रीति द्वारा निकाले गये सिद्धान्तों को परखा जा सकता है।

---

[1] "The method of Deduction is incomparable when conducted under proper checks, the most powerful instrument of discovery ever wielded by human intelligence"—Cairnes.

निगमन प्रणाली के दोष—

(१) सामान्य सत्य की यथार्थता जांचना सम्भव नहीं—इस प्रणाली में दिये हुए सामान्य सत्य की वास्तविकता या यथार्थता को जाँचने का कोई उपाय नहीं है अर्थात् यह पता लगाना कठिन है कि जिस सत्य के आधार पर हम चल रहे हैं वह स्वयं कहाँ तक विश्वसनीय है। यह निश्चय है कि यदि सामान्य वाक्य ही असत्य है, तो फिर निष्कर्ष की सत्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये, इस प्रणाली द्वारा निर्धारित निष्कर्ष की सत्यता पूर्णरूप से सन्देह मुक्त नहीं हो सकती है। यह तो ठीक है कि दी हुई सामान्यता के आधार पर निष्कर्ष सही हैं, पर उस सामान्यता का ही क्या ठिकाना है ?

(२) वास्तविकता से परे—दूसरा दोष, जो अर्थशास्त्र के लिए इस प्रणाली के महत्त्व को बड़े अंश तक नष्ट कर देता है, यह है कि इस प्रणाली का वास्तविकता (Reality) से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रणाली में निरीक्षण अथवा प्रयोगों के आधार पर सूचनायें एकत्रित नहीं की जाती हैं, जिस कारण यह हो सकता है कि सामान्य सत्य तथा उससे उत्पन्न होने वाले निष्कर्ष वास्तविकता से दूर हों। सम्भव है कि जो निष्कर्ष हमने निकाले हैं वे तर्क की कसौटी पर सच्चे उतरें, पर क्या वे व्यावहारिक जगत में सत्य होंगे, इसकी कोई गारण्टी नहीं है। अर्थशास्त्र को मनुष्य के दैनिक जीवन की विभिन्न प्रकार की समस्याओं को सुलझाना पड़ता है, अर्थात् उसका जीवन के व्यावहारिक पक्ष से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब यदि इस प्रणाली द्वारा प्राप्त निष्कर्ष व्यावहारिक जीवन में काम नहीं आ सकते, तो अर्थशास्त्र के लिए उनकी उपयोगिता बहुत कम रह जायगी। यदि हम यह चाहते हैं कि अर्थशास्त्र एक कृत्रिम तथा अनुमानजनक (Formal and Abstract) विज्ञान न बनकर मनुष्य के जीवन में सहायक बने और उसके जीवन की दिन प्रति दिन की समस्याओं को सुलझाये, तो केवल निगमन प्रणाली से हमारा कार्य नहीं चलेगा।

(३) स्थैतिक दृष्टिकोण—निगमन प्रणाली में तथ्य विशेष का अध्ययन अन्य तथ्यों से पृथक रूप में किया जाता है, अर्थात् अन्य तथ्यों को स्थिर मान लिया जाता है। इस प्रकार इस प्रणाली का दृष्टिकोण स्थैतिक (Static) है, जो हमारे वास्तविक परिवर्तनशील संसार में तथ्यों के सही-सही अध्ययन के लिये अनुपयुक्त है।

(४) अपर्याप्तता—केवल इसी पद्धति के सहारे अर्थशास्त्र के सभी अङ्गों का अध्ययन सम्भव नहीं है, जिससे अर्थशास्त्र का पूर्ण विकास नहीं हो सकता।

यहाँ पर यह बताना असङ्गत न होगा कि **उपर्युक्त दोष वास्तव में इस प्रणाली के दोष नहीं हैं, बल्कि इसके उपयोग करने की रीति के दोष हैं।** कठिनाई तभी होती है जबकि इस प्रणाली को गलत रीति से उपयोग किया जाता है। **प्रो० जाइड** (Gide) ने ठीक कहा है कि, "प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की गलती यह नहीं थी कि उन्होंने निगमन रीति का उपयोग करके अभौतिक (Abstract) निष्कर्ष निकाले थे, बल्कि यह थी कि उन्होंने अभौतिकता को ही वास्तविकता (Reality) समझ लिया था।"[1] **निगमन प्रणाली के उपयोग में सावधानी का सुझाव देते**

---

[1] "The mistake of the classical school did not consist in too frequent use of the deductive method, but in having too often mistaken the abstraction for the reality."—**Gide.**

हुए प्रो० निकलसन ने कहा है, "निगमन प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि कोई भी सत्यता की परख करने का कष्टविकर कार्य नहीं करना चाहता।"[1] यह निश्चय है कि यदि सावधानी से काम लिया जाय और सत्यता को पग-पग पर जाँच कर ली जाय, तो निष्कर्ष सही भी होगा और वास्तविक (Real) भी।

व्याप्ति मूलक, अनुभव अथवा आगमन प्रणाली
(Inductive Method)

अनुभव प्रणाली से आशय—

व्याप्ति मूलक प्रणाली में तर्क की विधि निगमन प्रणाली की विपरीत होती है, अर्थात् हम सामान्यता से विशिष्टता की ओर न जाकर विशिष्टता से सामान्यता की ओर चलते हैं। हमारी तर्क विधि यह होती है कि व्यक्तिगत निरीक्षणों तथा प्रयोगों के आधार पर हम सर्वव्यापी या सामान्य नियम बना लेते हैं। इस प्रणाली के अनुसार जिस प्रकार से तर्क चलता है यह नीचे दिए हुए उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए, हम लोहा, ताँबा, सीसा इत्यादि धातुओं को पानी में डालते हैं और उनके *व्यवहार को इस प्रकार पाते हैं :—*

पानी में डालने पर लोहा डूब जाता है।
ताँबा भी डूब जाता है।
सीसा भी डूब जाता है।
सोना भी डूब जाता है।
चाँदी भी डूब जाती है।

और हम यह जानते हैं कि लोहा, ताँबा, सीसा, सोना और चाँदी ये सब धातुयें हैं। अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी धातुयें पानी में डालने पर डूब जाती हैं। यहाँ हमने तर्क की जिस रीति को अपनाया है वह व्याप्ति-मूलक प्रणाली है, क्योंकि हमने व्यक्तिगत निरीक्षणों के आधार पर सामान्य नियम बनाया है।

इसी प्रकार, बाजार में दाम गिर जाने पर, २० ग्राहकों को किसी वस्तु की अधिक *मात्रा में खरीद करते देखकर यदि हम यह निष्कर्ष निकालें कि दाम घट जाने से किसी वस्तु की* माँग बढ़ जाती है, तो यह निर्णय भी हम इसी प्रणाली द्वारा करते हैं। प्राकृतिक विज्ञानों के नियम बहुधा इसी नियम से बनाए जाते हैं, क्योंकि इन शास्त्रों में प्रयोग और निरीक्षण की पर्याप्त सुविधा रहती है। अर्थशास्त्र में इस प्रणाली से बहुत काम लिया गया है और इसके *आधार पर अनेक नियम बनाये गये हैं।*

इस प्रणाली का एक दूसरा नाम ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) भी है, क्योंकि अनेक विशिष्ट सत्यों का पता लगाने हेतु प्रयोग करना सदैव सम्भव नहीं होता, जिस कारण इस प्रणाली में प्राय: ऐतिहासिक तथ्यों की सहायता ली जाती है। इसे सांख्यिकी प्रणाली (Statistical Method) भी कहते हैं, क्योंकि इसमें सामान्य निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए अनेक तथ्यों और आँकड़ों का प्रयोग किया जाता है। *यह प्रणाली 'प्रयोगिक प्रणाली'* (Experimental Method) इसलिए कही जाती है कि इसमें सामान्य निष्कर्षों को प्रयोग द्वारा जाँचने का प्रयास किया जाता है। इसे 'वास्तविक प्रणाली' (Realistic Method) भी कहते हैं, क्योंकि वास्तविक निरीक्षणों की सहायता लेने के कारण यह वास्तविकता के बहुत निकट होती है। कभी-कभी *इसे आगमन प्रणाली अथवा अनुभव प्रणाली भी* कहा जाता है।

अनुभव प्रणाली के गुण—

निगमन पद्धति की भाँति इस प्रणाली में भी कुछ विशेष गुण हैं, जिनके कारण अर्थशास्त्र ने इस पद्धति को अपनाया है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने तो यहाँ तक कहा है कि अर्थ-

---

[1] "The great danger of Deductive Method lies in the natural aversion to the labour of verification."—Nicholson : *Principles of Political Economy.* Vol. I.

शास्त्र को केवल इसी प्रणाली के द्वारा निष्कर्ष निकालने चाहिए। इसके निम्नलिखित तीन गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) निष्कर्ष वास्तविकता के अनुकूल—इस पद्धति के अपनाने से हमारा तर्क हमारे निष्कर्ष वास्तविकता से अलग नहीं होने पाते हैं। हमारा तर्क जीवन की वास्तविक घटनाओं और सत्यो के सहारे आगे बढ़ता है, इसलिए जो निष्कर्ष हम निकालते हैं उनके वास्तविक जीवन मे सही होने की सम्भावना रहती है। अतः व्यावहारिक समस्याओं को हल करने हेतु यह पद्धति बड़ी उपयोगी है।

(२) निष्कर्षो की जाँच प्रयोगों द्वारा सम्भव—इस प्रणाली की किसी भी मान्यता या किसी भी निष्कर्ष को वास्तविक प्रयोगो द्वारा आँका जा सकता है। अत. किसी भी बात की सत्यता के विषय मे शकित रहने की आवश्यकता नहीं रहती। सन्देह को मिटाने के पर्याप्त उपाय रहते है।

(३) निगमन प्रणाली की पूरक होना—निगमन प्रणाली की सहायक के रूप मे इस प्रणाली का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इसकी सहायता से किसी भी निष्कर्ष की सत्यता (Truth) और वास्तविकता की जाँच की जा सकती है।

(४) प्रावैगिक दृष्टिकोण—इस पद्धति ने इतिहास की अनेक बातो को स्पष्ट करके हमारे ज्ञान मे वृद्धि की है और यह बताया है कि आर्थिक तथ्य परिवर्तनशील होते है, जिस बात को आर्थिक सिद्धान्त बनाते समय ध्यान मे रखना चाहिए। इस प्रकार, इस पद्धति का दृष्टिकोण प्रावैगिक (Dynamic) है।

(५) जटिलताओं पर ध्यान—यह पद्धति आर्थिक समस्याओं की जटिलता पर समुचित ध्यान देती है और यह स्पष्ट करती है कि सर्वव्यापक सिद्धान्तो का निर्माण करना कठिन है अर्थात् एक सामान्य सिद्धान्त दी हुई दशाओं के आधीन ही सही उतरता है।

अनुभव प्रणाली के दोष—

फिर भी अन्य प्रणालियो की भाँति ही इस पद्धति मे भी कुछ दोष हैं :—

(१) सीमित निरीक्षण पर आधारित दोषपूर्ण निष्कर्ष—थोड़े से निरीक्षणो और प्रयोगो के आधार पर सामान्य नियम बना लेने में इस बात का भय रहता है कि हमारे निरीक्षणो और प्रयोगो के सीमित होने के कारण सामान्य नियम गलत न हो जाये। जितना ही हमारा निरीक्षण विस्तृत होगा उतना ही निष्कर्ष के अधिक सही होने की सम्भावना बढ़ जायगी किन्तु खोज और निरीक्षण के साधनो की कमी के कारण हमारी खोज का क्षेत्र प्रायः सीमित रहता है और इसीलिए बहुधा बहुत थोड़े आँकड़ो के आधार पर सामान्यताएँ बना ली जाती हैं, जिनकी सत्यता सन्देहजनक रहती है।

(२) सर्वसाधारण के लिए कठिन—यह प्रणाली सर्वसाधारण के उपयोग मे नहीं आ सकती है क्योंकि आँकड़ो और सूचनायें पर्याप्त मात्रा मे सचय करना हर किसी के वश की बात नहीं है। फिर इन आँकड़ो और सूचनाओ की व्याख्या तथा विवेचना करना तो और भी कठिन है। सांख्यिकी के समुचित ज्ञान के बिना उपयोगी और अनुपयोगी आँकड़ो मे भेद करना कठिन है तथा फिर इन आँकड़ो से सही अर्थ निकालना तो और भी कठिन है। इससे सिद्ध होता है कि इस प्रणाली के उपयोग के लिए निपुणता तथा विशेषज्ञता की आवश्यकता पड़ती है और प्रत्येक मनुष्य ऐसा नहीं हो सकता है।

(३) प्रयोग की कठिनाइयाँ—अर्थशास्त्र मे तो इसका उपयोग और भी कठिन है, क्योंकि मनुष्यो पर प्रयोग (Experiment) करना कठिन है। वैसे भी मानव जाति की स्वतन्त्रता इसकी आज्ञा नहीं देती है।

(४) अपर्याप्त—केवल अनुभव प्रणाली ही अर्थशास्त्र के विकास के लिए अपर्याप्त है। जैसा कि जेवन्स ने कहा है, "निस्सन्देह अवलोकन एवं अनुभव प्रकृति सम्बन्धी सभी निश्चित शास्त्रों का आधार है किन्तु केवल इनके ही प्रयोग से आधुनिक विज्ञान के निष्कर्षों का प्राप्त करना सम्भव नहीं था।"[1]

(५) पक्षपात—इस प्रणाली में इस बात की आशंका है कि इसके द्वारा निकाले गये निष्कर्ष निष्पक्ष न होंगे, क्योंकि उन पर अन्वेषक के अपने निजि के दृष्टिकोण की छाप हो सकती है। तब ही तो कहा गया है, "आंकडों द्वारा कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है।"[2]

अर्थशास्त्र में विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग

तीनों अध्ययन प्रणालियों के गुण और दोषों का अध्ययन करने के पश्चात अब हमें यह देखना है कि अर्थशास्त्र में कौन-सी प्रणाली अधिक प्रचलित है तथा कौन-सी प्रणाली अधिक उपयोगी हो सकती है। समानता प्रणाली का अर्थशास्त्र में कम उपयोग रहा है। निगमन पद्धति और व्याप्तिमूलक प्रणाली ही अधिक प्रचलित रही है। इस विषय में कि कौन-सी पद्धति अधिक अच्छी है, बड़ा भेद रहा है। आजकल भी यह विवाद चलता ही रहता है, किन्तु वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने एक सन्तोषजनक हल निकाल लिया है और दोनों पद्धतियों के बीच समझौता कर लिया है, जिसके कारण इस बात पर बल दिया जाता है कि दोनों प्रणालियों को एक ही साथ काम में लाना चाहिए। एक दूसरे की विरोधी न होकर वे एक दूसरे की पूरक का कार्य करती है

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा निगमन प्रणाली पर बल—

प्राचीन प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economics) ने पूरे अर्थशास्त्र के अध्ययन में केवल निगमन प्रणाली का ही उपयोग किया था। अर्थ-विज्ञान के सभी नियम उन्होंने मनुष्यों के उद्देश्यों और आदतों सम्बन्धी कुछ विशेषताओं द्वारा निश्चित किये थे। उन्होंने अपना अध्ययन मनुष्य की प्रकृति की कुछ सर्वमान्य बातों को लेकर किया। उनका विचार था कि मनुष्य के उद्देश्य तथा उसकी प्रकृति सभी स्थानों पर तथा सभी कालों में एक-सी होती है। इस मान्यता के पश्चात् उन्होंने यह निश्चित किया कि मनुष्य के कार्यों का स्वरूप क्या होगा तथा वे किन नियमों के अनुसार घटित होंगे। रिकार्डो (Ricardo) इस पद्धति के विशेष पक्षपाती थे और उनके सभी अनुयायियों ने उनका अनुकरण किया है। इस पद्धति के अपनाये जाने के निम्नलिखित कारण थे :—(i) प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र और तर्क एवं दर्शनशास्त्र के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखा था। उन्होंने अर्थशास्त्र को एक वैज्ञानिक दृष्टि से देखा और वास्तव में क्या होना है, इस ओर ध्यान कम दिया। (ii) कुछ समय पहले आंकडे आदि एकत्रित करने का कार्य बहुत कम किया जाता था, सांख्यिकी (Statistics) की उन्नति नहीं हो पाई थी और जैसा कि *पहले कहा जा चुका है कि आंकड़ों और सूचनाओं के जमा करने का काम हर किसी के वश की* बात नहीं थी। (iii) प्रयत्न इस बात का किया गया कि अर्थशास्त्र के निष्कर्षों में अधिक निश्चितता लाई जाय, जो इस प्रणाली द्वारा सम्भव थी। (iv) यह एक परम्परा-सी बन गई कि मनुष्य की प्रकृति और उसके स्वभाव को यथास्थित मान लिया जाय। इस परम्परा को निभाने के लिए भी निगमन प्रणाली उपयुक्त थी।

इस प्रणाली के अपनाने का परिणाम यह हुआ कि अर्थशास्त्र धीरे-धीरे एक कृत्रिम

---

1 "Though observation and induction must ever be the ground of all, certain knowledge of nature, their unaided employment could never have led to the results of modern science."

2 Statistics can prove anything.

(Formal) तथा अनुमानजनक विज्ञान बन गया, जिसके नियमों का वास्तविकता से सम्बन्ध टूट गया और इस प्रकार मानव जीवन के लिए इस शास्त्र की उपयोगिता कम हो गई।

अनुभव प्रणाली का उपयोग बढ़ना—

एक समय ऐसा भी आया जबकि निगमन प्रणाली के विरुद्ध एक विद्रोह सा खड़ा हो गया। यह विद्रोह जर्मनी में ऐतिहासिक सम्प्रदाय (Historical School) के समर्थकों ने उठाया था, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक सम्प्रदाय के जन्म से पहले भी व्याप्ति मूलक पद्धति का उपयोग हो चुका था। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने इस प्रणाली को कई स्थानों पर अपनाया है। जन-संख्या के सिद्धान्त के प्रसिद्ध लेखक माल्थस (Malthus) ने अपना जन-संख्या का सिद्धान्त इसी पद्धति पर आधारित किया है, किन्तु इस प्रणाली को महत्त्व देने तथा अकेले उसी के उपयोग का श्रेय ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों को ही है। इन अर्थशास्त्रियों ने निगमन प्रणाली की कड़ी आलोचना की और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि इस पद्धति के अपनाने से अर्थशास्त्र का अध्ययन सर्वथा व्यर्थ हो जायगा। दो बातों ने व्याप्ति-मूलक पद्धति को विशेष प्रोत्साहन दिया.—(i) सांख्यिकी का विकास और (ii) व्यावहारिक प्रश्नों को हल करने की आवश्यकता, जो वर्तमान काल में बहुत महत्त्व धारण कर चुकी है। आधुनिक युग में आर्थिक समस्याओं की संख्या बहुत बढ़ गई है। सरकार के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने के सिद्धान्त को मान लेने के बाद तो यह समस्या और भी कठिन तथा गम्भीर बन गई है।

निगमन प्रणाली का पुनरोद्धार—

अर्थशास्त्र के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि कुछ समय के लिए निगमन प्रणाली का उपयोग लगभग लोप-सा हो गया था, किन्तु आधुनिक काल में इस पद्धति को अपनाने पर एक बार फिर बल दिया गया है। एक नवीन सम्प्रदाय ने, जिसको गणित सम्प्रदाय (Mathematical School) का नाम दिया जाता है, फिर से इस प्रणाली का उपयोग किया है। इस सम्प्रदाय के जन्मदाता प्रोफेसर जेवन्स (Jevons) का विचार है कि अर्थशास्त्र का स्वभाव गणित के समान है, क्योंकि गणित की भाँति यह भी परिमाणवाचक सम्बन्धों (Quantitative Relations) का अध्ययन करता है। इस शास्त्र में कुछ ऐसे तथ्यों का अध्ययन किया जाता है, जिनके परिमाणवाचक स्वरूप का विशेष महत्त्व है। ऐसे तथ्यों के अध्ययन में निगमन प्रणाली अधिक लाभदायक होती है। इस मत के अनुयाइयों का विचार है कि गणित का अर्थशास्त्र में अधिक से अधिक उपयोग होना चाहिए, क्योंकि गणित के परिणाम सबसे अधिक निश्चित होते हैं। गणित का समावेश कर देने से अर्थशास्त्र की निश्चितता (Precision) बढ़ जायेगी।

आधुनिक अर्थशास्त्र में गणित का उपयोग निरन्तर बढ़ रहा है। यहाँ तक कि कभी-कभी इस बात की भी शंका की जाती है कि भविष्य में अर्थशास्त्र इतना गणित जटिल न हो जाय कि साधारण मनुष्य उसे समझ ही न सके। इस समय भी गणित अर्थशास्त्र (Mathematical Economics) अधिकांश अर्थशास्त्रियों की समझ से बाहर की बात है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने ऐतिहासिक पद्धति का पूर्णतया परित्याग कर दिया है। वास्तविकता यह है कि यह प्रणाली भी उतना ही महत्त्व रखती है जितना कि निगमन प्रणाली।

दोनों पद्धतियाँ एक दूसरे की सहयोगी और पूरक हैं—

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही पद्धतियाँ अर्थशास्त्र में उपयोग में लाई गई हैं तथा लाई जा रही हैं। यह बात दूसरी है कि किसी विशेष समय में या किसी विशेष सम्प्रदाय में एक प्रणाली का अधिक चलन रहा। अब यह प्रश्न उठता है कि इन दोनों में से कौन-सी

अधिक अच्छी और उपयोगी है। यह प्रश्न सच पूछा जाय तो उठाया ही नहीं जाना चाहिए। दोनों पद्धतियों के गुणों और दोषों तथा उपयोगों को देखने से पता चलता है कि दोनों सहयोगी प्रतियोगी नहीं। अर्थशास्त्र का ध्येय आर्थिक एकताओं को खोजना है और जिस प्रणाली से भी इस उद्देश्य की पूर्ति होती हो उसी का उपयोग करना चाहिए। बात ऐसी है कि एक प्रणाली दूसरे के दोषों का नाश करती है। एक के गुण दूसरे के अवगुण है।

अतः दोनों प्रणालियों को एक साथ कार्य में लाया जाय तो अधिक अच्छा होगा। उदाहरणस्वरूप, यदि सामान्य सत्यों की जांच व्याप्ति-मूलक प्रणाली द्वारा कर ली जाय, तो गलती की आशंका बड़ी सीमा तक मिट जाती है। परन्तु साथ ही निगमन प्रणाली भी आवश्यक है क्योंकि, जैसा कि डरबिन (Durbin) ने कहा है, "आँकड़े स्वयं कुछ नहीं बोलते। यह केवल विश्लेषण, तुलना, कल्पना और भविष्यवाणी के द्वारा ही सम्भव है कि वे कुछ बोल सकते हैं।"[1] अतः अर्थशास्त्र में दोनों प्रणालियों का समान महत्त्व है और दोनों का ही उपयोग किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मत नीचे दिये गये है :—

(१) श्मोलर (Schmoller)—"जिस प्रकार चलने के लिए दाहिने और बायें दोनों पैरों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अर्थ-विज्ञान के अध्ययन के लिए अनुमान और अनुभव दोनों पद्धतियों की आवश्यकता है।"[2]

(२) मार्शल (Marshall)—"खोज की कोई भी एक रीति ऐसी नहीं है जिसे हम अर्थशास्त्र की रीति कह सकें, बल्कि समुचित स्थान पर व्यक्तिगत रूप में अथवा दूसरी रीतियों के साथ मिलाकर प्रत्येक रीति का उपयोग होना चाहिये।"[3]

(३) वैगनर (Wagner)—"निगमन और आगमन प्रणालियों में से किसे चुना जाय, इस प्रश्न का उपयुक्त उत्तर यही हो सकता है कि दोनों को ग्रहण किया जाय"[4]

जिन उद्देश्यों के लिए और जिन परिस्थितियों में जो प्रणाली अधिक उपयोगी हो उसी का उपयोग करना चाहिए, अत. 'निगमन प्रणाली या व्याप्ति-मूलक प्रणाली' स्थान पर 'निगमन प्रणाली और व्याप्ति-मूलक प्रणालियाँ' कहना अधिक उपयुक्त है। आजकल अर्थशास्त्री दोनों के मिश्रित तरीके का प्रयोग करते हैं, जिसे उन्होंने 'वैज्ञानिक तरीका' (Scientific Method) कहा है। इसके आधीन निम्न बातें सम्मिलित हैं—अवलोकन, तर्क और परख। विभिन्न प्रणालियों को किस अनुपात में मिलाया जाय यह खोज के स्वभाव, प्राप्त सामग्री आदि

---

[1] "Facts do not speak for themselves. It is only by analysis, comparison, hypothesis and prophecy that they can be made to speak at all"

—*Durbin.*

[2] "Induction and Deduction are both needed for scientific thought as the right and left foot are both needed for working"—*Quoted* by **Walker.**

[3] "There is not any one method of investigation which can properly be called, the Method of Economics; but every method must be made serviceable in its proper place either singly or in combination with others"

—**Marshall** : *Principle of Economics*, p. 24

[4] "The true solution of the contest about methods is not be found in the selection of deduction or induction, but in the acceptance of both deduction and induction."—**Wagner.**

पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, उपभोग, मूल्य सिद्धान्त इत्यादि मे निगमन प्रणाली का प्रयोग ठीक होता है किन्तु व्यापार चक्र, उत्पत्ति और राजस्व मे आगमन रीति अधिक उपयुक्त है, क्योंकि वहाँ प्रयोग की सम्भावना है। विनिमय और वितरण की समस्याओ के अध्ययन हेतु कहीं आगमन प्रणाली का तो कही निगमन प्रणाली का अधिक प्रयोग किया जाता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. अर्थशास्त्र के अध्ययन मे निगमन या आगमन कौन-सी प्रणाली का प्रयोग किया जाना चाहिये ? विवेचन कीजिये।

२. आर्थिक नियमो को निकालने का रीतियाँ बताइये। क्या ये एक दूसरे की सहायक होती है ?

३ पूर्ण रूप से समझाइये कि अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिये निगमन एवं आगमन रीतियाँ दोनो क्यो और कैसे आवश्यक होती हैं ?

४. आर्थिक खोज के लिये प्रायः उपयोग में आने वाली प्रणालियो की संक्षेप मे चर्चा कीजिये।

[**सहायक संकेत** —उपर्युक्त सभी प्रश्नो के उत्तर मे सर्वप्रथम निगमन एव आगमन प्रणालियो के अर्थ को बताइये और इनके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिये। तत्पश्चात् इनके मतभेद को दस-पन्द्रह लाइनो मे दीजिये और अन्त मे निष्कर्ष के रूप मे बताइये कि दोनो प्रणालियाँ परस्पर पूरक हैं, प्रतिस्पर्धी नही।]

५

अणु एवं वृहत् अर्थशास्त्र

(Micro and Macro Economics)

प्रारम्भिक—अणु एवं वृहत् दृष्टिकोण

अर्थशास्त्र में हम दो प्रकार की आर्थिक घटनाओं का अध्ययन करते है—प्रथमतः वे किसी व्यक्ति विशेष या व्यवसाय विशेष से सम्बन्धित होती हैं, और, द्वितीय वे जो समस्त अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति की मांग, एक व्यक्ति की आय, एक फर्म का उत्पादन ये सभी प्रथम वर्ग की घटनाओं में सम्मिलित है। इसके विपरीत, कुल आय, कुल उत्पादन, कुल रोजगार आदि दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। किसी आर्थिक घटना (जैसे आय) का अध्ययन जब एक विशेष व्यक्ति, फर्म या उद्योग की दृष्टि से किया जाता है, तो इसे अणु दृष्टिकोण (Micro-approach) और जब सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की दृष्टि से किया जाता है, तो वृहत् दृष्टिकोण (Macro-approach) कहेंगे। आर्थिक घटनाओं के अध्ययन की इन पद्धतियों के अनुसार ही अर्थशास्त्र को भी दो भागों मे बाँटा जाने लगा है : (अ) अणु, सूक्ष्म, व्यष्टि या व्यक्तिक अर्थशास्त्र और (ब) वृहत्, व्यापक समिष्ट या सामूहिक अर्थशास्त्र।

अणु, सूक्ष्म, व्यष्टि या व्यक्तिक अर्थशास्त्र
(Micro Economics)

परिभाषा—किसी देश की आर्थिक प्रणाली का अध्ययन करते समय हमे विभिन्न प्रकार की इकाइयों का अध्ययन करना पड़ता है। देश मे व्यक्तिगत उपभोक्ता, व्यक्तिगत उद्योग, व्यक्तिगत फर्म तथा व्यक्तिगत वस्तुयें होती हैं। इन व्यक्तिगत इकाइयों से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन व्यक्तिक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत होता है। इस प्रकार के अध्ययन मे उन सभी कारणों, घटनाओं तथा तथ्यों का विवेचन सम्मिलित होता है जिन पर किसी विशेष फर्म अथवा उद्योग का उत्पादन व्यय, उत्पादन क्षमता, सन्तुलन आदि निर्भर होते है। इसी प्रकार, किसी वस्तु विशेष की कीमत का निर्धारण तथा किसी विशेष श्रमिक वर्ग की मजदूरी का अध्ययन भी व्यक्तिक अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री है। बोल्डिग (Boulding) के शब्दों मे, "व्यक्तिक अर्थशास्त्र विशिष्ट आर्थिक संघटनाओं तथा उनकी पारस्परिक प्रतिक्रिया का अध्ययन है और इसमे विशिष्ट आर्थिक मात्रायें तथा उनका निर्धारण भी सम्मिलित है।"[1]

इतिहास—व्यक्तिक अर्थशास्त्र का आरम्भ एडम स्मिथ से होता है, यद्यपि वे पूर्णतया इसी दृष्टिकोण पर निर्भर नहीं थे। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की आगे की पीढ़ियों ने, मुख्यतया मार्शल तथा उनके समर्थकों ने इस दृष्टिकोण को अधिक स्पष्ट रूप मे ग्रहण किया था। इस

---

[1] "Micro economics is the study of particular economic organisms and their interaction, and of particular economic quantities and their determination."—K. E Boulding : *A Reconstruction of Economics*, p. 3.

समय एक बार फिर इस प्रकार के अध्ययन को कम महत्त्व दिया जा रहा है, यद्यपि उपयोग इसका भी अवश्य होता है।

वृहत्, व्यापक, समिष्ट या सामूहिक अर्थशास्त्र
(Macro Economics)

परिभाषा—व्यक्तिक अर्थशास्त्र मे हमारा अध्ययन व्यक्तिगत समस्याओ के अध्ययन से सम्बन्धित होता है। परन्तु जब हम सामूहिक अर्थशास्त्र का अध्ययन करते हैं, तो इसमे देश से सम्बन्धित सामूहिक समस्याओ का अवलोकन किया जाता है। यहाँ पर हम सामान्य कीमत-स्तर सामूहिक माँग, कुल वस्तुओ का सामूहिक उत्पादन, कुल आय, कुल बचत, कुल रोजगार आदि समस्याओ का अध्ययन करते हैं, अर्थात्, हम समूहो का स्पष्टीकरण करते हैं, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को समझने की चेष्टा करते हैं और उनके एक दूसरे पर पड़ने वाले प्रभाव को जानने का प्रयत्न करते है। जैसा कि बोल्डिंग ने कहा है, "सामूहिक अर्थशास्त्र मे व्यक्तिगत मात्राओं का अध्ययन नही किया जाता, वरन् इन मात्राओ के समूहो का अध्ययन होता है, इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत आय से नही होता बल्कि राष्ट्रीय आय से होता है, व्यक्तिगत कीमतो से नही होता बल्कि कीमत-स्तर से होता है, और व्यक्तिगत उत्पादन से नही होता बल्कि राष्ट्रीय उत्पादन से होता है।"[1]

इतिहास—इस प्रकार के अध्ययन के आरम्भ का श्रेय माल्थस (Malthus) को दिया जा सकता है, परन्तु वह सन् १९२९ के महान अवसाद (Great Depression) के पश्चात् अधिक लोकप्रिय हुआ है। इसके वर्तमान महत्त्व का प्रमुख श्रेय केन्ज (Keynes) को है। वालरस, विक्सैल, फिशर आदि अर्थशास्त्रियो ने भी वृहत् अर्थशास्त्र के विकास मे बहुत योग दिया है।

व्यक्तिक तथा सामूहिक अर्थशास्त्र का अन्तर

यदि हम व्यक्तिक तथा सामूहिक अर्थशास्त्र सम्बन्धित सन्तुलन-यन्त्र (Equilibrium Mechanism) का अध्ययन करें, तो व्यक्तिक और सामूहिक अर्थशास्त्र मे निम्न अन्तर मिलेंगे:—
(१) जबकि व्यक्तिक अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि वस्तुओ और सेवाओं की कीमते किस प्रकार निश्चित होती है, सामूहिक अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि रोजगार, कुल उत्पादन तथा उत्पत्ति के साधनो के हिस्से कैसे निश्चित होते हैं। (२) जबकि व्यक्तिक अर्थशास्त्र यह बताता है कि किसी एक वस्तु की कीमत, उसके उत्पादन तथा उपयोग मे किस प्रकार परिवर्तन होते है, सामूहिक अर्थशास्त्र यह बताता है कि रोजगार, कुल उत्पादन तथा विभिन्न वर्गों के उत्पादको की आय मे किस प्रकार परिवर्तन होते हैं। (३) जबकि व्यक्तिक अर्थशास्त्र व्यक्तिगत उद्योगो के उतार-चढाव को दर्शाता है, सामूहिक अर्थशास्त्र कुल अर्थ-व्यवस्था के उतार-चढाव को।

अणु अर्थशास्त्र तथा वृहत् अर्थशास्त्र मे भेद करते हुए **बोल्डिंग** ने लिखा है :—
'अणु अर्थशास्त्र विशेष फर्मों, विशेष परिवारो, व्यक्तिगत कीमतो, मजदूरियो, आय, व्यक्तिगत उद्योगों और व्यक्तिगत वस्तुओ का अध्ययन है। विषय के इस भाग मे माँग और पूर्ति विश्लेषण, सीमान्त विवेचन और व्यक्तिगत फर्म और उद्योग के नियम विशेषतया लाभदायक होते हैं। किन्तु अनेक आर्थिक समस्याएं और नीतियाँ व्यक्तिगत कीमतो, वस्तुओं और फर्मों के स्थान पर समूहो (Aggregates) से सम्बन्धित होती हैं।.......................इस प्रकार वृहत् अर्थशास्त्र विषय का

---

1 "Macro economics deals not with individual quantities as such but with aggregates of these qnantities—not with individual incomes but with national income, not with individual prices but with price-level, not with individual out put but with national output,"—*Ibid*, p 3.

वह भाग है जिसमें किसी प्रणाली के महान् समूहों और औसतों का अध्ययन होता है व्यक्तिगत मदों का नहीं। यह अर्थशास्त्र इन समूहों की इस प्रकार से व्याख्या करता है कि यह पता लग जाय कि वे एक दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित और निर्धारित होते हैं।"

व्यक्तिक एवं सामूहिक अर्थशास्त्र के क्रमिक उपयोगिता-क्षेत्र

व्यक्तिगत अर्थशास्त्र मुख्यतः उपभोग पर विस्तृत है। सीमान्त विश्लेषण (Marginal Analysis) *इसका एक विशेष उपकरण है। उपभोग के विभिन्न नियम इसी पर आधारित हैं।* उत्पादन के क्षेत्र में व्यक्तिक फर्म, व्यक्तिक उद्योग आदि और वितरण के क्षेत्र में राष्ट्रीय आय का व्यक्तिक वितरण भी व्यक्तिक या अणु अर्थशास्त्र के अधीन है। किन्तु राजस्व, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी विनिमय, बैंकिंग इत्यादि इसके क्षेत्र से बाहर हैं।

इसके विपरीत, सामूहिक या वृहत् अर्थशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राजस्व, विदेशी विनिमय, बैंकिंग, व्यापार चक्र, राष्ट्रीय आय और रोजगार विषयक सिद्धान्त, आर्थिक विकास के सिद्धान्त इत्यादि पर विस्तृत है।

अणु अर्थशास्त्र का महत्त्व

प्रयोग या लाभ—अणु अर्थशास्त्र के लाभ मुख्यतः इस तथ्य से उदय होते हैं कि वृहत् अर्थ-शास्त्र की कुछ ऐसी कठिनाइयाँ और कमियाँ है, जिनसे बचना अच्छा होगा। विभिन्न लाभ इस प्रकार हैं :—(१) वैयक्तिक इकाइयों का अध्ययन करने **सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था को समझना सुगम हो** जाता है क्योंकि व्यक्तिक इकाइयाँ मिलकर सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करती हैं। (२) अणु अर्थशास्त्र व्यक्तियों, परिवारों, फर्मों इत्यादि को अपने-अपने आर्थिक व्यवहार के सम्बन्ध में उचित निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करता है। (३) वह व्यक्तिक व्ययों, उपभोग, विनियोग, बचत, एवं आय के स्रोतों और इनके स्वभावों पर विश्लेषणात्मक प्रकाश डालता है। (४) *वह इस बात को भी समझता है कि एक वस्तु विशेष का मूल्य कैसे निर्धारित होता है* तथा एक साधन विशेष का पारितोषण कैसे नियत किया जाता है ? (५) वह व्यक्तिक इकाइयों की **कार्य क्षमता और अन्य समस्याओं का अध्ययन** करता है तथा इनका समाधान प्रस्तुत करता है।

उपर्युक्त लाभों को दृष्टि में रखते हुए केन्ज ने लिखा है कि "यह (अणु अर्थशास्त्र) मनुष्यों के वैचारिक यन्त्र का एक मुख्य अङ्ग है।"

सीमायें—अपने सीमित क्षेत्र में अणु विवेचन लाभदायक है, किन्तु इसकी कुछ गम्भीर परिसीमाएँ (Limitations) भी हैं निम्नाङ्कित सीमायें मुख्यतया उल्लेखनीय हैं :—(१) अणु अर्थ शास्त्र **समस्त अर्थ व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करने में असमर्थ रहता है।** यह विवेचन **अर्थ-व्यवस्था** के पृथक पृथक भागों के विवेचन में इतना व्यस्त रहता है कि वह समस्त चित्र पर दृष्टिकोण नहीं कर पाता। इसमें विशिष्ट भाग के अध्ययन के लिए कुल का अध्ययन छोड़ दिया जाता है। (२) व्यक्तिक विश्लेषण के **निष्कर्ष सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था** के लिए भी ठीक होना जरूरी नहीं है। वैसे-तो भागों का अध्ययन स्वयं अपने में लाभदायक हो सकता है, परन्तु विशिष्ट भागों में जो प्रवृत्ति पाई जाती है उसका समस्त अर्थ व्यवस्था में मिलना आवश्यक नहीं है। नीति निर्माण के सम्बन्ध में तो यह कठिनाई बड़ी अड़चन उत्पन्न कर देती है, क्योंकि एक भाग से सम्बन्धित नीति को कुल अर्थ व्यवस्था पर लागू नहीं किया जा सकता है। (३) अणु **अर्थशास्त्रीय विवेचन पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है।** अनुभव से पता चला है कि पूर्ण रोजगार एक अपवाद है, *अर्थ-व्यवस्था का एक सामान्य दशा नहीं। केन्ज ने ठीक ही कहा है कि अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार मानकर हम अपनी कठिनाइयों से मुँह मोड़ लेते हैं।* लाभदायक फल प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र में से वे सभी मान्यताएँ निकाल दी जाएँ जो अवास्तविक

हैं। (४) कुछ आर्थिक समस्याओं का अध्ययन सम्भव नहीं है, जैसे—राजस्व, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी विनिमय आदि की समस्याएँ।

वृहत् या सामूहिक अर्थशास्त्र का महत्व

प्रयोग या लाभ—वृहत् दृष्टिकोण इसलिए आवश्यक हो गया है कि अणु दृष्टिकोण की कुछ गम्भीर सीमायें हैं। साथ ही इसके अपने विशेष लाभ भी हैं। वृहत् अर्थशास्त्र के प्रमुख लाभ या प्रयोग निम्न प्रकार हैं —(१) **अर्थ-व्यवस्था के जटिल सामूहिक संचालन को समझने में सहायक**—वर्तमान अर्थ-व्यवस्था बड़ी जटिल है। इसमें आर्थिक तत्त्व एक दूसरे पर घनिष्ठता से निर्भर करते हैं, जिस कारण इनका एक साथ अध्ययन करने से ही सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के संगठन और संचालन की सही जानकारी मिल सकती है। (२) **नीति के निर्माण में सहायक**—आर्थिक नीति की दृष्टि से वृहत् अर्थ-शास्त्र का महान् महत्व है। कारण, किसी भी सरकार के आर्थिक नीति सम्बन्धी निर्णय विशेष व्यक्तियों को देखकर नहीं वरन् व्यक्तियों के समूह को दृष्टिगत रखकर किये जाते हैं। (३) **महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता**—सामूहिक या वृहत् अर्थशास्त्र अर्थशास्त्रियों को राष्ट्रीय आय, रोजगार, उत्पादन इत्यादि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता देता है। (४) **अणु अर्थशास्त्र के विकास में सहायक**—अणु सूक्ष्म या व्यक्तिक अर्थशास्त्र विभिन्न नियमों और सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने में व्यापक, वृहत् या सामूहिक अर्थशास्त्र की सहायता लेता है, जैसे—एक फर्म का सिद्धान्त अनेक फर्मों के व्यवहार का सामूहिक रूप में अध्ययन करने के बाद ही बन सकता है। (५) **विरोधाभासों की उपस्थिति**—कुछ धारणायें एक व्यक्ति के लिए तो सही हैं किन्तु जब इनका प्रयोग सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था हेतु किया जाता है, तो वे गलत बैठती हैं। उदाहरणार्थ, बचत एक व्यक्ति की दृष्टि से लाभदायक है किन्तु समाज की दृष्टि से नहीं। जैसा कि बोल्डिंग ने बताया है, इन विरोधाभासों के कारण ही सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के पृथक अध्ययन की आवश्यकता है।

वृहत् अर्थशास्त्र की सीमायें या खतरे—

किन्तु वृहत् अर्थशास्त्र की कुछ कठिनाइयाँ या सीमायें भी हैं। जोकि इस प्रकार हैं :—

(१) **अनेक बातें व्यक्तियों और छोटे समूहों के सम्बन्ध में तो सही हैं, परन्तु सारी अर्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में गलत होती हैं। बोल्डिंग के अनुसार,** "अपने स्वयं के अनुभव के आधार पर सामान्य निष्कर्ष बना लेना एक ऐसी आदत है जिससे छुटकारा कठिन है। परन्तु यही आदत सामाजिक विचार की दृष्टि से गलती का सबसे बड़ा स्रोत होती है।"[1]

(२) जैसा कि बोल्डिंग ने कहा है, गलती यह भी होती है कि **समूहों के सम्बन्ध में विचार करते समय हम यह भूल जाते हैं कि वे सदा अनुरूप (Homogeneous) नहीं होते हैं और उनकी आन्तरिक बनावट में महत्त्वपूर्ण अन्तर हुआ करते हैं।** समूह अनेक मदों से मिलकर बनते हैं और इन मदों में भी बनावट और कलेवर की दृष्टि से विशाल अन्तर हो सकते हैं।

(३) समूह विवेचन में यह दोष रहता है कि **समूह की सभी मदें महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।** एक समूह में बहुत-सी ऐसी भी मदें हो सकती हैं जिनका कोई विशेष महत्त्व न हो। ऐसी दशा में हमारे सम्मुख यह कठिन समस्या उठ जाती है कि कौन-कौन-सी मदों को चुना जाय और किस आधार पर। जिसे एक मात्र कसौटी के चुनाव के लिए हम प्रयोग कर सकते हैं वह फलनात्मक (Functionally) होती है, क्योंकि अनेक दशाओं में समूह की रचना स्वयं समूह की अपेक्षा

---

[1] "Generalisation from our own experience is such a common habit that we constantly fall into it; it is, however, one of the greatest sources of error in social thinking."—*Ibid*

अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः ऐसी दशाओं में, 'कुल' को इसके 'भागों' में विभाजित करना चाहिए, जो एक कठिन कार्य है। समूह के आधार पर जब कभी भी भविष्यवाणी की जाती है तो यह आवश्यक हो जाता है कि उन मदों को ध्यान में रखें जिनसे वह समूह बना।

(४) सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि बहुत बार किसी भी समूह की परिमाणवाचक माप कठिन होती है। एक समूह में अलग-अलग प्रकार की अनेक मदें होती हैं और उन सबको परिमाणवाचक माप को किसी एक सामूहिक आधार पर लाना कठिन होता है। उदाहरणार्थ राष्ट्रीय आयात तथा शोधनशेष के मूल्यों की माप में यह कठिनाई साफ-साफ दिखाई पड़ती है। कुछ अंश तक यह कठिनाई मुद्रा को माप का पैमाना बनाकर दूर की जा सकती है, परन्तु मुद्रा सभी वस्तुओं का शुद्ध और सही माप नहीं दे पाती है।

अरणु एवं वृहत् अर्थशास्त्र की पारस्परिक निर्भरता

यह सोचना गलत होगा कि आर्थिक विवेचन की उपर्युक्त रीतियाँ एक दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। थोड़ा-सा ही ध्यान देने से पता चल जायेगा कि दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। आर्थिक समस्याओं के पूर्ण विश्लेषण के लिए आर्थिक जीवन के प्रति अरणु एवं वृहत् दोनों ही प्रकार के दृष्टिकोणों का उपयोग आवश्यक है। यदि आप एक को समझते हैं दूसरे को नहीं, तो आप केवल अर्द्ध-शिक्षित हैं।[1] दोनों रीतियों की परस्पर-निर्भरता निम्नांकित विवरण से स्पष्ट हो जायेगी :—

वृहत् विश्लेषण में अरणु विश्लेषण की सहायता—

निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अरणुशास्त्रीय अध्ययन वृहत् अर्थशास्त्रीय अध्ययन में बड़ी सहायता देता है :— (१) यदि कुल माँग में वृद्धि हुई है, तो यह सम्भव है कि कुछ वस्तुओं के लिए माँग स्थिर रहे या कम हो जाय। अतः कुल माँग में वृद्धि होने का आशय यह नहीं है कि सभी उद्योगों का विस्तार हो रहा है। (२) यदि कुल माँग में वृद्धि हो जाय, तो यह आवश्यक नहीं है कि बढ़ी हुई माँग से सम्बन्धित उद्योग की सभी फर्में अपना उत्पादन बढ़ायें, क्योंकि जो फर्में उत्पादन ह्रास नियम के अन्तर्गत क्रियाशील हैं वे उत्पादन को बढ़ाने में कठिनाई अनुभव करेंगी। (३) यदि हम यह जानना चाहते हैं कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था कैसे कार्य कर रही है, तो इसकी संघटक इकाइयों (व्यक्तियों, परिवारों, फर्मों और उद्योगों) पर पृथक-पृथक ध्यान देना होगा। (४) यदि लोगों की आय बढ़ जाये, तो इसके प्रभावों को समझने हेतु यह देखना होगा कि लोग इसका कौन-सा भाग किस वस्तु पर व्यय करते हैं। यदि लोग साइकिलों की अपेक्षा स्कूटरों पर अधिक व्यय करने लगें, तो स्कूटर बनाने वाले उद्योग का अपेक्षाकृत अधिक विकास होगा।

अरणु विश्लेषण में वृहत् विश्लेषण की सहायता—

अरणु अर्थशास्त्रीय समस्याओं को समझने के लिए वृहत् अर्थशास्त्र का भी अध्ययन लाभदायक है। पूरे समूह के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किये बिना उस समूह के किसी एक सदस्य के व्यवहार के कारणों एवं प्रभावों को समझना कठिन होता है, क्योंकि व्यक्तिक निर्णय एकान्त में नहीं किये जाते हैं। यह बात निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगी :— (१) एक व्यक्तिगत दूकानदार अपने स्टॉक में उसी समय वृद्धि करता है जब वह सामूहिक रोजगार, माँग और कीमतों को बढ़ते हुए देखता है। (२) एक फर्म या उद्योग उत्पत्ति-साधनों के लिए क्या कीमत देगा यह केवल उस फर्म या उद्योग की स्वयं की माँग पर निर्भर नहीं है बल्कि साधनों के लिए सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की माँग पर भी निर्भर है। (३) कोई फर्म कितना माल बेच सकती है यह केवल उस फर्म के द्वारा उत्पादित्त वस्तुओं की कीमतों पर ही नहीं वरन् समाज में कुल क्रय शक्ति

---

[1] Samuelson : *Economics, An Introductory Analysis*, p. 412.

कितनी है इस पर भी निर्भर है। (४) एक वस्तु विशेष का मूल्य केवल उसकी निजी माँग पूर्ति सम्बन्धी दशाओं पर ही निर्भर नहीं है वरन् अन्य वस्तुओं की कीमतों पर भी निर्भर होता है।

उपसंहार—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अणु एवं वृहत् दोनों विश्लेषण रीतियाँ एक दूसरे पर निर्भर हैं किन्तु परस्पर-निर्भरता के बावजूद दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। जैसा कि हमने पहले भी बताया है, अणु अर्थशास्त्र व्यक्तियों का अध्ययन करता है, परन्तु वृहत् अर्थशास्त्र समुदाय अथवा समाज का अध्ययन करता है। प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि एक व्यक्ति तो मरणशील है परन्तु समाज अविनाशी और अमर। यद्यपि यह कहना तो गलत है कि समाज अमर है (क्योंकि इतिहास साक्षी है कि कितने ही पुराने समाज पूर्णतया लुप्त हो गये हैं) तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि एक व्यक्ति की तुलना में समाज की जीवन-अवधि बहुत लम्बी होती है, अत. एक ही विश्लेषण व्यक्ति और समाज दोनों पर लागू नहीं हो सकता। यह इसलिए और भी है कि व्यक्ति की तुलना में समाज का विकास और उसका ह्रास बहुत धीमी गति से होता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. व्यक्तिक अर्थशास्त्र और सामूहिक अर्थशास्त्र में अन्तर स्पष्ट कीजिए। आर्थिक विश्लेषण में वृहत् या सामूहिक दृष्टिकोण की आवश्यकता बताइये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम दोनों प्रकार के अर्थशास्त्र के आशयों को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए, दोनों के अन्तर को समझाते हुए वृहत् आर्थिक विश्लेषण के लाभ दीजिए और अन्त में इसकी सीमायें इङ्गित कीजिए।]

२. "अर्थशास्त्री को आर्थिक व्यक्तिक भाव (Micro-economic) और आर्थिक समिष्ट भाव (Marco-economic) दोनों प्रकार की समस्याओं का अध्ययन करना पड़ता है। ये दोनों अध्ययन एक दूसरे के विकल्प नहीं हैं वरन् पूरक है।" विवेचन कीजिए।

अथवा

"यथार्थ में अणु एव वृहत् अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं है। दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि आप एक को जानते हो दूसरे को नहीं, तो आप केवल अर्द्ध-शिक्षित हैं।" विवेचन करिये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम अणु एव वृहत् अर्थशास्त्र की परिभाषायें उदाहरण सहित दीजिए। तत्पश्चात् दोनों के महत्त्व को बताइये और अन्त में यह दिखाइये कि दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं।]

स्थैतिक और प्रावैगिक अर्थशास्त्र
(Static and Dynamic Economics)

प्रारम्भिक—

प्रत्येक विज्ञान भविष्य का अनुमान लगाना चाहता है। किन्तु सही भविष्यवाणी करने के लिए न केवल वर्तमान स्थिति का बल्कि इस बात का भी पूरा ज्ञान होना आवश्यक है कि वर्तमान का भूतकाल में से किस प्रकार विकास हुआ है। चूँकि प्रकृति में अनुरूपता है और घटनाओं के बीच के सम्बन्ध को कारण-परिणाम सिद्धान्त (Principle of Causation) लागू होता है, इसलिए यह मानकर चलना बहुत गलत न होगा कि भविष्य में एक आर्थिक घटना में इसी प्रकार के परिवर्तन की प्रवृत्ति होगी जो कि भूतकाल में होता रहा है। वर्तमान स्थिति के विकास का इतिहास भावी विकास की प्रवृत्ति का एक अच्छा सूचक हो सकता है। इस कारण यह आवश्यक हो जाता है कि आर्थिक अध्ययन प्रावैगिक दृष्टि से किया जाय। आधुनिक अर्थशास्त्री अपना ध्यान किन्हीं कल्पित मान्यताओं अथवा तथ्यों पर आधारित नहीं कर सकते। उन्हें चाहिए कि वे आर्थिक शक्तियों के संचालन का वास्तविक जीवन के सन्दर्भ में अध्ययन करें। आजकल आर्थिक समस्याओं का अध्ययन स्थैतिक या प्रावैगिक दशाओं के अधीन किया जाने लगा है, अतः स्थैतिक और प्रावैगिक दोनों ही विचार आर्थिक विश्लेषण में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन दोनों में अन्तर विश्लेषण के तरीके का है। बहुधा अर्थशास्त्र को दो भागों में बाँटा जाने लगा है—स्थैतिक एवं प्रावैगिक।

स्थैतिक अर्थशास्त्र
(Static Economics)

'स्थैतिक दशा' से आशय—

अर्थशास्त्र में स्थैतिक और प्रावैगिक शब्द भौतिक शास्त्र से लिये गये हैं, किन्तु यहाँ पर इनके अर्थ दूसरे ही हैं। भौतिक शास्त्र में स्थैतिक दशा वह होती है, जिसमें कोई गति (Movement) न हो। इनके विपरीत, अर्थशास्त्र में स्थैतिक दशा वह है जिसमें गति तो हो परन्तु गति की दर में कोई परिवर्तन न हो। यह गति निश्चित एवं नियमित रूप से होती है। इसमें अनिश्चितता और झटके नहीं होते। प्रो० हैरोड (Harrod) के अनुसार, "इस प्रकार, स्थैतिक साम्य का अर्थ विश्राम की अवस्था कदापि नहीं है। वह तो ऐसी अवस्था को सूचित करता है, जिसमें दिन प्रतिदिन और वर्ष प्रतिवर्ष कार्य, बिना घटे-बढ़े, निरन्तर हो रहा है·······अर्थात् इसी सक्रिय किन्तु अपरिवर्तनशील प्रक्रिया को स्थैतिक अर्थशास्त्र का नाम देना चाहिए।"[1]

---

[1] "Thus a static equilibrium by no means implies a state of idleness, but one in which work is steadily going forward day by day and year by year, but without increase or dimination....that it is to this active but unchanging process that the expression Static Economics should be applied."

—Harrod : *Towards a Dynamic Economics*, p. 3-4

'स्थैतिक' शब्द के अर्थ के बारे मे अर्थशास्त्रियों मे मतभेद है, जिसे निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है .—

(१) प्रो० हिक्स (Hicks) ने स्थैतिक और प्रावैगिक का सम्बन्ध तिथिकरण (dating) से जोड़ा है और आर्थिक सिद्धान्तो के उन भागो को स्थैतिक अर्थशास्त्र कहा है जिनमें तिथिकरण की आवश्यकता नही पड़ती है।[1] किन्तु हैरोड उनके इस विचार को ठीक नही समझते। वे कहते हैं कि स्थैतिक और प्रावैगिक को तिथिकरण से सम्बन्धित करना गलत है।

(२) कुछ लेखको ने (जैसे टिनबर्जन, मेकफी, स्टिगलर) स्थिर (Stationary) और स्थैतिक (Static) दोनो का एक ही अर्थ मे प्रयोग किया है। टिनबर्जन का विचार है कि स्थिर अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ मे बनाया हुआ आर्थिक सिद्धान्त 'आर्थिक स्थैतिक' होता है। स्टिगलर ने उस अर्थव्यवस्था को 'स्थिर' माना है जिसमे रुचि, साधनो और टेक्नॉलॉजी मे कोई परिवर्तन न हो। प्रो० क्लार्क ने स्थिर अर्थ व्यवस्था के लिए जनसख्या, पूँजी, उत्पादन की रीतियो, वैयक्तिक सस्थाओ के सगठन के रूप और मानवीय आवश्यकताओ को स्थिर अथवा समान माना है। किन्तु हैरोड का कहना है कि स्थैतिक अर्थशास्त्र को एक ऐसी स्थिर अर्थव्यवस्था का, जिसमे कि परिवर्तनो की पूर्ण अनुपस्थिति मानी जाती है, अध्ययन समझना ठीक नही है, क्योकि कुछ प्रकार के परिवर्तन (जैसे—एक बारगी परिवर्तन, मौसमो और फसलों के परिवर्तन) स्थैतिक अर्थशास्त्र में सम्मिलित होते हैं बशर्ते कि वे सन्तुलन के स्थापित होने की प्रवृत्ति को नष्ट न करें।

स्थैतिक अर्थशास्त्र का क्षेत्र—

निश्चितता और ज्ञान की पूर्णता ये दोनो एक स्थिर दशा के स्वाभाविक लक्षण होते हैं। निश्चितता के कारण लाभो का प्रश्न ही नही उठता। ऐसी दशा मे कीमत सीमान्त लागत और औसत सीमान्त लागत के बराबर होती है। उपर्युक्त घटको की स्थिरता का यह भी अर्थ होगा कि कुल उत्पादन की एक ऐसी मात्रा और किस्म होगी जिस पर साम्य स्थापित हो जायगा। ऐसे साम्य का स्थान वह होगा जहाँ, दिये हुए ज्ञान के आधार पर, दिये हुए (Given) साधनो का लोगो की मॉग से समायोजन हो जाये। असाम्य की दशा मे, जो कि इस कारण उत्पन्न हो कि साधनो के वितरण का लोगों की आवश्यकताओ से समायोजन नही हुआ है, समायोजन की दिशा मे कोई प्रवृत्ति नही होगी। पर समायोजन के एक बिन्दु पर साधनो का जो वितरण प्राप्त होता है उसी का बार बार पुनावर्तन होना रहेगा। कभी-कभी प्राकृतिक साधनो से (जैसे—अधिक वर्षा, प्राकृतिक विपत्तियाँ आदि) विघ्न उत्पन्न होगे, परन्तु विघ्न की प्रत्येक दशा मे समायोजन की दशा मे कार्य आरम्भ हो जायेगा। इस प्रकार, स्थैतिक विवेचन साम्य और इसके आस-पास की गतिविधियाँ दोनो पर समान रूप से लागू होता है।

तुलनात्मक स्थैतिक (Comparative Statics)—

स्थैतिक दशा की मान्यता यह थी कि आधारभूत दशाओ मे परिवर्तन नही होगा। परन्तु, यदि उत्पत्ति-साधनों का उत्पादन सम्बन्धी आवश्यकताओ के साथ समायोजन नहीं हुआ है, तो साधनो की गति समायोजन की दिशा मे होगी। इस प्रकार की गति का अध्ययन तो स्थैतिक अर्थशास्त्र मे ही हो जायगा। परन्तु गतिपरिवर्तन एक अन्य प्रकार का भी हो सकता है, जो यह कि आधारभूत दशायें ही बदल जायें। ऐसी दशा मे सभी सूचनायें ही बदल जायेगी। अब साम्य की एक अलग ही स्थिति होगी और उत्पादन की मात्रा तथा कीमत-स्तर भी पहले से पृथक् होंगे। इस प्रकार हमारे सम्मुख साम्य की दो दशायें होगी—एक, जो पहली दशा पर आधारित थी और दूसरी, वह जो आधारभूत दशाओं के परिवर्तन के पश्चात् उत्पन्न हुई है। इन

[1] Hicks : *Value and Capital*, p. 115.

दोनों दशाओं की तुलना करना बहुत लाभदायक हो सकता है। इन दो परिस्थितियों की तुलना के लिए भी हम स्थैतिक अध्ययन प्रणाली का उपयोग कर सकते हैं। परन्तु इस प्रकार का अध्ययन "तुलनात्मक स्थैतिक अर्थशास्त्र" कहलायेगा।

स्थैतिक अर्थशास्त्र की सीमायें—

स्थैतिक अर्थशास्त्र कुछ घटकों की अपरिवर्तनशीलता के सन्दर्भ में आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करता है, जबकि वास्तविक जगत परिवर्तनशील है। अतः स्थैतिक रीति के प्रयोग की कुछ सीमायें होना स्वाभाविक है जोकि, इस प्रकार हैं :—(१) यह कुछ **अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है,** जैसे—पूर्ण गतिशीलता, पूर्ण प्रतियोगिता, पूर्ण ज्ञान। किन्तु व्यावहारिक जीवन में गतिशीलता, प्रतियोगिता एवं ज्ञान तीनों ही अपूर्ण पाये जाते हैं। (२) **यह आर्थिक व्यवहार के निर्धारक घटकों (रुचि, साधनों, टेक्नोलॉजी) को अपरिवर्तन मान लेती है,** किन्तु व्यावहारिक जीवन में इनमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं।

उपर्युक्त दुर्बलताओं के सन्दर्भ में ही हिक्स ने कहा है कि स्थिर अवस्था अन्त में केवल कुछ नहीं, केवल वास्तविकता से दूर भागना है।

स्थैतिक विवेचन की उपयोगिता

जैसा कि हैरोड ने कहा है, कुछ लोगों में प्राचीन अर्थशास्त्रियों के कार्य को 'नीचा' दिखाने की प्रवृत्ति है, जिसके वशीभूत होकर वे स्थैतिक क्षेत्र को भी आवश्यकता से अधिक सीमित दिखाने की चेष्टा करते हैं। किन्तु इस प्रवृत्ति के होने हुए भी स्थैतिक कुल अर्थशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण भाग रहेगा। स्थैतिक विवेचन की उपयोगिता निम्नांकित विवरण से स्पष्ट है :—

(१) वास्तविक अर्थव्यवस्था का कार्यचालन बहुत उलझा हुआ है, क्योंकि उसके विभिन्न तत्त्वों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। **अतः परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था का अध्ययन करना कठिन होता है, जिस कारण हमें स्थैतिक रीति का प्रयोग करना पड़ता है।** इसके अनुसार, प्रावैगिक अवस्थाओं को छोटी-छोटी स्थैतिक अवस्थाओं में तोड़ दिया जाता है ताकि अध्ययन में सुविधा हो जाय। इस दृष्टि से हम स्थैतिक को प्रावैगिक की ही एक दशा मान सकते हैं। प्रो० मेहता के शब्दों में, "प्रावैगिक अर्थशास्त्र को स्थैतिक अर्थशास्त्र पर एक लगातार टीका (Running Commentary) समझना चाहिये। अतः स्थैतिक अर्थशास्त्र के नियम प्रावैगिक में भी लागू होंगे।"[1]

(२) जिस प्रकार एक उड़ते हुए वायुयान के कार्य-चालन को ठीक-ठीक समझने हेतु उसकी मशीनों आदि का स्थिर अवस्था में अध्ययन किया जाता है उसी प्रकार **अर्थव्यवस्था के कार्यकरण को वैज्ञानिक ढंग से समझने के लिए स्थैतिक की सहायता** आवश्यकता होती है।

(३) कुछ विषयों (जैसे—स्वतन्त्र व्यापार, मूल्य-निर्धारण, उत्पत्ति साधनों के पारितोषण का निर्धारण, विदेशी व्यापार का सिद्धान्त इत्यादि) का अध्ययन स्थैतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में है। व्यापार चक्र के सिद्धान्त को स्थैतिक और प्रावैगिक की मध्य-सीमा पर स्थित बताया जाता है। केन्ज का सिद्धान्त भी मुख्यतः स्थैतिक है। इसी प्रकार, रोबिन्स की परिभाषा का कुछ सम्बन्ध प्रावैगिक से है किन्तु इसकी परिभाषा का केन्द्रीय भाग स्थैतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत ही आता है।

प्रावैगिक अर्थशास्त्र
(Dynamic Economics)

प्रावैगिक अर्थशास्त्र की परिभाषा—

प्रावैगिक अर्थशास्त्र निरन्तर परिवर्तनों, इन परिवर्तनों को प्रभावित करने वाले तत्त्वों

[1] Mehta : *Lectures on Modern Economic Theory*, p. 149.

या परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन करता है। आर्थिक प्रावैगिक रीति आर्थिक तत्त्वों को स्थिर नही मानती, जिस कारण यह वास्तविकता के अधिक निकट, किन्तु साथी ही साथ अधिक कठिन होती है। नीचे प्रावैगिक अर्थशास्त्र की कुछ परिभाषायें दी गई है :—

(१) स्टिगलर के अनुसार—"प्रावैगिक अर्थशास्त्र के एक ऐसे पथ का अध्ययन है, जिससे होकर आर्थिक मात्राओं का एक क्रम (अर्थात् कीमतें और मात्राएं), एक निश्चित स्थैतिक कलेवर के अन्तर्गत, साम्य की स्थिति प्राप्त करता है।"

(२) रैगनर फ्रिश (Ragner Frisch) के अनुसार—"कोई प्रणाली तब प्रावैगिक होगी जबकि एक समयावधि मे उसका व्यवहार उसे समीकरणो पर आधारित हो, जिनमे कि विभिन्न समय-बिन्दुओं पर परिवर्तनशीलताएं आवश्यक रूप मे सम्मिलित हो।"[1]

(३) प्रो० मेहता का विचार है कि—"अर्थ-व्यवस्था को उस दशा मे प्रावैगिक प्रणाली कहा जायगा जबकि उसकी विभिन्न परिवर्तनशीलताओं (Variables), जैसे—उत्पादन, माँग, कीमतो इत्यादि का किसी एक समय का मूल्य उनसे किसी अन्य समय के मूल्य पर निर्भर हो।"[2]

(४) हिक्स (Hicks) के अनुसार—"स्थैतिक अर्थशास्त्र आर्थिक सिद्धान्त का वह भाग है जिसका समय से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक नही होता। किन्तु प्रावैगिक अर्थशास्त्र वह भाग है, जिसकी प्रत्येक मात्रा को समय से सम्बन्धित करना आवश्यक है।

उपर्युक्त परिभाषाओं का सावधानी से मनन करने पर पता चलेगा कि इनमे कुछ भिन्नता है। हिक्स की परिभाषा प्रावैगिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर देती है। हैरोड ने निरन्तर परिवर्तनो (Continuous changes) पर बल दिया है, किन्तु रेगनर फ्रिस ने परिवर्तन की प्रक्रिया (Process of change) को महत्त्वपूर्ण बताया है।

स्थैतिक और प्रावैगिक दशाओं का अन्तर—

परिभाषाओं के आधार पर स्थैतिक और प्रावैगिक दशाओं का अन्तर निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

(१) स्थैतिक आर्थिक सिद्धान्त मुख्यतया विश्राम (Rest) की शक्तियों का अध्ययन करता है और प्रावैगिक आर्थिक सिद्धान्त विघ्न (Disturbance) अथवा परिवर्तन की शक्तियो का। इसका अर्थ यह नही है कि स्थैतिक अर्थशास्त्र मे किसी भी प्रकार के विघ्न अथवा परिवर्तन का अध्ययन नही किया जाता है। यदि विघ्न केवल "आकस्मिक" (Casual) या "अस्थाई" है, जिससे कि विघ्न के पश्चात् कुछ समय पीछे अर्थ-व्यवस्था अपना सन्तुलन फिर से प्राप्त कर लेती है, तो यह एक स्थैतिक अध्ययन की दशा होगी; किन्तु जब विघ्न "चिरस्थायी" हो, तो यह प्रावैगिक अध्ययन की दशा होगी।

(२) स्थैतिक, तुलनात्मक स्थैतिक (Comparative Statics) तथा प्रावैगिक दशाओं के बीच अधिक स्पष्ट भेद निम्न प्रकार किया जा सकता है —स्थैतिक दशा की एकमात्र विशेषता यह है कि जो भी परिवर्तन होता है उसकी दर यथास्थित रहती है। यदि अर्थ-

---

1 "A system is dynamical if its behaviour over time is determined by functional equations in which variables at different points of time are involved in an essential way."—**Ragner Frisch**

2 "......an economy can be said to be a dynamical system when the various variables in it, such as output, demand, price, etc. have values at any time dependent on their values at some other time."—**J. K. Mehta.**

व्यवस्था में कोई तुलनात्मक परिवर्तन होता है, तो तुलनात्मक स्थैतिक दशा होगी और यदि परिवर्तन चिरस्थायी अथवा निरन्तर है तो प्रावैगिक दशा।

(३) एक अन्य रीति से हम इस प्रकार कह सकते हैं कि स्थैतिक साम्य वह साम्य है जो एक निश्चित समय-अवधि (Period of time) के पश्चात् भी बना रहे, प्रावैगिक साम्य वह है जो केवल एक निश्चित समय-अवधि में ही बना रहता है परन्तु उस समय अवधि के बाहर बदल जाता है। इस प्रकार प्रावैगिक साम्य का सम्बन्ध केवल एक समय-बिन्दु (Point of time) से होता है।

स्थैतिक तथा प्रावैगिक विवेचन की प्रमुख विशेषतायें—

प्रो० क्लार्क (Clark) ने प्रावैगिक अर्थव्यवस्था के निम्न पाँच लक्षण बताये हैं :—(१) जन-संख्या बढ रही है। (२) पूँजी बढ रही है। (३) उत्पादन विधियों में सुधार हो रहा है। (४) औद्योगिक इकाइयों के रूप बदल रहे हैं। अकुशल फर्में बाजार से हट रही हैं और कुशल फर्में बाजार में बनी रहती है। (५) उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की संख्या बराबर बढ रही है। क्लार्क के अनुसार स्थैतिक दशा में उपरोक्त सभी प्रकार के परिवर्तन नहीं हो पायेंगे।

प्रो० मेहता के अनुसार स्थैतिक दशा के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं :—(१) लाभ नहीं रहेगा और कीमत सीमान्त लागत तथा औसत लागत दोनों के बराबर होगी। (२) उत्पादन की इकाई का विस्तार अथवा संकुचन नहीं होता है। (३) साम्य एक निश्चित समय अवधि से आगे तक बना रहता है। (४) साधनों में किसी उद्योग विशेष में आने अथवा उनसे बाहर जाने की प्रवृत्ति नहीं होती है। (५) आर्थिक प्रणाली में दोनों ही विकास अथवा ह्रास की प्रवृत्तियों का पूर्ण अभाव होता है।

प्रावैगिक का क्षेत्र—

प्रावैगिक विवेचन (या प्रावैगिक अर्थशास्त्र) का सम्बन्ध उन समस्याओं से है जो निरन्तर होने वाले परिवर्तनों से उदय होती हैं। वास्तविक जीवन में स्थिर दशा सम्बन्धी मान्यताएँ सदैव लागू नहीं होती हैं। जन-संख्या, रुचियाँ, पूँजी आदि बदलते रहते हैं। इसी प्रकार भौतिक औद्योगिक विषयों में भी सुधार और नये-नये आविष्कार होते रहते हैं। इन सभी के परिवर्तनों का उत्पादन की मात्रा, कीमत और आय पर प्रभाव पड़ता है अर्थात् इनमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन इन विभिन्न घटकों को किस प्रकार से प्रभावित करते हैं इस बात का अध्ययन प्रावैगिक अर्थशास्त्र में किया जाता है किन्तु जिन परिवर्तनों का अध्ययन हम यहाँ कर रहे हैं वे केवल एक बार होने वाले परिवर्तन (Once-over changes) नहीं है बल्कि ऐसे परिवर्तन है जो निरन्तर होते रहते हैं। आर्थिक प्रावैगिक मौलिक घटकों में परिवर्तनों की विभिन्न दरों और दिशाओं के कारण उत्पन्न होने वाले प्रभावों का अध्ययन करता है।

दो एक उदाहरणों से यह स्थिति भली-भाँति समझाई जा सकती है। आरम्भ में हम बचत की समस्या को लेते हैं जो एक प्रावैगिक कारक है। मान लीजिए कि बचत बढ रही है। बचत के बढ़ने से विनियोग बढ़ेगा जिससे उत्पादन और रोजगार में वृद्धि होगी। इन दोनों की वृद्धि से लोगों की आय बढ जायेगी और आय बढ़ने से बचत बढ़ेगी। इस प्रकार बचत एक ऐसी क्रिया को आरम्भ कर देगी जो कि आवश्यक रूप से प्रावैगिक स्वभाव की है। अब हम एक दूसरा उदाहरण लेते हैं। हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि आर्थिक प्रगति का धन के वितरण पर क्या प्रभाव पड़ेगा। मान लीजिये कि जन-संख्या और पूँजी में वृद्धि होती है। इनके कारण लाभ घटेंगे और लगान बढ़ेंगे। अन्त में, एक ऐसी स्थिति आ जायेगी जबकि लाभ पूर्णतया

समाप्त हो जायेंगे और मजदूरियां स्थिर हो जायेंगी। इससे नई पूंजी और जन-संख्या मे नई वृद्धि दोनों रुक जायेंगे और हम एक स्थिर अवस्था में पहुँच जायेंगे।

उपरोक्त विवेचन से पता चलता है कि बहुत-सी समस्यायें ऐसी हैं जो स्थैतिक विवेचन द्वारा नही सुलझाई जा सकती हैं। इन सबमें प्रावैगिक विवेचन की आवश्यकता पड़ेगी। उदाहरणस्वरूप, निरन्तर, परिवर्तनों की अथवा आंशिक साम्य की समस्यायें केवल प्रावैगिक विवेचन द्वारा ही सुलझाई जा सकती हैं। साम्य की एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक का परिवर्तन स्थैतिक अर्थशास्त्र नही समझा सकता। उन शक्तियो का अध्ययन जो इस संक्रान्ति-काल मे लागू होती हैं अथवा जो साम्य की स्थापना मे सहायक होती है प्रावैगिक दृष्टिकोण से ही किया जा सकता है। इसी प्रकार, वे सब समस्यायें, जिनमे लोगो की मनोवृत्ति का भारी महत्त्व होता है, (जैसे—चक्राकार परिवर्तनों की समस्यायें) प्रावैगिक अध्ययन के लिए ही उपयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त, प्रावैगिक अध्ययन में लोच बहुत होती है और इसकी सहायता से हम दी हुई स्थितियो के अनेक मॉडल बना सकते है।

टिनबर्जन ने व्यावहारिक आर्थिक समस्याओ को सुलझाने मे स्थैतिक अध्ययन की अपेक्षा प्रावैगिक अध्ययन को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उन्होने कहा है "स्थैतिक अर्थशास्त्र यह कह सकता है कि यदि किसी वस्तु के उत्पादन मे हानि होती है तो दीर्घकालीन में उत्पादन न होगा। किन्तु अल्पकाल में हानि होते हुए भी उत्पादन हो सकता है और चूंकि प्रावैगिक अर्थशास्त्र इस बात को ध्यान मे रखता है, इसलिये वह अधिक यथार्थिक होता है।"

प्रावैगिक विवेचन की उपयोगिता—

प्रावैगिक विवेचन की आवश्यकता, उपयोगिता एव इसका महत्त्व निम्नांकित विवरण से भली-भाँति स्पष्ट हो जायेगा :—

(१) स्थैतिक विवेचन कई अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। साथ ही वह आर्थिक व्यवहार के निर्धारकों को अपरिवर्तनशील मान लेता है। इन अवास्तविकताओं के कारण प्रावैगिक की आवश्यकता पड़ती है, क्योकि यह स्वय वास्तविकता के बहुत निकट है।

(२) कितनी ही समस्याये ऐसी हैं जिनका अध्ययन प्रावैगिक अर्थशास्त्र की सहायता से ही हो सकता है, जैसे—(अ) निरन्तर परिवर्तनो के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याएँ, (ब) एक साम्य से दूसरे साम्य मे परिवर्तन की समस्यायें, एव (स) वे समस्याएं जो मनोवैज्ञानिक कारणो पर आधारित है यथा व्यापार चक्र।

(३) प्रावैगिक अध्ययन मे लोच बहुत होती है, जिस कारण इसके द्वारा किसी एक आर्थिक स्थिति के अनेक मॉडल (Model) बनाये जा सकते है और इस प्रकार सभी सम्भावनाओ की खोज की जा सकती है। विकासोन्मुख एव कल्याणकारी अर्थशास्त्र की समस्याओ और नियोजन की भी समस्याओ के विश्लेषण के लिए प्रावैगिक विवेचन अपने लोच सम्बन्धी गुण के कारण विशेष रूप से उपयोगी है।

(४) प्रो० रोबिन्स का विचार है कि प्रावैगिक के चार महत्त्वपूर्ण कार्य हैं और इनसे सम्बन्धित दशाओ मे इनका उपयोग होना चाहिए। ये कार्य निम्न है :—(i) यह अनेक आर्थिक सिद्धान्तो की सचाई और क्रियाशीलता की जांच करता है; (ii) स्थैतिक विवेचन की मान्यताओं को भुठलाते हुए अधिक वास्तविक मान्यताएं प्रस्तुत करता है, (iii) नये तत्त्वो पर प्रकाश डालता है, जिससे भविष्यवाणी के अधिक सही होने मे मदद मिलती है, एव (iv) यह स्थैतिक विवेचन मे सुधार के लिये सुझाव देता है।

(५) प्रावैगिक विवेचन को निम्न विषयों मे प्रयोग किया गया है, जिससे इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है :—व्यापार चक्र का मकडी के जाले का सिद्धान्त, जनसख्या के

विकास का सिद्धान्त, बचत और विनियोग सिद्धान्त, लाभ का सिद्धान्त, मूल्य सिद्धान्त में समय तत्व की भूमिका का स्पष्टीकरण इत्यादि।

प्रावैगिक विवेचन की सीमायें—

बहुत आवश्यक, उपयोगी और महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ प्रावैगिक की कुछ सीमाएं भी हैं, जैसे—जब परिवर्तन की गति बहुत तेज हो, तो समस्या का अध्ययन केवल प्रावैगिक दृष्टि से करना कठिन है और उसे कई स्थैतिक टुकड़ों में बाँट कर ही अध्ययन करना पड़ता है। पुनः प्रावैगिक विवेचन के लिये इकोनोमेट्रिक्स की सहायता लेनी पड़ती है, जिससे यह रीति जटिल हो जाती है। यही नहीं, एक और कारण से भी इसका प्रयोग कठिन है, जो यह कि अभी तक भी प्रावैगिक अर्थशास्त्र के पूर्णतया विकसित सिद्धान्त का निर्माण नहीं हो पाया है। अधिकांश दशाओं से जहाँ अर्थशास्त्रियों ने अपने अध्ययन को प्रावैगिक बताया है वे वास्तव में तुलनात्मक स्थैतिक से आगे नहीं बढ़ पाये है। मार्शल ऐसे ही अर्थशास्त्रियों में से एक हैं। किन्तु विगत वर्षों में कुछ अर्थशास्त्रियों ने विशुद्ध प्रावैगिक सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयत्न किया। ऐसे लेखकों में कलेकी (Kalecki), टिनबर्जन और श्रीमती जोन रोबिन्सन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इतने पर भी प्रावैगिक अर्थशास्त्र अभी शिशु अवस्था ही है।

स्थैतिक एवं प्रावैगिक विवेचनों की परस्पर निर्भरता

अध्ययन की निगमन और आगमन प्रणालियों की भाँति अर्थशास्त्र में स्थैतिक और प्रावैगिक दोनों प्रणालियों का उपयोग आवश्यक है। कितनी ही समस्याएं ऐसी हैं जिनका अध्ययन केवल प्रावैगिक अर्थशास्त्र की सहायता से हो सकता है (उदाहरणस्वरूप, वे समस्याएं जो मनोवैज्ञानिक कारणों पर निर्भर रहती हैं)। इसके विपरीत, बहुत-सी समस्याएं ऐसी भी हैं जिनका अधिक उपयुक्त अध्ययन स्थैतिक अर्थशास्त्र द्वारा ही सम्भव है (जैसे—स्वतन्त्र व्यापार, सीमान्त व्यय तथा उत्पादन कला की समस्यायें)। साथ ही साथ, कुछ समस्यायें ऐसी भी है जिन्हें किसी भी एक की सहायता से नहीं सुलझाया जा सकता, बल्कि जिनमें दोनों ही की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि अध्ययन की इन दोनों विधियों को भी वैकल्पिक रूप में न लेकर पूरक रूप में लेना ही अधिक उचित है। बात यह है कि अध्ययन की प्रत्येक रीति की अपनी उपयुक्तता है और अपनी सीमा है। दोनों रीतियों के उपयोग के लाभदायक क्षेत्र अलग-अलग होते हुए भी एक से दूसरी को बल मिल जाता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. स्थैतिक और प्रावैगिक विचारों की व्याख्या कीजिये। आर्थिक विश्लेषण में इनकी क्या उपयोगिता है ?

अथवा

"स्थैतिक और प्रावैगिक दोनों अर्थशास्त्र में वैज्ञानिक विश्लेषण के लिये आवश्यक है"—विवेचन कीजिये।

[सहायक संकेत :—स्थैतिक और प्रावैगिक के अर्थों को अन्तर सहित स्पष्ट कीजिये तत्पश्चात् दोनों की आवश्यकता, प्रयोगों और सीमाओं को लिखिये। अन्त में यह निष्कर्ष निकालिये कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।]

२. स्थैतिक और प्रावैगिक अर्थशास्त्र के बीच अन्तर बताइये और प्रावैगिक अर्थशास्त्र की आवश्यकता की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

७

साम्य अथवा सन्तुलन
(Equilibrium)

साम्य का अर्थ

साम्य अकर्मण्यता की स्थिति नहीं है—

"साम्य का आशय उस दशा से है जिसमें सभी कार्यवाहक शक्तियों का परिणाम कुल मिलाकर शून्य के बराबर होता है। इस दशा में स्थिति वही बनी रहती है जहाँ वह पहले थी बशर्ते किसी नये कारण के आ जाने अथवा किसी पुराने कारण के मिट जाने से इसमें विघ्न न पड़े।" साम्य की यह सरल परिभाषा स्वीकार कर लेना ही प्रारम्भ में उचित रहेगा। अर्थशास्त्र में 'साम्य' शब्द भौतिक शास्त्र से लिया गया है जहाँ इसका अर्थ समान सन्तुलन (Equal balance) से होता है। इस प्रकार, यदि एक कण (Particle) पर विभिन्न शक्तियाँ कार्यशील हैं और इनमें से प्रत्येक उसे अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करती है; परन्तु, ये शक्तियाँ एक दूसरे के बल को इस प्रकार समाप्त (Neutralise) कर देती हैं कि कण का स्थान नहीं बदलता है, तो हम कह सकते हैं कि शक्तियों में साम्य स्थापित हो गया है। साम्य को कण की विश्राम-स्थिति द्वारा सूचित किया जाता है। स्टिगलर के शब्दों में, "साम्य वह स्थिति है जिस पर से हटने की प्रवृत्ति नहीं है। प्रवृत्ति के स्थान पर 'शुद्ध प्रवृत्ति' कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि साम्य आकस्मिक अकर्मण्यता (Sudden inertia) की स्थिति नहीं है, बल्कि क्रियाशील शक्तियों का बल निष्प्रभावित हो जाने की स्थिति का सूचक है।"[1] इस प्रकार, निष्क्रियता साम्य की विशेषता नहीं है, बल्कि विशेषता यह है कि क्रियाओं के बीच सन्तुलन स्थापित हो जाता है। "आर्थिक साम्य एक सक्रिय साम्य की दशा है, यह क्रियाओं के अभाव की दशा नहीं है। यह ऐसी दशा नहीं है जिसमें सभी शक्तियों का कार्यवाहन रुक गया हो बल्कि, इसके विपरीत ऐसी दशा है जिसमें विभिन्न कार्यवाहक शक्तियाँ एक दूसरे को सन्तुलन में रखती हैं।"[2]

साम्य को बाजार की स्थिति तक सीमित रखना ठीक नहीं—

कुछ अर्थशास्त्रियों ने साम्य को बाजार की वह स्थिति बताया है जिसमें माँग की मात्रा विक्रेताओं द्वारा बेचने के लिए प्रस्तुत की हुई मात्रा के बराबर होती है। परन्तु इस

---

[1] Equilibrium is "a position from which there is no tendency to move, We say 'net' tendency to emphasise the fact that it is not necessarily a state of sudden inertia, but may instead represent the cancellation of powerful forces"—Stigler : *The Theory of Price (1954)*, pp 14-15

[2] "Economic equilibrium is a state of active equilibrium, not an inert state. It is not a state in which all forces have ceased to operate, on the other hand it is the state in which operative forces hold each other in balance"
—**J D Khatri** : *Modern Economic Theory*, p 181.

भाषा की दो कारणों से आलोचना की जा सकती है : प्रथम, माँग की मात्रा का उस मात्रा के बराबर होना जो बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाती है साम्य की आवश्यक शर्त नहीं है। यह सम्भव है कि किसी एक दी हुई कीमत पर विक्रेता उससे अधिक बेचने के लिए तैयार हो जितना कि वे वास्तव में बेचते हैं परन्तु वे कम बेचते हैं, क्योंकि उस कीमत पर ग्राहक बिक्री के लिए प्रस्तुत की गई मात्रा से कम खरीदने के लिए तैयार होते हैं। कम बिक्री करके भी विक्रेता सन्तुष्ट हो जाते हैं, क्योंकि उस कीमत पर कम बिक्री भी उनके कुल लाभ को अधिकतम् बनाती है। दूसरे, इस परिभाषा ने साम्य के कार्यवाहन को बाजार तक सीमित कर दिया गया है, जबकि यथार्थ में साम्य के कार्यवाहन का क्षेत्र इससे कहीं अधिक व्यापक है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक उपभोक्ता अपने व्यय को एक शीर्षक से दूसरे शीर्षक पर विवर्तित करने के लिए तैयार नहीं है तो उसका व्यय साम्य में होगा। इसी प्रकार, एक उत्पादक उस दशा में साम्य प्राप्त कर लेता है जबकि प्रत्येक उत्पत्ति के साधन पर किया गया सीमान्त व्यय उसे समान उपज प्रदान करे अथवा एक श्रमिक उस दशा में साम्य प्राप्त कर लेगा जबकि उसकी आय-प्राप्ति की सीमान्त उपयोगिता (Marginal utility of income) उसके कार्य की सीमान्त अनुपयोगिता (Marginal disutility of work) के बराबर हो जाय।

साम्य का सम्बन्ध एक निश्चित कीमत से—

अर्थशास्त्र में साम्य के विचार का उपयोग करते समय यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि साम्य सदा ही किसी निश्चित कीमत पर प्राप्त किया जाता है। जब एक दी हुई कीमत पर किसी वस्तु के लिए माँग और उसकी पूर्ति एक दूसरे के बराबर हो जाएँ तो साम्य स्थापित हो जाता है। माँग और पूर्ति का अर्थ केवल एक विशेष कीमत के सन्दर्भ में ही लगाया जा सकता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इस सम्बन्ध में हम केवल एक ही शीर्षक को लें, हम पूरे समूह को भी ले सकते हैं। उदाहरणस्वरूप, राष्ट्रीय आय के एक विशेष स्तर पर बचत और विनियोग के बीच साम्य स्थापित हो सकता है। निम्न समीकरण एक सामूहिक स्थिति (Aggregate Situation) के साम्य को दिखाता है :—$Y=C+S$; यहाँ पर Y मुद्रा के रूप में राष्ट्रीय आय को दिखाता है, C मौद्रिक आय का वह भाग है जिसका उपभोग होना है और S वह मौद्रिक आय है जिसको बचत की गई है। इसी प्रकार, समीकरण $S=I$ भी, जिसमें बचत को विनियोग के बराबर दिखाया गया है, साम्य के सामूहिक रूप को प्रस्तुत करता है।

साम्य की कल्पना सदा ही एक समयावधि के सन्दर्भ में—

साम्य की कल्पना सदा ही एक समयावधि सन्दर्भ में की जाती है मेहता के शब्दों में, "एक उत्पादन इकाई तब ही साम्य की अवस्था में कहलायेगी जबकि विचाराधीन समय-अवधि के भीतर उसमें विस्तार और संकुचन की प्रवृत्ति न हो। समय अवधि की ओर संकेत किये बिना हम साम्य की बात नहीं कर सकते। कुछ विशेष दशा में यह समय अवधि केवल एक समय बिन्दु (A point of time) हो सकती है अथवा अपरिमितता (Eternity) तक भी फैल सकती है।"[1] सम्भव है कि वही साम्य एक समय अवधि के बाद भी बना रहे, परन्तु अन्य बहुत-सी दशाओं

---

[1] "A production unit is said to be in equilibrium when it shows no tendency to expansion or contraction within a period of time under consideration We cannot talk of equilibrium without refering our case to a period of time. This period may, in limiting contract cases, to a point of time or extend to eternity."—*J. K. Mehta : Advanced Economic Theory*, p. 103.

साम्य केवल एक समय बिन्दु तक ही सीमित रहता है और परिस्थितियाँ बदलने पर नया साम्य उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार चाहे हम स्थैतिक साम्य का अध्ययन करें अथवा प्रावैगिक साम्य का, प्रत्येक दशा मे समय-तत्त्व (Element of Time) का महत्त्व रहता ही है।

क्या साम्य व्यावहारिक जगत में सम्भव है ?

बहुत से लोगो ने साम्य विवेचन की इस कारण आलोचना की है कि वास्तविक जगत में साम्य कही भी देखने को नही मिलता। अतः उनका तर्क है कि साम्यावस्था (जो कभी भी प्राप्त होने वाली नही है) मे क्या होगा इससे सम्बन्धित अध्ययन विशुद्ध सैद्धान्तिक एव अवास्तविक है। यह बात निम्नलिखित तथ्यो से स्पष्ट हो जायेगी :—

(१) सन्देह नही कि एक दिये हुए काल मे वास्तविक जगत की दशाये साम्य की दशाओ के सदृश्य नही होती हैं, परन्तु आर्थिक घटनाओ के साम्य की ओर जाने की स्पष्ट प्रवृत्ति होती है और हम यह नि.सकोच तर्क दे सकते हैं कि यदि आर्थिक तथ्यो में एक लम्बी अवधि तक कोई परिवर्तन न हो, तो साम्य स्थापित भी हो सकता है। किन्तु साम्य स्थापित हो या न हो इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता। कारण, जब तक प्रवृत्ति साम्य की ओर बढ़ने की रहे, तब तक साम्य विश्लेषण लाभदायक ही होता है।

(२) कभी-कभी वास्तविक जीवन मे इस अर्थ में साम्य स्थापित भी हो जाता है कि कुल पूर्ति एक कीमत विशेष पर कुल माँग के बराबर हो जाती है। किन्तु इस प्रकार का साम्य क्षणिक होता है और दिखाई नही देता क्योकि वह शीघ्र ही आर्थिक शक्तियो की जटिलता के कारण टूट जाया करता है। परन्तु टूटने के बाद शीघ्र ही यह फिर बार बार स्थापित होता रहता है। इस प्रकार, एक समय-बिन्दु पर साम्य यथार्थता (A reality) है और एक क्रम (Series) के रूप मे भी इसका अध्ययन किया जा सकता है।

(३) साम्य का विचार अर्थशास्त्र के क्षेत्र के विचार मे भी अधिक विस्तृत है। साम्य उस प्रकार से आदर्श दशाओं का वर्णन करता है जिस प्रकार से कि पूर्ण सत्य, पूर्ण सुन्दरता अथवा पूर्ण ईमानदारी आदर्श दशाओ को दिखाते हैं। ये सभी आदर्श दशायें है जिनके वास्तविक जगत में केवल चिन्ह ही देखने को मिलते है। ऐसा होते हुए भी इन विचारो का वास्तविक जीवन मे महत्त्व है। ऐसा कोई कारण नही है कि साम्य के विचार की भी वास्तविक जीवन में उतनी ही उपयोगिता क्यो न होनी चाहिए।

साम्य का महत्त्व

इस प्रकार, साम्य का अध्ययन केवल इसी कारण महत्त्वहीन या अनुपयोगी नहीं हो जाता कि यह वास्तविक जीवन मे दिखाई नही देता है। यदि साम्य की ओर प्रवृत्ति बनी रहे, तो साम्य विश्लेषण निश्चय ही लाभदायक होगा। प्रथमत, यह एक लक्ष्य अथवा उद्देश्य को बताता है जिसे प्राप्त करने हेतु आर्थिक क्रियायें निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं। दूसरे, यह आर्थिक परिवर्तनों की दिशा बताता है, जिस कारण इसे "अर्थशास्त्री का कुतुबनुमा" (Economist's Compass) कहा जा सकता है। परन्तु साम्य के अध्ययन का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नही है। साम्य वास्तव मे स्थापित होता है या नही, इसे उचित या अनुचित या विचित्र नही कहा जा सकता। आर्थिक विवेचन का उद्देश्य केवल कारण और परिणाम के सम्बन्ध का पता लगाना होता है, इस सम्बन्ध की अच्छाई-बुराई पर विचार करना नही। जैसा कि रोबिन्स ने कहा है, "साम्य के सिद्धान्त मे ऐसा करो या न करो प्रश्न ही नही उठता है, साम्य तो केवल साम्य ही है।"[1]

---

[1] "There is no penumbra of approbation around the theory of equilibri um equilibrium is just equilibrium."— Robbins

(II) अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन साम्य—

अल्पकालीन साम्य (Short period equilibrium) वह है जो अपनी स्थिति को केवल एक समय-बिन्दु पर ही बनाये रख सकता है अर्थात् इसका सम्बन्ध केवल एक क्षण (Moment) से होता है और इसके पश्चात् यह खण्डित हो जाता है। किन्तु दीर्घकालीन साम्य (long period equilibrium) एक समय-अवधि पर फैला रहता है अर्थात् अल्पकालो के एक क्रम तक विस्तृत होता है। अल्पकालीन साम्य का अध्ययन अल्पकालीन कीमतों के अध्ययन के लिए उपयोगी है किन्तु दीर्घकालीन साम्य का सामान्य-कीमत के निर्धारण मे। वास्तव मे ये दोनों प्रकार के साम्य एक दूसरे के पूरक होते है।

(III) एकाकी और बहुमात्रायुक्त साम्य—

यदि साम्य की दशायें कीमतो और उपजों की केवल एक ही सूची (Single set of price and output) से सन्तुष्ट हो जाती हैं, तो यह साम्य एकाकी (unique or single equilibrium) कहलायेगा। बोल्डिंग के शब्दो मे "एकाकी साम्य का अभिप्राय सम्बन्धो की उस प्रणाली से है, जिन्हे एक ऐसी समीकरण सूची द्वारा व्यक्त किया जा सके जो कि विभिन्न परिवर्तनशीलताओ (Variables) के केवल एक ही मूल्य (अथवा कुछ थोड़े से मूल्यो) द्वारा सन्तुष्ट हो सकते हैं।"[1]

इसके विपरीत, बहुमात्रायुक्त साम्य (Multiple equilibrium) मे एक से अधिक कीमत और उपज-सूचियाँ साम्य की शर्तों को सन्तुष्ट करती है। बोल्डिंग का कहना है कि, "वर्त्तमान परिवर्तन शीलताओ का मूल्य किन्ही निश्चित तरीको मे इन एव अन्य भूतकालीन परिवर्तनशीलताओ से जुडा रहता है जो स्वय भी किन्ही अधिक दूरस्थ भूतकालीन परिवर्तनशीलताओ से सम्बन्धित होती हैं और इस प्रकार का क्रम अपरिमितता तक (Infinite regression) चलता रहता है।"[2]

वास्तविक जीवन मे एकाकी साम्य के तो अनेक उदाहरण मिल जाते हैं परन्तु बहुमात्रायुक्त साम्य कठिनाई से मिलता है। श्रीमती जॉन रोबिन्सन ने एक ऐसी दशा का वर्णन किया है जिसमे इस प्रकार का साम्य प्रचलित है। यदि किसी बाजार मे अलग-अलग मात्राओ मे आय वाले उपभोक्ताओ के अनेक वर्ग हैं तो ऐसी दशा मे बाजार मे माँग रेखा कभी तो बहुत लोचदार होगी और कभी पूर्णतया बेलोच। ऐसी माँग-रेखा से सम्बन्धित सीमान्त आगम रेखा कभी नीची गिरेगी कभी ऊपर उठेगी और फिर नीचे गिर जायगी और एकाधिकारी साम्य के अनेक बिन्दु होगे।"[3]

(IV) स्थैतिक और प्रावैगिक साम्य[4]—

प्रो॰ मेहता के अनुसार, "स्थैतिक साम्य (Static equilibrium) वह है जो अपने आपको निश्चित समय अवधि के बाहर भी बनाए रखता है।"[5] वह उद्योग, जो किसी विशेष

---

1 "......the system of relationships can be expressed as a set of equations or identities which can only be satisfied by one (or at most a limited number) of values various variables which the equations relate."—**Boulding** · *Economic Analysis*, p. 287.

2 *Ibid*, p. 287.

3 **Joan Robinson** : *Economics of Imperfect Competition*, pp. 57-58.

4 For a detailed study refer also to chapter 7 of this book.

5 "Static equilibrium is that equilibrium which maintains itself outside the period of time under consideration."—**J. K. Mehta** . *Advanced Economic Theory (1950)*, p. 104.

दिन पर साम्य की अवस्था मे है एक स्थैतिक साम्य का उदाहरण उस दशा मे होगा जबकि वह इस साम्य को भविष्य मे भी बनाए रखे। इस प्रकार के साम्य को हम केवल एक समय अवधि के सन्दर्भ में समझ सकते हैं। यदि साम्य निश्चित समय अवधि के बाहर बना नही रहता है, तो यह प्रावैगिक साम्य (Dynamic equilibrium) होगा। भंग होने के पश्चात् ही इस प्रकार का साम्य तुरन्त स्थापित हो जाता है। प्रावैगिक साम्य आवश्यक रूप से क्षणिक (Momentary) होता है। इस साम्य का विकास अभी भी शिशु अवस्था में है। बोल्डिंग के शब्दों में:—

"यदि एक समय-अवधि से सम्बन्धित प्रक्रिया के आवश्यक चलो (Variables) के परिवर्तन की दरें स्थिर रहें तो ऐसी प्रक्रिया को प्रावैगिक साम्य में कहा जायेगा। इस प्रकार, जब जन-संख्या स्थिर दर पर घट या बढ़ रही है अर्थात् जब जन्म और मृत्यु की प्रतिशत प्रति वर्ष दरें स्थिर रहती है (यह आवश्यक नही कि दोनों एक दूसरे के बराबर हो), तो वह (जन संख्या) साम्य की स्थिति में होगी। जनसख्या मे आयु अनुसार वितरण (अर्थात् प्रत्येक आयु वर्ग में व्यक्तियों का अनुपात) भी स्थिर होना चाहिये चाहे व्यक्तियों की कुल संख्या मे परिवर्तन हो जाय। ठीक इसी प्रकार, एक आर्थिक प्रणाली को प्रावैगिक साम्य की अवस्था में तब कहा जायेगा जब कि उसका कुल स्टॉक (जिसमे वस्तुये और मनुष्य दोनों शामिल होगे) स्थिर दरों (प्रतिशत प्रति वर्ष) पर बदलता हो और इस स्टॉक की दरों के उत्पादन और उपभोग की दरें भी उसी दर से बढ़ती हों। यहाँ सन्देह किया जा सकता है कि क्या प्रावैगिक साम्य का विचार आर्थिक परिवर्तनो को समझने में सहायक हो सकता है? ऐसे सन्देह का कारण यह है कि समाज में ऐसे परिवर्तनो के प्रति स्वयं को अनुरूप बनाने के लिये कोई प्राकृतिक प्रवृत्ति नही पाई जाती है।"[1]

(V) आश्रित और स्वतन्त्र साम्य—

आर्थिक प्रणाली एक निश्चित पथ से चलकर साम्य प्राप्त करती है। इस पथ का अध्ययन बहुत लाभदायक है क्योंकि इससे पता चलता है कि साम्य किस प्रकार प्राप्त हुआ। परन्तु इस पथ का अध्ययन बड़ा कठिन है क्योंकि इसके लिए अनेक शक्तियों और कारणों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करना आवश्यक होता है। 'आश्रित साम्य' (Dependent equilibrium) साम्य की स्थिति का इसके पथ के साथ-साथ अध्ययन करता है किन्तु स्वतन्त्र साम्य मे केवल साम्य का अध्ययन किया जाता है, उस पथ का नही, जिससे वह स्थापित होता है। हमारा अधिकाश अध्ययन स्वतन्त्र साम्य का अध्ययन है।

(VI) आंशिक अथवा विशिष्ट तथा सामान्य साम्य—

आंशिक अथवा विशिष्ट साम्य (Partial of particular equilibrium) वह है जो एक व्यक्ति, एक फर्म, एक उद्योग अथवा उद्योगों के एक समूह से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार के साम्य का अध्ययन मार्शल तथा केम्ब्रिज सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों ने किया है। इस विवेचन मे हम यह अध्ययन करते है कि, एक अकेला व्यक्ति अथवा एक अकेली फर्म दिये हुए तथ्यों के आधार पर साम्य की ओर किस प्रकार बढ़ती है। यदि आर्थिक तथ्यो मे परिवर्तन होता है, तो आर्थिक इकाई के निर्णयों मे भी परिवर्तन हो जाता है, और इसके फलस्वरूप जैसे ही पुराने साम्य की स्थिति बदलती है, आर्थिक इकाई अपने निर्णयो को बदल देती है और निर्णयों के इस प्रकार बदलने से साम्य की गति (Movement) नई स्थिति की ओर होने लगती है। स्टिगलर के अनुसार, "विशिष्ट साम्य विवेचन (Particular equilibrium analysis) सीमित तथ्यो पर आधारित होना है। इसका एक अच्छा उदाहरण एक अकेली वस्तु की कीमत

---

[1] Bouldicg : *Economic Analysis*; pp. 711-712.

है, जिसका विवेचन करते समय यह मान लिया जाता है कि अन्य सभी वस्तुओं की कीमतें यथा-स्थिर रहती है।"[1]

वास्तविक जीवन मे बाजार मे विभिन्न वस्तुओ की कीमतें एक दूसरे पर निर्भर रहती है। किसी एक कीमत मे परिवर्तन होने से सभी वस्तुओं की कीमतें बदल सकती हैं। उदाहरण-स्वरूप मान लीजिए कि बाजार मे चावल की कीमत बढती है। इसके फलस्वरूप लोग चावल के स्थान पर अन्य अनाजो का उपयोग करने लगेंगे जिससे उनकी मांगें बढ़ेंगी और फलस्वरूप उनकी कीमते बढ जायेंगी। इसके अतिरिक्त, चावल की कीमत मे हुआ परिवर्तन चावल के उत्पादको की आय मे भी परिवर्तन ला देगा और इससे उनका व्यय का रूप भी बदल जायगा। यही नही, चावल के कीमत-परिवर्तन श्रमिको तथा अन्य लोगो के जीवन-निर्वाह व्यय को भी प्रभावित करेंगे जिससे अन्य वस्तुओ के लिए उनकी मांग बदल जायेगी और उनकी कीमतों मे भी परिवर्तन हो जायेगा। इस प्रकार, विभिन्न वस्तुओ की कीमतें, इनकी मांग और पूर्तियां एक दूसरे को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। ऐसी दशा मे चावल की कीमत का अध्ययन करने की दो रीतियां हो सकती हैं, प्रथम, हम अन्य वस्तुओं की कीमते, उनकी मांग अथवा उनकी पूर्तियो को यथास्थिति (Constant) मान लें, जिस दशा मे हमारा अध्ययन आंशिक साम्य का अध्ययन होगा। दूसरे, हम विभिन्न वस्तुओ की कीमतों, उनकी मांग तथा उनकी पूर्तियो के पारस्परिक परिवर्तनो का एक साथ अध्ययन करें, विभिन्न वस्तुओं के लिए मांग एव इनकी पूर्ति के मध्य समानता वाले अनेक समीकरण बनायें, और उनको एक-साथ (Simultaneously) हल करने का प्रयास करें। इस दशा मे हमारा विवेचन सामान्य साम्य का अध्ययन होगा।

स्टिगलर के शब्दो में, "सामान्य साम्य का सिद्धान्त अर्थ-व्यवस्था के सभी भागो के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन है। अगणित श्रृंखलाओ के द्वारा सभी कीमतें एक दूसरे से सम्बन्धित होकर एक एकीकृत प्रणाली का निर्माण कर लेती हैं। इनमे से बहुत से पारस्परिक सम्बन्ध नगण्य होते हैं (जैसे—हम अण्डो और डीजल इन्जिनो की कीमतो के बीच कोई सम्बन्ध पता नही लगा सकते; इसी प्रकार लौस एन्जिल्स मे अभिनेताओं के वेतन तथा न्यूयार्क मे बीमा कम्पनी मे रोजगार का सम्बन्ध मे अमहत्त्वपूर्ण है)। सच यह है कि किसी विशेष मण्डी अथवा उद्योग पर ही ध्यान केन्द्रित करने का औचित्य इस बात मे सन्निहित है कि ऐसे विशेष वस्तुओं की कीमतो और उपजो को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध थोडे से ही होते हैं।[2]

सामान्य बनाम विशिष्ट साम्य

सामान्य साम्य की कठिनाइयां (अर्थात् आंशिक साम्य के लाभ)—

सामान्य साम्य विवेचन कठिन और जटिल है क्योंकि इससे एक ही साथ बहुत सारे समीकरणों को सुलझाना पड़ता है। विशेष समस्याओ का अध्ययन करने के लिए आंशिक साम्य प्रणाली अधिक अच्छी है। इस रीति मे एक समय मे एक ही चीज का अध्ययन किया जाता है। हम अन्य सभी बातो को यथास्थित मानकर केवल एक के परिवर्तनो का अध्ययन करते हैं। निःसन्देह यह प्रणाली यथार्थिक नही है क्योंकि हम अनेक परस्पर सम्बन्धित तथ्यो के प्रभाव पर ध्यान नही देते हैं। परन्तु इस उपेक्षा के कारण जो हानि होती है वह वास्तव मे उतनी अधिक नहीं है जितनी कि इस प्रणाली के कुछ आलोचकों ने बताई है। अन्य कीमतो और मात्राओं का प्रभाव पड़ता तो है किन्तु यह प्रभाव प्रत्यक्ष नही होता और अधिकांश दशाओं में इतना कम महत्त्वपूर्ण होता है कि इसे छोडा जा सकता हैं। कारण यद्यपि इस रीति में पूरी अर्थ-व्यवस्था का

---

[1] **G. J. Stigler** : *The Theory of Price*, p. 27.
[2] *Ibid*, p. 287.

सम्पूर्ण चित्र तो प्राप्त नहीं होता, तथापि इसकी सहायता से व्यावहारिक समस्यायें सुलझाई जा सकती है।

आंशिक साम्य की कठिनाइयाँ (या सामान्य साम्य के लाभ)—

उपर्युक्त कथन से यह नहीं समझना चाहिए कि सामान्य साम्य के अध्ययन की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इस विवेचन मे सम्पूर्ण प्रणाली का अध्ययन किया जाता है। "सामान्य साम्य का विचार इस बात पर बल देता है कि सभी आर्थिक इकाइयों में पारस्परिक निर्भरता और अर्थ-व्यवस्था के सभी भाग एक दूसरे पर आश्रित है।"[1] सभी जानते हैं कि हमारे सारे शरीर का साम्य शरीर के विभिन्न भागो पर निर्भर होता है और स्वयं विभिन्न भागो का साम्य सारे शरीर के साम्य पर निर्भर होता है। इस कारण आंशिक और सामान्य साम्य विधियाँ केवल एक दूसरे की पूरक हो सकती है।

दोनों की परस्पर निर्भरता—

लैफ्टविच (Liftwich) ने दोनों प्रकार के साम्य की पारस्परिक निर्भरता पर बल दिया है। उन्होने कहा है, "जब कभी कोई आर्थिक विघ्न इतना विशाल हो कि उसका प्रभाव अधिकाश अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है, तो सामान्य साम्य द्वारा इसके अन्तिम परिणामो का अधिक अच्छा अनुमान प्रस्तुत किया जाता है। विशिष्ट साम्य विवेचन मे हम केवल बिन्द की (Splash) का अध्ययन करते है परन्तु यह मान लेते है कि लहरें तथा पानी का छोटा-बड़ा उतार-चढ़ाव एक दूसरे को तथा छोटो के क्षेत्र को प्रभावित नहीं करते है। छोटी-छोटी लहरे आगे बढ़कर दूर-दूर तक फैलती जाती है, यहाँ तक कि अन्त मे वे पूर्णतया मिट जाती है। अतः समायोजनों की पूरी श्रृंखला के अध्ययन के लिए सामान्य साम्य विवेचन सम्बन्धी उपकरणों की आवश्यकता है।[2]

परीक्षा प्रश्न :

१. साम्य का क्या अर्थ है ? क्या व्यावहारिक जीवन में इसका अध्ययन उपयोगी है ?
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम साम्य की परिभाषा दीजिये और यह दिखाइये कि साम्य सदैव एक निश्चित कीमत और एक निश्चित समयावधि के सन्दर्भ में होता है। तत्पश्चात् लोगो की इस आलोचना का उल्लेख कीजिये कि यह वास्तविक जीवन मे प्राप्त नहीं किया जा सकता। अन्त मे, निष्कर्ष निकालिये कि अप्राप्त होते हुए भी इसका अध्ययन उपयोगी है।]

२. साम्य से क्या आशय है ? आंशिक और साधारण साम्य की धारणाओं की व्याख्या कीजिये तथा आर्थिक विश्लेषण मे इनके अध्ययन का महत्त्व बताइये।

अथवा

साम्य से आप क्या समझते हैं ? आंशिक और सामान्य साम्य के विचारों की व्याख्या कीजिये। कारण देते हुए यह बताइये कि सामान्य साम्य की लगातार स्थिति वाछनीय है या नहीं।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम साम्य का अर्थ स्पष्ट कीजिये, तत्पश्चात् आंशिक एवं सामान्य साम्यो के विचारों को समझाइये। अन्त मे, सामान्य साम्य की कठिनाइयों पर प्रकाश डालते हुए यह निष्कर्ष निकालिये कि दोनों प्रकार के साम्य परस्पर पूरक हैं।]

---

1. "The concept of general equilibrium stresses the inter-dependence of all economic unit and of all segment of the economy on each other."
—R. W. Leftwich : *The Price System and Resources Allocation*, p. 853.

2. *Ibid*, p. 854.

८

कल्याणवादी अर्थशास्त्र
(Welfare Economics)

प्रारम्भिक—कल्याणवादी अर्थशास्त्र का विकास

'कल्याणवादी अर्थशास्त्र' अर्थशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। प्राचीन प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री इसका प्रयोग वास्तविक अर्थशास्त्र के साथ मिश्रित रूप मे करते थे। एक पृथक शाखा के रूप में इसका विकास नया ही है। प्रसिद्ध उपयोगितावादी विचार बैंथम (Benthem) को 'कल्याणवादी अर्थशास्त्र' का जन्मदाता कहा जा सकता है। 'अधिकतम संख्या को अधिकतम सुख' के रूप मे जो सिद्धान्त वाक्य उन्होने दिया वही कल्याणवादी अर्थशास्त्र का आधार है। इनके बाद हॉबसन (Hobson) ने अपनी पुस्तक Work and Wealth (१६१४) में अर्थशास्त्र को सामाजिक सुधार का साधन बनाने पर जोर दिया। इन्ही के समय के अर्थशास्त्री हेनरी क्ले (Henary Clay) ने भी कल्याणवादी विचारधारा का समर्थन किया।

सन् १६२० मे पीगू (Pigou) की पुस्तक Economics of Welfare के प्रकाशन से कल्याणवादी अर्थशास्त्र के विकास ने एक सुखद मोड ले लिया, क्योकि अब इसका आर्थिक विश्लेषण की एक पृथक शाखा के रूप मे अध्ययन होने लगा। अभी तक अर्थशास्त्र 'आनन्द अर्थ-शास्त्र' (Happiness-Economics) था, इससे पूर्व वह 'धन अर्थशास्त्र' (Wealth Economics) था किन्तु अब उसे 'कल्याणवादी अर्थशास्त्र' (Welfare Economics) की पदवी मिली। इस प्रकार कल्याणवादी अर्थशास्त्र की सही अर्थों मे पीगू से ही आरम्भ हुआ समझना चाहिए।[1] मार्शल, पीगू आदि नवपरम्परावादियों ने 'कल्याण' को एक मनोवैज्ञानिक धारणा बताया। उनके अनुसार कल्याण को अधिकतम् करने के लिए उपयोगिता को अधिकतम् करना चाहिए।

आधुनिक युग मे प्रो० रोबिंस (Robbins) और उनके अनुयायियों ने अर्थशास्त्र का कल्याण से सम्बन्ध जोड़ने का विरोध किया है। किन्तु, इसके विपरीत, हिक्स, कालडोर, साइट-वोस्की, लिटिल, वर्गसन, सेम्यूअलसन इत्यादि ने कल्याणवादी अर्थशास्त्र का जोरदार समर्थन किया है। कुछ भी हो, कल्याणवादी अर्थशास्त्र अब आर्थिक विश्लेषण की महत्त्वपूर्ण शाखा बन चुका है।

कल्याणवादी अर्थशास्त्र का अर्थ

कल्याणवादी अर्थशास्त्र आर्थिक घटनाओं का अध्ययन तटस्थ रूप में नहीं करता, वरन् किसी विशेष आदर्श या उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए करता है। इसका एक प्रधान आदर्श है, व्यक्ति और समाज के कल्याण को अधिकतम् करना। इस आदर्श के ही संदर्भ में वह आर्थिक सगठन की कुशलता को परखता है तथा आर्थिक नीतियों का प्रतिपादन करता है।

कल्याणवादी अर्थशास्त्र के उद्देश्य

कल्याणवादी अर्थशास्त्र के निम्नांकित उद्देश्य बताये जाते हैं :—(१) वह आर्थिक कल्याण को अधिकतम् करने के उपायों और साधनों का अध्ययन करता है। यहाँ आर्थिक

[1] I. M. D. Little : *A Critique of Welfare Economics*, p. 19.

कल्याण का अभिप्राय उस सन्तुष्टि से है जो समाज के सदस्यों को विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग से प्राप्त होती है। (२) यह उन चिन्हों को बताता है जिनके आधार पर यह कह सकें कि अमुक वातावरण में व्यक्ति अधिक सन्तुष्ट या असन्तुष्ट है। (३) वह सम्पूर्ण समाज का आर्थिक कल्याण किसमें अधिक या कम या इसे मालूम करने की दशायें भी बताता है।

वह आर्थिक कल्याण को अधिकतम् बनाने वाले वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निर्माण करता है। जबकि रडोमिस्लर (Radomysler) के अनुसार कल्याणवादी अर्थशास्त्र वास्तविक है 'आदर्शात्मक' नहीं है, अर्थात् नैतिक निर्णयों से मुक्त है, तब लिटिल (Little) के अनुसार कल्याणवादी अर्थशास्त्र आदर्शात्मक है, वास्तविक नहीं, अर्थात् उसका नैतिक निर्णयों से सम्बन्ध है।

वास्तविक और कल्याणवादी अर्थशास्त्र की तुलना

वास्तविक अर्थशास्त्र (अथवा मूल्य अर्थशास्त्र) में आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन तटस्थ रूप में किया जाता है। घटना का विश्लेषण नैतिकता की दृष्टि से नहीं किया जाता वरन् वास्तविकता की दृष्टि से किया जाता है। यह स्थिति का उसके वास्तविक रूप में अध्ययन करता है, अच्छाई-बुराई से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सामाजिक कल्याण को अधिकतम् करने की दशाओं को भी नहीं बताता, क्योंकि इसमें मूल्यांकन (Valuation) की समस्या उठती है जो कि इस क्षेत्र में नहीं आती है। वास्तविक और कल्याणवादी अर्थशास्त्र के निम्नांकित भिन्नतायें हैं :—

(१) जबकि वास्तविक अर्थशास्त्र कारण-परिणाम के वास्तविक सम्बन्ध का अध्ययन करता है, इसकी अच्छाई-बुराई से कोई सम्बन्ध नहीं रखता और अधिकतम् सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लिये कोई कसौटियां निर्धारित नहीं करता, तब कल्याणवादी अर्थशास्त्र घटनाओं की अच्छाई-बुराई को बताता है, कल्याण को अधिकतम् करने की दशायें या कसौटियां निर्धारित करता है।

(२) जबकि वास्तविक अर्थशास्त्र, वृहत् एवं अणु दोनों ही विश्लेषण रीतियों का प्रयोग कर सकता है तब कल्याणवादी अर्थशास्त्र में अणु विश्लेषण की अपेक्षा वृहत् विश्लेषण अधिक महत्वपूर्ण है।

(३) वास्तविक अर्थशास्त्र में किसी सिद्धान्त को परखने के लिए इसके निष्कर्षों को जांचना पड़ता है किन्तु कल्याणवादी अर्थशास्त्र के कथन को परखने हेतु इसकी मान्यताओं को जांचने की आवश्यकता है।

प्राचीन कल्याणवादी अर्थशास्त्र
(Old Welfare Economics)

व्याख्या एवं मान्यतायें—

एडम स्मिथ, रिकार्डो आदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि सामाजिक कल्याण धन पर निर्भर था। उनके अनुसार कल्याण को अधिकतम् करने का उपाय यही था कि धन और उत्पत्ति को अधिकतम् किया जाये। इस कारण उन्होंने यह सुझाव दिया कि कल्याण को अधिकतम् करने हेतु वर्तमान साधनों का, समाज के लिए अधिकतम् धन के उत्पादन में, प्रयोग करना चाहिए।

नव प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री मार्शल और पीगू ने अधिकतम् कल्याण की प्राप्ति हेतु वर्तमान साधनों के उपयोग और वितरण में कुशलतम् उपयोग करने पर बल दिया। कुशलतम् या सर्वोत्तम उपयोग केवल तब ही सम्भव है जबकि उपयोगिताओं को मापा जा सके और उनकी विभिन्न व्यक्तियों के बीच तुलना की जा सके। इस प्रकार कल्याण को अधिकतम् करने हेतु पूर्ण प्रतियोगिता की दशा सबसे उपयुक्त है। मार्शल और पीगू द्वारा निर्मित प्राचीन कल्याणवादी अर्थशास्त्र निम्न मान्यताओं पर आधारित है :—(१) उपयोगिता को मुद्रा रूपी पैमाने से मापा जा सकता है और इस प्रकार वस्तु की विभिन्न इकाइयों से प्राप्त कुल उपयोगिता ज्ञात की जा सकती है। (२) एक व्यक्ति विशेष को एक वस्तु विशेष से प्राप्त होने वाली उपयोगिता पर अन्य व्यक्तियों के पास उपलब्ध उस वस्तु या अन्य वस्तुओं की मात्रा का असर नहीं पड़ता। (३) वस्तु विशेष से विभिन्न व्यक्तियों को मिलने वाली उपयोगिताओं की तुलना की जा सकती है और

ऐसी तुलना के द्वारा यह मालूम करना सम्भव है कि निर्धन व्यक्ति के लिए आय की सीमान्त उपयोगिता धनवान व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होती है, कि प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित आय के द्वारा उपयोगिता प्राप्त करने की क्षमता सीमित है और कि धनी व्यक्तियों की आय के कुछ भाग का निर्धनो के पक्ष मे हस्तान्तरण करके कुल उपयोगिता (या कुल सन्तोष) मे वृद्धि की जा सकती है। (४) किसी वस्तु की विभिन्न इकाइयाँ क्रय करते समय उपभोक्ता के लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता अपरिवर्तित रहती है।

यह कहना तो कठिन है कि व्यक्ति या सरकार की क्रियाओं से सामाजिक कल्याण में वृद्धि होगी या कमी किन्तु मोटे रूप से यह कह सकते हैं कि कोई भी आर्थिक परिवर्तन, जो धनी व्यक्तियों की आय के कुछ भाग को निर्धनों के पास हस्तांतरित करे, आय के वितरण की समानता को बढ़ाकर सामाजिक कल्याण में वृद्धि सम्भव बनाता है। इसके विपरीत स्थिति मे, सामाजिक कल्याण मे कमी हो जायेगी।

आलोचनाएँ—

(१) आधुनिक अर्थशास्त्रियो का कहना है कि **उपयोगिता को मापा नहीं** जा सकता, जिस कारण सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता के परिवर्तनो का (और इसलिये वैयक्तिक या सामाजिक कल्याण की कमी या वृद्धि का) पता लगाना सम्भव नही है। (२) **धन के वितरण पर बहुत अधिक बल** दिया गया है और यह भुला दिया गया है कि समान वितरण की नीति को प्रमुखता देने से 'उत्पादन की इच्छा' पर कुप्रभाव पड़ेगा। वास्तव में, उत्पादन की कुशलता एव धन का समान वितरण दोनो ही आर्थिक कल्याण की वृद्धि के लिये आवश्यक है। अतः दोनो पर ही बल देना चाहिये था।

उपयोगिता की माप सम्बन्धी कठिनाई के निवारण तथा प्राचीन कल्याणवादी अर्थशास्त्र पर सुधार हेतु २० वी शताब्दी के तीसरे दशक के लगभग कल्याणवादी अर्थशास्त्र मे दो नई विचारधाराओ का उदय हुआ :—(i) नवीन कल्याणवादी अर्थशास्त्र, जिसके मूल जन्मदाता पेरिटो (Pareto) हैं और विकासकर्ता हिक्स (Hicks), कालडोर (Kaldor) इत्यादि अर्थशास्त्री हैं एव (ii) सामाजिक कल्याण फलन, जिसका विकास नवीन कल्याणवादी अर्थशास्त्र की कुछ आलोचनाओ को दूर करने हेतु हुआ है।

नवीन कल्याणवादी अर्थशास्त्र
(New Welfare Economics)

व्याख्या—

नवीन कल्याणवादी अर्थशास्त्र इस दृष्टि से 'नवीन' है कि यह विभिन्न व्यक्तियो की उपयोगिताओ को जोडे बिना ही उत्पादन और विनिमय के लिए अनुकूलतम् दशा मे निर्धारित करने का दावा करता है।[1] उपयोगिताओ को जोड़ने की कठिनाई से बचने हेतु इसने उदासीनता वक्र टेक्नीक का उपयोग किया है। इस टेक्नीक के द्वारा यह जाना जा सकता है कि एक व्यक्ति एक प्रकार के वस्तु-सयोग को दूसरे प्रकार के वस्तु-संयोग की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है या कम या वह इनके मध्य उदासीन (Indifferent) है। (वह इस बात को बताने का यत्न नहीं करती है कि एक वस्तु सयोग को दूसरे की अपेक्षा "कितना" कम या अधिक पसन्द किया जाता है, क्योकि इसके लिए उपयोगिता के माप की आवश्यकता पड़ती है।) ऊँची उदासीनता रेखाएँ नीची उदासीनता रेखाओ की अपेक्षा अधिक सन्तुष्टि सूचित करती हैं। अतः कल्याण के अधिकतम् करने हेतु व्यक्ति को चाहिए कि वह नीची रेखाओ से ऊँची रेखाओं पर जाने का प्रयास करे।

पेरिटो ने यह मान्यता की थी कि कुछ लोगों के कल्याण में अन्य लोगों का कल्याण घटे बिना ही, वृद्धि करना सम्भव है। किन्तु यह मान्यता यथार्थता के विरुद्ध है, क्योकि सम्भव है कि कुछ लोगो का कल्याण बढ़ने के साथ-साथ अन्य लोगों के कल्याण मे कमी आ जाय। इस कठिनाई को प्रो० हिक्स ने अपना **हानि-पूर्ति सिद्धान्त** (Compensation Principle) प्रस्तुत करके दूर किया है। इस सिद्धान्त का साराश यह है कि अर्थ-व्यवस्था के पुनर्गठन द्वारा आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो सकती है, बशर्ते जिन व्यक्तियों को ऐसे पुनर्गठन के फलस्वरूप लाभ

[1] **Little** : *A Critique of Welfare Economics*, p. 84

हुआ है वे अपने लाभ का कुछ भाग उन व्यक्तियों की हानिपूर्ति में लगा दें जिन्हें पुनर्गठन से हानि उठानी पड़ी है। ऐसी हानिपूर्ति लाभों पर करारोपण के द्वारा की जाती है। करों से प्राप्त धन को हानि उठाने वालो के लाभार्थ व्यय किया जाता है। इस आर्थिक सहायता का प्रयोग एक वैज्ञानिक उपकरण के रूप मे यह पता लगाने हेतु किया जाता है कि कल्याण मे वृद्धि हुई या नही। इसका न्यायपूर्ण वितरण से कोई सम्बन्ध नही है (किन्तु प्रारम्भिक अर्थशास्त्री ऐसा सम्बन्ध मानते थे) अर्थात् इसका प्रयोग एक नैतिक उपाय के रूप मे नही किया जाता है।

आलोचना—

नवीन कल्याणवादी अर्थशास्त्र की प्रमुख आलोचनायें इस प्रकार हैं :—(अ) यदि नव प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की त्रुटि यह थी कि उन्होंने उत्पादन की कुशलता के बजाय न्यायपूर्ण वितरण के प्रश्न पर अधिक जोर दिया, तब हिक्स-कालडोर के विवेचन की त्रुटि यह है कि उन्होंने न्यायपूर्ण वितरण के प्रश्न को राजनीतिज्ञों के लिए छोड़ दिया और स्वय केवल कुशलता के प्रश्न पर ध्यान देते रहे। (ब) जैसा कि प्रो० लिटिल ने कहा है, स्वतन्त्र उपक्रम व्यवस्था पर आधारित अर्थ-व्यवस्था मे कुशलता प्रभावों को आय-वितरण-प्रभावों से अलग नहीं किया जा सकता, अर्थात्, उत्पादन-कुशलता मे परिवर्तन होने पर आय मे कुछ पुर्नवितरण स्वय ही हो जाता है और आर्थिक कल्याण को प्रभावित कर देता है। यही कारण है कि केवल कुशलता की दृष्टि से आर्थिक कल्याण मे वृद्धि अथवा कमी का ठीक-ठीक पता नही लगाया जा सकता।

सामाजिक कल्याण फलन
(The Social Welfare Function)

व्याख्या—

इस विचारधारा के प्रतिपादक बर्गसन (Bergson), सेम्युअलसन (Samuelson) इत्यादि हैं। यह विचारधारा कल्याण के अध्ययन मे कुशलता और न्यायपूर्ण वितरण दोनो ही प्रश्नो पर ध्यान देती है। इसके अनुसार, सामाजिक कल्याण या तो समाज के प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण पर अथवा समाज के प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उपभोग की गई वस्तुओ और प्रस्तुत की गई सेवाओ की मात्राओ पर निर्भर होता है। जबकि प्रत्येक व्यक्ति पहले की अपेक्षा अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करे या कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सन्तोष मे कमी आये बिना ही अधिक सन्तुष्टि प्राप्त कर लें, तो यह आवश्यक नही है कि कल्याण मे वृद्धि हो जाय, क्योंकि कल्याण को प्रभावित करने वाली आय अनेक बातें भी हैं, जैसे—आय वितरण का ढङ्ग, विभिन्न व्यक्तियो के कल्याण की परस्पर-निर्भरता, आदि। कल्याण को सूचित करने हेतु बर्गसन ने निम्न सूत्र दिया है : $W = F(a, b, c...)$, जिसमे W कल्याण को सूचित करता है, जो विभिन्न घटकों (a, b, c,...) का फलन (F) है।

साजाजिक कल्याण सम्प्रदाय (The Social Welfare School) के अर्थशास्त्री बर्गसन, सेम्युअलसन इत्यादि उपयोगिता की मापनीयता और अन्तर-व्यक्तीय तुलना में विश्वास नही करते। वे *कल्याणवादी अर्थशास्त्र के लिए नैतिक निर्णय होना आवश्यक मानते हैं* किन्तु उनका कहना है कि ऐसे निर्णय राजनीतिज्ञों, समाज-सुधारकों आदि को लेने चाहिए और इनसे फिर अर्थशास्त्री ग्रहण कर सकता है।

आलोचनायें—

(१) यह विचारधारा प्रत्येक मनुष्य को समान महत्व देती है, जो स्वयं में एक नैतिक प्रश्न है और इस कारण वैज्ञानिक विश्लेषण का सूचक नही है। यदि असमान महत्व दें, तो भी यह प्रतीत होगा कि हम अपने मूल्यांकनों को दूसरों पर थोप रहे हैं। (२) यह विचारधारा समस्या को एक गणितीय रूप मे प्रस्तुत करती है, उसका समाधान नही है।

कल्याणवादी अर्थशास्त्र का मूल्यांकन

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कल्याणवादी अर्थशास्त्र अभी भी विकास की अवस्था मे है और इसकी स्थिति को पूर्णतः सन्तोषजनक नही माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) मार्शल, पीगू इत्यादि ने आर्थिक कल्याण के सन्दर्भ में धन के वितरण पर बहुत बल दिया। वे उपयोगिता की मापनीयता एवं अन्तर-व्यक्तीय तुलना में विश्वास करते थे।

रोबिन्स इत्यादि अर्थशास्त्रियों ने बताया कि उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक धारणा है जिसका ठीक-ठीक माप सम्भव नहीं है।

(२) हिक्स, कालडोर इत्यादि ने उपयोगिता के माप की कठिनाई को दूर करने हेतु उदासीनता वक्र टेक्नीक का आविष्कार किया और उत्पादन की कुशलता पर अधिक बल दिया। इनकी आलोचना इस आधार पर की गई कि उदासीनता वक्र रेखाओं द्वारा बताई जाने वाली व्यक्तिगत प्राथमिकताओं की रूपरेखा अनेक अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। इसमें उपभोक्ताओं की प्राथमिकताओं को आय और मूल्य सम्बन्धी परिवर्तनों से अ-प्रभावित मान लिया गया है किन्तु यथार्थ मे ऐसा नहीं है। (इन आलोचनाओं के उत्तर मे कहा गया है कि आय और मूल्य सम्बन्धी परिवर्तनों के प्रभावों को व्यक्त करने हेतु यदि नये-नये वक्र खीचे गये तो उदासीनता मान-चित्र गडबड हो जायगा। अत. यह मान लेना पड़ा कि आय और मूल्य के परिवर्तन उपभोक्ताओं की प्राथमिकता सूची को प्रभावित नहीं करते। इस उत्तर से आलोचक सन्तुष्ट नहीं हैं।)

(३) बर्गसन, सेम्युअलसन इत्यादि ने नवीन कल्याणवादी विचारधारा के दोषों को दूर करने हेतु सामाजिक कल्याण फलन का प्रतिपादन किया है, जो उत्पादन की कुशलता और न्यायपूर्ण वितरण दोनों ही प्रश्नों पर बल देती है। किन्तु, इसने नैतिक निर्णय (Value judgements) लेने का काम अन्य लोगों पर डाल दिया, जिस कारण इसे त्रुटिपूर्ण माना गया है। आलोचकों का कहना है कि नैतिक निर्णयों के काम को राजनीतिज्ञों इत्यादि पर छोड़कर सामाजिक कल्याण के सम्प्रदाय ने 'कल्याणवादी अर्थशास्त्र' को 'वास्तविक अर्थशास्त्र' (Positive Economics) के निकट ला दिया है। रोबिन्स भी तो यही कहते हैं कि नैतिक निर्णय लेने का कार्य अर्थशास्त्रियों का नहीं है।

(४) रोबिन्स इत्यादि अर्थशास्त्रियों का कहना है कि कल्यावादी अर्थशास्त्र का सम्बन्ध नैतिकता से होता है, जिस कारण इसे नीतिशास्त्र मे स्थान मिलना चाहिए, अर्थशास्त्र मे नहीं। किन्तु इसके उत्तर मे रेडोमिस्लर ने बताया है कि कल्याणवादी अर्थशास्त्र कल्याण को बढाने वाले कारणों (Causes) पर प्रकाश डालता है, वह 'क्या होना चाहिए' का अध्ययन नहीं करता; अतः उसका नैतिकता से सम्बन्ध नहीं है। अन्य कल्याणवादी अर्थशास्त्री (जैसे-लिटिल इत्यादि) रेडोमिस्लर से असहमति प्रकट करते हुए कल्याणवादी अर्थशास्त्र को नैतिकता से सम्बन्धित रखना आवश्यक बताते हैं। पुन स्वय रोबिन्स भी अपने अर्थशास्त्र के वास्तविकतावादी दृष्टिकोण के प्रति मन्देह रखते हैं। तब ही तो अपनी पुस्तक (The Nature and Significance of Economic Science) मे एक स्थान पर यह लिखते हैं कि, "इस सबके कहने का आशय यह नहीं है कि अर्थशास्त्री नैतिक समस्याओं पर अपने कोई विचार न रखे···।"[1]

इस प्रकार, कल्याणवादी अर्थशास्त्र का अभी भी पूर्ण विकास नहीं हो सका है। हमारी सम्मति मे मार्शल ठीक ही लिखते हैं कि "यदि अर्थशास्त्र मे आर्थिक कल्याण को बढाने वाले कारणों का अध्ययन न किया जाय तो वह नीरस और व्यर्थ रहेगा।"

परीक्षा प्रश्न :

१. 'कल्याणवादी अर्थशास्त्र' से क्या आशय है? यथार्थवादी और कल्याणवादी अर्थशास्त्र की मान्यताओं मे क्या महत्त्वपूर्ण भेद है?

   [सहायक संकेत :—सर्वप्रथम कल्याणवादी अर्थशास्त्र के अर्थ को स्पष्ट कीजिए, इसके उद्देश्य भी समझाइए और अन्त मे दोनों प्रकार के अर्थशास्त्र की तुलना कीजिये।]

२ 'कल्याणवादी अर्थशास्त्र' की धारणा की आलोचना कीजिये।

   [सहायक संकेत —सर्वप्रथम कल्याणवादी अर्थशास्त्र के अर्थ को स्पष्ट कीजिये। तदपश्चात् प्राचीन एव नवीन विचारधाराओं की व्याख्या व आलोचना दीजिये और अन्त मे यह निष्कर्ष निकालिये कि कल्याणवादी अर्थशास्त्र का अभी पूर्ण विकास नहीं हो पाया है।]

---

[1] **Robbins** : *The Nature and Significance of Economic Science*, p 149-150.

दूसरा भाग

उपभोग

[CONSUMPTION]

६

उपभोग, इसका महत्त्व एवं उपभोक्ता की सार्वभौमिकता

(Consumption, its Importance and Consumer's Sovereignty)

प्रारम्भिक—

मनुष्य के जीवन में आवश्यकताओं का महत्त्व है। मानव जीवन की उथल-पुथल और मनुष्य की उधेड़-बुन की आवश्यकताओं पर ही आधारित है। प्रायः सभी काम किसी न किसी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही किये जाते हैं। मनुष्य की क्रियाओं का प्रारम्भ आवश्यकताओं से ही होता है। पहले कोई आवश्यकता उत्पन्न होती है और फिर उसकी पूर्ति के लिए मनुष्य प्रयत्नशील होता है। अन्त में उस आवश्यकता की पूर्ति करके मनुष्य सन्तुष्टि या सन्तोष अनुभव करता है। इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक मानव व्यवहार अथवा मानव क्रियाओं पर आवश्यकताओं की छाप बनी रहती है। उपभोग मे हम मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का ही अध्ययन करते हैं।

उपभोग का अर्थ

मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति का व्यवहार कुछ नियमो के अनुसार होता है। यह सभी नियम तथा उनसे सम्बन्धित दूसरी बातें उपभोग के अध्ययन-क्रम मे आ जाती हैं। अतः यह कहते हैं, कि **उपभोग मनुष्य की आवश्यकता-पूर्ति की क्रिया का नाम है।** [1] नीचे कुछ प्रमुख विद्वानो की परिभाषाये प्रस्तुत की गई हैं :—

(१) प्रो० ऐली—"विस्तृत अर्थ में, उपभोग का आशय आर्थिक वस्तुओ और व्यक्तिगत सेवाओं का, मनुष्य की आवश्यकताओं के सन्तुष्ट करने के लिये उपभोग करने से है।"[2]

(२) मेयर—"*स्वतन्त्र मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वस्तुओं अथवा* सेवाओ के प्रत्यक्ष और अन्तिम उपयोग को उपभोग कहते हैं।"[3] [इस परिभाषा मे मनुष्यो के साथ *"स्वतन्त्र" शब्द व्यर्थ मे ही जोड़ा गया है, परन्तु 'प्रत्यक्ष' और 'अन्तिम' शब्द सार्थक हैं।* मेयर का अभिप्राय यह है कि वस्तुओ और सेवाओं का उपभोग उत्पत्ति के लिए ही हो सकता है और उपभोग के लिये भी, परन्तु उत्पत्ति के लिये जो उपभोग होता है वह परोक्ष (Indirect) होता है और इसका उद्देश्य किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन करना होता है जिसका अन्त में उपभोग किया जा सके।]

---

1 "Consumption is the process of the satisfaction of human wants."

2 "Consumption, in its broadest sense, means the use of economic goods and personal services in the satisfaction of human wants."—Ely.

3 Consumption is the ditect and final use of goods or services in satisfying the wants of free human beings."—Meyer.

उपभोग एवं विनाश

"उपभोग और विनाश में अन्तर है"—पहला मत

अर्थशास्त्र के विद्वान बहुधा उपभोग (Consumption) तथा विनाश (Destruction) मे भेद करते हैं तथा यह बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि उपभोग **और** विनाश दोनों में बड़ा अन्तर है। साधारणतया जब हम किसी वस्तु को आवश्यकता-पूर्ति के लिए काम में लाते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमने उस वस्तु का विनाश कर दिया। उदाहरणार्थ, जब हम भूख मिटाने के लिए भोजन करते हैं, तो भोजन की एक निश्चित मात्रा नष्ट हो जाती है। इससे कुछ लोग अनुमान लगा लेते हैं कि आवश्यकता-पूर्ति की क्रिया मे साधन नष्ट हो जाता है, और, इस प्रकार, उपभोग और विनाश दोनों एक जैसे दिखाई पड़ते हैं।

परन्तु वास्तव मे ऐसी बात नहीं है। भौतिकशास्त्र (Physics) हमें यह बताता है कि पदार्थ (Matter) का कभी विनाश नहीं होता। हम केवल इतना कर सकते हैं कि किसी वस्तु के रूप, स्थान अथवा गुणों को बदल दें। वह भोजन, जो हम खाते हैं, सर्वथा नष्ट हो जाता है, वरन् उसका रूप बदल जाता है। हमारे खा लेने के पश्चात् वह शक्ति, रक्त, माँस इत्यादि मे परिवर्तित हो जाता है, जिसका अर्थ यह होता है कि वह एक दूसरे रूप मे अब भी बना रहता है। ठीक, इसी प्रकार, किसी अन्य वस्तु को भी हम मिटा नहीं सकते, केवल उसमे परिवर्तन ही कर सकते हैं। दूसरे शब्दों मे, विनाश हमारे लिए सम्भव ही नहीं है और इसीलिए "उपभोग" को "विनाश" कहना भूल होगी। यह तो परिवर्तन-क्रिया मात्र है, क्योंकि हमारे उपभोग के उपरान्त भी वह वस्तु बनी रहती है, केवल उसके रूप, गुण इत्यादि बदल जाते हैं।

"उपभोग एक विशेष प्रकार का विनाश है"—दूसरा मत

इसके विपरीत, कुछ दूसरे अर्थशास्त्रियों का विचार है कि उपभोग एक विशेष प्रकार का विनाश है। प्रत्येक वस्तु मे मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति का गुण होता है। अर्थशास्त्र मे इस गुण को हम उस वस्तु की "उपयोगिता" (Utility) कहते हैं। किसी वस्तु की आवश्यकता पूरी करने की क्षमता इसी गुण पर निर्भर होती है। जितनी अधिक किसी वस्तु की हमारे लिए उपयोगिता होती है उतनी ही अधिक उसके उपभोग से हमें तृप्ति अथवा सन्तुष्टि मिलती है। उपभोग के अन्तर्गत भले ही हम वस्तु विशेष का विनाश न करते हों, किन्तु हम उसकी आवश्यकता-पूर्ति की शक्ति को अवश्य नष्ट कर देते हैं। दूसरे शब्दों मे, **उपभोग वस्तु का विनाश तो नहीं होता, किन्तु उपयोगिता का विनाश हो जाता है।** इस प्रकार, उपभोग वास्तव मे एक विशेष प्रकार का विनाश (अर्थात् उपयोगिता का विनाश) है और मूलतया उपभोग और विनाश मे कोई अन्तर नहीं है। इसी आधार पर मार्शल ने उपभोग को **'ऋणात्मक उत्पादन'** (Negative Production) कहा है जबकि उत्पादन से उनका अभिप्राय किसी वस्तु मे उपयोगिता का सृजन करने से है। टामस (Thomas) ने उपयोग को 'मूल्य का विनाश' (Destruction of Value) कहा है, क्योंकि मूल्य उपयोगिता द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है।

उपयोगिता को कम करना ही उपभोग है—

उपरोक्त कथन मे एक भारी भूल है। उपभोग की क्रिया मे उपयोगिता का महत्त्व सभी जानते हैं, परन्तु शायद यह कहना ठीक नहीं है कि उपभोग के अन्तर्गत उपयोगिता का विनाश हो जाता है।

(१) उपभोग में उपयोगिता का पूर्ण विनाश नहीं—जिस प्रकार हम पदार्थ (Matter) का विनाश नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार उपयोगिता का भी पूर्णतया विनाश सम्भव नहीं है। उपभोग की क्रिया में केवल इतना होता है कि वस्तु विशेष की उपयोगिता

हमारे लिए कम हो जाती है। यह पूर्ण रूप से उपयोगिता नष्ट नहीं होती, केवल कम ही होती है।

(२) उपभोग से अन्य व्यक्तियों के लिए उपयोगिता बढ़ सकती है—यह भी सम्भव है कि उपभोग किये जाने के कारण जिस वस्तु की उपयोगिता किसी एक व्यक्ति के लिए कम हो गई है, उसकी उपयोगिता किसी दूसरे व्यक्ति के लिए अथवा किसी दूसरी आवश्यकता की पूर्ति के लिए बढ़ जाय। उदाहरणस्वरूप, जब हम एक कमीज को पहनते हैं या दूसरे शब्दों में उपभोग करते हैं, तो इस क्रिया के उपरान्त इस कमीज की उपयोगिता हमारे लिये कम हो जाती है, किन्तु स्मरण रहे कि एक फटे कपड़े बटोरने वाले व्यक्ति (Rag picker) के लिए हमारी फटी हुई कमीज की उपयोगिता बढ़ जाती है। संसार की कोई भी वस्तु उपयोगिता रहित नहीं होती। हमारी फटी हुई कमीज की भी कुछ न कुछ उपयोगिता हमारे लिए अवश्य रहती है, परन्तु यह उतनी अधिक नहीं होती जितनी कि नई कमीज की थी। इसी प्रकार हम यह देख सकते हैं कि अन्य वस्तुओं की भी उपभोग के पश्चात् हमारे लिए उपयोगिता कम हो जाती है। एक मशीन तथा मोटर उपभोग के बाद कुछ समय पीछे हमारे लिये इतनी उपयोगी नहीं रहती जितनी कि यह पहले थी।

(३) उपयोगिता कम करने की प्रत्येक क्रिया उपभोग नहीं—यह तो ठीक है कि उपभोग द्वारा प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता कम हो जाती है, किन्तु उपयोगिता कम हो जाने का अर्थ सदैव यह नहीं होता कि उपभोग हुआ है। यदि हमारी नई कमीज चूहों या दीमक द्वारा खराब कर दी गई है, जिससे उसकी उपयोगिता हमारे लिये कम हो गई है, तो यह उपभोग नहीं हुआ। यदि आवश्यकता पूर्ति के कार्य के अन्तर्गत उपयोगिता कम होती है, तो उसी दशा में उपभोग होता है।

निष्कर्ष—उपभोग केवल आवश्यकता पूर्ति की क्रिया—उपभोग केवल आवश्यकता पूर्ति की क्रिया है। उपयोगिता में कमी हो जाना उसका परिणाम है। वह स्वयं उपभोग नहीं है। फिर भी साधारणतया उपयोगिता की कमी करने को "उपभोग" कहा जा सकता है।

उपभोग के अध्ययन का प्रारम्भ

(I) जे० बी० से—उपभोग के अध्ययन की उपेक्षा—फ्रांस के प्रमुख आर्थिक लेखक जे० बी० से (J. B. Say) सबसे पहले अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने अपनी राजनीतिक अर्थशास्त्र की पुस्तक को तीन भागों में—उत्पत्ति, वितरण तथा विनिमय में, विभाजित किया था। उपभोग के विषय की उन्होंने अलग विवेचन नहीं की थी, परन्तु उसे उत्पत्ति का ही एक भाग माना था। से (Say) के बाद के लेखकों ने अर्थशास्त्र के विषय के विभाजन की प्रथा को बनाये रखा और अभी तक भी यह प्रथा चली आ रही है। सच बात तो यह है कि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने उपभोग के अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं समझी थी और इसी कारण इसके नियमों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया था।

(II) बैनथम—उपयोगिता विवेचन का महत्त्व—से (Say) के बाद के अर्थशास्त्रियों पर बैनथम (Bentham) नामक एक राजनीतिक लेखक के विचारों का अधिक प्रभाव पड़ा। अर्थशास्त्र में "उपयोगिता" शब्द उन्हीं की देन है। बैनथम के अनुसार किसी भी प्रणाली (System) अथवा क्रिया की अच्छाई या बुराई उसकी "उपयोगिता" से सम्बन्धित होनी चाहिये। कोई वस्तु जितनी ही अधिक समाज के लिये उपयोगी होगी वह उतनी ही अधिक वांछनीय या हितकर होगी। इस विचारधारा का आर्थिक विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा और आर्थिक प्रयोजनों तथा नियमों के अध्ययन में उपयोगिता-विवेचना (Utility Analysis) का उपयोग बढ़ता ही गया।

(III) कौनडीलैक्स—मूल्य सिद्धान्त में उपयोगिता का प्रयोग—धीरे-धीरे उपयोगिता के आधार पर आर्थिक नियमों और निष्कर्षों का निर्माण अर्थशास्त्र का एक आवश्यक अङ्ग बन गया। इस सम्बन्ध में इटली के प्राचीन आर्थिक लेखक कौनडीलैक्स (Condillacs) का कार्य विशेष रूप से सराहनीय है। उन्होंने सबसे पहले अपने मूल्य के सिद्धान्त को उपयोगिता पर आधारित किया और इस नियम का निर्माण किया कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी दुर्लभता (Scarcity) तथा उपयोगिता (Utility) पर निर्भर होता है। साथ-साथ उन्होंने यह भी बताया कि उपयोगिता का परिमाणात्मक माप (Quantitative Measurement) सम्भव है। इस प्रकार, कौनडीलैक्स का कार्य उनके युग को देखते हुये बहुत मौलिक तथा बहुत उच्च कोटि का था।

(IV) उपभोग के नियमित अध्ययन का श्रेय आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियों को—उपयोगिता शब्द तो अर्थशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान पा गया, किन्तु उपभोग का नियमितता पूर्वक अध्ययन इतना शीघ्र आरम्भ नहीं हुआ। एक लम्बे समय तक उपभोग का अध्ययन नहीं किया गया। इस अध्ययन को आरम्भ करने का श्रेय आस्ट्रियन सम्प्रदाय के लेखकों को है। उन्होंने न केवल उपभोग के अध्ययन को ही अपनाया वरन् इस अध्ययन को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया। उन्होंने आर्थिक विज्ञान की विषयविवेचना उपभोग से आरम्भ की और इस बात पर बल दिया कि इस विज्ञान का आधार उपभोग ही है। इस सम्बन्ध में वीजर (Wieser), मैंजर (Menger), वालरस (Walras), जेवन्स (Jevons) तथा बोहम-बावर्क (Bohm-Bawerk) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस सम्प्रदाय के लेखकों ने उपभोग और उसके नियमों की भली-भाँति विवेचना की और इस कार्य में उपयोगिता-विवेचन को विशेष महत्त्व दिया तथा उसका विशेष उपयोग किया। इसके अतिरिक्त इन लोगों ने मूल्य और वितरण के सिद्धान्तों में भी उपयोगिता विवेचना प्रणाली को ही अपनाया।

(V) आधुनिक अर्थशास्त्र में उपभोग—आधुनिक अर्थशास्त्र में उपभोग का महत्त्व बहुत ही बढ़ गया है, क्योंकि उपभोग को ही अर्थशास्त्र का आधार मानकर इस विज्ञान की रचना की गई है। आधुनिक अर्थशास्त्र को बहुधा तीन युगों में बाँटा जाता है :—

(१) गोसन का युग—पहला युग गोसन (Gossen) से आरम्भ होता है। गोसन के मानव वाणिज्य (अर्थशास्त्र) की तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं :—दृढ़ उपयोगितावाद (Utilitarianism), उपभोग-दृष्टिकोण और गणित प्रणाली का उपयोग। गोसन अपनी पुस्तक इस वाक्य से आरम्भ करते हैं कि "समस्त मानव व्यवहार का उद्देश्य सन्तोष अथवा सुख को अधिक से अधिक करना होता है।" इसी एक मान्यता (Assumption) के आधार पर समस्त अर्थ-विज्ञान की रचना होनी है। इसके उपरान्त गोसन उपयोग के उन दोनों नियमों की विवेचना करते हैं जिनके पालन करने से इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। उनका अभिप्राय यह है कि अर्थशास्त्र उपभोग पर ही आधारित है और इस शास्त्र को समझने के लिए सर्वप्रथम उपभोग और उसके नियमों का ही अध्ययन करना चाहिए।

(२) मार्शल का युग—आधुनिक अर्थशास्त्र के दूसरे युग में मार्शल का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके हाथों द्वारा उपभोग के अध्ययन पर विशेष प्रकाश पड़ा है। मार्शल की विशेषता यह है कि उन्होंने बड़े सरल तथा रोचक ढङ्ग से उपभोग के नियमों की व्याख्या की है और उपभोक्ता की बचत का एक नया तथा मौलिक विचार अर्थशास्त्र को दिया है।

(३) हिक्स, रोबिन्स आदि—तीसरे युग के नवीन कालीन लेखकों का नम्बर आता है, जिनमें रोबिन्स, श्रीमती जॉन रोबिन्सन (Joan Robinson) तथा जे० आर० हिक्स (J. R. Hicks) के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। यह कहना व्यर्थ न होगा कि आधुनिक अर्थशास्त्र के ये सभी नवीन लेखक उपभोग को ही अर्थशास्त्र का आधार तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग मानते हैं।

रोबिन्स द्वारा की गई अर्थशास्त्र की परिभाषा पहले ही दी जा चुकी है। उसके अध्ययन के पश्चात् यह संदेह रह जाना सम्भव नहीं है कि अर्थशास्त्र में उपभोग का स्थान बहुत ऊँचा है।

उपभोग का महत्त्व

आधुनिक अर्थशास्त्र में उपभोग के महत्त्व की निम्न बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय है :—

उपभोग मानवीय क्रियाओं का आदि और अन्त दोनों :—

आधारभूत बात यह है कि प्रत्येक मानवीय क्रिया का जन्म आवश्यकता से होता है। यदि हमारी आवश्यकतायें न हों तो हम कोई कार्य भी नहीं करेंगे। वस्तुओं और सेवाओं को उत्पन्न करने की इच्छा हम इसलिए करते हैं कि हमारी आवश्यकतायें ऐसा करने लिए बाध्य करती हैं। आवश्यकताओं की उपस्थिति कष्टदायक होती है और कष्ट से हम छुटकारा पाना चाहते हैं। इस प्रकार सभी मानवीय क्रियाओं का प्रेरणा-केन्द्र उपभोग ही है। उपभोग को मानवीय क्रियाओं का आदि और अन्त दोनों ही कहा जा सकता है।

अन्य आर्थिक क्रियाओं पर इसका प्रभाव—

अर्थशास्त्र के चार विभाग हैं, जिनका परस्पर बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, परन्तु उत्पत्ति, विनिमय और वितरण का रूप उपभोग द्वारा निश्चित होता है।

(१) **उत्पत्ति पर प्रभाव**—(i) यह तो स्पष्ट ही है कि उत्पत्ति का ध्येय आवश्यकताओं की पूर्ति होता है। उन्हीं वस्तुओं की उत्पत्ति की जाती है जिनका कि उपभोग होना है। ऐसी किसी वस्तु की उत्पत्ति करना, जो उपभोग में न लाई जा सके, व्यर्थ होगा। (ii) गुणात्मक दृष्टि से भी उत्पत्ति का रूप उपभोग पर आधारित है—जैसे-जैसे हमारी आवश्यकताओं का लेप बदलता जाता है, उत्पत्ति का रूप भी बदलता है। कुछ समय पहले जिन वस्तुओं की उत्पत्ति की जाती थी या जिन वस्तुओं की उत्पत्ति महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी, आजकल या तो उनकी उत्पत्ति होती ही नहीं है या उनका महत्त्व घट गया है। इसका मुख्य कारण यही है कि इन वस्तुओं का उपभोग अब इतना महत्वपूर्ण नहीं रह गया है जितना कि पहले था। (iii) उत्पत्ति की नई-नई रीतियाँ तथा नये-नये आविष्कार भी उपभोग पर ही आधारित है। एक साधारण-सी कहावत है कि "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" अभिप्राय यह है कि उत्पत्ति सम्बन्धी नई-नई बातों की खोज हम इसी कारण करते है कि हम अपनी आवश्यकताओं की अधिक से अधिक तृप्ति कर सकें।

(२) **विनिमय पर प्रभाव**—विनिमय का उद्देश्य भी अधिकतम् तृप्ति की प्राप्ति होता है। विनिमय का एक साधारण सत्य यह है कि विनिमय से विनिमय करने वाले दोनों पक्षों का लाभ होता है। विनिमय हम केवल उसी दशा में करते हैं जबकि बदले में मिलने वाली वस्तु से हमें अधिक उपयोगिता की आशा होती है। बात यह है कि अपनी आय के सीमित साधनों को विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार व्यय करने का प्रयत्न करते है कि हमे प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता अधिक से अधिक हो जाये।

(३) **वितरण पर प्रभाव**—वितरण की समस्या भी उपभोग से सम्बन्धित है :— (i) उत्पत्ति के सभी साधन, जो उत्पत्ति मे सहायक होते हैं, आवश्यकताओं के कारण से ही कार्य के लिए प्रेरित होते हैं और कुल उत्पादन में से इसलिए हिस्सा बँटाते हैं कि उनके स्वामी अपनी उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। (ii) यदि किसी उत्पत्ति के साधनों को उपभोग के लिए पर्याप्त हिस्सा नहीं मिलेगा, तो वह उत्पत्ति मे कोई भी रुचि नहीं लेगा। (iii) इसके साथ-साथ श्रम इत्यादि उत्पत्ति के साधनों की कार्यक्षमता उपभोग द्वारा निश्चित होती है। कार्यक्षमता एक बड़े अंश तक जीवन-स्तर (Standard of Living) पर निर्भर होती है और जीवन-स्तर उपभोग द्वारा निश्चित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे जीवन में उपभोग का बड़ा महत्त्व है। अर्थशास्त्र के कुछ आलोचक, जिनके विचार में सारा अर्थशास्त्र, उपभोग के महत्त्वपूर्ण नियम, अर्थात् अधिकतम् तृप्ति नियम पर आधारित है, एक बड़े सत्य का उल्लेख करते हैं। यथार्थ मे उपभोग से अलग करके अर्थशास्त्र को समझना भी कठिन होगा।

उपभोक्ता की सार्वभौमिकता
(Consumer's Sovereignty)

उपभोक्ता की सार्वभौमिकता से आशय—

स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था मे किस चीज का उत्पादन होगा यह इस बात पर निर्भर है कि उपभोक्ता अपनी आय अथवा उस धन को, जो उनके पास है, किस प्रकार व्यय करते हैं। प्रत्येक उत्पादक का अन्तिम उद्देश्य यही होना है कि उपभोग के लिए वस्तुओ का उत्पादन करे। इसी प्रकार, प्रत्येक उत्पादक अपने लाभ को अधिकतम् करना चाहता है परन्तु उसके लाभ का अधिकतम् होना एक बहुत बडे अंश तक उपभोक्ताओं के अनुराग (Preference) पर निर्भर है जो कि उनकी वस्तुओ के लिये माँग की मात्रा और इसके स्वरूप को निश्चित करता है। अतः, क्या उत्पन्न होना है और किस प्रकार उत्पन्न होना है यह इस बात पर निर्भर होगा कि उपभोक्ता अपना अनुराग कैसे व्यक्त करते हैं। पूँजीवाद के अन्तर्गत उपभोक्ता ही सम्राट है। यदि सभी वस्तुएँ आदेश (Order) के आधार पर उत्पन्न की जायें, तो आर्थिक क्रियाओ की दिशा उपभोक्ताओ द्वारा दिये हुये आदेशो पर निर्भर होगी। "फुटकर व्यापारी इन आदेशो को थोक व्यापारियों तक पहुँचायेंगे, थोक व्यापारी उत्पादकों तक और उत्पादक अर्द्ध निर्मित वस्तुओं के उत्पादकों तक और इस प्रकार यह क्रम आगे चलता रहेगा। यथार्थ मे, अधिकाश वस्तुएँ उपभोक्ताओ की माँग के अनुमान के आधार पर उत्पन्न की जाती हैं। अधिकाश उत्पत्ति के साधनों को साहसी द्वारा उनकी कीमत उनकी उपजो के बिकने से पहले ही दे दी जाती है। साहसी उपभोक्ताओं की माँग का अनुमान लगाकर अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं। यदि उनका अनुमान सही है तो उन्हें स्वयं को उससे अधिक लाभ प्राप्त होता है जो कि अनुमान गलत होने की दशा मे नही होता। यदि साहसी का अनुमान गलत है, तो वह अपनी, उत्पादन-योजना को बदल देगा जिससे कि वह उपभोक्ताओ की माँग के अनुकूल हो जायें।"[1] एक व्यवसायी की दृष्टि से साधारण कहावत यही है कि "उपभोक्ता मेरा स्वामी है" (Consumer is my master)।

उदाहरणो द्वारा स्पष्टीकरण—

एक समाज मे उत्पादक क्रियाएँ किस प्रकार उपभोक्ताओं की इच्छाओं के अनुसार बदल जाती हैं, इस सम्बन्ध मे कुछ उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा।

(१) सर्वप्रथम हम एक ऐसी दशा को लेते हैं जिसमें उपभोक्ताओ की रुचि गेहूँ से हटकर चावल की ओर जा रही है। ऐसी दशा मे गेहूँ के दाम घटेंगे, क्योकि अब उपभोक्ता गेहूँ की माँग कम करेंगे। फलतः भूमि तथा उत्पत्ति के साधन भी गेहूँ के उत्पादन से हटने लगेंगे। दूसरी ओर चूँकि चावल की माँग बढ गई है, इसलिये इसके दाम चढ जायेंगे। ऐसी दशा मे, चावल के उत्पादन मे अधिक भूमि और उत्पत्ति के अधिक साधन लगाये जायेंगे। इस प्रकार, कीमत यन्त्र, जो उपभोक्ताओं के चुनाव द्वारा संचालित हैं, उत्पत्ति के साधनों का उपभोक्ताओं की रुचियो के अनुसार पुनर्वितरण कर देगा।

(२) मान लीजिए कि नई मौद्रिक पूँजी उपलब्ध है और विनियोग के नये रास्ते खोज रही है। उपभोक्ताओं का चुनाव ही यह निश्चित करेगा कि यह नई पूँजी कहाँ लगाई

---
[1] Benham : *Economics*, p. 157

जाये। वह इस प्रकार कि पूँजी का प्रत्येक स्वामी इस बात का प्रयत्न करेगा कि उसे अपनी पूँजी से अधिकतम मौद्रिक लाभ प्राप्त हो। ऐसी दशा में प्रत्येक उत्पादक एक ओर तो यह देखेगा कि उत्पादन बढ़ाने की सम्भावनाएँ किन-किन उद्योगों में शेष हैं परन्तु दूसरी ओर यह भी देखेगा कि किन वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाकर अधिक अच्छा मूल्य प्राप्त किया जा सकता है। इस दिशा में भावी माँग का अनुमान अथवा उपभोक्ताओं का अनुराग उनका पथ-प्रदर्शन करेगा।

(३) मान लीजिये कि उपभोक्ता अधिक बचत करना चाहते हैं जिससे कि वे वर्तमान उपभोग में तो कमी कर दें परन्तु भविष्य में अपना उपयोग बढ़ा सकें। अधिक बचत के फलस्वरूप उपभोग की वस्तुओं पर व्यय घटेगा। ऐसी वस्तुओं की माँग कम हो जायेगी और उत्पत्ति के साधन उपभोग्य-वस्तु-उद्योगों से हटने लगेंगे। दूसरी ओर, बचतों के बढ़ने का फल यह हो सकता है कि विनियोग बढ़ जायें। यदि ऐसा हुआ, तो पूँजीगत माल उत्पन्न करने वाले उद्योगों में उत्पादन और रोजगार दोनों बढ़ेंगे। इस प्रकार, अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप में आधारभूत परिवर्तन हो जाते हैं।

ऊपर के तीनों उदाहरण साधारण दशाओं को दिखाते हैं किन्तु वास्तविक जीवन में दशाएँ जटिल हो सकती हैं। जैसा कि बेनहाम (Benham) ने लिखा है, "वास्तविक जीवन में, माँग का एक परिवर्तन पूरे उत्पादन-यन्त्र में परिवर्तन कर सकता है। कुछ भूमि छोड़ दी जायेगी; कुछ सामान फेंक दिया जायेगा; कुछ श्रमिक देश के दूसरे भाग को चले जायेंगे और इस प्रकार विभिन्न उद्योगों के बीच साधनों का बँटवारा एक पर्याप्त अंश तक बदल जायेगा। किन्तु उत्पत्ति-साधन दूसरी उत्पादन शाखाओं में तभी जायेंगे जबकि इनके स्वामी वहाँ अधिक आय की आशा करेंगे अर्थात् केवल उसी दशा में जबकि ऐसा अनुभव किया जायेगा कि उत्पादन की नई शाखाओं में उपभोक्ता पुरानी शाखाओं की तुलना में इन साधनों का अधिक मूल्य देने को तैयार होंगे।"[1]

उपभोक्ता के चुनाव का महत्त्व—

इस प्रकार, एक स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था में कोई औद्योगिक इकाई केवल तभी सफल हो सकती है जबकि वह उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं और उनके आदेशों के अनुसार चले। किकोफर (Kickhofer) ने उपभोक्ताओं के चुनाव का महत्त्व निम्न शब्दों में व्यक्त किया है, "सार्वजनिक उपभोग सार्वजनिक मतदान की भाँति है; यह नियन्त्रण का एक प्रजातन्त्रीय साधन है। उपभोक्ता में केवल एक ही योग्यता की आशा की जाती है कि उसके पास आवश्यक वस्तुएँ खरीदने के लिए आय हो। आर्थिक चुनाव में एक उपभोक्ता उतने ही मत दे सकता है जितने उसके पास व्यय करने के लिए डालर हैं। यदि आर्थिक मतदाता अपनी आय को आवश्यक के स्थान पर अनावश्यक, असली के स्थान पर नकली तथा सुन्दर के स्थान पर असुन्दर वस्तुओं पर व्यय करने का निर्णय करता है, तो फिर ऐसी ही वस्तुओं का उत्पादन होने लगेगा। उपभोक्ता का चुनाव चाहे वह बुद्धिमत्ता से हो अथवा मूर्खता से हमारी आर्थिक प्रणाली का प्रत्येक दशा में पथ-प्रदर्शन करता है। यह चुनाव, एक बिजली के बटन की भाँति है जिसके दबाते ही सारा उत्पादन यन्त्र क्रियाशील हो जाता है।"[2]

उपरोक्त विवेचन यह स्पष्ट कर देता है कि एक स्वतन्त्र अथवा अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में निर्देशन कार्य कीमत-यन्त्र (Price Mechanism) द्वारा किया जाता है। उत्पादक उपभोक्ता के चुनाव का ज्ञान कीमत यन्त्र द्वारा ही प्राप्त करता है। इसी प्रकार, उत्पत्ति के विभिन्न

[1] *Ibid.*, p. 160.

[2] W. H. Kickhofer : *Economic Principles, Problems and Policies*, p. 652

साधनों का विभिन्न उपयोगों और उद्योगों में वितरण भी मूल्य यन्त्र ही करता है। इस मूल्य यन्त्र को 'स्वचालित' कहा जाता है, क्योंकि इसके समायोजनों में बाहरी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती है। **परन्तु उपभोक्ता के चुनाव पर दो परिसीमाएँ लगती हैं:—प्रथम,** मूल्य यन्त्र सदा ही उपभोक्ताओं के चुनाव का पूर्णतया सही सूचक नहीं होता। **दूसरे,** पूँजीवाद में उपभोक्ता इतना स्वतन्त्र नहीं होता जितना कि उसे बताया गया है। अधिकांश वाममार्गी लेखक ऐसा समझते हैं कि पूँजीवाद में चुनाव की स्वतन्त्रता कोरी कल्पना है। "यह मान्यता, कि उपभोक्ता इस बात का चुनाव करने में स्वतन्त्र है कि उन्हें क्या और कितना चाहिए, एक कोरी आर्थिक गप्प है" एकाधिकार के इस युग में सभी जानते हैं कि उत्पादक उपभोग पर नियन्त्रण रख सकता है। इसके अतिरिक्त, विज्ञापन आदि रीतियों से भी उपभोक्ता की मांग का स्वरूप बदला जा सकता है। [विस्तृत विवरण आगे देखिये।]

उपभोक्ता के चुनाव का सिद्धान्त—

उपभोक्ता का चुनाव वातावरण और दीर्घकालीन सोच-विचार का परिणाम है—कुछ लोगों का यह गलत विश्वास रहा है कि उपभोक्ता का चुनाव आकस्मिक तथा अन्य प्रेरणाओं पर आधारित होता है। अब हम यह भली-भाँति जानते हैं कि व्यवहार अनेक बाहरी कारणों (External stimuli) पर निर्भर होता है। वातावरण सम्बन्धी परिस्थितियाँ तो मनुष्यों की आधारभूत रुचियों और प्रवृत्तियों को भी बदल सकती है। चुनाव का प्रगटीकरण आकस्मिक नहीं होता, वरन् अनेक दशाओं में दीर्घकालीन सोच-विचार का परिणाम होता है जिसमें सभी प्रकार की ऊँच-नीच पर विचार किया जाता है। यह भी देखने को मिलता है कि उपभोक्ता एक प्रकार की परिस्थितियों में एक रूप में अपने चुनाव को व्यक्त करता है परन्तु वही उपभोक्ता अन्य परिस्थितियों में अपने चुनाव को किसी दूसरे रूप में व्यक्त करता है।

आदतें, रीति रिवाज और रूढ़ियों का प्रभाव—अधिकांश दशाओं में चुनाव आदतों रीति-रिवाजों और रूढ़ियों से दिशा बद्ध हो जाता है। मनुष्य दूसरे व्यक्तियों के निर्णय का अनुकरण करने का भी प्रयत्न करता है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति के चुनाव में कुछ अंश तक उसकी व्यक्तिगत विशेषता झलकती है परन्तु एक बड़े अंश बाहरी कारण और दबाव भी उसके चुनाव को प्रभावित करते हैं। मनुष्य केवल व्यक्ति ही नहीं है वह एक सामाजिक प्राणी भी है।

आदतें, रीति-रिवाज और आय का आकार ये तीनों अन्य कारणों के साथ मिलकर एक उपभोक्ता के उपभोग का स्वरूप निश्चित कर देते हैं। उपभोग के इस नियत स्वरूप को ही जीवन-स्तर' कहा जाता है। किसी अर्थ व्यवस्था में विभिन्न सामाजिक वर्ग अपने अनुरागों को किस प्रकार व्यक्त करते हैं इसका अनुमान उनके जीवन-स्तर से लगाया जा सकता है। एक समाज की सम्पन्नता के सामान्य स्तर (General level) को उस समुदाय को विभिन्न सामाजिक वर्गों के आय स्तरों से जाना जा सकता है। भौतिक दृष्टि से, जीवन स्तर का अभिप्राय आवश्यक, आराम-दायक और विलास की वस्तुओं की उस मात्रा से होता है जिसके उपभोग का वह समाज अभ्यस्त हो जाता है। अत. समाज में लोगों का जीवन-स्तर इस बात का अच्छा अनुमान प्रदान कर देता है कि उपभोक्ता अपने चुनाव को किस प्रकार व्यक्त करते हैं।

जीवन-स्तर में एक विभिन्न प्रकार का टिकाऊपन होता है। यह देखने में आता है कि एक व्यक्ति अथवा एक सामाजिक वर्ग उन मदों को आसानी से बदलने के लिये तैयार नहीं होता है जो उसके जीवन स्तर का अङ्ग बन चुकी हैं। विभिन्न व्यक्तियों के जीवन-स्तर में जीवन निर्वाह आवश्यकताओं (Bare necessaries of life) के लिए तो प्रायः समान व्यवस्था रहती है और सभी व्यक्ति इन्हीं आवश्यकताओं को सर्वप्रथम पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु

कृत्रिम आवश्यकताओं, आरामदायक आवश्यकताओं और विलास आवश्यकताओं के लिए व्यवस्था विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों द्वारा अलग-अलग प्रकार से की जाती है। किन्तु एक ही सामाजिक वर्ग के सदस्यों के उपभोग में उपरोक्त आवश्यकताओं की व्यवस्था भी लगभग एक-सी ही होगी, अन्तर केवल विलास की व्यवस्था के सम्बन्ध में हो सकता है। यदि उपभोक्ताओं के पास विलास पर व्यय करने के लिए कुछ बच रहता है, तो प्रत्येक व्यक्ति यह व्यय अपनी इच्छानुसार अलग-अलग करेगा।

स्पष्ट उपभोग का प्रभाव—उपभोक्ता का चुनाव एक अन्य कारण पर भी निर्भर होता है जिसे बेबलेन (Veblen) ने 'स्पष्ट उपभोग' (Conspicuous Consumption) का नाम दिया है। पीगू ने ठीक ही कहा है कि "संसार में कोई भी व्यक्ति धनी नहीं होना चाहता परन्तु प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की तुलना में अधिक धनवान होना चाहता है।" यह मनुष्य की एक बड़ी भारी कमजोरी है कि वह अपना रोब डालना चाहता है। हम ऐसी किसी वस्तु के स्वामी बनना चाहते हैं जो अपने प्रकार की अकेली हो और, यदि हो सके तो, ऐसी वस्तु हमारे नगर, देश अथवा संसार में किसी के पास न हो। यह प्रवृत्ति इस कारण उत्पन्न होती है कि हम में से प्रत्येक दूसरों से प्रशंसा चाहता है और दूसरों का नेता बनना चाहता है। यह मनोवृत्ति केवल धनी व्यक्तियों की ही नहीं है परन्तु कुछ सीमाओं के भीतर धनहीन व्यक्तियों में भी मिलती है।

चुनाव की स्वतन्त्रता का अस्तित्व एकाकी नहीं—जब हम एक व्यक्ति की चुनाव की स्वतन्त्रता पर विचार करते हैं तो यह जानना आवश्यक है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता का एकाकी रूप से (In isolation) अस्तित्व नहीं है। व्यक्ति की माँग अथवा उसके चुनाव को अनेक बातें निर्धारित करती हैं, जैसे—समाज द्वारा किया हुआ उत्पादन, व्यक्तियों की आय, आदतें और रीति-रिवाज, राज्य के नियम, सामाजिक रूढ़ियों और सम्मान की इच्छा इत्यादि। इन सभी प्रकार के प्रभावों के अन्तर्गत कार्य करते हुए उपभोक्ता सन्तोष को अधिकतम् करने के उद्देश से अपने चुनाव के अधिकार का प्रयोग करता है।

आय की परिवर्तनशीलता एवं इससे उत्पन्न विशेष समस्यायें—चूँकि उपभोक्ता की अधिकांश आय उन्हें उत्पत्ति के साधनों के रूप में प्राप्त होती है, इसलिए उन्हें अपने चुनाव को व्यक्त करने में कुछ विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ता है और इसके फलस्वरूप उनके चुनाव का अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाला प्रभाव भी कुछ जटिल हो जाता है। अभी तक हम यह मानकर चल रहे थे कि उपभोक्ताओं की आय यथास्थिर रहती है, परन्तु, उपरोक्त बातों के आधार पर, अब हम इस मान्यता को स्वीकार नहीं कर सकते। उदाहरणस्वरूप, यदि कृषि-उपज की माँग बढ़ गई है तो कृषि-भूमि की आय बढ़ेगी और इस प्रकार भूमि के स्वामी उपभोक्ताओं के रूप में कीमत-यन्त्र पर अधिक प्रभाव डाल सकेंगे। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपभोक्ताओं की आय कभी भी यथास्थिर नहीं रहती है। प्रत्येक आर्थिक परिवर्तन उत्पत्ति के विभिन्न साधनों की आय में तुलनात्मक परिवर्तन कर देता है जिसके फलस्वरूप विभिन्न व्यक्तियों की आय में भी तुलनात्मक परिवर्तन हो जाते हैं।

इस सन्दर्भ को दृष्टिगत रखते हुए शायद हमें उपभोक्ता की सार्वभौमिकता सम्बन्धी अपने पूर्व विचारों को बदलना पड़ेगा। जैसा कि बेनहाम (Benham) का विचार है, आधारभूत स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता है। "अब भी हमारा कथन है कि उपभोक्ता ही सम्राट है रहा रहता है। साथ ही साथ यह बात भी उतनी ही सही है कि जब तक उपभोक्ता कुछ साधनों द्वारा की गई सेवाओं का अधिक मूल्य देने को तैयार हैं तब तक ऐसे साधन उत्पत्ति की उन शाखाओं से, जिनमें उन्हें कम मूल्य प्राप्त होता है, हटकर ऐसी शाखाओं में जायेंगे, जहाँ अधिक मूल्य मिलता है।"

उपभोक्ता के चुनाव की परिसीमायें—

साधारण दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि एक स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था (Free-economy) मे उपभोक्ताओ के चुनाव पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होना। किन्तु उपभोक्ता किस अश तक उत्पादन का रूप निश्चित कर सकते हैं इसकी कुछ परिसीमाएँ (Limitations) होती हैं। ये परिसीमाएँ स्वय स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था मे ही निहित हैं। इनमे से कुछ परिसीमाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) उत्पत्ति-साधनो की उपलब्धता तथा औद्योगिक ज्ञान की दशाओं से उत्पन्न **भौतिक सम्भावनाएँ** उपभोक्ताओ के चुनाव की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाती है। यद्यपि विविध प्रकार की वस्तुयें उत्पन्न करना सम्भव होता है, परन्तु कुल उत्पादन को एक सीमा से अधिक बढ़ाना सम्भव नही होता। इस सीमा के पहुँचने पर उपभोक्ताओ के लिए केवल यह मार्ग ही बचता है कि वे कुछ चीजे अधिक मात्रा मे प्राप्त करने हेतु कुछ अन्य का परित्याग कर दें।

(२) **राज्य द्वारा भी कुछ परिसीमायें** निश्चित की जाती हैं। राज्य कुछ प्रकार की वस्तुओं (जैसे हानिकारक दवाइयो, अथवा शराब) की बिक्री वर्जित कर सकता है। कुछ अन्य वस्तुओ (जैसे तम्बाकू) की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा सकता है और कुछ वस्तुओं (जैसे अफीम) का निषेध कर सकता है। अपनी करारोपण नीति द्वारा भी राज्य कुछ प्रकार के उपभोगो को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित कर सकता है। कुछ अर्थशास्त्रियो का कहना है कि चूँकि प्रजातन्त्रीय राज्य मे सरकार अधिकाश नागरिको की इच्छानुसार चलती है, इसलिए उपभोक्ताओ के चुनाव पर सरकार जो परिसीमाएँ लगाती है वे दिखावटी होती हैं वास्तविक नहीं। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि सरकारी हस्तक्षेप उपभोक्ताओ के चुनाव करने के अधिकार को सीमित कर देता है और इस प्रकार ऐसा हस्तक्षेप उपभोक्ताओ की सार्वभौमिकता पर एक परिसीमा के सदृश्य है।

(३) उपभोक्ताओ की चुनाव स्वतन्त्रता पर **एकाधिकार की उपस्थिति** का भी प्रभाव पड़ता है। यद्यपि यह तो सम्भव है कि यदि एकाधिकार वाली वस्तु की माँग बढ़े तो एकाधिकारी वस्तु की पूर्ति को बढ़ा कर अधिक लाभ कमा सकता है तथापि एकाधिकारी का पूर्ति पर इतना अधिक नियन्त्रण होता है कि वह उपभोक्ताओ को ठीक वही वस्तुएँ प्राप्त करने का अवसर नही देता जिन्हे वे सबसे अधिक पसन्द करते हैं। दो और रीतियो से भी एकाधिकारी उपभोक्ताओं की चुनाव स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा सकता है : **प्रथम**, एकाधिकारी ऐसे उद्योगो में अथवा ऐसे उद्योग से उत्पत्ति के साधनों को जाने नही देता है जिस पर उसका अधिकार है, जिसका परिणाम यह होता है कि उत्पत्ति के साधनो की गतिशीलता उपभोक्ताओं की इच्छानुसार नही होने पाती है। **दूसरे**, एकाधिकार अर्द्ध-निर्मित वस्तुओ तथा श्रम-सवो के माध्यम से श्रम-सेवाओ तक विस्तृत हो सकता है। इन दोनों ही कारणों से एकाधिकार के कारण उपभोक्ताओ की चुनाव स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है।

(४) कभी-कभी यह कहा जाता है कि **विज्ञापन और विक्रय-कलायें** भी उपभोक्ताओ की सार्वभौमिकता पर प्रतिबन्ध लगा देती हैं, क्योंकि ये उपभोक्ताओ को स्वतन्त्र चुनाव व्यक्त करने का अवसर नही देती हैं, बल्कि उन्हे ऐसी वस्तुयें खरीदने के लिए बहकाती और फुसलाती हैं जिन्हे विज्ञापनकर्त्ता एव विक्रेता चाहते हैं कि वे खरीदें।" विज्ञापन आधुनिक जगत में ग्राहकों को आकर्षित करने का महत्वपूर्ण उपाय है। वास्तविक जगत मे अपूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित है जिसके कारण विज्ञापन और प्रचार बिक्री के महत्वपूर्ण उपाय बन जाते हैं, और उनके द्वारा उपभोक्ताओं के खरीदने के फैसले बदले जा सकते हैं। फिर भी, यह मानना पड़ेगा कि इस तर्क मे बहुत सार नही है। ऐसी भी अनेक वस्तुओं की बिक्री होती है जिनका विज्ञापन नहीं होता

और प्रतियोगी वस्तुओं का विज्ञापन एक दूसरे की आकर्षण शक्ति को बहुत कुछ मिटा देता है। जैसा कि बेनहाम ने कहा है "एक सम्राट सलाह ले सकता है और उसे कुछ कार्यों के लिए कुछ अंश तक बहलाया-फुसलाया भी जा सकता है परन्तु फिर भी सम्राट ही रहता है।"

(५) उपभोक्ताओं के चुनाव पर एक अन्य प्रतिबन्ध अधिक मात्रा के उत्पादन (Mass production) द्वारा लगाया जाता है, जिसमें साधारणतया प्रमापीकृत (Standardised) वस्तुओं का उत्पादन होता है। अप्रमापीकृत वस्तुयें साधारणतया महँगी होती हैं। अतः उपभोक्ता को सस्ती प्रमापीकृत वस्तुओं तथा महँगी अप्रमापीकृत वस्तुओं के बीच चुनना होता है। इससे उपभोक्ता की चुनाव स्वतन्त्रता पूर्णतया तो समाप्त नहीं होती है परन्तु सीमित अवश्य हो जाती है।

(६) एक अन्य प्रतिबन्ध आय की कमी के कारण उत्पन्न होता है। अधिकांश उपभोक्ता इतने गरीब होते हैं कि उन्हें सस्ती वस्तुयें खरीदने पर बाध्य होना पड़ता है। कम आय *के साथ-साथ आय का असमान वितरण भी उपभोक्ताओं की चुनाव स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा* देता है।

(७) चुनाव स्वतन्त्रता तभी सम्भव है जबकि उपभोक्ता पूर्णतया विवेकशील हो। साधारणतया यह मान लेना ठीक होगा कि अपने स्वार्थ को आगे बढ़ाने के लिए तथा अपने सन्तोष को अधिकतम करने के लिए उपभोक्ता स्वयं ही विवेकशील हो जायेगा। किन्तु क्या उपभोक्ता सदा ही विवेकशील होता है ? क्या हम अपना सभी प्रकार का व्यय सोच-विचार कर ही करते हैं ? थोड़ा-सा भी ध्यान देने से पता चलेगा कि मानवीय व्यवहार किसी निश्चित क्रमानुसार नहीं होता है। हमारा अधिकांश व्यय आकस्मिक होता है और बहुधा विचारहीन भी। दो अलग-अलग वस्तुओं से प्राप्त होने वाले सन्तोष की तुलना करना एक कठिन कार्य है और एक साधारण उपभोक्ता के पास ऐसी तुलना करने के लिए समय, सामर्थ्य तथा सब्र तीनों का अभाव होता है।

(८) फैशन, रूढ़ियाँ, रीति-रिवाज और व्यक्तिगत विश्वास भी चुनाव की स्वतन्त्रता *को सीमित करते हैं। यदि समाज में कोई फैशन प्रचलित हो जाता है तो अधिकांश लोग आँख* मूंद कर उसका अनुकरण करने लगते हैं। इसी प्रकार, धर्म और जाति सम्बन्धी दृष्टिकोण भी हमें तर्क के अनुसार चुनाव करने से रोकता है। सामाजिक प्रतिष्ठा, रीति-रिवाज और रूढ़ियाँ भी हमारे चुनाव की स्वतन्त्रता को घटा देती हैं।

(९) बहुत बार राष्ट्रीय स्वास्थ्य अथवा वस्तुओं के वितरण में अधिक समानता लाने के लिए उपभोग पर गुणात्मक तथा परिमाणवाचक प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं।

उपभोक्ता की सार्वभौमिकता का औचित्य—

वैसे तो यह प्रश्न कि उपभोक्ता की सार्वभौमिकता, उचित है या अनुचित अर्थशास्त्र के क्षेत्र से बाहर की चीज है, किन्तु सामाजिक दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कुछ लोग उपभोक्ता को चुनाव के मामले में पूरी स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि उपभोक्ता गलती कर सकता है परन्तु जो गलती नहीं करता है वह सही भी क्या करेगा। इसके विपरीत, अन्य विद्वानों का कहना है कि यदि उपभोक्ता को पूर्णतया स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये, तो वह अपनी रुचियों को गिरा लेगा और अच्छी सुन्दर वस्तुओं के स्थान पर भद्दी, सस्ती और हानिकारक वस्तुओं को चुनेगा, जैसे—यदि लोग अगर पूरी तरह स्वतन्त्र होंगे तो अश्लील साहित्य, गन्दे गाने, शराब और दिखावटी वस्तुओं को चुनेंगे भले ही इसके लिए रोटी-कपड़े में भी कमी करनी पड़े। ऐसी दशा में यह अधिक अच्छा है कि उपभोक्ताओं को वही दिया जाये जो उनके लिये लाभदायक है न कि वह जिसे वे पसन्द करते हैं।

इस प्रश्न के दोनों पहलुओं पर बहुत कुछ कहा जा सकता है और आधुनिक विचारधारा यह है कि *पूर्णतया नियन्त्रित उपभोग उतना ही बुरा है जितना कि पूर्णतया अनियन्त्रित*

उपभोग। सभी आधुनिक समाज उपभोग पर किसी न किसी प्रकार के प्रतिबन्ध रखने के पक्ष मे है यद्यपि वे उपभोक्ता की स्वतन्त्रता के लिये भी जागरुक है। इस सन्दर्भ मे यह जानना भी आवश्यक है कि उत्पादन उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ से उस अंश तक प्रभावित नही होता, जितना कि उनकी सप्रभाविक माँग से प्रभावित होता है। उत्पादन पर सबसे अधिक प्रभाव इस बात का पडता है कि उपभोक्ता कितना धन व्यय करते है अथवा उनके द्वारा कितना धन व्यय करने की सम्भावना है।

परीक्षा प्रश्न :

१. उपभोग के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझाइये। "उपभोग ही अर्थशास्त्र का आदि और अन्त है"—विवेचन करिये।

अथवा

उपभोग और विनाश मे भेद कीजिये और अर्थशास्त्र मे उपभोग के अध्ययन का महत्त्व बताइये।

[सहायक संकेत :—सर्व-प्रथम उपभोक्ता का अर्थ बताइये। इस हेतु "उपभोग" और "विनाश" के विषय मे विभिन्न मतो की चर्चा करते हुये निष्कर्ष निकालिये कि उपभोग उपयोगिता की वह कमी है जो कि मानवीय आवश्यकता की पूर्ति मे वस्तु का प्रयोग करने से होती है। तत्पश्चात् यह दिखाइये कि उपभोग के अध्ययन को प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अधिक महत्त्व नही दिया था किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इसे बहुत महत्त्व देते है, क्योकि यह आर्थिक क्रियाओ का आदि और अन्त है तथा इसका अन्य प्रकार की क्रियाओं पर गहरा प्रभाव पडता है।]

२. "उपभोक्ता इतना निरंकुश सम्राट नही होता, जितना कि वह समझा जाता है। अधिक से अधिक वह एक सवैधानिक सम्राट है जो राज्य करता है, शासन नही।" इस कथन का विवेचन कीजिये।

अथवा

क्या उपभोक्ता पूँजीवाद अर्थव्यवस्था में एक सम्राट होता है? उसकी प्रभुता की सीमाओ का विवेचन करिये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम 'उपभोक्ता की प्रभुता' या 'उपभोक्ता के सम्राट होने का अर्थ बताइये। इसे उदाहरणो से स्पष्ट कीजिये। तत्पश्चात् इसकी प्रभुता के महत्त्व को बताइये और अन्त मे इसके चुनाव की परिसीमाये बताते हुए यह निष्कर्ष दीजिये कि आधुनिक अर्थव्यवस्था मे उपभोक्ता की प्रभुता बहुत सीमित है।]

१०

आवश्यकताएँ

(Wants)

प्रारम्भिक—

प्रारम्भ में ही यह देख चुके हैं कि मनुष्य की क्रियाओं की जन्मदाता आवश्यकतायें ही हैं। मनुष्य साधारणतया इसीलिए कार्यशील रहता है कि उसे कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है। इस कारण आवश्यकताओं के अध्ययन का अर्थशास्त्र में बहुत महत्त्व है। प्रस्तुत अध्याय में इसके स्वरूप एवं स्वभाव का विवेचन किया गया है।

आवश्यकता की परिभाषा

इच्छा, आवश्यकता और माँग में भेद—

बहुधा ऐसा देखने में आता है कि साधारण बोल-चाल में लोग इच्छा, आवश्यकता और माँग इन तीनों शब्दों को एक ही अर्थ में उपयोग करते है। यथार्थ में ये तीनों शब्द अलग-अलग हैं। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को इनके बीच का भेद समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि इस शास्त्र में ये तीनों शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों मे उपयोग किये जाते है।

इच्छा (Desire)—तीनों शब्दों में से सबसे विस्तृत क्षेत्र 'इच्छा' (Desire) शब्द का है। किसी कार्य को करने के लिये अथवा किसी चीज को पाने के लिये मनुष्य के मस्तिष्क में उठने वाली कोई भी कामना (Craving) इच्छा कहलाती है।[1] इस प्रकार इच्छा केवल एक विचार है, जिसका तृप्ति अथवा सुख से कोई सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। इच्छा किसी भी प्रकार की हो सकती है। एक भिखारी के मन मे राजा बनने का जो विचार उठता है वह एक इच्छा ही है। इसी प्रकार देश की सेवा करने, खाना खाने तथा हवा मे उड़ने की भी इच्छायें हो सकती हैं। इच्छाओं के विषय में इतना जान लेना आवश्यक है कि उनकी पूर्ति सदा ही सम्भव नहीं होती है। प्रत्येक इच्छा को हम पूरा नहीं कर सकते। कुछ इच्छायें तो स्वभाव से ही ऐसी होती हैं कि उनका पूरा करना असम्भव होता है, क्योंकि वे केवल कोरी कल्पनायें होती हैं। *उदाहरणार्थ, एक बच्चे की चिड़ियों की भाँति हवा में उड़ने की लालसा इसी प्रकार की* इच्छा है।

आवश्यकता (Want)—कुछ इच्छायें ऐसी भी होती हैं जिनको पूरा करना सम्भव है। साधारणतया, किसी भी इच्छा के साथ यदि निम्न दो बातें प्रस्तुत हों तो वह पूरी की जा सकती है: इच्छा-पूर्ति की सामर्थ्य (Capacity) और इच्छा पूर्ति के लिए तत्परता (Willingness)। यदि इच्छुक के पास अपनी इच्छा की पूर्ति के साधन उपलब्ध हों और वह उन साधनों का उपयोग करने के लिए भी तैयार हो, तो उसकी वह इच्छा आवश्यकता कहलायेगी। अत. आवश्यकता वह इच्छा है जिसके साथ सामर्थ्य तथा तत्परता भी मौजूद हो—पेंसन

---

[1] *Any craving of the mind to do something or to possess something.*

(Penson) के शब्दो मे, "आवश्यकता किसी वस्तु के लिए सप्रभाविक इच्छा है, जो स्वयं को उस वस्तु के प्राप्त करने के प्रयत्न अथवा त्याग के रूप मे व्यक्त करती है।"[1]

उदाहरणस्वरूप, यदि एक मनुष्य की इच्छा एक कार खरीद लेने की है, उसके पास ऐसा करने के लिये पर्याप्त धन है तथा वह इस धन को इस काम मे व्यय करने के लिये भी तैयार है, तो उसकी कार खरीदने की इच्छा 'आवश्यकता' बन जायगी। किन्तु स्मरण रहे कि साधन और तत्परता के होने से यह सिद्ध नही होता कि वह मनुष्य कार खरीद लेता है, वरन् केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वह कार खरीद सकता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि आवश्यकता वह इच्छा है जो पूरी की जा सके।[2]

मांग (Demand)—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है साधनो के होते हुए भी यह आवश्यक नही है कि कोई आवश्यकता विशेष पूरी की जाय। मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त हैं। सामूहिक रूप से वे सब कभी भी पूरी नहीं हो सकती हैं, यद्यपि व्यक्तिगत रूप से उनमे से प्रत्येक पूरी की जा सकती है। अन्य शब्दो मे, कुछ ही आवश्यकताओ की वास्तव मे पूर्ति होती है, सब की नहीं। उन आवश्यकताओ को, जिनकी पूर्ति की जाती है, हम मांग (Demand) कहते है।[3] इस प्रकार माग वह आवश्यकता है जिसको पूरा किया गया हो। इस सम्बन्ध मे टामस ने माँग की जो परिभाषा दी है वह मान्य नहीं है। टामस का कहना है कि "उत्पादक-कार्यों की दिशा पर नियन्त्रण रखने के लिए एक ऐसी आवश्यकता होनी चाहिए जिसे खरीदने के लिए क्रय-शक्ति और तत्परता भी मौजूद हो और इसे हम माँग कहते हैं।"[4] स्मरण रहे कि टामस की उपरोक्त परिभाषा केवल आवश्यकता की परिभाषा हो सकती है, माँग की नहीं। आवश्यकता के "माँग" बनने के लिये तो उसका पूरा होना आवश्यक है।

एक उदाहरण से इच्छा, आवश्यकता तथा मांग का भेद और भी स्पष्ट हो जायगा। जब एक बालक किसी मिठाई की दूकान के सामने से निकलता है, तो उसके मन में लालसा उठती है कि दूकान मे रखी हुई सारी मिठाइयो को वह पा जाये। किन्तु यह केवल एक इच्छा है, क्योकि बालक के पास मिठाई खरीदने को कुछ भी नही है। इस प्रकार दूकान मे रखी हुई सारी मिठाई बालक की मिठाई प्राप्ति की 'इच्छा' को बताती है। अब, यदि वह बालक घर जाकर अपनी माँ से मिठाई खरीदने के लिये ५० पैसे पा जाता है और उन ५० पैसो को लेकर मिठाई खरीदने चल देता है, तो उसकी 'आवश्यकता' का माप ५० पैसे की मिठाई के बराबर है। अब यदि बालक बुद्धिमान है और दूकान पर पहुँच कर मिठाई का भाव पूछ कर केवल पच्चीस पैसे की मिठाई खरीदता है और यह अनुभव करता है कि उसकी मिठाई खाने की इच्छा पूरी हो गई, तो पच्चीस पैसे की मिठाई बालक की 'माँग' कहलायेगी। स्मरण रहे कि माँग सदैव किसी वस्तु के दाम (Price) से सम्बन्धित होती है।

इस प्रकार "किसी वस्तु की मांग उन विभिन्न मात्राओं द्वारा सूचित होती है जो

---

[1] "Want is effective desire for particular things which expresses itself in the effort or sacrifice necessary to obtain them"—**Penson** : *Economics of Everyday Life*, p 14.

[2] A desire that can be satisfied.

[3] What that is *actually* satisfied.

[4] "In order to control the direction of productive effort there-fore, there must be the presence of a want supported by ability and willingness and this we call demand."—**Thomas** *Elements of Economics*, p 42

ग्राहकों द्वारा विभिन्न कीमतों पर खरीदी जाती है।"[1] मिल (Mill) के शब्दों में, "मांग से हमारा अभिप्राय खरीद की मात्रा से है। यह कोई निश्चित मात्रा नहीं होती, बल्कि साधारणतया मूल्य के अनुसार बदलती रहती है।"[2]

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

ऊपर दी हुई विवेचना से पता चलता है कि मनुष्य की इच्छाओं का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, आवश्यकताओं का उनसे कम विस्तृत और मांग का क्षेत्र और भी छोटा होता है।

सारी इच्छायें आवश्यकतायें नहीं होती हैं किन्तु सारी आवश्यकतायें इच्छाएं होती हैं। इसी प्रकार, सभी आवश्यकताएं नहीं होतीं, किन्तु प्रत्येक मांग आवश्यकता होती है। यह बात दिये हुए रेखा-चित्र से स्पष्ट हो जायगी। इस चित्र में सबसे बड़ा गोला, 'इच्छाओं' को दिखाता है; उसके भीतर का दूसरा छोटा गोला 'आवश्यकताओं' को और सबसे छोटा गोला 'मांग' को दिखाता है।

आवश्यकताओं को निर्धारित करने वाले घटक
(Factors Determining Wants)

विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताओं में भिन्नता क्यों है? इसका कारण यह है कि आवश्यकताओं को अनेक तत्त्व प्रभावित करते हैं और ये प्रत्येक व्यक्ति की दशा में समान नहीं होते। आवश्यकताओं को प्रभावित या निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं :—

(१) **भौगोलिक घटक**—जिस देश में व्यक्ति का निवास है वहाँ की भौगोलिक स्थिति और जलवायु उसकी आवश्यकताओं को प्रभावित करती है, जैसे—इङ्गलैण्ड में ऊनी वस्त्र बारह महीने आवश्यक हैं किन्तु भारत में इनकी आवश्यकता २-३ महीने ही रहती है।

(२) **शारीरिक घटक**—व्यक्ति विशेष का स्वास्थ्य उसकी शरीर रचना और आयु भी आवश्यकताओं पर प्रभाव डालता है। उदाहरणार्थ, एक १० वर्ष की आयु की आवश्यकतायें एक ३० वर्ष की आयु के व्यक्ति से भिन्न होंगी। एक स्थूल व्यक्ति के लिए हल्के भोजन की आवश्यकता है किन्तु एक दुबले-पतले व्यक्ति के लिए घी-दूध-अण्डा इत्यादि पौष्टिक पदार्थों की आवश्यकता होती है।

(३) **आर्थिक तत्त्व**—व्यक्ति की आय का भी उसकी आवश्यकताओं पर प्रभाव

---

[1] "The demand for a commodity will consist of a number of different amounts which buyers will purchase at different prices."—H P Shearman: *Practical Economics*, p. 127.

[2] "We must mean by the word demand the quantity demaded, and remember that this is not a fixed quantity but in general, varies according to value."—J. S Mill.

पड़ता है। उदाहरणार्थ, एक निर्धन व्यक्ति की आवश्यकतायें अनिवार्यताओं तक सीमित होती हैं किन्तु एक धनवान की आवश्यकताओं मे विलासितायें भी सम्मिलित हैं।

(४) **सामाजिक घटक**—व्यक्ति के सामाजिक रीति-रिवाज भी उसकी आवश्यकताओं को निर्धारित करते हैं। उदाहरणार्थ, एक हिन्दू के अन्तिम संस्कार के लिये लकड़ियों की और एक मुस्लिम के लिये ३-४ मीटर भूमि की आवश्यकता पड़ती है।

(५) **नैतिक एवं धार्मिक घटक**—एक जैनी के लिये मांस इत्यादि से परहेज है किन्तु क्षत्रियो मे ऐसी बात नही है। सादा जीवन उच्च विचार मे विश्वास रखने वाले व्यक्ति की आवश्यकतायें अल्प और साधारण होती हैं किन्तु खाओ पीओ मौज करो की आस्था वाले व्यक्ति की आवश्यकतायें अधिक और असाधारण होती हैं।

(६) **स्वभाव, फैशन इत्यादि**—बदलते हुए फैशन से व्यक्तियों की आवश्यकतायें प्रभावित होती हैं। जैसे—कुछ वर्ष पूर्व धोती-कुर्ते का बहुत रिवाज था और अब बुशसर्ट, टाई, टेरीलीन की पैन्ट का रिवाज बढ रहा है। इसी प्रकार, सिग्रेट की आदत वाले व्यक्ति के लिये सिग्रेट आवश्यक वस्तु है किन्तु अन्य व्यक्तियो के लिये वह आवश्यक नही है।

(७) **आय में परिवर्तन**—जैसे-जैसे आय बढती जाती है, व्यक्ति की आवश्यकतायें बढती जाती हैं और जब आय मे कमी होती है तो आवश्यकताये भी घटानी पडती हैं।

आवश्यकताओं के लक्षण
(Characteristics of Wants)

मनुष्य की आवश्यकतायें असख्य है तथा वे अनेक प्रकार की होती हैं किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से इन आवश्यकताओ मे कुछ सामान्य लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। निम्नलिखित लक्षण विशेष रूप से उल्लेखनीय है :—

(१) **अनन्त एवं असीमित होना**—मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त अथवा असीमित है। उनका चक्र कभी भी समाप्त नही होता। एक आवश्यकता पूरी नही होती कि दूसरी उठ खडी होती है। इस प्रकार किसी भी मनुष्य के लिए यह सम्भव नही है कि वह अपनी सारी आवश्यकताओ को पूरा कर सके। यदि बहुत सारे मनुष्य मिल कर भी यह प्रयत्न करें कि सामूहिक रूप से सबकी आवश्यकतायें पूरी करलें तो यह भी सम्भव नहीं है। आवश्यकताओं का यह गुण मनुष्य के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है इसी के कारण मनुष्य को सदा कार्यशील रहना पड़ता है, क्योंकि हर समय कोई न कोई आवश्यकता उसे कार्य करने के लिए प्रेरित करती ही रहती है। इस प्रकार यह गुण मानव उन्नति का प्रतीक है। यदि समस्त मानव आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाय, तो किंचित् मानव-जीवन निस्वाद तथा अरोचक हो जाय और ससार के सारे कार्य रुक जायें। आवश्यकताओ के इसी लक्षण पर अर्थशास्त्र का 'प्रगति का नियम' (Law of Progress) आधारित है।

(२) **व्यक्तिगत सन्तुष्टि की सम्भावना**—यद्यपि समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति सम्भव नही है, किन्तु एक आवश्यकता-विशेष की पूर्ति हो सकती है। अर्थात्, सामूहिक रूप से आवश्यकताओ की पूर्ति असम्भव होते हुए भी व्यक्तिगत रूप से यह सम्भव है। जिस प्रकार कच्चे सूत के हजारो धागों को मिलाकर तो तोडा नही जा सकता है, परन्तु उनमे से प्रत्येक को एक-एक करके तोड़ना सम्भव होता है उसी प्रकार व्यक्तिगत रूप मे कोई भी आवश्यकता पूरी की जा सकती है। आवश्यकता की परिभाषा से ही यह सिद्ध हो जाता है कि पूर्ति की क्षमता के बिना इच्छा आवश्यकता नही बन सकती है। इसी लक्षण पर अर्थशास्त्र का 'उपयोगिता ह्रास नियम' (Law of Diminishing Utility) आधारित है। आवश्यकताओ के ऊपर दिये हुए दोनों लक्षण आवश्यकताओ के मौलिक गुण (Basic Characteristics) कहलाते हैं।

(३) प्रतियोगिता करना—आवश्यकतायें आपस में प्रतियोगिता-मूलक होती हैं (*Wants are Competitive*) अर्थात्, प्रत्येक आवश्यकता अपनी ही पूर्ति सबसे पहले करने के लिये मनुष्य को प्रेरित करती है। अतः मनुष्य को बहुधा यह निश्चित करने में कठिनाई होती है कि वह पहले कौन-सी आवश्यकता को पूरी करे। साधारणतया ऐसी आवश्यकता, जिसकी तीव्रता अधिक होती है, अथवा जिसके पूरा न होने पर मनुष्य अधिक कष्ट का अनुभव करता है, पहले पूरी की जाती है और कम तीव्र आवश्यकतायें बाद में। आवश्यकताओं के इस लक्षण पर सम-सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equi-marginal Utility) आधारित है।

(४) पूरक स्वभाव—कुछ आवश्यकतायें पूरक (Complementary) होती हैं, अर्थात् उनको अकेले में पूरा नहीं किया जा सकता, वरन् उनकी पूर्ति कुछ अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति *के साथ ही की जा सकती है। वैसे तो एक आवश्यकता स्वयं ही दूसरी आवश्यकता को जन्म* देती है और इस प्रकार आवश्यकताओं का चक्र चलता रहता है, किन्तु कुछ आवश्यकतायें विशेष रूप से ऐसी होती हैं कि उनकी पूर्ति अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना हो ही नहीं सकती है। उदाहरणस्वरूप, कार की आवश्यकता और पैट्रोल की आवश्यकता दोनों एक साथ ही पूरी करनी पड़ती है। इस प्रकार, कपड़े और धोबी की आवश्यकताएँ एक दूसरे की भी पूरक हैं। आवश्यकताओं के इस लक्षण पर संयुक्त माँग का सिद्धान्त (Theory of Joint Demand) पर आधारित है।

(५) वर्तमान आवश्यकतायें अधिक महत्वपूर्ण—साधारणतया मनुष्य वर्तमान *आवश्यकताओं की पूर्ति को भावी आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक महत्त्व देता है।* कारण, वर्तमान आवश्यकताओं की तीव्रता भविष्य की आवश्यकता से अधिक होती है। अतः भविष्य और वर्तमान की आवश्यकता पूर्ति में वर्तमान का पलड़ा भारी रहता है। इसी विशेषता के सन्दर्भ में फिशर ने अपना 'ब्याज सम्बन्धी समय प्राथमिकता सिद्धान्त' (Time Preference Theory of Interest) बनाया था।

(६) धीरे-धीरे आदत बन जाना—आवश्यकतायें धीरे-धीरे मनुष्य के मन में घर कर लेती हैं। अन्य शब्दों में, उनकी प्रवृत्ति (Tendency) इस प्रकार की होती है कि वह मनुष्य की आदत बनती जाती है। जिन आवश्यकताओं की पूर्ति मनुष्य एक बार कर लेता है उनकी दूसरी बार पूर्ति न होने पर वह पहले से अधिक कष्ट अनुभव करता है। उदाहरणस्वरूप, जो मनुष्य साफ कपड़े पहनने लगता है, बाद में साफ कपड़ों के न होने से उसे विशेष कष्ट अनुभव होता है और उसकी कार्यक्षमता में कमी आ जाती है। आवश्यकताओं के लक्षण के आधार पर कुछ *अर्थशास्त्रियों ने 'मजदूरी के जीवन-स्तर सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया था।*

(७) रीति-रिवाज से प्रभावित होना—आवश्यकतायें रीति-रिवाज पर निर्भर होती हैं। किसी समाज अथवा क्षेत्र में जिस प्रकार के रीति-रिवाज और फैशन होते हैं उन्हीं के अनुसार वहाँ की आवश्यकतायें भी होती हैं। उदाहरण के लिए, ग्राम-वासियों की बहुत-सी आवश्यकतायें नगर-वासियों से भिन्न होती हैं। सभ्य जातियों की आवश्यकतायें असभ्य जातियों से अलग होती हैं।

(८) ज्ञान के साथ वृद्धि—बुद्धि और विज्ञान के विकास के साथ-साथ आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं, जैसे-जैसे नई-नई वस्तुओं का आविष्कार होता जाता है, उनके लिये आवश्यकतायें भी उत्पन्न होती जाती हैं।

(९) आवश्यकताओं की बारम्बारता—आवश्यकतायें बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं (Wants are recurrent)। यदि हम आवश्यकता को एक बार पूरा कर लेते हैं, तो उससे हमें सदा के लिए छुट्टी नहीं मिल जाती है, क्योंकि कुछ समय पश्चात् वह फिर उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए, भोजन की आवश्यकता बार-बार उत्पन्न होती रहती है।

(१०) **आवश्यकताओं का कुचक्र**—एक आवश्यकता दूसरी आवश्यकताओं को जन्म देती है। इस प्रकार आवश्यकताओं का चक्र चलता ही रहता है। भोजन के उपरान्त आराम करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए पलङ्ग और बिस्तर चाहिए और इस प्रकार यह चक्कर चलता ही रहेगा।

(११) **कुछ आवश्यकतायें वैकल्पिक होना**—आवश्यकतायें वैकल्पिक होती हैं (Wants are alternative) एक आवश्यकता को पूरा करने के अनेक उपाय अथवा साधन होते हैं। उदाहरणस्वरूप, मनोरंजन की आवश्यकता नाटक, सिनेमा अथवा गायन सम्मेलन से पूरी हो सकती है। आवश्यकताओं के इस लक्षण के आधार पर **मिश्रित पूर्ति** (Composite supply) अथवा **वैकल्पिक मांग** (Alternative Demand) के विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

(१२) **आविष्कार की जन्मदाता**—आवश्यकतायें आविष्कार की जननी हैं। मानव की प्रगति ही आवश्यकताओं पर निर्भर है। जैसे-जैसे आवश्यकतायें उत्पन्न होती हैं, उनकी सन्तुष्टि के लिए नई-नई खोज और नये-नये आविष्कार किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, जनसंख्या की वृद्धि को रोकने की आवश्यकता ने विभिन्न प्रकार के निरोधकों के आविष्कार को प्रोत्साहन दिया है।

(१३) **तीव्रता मे भिन्नता**—व्यक्ति की कुछ आवश्यकतायें अन्य आवश्यकताओं से अधिक तीव्र होती हैं। इनके इसी लक्षण के आधार पर अर्थशास्त्र मे आवश्यकताओं को तीन श्रेणियों मे वर्गित किया गया है।

आवश्यकताओं के सामान्य लक्षणों के अपवाद—

प्रो० मोरलैंड ने आवश्यकताओं के उपर्युक्त सामान्य लक्षणों के कुछ अपवाद बताये हैं किन्तु ये वास्तविक नही हैं, दिखावटी हैं। ये अपवाद निम्नलिखित हैं :—

(१) **विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति सदा सम्भव नहीं है,** उदाहरणार्थ, दिखावे या प्रदर्शन की आवश्यकता, शक्ति प्रदर्शन की आवश्यकता, एक कन्जूस की धन एकत्र करने की आवश्यकता एवं द्रव्य की आवश्यकता। [किन्तु ये अपवाद वास्तविक नही हैं। उदाहरणार्थ, दिखावे के लिए लोग सदैव न्यूनतम् वस्तुओं पर धन को व्यय करते हैं किन्तु कभी सन्तुष्ट नही हो पाते। यथार्थ मे दिखावे की आवश्यकता कोई एक आवश्यकता नही है, वरन् अनेक आवश्यकताओं का समूह है।]

(२) **आवश्यकतायें सीमित होना**—आवश्यकताओं का एक सामान्य लक्षण यह है कि ये अनन्त होती हैं। किन्तु साधु-सन्यासियों की आवश्यकताओं पर यह लक्षण नही घटता, क्योंकि उनकी आवश्यकतायें सीमित होती हैं। [किन्तु यह अपवाद दिखावटी है, कारण, अर्थशास्त्र मे साधारण व्यक्तियों के आर्थिक कार्यकलापों का अध्ययन किया जाता है; जबकि साधु-सन्यासी साधारण व्यक्ति नही हैं।]

आवश्यकताओं का वर्गीकरण
(Classification of Wants)

कार्यक्षमता के आधार पर आवश्यकताओं के तीन वर्ग—

भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की तीव्रता (Intensity) अलग-अलग होती है। कुछ आवश्यकतायें अधिक महत्वपूर्ण (Urgent) होती हैं, और कुछ कम। दूसरे शब्दों मे, कुछ आवश्यकतायें ऐसी होती हैं जिनके रहने से मनुष्य अधिक कष्ट का अनुभव करता है और उनकी सन्तुष्टि से मनुष्य को अधिक सुख का अनुभव होता है। इसके विपरीत, कुछ ऐसी भी आवश्यकतायें हैं, जिनके पूरा न होने से उतना दुख नही होता और न उनकी तृप्ति ही उतना सुख देती है। आवश्यकता पूर्ति से प्राप्त होने वाली तृप्ति की मात्रा पर ही कार्यक्षमता (Efficiency) एक बड़े अंश तक निर्भर रहती है। साधारणतया जिन आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक तृप्ति मिलती

है अथवा जिनकी पूर्ति न होने से अधिक कष्ट अनुभव होता है, उनका कार्यक्षमता पर अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है। आपद्-पूर्णता (Urgency) अथवा कार्यक्षमता पर प्रभाव के अनुसार आवश्यकताओं को निम्नांकित तीन प्रकार का माना गया है :—

(I) आवश्यक आवश्यकतायें—

'आवश्यक आवश्यकतायें' वे हैं जिनकी पूर्ति से मनुष्य की कार्यक्षमता बढ़ती है तथा जिनकी सन्तुष्टि न होने से कार्यक्षमता, अथवा कार्य-शक्ति कम हो जाती है। उदाहरणस्वरूप, भोजन की आवश्यकता, अर्थात् भूख एक ऐसी ही आवश्यकता है। खाना खा लेने से साधारण-*तया मनुष्य की कार्य-शक्ति बढ़ जाती है तथा खाना न मिलने से वह कम हो जाती है।* यह सम्भव है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में ऐसा न होता हो, किन्तु अधिकांश दशाओं में ऐसा ही होता है। इसी प्रकार जाड़े के दिनों में पर्याप्त वस्त्रों की आवश्यकता-पूर्ति काम करने की *शक्ति को बढ़ाती है और उनका अभाव काम करने की शक्ति को कम कर देता है।* उन सभी वस्तुओं को जो किसी मनुष्य की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, हम 'आवश्यक वस्तुयें' (Articles of Necessity or Necessaries) कहते हैं।

तीन प्रकार की आवश्यक आवश्यकतायें—कुछ विद्वानों ने आवश्यक आवश्यकताओं को भी तीन प्रकार का बताया है :—

(१) जीवन रक्षक आवश्यकतायें (Necessaries for Existence), जिनका पूरा करना जीवित रहने के लिये आवश्यक होता है, जैसे—खाने या भोजन की आवश्यकता।

(२) कार्यक्षमता रक्षक आवश्यकतायें (Necessaries for Efficiency), जिनकी सन्तुष्टि मनुष्य की कार्यक्षमता बनाये रखने के लिए आवश्यक होती है। उनकी पूर्ति मनुष्य को उसका कार्य करने योग्य बनाती है। पौष्टिक भोजन तथा पर्याप्त कपड़ों की आवश्यकताएँ इसी प्रकार की आवश्यकताएँ हैं।

(३) प्रतिष्ठा रक्षक आवश्यकतायें (Conventional Necessaries), ये आव-*श्यकताएँ वे हैं जिनका पूरा करना जीवन रक्षा तथा कार्यक्षमता के दृष्टिकोण से आवश्यक नहीं* है, किन्तु कुछ कारणों से मनुष्य जीवन-रक्षक और कार्यक्षमता-रक्षक आवश्यकताओं को छोड़कर भी इन्हें पूरा करता है, क्योंकि इनकी पूर्ति के बिना वह विशेष कष्ट का अनुभव करता है।

अन्तिम प्रकार की आवश्यक आवश्यकतायें या तो आदत पर निर्भर होती हैं, (जैसे—शराब, चाय, या तम्बाकू की आवश्यकतायें) अथवा वे मान, प्रतिष्ठा, रीति-रिवाज या फैशन से सम्बन्धित होती हैं। अच्छे कपड़े, गहने इत्यादि की आवश्यकतायें, इसी प्रकार की हैं। इन्हें *बहुत बार 'कृत्रिम' अथवा 'बनावटी आवश्यकतायें' भी कहा जाता है।*

(II) आराम सम्बन्धी आवश्यकतायें—

आराम सम्बन्धी आवश्यकतायें (Comforts) वे हैं जिनकी पूर्ति से तो कार्य-शक्ति बढ़ती है, लेकिन *पूर्ति न होने से कार्य-शक्ति घटती नहीं है। अर्थात् ये आवश्यकतायें ऐसी हैं कि* इनके पूरा किये बिना भी हमारी काम करने की शक्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है। निश्चय है कि इन आवश्यकताओं का कार्य शक्ति पर प्रभाव तो पड़ता है पर यह प्रभाव उतना गहरा नहीं *होता है, जितना कि आवश्यक आवश्यकताओं का होता है।* दो-तीन घण्टे के पढ़ने के पश्चात् यदि एक विद्यार्थी एक प्याला चाय पीता है, तो अवश्य ही उसकी अध्ययन शक्ति बढ़ जाती है, क्योंकि मानसिक थकावट कुछ कम हो जाती है; किन्तु चाय न पीने से उसकी शक्ति में कोई कमी न आयेगी। हाँ, यदि वह विद्यार्थी चाय पीने का आदी है, तब बात दूसरी होगी। उस दशा में चाय न पीने से उसकी कार्य शक्ति में कमी पड़ सकती है अतः बहुधा ऐसे विद्यार्थी के लिए, जिसे

चाय पीने की आदत नही है, अध्ययन कार्य के अन्तर्गत चाय पीना आराम देता है और इस प्रकार चाय उसकी आराम की आवश्यकता को पूरी करती है।

(III) विलास की आवश्यकतायें—

विलास की आवश्यकताओ का कार्यक्षमता पर प्रभाव और भी कम होता है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति से कार्य क्षमता मे प्रायः कोई भी वृद्धि नही होती, वरन् कुछ दशाओं में कार्यक्षमता उल्टी कम हो जाती है। इसके विपरीत, पूर्ति न होने से कार्यक्षमता मे कोई भी कमी नही पडती। विलास की आवश्यकताओ को पूरा करने वाली वस्तुएँ, जिन्हें 'विलास की वस्तुएँ' (Luxuries) कहते हैं, दो प्रकार की होती हैं :—(1) हानिरहित और हानिकारक। हानिरहित विलास की वस्तुओ का कार्यक्षमता पर कोई भी प्रभाव नही पडता है। इनके सेवन करने से उसमे वृद्धि नही होती तथा सेवन न करने से कमी नही पड़ती। हानिकारक विलास की वस्तुओ के सेवन से कार्य-शक्ति उल्टी कम हो जाती है और सेवन न करने से वह यथास्थित रहती है। शानदार महल, विश्व-विख्यात चित्रकारो के चित्र, इत्र इत्यादि हानिरहित विलास की वस्तुयें है, जिनका कार्य-शक्ति से कोई महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध नही है। शराब, भाँग, अफीम इत्यादि हानिकारक विलास की वस्तुएँ है, जिनका सेवन करने से कार्यक्षमता उल्टी घट जाती है तथा जिनका सेवन न करने से कार्य-शक्ति मे कमी नही आती है। प्रो० जाइड (Gide) ने इन्हें **अनावश्यक आवश्यकतायें** (Superfluous Wants) कहा है और प्रो० एली ने (Ely) **अत्यधिक वैयक्तिक उपभोग'** (Excessive Personal Consumption) कहा है। **चैपमैन** के अनुसार, "विलास की वस्तुएँ वे वस्तुएँ हैं जिनका उपभोग कार्यक्षमता मे कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि नही करता है, बल्कि कभी-कभी एक व्यक्ति की कार्य-क्षमता को घटा देता है।"[1]

आवश्यकताओं के भेद का तालिका द्वारा स्पष्टीकरण—

नीचे दी हुई तालिका से आवश्यक, आराम और विलास की आवश्यकताओं का भेद और भी स्पष्ट हो जायगा। निम्न तालिका मे इन आवश्यकताओं की पूर्ति और अपूर्ति का कार्यक्षमता पर प्रभाव दिखाया गया है :—

तालिका

आवश्यकता	कार्यक्षमता पर प्रभाव	
	पूर्ति से	अपूर्ति से
आवश्यक आवश्यकताएँ	कार्यक्षमता बढ जाती है	कार्यक्षमता घट जाती है
आराम सम्बन्धी आवश्यकताएँ	कार्यक्षमता बढती है	कार्यक्षमता घटती नही है
विलास की आवश्यकताएँ	कार्यक्षमता बढ़ती नही है वरन् कुछ दशाओ मे कम हो जाती है	कार्यक्षमता घटती नही है

इस प्रकार हम देखते हैं कि आवश्यक आवश्यकताओ की पूर्ति और अपूर्ति दोनो का

[1] "Luxuries are things which when consumed do not appreciably add to and may even detract from a person's efficiency."—Chapman *Outlines of Political Economy*, p. 60.

कार्यक्षमता पर प्रभाव पड़ता है। आराम की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रभाव तो पड़ता है, किन्तु अपूर्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हानि रहित विलास की आवश्यकताओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, जबकि हानिकारक विलास की आवश्यकताओं की पूर्ति कार्यक्षमता को उल्टा घटा देती है।

वर्गीकरण का महत्व—

स्मरण रहे कि आवश्यक आवश्यकताओं का उपरोक्त वर्गीकरण हमारे लिये कोई नई समस्या उपस्थित नहीं करता। इस वर्गीकरण का महत्व केवल इतना है कि इससे हमारे आवश्यकता सम्बन्धी ज्ञान में थोड़ी और वृद्धि हो जाती है तथा आवश्यकता-पूर्ति का क्रम अधिक स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि आवश्यकताओं की पूर्ति उनकी व्यक्तिगत तीव्रता की अधिकता के अनुसार ही होती है।

उपरोक्त वर्गीकरण सापेक्षिक है—

आवश्यक, आरामदायक और विलास की वस्तुओं में जो भेद ऊपर दिया गया है वह ऐसा नहीं है कि हम किसी भी वस्तु के विषय के निश्चय में साथ यह कह सकें कि वह केवल विलास की ही वस्तु है अथवा केवल आरामदायक या आवश्यक ही है। सत्य, बात तो यह है कि ***भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में कोई एक वस्तु इन तीनों में से किसी भी प्रकार की हो सकती है।*** निश्चय के साथ हम निर्णय तभी कर सकते हैं जबकि हमें परिस्थिति विशेष का ज्ञान हो, क्योंकि समय, स्थान और व्यक्ति विशेष के अनुसार प्रत्येक वस्तु के गुण बदलते रहते हैं। जो वस्तु एक समय में आवश्यक है उसका किसी दूसरे समय में ऐसा होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार एक स्थान पर जो वस्तु आरामदायक है वह दूसरे स्थान पर विलास की वस्तु बन सकती है। ठीक इसी भाँति जिस वस्तु को एक व्यक्ति आवश्यक समझता है, दूसरा उसको आरामदायक समझ सकता है और तीसरा विलास की वस्तु।[1] आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन तीन शीर्षकों के आधीन किया जा सकता है, जोकि निम्न प्रकार हैं :—

(I) वातावरण से सम्बन्ध रखने वाले तत्व—इस शीर्षक के आधीन निम्न तत्व आते हैं :—*(१) समय, (२) स्थान, (३) आर्थिक प्रगति का स्तर।*

(१) समय—हम यह देखेंगे कि एक ही वस्तु अलग-अलग समय पर किस प्रकार आवश्यक, आरामदायक अथवा विलास की वस्तु हो सकती है। उदाहरण के लिए, गरम कोट को लीजिये। आगरा शहर में दिसम्बर और जनवरी के महीने में गरम कोट आवश्यक है, क्योंकि जाड़ा इतना होता है कि हम गरम कोट न पहनें तो हम ठीक तरह से काम नहीं कर सकते हैं, अर्थात् हमारी कार्य-शक्ति घट जाती है और यदि हम गरम कोट पहन लेते हैं, तो अधिक अच्छी तरह काम कर सकते हैं। अतः इन दिनों में गरम कोट एक आवश्यक वस्तु है। यही कोट फरवरी और नवम्बर में आरामदायक बन जाता है। इन महीनों में जाड़ा इतना नहीं पड़ता कि बिना कोट के काम करने में कठिनाई हो, किन्तु यदि कोट पहन लिया जाय तो काम करने में अधिक आसानी हो जाती है और हम आराम का अनुभव करते हैं। इससे पता चलता है कि इन दिनों में गरम कोट पहनने से कार्य-क्षमता बढ़ती है, किन्तु कोट न पहनने से उसमें कमी नहीं आती है। अप्रैल और मई के महीनों में यही कोट एक हानिकारक विलास की वस्तु बन जाता है, क्योंकि

---

[1] "The terms necessary and luxury are, however, relative terms. An article that was regarded as a luxury hundred years ago may, a result of the raising of the standard of life, now be deemed at necessary."—Dr. Richard : *Groundwork of Economics*, p. 129.

इसके पहन लेने से कार्यक्षमता बढने के स्थान पर उल्टी घट जाती है तथा उसके न पहनने से कार्यक्षमता मे कोई कमी नही आती । इस प्रकार अलग-अलग समय पर गरम कोट आवश्यक, आरामदायक अथवा विलास की वस्तु हो सकता है ।

(२) **स्थान का वर्गीकरण पर प्रभाव**—अलग-अलग स्थानों पर भी इसी प्रकार एक वस्तु विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है । अन्य शब्दों मे, यह सम्भव है कि एक वस्तु एक स्थान पर आवश्यक हो, दूसरे स्थान पर आरामदायक और तीसरे स्थान पर विलासपूर्ण हो । उदाहरणस्वरूप, ओवर कोट मसूरी मे जहाँ जाड़ा बहुत पड़ता है, आवश्यक है। इसके उपयोग से हमारी कार्यशक्ति बढती है तथा उपयोग न करने से घट जाती है । इसके विपरीत, अधिक जाड़े के दिनो मे ओवरकोट मेरठ अथवा आगरे मे, जहाँ उतनी अधिक सर्दी नही पड़ती है, आरामदायक है । बम्बई तथा मद्रास मे यही कोट एक विलास की वस्तु है, क्योंकि इसके पहनने से कार्यक्षमता मे कोई वृद्धि नहीं होती और न ही कार्यक्षमता मे कमी पडती है । वह केवल मान अथवा प्रतिष्ठा के लिये पहना जाता है ।

(३) **आर्थिक प्रगति का स्तर**—जैसे-जैसे आर्थिक विकास होता जाता है, वैसे-वैसे विलासिता समझी जाने वाली वस्तुयें देश मे आवश्यक या आरामदायक वस्तुयें मानी जाने लगती हैं, जैसे—भारत मे बिजली अब अनिवार्य है जबकि कुछ समय पहले यह विलासिता थी ।

(II) **व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्व**—ठीक इसी प्रकार जो वस्तु एक मनुष्य के लिए आवश्यक है, वह दूसरे के लिए आरामदायक तथा तीसरे के लिये विलासिता मात्र हो सकती है । व्यक्ति से सम्बन्धित निम्न दशायें आवश्यकताओ के वर्गीकरण को प्रभावित करती हैं :— (१) **व्यक्ति विशेष का व्यवसाय**—एक डाक्टर या इन्जीनियर के लिये कार आवश्यक है किन्तु एक प्रोफेसर के लिये आरामदायक और एक क्लर्क के लिये वह विलासिता की वस्तु है । (२) **व्यक्ति विशेष की आय**—एक धनवान के लिये रेफरीजरेटर अनिवार्य या आरामदायक होता है किन्तु एक अल्प आय वाले के लिये विलासिता है । (३) **व्यक्ति की आदतें**—जिस व्यक्ति को चाय पीने की आदत है उसके लिए चाय एक आवश्यक वस्तु है किन्तु उस व्यक्ति के जो चाय पीने का आदी नही है, जाडो मे चाय आरामदायक और गर्मियो मे विलासिता है । (४) **सामाजिक स्तर**—देश के प्रेसीडेण्ट के लिए महल या बड़ा और सुन्दर आवास आवश्यक है, किन्तु एक प्रोफेसर के लिए उतना बड़ा आवास विलासिता की वस्तु है । (५) **धार्मिक भावनायें**—एक धार्मिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति के लिये सादा मकान, सादे वस्त्र एवं सादा भोजन आवश्यक है किन्तु अन्य व्यक्ति पर्याप्त सुरुचिपूर्ण भोजन आदि को आवश्यक मान सकते हैं जबकि धार्मिक व्यक्ति इसे विलासिता समझेगा ।

(III) **वस्तु से सम्बन्धित तत्त्व**— वस्तु से सम्बन्धित दो तत्त्व आवश्यकताओ के वर्गीकरण को बहुत प्रभावित करते हैं :—मूल्य और मात्रा या इकाइयां ।

(१) **वस्तु का मूल्य**—प्राय. ऊँचे मूल्य वाली वस्तुयें विलासिता, निम्न मूल्य वाली वस्तुएँ आवश्यक और मध्यम मूल्य वाली वस्तुये आरामदायक होती हैं ।

(२) **वस्तु की मात्रा या इकाइयां**—जैसे-जैसे किसी व्यक्ति के पास किसी वस्तु की मात्रा बढती जाती है वह अनिवार्य से आरामदायक और अन्त मे विलासिता बन जाती है । उदाहरण के लिए पहली कार एक डाक्टर के लिए अनिवार्य, दूसरी आरामदायक और तीसरी कार उसके लिये विलासिता होगी ।

डा० वसु का यह कहना बिल्कुल ही उचित है कि अनिवार्यताओ, आरामदायक वस्तुओ और विलासिताओ की श्रेणियो मे किसी वस्तु का वर्गीकरण चार परिवर्तनशील तत्त्वो द्वारा निर्धारित होता है—व्यक्तिगत उपभोक्ता, वस्तु की इकाई, समय व स्थान । अत. किसी भी वस्तु

विशेष के विषय में ऐसा कह देना सम्भव नहीं है कि वह किस प्रकार की आवश्यकता को पूरा करती है, जब तक कि हमें सारी परिस्थितियों का पता न हो। इसी से हम यह कहते हैं कि आवश्यक, आरामदायक तथा विलास निरपेक्ष (Absolute) शब्द नहीं हैं वरन् सापेक्षिक (Relative) या तुलनात्मक शब्द हैं।

आवश्यकताओं के वर्गीकरण के आधार
(Bases of Classification of Wants)

अर्थशास्त्रियों ने आवश्यकताओं का वर्गीकरण तीन आधारों पर किया है, जो ये हैं :—(१) कार्यक्षमता का आधार, (२) सुख-दुःख का आधार, एवं (३) मूल्य और माँग का आधार।

(१) कार्यक्षमता का आधार—इस आधार पर आवश्यकताओं के वर्गीकरण को पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है। यहाँ केवल उसका सारांश ही देंगे। जिस वस्तु के प्रयोग से व्यक्ति की कार्यक्षमता की रक्षा या उसमे वृद्धि होती है और प्रयोग न करने से कार्यक्षमता में कमी आती है उसे 'अनिवार्य वस्तुओं' की श्रेणी में रखते हैं। इसके विपरीत, जिस वस्तु के प्रयोग से कार्यक्षमता में थोड़ी वृद्धि होती है और प्रयोग न करने से उसमें कुछ कमी हो जाती है, उसे 'आरामदायक वस्तुओं' के वर्ग में रखा जाता है। किन्तु जो वस्तुयें उपभोग करने पर कार्यक्षमता में वृद्धि नहीं करती हैं और उपभोग न करने पर कार्यक्षमता में कमी भी नहीं लाती हैं उन्हें 'हानिरहित विलासितायें' कहते हैं। जो वस्तुयें उपभोग करने पर कार्यक्षमता में कमी लाती हैं किन्तु उपभोग न करने पर इसमें कोई कमी नहीं लाती हैं वे 'हानिप्रद विलासितायें' कही जाती हैं।

(२) सुख-दुःख का आधार—वस्तुओं के प्रयोग करने या न करने से व्यक्ति विशेष के सुख-दुःख पर जो प्रभाव पड़ता है उसके अनुसार वस्तुओं को निम्न प्रकार से श्रेणीबद्ध किया जा सकता है : **(अ) अनिवार्य वस्तुएँ**—उपभोग से थोड़ा सुख किन्तु उपभोग न करने पर बहुत दुःख; **(ब) आरामदायक वस्तुएँ**—उपभोग से अधिक सुख किन्तु उपभोग न करने से थोड़ा ही दुःख एवं **(स) विलासितायें**—(१) हानिरहित, उपभोग में बहुत अधिक सुख और वंचित रहने से दुःख नहीं। (जब तक कि व्यक्ति आदी न हो); (२) हानिप्रद, उपभोग से अस्थायी सुख किन्तु वंचित रहने से बहुत दुःख या कष्ट (क्योंकि व्यक्ति इनका आदी हो जाता है)।

(३) मूल्य और माँग का आधार—मूल्य में वृद्धि (या कमी) होने पर वस्तु की माँग, (अ) यदि पहले जैसी ही रहे, तो उस वस्तु को 'अनिवार्य', (ब) यदि आनुपातिक रूप से घट (या बढ़) जाये, तो 'आरामदायक' और (ग) यदि अनुपात से अधिक मात्रा में घट (या बढ़) जाये, तो *'विलासिता' की श्रेणी में रखा जाता है।*

क्या विलासपूर्ण वस्तुओं का उपयोग उचित है ?

हानिकारक विलास की वस्तुओं का उपभोग अनुचित—

हम ऊपर देख चुके हैं कि विलास की वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं :—हानिकारक और हानिरहित। जहाँ तक हानिकारक विलास की वस्तुओं का सम्बन्ध है उनके विषय में हमें यह कहने में देर न लगेगी कि उनका उपभोग उचित नहीं है। उनके उपभोग के बिना ही हम अच्छे हैं, क्योंकि उनके उपभोग न करने से हमारी कार्य-शक्ति में कोई कमी नहीं पड़ती। इसके विपरीत उनके उपभोग से उल्टी हमारी कार्यक्षमता घट जाती है। ऐसे पदार्थों के सेवन से हमें लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। यदि इनका उपभोग समाज द्वारा वर्जित कर दिया जाय

तो कोई आपत्ति नही होगी। ऐसा करने से समाज की कार्य-शक्ति क्षीण न होने पायेगी और उत्पत्ति बढ़ जायेगी।

हानिरहित विलास की वस्तुओं के उपभोग पर मतभेद—

किन्तु हानिरहित विलास की वस्तुओ के विषय मे हम एकदम ऐसा नहीं कह सकते। यह तो निश्चय है कि उनका उपभोग प्रत्यक्ष रूप मे हमारे जीवन में सहायक नही है, क्योकि इससे हमारी कार्य-शक्ति बढती नही है और न उनका उपभोग न करने से हमारी कार्य-शक्ति कम ही होती है। इससे सिद्ध होता है कि उनका उपभोग हमारी कार्यक्षमता के लिये लेशमात्र भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। तो क्या उनका उपभोग बेकार है ? क्या समाज को उनका उपभोग भी वर्जित कर देना चाहिये ? क्या ऐसा करने से समाज को कोई विशेष हानि होगी ? क्या यह उचित है ?

हानिरहित विलास की वस्तुओं के पक्ष एवं विपक्ष मे—

अनेक विद्वानो ने कुछ कारणो से हानिरहित विलास की वस्तुओं का उपभोग उचित बताया है, किन्तु जैसा कि हम अभी देखेंगे, उनके उपभोग के पक्ष मे बहुत सारी बातें इस प्रकार की कही गई हैं जो यथार्थ मे उनके उपभोग के महत्त्व को सिद्ध नही करती हैं :—

(१) **बेरोजगारी का निवारण**—कुछ विद्वानो का विचार है कि इस प्रकार की वस्तुओ का उपभोग इसलिए उचित है कि उससे समाज मे बेरोजगारी की समस्या एक अंश तक निबट जाती है। निश्चय है कि यदि ऐसी वस्तुओं का उपभोग बन्द कर दिया जायेगा, तो उसकी उत्पत्ति भी नहीं का जायेगी और उससे रोजगार (Employment) मे कमी पड़ जायेगी।

[किन्तु इस कथन मे शायद इस बात को मान लिया गया है कि विलास की वस्तुओं के स्थान पर दूसरे प्रकार की वस्तुओ की उत्पत्ति नही की जायगी। यदि विलास की वस्तुओ के स्थान पर अधिक आवश्यक तथा आरामदायक वस्तुओं की उत्पत्ति की जाय तो रोजगार मे कमी पडने का प्रश्न ही नही उठेगा। इस कारण इस तर्क म अधिक सार दिखाई नही देता है।]

(२) **कला को प्रोत्साहन**—कुछ लोगो का मत है कि विलास की वस्तुएँ कला को प्रोत्साहन देती हैं। अभिप्राय यह है कि अधिकाश विलास की वस्तुएँ कला के नमूने होती हैं। सुन्दर चित्र, लकड़ी या पत्थर के अच्छे काम इसी प्रकार की वस्तुएँ है। अब यदि इन चीजों की उत्पत्ति नही की जायगी तो कला की उन्नति नही हो पायेगी।

[इस विषय मे केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि (i) सभी विलास-वस्तुएँ कला को प्रोत्साहन नही देती है और (ii) यदि यह ठीक भी है कि ये वस्तुयें कला की उन्नति करती है तो इससे भी इनके उपभोग का औचित्य सिद्ध नहीं हो जाता है। कोई भी कला, जो मानव जीवन को अधिक सुखी नही बना सकती, मनुष्य के लिए बेकार है। स्वय कला का उचित होना इस बात पर निर्भर है कि वह मानव जीवन मे कहाँ तक सहायक है। अतः यदि विलास की वस्तुएँ हमारे जीवन मे सहायक नही हैं तो उनके उपभोग को उचित सिद्ध करना कठिन है। वे केवल हमारी अनावश्यक आवश्यकताओं को ही पूरा करती है।]

(३) **कार्य-उत्साह में वृद्धि**—इन वस्तुओं का उपभोग केवल एक ही दृष्टिकोण से उचित बताया जा सकता है और वह यह है कि ये मनुष्य के कार्य-उत्साह (Incentive to work) को बढाने और बनाये रखने मे महत्त्वपूर्ण काम करती हैं। दूसरे शब्दों में, ये मनुष्य को अधिक कार्य करने तथा अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियों का अधिक उपयोग करने तथा अधिक सावधानी और जिम्मेदारी के साथ काम करने की ओर प्रेरित करती है। यह तो सभी जानते हैं कि विलास की वस्तुओं के उपभोग की सम्भावना मनुष्य को अधिक अच्छा कार्यकर्ता और

अधिक सावधान उत्पादक बना देती है। यदि किसी मनुष्य को यह आशा हो कि अधिक शारीरिक और मानसिक परिश्रम के फलस्वरूप उसे अच्छा मकान, सुन्दर वस्त्र तथा बहुत-सी और विलास की वस्तुयें प्राप्त होगी तो निश्चय ही वह अधिक परिश्रम करेगा। इसी प्रकार और केवल इसी अर्थ में विलास की वस्तुयें हमारे जीवन में सहायक हैं।

(४) सामाजिक उन्नति में सहायक—विलासिताओं का सेवन अप्रत्यक्ष रूप में समाज की उन्नति करता है। जो वस्तुएँ अब से १०० वर्ष पहले विलासिताएँ थी वे आज अनिवार्य और आरामदायक बन गई है। इससे स्पष्ट है कि विलासिताओ के उपभोग से अनिवार्य और आरामदायक आवश्यकताओं में वृद्धि और विविधता होती जाती है। इनकी पूर्ति के लिए विशेष प्रयास (जैसे—आविष्कार) किये जाते है और इस प्रकार सामाजिक उन्नति होती है।

[किन्तु इस तर्क के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि विलासिताओं का प्रयोग इने-गिने धनी व्यक्तियों द्वारा किया जाता है, निर्धन व्यक्ति उनसे वंचित ही रहते है। इस प्रकार विभिन्न वर्गों के मध्य असमानता, असन्तोष एवं संघर्ष की वृद्धि होती है।]

निष्कर्ष—

उत्साह बनाये रखने के लिए साम्यवाद ने भी समाज के भिन्न भिन्न सदस्यो की आय के बीच अन्तर बनाये रखने के महत्त्व को मान लिया है। यदि आय मे अन्तर न रहे, तो काम करने के उत्साह मे बहुत कमी आ जायेगी और समाज की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति शिथिल हो जायगी। आय के अन्तर का महत्त्व विशेष रूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इससे अधिक आय वाले लोग विलास की वस्तुओ का उपयोग कर सकते है। अतः विलास की वस्तुओं का भी मानव उपभोग मे महत्त्व है और इस उपभोग को पूर्णतया वर्जित कर देना उचित नही है **किन्तु समाज को कोई न कोई ऐसी नीति अवश्य अपनानी चाहिए, जिसके अन्तर्गत पहले इसके कि कोई विलास की वस्तुओं का उपभोग करे, सबकी आवश्यक और आरामदायक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जानी चाहिए।** ऐसी अवस्था, जिसमे कुछ लोग विलासपूर्ण जीवन बिताते है, जब कि अधिकाश लोग आवश्यक और आरामदायक वस्तुओ से भी वंचित रहते हैं, न तो उचित ही है और न समाज के लिए हितकर ही है। समाजवाद इसी बात का प्रयत्न करता है कि विलास की वस्तुओ के उपभोग को बन्द न करें, किन्तु ऐसे उपभोग के पहले समाज के सभी सदस्यो की *आवश्यक और आरामदायक आवश्यकताओ की पूर्ति हो जानी चाहिये।* *यदि सबके लिए इस* प्रकार की व्यवस्था हो जाती है तो इसके उपरान्त विलास की वस्तुओ का उपभोग उचित ही होगा।

आवश्यकताओं का संख्या-वर्द्धन
(Multiplication of Wants)

कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या आवश्यकता का संख्या-वर्द्धन वांछनीय (Desirable) है, अर्थात् क्या हमे अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाना चाहिये अथवा उनको कम कर लेना अधिक उचित है? यह विषय विवाद-ग्रस्त (Controversial) है। कुछ लोगो का विचार है कि हमे अधिक से अधिक आवश्यकताओ को पूरा करना चाहिए, क्योंकि इसी से मानव-सुख मे वृद्धि होगी। इसके विपरीत दूसरे मत के समर्थक यह कहते है कि वास्तविक सुख आवश्यकता-पूर्ति मे नही है, वरन् आवश्यकता के अभाव मे है।

आवश्यकतायें बढ़ाने के पक्ष में—

आवश्यकताओं की संख्या-वर्द्धन के समर्थको का मत है कि :—

(१) मानव-सन्तुष्टि में वृद्धि—प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति से हमे कुछ न कुछ संतुष्टि अथवा तृप्ति (Satisfaction) मिलती है और मनुष्य का ध्येय होता है अधिकतम् तृप्ति

की प्राप्ति, अतः जितनी भी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जायेगी उतनी ही कुल शुद्ध सन्तुष्टि (Total Net-satisfaction) अधिक होगी। अब, क्योंकि सन्तुष्टि पर ही मानव-सुख निर्भर है, इसीलिए ऐसा करने से मानव-सुख बढ़ जावेगा।

(२) सभ्यता की उन्नति—यह सर्वविदित है कि सभ्यता और उन्नति का आवश्यकताओं की सख्या-वर्द्धन से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जब तक आवश्यकतायें नहीं बढ़ती हैं, तब तक मनुष्य उन्नति की ओर अग्रसर नहीं होता है। आधुनिक युग मे सभ्य व असभ्य जातियों मे जो भेद है वह मुख्यतया आवश्यकताओं की सख्या पर ही निर्भर है। मानव-सभ्यता का विकास इसी में है कि प्रकृति पर विजय पाकर अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाये।

(३) कर्मठता को प्रोत्साहन—आवश्यकताएँ ही मनुष्य की क्रियाओं को जन्म देती हैं। उनके कम हो जाने से मनुष्य आलसी हो जाता है और धीरे-धीरे अशक्त बन जाता है। उसकी कार्यक्षमता घटती चली जाती है।

(४) जीवन-स्तर पर सुप्रभाव—यह तो सभी मानते हैं कि मनुष्य का जीवन-स्तर (Standard of Living) उसके समस्त उपभोग पर जिसमे आवश्यक, आरामदायक तथा विलासपूर्ण तीनों ही प्रकार की वस्तुये सम्मिलित हैं, निर्भर होता है। यह भी निश्चय है कि जीवन-स्तर का हमारी कार्य कुशलता (Efficiency) पर गहरा प्रभाव पड़ता है। एक निश्चित बिन्दु से नीचा जीवन-स्तर कार्य-कुशलता के लिए घातक होता है और उसे बहुत कम कर देता है। इससे सिद्ध होता है कि आवश्यकताओं को कम करके हम अच्छे उत्पादक नहीं रह पायेंगे।

(५) राजनैतिक दृढ़ता—कोई देश राजनैतिक दृष्टि से तब ही शक्तिशाली बन सकता है जबकि वह आर्थिक दृष्टि से मजबूत हो। किन्तु आर्थिक सम्पन्नता तब सम्भव होती है जब कि लोगों की आवश्यकतायें अधिक हों और इन्हे पूरा करने हेतु वे पूर्ण परिश्रम करें।

आवश्यकतायें बढ़ाने के विरोध में—

ऊपर दी हुई व्याख्या से पता चलता है कि आवश्यकता-वर्द्धन एक आवश्यक कार्य है, किन्तु इसके विपक्ष मे भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। भारतवर्ष मे मनुष्य के जीवन का ध्येय आध्यात्मिक माना गया है। भारतीय संस्कृति का आधार भी यही है। यहाँ सदैव से ही आवश्यकताओं को कम करने पर बल दिया गया है।

(१) अतृप्त आवश्यकताओं से दुःख—हाल मे प्रोफेसर जे० के० मेहता ने आवश्यकता-शून्यता (Wantlessness) का प्रचार करने का प्रयत्न किया है।[1] उन्होंने सुख (Pleasure) दु.ख (Pain) और आनन्द (Happiness) मे भेद किया है। आवश्यकता-पूर्ति से केवल सुख मिलता है। आवश्यकता के अतृप्त रहने से दुःख होता है। दूसरे शब्दों मे, दु ख वह मानसिक स्थिति है जो किसी आवश्यकता की उपस्थिति से उत्पन्न होती है। आवश्यकता-पूर्ति के उपरान्त की मानसिक दशा सुख है। सुख और दु ख का चक्र चलता रहता है। जब आवश्यकता उत्पन्न होती है, तो दु ख होता है और उसकी पूर्ति मे सुख मिलता है। एक आवश्यकता की पूर्ति दूसरी आवश्यकता को जन्म दे देती है और इसी प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

(२) आनन्द एक मानसिक दशा है—सुख और दुख एक के बाद दूसरे क्रमशः चलते रहते हैं और इनका कभी भी अन्त नहीं होता है। सुख और आनन्द दोनों एक नहीं होते हैं। यदि सुख दु ख को जन्म देता है तो फिर आनन्द कहाँ मिल सकेगा? आनन्द तो वह मानसिक दशा है जिसमे दु ख और सुख का चक्र ही न रहे अर्थात् न सुख हो और न दु ख। यह दिशा

---

[1] **J. K Mehta :** *Advanced Economic Theory.*

केवल *आवश्यकता-शून्यता द्वारा ही सम्भव है।* अतः आनन्द अथवा वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिए आवश्यकतारहित होना आवश्यक है। सुख और दुःख का चक्र केवल उसी दशा मे समाप्त हो सकता है जबकि आवश्यकता ही न रहे।

(३) **वर्ग-संघर्ष में वृद्धि**—आवश्यकतायें बढने पर मनुष्य उनकी पूर्ति के लिए अधिक धन कमाने का प्रयास करता है और इसके लिए दूसरों का शोषण करने में भी सकोच *नहीं करता। इस प्रकार, धनवान और निर्धन व्यक्तियो के मध्य संघर्ष की वृद्धि होती है।*

(४) **संकुचित दृष्टिकोण**—बढी हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अधिक धन कमाने मे मनुष्य इतना स्वकेन्द्रित हो जाता है कि दूसरो के सुख-दुःख की उपेक्षा कर देता है।

(५) **आध्यात्मिक विकास में बाधा**—आवश्यकतायें बढने पर मनुष्य हर समय इनको पूरा करने के लिए धन कमाने मे लगा रहता है। वह अति-भौतिकवादी बन जाता है। इस लोक *की चिन्ता करते-करते* परलोक की चिन्ता नही करता, जिससे *आध्यात्मिक विकास रुक जाता है।*

निष्कर्ष—अब हमे यह भी जानना चाहिए कि समस्त आवश्यकताओं को समाप्त कर देना अधिकांश मनुष्यो के लिए सम्भव नहीं है। किन्तु कुछ आवश्यकताओं को निश्चय ही घटाया जा सकता है। जितना ही हम अपनी आवश्यकताओ को कम करेंगे उतनी ही आनन्द की प्राप्ति हमारे लिए अधिक सम्भव होती चली जायगी। अतः हमारा ध्येय आवश्यकताओं को अपनी आय की सीमा तक कम करने का होना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न :

१. आवश्यकता और माँग के अन्तर को समझाइये। आवश्यकताओं के प्रमुख लक्षण दीजिए। आय सम्बन्धी परिवर्तन हमारी आवश्यकताओं को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?
[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम 'आवश्यकता' का अर्थ बताइये और उदाहरण देकर माँग से इसका भेद स्पष्ट कीजिये। तत्पश्चात् आवश्यकताओं के प्रमुख लक्षणों का *विवेचन करिये और अन्त मे बताइये कि आय की वृद्धि आवश्यकताओं मे वृद्धि और आय* की कमी इनमे कमी लाती है।]

२. "मनुष्य की आवश्यकताओं के अनेक सामान्य लक्षण है, जिनमे से प्रत्येक का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इनमे से प्रत्येक पर कोई न कोई बड़ा आर्थिक नियम निर्भर है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिये।
[**सहायक संकेत** :—*सर्वप्रथम आवश्यकता के अर्थ को बताइये, तत्पश्चात् आवश्यकताओं* के लक्षण दीजिये। प्रत्येक लक्षण का विवेचन करते समय उस पर निर्भर करने वाले आर्थिक नियम को भी बताइये।]

३. अनिवार्यताओ, आरामदायक वस्तुओ और विलासिताओ के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिये। क्या विलासिताओं का सेवन समाज के लिए आर्थिक दृष्टिकोण से लाभदायक है?
[**सहायक संकेत** :—संक्षेप मे आवश्यकता का अर्थ बताइये। इसके बाद विभिन्न श्रेणियो की आवश्यकताओ के अर्थ उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये। साथ ही यह स्पष्ट कीजिये कि वर्गीकरण सापेक्षिक है। अन्त में विलासिताओं के गुण-दोषों की चर्चा करते हुए यह निष्कर्ष निकालिये कि इनका सेवन तब ही उचित है जबकि अन्य प्रकार की आवश्यकतायें पहले पूरी कर ली जायें।]

४. "साधारण व्यक्ति मोटर कार को विलास की सामग्री, साइकिल को आराम की वस्तु और गेहूँ को आवश्यक वस्तु कहता है।" क्या आप उससे सहमत हैं ? कारण सहित समझाइये।

अथवा

आवश्यकताओं को अनिवार्य, आरामदायक एवं विलासिता की वस्तुओं में किस प्रकार वर्गित किया जाता है ?

अथवा

अनिवार्य, आरामदायक और विलासिता की वस्तुओं के अन्तर को स्पष्ट कीजिये। यह वर्गीकरण किस आधार पर किया जाता है ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम अनिवार्यताओं, आरामदायक वस्तुओं और विलासिताओं के अर्थ को स्पष्ट कीजिये। तत्पश्चात् इसकी सापेक्षिकता को उदाहरण देकर समझाइये। अन्त में वर्गीकरण के आधार को बताइये।]

११

उपयोगिता, सीमान्त उपयोगिता एवं सीमान्त विश्लेषण

(Utility, Marginal Utility and Marginal Analysis)

उपयोगिता का अर्थ

साधारण बोलचाल मे उपयोगिता का आशय 'लाभदायकता' से लगाया जाता है और इसे प्रायः वस्तु विशेष का गुण समझा जाता है। किन्तु अर्थशास्त्र मे 'उपयोगिता' का अर्थ साधारण बोलचाल वाले अर्थ से भिन्न है। उपयोगिता के अर्थशास्त्रीय अर्थ को समझने हेतु निम्नांकित बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

(१) आवश्यकता-पूर्ति की क्षमता—जिस शक्ति या गुण के कारण कोई वस्तु किसी व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है, उसे 'उपयोगिता' कहते हैं। संक्षेप मे, उपयोगिता किसी वस्तु की 'आवश्यकता-पूर्ति की क्षमता' है।

(२) अनुमानित सन्तुष्टि और वास्तविक सन्तुष्टि में भेद—जबकि सन्तुष्टि प्रदान करने की क्षमता का सम्बन्ध 'आशा की गई सन्तुष्टि' अथवा 'अनुमानित सन्तुष्टि' (Expected-satisfaction) से है, वस्तु के प्रयोग के बाद प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि का सम्बन्ध 'वास्तविक सन्तुष्टि' (Realised satisfaction) या सन्तोषजनकता (Satisfyingness) से है। यह आवश्यक नही है कि 'वास्तविक सन्तुष्टि' 'अनुमानित सन्तुष्टि' के बराबर ही हो, वह इससे कम या अधिक भी हो सकती है, अतः यहाँ प्रश्न उठता है कि इनमे से किसे उपयोगिता की परिभाषा मे गिने ? आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार 'उपयोगिता' की धारणा 'अनुमानित सन्तुष्टि' से सम्बन्ध रखती है। 'अनुमानित सन्तुष्टि' वस्तु के लिए इच्छा की तीव्रता पर निर्भर है अर्थात् यदि इच्छा अधिक तीव्र है, तो वस्तु से अधिक सन्तुष्टि मिलने की आशा होगी और यदि इच्छा कम तीव्र है, तो कम सन्तुष्टि मिलने की आशा की जायेगी। अतः 'अनुमानित सन्तुष्टि' के स्थान में 'इच्छा की तीव्रता' (Intensity of desire) या 'इच्छा करना' (Desiredness) शब्दों को प्रयोग कर सकते है। इसी सन्दर्भ मे फ्रेजर (Fraser) ने कहा है कि, "उपयोगिता का अर्थ 'इच्छा करने' से लिया जाता है न कि 'सन्तोषजनकता' से।"[1]

(३) लाभदायकता और नैतिक विचारों से सम्बन्ध न होना—वस्तु की आवश्यकता-पूर्ति की क्षमता ही उपयोगिता है, चाहे वस्तु लाभदायक हो या हानिकारक, नैतिक दृष्टिकोण से वाञ्छनीय हो या अवाञ्छनीय। अतः दूध और शराब दोनों ही उपयोगी हैं यद्यपि दूध एक 'लाभदायक' और शराब एक 'हानिकारक' वस्तु है। कारण, इन दोनों ही वस्तुओं में एक

---

[1] "......in recent years, the wider definition is preferred and utility is identified with 'desiredness' rather than with 'satisfyingness."—Fraser.

व्यक्ति विशेष की आवश्यकता को पूरा करने की क्षमता होती है, जिसके लिए उसकी इच्छा की जाती है और इच्छा का होना ही उस वस्तु को उपयोगिता से विभूषित करने के लिए पर्याप्त है।

(४) **केवल वस्तुगत न होना**—उपयोगिता किसी वस्तु का निजी गुण नही है वरन् वह मनुष्य की आवश्यकता से उत्पन्न होता है। अन्य शब्दों मे उपयोगिता का सम्बन्ध वस्तु से न होकर मनुष्य की मनोवृत्ति (Psychology) मे है। उदाहरण के लिए, एक प्यासे व्यक्ति के लिये तो पानी की उपयोगिता है, उस व्यक्ति के लिए नही, जो कि प्यासा नही है। यदि पानी के अन्दर उपयोगिता का निवास होना अर्थात् यदि उपयोगिता पानी का आन्तरिक गुण होती, तो न केवल प्यासे व्यक्ति के लिए वरन् अ-प्यासे व्यक्ति के लिए भी पानी उपयोगी होता।

(५) **व्यक्तिगत एव सापेक्षिक होना**—उपयोगिता व्यक्ति विशेष की इच्छा की तीव्रता, फैशन, रुचि, स्वभाव तथा अन्य परिस्थितियो पर निर्भर होती है। उदाहरण के लिए, एक शराबी के लिए शराब उपयोगी है। किन्तु, यदि वह शराब पीना छोड़ दे, तो यह उसके लिये उपयोगी नही रहेगी, अतः व्यक्तिगत और सापेक्षिक होने के कारण उपयोगिता व्यक्ति-व्यक्ति के साथ परिवर्तित होती रहती है। यहाँ तक कि एक ही व्यक्ति के लिए वस्तु की उपयोगिता सदा समान नही रहती है।

उपर्युक्त विशेषताओ के आधार पर उपयोगिता की एक सही परिभाषा इस प्रकार से दी जा सकती है : "उपयोगिता किसी वस्तु के लिए इच्छा की तीव्रता को बताती है, लाभदायकता या तृप्ति को नही।"

क्या उपयोगिता की माप सम्भव है ?

उपयोगिता को परोक्ष रूप से मापा जा सकता है—

उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक धारणा है। यह व्यक्ति-व्यक्ति के साथ-साथ बदलती रहती है, जिस कारण इसे प्रत्यक्ष रूप मे नही मापा जा सकता। किन्तु मार्शल के अनुसार उपयोगिता को परोक्ष रूप से, द्रव्य रूपी पैमाने द्वारा, मापा जा सकता है। उपयोगिता की माप उतनी मुद्रा के बराबर होती है जितना कि एक मनुष्य किसी वस्तु को प्राप्त करने हेतु व्यय करने को तैयार होता है। यदि हम एक किताब के लिए १० रुपये देने को तैयार हैं, तो हमारे लिए उस पुस्तक की उपयोगिता की माप १० रुपये के बराबर होगी।

उपयोगिता की माप सम्भव नहीं है—

कुछ अर्थशास्त्रियो (जैसे—पैरिटो, हिक्स इत्यादि) के अनुसार उपयोगिता की परिमाणात्मक माप सम्भव नहीं है। इसके लिए उन्होंने निम्न कारण दिये हैं :—(i) उपयोगिता एक अमूर्त (Abstract) गुण है और मानसिक दशा मात्र है, जिसे किसी वस्तुगत पैमाने (Objective Standard) से नहीं मापा जा सकता। उपभोग की किसी वस्तु से यथार्थ मे कितनी उपयोगिता प्राप्त होती है, यह ठीक-ठीक उपभोक्ता को भी ज्ञात नहीं हो सकता है किसी दूसरे व्यक्ति के लिए तो इसका पता लगाना और भी कठिन होता है। (ii) अलग-अलग मनुष्यो की रुचियाँ, स्वभाव, मनोवृत्तियाँ तथा सवेदनशीलतायें अलग-अलग होती हैं, जिसके कारण एक ही वस्तु के उपभोग मे अलग-अलग व्यक्तियो को उपयोगिता की विभिन्न मात्रायें प्राप्त होती हैं। (iii) किसी एक मनुष्य की आर्थिक परिस्थिति, अर्थात् उसके निर्धन या धनवान होने का भी उसके उपभोग द्वारा उपयोगिता प्राप्त करने की शक्ति पर प्रभाव पड़ता है। (iv) कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं कि जिनका निर्धनता की अवस्था मे हमारे उपभोग मे कुछ भी महत्व नहीं होता है, परन्तु धनवान बन जाने पर वे महत्वपूर्ण बन जाती हैं, उदाहरणस्वरूप, मोटर-कार। (v) समाज द्वारा प्राप्त की हुई उपयोगिता की माप और भी कठिन है। (vi) उपयोगिता को मापने के लिए जिन पैमानो का अर्थशास्त्र मे प्रयोग किया जाता है वह अनिश्चित और अस्थिर हैं।

उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण ही यह कहा जाता है कि उपयोगिता को मापा नहीं जा सकता है, अतः 'उपयोगिता-विश्लेषण' के स्थान में 'उदासीनता वक्र विश्लेषण' की रीति निकाली गई है। इस रीति के आधीन उपयोगिता को मापने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

जो अर्थशास्त्री द्रव्य रूपी पैमाने से उपयोगिता का माप सम्भव बताते हैं, उन्हें **'गणनावाचक अर्थशास्त्री'** (Cardinalists) कहा जाता है। किन्तु अन्य अर्थशास्त्री (जैसे—ऐलन और हिक्स), जो यह समझते है कि उपयोगिता को मापा नहीं जा सकता, केवल यह बताया जा सकता है कि दो परिस्थितियों (या क्रमों) में उपयोगिता किस में अधिक है एवं किस में कम, **'क्रमवाचक अर्थशास्त्री'** (Ordinalists) कहलाते हैं। दोनों ही समुदायों का माप सम्बन्धी विवाद अभी समाप्त नहीं हुआ है।

सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता

सीमान्त उपयोगिता से आशय—

जब कोई मनुष्य किसी वस्तु की एक इकाई के बाद दूसरी इकाई, तीसरी इकाई, इत्यादि निरन्तर उपभोग करता है तो **उपभोग की अन्तिम इकाई को उपभोग की "सीमान्त इकाई"** (Marginal Unit) कहते हैं। **इस इकाई से जो कुछ भी उपयोगिता मिले उसे "सीमान्त उपयोगिता"** (Marginal Utility) **कहा जाता है।** जैसे—यदि एक मनुष्य एक के बाद दूसरा करके पाँच सन्तरे खाता है, तो पाँचवां सन्तरा उपभोग की अन्तिम या सीमान्त इकाई हुआ और इससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता "सीमान्त उपयोगिता" होगी।

एक अन्य प्रकार से भी सीमान्त उपयोगिता की परिभाषा की जा सकती है—सीमान्त उपयोगिता वह वृद्धि है जो कि कुल उपयोगिता में, वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग के परिणामस्वरूप, होती है। यदि ५ सन्तरों के उपभोग से मिलने वाली उपयोगिताओं का जोड़ ५० है तथा छठा सन्तरा खाने से कुल उपयोगिता ५५ हो जाती है, तो ऐसी दशा में छठे सन्तरे के उपभोग के परिणामस्वरूप कुल उपयोगिता में ५ की वृद्धि हुई। यही सीमान्त उपयोगिता है। बोल्डिंग (Boulding) के शब्दों में, "वस्तु की किसी मात्रा की सीमान्त उपयोगिता कुल उपयोगिता में वह वृद्धि है जो उपभोग में एक और इकाई के बढ़ने से उत्पन्न होती है।"[1]

कुल उपयोगिता एवं औसत उपयोगिता से आशय—

मेयर्स के अनुसार, "किसी वस्तु की उत्तरोत्तर इकाइयों के उपभोग से प्राप्त सीमान्त उपयोगिताओं का योग कुल उपयोगिता है।"[2] अर्थात् **किसी वस्तु की जितनी इकाइयों का उपभोग किया जाता है उन सबसे मिलकर जो उपयोगिता प्राप्त होती है उसे हम पूर्ण या कुल उपयोगिता कहते हैं।** ऊपर के उदाहरण में सन्तरों की पाँचों इकाइयों की उपयोगिता का योग कुल उपयोगिता (Total Utility) होगा। कुछ लेखकों ने एक तीसरे प्रकार की भी उपयोगिता बताई है, जिसे हम "औसत उपयोगिता" (Average Utility) कहते है। **कुल उपयोगिता को इकाइयों की संख्या से भाग देने पर औसत निकल आती है।** यदि पाँच सन्तरों से ४० के बराबर उपयोगिता मिले, तो औसत उपयोगिता ४०÷५=८ होगी।

---

[1] "The marginal utility of any quantity of commodity is the increase in total utility which results from a unit increase in consumption."—Boulding.

[2] ".......total utility is the sum of the marginal utilities associated with the consumption of the successive units."—A. L Meyers

सीमान्त उपयोगिता एवं कुल उपयोगिता का परस्पर सम्बन्ध—

निम्न तालिका मे सन्तरो से प्राप्त होने वाली सीमान्त और कुल उपयोगिता को दिखाया गया है। हमने यह मान लिया है कि सभी सन्तरों से समान उपयोगिता नहीं मिलती है :—

सन्तरे	सीमान्त उपयोगिता		कुल उपयोगिता
१	१२	धनात्मक	१२
२	१०		२२
३	८		३०
४	६		३६
५	४		४०
६	०	शून्य	४०—पूर्ण तृप्ति विंदु
७	—३	ऋणात्मक	३७
८	—५		३२

उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि (अ) सीमान्त उपयोगिता ५ इकाइयो तक धनात्मक है और घटती हुई है। छठी इकाई के प्रयोग से सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है। यहां कुल उपयोगिता का बढना बन्द हो जाता है और वह अधिकतम् होती है। इस स्थिति को 'पूर्ण तृप्ति का विन्दु' (Point of Satiety) कहते हैं।
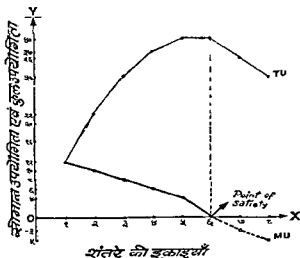
चित्र—सीमान्त एव कुल उपयोगिता रेखायें

पूर्ण तृप्ति का बिन्दु पहुँचने के उपरान्त भी यदि उपभोग को जारी रखा जाय, तो अनुपयोगिता होने लगती है अर्थात् सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक (Negative) होने लगती है। (देखिये उपर्युक्त चित्र मे MU रेखा को) किन्तु व्यवहार मे उपभोक्ता तृप्ति बिन्दु के आगे सन्तरों का उपभोग नही करेगा।

कुल उपयोगिता के बारे मे हम यह देखेंगे कि जैसे-जैसे सन्तरो की उत्तरोत्तर इकाइयो का प्रयोग किया जाता है वह पूर्ण तृप्ति का बिन्दु पहुँचने से पूर्व बढती जाती है किन्तु घटती हुई

दर से। उदाहरणार्थ, दो सन्तरो का प्रयोग करने पर वह १० से, ३ का प्रयोग करने पर ८ से, ४ का प्रयोग करने पर ६ से बढी। ६ सन्तरों का प्रयोग करने से कुल उपयोगिता की वृद्धि रुक जाती है और उपभोक्ता को अधिकतम् कुल उपयोगिता मिलती है, जिस कारण इसे पूर्ण 'सन्तुष्टि का बिन्दु' कहते हैं। इसके बाद यदि और सन्तरों का प्रयोग किया जाय, तो अतिरिक्त सन्तरो से ऋणात्मक उपयोगिता मिलने के कारण कुल उपयोगिता घटने लगती है (देखिये चित्र में कुल उपयोगिता रेखा को)।

उपर्युक्त विवरण के सन्दर्भ मे कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता के सम्बन्ध को निम्न प्रकार बताया जा सकता है :—(i) पूर्ण तृप्ति बिन्दु तक सीमान्त उपयोगिता धनात्मक रहती है और घटती जाती है किन्तु कुल उपयोगिता में घटती हुई दर से वृद्धि होती है। (ii) पूर्ण तृप्ति के बिन्दु पर सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है किन्तु कुल उपयोगिता अधिकतम् होती है यद्यपि उसका बढना बन्द हो जाता है। (iii) पूर्ण सन्तुष्टि बिन्दु के बाद सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है और इस कारण कुल उपयोगिता भी घटने लगती है।

सीमान्त सम्बन्धी धारणा का महत्त्व

अर्थशास्त्र मे सीमान्त-धारणा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जैसा कि प्रो० मेहता ने कहा है, *लगभग समस्त आर्थिक ढाँचा सीमान्त उपयोगिता के विचार पर आधारित है।* अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागो में सीमान्त-विवेचन की जो महत्ता है उस पर निम्न प्रकाश डाला गया है :—

(I) उपभोग के क्षेत्र में—

विभिन्न उपभोग सम्बन्धी नियम एवं सिद्धान्त सीमान्त उपयोगिता के विचार पर ही आधारित है, जैसे—

(१) सीमान्त उपयोगिता की धारणा यह है कि ज्यों-ज्यो सीमान्त आगे बढता जाता है, उपयोगिता घटती जाती है। इसी सन्दर्भ में **उपयोगिता ह्रास नियम** की रचना हुई है।

(२) अपने व्यय से अधिकतम् सन्तुष्टि प्राप्त करने हेतु व्यक्ति सीमान्त उपयोगिता के विचार का सहारा लेता है। वह अपनी सीमित आय को विभिन्न मदों पर इस प्रकार से व्यय करता है कि प्रत्येक दशा मे व्यय की गई मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो। इस प्रकार, सीमान्त-धारणा अर्थशास्त्र के **सम-सीमान्त उपयोगिता नियम** का भी आधार है।

(३) सीमान्त इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता इसके लिये दी गई कीमत के बराबर होती है। किन्तु सीमान्त इकाई से पहले की इकाइयों पर उपयोगिता अधिक मिलती है, जिस कारण प्रारम्भिक इकाइयो पर उपभोक्ता को बचत प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार, उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त सीमान्त सम्बन्धी धारणा पर आधारित है।

(४) माँग का नियम उपयोगिता ह्रास नियम के आधार पर बना है, जो कि स्वय सीमान्त की धारणा पर निर्भर है।

(II) विनिमय के क्षेत्र में—

(१) एक क्रेता किसी वस्तु के लिए कितनी कीमत देगा यह उसकी सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर है। किसी वस्तु को तब तक खरीदा जायेगा, जब तक कि इसकी सीमान्त उपयोगिता घटते हुये इसके लिये दी जाने वाली कीमत के अनुसार न हो जाय। इस प्रकार, कुल उपयोगिता नही, वरन् कुल उपयोगिता मे एक अतिरिक्त इकाई या एक कम इकाई के कारण होने वाली वृद्धि या कमी (अर्थात् सीमान्त उपयोगिता) वस्तु की कीमत को प्रभावित करती है। इस प्रकार, कुल उपयोगिता की अपेक्षा सीमान्त उपयोगिता का महत्त्व अधिक है। कोई भी क्रेता

वस्तु के लिये सीमान्त उपयोगिता से अधिक कीमत न देना चाहेगा; अतः सीमान्त उपयोगिता उसकी खरीद की सीमा को निर्धारित करती है।

(२) जबकि 'सीमान्त उपयोगिता' क्रेता की ओर से वस्तु की अधिकतम् कीमत और क्रय की सीमा निर्धारित करती है, सीमान्त उत्पादन व्यय विक्रेता की ओर से वस्तु की न्यूनतम् कीमत और विक्रय की सीमा निर्धारित करते हैं। ये 'सीमान्त उत्पादन व्यय' वास्तव मे उत्पत्ति-साधनो की सीमान्त उपयोगिताओ (या सीमान्त उत्पादकताओं) द्वारा ही निर्धारित होते हैं।

(३) साम्य बिन्दु पर सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त उत्पादन व्यय बराबर होते हैं और इस साम्यता के अनुसार ही कीमत निर्धारित होती है। अर्थात्, सीमान्त प्रयोग और सीमान्त व्यय कीमत को निर्धारित करते है।

इस विषय मे मार्शल का मत ध्यान देने योग्य है। उनका मत है कि **सीमान्त उपयोग और सीमान्त व्यय मूल्य को निश्चित नहीं करते, बल्कि वे दोनों स्वय ही मूल्य के साथ-साथ माँग और पूर्ति के सामान्य पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा निश्चित होते हैं।**[1] अभिप्राय यह है कि स्वय सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत माँग और पूर्ति पर निर्भर होते हैं। माँग और पूर्ति के घटने-बढने स उनमे परिवर्तन हो जाते हैं। दूसरी ओर, जिस प्रकार मूल्य के परिवर्तन माँग और पूर्ति मे परिवर्तन कर देते हैं, उसी प्रकार वे सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त व्यय को भी घटा-बढा देते हैं। मार्शल का विचार है कि मूल्य का निर्धारण समस्त माँग तथा समस्त पूर्ति द्वारा होता है। माँग अथवा पूर्ति अथवा दोनो मे कमी या वृद्धि होने की दशा मे साम्य मूल्य में परिवर्तन हो जाता है और इस परिवर्तन के अनुसार सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त उत्पादन-व्यय मे भी भिन्नता आ जाती है। निश्चय ही माँग के अधिक हो जाने से सीमान्त उपयोगिता बढ जाती है, और ठीक इसी प्रकार पूर्ति के बढने से सीमान्त उत्पादन-व्यय मे परिवर्तन हो जाता है, अतः मूल्य के साथ-साथ सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त व्यय का भी निर्धारण माँग और पूर्ति द्वारा होता है।

इसमे सन्देह नही है कि मूल्य के घटने-बढने से माँग और पूर्ति मे जो परिवर्तन होते हैं, वे सीमान्त ग्राहक तथा सीमान्त उत्पादक द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं और सीमान्त ग्राहक तथा उत्पादक का व्यवहार मूल्य पर निर्भर रहता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि मूल्य को सीमान्त ग्राहक और उत्पादक निश्चित करते हैं। सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त व्यय की समानता मूल्य को केवल सूचित ही करती है, निर्धारित नही करती है। मूल्य तो समस्त ग्राहकों द्वारा, जिनमे सीमान्त ग्राहक भी सम्मिलित होता है, तथा समस्त विक्रेताओं द्वारा, जिनमें सीमान्त उत्पादक भी होता है, निश्चित होना है। इस प्रकार कुल माँग तथा कुल पूर्ति ही मूल्य को निश्चित करते हैं।

निःसन्देह मार्शल का उपरोक्त मत सही है, किन्तु फिर भी सीमा के विचार का अर्थशास्त्र में बड़ा महत्त्व है। बेनहाम ने ठीक ही कहा है, "वे सभी परिवर्तन, जिनके द्वारा माँग और पूर्ति मे बदले हुए सम्बन्ध दिखाई पडते है, सदा सीमा पर ही होते है।"[2] सीमान्त उत्पादन-व्यय को दृष्टि मे रखकर ही पुराने उत्पादक उद्योग विशेष मे बने रहने या उसको छोड देने की सोचते हैं तथा नये उत्पादक उद्योग विशेष मे प्रवेश करने का निर्णय करते है। ठीक इसी

---

[1] "Marginal uses and costs do not govern value but are governed together with value by the general relations of supply and demand."—**Marshall :** *Principles of Economics*, p. 410.

[2] **Benham :** *Economics*, 1943, p. 234.

प्रकार, उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के सीमान्त व्यय को देख कर ही एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन के उपयोग की बात सोची जाती है। उत्पत्ति कितनी करनी है तथा उत्पत्ति का पैमाना कितना बड़ा रखा जायेगा, इसका निर्णय भी सीमान्त व्यय के अध्ययन के पश्चात् ही किया जाता है।[1]

इस विषय मे सीमान्त ग्राहक का महत्व इतना अधिक नहीं है। प्रतियोगिता की दशा मे खरीदने वालों की सख्या बहुत अधिक होती है, इसलिए किसी भी एक ग्राहक का बहुत महत्त्व नही होता। सभी का महत्त्व समान ही होता है। सब ग्राहकों की सयुक्त मांग तथा सभी उत्पादको द्वारा उपस्थित की गई कुल पूर्ति द्वारा ही मूल्य निश्चित होता है। सीमान्त उपयोगिता केवल मांग की मात्रा को सूचित करती है। यह मांग को निश्चित नही करती और इसी प्रकार सीमान्त व्यय पूर्ति (अथवा उत्पत्ति) की मात्रा को दिखाता है, इसका निर्धारण नहीं करता।

(III) उत्पादन के क्षेत्र में—

उत्पादक विभिन्न उत्पत्ति-साधनों को इस प्रकार से प्रयोग मे लाता है कि प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता बराबर हो। यदि किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता उस पर होने वाले व्यय से कम हो, तो वह उसके स्थान में अन्य साधनो का प्रयोग करेगा जब तक कि सब साधनो से प्राप्त सीमान्त उत्पादकतायें बराबर न हो जायें।

(IV) वितरण के क्षेत्र में—

सीमान्त का विचार उत्पत्ति-साधनों को दिये जाने वाले पुरस्कार के निर्धारण मे सहायक है। सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त यह बताता है कि प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर ही पुरस्कार दिया जायेगा।

(V) राजस्व के क्षेत्र में—

एक व्यक्ति के ही समान सरकार भी अपनी सीमित आय को इस प्रकार व्यय करती है कि समाज को अधिकतम् लाभ हो। वह उद्देश्य तब ही पूरा हो सकता है जब कि वह विभिन्न दिशाओं मे अपने व्यय को इस प्रकार से नियमित करे कि प्रत्येक दिशा मे एक ही बराबर सीमान्त उपयोगिता मिले। यही नही, कर के लगाने मे भी सीमान्त उपयोगिता के विचार का ध्यान रखा जाता है। सीमान्त उपयोगिता धनिको के लिए कम और निर्धनों के लिए अधिक होती है, जिस कारण वह निर्धनो पर टैक्स कम और धनिको पर अधिक लगाती है।

सीमान्त विवेचन की मान्यतायें—

सीमान्त विवेचन निम्न मान्यताओं पर आधारित है किन्तु वे मान्यतायें सदा सही *नहीं उतरती हैं :—(अ) कि कीमतों के मामूली से भी परिवर्तन के* उत्तर मे *मांग व पूर्ति में* निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। (आ) कि वस्तु की सभी इकाइयों का रूप एक है। (इ) कि मनुष्य सदा विवेकपूर्ण ढङ्ग से कार्य करता है। (ई) कि मनुष्य की आवश्यकतायें अपरिवर्तित रहती हैं। (उ) कि व्यय करने हेतु मनुष्य के पास एक निश्चित व स्थिर आय है। (ऊ) कि विचाराधीन व्यक्ति अनेक क्रेताओं और अनेक विक्रेताओं मे वैसी स्थिति रखता है जैसी कि बूँद की सागर मे होती है।

सीमान्त विवेचन का मूल्यांकन—

उपर्युक्त मान्यतायें प्रायः अव्यावहारिक हैं, जिस कारण सीमान्त विवेचन की बहुत आलोचना हुई है। उदाहरणार्थ, यह मान्यता ठीक नही है कि कीमतों के सूक्ष्म से ही परिवर्तन के

---

1 **Wicksteed** : *Commonsense of Political Economy.*

उत्तर मे माँग और पूर्ति सदा ही परिवर्तित हो जायेंगी। रेडियो, पंखा इत्यादि टिकाऊ वस्तुओं को एक पूर्ण इकाई के रूप मे ही खरीदा जा सकता है, कीमतो में किंचित् परिवर्तन होने से इनको टुकडे-टुकडे करके क्रय नही किया जाता। इसी प्रकार, व्यावहारिक जीवन मे एक वस्तु की सभी इकाइयाँ एक समान (Homogeneous) नही होती हैं, वरन् इनमे अन्तर पाया जाता है। पुन: व्यक्ति सदा ही विवेकपूर्ण ढङ्ग से कार्य नही करता। उसके रीति-रिवाज आदि कभी-कभी उसे विवेक का मार्ग छोडने के लिए विवश कर देते हैं। इसके अतिरिक्त, आय को स्थिर मान लेना और आवश्यकतायें अपरिवर्तित समझना भी व्यावहारिक जीवन से असङ्गत हैं।

सीमान्त विवेचन की एक अन्य प्रकार की आलोचना यह की गई है कि सीमान्त उपयोगिता का ठीक-ठीक परिमाणात्मक माप सम्भव नही है।

अन्त मे, सीमान्त विवेचन ऋण दृष्टिकोण पर आधारित है, जिस कारण वह वृहत् अर्थशास्त्र मे सीमित हो जाता है।

इन आलोचनाओ के होते हुए भी हमे यह स्वीकार करना होगा कि सीमान्त विवेचन आर्थिक समस्याओ को सुलझाने मे बहुत उपयोगी भूमिका रखता है। आजकल 'कुल' के व्यवहार को समझने हेतु 'इकाई' के व्यवहार को समझना आवश्यक माना जाने लगा है। इससे भी यह स्पष्ट है कि सीमान्त विवेचन सामूहिक विवेचन के पूरक के रूप मे बहुत महत्त्वपूर्ण है।

परीक्षा प्रश्न :

१. सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता के भेद को बताइये। यह दिखाइये कि जब सीमान्त उपयोगिता शून्य हो, तो कुल उपयोगिता अधिकतम् कैसे हो जाती है ?

[**सहायक संकेत** :—उपयोगिता का अर्थ संक्षेप मे देने के बाद उदाहरणो और रेखाचित्र की सहायता से सीमान्त उपयोगिता एव कुल उपयोगिता के अर्थ को स्पष्टतापूर्वक समझाइये। तत्पश्चात् सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए यह बताइये कि जहाँ सीमान्त उपयोगिता शून्य है वहाँ कुल उपयोगिता अधिकतम् होती है।]

२. सीमान्त और कुल उपयोगिता विवेचन के महत्त्व को समझाइये। क्या उपयोगिता को मापा जा सकता है ?

[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागो मे सीमान्त के विचार का महत्त्व बताइये। तत्पश्चात् इसकी अव्यावहारिक मान्यताओ को बताते हुए यह निष्कर्ष दीजिये कि सीमान्त विवेचन सामूहिक विवेचन के पूरक का कार्य करता है। अन्त मे, उपयोगिता की माप से सम्बन्धित वाद-विवाद का उल्लेख कीजिये।]

१२

उपयोगिता ह्रास नियम

(Law of Diminishing Utility)

प्रारम्भिक—उपयोगिता ह्रास नियम का मनोवैज्ञानिक आधार

किसी वस्तु से जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह एक महत्त्वपूर्ण नियम का विषय है, जो हमारे प्रतिदिन के जीवन में लागू होता है। मनोविज्ञान का एक नियम है, जिसका नाम इसके रचयिता के नाम पर वेबर-फैक्नर नियम (Weber-Fechner Law) रखा गया है। यह नियम प्रयोग (Experiment) पर आधारित है। यदि कोई बहुत तेज रोशनी हमारी आँखों के सामने से गुजरती जाय, तो एकदम हमारी आँखें चकाचौंध हो उठती हैं। किन्तु, यदि उतनी ही तेज रोशनी बार-बार हमारी आँखों के सामने से गुजरे, तो धीरे-धीरे उस रोशनी का चमकीलापन हमें कम ज्ञात होने लगता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य की चेतना या अनुभव (Sensation) पर ह्रास नियम लागू होता है, अर्थात् बार-बार दोहराने पर उस अनुभव की तीव्रता कम होती हुई प्रतीत होती है।

नियम की क्रियाशीलता का कारण

[घटती हुई तीव्रता]

इसी नियम के आधार पर अर्थशास्त्रियों ने उपयोगिता ह्रास नियम का निर्माण किया है। ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि हमारे पास किसी वस्तु की मात्रा जितनी ही बढ़ती जाती है, उतनी ही उसकी अगली इकाइयों के लिए हमारी आवश्यकता की तीव्रता या आग्रहपूर्णता (Urgency) क्रमशः कम होती जाती है। दूसरे शब्दों में, अगली इकाइयों की उपयोगिता धीरे-धीरे घटती जाती है। यह विचार साधारण अनुभव पर आधारित है। कोई भी मनुष्य अपने प्रतिदिन के जीवन में इस नियम को लागू होते हुए देख सकता है। उदाहरणस्वरूप, जब हमें बहुत प्यास लगी होती है तो पानी के पहले गिलास से हमें बड़ी सन्तुष्टि मिलती है, अर्थात् उसकी उपयोगिता हमारे लिये बहुत अधिक होती है। दूसरे गिलास से हमें कम सन्तुष्टि प्राप्त होती है और तीसरे से और भी कम। इस प्रकार हर अगले गिलास की उपयोगिता धीरे-धीरे घटती जाती है, और, यदि पानी का उपभोग बराबर चालू रहे, तो यह भी सम्भव है कि कुछ समय बाद हमें पानी के गिलास से कुछ भी सन्तुष्टि न मिले।

नियम का प्रकथन

यह प्रवृत्ति (Tendency) सर्वव्यापी है और साधारणतया प्रत्येक वस्तु के उपभोग पर लागू होती है। इसी प्रवृत्ति को अर्थशास्त्र में एक नियम का नाम दे दिया गया है, जिसको कि हम "उपयोगिता ह्रास नियम" कहते हैं। नीचे कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा इस नियम की परिभाषायें दी गई हैं :—

(१) मार्शल—"किसी वस्तु की मात्रा में एक दी हुई वृद्धि होने से किसी मनुष्य को जो अधिक लाभ प्राप्त होता है वह, अन्य वस्तुओं के यथास्थित रहने पर, उस वस्तु की मात्रा

की प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ घटता जाता है।"[1] एक अन्य स्थान पर उपयोगिता को मुद्रा मे माप करते हुए मार्शल ने इसी विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है, "जितनी ही किसी व्यक्ति के पास किसी वस्तु की मात्रा अधिक होती है, अन्य बातो के यथास्थिर रहते हुए, वह उसे थोडी-सी और अधिक मात्रा मे प्राप्त करने के लिए नीची कीमत देने को तैयार रहेगा।"[2]

(२) प्रो० चैपमैन—"जितनी ही कोई वस्तु हमारे पास अधिक मात्रा मे होती है उतनी ही हम उसकी अतिरिक्त वृद्धियाँ कम चाहते हैं अथवा उतना ही अधिक हम उनको अतिरिक्त वृद्धियाँ नही चाहते है।"[3]

(३) टामस—"किसी वस्तु की अतिरिक्त अ-पूर्तियो की उपयोगिता उस वस्तु के उपलब्ध स्टॉक मे प्रत्येक वृद्धि के साथ घटती जाती है। इसके अतिरिक्त, कुल उपयोगिता बढती है, किन्तु एक घटते हुए अनुपात मे। यहाँ तक कि अन्त मे वस्तु की मात्रा मे अतिरिक्त वृद्धियो के कारण उल्टी अनुपयोगिता उत्पन्न हो सकती है।"[4]

उपर्युक्त परिभाषाओ के विश्लेषण से यह प्रकट होगा कि उपयोगिता ह्रास नियम को कुल उपयोगिता या सीमान्त उपयोगिता के सन्दर्भ मे परिभाषित किया जा सकता है, जैसे कि मार्शल और चैपमैन ने सीमान्त उपयोगिता के सन्दर्भ और टामस ने कुल उपयोगिता के सन्दर्भ मे किया है। साधारण भाषा मे उक्त नियम की परिभाषा निम्न प्रकार से की जा सकती है.—**"यदि अन्य बाते यथास्थिर रहे** (Other things remaining the same), **तो किसी भी वस्तु की प्रत्येक अगली इकाई अपने से पहले वाली इकाई से कम उपयोगिता देती है।"**

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

उदाहरणस्वरूप; हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि किसी मनुष्य को सन्तरे की पहली इकाई से १० के बराबर उपयोगिता मिले, तो दूसरे सन्तरे से १० से कम अर्थात् ९, तीसरे से ८, चौथे से ७, इत्यादि घटती हुई मात्रा मे उपयोगिता प्राप्त होगी। इस प्रकार उपयोगिता प्राप्ति का क्रम निम्न प्रकार होगा —

सन्तरे की इकाइयाँ	उपयोगिता
पहली	१०
दूसरी	९
तीसरी	८
चौथी	७
इत्यादि	

[1] "The additional benefit which a person derives from a given increase of a stock of a thing diminishes, other things being equal, with every increase in the stock that he already has"—**Marshall** : *Principles of Economics.*

[2] "The larger the amount of a thing that a person has, the less, other things being, equal, will be the price which he will pay for a little more of it."—*Ibid.*

[3] "The more we have of a thing, the less we want additional increments of it, or the more we want not to have additional increments of it"
—**Chapman.**

[4] "......the utility of additional supplies of a commodity diminishes with every increase in the available stock of it, more-over, total utility increases but at a diminishing rate, until eventually, any further increments of the commodity may even have disutility."—**Thomas** : *Elements of Economics*, p 43.
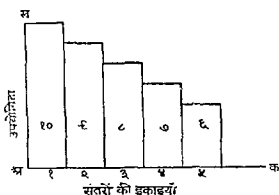
इसी बात को रेखा-चित्र द्वारा भी अंकित किया जा सकता है। ऊपर के चित्र में प्रत्येक आयत (Rectangle) एक-एक सन्तरे से प्राप्त होने वाली उपयोगिता को दिखाता है।

इस नियम की वक्र रेखा भी नीचे के चित्र में दिखाई गई है।
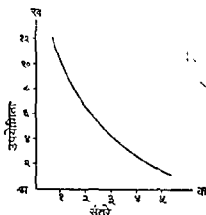
इन दोनों चित्रों के देखने से पता चलता है कि सन्तरों की इकाइयों की वृद्धि के साथ-साथ प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता घटती चली जाती है।

ह्रास केवल सीमान्त उपयोगिता पर ही लागू—

इस नियम के विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ह्रास केवल सीमान्त उपयोगिता पर ही लागू होता है। उपभोग की अगली इकाइयों की उपयोगिता कम होने का अर्थ होता है कि सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) क्रमशः कम होती जाती है। **कुल उपयोगिता (Total Utility) का कम होना आवश्यक नहीं है।**

यह बात ऊपर दिये हुए उदाहरण में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। जब केवल एक ही सन्तरे का उपभोग किया जाता है, तो पहले सन्तरे से प्राप्त होने वाली उपयोगिता ही सीमान्त उपयोगिता होगी, क्योंकि पहला सन्तरा ही उपभोग की अन्तिम इकाई है। जब दूसरे सन्तरे का भी उपभोग किया जाता है, तो दूसरे सन्तरे से मिलने वाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता हो जायेगी, जो कि पहले सन्तरे की उपयोगिता से कम है। इस दशा में सीमान्त

उपयोगिता १० से घटकर ६ हो जाती है, जबकि कुल उपयोगिता १०+६=१६ होती है। इसी प्रकार, तीसरे सन्तरे की उपयोगिता केवल ८ है और उसके उपभोग से सीमान्त उपयोगिता और भी कम हो जाती है, जबकि इसके विपरीत, कुल उपयोगिता बढ़कर १०+६+८=२७ हो जाती है, *अतः, उपयोगिता ह्रास नियम का अधिक सही नाम सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम* (Law of Diminishing Marginal Utility) होना चाहिए।

कुछ विशेष परिस्थितियो मे यह भी सम्भव हो सकता है कि सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता दोनो साथ-साथ कम हो जायें। यदि किसी वस्तु का उपभोग बराबर जारी रखा जाये, तो एक समय ऐसा भी आ सकता है जबकि उस वस्तु के लिए हमारी आवश्यकता पूर्णतया सतुष्ट हो जायगी, अर्थात् हम पूर्ण सन्तोष-स्तर (Satiety Level) तक पहुँच जायेंगे। इस स्थान पर सीमान्त उपयोगिता घट कर शून्य (Zero) हो जाती है, जिसका अर्थ यह होता है कि यहाँ पर उस वस्तु के उपभोग की अन्तिम इकाई में से कुछ भी उपयोगिता नही मिलती है। ऐसा हो जाने के पश्चात् भी यदि उपभोग चालू रहता है, तो अगली इकाइयो से 'ऋणात्मक उपयोगिता' (Negative Utility) या 'अनुपयोगिता' (Disutility) प्राप्त होगी। ऐसी दशा मे अधिक इकाइयो का उपयोग करने से सीमान्त और कुल उपयोगिता दोनों साथ-साथ घटेंगी, किन्तु पूर्ण सन्तोष विन्दु (Satiety Point) से पहले ऐसा नही होगा।

उपयोगिता ह्रास नियम की मान्यताएँ
(Assumptions)

उपयोगिता ह्रास नियम की परिभाषा करते समय यह बात स्पष्ट कर दी गई थी कि यह नियम उसी दशा मे लागू होता है, जबकि अन्य बातें यथास्थिर रहे, अर्थात् उनमे परिवर्तन न हो। अब हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि वे 'अन्य बातें' क्या हैं ? सच तो यह है कि **इस नियम की सत्यता कुछ विशेष मान्यताओं (Assumptions) पर निर्भर है। ये मान्यतायें निम्न प्रकार हैं :—**

(१) उपभोग का क्रम निरन्तर चालू रहना चाहिये—यदि उपभोग क्रमशः नहीं होता रहेगा, तो यह आवश्यक नही है कि यह नियम लागू हो। आवश्यकताओ के लक्षण मे ही यह बताया जा चुका है कि आवश्यकताएँ बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं। यदि एक आवश्यकता एक बार पूर्णरूप से सन्तुष्ट कर दी गई है तो, इसका यह अर्थ नही होता कि उसे फिर दूसरी बार सन्तुष्ट करने की आवश्यकता नही पड़ेगी। भोजन की आवश्यकता हम प्रतिदिन ही दिन मे दो-तीन बार पूरी कर लेते हैं, किन्तु फिर भी यह आवश्यकता बनी ही रहती है। अत, यदि उपभोग का क्रम टूट जाय, तो पहली आवश्यकता दूसरी बार फिर पहले जैसी तीव्रता के *साथ हमारे सम्मुख आ खड़ी हो सकती है। उस दशा मे उपभोग की अगली इकाइयाँ कम उपयोगिता* प्रदान नही करेंगी। अर्थात् यदि उपभोग बराबर चलता रहे, तो अगली इकाइयो से कम उपयोगिता मिलेगी, क्योकि प्रत्येक आवश्यकता की तीव्रता उपभोग के साथ-साथ धीरे-धीरे कम होती चली जाती है। इस प्रकार, उपभोग के क्रम का न टूटना इस नियम की कार्यशीलता की आवश्यक दशा है।

(२) उपभोक्ताओं की मानसिक तथा आर्थिक दशा में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये—यह नियम एक साधारण तथा स्वच्छ मस्तिष्क के मनुष्य पर ही लागू होता है। यदि शराब इत्यादि नशे के प्रभाव से या किसी अन्य कारण से कोई मनुष्य साधारण (Normal) दशा मे नही है, तो उसके व्यवहार पर किसी भी सामान्य (General) नियम का लागू होना आवश्यक नही है। इसी प्रकार, आर्थिक परिस्थितियो में अकस्मात् परिवर्तन हो जाने पर भी यह नियम लागू नही होगा। यदि एक मनुष्य के पास चार कुर्सियाँ हैं और वह अकस्मात् ही

अमीर हो जाता है, तो उस दशा में पाँचवी कुर्सी की उपयोगिता उसके लिए चौथी कुर्सी की उपयोगिता से कम नहीं होगी, वरन् अधिक हो सकती है।

(३) उपभोग की सभी इकाइयाँ गुण और परिमाण में समान होनी चाहिए—*जिस वस्तु का उपभोग किया जा रहा है उसकी प्रत्येक इकाई पहली इकाई के सभी प्रकार समान* होनी चाहिए, तभी यह नियम लागू होगा। यदि कोई मनुष्य सन्तरे खा रहा है और दूसरा सन्तरा पहले से अधिक मीठा है, तो यह आवश्यक नहीं है कि दूसरे सन्तरे से पहले की अपेक्षा कम उपयोगिता मिले। इसी प्रकार, यदि दूसरा सन्तरा पहले से आकार में बड़ा है, तब भी ऐसा आवश्यक नहीं है। अतः ह्रास नियम केवल उपभोग की समान इकाइयों से ही सम्बन्धित है।

(४) वस्तु और उसके स्थानापन्नों (Substitutes) की कीमतों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए—यदि वस्तु की कीमत में परिवर्तन होते हैं, तो इसके फलस्वरूप उसकी माँग में भी परिवर्तन हो जायेंगे और हो सकता है कि उपभोक्ता उसे पहले से अधिक मात्रा में खरीदना अधिक पसन्द करने लगें। इसी प्रकार, यदि कोई वस्तु ऐसी है कि उसके स्थानापन्न मौजूद है, अर्थात्, कुछ दूसरी वस्तुयें इस वस्तु के स्थान पर उपयोग की जा सकती है, तो इन स्थानापन्नों की कीमत में भी परिवर्तन नहीं होने चाहिए। यदि स्थानापन्नों की कीमत घट जाती है, तो मुख्य वस्तु के स्थान पर उनका उपभोग बढ़ जायगा, और, यदि स्थानापन्नों की कीमत बढ़ जाती है, तो इनके स्थान पर मुख्य वस्तु का उपयोग होने लगेगा। दोनों ही दशाओं में उपयोगिता ह्रास नियम लागू न होगा।

(५) ***यदि वस्तु विशेष का उपभोग लम्बे समय तक होता है, तो इस काल में*** **उपभोक्ता की आय, उसके स्वभाव, उसकी आदतों और समाज में प्रचलित फैशन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए**—इन सभी बातों के परिवर्तनों से माँग में भी परिवर्तन हो जायेंगे और उपभोक्ता के स्वभाव में परिवर्तन हो जाने के कारण उसके उपयोगिता अथवा सन्तोष प्राप्त करने के सामर्थ्य में भी परिवर्तन हो जायगा। ऐसी दशा में उपयोगिता ह्रास नियम का लागू होना आवश्यक नहीं है।

(६) वस्तु के उपभोग की इकाइयाँ समुचित (Proper) होनी चाहिए—वे बहुत ही बड़ी अथवा बहुत ही छोटी नहीं होनी चाहिए। यदि एक प्यासे आदमी को एक-एक चम्मच करके पानी पिलाया जाता है, तो प्रत्येक अगले चम्मच पानी की उपयोगिता का पहले से कम होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार, यदि रोटी के छोटे-छोटे टुकड़ों को उपयोग की इकाई मान लिया जाय, तो भी यह नियम लागू नहीं होगा।

(७) आवश्यकता एक ही होना—यदि भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं को एक ही सामूहिक नाम से पुकारें *(जैसे—दिखावा या शान-शौकत सम्बन्धी आवश्यकता) और फिर नियम को* इस सामूहिक नाम वाली आवश्यकता के सम्बन्ध में परखें, तो यह लागू नहीं होगा। कारण, दिखावे की आवश्यकता अनेक भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं का एक समूह है, जबकि नियम केवल एक आवश्यकता के सम्बन्ध में ही लागू होगा।

नियम के अपवाद
(Exceptions or Limitations)

सीमान्त उपयोगिता के घटने का नियम सर्वव्यापी (Universal) नियम है। यदि अन्य वस्तुएँ यथास्थित रहें, अर्थात्, यदि ऊपर दी हुई मान्यतायें ध्यान में रखी जाएँ, तो इस नियम के अपवाद बताना कठिन होगा। फिर भी इस नियम के कुछ अपवाद बताये जाते हैं। इनमें से कुछ अपवाद वास्तविक है और अधिकांश दिखावटी। विभिन्न अपवादों का विवेचन आगे किया गया है।

(I) दिखावटी अपवाद—

इस श्रेणी मे हम उन दशाओं को सम्मिलित करते हैं जो कि मान्यताओं को ठीक प्रकार से न समझ पाने के कारण अपवाद प्रतीत होती हैं लेकिन वास्तव में नहीं हैं। ये दिखावटी अपवाद (Apparent Exceptions) निम्नांकित हैं :—

(१) व्यक्तियों की विशेष रुचियाँ या शौक—कहा जाता है कि कुछ वस्तुओं के विषय मे यह नियम लागू नही होता। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को भिन्न-भिन्न देशों के टिकट जमा करने का शौक है। यदि उस व्यक्ति के पास पचास देशों के टिकट जमा हो गये हैं, तो इक्यावनवें देश के टिकट की उपयोगिता उसके लिए कम न होगी। ऐसी दशा में जितनी भी अधिक टिकटों के स्टॉकों मे वृद्धि होगी, वह व्यक्ति उतनी ही अधिक सन्तुष्टि अनुभव करेगा। इसी कारण यह कहा जाता है कि शौक (Hobby) पर यह नियम लागू नही होता।

[स्मरण रहे कि इस अपवाद मे ह्रास नियम की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता पर ध्यान नही दिया गया है। यहाँ पर उपभोग की इकाइयाँ गुण और परिमाण में समान नही हैं, क्योंकि सभी टिकट एक जैसे नही हैं। जब दो टिकट दो अलग-अलग देशों के हैं, तो नियम के लागू होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। हाँ, यदि एक ही देश का दूसरा टिकट मिले, तो उसकी उपयोगिता पहले से कम होगी।]

(२) उपभोग की छोटी इकाइयाँ—यदि उपभोग की इकाइयाँ बहुत ही छोटी हों, तब भी कदाचित यह नियम लागू न होगा। प्रोफेसर चैपमैन (Chapman) ने इस सम्बन्ध मे एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लिया है जिसे चाय बनाने के लिए कोयले की आवश्यकता है। ऐसे व्यक्ति को यदि बहुत थोड़ी-थोड़ी मात्राओं मे कोयला मिलता है, जिसकी कि पहली इकाइयाँ इतनी छोटी हैं कि उसका काम नहीं चल सकता, तो जैसे-जैसे उसके पास कोयले का स्टॉक बढ़ता चला जायगा, वैसे-वैसे प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता, जब तक कि कोयले की कुल मात्रा, समुचित मात्रा अथवा उपयोग के लिए आवश्यक मात्रा के समीप न पहुँचा जाय, बढ़ती चली जायगी।

[इस उदाहरण के ठीक होने में सन्देह नहीं है, किन्तु प्रोफेसर चैपमैन इस बात को भूल गये हैं कि इस उदाहरण मे उपभोग की इकाइयाँ समुचित नहीं हैं।]

(३) शराबी के लिए उपयोगिता—कुछ लोगों का कथन है कि एक शराबी को शराब के प्रत्येक अगले प्याले से पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलती है।

[इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि शराब पी लेने के पश्चात् शराबी एक साधारण या औसत (Normal) व्यक्ति नहीं रह जाता है। उसकी मानसिक अवस्था बदल जाती है और इसी से उसके व्यवहार पर यह नियम लागू नहीं होता है। ठीक ऐसी ही बात दूसरी नशीली वस्तुओं के उपभोग के विषय मे कही जा सकती है।]

(४) सेवा का प्रयोग—कहा जाता है कि टेलीफोन सेवा का प्रयोग करने वालों की संख्या के बढ़ने पर उसकी (टेलीफोन सेवा की) उपयोगिता घटने के बजाय बढ़ती है।

[किन्तु यह अपवाद वास्तविक नहीं है, क्योंकि नियम के आचरण को एक व्यक्ति के पास टेलीफोन की संख्या के सम्बन्ध में देखना चाहिए, न कि समस्त टेलीफोन कनेक्शनों के सम्बन्ध मे। जहाँ तक एक ही व्यक्ति का सम्बन्ध है, यदि उसके पास एक से अधिक टेलीफोन हैं, तो प्रत्येक नया टेलीफोन लगने पर इसकी उपयोगिता कम हो जायेगी।]

(५) फैशन की वस्तुयें—दिखावटी सामानों, फैशन की वस्तुओं, शक्ति तथा धन के मोह आदि पर यह नियम लागू नहीं होता है। कहा जाता है कि इस प्रकार का मोह कभी

सन्तुष्ट होने में नहीं आता, जिससे सम्बद्ध वस्तु की प्रत्येक अगली इकाई से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है।

[किन्तु ऐसा मोह रखने वाले मनुष्य असाधारण तथा विरले ही होते हैं। अर्थशास्त्र के अधिकांश नियम सभी मनुष्यों तथा सभी परिस्थितियों में लागू नहीं होते, वरन् वे साधारणतया ही सत्य होते हैं।]

(६) **दुर्लभ वस्तुयें**—दुर्लभ (Rare) वस्तुओं पर भी यह नियम लागू नहीं होता है। कुछ विशेष परिस्थितियों में अगली इकाई से पहली इकाइयों की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलती है। यदि किसी शहर में दस व्यक्ति ऐसे हैं जिनके पास दो-दो कारें हैं, और यदि इनमें से एक के पास तीसरी कार भी हो जाय, तो इस तीसरी कार की उपयोगिता उसके लिए और भी अधिक हो जायेगी, *क्योंकि यह उसके लिए श्रेष्ठता (Distinction)* की वस्तु होगी।

[इस विषय में भी इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह भी कोई सामान्य दशा (General Case) नहीं है, वरन् एक विशिष्ट परिस्थिति है।]

(७) **मुद्रा की उपयोगिता**—मुद्रा अथवा धन पर यह नियम एक विशेष प्रकार से लागू होता है। कोई मनुष्य कितना ही अमीर क्यों न हो जाय, फिर भी उसके लिए धन की अन्तिम इकाई की कुछ न कुछ उपयोगिता अवश्य रहती है। धन की आवश्यकता पूर्ण रूप से कभी भी सन्तुष्ट नहीं होती, इसलिए धन की सीमान्त उपयोगिता कभी शून्य के बराबर नहीं होती है। निम्न चित्र में धन की *सीमान्त उपयोगिता का वक्र दिखाया गया है।*
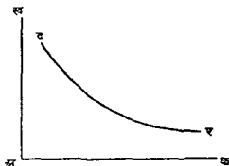
ट र धन का सीमान्त उपयोगिता का वक्र है। इसमें विशेषता यह है कि यह कहीं भी अ क रेखा से स्पर्श नहीं करता। यह वक्र धीरे-धीरे नीचे को गिरता है, *जिसका अर्थ यह है कि धन की सीमान्त उपयोगिता बहुत धीरे-धीरे घटती है।*

[किन्तु इस नियम की भी आलोचना सम्भव है, क्योंकि मुद्रा को हम साधन के रूप में लेते हैं, जिसके द्वारा उपभोग की वस्तुएं और सेवायें खरीदी जा सकती हैं। वास्तविक जीवन में मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता भी उसकी मात्रा की वृद्धि के साथ-साथ घटती जाती है।]

वास्तविक अपवाद—

निम्नांकित दशायें उपयोगिता ह्रास नियम का वास्तविक अपवाद हैं :—

(१) **अच्छी वस्तुएं**—प्रोफेसर टॉजिग (Taussig) का मत है कि किसी अच्छी पुस्तक को दुबारा पढ़ने से अथवा किसी कविता या गाने को दुबारा सुनने पर पहली बार की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलती है।[1]

---

1 Taussig : *Principles of Economics*, Vol. 1.

[इस कथन के सत्य होने में सन्देह नहीं है, किन्तु यह दशा थोड़े समय तक ही रहती है। दीर्घकाल में यहाँ भी उपयोगिता का क्रमशः ह्रास होने लगता है।]

(२) दूसरे के स्टॉक का प्रभाव—पीगू का कहना है कि कभी-कभी एक वस्तु से हमें मिलने वाली उपयोगिता इस बात पर निर्भर है कि उस वस्तु की मात्रा दूसरे व्यक्तियों के पास कितनी है। यदि प्रोफेसर कॉलोनी में प्रत्येक कॉलिज प्रोफेसर के पास दो-दो कारें हों और केवल एक प्रोफेसर ऐसा हो कि उसके पास एक कार हो, तो एक कार वाला प्रोफेसर अपने को दुःखी अनुभव करेगा। इस दशा में यदि उसके पास दूसरी कार आ जावे, तो इससे उसे पहली कार की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलेगी। अर्थात् नियम लागू नहीं होगा।

[यहाँ पर हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि दूसरी कार के बाद कारों की संख्या बढ़ने पर उपयोगिता अवश्य ही घटेगी।]

निष्कर्ष— इस प्रकार, हम यह देखते हैं कि उपर्युक्त अपवाद महत्त्वपूर्ण नहीं है। तब ही तो प्रो० टॉजिग ने कहा है कि, "यह प्रवृत्ति (उपयोगिता ह्रास नियम) इतने विस्तृत रूप में और इतने कम अपवादों के साथ प्रकट होती है कि इसे सर्वव्यापी कहने में कोई त्रुटि न होगी।"[1] पुनः यदि हम दुःखमय और सुखमय दशाओं के उपभोग में भेद को ध्यान में रखें, तो नियम के आचरण से कोई शिकायत न रहेगी। जब तक दुःखमय दशा चलती है, तब तक उपयोगिता ह्रास-नियम लागू नहीं होता; वरन् उपयोगिता वृद्धि नियम लागू होता है, अर्थात् उपभोग की प्रत्येक अगली इकाई से उस पहली की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलती है। "दुःखमय दशा" से हमारा अभिप्राय उस दशा से है जबकि आवश्यकता की आग्रहपूर्णता या उसकी तीव्रता इतनी अधिक होती है कि आवश्यकता की पूर्ति न होने के कारण मनुष्य दुःख का अनुभव करता है। यदि एक मनुष्य बहुत भूखा है और वह भूख मिटाने के साधनों के अभाव के कारण पीड़ित है, तो उस समय का उसका भूख मिटाने से सम्बन्धित उपभोग दुःखमय आर्थिक दशा का उपभोग होगा। ऐसे किसी मनुष्य को यदि एक रोटी खाने को दी जाय, तो इसे खा कर उसकी भूख और भी प्रचण्ड हो जायगी, जिसका परिणाम यह होगा कि वह दूसरी रोटी खा कर पहली रोटी से भी अधिक अंश तक दुःख का निवारण अनुभव करेगा, अर्थात् दूसरी रोटी से उसे पहली रोटी की अपेक्षा और भी अधिक उपयोगिता मिलेगी।

यह दशा उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि निश्चित सीमा तक भूख नहीं मिट जायेगी। जब भूख की तीव्रता इतनी कम हो जायेगी कि उसकी उपस्थिति किसी विशेष कष्ट का कारण न रहेगी, तो प्रत्येक अगली रोटी से पहली की अपेक्षा कम उपयोगिता मिलेगी। यहीं से सुखमय आर्थिक दशा आरम्भ होती है। इस दशा में, जैसे-जैसे रोटी का और अधिक उपयोग किया जाता है, वैसे-वैसे प्रत्येक अगली इकाई से पहली से कम उपयोगिता मिलेगी। अतः उपयोगिता ह्रास नियम केवल सुखमय दशा (Pleasure Economy) का नियम है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने नियम की परिभाषा को संशोधित किया है और संशोधित परिभाषा में वे 'एक बिन्दु के बाद' अथवा 'एक सीमा के बाद' या 'अन्ततः' वाक्यांशों का प्रयोग करते हैं।[2] ऐसी परिभाषा के सन्दर्भ में तो इस नियम का कैसा भी अपवाद नहीं रह जाता तथा नियम सार्वभौमिक हो जाता है।

---

[1] "The tendency shows itself so widely and with so few exceptions that there is no significant inaccuracy in speaking of it as universal."
—Taussig : *Principles of Economics*, Vol 1, Chapter 9.

[2] (Footnot see on next page.)

उपयोगिता ह्रास नियम का महत्त्व
(Importance of the Law of Diminishing Utility)

अर्थशास्त्र के दूसरे नियमों की भाँति उपयोगिता ह्रास नियम का अध्ययन भी अर्थशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इस नियम का सैद्धान्तिक (Theoretical) और व्यावहारिक (Practical) दोनों ही प्रकार का महत्त्व है।

नियम का सैद्धान्तिक महत्त्व—

सैद्धान्तिक दृष्टि से इसका उपयोग मूल्य के सिद्धान्त में होता है। माँग के नियम का अध्ययन हम पीछे कर चुके हैं। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलेगा कि उपयोगिता ह्रास नियम और माँग के नियम की वक्र रेखाएँ रूप और गुण में एक जैसी ही होती हैं। माँग का नियम यथार्थ में उपयोगिता ह्रास नियम पर ही आधारित है। किसी भी वस्तु की माँग-कीमत (Demand price) उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित की जाती है। यदि उपभोक्ता किसी वस्तु की अधिक इकाइयाँ प्रयोग करता है, तो उसके लिए वस्तु की उपयोगिता घटती जाती है, जिस कारण वह वस्तु की अगली इकाइयों के लिए कम कीमत देने को तैयार होता है। यही कारण है कि वस्तु की *कम कीमत पर उसकी अधिक मात्रा का प्रयोग* किया जाता है और अधिक कीमत पर कम मात्रा का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् ऊँची कीमत पर वस्तु के लिए माँग कम और नीची कीमत पर वस्तु के लिए अधिक माँग की जाती है। यही माँग का नियम है जो कि उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है।

नियम का व्यावहारिक महत्त्व—

व्यावहारिक (Practical) दृष्टि से भी इस नियम का बहुत महत्त्व है। प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) **विविधीकृत उत्पादन का कारण**—*प्रो० टॉजिग ने कहा है कि, "उत्पादन में* बढ़ती हुई विविधता और उपभोग व उत्पादन सम्बन्धी जटिलताओं का रहस्य उपयोगिता ह्रास नियम में छिपा है।"[1] जब एक वस्तु की पूर्ति अधिक हो जाती है, तो उपभोक्ताओं के लिए उसकी उपयोगिता घटने लगती है और इसलिए *उत्पादक को भी कम कीमत (एवं कम लाभ) मिलती* है। अतः अपने लाभ के लिये वह उत्पत्ति के साधनों को पुराने प्रयोगों से हटा कर नये प्रयोगों में लगाता रहता है और इसके परिणामस्वरूप उत्पादन एवं उपभोग दोनों विविधतापूर्ण एवं जटिल होते जाते हैं।

(२) **कर प्रणाली का आधार**—आधुनिक प्रवृत्ति प्रगामी दरों (Progressive Rates) पर कर लगाने की है, जिसके अनुसार धनी व्यक्तियों को कम धनी व्यक्तियों की तुलना में अपनी आय का अधिक बड़ा भाग कर के रूप में देना पड़ता है। ऐसा इसी आधार पर उचित होता है कि एक धनी व्यक्ति की आय अधिक होने के कारण उसके लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता निर्धन व्यक्ति की तुलना में कम होती है। अपनी आय का अधिक बड़ा भाग कर के रूप में देकर ही वह निर्धन व्यक्ति के बराबर त्याग करता है। न्यायशीलता इसी में है कि सभी करदाता कर चुकाने

"As a consumer increases the consumption of any one commodity, keeping constant the consumption of all other commodities, the marginal utility of the variable commodity must eventually decline."—Boulding.

[1] "It is this fact of Diminishing Utility that explains the growing variety in the articles produced and the growing complexity of consumption and production."—Taussig.

मे समान त्याग करें। अतएव उपयोगिता ह्रास नियम को ध्यान में रखते हुए अमीरों पर गरीबों की अपेक्षा अधिक ऊँची दर पर कर लगाना ही उचित होगा।

(३) **कार्यक्षमता पर प्रभाव**—यह नियम हमें यह समझाता है कि जीवन-स्तर (Standard of Living) को एक निश्चित सीमा पर ले जाने से कार्यक्षमता की वृद्धि की राशि धीमी क्यों हो जाती है। बात यह है कि उपभोग की अगली इकाइयों से पहली इकाइयो की तुलना मे कम उपयोगिता प्राप्त होती है।

(४) **सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का आधार**—अधिकतम् सन्तोष प्राप्त करने के उद्देश्य से व्यक्ति सबसे प्रथम उस वस्तु पर व्यय करता है, जिससे उसे सबसे अधिक उपयोगिता मिले। तत्पश्चात् यदि वह उसी वस्तु पर व्यय जारी रखे, तो क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम के कारण उसे घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है। अतः उसे यह आवश्यकता अनुभव होती है कि वह अब किसी दूसरी वस्तु पर व्यय करे जिससे उसे पहली वस्तु की घटती हुई उपयोगिता से अधिक उपयोगिता मिले। वह इसी प्रकार एक वस्तु के स्थान में दूसरी वस्तु का, दूसरी के स्थान मे तीसरी वस्तु का प्रयोग बदलता चला जाता है, जिस कारण उसे अधिकतम् उपयोगिता मिलना सम्भव हो जाता है। ऐसी दशा मे यह देखा गया है कि प्रत्येक वस्तु के प्रयोग से अन्ततः प्राप्त उपयोगिता समान या लगभग समान होती है।

(५) **उपभोक्ता की बचत का भी आधार**—जब उपभोक्ता किसी वस्तु को प्रयोग के लिए खरीदता है तो उसे प्रारम्भिक इकाइयो पर दी जाने वाली कीमत की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। बाद मे खरीदी जाने वाली इकाइयों की उपयोगिता क्रमशः घटती हुई अन्तत कीमत के बराबर रह जाती है। इसी समानता के बिन्दु पर वह खरीद बन्द कर देता है। यदि अब तक खरीदी हुई इकाइयों से प्राप्त कुल उपयोगिता की तुलना उनके लिए दी गई कीमत (उपयोगिता के त्याग) से की जाय तो देखेंगे कि उपभोक्ता को अतिरिक्त उपयोगिता मिली है। यह अतिरिक्त उपयोगिता या उपभोक्ता की बचत उपयोगिता ह्रास नियम की क्रियाशीलता के कारण सम्भव होती है।

(६) **विनिमय मूल्य और प्रयोग मूल्य का भेद**—उपयोगिता ह्रास नियम विनिमय मूल्य (Value-in-exchange) और प्रयोग मूल्य (Value-in-use) के अन्तर के कारण को भी समझाता है। इसके अनुसार किसी वस्तु (जैसे—हवा) की पूर्ति जितनी अधिक होगी, उसकी सीमान्त उपयोगिता उतनी ही कम होगी और इसलिए उसका विनिमय-मूल्य (अर्थात् कीमत) कम अथवा शून्य होगा भले ही उसका प्रयोग-मूल्य (उपयोगिता) अधिक हो।

परीक्षा प्रश्न :

१. उपयोगिता ह्रास नियम की परिभाषा दीजिये और इसे पूरी तरह से समझाइये। क्या यह सब जगह लागू होता है ?

अथवा

उपयोगिता ह्रास नियम को बताइये और इसकी सीमाओं सहित व्याख्या कीजिये।

अथवा

उपयोगिता ह्रास नियम को बताइये। "अन्य बातें समान रहें" वाक्यांश का महत्व बताइये। ये अन्य बातें क्या हैं ? क्या विनिमय के कोई वास्तविक या दिखावटी अपवाद हैं ?

अथवा

'घटती हुई सीमान्त उपयोगिता की प्रवृत्ति स्वयं को इतने व्यापक रूप में और इतने कम अपवादों के साथ दिखाई देती है कि इसे सर्व-व्यापक करने मे कोई विशेष अशुद्धता न होगी।" टॉजिग इसके कथन का विवेचन करिये।

[सहायक संकेत :—सभी प्रश्नो के अन्तर्गत सर्वप्रथम नियम की परिभाषा दीजिये एव उदाहरण और चित्र द्वारा उसकी व्याख्या कीजिये। तत्पश्चात् नियम के लागू होने के कारणों, इसकी सीमाओं और अपवादों को बताइये और अन्त मे निष्कर्ष निकालिए कि नियम को सर्व-व्यापक करने मे कोई महत्वपूर्ण त्रुटि नही है। विशेषत: इसकी परिभाषा मे 'एक सीमा के बाद' या 'अन्तत:' शब्द का प्रयोग करे तो इसके कोई अपवाद नही रह जायेंगे।]

२. किन दशाओं मे उपभोग के लिये प्राप्त वस्तु की मात्रा के बढ़ने पर भी सीमान्त उपयोगिता नही घटेगी, और क्यो ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम नियम की परिभाषा दीजिये और इसकी मान्यताओं का उल्लेख कीजिये। तत्पश्चात् इसके वास्तविक और दिखावटी अपवादो का पूर्ण विवेचन करिये और अन्त मे टॉजिग और प्रो० बोल्डिंग के कथनो के सन्दर्भ में निष्कर्ष दीजिए।]

३. उपयोगिता ह्रास नियम को बताइये और यह समझाइये कि इससे माँग का नियम किस प्रकार निकाला जाता है ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम उपयोगिता ह्रास नियम का कथन दीजिये और इसके लागू होने के कारणों को संक्षेप मे बताइये, तत्पश्चात् उदाहरण और चित्र की सहायता से नियम की व्याख्या कीजिए। अन्त मे बताइये कि माँग का नियम उपयोगिता ह्रास नियम पर किस प्रकार आधारित है ?

४. उपयोगिता ह्रास नियम की आलोचनापूर्ण व्याख्या कीजिये। क्या इससे आप लोगो के व्यय के मार्गदर्शन के लिए कोई नियम निकाल सकते है ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम उपयोगिता ह्रास नियम का कथन दीजिये। इसे उदाहरण और चित्र द्वारा समझाइये, तत्पश्चात् अति सूक्ष्म मे नियम की मान्यताओं और अपवादो को बताइये। अन्त मे, समसीमान्त उपयोगिता नियम को बताइये जो कि व्यक्तियो के मार्गदर्शन हेतु निकाला जा सकता है।]

१३

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम

(The Law of Equi-marginal Utility)

प्रारम्भिक—

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम उपभोग के क्षेत्र से सम्बन्धित है किन्तु इससे मिलती-जुलती प्रवृत्तियाँ उत्पादन आदि क्षेत्रों में भी देखने में आती हैं। अतः सम-सीमान्त उपयोगिता नियम को एक सामान्य रूप से भी प्रस्तुत किया गया है। इस सामान्य रूप में इसे 'प्रतिस्थापन नियम' (Law of Substitution) कहते हैं। जिस प्रकार किसी वस्तु की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता को उस वस्तु की "सीमान्त उपयोगिता" कहते हैं। उसी प्रकार किसी भी उत्पत्ति के साधन (Factor of Production) की अन्तिम इकाई के उपयोग से कुल उपज (Total Product) में जो वृद्धि होती है उसे हम उस साधन की "सीमान्त उपज" (Marginal Product) कहते है। उपभोग में हम कम सीमान्त उपयोगिता वाली वस्तु के स्थान पर अधिक सीमान्त उपयोगिता वाली वस्तु का उपयोग करते है। ठीक इसी प्रकार उत्पत्ति में उस उत्पत्ति के साधन के स्थान पर, जिससे कि कम सीमान्त उपज मिलती है, हम ऐसे साधन को चुनते हैं, जिसकी सीमान्त उपज अधिक होती है। उपभोग में ऐसा करने से हमारा कुल सन्तोष अधिकतम् हो जाता है और उत्पत्ति मे हमारी कुल उपज। इस कारण हमारे व्यावहारिक जीवन में इस नियम का बहुत महत्त्व है।

प्रतिस्थापन नियम
(Law of Substitution)

सामान्य कथन—

प्रतिस्थापन के नियम के अनुसार, एक कम उपयोगी वस्तु या महँगे उत्पत्ति-साधन के स्थान पर अधिक उपयोगी वस्तु या सस्ते उत्पत्ति-साधन को प्रतिस्थापन किया जाता है, जिसमे कि सन्तोष, उपयोगिता अथवा लाभ अधिकतम् हो जाये। इस नियम की व्याख्या, सीमायें एव अपवाद सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के समान है।

कुछ लेखकों का मत है कि समस्त अर्थशास्त्र केवल इसी एक नियम का विस्तृत रूप है। अतः यह नियम अर्थ विज्ञान का सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है। इस नियम के अनुसार चलकर हम अपने जीवन को अधिक सुखमय बना सकते है और सामाजिक व मानवीय सुख को अधिकतम् कर सकते है। यह नियम हमें सीमित साधनों को सबसे उपयुक्त रीति से उपयोग करने की शिक्षा देता है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम
(Law of Equi-marginal Utility)

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम उपभोग का एक महत्त्वपूर्ण नियम है। इसे 'उपभोग मे प्रतिस्थापन का सिद्धान्त' (Law of Substitution in Consumption) अथवा 'सम-सीमान्त उपयोगिता नियम' के अतिरिक्त निम्नांकित नामों से भी पुकारा जाता है :—(1) अधिकतम्

सन्तुष्टि का नियम (Law of Maximum Satisfaction), क्योंकि इस नियम का पालन करने से उपभोक्ता को अधिकतम् सन्तुष्टि मिलती है। (ii) तटस्थता का नियम (Law of Indifference), क्योंकि विभिन्न प्रयोगों से बराबर-बराबर उपयोगिता मिलने के कारण उपभोक्ता उनके प्रति तटस्थ हो जाता है। (iii) उपभोग का नियम (Law of Consumption), क्योंकि यह व्यक्ति को बताता है कि अधिकतम् सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिये उपभोग किस प्रकार करना चाहिये। *(iv) मितव्ययिता का नियम (Law of Economy)*, क्योंकि यह व्यक्तियों को उपदेश देता है कि यदि वे अपने सीमित साधनों का मितव्ययिता के साथ स्तेमाल करेंगे, तब ही उन्हें अधिकतम् सन्तोष मिलेगा। (v) गोसन का दूसरा नियम (Second Law of Gossen), क्योंकि इसे सर्वप्रथम गोसन द्वारा, यद्यपि संकुचित रूप में, प्रस्तुत किया गया था। (vi) नियम 'आनुपातिकता का नियम' (Law of Proportionality) भी कहा जाता है, क्योंकि एक वस्तु की कीमत और उपयोगिता का 'अनुपात दूसरी वस्तु की कीमत और उपयोगिता के बराबर होता है।

नियम का कथन—

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम आय के अनुकूलतम् वितरण (Ideal Allocation of *Income) को अथवा उपभोक्ता के सन्तुलन (Equilibrium of Consumer)* को बताता है। जब प्रत्येक दिशा में समान उपयोगिता प्राप्त होती है तो उपभोक्ता को अधिकतम् सन्तोष होता है। ऐसी स्थिति में वह अपनी आय के वितरण को बदलने की चेष्टा नहीं करेगा, क्योंकि अधिकतम् सन्तोष प्राप्त करने के कारण वह अनुकूलतम् स्थिति में है। नियम को इसके प्रतिपादक गोसन के शब्दों में निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, "तृप्ति की अधिकतम् मात्रा प्राप्त करने के लिये एक व्यक्ति, जो कई तृप्तियों के बीच चुनाव कर सकता है, परन्तु जिसके पास सभी को पूर्ण रूप में प्राप्त करने के लिये पर्याप्त समय नहीं है, इस बात पर बाध्य होता है कि सभी प्रकार की तृप्तियों को, चाहे इनकी निरपेक्ष मात्रा एक दूसरे से बहुत भिन्न हो, आंशिक रूप में प्राप्त करे। *इनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार होना चाहिए कि जब उनका उपभोग बन्द* कर दिया जाय, तो सभी तृप्तियों की मात्रायें समान हों।"[1] गोसन ने इस नियम को जिस रूप में दिया है वह बहुत शुद्ध नहीं है परन्तु फिर भी इससे इस नियम की कुछ आधारभूत बातों का पता चल जाता है। उन्होंने कहा है कि यद्यपि यह तो सम्भव नहीं है कि सभी आवश्यकताओं को पूरा कर लिया जाय परन्तु प्रत्येक आवश्यकता की तीव्रता को समान रखकर अधिकतम् सन्तोष अवश्य प्राप्त किया जा सकता है।

इसी नियम को मार्शल ने अधिक सीधी-सादी भाषा में इस प्रकार बताया है, "यदि किसी व्यक्ति के पास कोई ऐसी वस्तु है जिसके अनेक उपयोग हो सकते हैं तो वह इस वस्तु को विभिन्न उपयोगों में इस प्रकार बाँटेगा कि सभी दशाओं में उसे समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। कारण, यदि एक उपयोग में वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अधिक है, तो उसके लिए यह लाभदायक होगा कि वह इसे किसी अन्य उपयोग से हटाकर इस उपयोग में लगा दे।"[2]

---

[1] "In order to obtain the maximum sum of enjoyment, an individual who has a choice between a number of enjoyments, but insufficient time to procure all completely, is obliged—however much the absolute amount of individual enjoyments may differ—to procure all partially, even before he has completed the greatest of them. The relation between them must be such that at the moment when they are discontinued, the amounts of all enjoyments are equal."—Gossen

[2] (Footnote see on next page.)

प्रो० मेहता ने इस नियम को और भी अधिक निश्चित भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि, "यदि एक दी हुई समयावधि में एक वस्तु अनेक आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है, तो इसकी एक दी हुई मात्रा से अधिकतम् सन्तोष प्राप्त करने के लिए, इसकी मात्रा को विभिन्न आवश्यकताओं के बीच इस प्रकार बँटना चाहिये कि इसकी सीमान्त उपयोगिता उस दी हुई समयावधि के सन्दर्भ में सभी दशाओं मे लगभग समान हो जाये।"[1] प्रो० मेहता की परिभाषा में एक निश्चित काल (a given period of time) पर बल दिया गया है। यह सम्भव है कि एक वस्तु किसी काल के आरम्भ में अधिक मात्रा मे उपयोग की जाये और उस काल के अन्तिम भाग मे, कम मात्रा मे, परन्तु कुल मिलाकर उसका उपयोग पूरी समय अवधि पर इस प्रकार बँटना चाहिये कि प्रत्येक उपयोग मे उसकी सीमान्त उपयोगिता समान ही रहे।

यद्यपि मार्शल और जे० के० मेहता की परिभाषायें एक वस्तु के सन्दर्भ मे की गई हैं तथापि इनमें वस्तु के स्थान पर द्रव्य का प्रयोग करके इस नियम को द्रव्य या आय के सम्बन्ध में भी लागू किया जा सकता है। ऐसी दशा मे नियम को निम्न प्रकार से पढ़ा जायेगा—"एक *व्यक्ति अपनी सीमित आय (या द्रव्य) से अधिकतम् सन्तुष्टि प्राप्त करने हेतु द्रव्य को विभिन्न वस्तुओं* पर इस प्रकार व्यय करेगा कि प्रत्येक वस्तु पर व्यय किये गये द्रव्य की अन्तिम इकाई से प्राप्त उपयोगिता (अर्थात् सीमान्त उपयोगिता) समान हो।"

जहाँ तक उपयोगिता के पूर्णत: समान (Complete equalization) होने का प्रश्न है, *सैद्धान्तिक दृष्टि से यह सम्भव है परन्तु व्यवहार मे इसे प्राप्त कर लेना कठिन है। हम समानता* के 'समीप' तो पहुँच सकते हैं परन्तु उसे शायद कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

नियम की मान्यतायें—

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की भाँति सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की भी *कुछ मान्यतायें हैं, जो इस प्रकार हैं :—*

(१) उपयोगिता ह्रास नियम की मान्यतायें—यह नियम भी (i) सुखमय आर्थिक दशा (Pleasure Economy) से ही सम्बन्धित है, (ii) साधारण (Normal) व्यक्ति के ही व्यवहार पर लागू होता है, (iii) इसकी सत्यता के लिए भी यह आवश्यक है कि एक वस्तु की सभी *इकाइयाँ परिणाम और गुण में समान ही हों, और (iv) उपभोक्ता की रुचि, आय आदि एक* समयावधि मे समान रहते हैं, उनमें परिवर्तन नहीं होता।

(२) उपयोगिता को द्रव्य रूपी पैमाने से मापा जा सकता है।

(३) धन या द्रव्य की उपयोगिता यथास्थित रहनी चाहिये। किसी भी वस्तु की एक इकाई को प्राप्त करने मे हम जो रुपया व्यय करते हैं उसकी प्रत्येक इकाई की भी हमारे

"If a person has a thing which he can put to several uses, he will distribute it among these uses in such a way that it has the same marginal utility in all. For if it had a greater marginal utitity in one use than another, he would gain by taking away some of it from the second use and applying it to the first."—Marshall *Principles of Economics*, p. 98.

[1] "If a commodity can satisfy many wants within a given period of time, then, in order to get the greatest satisfaction from a given quantity of it, its amount should be so distributed between various wants as to make its marginal utility, with reference to given period of time, as nearly equal in all cases as possible."—J. K. Mehta: *Foundations of Economics*, pp. 56-57.

लिए उपयोगिता होती है। साधारणतया उपयोगिता ह्रास नियम सभी वस्तुओं पर लागू होता है। मुद्रा अथवा धन इसका अपवाद नहीं है, यद्यपि जैसा कि पहले देख चुके हैं, मुद्रा की उपयोगिता प्रायः कभी भी शून्य के बराबर नहीं होती है। जब हम किसी वस्तु को खरीदते हैं तो मुद्रा के रूप में कुछ उपयोगिता हमारे पास से निकल जाती है। जैसे-जैसे हम वस्तुओं की इकाइयाँ और अधिक खरीदते जाते है, हमारे पास रुपयों का स्टॉक कम होता चला जाता है। इस दशा मे उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार रुपये की प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता बढ़ती चली जायगी। एक ओर तो रुपये की अगली इकाइयों की उपयोगिता बढ़ती जाती है और दूसरी ओर खरीदी जाने वाली वस्तुओं की अगली इकाइयों की उपयोगिता घटती जाती है। सम्भव है कि शीघ्र ही ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाय कि रुपये के रूप मे दी जाने वाली उपयोगिता वस्तु के रूप मे प्राप्त होने वाली उपयोगिता के समान हो जाय। ऐसी दशा मे रुपये का व्यय आगे नहीं बढ़ेगा। अतः इस नियम की सत्यता के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा की उपयोगिता पर ह्रास नियम लागू न हो।

(४) **उपभोक्ता को विवेकशील होना चाहिए**, अर्थात् उसमे निर्णय करने या परखने का गुण होना चाहिये। यदि उपभोक्ता समझ से काम नहीं ले या कुछ ऐसी बातों से प्रभावित हो जाय, जिनसे उनकी रुचि या आदत मे परिवर्तन हो जाता है, तो उसका व्यवहार इस नियम के अनुसार नहीं होगा। इस नियम की सत्यता के लिये यह आवश्यक है कि उपभोक्ता अपनी आय को बिना सोचे-समझे व्यय न करे। वह व्यय करते समय यह भली-भाँति देख ले कि व्यय केवल उसी वस्तु पर किया जाय, जिससे सबसे अधिक उपयोगिता मिलने की आशा है।

(५) उपभोक्ता अपने **द्रव्य को बहुत थोड़ी-थोड़ी** मात्रा में व्यय करता है।

नियम की व्याख्या—

प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः इस बात का प्रयत्न करता है कि वह अपने सीमित साधनों से अधिक से अधिक लाभ उठाये। इसी कारण प्रत्येक उपभोक्ता अपनी आय का विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार वितरण करेगा कि उसे प्रत्येक वस्तु पर व्यय किये गये अन्तिम रुपये से यथासम्भव समान उपयोगिता प्राप्त हो। कारण, इसी प्रकार व्यय करने से अधिकतम् सन्तोष अथवा उपयोगिता प्राप्त की जा सकती है। जब आय विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं पर इस प्रकार व्यय की जाती है कि प्रत्येक से असमान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो, तो अधिकतम् उपयोगिता प्राप्त नहीं हो सकेगी और ऐसी दशा मे यदि व्यय मे ऐसा परिवर्तन कर दिया जाय कि सीमान्त उपयोगितायें समान हो जायें, तो कुल उपयोगिता मे वृद्धि हो जायेगी और आय का अधिक लाभदायक व्यय दृष्टिगोचर होगा। इसी से यह नियम सम-सीमान्त उपयोगिता नियम कहलाता है। इस नियम को प्रतिस्थापन नियम इसलिए कहा जाता है कि जिस वस्तु के उपभोग से कम उपयोगिता प्राप्त होने की सम्भावना होती है उसके स्थान पर हम ऐसी वस्तु का उपभोग करते हैं जिससे अधिक उपयोगिता मिलने की आशा है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

एक छोटे उदाहरण से यह नियम और भी स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए कि एक व्यक्ति के पास महीने के आरम्भ मे १७ रुपये हैं, जिन्हे वह गेहूँ, कपड़ा, चावल और चीनी चार वस्तुओं पर व्यय करना चाहता है। नीचे दी हुई तालिका में यह दिखाया गया है कि गेहूँ, कपड़ा, चावल और चीनी पर रुपये की इकाइयाँ व्यय करने से किस प्रकार उपयोगिता मिलती है। इन चारों वस्तुओं की इकाइयाँ इस प्रकार चुनी गई हैं कि प्रत्येक की १ इकाई १ रुपये मे प्राप्त की जा सकती है।

तालिका

व्यय किये हुए धन की इकाइयाँ	वस्तुओं से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता का क्रम			
	गेहूँ	कपडा	चावल	चीनी
पहला रुपया	१००	९०	८०	६०
दूसरा ,,	८०	७०	६०	४०
तीसरा ,,	६०	५०	४०	३०
चौथा ,,	५०	३०	३०	२०
पाँचवाँ ,,	४०	२०	१५	१५
छठवाँ ,,	३०	१५	१०	१०
सातवाँ ,,	२०	१०	५	५
आठवाँ ,,	१०	५	०	२
नवाँ ,,	०	०	—५	०

अब, यदि वह व्यक्ति अपने रुपयो के व्यय से अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करना चाहता है, तो वह प्रत्येक रुपये को उस वस्तु की इकाई खरीदने पर व्यय करेगा, जिससे कि उसे सबसे अधिक उपयोगिता मिलती है। निश्चय है कि सबसे पहला रुपया गेहूँ की प्रथम इकाई खरीदने पर व्यय किया जायेगा, क्योंकि इससे उसे १०० उपयोगिता मिलती है। व्यय का क्रम इस प्रकार होगा :—

गेहूँ	कपडा	चावल	चीनी
१००[१]	९०[२]	८०[३]	६०[६]
८०[४]			
६०[८]	७०[५]	६०[७]	
५०[१०]	५०[९]	४०[११]	४०[१३]
४०[१३]			
३०[१७]	३०[१६]	३०[१५]	३०[१४]
२०	२०	१५	२०
	१५	१०	१५
१०	१०	५	१०
	५	०	५
०	०	—५	२
			०

नोट—तालिका मे उपयोगिता के ऊपर लिखी हुई छोटी संख्या रुपयो के व्यय क्रम को सूचित करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूरे १७ रुपये खर्च हो जाने पर प्रत्येक वस्तु से ३० के बराबर सीमान्त उपयोगिता मिलती है। यह जानने में कठिनाई न होगी कि यदि किसी दूसरी रीति से रुपयों का व्यय किया जाय, तो कुल प्राप्त उपयोगिता अधिकतम् नही होगी। उदाहरण-स्वरूप, यदि १७वां रुपया गेहूँ पर व्यय न किया जाकर कपड़े या चीनी पर व्यय किया जाय तो ३० के स्थान पर केवल २० ही उपयोगिता मिलेगी, जिससे १० इकाई उपयोगिता की हानि होगी और इसलिए कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति ऐसा नही करेगा।

रेखा-चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

इसी नियम को रेखा-चित्र में भी दिखाया जा सकता है। निम्न चित्र इसे दिखाता है:—
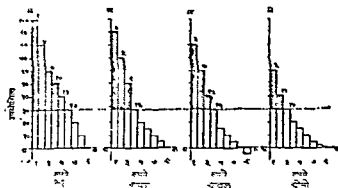
चित्र—सम-सीमान्त उपयोगिता नियम

इस चित्र मे प्रत्येक आयत एक रुपये के बदले में मिलने वाली उपयोगिता को दिखाता है। आयतों के ऊपर लिखे हुए अङ्क यह बताते हैं कि रु० की कौन-सी इकाई किसी वस्तु की इकाई विशेष पर व्यय की गई है। बिन्दुदार रेखा समान सीमान्त उपयोगिताओं को दिखाती है।

इस नियम को एक दूसरी प्रकार के रेखाचित्र द्वारा भी दिखाया जा सकता है। मान लीजिये कि एक व्यक्ति अपनी आय को चाय और कॉफी इन दो वस्तुओं पर व्यय करता है। चाय और कॉफी की मांग की अनुसूचियां अथवा सारणियां उसके लिए निम्न प्रकार हैं:—

चाय की मांग की सारणी

व्यय की गई मुद्रा की इकाइयां	प्रत्येक मुद्रा इकाई से प्राप्त उपयोगिता	कुल प्राप्त उपयोगिता
प्रथम	४०	४०
दूसरी	३५	७५
तीसरी	३०	१०५
चौथी	२५	१३०
पांचवी	२०	१५०

कॉफी की मांग की सारणी

व्यय की गई मुद्रा की इकाइयां	प्रत्येक मुद्रा इकाई से प्राप्त उपयोगिता	कुल प्राप्त उपयोगिता
प्रथम	३०	३०
दूसरी	२५	५५
तीसरी	२०	७५
चौथी	१५	९०
पांचवी	१०	१००

मान लीजिए कि उपभोक्ता के पास छः रुपये हैं और मुद्रा का प्रत्येक एक रुपया उपरोक्त उदाहरण में मुद्रा की एक इकाई है। ऊपर दी गई सारणियों के आधार पर निम्न रेखा-चित्र खींचा जा सकता है:—
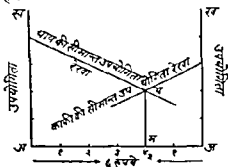
चित्र मे चाय और कॉफी की सीमान्त उपयोगिता रेखायें एक दूसरे को प बिन्दु पर काटती हैं और प बिन्दु से म अक्ष पर प म लम्ब है। यह स्पष्ट है कि उपभोक्ता ६ रुपयों मे से ४ चाय पर और २ कॉफी पर व्यय करेगा, क्योंकि इसी दशा मे उसका सन्तोष अधिकतम् होता है।

नियम की नई व्याख्या—आनुपातिकता का नियम

आधुनिक अर्थशास्त्री सम-सीमान्त उपयोगिता को एक अन्य ढग से भी प्रस्तुत करते हैं, जिसके अनुसार जब एक वस्तु की उपयोगिता और कीमत अन्य वस्तु या वस्तुओ की उपयोगिता और कीमत की समानुपाती हो, तो अधिकतम् सन्तोष प्राप्त होगा।

उदाहरण—मान लीजिये कि एक व्यक्ति के पास चाय की ३ इकाइयाँ हैं और इस दशा मे उसे ५ रु० के बराबर सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है। यदि चाय की कीमत ५ रु० से कम हो, तो उसके लिए चाय की अतिरिक्त इकाइयाँ खरीदना लाभप्रद होगा, क्योंकि ऐसी दशा मे उसे कीमत की तुलना मे उपयोगिता अधिक मिलती है। वह चाय की अतिरिक्त इकाइयाँ तब तक खरीदता जायगा जब तक कि चाय से मिलने वाली उपयोगिता इसकी कीमत के बराबर न हो जाय, अर्थात् सीमान्त उपयोगिता और कीमत का अनुपात 'इकाई' के बराबर होना चाहिए। इसी प्रकार, उपभोक्ता दूसरी और तीसरी वस्तुओं के सम्बन्ध मे भी व्यवहार करेगा। फलतः अधिकतम् सन्तोष की स्थिति तब प्राप्त होगी। जबकि व्यक्ति अपने व्यय को विभिन्न वस्तुओ पर इस प्रकार बाँटे कि प्रत्येक दशा मे वस्तु की सीमान्त उपयोगिता को उसकी कीमत से भाग देने पर प्रत्येक दशा मे समान फल प्राप्त हो। अतः,

$$\frac{\text{क वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{क वस्तु की कीमत}} = \frac{\text{ख वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ख वस्तु की कीमत}}$$

$$\frac{\text{ग वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ग वस्तु कीकीमत}} = \text{इत्यादि}$$

यहाँ पर प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उस वस्तु की कीमत के अनुपात मे है। यही वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिताओ की तुलना करने का सही उपाय है, क्योंकि वस्तुओ की भौतिक इकाइयाँ तो केवल अनुमानजनक होती हैं। मान लीजिए कि वस्तु क की कीमत बढ़ती है, तो ऐसी दशा मे वह कम मात्रा मे खरीदी जायेगी और उसके स्थान पर ख, ग आदि वस्तुओ की अधिक मात्रायें खरीदी जायेंगी और इस प्रकार अनुपात फिर से प्राप्त कर लिया जायेगा।

प्रतिस्थापन नियम की कार्यशीलता का क्षेत्र—

प्रतिस्थापन नियम आर्थिक खोज की प्रत्येक शाखा पर लागू होता है।

(१) उपभोग—प्रत्येक व्यक्ति की आय सीमित होती है। उसके पास समय और शक्ति भी सीमित होते हैं। उसका यह प्रयत्न रहता है कि वह अपने इन सीमित साधनो से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सके। वह अपनी आय, अपने समय और अपनी शक्ति को विभिन्न क्रियाओ मे इस प्रकार बाँटता है कि प्रत्येक दशा मे उसे समान सीमान्त उपयोगिता मिले। इस प्रकार के बँटवारे की आवश्यकता केवल वर्तमान आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे ही नहीं होती है बल्कि वर्तमान और भावी आवश्यकताओ के बीच भी उपस्थित होती है। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि हम कम से कम धन, समय और शक्ति का उपयोग करके अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। निस्सन्देह उपभोग क्षेत्र मे इस नियम का महत्त्व बहुत अधिक है।

(२) उत्पत्ति में—जिस प्रकार एक उपभोक्ता के पास साधन सीमित होते हैं और वह उनका इस प्रकार उपयोग करने का प्रयत्न करता है कि उसे उनके उपयोग से अधिकतम्

लाभ प्राप्त हो, ठीक इसी प्रकार एक उत्पादक के पास भी उत्पत्ति के साधन (पूँजी, कच्चे माल आदि) सीमित मात्रा में ही होते हैं और उसका हित इसी में होता है कि वह इन साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करके अधिक से अधिक लाभ कमाये और उत्पादन व्यय (Cost of Production) को न्यूनतम् रखे। इस सम्बन्ध में उत्पादक के सामने यह समस्या रहती है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के पारस्परिक अनुपात को किस प्रकार निर्धारित करे ?

व्यावहारिक अनुभव बताता है कि यदि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का उपयोग एक निश्चित अनुपात में किया जाय, तो उत्पादन व्यय न्यूनतम् होता है और उत्पादन में अधिकतम् कुशलता (Maximum Efficiency) रहती है। इस अनुपात को प्राप्त करने के लिए उत्पादक उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के बीच प्रतिस्थापन करता रहता है, अर्थात् वह महँगे साधन अथवा कम कुशल साधन के स्थान पर सस्ते साधन अथवा अधिक कुशल साधन का उपयोग करता रहता है और अन्त में साधनों के अनुकूलतम अनुपात (Ideal Ratio) का पता लगा लेते हैं। इस प्रकार, प्रतिस्थापना नियम उत्पादक के लिए उपयोगी होता है।

उदाहरणस्वरूप, यदि कोई उत्पादक उत्पत्ति के पैमाने का विस्तार करना चाहता है तो उसके लिए दो स्पष्ट सम्भावनाएँ रहती हैं—प्रथम, अधिक श्रमिकों को काम पर लगाये तथा दूसरे मशीनों की संख्या बढ़ाये। श्रमिकों और मशीनों के बीच प्रतिस्थापन सम्भव होता है, इसलिए साधन की उपयुक्तता देख कर ही उत्पादक यह निश्चय करता है कि श्रमिक और मशीन इन दोनों में किसको चुने। उत्पादक का यह कार्य प्रतिस्थापन नियम के ही अनुसार होता है। उत्पत्ति में इस नियम को बहुधा "सम-सीमान्त प्रत्याय नियम" (Law of Equi-marginal Return) के नाम से पुकारा जाता है।

(३) विनिमय में—विनिमय (Exchange) में भी यह नियम बहुत महत्वपूर्ण है। विनिमय का कार्य यथार्थ में एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु के प्रतिस्थापन का ही कार्य होता है। हम अपने पास फालतू वस्तु को किसी ऐसी वस्तु अथवा सेवा में बदल लेते हैं जिसकी हमें आवश्यकता है और जो किसी दूसरे व्यक्ति के पास फालतू है। **विनिमय का आधार ही यह होता है कि हम कम उपयोगिता रखने वाली वस्तु को अधिक उपयोगिता वाली वस्तु में बदल लें।** इस ढंग से विनिमय हमें अपने सन्तोष को अधिकतम् करने में सहायता देता है। विनिमय करने वाले दोनों पक्षों को लाभ होता है, क्योंकि विनिमय द्वारा प्रत्येक पक्ष कम उपयोगी वस्तु के बदले में अधिक उपयोगी वस्तु प्राप्त करता है। विनिमय में प्रतिस्थापन नियम की कार्यशीलता वस्तु विनिमय (Barter) में, अर्थात् जब एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु ली जाती है, साफ-साफ दिखाई पड़ती है। मुद्रा-विनिमय (Money Exchange) का भी, जिसमें पहले किसी वस्तु को मुद्रा में बदला जाता है और फिर इस मुद्रा के बदले में दूसरी वस्तु प्राप्त की जाती है, आधार बिल्कुल यही होता है।

यह नियम एक अन्य दृष्टि से भी विनिमय में महत्वपूर्ण है। यह दृष्टिकोण है मूल्य निर्धारण का अर्थात् प्रतिस्थापन नियम मूल्य के निर्धारण में भी उपयोगी होता है। जब किसी वस्तु की कीमत बढ़ जाती है, तो हम उस वस्तु के स्थान पर किसी दूसरी ऐसी वस्तु का उपयोग करने लगते हैं जो इतनी महँगी नहीं है। परिणाम यह होता है कि महँगी वस्तु की माँग में कमी हो जाने के कारण उसकी कीमत नीचे आ जाती है।

(४) वितरण में—वितरण में भी इस नियम का लाभदायक उपयोग होता है। जितनी कुल उत्पत्ति होती है वह संयुक्त उपज (Joint Product) होती है, क्योंकि वह उत्पत्ति के सभी साधनों के सामूहिक प्रयत्न का फल होती है। इस कुल उपज में से उत्पत्ति के विभिन्न

साधनों के अलग-अलग हिस्से बाँटे जाते हैं। **वितरण का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का हिस्सा उसकी सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productibity) द्वारा निश्चित किया जाता है।** दीर्घकाल मे उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उपज (Marginal Product) की कीमत के ही बराबर हिस्सा मिलता है, उससे कम या अधिक नही। उत्पत्ति के किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता कुल उपज मे उस साधन की अन्तिम अथवा सीमान्त इकाई की देन होती है। *सीमान्त उपज कुल उपज के उस भाग को सूचित करती है* जो उत्पत्ति के अन्य साधनो के यथास्थिर रहने की दशा मे एक साधन की एक अधिक इकाई द्वारा उत्पन्न की जाती है। यदि किसी साधन को इससे अधिक हिस्सा देना पड़े, तो फिर उसक *स्थान पर अन्य साधनो को प्रयोग किया जायेगा।* इसी प्रकार, *यदि किसी साधन को इससे कम* पारितोषण देना पडे, तो फिर इस साधन को ही अन्य साधनो के स्थान मे प्रयोग किया जायेगा। स्पष्टतः दोनो ही दशाओ मे प्रतिस्थापन की समस्या उपस्थित रहती है।

(५) राजस्व में—प्रतिस्थापन नियम राजस्व विज्ञान मे भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। राजस्व का उद्देश्य अधिकतम् सामाजिक लाभ (Maximum Social Advantage) प्राप्त करना होता है। जिस प्रकार अधिकतम् सन्तोष अथवा अधिकतम उपज प्राप्त करने के लिए इस नियम की आवश्यकता पडती है, उसी प्रकार **सामाजिक लाभ को अधिकतम् करने के लिए भी इस नियम का अनुकरण लाभदायक है।** सरकार अनेक सूत्रो से आय प्राप्त करती है। विभिन्न सूत्रो से आय प्राप्त करने के अलग-अलग परिणाम होते हैं। सरकार का यह कर्तव्य है कि आय प्राप्ति के ऐसे सूत्रो को चुने जिनमें समाज को कम से कम त्याग करना पडे। यही कारण है कि आय के विभिन्न शीर्षको के बीच प्रतिस्थापन की आवश्यकता पड़ती है। ठीक इसी प्रकार, सरकारी व्यय के विभिन्न शीर्षक होते हैं। कुछ शीर्षको से समाज को बहुत लाभ पहुँचता है और कुछ से लाभ के स्थान पर उल्टी हानि होती है। यहाँ पर भी आवश्यकता इस बात की रहती है कि *व्यय के विभिन्न शीर्षको के बीच इस प्रकार प्रतिस्थापन किया जाय कि अधिकतम् सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके।*

इस प्रकार यह नियम लगभग सर्वव्यापी है। कुछ अर्थशास्त्रियो ने तो इसे "अर्थशास्त्र का नियम" (The Law of Economics) कहा है, क्योकि अर्थशास्त्र के दूसरे सभी नियम इसी मे से निकलते हैं। रोबिन्स ने इसे "अर्थशास्त्र का आधार" (Basis of Economics) कहा है, क्योकि वह सीमित साधनो के उपयोग की रीति बताता है। मार्शल का भी कहना है कि, "यह नियम आर्थिक खोज के लगभग सभी क्षेत्रों मे लागू होता है।"[1]

नियम की सीमाये एवं आलोचनायें

इस नियम के विरुद्ध, विशेषतः इसकी त्रुटिपूर्ण मान्यताओं के कारण, कटु आलोचनायें की गई हैं, जो कि निम्न प्रकार है :—

(१) उपयोगिता की ठीक-ठीक माप सम्भव न होना—उपयोगिता अथवा सन्तोष (Satisfaction) मानसिक दशायें हैं, जिनकी कोई मूर्त (Concrete) माप सम्भव नहीं है। ऐसी माप केवल अनुमानजनक (Arbitrary) ही होती है, जिसके कारण यह नियम भी अनुमानजनक रहता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में उदासीनता वक्रो (Indifference Curves) की सहायता ने इस अपवाद को निर्मूलन कर दिया है। उसमे उदासीनता वक्र की प्रणाली अपनाई गई है जिसमे कि उपयोगिता को मापने की आवश्यकता ही नही पड़ती है।

---

[1] The application of the principle of substitution extend over almost every field of economic enquiry."—Marshall.

(२) मुद्रा की उपयोगिता यथास्थित न रहना—हमारा प्रतिदिन का अनुभव हमें बताता है कि दूसरी वस्तुओं की भाँति मुद्रा पर भी उपयोगिता ह्रास नियम अवश्य लागू होता है। जब हमारे पास मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है, तो हम रुपये की अगली इकाइयों को उतना महत्त्व नहीं देते हैं जितना कि पहली इकाइयों को देते थे। साधारण अनुभव यही बताता है कि एक धनी व्यक्ति के लिए रुपये का महत्त्व इतना नहीं होता जितना कि एक निर्धन व्यक्ति के लिए होता है। इस प्रकार, मुद्रा के स्टॉक में वृद्धि होने से उसकी भी सीमान्त उपयोगिता घटती चली जाती है। इससे पता चलता है कि यह नियम एक गलत और अवास्तविक मान्यता पर आधारित है।

(३) व्यय सदा ही विवेकपूर्ण ढंग में नहीं किया जाता—यह नियम इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक उपभोक्ता सोच-विचार कर व्यय करता है। व्यय करने से पहले ही वह सावधानीपूर्वक इस बात की तुलना कर लेता है कि मुद्रा को उपयोग करने से उसे अलग-अलग दशाओं में कितना लाभ होगा। परन्तु, वास्तव में, हम अपने व्यय के सम्बन्ध में इतनी सावधानी से काम नहीं लेते हैं। कारण—(i) हमारे व्यय का एक काफी बड़ा भाग बहुत-सी दशाओं में आकस्मिक, विचारहीन अथवा दूसरों की देख-रेख पर आधारित होता है। (ii) हमारा बहुत-सा व्यय हमारी आदतों तथा उन सामाजिक परिस्थितियों द्वारा निश्चित होता है जिनमें हम रह रहे हैं और ऐसी दशाओं में पूरी तरह सोच-विचार कर व्यय करने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जब कोई बड़ा व्यय करना होता है तब हम सोच-विचार अवश्य करते हैं।

(४) उपभोक्ताओं का अज्ञान—बहुत-सी दशाओं में उपभोक्ताओं का अज्ञान इस नियम की परिसीमा बन जाता है। कितनी ही बार उपभोक्ता यह जानता भी नहीं है कि उसके सम्मुख कितनी सम्भावनायें (Alternatives) मौजूद हैं? इस प्रकार, यह नियम कीमतों और विभिन्न वस्तुओं की तुलनात्मक उपयोगिताओं के सम्बन्ध में उपभोक्ता के ज्ञान को पूर्ण मान कर चलता है।

(५) वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन—बाजार में वस्तु-कीमतें और इसलिये उनकी उपयोगितायें भी प्रायः घटती-बढ़ती रहती हैं, जिस कारण वस्तुओं के क्रय के सम्बन्ध में, एक विशेष उपयोगिता-तुलना-चार्ट के आधार पर बनाई गई योजना अस्त-व्यस्त हो जाती है और बाजार में पहुँच कर उपभोक्ता को मनसोचे ढङ्ग से व्यय करना पड़ जाता है।

(६) कुछ वस्तुयें उपलब्ध न होना—उपयोगिताओं की तुलना के आधार पर निश्चित किये गये क्रय-क्रम को लागू करना इसलिये भी कठिन हो जाता है कि हमारी योजना की कोई-कोई वस्तु उस समय, जबकि हम बाजार में शॉपिंग के लिए जाते हैं, अनुपलब्ध होती है। फलतः हमें कोई कम उपयोगी वस्तु खरीदनी पड़ती है, जिससे हम अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम् करने में असमर्थ रहते हैं।

(७) अधिकतम् कुल उपयोगिता एवं अधिकतम् सन्तुष्टि में भेद—जैसा कि हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि उपयोगिता इच्छा की तीव्रता का माप है अर्थात् अनुमानित सन्तुष्टि है किन्तु सन्तुष्टि वह है जो वस्तु के उपभोग के बाद वास्तव में मिलती है, अतः अनुमानित सन्तुष्टि वास्तविक सन्तुष्टि से कम या अधिक भी हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में यह कहा जा सकता है कि सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार आचरण करने से यदि हम कुल उपयोगिता को अधिकतम् करने में सफल हुए हैं, तो जरूरी नहीं है कि हम अधिकतम् सन्तुष्टि भी प्राप्त करें।

(८) वस्तुओं की अविभाज्यता—नियम के लागू होने के लिये एक मान्यता यह है कि व्यय सम्बन्धी विभिन्न वस्तुओं को छोटी-छोटी इकाइयों में प्रयोग करना सम्भव है।

लेकिन, जैसा कि बोल्डिंग ने बताया है, अनेक व्यय सम्बन्धी वस्तुयें (उदाहरणार्थ, रेडियो, कार, पखा) छोटी-छोटी इकाइयो में विभाजित नही की जा सकती हैं, जिस कारण इनकी तुलना अन्य वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिताओ से करना सम्भव नही है, जैसे—कारों की सीमान्त उपयोगिता की तुलना सन्तरो की सीमान्त उपयोगिता से नही की जा सकती है।

(६) **आदत, रीति-रिवाज और फैशन में परिवर्तन**—व्यवहार में उपभोक्ता प्राय: आदत, रीति-रिवाज और फैशन से प्रभावित होता है, जिस कारण वह सदैव अधिक उपयोगी वस्तु पर ही व्यय नहीं करता। पुन: रीति-रिवाज, फैशन और स्वभाव बदलते भी रहते हैं।

(१०) **टिकाऊ वस्तुयें**—जैसा कि बोल्डिंग ने बताया है, सम-सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम एक निश्चित बजट अवधि में ही लागू होता है, जो प्राय: एक वर्ष होती है। जब उपभोक्ता यह विचार करता है कि वह आय के कितने भाग को किस वस्तु पर व्यय करे, तो प्राय: 'बजट अवधि' को घ्यान मे रखता है, अर्थात् एक बजट अवधि की आय से उसी बजट अवधि की आय मे अपने सन्तोष को अधिकतम् करने के लिये प्रयत्नशील रहा है। लेकिन कार, पखा आदि अनेक वस्तुयें ऐसी है जो कि दूसरी बजट अवधियों मे भी काम आती रहती है। इनको खरीदते समय हम इनकी उपयोगिताओ की तुलना हेतु इस एक वर्ष के लिये ही नहीं वरन् आगामी कई वर्षों के लिये प्राय· उपयोगिताओ को भी ध्यान मे रखते हैं। फलत: ऐसी दशा मे नियम लागू नही होता। हाँ, यदि बजट अवधि को इतने वर्षों तक बढ़ादें कि टिकाऊ वस्तु का सम्पूर्ण उपयोगी जीवन उसमे आ जाय, तो बात दूसरी है।

(११) **पूरक वस्तुयें**—जो वस्तुयें एक दूसरे की पूरक होने के कारण साथ-साथ एक निश्चित अनुपात मे प्रयोग की जाती हैं (जैसे—दूध-चीनी-चाय), वे एक-दूसरे के स्थान मे प्रयोग नही की जा सकती हैं और इस कारण उनके सम्बन्ध मे यह नियम लागू नही होता है।

उपर्युक्त आलोचना के बावजूद **सम**-सीमान्त उपयोगिता नियम का महत्व खत्म नहीं होता। निस्सन्देह द्रव्य रूपी पैमाने से उपयोगिता को बिल्कुल सही रूप से मापना तो सम्भव नही है किन्तु एक मोटा अनुमान तो लगाया ही जा सकता है। उपयोगिता और सन्तुष्टि एक बात न होते हुए भी दोनो मे अति घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिस कारण इन्हें मोटे रूप से एक ही माना जा सकता है। इसी प्रकार, अधिकाश व्यक्ति विवेकशील होते हैं और विचार करके ही व्यय करते हैं। पुन: जैसा कि चैपमैन के निम्न शब्दो से प्रकट होता है, प्रत्येक व्यक्ति जाने-अजाने इस नियम का पालन करने का प्रयास करता है —

प्रो० चैपमैन के मतानुसार उपरोक्त आलोचना ठीक नहीं है। उन्होने लिखा है,"हमे कोई इस नियम के अनुसार व्यय करने के लिये बाध्य नही करता है परन्तु जिस प्रकार एक पत्थर, जो आकाश मे फेंका गया है, पृथ्वी पर गिरने के लिए बाध्य होता है, उसी प्रकार, क्योकि हम विवेकशील हैं, हम इस नियम के अनुसार चलने के लिये बाध्य हैं।" अत:, निष्कर्ष के रूप मे, नियम के बारे मे केवल इतना ही कह सकते हैं कि एक बुद्धिमान तथा विवेकशील व्यक्ति इसी नियम के अनुसार व्यय करने की प्रवृत्ति रखता है।

सम सीमान्त उपयोगिता नियम एवं उपयोगिता ह्रास नियम

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम 'सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम' पर आधारित है। प्रत्येक उपभोक्ता को बहुमात्रा मे वस्तुयें और सेवाएँ खरीदनी पडती हैं। किसी वस्तु को वह जितनी ही अधिक मात्रा मे खरीदता है उतनी ही उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। किसी एक अवस्था पर उपभोक्ता के लिये यह लाभदायक हो सकता है कि वह उस वस्तु के स्थान पर किसी दूसरी ऐसी वस्तु को खरादे जो या तो उसके पास बहुत थोडी मात्रा मे है जिस कारण उसकी सीमान्त उपयोगिता बहुत ऊँची है। चूँकि अधिक मात्रा मे खरीदने से प्रत्येक

वस्तु की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है, इसलिए किसी भी उपभोक्ता को कोई एक वस्तु बहुत अधिक मात्रा में नहीं खरीदना चाहिये।

प्रतिस्थापन नियम एवं उत्पत्ति ह्रास नियम

प्रतिस्थापन नियम एवं उत्पत्ति ह्रास नियम मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यथार्थ मे, उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता के कारण ही उत्पादन के क्षेत्र में प्रतिस्थापन नियम लागू होता है। यदि उत्पादक एक उत्पत्ति साधन को स्थिर रखते हुए दूसरे साधन की इकाइयाँ उत्तरोत्तर लगाता जाता है, तो उत्पत्ति ह्रास नियम को क्रियाशीलता के फलस्वरूप उसे घटती हुई उपज प्राप्त होती है किन्तु परिवर्तनशील साधन की इकाइयाँ उसी सीमा तक बढ़ाई जायेगी जहाँ पर उसकी सीमान्त उपज घटते हुए अन्त में उसके लिये दिये जाने वाले मूल्य के बराबर हो जाय। तदोपरान्त उसके स्थान पर अन्य साधन का प्रयोग किया जाने लगेगा, जिससे कि

$$\frac{\text{क साधन की सीमान्त उपज}}{\text{क की कीमत}} = \frac{\text{ख साधन की सीमान्त उपज}}{\text{ख की कीमत}}$$

$$= \frac{\text{ग साधन की सीमान्त उपज}}{\text{ग की कीमत}}$$

परीक्षा प्रश्न :

१. सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या कीजिये। क्या इसका प्रयोग अर्थशास्त्र की अन्य शाखाओं में किया जा सकता है ?

अथवा

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या कीजिये। अर्थशास्त्र मे इसका क्या महत्त्व है ?

अथवा

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम को स्पष्ट रूप से समझाइये और दैनिक व्यवहार मे इसकी उपयोगिता को बताइये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की उदाहरण और रेखाचित्र की सहायता से व्याख्या कीजिये। तत्पश्चात् आर्थिक क्रियाओं के विभिन्न क्षेत्रों मे इसके प्रयोग को बताइये और अन्त मे निष्कर्ष निकालिये कि दैनिक व्यवहार मे चेतन-अचेतन रूप से *प्रत्येक व्यक्ति इस नियम का पालन करता है।*]

२. एक व्यक्ति को, जिसने अभी हाल मे १०० रु० कई वस्तुओ पर व्यय किये है, यह पता चलता है कि सभी वस्तुओं की सीमान्त इकाइयों से उसकी उपयोगिता लगभग समान है। इसे कौन-सा आर्थिक सिद्धान्त स्पष्ट करता है ? इसकी प्रमुख मान्यतायें कौन-सी हैं ? यदि उसकी खरीदों पर फैशन, रीति-रिवाज और आदत का प्रभाव पड़ता, तो उसके सन्तोष मे क्या परिवर्तन हो जाता ? समझाइये।

अथवा

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या कीजिये। यह बताइये कि जीवन मे यह नियम रीति-रिवाज या फैशन से किस प्रकार संशोधित हो जाता है ?

सहायक संकेत :—सर्वप्रथम नियम का कथन एवं इसकी मान्यतायें दीजिये। तत्पश्चात्

उदाहरण और रेखा-चित्र की सहायता से व्याख्या कीजिये। अन्त मे यह स्पष्ट कीजिये कि रीति-रिवाज, फैशन और आदत का नियम के कार्यकरण पर क्या असर पड़ता है ?]

३. प्रतिस्थापन के नियम की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। इसके व्यावहारिक महत्त्व को बताइये।

अथवा

"प्रतिस्थापन के सिद्धान्त का प्रयोग आर्थिक खोज के लगभग प्रत्येक क्षेत्र मे होता है।" स्पष्ट कीजिए।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम प्रतिस्थापन नियम का कथन दीजिये और यह बताइये कि उपभोग के क्षेत्र मे इसे सम-सीमान्त उपयोगिता नियम कहते हैं। तत्पश्चात् सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की उदाहरण और रेखा-चित्र द्वारा व्याख्या कीजिये। अन्त मे, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण और राजस्व मे इस नियम के प्रयोग को बताइये।]

४. प्रतिस्थापन के नियम की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये। इस नियम की आलोचनायें और सीमायें क्या है ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम प्रतिस्थापन के नियम का सामान्य कथन दीजिये। तत्पश्चात् उदाहरण और रेखा-चित्र द्वारा सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या कीजिये। अन्त मे, नियम की मान्यतायें और आलोचनायें दीजिये।]

५. उपभोग के क्षेत्र मे आनुपातिकता के नियम को पूरी तरह से स्पष्ट कीजिये।

[सहायक संकेत —सर्वप्रथम यह बताइये कि सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की आधुनिक व्याख्या को ही आनुपातिकता का नियम कहा जाता है। इसलिए, सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का कथन दीजिये और उदाहरण व चित्र द्वारा उसकी व्याख्या कीजिये। अन्त मे, इसकी आधुनिक व्याख्या दीजिए।]

६. सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की विवेचना कीजिये तथा एक रेखा-चित्र की सहायता से सिद्ध कीजिये कि एक उपभोक्ता यदि इस नियम के अनुसार कार्य करे, तो उसे अधिकतम् सन्तोष प्राप्त होता है।

[सहायक संकेत :—सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का सामान्य कथन दीजिये और इसे उदाहरण व चित्र की सहायता से स्पष्ट कीजिये। चित्र द्वारा दिखाइये कि केवल नियम के अनुसार चलने से ही उपभोक्ता को अधिकतम् सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। हम यह मान कर चलते हैं कि दो वस्तुयें हैं—चाय और चीनी। चाय पर मुद्रा की OM मात्रा व्यय की जाती है और चीनी पर मुद्रा की OM′ मात्रा जिससे कि मुद्रा का कुल व्यय OM+OM′ के बराबर होता। चित्र मे A चाय की उपयोगिता रेखा (Utility curve) है और B चीनी की उपयोगिता रेखा। यदि चाय पर मुद्रा की OM मात्रा व्यय की जाती है और चीनी पर मुद्रा की OM′ तो ऐसी दशा मे चाय और चीनी की सीमान्त उप-

चित्र—सम-सीमान्त उपयोगिता नियम
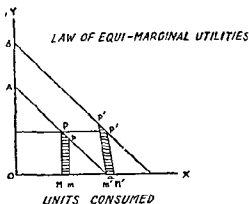
योगितायें अथवा उन पर व्यय की हुई मुद्रा की सीमान्त उपयोगितायें क्रमशः PM तथा P'M' हैं और, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है, PM=P'M'। सम-सीमान्त उपयोगिता नियम यह बताता है कि जब मुद्रा को चित्र में दिखाये गये ढङ्ग के अनुसार व्यय किया गया है, तो कुल उपयोगिता (अर्थात् OMPA+OMP'B) अधिकतम् होती है। यदि हम ऐसा दिखा सकें कि इस रीति के अतिरिक्त किसी अन्य रीति से मुद्रा को व्यय करने पर इससे कम कुल उपयोगिता मिलती है तो हम सरलता से यह कह सकेंगे कि उपरोक्त नियम के अनुसार व्यय करने से ही अधिकतम् सन्तोष प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। मान लीजिये कि उपभोक्ता चाय पर O M के बजाय कुछ अधिक अर्थात् Om मुद्रा और चीनी पर OM' के बजाय कुछ कम अर्थात् Om' मुद्रा व्यय करता है। ऐसी दशा मे कुल उपयोगिता=OmpA+Om'p'B है। यहाँ चाय की उपयोगिता में हुई वृद्धि PMmp क्षेत्र द्वारा सूचित होती है जबकि चीनी की उपयोगिता मे हुई कमी P'M'm'p' क्षेत्र द्वारा। चूँकि P'M'm'p'<PMmp इसलिए नये तरीके से व्यय करने मे कुल उपयोगिता कम हो गई है जिससे यह सिद्ध होता है कि केवल ऐसे ही तरीके से व्यय करने मे कुल उपयोगिता अधिकतम् होती है। जिसमे कि सीमान्त उपयोगितायें विभिन्न वस्तुओं के लिये समान हो।]

उपभोक्ता की बचत
(Consumer's Surplus)

प्रारम्भिक—

उपभोक्ता की बचत केवल एक विचार (Concept) है, सिद्धान्त (Doctrine) नहीं, जैसा कि लोग गलती से कह देते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उपभोक्ता की बचत के विचार को प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की पुस्तकों में ढूंढा जा सकता है। वे किसी न किसी प्रकार इसकी उपस्थिति से परिचित थे। इस विचार को उपयोगिता सम्प्रदाय (Utility School) के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जेवन्स ने निश्चितता प्रदान की। किन्तु इस विचार का वैज्ञानिक विश्लेषण फ्रेंच अर्थशास्त्री ड्यूपुट (Dupuit) की पुस्तक Arnales des Ponts et Chaussees में मिलता है जो सन् १८४४ में प्रकाशित हुई थी। ड्यूपुट की पुस्तक बहुत समय तक अज्ञात रही और अन्त में यह सन् १९३३ में फ्रेंच अर्थशास्त्री M. de Bernadis द्वारा del' utility et desa mesure नाम से फिर से छपाई गई। इस विचार को रेखाचित्र द्वारा भी सर्वप्रथम ड्यूपुट ने ही चित्रित किया था।

बाद में चलकर मार्शल ने इस विचार का स्वतन्त्र रूप में विकास किया। सर्वप्रथम यह विचार मार्शल के एक लेख में, जो सन् १८७९ में Pure Theory of Domestic Values के शीर्षक में छपा, मिलता है। यह निश्चय है कि उस समय मार्शल ड्यूपुट की पुस्तक से परिचित न थे। इस लेख में मार्शल ने इस विचार को "उपभोक्ता के लगान" (Consumer's Rent) का नाम दिया है। आगे चलकर मार्शल ने इस विचार को Principles of Economics में और भी अधिक परिपूर्णता प्रदान की और इसे इसके अन्तिम रूप में प्रस्तुत किया। यहीं उन्होंने इसे 'उपभोक्ता की बचत' का नाम दिया।

अनेक आधुनिक अर्थशास्त्री बचत के विचार को अर्थशास्त्र में और भी आगे ले गये हैं। कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री उपभोक्ता की बचत के स्थान पर 'क्रेता की बचत' (Buyers Surplus) का उपयोग करते हैं। प्रो० ए० के० दास गुप्ता ने अपनी पुस्तक A Conception of Surplus in Theoretical Economics में इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रगति की है।

उपभोक्ता की बचत और उपयोगिता ह्रास नियम

उपभोक्ता की बचत का विचार उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। इस नियम के अनुसार, जब किसी वस्तु की इकाइयों का क्रमशः प्रयोग किया जाता है, तो बाद की इकाइयों की उपयोगिता पहले की इकाइयों की अपेक्षा घटती जाती है। जब ऐसा है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि उपभोक्ता वस्तु विशेष की प्रारम्भिक इकाइयों के लिए बाद की इकाइयों की अपेक्षा अधिक कीमत चुकाने को तैयार रहे, क्योंकि उसे अधिक उपयोगिता मिलती है। किन्तु बाजार में उपभोक्ता को वस्तु की विभिन्न इकाइयों के लिए एक-सी कीमत देनी पड़ती है, भिन्न-भिन्न नहीं। वह वस्तु की इकाइयों को क्रमश उस सीमा तक खरीदता है जिस तक उसे प्राप्त उपयोगिता उनके लिए दी जाने वाली कीमत से कम न हो। जैसे ही प्राप्त उपयोगिता कीमत के रूप में दी जाने वाली उपयोगिता के बराबर हो जाती है, वह खरीद बन्द कर देता है।

स्पष्ट है कि सीमान्त इकाई के प्रयोग से उपभोक्ता को कोई बचत प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि जितनी उपयोगिता उसे प्राप्त हुई है उतनी ही उसने दी है। परन्तु सीमान्त इकाई से पिछली इकाइयों में से प्रत्येक की उपयोगिता कीमत से अधिक होती है, जिस कारण इन सब पर उपभोक्ता को बचत का अनुभव होता है। इस प्रकार, उपभोक्ता की बचत और उपयोगिता ह्रास नियम में गहरा सम्बन्ध है।

उपभोक्ता की बचत क्या है?

मार्शल इस विचार से विवेचना आरम्भ करते हैं कि किसी वस्तु के लिए हम जो कीमत में वास्तव में चुकाते हैं वह उस वस्तु को रखने से प्राप्त लाभ को सूचित नहीं करती है। यथार्थ में, एक व्यक्ति किसी वस्तु के लिए जो कीमत चुकाता है वह उससे अधिक नहीं हो सकती जितनी कि वह उस वस्तु से वंचित रहने की अपेक्षा उसके लिए देने को तैयार हो जायेगा। इस प्रकार, जो कीमत वास्तव में चुकाई जाती है वह उससे कम होती है जो उपभोक्ता वस्तु से वंचित रहने की अपेक्षा देने को तैयार हो जाता है। यही कारण है कि वस्तु को प्राप्त करते समय एक व्यक्ति जितना सन्तोष प्राप्त करता है वह उस सन्तोष से अधिक होता है जो वह उसकी कीमत के रूप में दे डालता है और इस प्रकार वह व्यक्ति वस्तु को खरीदकर अतिरिक्त सन्तोष प्राप्त करता है।

एक उदाहरण द्वारा यह अधिक स्पष्ट हो जायेगा। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति जयपुर में रहता है और उसका लड़का इलाहाबाद पढ़ता है जिसे वह प्रत्येक सप्ताह एक पत्र लिखता है। इसके लिए वह एक दस पैसे का पोस्टकार्ड काम में ला सकता है। अपने पुत्र के समाचार पाने की इस व्यक्ति की इच्छा इतनी तीव्र है कि यदि उसे दस पैसे का पोस्टकार्ड नहीं मिलता है तो वह टेलीफोन करने पर दो रुपये खर्च कर देगा। किन्तु उसे उस कार्य के लिए जिस पर वह आवश्यकता पड़ने पर दो रुपये तक व्यय करने को तैयार है, केवल दस पैसे ही व्यय करने पड़ते हैं। इस प्रकार, पोस्टकार्ड खरीदकर वह व्यक्ति अतिरिक्त सन्तोष प्राप्त करता है। किसी उपभोक्ता को वस्तुएँ खरीदने पर जो अतिरिक्त सन्तोष प्राप्त होता है उसे ही उपभोक्ता की बचत कहा जाता है। मार्शल के शब्दों में, "इस अतिरिक्त सन्तोष की आर्थिक माप कीमत के उस अन्तर द्वारा की जाती है जो वस्तु से वंचित रहने की तुलना में उपभोक्ता देने को तैयार है और जितनी कि वह वास्तव में देता है। इसे हम उपभोक्ता की बचत कह सकते हैं।"[1]

मार्शल की परिभाषा के निहित विचार को प्रो० जे० के० मेहता ने निम्न शब्दों में प्रगट किया है :—"एक व्यक्ति को वस्तु विशेष से प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचत उस सन्तोष के, जो वह उस वस्तु से प्राप्त करता है, तथा उस सन्तोष के जो वह उसे प्राप्त करने के लिए खर्च करता है, अन्तर के बराबर होता है।"[2]

---

1 "The excess of price which he would be willing to pay rather than go without the thing, over that which he actually does pay, is the economic measure of this surplus satisfaction. It may be called *Consumer's Surplus*"
—**Marshall** : *Principles of Economics*, p. 103

2 "Consumer's Surplus obtained by a person from a commodity is the difference between the satisfaction which he derives from it and that which he foregoes in order to procure that commodity or secure its enjoyment."
—**J. K. Mehta** : *Foundations of Economics*, p. 74.

प्रो० पेन्सन के अनुसार, "जो कुछ हम देने को तैयार हैं और जो कुछ हमको देना पड़ता है, इन दोनों के अन्तर को ही 'उपभोक्ता की बचत' कहते हैं।"[1]

प्रो० सेन के शब्दों में, "उपभोक्ता को उसकी खरीददारी से प्राप्त होने वाला अतिरिक्त सन्तोष उपभोक्ता की बचत कहलाता है।"[2]

इन सभी परिभाषाओं से अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि एक उपभोक्ता जब किसी वस्तु को खरीदता है, तो दो बातें एक ही साथ होती हैं :—जो वस्तु खरीदी गई है उसके रूप में उपभोक्ता को उपयोगिता अथवा सन्तोष प्राप्त होता है, परन्तु वस्तु को खरीदने के लिए जो कीमत दी गई है उसके रूप में उपभोक्ता को त्याग करना पड़ता है। साधारणतया प्राप्त उपयोगिता किये हुए त्याग या लागत से अधिक होती है। लागत पर उपयोगिता का आधिक्य ही 'उपभोक्ता की बचत' है। इस बचत को हम अधिकतर मुद्रा में नापते हैं, क्योंकि हमारे लिए प्राप्त सन्तोष और किये हुए त्याग दोनों को मुद्रा में नाप लेना सम्भव होता है। वास्तविकता यह है कि अर्थशास्त्र में लगभग सभी तथ्यों को हम मुद्रा में ही नापने का प्रयत्न करते हैं।

उल्लेखनीय है कि उपभोक्ता की बचत को तीन प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—(i) प्राप्त उपयोगिता तथा लागत के अन्तर के रूप में, (ii) कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता और इकाइयों की संख्या के गुणनफल के अन्तर के रूप में और (iii) उस अन्तर के रूप में जो उन दो कीमतों के बीच है जो उपभोक्ता वस्तु से वंचित रहने की अपेक्षा देने को तैयार है तथा जो वह वास्तव में देता है। हम यह देखेंगे कि इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है।

कुछ लेखकों का कहना है कि उपभोक्ता की बचत वह अतिरिक्त सन्तोष है जो विनिमय के किसी कार्य से प्राप्त होता है। यह उपभोक्ता की बचत भी है और उत्पादक की बचत भी। क्रेता और विक्रेता अलग-अलग प्रकार के व्यक्ति नहीं होते। एक वस्तु का क्रेता मुद्रा का विक्रेता होता है, और, इसी प्रकार, वस्तु का विक्रेता मुद्रा का क्रेता होता है। शायद उपभोक्ता के बचत के स्थान पर 'क्रेता की बचत' अधिक अर्थपूर्ण है, क्योंकि किसी वस्तु विशेष के सन्दर्भ में एक क्रेता को तो विक्रेता से सुगमतापूर्वक अलग किया जा सकता है जबकि उपभोक्ता और उत्पादक के बीच इस प्रकार का भेद कठिन होता है।

उपभोक्ता की बचत की माप—उदाहरण

जैसा कि हम आरम्भ में ही बता चुके हैं, उपभोक्ता की बचत का सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपभोग की पहली इकाइयों से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है और जैसे-जैसे उपभोग की इकाइयाँ बढ़ती जाती हैं, सीमान्त उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए हम उससे प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता के अनुसार व्यय करने को तैयार होते हैं। किसी भी वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त उपयोगिता की अनुपाती (Proportional) होती है, अर्थात्, किसी वस्तु के लिए हम वही कीमत देने को तैयार होते हैं जो कि उपयोगिता वस्तु से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि एक पैसे की उपयोगिता १ के बराबर है। फिर मान

---

3 "The difference between what we would pay and what we have to pay is called the Consumer's Surplus."—**Penson** : *Economics of Everyday Life*, p 27.

4 "The surplus satisfaction of the consumer from his purchase is called consumer's surplus."—**Sen** : *Outlines of Economics*, p. 122.

लीजिए कि कोई व्यक्ति, सन्तरे खरीदना चाहता है, जिनकी कि सीमान्त उपयोगितायें निम्न प्रकार हैं :—

सन्तरे	सीमान्त उपयोगितायें
१	१०
२	९
३	८
४	७
५	६
६	५
७	४
८	३
९	२
१०	१

ऐसी दशा मे पहले सन्तरे को पाने के लिए वह व्यक्ति १० पैसे तक व्यय करने को तैयार होगा, क्योंकि एक सन्तरे की उपयोगिता १० पैसों की उपयोगिता के बराबर है, परन्तु दूसरा सन्तरा वह उसी दशा में खरीदेगा जबकि सन्तरो के दाम घटकर ९ पैसे प्रति सन्तरा हो जायँगे, क्योंकि दूसरे सन्तरे से केवल ९ के बराबर उपयोगिता मिलती है। इसी प्रकार, तीसरा केवल उस दशा मे खरीदा जायगा, जबकि सन्तरे की कीमत आठ पैसे हो। अब, यदि वह मनुष्य ६ सन्तरे खरीदना चाहता है जिसका अर्थ यह है कि सन्तरे के दाम ५ पैसे प्रति सन्तरा है, तो वह *कुल मिलाकर* ५ × ६ = ३० पैसे *व्यय* करेगा, *अर्थात्* ३० के बराबर उपयोगिता मुद्रा के रूप मे उसके पास से निकल जायगी, जबकि उसे कुल मिलाकर ६ सन्तरों से १० + ९ + ८ + ७ + ६ + ५ = ४५ के बराबर उपयोगिता मिलेगी। इस दशा में अतिरिक्त उपयोगिता ४५ − ३० = १५ होगी। यदि हम मुद्रा में नापना चाहें, तो यह १५ पैसे के बराबर होगी। यही उपभोक्ता की बचत है।

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

इस विचार को हम एक रेखा-चित्र द्वारा भी प्रदर्शित कर सकते हैं। निम्न चित्र मे अ क रेखा पर सन्तरो की इकाइयाँ नापी गई हैं और अ ख रेखा पर उपयोगितायें। प्रत्येक आयत एक सन्तरे से प्राप्त होने वाली उपयोगिता या सन्तोष को सूचित करता है। चित्र मे रंगीन भाग उपभोक्ता की बचत को दिखाता है।
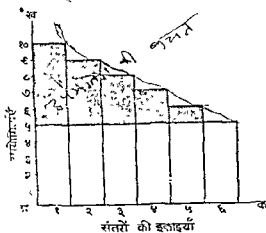
यदि हम आयतो के स्थान पर वक्र रेखा का उपयोग करें तो उपभोक्ता की बचत का चित्रण निम्न प्रकार किया जा सकता है :—
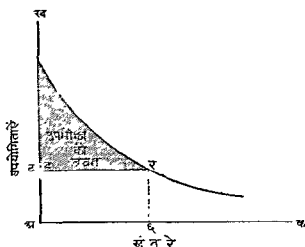
उपभोक्ता की बचत एव आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियाँ

मार्शल के अनुसार उपभोक्ता की बचत हमारे चारो ओर की परिस्थितियो पर निर्भर होती है । यह हमारे सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक वातावरण का परिणाम है । किसी भी सभ्य देश मे सस्ते समाचार-पत्रो, टेलीफून, आदि की अनेक सुविधाएं होती हैं जिनसे लोगो को अधिक मात्रा मे उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है । किन्तु पिछड़े हुए देशों मे अधिकाश व्यक्ति इन सुविधाओ से वचित रहते हैं और इस कारण उन्हें उपभोक्ता की बचत प्राप्त नहीं होती है । मार्शल के शब्दो मे, "यह लाभ जो कि वह उन वस्तुओ को, जिनसे वचित रहने की अपेक्षा वह ऊँची कीमतें देने को तैयार हो जाना, नीची कीमतो पर खरीद कर प्राप्त करता है, ऐसा लाभ है जो व्यक्ति अपने अवसरो अथवा वातावरण से प्राप्त करता है।"[1]

यदि हम स्वय अपने व्यवहार को ध्यानपूर्वक देखें, तो उपभोक्ता की बचत की उपस्थिति का अनुमान लगा सकते हैं । हम मे से लगभग सभी का यह एक साधारण अनुभव है कि जब हम बाजार मे कोई वस्तु खरीदने जाते हैं और विक्रेता से उसके दाम पूछते हैं तो कह उठते हैं : 'अरे, यह तो बहुत सस्ती है,' अरे, यह तो बहुत महँगी है' । प्रश्न यह है कि हम ऐसा क्यो कह उठते हैं ? कारण यह है कि पहले से हमारे मस्तिष्क मे वस्तु की कीमत का कोई न कोई अनुमान होता है *जो उसकी उपयोगिता के अनुमान पर आधारित है । यदि विक्रेता द्वारा माँगी* हुई कीमत हमारे अपने अनुमान से कम है, तो वह वस्तु हमे सस्ती लगती है, और, यदि ऐसी कीमत हमारे अनुमान से अधिक है, तो वह वस्तु हमे महँगी लगती है । जब वस्तु हमे सस्ती प्रतीत होती है, तो हमे अतिरिक्त सन्तोष मिलता दिखाई पड़ता है और यह हमारे मुख की प्रसन्नता से स्पष्ट हो जाता है ।

---

[1] "This benefit which he gets from purchasing at low price things for which he would rather pay high price than go without them, may be called the benefit which he derives from his opportunities or from environment; or to recur to a word that was in common use a few generations ago, from his conjecture."—**Marshall.**

क्रेता की बचत एवं विक्रेता की बचत

बोल्डिंग यह अनुभव करते हैं कि चूंकि उपभोक्ता की बचत सदा उपयोगिता के आधार पर नापी जाती है, इसलिए सन्तोष के आधार पर नापी हुई बचत को 'क्रेता की बचत' कहना अधिक उचित है। क्रेता और विक्रेता की बचतों की परिभाषा करते हुए बोल्डिंग ने लिखा है, "इस प्रकार, हम क्रेता की बचत की परिभाषा उस अन्तर के रूप मे कर सकते हैं जो कि मुद्रा की कुल राशि, जो वस्तु खरीदते समय व्यक्ति विशेष से पूर्ण-मूल्य-विभेद की दशा मे ली जाती है, तथा, उस राशि के बीच होता है जो कि वह पूर्ण बाजार में देता है। इसी प्रकार, *विक्रेता की बचत वह अन्तर है जो उस मुद्रा राशि के, जिसे वस्तु की एक दी हुई मात्रा विक्रेता* से प्राप्त करने हेतु पूर्ण मूल्य-विभेद की दशा मे चुकाया जाता है और उस मुद्रा-राशि के, जिसे विक्रेता वस्तु को उसी मात्रा को सप्लाई करने हेतु एक पूर्ण बाजार की दशा मे लेना स्वीकार करे, इन दोनो के मध्य विद्यमान होता है।"[1]

मार्शल के उपभोक्ता की बचत के विचार की मान्यताएँ

मार्शल ने अपने उपभोक्ता की बचत के विचार को अनेक मान्यताओं पर आधारित किया है। अतः इस विचार को भली-भाँति समझने हेतु इन बुनियादी मान्यताओं को जान लेना चाहिए। ये मान्यतायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) *मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता यथास्थिर रहना—मार्शल मुद्रा की सीमान्त* उपयोगिता को विनिमय के पूरे कार्य मे यथास्थिर मान लेता है। मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को यथास्थिर (Constant) मानकर ही हम उन दोनों उपयोगिताओं की तुलना कर सकते है जो कि उपभोक्ता ने क्रमशः प्राप्त की हैं तथा वस्तु को प्राप्त करते समय खोई हैं। यदि एक व्यक्ति किसी वस्तु विशेष पर अपनी आय के एक छोटे से भाग का ही व्यय करता है (जैसा कि व्यवहार में बहुधा होता है), तो यह मान्यता ठीक ही है। किन्तु, वास्तव मे, इस मान्यता की आवश्यकता नही है। यदि व्यक्ति के पास मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होने के साथ-साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता मे भी परिवर्तन होते है, तो सैद्धान्तिक दृष्टि से निम्न दो सम्भावनाएँ रहती हैं—प्रथम, जैसे-जैसे मुद्रा का स्टॉक घटता है मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है, और दूसरे, जैसे-जैसे अधिक व्यय करने से व्यक्ति के पास मुद्रा का स्टॉक घटता है, मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता घट सकती है। आगे के रेखा चित्र यह दिखायेंगे कि इन दोनो दशाओं मे भी उपभोक्ता की बचत बनी रहती है। होता केवल इतना है कि प्रथम दशा मे यह उस बचत से कम रह जाती है जितनी कि उसे मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान *होने की दशा मे रहनी है। दूसरी दशा मे यह उससे अधिक हो जानी है। व्यावहारिक जगत* मे पहला परिणाम अधिक सही है, क्योंकि ह्रास नियम के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे कमी होने से उसकी अगली इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जावेगी। दूसरी दशा केवल सैद्धान्तिक (Theoretical) है, जिसका वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नही है। चित्र १ में मुद्रा की

[1] "The buyer's surplus may than be defined as the difference between the total sum which would be extracted form him in the purchase of a given commodity by perfect price discrimination and the sum which he would pay for the same amount in a perfect (one price) market Similarly. The seller's surplus is the difference between the sum which will extract a given quantity of commodity form the seller under perfect price discrimination, and the sum which will persuade him to supply the same quantity a perfect market."—Boulding : *Economic Analysis*, p. 820.

सीमान्त उपयोगिता उसकी मात्रा के घटने के साथ-साथ बढ़ती हुई दिखाई गई है और मुद्रा

पहली दशा
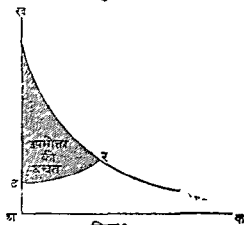
चित्र १

दूसरी दशा
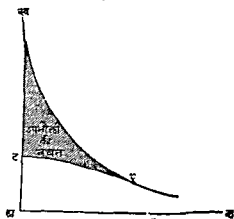
चित्र—२

की सीमान्त उपयोगिता का वक्र ट र ऊपर की ओर जाता हुआ दिखाया गया है। इस दशा में उपभोक्ता की बचत की मात्रा कम हो जाती है। चित्र २ में, इसके विपरीत, मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता व्यय करने पर घटती जाती है, अर्थात् उस पर उपयोगिता वृद्धि नियम लागू होता है। यहाँ ट र रेखा ऊपर से नीचे की ओर जाती है, जिसके कारण उपभोक्ता की बचत की मात्रा बढ़ गई है।

(२) वस्तु का स्वतन्त्र स्वभाव—मार्शल यह मान लेते हैं कि प्रत्येक वस्तु पूर्णतया स्वतन्त्र है और किसी भी प्रकार अन्य वस्तुओं पर निर्भर नहीं है जिस कारण किसी भी वस्तु की उपयोगिता केवल उसकी अपनी कीमत पर ही निर्भर होती है। किन्तु यह मान्यता प्रत्येक दशा में सही नहीं होती है, जैसे—पूरक और प्रतियोगी वस्तुओं की पूर्ति एक दूसरे की कीमत पर अवश्य प्रभाव डालती है।

(३) स्थानापन्नों का अभाव—यह मान लिया गया है कि वस्तु विशेष के कोई स्थानापन्न उपलब्ध नहीं हैं। किसी वस्तु के लिए मांग-अनुसूची अथवा मांग-वक्र बनाने का कोई अन्य उपाय नहीं है। यदि किसी वस्तु के स्थानापन्न हैं, तो वे पूर्ण स्थानापन्न नहीं होने चाहिए ताकि उन्हें मुख्य वस्तु के साथ इस प्रकार मिला दिया जाय कि उसका पृथक् अस्तित्व ही न रहे।

(४) रुचियों, फैशन आदि के अन्दर निष्प्रभावित होना—पूरे बाजार के लिए उपभोक्ता की बचत निकालते समय मार्शल यह मान लेते हैं कि विभिन्न उपभोक्ताओं की रुचियों, आदतों, फैशन, आय आदि के अन्तर एक दूसरे से निष्प्रभावित हो जाते हैं।

उपभोक्ता की बचत के विचार की आलोचना

जैसा कि हिक्स ने कहा है, उपभोक्ता की बचत के विचार ने आर्थिक सिद्धान्तों में लम्बे-चौड़े वाद-विवाद को उत्पन्न किया है और इसकी कटु आलोचना हुई है। इस विचार की अनेक आलोचनाओं को हम निम्न तीन भागों में बांट सकते हैं—(I) यह विचार एक कोरी कल्पना है और सैद्धान्तिक दृष्टि से भी सही नहीं है, (II) उपभोक्ता की बचत को कभी भी ठीक-ठीक नापा नहीं जा सकता है जिस कारण सारा विचार ही अनुमान-जनक हो जाता है और (III) यदि नाप भी लें, तो इस विचार के अध्ययन का कुछ भी व्यावहारिक महत्त्व न होगा। विचार के प्रमुख आलोचकों में निकल्सन, टॉजिग, कैनन तथा अलसी गोबी (Ulisse Gobbi) के नाम उल्लेखनीय हैं।

(I) उपभोक्ता की बचत की सैद्धान्तिक सत्यता—

(१) अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित—कहा जाता है कि यह विचार अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है जिस कारण इसकी सैद्धान्तिक शुद्धता सन्देहपूर्ण है। विचार की मान्यताओं को हम एक बार फिर गिना देते हैं। वे इस प्रकार हैं :—(i) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता यथास्थिर है, (ii) प्रत्येक वस्तु एक स्वतन्त्र वस्तु है, (iii) वस्तु के स्थानापन्न नहीं हैं, और (iv) आय, रुचि आदि के अन्तर बाजार में समाप्त हो जाते हैं।

इनमें से प्रथम मान्यता के विषय में हम जानते हैं कि वह तो वास्तव में गलत है, क्योंकि क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम मुद्रा पर भी ठीक उसी प्रकार लागू होता है जिस प्रकार से अन्य वस्तुओं पर। जैसे-जैसे किसी व्यक्ति का मुद्रा का स्टॉक घटता जाता है, उसके लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है। यह उपयोगिता कभी भी यथास्थिर नहीं रहती है। [इस आलोचना का उत्तर मार्शल ने इस प्रकार दिया है कि किसी एक वस्तु पर उपभोक्ता अपनी आय का बहुत छोटा सामान व्यय करता है और आय के इस छोटे से भाग की सीमान्त उपयोगिता को यथास्थिर मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होगी। किन्तु, जैसा कि हम पहले ही दिखा चुके हैं, ऐसी मान्यता करना आवश्यक नहीं है और मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन होने पर भी उपभोक्ता की बचत बनी रहती है।

दूसरी और तीसरी मान्यताएँ भी गलत हैं। शायद ही कोई ऐसी वस्तु होगी जो अन्य वस्तुओं के प्रभाव से पूर्णतया विमुक्त होगी, वे वस्तुएँ भी, जिनमें प्रतियोगिता अथवा अनुपूरकता नहीं है, एक दूसरी से पूर्णरूप में स्वतन्त्र नहीं होती हैं। इसी प्रकार, यह मान्यता भी, कि वस्तु के स्थानापन्न नहीं हैं; अवास्तविक है। [मार्शल ने इस कठिनाई से बचने के लिए ऐसी सभी वस्तुओं को, जो स्वतन्त्र वस्तुएँ नहीं हैं, इकट्ठा मिलाकर एक वस्तु मान लिया है। परन्तु इससे कठिनाई दूर नहीं हो जाती है। कारण, जो वस्तुएँ एक दूसरी का पूर्ण रूप में स्थानापन्न करती हैं (यद्यपि वास्तविक जगत में ऐसी दशा नहीं पाई जाती है) उन्हें तो जोड़ देना ठीक होगा परन्तु शेष के विषय में ऐसा नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, एक अन्य कठिनाई यह

भी है कि प्रतियोगी वस्तुओं के विषय मे देखा जाता है कि इन सब वस्तुओ से प्राप्त अलग-अलग उपयोगिताओ का जोड उस कुल उपयोगिता से कम होता है जोकि इन सब के सामूहिक उपयोग से मिलती है ।]

अन्तिम मान्यता भी कि रुचियो, आय आदि के अन्तर बाजार में समाप्त हो जाते है, बहुत सही नही है । हाँ, मार्शल का यह कहना बहुत गलत नही है कि किसी बाजार मे उपभोक्ता की बचत को मालूम करने के लिए हम उपभोक्ताओं की एक विशाल सख्या के औसत को विचार मे लेते हैं, जिस कारण उनके पारस्परिक अन्तर समाप्त हो जाते हैं ।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मान्यताओ की अवास्तविकता के आधार पर उपभोक्ता की बचत का सैद्धान्तिक महत्त्व समाप्त नही होता । ये मान्यतायें तो हमारा ध्यान केवल इस बात की ओर आकर्षित करती हैं कि जब हम दो वस्तुओ से प्राप्त 'उपभोक्ता की बचतों' अथवा दो व्यक्तियो को प्राप्त होने वाली 'उपभोक्ता की बचतों' की तुलना करते हैं तो इसमे कुछ कठिनाइयो का सामना करना पडता है ।

(२) तुलना करने का कोई महत्त्व नहीं—प्रो० निकलसन ने लिखा है, "इस बात के कहने से क्या लाभ है कि सौ पौण्ड की एक वार्षिक आय की उपयोगिता हजार पौण्ड की आय के बराबर है ।" इसका उत्तर मार्शल ने बहुत ही सुन्दर दिया है । उन्होंने कहा है कि इस बात को कहने का महत्त्व यह है कि इङ्गलैण्ड मे एक व्यक्ति सौ पौण्ड की आय से भी उतना सन्तोष प्राप्त कर सकता है जितना कि वह अफ्रीका मे एक हजार पौण्ड की आय से प्राप्त करता, क्योंकि अफ्रीका मे अधिक उपभोक्ता की बचत प्रदान करने वाली वस्तुओ का अभाव है ।

(३) आवश्यक आवश्यकताओं पर लागू नहीं—टाउजिग के मतानुसार उपभोक्ता की बचत के विचार की एक महत्त्वपूर्ण परिसीमा यह है कि वह आवश्यक आवश्यकताओ (Necessaries) पर लागू नही होता । उदाहरणार्थ, भूखो मरने की अपेक्षा एक व्यक्ति भोजन की थोडी-सी मात्रा के लिए अपनी सम्पूर्ण आय देने को तैयार हो जाएगा । अत: "केवल उसी दशा मे उपभोक्ता को कुछ अतिरिक्त सन्तोष मिल सकता है जबकि उसकी आवश्यकता एक अश तक पहले ही पूरी हो अथवा व्यय की दिशा मे चुनाव की स्वतन्त्रता रहने लगी हो ।" टाउजिग का कहना है कि इस विचार को कृत्रिम आवश्यकताओ तथा ऐसी मूल्यवान वस्तुओ (जैसे—हीरे, जवाहरात आदि) पर भी, जिनका सम्मान की दृष्टि से महत्त्व है, लागू नही किया जा सकता है । नि:सन्देह यह कथन सही है परन्तु इसमे विचित्रता कुछ भी नहीं है, क्योंकि उपभोग के अधिकाश नियमो की भाँति यह विचार भी 'सुखमय आर्थिक अवस्था' (Pleasure economy) से सम्बन्धित है, दुखमय आर्थिक अवस्था से नहीं ।

(४) माँग कीमतों और माँग रेखाओं को दुबारा खींचने की आवश्यकता—कहा जाता है कि वस्तु की खरीदी गई मात्रा मे वृद्धि माँग कीमतो और माँग रेखाओं को फिर से खीचना आवश्यक बना देती है । मान लीजिये कि एक व्यक्ति चाय के एक पौण्ड के लिए ६ रुपये देने को तैयार है । ऐसी दशा मे एक पौण्ड के लिए उसकी माँग-कीमत (Demand price) ६ रुपये है । अब मान लीजिए कि वह चाय के दूसरे पौण्ड के लिए ५ रुपये देने को तैयार है (यहाँ दूसरे पौण्ड की सीमान्त उपयोगिता ५ रु० हुई) । ऐसी दशा मे चाय के दोनो पौण्ड मे से प्रत्येक पौण्ड के लिए माँग-कीमत ५ रुपये होगी । ठीक इसी प्रकार, यदि वह तीसरे पौण्ड के लिए ४ रुपये देने को तैयार है, तो तीनो पौण्ड मे से प्रत्येक पौण्ड के लिए माँग कीमत ४ रु० होगी । (यहाँ तीसरे पौण्ड की सीमान्त उपयोगिता ४ रु० के बराबर है ।) इस दशा मे औसत

उपयोगिता $= \frac{६+५+४}{३} = \frac{१५}{३} =$ ५ रुपया है जो चाय के दूसरे पौण्ड की सीमान्त उपयोगिता

के बराबर है। इससे पता चलता है कि जब व्यक्ति अपनी खरीद को बढ़ाता है और तीसरा पौण्ड खरीदता है, तो दूसरे पौण्ड की सीमान्त उपयोगिता (और इसलिए उसकी माँग कीमत) अपरिवर्तित रहती है और इस प्रकार खरीद बढ़ने पर माँग-कीमतों को दुबारा सोचना आवश्यक नहीं है। अतः स्पष्ट है कि उपर्युक्त आपत्ति तब ही उचित होती जबकि चाय के प्रत्येक पौण्ड के लिए नियत माँग कीमत औसत उपयोगिता को सूचित करे, सीमान्त उपयोगिता को नहीं।

(५) उपभोक्ता-बचत का अन्ततः शून्य होना—अलसी गोबी (Ulisse Gobbi) का कथन है कि यदि उपभोक्ता की बचत वास्तविक और सम्भावित कीमत का अन्तर है तो वह अन्त में शून्य के बराबर होगी। कुल खरीद के सम्बन्ध में, वास्तव में दी हुई कीमत तथा सम्भावित कीमत बराबर होंगी। यदि हम उपभोग की वृद्धि के साथ-साथ कीमत से घटने को भी लेते हैं, तो जितना एक व्यक्ति देने को तैयार है और जितना वह वास्तव में देता है इन दोनों का अन्तर शून्य के बराबर होगा। एक व्यक्ति प्रति इकाई जो कीमत चुकाता है वह उसकी खरीद में सम्मिलित सब इकाइयों की उपयोगिताओं को दिखाता है और इस कारण उस व्यक्ति को मिलने वाली कुल उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता और इकाइयों की संख्या के गुणनफल के बराबर होती है।

(६) माँग-कीमतों की सूची अपूरी होना—कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि माँग-कीमतों की सूची प्रायः अपूरी होती है। हमारे लिए यह अनुमान लगाना कठिन होता है कि प्रचलित कीमतों से भिन्न कीमतों पर लोग किसी वस्तु को कितनी-कितनी मात्राएँ खरीदेंगे। इसी प्रकार, यह जानना भी कठिन होता है कि परम्परागत मात्राओं के अतिरिक्त खरीद की अन्य मात्राओं के लिए माँग-कीमतें क्या होती हैं? परिणामतः प्रचलित कीमतों के आस-पास की कीमतों को छोड़ कर शेष माँग-कीमतें कोरा अनुमान होती हैं। [मार्शल का कहना है कि यह कठिनाई महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि उपभोक्ता की बचत का विचार प्रचलित कीमतों के आस-पास की कीमतों से ही सम्बन्धित है।]

(II) उपभोक्ता की बचत की माप से सम्बन्धित आलोचनाएँ—

(१) रुचियों आदि में भिन्नतायें होने से उत्पन्न कठिनाई—आलोचकों का कहना है कि उपभोक्ता की बचत को मुद्रा द्वारा किसी बाजार में ठीक-ठीक मापना असम्भव होता है। मार्शल ने कहा है कि किसी बाजार में एक वस्तु विशेष के विक्रय से प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचत की माप उन राशियों के जोड़ (Aggregate of Sums) द्वारा की जाती है, जिनसे कि बाजार में वस्तु के लिए एक पूर्ण माँग-कीमत-सूची में दिखाई गई कीमतें वस्तु की विक्रय-कीमत से अधिक (Exceed) होती हैं। इस प्रकार की माप के विरुद्ध यह कहा जाता है कि इसमें विभिन्न लोगों की रुचि और सम्पत्ति सम्बन्धी विभिन्नताओं को भुलाना पड़ता है जबकि यह एक साधारण सा सत्य है कि बाजार में मुद्रा की एक ही मात्रा अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग सन्तोष तथा उपभोक्ता की बचत दिलाएगी। [इस सम्बन्ध में मार्शल के विश्वास दिलाने वाले इस उत्तर को हम पहले ही देख चुके हैं कि चूँकि हमारा सम्बन्ध व्यक्तियों की एक बहुत विशाल संख्या के औसत से होता है इसलिए यह माना जा सकता है कि उक्त विभिन्नतायें वास्तव में निष्प्रभावित (Cancel) हो जाती हैं।]

(२) माँग सूची की अनिश्चितता एवं अपूर्णता—अन्य कठिनाइयाँ इस कारण उत्पन्न होती हैं कि माँग की सूची अनिश्चित होती है और यह सारी सूची ज्ञात नहीं होती। इसी प्रकार स्थानापन्नों की उपस्थिति के कारण भी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। किन्तु बचत को नापने

से सम्बन्धित कठिनाईयां ऐसी नही हैं कि उन्हे दूर नही किया जा सकता हो। उदासीनता वक्रो की सहायता से न केवल उपभोक्ता की बचत को वरन् इसमे होने वाले उन परिवर्तनों को भी नाप सकते हैं जो कीमत अथवा आय के परिवर्तनो ने उत्पन्न किये हैं।

उपरोक्त सभी बातो से पता चलता है कि बचत को नापने की कठिनाइयां वास्तव मे इतनी गम्भीर नही हैं जितनी कि आलोचको ने बताई हैं।

(III) विचार का व्यावहारिक महत्त्व—

उपभोक्ता की बचत सैद्धान्तिक (*Theoretical*) और व्यावहारिक (Practical) दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। सैद्धान्तिक महत्त्व तो यह है कि वह उपयोग मूल्य (Value in use) और विनिमय मूल्य (Value in exchange) के अन्तर को स्पष्ट करता है। अर्थात् यह **विचार हमारे ध्यान को इस महत्वपूर्ण सत्य की ओर आकर्षित करता है कि किसी वस्तु से प्राप्त होने वाले सन्तोष की माप उस वस्तु के मूल्य के बराबर नहीं होती है।** मूल्य बहुत कम होते हुए भी सन्तोष बहुत अधिक हो सकता है और इस दशा मे उपभोक्ता की बचत बहुत अधिक होती है। अच्छे भोजन, पर्याप्त वस्तु, मकान तथा मनोरजन से जो सन्तोष मिलता है उसकी अपेक्षा जो कीमत हम उनके लिए देते हैं वह बहुत कम होती है। इस सैद्धान्तिक लाभ से अतिरिक्त यह विचार हमारे व्यावहारिक जीवन मे भी बडा लाभ पहुँचाता है। व्यावहारिक जीवन में इसके निम्नलिखित लाभ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं —

(१) परिस्थितियो के लाभ को आँकने का अवसर—उपभोक्ता की बचत का विचार हमे यह ज्ञान प्रदान करता है कि किसी वस्तु के लिये जो कीमत हम चुकाते हैं वह सदा ही उससे प्राप्त सन्तोष की माप नही होती है। यह सम्भव है कि कीमत बहुत नीची हो, परन्तु प्राप्त सन्तोष बहुत अधिक। साधारणतया दैनिक उपयोग की वस्तुएँ अपनी कीमतो की तुलना मे बहुत अधिक सन्तोष प्रदान करती हैं। इस प्रकार, यह विचार एक व्यक्ति को उसकी परिस्थितियो का लाभ आँकने का अवसर देता है। यह विचार सभ्य समाज मे रहने का महत्त्व स्पष्ट कर देता है।

(२) विभिन्न कालों में विभिन्न देशों की सम्पन्नता की तुलना—व्यावहारिक दृष्टि से उपभोक्ता की बचत का विचार दो विभिन्न कालो अथवा विभिन्न देशो की आर्थिक सम्पन्नता की तुलना के लिए उपयोग किया जा सकता है। मान लीजिए हम यह जानना चाहते हैं कि आर्थिक दृष्टि से श्रमिको की स्थिति एक काल मे दूसरे काल से अथवा एक देश से दूसरे देश मे कितनी अच्छी है। दोनो परिस्थितियो मे उपभोक्ता की बचत की तुलना करके यह बात आसानी से जानी जा सकती है।

(३) उपभोक्ता के हितो पर अधिक ध्यान दिलाना—उपभोक्ता की बचत का विचार हमे उत्पादको और उपभोक्ताओ के हितो को एक दूसरे से अलग करने मे सहायक है और अन्तिम वर्ग की ओर हमारे ध्यान को विशेष रूप से आकर्षित करता है। यह जानना सरल है कि उत्पत्ति की दशाओ मे परिवर्तन होने का अथवा उत्पादन पर कर अथवा अन्य प्रतिबन्ध लगाने का उत्पादको के हितो पर क्या प्रभाव पडता है। परन्तु इन सबका उपभोक्ताओ पर क्या प्रभाव पडता है इसे जानना थोडा कठिन होता है। इस प्रकार के प्रभाव को जानने के लिए हमे उन परिवर्तनो का अध्ययन करना पडेगा जो उपभोक्ता की बचत में होते हैं। उदाहरणस्वरूप हम यह कह सकते हैं कि जब किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है तो इससे राज्य को प्राप्त होने वाली आय की तुलना मे उपभोक्ता की बचत अधिक तेजी के साथ घटती है। इन दोनो के बीच का अन्तर क्या होगा यह इस बात पर निर्भर होता है कि उत्पत्ति पर वृद्धि, स्थिरता अथवा ह्रास नियमो मे से कौन सा नियम कार्यशील है। इतना जान लेने के पश्चात् हम इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि किसी कर अथवा किसी औद्योगिक सहायता योजना का लोगों के आर्थिक

कल्याण पर क्या प्रभाव पड़ता है ? ऐसा कर, जो राज्य की आय को करदाताओं को होने वाली हानि की तुलना मे अधिक तेजी के साथ बढ़ाये, एक प्रकार का वरदान होगा।

(४) **करों के प्रभाव का अध्ययन करने में सहायक**—उपभोक्ता की बचत के परिवर्तनो द्वारा, हम यह भी दिखा सकते है कि वस्तु पर लगाया हुआ कर उपभोक्ताओं पर आय-कर की तुलना मे अधिक भार डालता है। उपरोक्त रीति से हम उद्योग को दी हुई सहायता का उपभोक्ता की बचत पर पड़ने वाला प्रभाव भी ज्ञात कर सकते हैं। आर्थिक सहायता राज्य को हानि पहुँचाती है। परन्तु कीमत घटने के कारण उपभोक्ताओ को लाभ होता है। अत. आर्थिक सहायता उसी दशा मे उचित होगी जबकि उपभोक्ताओं को होने वाला लाभ सरकार को होने वाली हानि की तुलना मे अधिक हो। वैसे तो अधिक सहायता का प्रभाव भी कर के प्रभाव की भाँति देखा जा सकता है, परन्तु कुछ महत्वपूर्ण बातें ध्यान मे रखनी आवश्यक होती हैं। कर वस्तु की कीमत को बढाता है परन्तु आर्थिक सहायता कीमत को घटाती है। इसी प्रकार, कर से राज्य को लाभ होता है और उपभोक्ताओ को हानि, परन्तु आर्थिक सहायता से उपभोक्ताओं को लाभ होता है, किन्तु राज्य को हानि।

(५) **एकाधिकारी—कीमत के निर्धारण में सहायता**—अपनी वस्तुओ की कीमतें निश्चित करते समय एकाधिकारी उपभोक्ता की बचत को ध्यान में रखता है। वह कीमत निश्चित करते समय यह देखता है कि उस कीमत का उपभोक्ता की बचत पर क्या प्रभाव पडता है। जब एकाधिकार मूल्य-विभेद पर आधारित है तो विभेद की विभिन्न दशाओ मे एकाधिकारी सारी की सारी उपभोक्ता की बचत अथवा उसका एक भाग उपभोक्ताओं से छीन लेता है।

(६) **विनिमय के लाभ को सूचित करना**—उपभोक्ता की बचत का विचार विनिमय के लाभो को भी स्पष्ट करता है। यदि हमे एक कलम ३५ रुपये में मिलती है और इससे सन्तोष भी ३५ रु० के बराबर मिलता है, तो हो सकता है कि हम कलम खरीदें ही नही और पैसा ही अपने पास रख लें। जब एक व्यक्ति कलम इसलिए खरीदता है कि उसकी सीमान्त उपयोगिता ३५ रु० है, तो इसका अर्थ यह होता है कि इस कलम से हमें उसकी कीमत से अधिक सन्तोष मिलता है। दूसरे शब्दो में, विनिमय के अन्तर्गत क्रेता और विक्रेता दोनों ही अतिरिक्त सन्तोष प्राप्त करते है और इसी कारण विनिमय अधिक लाभदायक होता है।

इस प्रकार हमारे दैनिक जीवन मे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से उपभोक्ताओ को बचत का विचार महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि हिक्स ने बताया है, "उपभोक्ता की बचत पर विचार करने की सबसे अच्छी रीति यह है कि इसे आय की उस वृद्धि के रूप में दिखाया जाए जो उपभोक्ता को वस्तु की कीमत घटने के कारण प्राप्त हुई है।" जब हम उपभोक्ता की बचत को इस दृष्टि से देखते हैं तो उसकी व्यावहारिक लाभदायकता मे कोई सन्देह नही रह जाता।

हिक्स द्वारा उपभोक्ता की बचत के विचार का पुनर्निर्माण

मार्शल ने उपभोक्ता की बचत के विचार को कुछ मान्यताओ के आधीन प्रस्तुत किया था। इन मान्यताओं को हम पहले ही देख चुके हैं कि वे अवास्तविक हैं। अवास्तविक मान्यताओं से जुड़ा होने के कारण ही उपभोक्ता की बचत के विचार की बहुत आलोचना भी हुई है। अतः हिक्स ने तटस्थता वक्र विश्लेषण के द्वारा उपभोक्ता की बचत के विचार का पुनर्निर्माण किया है, जिससे इसकी अवास्तविक मान्यतायें दूर हो गई हैं। तटस्थता वक्र विश्लेषण उपयोगिता के परिमाणात्मक माप को अनावश्यक बना देता है, मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता मे होने वाले परिवर्तनों को ध्यान मे रखता है तथा स्थानापन्न और पूरक वस्तुओं के प्रभाव की भी उपेक्षा नही करता।

हिक्स ने उपभोक्ता की बचत की परिभाषा एक नये ढङ्ग से की है। उनका कहना है कि जब किसी वस्तु की कीमत घट जाती है, तो इसके दो प्रभाव होते हैं :—(अ) उपभोक्ता वस्तु को कुछ अधिक मात्रा में खरीद सकता है अथवा (ब) उसे वस्तु पर पहले की अपेक्षा कम मात्रा में व्यय करना पड़ता है। दोनों ही दशाओं में उसकी आर्थिक स्थिति पहले की अपेक्षा अच्छी हो जाती है। अथवा यों कहें कि उसकी वास्तविक आय बढ़ जाती है। इस सन्दर्भ में, हिक्स लिखते हैं, कि उपभोक्ता की बचत को किसी वस्तु की कीमत में होने के परिणामस्वरूप मौद्रिक आय में लाभ के समान समझना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न :

१. *उपभोक्ता की बचत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए और इसे मापने की कठिनाइयों पर प्रकाश डालिए।*

अथवा

उपभोक्ता की बचत के आशय को पूर्ण रूप से समझाइये। इसे मुद्रा के रूप में कहाँ तक मापा जा सकता है ? अपने उत्तर को तालिकाओं और चित्रों से स्पष्ट कीजिए।

[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम उपभोक्ता की बचत को परिभाषित कीजिए। तत्पश्चात् इसके अर्थ को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने हेतु उदाहरण और रेखाचित्र दीजिये। अन्त में, इसके माप की रीति को बताइये और सम्बन्धित कठिनाइयों को समझाइए।]

२. उपभोक्ता के बचत के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझाइए और इसकी सीमाओं का उल्लेख करिये।

अथवा

उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त के विरुद्ध लगाई गई आपत्तियों के औचित्य को परखिये।

[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम उपभोक्ता के विचार की उदाहरण और चित्र देकर व्याख्या कीजिये। तत्पश्चात् इसकी आलोचना दीजिये और अन्त में यह निष्कर्ष निकालिये कि यह विचार बेकार नहीं है।]

३. उपभोक्ता की बचत की व्याख्या कीजिए और आर्थिक विश्लेषण में इसके व्यावहारिक महत्त्व को बताइये।

अथवा

उपभोक्ता की बचत के विचार पर एक आलोचनात्मक नोट लिखिये। अर्थशास्त्र के अध्ययन में इसका सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक महत्त्व क्या है ?

[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम उपभोक्ता की बचत की परिभाषा एवं चित्र व उदाहरण देकर इसकी व्याख्या कीजिये। तत्पश्चात् संक्षेप में इसकी आलोचनायें दीजिये और अन्त में इस विचार के महत्त्व और प्रयोगों को समझाइये।]

४. *उपभोक्ता की बचत के विचार की व्याख्या कीजिये। उपभोक्ता की बचत को मापने का हिक्स का तरीका कहाँ तक मार्शल के तरीके पर सुधार है ?*

[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम उपभोक्ता की बचत की परिभाषा दीजिये, चित्र व उदाहरण देकर इसकी व्याख्या कीजिये और इसके माप की कठिनाइयों को बताइये। अन्त में यह बताइये कि हिक्स ने इन कठिनाइयों को किस प्रकार दूर करने का यत्न किया है।]

१५

माँग का नियम

(The Law of Demand)

माँग से आशय

अर्थशास्त्र के दूसरे शब्दों की भाँति अर्थशास्त्र में 'माँग' शब्द के भी अलग-अलग अर्थ लगाये गए है। कुछ अर्थशास्त्रियो ने इस शब्द को उसके मनोवैज्ञानिक अर्थ मे लिया है और कुछ ने भौतिक अर्थ में।

माँग का मनोवैज्ञानिक अर्थ—

मनोवैज्ञानिक अर्थ मे पेन्सन (Penson) ने बताया है, कि "माँग केवल एक सप्रभाविक इच्छा है। ......इसमें तीन बातें सम्मिलित होती हैं :—(i) किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा, (ii) उस वस्तु को खरीदने की शक्ति, और (iii) खरीदने के लिए इस शक्ति के उपयोग की तत्परता।"[1] इस मनोवैज्ञानिक अर्थ मे माँग और आवश्यकता एक ही हैं। किन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि यह ठीक नही है, क्योंकि केवल उसी आवश्यकता को माँग कहते हैं जो पूरी की जाती है।

माँग का भौतिक अर्थ—

भौतिक अर्थ मे मिल (Mill) का कहना है कि, "माँग का अभिप्राय उस मात्रा से जो कि मागी जाय और यह कोई निश्चित मात्रा नही है वरन् सामान्यतः कीमत के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।"[2] किसी वस्तु की माँग इतनी है ऐसा कहने का लगभग कुछ भी अर्थ नही होता, जब तक कि हम यह न कह दें कि इतनी माँग किस कीमत पर है और वह किस समय से सम्बन्धित है।

कैरनीज (Cairnes) के शब्दो मे, "कोयले की माँग का अर्थ कोयले की उस मात्रा से नही होता जिसकी लोगों को आवश्यकता है अथवा जिसे वे लेना चाहेंगे; यह तो सप्रभाविक माँग होती है और उस मात्रा द्वारा सूचित होती है जिसे लोग एक दी हुई कीमत पर खरीदने को तैयार है।"[3]

---

[1] "Demand is effective desire......Demand implies three things—(i) desire to possess a thing, (ii) means of purchasing it and (iii) willingness to use these means for purchasing it."—Penson : *Economics of Everyday Life*, p. 107.

[2] "We must mean by the world demand the quantity demanded, and remember that this is not a fixed quantity but, in general, varies according to value."—J. S. Mill : *Principles of Economy* Vol, III. p. 4.

[3] "Demand for coal does not mean the amount of coal which people need or would like to have but the effective demand the amount which people are willing to buy at some specified price."—Cairnes : *Introduction to Economics*, p. 151.

बेनहम (Benham) ने माँग की परिभाषा अधिक स्पष्टतापूर्वक दी है। इनके अनुसार माँग का सम्बन्ध कीमत और समय दोनों से होता है। वे लिखते है कि "एक निश्चित कीमत पर किसी वस्तु की माँग उसकी वह मात्रा है जो उस कीमत पर एक निश्चित काल मे खरीदी जाती है।"[1] स्मरण रहे कि जिस निश्चित कीमत पर कोई ग्राहक किसी वस्तु विशेष की एक निश्चित *मात्रा खरीदने के लिए तैयार रहता है वह उसकी "माँग कीमत" (Demand price) कहलाती है।*

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इन दोनों प्रकार की परिभाषाओं का अन्तर **केवल दृष्टिकोण** का है। जब माँग को केवल मानसिक विचार की दृष्टि से देखा जाता है, तो वह मनोवैज्ञानिक रूप मे हमारे सामने आती है। इसके विपरीत, व्यावहारिक जीवन मे माँग का भौतिक अर्थ ही अधिक सही है।

मूल्य माँग, आय माँग एवं आड़ी माँग

किसी वस्तु की माँग की मात्रा पर निम्न तीन बातो का प्रभाव पड़ता है—उस वस्तु *की अपनी कीमत मे परिवर्तन, उपभोक्ताओं की माँग में परिवर्तन और अन्य वस्तुओं की कीमतों* मे परिवर्तन। इस आधार पर हम माँग को तीन प्रकार की कह सकते हैं—(१) मूल्य-माँग (Price demand), (२) आय-माँग (Income demand) और (३) पारस्परिक या आडी माँग (Cross demand)।

(१) मूल्य-माँग—'मूल्य-माग' किसी वस्तु की उन मात्राओ को दिखाती है जो कि एक उपभोक्ता किसी निश्चित समय मे, यदि अन्य बातें समान रहे तो, विभिन्न कल्पित मूल्यो पर खरीदने को तैयार है। यहाँ अन्य बातो के समान रहने का आशय उपभोक्ता की आय, रुचि, *सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतो आदि मे कोई परिवर्तन न होने से है।* चित्र १ मे, *मूल्य माँग-रेखा* बायें से नीचे की ओर गिर रही है **अर्थात्** इसका ऋणात्मक ढाल (Negative slope) है, जिसका अर्थ यह हुआ कि मूल्य और माँग मे उल्टा सम्बन्ध है। यदि मूल्य बढता है तो माँग घटती है और यदि मूल्य घटता है तो *माँग बढ़ती है।*

(२) आय-माँग—आय-माँग यह दिखाती है कि आय के विभिन्न स्तरो पर उपभोक्ता अन्य बाते यथास्थिर रहते हुए कितनी-कितनी मात्राओ मे वस्तु की माँग करता है। आय का परिवर्तन विभिन्न वस्तुओं की माँग को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करेगा। इस उद्देश्य से हम वस्तुओ को दो भागो मे बाँट सकते हैं—(अ) उत्तम वस्तुये और (ब) हीन वस्तुयें।

चित्र—मूल्य-माँग

विलास की वस्तुयें तथा उच्च-कोटि की आरामदायक वस्तुये उत्तम वस्तुओ (Superior goods) की श्रेणी मे रखी जा सकती हैं। यदि आय बढ़ती है, तो साधारणतया ऐसी वस्तुएं अधिक मात्रा मे खरीदी जाती है। हीन वस्तुयें (Inferior goods) वे है जिन्हें उपभोक्ता नीची दृष्टि से देखते हैं, जैसे—मोटा कपड़ा, जौ, वनस्पति घी आदि। उपभोक्ता की आय बढ जाने
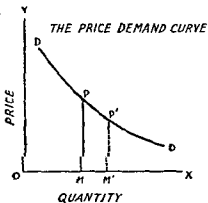
[1] "The demand for anything at a given price is the amount of it which will be bought per unit of time at that price."—Benham · *Economics*, p 36

उपभोक्ता इन वस्तुओं की माँग घटा देते हैं। दोनों प्रकार की वस्तुओं से सम्बन्धित आय-माँग की वक्र-रेखाएँ नीचे चित्र (अ) और चित्र (ब) में दिखाई गई हैं—
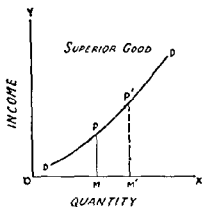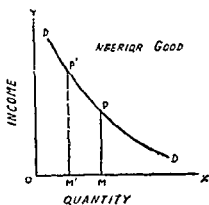
(अ) उत्तम वस्तु माँग-वक्र (ब) निम्न वस्तु माँग-वक्र

चित्र—आय-माँग

ऊपर के दोनों चित्रों में से पहला चित्र उत्तम वस्तु की माँग-आय को दिखाता है। जैसे ही आय PM से बढ़ कर P'M' हो जाती है, माँग की मात्रा OM से बढ़ कर OM' हो जाती है। इसी प्रकार, दूसरा चित्र हीन वस्तु की आय-माँग को दिखाता है। इस चित्र में, जैसे ही आय बढ़कर PM से P'M' होती है, माँग की मात्रा घट कर OM से OM' रह जाती है।

(३) पारस्परिक या आड़ी माँग—पारस्परिक माँग से हमारा अभिप्राय वस्तु विशेष के लिए माँग की उन मात्राओं से है जो उस समय खरीदी जाती हैं जबकि उस वस्तु की कीमत में परिवर्तन न होकर किन्हीं अन्य वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन होते हैं। अनेक बार ऐसा होता है कि एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन हो जाने से दूसरी वस्तु की माँग घट-बढ़ जाती है। एक वस्तु की कीमतों के परिवर्तन का दूसरी वस्तु की माँग पर जो प्रभाव पड़ता है उसका अध्ययन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(अ) प्रतियोगी या स्थानापन्न वस्तुओं (Rival or Substitutes) के सम्बन्ध में ऐसा होता है कि एक वस्तु की कीमत की वृद्धि से दूसरी वस्तु की माँग घट जाती है। उदाहरणार्थ, *यदि चाय की कीमत बढ़ जाय और कॉफी की कीमत में कोई परिवर्तन न हो, तो कॉफी की माँग* बढ़ जायेगी, क्योंकि अब कुछ लोग चाय के स्थान पर कॉफी खरीदने लगते हैं।।

(ब) पूरक वस्तुओं (Complementary goods) में ऐसा होता है कि एक की कीमत बढ़ जाने से दूसरी की माँग घट जाती है। यदि चाय की कीमत बढ़ती है, जिस कारण लोग उसे पहले की तुलना में कम मात्रा में खरीदते है, तो इससे चीनी की माँग भी घट जायेगी, क्योंकि चाय के उपभोग की कमी चीनी के उपभोग को भी घटा देती है।

(स) जहाँ तक स्वतन्त्र वस्तुओं (Independent goods) का सम्बन्ध है उनमें एक वस्तु की कीमतों के परिवर्तनों का दूसरी की माँग पर लगभग कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, यदि चाय की कीमत बढ़ती है, तो इसका नमक की माँग पर लगभग कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा।

नीचे पारस्परिक माँग के दो चित्र दिये गये हैं। इनमें से चित्र (अ) प्रतियोगी वस्तुओं की पारस्परिक माँग को दिखाता है और चित्र (ब) पूरक वस्तुओं की पारस्परिक माँग को।
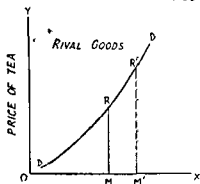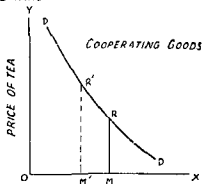
(अ) प्रतियोगी वस्तुये (ब) पूरक वस्तुयें

चित्र—पारस्परिक मांग

चित्र (अ) मे चाय की कीमत और कॉफी का सम्बन्ध दिखाया गया है। कॉफी और चाय प्रतियोगी वस्तुये है, क्योंकि यदि चाय की कीमत बढती है, तो लोग चाय के स्थान पर कॉफी खरीदने लगते हैं। इसी कारण चाय की माँग बढ जाने से कॉफी की माँग बढती है। इस चित्र मे दिखाया गया है कि जब चाय की कीमत RM है, तो कॉफी की माँग OM है। किन्तु, जब चाय की माँग बढ कर R'M' हो जाती है, तो कॉफी की माँग OM' हो जाती है।

चित्र (ब) मे चाय की कीमत और चीनी की माँग का सम्बन्ध दिखाया गया है। ये दोनो पूरक वस्तुये हैं, क्योंकि यदि लोग कम चाय पीते हैं, तो वे चीनी का उपयोग भी कम करेंगे। जब चाय की कीमत RM है, तो चीनी की माग OM होती है। किन्तु, जब चाय की कीमत बढ़ कर R'M' हो जाता है, तो चीनी की माँग घट कर OM' रह जाती है।

उपर्युक्त विवेचना यह स्पष्ट कर देती है कि किसी वस्तु के लिए माँग उसकी अपनी कीमत पर ही निर्भर नही होती है, बल्कि उपभोक्ताओ की आय और अन्य वस्तुओ की कीमतो पर भी निर्भर होती है। वैसे तो अर्थशास्त्र मे उपरोक्त तीनो प्रकार की मांगो का अध्ययन होना चाहिए किन्तु सबसे अधिक प्रचलन 'मूल्य माँग' के अध्ययन का है, जिसमे हम यह देखते हैं कि उसकी अपनी कीमत मे परिवर्तन होने से उसकी माँग मे किस प्रकार परिवर्तन होते हैं। इसे ही हम 'मूल्य माँग' अथवा 'मूल्य-मात्रा-माँग' (Price-quantity-demand) कहते हैं। इसी का दूसरा नाम 'साधारण माँग' (conventional demand) है और आगे के अध्ययन मे हम 'साधारण माँग वक्र' (Conventional demand curve) का ही विशेष रूप से ध्यान रखेंगे।

सयुक्त माँग, व्युत्पन्न माँग एव सामूहिक माँग

एक अन्य दृष्टिकोण से माँग 'सयुक्त', 'व्युत्पन्न' अथवा 'सामूहिक' हो सकती है। **'सयुक्त माँग'** (Joint Demand) का आशय उस माँग से है जो दो या अधिक वस्तुओ के सम्बन्ध मे किसी एक सयुक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु की जाती है, जैसे—मोटर और पेट्रोल की माँग। किन्तु जब एक वस्तु की माँग इसलिए की जाती है कि उसकी सहायता से किसी अन्य वस्तु का उत्पा-

दन किया जाय, तो ऐसी माँग को 'अनुत्पन्न माँग' (Derived Demand) कहते हैं, जैसे—मकान बनाने के लिए ईंट और चूने की माँग। 'सामूहिक माँग' (Composite Demand) से आशय ऐसी वस्तु की माँग का है, जिसे अनेक प्रयोगों में लाया जाता है, जैसे—कोयले की माँग क्योंकि कोयला कई प्रयोगों में इस्तैमाल किया जाता है।

माँग अनुसूची या तालिका
(Demand Schedule)

माँग-अनुसूची का आशय—

हम ऊपर देख चुके हैं कि माँग कीमत से सम्बन्धित होती है। किसी निश्चित समय पर किसी वस्तु की कितनी मात्रा की माँग होगी यह इस बात पर निर्भर है कि उस समय वस्तु की कीमत क्या है? इस प्रकार, अलग-अलग कीमतों पर एक ही समय में एक वस्तु के लिये विभिन्न मात्राओं में माँग होगी। यदि हम एक ऐसी सूची बना लें, जिसमें यह दिखाया जाये कि किसी समय विशेष पर बाजार में विभिन्न कीमतों पर कितनी-कितनी मात्राओं में माँग होती है, तो ऐसी सूची माँग 'अनुसूची' (Demand Schedule) कहलायेगी। सरल शब्दों में, माँग-अनुसूची विभिन्न कीमतों पर माँगी गई मात्राओं की एक सूची होती है। बेनहाम के अनुसार, "किसी बाजार में एक निश्चित समय पर दी हुई कीमतों पर जितनी बिक्री होती है यदि उसे एक तालिका के रूप में प्रस्तुत किया जाये तो वह माँग की अनुसूची कहलाती है। ऐसी तालिका माँग की सम्पूर्ण स्थिति को अथवा यों कहें कि माँग की दशा को दिखाती है।"[1] इस प्रकार माँग-अनुसूची कीमत और माँग (की मात्रा) के फलनात्मक सम्बन्ध (Functional Relationship) को दिखाती है।

किसी वस्तु की माँग पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। उदाहरणस्वरूप उपभोग-वस्तुओं के लिए माँग, बाजार में उपभोक्ताओं की संख्या, उनकी मौद्रिक आय, उनकी रुचियों और सामाजिक रूढ़ियों, ऐसी वस्तुओं की कीमतों जो इस वस्तु के स्थान पर उपयोग की जा सकती हैं और अन्त में स्वयं वस्तु विशेष की कीमत पर निर्भर होती है। माँग की अनुसूची बनाते समय हम यह मान लेते हैं कि माँग को प्रभावित करने वाले इन घटकों में कोई परिवर्तन नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, माँग-अनुसूची के द्वारा हम इस बात का प्रयत्न करते हैं कि किस वस्तु की बिक्री पर केवल उस वस्तु की कीमतों के प्रभाव का अकेले में अध्ययन करें। वास्तव में यदि हम बिक्री की मात्रा का वस्तु की कीमत से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाना चाहते हैं तो ऐसा करना आवश्यक भी होगा।

व्यक्तिगत एवं बाजार-माँग तालिकायें—

माँग की अनुसूची एक व्यक्ति विशेष के लिए भी बनाई जा सकती है तथा सम्पूर्ण बाजार के लिए भी। व्यक्ति की माँग-अनुसूची यह दिखायेगी कि एक निश्चित समय पर व्यक्ति अलग-अलग दामों पर वस्तु विशेष की कितनी-कितनी मात्रायें खरीदेगा। दूसरी ओर, जब सम्पूर्ण बाजार के लिये माँग-अनुसूची बनाई जाती है तो यह दिखाया जाता है कि विभिन्न

---

[1] "A full account of the demand, or perhaps we can say, the state of demand, for any goods in a given market at a given time should state what the (weekly) volume of sales would be at each of a series of prices Such an account, taking the form of a tabular statement, as known as a demand schedule."—Benham : *Economics*, pp. 36-37.

कीमतो पर किसी निश्चित काल मे उस बाजार मे वस्तु कितनी-कितनी कुल मात्राओं में बेची जाती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक व्यक्ति के लिये माँग-अनुसूची बनाना बहुत सरल है। नीचे व्यक्ति क के लिए एक निश्चित समय पर चीनी की माँग-अनुसूची दी गई है।

व्यक्ति-माँग-तालिका

कीमत प्रति किलोग्राम (रुपयो मे)	माँगी गई मात्रा (किलोग्राम मे)
२·००	५
१·७५	८
१·५०	१२
१·२५	१६
१·००	२४
०·७५	३२

किन्तु सम्पूर्ण बाजार के लिए माँग-अनुसूची बनाना कठिन है। साधारण रीति से, बाजार की माँग-अनुसूची विभिन्न ग्राहकों द्वारा खरीदी हुई मात्राओ को जोड़ कर बनाई जा सकती है। इसमे यह दिखाया जाता है कि अलग-अलग कीमतो पर किसी निश्चित समय मे सब ग्राहक मिल कर वस्तु की कुल कितनी-कितनी मात्रायें खरीदते हैं। हम कल्पना करते हैं और बाजार मे बाजार की एक ऐसी कल्पित दशा को मान लेते हैं जिसमें केवल क, ख, ग, घ, ङ और च ६ ही ग्राहक हैं। बाजार की माँग-अनुसूची यह दिखायेगी कि ये ६ ग्राहक मिलकर विभिन्न कीमतों पर चीनी की कुल कितनी-कितनी मात्रायें खरीदते हैं, (देखिये निम्न तालिका)।

बाजार-माँग-तालिका

कीमत प्रति किलोग्राम (रुपयों मे)	माँग की मात्रा किलोग्राम मे						कुल
	क	ख	ग	घ	ङ	च	
२·००	५	४	३	२	१	०	१५
१·७५	८	६	५	४	३	१	२७
१·५०	१२	१०	८	७	६	२	४५
१·२५	१६	१४	१२	११	१०	४	६७
१·००	२४	२०	१७	१६	१४	७	९८
०·७५	३२	२६	२३	२१	१८	१०	१३०

चूँकि विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों द्वारा एक बाजार का निर्माण होता है, इसलिए ऐसा कह सकते हैं कि विभिन्न व्यक्तियो की माँग-तालिकाओ का योग ही बाजार-माँग-तालिका का निर्माण करता है। लेकिन यह कथन एक मोटे तौर पर ही सही है, पूर्ण और निश्चित रूप मे नहीं। *कारण, एक व्यक्ति का आचरण न्यूनाधिक रूप मे बाजार के व्यवहार* (Market behaviour) से प्रभावित होता है। अत. एक व्यक्तिगत-माँग-रेखा का रूप तब ही मालूम हो सकता है जबकि हमें बाजार-माँग-रेखा का रूप ज्ञात हो। यही कारण है कि व्यक्तिगत-माँग-तालिका और बाजार-माँग-तालिका एक-दूसरे पर निर्भर रहती है तथा एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं।

एक अन्य ढङ्ग से भी बाजार-तालिका को बनाना सम्भव है, जो इस प्रकार है कि हम क्रेताओ मे से एक प्रतिनिधि क्रेता (Representative buyer) की माँग-तालिका मालूम करें जिसे फिर क्रेताओ की सख्या से गुणा करके बाजार-माँग-तालिका बनाई जा सकती है। किन्तु इस विधि से बाजार-माँग-तालिका का निर्माण करने मे एक कठिनाई यह है कि समस्त क्रेताग्रा

का एक प्रतिनिधि क्रेता चुनना बहुत ही कठिन कार्य है, क्योंकि विभिन्न क्रेताओं की आय, रुचि आदि में बहुत अन्तर होते हैं। हाँ, यदि यह कल्पना कर लें कि ये अन्तर एक-दूसरे को नष्ट कर देते हैं, तो प्रतिनिधि क्रेता चुना जा सकता है।

मार्शल का कहना है कि एक व्यक्ति विशेष तो अनियमित रूप से व्यवहार कर सकता है, जिस कारण व्यक्तिगत-माँग-तालिका भङ्ग और असमतल होती है, किन्तु सम्पूर्ण रूप में बाजार का आचरण अधिक नियमित होता है, जिस कारण बाजार-माँग-तालिका अभङ्ग और समतल होती है।

यह भी स्मरणीय है कि दोनों प्रकार की तालिकाओं में समय एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यदि कीमत-परिवर्तन के साथ समायोजन के लिए माँग को अधिक समय दिया जाता है, तो माँग 'लोचदार' (Elastic) और यदि कम समय दिया जाता है, तो माँग बेलोच (Inelastic हो जायेगी। यही नहीं, विचाराधीन अवधि जितनी बड़ी होगी, भविष्य में अनुमानित कीमतों का प्रभाव भी उतना ही अधिक पड़ेगा।

बाजार-माँग-तालिका की काल्पनिकता—

इस तालिका में अन्तिम खाना कुल माँग को दिखाता है। यदि पहले और अन्तिम कॉलम को एक साथ रख दिया जाये तो बाजार-माँग-अनुसूची प्राप्त हो जाती है। किन्तु यह अनुसूची केवल कल्पित होगी, जिसके निम्न कारण हैं:—(१) सुविधा के लिए हमने मान लिया है कि बाजार में केवल ६ ग्राहक हैं। किन्तु वास्तव में बाजार में ग्राहकों की संख्या अधिक होती है और कभी-कभी तो यह असीमित हो सकती है। (२) हमने यह मान लिया है कि बाजार में केवल एक ही प्रकार की चीनी है। यह मान्यता भी गलत है क्योंकि बाजार में एक ही साथ कई प्रकार की चीनी बिकती है। (३) हमने यह भी मान लिया है कि बाजार पूर्ण है, जिसका अर्थ यह होता है कि सभी विक्रेताओं द्वारा माँगी हुई कीमतें सभी ग्राहकों को ज्ञात होती हैं और पूरे बाजार में वस्तु की केवल एक ही किस्म बेची जाती है। किन्तु वास्तविक जीवन में अपूर्ण प्रतियोगिता देखी जाती है, पूर्ण प्रतियोगिता नहीं। (४) इसके साथ ही साथ हमने यह भी माना है कि यातायात पर भी किसी प्रकार का व्यय नहीं होता, जो स्पष्टतः त्रुटिपूर्ण है। (५) और भी बहुत-सी मान्यतायें हैं जो हमने यहाँ स्वीकार की है। जैसे—जनसंख्या, आय और रुचियों तथा प्रतियोगी वस्तुओं की कीमतों में किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं होते।

इतनी सारी मान्यताओं के होते हुए भी हम केवल माँग की अनुसूची का एक भाग ही दिखा सकते हैं, क्योंकि माँग की पूरी अनुसूची, जिसमें शून्य से प्रारम्भ होती हुई कीमतों से लेकर उन कीमतों तक, जिन पर माँगी हुई मात्रा शून्य रह जाती है, माँग की मात्रायें दिखाई गई हों, आसानी से नहीं बनाई जा सकती है। किन्तु यहाँ पर यह बता देना अनुपयुक्त न होगा कि यदि भविष्य में कीमतों में बहुत परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं है और यदि माँग को प्रभावित करने वाले घटक यथास्थिर रहते हैं, तो माँग की अनुसूची का वही भाग यथार्थ में लाभदायक होगा जो प्रचलित कीमतों के पास-पड़ोस से सम्बन्धित है।

किन्तु इस पर भी तालिका बनाने का लाभ है। क्योंकि कीमत-परिवर्तनों के फलस्वरूप माँगी गई मात्राओं में होने वाले परिवर्तनों का एक मोटा अनुमान तो लगाया ही जा सकता है। इससे वित्त मन्त्री को कर लगाने में, उपभोक्ता को बजट बनाने में और एकाधिकारी को अपना लाभ अधिकतम् करने में सुविधा हो जाती है।

मांग-वक्र
(Demand Curve)

मांग-रेखा का अर्थ—

मांग-तालिका को एक रेखाचित्र द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है। ऐसी रेखा या वक्र को मांग-रेखा या मांग-वक्र (Demand Curve) कहते हैं। मांग-रेखा विभिन्न कीमतों पर वस्तु विशेष की एक निश्चित समय में खरीदी जाने वाली मात्राओं को सूचित करती है। मांग-तालिका के ही समान मांग-रेखा भी दो प्रकार की हो सकती है—व्यक्तिगत-मांग-रेखा (Individual demand curve) जो व्यक्तिगत-मांग-तालिका पर आधारित होती है, और बाजार-मांग-रेखा (Market demand curve) जो बाजार-मांग-तालिका पर आधारित है।

ऊपर दी हुई मांग-अनुसूची से हम यह देख सकते हैं कि बाजार में कीमत के ६ विवरण हैं, अर्थात् ६ अलग-अलग कीमतों पर मांग की मात्रायें दिखाई गई हैं। इनमें से प्रत्येक विवरण (Statement) को रेखा-चित्र पर बिन्दु के रूप में (By a point in a system of rectangular co-ordinates) दिखाया जा सकता है और इस विधि से जो छ: बिन्दु हमें प्राप्त हो उन्हें मिला कर एक वक्र-रेखा का निर्माण किया जा सकता है। यही मांग-वक्र होगा। निम्नांकित रेखा-चित्र में चीनी की मांग की मात्रायें OX रेखा पर नापी गई हैं और कीमतें OY रेखा पर एवं DD मांग-वक्र-रेखा दिखाई गई है।

QUANTITIES IN KILOGRAMS
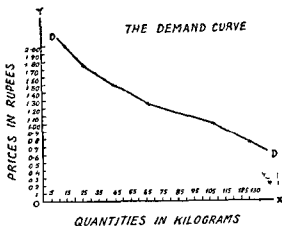
चित्र—मांग-वक्र

उपर्युक्त चित्र में DD मांग की रेखा है। चित्र में ६ गुणा के निशान उन छ: बिन्दुओं को दिखाते हैं जो ६ विवरणों को व्यक्त करते हैं। DD रेखा का प्रत्येक बिन्दु यह दिखाता है कि एक निश्चित कीमत पर मांग की मात्रा कितनी है।

मांग-रेखा के पीछे मान्यतायें—

मांग-तालिका कुछ मान्यताओं के आधार पर बनाई जाती है, जिस कारण मांग-रेखा का निर्माण भी मान्यता-युक्त होता है। मांग-रेखा के पीछे अग्रांकित मान्यतायें होती हैं :—(१) कि कुछ कीमतें दी हुई और स्थिर हैं। (इस प्रकार, मांग-रेखा एक स्थैतिक दशा को सूचित करती है। (२) कि उपभोक्ता के स्वभाव और उसकी रुचि में परिवर्तन नहीं होता है। (३) कि उपभोक्ता की मौद्रिक आय भी स्थिर रहती है। (४) कि उन वस्तुओं की कीमतों में भी, जिनमें उपभोक्ता रुचि रखता है, परिवर्तन नहीं होते हैं। (५) कि कीमत में होने वाले प्रत्येक सूक्ष्म

परिवर्तन का माँग पर प्रभाव पड़ता है। [व्यवहार में कीमत में एक निश्चित मात्रा में परिवर्तन होने पर ही माँग में परिवर्तन होता है, जिस कारण माँग-रेखा में बहुत से बल (Kinks) या कोने (Angularities) पाये जाते है, वह समतल और अभङ्ग नहीं होती है।] (६) कि वस्तु की अत्यन्त छोटी-छोटी इकाइयाँ मौजूद है।

उपर्युक्त मान्यतायें व्यावहारिक जगत में सत्य नही उतरती हैं, जिस कारण माँग-तालिका की भाँति माँग-वक्र भी न्यूनाधिक अनुमानजनक होता है।

माँग का नियम
(Law of Demand)

जैसा कि हम आरम्भ मे ही बता चुके है, माँग का सम्बन्ध सदैव कीमत और समय से होता है। किसी बाजार मे किसी समय विशेष मे किसी वस्तु की कितनी माँग होगी, यह उसके दामो पर निर्भर होता है। बहुधा देखा गया है कि जब किसी वस्तु के दाम गिर जाते है, तो लोग उसे अधिक मात्रा मे खरीदने लगते हैं। इसी प्रकार, यदि किसी वस्तु के दाम बढ़ जाते है, अर्थात् वह पहले से अधिक महंगी हो जाती है, तो उसे कम मात्रा मे खरीदा जाता है। किसी भी दुकानदार से इस सत्य की पुष्टि की जा सकती है। दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते है कि दाम के गिरने पर वस्तु के लिये माँग बढ जाती है तथा दाम बढ़ने पर माँग कम हो जाती है। यह कथन साधारण अनुभव पर निर्भर है।

सम्भव है कि ऐसा कुछ दशाओ मे न होता हो। कभी-कभी ऐसा भी देखने मे आता है कि दाम बढने पर माँग भी बढ जाती है। उदाहरणस्वरूप, यदि भविष्य मे किसी वस्तु के दाम अधिक बढ जाने की आशा है, तो इस समय उसके दाम बढ़ जाने पर भी लोग उसे पहले से अधिक मात्रा मे खरीदेंगे। इसी प्रकार, कुछ वस्तुओ के विषय मे यह भी सम्भव है कि दाम गिर जाने की दशा में भी उसकी माँग घट जाये। यदि कोई नई निकाली हुई औषधि रोग नाश के लिये निष्फल सिद्ध होती है, तो दाम घट जाने पर भी उसकी माँग कम हो जायगी। इस प्रकार, हम देखते है कि सब दशाओ मे ऐसा नही होता कि दाम गिरने पर माँग बढ़े, और न सब दशाओं में दाम बढ़ने पर माँग मे कमी आती है। किन्तु अधिकांश वस्तुओ के विषय में तथा अधिकाश परिस्थितियो मे उपरोक्त कथन सत्य होता है।

माँग के नियम का कथन—

साधारणतया माँग का घटना-बढ़ना दामों के घटने-बढ़ने की विपरीत दिशा में होता है। माँग की प्रकृति अथवा प्रवृत्ति इस प्रकार की है कि उसमे कीमत की विपरीत दिशाओ में परिवर्तन होते हैं।[1] माँग की प्रवृत्ति को अर्थशास्त्रियों ने माँग के नियम का नाम दिया है। अर्थशास्त्र के और बहुत से नियमो की भाँति यह नियम भी साधारणतया ही सही होता है। इसका हर दशा मे सही होना आवश्यक नही है।

---

1 'Changes in demand are in the opposite direction to the changes in price.'

नीचे दिये हुए रेखा-चित्र में माँग के नियम का चित्रण किया गया है। प म रेखा माँग की वक्र रेखा है। अ ख रेखा पर कीमत की इकाइयाँ नापी गई हैं और अ क रेखा पर माँग की

मात्रा
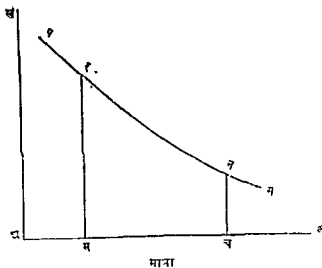
चित्र—माँग का नियम

मात्रायें। इस चित्र के देखने से पता चलता है कि र भ दाम पर माँग की मात्रा अ भ है तथा न च दाम पर यह मात्रा बढ़कर अ च के बराबर हो जाती है। अतः सिद्ध होता है कि दाम के घटने के साथ-साथ माँग की मात्रा बढ़ जाती है। इसके विपरीत, हम यह भी कह सकते हैं कि दाम के बढ़ने से माँग कम हो जाती है। इस प्रकार, दाम के परिवर्तनों के साथ-साथ माँग में भी परिवर्तन होता है। किन्तु इन परिवर्तनों की दिशा दाम की प्रतिविरोधी (Opposite) होती है।

यहाँ पर माँग के नियम की कुछ परिभाषायें दे देना आवश्यक प्रतीत होता है :—

(१) मार्शल—"बिक्री के लिये वस्तु की मात्रा जितनी अधिक होगी, ग्राहकों को आकर्षित करने के लिये कीमत भी उतनी ही नीची होनी चाहिए, ताकि पर्याप्त ग्राहक मिल सकें। दूसरे शब्दों में, कीमत के गिरने से माँग बढ़ती है और कीमत के ऊपर उठने से माँग घटती है।"[1]

(२) टामस—"एक निश्चित समय पर प्रचलित कीमत पर वस्तु अथवा सेवा के लिये माँग उससे अधिक होगी जितनी कि उससे ऊँची कीमत पर होती है और उससे कम होगी जो उससे नीची कीमत पर होती है।"[2]

---

[1] "The greater the amount to be sold, the smaller must be the price at which it is offered in order that it may find purchasers or in other words the amount demanded increases with a fall in price and diminishes with a rise in price"—**Marshall** : *Principles of Economics*, p. 99

[2] "At any given time, the demand for a commodity or service at the prevailing price is greater than it would be at a higher price and less than it would be at a lower price"—**S E. Thomas** *Elements of Economics*, pp 52-53

(३) ड्यूवेट—"यदि माँग की दशायें अपरिवर्तित रहें, तो कीमत में वृद्धि के साथ-साथ वस्तु के लिये माँग घटती है और कीमत मे कमी के साथ-साथ माँग बढ़ती है।"[1]

(४) बेनहाम—"माँग की मात्रा कीमत से सम्बन्धित होती है।"[2]

संक्षेप में, माँग का नियम बताता है कि वस्तु की अधिक इकाइयाँ कम कीमत पर और कम इकाइयाँ ऊँची कीमत पर बिकेंगी। स्मरण रहे कि माँग का नियम एक गुणवाचक (Qualitative) कथन है, परिमाणवाचक (Quantitative) नहीं। अर्थात् यह केवल माँग के परिवर्तन की 'दिशा' को बताता है परिवर्तन के 'परिमाण' को नहीं। अन्य शब्दों में, माँग और कीमतों के परिवर्तन विपरीत दिशाई होते हैं आनुपातिक नहीं।

नियम की मान्यतायें—

इन परिभाषाओं मे यह स्वीकार किया गया है कि कीमतों की घटत-बढ़त के साथ माँग के बढ़ने-घटने की प्रवृत्ति तभी दृष्टिगोचर होती है जबकि अन्य बातें यथास्थिर रहें। कुछ परिभाषाओं मे तो इस बात का स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया गया है। प्रो० मेयर्स (Meyers) के अनुसार, *माँग के नियम की कार्यशीलता के लिये निम्नलिखित दशायें या मान्यतायें पूरी होनी चाहियें :—(i) व्यक्तियों की आय समान रहना; (ii) उनकी स्वभाव और रुचि अपरिवर्तित रहना;* (iii) आय तथा अन्य वस्तुओं की कीमतें समान रहना; (iv) नई स्थानापन्न वस्तुओं की खोज न होना; (v) वस्तु की कीमत मे और अधिक परिवर्तनों की आशा न होना; एवं (vi) वस्तु विशेष प्रतिष्ठारक्षक वस्तुओं की श्रेणी की नहीं होनी चाहिए।

माँग के नियम की व्याख्या—

माँग-रेखायें दायें को नीचे की ओर क्यों झुकती हैं—जैसा कि माँग के नियम के रेखाचित्र मे दिखाया गया है (और माँग की सारणी से भी स्पष्ट होता है), माँग-रेखा ऊपर से नीचे की ओर जाती है। बात यह है कि किसी वस्तु की कीमत के गिरने से उसकी अधिक बिक्री *होने लगती है और कीमत के बढ़ने से बिक्री घट जाती है। इसी से माँग-रेखा दायें को नीचे की ओर झुकती है।* परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसा होता क्यों है? इस सम्बन्ध मे निम्नांकित कारण प्रस्तुत किये गये हैं :—

(१) **उपयोगिता ह्रास नियम की क्रियाशीलता**—जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु अथवा सेवा को खरीदता है, तो इससे उसे कुछ उपयोगिता की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार, जो दाम वह इस वस्तु अथवा सेवा के बदले मे देता है उसके रूप मे कुछ उपयोगिता उसके पास से निकल जाती है। जब किसी वस्तु के दाम गिर जाते हैं, तो इसका अर्थ यह होता है कि किसी निश्चित कीमत पर उस वस्तु को पहले से अधिक मात्रा मे प्राप्त किया जा सकता है अथवा इस प्रकार समझिये कि उस वस्तु विशेष की प्रत्येक इकाई (Unit) के बदले मे पहले से कम कीमत देनी पड़ती है, अर्थात् पहले से कम उपयोगिता देकर हम पहले से अधिक मात्रा मे उपयोगिता प्राप्त कर लेते हैं। यही कारण है कि हम उस वस्तु की अधिक इकाइयाँ खरीदने का प्रयत्न करते हैं।

---

1 "A rise in the price of a commodity or service is followed by reduction in demand and a fall in price is followed by an increase in demand if conditions of demand remain constant."—**K. K. Dewett** : *Modern Economic Theory*, p. 66.

2 "........amount sold is the function of the price of the goods."—**Benham** : *Economics*, p. 47.

इसके विपरीत, कीमत बढ जाने पर हम उसी वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिए पहले से अधिक दाम देते है, अर्थात् प्रत्येक इकाई की प्राप्ति मे पहले से अधिक उपयोगिता मुद्रा के रूप मे हमारे पास से निकल जाती है, और इसीलिए हम उस वस्तु को पहले से कम मात्रा में खरीदने लगते हैं। यह तो सभी जानते हैं कि साधारणतया मनुष्य के पास धन सीमित मात्रा में होता है और इस धन का व्यय बहुत सारी वस्तुओ और सेवाओ को प्राप्त करने पर किया जाता है। किसी वस्तु विशेष की कीमत बढ़ जाने से मुद्रा की प्रत्येक इकाई के बदले मे दूसरी वस्तुओ तथा सेवाओ की अपेक्षा उसकी कम मात्रा मिलती है। अत: हम उस वस्तु विशेष पर व्यय कम करके दूसरी वस्तुओ पर अधिक व्यय करने लगते हैं और इस प्रकार उस वस्तु के लिये हमारी माँग कम हो जाती है।

(२) **प्रतिस्थापन प्रभाव**—जब अन्य वस्तुओ की कीमतें अपरिवर्तित रहते हुए वस्तु विशेष की कीमत गिरती है, तो यह वस्तु अन्य वस्तुओ की अपेक्षा सस्ती प्रतीत होने लगती है अथवा यो कहें कि अन्य वस्तुयें इस वस्तु की अपेक्षा महँगी प्रतीत होने लगती हैं। अतः लोग वस्तु विशेष का अन्य वस्तुओ के स्थान मे प्रतिस्थापन करने लगते हैं। यही 'प्रतिस्थापन प्रभाव' है। वस्तु की कीमत गिरने से इसके बढते हुए उपयोग को निम्न उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है—मान लीजिये कि एक ऐसे खाद्य पदार्थ की कीमत घट गई है जिसका बहुत अधिक उपयोग होता है। (जैसे गेहूँ), परन्तु, साथ ही साथ, अन्य वस्तुओ की कीमतें नही घटी हैं। ऐसी दशा मे उपभोक्ता कम व्यय पर ही अपने पुराने जीवन-स्तर को बनाये रखने हेतु अन्य वस्तुओ के स्थान पर गेहूँ का उपभोग आरम्भ कर देगा। यथार्थ मे इस दशा मे उपभोक्ता बिल्कुल वैसे ही चलेगा जैसे कि एक व्यवसायी उत्पत्ति के एक साधन के सस्ता होने की दशा मे चलता है। एक व्यवसायी अन्य उत्पत्ति के साधनो के स्थान पर उस साधन का उपयोग करने का प्रयत्न करता है जो सस्ता हो गया है ताकि वह कुल लागत को नीची करके भी समान उपज प्राप्त कर सके। ठीक इसी प्रकार, एक उपभोक्ता भी महँगी वस्तु के स्थान पर सस्ती का उपयोग करेगा, जिससे कम व्यय करके भी उसे समान सन्तोष मिल सके।

इसी प्रकार, यह दिखाया जा सकता है कि यदि अन्य वस्तुओं की कीमतें अपरिवर्तित रहते हुए वस्तु विशेष की कीमत बढ जाय, तो लोग इस वस्तु के स्थान पर अन्य वस्तुओं का प्रयोग करने लगेंगे, जिस कारण वस्तु विशेष की माँग कम हो जायेगी।

अत: स्पष्ट है कि प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण भी वस्तु की कीमत गिरने पर माँग बढती है और कीमत बढ़ने पर माँग घटती है। इसी कारण माँग रेखा बायें से दाये नीचे की ओर जाती है।

(३) **आय-प्रभाव**—किसी वस्तु की कीमत मे कमी होना यथार्थ मे उपभोक्ता की वास्तविक आय मे वृद्धि होने के सदृश्य है। ऊँची वास्तविक आय एक व्यक्ति को इस योग्य बना देती है कि वह इस वस्तु को या अन्य वस्तुओ को अधिक मात्रा मे खरीद सके। इसी प्रकार, वस्तु की कीमत मे वृद्धि उपभोक्ता की वास्तविक आय मे कमी होने के समान है और नीची वास्तविक आय व्यक्ति को वस्तु विशेष की या अन्य वस्तुओ की खरीद घटाने की प्रेरणा देती है। अन्य शब्दो मे, आय-प्रभाव बताता है कि माग-रेखा बाये से दायें को नीचे की ओर क्यों झुकती है। मार्शल ने माँग के नियम की व्याख्या करते समय आय-प्रभाव को भुला दिया यद्यपि कीमत-प्रभाव को विचार मे लिया था।

(४) **नये क्रेताओं का आगमन या पुराने क्रेताओ का बहिर्गमन**—वस्तु विशेष की कीमत गिरने पर कुछ नये क्रेता, जो कि पहले समर्थ नही थे अब वस्तु को खरीदने लगते हैं, जिस कारण कुल माग मे वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत, वस्तु विशेष की कीमत बढने पर

कुछ पुराने क्रेता वस्तु को खरीदने मे असमर्थ हो जाते है और इसलिए कुल माँग मे कमी हो जाती है। यह भी एक कारण है कि माँग-रेखा क्यो बाये से दाँये को नीचे की ओर झुकती है।

माँग के नियम के अपवाद
(माँग-रेखा के अन्य रूप)

पिछले सभी विवेचन मे हमने यही देखा है कि अधिकाश माँग-रेखाये बाई से दाहिनी ओर को नीचे की दिशा मे मुडती है; परन्तु यह माँग-रेखा का सामान्य रूप (General shape) है। विशेष दशाओ (exceptional cases) मे माँग-रेखा के अन्य रूप भी हो सकते है। कुछ माँग-रेखाये ऊपर की ओर मुडती है, जो यह दिखाती है कि ऊँची कीमतो पर वह वस्तु अधिक मात्रा मे खरीदी जायेगी। अर्थात् जैसे-जैसे किसी वस्तु की कीमत बढ़ेगी, उस पर व्यय किये हुए धन की मात्रा भी बढ़ेगी। किन्तु अधिकाश दशाएँ ऐसी नही होती और केवल कभी-कभी ही ऐसी दशा हमारे सामने आती है। ऐसी दशाओ का अध्ययन **सर रॉबर्ट ग्रिफिन** (Sir Robert Griffen) ने किया है और इन्हे अर्थशास्त्र मे उनके नाम पर 'ग्रिफिन का विरोधाभास' (Griffen's paradox) कहते है जो इस प्रकार है कि, "कीमत के बढने से माँग दृढ होती है और कीमत के घटने से माँग कमजोर होती है।"[1] बेनहाम ने इस प्रकार की असाधारण माँग के निम्नलिखित मुख्य कारण बताये है :—

(१) **भविष्य मे कीमतों में घटा-बढ़ी होने की आशा**—जब लोग यह अनुभव करते है कि वस्तु विशेष की कीमत भविष्य मे और भी अधिक बढ जाने की सम्भावना है, तो वे उसे अब भी (जबकि कीमते बढ गई है) पहले से अधिक मात्रा मे खरीदने लगेंगे। सट्टा बाजार मे इस प्रकार का दृश्य सदा ही प्रस्तुत होता है, क्योकि भविष्य मे कीमत चढ जाने की सम्भावना के आधार पर सटोरिये अभी से प्रतिभूतियो को अधिक मात्रा मे खरीदने लगते हैं। यथार्थ मे, जैसा कि बेनहाम ने कहा है, यह दशा लोगो की भविष्य सम्बन्धी आशाओ मे परिवर्तन के कारण माँग की दशा मे परिवर्तन होने की सूचक है।

[यदि यह ध्यान रखे कि माँग के नियम की एक मान्यता यह थी कि वस्तु की कीमत भविष्य मे और अधिक बढने की सम्भावना नही होनी चाहिये तो उक्त परिस्थिति को नियम का अपवाद नही कहा जा सकता। पुन. उक्त परिस्थिति केवल अल्पकाल मे ही देखी जाती है।]

(२) **प्रतिष्ठासूचक वस्तुयें**—कुछ वस्तुएँ ऐसी होती है कि उनका पास होना प्रतिष्ठा अथवा सम्मान का सूचक होता है। ऐसी वस्तुओ की कीमत जितनी अधिक होगी उतनी ही उनकी प्रतिष्ठा व महत्त्व अधिक होगा, उदाहरणस्वरूप हीरे-जवाहरात का। जब ऐसी वस्तुओ की कीमते बढती है, तो धनी लोग अपने धन का प्रदर्शन करने के लिये इन्हे पहले से भी अधिक मात्रा मे खरीदने लगते है।

[नियम की एक मान्यता यह भी थी कि वस्तु विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करने वाली न हो। इस दृष्टि से उपर्युक्त परिस्थिति को नियम का अपवाद नही कहा जा सकता।]

(३) **अज्ञानता या भ्रम**—कभी-कभी उपभोक्ता भी अज्ञानता से प्रभावित होकर कार्य करते हैं। वे समझते है कि प्रत्येक सस्ती वस्तु 'निम्न कोटि' की और प्रत्येक महँगी वस्तु 'ऊँची कोटि' की होती है। अत. यह सम्भव है कि यदि एक चित्र के दाम नीचे रखे जाएँ, तो लोग उसकी माँग कम करे और दामो को बढाने से उसकी माँग बढ सकती है।

---

[1] "Demand is strengthened with a rise or weakened with a fall in price."
—**Sir Robert Griffen.**

(४) **अति आवश्यक वस्तुयें**—यदि किसी अति आवश्यक वस्तु (जैसे गेहूँ) की कीमत बढती है, तो उपभोक्ता को अपने समस्त व्यय मे फिर से समायोजन करना होगा। ऐसी दशा मे यह सम्भव है कि उपभोक्ता कम पौष्टिक पदार्थों पर अपना व्यय घटाकर गेहूँ पर अपना व्यय बढाये, अत: कीमत बढने पर भी गेहूँ की माँग बढ़ सकती है।

(५) **फैशन एवं प्रिय वस्तुएँ**—यदि वस्तु विशेष का फैशन इतना बढ जाय कि उसके न होने से लोग हीनता का अनुभव करने लगते हैं, तो ऐसी दशा मे यह सम्भव है कि उस वस्तु की कीमत बढने पर भी लोग उसे पहले से अधिक मात्रा मे खरीदने लगें। इसी प्रकार, यदि किसी वस्तु ने लोगो के दिलो मे ऐसा घर कर लिया है कि वह उन्हे निरन्तर और अधिक मात्रा मे चाहिये, तो कीमत बढने पर भी उसकी माँग बढ़ेगी भले ही उपभोक्ताओं को अपना व्यय अन्य वस्तुओ पर घटाना पडे।

माँग-रेखा के ऊपर जाने का सबसे अच्छा उदाहरण हीन-वस्तुओं (Inferior goods) द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। हीन वस्तु वह है—(i) जिसका उपभोग आय के नीचे स्तरों पर ही होता है, (ii) जिस पर निर्धन व्यक्ति की आय का अधिक विशाल भाग व्यय होता है; और (iii) जिस वस्तु के निकट स्थानापन्न उपलब्ध नही होते है। हमारे देश मे जो और ज्वार इसके अच्छे उदाहरण हैं। वस्तु की कीमत मे कमी होने पर उपभोक्ता अपनी आय का बडा भाग बचा लेता है और इस प्रकार पहले की तुलना मे धनी हो जाता है। अब क्योकि ऐसी वस्तुओं को नीचे आय-स्तर पर ही खरीदा जाता है इसलिए धनी होते ही उपभोक्ता इसका उपभोग तेजी से घटाता है और इनके स्थान पर उत्तम वस्तुएँ (जौ के स्थान पर गेहूँ) खरीदने लगता है। अत. कीमत घटने पर हीन-वस्तु की माँग बढने के स्थान पर उल्टी घट जाती है विशेषतया कीमत के एक निश्चित सीमा से अधिक घट जाने की दशा मे। ऐसी वस्तुओं की माँग की रेखा साधारणतया निम्न रेखा-चित्र के अनुसार होती है :—

चित्र—हीन वस्तुओ की माग-रेखा

इस चित्र मे पहले तो ऐसा होता है कि कीमत र ल से घट कर प म रह जाने से माँग की मात्रा अ ल से बढ कर अ म हो जाती है, परन्तु बाद मे जब कीमत प म से घट कर च ब होती है तो माँग बढने के स्थान पर अ म से घट कर केवल अ ब के बराबर रह जाती है।

स्मरण रहे कि उपरोक्त अपवाद कुछ थोडी दशाओं मे सम्मुख आते हैं। साधारण परिस्थितियों मे माँग का नियम सही होता है और माँग की मात्रा के परिवर्तन कीमतों की विपरीत दिशाओं मे होते है।
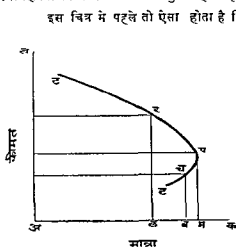
माँग में परिवर्तन (अर्थात् माँग मे वृद्धि या कमी) और माँगी गई मात्रा में परिवर्तन (अर्थात् माँग मे विस्तार या सकुचन)

साधारण बोलचाल मे 'माँग मे परिवर्तन' (Change in Demand) और 'माँगी हुई मात्रा मे परिवर्तन' (Change in Amount Demanded) दोनो वाक्यांश एक ही अर्थ मे

प्रयोग किये जाते हैं लेकिन अर्थशास्त्र में ये कुछ भिन्न अर्थ रखते हैं। 'माँग में वृद्धि' (या कमी का आशय) 'माँग के विस्तार' (या सकुचन) से भिन्न होता है। इस भिन्नता को नीचे समझाया गया है।

माँग में विस्तार या संकुचन—

माँग मे विस्तार या सकुचन (Expansion or Contraction of Demand) केवल कीमत मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप होते है और इस प्रकार एक ही *माँग-रेखा* पर होने वाली गतिविधि के रूप मे प्रदर्शित किये जाते हैं—नीचे की ओर गति कीमत मे कमी होने के फलस्वरूप माँग के विस्तार को तथा ऊपर की ओर गति कीमत मे वृद्धि होने के फलस्वरूप माँग के सकुचन को बताती है।

चित्र—माँग में विस्तार या सकुचन

साथ के चित्र मे म म माँग-रेखा है। जब कीमत च न है, तो माँगी हुई मात्रा ऊ न है। यदि इसी रेखा पर चलते हुए नीचे च² बिन्दु पर पहुँच जाती है तो कीमत मे कमी होकर माँगी हुई मात्रा ऊ न² हो जाती है। इसे 'माँग का विस्तार' कहेंगे। यदि म म पर चलते हुए ऊपर च¹ बिन्दु पर पहुँच जाती है तो कीमत मे वृद्धि होकर माँगी हुई मात्रा ऊ न¹ रह जाती है। यही 'माँग का संकुचन' है।
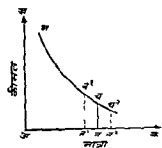
ऊपर हमने देखा कि कीमत मे परिवर्तन होने पर माँगी हुई मात्रा मे भी परिवर्तन होता है किन्तु माँग-रेखा पूर्ववत् रहती है। इसका यह आशय हुआ कि कीमत-परिवर्तन 'माँगी हुई मात्रा' मे तो परिवर्तन लाता है किन्तु 'माँग' मे नही। इस परिस्थिति मे उपभोक्ता एक निष्क्रिय भूमिका निभाता है अर्थात् वह कीमत द्वारा निर्देशित होता है। उसकी माँग-तालिका (और इसलिए माँग-रेखा) वही रहती है और वह कीमत के निर्देशन मे उसी रेखा पर ऊपर-नीचे चलता रहता है।

माँग में वृद्धि या कमी—

माँग की कीमत को छोड़कर अन्य निर्धारक तत्त्वो मे से किसी के भी परिवर्तन के फलस्वरूप *माँग* पर जो *प्रभाव पड़ता है उसे 'माँग मे परिवर्तन'* कहा जाता है। *अन्य निर्धारक* तत्त्व निम्न हैं—उपभोक्ता की आय, रुचि व पसन्द, जनसख्या, स्थानापन्न वस्तुओ की उपलब्धता इत्यादि। 'माँग मे परिवर्तन' की दशा मे माँग-रेखा या तो दायें को हट जाती है [जिस परिस्थिति मे 'माँग मे वृद्धि' (Increase in Demand) कही जाती है] या बायें को [जिस दशा मे यह कहेंगे कि 'माँग मे कमी' (Decrease in Demand) हुई है।]

इस प्रकार, माँग मे परिवर्तन का आशय यह होता है कि उपभोक्ता की माँग-तालिका *बदल गई है। यहाँ उपभोक्ता एक सक्रिय भूमिका निभाता है अर्थात् कीमत द्वारा निर्देशित नही* होता वरन् अपनी आय, आदि बातो को ध्यान मे रखते हुए अपनी माँग को कम या अधिक, स्वयं ही निश्चित करता है।

स्मरण रहे कि **माँग के बढ़ने के दो अर्थ हो सकते हैं**—(i) पहले की बराबर कीमत पर ही वस्तु की पहले से अधिक मात्रा खरीदी जाय और (ii) पहले से ऊँची कीमत पर भी वस्तु की पहले के बराबर ही मात्रा खरीदी जाय। इसी प्रकार, **माँग के घटने के भी दो अर्थ हो सकते हैं**—*(i) पुरानी कीमत पर वस्तु की पहले से कम मात्रा खरीदी जाय,* और *(ii)* पहले

से नीची कीमत पर वस्तु की पहले के बराबर ही मात्रा खरीदी जाय। निम्न रेखा-चित्र मे चाय की माँग की वृद्धि और कमी को दिखाया गया है :—
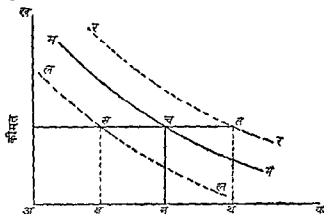
चित्र—माँग की वृद्धि और कमी

इस रेखा-चित्र मे म म माँग की आरम्भिक रेखा है। च न कीमत पर माँग की मात्रा अ न के बराबर है। र र रेखा माँग की वृद्धि को दिखाती है, क्योंकि त थ कीमत पर (त थ भी च न के बराबर है) माँग की मात्रा अ थ के बराबर हो जाती है, जो अ न से अधिक है जिससे पता चलता है कि माँग बढ गई है। ल ल रेखा माँग के घटने को दिखाती है। स ब कीमत पर (स ब=च न) माँग की मात्रा घट कर केवल अ ब के बराबर रह जाती है, जो अ न से बहुत कम है, अत माग घट गई है।

स्मरण रहे कि माँग के निर्धारक-घटक (कीमत को छोड़कर) दीर्घकाल में ही बदल जाते हैं, स्थिर नहीं रहते। अत. 'माँग में परिवर्तन' का महत्व दीर्घकाल में है। इसके विपरीत, अन्य निर्धारक घटक अल्पकाल मे स्थिर रहते हैं, केवल कीमत मे ही परिवर्तन होते रहते हैं, जिस कारण 'माँगी हुई मात्रा मे परिवर्तन' का महत्व अल्पकालीन है।

माँग के निर्धारक तत्त्व अथवा माँग को प्रभावित करने वाले तत्त्व

दैनिक जीवन मे माँग पर अनेक परिवर्तनशील तत्त्वों का प्रभाव पडता है, जोकि निम्न प्रकार हैं :—

(१) आय—कोई व्यक्ति कितनी वस्तुओ और सेवाओं का प्रयोग करेगा यह उसकी आय पर निर्भर होता है। अधिक आय का अर्थ है अधिक क्रय शक्ति और कम आय का अर्थ है कम क्रय शक्ति। अत. आय के बढने पर वस्तु विशेष के लिए माग अधिक होगी और आय के घटने पर उसके लिए माँग कम होगी। आय के प्रभाव के सम्बन्ध मे तीन बातें स्मरणीय हैं :— (अ) आवश्यक वस्तुओं पर आय के परिवर्तन का आरामदायक और विलास की वस्तुओं की अपेक्षा कम प्रभाव पडता है; (ब) आय के परिवर्तन का प्रभाव माँग पर तत्काल ही पड सकता है या कुछ समय के बाद भी, और भूतकालीन संचित आय भी वर्तमान माँग को प्रभावित कर सकती है; एव (स) आय के परिवर्तन का माँग पर कितना प्रभाव पडेगा यह उपभोक्ताओं की बचत-प्रवृत्ति पर भी निर्भर है। जैसे—यदि बचत-प्रवृत्ति तीव्र है, तो बढी हुई आय मे से वे अधिक बचायेंगे और कम ही व्यय करेंगे, जिस कारण माँग मे अधिक वृद्धि नही होगी।

(२) धन का वितरण—यदि धन का असमान वितरण है (अर्थात् धन इने-गिने

व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो गया है), तो विलास की वस्तुओं के लिए माँग बढ़ेगी। इसके विपरीत, यदि धन का समान वितरण है (या धनी व्यक्तियों पर कर लगा कर प्राप्त धन निर्धनों के लाभार्थ व्यय किया जा रहा है), तो विलास की वस्तुओं के लिए माँग में कमी होगी, किन्तु अनिवार्य और आरामदायक वस्तुओं के लिए माग बढ़ जायेगी।

(३) **उपभोक्ताओं का अनुराग**—जिस वस्तु के प्रति उपभोक्ताओं का अनुराग (Preference) बढ़ेगा उसकी माग भी बढ जायेगी और जिस वस्तु के प्रति उनका अनुराग घटेगा उसकी माँग कम हो जायेगी। उदाहरणार्थ, फैशन में परिवर्तन होने से धोती-कुर्ते के प्रति उपभोक्ताओं का अनुराग कम होकर पैंट-बुशर्ट के प्रति बढ रहा है, जिस कारण माँग में भी तदनुसार घटा-बढी हो गई है।

(४) **जलवायु और मौसम**—गर्मी मे ठण्डे पेय पदार्थों की माँग बढ जाती है किन्तु सर्दी मे घट जाती है।

(५) **जनसंख्या**—जनसंख्या में वृद्धि होने पर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के लिए माँग बढ जाती है।

(६) **वस्तु विशेष की कीमत**—कीमत के घटने पर माँग मे कमी और कीमत के बढने पर माँग मे वृद्धि हो जाती है।

(७) **भविष्य के कीमत-अनुमान**—यदि भविष्य मे वस्तु की कीमत और अधिक बढने की आशा की जाती है, तो वर्तमान में उसके लिए माँग बढ़ेगी। इसके विपरीत, यदि भविष्य मे कीमत के घटने की आशा हो, तो उसके लिए माँग घटेगी।

(८) **सम्बद्ध वस्तुओं की कीमतें**—सम्बद्ध वस्तुयें या तो स्थानापन्न होती हैं अथवा पूरक। स्थानापन्न वस्तुओं की कीमतें बढने पर वस्तु विशेष के लिए माँग बढ जायेगी और कीमतें घटने पर वस्तु विशेष के लिए माँग घट जायेगी। पूरक वस्तुओं के कीमत परिवर्तनों का वस्तु विशेष की माग पर विपरीत दिखाई प्रभाव होता है। जैसे—स्याही महँगी होने पर स्याही के लिए माँग कम हो जायेगी और चूँकि स्याही का प्रयोग फाउन्टेनपैन के साथ होता है इसलिए फाउन्टेनपैन की माँग भी कम हो जायेगी।

(९) **द्रव्य की मात्रा**—मुद्रा का प्रसार होने पर लोगों की क्रय-शक्ति बढ जाती है तथा वस्तुओं के लिए माँग मे भी वृद्धि हो जाती है। किन्तु मुद्रा का संकुचन होने पर लोगों की क्रयशक्ति घट जाती है, जिस कारण वस्तुओं के लिए माग मे भी कमी हो जाती है।

(१०) **व्यापार की दशा**—यदि व्यापारिक प्रतिबन्ध हटा लिये जाये, तो वस्तु की माँग मे वृद्धि होती है, और यदि प्रतिबन्ध लगा दिये जाये, तो वस्तु की माँग घट जाती है। इसी प्रकार, व्यावसायिक तेजी के काल मे वस्तुओं के लिए माँग बढती है, किन्तु व्यावसायिक मन्दी के काल मे वह घटती है।

परीक्षा प्रश्न :

१. 'माग के नियम' से क्या आशय है ? इसे चित्रों और तालिकाओं की सहायता से पूर्णत: समझाइये।

[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम माँग के नियम का कथन दीजिये और इसकी क्रियाशीलता के बुनियादी कारण देकर व्याख्या कीजिए। तत्पश्चात् उदाहरण, चित्र और तालिकायें देकर नियम को समझाइये और अन्त मे नियम के अपवाद संक्षिप्त मे दीजिए।]

२. मांग के नियम को बताइये। उपयोगिता ह्रास नियम और मांग के नियम मे सम्बन्ध का विवेचन कीजिए।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम मांग के नियम का कथन दीजिए और उदाहरण, चित्र व तालिका देकर इसकी व्याख्या कीजिए। तत्पश्चात् इसकी क्रियाशीलता के बुनियादी कारणो को दीजिए किन्तु इनमे से उपयोगिता ह्रास नियम वाला कारण सबसे अन्त मे दीजिए, जिससे कि मांग के नियम के साथ इसके सम्बन्ध को प्रमुखता मिल जाय।

३. मांग के नियम को समझाइये और ग्रिफिन के विरोधाभास की व्याख्या कीजिये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम मांग के नियम का कथन दीजिये और इसकी क्रियाशीलता के कारणो को बताइये। तत्पश्चात् ग्रिफिन के विरोधाभास अर्थात् मांग के नियम के अपवादों का विवेचन करिये।]

४. प्रायः मांग रेखायें दायें को नीचे की ओर क्यो झुकती हैं ? इसके अपवाद बताइये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम मांग-रेखा के अर्थ को बताइये। तत्पश्चात् यह बताइये कि मांग-रेखायें दायें को नीचे की ओर क्यो झुकती हैं अर्थात् मांग के नियम की कार्यशीलता के कारणो को बताइये। अन्त मे, यह स्पष्ट कीजिए कि मांग-रेखा के अन्य रूप भी हो सकते हैं अर्थात् मांग के नियम के अपवाद दीजिए।]

५. "मांग मे वृद्धि" और "मांग मे विस्तार" के बीच अन्तर को स्पष्ट कीजिए। क्या तटस्थता वक्र रेखाओ से मांग-रेखा निकाली जा सकती है ?

[सहायक संकेत —सर्वप्रथम मांग मे वृद्धि और मांग मे विस्तार के अर्थों को बताइये और रेखाचित्र देकर इसके अन्तर को स्पष्ट कीजिये। अन्त मे तटस्थता वक्र रेखाओ की सहायता से मांग-रेखा निकालिये।]

६ 'मांग मे वृद्धि और मांग मे विस्तार' तथा 'मांग मे कमी और मांग मे सकुचन' का अन्तर बताइये। किन परिस्थितियो मे मूल्यो मे वृद्धि के साथ-साथ मांग मे वृद्धि होती है ?

[सहायक सकेत :—सर्वप्रथम 'मांग मे वृद्धि' और 'मांग में विस्तार' के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। तत्पश्चात् 'मांग मे कमी' और 'मांग के सकुचन' के अन्तर को समझाइये। साथ मे प्रत्येक के लिए रेखाचित्र दीजिये। अन्त मे, मांग के नियम के अपवाद (हीन वस्तुओ के अतिरिक्त) लिखिये।]

१६

माँग की लोच

(Elasticity of Demand)

प्रारम्भिक—

किसी वस्तु के लिए माँग की मात्रा अनेक बातो पर निर्भर होती है, मुख्यतया (i) वस्तु की कीमत, (ii) लोगो की आय, (iii) सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतो और (iv) उपभोक्ताओं की रुचियो और आदतो पर। यदि इन चारों मे से किसी भी एक कारक मे परिवर्तन होता है, तो वस्तु की माँग की मात्रा मे भी परिवर्तन हो जाते हैं। परन्तु हम यह देखेंगे कि इन कारकों के परिवर्तन के फलस्वरूप सभी वस्तुओं की माँग की मात्रा मे समान रूप मे परिवर्तन नही होते। कुछ वस्तुएं ऐसी हैं कि किसी भी एक कारक मे थोडा-सा भी परिवर्तन हो जाने से उनकी माँग मे बहुत अधिक परिवर्तन हो जाता है। दूसरी ओर, कुछ वस्तुये ऐसी भी है जिनकी माँग पर इन कारको के बहुत परिवर्तन का लगभग कोई भी प्रभाव नही पडता। विभिन्न कारकों के परिवर्तन के फलस्वरूप माँग के बदलने की प्रवृत्ति को माँग को लोच कहा जाता है।

माँग की लोच का अर्थ

उल्लेखनीय है कि लोच को समझाने के लिये माँग-परिवर्तनो को प्रायः वस्तु की कीमत के परिवर्तनों से सम्बन्धित किया जाता है। मार्शल का अनुकरण करते हुये अनेक अर्थशास्त्रियों ने माँग की लोच को उन परिवर्तनो से सम्बन्धित किया है जो कीमत के घटने-बढने से माँग की मात्रा मे उत्पन्न होते है। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार की लोच केवल एक विशेष प्रकार की लोच होती है जिसे अर्थशास्त्र मे **माँग की कीमत लोच** (Price Elasticity of Demand) का नाम दिया जाता है। मार्शल के अनुसार, "*माँग की लोच (अथवा माँग की सवेदनशीलता)* किसी बाजार में इसके अनुसार कम या अधिक होती है कि कीमत में एक दी हुई घटत के फलस्वरूप माँग की मात्रा मे कम या अधिक वृद्धि होती है और कि कीमत मे एक दी हुई वृद्धि के फलस्वरूप माँग की मात्रा मे कम या अधिक कमी होती है।"[1] *इसी विचार को* **बिग्ज और जॉर्डन** *ने कुछ बदली हुई भाषा मे इस प्रकार रखा है,* "कीमत मे अल्प परिवर्तनो तथा इनके फलस्वरूप माँग की मात्रा मे होने वाले परिवर्तनों का पारस्परिक सम्बन्ध ही माँग की लोच कहलाता है। अधिक औपचारिक भाषा में, माँग की लोच, माँग की मात्रा के प्रतिशत परिवर्तनो और कीमत के प्रतिशत

---

[1] "The elasticity *(or responsiveness of demand)* in a market is great or small according to the amount demanded increases much or little for a *given fall* in price, and diminishes much or little for a given rise in price."

—**Marshall** : *Principles of Economics*, p. 87.

परिवर्तनों का अनुपात है।"[1] और भी अधिक स्पष्ट भाषा में **केरनक्रास** इस प्रकार बताते हैं, "किसी वस्तु के लिए माँग की लोच वह दर है जिस पर, कीमत के बदलने के फलस्वरूप, यदि अन्य बातें यथास्थिर रहें, तो उसकी माँग की मात्रा बदलती है।"[2] इसी प्रकार, **बेनहाम (Benham)** का कहना है कि, "यह विचार कीमत के एक छोटे से परिवर्तन के माँग की मात्रा पर पड़ने वाले प्रभाव से सम्बन्धित है।"[3] इस प्रकार, **माँग की लोच** केवल किसी वस्तु की माँग के परिवर्तन के वेग अथवा उसकी गति को सूचित करती है। अर्थात् यह बताती है कि कीमत के घटने-बढ़ने से माँग कितनी तेजी से बढ़ती-घटती है। अथवा यों कहें कि कीमत और माँग के परिवर्तन की पारस्परिक घनिष्ठता का आभास कराती है।

माँग की लोच की गणितात्मक परिभाषायें भी दी गई है, यथा—**(१) प्रो० बोल्डिंग** (Boulding) : "किसी वस्तु की कीमत में एक प्रतिशत परिवर्तन होने के फलस्वरूप उस वस्तु की माँग में जो प्रतिशत परिवर्तन होता है उसे माग की लोच कहते है।"[4] **(२) श्रीमती रोबिन्सन** (Robinson) "एक विशेष कीमत या उपज की मात्रा पर माँग की लोच पर, कीमत मे एक थोड़े से परिवर्तन के परिणामस्वरूप खरीदी गई मात्रा के आनुपातिक परिवर्तन को कीमत के आनुपातिक परिवर्तन से भाग देने पर प्राप्त होती है।"[5]

स्मरण रहे कि माँग की लोच के अन्तर्गत हम **माँग के उस परिवर्तन पर ही विचार करते हैं जो कि कीमत के अल्प परिवर्तन के** फलस्वरूप होता है, कीमत के अधिक परिवर्तन के फलस्वरूप माँग में होने वाले परिवर्तनों पर नहीं, क्योंकि उसमे सटोरियों का प्रभाव अधिक रहता है। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि **माँग के उस परिवर्तन को ही विचार में लाया जाय जोकि अल्प समय के लिये हो,** क्योंकि दीर्घकाल में जो परिवर्तन दिखाई देता है उस पर मूल्य के परिवर्तन का ही नहीं, वरन् बदलती हुई इच्छाओं रीति-रिवाजों आदि का भी प्रभाव पड़ता है।

माँग की लोच के भेद

यदि हम रुचियों, आदतों और फैशनों के प्रभाव पर विचार न करें (और न करना उचित ही होगा क्योंकि इन सबके परिवर्तन उपभोक्ता के अनुराग को पूर्णतया बदल देते हैं, जिससे कि वह एक पूर्णतया नया उपभोक्ता बन जाता है), तो हम शेष तीनों कारकों के परिवर्तनों

---

1 "The relationship between small changes in price and consequent changes in the amounts of demand is known as elasticity of demand More formally, demand elasticity is defined as the ratio between the percentage changes in the quantity demanded and the percentage change in price" —**Briggs and Jordon** : *Textbook of Economics*, p 43.

2 "The Elasticity of Demand for a commodity is the rate at which the quantity bought changes as the price changes"—**A Cairncross** : *Introduction to Economics*, p 156.

3 "This concept relates to the effect of a small change in the price upon the amount demanded"—**Benham** *Economics*, p 48

4 "The elasticity of demand may be defined as the percentage change in the quantity demanded which would result from one percent change in price."—**Boulding.**

5 "The elasticity of demand, at any price or at any output, is the proportional change of amount purchased in response to a small change in price, divided by the proportional change of price."—**Mrs Joan Robinson**

का माँग पर पड़ने वाला प्रभाव अलग-अलग करके अध्ययन कर सकते है। इनके फलस्वरूप माँग की लोच के तीन प्रकार हो जाते है जिनके नाम निम्न प्रकार है :—

(१) माँग की कीमत लोच (*Price elasticity*)—

इस लोच की कुछ परिभाषाएँ हम पहिले ही दे चुके है। यह लोच उस दर अथवा गति को दिखाती है जिस पर, वस्तु की कीमतों के परिवर्तनो के फलस्वरूप, माँग की मात्रा मे परिवर्तन होते है। गणित की सरल भाषा मे इसे हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :—

$$e_p = \frac{\%\ \text{Change in the quantity demanded}}{\%\ \text{Change in the Price}}$$

$$= \frac{\text{वस्तु की माँग की मात्रा मे प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{वस्तु की कीमत मे प्रतिशत परिवर्तन}}$$

किसी वस्तु की माँग कीमत के एक दिये हुए अल्प परिवर्तन के फलस्वरूप कितनी तेजी के साथ घटती-बढ़ती है उसकी दर अलग-अलग वस्तुओ के लिये अलग-अलग होती है। इस दर मे अलग-अलग व्यक्तियो तथा अलग-अलग कालो की दृष्टियो से भी अन्तर होगे। इस प्रकार, अलग-अलग परिस्थितियो मे माँग की लोच अलग-अलग होती है। अर्थशास्त्रियो ने माँग की लोच के ५ अंश बताये है और इस आधार पर माँग को ५ प्रकार का बताया है—

(१) पूर्ण लोचदार माँग—उस दशा मे माँग पूर्णतया लोचदार होती है जबकि कीमत की थोड़ी-सी कमी से ही माँग की मात्रा मे अपरिमित वृद्धि हो जाती है तथा कीमत के थोडा-सा बढने पर ही माँग घटकर शून्य पर पहुँच जाती है। रेखाचित्र मे ऐसी माँग को एक ऐसी रेखा द्वारा दिखाया जाता है जो कि X-axis के समानान्तर हो। वास्तविक जीवन मे ऐसी माँग काल्पनिक (Hypothetical) है। चूँकि ऐसी दशा में कीमत मे शून्य परिवर्तन के होने पर माँग मे अनन्त (infinity) परिवर्तन हो जाते हैं इसलिए इसे गणित की भाषा मे $e = \infty$ द्वारा प्रकट करते हैं।

(२) पूर्णतया बेलोच माँग—माँग उस दशा मे पूर्णतया बेलोच होती है जबकि कीमत के थोडा-बहुत घटने-बढ़ने का माँग की मात्रा पर कुछ भी प्रभाव नही पडता। गणित की भाषा मे, जब कीमत मे अपरिमित परिवर्तन होता है तो माँग की मात्रा का परिवर्तन शून्य के बराबर होता है। इस प्रकार की माँग को एक ऐसी रेखा द्वारा दिखाया जाता है जो Y-axis के समानान्तर होती है। गणित की भाषा मे इसे $e = 0$ द्वारा व्यक्त करते है। यह स्थिति भी काल्पनिक है।

(३) अधिक लोचदार माँग—*माँग उस दशा मे अधिक लोचदार होती है* जबकि कीमत के एक निश्चित परिवर्तन के फलस्वरूप माँग की मात्रा मे अनुपात से अधिक परिवर्तन हो जाते है, जैसे—यदि कीमत मे १० प्रतिशत का परिवर्तन होता है, तो माँग की मात्रा मे १० प्रतिशत से अधिक का परिवर्तन होता है। ऐसे माँग की रेखा Y-axis के साथ ४५° से अधिक (परन्तु ६०° से कम) का कोण बनाती है। ऐसी वस्तु की माँग की लोच को गणित की भाषा मे $e > 1$ द्वारा सूचित करते है। प्रायः विलास की वस्तुओ (जैसे—टाई, मोटरकार) की माँग मे अत्यधिक लोच पाई जाती है।

(४) कम लोचदार माँग—उस दशा मे माँग कम लोचदार होती है अथवा बेलोच होती है जबकि कीमत के एक निश्चित परिवर्तन के फलस्वरूप माँग की मात्रा मे अनुपात से कम परिवर्तन होते हैं, जैसे—यदि कीमत मे १०% का परिवर्तन होता है, तो माँग की मात्रा मे १०% से कम का परिवर्तन होता है। ऐसी माँग एक ऐसी रेखा द्वारा दिखाई जाती है जो नीचे

को गिरता है और Y-axis के साथ एक ऐसा कोण बनाती है जिसका मूल्य ०° से अधिक परन्तु ४५° से कम हो। ऐसी वस्तु की माँग की लोच को गणित की भाषा मे $e<1$ द्वारा सूचित करते हैं। प्रायः अनिवार्य वस्तुओ (जैसे—नमक, अनाज) की माँग कम लोचदार हुआ करती है।

(५) औसत लोचदार माँग—औसत लोचदार माँग उस दशा मे होती है जबकि माँग की मात्रा मे कीमत के परिवर्तनो के अनुपात मे परिवर्तन हो जाते हैं, जैसे—यदि कीमत मे १०% का परिवर्तन होता है तो माँग की मात्रा मे भी १०% का ही परिवर्तन होगा। ऐसी माँग उस रेखा द्वारा दिखाई जायेगी जो ऊपर से नीचे जाते हुए Y-axis के साथ ४५° का कोण बनाती है। ऐसी वस्तु की माँग की लोच को गणित की भाषा में $e=1$ द्वारा सूचित किया जाता है। प्रायः आरामदायक वस्तुओ (जैसे—घडी, साइकिल, इलेक्ट्रिक फैन) की माँग औसत लोचदार होती है। नीचे के चित्र मे यह पाँचो प्रकार की माँग दिखाई गई हैं :—

VARIATIONS IN PRICE ELASTICITY OF DEMAND
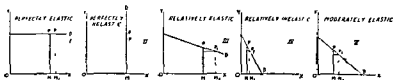
चित्र—माँग की कीमत-लोच के उप-भेद

ऊपर के पाँचो चित्रो मे से D माँग की रेखा है, PM आरम्भिक कीमत है और OM इस कीमत पर माँग की मात्रा है। **प्रथम चित्र में**, कीमत PM से घटकर P_1M_1 हो जाती है, (कीमत की घटत शून्य के बराबर है), परन्तु माँग की मात्रा OM से बढकर OM_1 हो जाती है। **दूसरे चित्र में**, जब कीमत PM से घटकर P_1M रह जाती है, तो भी माँग की मात्रा OM ही रहती है (पूर्णतया बेलोच माँग)। **तीसरे चित्र में**, जबकि कीमत PM से घटकर P_1M_1 हो जाती है तो माँग की मात्रा OM से बढ़कर OM_1 हो जाती है। यह चित्र साफ दिखाता है कि कीमत के घटने के अनुपात मे माँग की वृद्धि अधिक है। **चौथे चित्र में**, जब कीमत PM से घटकर P_1M_1 हो जाती है तो माँग मे वृद्धि तो अवश्य होती है। परन्तु कीमत के अनुपात में कम तेजी के साथ। **पाँचवें चित्र में**, जब कीमत PM से घटकर P_1M_1 होती है तो माँग की मात्रा भी ठीक इसी अनुपात मे बढ जाती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमे से प्रथम दो प्रकार की माँग सीमान्त अथवा सैद्धान्तिक दशाओ को दिखाती हैं। शेष तीनो प्रकार की माँगें वास्तविक जीवन में देखी जा सकती हैं।

उपरोक्त दशाओ मे हमने माँग की लोच की समस्या को बहुत ही सरल बना दिया है, क्योकि हमने माँग की रेखाओ को ऐसी सरल रेखायें बनाया है जो एक नियमित गति से ढलती हैं। पूर्णतया लोचदार, पूर्णतया बेलोच तथा साधारण लोचदार माँग की रेखायें सरल रेखायें होती भी हैं, परन्तु अन्य दो प्रकार की माँगो की रेखायें वक्रों के रूप मे हो सकती हैं और यह आवश्यक नही है कि इन वक्रो का प्रत्येक बिन्दु माँग की लोच के समान अश को दिखाये। माँग की रेखाएँ ऐसी भी हो सकती हैं जो कुछ दूर तक X-axis के समानान्तर हों, कुछ दूर तक Y-axis के, कही पर Y-axis से ४५° का कोण बनायें और कही पर इससे कम या अधिक अश का।

(२) माँग की आय-लोच (Income Elasticity)—

माँग की आय-लोच वह दर अथवा गति है जिस पर उपभोक्ता अथवा क्रेता की आय के परिवर्तनों के कारण माँग की मात्रा मे परिवर्तन होते हैं। सामान्य सिद्धान्त यह है कि, यदि

अन्य बातें यथास्थिर रहें तो क्रेता की आय में वृद्धि के फलस्वरूप वस्तु की माँग बढ़ जायगी और आय के घटने से वस्तु की माँग घट जाएगी। गणित के सूत्र के रूप में :—

$$e_I = \frac{\%\ \text{change in the quantity demanded}}{\%\ \text{change in income}}$$

$$= \frac{\text{माँग की मात्रा में \% परिवर्तन}}{\text{आय में \% परिवर्तन}}$$

बोल्डिंग के अनुसार—"माँग की आय-लोच की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह माग की मात्रा का वह प्रतिशत परिवर्तन है जो मौद्रिक आय के १% परिवर्तन से यदि अन्य मात्राएं और कीमतें यथास्थिर रहें, उत्पन्न होता है।"[1] आय के एक निश्चित प्रतिशत से माँग की मात्रा जिस अंश तक प्रभावित होती है उसे ही माँग की आय-लोच कहते हैं। दूसरे शब्दों में, माँग की आय-लोच माँग की मात्रा के अनुपाती परिवर्तन में आय के अनुपाती परिवर्तनों से भाग देकर प्राप्त किया जा सकता है। एक सामान्य नियम के रूप में हम पहले ही बता चुके हैं कि माँग की मात्रा के परिवर्तन ठीक उसी दिशा में होते हैं जिस दिशा में कि आय के परिवर्तन। हीन वस्तुओं की माँग इसका अपवाद है जहाँ आय के बढ़ने पर माँग घटती है। इसी कारण आय-लोच साधारणतया धनात्मक होती है परन्तु कुछ विशेष दशाओं में वह ऋणात्मक भी हो सकती है।

(३) माँग की पारस्परिक, आड़ी अथवा प्रतिस्थापन लोच (Cross Elasticity)—

किसी वस्तु विशेष के लिये माँग की पारस्परिक लोच वह दर है जिस पर कि उस वस्तु की माँग की मात्रा में किसी अन्य सम्बन्धित वस्तु (Related goods) की कीमत में परिवर्तन होने के फलस्वरूप घट-बढ़ होती है। उदाहरणस्वरूप, वस्तु A के लिए माँग की प्रतिस्थापन लोच किसी सम्बन्धित वस्तु B के सन्दर्भ में, वस्तु A की माँगी गई मात्रा में हुए प्रतिशत परिवर्तन में, B की कीमत के प्रतिशत परिवर्तन से भाग देकर, निकाली जाती है। गणित के अनुसार :—

$$e_e = \frac{\%\ \text{change in the quantity demanded of A}}{\%\ \text{change in the price of commodity B}}$$

$$= \frac{\text{वस्तु A की माँग की मात्रा में \% परिवर्तन}}{\text{वस्तु B की कीमत में \% परिवर्तन}}$$

ऋणात्मक एवं धनात्मक प्रतिस्थापन लोच—वस्तुयें एक दूसरे से तीन प्रकार सम्बन्धित हो सकती हैं :—(अ) वे किसी एक ही क्रिया की सम्मिलित उपजें हो सकती हैं, जैसे—बिनौला और रुई, (ब) दो वस्तुयें एक-दूसरे की पूरक हो सकती हैं जिस दशा में किसी एक आवश्यकता को पूरा करने के लिए दोनों की एक साथ आवश्यकता पड़ती है, जैसे—कलम और स्याही, तथा कार और पैट्रोल, और (स) दो वस्तुयें एक-दूसरे की स्थानापन्न हो सकती हैं जिस दशा में एक को दूसरी के स्थान पर उपयोग किया जा सकता है, जैसे—चाय और कॉफी। प्रतिस्थापन की लोच की दृष्टि से इनमें से प्रथम प्रकार का सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण नहीं है परन्तु शेष दो दशाओं में इस लोच की समस्या उठती है।

---

[1] "........the income elasticity of demand may be defined as the percentage change in the quantity demanded which would result from a 1 percent change in money income, other quantities, prices and the like being held constant."—Boulding : *Economic Analysis*, p 136.

यदि दो वस्तुयें एक-दूसरे की पूरक हैं, तो उनमें से एक की कीमत बढ़ जाने पर दूसरी भी कम मात्रा मे खरीदी जायेगी। इसके विपरीत, यदि दो वस्तुये एक-दूसरे की स्थानापन्न हैं, तो एक की कीमत बढ़ जाने पर साधारणतया दूसरी अधिक मात्रा मे खरीदी जाती है। अतः साधारणतया पूरक वस्तुओ मे एक वस्तु की माँग मे दूसरी वस्तु की कीमत की विरोधी दशा में परिवर्तन होते है। यही कारण है कि प्रतिस्थापन लोच पूरक वस्तुओ के लिये ऋणात्मक (Negative) होती है। इसके विपरीत, एक प्रतियोगी वस्तु की माँग मे ठीक उसी दिशा मे परिवर्तन होते हैं, जिस दिशा मे उसके स्थानापन्न की कीमत मे परिवर्तन होते हैं। इस प्रकार स्थानापन्नो के बीच माँग की प्रतिस्थापन लोच धनात्मक (Positive) होती है।

उदाहरण—मान लीजिए कि चाय की कीमत मे १०% वृद्धि हो गई है, जिस कारण कॉफी की माँग की मात्रा मे ५% वृद्धि होती है। ऐसी दशा में माँग की प्रतिस्थापन लोच $\frac{५}{१०}$ अथवा ०·५ होगी। अब हम पूरक वस्तुओ का उदाहरण लेते हैं। मान लीजिये कि कलम की कीमत मे १५ प्रतिशत की वृद्धि होती है और इसके फलस्वरूप स्याही की माँग की मात्रा मे ५ प्रतिशत की कमी आ जाती है, तो माँग की प्रतिस्थापन लोच ($-\frac{५}{१५}$) अथवा ($-\frac{१}{३}$) अथवा ०·३३३।

वोल्डिंग के शब्दो मे, "..........B वस्तु के सन्दर्भ मे A वस्तु के लिए माँग प्रतिस्थापन लोच A वस्तु की माँगी गई मात्रा मे वह वृद्धि है जो B वस्तु की कीमत के १ प्रतिशत परिवर्तन से, अन्य सभी बातें यथास्थिर रहते हुए, उत्पन्न होनी है।"[1]

माँग की लोच को मापने की रीतियाँ

'बहुत अधिक', 'औसत दर्जे की', तथा 'बहुत कम' केवल अनुमानजनक शब्द हैं। इनमे निश्चितता नही हैं, इसीलिए ऊपर दी हुई रीति से हम केवल माँग की लोच का अनुमान ही लगा सकते हैं। अर्थात् हम केवल यह पता लगा सकते हैं कि अमुक वस्तु की माँग किस प्रकार की लोचदार है। किन्तु निश्चय के साथ यह नहीं कह सकते हैं कि उस वस्तु की माँग की लोच कितनी है। दूसरे शब्दो में, हम यह तो जान सकते हैं कि माँग लोचदार है या नहीं, किन्तु यह पता नहीं लगा सकते कि माँग की लोच का अंश (Degree) क्या है।

(I) कुल व्यय-रीति—

इस अनिश्चितता को दूर करने तथा यह दिखाने के लिए कि लोच का अश क्या है, मार्शल ने लोच के नापने मे एक विशेष रीति अपनाई है। उन्होंने बताया है कि माँग की लोच की अधिक सही माप करने के लिए अलग-अलग कीमतों पर उस वस्तु पर व्यय किए गए कुल धन की मात्रा का अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार के धन की मात्रा माँग को कीमत से गुणा करने पर ज्ञात हो जाती है।

(१) माँग की लोच 'सम' के बराबर—उनका मत है कि कीमत के घटने-बढ़ने पर भी यदि इस प्रकार का गुणनफल एक-सा ही रहे तो माँग की लोच को "सम" (Unity) मान लेना चाहिए।[2] इसका अर्थ यह होता है कि दाम या कीमत मे चाहे जो परिवर्तन हुआ हो, परन्तु

---

1 "......the cross elasticity of demand for commodity A with reference to commodity B is the percentage change in the quantity of A demanded which would result from 1 percent change in the price of B, all other factors being held constant."—*Ibid*

2 "Elasticity of demand is unity when the amount demanded at a price multiplied by the price remains constant."—Marshall

वस्तु पर व्यय की गई कुल धन राशि यथास्थिर ही रहती है। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

मान लीजिए कि किसी बाजार में चाय की कीमत ५ रुपया प्रति किलोग्राम है और मांग ४०० किलोग्राम है तो इस दशा में चाय पर व्यय की हुई कुल राशि=४००×५= २,००० रुपये होगी। यदि चाय की कीमत घटकर ४ रुपया किलो हो जाती है, मांग ५०० किलोग्राम होती है। इस दशा में चाय पर व्यय की हुई कुल राशि =५००×४=२,००० रुपये होगी।

इससे यह ज्ञात होता है कि कीमत के ५ रुपया किलो से घटकर ४ रुपया किलो हो जाने से चाय की मांग तो अवश्य बढ़ी, क्योंकि वह ४०० किलो के स्थान पर ५०० किलो हो गई, किन्तु चाय पर व्यय की गई कुल राशि में कोई अन्तर नहीं हुआ। इस दशा में चाय की मांग की लोच को सम (Unity) या १ के बराबर कहा जायेगा। मांग की लोच का अंश नीचे की कुल राशि को ऊपर की कुल राशि से भाग देने पर प्राप्त हो जाता है। यहाँ पर यह $\frac{२,०००}{२,०००}$=१ है।

(२) मांग की लोच 'सम' से अधिक—अब हम एक दूसरे उदाहरण द्वारा यह देखेंगे कि लोचदार मांग कैसी होती है। यह निश्चय है कि यदि मांग की लोच का अंश १ से अधिक हो, तो मांग लोचदार होगी, क्योंकि औसत दरजे की लोचदार मांग की माप को हम सम (Unity) के बराबर मानते हैं। अब यदि कोई वस्तु ऐसी है कि—

जब इसके दाम ५ रुपया प्रति इकाई है, तो मांग है ४०० इकाई, अतः उस पर कुल व्यय=२,००० रुपया है।

जब उसके दाम ४ रुपये प्रति इकाई है तो मांग है ६०० इकाई, अतः उस पर कुल व्यय=२,४०० रुपया है।

यहाँ कीमत के घटने से केवल मांग की मात्रा ही नहीं बढ़ती, वरन् उस वस्तु पर व्यय की गई कुल राशि भी बढ़ जाती है। इस दिशा में मांग की लोच का अंश अधिक होगा।[1]

इस उदाहरण में मांग की लोच $=\frac{२,४००}{२,०००}=१\cdot२$ है।

इस प्रकार यह १ से अधिक है अर्थात् मांग अधिक लोचदार है।

(३) मांग की लोच 'सम' से कम—मांग की लोच का अंश १ से कम भी हो सकता है। इस प्रकार की मांग "बेलोच मांग" कहलाती है। इसका उदाहरण नीचे दिया जा रहा है। मान लीजिए कि कोई वस्तु ऐसी है कि—

जब उसकी कीमत ५ रुपया प्रति इकाई है, तो उसकी मांग है ४०० इकाई अतः उस पर व्यय की गई कुल राशि=२,००० रुपया।

जब उसकी कीमत ४ रुपया प्रति इकाई है, तो मांग है ४२५ इकाई, अतः उस पर व्यय की गई कुल राशि=१,७०० रुपया।

इस दिशा में हम देखते हैं कि यद्यपि कीमत के गिरने से इस वस्तु की मांग में वृद्धि

---

[1] "The Elasticity of Demand will be greater than unity when a small fall in price will lead to a large increase in demand so that the total sum spent on the commodity increases and *vice versa*"—Marshall.

तो हुई, किन्तु यह वृद्धि इतनी कम है कि व्यय की गई कुल राशि उल्टी घट गई है। ऐसी मांग बेलोचदार होती है। यहाँ मांग की लोच की माप $=\frac{१,७००}{२,०००}=$ ·८५ है। दूसरे शब्दो मे, मांग की लोच का अश १ से कम है।[1]
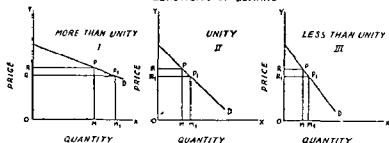
चित्र—माग की लोच के माप की कुल व्यय रीति

उपर्युक्त प्रत्येक चित्र मे D मांग की रेखा, PM आरम्भिक कीमत और OM उस कीमत पर मांग की मात्रा है, और, इस प्रकार, कुल व्यय OM×PM=ROMP है। जब कीमत घटकर P_1M_1 हो जाती है, तो मांग बढकर OM_1 हो जाती है और कुल व्यय $R_1OM_1P_1$ है। हम यह देखेगे कि चित्र अ मे $R_1OM_1P_1 > ROMP$, चित्र ब मे $R_1OM_1P_1 = ROMP$ और चित्र स मे $R_1OM_1P_1 < ROMP$।

मांग की लोच को नापने की मार्शल-पद्धति से हमे यह पता चल जाता है कि मांग किस अश तक लोचदार है। इस रीति में यह गुण सर्वप्रधान है कि यह बहुत सरल है और इसमे गणित के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नही पडती है। कीमत के बढने का उदाहरण लेकर भी मांग की लोच इसी रीति से नापी जा सकती है। अन्तर केवल इतना होता है कि दाम के घटने की दशा मे नीचे की कुल राशि के ऊपर की कुल व्यय की राशि से भाग देकर लोच का अश निकलता है, जबकि कीमत बढने की दशा मे इसके विपरीत ऊपर के कुल व्यय की राशि को नीचे की कुल व्यय की राशि से भाग देना पडता है।

संक्षेप में, मार्शल की रीति का आशय यह है कि यदि मांग मे परिवर्तन दाम के परिवर्तन के आनुपातिक (Proportionate) हो, तो मांग की लोच सम होगी, यदि अनुपात से अधिक हो, तो मांग की लोच सम से अधिक होगी, और, यदि अनुपात से कम हो, तो मांग की लोच की माप १ से कम होगी, अर्थात् मांग बेलोच होगी।

(II) आनुपातिक या प्रतिशत रीति—

इस रीति[2] के अनुसार हम कीमत के आनुपातिक परिवर्तन की मांग के आनुपातिक

---

[1] "The Elasticity of Demand is less than unity when a small fall in price will lead to such a small increase in demand so that the total sum spent on the commodity decreases and *vice versa*"—Marshall

[2] "If the price rises by 50% and the demand decreases by 50% E is unity. If it decreases by more than 50, it is greater than unity, if it increases by less than 50% it is less than unity."—K. K. Dewett · *Modern Economic Theory*, p. 82.

परिवर्तन से तुलना करते हैं। यदि किसी वस्तु के दाम २५% बढ़ते हैं और इससे उसकी माँग २५% कम हो जाती है तो इस दशा में माँग की लोच सम के बराबर होगी। किन्तु, यदि माँग २५% से अधिक घट जाती है, तो लोच सम से अधिक होती है। इसी प्रकार, यदि माँग २५% से कम घटती है, तो लोच सम से कम होगी। इस बात को हम निम्नलिखित रीति से स्पष्ट कर सकते हैं :—

$$c = \frac{\text{माँग मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}} = \frac{\dfrac{\text{माँग मे परिवर्तन}}{\text{माँग की पूर्व मात्रा}}}{\dfrac{\text{कीमत मे परिवर्तन}}{\text{पूर्व कीमत}}} = \frac{\dfrac{\Delta q}{q}}{\dfrac{\Delta p}{p}}$$

जिसमे

Δ (डेल्टा)=सूक्ष्म परिवर्तन

Δq=माँग मे सूक्ष्म परिवर्तन

q= माँग की पूर्व मात्रा

Δp=कीमत में सूक्ष्म परिवर्तन

p=पूर्व कीमत

उदाहरण—मान लीजिए कि हम एक तालिका द्वारा तीन प्रकार की दशाओं को दिखाते है जिनमे कीमत के समान परिवर्तन का अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। तालिका निम्न प्रकार हो सकती है :—

चाय की माँग के परिवर्तन

	चाय की कीमत प्रति किलोग्राम	चाय की माँग किलोग्राम मे
	५	६००
दशा १	४	७००
दशा २	४	७२०
दशा ३	४	६००

प्रथम दशा में कीमत मे १ रुपया की कमी हुई है जिससे माँग मे १०० किलोग्राम की वृद्धि हो गई है।

$$c = \frac{\dfrac{\Delta q}{q}}{\dfrac{\Delta p}{p}}$$

$$= \frac{१००}{६००} \div \frac{१}{५} = \frac{१०० \times ५}{६०० \times १} = \frac{५००}{६००} = \frac{५}{६} = ०\cdot८३३$$

इसी सूत्र के आधार पर दशा दो मे

मॉग की लोच $= \frac{१२०}{६००} \div \frac{१}{५} = \frac{१२० \times ५}{६०० \times १} = \frac{१}{१} = १$

दशा ३ मे मॉग की लोच $= \frac{३००}{६००} \div \frac{१}{५} = \frac{३०० \times ५}{६०० \times १} = \frac{५}{२} = २.५$

प्रथम दशा मे मॉग वेलोच है, दूसरी मे साधारण लोचदार है और तीसरी में मॉग लोचदार है । इसी बात को निम्न रेखाचित्र द्वारा भी दिखाया जा सकता है :—

इस रेखा-चित्र मे ट' ट मॉग की रेखा है । प म आरम्भ मे कीमत है जिस पर मॉग की मात्रा अ म है । मान लीजिए कि कीमत घट कर र ल हो जाती है, जिस दशा मे मॉग बढकर अ ल हो जाती है, चित्र के अनुसार मॉग का परिवर्तन (अ ल—अ म अर्थात्) म ल है । ठीक इसी प्रकार कीमत का परिवर्तन प म—र ल अर्थात् प म—स म (क्योंकि स म बराबर है र ल के) अर्थात् प स । इसी परिवर्तन को हम ख अ—ब अ अथवा च ब भी कह सकते हैं।
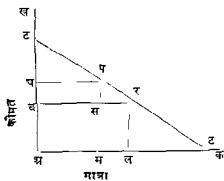
रेखा-चित्र के अनुसार मॉग की लोच $=$

$\frac{\text{मॉग की मात्रा मे अनुपाती परिवर्तन}}{\text{कीमत मे अनुपाती परिवर्तन}} = \frac{\text{म ल}}{\text{अ म}} \div \frac{\text{प स}}{\text{प म}} = \frac{\text{स र}}{\text{अ म}} \div \frac{\text{प स}}{\text{प म}}$ (क्योंकि स र, म ल के बराबर है) $= \frac{\text{स र}}{\text{अ म}} \times \frac{\text{प म}}{\text{प स}} = \frac{\text{स र}}{\text{प स}} \times \frac{\text{प म}}{\text{अ म}}$

अब क्योंकि त्रिभुज प स र और प म ट सभी प्रकार समान हैं, इसलिए $\frac{\text{स र}}{\text{प स}}$ के स्थान पर $\frac{\text{म ट}}{\text{प म}}$ को रखा जा सकता है, जिस आधार पर मॉग की लोच $= \frac{\text{म ट}}{\text{प म}} \times \frac{\text{प म}}{\text{अ म}} = \frac{\text{म ट}}{\text{अ म}}$ । यही लोच का अश निकालने की सरल रीति है यदि मॉग की रेखा अ क को काटती हो ।

इस सूत्र द्वारा मॉग की लोच को मापने मे एक कठिनाई है, जो इस कारण उदय होती है कि मॉग की मात्रा मे आनुपातिक परिवर्तन मॉग की पूर्व मात्रा पर अथवा नई मात्रा पर निकाला जा सकता है । इसी प्रकार, कीमत की मात्रा मे आनुपातिक परिवर्तन पूर्व कीमत पर अथवा नई कीमत पर निकाला जा सकता है । दोनो दशाओं मे अलग अलग परिणाम प्राप्त होगे । कुछ अर्थशास्त्रियो ने इस कठिनाई का हल यह निकाला है कि वे आनुपातिक परिवर्तन पूर्व और नई दोनो मात्राओ (या कीमतो) के औसत के आधार पर मालूम करते हैं । इस दशा मे सूत्र इस प्रकार हो जायेगा :—

$$e_p = \frac{\frac{\text{माँग की मात्रा में परिवर्तन}}{(\text{पूर्व मात्रा}+\text{नई मात्रा})/२}}{\frac{\text{कीमत में परिवर्तन}}{(\text{पूर्व कीमत}+\text{नई कीमत})/२}}$$

$$= \frac{\frac{q-q_1}{\frac{q+q_1}{2}}}{\frac{p-p_1}{\frac{p+p_1}{2}}} = \frac{\frac{q-q_1}{q+q_1}}{\frac{p-p_1}{p+p_1}}$$

जिसमे

p_1 नई कीमत और q_1 नई मात्रा है।

(III) विन्दु रीति या रेखागणित रीति—

जब माँग की रेखा सरल रेखा (Straight line) न होकर वक्र होती है, तो उस रेखा के भिन्न-भिन्न बिन्दुओं पर लोच भी भिन्न भिन्न होती है। उस दशा में किसी विशेष बिन्दु, जैसे—ट पर माँग की लोच उस बिन्दु को छूने वाली स्पर्श रेखा (Tangent) द्वारा, जोकि X axis को ज पर और Y-axis को फ पर काटती है, सूचित की जाती है।[1] इस रीति के अनुसार माँग की लोच को मालूम करने का सूत्र निम्न प्रकार है :—

$$e_p = \frac{\text{नीचे का भाग (Lower sector)}}{\text{ऊपर का भाग (Upper sector)}}$$
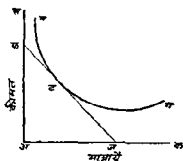
इस चित्र मे ट बिन्दु पर फ ट ज एक स्पर्श रेखा है जो अ ख को फ पर और अ क को ज पर काटती है। अतः ट बिन्दु पर माँग की लोच उपर्युक्त सूत्र के अनुसार निम्न होगी :—

$$e_p = \frac{\text{फ ट}}{\text{ट ज}}$$

यहाँ माँग की सही माप के लिए उच्च श्रेणी के गणित-ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। इस रीति से माँग की लोच निकाल कर एक निश्चित बिन्दु से सम्बन्धित माँग की लोच के अंश को किसी दूसरे बिन्दु से सम्बन्धित माँग की लोच के अंश से तुलना की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप निम्न रेखाचित्र में ट और र बिन्दुओं पर माँग की लोच का अंश अलग-अलग है :—

---

[1] For detailed study see **Benham** : *Economics*, pp 48-51.

ट बिन्दु पर माँग की लोच का अंश $\frac{\text{प ट}}{\text{म ट}}$ के बराबर है, जबकि र बिन्दु पर यह
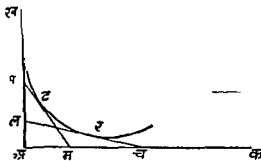
$\frac{\text{ल र}}{\text{च र}}$ के बराबर है। यह स्पष्ट है कि र बिन्दु पर माँग की लोच अधिक है, क्योंकि $\frac{\text{ल र}}{\text{च र}}$ का मूल्य $\frac{\text{प ट}}{\text{म ट}}$ से अधिक है।

बिन्दु लोच और चाप लोच

यदि माँग-रेखा के एक बिन्दु पर माँग की लोच मालूम की जाये, तो इसे 'माँग की बिन्दु लोच' (Point Elasticity of Demand) कहते हैं। बिन्दु लोच को ज्ञात करने हेतु हमें कीमतो और मात्राओ के बहुत सूक्ष्म परिवर्तनो को ध्यान मे रखना पडता है। अब तक हमने जो अध्ययन किया है वह बिन्दु लोच से ही सम्बन्धित था। किन्तु यह स्थिति वास्तविक जीवन मे सदा ही उपलब्ध नहीं होती है। जो माँग-रेखायें हमे प्राप्त होती है, वे बहुधा कीमत-परिवर्तनो और माँग की मात्रा के परिवर्तनो दोनो के ही सम्बन्ध मे लम्बे-चौड़े अन्तर छोड देती हैं। उदाहरणस्वरूप, जब हम यह कहते हैं कि ४ रुपया प्रति किलोग्राम से घट कर कीमत ३ रुपया प्रति किलोग्राम हो जाने पर माँग की मात्रा १०० किलोग्राम से बढ़कर १५० किलोग्राम हो गई है, तो इसका मतलब यह होता है कि कीमत मे २५% कमी और माँग मे ५०% वृद्धि हुई है। ऐसी दशा मे, किसी एक बिन्दु पर माँग की लोच का अनुमान लगाना कठिन होता है। अच्छा उपाय यह है कि कीमत और माँग की मात्रा दोनो के सम्बन्ध मे मध्य बिन्दु चुने जाये और माँग की लोच इन मध्य बिन्दुओ पर नापी जाय। इस प्रकार के माप को 'माँग की चाप लोच' (Arc Elasticity of Demand) कहते है। एक चाप (arc) दो बिन्दुओं के बीच माँग-रेखा का एक हिस्सा होती है। लोच निम्न सूत्र की सहायता से नापी जा सकती है —

$$e_p = \frac{\dfrac{\text{माँग की मात्रा मे परिवर्तन}}{\text{आरम्भिक मात्रा + परिवर्तन के पश्चात् मात्रा}}}{\dfrac{\text{कीमत मे परिवर्तन}}{\text{आरम्भिक कीमत + परिवर्तन के पश्चात् कीमत}}}$$

मान लीजिए कि Q और Q_1 परिवर्तन के पूर्व और परिवर्तन के पश्चात् माँगी गई मात्राओ को दिखाते हैं तथा P और P_1 परिवर्तन से पूर्व और परिवर्तन के पश्चात् कीमतो को दिखाते हैं। ऐसी दशा मे $e_p = \frac{Q-Q_1}{Q+Q_1} \div \frac{P-P_1}{P+P_1}$। अब हम ऊपर दिये हुए उदाहरण के

अनुसार वक्र-भाग लोच का पता लगायेंगे। इस उदाहरण मे Q, १०० किलोग्राम, Q_1, १५० किलोग्राम, P ४ रुपया और P_1 ३ रुपया है। अतः माँग की वक्र-भाग लोच $= \frac{१००-१५०}{१००+१५०} \div \frac{४-३}{४+३}$। यदि हम 'ऋण' (—) के चिन्ह को हटा दे, तो $e_p = \frac{५०}{२५०} \div \frac{१}{७} = \frac{५०}{२५०} \times \frac{७}{१} = \frac{७}{५} = १\cdot४$।

वक्र-भाग लोच के सम्बन्ध मे दो बातो का ध्यान में रखना आवश्यक है—प्रथम, इस प्रकार की लोच सदा औसत लोच होती है, और दूसरे, इस लोच का विचार उतना शुद्ध नही है जितना कि बिन्दु से सम्बन्धित लोच का।

माँग की लोच को प्रभावित करने वाले घटक

माँग की लोच कुछ कारणो, परिस्थितियों अथवा वस्तु विशेष के कुछ गुणो पर निर्भर होती है। कुछ परिस्थितियो मे माँग अधिक लोचदार हो जाती है और इसके विपरीत कुछ दूसरी दशाओं मे माँग की लोच कम हो जाती है। मुख्यतया यह निम्न बातो पर निर्भर होती है :—

(१) वस्तु विशेष के गुण (Nature of the commodity)—**साधारणतया माँग विलास की वस्तुओं के लिये लोचदार, आरामदायक वस्तुओं के लिये औसत दर्जे की लोचदार और आवश्यक वस्तुओं के लिए बेलोच होती है।**

(अ) आवश्यक वस्तुओं पर व्यय की राशि बहुधा निश्चित होती है। कीमत चाहे जो भी हो, ये वस्तुये हमे खरीदना ही पडती है। इन वस्तुओ मे से कुछ तो ऐसी होती है जो हमारे जीवन की रक्षा करती है तथा कुछ ऐसी जो हमारी कार्यक्षमता को बनाये रखती हैं। इनका उपभोग न करने से हमारी कार्य-शक्ति घट जाती है और हम अच्छे उत्पादक नही रहते हैं। इनकी कीमत के बढने पर भी हम इन्हे लगभग पहले जितनी मात्राओ मे ही खरीदते है। कीमत घट जाने पर भी हमारे उपयोग मे इनका महत्त्व पहले के बराबर ही रहता है।

(ब) आरामदायक वस्तुओं का उपभोग, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, हमारी कार्यक्षमता को बढाता है, किन्तु उनके उपभोग न करने पर भी हमारी कार्य-शक्ति मे कमी नही पडती, इसलिए उनकी माँग आवश्यक वस्तुओ की तुलना मे अधिक लोचदार होती है, किन्तु बहुत अधिक लोचदार नही। इनकी कीमत के घटने-बढ़ने से माँग की मात्रा मे अन्तर तो पड जाता है, किन्तु लोच प्राय औसत दर्जे की रहती है।

(स) विलास की वस्तुयें न तो हमारी कार्य-शक्ति को ही बढाती हैं और न उनके उपभोग न करने से हमारी कार्य-शक्ति घटती है। वे प्रायः अतिरिक्त (Surplus) आवश्यकताओ को पूरा करती है। यही कारण है कि इनकी कीमत में थोडा-सा परिवर्तन भी इनकी माँग को बहुत बदल देता है और इसी कारण ऐसी वस्तुओं की माँग अधिक लोचदार होती है।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि आवश्यक, आरामदायक तथा विलास सापेक्षिक (Relative) अथवा तुलनात्मक शब्द है। कोई भी वस्तु सभी के लिए आवश्यक नही होती। किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो के लिए जो विलास की वस्तु है वह दूसरों के लिए आवश्यक हो सकती है, इसलिए प्रत्येक वस्तु की माँग की लोच समाज के लिए विभिन्न प्रकार की हो सकती है।

(२) स्थानापन्न की सम्भावना (Possibilities of substitutes)—**यदि कोई वस्तु ऐसी है कि उसके बदले में अन्य वस्तुओं का उपभोग हो सकता है अथवा उसके स्थानापन्न** (Subs-

titutes) उपलब्ध हैं, तो वस्तु के लिए माँग अधिक लोचदार होगी । कीमत के बढ़ जाने से अन्य स्थानापन्न वस्तुओं का उपयोग बढ़ जायेगा और वस्तु की माँग कम हो जायेगी। इसके विपरीत, यदि ऐसी वस्तु की कीमत घट जाय, तो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा इसके सस्ता हो जाने के कारण, उन वस्तुओं के स्थान पर भी इसका उपयोग होने लगेगा और इसी कारण इसकी माँग बढ़ जायेगी।

उदाहरण के लिए चीनी और गुड बहुधा एक-दूसरे के स्थान पर काम मे लाये जा सकते है। चीनी के दामो के बढ़ने से गुड का उपयोग बढ जायेगा और चीनी की माँग मे कमी हो जायगी। मोटर सवारी के किरायो मे कमी हो जाने पर रेल मे सफर करने वालो की संख्या कम हो जाती है, क्योकि लोग मोटर में सफर करना अधिक पसन्द करने लगते है।

(३) **विभिन्न उपयोगो का होना (Several uses)—जिस वस्तु के बहुत से उपयोग हो सकते हैं, उसकी माँग अधिक लोचदार होती है।**[1] यदि कोई वस्तु कई कामों मे आ सकती है तो बहुधा उसके सारे उपयोग समान रूप मे महत्त्वपूर्ण नही होते हैं। कुछ उपयोग अधिक महत्त्व रखते हैं और कुछ कम। जब ऐसी किसी वस्तु के दाम बढ जाते हैं, तो उसके कम महत्त्वपूर्ण उपयोग छूट जाते हैं और इस प्रकार उसकी माँग मे कमी हो जाती है। इसके विपरीत, दाम घट जाने पर उपयोगो की संख्या मे वृद्धि हो जाती है और माँग तेजी के साथ बढ जाती है।

उदाहरणस्वरूप बिजली बहुत से कामो मे लाई जा सकती है। इससे हम अपने कमरो मे रोशनी करते हैं, अगीठी जलाते है, पखे चलाते हैं, कमरो को गर्म रखते हैं तथा रेफरीजिरेटर मे खाने की चीजो को ठण्डा करते हैं। इसी प्रकार के बिजली के और भी बहुत सारे उपयोग हो सकते हैं। यदि बिजली की प्रति इकाई कीमत ऊँची होती है, तो बिजली का उपयोग मुख्यतया रोशनी के लिए ही होता है किन्तु कीमत के घट जाने पर दूसरे उपयोग बढ जाते है और माँग भी बहुत बढ जाती है।

(४) **कीमत की ऊँचाई (Height of the prices)—जब किसी वस्तु की कीमत बहुत ऊँची होती है, तो उसके लिए माँग अधिक लोचदार होती है। औसत दर्जे की कीमत पर माँग साधारण होती है और जब किसी वस्तु की कीमत बहुत नीची होती है, तो उसकी माँग प्रायः बेलोच होती है।**[2] अधिक ऊँची कीमत पर किसी वस्तु को प्रायः धनी वर्ग के लोग ही खरीदते हैं। कीमत मे थोडी कमी हो जाने पर लोग पहले से बहुत अधिक मात्रा मे उस वस्तु को खरीदेंगे। औसत दर्जे के दामो पर धनी तथा मध्यम वर्ग के लोग किसी वस्तु को खरीदते हैं। दामो के थोडा कम हो जाने पर ये लोग कुछ अधिक मात्रा मे खरीदने लगते है तथा कीमत के थोडा बढने पर माँग की मात्रा थोडी कम हो जाती है। जब किसी वस्तु के दाम पहले से ही बहुत कम होते हैं, तो गरीब-अमीर सभी लोग उसे सुगमता से खरीद लेते हैं और दामो के थोड़ा-बहुत घटने-बढने का माँग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पडता है।

(५) **ग्राहकों का वर्ग (Type of customers)**—किसी वस्तु के लिए माँग की लोच

---

[1] "Generally speaking those things have the most elastic demand which are capable of being applied to many different uses."—**Marshall.**

[2] "The elasticity of demand is great at high prices and great or at least considerable for medium prices, but it declines as the price falls, and gradually fades away if the fall goes so fast that satiety level is reached."
—**Marshall** : *Principles of Economics*, p. 87.

इस बात पर भी निर्भर होती है कि उसके अधिकांश ग्राहक किस वर्ग अथवा श्रेणी के हैं। जो वस्तुयें साधारणतः केवल धनी वर्ग के लोगों के उपयोग में आती हैं उनकी माँग बेलोच होती है, क्योंकि कीमत का थोडा-बहुत अन्तर इसके लिए कुछ भी महत्त्व नहीं रखता है। इसके विपरीत, उन सब वस्तुओं की माँग लोचदार होती है जिन्हें प्रायः गरीब लोग खरीदते हैं, क्योंकि कीमत का थोडा घटना-बढ़ना भी उन लोगों के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है।

(६) **उपभोग के स्थगन की सम्भावना** (Possibility of postponing consumption)—*कुछ वस्तुएँ इस प्रकार की होती है कि उनकी माँग कुछ समय के लिए टाली जा सकती है।* वे ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है जो भविष्य के लिए उठाकर रखी जा सकती है। अतः, यदि कीमत बढ जाती है, तो हम इस आशा मे कि शायद भविष्य मे दाम गिर जायें अथवा इस कारण से कि इसी समय इस आवश्यकता को पूरा करना आवश्यक नही है, अपनी माँग को बहुत कम कर देते है।

उदाहरणार्थ, यदि ऊनी कपडा बहुत महँगा है, तो हम सोच लेते हैं कि इस साल कोट नही बनवायेंगे, वरन् पुराने कोट से काम चला लेंगे। *जिन वस्तुओं की माँग इस प्रकार टाली नहीं जा सकती उनकी माँग बहुधा बेलोच होती है।*

(७) **व्यय की मात्रा** (Amount of Expenditure)—जिन वस्तुओं पर हमारी आय का बहुत थोडा भाग व्यय होता है उनकी माँग हमारे लिए बेलोच होती है। इसी प्रकार, यदि किसी वस्तु पर हमारी आय का बहुत बड़ा भाग व्यय होता है, तो उसकी माँग हमारे लिए बहुत लोचदार होगी।

(८) **संयुक्त माँग की दशा** (Condition of Joint Demand)—कुछ वस्तुओं की माँग संयुक्त माँग (Joint Demand) होती है, अर्थात् उनकी माँग किसी दूसरी वस्तु की माँग से सम्बन्धित होती है। उदाहरणस्वरूप, स्याही की माँग कलम की माँग से सम्बन्धित है। ऐसी दशा मे वस्तु विशेष की माँग की लोच दूसरी वस्तु की माँग पर निर्भर होती है। यदि कलम की माँग बढती है, तो स्याही की माँग अपने आप ही बढ जायगी, लगभग उतनी ही तेजी के साथ जितनी तेजी के साथ कलम की माँग बढी है।

(९) ***समय का प्रभाव** (Influence of Time)—किसी वस्तु की माँग पर समय* का भी प्रभाव पडता है। अल्पकाल मे कीमतों के परिवर्तनों का वस्तु की माँग पर लगभग कुछ भी प्रभाव नहीं पडता है, परन्तु यदि वस्तु की कीमत मे परिवर्तन हो जाता है तो दीर्घकाल में उसके प्रतिस्थापन (Substitution) की सम्भावना बढ जाती है। ऐसी दशा मे माँग मे तेजी के साथ परिवर्तन हो सकते हैं।

(१०) **सरकारी नियन्त्रण** (Government Control)—बहुत बार सरकार आर्थिक मामलो मे हस्तक्षेप करती है। मूल्य नियन्त्रण और विशेषकर राशनिङ्ग (Rationing) के अन्तर्गत माँग के परिवर्तनों को रोका जा सकता है। यह सम्भव है कि उपभोक्ताओं को एक निश्चित मात्रा से अधिक खरीदने का अधिकार ही न दिया जाय। ऐसी दशा मे बहुधा माँग बेलोच रहती है।

(११) **कीमतों का भावी अनुमान** (Future Estimate of Prices)—माँग की लोच *भविष्य मे कीमत के बढने या घटने की सम्भावना पर भी निर्भर होती है।* यदि भविष्य मे किसी वस्तु की कीमतो के बढने की आशा है, अथवा यदि अनुमान यह है कि भविष्य मे वस्तु की पूर्ति घट जायगी, तो कीमत की थोडी-सी भी कमी वस्तु की माँग को बडी तेजी के साथ बढ़ा देगी। इसके विपरीत, यदि भावी अनुमान निराशाजनक है, तो कीमत के घटने-बढ़ने का माँग पर कोई विशेष प्रभाव नही पडेगा।

माँग की लोच के अध्ययन का महत्त्व

माँग की लोच के विचार का व्यावहारिक महत्त्व बहुत है।

(१) कीमत निर्धारण में सहायक—एक पिछले अध्याय मे हम बता चुके हैं कि स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन की प्रकृति और उसकी मात्रा उपभोक्ताओं की माँग द्वारा निर्धारित की जाती है। उपभोक्ता की माँग वस्तु की माँग को प्रत्यक्ष रूप मे तो प्रभावित करती ही है; साथ ही साथ, वह उसे उत्पत्ति के साधनों की माँग द्वारा, परोक्ष रूप मे भी, प्रभावित करती है। अतः अधिकतम् लाभ प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि जब कभी भी उत्पादक वस्तु की कीमत मे परिवर्तन करना चाहे, वह वस्तु की माँग की लोच का अनुमान लगा ले। एकाधिकारी उत्पादक के लिए तो माँग की लोच का ज्ञान और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि एकाधिकारी उत्पादक की वस्तु की माँग बेलोच है, तो उसके लिए ऊँची कीमत निश्चित करना लाभदायक होगा यद्यपि इससे उसकी बिक्री कुछ घट जायेगी। यदि माँग लोचदार है, तो एकाधिकारी के लिए नीची कीमत निश्चित करना लाभदायक होगा। ऐसी दशा मे यद्यपि उसके लाभ की प्रति इकाई दर तो घट जायेगी, तथापि बिक्री बढ जाने से कुछ लाभ अधिकतम् हो जायेगा। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे प्रत्येक वस्तु की माँग अत्यधिक लोचदार होती है, जिससे कोई भी विक्रेता अपनी ओर से कीमत निश्चित नही कर सकता है।

(२) औद्योगिक उत्पादन पर प्रभाव—औद्योगिक उत्पादन पर भी वस्तु की माँग की लोच का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। साधारणतया व्यक्ति की माँग तो बेलोच होती है परन्तु बाजार की माँग लोचदार होती है। उदाहरणार्थ, यदि कीमत घटती है तो कोई व्यक्ति समाचार-पत्र की दूसरी प्रति नही खरीदेगा, परन्तु पूरे बाजार मे समाचार-पत्र की बिक्री अवश्य बढ जायेगी। उत्पादक को अपने अनुभव से इस बात का पता होता है कि पूरे बाजार में कीमत के घटाने से बिक्री अवश्य ही बढाई जा सकती है।

(३) सम्मिलित पूर्ति की वस्तुयें—किसी ऐसे उत्पादक के लिए जो सम्मिलित पूर्ति की वस्तुएँ उत्पन्न करता है, लोच का अध्ययन और भी महत्त्वपूर्ण है। सम्मिलित उपजों मे से प्रत्येक के उत्पादन-व्यय को अलग-अलग नही जाना जा सकता है। यही कारण है कि ऐसी वस्तुओं की कीमते उनकी माँग की लोचो के आधार पर निश्चित की जाती है। यातायात उद्योग मे इस सिद्धान्त को निम्न प्रकार व्यक्त किया जाता है. "यातायात कितना बोझ उठायेगा" (What the traffic will bear)।

(४) उत्पादन वृद्धि नियम—इसी प्रकार, वह उत्पादक, जिसके उत्पादन पर उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू है, माँग की लोच पर विशेष ध्यान देता है क्योंकि वह कीमत को घटाकर वस्तु के बाजार का विकास कर सकता है।

(५) कीमत-विभेद—एक एकाधिकारी अपने लाभों को अधिकतम् करना चाहता है। इसके लिए वह बहुधा अलग-अलग ग्राहकों स अथवा अलग-अलग बाजारों मे वस्तु की अलग-अलग कीमते लेता है। इस प्रकार का मूल्य-विभेद केवल तभी सम्भव हो सकता है जबकि अलग-अलग बाजारों मे अथवा अलग-अलग व्यक्तियों के लिए माँग की लोच अलग-अलग हो। अतः माँग की लोच के समुचित ज्ञान के बिना मूल्य-विभेद सफल नही हो सकता है।

(६) प्रचुरता के मध्य निर्धनता—माँग की लोच का विचार यह समझने मे भी हमारी सहायता करता है कि उत्पादन के बहुत अधिक बढ जाने पर भी लोगो मे निर्धनता क्यों हो सकती है। यदि किसी वस्तु की माँग बेलोच है, तो उसके उत्पादन की अत्यधिक वृद्धि आशीर्वाद के स्थान पर अभिशाप बन जायेगी। कारण, उत्पादन की अत्यधिक वृद्धि कीमत को घटाकर अनार्थिक स्तर पर ला सकती है, मुख्यतया यदि वस्तु विशेष शीघ्र नाशवान वस्तु है, जिससे उसे सचय करके नही

रखा जा सकता है। यही कारण है कि सरकार कृषि-उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि होने की दशा में कृषकों को विशेष सुरक्षा प्रदान करती है। वह जो उपाय करती है वे मांग की लोच का अध्ययन करने के पश्चात् निश्चित किये जाते हैं।

(७) **आर्थिक नीति का निर्माण**—किसी देश की आर्थिक नीति के निर्माण में भी मांग की लोच का अध्ययन लाभदायक होता है। उदाहरणस्वरूप, व्यापार-चक्रों का नियन्त्रण, मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-संकुचन विरोधी नीतियाँ तथा आर्थिक नियोजन सम्बन्धी नीति मांग की लोच के समुचित अध्ययन पर ही आधारित होती हैं। आर्थिक नियोजन तो मांग की भावी प्रवृत्तियों के अनुमान पर आधारित होता है, इसलिए इसमें मांग की लोच का अध्ययन विशेष रूप से उपयोगी होता है।

(८) **साधनों का पारितोषण**—उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का पारितोषण निश्चित करने में भी मांग की लोच का अध्ययन लाभदायक होता है। यदि किसी उत्पत्ति-साधन की मांग बेलोच है, तो उसे ऊँची कीमत प्राप्त हो सकती है। यह उल्लेखनीय है कि यदि देश में श्रम की मांग बहुत लोचदार है, तो श्रम-सङ्घ श्रमिकों के लिये ऊँची मजदूरियाँ प्राप्त करने में असफल रहेंगे।

(९) **कर-नीतियाँ**—सरकार की करारोपण नीतियों में भी इस अध्ययन का अधिक महत्त्व है। देश का वित्त मन्त्री ऐसी वस्तुओं पर, जिनकी मांग बेलोच है, कर लगाकर अधिक आय प्राप्त कर सकता है, क्योंकि करारोपण के कारण कीमत बढ़ जाने से भी उनकी मांग में कोई विशेष कमी नहीं आती है। परन्तु इस प्रकार की वस्तुएँ साधारणतया आवश्यक वस्तुएँ होती हैं और जन-साधारण को कष्टों से बचाने के लिए सरकार साधारणतया इन पर कर नहीं लगाती है। ठीक इसी प्रकार, मांग की लोच के अध्ययन द्वारा ही सरकार समाज पर कर-भार का न्यायोचित वितरण भी कर सकती है।

(१०) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार**—इस विचार का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिक महत्त्व है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का अनुमान केवल मांग की पारस्परिक लोच द्वारा ही लगाया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार, इस ज्ञान के बिना व्यापार-नीति भी निश्चित नहीं की जा सकती है। विनिमय दरों के निर्धारण में भी मांग की लोच का अध्ययन लाभदायक होता है।

मांग की लोच और उपयोगिता ह्रास नियम

उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार किसी वस्तु की पूर्ति में वृद्धि के साथ सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है और पूर्ति में कमी के साथ वह बढ़ता है। किन्तु सीमान्त उपयोगिता के घटने या बढ़ने की गति विभिन्न वस्तुओं के लिए समान नहीं है। जैसे—नमक इत्यादि के प्रयोग से हमें शीघ्र ही सन्तुष्टि प्राप्त हो जाती है अर्थात् सीमान्त उपयोगिता शीघ्र गिर जाती है। यही कारण है कि ऐसी वस्तुओं के मूल्य में बहुत कमी होने पर भी इनकी मांग में वृद्धि नहीं होती। अत: इनकी मांग बेलोच होती है। दूसरी ओर, कुछ वस्तुएँ जैसे आराम और विलास की वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि उनकी सीमान्त उपयोगिता धीरे-धीरे घटती है, जिस कारण इनके मूल्य में थोड़ी कमी होने पर इनकी मांग अधिक बढ़ जाती है। अत: ऐसी वस्तुओं की मांग लोचदार होती है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि मांग की लोच का विचार उपयोगिता ह्रास नियम से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है।

मांग की लोच एवं उपभोक्ता की बचत

'मांग की लोच' का विचार उपभोक्ता की बचत के विचार से भी सम्बन्धित है। जैसा कि हमने पहले बताया है, अनिवार्य वस्तुओं के लिये मांग बेलोच होती है, जिस कारण इन्हें उपभोक्ता ऊँचे से ऊँचे मूल्य पर भी खरीदने को तत्पर हो जाता है किन्तु व्यवहार में उसे ये

वस्तुयें अपेक्षाकृत कम कीमत पर ही मिल जाती हैं। इस प्रकार, इन पर उपभोक्ता की बचत की मात्रा बहुत होती है। किन्तु, विलासिता और आरामदायक वस्तुओं के लिये माँग लोचदार होती है, जिसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता इनके लिए अधिक मूल्य देने को तत्पर नही होंगे। यदि मूल्य बढ़ गया, तो माँग मे भी तुरन्त पर्याप्त कमी हो जायेगी। यही कारण है कि ऐसी वस्तुओ के सम्बन्ध मे उपभोक्ता जो कीमत देने को तैयार होता है और जो कीमत वह वास्तव मे देता है उनका अन्तर अधिक नही होता। अन्य शब्दो मे, उपभोक्ता की बचत कम रहती है। इस प्रकार, बेलोच माँग वाली वस्तुओ पर उपभोक्ता की बचत अधिक और लोचदार माँग वाली वस्तुओं पर वह कम होती है।

परीक्षा प्रश्न :

१. "किसी वस्तु की माँग की लोच बाजार मे, कीमत मे एक दी हुई कमी के प्रत्युत्तर मे माँग के अधिक या कम बढने के अनुसार, अधिक या कम होती है।" (मार्शल) इस कथन को चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिये।

अथवा

लोचदार एव बेलोच माँग-वक्रों की सहायता से भेद कीजिये।
[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम माँग के अर्थ को बताइये एव गणितात्मक परिभाषाएँ दीजिये। तत्पश्चात् अधिक लोचदार और कम लोचदार माँग को अर्थात् माँग की लोच की श्रेणियों को रेखाचित्रों द्वारा समझाइये।]

२. आप माँग की लोच को किस प्रकार मापेंगे ?
[**सहायक संकेत**—सर्वप्रथम माँग की लोच को परिभाषित कीजिये। तत्पश्चात् अति सक्षेप मे माँग की लोच की श्रेणियो को भी बताइये। अन्त मे, माँग की लोच को मापने की तीनों रीतियाँ दीजिये।]

३. माँग की लोच से क्या आशय है ? यह किन तत्त्वो पर निर्भर है ?
[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम माँग की लोच के अर्थ को बताइये। तत्पश्चात् सक्षेप मे इसकी विभिन्न श्रेणियों को रेखाचित्रों द्वारा समझाइये और अन्त मे उन तत्त्वों की विवेचना कीजिये, जो कि माँग की लोच को प्रभावित करते हैं।]

४. माँग की लोच क्या है ? इसे आप कैसे मापेंगे ? विभिन्न आयों पर माँग की लोच जिस प्रकार से प्रभावित होती है उसे समझाइये।
[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम माँग की लोच की परिभाषा दीजिये। तत्पश्चात् इसके माप की तीनों रीतियो को बताइये। अन्त मे इस पर आय-स्तर के प्रभाव को समझाइये।]

५. दिखाइये कि माँग की लोच को कैसे मापा जा सकता है और आर्थिक विश्लेषण एव नीति के लिए इस विचार की उपयोगिता भी बताइये।
[**सहायक संकेत** :—सबसे पहले माँग की लोच के अर्थ दो-तीन परिभाषायें देते हुये स्पष्ट कीजिये। तत्पश्चात् इसे मापने की तीनों रीतियों का विवेचन करिये और अन्त मे यह दिखाइये कि इस विचार का आर्थिक विश्लेषण एव नीति मे क्या महत्त्व है।]

६. माँग की लोच से क्या आशय है ? इसका उपयोगिता ह्रास नियम से क्या सम्बन्ध है ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम दो-तीन परिभाषायें देते हुये माँग की लोच के अर्थ को स्पष्ट कीजिये। तत्पश्चात् यह दिखाइये कि लोच का विचार उपयोगिता ह्रास नियम पर किस प्रकार आधारित है।]

७. माँग की लोच की परिभाषा दीजिए। घी की प्रति किलो ५ रु०, ६ रु० और ८ रु० कीमत पर एक परिवार की घी सम्बन्धी मासिक माँग क्रमशः ६ किलो, ५ किलो और ३ किलो है। ऐसी दशा में यदि घी की कीमत ५ रु० से बढ़कर ६ रु० प्रति किलो हो जाय, तो घी की माँग की लोच क्या होगी ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम दो-तीन परिभाषायें देते हुए माँग की लोच के अर्थ को स्पष्ट कीजिए। तत्पश्चात् माँग की लोच को मापने की आनुपातिक रीति का विवेचन कीजिये और अन्त में निम्न सूत्र के प्रयोग द्वारा प्रश्न का उत्तर निकालिए :

$$e = \left(\frac{q-q_1}{q+q_1}\right) \div \left(\frac{p-p_1}{p+p_1}\right)$$]

८. निम्न में भेद कीजिए :

(अ) बिन्दु लोच और चाप लोच

(ब) कीमत लोच एवं आय लोच

१७

पूर्ति, पूर्ति का नियम और पूर्ति की लोच

(Supply, Law of Supply and Elasticity of Supply)

प्रारम्भिक—पूर्ति का अर्थ

मांग के सम्बन्ध मे हम यह देख चुके हैं कि किसी कीमत पर एक वस्तु की जितनी इकाइयाँ खरीदी जाती हैं वे उस वस्तु की मांग को दिखाती हैं। ठीक इसी प्रकार, एक निश्चित कीमत पर किसी वस्तु की जितनी इकाइयाँ बेची जाती हैं वे उस वस्तु की पूर्ति को दिखाती हैं। मांग की भांति पूर्ति भी कीमत से सम्बन्धित होती है और इसका भी बिना कीमत के कोई अर्थ नही होता है। हम सदैव यही कहते हैं कि अमुक कीमत पर पूर्ति इतनी है।

यहाँ पर पूर्ति (Supply) और स्टॉक (Stock) के अन्तर को समझना आवश्यक है। 'स्टॉक' वस्तु विशेष की कुल मात्रा को बताता है जो किसी निश्चित समय पर बाजार में मौजूद है। किन्तु पूर्ति 'स्टॉक' का वह भाग है जो कि विक्रेता एक निश्चित समय और एक निश्चित कीमत पर बेचने के लिये तैयार है।

पूर्ति-तालिका
(Supply Schedule)

बाजार मे भिन्न-भिन्न कीमतो पर पूर्ति की मात्रायें कितनी-कितनी होती हैं, इसकी यदि हम एक सूची बनालें, तो इस सूची को पूर्ति-तालिका (अनुसूची) कहा जाता है। इस प्रकार पूर्ति-तालिका 'मूल्य' और 'बेची जाने वाली मात्रा' के फलनात्मक सम्बन्ध (Functional relationship) को दिखाती है।

मांग-तालिका की भांति पूर्ति-तालिका भी दो तरह की होती है : **(अ) व्यक्तिगत पूर्ति-तालिका** (Individual supply schedule), जो यह दिखाती है कि एक निश्चित समय मे एक विक्रेता वस्तु विशेष की कितनी-कितनी मात्रायें विभिन्न कीमतो पर बेचने को तत्पर होता है। (ब) **बाजार पूर्ति-तालिका** (Market supply schedule), जो एक निश्चित समय मे विभिन्न कीमतों पर सभी विक्रेताओं की कुल पूर्ति को दिखाती है। स्पष्ट है कि वस्तु की बाजार पूर्ति-तालिका व्यक्तिगत पूर्ति-तालिकाओ को जोड कर निकाली जा सकती है। किन्तु स्मरण रहे कि विभिन्न कीमतें, जिनका कि पूर्ति-तालिकाओ मे उल्लेख होता है, बाजार मे वास्तव मे प्रचलित नही होती हैं वरन् भूतकाल मे विक्रेता (या विक्रेताओ) की प्रतिक्रियाओ की जानकारी के आधार पर पूर्ति की मात्राओ का विभिन्न कीमतो पर अनुमान लगाया जाता है। पूर्ति-तालिका के बारे मे अन्य स्मरण रखने योग्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) **बाजार-पूर्ति-तालिका को इस मान्यता के आधार पर बनाया जाता है** कि पूर्ति की दशायें (अर्थात् उत्पत्ति-साधनो की कीमतें, अन्य वस्तुओ की कीमतें, टेक्नीकल ज्ञान, उत्पादकों की रुचि इत्यादि) अपरिवर्तित रहती हैं और केवल वस्तु विशेष की कीमत मे ही परिवर्तन होते हैं।

(२) **एक काल्पनिक पूर्ति-तालिका बनाना तो सुगम है किन्तु वास्तविक तालिका बनाना**

अति कठिन, क्योंकि अमुक-अमुक कीमतों पर वस्तु विशेष की कितनी-कितनी मात्रायें बेची जायेंगी इसका अनुमान लगाना कठिन होता है और फिर पूर्ति की दशायें भी स्थिर नहीं रहती है।

(३) बाजार-पूर्ति-तालिका एक व्यक्तिगत पूर्ति-तालिका की अपेक्षा अधिक नियमित और समतल होती है, क्योंकि एक विक्रेता अनियमित रूप से व्यवहार कर सकता है, जिस कारण पूर्ति-तालिका अनियमित और असमतल हो जाती है, किन्तु बाजार-पूर्ति-तालिका में विक्रेताओं के अन्तर एक-दूसरे को निष्प्रभावित कर देते है, जिस कारण वह एक समतल चित्र प्रस्तुत करती है।

(४) दोनों प्रकार की पूर्ति-तालिकाओं पर समय तत्त्व का गहरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि विचाराधीन अवधि जितनी लम्बी होगी, उत्पादक या विक्रेतागण पूर्ति को उतनी ही सुगमता से मांग के परिवर्तनों के अनुसार समायोजित कर सकेंगे और भविष्य में अनुमानित कीमतों से पूर्ति उतनी ही अधिक प्रभावित होगी।

(५) यद्यपि पूर्ति-तालिका बनाना कठिन है तथापि इससे कीमतों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप बेची जाने वाली मात्राओं में जो परिवर्तन हो सकते हैं उनका मोटा अनुमान तो लगाया ही जा सकता है।

पूर्ति-रेखा
(Supply Curve)

मांग-तालिका की ही भांति पूर्ति-तालिका को भी एक रेखाचित्र द्वारा प्रकट किया जाता है। ऐसी रेखा को, जो कि विभिन्न कीमतों पर वस्तु विशेष की बेची जाने वाली मात्रायें दिखाती है, 'पूर्ति-रेखा' कहते हैं। व्यक्तिगत पूर्ति-तालिका के आधार पर बनाई गई पूर्ति-रेखा को 'व्यक्तिगत पूर्ति रेखा' (Individul supply curve) और बाजार-पूर्ति-तालिका के आधार पर बनाई गई पूर्ति-रेखा को 'बाजार-पूर्ति-रेखा' (Market supply curve) कहा जाता है। चूंकि पूर्ति-रेखा पूर्ति-तालिका को व्यक्त करती है इसलिए इसके पीछे भी वही मान्यतायें होती हैं जो कि पूर्ति-तालिका के पीछे हैं, जैसे :—(१) पूर्ति-रेखा कुछ कीमतों को दिया हुआ और स्थिर मान कर चलती है किन्तु वास्तविकता में ये कीमतें नहीं पाई जाती हैं। (२) क्रेताओं और विक्रेताओं की रुचि को अपरिवर्तित मान लिया जाता है। (३) उनकी आय भी अपरिवर्तित मान ली जाती है। (४) उत्पत्ति-साधनों की कीमतें स्थिर मान ली जाती हैं। (५) तकनीकी ज्ञान को यथा-स्थिर मान लिया जाता है। (६) कीमत और पूर्ति के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में परिवर्तनों में निरन्तरता या अति सूक्ष्म परिवर्तनों का होना मान लिया जाता है किन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा होना जरूरी नहीं है। अर्थात् यह सम्भव है कि प्रायः कीमतों में थोड़े परिवर्तनों के होने का पूर्ति पर कोई असर न पड़े और पूर्ति में तभी परिवर्तन हो जबकि कीमत में एक निश्चित मात्रा में परिवर्तन हो जाय। इस प्रकार, व्यवहार में पूर्ति-रेखा समतल और अभङ्ग होने के बजाय बलदार (Kinked) या कोनेदार (Angular) होती है। (७) एक अभङ्ग (Continuous) पूर्ति-रेखा यह मान लेती है कि वस्तु विभाज्य है तथा उसकी अत्यन्त छोटी-छोटी इकाइयां मौजूद हैं। किन्तु व्यवहार में ऐसी मान्यता सदा ठीक नहीं उतरती है।

पूर्ति के भेद

बाजार-पूर्ति, अल्पकालीन पूर्ति एवं दीर्घकालीन पूर्ति—

वस्तु की पूर्ति को कीमत और मांग के परिवर्तनों के अनुरूप समायोजित होने में कुछ समय लगता है, जिसके आधार पर पूर्ति के निम्न तीन प्रकार किये गये हैं :—(अ) बाजार पूर्ति (Market Supp'y), जिसमें विक्रेताओं को मांग में परिवर्तन के अनुसार पूर्ति का समायोजन करने के लिए लगभग 'नहीं' के बराबर समय मिलता है। फलतः यदि मांग दी हुई है, तो वस्तु की

कीमत विक्रेता की (अपने स्टॉक या इसके एक भाग को बेचने के लिए) इच्छा की तीव्रता पर निर्भर करेगी। (ब) **अल्पकालीन पूर्ति**, जिसमे विक्रेता एवं उत्पादक वस्तु की पूर्ति को केवल विद्यमान उत्पत्ति-साधनो की सहायता से ही बढा सकता और उन्हें इतना समय नही मिलता कि वे माँग की आवश्यकतानुसार नये उत्पत्ति साधनो के प्रयोग द्वारा उत्पत्ति को बढा सकें या कुछ पुराने उत्पत्ति-साधनों को अन्य उद्योगो मे स्थानान्तरित करके वस्तु विशेष की उत्पत्ति को घटा सके। एव (स) **दीर्घकालीन पूर्ति** (Long Period Price), जिसमे पूर्ति को घटाने-बढ़ाने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। न केवल पुराने उत्पत्ति साधनो के द्वारा वरन् नये उत्पत्ति साधनो की सहायता लेकर भी उत्पत्ति को माँग के समकक्ष बढाया जा सकता है। साथ ही, उत्पत्ति-साधनो को अन्य उद्योगो मे भेजकर वस्तु विशेष का उत्पादन घटाया भी जा सकता है।

संयुक्त पूर्ति एवं सामूहिक पूर्ति—

जब दो अथवा दो से अधिक वस्तुये एक साथ एक स्रोत से (जैसे—सरसो का तेल और खली दोनो ही तिलहन से) प्राप्त होती है, तो वे 'संयुक्त पूर्ति' (Joint Supply) वाली वस्तुयें कहलाती हैं। कुछ वस्तुओ (जैसे—सरसो का तेल और खली) की संयुक्त पूर्ति एक निश्चित अनुपात मे होती है किन्तु अन्य वस्तुओं (जैसे—भेड़ से ऊन और गोश्त) की परिवर्तन-शील अनुपात मे।

जब वस्तु विशेष की पूर्ति विभिन्न स्थानापन्न अथवा प्रतियोगी स्रोतो से प्राप्त होती है, तो इसे 'सामूहिक पूर्ति' (Composite Supply) कहते हैं, जैसे—ताप की पूर्ति बिजली, कोयला इत्यादि साधनो से।

पूर्ति का नियम

देखने मे आता है कि जब किसी वस्तु या सेवा की कीमत ऊँची चढ जाती है, तो बेचने वाले उसे पहले से अधिक मात्रा मे बेचने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत, जब दाम गिर जाते हैं, तो कम इकाइयाँ बेचने के लिए प्रस्तुत की जाती हैं। कारण, ऊँचे दामो पर विक्रेताओ तथा उत्पादको को अधिक लाभ होता है, जबकि नीची कीमतों पर बेचने से या तो लाभ कम होता है या होता ही नही। एक ही वस्तु के सभी उत्पादको का उत्पादन-व्यय समान नही होता। कुछ उत्पादक अधिक कुशल होते हैं और कम लागत पर उत्पत्ति कर सकते हैं। ऐसे उत्पादक नीची कीमत पर बेच कर भी लाभ कमा लेते हैं, परन्तु जो उत्पादक इतने कुशल नही होते, उन्हे नीची कीमतों पर बेचने मे हानि होती है। इसी कारण नीची कीमतो पर कम मात्रायें बेची जाती हैं और ऊँची कीमतो पर अधिक मात्रायें बिक्री के लिए आती हैं। दूसरे शब्दों मे, ऊँची कीमत पर पूर्ति अधिक होती है और नीची कीमत पर कम। **पूर्ति में कीमतों के साथ-साथ बदलने की जो प्रवृत्ति है, उसी को अर्थशास्त्रियो ने पूर्ति के नियम (Law of Supply) का नाम दे दिया है।**

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

कीमतो मे परिवर्तन होने पर पूर्ति मे जो परिवर्तन होते हैं उनकी दिशा कीमत के परिवर्तन के अनुकूल होती है। यदि कीमत बढ़ती है, तो पूर्ति भी बढती है, और इसी प्रकार, यदि कीमत घटती है, तो पूर्ति भी घट जाती है। किसी मण्डी अथवा बाजार में भिन्न-भिन्न कीमतों पर पूर्ति की मात्रायें कितनी होती हैं, इसको यदि हम एक सूची बना लें तो इस सूची को **"पूर्ति की अनुसूची"** (Supply Schedule) कहा जाता है। इस सूची को देखने से पूर्ति का नियम स्पष्ट हो जायेगा। आगामी तालिका मे चाय की पूर्ति की कल्पित अनुसूची दिखाई गई है।

पूर्ति-तालिका

कीमत प्रति किलोग्राम (रुपयों मे)	पूर्ति की मात्रा (किलोग्राम मे)
२	४००
३	५००
४	६००
५	८००
७	१,०००
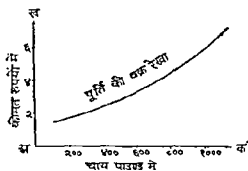
चित्र—पूर्ति वक्र रेखा

उक्त अनुसूची के अनुसार पूर्ति के नियम की वक्र रेखा जिस प्रकार होगी वह साथ के चित्र मे दिखाई गई है। इस रेखा की प्रकृति बायीं ओर से दाहिनी ओर नीचे से ऊपर की ओर जाने की होती है, जिससे कीमत और पूर्ति दोनों का एक साथ बढ़ना सिद्ध होता है।

नियम की मान्यतायें—

पूर्ति का नियम 'अन्य बातें समान रहने पर' लागू होता है अर्थात् इस नियम के लागू होने के लिए निम्न दशायें या मान्यतायें पूरी होनी चाहिए :—(i) क्रेताओं और विक्रेताओं की आय, रुचि अथवा पसन्द मे कोई परिवर्तन नही होना चाहिए; (ii) उत्पत्ति साधनों की कीमतें स्थिर रहें; (iii) उत्पादन सम्बन्धी तकनीकी ज्ञान अपरिवर्तित रहे; (iv) कीमत मे अति छोटे परिवर्तन से भी पूर्ति मे घटा-बढ़ी होनी चाहिए; एवं (v) वस्तु की कीमत मे और अधिक परिवर्तनों की आशंका न हो।

पूर्ति के नियम का स्पष्टीकरण या इसकी क्रियाशीलता के कारण—

जैसा कि हमने ऊपर बताया है, पूर्ति का नियम कीमत और बेची जाने वाली मात्रा के बीच सीधे सम्बन्ध को बताता है। अतः पूर्ति रेखा दायें को ऊपर की ओर बढ़ती हुई होती है अर्थात् कीमत में वृद्धि के साथ-साथ पूर्ति बढ़ती जाती है और कीमत मे कमी के साथ वह घटती जाती है। ऐसा क्यों है ? यह बात निम्नांकित विवेचन से स्पष्ट हो जायेगी :—

(१) जब कीमत बढ़ती है, तो विक्रेताओं के लाभ बढ़ते हैं और अधिक लाभ की प्राप्ति उन्हें वस्तु की पूर्ति को बढ़ाने के लिए प्रेरित करती है। किन्तु 'अति अल्पकाल' मे वे स्टॉक मे रखे हुए माल से अधिक पूर्ति को नहीं बढ़ा सकते हैं। 'अल्पकाल' मे केवल विद्यमान साधनों के द्वारा ही पूर्ति को बढ़ा सकते हैं और 'दीर्घकाल' मे तो नये साधनों की सहायता भी ले सकते हैं।

(२) कीमत मे कमी होने से उत्पादकों और विक्रेताओं के लाभ कम हो जाते हैं अथवा उन्हें नुकसान होने लगता है, जिस कारण वे वस्तु की पूर्ति को घटाने लगते हैं। अति अल्पकाल मे यदि वस्तु नाशवान नहीं है तो बाजार मे से वस्तु की कुछ मात्रा खींच कर स्टॉक

मे रख लेंगे, अल्पकाल मे कुछ उत्पादक उत्पादन को कम कर देंगे और दीर्घकाल में कुछ उत्पादक बिल्कुल ही निष्क्रिय हो जायेंगे या अन्य उद्योगों मे चले जायेंगे।

इस प्रकार, कीमत के परिवर्तन उत्पादकों व विक्रेताओं के लाभ-हानि को प्रभावित करके पूर्ति को परिवर्तित करते हैं।

नियम के अपवाद—

मांग के नियम के सदृश्य पूर्ति के नियम के भी कुछ अपवाद हैं और इस प्रकार हैं :— (i) भविष्य मे कीमत मे अधिक वृद्धि या कमी की आशंका होने की दशा मे पूर्ति का नियम लागू नही होता; (ii) कुछ दशाओं मे (मानसून की असफलता. बाढ का प्रकोप) कृषि-उत्पादित वस्तुओं पर भी पूर्ति का नियम लागू नही होता, (iii) कुछ कलात्मक वस्तुओं (जैसे—एक विख्यात कलाकार के चित्र) के सम्बन्ध मे भी पूर्ति का नियम लागू नही होता; (iv) नीलाम की वस्तुओं की पूर्ति एव (v) अविकसित और पिछड़े देशों मे श्रम की पूर्ति। यथार्थ मे पूर्ति के नियम के अपवाद थोड़े ही है और यह प्राय. सर्वत्र क्रियाशील देखा जाता है।

'पूर्ति में परिवर्तन' और 'पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन'

'पूर्ति मे परिवर्तन' और 'पूर्ति की मात्रा मे परिवर्तन' वाक्यांश साधारण बोलचाल मे समान अर्थ मे प्रयोग किये जाते हैं किन्तु अर्थशास्त्र मे इनमे भेद है। 'पूर्ति मे वृद्धि' का अर्थ 'पूर्ति की मात्रा मे वृद्धि' (जिस दशा मे 'पूर्ति का विस्तार' कहा जाता है) से भिन्न है और 'पूर्ति मे कमी' का अर्थ 'पूर्ति की मात्रा मे कमी' (जिस दशा मे यह पूर्ति का सकुचन कहा जाता है) से भिन्न है।

पूर्ति में विस्तार और संकुचन—

पूर्ति को कई तत्त्व प्रभावित करते हैं जिनमें से कीमत एक है। पूर्ति मे विस्तार और सकुचन केवल कीमत-परिवर्तनों के परिणामस्वरूप होते है। वे एक ही पूर्ति-रेखा पर चलन को बताते है—नीचे की ओर चलन कीमत मे कमी और पूर्ति मे सकुचन (Contraction of Supply) को बताता है तथा ऊपर की ओर चलना कीमत मे वृद्धि और पूर्ति मे विस्तार (Expansion of Supply) को। अन्य शब्दों मे, कीमत-परिवर्तन पूर्ति की गई मात्रा को परिवर्तित करता है परन्तु पूर्ति को नहीं। यहाँ उत्पादक अथवा विक्रेता एक निष्क्रिय भूमिका ही निभाता है अर्थात् कीमत द्वारा निर्देशित होता है। उसकी पूर्ति-तालिका (और इसलिए पूर्ति-रेखा भी) पूर्ववत् रहती है किन्तु कीमत के निर्देशन मे वह उस पर ऊपर या नीचे चलता रहता है।

पूर्ति में वृद्धि या कमी—

वस्तु की कीमत के अतिरिक्त अन्य घटकों (जैसे—आय, उत्पादन-तकनीक, उत्पत्ति के साधनों की कीमत) के परिवर्तन के परिणामस्वरूप पूर्ति पर जो प्रभाव होता है उसे 'पूर्ति मे परिवर्तन' कहते है। ऐसी दशा मे विक्रेता या उत्पादक पहली वाली पूर्ति-तालिका (और इसलिए पहली वाली पूर्ति-रेखा) पर स्थिर नहीं रहता वरन् नई पूर्ति-तालिका और नई पूर्ति-रेखा पर चला जाता है। पूर्ति मे परिवर्तन अर्थात् पूर्ति मे वृद्धि (Increase in supply) का अर्थ स्वय पूर्ति-रेखा के दायें को और पूर्ति मे कमी (Decrease in demand) का अर्थ पूर्ति-रेखा के बायें को हटने से है। यहा विक्रेता या उत्पादक सक्रिय भूमिका निभाता है अर्थात् कीमत द्वारा निर्देशित नहीं होता वरन् पूर्ति की दशाओं को ध्यान में रखते हुए अपनी पूर्ति कम या अधिक तय करता है।

पूर्ति को प्रभावित करने वाले घटक

जैसा कि हमने ऊपर सकेत किया है, पूर्ति पर केवल वस्तु विशेष की कीमत का ही नही वरन् अन्य बातों का भी प्रभाव पडता है। ये बाते निम्नांकित हैं :—

(१) **अन्य वस्तुओं की कीमतें**—वस्तु विशेष की कीमत स्थिर रहने पर भी यदि अन्य वस्तुओं की कीमतें बढ़ जायें, तो वस्तु विशेष में लाभ कम प्रतीत होने से उसके प्रति आकर्षण घट जायेगा और इस प्रकार उसका उत्पादन घटा दिया जायेगा। किन्तु अन्य वस्तुओं की कीमतें घटने पर वस्तु विशेष का उत्पादन (और इसलिए उसकी पूर्ति) बढ़ जायेगा।

(२) **उत्पत्ति-साधनों की कीमतें**—यदि उत्पत्ति-साधनों की कीमतें बढ़ जायें, तो वस्तु के उत्पादन की लागत बढ़ जायेगी, उसका उत्पादन कम किया जायेगा और इस प्रकार पूर्ति घट जायेगी। इसके विपरीत, उत्पत्ति-साधनों की कीमतें घटने पर वस्तु की पूर्ति बढ़ जायेगी।

(३) **तकनीकी ज्ञान**—तकनीकी ज्ञान बढ़ने पर वस्तु के उत्पादन में कुशल विधि का प्रयोग किया जाता है, जिस कारण उसकी पूर्ति बढ़ जाती है।

(४) **उत्पादकों की रुचि**—वस्तु विशेष के प्रति उत्पादकों की रुचि (चाहे लाभ पूर्ववत् ही रहे) बढ़ने पर उसकी पूर्ति बढ़ जायेगी और रुचि घटने पर पूर्ति घट जायेगी।

(५) **प्राकृतिक तत्व**—अनुकूल प्राकृतिक दशायें मिलने पर कृषि-उत्पादन बढ़ जाता है, किन्तु विपरीत दशाओं में घट जाता है।

अन्य महत्वपूर्ण घटक हैं—यातायात के साधनों का विकास, राजनैतिक दशायें, उत्पादकों में सहयोग एवं सरकार की कर नीति।

पूर्ति की लोच

माँग के नियम के ही समान पूर्ति का नियम भी एक गुणात्मक कथन है अर्थात् वह पूर्ति में होने वाले परिवर्तन की 'दिशा' को ही बताता है, 'मात्रा' (Quantity) को नहीं। मूल्य में परिवर्तन होने के फलस्वरूप वस्तु विशेष की पूर्ति में 'कितना' परिवर्तन हुआ है अर्थात् परिवर्तन की मात्रा को मालूम करने हेतु अर्थशास्त्रियों ने 'पूर्ति की लोच' (Elasticity of Supply) का विचार प्रस्तुत किया है।

पूर्ति की लोच से आशय—

पूर्ति की लोच का विचार यह बताता है कि कीमत में कमी अथवा वृद्धि से पूर्ति की मात्रा में कितनी (या किस गति से) कमी या वृद्धि होती है। गणित की भाषा में, पूर्ति की लोच (e_s) कीमत में थोड़े से परिवर्तन के फलस्वरूप पूर्ति की गई मात्रा के आनुपातिक परिवर्तन को कीमत के आनुपातिक परिवर्तन से भाग देने पर प्राप्त होती है। इस प्रकार :—

$$e_s = \frac{\text{पूर्ति में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

स्मरण रहे कि पूर्ति की लोच के अन्तर्गत हम पूर्ति में उस परिवर्तन पर विचार करते हैं जो कि कीमत में थोड़े से परिवर्तन के परिणामस्वरूप होता हो (कारण, कीमत के अधिक उतार-चढ़ाव के परिणामस्वरूप पूर्ति में जो परिवर्तन होता है उसमें सटोरियों का असर अधिक रहता है) और जो अल्पकाल के लिए हो (कारण, पूर्ति के दीर्घकालीन परिवर्तन केवल कीमत-परिवर्तन का ही परिणाम नहीं होते वरन् अन्य अनेक बातें भी उनको प्रभावित करती हैं।)

पूर्ति की लोच की श्रेणियाँ—

माँग के ही समकक्ष पूर्ति की लोच की भी पाँच श्रेणियाँ निम्न प्रकार होती हैं — (१) पूर्णतः लोचदार पूर्ति ($e_s = \infty$), (२) अत्यधिक लोचदार पूर्ति ($e_s > 1$), (३) लोचदार पूर्ति या औसत दर्जे की लोचदार पूर्ति ($e_s = 1$), (४) बेलोच पूर्ति ($e_s < 1$), एवं (५) पूर्णतः बेलोचदार पूर्ति ($e_s = 0$)। इनमें से पूर्णतः लोचदार एवं पूर्णतः बेलोचदार पूर्ति की दशायें व्यावहारिक जीवन में नहीं पाई जाती हैं। जब किसी वस्तु की पूर्ति में परिवर्तन उसी अनुपात में, उसमे

अधिक या उनसे कम अनुपात मे हो जिसमे कि उसकी कीमत मे परिवर्तन हुआ है, तो पूर्ति की लोच क्रमश: 'इकाई लोच' या 'लोचदार', 'इकाई से अधिक' या अत्यधिक लोचदार, अथवा 'इकाई से कम' या 'बेलोचदार' कहलाती है ।

पूर्ति की लोच को मापने की रीतियाँ—

पूर्ति की लोच को आनुपातिक रीति (Proportional Method) या बिन्दु रीति (Point Method) किसी के भी द्वारा मापा जा सकता है ।

(१) आनुपातिक रीति या प्रतिशत रीति के अन्तर्गत पूर्ति मे आनुपातिक (या प्रतिशत) परिवर्तन को कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन से भाग दिया जाता है । इस प्रकार :—

$$e_s = \frac{\text{पूर्ति मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\dfrac{\text{पूर्ति मे परिवर्तन}}{\text{पूर्ति की पूर्व मात्रा}}}{\dfrac{\text{कीमत मे परिवर्तन}}{\text{पूर्व कीमत}}}$$

$$= \frac{\dfrac{\triangle q}{q}}{\dfrac{\Delta p}{p}} = \frac{\triangle q}{q} \times \frac{p}{\triangle p}$$

$$= \frac{\triangle q}{\triangle p} = \frac{p}{q}$$

जिसमे $\triangle$ का संकेत सूक्ष्म परिवर्तन का है । इस सूत्र का संशोधित रूप निम्न प्रकार है :—

$$e_s = \frac{\dfrac{\text{पूर्ति की मात्रा मे परिवर्तन}}{(\text{पूर्व मात्रा}+\text{नई मात्रा})/2}}{\dfrac{\text{कीमत में परिवर्तन}}{(\text{पूर्व कीमत}+\text{नई कीमत})/2}}$$

$$= \frac{\dfrac{q-q_1}{\frac{(q+q_1)}{2}}}{\dfrac{p-p_1}{\frac{p+p_1}{2}}} = \frac{\dfrac{q-q_1}{q+q_1}}{\dfrac{p-p_1}{p+p_1}}$$

जिसमे, q =पूर्ति की पूर्व मात्रा; p =पूर्व कीमत
q_1=पूर्ति की नई मात्रा; p_1=नई कीमत

(२) बिन्दु रीति या रेखागणित रीति के द्वारा पूर्ति की लोच पूर्ति-रेखा के किसी बिन्दु पर मालूम की जाती है । मान लीजिये कि साथ के चित्र में SS पूर्ति-रेखा के P बिन्दु पर पूर्ति की लोच मालूम करना है । इस हेतु पूर्ति-रेखा SS को नीचे की ओर बढाया जाता है जिससे

कि वह अ क अक्ष को ट बिन्दु पर मिलती है और बिन्दु म से अ क अक्ष पर एक लम्ब (Perpendicular) डाला जाता है, जो अ क अक्ष को न पर मिलता है। पूर्ति की लोच को निम्न सूत्र द्वारा मालूम किया जा सकेगा। सूत्र—

$e_s = \frac{\text{ट न}}{\text{अ न}}$ । पूर्ति-रेखा की चित्र मे दी हुई स्थिति मे ट न $<$ अ न, जिस कारण $e_s < १$ ।

चित्र—पूर्ति की लोच
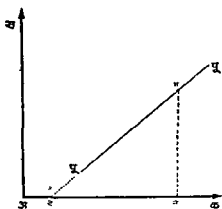
पूर्ति की लोच के निर्धारक-घटक—

पूर्ति की लोच को प्रभावित करने वाले प्रमुख-प्रमुख घटक इस प्रकार हैं :—(अ) **वस्तु का स्वभाव**—नाशवान वस्तुओं की पूर्ति बेलोच होती है, क्योंकि कीमत के बढने अथवा घटने पर इनकी पूर्ति को बढाया या घटाया नही जा सकता। किन्तु टिकाऊ वस्तु की पूर्ति लोचदार होनी है, क्योंकि इसे कीमत-परिवर्तनों के प्रत्युत्तर मे घटाया-बढाया जा सकता है। (ब) **उत्पादन-तक्नीक**—सरल उत्पादन विधि अथवा कम पूंजी की आवश्यकता वाली विधि के अन्तर्गत वस्तु की पूर्ति लोचदार होती है किन्तु जटिल उत्पादन विधि अथवा अधिक पूंजी की आवश्यकता वाली विधि के अन्तर्गत वस्तु की पूर्ति बेलोचदार होनी है। (स) **उत्पादन लागत**—यदि वस्तु विशेष की उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न किया जा रहा है, तो उसकी पूर्ति बेलोच होती है (क्योंकि कीमत के बढ़ने पर उसकी पूर्ति को बढ़ाना कठिन होता है) और यदि वस्तु विशेष की उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न किया जा रहा है, तो उसकी पूर्ति लोचदार होती है (क्योकि कीमत के बढने पर पूर्ति को बढाना सुगम होता है)। (द) **समय**—अल्पकाल मे पूर्ति बेलोच और दीर्घकाल मे लोचदार होती है।

परीक्षा प्रश्न :

१. पूर्ति की परिभाषा दीजिये और निम्न में अन्तर बताइये : (अ) 'पूर्ति मे वृद्धि' और 'पूर्ति में विस्तार' एवं (ब) 'पूर्ति में कमी' और 'पूर्ति में संकुचन'।
२. पूर्ति के नियम का कथन दीजिये और इसकी व्याख्या कीजिए। किसी वस्तु की पूर्ति को प्रभावित करने वाले घटक कौन-कौन से हैं ?
३. पूर्ति की लोच से क्या आशय है और इसे कैसे मापा जाता है ?

१८

उदासीनता वक्र अथवा तटस्थता वक्र

(The Indifference Curves)

प्रारम्भिक—

उपयोगिता की माप सम्बन्धी कठिनाई से बचने के लिए कुछ विद्वानों ने यह सुझाव दिया है कि किसी वस्तु को पाने के लिए कोई मनुष्य जितना व्यय करने के लिये तैयार हो जाता है उसी को उस वस्तु की उपयोगिता की माप मान लेना चाहिए। उनके विचार में एक मानसिक विचार की ठोस माप केवल इसी प्रकार हो सकती है। किन्तु यह विचार सही नहीं है। जैसा कि प्रो० पीगू का कथन है, मुद्रा में हम केवल इच्छा की तीव्रता को नाप सकते हैं, उपयोगिता को नहीं।[1] इस प्रकार, मुद्रा उपयोगिता की सही माप नहीं है। वह केवल हमारे अनुराग (Preference) की सूचक होती है। इस कठिनाई से बचने के लिए आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र में उपयोगिता का प्रयोग करना छोड़ दिया है और अधिक वैज्ञानिक विवेचना के लिए एक नई उदासीनता वक्रों (Indifference Curves) की रीति अपनाई है।

उदासीनता वक्र का ऐतिहासिक विकास

अर्थशास्त्र में सबसे पहले पेरिटो (Pareto) नामक एक इटेलियन आर्थिक लेखक ने इस बात पर बल दिया था कि उपयोगिता की माप नहीं हो सकती है।[2] उनके विचार में उपयोगिता केवल एक तुलनात्मक शब्द है, जिसकी निरपेक्ष (Absolute) माप नहीं हो सकती है। इस आधार पर उन्होंने इस बात पर बल दिया कि उपयोगिता के विचार के स्थान पर हमें "अनुराग के पैमाने" (Scale of Preferences) का उपयोग करना चाहिए। एक व्यक्ति यह बताने में तो असमर्थ रह सकता है कि किसी वस्तु से उसे कितनी उपयोगिता मिली है, परन्तु वह इस बात को सुगमतापूर्वक बता देगा कि दी हुई दो वस्तुओं में से किस के लिए उसका अनुराग अधिक है। अत: हमें चाहिए कि उपयोगिता की विवेचना पर अपना समय व्यय न करके अनुरागों का प्राथमिकता क्रम बनाने का प्रयत्न करें।

पेरिटो के पश्चात् प्रो० वीजर (Wieser), एडवर्ड चेम्बरलेन (Edward Chamberlain), ऐलन (Allen), प्रो० बाउले (Bowley) और प्रो० हिक्स (Hicks) ने इस विषय में और आगे काम किया है। हिक्स और ऐलन का विचार है कि सीमान्त उपयोगिता की सही माप न हो सकने के कारण मूल्य-सिद्धान्त को उपयोगिता द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता है, किन्तु उसे "स्थानापन्न-अर्थ" (Rate of Substitution) द्वारा समझाया जा सकता है। उनके विचार में सीमान्त उपयोगिता का कोई निश्चित अर्थ नहीं है, परन्तु स्थानापन्न अर्थ के विषय में ऐसी बात

---

[1] A. C Pigou "*Some Remarks on Utility*", *Economic Journal* 1909.

[2] Pareto : *Manuel' d Economic Politique.*

नहीं है ।[1] इन सब विद्वानों ने इस सम्बन्ध में एक जटिल गणित प्रणाली का उपयोग किया है, जिसे 'उदासीनता-वक्र-प्रणाली" कहा जाता है ।

उदासीनता-वक्र की परिभाषा

मेयर्स (Meyers) के अनुसार, उदासीनता-वक्र एक ऐसा वक्र है जिसके ऊपर प्रत्येक बिन्दु किन्हीं दो उपभोग-वस्तुओं की मात्रायें सूचित करता है, जबकि पूरा वक्र इन दोनों वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उपयोगिता को दिखाता है । इस वक्र का प्रत्येक बिन्दु दोनों वस्तुओं के ऐसे विभिन्न संयोगों (Combinations) को दिखाता है जिनमें से प्रत्येक संयोग से समान कुल सन्तोष प्राप्त होता है । चूँकि संयोग से मिलने वाला सन्तोष बराबर होता है, इसलिए उपभोक्ता इस विषय में पूर्णतः उदासीन या तटस्थ (Indifferent) रहता है कि इन संयोगों में से कौन से संयोग चुने । ईस्टम के शब्दों में, "यह मात्राओं के उन जोड़ों को प्रदर्शित करने वाले बिन्दुओं का मार्ग-पथ (Locus) होता है जिनके बीच व्यक्ति तटस्थ अथवा उदासीन रहता है, इसीलिए इसे तटस्थता वक्र अथवा उदासीनता-वक्र कहते हैं ।"[2] तटस्थता रेखा के प्रत्येक बिन्दु द्वारा समान सन्तुष्टि सूचित होने के कारण उसे 'समान सन्तुष्टि रेखा' (Iso-utility curve) भी कहते हैं ।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

यदि र और म दो वस्तुएँ हैं, तो उदासीनता-वक्र र और म के ऐसे संयोग दिखावेगा, जिनमें प्राप्त होने वाले सन्तोष का योग हर दशा में समान है । यदि र की ६ इकाइयों + म की १० इकाइयों के संयोग से मिलने वाला कुल सन्तोष उतना ही है जितना कि र की १५ इकाइयों और म की ४ इकाइयों से तो ६ र + १० म और १५ र + ४ म ये दोनों ही संयोग एक ही उदासीनता-वक्र पर स्थित दो बिन्दुओं द्वारा दिखाये जायेंगे । निम्न तालिका में समान विभिन्न सन्तोष प्राप्त करने वाली दो वस्तुओं के संयोग दिखाये गये हैं :—

म वस्तु की संख्या	र वस्तु की संख्या	उपयोगिता	विनिमय में दी जाने वाली म वस्तु की संख्या	बदले में ली जाने वाली वस्तु की संख्या
५०	०	×	...	....
४०	१	×	१२	१
३१	२	×	११	१
२३	३	×	१०	२
१६	४	×	७	३
१०	५	×	४	४
५	६	×	२	८
१	७	×	१	१२

उक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि म और र वस्तुओं के ऐसे अनेक संयोग (Combinations) हो सकते हैं, जिनमें से प्रत्येक से उपभोक्ता को समान ही सन्तोष प्राप्त हो । यह उल्लेखनीय है कि जैसे-जैसे किसी संयोग में म वस्तु की मात्रा घटती जायगी, र की मात्रा बढ़ती जायगी । समान सन्तोष देने वाले विभिन्न संयोगों में से किसे चुना जाय इस सम्बन्ध में उपभोक्ता

---

1 J. R. Hicks : *Value and Capital.*

2 "It is the locus of the points representing pairs of quantities between which the individual is indifferent, so it is termed as Indifference Curve." —J. K. Eastham : *An Introduction to Economic Analysis*, p. 50

तटस्थ या उदासीन रहता है। इन संयोगों से ही इस बात का पता चलता है कि म वस्तु की इकाइयों की एक निश्चित मात्रा के बदले में र वस्तु की कितनी मात्रा मिलेगी।

रेखा-चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

उपरोक्त तालिका के आधार पर ही एक रेखाचित्र भी खींचा जा सकता है, जो इस प्रकार होगा :—

यह वक्र दो अक्ष-रेखाओं (Axis) पर खींचा गया है। अ ख रेखा पर म वस्तु की इकाइयाँ और अ क रेखा पर र वस्तु की इकाइयाँ नापी गई हैं। ग वक्र पर प और फ बिन्दु, र और म के दो अलग-अलग संयोग दिखाते हैं। प बिन्दु पर र की माप अ ट के बराबर है और म की माप अ ह के बराबर है, दोनों से प्राप्त होने वाला सन्तोष यहाँ पर अ-ह-प-ट आयत द्वारा सूचित होता है। फ बिन्दु पर र की माप अ च के बराबर है और म की माप अ न के बराबर है। दोनों से प्राप्त होने वाला सन्तोष अ-न-फ-च आयत द्वारा दिखाया जाता है। इनकी विशेषता यह है कि दोनों दशाओं में प्राप्त सन्तोष बराबर है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि अ ह प ट आयत का क्षेत्रफल अ न फ च के क्षेत्रफल के बराबर है।
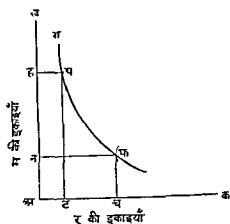
इस वक्र के द्वारा हमें यह पता नहीं चलता कि र और म वस्तुओं से कितनी-कितनी उपयोगिता या सन्तोष यथार्थ में मिलता है। केवल इतना ही पता चलता है कि इन दो वस्तुओं से सम्बन्धित उपयोग के कौन-कौन से संयोग हैं, जिनसे समान सन्तोष मिलता है। उपयोगिता कितनी भी हो, इससे कोई तात्पर्य नहीं है। ग वक्र उन सब संयोगों को दिखाता है जिनमें से प्रत्येक समान सन्तोष देता है तथा जिनके चुनने में उपभोक्ता उदासीन रहता है। यही कारण है कि ग वक्र उदासीनता वक्र कहलाता है। 'उदासीनता वक्र' के स्थान पर इसे '**उपभोग-उदासीनता-वक्र**' कहना कदाचित् और भी अधिक उपयुक्त होगा।

उदासीनता-वक्र की विशेषताएँ

उदासीनता-वक्र को खींचना और समझाना इतना सरल नहीं है जितना कि उपरोक्त उदाहरण से प्रतीत होता है। प्रो० हिक्स (Hicks) ने इस बात पर बल दिया है कि उदासीनता वक्र की ठीक आकृति (Figure) केवल "तीन परिमाणिक आकृति" (Three Dimensional Figure) द्वारा ही खींची जा सकती है। उनका विचार है कि ऐसी आकृति के लिए 'उपयोगिता वक्र' वास्तव में ठीक शब्द नहीं है, अधिक उपयुक्त वाक्यांश है 'उपयोगिता-स्तल' (Utility Surface)। किन्तु उपयोगिता-स्तल को वक्र का रूप देकर "दो परिमाणिक आकृति" (Two Dimensional Figure) में परिवर्तित किया जा सकता है,[1] और अन्त में आकृति की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि साधारण गणित ज्ञान से भी हम इसे समझ लें। अगले पृष्ठ पर उदासीनता वक्र की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है :—

[1] **J. R. Hicks :** ***Value and Capital*****, Chapter 1.**

(१) **उदासीनता वक्र का आकार अ बिन्दु से उन्नतोदर (Convex) होता है ।** कारण, जैसे-जैसे हम इस वक्र पर नीचे की ओर बढ़ते हैं, अ ख अक्ष (Axis) की लम्बाई बढ़ती चली जाती है । पीछे दिये हुए उदासीनता वक्र में प बिन्दु से फ बिन्दु तक आने में अ ख के साथ नापी जाने वाली लम्बाई अ ट से बढ़ कर अ च के बराबर हो जाती है । इसके विपरीत, नीचे से ऊपर जाने में अ ख अक्ष के साथ नापी जाने वाली लम्बाई बढ़ती चली जाती है ।

अब हमें यह देखना है कि प से फ पर उतरने में अ क अक्ष पर नापी जाने वाली लम्बाई के बढ़ने का क्या अर्थ होता है ? यह इस बात को सिद्ध करता है कि यदि उपभोक्ता म वस्तु की इकाइयों के उपभोग को कम करे, तो उसे र वस्तु के उपभोग को बढ़ाना पड़ता है, क्योंकि म का उपभोग कम करने से म की उपयोगिता कम होती चली जाती है, जिसकी पूर्ति करने के लिए र की बढ़ती हुई इकाइयों का उपभोग आवश्यक होता है । केवल ऐसा करने से ही उसे प्राप्त होने वाला कुल सन्तोष यथास्थिर रह सकता है । यह एक साधारण-सी बात है कि जब हम एक वस्तु के उपभोग को कम करते हैं, तो इससे कुल सन्तोष में जो कमी आये, उसे पूरा करने के लिए हमें दूसरी वस्तु का अधिक उपयोग करना पड़ता है । जब एक वस्तु के उपयोग की मात्रायें बहुत कम रह जाती हैं तो उसका उपभोग न करने से सन्तोष की अधिक हानि होती है और इसलिए दूसरी वस्तु के उपभोग की मात्रा में बहुत वृद्धि करनी पड़ती है । तब कहीं पहले जितने सन्तोष की प्राप्ति सम्भव होती है ।

इसके विपरीत, जब किसी वस्तु के उपभोग की मात्रायें बहुत अधिक हो जाती हैं, तो उसकी अगली इकाई से साधारणतया बहुत कम सन्तोष मिलता है । अब यदि हम पहली वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु के उपयोग द्वारा सन्तोष की हानि को पूरा करना चाहते हैं, तो पहली वस्तु की प्रत्येक इकाई के बदले में दूसरी वस्तु की बढ़ती हुई इकाइयों का उपभोग करना पड़ेगा। यह बात साधारणतया सभी वस्तुओं के विषय में सत्य है । किन्तु दो वस्तुयें यदि ऐसी हैं जिनमें से एक की उपयोगिता दूसरी की उपयोगिता पर आधारित है, तो सम्भव है कि ऐसा न हो । यह इस कारण होता है कि साधारणतया प्रत्येक वस्तु के स्टॉक में वृद्धि होने से उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती है और कमी होने पर उसकी सीमान्त उपयोगिता बढ़ती है । इसी कारण हमें इस बात की आवश्यकता है कि दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन करें ।

दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि जैसे-जैसे हम एक वस्तु के स्थान पर दूसरी का उपभोग बढ़ाते जाते हैं, स्थानापन्न-अर्घ (Rate of Substitution) क्रमशः बढ़ता जाता है । दूसरे शब्दों में, सीमान्त स्थानापन्न-अर्घ (Marginal rate of Substitution) बढ़ता चला जाता है । उन्नतोदर वक्र इसी बात को सूचित करता है ।

(२) **दो उदासीनता वक्र एक-दूसरे को कभी नहीं काटते ।** इसका कारण यह है कि दो अलग-अलग वस्तुओं की मात्राओं से सम्बन्धित उदासीन वक्र अलग-अलग होते हैं । कुछ दशाओं में उदासीनता वक्र का आकार गोलाकार भी होता है । यह आकार प्रायः उन वस्तुओं से सम्बन्धित उदासीनता वक्र का होता है जिनके उपभोग से एक निश्चित मात्रा के पश्चात् ऋणात्मक उपयोगिता (Negative Utility) मिलने लगती है । अन्तिम दशा में लम्बे काल के उपभोग के पश्चात् प्रत्येक वस्तु इसी प्रकार की हो जाती है और इसलिए अधिकतर वस्तुओं के उदासीनता वक्र प्रायः गोलाकार हो जाते हैं ।

(३) **कोई भी उदासीनता वक्र अ क अक्ष (Axis of X) अथवा अ ख (Axis of Y) को स्पर्श नहीं करता ।** कारण, उदासीनता वक्र सीधा ही इस आधार पर जाता है कि एक व्यक्ति दो अलग-अलग वस्तुओं के विभिन्न संयोगों का उपयोग करता है । यदि कोई उदासीनता वक्र अ ख अक्ष को छ बिन्दु पर स्पर्श करता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि व्यक्ति विशेष एक

वस्तु की अ छ इकाइयों तथा दूसरी की शून्य इकाइयों से सन्तुष्ट हो जाता है। किन्तु यह हमारी आधारभूत मान्यता के विरुद्ध है। हम यह मानकर चले थे कि व्यक्ति विशेष दोनों ही वस्तुओं का उपभोग करता है, यद्यपि एक के उपभोग की मात्रा कम और दूसरे की अधिक हो सकती है।

[केवल एक ही दशा में उदासीनता वक्र किसी अक्ष को स्पर्श कर सकता है। यदि दो वस्तुओं में से एक मुद्रा (Money) है, जिसे (मान लीजिए कि) हम अ ख अक्ष पर मान रहे हैं, तो इस विशेष दशा में यह हो सकता है कि उदासीनता वक्र अ ख से छ बिन्दु पर स्पर्श करे। ऐसी दशा का तात्पर्य (जैसा कि चित्र में दिखाया गया है) यह है कि व्यक्ति विशेष या तो मुद्रा की अ छ इकाइयाँ लेना चाहेगा अथवा वह क वस्तु की कुछ इकाइयाँ तथा मुद्रा की कुछ मात्रा लेना चाहेगा। इस चित्र में ल बिन्दु पर व्यक्ति विशेष वस्तु की अ र इकाइयों तथा मुद्रा की अ प इकाइयों का उपभोग करेगा और इस दशा में उसे उतना ही सन्तोष मिलेगा जितना कि मुद्रा की अ छ इकाइयों से।]
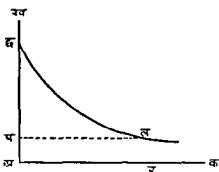
(४) **सभी उदासीनता वक्र साधारणतया बाईं ओर से दाहिनी ओर को नीचे की ओर जाते हैं।** बात यह है कि सन्तोष को समान स्तर पर बनाये रखने के लिए यह आवश्यक होता है कि जैसे-जैसे हम एक वस्तु को अधिक मात्रा में लें, दूसरी वस्तु कम मात्रा में लेनी चाहिये। ऊपर की ओर (अथवा धनात्मक) ढाल वाला उदासीनता वक्र असम्भव है, क्योंकि ऐसा वक्र यह दिखायेगा कि ऐसे दो संयोगों से, जिनमें से एक में दोनों वस्तुयें कम मात्रा में हैं और दूसरे में दोनों वस्तुयें अधिक मात्रा में हैं, प्राप्त होने वाला सन्तोष बराबर है, जो स्पष्टतः असम्भव होगा। यही कारण है कि उदासीनता वक्र का ढाल ऋणात्मक होता है, अर्थात्, वह ऊपर से नीचे की ओर गिरती हुई वक्र रेखा होनी है।

(५) **आवश्यक नहीं है कि उदासीनता वक्र एक-दूसरे के समानान्तर हों।** इसके दो कारण हैं—प्रथमत, उदासीनता वक्र गुणात्मक माप प्रणाली पर आधारित न होकर परिमाण-वाचक माप प्रणाली पर आधारित होते हैं। दूसरे, सभी उदासीनता सारणियों में दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन-दर का समान होना आवश्यक नहीं है। इसका अर्थ यह होता है कि उदासीनता वक्र किसी भी प्रकार खींचे जा सकते हैं। वे एक-दूसरे के समानान्तर भी हो सकते हैं और नहीं भी।

(६) किसी भी उपभोक्ता के लिये **उदासीनता वक्रों का एक क्रम** (Series) होता है, केवल एक ही उदासीनता वक्र नहीं। एक वक्र सन्तोष के एक स्तर को दिखाता है, और उसकी दाईं ओर ऊपर का प्रत्येक वक्र अधिक सन्तोष को दिखाता है। साथ के रेखाचित्र में उदासीनता वक्रों का ऐसा ही क्रम दिखाया गया है। $उ_1$ सबसे नीचे का वक्र है और सन्तोष के सबसे नीचे स्तर को दिखाता है। $उ_2$, $उ_3$, $उ_4$, $उ_5$ क्रमशः ऊँचे तथा और ऊँचे सन्तोष-स्तरों को दिखाते हैं किन्तु यह नहीं बताते कि उपयोगिता (या सन्तोष) पहले की अपेक्षा मात्रा 'कितनी' अधिक मिलने लगी है।
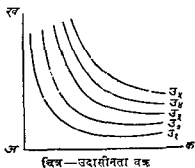
चित्र—उदासीनता वक्र

जब अनेक तटस्थता वक्रों को, जो कि उपभोक्ता विशेष के लिये सन्तोष के विभिन्न स्तरों को सूचित करते हैं, एक ही चित्र के द्वारा दिखाया जाता है, तो ऐसे चित्र को 'तटस्थता मानचित्र' (Indifference map) कहते हैं। इस चित्र की तुलना एक 'भौगोलिक परिधि रेखा मानचित्र' (Geographical contour map) से की जा सकती है। जिस प्रकार एक परिधि रेखा (Contour) समान ऊँचाई के स्थानों को दिखाती है, उसी प्रकार एक तटस्थता रेखा समान सन्तुष्टि वाले संयोगों को बताती है, और, जिस प्रकार विभिन्न परिधि रेखायें विभिन्न ऊँचाइयाँ इंगित करती है उसी प्रकार विभिन्न तटस्थता रेखायें विभिन्न सन्तुष्टि-स्तरों को बताती हैं।

(७) बहुत से उदासीनता वक्र गोलाकार (Circular Indifference Curves) होते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक उदासीनता वक्र गोलाकार ही हो। किसी भी उदासीनता वक्र का रूप इस बात पर निर्भर होता है कि सन्तोष को समान स्तर पर बनाये रखने के लिए एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तु का किस दर पर प्रतिस्थापन होता है। निम्न चित्र में दो उदासीनता वक्र दिखाये गये हैं, जिनमें से एक गोलाकार है और दूसरा अण्डाकार (Elliptical) है।

$उ_1$ वक्र गोलाकार है और $उ_2$ अण्डाकार। इन वक्रों द्वारा क और ख वस्तुओं के उदासीनता संयोग दिखाये गये है। मान लीजिए प उदासीनता वक्र $उ_1$ पर एक बिन्दु है और म उदासीनता वक्र $उ_2$ पर एक ऐसा बिन्दु है कि दोनों बिन्दुओं द्वारा क और ख के जो संयोग दिखाये गये है उनमें ख की मात्रा (अ ओ) बराबर है। परन्तु $उ_1$ वक्र के सम्बन्ध मे प बिन्दु द्वारा दिखाये हुए संयोग मे क की मात्रा अ इ है और म बिन्दु द्वारा दिखाये हुए संयोग में अर्थात् $उ_2$ वक्र पर क की मात्रा अ ए है। अब मान लीजिए कि ख वस्तु की मात्रा अ ओ से घटाकर अ ओ कर दी जाती है। ख वस्तु की मात्रा की इस कमी की पूर्ति के लिए $उ_1$ तथा $उ_2$ दोनों मे क की मात्रा बढानी होगी। $उ_1$ मे क की मात्रा मे इ ई की वृद्धि ही सन्तोष को यथास्थित रखने के लिये पर्याप्त है परन्तु $उ_2$ मे इसके लिये क की मात्रा मे ए ऐ अर्थात् अधिक मात्रा मे वृद्धि आवश्यक होगी। यही कारण है कि $उ_1$ तथा $उ_2$ के रूप अलग-अलग हैं। जब एक वस्तु की कमी को पूरा करने के लिये दूसरी वस्तु की मात्रा को थोड़ा-सा ही बढा देने से सन्तोष यथास्थित रखा जा सकता है, तो उदासीनता वक्र के गोलाकार बन जाने की सम्भावना रहती है।

उपरोक्त विवेचन से एक और बात का पता चलता है कि उदासीनता वक्र एक घिरा हुआ चित्र (Closed figure) होता है जो गोलाकार अथवा अण्डाकार हो सकता है। ऊपर के चित्र मे यदि दोनो वक्रो को पूरा-पूरा खींच दिया जाये तो वे घिरे हुए चित्र बनायेंगे।

सीमान्त स्थानापन्न अर्घ
(Marginal Rate of Substitution)

उदासीनता वक्र के अध्ययन मे सबसे महत्वपूर्ण अध्ययन 'सीमान्त स्थानापन्न अर्घ' का है। एक वस्तु की निश्चित मात्रा के बदले में दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा मिलेगी अथवा एक वस्तु का दूसरी से प्रतिस्थापन हम किस दर पर करते हैं, इस प्रश्न का उत्तर हमे सीमान्त स्थानापन्न अर्घ (Marginal Rate of Substitution) से मिलता है। सीमान्त प्रतिस्थानापन्न दर का विचार अर्थशास्त्र को हिक्स और ऐलन की देन है।
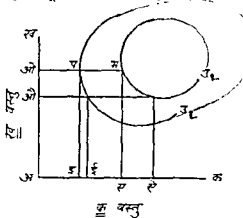
मान लीजिये कि क के पास चीनी है और ख के पास दूध, और दोनो व्यक्ति विनिमय करना चाहते हैं। विनिमय दर यह बतायेगी कि चीनी की एक निश्चित मात्रा के बदले मे कितना दूध दिया जाता है। परन्तु विनिमय केवल उसी दशा मे सम्भव हो सकेगा जबकि चीनी और दूध की सीमान्त उपयोगिताओं का अनुपात (Ratio) क और ख दोनों के लिए अलग-अलग है। इसी अनुपात को 'सीमान्त स्थानापन्न अर्घ' कहा जाता है। हिक्स (Hicks) के शब्दों में, "हम क के स्थान मे ख के प्रतिस्थापन की सीमान्त अर्घ ख की उस मात्रा के रूप मे परिमापित कर सकते है जो क की सीमान्त इकाई देने से उपभोक्ता को पहुँचने वाली हानि की क्षतिपूर्ति मात्र कर दे।"[1]

वास्तव मे यह ख मे क की सीमान्त उपयोगिता मात्र है। इस अध्ययन की सहायता से हम उपयोगिता की माप किये बिना ही प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution), अधिकतम् सन्तोष नियम (Law of Maximum Satisfaction) और उपभोक्ता की बचत आदि की व्याख्या कर सकते हैं। इस अध्ययन से हमे यह पता तो नही चलता है कि हमे कितना अधिकतम् कुल सन्तोष मिला है, परन्तु यह पता अवश्य चल जाता है कि दी हुई परिस्थितियों में हमारा सन्तोष "अधिकतम्" हुआ या नही।

गणित वर्ग के अर्थशास्त्रियो ने एक और भी नया विचार प्रस्तुत किया है, जिसको **प्रतिस्थापन की लोच** (Elasticity of Sabstitution) कहा जाता है। यह विचार माँग की लोच से मिलता-जुलता ही है। इस विचार की सहायता से उस दर (Rate) का पता लगाया जाता है जिससे सीमान्त पर (At the Margin) दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन होता है। यह निश्चय है कि "एक व्यक्ति, किसी समय विशेष मे प्रचलित कीमतों को ध्यान में रखते हुए, केवल तब ही साम्य-अवस्था मे हो सकता है, जबकि किन्ही दो वस्तुओ की कीमतों का अनुपात, इन दोनो वस्तुओ के बीच उसकी सीमान्त प्रतिस्थापन-अर्घ के बराबर हो, अन्यथा उस बाजार-भाव पर उस व्यक्ति के लिए यह लाभदायक होगा कि वह एक वस्तु के एक भाग के स्थान मे समान कीमत की अन्य वस्तु के एक भाग का उपयोग करे।"[2]

जैसा कि हमने पहले भी बताया है, हिक्स के अनुसार म वस्तु का सीमान्त प्रतिस्थापन अर्घ य वस्तु की उस मात्रा के बराबर होती है जो उपभोक्ता के प वस्तु के उपभोग न करने के त्याग का निवारण मात्र करेगी। अग्र तालिका मे सीमान्त प्रतिस्थापन अर्घ दिखाई गई है:—

---

[1] "We may define the marginal rate of substitution of X for Y as the quantity of Y which would just compensate the consumer for the loss of marginal unit of X."—**Hicks** : *Value and Capital*, Chap I, p. 6.

[2] **Briggs and Jordan** : *A Text Book of Economics*, p. 94.

म वस्तु की संख्या	प वस्तु की संख्या	उपयोगिता	विनिमय में दी जाने वाली म वस्तु की संख्या	बदले में मिलने वाली प वस्तु की संख्या	म की प में सीमान्त प्रतिस्थापन अर्घ	प की म में सीमान्त प्रतिस्थापन अर्घ
१	२	३	४	५	६	७
५०	०	X	....	....	....	....
४०	१	X	१२	१	१२	१ १/१२ १
३१	८	X	११	१	११	१ १/११ १
२१	३	X	१०	२	१०/२ = ५	१ २/१० १
१६	४	X	७	३	७/३	१ ३/७ १
१०	५	X	४	४	४/४ = १	१ ४/४ = १ १
५	६	X	२	८	२/८ = १/४	१ ८/२ = ४ १
१	७	X	१	१२	१/१२	१२ १

उदासीनता वक्रों द्वारा माँग की विवेचना
(Demand Analysis Through Indifference Curves)

माँग का विवेचन उपयोगिता अध्ययन के आधार पर किया जा सकता है, परन्तु इसमें उपयोगिता की परिमाणवाचक माप की आवश्यकता पड़ती है, जो एक कठिन कार्य है। किन्तु उदासीनता वक्र विवेचन में उपयोगिता की इस प्रकार की माप आवश्यक नहीं होती है, इसलिए विवेचन सरल हो जाता है। इस सम्बन्ध में हम सबसे पहले अपना अध्ययन 'उपभोक्ता के सन्तुलन' अथवा 'उपभोक्ता की सस्थिति' से आरम्भ करते हैं।

उपभोक्ता का सन्तुलन (Equilibrium of the Consumer)—

जब केवल दो ही वस्तुओं का अध्ययन करना है, तो उपभोक्ता के सन्तुलन की स्थिति जानने के लिए हमें दो बातों की आवश्यकता पड़ती है—(i) उपभोक्ता का उदासीनता चित्र (Indifference Map) तथा (ii) कीमत रेखा (Price Line)।

(१) उदासीनता चित्र—उदासीनता वक्र वह विधि है जिसके द्वारा दो वस्तुओं के सम्बन्ध में किसी व्यक्ति का अनुराग एक ग्राफ (Graph) की सहायता से दिखाया जाता है। उपभोक्ता की किसी निश्चित आय से सम्बन्धित इन दो वस्तुओं के अनुराग का उसका कोई एक उदासीनता वक्र होता है। परन्तु आय के प्रत्येक परिवर्तन के साथ-साथ इस प्रकार का उदासीनता वक्र बदल जाता है। इस प्रकार, आय के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित अनेक उदासीनता वक्र होते हैं। ऐसे उदासीनता वक्रों के क्रम (Series) को 'उदासीनता चित्र' का नाम दिया जाता है। (चित्र-पृष्ठ १२६) यह स्पष्ट है कि उदासीनता चित्र एक व्यक्ति के अनुराग पर निर्भर होगा और जब तक उस व्यक्ति की रुचियों में कोई परिवर्तन न होगा, वह ज्यों का त्यों बना रहेगा। परन्तु रुचियों के बदलते ही पुराना उदासीनता चित्र बेकार हो जाता है और नया चित्र आवश्यक होता है।

(२) **कीमत रेखा**—अब हमें यह देखना है कि कीमत रेखा किस प्रकार खींची जाती है। मान लीजिए कि ग और घ दो वस्तुयें हैं, जिनमे से ग व्यक्ति विशेष की आय को सूचित करती है और घ कोई ऐसी वस्तु है जिसपर इस आय को व्यय किया जाता है। मान लीजिए कि आय की अ ग मात्रा से घ वस्तु की अ घ मात्रा खरीदी जा सकती है। ऐसी दशा मे निम्न चित्र मे ग घ रेखा 'आय-विनिमय', 'आय कीमत' अथवा 'कीमत रेखा' होगी। यह रेखा उन सब बिन्दुओ का विन्दु-पथ (Locus) होगी जो ग और घ के ऐसे सयोग
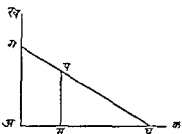
चित्र—कीमत रेखा

दिखाते है जिन्हे वह व्यक्ति लेगा। यह सम्भव है कि व्यक्ति विशेष ग की अ ग मात्रा ले और घ बिल्कुल न ले अथवा घ की अ घ मात्रा ले ग बिल्कुल न ले अथवा ग की प म मात्रा ले तथा घ की अ म मात्रा। प्रत्येक दशा मे उसको प्राप्त होने वाला सन्तोष समान होगा। जब तक व्यक्ति विशेष की आय तथा ग और घ के बीच विनिमय दर समान रहे उपरोक्त सयोगो मे से प्रत्येक सयोग समान रूप से सन्तोषदायक होगा। परन्तु आय अथवा विनिमय दर इन दोनों मे से किसी भी एक मे परिवर्तन होने से यह स्थिति बदल जायगी।
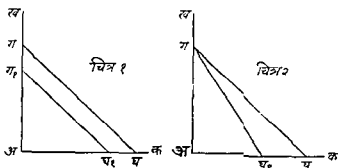
चित्र—आय एव विनिमय अनुपात के परिवर्तन

यदि आय मे परिवर्तन हो जाता है, तो कीमत रेखा बदल जाती है, और, ठीक इसी प्रकार, यदि घ वस्तु की कीमत अथवा ग और घ के बीच का विनिमय अनुपात बदल जाता है तो कीमत रेखा बदल जाती है। चित्र १ मे आय के परिवर्तन को दिखाया गया है। जब आय अ ग है तो कीमत रेखा ग घ है। यदि आय घटकर अ $ग_1$ हो जाय परन्तु ग और घ की विनिमय दर यथास्थित रहे, तो कीमत रेखा $ग_1$ $घ_1$ हो जाती है जो ग घ के समानान्तर है और इस बात का सूचक है कि घ वस्तु की कीमत अथवा ग और घ वस्तुओ के बीच का अनुपात यथास्थित रहता है।

चित्र २ मे आय यथास्थिर है (अर्थात् अ ग के बराबर), परन्तु ग और घ के बीच का विनिमय अनुपात बदल जाता है। कीमत रेखा ग घ के स्थान पर ग $घ_1$ हो जाती है, जो इस बात को दिखाती है कि अब ग वस्तु की अ ग मात्रा के बदले मे घ वस्तु की अ घ मात्रा के स्थान पर केवल अ $घ_1$ मात्रा ही मिलती है।

(३) **उपभोक्ता का सतुलन**—उपभोक्ता दो वस्तुओं के किस सयोग को लेगा, यह प्रश्न

महत्त्वपूर्ण है। यदि उपभोक्ता की रुचियाँ, उसकी आय तथा दोनों वस्तुओं के बीच का अनुपात यथास्थित रहें, तो उपभोक्ता दो वस्तुओं के उस संयोग को लेगा जहाँ पर सम्बन्धित कीमत रेखा किसी उदासीनता वक्र को स्पर्श करती है, जैसा कि साथ के रेखा-चित्र में दिखाया गया है। इस चित्र में प बिन्दु पर उपभोक्ता का सन्तुलन प्राप्त होता है, क्योंकि ग घ कीमत रेखा इस बिन्दु पर उदासीनता वक्र ३ को स्पर्श करती है। प के ऊपर अथवा नीचे के किसी उदासीनता वक्र पर स्थित कोई भी संयोग उपभोक्ता पसन्द नहीं करेगा, क्योंकि उससे अधिक अथवा कम सन्तोष प्राप्त होगा।
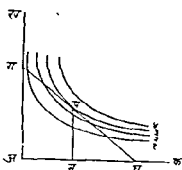
चित्र—उपभोक्ता का सन्तुलन

आय एवं प्रतिस्थापन प्रभाव (Income and Substitution Effects)—

उपरोक्त विवेचन हमने यह मान कर किया है कि उपभोक्ता की रुचियाँ, आय तथा दोनों वस्तुओं के बीच विनिमय दर, ये तीनों कारक यथास्थित रहते हैं। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इन तीनों में परिवर्तन हो जाने का उपभोक्ता के सन्तुलन पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इनमें से रुचि के बारे में यह उल्लेखनीय है कि उपभोक्ता की रुचियाँ बदल जाने से उपभोक्ता का उदासीनता चित्र ही बदल जाता है, जिससे पूर्णतया नये आधार पर उदासीनता चित्र खींचना पड़ेगा। अतः रुचियों का परिवर्तन तो हमारे विवेचन को ही बदल देगा। फलतः हम अन्य दो कारकों के परिवर्तन के प्रभाव को ही देखने का प्रयत्न करेंगे।

(१) आय प्रभाव (Income Effect)— आय के परिवर्तन का प्रभाव इस प्रकार होगा कि जबकि उदासीनता चित्र तो यथास्थित रहेगा तब कीमत रेखा पुरानी कीमत रेखा के समानान्तर रहते हुए कोई नया स्थान प्राप्त कर लेगी। ऐसी दशा में जैसा कि निम्न चित्र दिखाता है। नई कीमत रेखाओं से सम्बन्धित उपभोक्ता सन्तुलन की नई स्थितियाँ $प_1$, $प_2$, $प_3$ $प_4$ तथा $प_5$ बिन्दुओं द्वारा दिखाई जावेंगी।

इस चित्र में $ग_3 घ_3$ प्रारम्भिक कीमत रेखा है, जबकि आय अ $ग_3$ के बराबर है। $प_3$ इस आय से सम्बन्धित उपभोक्ता सन्तुलन बिन्दु है, क्योंकि $प_3$ बिन्दु पर $ग_3$ घ रेखा उदासीनता वक्र ३ को स्पर्श करती है। आय के घटने की दशा में कीमत रेखाएँ $ग_2घ_2$ तथा $ग_1$ $घ_1$ बन जाती हैं और ये रेखाएँ उदासीनता वक्र २ और १ को $प_2$ तथा $प_1$ बिन्दुओं पर स्पर्श करती हैं, जो $ग_2$ $घ_2$ तथा $ग_1$ $घ_1$ कीमत रेखाओं से सम्बन्धित उपभोक्ता सन्तुलन बिन्दु हैं। ठीक इसी प्रकार यदि आय बढ़ कर अ $ग_4$ तथा अ $ग_5$ हो जाती है, तो कीमत रेखाएँ $ग_4$ $घ_1$ तथा $ग_5$ $घ_5$ हो जाती हैं नये उपभोक्ता सन्तुलन बिन्दु क्रमशः $प_4$ और $प_5$ हो जाते हैं, जहाँ ये कीमत रेखाएँ उदासीनता वक्र ४ और ५ को स्पर्श करती हैं। इस प्रकार, प्रत्येक बार, जब उपभोक्ता की आय में परिवर्तन होते हैं तो, उसके सन्तुलन की स्थिति बदल जाती है। इस चित्र में $प_1$ $प_2$ $प_3$ $प_4$ $प_5$ रेखा जो बिन्दुदार दिखाई गई है, 'आय-उपभोग वक्र' (Income Consumption Curve) है।
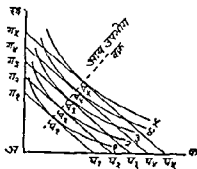
चित्र—आय प्रभाव
(आय-उपभोग-वक्र)

प वस्तु की कीमत	प वस्तु की खरीदी हुई मात्रा
$\frac{\text{अ ग}}{\text{अ घ}_1}$ (अर्थात् $क_1$)	अ $च_1$
$\frac{\text{अ ग}}{\text{अ घ}_2}$ (अर्थात् $क_2$)	अ $च_2$
$\frac{\text{अ ग}}{\text{अ घ}_3}$ (अर्थात् $क_3$)	अ $च_3$
$\frac{\text{अ ग}}{\text{अ घ}_4}$ (अर्थात् $क_4$)	अ $च_4$
$\frac{\text{अ ग}}{\text{अ घ}_5}$ (अर्थात् $क_5$)	अ $च_5$
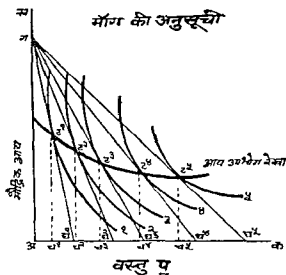
यदि हम उपरोक्त परिमाणों को मौलिक माप दे सकें, तो माँग की यह अनुसूची माँग की परम्परागत अनुसूची से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। इन विन्दुओं को ग्राफ पेपर पर स्थिर करने से माँग की रेखा प्राप्त हो जायगी जो बायीं ओर से दाहिनी ओर नीचे को जायगी और यह सूचित करेगी कि प्रत्येक अगली नीची कीमत पर माँग की मात्रा बढ़ेगी।

निम्न रेखाचित्र में माँग की रेखा का निर्माण दिखाया गया है। इस चित्र में भी पिछले चित्र की भाँति ग $घ_1$, ग $घ_2$, ग $घ_3$, ग $घ_4$ तथा ग $घ_5$ कीमत रेखायें है, जो तटस्थता वक्र १, २, ३, ४, और ५ को क्रमश. $ट_1$, $ट_2$, $ट_3$, $ट_4$, और $ट_5$, विन्दुओं पर स्पर्श करती हैं। इन पाँचों विन्दुओं को मिलाकर आय उपभोग रेखा प्राप्त की जा सकती है। हम जानते हैं कि $\frac{\text{अ ग}}{\text{अ घ}_1}$, $\frac{\text{अ ग}}{\text{अ घ}_2}$, $\frac{\text{अ ग}}{\text{अ घ}_3}$, $\frac{\text{अ ग}}{\text{अ घ}_4}$, तथा $\frac{\text{अ ग}}{\text{अ घ}_5}$ कीमतों पर माँग की मात्राएँ क्रमशः अ $च_1$, अ $च_2$, अ $च_3$, अ $च_4$ तथा अ $च_5$ हैं। अब कीमत $\frac{\text{अ ग}}{\text{अ घ}_1}$ के सम्बन्ध में, जिस पर माँग की मात्रा अ $च_1$ है, हम वस्तु क की एक और इकाई को लेते है जो मान लीजिए $च_1$ $त_1$ है।

अब $त_1$ बिन्दु से हम $त_1$ $प_1$ रेखा ग $घ_1$ के समानान्तर खींचते हैं जो $ट_1$ $च_1$ रेखा को $प_1$ बिन्दु पर काटती है। चूँकि $प_1$ $त_1$ रेखा ग $घ_1$ के समानान्तर है इसलिए यह वही कीमत दिखाती है
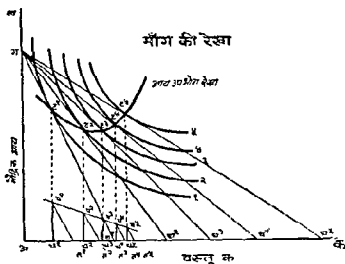
जो ग $घ_1$ रेखा दिखाती है। अर्थात्, प $म_1$ कीमत पर क वस्तु की अ $च_1$ मात्रा खरीदी जायगी। जिस प्रकार हमने $त_1$ बिन्दु को लिया था उसी प्रकार हम $त_1$, $त_2$, $त_3$, $त_4$ और $त_5$ बिन्दुओं को भी लेते है और इन बिन्दुओं से क्रमशः, $म_2$ $त_2$, $म_3$ $त_3$, $म_4$ $त_4$, तथा $म_5$ $त_5$ रेखाएँ $ट_2$ $च_2$, $ट_3$ $च_3$, $ट_4$ $च_4$, $ट_5$ $च_5$ को क्रमशः $त_2$, $त_3$, $त_4$, तथा $त_5$, बिन्दुओं पर काटती हुई ग $घ_2$, ग $घ_3$, ग $घ_4$, तथा ग $घ_5$ के समानान्तर खींचते हैं जो क्रमशः ग $घ_2$, ग $घ_3$, ग $घ_4$ तथा ग $घ_5$ के बराबर कीमतें दिखायेंगी। अब हम जानते हैं कि $प_2$ $च_2$, $प_3$ $च_3$, $प_4$ $च_4$, तथा $प_5$ $च_5$ कीमतों पर माँग की मात्रायें क्रमशः प $च_2$, प $च_3$, प $च_4$, तथा प $च_5$ होंगी। अतः $प_1$, $प_2$, $प_3$, $प_4$ तथा $प_5$ बिन्दुओं को मिलाने से जिस रेखा का निर्माण होगा वही माँग की परम्परागत रेखा होगी।

उदासीनता वक्र विधि और उपयोगिता विवेचन की तुलना

उदासीनता वक्र विधि की श्रेष्ठता—

उदासीनता वक्र विधि के उपयोग का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसका उपयोग अनेक कार्यों के लिए किया गया है। अब सभी अर्थशास्त्री निम्न कारणों से उपयोगिता विवेचन पर इसकी श्रेष्ठता स्वीकार करते है:—(१) यह विधि अधिक यथार्थिक (More realistic) है। परम्परागत माँग के अध्ययन मे हम केवल एक वस्तु मे ही माँग का अध्ययन करते है जो बहुत ठीक नही है। इस नई विधि मे हम माँग की समस्या दो, तीन या अधिक वस्तुओं के सम्बन्ध मे कर सकते है। (२) इस प्रणाली मे उपयोगिता अथवा सन्तोष के परिमाण को नापने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यह हम पहले देख चुके है कि उपयोगिता की परिमाणवाचक माप अनुमानजनक (Arbitrary) होती है। नई-विधि मे केवल इतना आवश्यक है कि एक सन्तोष स्तर की दूसरे से तुलना कर लें, भले दोनो का परिमाण सम्बन्धी अन्तर कितना ही क्यों न हो। यह नई विधि परिमाणवाचक माप (Cardinal system) के स्थान पर गुणात्मक माप (Ordinal system) पर आधारित है। (३) परम्परागत माँग-विवेचन आय तथा प्रतिस्थापन-प्रभावों को, जो कि वस्तु के कीमत-परिवर्तनो के कारण उसकी माँग की मात्रा पर पडते है, व्यक्त करने मे असमर्थ है, किन्तु उदासीनता वक्र विवेचन इन प्रभावो को पूर्णतया दिखा देता है।

उदासीनता वक्र विधि की श्रेष्ठता कोरा भ्रम है—

फिर भी, ऐसे बहुत से अर्थशास्त्री हैं जो यह नहीं मानते कि नई विधि किसी प्रकार पुरानी विधि से पृथक है। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(१) **केवल शब्दावली का अन्तर**—कहा गया है कि दोनों विधि के बीच का अन्तर केवल शब्दावली का अन्तर है। कारण, आधारभूत दृष्टि से दोनो मे कोई अन्तर नही है। हमने नई विधि मे उपयोगिता शब्द के स्थान पर 'अनुराग' का, सीमान्त उपयोगिता के स्थान पर 'सीमान्त प्रतिस्थापन दर' का और सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के स्थान पर 'सीमान्त प्रतिस्थापन दर ह्रास नियम' का उपयोग किया है किन्तु इससे क्या अन्तर पड सकता है ? ठीक इसी प्रकार, यदि हम परिमाणवाचक गणना प्रणाली (Cardinal system) के एक, दो तीन के स्थान पर गुणात्मक गणना प्रणाली (Ordinal system) का पहला, दूसरा, तीसरा का उपयोग करते हैं तो क्या अन्तर आता है ? इसी प्रकार, यदि यह कहने के स्थान पर कि 'उपभोक्ता का सन्तुलन वहाँ स्थापित होता है, जहाँ एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता और इसकी कीमत का अनुपात दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता और इसकी कीमतो के अनुपात के बराबर हो', हम यह कहते है कि "दो वस्तुओं के बीच की प्रतिस्थापित दर उनकी कीमतो के अनुपात के बराबर होनी चाहिए", तो हमने कौन-सी नई बात कह दी है ? यह तो नई बोतलो मे पुरानी शराब ही है।

(२) **दोनों विधियों का आधार अवास्तविक मान्यतायें**—दोनों विधियों की तुलना और भी आगे की जा सकती है। उपयोगिता विवेचन मे हम यह मानकर चलते हैं कि उपभोक्ता विवेकशील है और प्रत्येक व्यय सोच-विचार कर करता है। उदासीनता वक्र विवेचन भी ऐसा ही मान्यता पर आधारित है। यहाँ मान्यता यह है कि सभी उपभोक्ता अपनी अनुराग अनुसूचियो से परिचित हैं। हमने यह मान लिया कि यह मान्यता सही नहीं है कि एक व्यक्ति सदा विवेकशील होता है परन्तु क्या यह मान्यता भी उतनी ही अवास्तविक नही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अनुराग अनुसूचियो को पूर्ण रूप मे जानता है ? हो सकता है कि उपभोक्ता को दो वस्तुओं के एक-दो सयोगो के विषय मे कुछ मोटा-मोटा ज्ञान हो, परन्तु उससे यह आशा करना गलत होगा कि वह असख्य सयोगो के विषय मे पूरा-पूरा ज्ञान रखता होगा। इस दृष्टि से दोनो विधियाँ समान रूप मे दोष पूर्ण हैं।

(३) **उदासीनता वक्र विधि की सीमायें**—सच तो यह है कि उदासीनता वक्र विधि की भी सीमाएँ हैं। जब हम केवल दो वस्तुओं से सम्बन्धित उपभोक्ता के चुनाव और उसके व्यय का अध्ययन कर रहे हैं तो यह विधि सरल और लाभदायक है। परन्तु, ऐसी साधारण स्थितियाँ वास्तविक जीवन मे बहुत कम होती है। यह तो सही है कि जब वस्तुओं की सख्या दो से अधिक है तब भी इस प्रणाली का उपयोग किया जा सकता है परन्तु यह इतनी जटिल और गणित-जटिल बन जाती है कि साधारण व्यक्तियो की पहुँच से बाहर चली जाती है।

क्या उदासीनता वक्र विवेचन उपयोगिता विवेचन का ही दूसरा रूप है ?

नई विधि पुरानी विधि का केवल रूपान्तरण मात्र नहीं, वरन् कुछ अधिक है—(१) कम सामग्री के आधार पर समान निष्कर्ष—इस प्रकार हिक्स के शब्दो मे, "सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त को उदासीनता वक्रो मे रूपान्तरित किया जा सकता है, किन्तु ऐसा कर लेने के पश्चात्, हमने रूपान्तरण मात्र से कुछ अधिक काम कर लिया है। कारण रूपान्तरण इस क्रिया मे हमने बहुत-सी प्रारम्भिक सामग्री पीछे छोड़ दी है किन्तु फिर भी हम उन्ही निष्कर्षों पर पहुँच गये

है।"[1] यदि हम इस प्रश्न का उत्तर देना चाहते है कि एक दी हुई कीमत पर एक व्यक्ति किसी वस्तु की कितनी मात्राएँ खरीदेगा, तो उपयोगिता विवेचन मे हमे उस व्यक्ति के उपयोगिता स्तल (Utility Surface) का ज्ञान होना चाहिए किन्तु उपयोगिता वक्र विवेचन मे केवल उदासीनता चित्र का ज्ञान ही पर्याप्त है, जो उपयोगिता स्तल की तुलना मे कम सूचना प्रदान करता है।]

(२) **'सीमान्त उपयोगिता ह्रास' और 'घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापन दर' समान बातें नहीं**—इसी प्रकार, यद्यपि उदासीनता वक्र विवेचन मे हम 'सीमान्त उपयोगिता ह्रास' के स्थान पर घटती हुई 'सीमान्त प्रतिस्थापन दर' का उपयोग करते है, किन्तु ये दोनो एक नही हैं। इन्ही बातो को ध्यान में रखते हुए हिक्स ने कहा है, "यह (उपयोगिता विवेचन के स्थान मे उदासीनता वक्रो का उपयोग), केवल रूपान्तरण मात्र नही है; यह तो सिद्धान्त के आधार मे ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है और इसके लिए पर्याप्त औचित्य दिखाना आवश्यक है.........औचित्य इस प्रकार है......जब तक साम्य के बिन्दु पर सीमान्त प्रतिस्थापन दर घटती रहती है, साम्य स्थायी नही हो सकता......यदि सीमान्त प्रतिस्थापन दर बढ रही है, तो वस्तु की अधिक मात्रा की प्राप्ति सदा लाभदायक होगी।"[2]

उपयोगिता विवेचन से बहुत दूर नहीं—अब देखना यह है कि वास्तविक स्थिति क्या है? क्या वास्तव में हम उदासीनता वक्रो की इस प्रणाली मे उपयोगिता विवेचन से दूर निकल गये हैं।

सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त इस कारण अस्पष्ट कहा जाता है कि सन्तोष अथवा उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक घटना मात्र है। सच्ची बात यह है कि सीमान्त प्रतिस्थापन दर का सिद्धान्त भी सन्तोष के ही विचार से उत्पन्न होता है, इस कारण इसे श्रेष्ठ नही कहा जा सकता। दोनो ही विधियो मे अस्पष्टता का अंश लगभग समान ही है। सीमान्त प्रतिस्थापन दर उपभोक्ता के व्यवहार पर आश्रित है और यह व्यवहार स्वय सम्भावित सन्तोष अथवा उपयोगिता पर निर्भर है। इस प्रकार, हम सीमान्त उपयोगिता विवेचन ग्रहण करें, चाहे सीमान्त प्रतिस्थापन दर दृष्टिकोण, दोनो ही मे वास्तविक शक्ति सन्तोष की रहती है और इस कारण दोनों दृष्टिकोण अस्पष्ट (Vague) तथा अनिर्धारक (Indeterminate) बन जाते हैं। चूँकि सीमान्त प्रतिस्थापन दर सन्तोष की परिवर्तनशील मात्राओं को व्यक्त करने की एक केवल सांख्यिकीय विधि (Statistical exposition) मात्र है, इस कारण इसमें भी एक प्रकार से उपयोगिता की माप आवश्यक हो जाती है। यदि बात को थोड़ा और आगे बढा दिया जाय, तो यह दिखाया जा सकता है कि हिक्स के द्वारा प्रस्तुत किये गये विवेचन में भी सन्तोष की परिमाणवाचक माप की आवश्यकता पड़ती है। दो उदासीनता वक्रों के बीच के फासले का उस समय तक कोई अर्थ नहीं होता जब तक हम इस फासले पर उपयोगिता की परिमाणवाचक माप की दृष्टि से विचार नही करते है। इसी प्रकार, जब तक हम उपयोगिता के परिमाणवाचक माप की सहायता नही लेंगे, तब तक किसी वैज्ञानिक आधार पर कीमत-उपभोग-वक्र रेखायें खीचना सम्भव न होगा क्योंकि ये वक्र ऊँचे और नीचे बिन्दुओं को मिलाते हैं तथा विभिन्न उदासीन वक्रो के बीच के फासले के माप पर आधारित होते हैं।

---

[1] Hicks : *Value and Capital*, p. 17.

[2] *Ibid*, p. 21

उदासीनता वक्रों के उपयोग अथवा इनका महत्त्व

आधुनिक अर्थशास्त्र मे गणित पद्धति (Mathematical Method) के उपयोग की प्रथा बराबर बढ़ती जा रही है। गणित के उपयोग द्वारा आर्थिक सिद्धान्तों और निष्कर्षों की अनिश्चितता का दोष दूर करने का प्रयत्न निरन्तर किया जा रहा है। किन्तु **बहुधा आर्थिक सिद्धान्त इतने गणितजटित होते जा रहे हैं कि गणित के अच्छे ज्ञान बिना अर्थशास्त्र को समझ लेना कठिन हो जाता है।** पीगू (Pigou), हिक्स, चेम्बरलेन, ऐलन इत्यादि की अर्थशास्त्र के उच्चतम् सिद्धान्तों की व्याख्या गणित से अनभिज्ञ अर्थशास्त्री की समझ से बाहर की बात है। गणित अर्थशास्त्रीय लेखक एक लम्बे काल के उदासीनता वक्रो का विस्तृत उपयोग करते आये हैं, किन्तु इनकी लोकप्रियता हिक्स और ऐलन ने विशेष रूप से बढ़ाई है। उन्होने अर्थशास्त्र के अध्ययन की पुरानी रीतियो की कडी आलोचना की है, क्योकि मे रीतियाँ उपयोगिता की माप पर आधारित हैं।

(१) **प्रतिस्थापना नियम**—यथार्थ मे अर्थशास्त्र मे उपयोगिता को नापना आवश्यक नही है, क्योकि अधिकाश आर्थिक समस्यायें उपयोगिता को मापे बिना भी सुलझाई जा सकती है, हमे केवल इतना जानने की आवश्यकता है कि विभिन्न वस्तुओ अथवा सेवाओ और मुद्रा के किन-किन संयोगो से समान कुल सन्तोष प्राप्त होता है और किन-किन सयोगो से कम या अधिक सन्तोष प्राप्त होता है। इतना ही ज्ञान अधिकतम् कुल सन्तोष की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। अन्य शब्दों मे, प्रतिस्थापना नियम तथा अधिकतम् सन्तोष नियम की व्याख्या करने के लिए उपयोगिता को नापने की कोई आवश्यकता नही है, केवल सीमान्त-स्थानापन्न-अर्थ (Marginal Rate of substitution) को नाप लेने से समस्या हल हो जाती है। नि.सन्देह, हमे यह तो पता नही चलेगा कि उपभोग के अमुक सयोग मे हमे कुल कितनी उपयोगिता प्राप्त हुई, किन्तु अधिक-तम् सन्तोष के प्राप्त होने का स्थान अवश्य पता चल जायेगा।

(२) **उपभोक्ता की बचत**—उपभोक्ता की बचत का महत्त्व मुख्यता इस कारण है कि इस विचार को तुलना हेतु किया जाता है। हमें यह जान लेने मे अधिक रुचि नही होती कि उपभोक्ता की कुल बचत कितनी है। या तो हमारा यह उद्देश्य होता है कि हम यह जाने कि उपभोक्ता की बचत कम है या अधिक या फिर हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि आर्थिक घटनाओ के परिवर्तन के साथ-साथ उपभोक्ता की बचत मे किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं। ये दोनों कार्य उदासीनता वक्र की सहायता से सुगमतापूर्वक सम्पन्न हो जाते है और उपयोगिता को नापने की कोई आवश्यकता नही पडती।

(३) **अन्य उपयोग**—स्टिगलर (Stigler) ने उदासीनता वक्र के तीन उपयोग बताये हैं :—(i) वस्तु-विनिमय प्रणाली मे वस्तुओ का विनिमय अनुपात तो निर्धारित नही हो सकता है, परन्तु वे सीमायें निर्धारित हो सकती हैं, जिनके भीतर विनिमय होता है। (ii) इनके उपयोग से इस बात का पता लगाया जा सकता है कि किसी व्यक्ति का जीवन-स्तर नीचे गिर गया है या ऊपर उठ गया है। (iii) यदि कोई कर, वस्तु के स्थान पर व्यक्ति की आय पर लगाया जाता है तो वह व्यक्ति ऊँचे उदासीनता वक्र की ओर चला जाता है।

(४) **दो विकल्पो के बीच चुनाव**—उदासीनता वक्र के उपयोग के विषय मे बेनहाम (Benham) ने कहा है कि, "उदासीनता वक्रो का उपयोग दो विकल्पो (Alternatives) के बीच (यदि वे केवल दो ही हों) किसी व्यक्ति के अनुराग-अधिमान (Scale of Preferences) को दिखाने हेतु किया जा सकता है। जैसे—वे आय और विश्राम के बीच उसके अनुराग अधिमान को दिखा सकते हैं, अर्थात् यह दिखायेंगे कि वह व्यक्ति अपने प्रत्येक दिन के २४ घण्टो को विश्राम और सपारिश्रमिक कार्य पर, जबकि यह पारिश्रमिक एक निश्चित दर पर है, किस प्रकार बांटेगा।

इसी प्रकार इनका उपयोग वर्तमान और भावी उपयोग तथा तरल और अतरल मादेयों से सम्बन्धित अनुराग अभिमान निश्चित करने के लिए भी किया जा सकता है ।[1]

(५) राशनिंग का उपभोक्ता की संतुष्टि पर प्रभाव—तटस्थता वक्रों के द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि यदि राशनिंग कर दिया जाय, तो इसका उपभोक्ता की सन्तुष्टि पर क्या प्रभाव पड़ेगा । साथ के चित्र में अ ख अक्ष पर मुद्रा और अ क अक्ष पर वस्तु की मात्रा सूचित की गई है । ट $ट_1$ कीमत रेखा है । मान लीजिये एक उपभोक्ता राशनिंग के पूर्व अ घ मात्रा खरीदता था । और अ प मुद्रा अपने पास रखता था यह संयोग च बिन्दु द्वारा दिखाया गया है। राशनिंग शुरू होने के बाद उपभोक्ता वस्तु की केवल अ $घ_1$ मात्रा ही पाता है और उसके पास मुद्रा की पहले से अधिक मात्रा (=अ $प_1$) बच जाती है । यह संयोग $च_1$ बिन्दु द्वारा सूचित है । $च_1$ बिन्दु च की अपेक्षा नीचे तटस्थता वक्र पर है । इससे प्रकट होता है कि राशनिंग के फलस्वरूप उपभोक्ता की सन्तुष्टि कम हो गई है यद्यपि उसके पास मुद्रा की अधिक मात्रा बची है, जिसे वह अन्य वस्तुओं पर व्यय कर सकता है ।
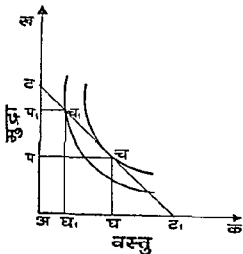
चित्र—राशनिंग और उपभोक्ता की सन्तुष्टि

(६) उत्पादन के क्षेत्र में—उत्पादन के क्षेत्र मे भी उदासीनता वक्रों का प्रयोग किया गया है । यहाँ ये सम-उपज-वक्र (Iso-product curves) कहलाते हैं । सम-उपज वक्र पर प्रत्येक बिन्दु श्रम और पूँजी (यह मानते हुये कि उत्पत्ति के ये ही दो साधन हैं) का ऐसा संयोग सूचित करता है जो समान उपज प्रदान करते हैं । एक दी हुई मात्रा में उपज प्राप्त करने हेतु उत्पादक विभिन्न संयोगों में से किसी को भी चुन सकता है और जब एक को चुन लेता है तो शेष के बारे में तटस्थ हो जाता है । साथ के चित्र में विभिन्न मात्राओं की उपज (जैसे— ५०० इकाइयाँ, १,००० इकाइयाँ) से सम्बन्धित अलग-अलग सम उत्पत्ति वक्र दिखाये गये हैं । प्रत्येक तटस्थता वक्र वस्तु की एक विशेष मात्रा उत्पन्न कर सकने वाले श्रम और पूँजी के विभिन्न संयोगों को दर्शाता है । उदाहरणार्थ तटस्थता वक्र १ श्रम और पूँजी के उन विभिन्न संयोगों को दिखाता है, जो वस्तु की ५०० इकाइयाँ उत्पन्न करते हैं । तटस्थता वक्र २ उन संयोगों को दिखाता है । जिनमें से प्रत्येक के द्वारा १००० इकाइयाँ उत्पन्न की जा सकती हैं ।
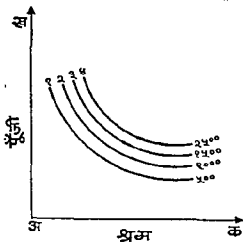
चित्र (अ)—सम उत्पाद मान चित्र

[1] Benham : *Economics*, pp. 96-97.

प्रत्येक उत्पादक अधिकतम् उपज प्राप्त करना चाहेगा। सम उत्पादक वक्र के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि वह ऊँचे से ऊँचे सम-उत्पाद-वक्र पर जाना चाहेगा। किन्तु यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि अधिकतम् उत्पत्ति प्राप्त करने हेतु श्रम और पूंजी का सर्वोत्तम सयोग कौन-सा है ? इसका उत्तर हम तब ही दे सकते है जबकि हमें यह मालूम हो कि इन दो साधनों पर व्यय के लिए कितना धन उपलब्ध है और साधनो की कीमतें क्या है। मान लीजिये उत्पादक दोनो साधनों पर कुल १००० रु० व्यय कर सकता है और साधनों की प्रति इकाई कीमतें इस प्रकार हैं.— मशीन १०० रु० और श्रमिक १ रु०। ऐसी दशा मे उत्पादक के समक्ष तीन विकल्प हैं :— (i) केवल १० मशीने खरीदना; (ii) केवल १,००० श्रमिक रखना, अथवा (iii) कुछ मशीनें रखना और कुछ श्रमिक। इन विभिन्न सम्भावनाओं को एक ग्राफ पेपर पर दिखाया जाय तो हमें लागत-व्यय रेखा या साधन कीमत रेखा प्राप्त हो जावेगी।

साथ के चित्र मे स $स_1$ साधन कीमत रेखा है। उत्पादन इस रेखा पर किसी भी विन्दु को चुन सकता है किन्तु इसके बाहर नहीं। अब यदि चित्र अ और ब को मिला दिया जाय, तो हम अधिकतम् उत्पत्ति करने वाला सर्वोत्तम सयोग मालूम कर सकते है। साथ के चित्र मे साधन कीमत रेखा स $स_1$ तटस्थता वक्र २ को प पर स्पर्श करता है। यह बिन्दु श्रम और पूंजी की वह मात्रा दिखाता है जिसे उत्पादक अपनी उप-लब्ध धन राशि (=१,००० रु०) से खरीद सकता है। प बिन्दु यह भी बताता है कि श्रम और पूंजी का न्यून-तम् लागत सयोग अ म पूंजी और अ छ श्रम का है। यदि उत्पादक इस सयोग को चुने तो वह न्यूनतम् लागत पर अधिकतम् उत्पत्ति कर सकेगा। इस बिन्दु पर उत्पादक को 'सतुलन की दशा' मे कहा जाता है।
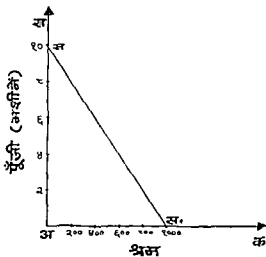
चित्र (ब)—साधन कीमत रेखा
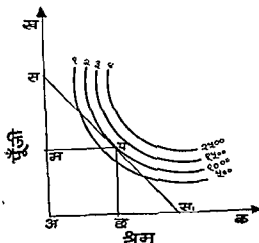
चित्र (स)—साधनो का सर्वोत्तम सयोग

निष्कर्ष-स्थानापन्न नहीं वरन् पूरक—इस प्रकार, यह सोचना गलत होगा कि उदासीनता वक्र विवेचन उपयोगिता विवेचन से अधिक अच्छा है। यथार्थ में यह विवेचन उपयोगिता विवेचन का प्रतिस्थापन नहीं करता बल्कि इसका पूरक है। यह विवेचन अर्थशास्त्र को अध्ययन की एक नयी रीति प्रदान करता है। हां, कुछ कारणों से विगत वर्षों में इसकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी है।

परीक्षा प्रश्न :

१. उदासीनता वक्र क्या है? इनकी विशेषताओं को समझाइये।
[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम तटस्थता वक्रों का अर्थ बताइये और इसे रेखा-चित्र की सहायता से स्पष्ट कीजिये। तत्पश्चात् तटस्थता वक्रों की विशेषतायें चित्रों के साथ समझाइये।]

२. चित्रों की सहायता से तटस्थता वक्रों के विचार की व्याख्या कीजिये। यह उपयोगिता के विचार पर कहाँ तक सुधार है?
[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम तटस्थता वक्रों के अर्थ को बताइये और फिर उदाहरण व रेखा-चित्र द्वारा इस विचार की व्याख्या कीजिए। अन्त में यह बताइये कि तटस्थता विश्लेषण उपयोगिता विश्लेषण की तुलना में कहाँ तक उन्नत है?]

३. तटस्थता विश्लेषण की सहायता से यह बताइये कि कीमत और आय के परिवर्तन किसी वस्तु के लिए उपभोक्ता की मांग को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?
[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम तटस्थता वक्रों के अर्थ को समझाइये। तत्पश्चात् आय प्रभाव की और अन्त में कीमत प्रभाव की चित्रों सहित पूर्ण व्याख्या कीजिये।]

४. तटस्थता वक्र रेखायें मूल बिन्दु (Origin) की ओर उन्नतोदर (Convex) क्यों होती है? इनकी सहायता से कीमतों में परिवर्तनों का उपभोक्ता की मांग पर प्रभाव का विवेचन कीजिए।
[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम तटस्थता वक्र रेखा के अर्थ को संक्षेप में बताइये। तत्पश्चात् चित्र की सहायता से रेखा के मूल बिन्दु के प्रति उन्नतोदर होने की विशेषता को समझाइये और यह स्पष्ट कीजिये कि तटस्थता रेखा की उन्नतोदर आकृति 'घटती हुई सीमान्त स्थानापन्न अर्थ' को सूचित करती है। अन्त में कीमत प्रभाव का विवेचन कीजिए।]

५. तटस्थता वक्रों और कीमत रेखा की सहायता से बताइये कि सन्तुलन बिन्दु पर किन्हीं दो वस्तुओं के बीच सीमान्त-स्थानापन्न-अर्थ इनकी कीमतों के अनुपात के बराबर होती है।

अथवा

तटस्थता वक्रों की सहायता से उपभोक्ता के सन्तुलन की व्याख्या कीजिये।
[**सहायक संकेत** :—तटस्थता वक्र विश्लेषण की सहायता से उपभोक्ता के सन्तुलन की पूर्ण व्याख्या कीजिए।]

६. तटस्थता वक्र रेखाओं के स्वभाव को समझाइये। क्या ये उपयोगिता या सन्तुष्टि के मापने से सम्बन्धित कठिनाइयों को पूरी तरह से दूर कर देता है?
[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम तटस्थता वक्र के अर्थ को उदाहरण और रेखा चित्र की सहा-

यता से स्पष्ट कीजिये । इसके बाद इसकी विशेषताओं को चित्र देते हुए बताइये और अन्त में आलोचनात्मक रूप से यह दिखाइये कि तटस्थता वक्र विश्लेषण के माप से सम्बन्धित कठिनाइयों को कहाँ तक दूर करता है ।]

७. घटती हुई सीमान्त-प्रतिस्थापन दर के नियम को बताइये और समझाइये । क्या यह घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के नियम का रूपान्तरण मात्र है ?

[*सहायक संकेत :—सर्वप्रथम 'घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापन दर' के नियम का कथन* दीजिये और रेखा-चित्र व उदाहरण देकर उसकी व्याख्या कीजिये एवं अपवादों को बताइये। तत्पश्चात् यह दिखाइये कि नियम उपयोगिता ह्रास नियम से किस प्रकार भिन्न है ।]

८. तटस्थता वक्र रेखाओं से आप क्या समझते हैं ? इनकी सहायता से माँग वक्र को निकालिये ।

अथवा

तटस्थता वक्र रेखाओं की सहायता से एक उपभोक्ता की कीमत-उपभोग रेखा किस प्रकार खींची जा सकती है ? कीमत उपभोग रेखा से परम्परागत कीमत-मात्रा-बाजार-माँग-रेखा कैसे निकाली जा सकती है ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम तटस्थता वक्र के अर्थ को उदाहरण और रेखा-चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिए । तत्पश्चात् मूल्य-उपभोग-रेखा अर्थात् मूल्य प्रभाव की पूर्ण व्याख्या कीजिए और अन्त में एक चित्र देते हुए यह स्पष्ट कीजिये कि मूल्य-उपभोग रेखा से माँग-रेखा को कैसे निकाला जाता है ?]

१६

जीवन-स्तर
(Standard of Living)

प्रारम्भिक—

मनुष्य की कार्य-शक्ति एक बड़े अंश तक उनके जीवन-स्तर या रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर रहती है और मनुष्य का जीवन-स्तर उसके कुल उपभोग या सन्तोष से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार हमारे उपभोग का हमारी कार्य-शक्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जीवन-स्तर का अध्ययन प्राय: निम्न कारणों से किया जाता है :—(१) हम यह जानने का प्रयत्न करते है कि उपभोग और उत्पादन शक्ति में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? (२) जीवन-स्तर पर ही किसी देश की आर्थिक उन्नति निर्भर होती है। पूंजी (Capital) की वृद्धि तथा उत्पन्न की हुई वस्तुओं की मांग, दोनो जीवन-स्तर द्वारा निश्चित होते हैं। (३) जीवन-स्तर के अध्ययन से किसी समाज या देश की आर्थिक दशा का अनुमान लगाया जा सकता है। साधारणतया किसी जाति के जीवन-स्तर का ऊँचा होना उसकी आर्थिक उन्नति को सूचित करता है। (४) जीवन-स्तर मे परिवर्तन करके मनुष्य के जीवन को अधिक सुखमय बना देने की सम्भावना रहती है। वैसे तो यह कहा जाता है कि मनुष्य स्वभाव से ही अधिकतम् सन्तोष नियम (Law of Maximum Satisfaction) के अनुसार आचरण करता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है, कि मनुष्य सदैव इतनी बुद्धिमानी से काम नही लेता जितनी कि इस नियम मे मान ली गई है। (५) जीवन स्तर का अध्ययन करते समय बहुधा पारिवारिक आय-व्यय (Family Budget) का अध्ययन किया जाता है। ये बजट हमे यह बताते हैं कि विभिन्न परिवार किस प्रकार आय को उपभोग के अलग-अलग शीर्षकों पर व्यय करते हैं। इस प्रकार के व्यय मे परिवर्तन कर देने पर बहुत-सी दशाओं मे आय का अधिक लाभपूर्ण व्यय हो सकता है, अर्थात् अधिकतम् सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है।

जीवन-स्तर की परिभाषा

जीवन-स्तर शब्द दो अर्थों मे उपयोग किया जाता है, जिनमे से एक वास्तविक है और दूसरा आदर्शनीय।

वास्तविकता की दृष्टि से परिभाषा—

समाज के किसी वर्ग का जीवन-स्तर उस वर्ग के औसत परिवार द्वारा उपभोग की हुई वस्तुओं के गुण और परिमाण द्वारा जाना जाता है। जीवन-स्तर की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है, '**उन सब वस्तुओं और सेवाओं के समूह द्वारा जिनके उपयोग का समाज के किसी वर्ग को अभ्यास पड़ गया हो, जीवन-स्तर निश्चित होता है।**'[1] इस प्रकार जीवन-स्तर मे आवश्यक, आरामदायक तथा विलासपूर्ण तीनो ही प्रकार की वस्तुयें सम्मिलित की जाती है।

---

[1] Worker's Standard of living I. L. O.

यह समस्त उपभोग द्वारा निश्चित होता है। उल्लेखनीय है कि एक व्यक्ति का जीवन-स्तर साधारणत: निश्चित रहता है, क्योंकि वह व्यक्ति की आदतों पर निर्भर करता है और आदतें सरलता और शीघ्रता से नहीं बदलती है।

आदर्श की दृष्टि से परिभाषा—

जो लोग 'जीवन-स्तर' शब्द को आदर्शनीय अर्थ में लेते हैं उनके विचार में जीवन-स्तर वास्तविक उपभोग से निश्चित नहीं होता, वरन् इस प्रकार का अनुमान लगाया जाता है कि किसी वर्ग विशेष का कितना और कैसा उपभोग होना चाहिये ? सब बातों को देखते हुये समाज के इस वर्ग को कितनी आवश्यक, आरामदायक तथा विलासिता की वस्तुओं का उपभोग करना चाहिए ? **दोनों दृष्टिकोणों में अन्तर केवल इतना ही है कि एक वास्तविकता पर आधारित है, जबकि दूसरा आदर्श दर्शाता है।**

जीवन-स्तर—एक तुलनात्मक विचार

'जीवन-स्तर' एक तुलनात्मक विचार (Relative concept) है। इसका उपयोग हम बहुधा विभिन्न कालों से सम्बन्धित किसी वर्ग के कल्याण (Well-being) की तुलना के उद्देश्य से करते हैं। इसी प्रकार, एक ही स्थान पर रहने वाले दो अलग-अलग वर्गों के जीवन-स्तर की भी तुलना की जा सकती है और एक ही वर्ग के व्यक्तियों के बीच अलग-अलग स्थानों पर आर्थिक सम्पन्नता के भेद को जाना जा सकता है। जीवन-स्तर स्वभाव, परिस्थिति, शिक्षा आदि के अनुसार बदलता रहता है। समाज के अलग-अलग वर्गों के उपभोग में भिन्नता होने के कारण प्रत्येक को अलग-अलग वस्तुओं से प्राप्त होने वाले सन्तोष में अन्तर होता है, और इसी कारण तुलना करने की आवश्यकता होती है।

जीवन प्रमाप—

मार्शल ने जीवन-स्तर (Standard of living) के साथ 'जीवन प्रमाप' (Standard of life) वाक्यांश भी प्रयोग किया। इनमें जीवन-स्तर का अर्थ तो हम ऊपर ही देख चुके हैं। जीवन प्रमाप इसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है। यह जीवन के ऊँचे आदर्शों को इंगित करता है और ईमानदारी, अच्छा चरित्र आदि अभौतिक वस्तुयें भी इसमें शामिल होती हैं। एक व्यक्ति का जीवन-स्तर ऊँचा है किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उसका जीवन प्रमाप भी ऊँचा हो। जैसे—एक महात्मा का जीवन-स्तर सेठ की अपेक्षा नीचा होते हुये भी उसका जीवन प्रमाप सेठ की तुलना में ऊँचा हो सकता है। देशवासियों को अपना जीवन-स्तर ही नहीं, वरन् जीवन प्रमाप भी ऊँचा करना चाहिये।

व्यक्ति के जीवन स्तर पर प्रभाव डालने वाली बातें

जीवन स्तर व्यक्ति-व्यक्ति, वर्ग-वर्ग, देश-देश और काल-काल में बदलता रहता है। सामान्यत जीवन स्तर को प्रभावित करने वाली दो प्रधान शक्तियाँ हैं। इन पर नीचे प्रकाश डाला गया है .—

(I) वातावरण और जीवन स्तर—

(१) **समय**—समय के साथ-साथ जीवन-स्तर में भी परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ आज से ५० वर्ष पूर्व का जीवन स्तर अब से बहुत भिन्न था। तब रेडियो, पंखे, कार, केवल बहुत धनवान व्यक्ति ही प्रयोग में लाते थे किन्तु आजकल उद्योग-धन्धों की उन्नति से ये वस्तुयें सस्ती हो गई हैं तथा इनका प्रयोग मध्यम वर्ग के लोग भी कर सकते हैं।

(२) **आय**—जीवन-स्तर के निर्धारित करने में सबसे अधिक महत्व आय का है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(अ) वस्तुयें और सेवायें खरीदने की शक्ति आय द्वारा सीमित—एक साधारण-सी कहावत है "उतने पाँव पसारिये जितनी चादर होय।" सच है कि किसी व्यक्ति या परिवार की वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने की शक्ति उसकी आय द्वारा सीमित होती है। साधारणतया जितनी ही किसी की आय अधिक होगी उतनी ही उसकी वस्तुयें और सेवायें खरीदने की शक्ति भी अधिक होगी। ऐसी दशा में अधिक आवश्यकताओं की तृप्ति की जा सकती है और इसीलिए जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है। जब आय बहुत कम होती है, तो उपभोग कुछ अति आवश्यक वस्तुओं तक ही सीमित हो जाता है, और, इसलिये, जीवन-स्तर नीचा ही रहता है।

(आ) उपभोग वस्तुओं पर आय का व्यय होना—आय को दो प्रकार से व्यय किया जा सकता है—या तो उससे उत्पादक वस्तुयें (Producers's Goods) खरीदी जा सकती हैं या उपभोग-वस्तुयें (Consumer's Goods)। जीवन-स्तर आय के केवल उस भाग पर निर्भर होता है जिसका व्यय उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं और सेवाओं पर किया गया हो। उत्पादक वस्तुयें आगे धन की उत्पत्ति करने में तो सहायक होती हैं, परन्तु उनसे हमारे उपभोग का सम्बन्ध बड़ा परोक्ष और दूर का है।

(इ) मौद्रिक आय की अपेक्षा वास्तविक आय का महत्व—मौद्रिक आय से वस्तुओं और सेवाओं का जितना संचय प्राप्त किया जा सकता है, उसी को हम वास्तविक आय कहते हैं। जबकि मौद्रिक आय की माप मुद्रा में की जा सकती है, तब वास्तविक आय वस्तुओं और सेवाओं में नापी जाती है। यथार्थ में जीवन-स्तर वास्तविक आय पर निर्भर होता है। जब हम कहते हैं कि ऊँची आय के साथ-साथ अधिकतर जीवन-स्तर भी ऊँचा होता है, तो हमारा आशय वास्तविक आय से ही होता है।

(ई) मुद्रा की क्रय-शक्ति—वस्तुओं के दाम घटने, क्रय-शक्ति का भी जीवन-स्तर पर अधिक प्रभाव पड़ता है। वस्तुओं के दाम घटने पर थोड़ी आय से भी बहुत सारी सुविधा-जनक वस्तुयें और सेवायें प्राप्त की जा सकती हैं। ऐसी दशा में मुद्रा की क्रय-शक्ति बहुत अधिक होती है। इसके विपरीत, जब वस्तुओं के दाम चढ़ जाते हैं, अर्थात् मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है, तो अपनी निश्चित आय से हमें बहुत थोड़ी वस्तुयें प्राप्त होती हैं। बहुधा विभिन्न स्थानों में अथवा विभिन्न कालों में मनुष्य के जीवन-स्तर की तुलना करते समय हम मौद्रिक आय को ही तुलना का आधार बनाते हैं। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि हम मुद्रा की क्रय-शक्ति पर ही ध्यान दें, अन्यथा हमारे निष्कर्ष सही न होंगे।

(उ) देश की सामाजिक और आर्थिक दशा—किसी समय विशेष में देश और समाज की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशा का भी जीवन-स्तर पर प्रभाव पड़ता है। कुछ शासन-व्यवस्थाओं में सामाजिक सुरक्षा (Social Security) का उच्चतम् प्रबन्ध होता है। शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि आवश्यक सेवायें बहुत सस्ती होती हैं और इस बात का भय नहीं रहता कि किसी दुर्घटना के कारण भविष्य में कठिनाई हो सकती है। ऐसे देश में जीवन-स्तर अधिक ऊँचा होता है, क्योंकि भविष्य के लिये बहुत कुछ बचाकर रखने की आवश्यकता कम होती है। प्रायः सभी सभ्य देशों में लोक-उपयोगी सेवाओं (Public Utility Services) की व्यवस्था करना सरकार का अनिवार्य कार्य होता है। ऐसे समाज में आय के कम रहने पर भी व्यक्तियों का जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है।

(ऊ) वर्ग—धन के वितरण की दृष्टि से समाज में प्रायः तीन वर्ग पाये जाते हैं—उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग एवं निम्न वर्ग। उच्च वर्ग का जीवन स्तर सबसे ऊँचा एवं निम्न वर्ग का

स्तर सबसे नीचा होता है। भारत में जाति-व्यवस्था के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ग पाये जाते है। इनके जीवन स्तरो मे बहुत भिन्नता देखने मे आती है।

(II) व्यक्तित्व—

(१) **व्यय करने का ढंग**—यह पहले ही बताया जा चुका है कि आय के केवल उस भाग का, जो उपभोग की वस्तुओ पर व्यय किया गया हो, जीवन-स्तर पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पडता है। ऐसी दशा मे कम व्यय होने पर जीवन स्तर नीचा ही जायेगा। यह भी हमे ज्ञात है कि एक विशेष रीति से अर्थात् सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार आय का व्यय करने से अधिकतम् सन्तोष प्राप्त होता है। साधारण अनुभव बताता है कि बहुत बार दो परिवारो की आय तथा अन्य परिस्थितियो के समान होते हुए भी उनके जीवन-स्तर मे विशाल अन्तर होते हैं, जिसका प्रमुख कारण यही होता है कि किसी एक परिवार की व्यय-व्यवस्था अधिक योग्य प्रबन्धक के हाथो मे होती है। इसी सम्बन्ध मे यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो मनुष्य आवश्यकता-पूर्ति के समय कार्यक्षमता पर अधिक ध्यान देता है, उसका जीवन-स्तर भविष्य मे ऊँचा हो जाता है, क्योंकि उसकी उत्पादन-शक्ति बढ जाती है।

(२) **मनोवृत्ति**—एक निश्चित आय से हमे कुल कितना सन्तोष मिलता है, यह केवल हमारी आय की मात्रा और व्यय की रीति पर ही निर्भर नही होता, वरन् इस बात पर भी निर्भर होता है कि हम मे सन्तोष प्राप्ति की कितनी क्षमता है। कुछ मनुष्य स्वभाव से ही ऐसे होते हैं कि ससार की किसी वस्तु से उन्हे कोई विशेष प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार, कुछ जातियो मे सन्तोष अथवा प्रसन्नता प्राप्त करने की शक्ति दूसरी जातियो की अपेक्षा अधिक होती है। उदासीन मनोवृत्ति का मनुष्य ऊँचा जीवन-स्तर नही बना सकता है। इसी प्रकार, जातीय मनोवृत्ति (National Psychology) के अनुसार, समान परिस्थितियो के होते हुए भी, एक देश के लोगो का जीवन-स्तर दूसरे देश के लोगो के जीवन-स्तर से ऊँचा अथवा नीचा हो सकता है।

(३) **परिवारगत प्रभाव**—व्यक्ति के जीवन-स्तर पर उसके माता-पिता तथा परिवार के जीवन-स्तर का बहुत प्रभाव पडता है। यही कारण है कि एक डाक्टर या एक प्रोफेसर का लडका अपने परिवार के जीवन-स्तर को बनाये रखने की पूरी चेष्टा करता है।

(४) **शिक्षा एव रुचि**—शिक्षा एक ओर आय अर्जन क्षमता को बढाती है और दूसरी ओर वह व्यक्ति के दृष्टिकोण एव उसकी रुचि को व्यापक एव शिष्ट बनाती है। दोनों ही तरह से जीवन-स्तर प्रभावित होता है।

(५) **विदेशी सम्पर्क**—विदेशियो के सम्पर्क मे आने से भी मनुष्य का आचार विचार, उपभोग व रहन-सहन बदलता है।

किसी देश के जीवन-स्तर को प्रभावित करने वाले तत्त्व

किसी समाज का जीवन-स्तर मुख्यतया निम्न बातो पर निर्भर होता है :—

(१) **देश के भीतर आर्थिक साधनो की उपलब्धता**—किसी भी देश मे उत्पत्ति की मात्रा और इसका स्वरूप देश मे उपलब्ध साधनो पर निर्भर होता है। देश मे प्राकृतिक साधन (Natural Resources), जैसे—अच्छी भूमि, खनिज पदार्थ आदि, मानव साधन (Human Resources) तथा अन्य उत्पत्ति-साधन जितने ही अधिक होंगे, उतना ही वहाँ उत्पत्ति बढ़ाने और उसमे विविधता लाने की सम्भावना भी अधिक होगी। दीर्घकालीन दृष्टि से उत्पत्ति-साधनो की प्रचुरता ही ऊँचे जीवन-स्तर की एक मात्र गारन्टी होती है।

(२) **देश में उत्पत्ति के साधनों का उपयोग**—यदि बहुत से साधन बेकार पड़े रहते हैं और देश के निवासी परिश्रमी नही है, तो साधनो की प्रचुरता होते हुए भी देश निर्धन

रह सकता है। भारत में जीवन-स्तर के नीचा होने का एक कारण यह भी है कि यद्यपि यहाँ साधनों का अभाव नहीं है, परन्तु अधिक मात्रा में साधन बेकार पड़े हुए थे। इसी कारण यह कहा जाता था कि भारत में "प्रचुरता के बीच निर्धनता है" (There is poverty in the midst of plenty)।

(३) **"उत्पादक" और "उपभोग-वस्तुओं" के उत्पादन का अनुपात**—उत्पादन उन वस्तुओं का भी हो सकता है जो पूँजीगत वस्तुयें (Capital Goods) हैं, अर्थात् जिनका उपयोग उपभोग के लिये नहीं किया जाता है, बल्कि और आगे उत्पत्ति करने के लिए किया जाता है, तथा उन वस्तुओं का भी हो सकता है जिनका प्रत्यक्ष उपभोग किया जाता है। जिस देश में अधिकांश उत्पादन केवल पूँजीगत माल का ही होता है वहाँ अधिक लम्बे समय तक जीवन-स्तर नीचा ही रहता है। हाँ, दीर्घकाल में इसके ऊपर उठने की सम्भावना रहती है।

(४) **उत्पादित आय का वितरण**—आय एक ऐसी समुचित रीति से होना चाहिए कि न्यूनतम् राष्ट्रीय आय से समाज को अधिकतम् सन्तोष प्राप्त हो सके। आय के वितरण की घोर असमानताएँ आर्थिक कल्याण को घटाती हैं और जीवन-स्तर को नीचे गिराने की प्रवृत्ति रखती हैं।

(५) **काम और आराम का सन्तुलन**—किसी वर्ग अथवा समाज का जीवन-स्तर इस बात पर भी निर्भर होता है कि 'काम' (Work) और 'आराम' (Leisure) के बीच सन्तुलन किस प्रकार किया जाता है। यदि उत्पादन अधिक होता है, परन्तु इसके लिए जन-संख्या को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है, जिससे आराम का अवसर नहीं मिलता है, तो अधिक उत्पादन और ऊँची आय के रहते हुए भी जीवन-स्तर ऊँचा न रह सकेगा।

(६) **कार्यशील (Working) पूँजी और कार्यशील जनसंख्या**—जीवन-स्तर इस बात पर भी निर्भर होता है कि कुल पूँजी का कौन-सा भाग उत्पादन कार्य में लगाया जाता है और कुल जनसंख्या का कौन-सा भाग उत्पादन-कार्य में संलग्न है।

जीवन-स्तर का निर्धारण
(पारिवारिक बजट)

निर्धारण की विधि—

समाज के किसी वर्ग के जीवन-स्तर का अनुमान लगाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि—(i) **हम उस वर्ग के कुछ प्रतिनिधि परिवारों की आय व्ययकों (Family Budgets) का संग्रह करें।** यह हमारे लिए असम्भव होता है कि उस वर्ग के सभी परिवारों के आय और व्यय का पूरा ब्यौरा एकत्रित कर सकें, इसलिये कुछ ऐसे परिवारों को चुन लिया जाता है जिन्हें हम प्रतिनिधि स्वरूप मान सकें। (ii) **इस चुनाव में विशेष सावधानी की आवश्यकता है।** चुनाव की दो रीतियाँ है :—इच्छानुसार ढङ्ग से (Deliberately) कुछ परिवारों को चुन लें और उनके आय-व्ययकों का अध्ययन करें अथवा 'आकस्मिक निदर्शन' (Random Sampling) से काम लें। इस प्रणाली में अन्वेषक (Investigator) अर्थात् खोज करने वाला व्यक्ति अपनी स्वेच्छा का उपयोग नहीं करता, वरन् सब परिवारों की एक सूची बनाकर उनमे अकस्मात् ढङ्ग से (जैसे कि प्रत्येक १०वाँ, १५वाँ, २१वाँ इत्यादि) कुछ परिवारों को चुन लेता है और केवल इन्हीं चुने हुए परिवारों की आय-व्ययकों का अध्ययन करता है। इस प्रकार के चुनाव द्वारा समस्त वर्ग के विषय में जो नियम बनाये जाते हैं अथवा जो निष्कर्ष निकाले जाते है उनके ठीक होने की सम्भावना अधिक होती है। (iii) इसी प्रकार, कुछ और सावधानियाँ भी आवश्यक होती हैं। खोज करने वाले के लिए यह अति आवश्यक है कि वह परिवार के प्रबन्धकर्ता का पूर्ण रूप से विश्वास प्राप्त

कर ले और व्यय के प्रत्येक छोटे और बड़े शीर्षक का ठीक-ठीक हिसाब रखे। इसके अतिरिक्त, जो भी माध्य (Average) उपयोग मे लाया जाय और खोज के उद्देश्य के अनुसार उपयुक्त होना चाहिये।

पारिवारिक बजटो का देश के लिये बहुत महत्व है। एक गृह-स्वामी अपने परिवार का बजट बनाकर अपनी आय को विवेकपूर्ण ढङ्ग से व्यय करने मे समर्थ होता है और इस प्रकार अधिकतम सन्तुष्टि पाने मे सफल होता है। अर्थशास्त्री भी बजटो की सहायता से रहन-सहन की लागत का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और तदनुसार मजदूरी निर्धारित करने के लिए परामर्श देते हैं। पारिवारिक बजटो के आधार बनाये गये सूचक अंको की सहायता से किसी समय पर किन्हीं दो देशो के जीवन-स्तर की तुलना कर सकते है। समाज सुधारक और राजनीतिज्ञ पिछड़े हुए वर्गों के कल्याण की योजना बना सकते हैं, धन के वितरण की विषमता को मालूम कर उसे दूर कराने के लिये प्रयत्नशील होते हैं, एव मपव्ययो को समाप्त कराने हेतु कदम उठाते हैं। सरकार को पारिवारिक बजटो से प्राप्त ज्ञान के आधार पर अपनी आर्थिक नीति निश्चित करने मे सरलता हो जाती है और वह समय-समय पर उपयुक्त नियम बनाती रहती है।

एन्जिल्स का नियम
(Engels' Law)

उपभोक्ता सम्बन्धी आंकडो के एकत्रित करने का काम प्राय सभी देशों मे किया गया है, परन्तु इस विषय मे जर्मन अर्थशास्त्री एन्जिल्स (Engels) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होने अनेक पारिवारिक आय व्ययकों का सग्रह किया था और इस सग्रह द्वारा उपभोग सम्बन्धी सामान्य नियम बनाये थे। नीचे की तालिका मे जर्मनी के सैक्सनी (Saxony) नामक क्षेत्र मे पारिवारिक बजटो द्वारा एन्जिल्स के अनुभव दिये गये हैं। इस तालिका मे तीन प्रकार के परिवारो (अर्थात् श्रमिक परिवार, मध्य श्रेणी के परिवार तथा सम्पन्न परिवार) का अध्ययन किया गया है।

तालिका

व्यय के शीर्षक	श्रमिक परिवार		मध्यम श्रेणी का परिवार		सम्पन्न परिवार	
जीवन रक्षा	६२	९५%	५५	९०%	५०	८५%
कपडा	१६		१८		१८	
मकान किराया	१२		१२		१२	
ईंधन और प्रकाश	५		५		५	
शिक्षा			३·५		५·५	
कर	१		२		३	
स्वास्थ्य	१		२		३	
व्यक्तिगत सेवायें	१		२·५		३·५	
	१००		१००		१००	

इस तालिका मे प्रत्येक व्यय के शीर्षक पर कुल व्यय का प्रतिशत दिखाया गया है। एन्जिल्स ने इस तालिका के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले थे :—(१) जितनी आय होगी उतनी ही जीवन रक्षा, अर्थात् भोजन इत्यादि पर व्यय का प्रतिशत अधिक होगा। (२)

आय चाहे कितनी भी हो, कपड़ों पर व्यय की प्रतिशत प्रायः समान ही रहती है। (३) मकान के किराये तथा रोशनी और ईंधन पर भी व्यय का प्रतिशत आय की विभिन्नतायें होते हुए भी लगभग समान ही रहता है। (४) जितनी ही आय अधिक होती है उतना ही शिक्षा, स्वास्थ्य और व्यक्तिगत सेवाओं पर अधिक व्यय होता है।

एन्जिल्स का नियम यूरोप के देशों, विशेष रूप से जर्मनी के अनुभव पर निर्भर है। दूसरे देशों में जो खोज की गई है, वहाँ व्यय का ब्यौरा ठीक उसी प्रकार का नहीं मिला है जैसा कि एन्जिल्स ने पाया था। विशेष रूप से एशियाई देशों में एन्जिल्स की खोज सर्वदा लागू नहीं की जा सकती है। कपड़ा, खाना और मकान का किराया इन शीर्षकों पर व्यय के प्रतिशत में अलग-अलग देशों में विशाल अन्तर पाये जाते हैं, किन्तु एन्जिल्स द्वारा निश्चित किये हुए दो नियमों की प्रायः सभी देशों में पुष्टि हुई है। ये दो नियम इस प्रकार है :—(१) जितनी ही आय कम होती है उतना ही भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर आय का अधिक बड़ा भाग व्यय किया जाता है, अर्थात् भोजन, कपड़ा, रोशनी और ईंधन पर व्यय का अनुपात अधिक होता है। (२) अधिक आय वाले व्यक्ति निर्धन व्यक्तियों की अपेक्षा खाने और कपड़े पर आय का छोटा भाग और शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि पर अधिक भाग व्यय करते हैं।

ऊँचा एवं नीचा स्तर

नीचा जीवन-स्तर कार्य-कुशलता को घटाता है—

नीचा जीवन-स्तर अवनति का सूचक होता है। पिछड़े हुए देशों और वर्गों का जीवन-स्तर नीचा होता है। बहुधा देखने में आता है कि जिन वर्गों का जीवन-स्तर बहुत नीचा होता है उनकी उत्पादन-शक्ति भी कम होती है। मजदूरों अथवा श्रम-जीवियों की कार्यक्षमता या कार्य-कुशलता एक बड़े अंश तक उनके जीवन-स्तर पर निर्भर होती है। साधारणतया एक भारतीय मजदूर यूरोपियन मजदूर की अपेक्षा कम कार्य-कुशल होता है। इसका मुख्य कारण यही है कि भारतीय मजदूर का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। मजदूरों के जीवन-स्तर को सुधारने के सम्बन्ध में जो प्रयोग (Experiments) किये गये है, उनमें से अधिकतर कार्य-कुशलता में वृद्धि करने में सफल रहे हैं, जिससे सिद्ध होता है कि जीवन-स्तर को ऊँचा कर देने से श्रम की कार्यकुशलता बढ़ जाती है और देश की उत्पादन-शक्ति अधिक हो जाती है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह समझना भूल होगी कि जितना ही जीवन-स्तर ऊँचा उठाया जायगा उतनी ही कार्य-कुशलता और उत्पादन-शक्ति बढ़ती चली जायगी। बहुत नीचे जीवन-स्तर के साथ-साथ कार्य-कुशलता बहुत ही कम होगी, यह तो सत्य है, किन्तु हम ऐसा नहीं कह सकते हैं कि बहुत ऊँचे जीवन-स्तर के साथ-साथ कार्य-कुशलता भी बहुत अधिक होगी। उपयोगिता ह्रास नियम हमें बताता है कि जैसे-जैसे किसी वस्तु का स्टॉक हमारे पास बढ़ता जाता है, इस बढ़ते हुए स्टॉक की प्रत्येक अगली इकाई से हमें क्रमशः कम उपयोगिता प्राप्त होती है। अतः उपभोग की वस्तुओं में वृद्धि होने से सन्तोष बढ़ता तो है, परन्तु इसके बढ़ने की दर धीरे-धीरे घटती चली जाती है। जीवन-स्तर में एक निश्चित अंश तक सुधार करने पर कार्य-कुशलता बढ़ती है, किन्तु उसके पश्चात् जीवन-स्तर के सुधार की अपेक्षा कार्य-शक्ति में बहुत कम उन्नति होती है।

यदि जीवन-स्तर बहुत ही ऊँचा हो जाय, तो यह भी सम्भव है कि इसके और ऊँचा उठाने का कार्य-कुशलता पर कुछ भी प्रभाव न पड़े। यह तो सभी जानते हैं कि लार्ड लुई माउन्टबेटन (Lord Luis Mountbatten) का जीवन-स्तर महात्मा गांधी की अपेक्षा बहुत ही ऊँचा था, परन्तु क्या उनकी कार्य-कुशलता अथवा उत्पादन-शक्ति गांधीजी से अधिक थी? इस प्रश्न का उत्तर नहीं में ही है। चाहे जाँच का कोई भी मान हम उपयोग में लायें, महात्मा गांधी

अधिक अच्छे उत्पादक और अधिक कार्य-कुशल प्रतीत होंगे। कारण, जबकि लार्ड माउन्टबेटन का जीवन-स्तर इतना ऊँचा था कि उसका उनकी कार्य-क्षमता पर बहुत प्रभाव नहीं पड़ता था, तब महात्मा गांधी का जीवन-स्तर इतना नीचा नहीं था कि उनकी कार्यक्षमता को कोई नुकसान पहुँचे।

भारतवासियों का जीवन-स्तर अन्य देशों की अपेक्षा नीचा है, जिसके कारण निम्न हैं :—(i) यहाँ उत्पादन और उत्पादकता बहुत कम है; (ii) कृषि में अत्यधिक लोग सलग्न हैं किन्तु उद्योग अभी पर्याप्त विकसित नहीं हुए हैं; (iii) प्राकृतिक साधनों का समुचित शोषण नहीं किया गया था, (iv) कुछ समय पहले तक बैंकिंग और विनियोग की सुविधायें भी कम थी; (v) यातायात के साधनों का अपर्याप्त विकास हुआ है; (vi) धन के वितरण में असमानता पाई जाती है; (vii) भारतीय श्रमिकों की कुशलता कम है; (viii) सामाजिक सुरक्षा के लिए व्यवस्था कम है; (ix) सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श लोकप्रिय है और सामाजिक अपव्यय प्रचलित है; (x) यहाँ जनसख्या की वृद्धि के साथ बेरोजगारी बढ़ती जाती है; एवं (xi) अशिक्षा का जोर रहा है।

जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की रीतियाँ—

समार के अधिकांश मनुष्यों का जीवन स्तर नीचा ही होता है। लार्ड माउन्टबेटन और महात्मा गांधी का जो उदाहरण हमने लिया था वह कोई सामान्य दशा का उदाहरण नहीं था। इस प्रकार के व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं। साधारणतया जीवन-स्तर को ऊँचा उठा देने से कार्य-क्षमता और उत्पादन-शक्ति बढ़ती है, इसलिए जीवन-स्तर को ऊँचा करने की बड़ी आवश्यकता है। अब हम यह देखेंगे कि किन-किन रीतियों से जीवन-स्तर ऊँचा किया जा सकता है। ये निम्न प्रकार हैं —

(१) आय की वृद्धि—हम पहले ही देख चुके हैं कि जीवन-स्तर पर सबसे अधिक प्रभाव आय का पड़ता है। अधिकांश दशाओं में आय के बढ़ जाने पर जीवन-स्तर भी ऊँचा हो जाता है। अत, जिन सब रीतियों से राष्ट्रीय आय में वृद्धि की जा सकती है उन्हीं सब रीतियों से जीवन-स्तर को भी ऊँचा उठाया जा सकता है :—(i) आधुनिक काल में राष्ट्रीय आय को बढ़ाने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि देश में स्थित **प्राकृतिक साधनों का अधिक से अधिक उपयोग** किया जाय और इस प्रकार के आविष्कार किये जायें जिनकी सहायता से बेकार पड़े हुये साधनों का भी सदुपयोग हो सके। (ii) इसके साथ-साथ इन साधनों का इस प्रकार उपयोग करना चाहिए कि वे लम्बे तक फल प्रदान करते रहें। (iii) **आर्थिक नियोजन** (Economic Planning) द्वारा अर्थ-व्यवस्था को इस प्रकार सङ्गठित किया जा सकता है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो जाये। यह वृद्धि दो प्रकार से की जा सकती है —(अ) किसी देश के कुल उत्पादन को बढ़ा देने से स्वय ही उत्पत्ति के साधनों को प्राप्त होने वाले हिस्से बढ़ जायेंगे और राष्ट्रीय आय अधिक हो जायगी। (ब) रोजगार के बढ़ जाने से भी राष्ट्रीय आय बढ़ती है। जितने ही कम मनुष्य बेरोजगार (Unemployed) होंगे उतनी ही कुल राष्ट्रीय आय अधिक होगी। आर्थिक योजनाओं से उत्पत्ति और रोजगार दोनों ही बढ़ाये जा सकते हैं। अत: जीवन स्तर को ऊँचा करने में आर्थिक नियोजन बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

(२) आय के वितरण में न्यायपूर्णता—समाज के किसी वर्ग या जाति पर देश के भीतर राष्ट्रीय आय के वितरण का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय आय के अधिक होते हुये भी यह सम्भव है कि समाज का जीवन-स्तर ऊँचा न रहे। यदि आय का वितरण न्यायपूर्ण (Equitable) नहीं है, जिसके फलस्वरूप इस आय का अधिकांश भाग थोड़े से व्यक्तियों को मिल जाता है, तो इससे समाज का जीवन-स्तर ऊँचा नहीं उठ सकता है। यह अति आवश्यक है कि विभिन्न परिवारों और व्यक्तियों की आय में विशाल अन्तर न हो।

(३) शिक्षा का विकास—शिक्षा में उन्नति हो जाने से भी जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है :—(i) शिक्षा द्वारा नये-नये प्रकार की आवश्यकतायें उत्पन्न की जा सकती हैं। (ii) मनुष्य दूसरे देशों, जातियों, नये आविष्कारों तथा आवश्यकता पूर्ति के नये-नये साधनों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। (iii) इसके अतिरिक्त एक शिक्षित मनुष्य अपने उत्तरदायित्व को समझने लगता है तथा हित और अनहित में भेद करने लगता है। (iv) वह एक अच्छा उपभोक्ता और अच्छा उत्पादक बन जाता है। एक ओर तो उसकी उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है और दूसरी ओर वह बेकार अथवा निपुणता नाशक वस्तुओं के उपयोग पर आय का व्यय नहीं करता है। (v) उसका उपभोग अधिकतम् सन्तोष नियम के अधिक अनुकूल होता है। यूरोपीय देशों में जीवन-स्तर के ऊँचा होने का एक बहुत महत्वपूर्ण कारण शिक्षा की उन्नति ही है। इसके विपरीत, भारत जैसे देश में शिक्षा के अभाव के कारण आधुनिक युग की बहुत सारी आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के साधनों का पता भी नहीं है। हमारे देश की अधिकांश ग्रामीण जनता अभीतक रेडियो, टेलीफोन, इत्यादि के विषय में कुछ भी नहीं जानती है।

(४) परिवार नियोजन (Family Planning)—जीवन-स्तर को ऊँचा रखने के लिए पारिवारिक विस्तार पर नियन्त्रण लगाना बहुत आवश्यक है। जिन देशों में इस प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता, वहाँ जन-संख्या बराबर बढ़ती चली जाती है और जीवन-स्तर नीचे गिरता चला जाता है। यद्यपि यह कहना ठीक है कि ऊँचा जीवन-स्तर स्वयं ही जन-संख्या की वृद्धि में बाधक होता है, किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि जन-संख्या के बढ़ने पर रोक लगाने से जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है। योरुप के किसी परिवार के सम्मुख जब कोई इस प्रकार की समस्या उपस्थित होती है कि परिवार में एक बच्चे अथवा एक कार की वृद्धि की जाय तो निर्णय अधिकतर कार ही के पक्ष में होता है। इसके विपरीत, भारत में जन-संख्या बराबर बढ़ रही है, और जीवन-स्तर उठाने के प्रयत्न असफल से हो रहे हैं।

(५) यातायात साधनों की उन्नति—(i) जिन देशों में यातायात के साधन अधिक प्रचुर तथा अच्छे होते हैं, वहाँ निवासियों के आचारों और विचारों में बहुत परिवर्तन हो जाता है। (ii) यातायात के साधन समाज और जातियों के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ा देते हैं, जिससे विचारों, रीति-रिवाजों, शौक इत्यादि का आदान-प्रदान हो जाता है। (iii) मनुष्य संसार और उसकी बातों को जान जाता है। एक प्रकार से ये साधन शिक्षा का काम करते हैं। (iv) नई-नई वस्तुयें उपभोक्ताओं के सम्मुख आती हैं। (v) उपभोक्ताओं का एकाकीपन (Isolation) दूर हो जाता है, जिससे जीवन-स्तर के ऊँचा उठाने में बड़ी सहायता मिलती है।

(६) रुचियों और मनोवृत्तियों में परिवर्तन—आधुनिक युग में विज्ञापन और प्रचार (Propaganda) का महत्व सभी जानते हैं। प्रचार द्वारा इस बात की शिक्षा दी जा सकती है कि लोग अपनी आय का अधिक उपयोगी व्यय करें और व्यर्थ अथवा हानिकारक व्यय न करें। किसी निश्चित आय से हमें कितना सन्तोष मिलता है, यह इस बात पर भी निर्भर होता है कि हमारी मानसिक प्रवृत्तियाँ किस प्रकार की हैं। इन प्रवृत्तियों में परिवर्तन कर देने से हम अधिक अच्छे उपभोक्ता बन जाते हैं और हमारा जीवन-स्तर ऊँचा उठ सकता है।

जीवन-स्तर के अध्ययन का महत्व

जीवन-स्तर का अध्ययन अर्थशास्त्र का एक आवश्यक अङ्ग है। आधुनिक युग में इस अध्ययन का महत्व और भी बढ़ गया है। इस अध्ययन के लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) आय के विषय में लाभदायक ज्ञान मिलना—यह अध्ययन आय के व्यय के विषय में लाभदायक सामान्य ज्ञान प्रदान करता है। यह ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि समाज

की कुरीतियों को दूर किया जा सके और समाज की उत्पादन शक्ति को बढाया जा सके। परिवार बजटों का अध्ययन इस विषय में विशेष रूप से उपयोगी है।

(२) **कार्यक्षमता को सुधारने की उत्सुकता**—जीवन-स्तर के परिवर्तनों के साथ-साथ कार्यक्षमता मे भी परिवर्तन हो जाता है। जीवन-स्तर का अध्ययन हमें यह बताता है कि कार्यक्षमता को बढाने के लिए किस प्रकार और किस अंश तक जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना चाहिये।

(३) **श्रम मन्त्री को मजदूरी निर्धारण में सुविधा**—एक श्रम मन्त्री के लिए इस अध्ययन का महत्व और भी अधिक है। बहुत से देशों मे अथवा कुछ उद्योगों मे श्रमजीवियों की मजदूरी को जीवन-स्तर से जोड दिया जाता है। प्रयत्न यह किया जाता है कि यह स्तर एक निश्चित मान (Standard) से नीचे न गिरे। यदि देश में वस्तुओं के दाम बढ जाते हैं तो श्रमिकों की वास्तविक आय कम हो जाती है और जीवन-स्तर नीचे गिरने लगता है। ऐसी दशा मे मजदूरी का कीमतों के अनुपात मे बढाना आवश्यक हो जाता है।

(४) **जाति या देश की आर्थिक दशा का अनुमान**—जीवन-स्तर द्वारा किसी देश, जाति अथवा वर्ग विशेष की आर्थिक दशा का अनुमान लगाया जा सकता है। नीचा जीवन-स्तर कम उन्नत होने का प्रतीक होता है और ऊँचे जीवन-स्तर से आर्थिक सम्पन्नता जानी जाती है। विभिन्न कालों, स्थानों और वर्गों की आर्थिक उन्नति की तुलना इस अध्ययन द्वारा की जा सकती है।

वर्तमान युग मे सभी देशों में जीवन-स्तर का अध्ययन किया जाता है और इस अध्ययन के आधार पर नियम बनाये जाते है। श्रम-सम्बन्धी अधिकतर नियमों पर इस अध्ययन की छाप रहती है। देश की उत्पादन-शक्ति को बनाये रखने के लिए जीवन-स्तर की रक्षा आवश्यक है और इस स्तर को ऊँचा करने से समाज की उत्पादन शक्ति अधिक हो जाती है। पहले महायुद्ध के पश्चात् एक **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्घ (International Labour Organisation)** बनाया गया था। इस सङ्घ मे ससार के सभी सदस्य देशों के प्रतिनिधि भाग लेते हैं और श्रम-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करते हैं। इस संघ ने श्रम-सम्बन्धी बहुत से सुझाव दिये हैं। संघ का एक महत्त्वपूर्ण काम यह भी है कि सदस्य देशों मे श्रम के जीवन-स्तर का अध्ययन किया जाये और आवश्यकता के अनुसार सुधारों की सम्मति दी जाय। संघ का प्रधान कार्यालय जेनेवा (Geneva) मे है और इसकी शाखायें सदस्य देशों मे फैली हुई हैं। संघ का कार्य सदस्य देशों के सहयोग द्वारा ही चलता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. 'जीवन-स्तर' से आप क्या समझते हैं ? यह किन तत्त्वों पर निर्भर करता है ?

अथवा

जीवन-स्तर दो शक्तियों का परिणाम है . (अ) वातावरण, जिसके अन्तर्गत समय, आय, वर्ग आते हैं, तथा (ब) व्यक्तित्व। इस कथन की पूर्ण विवेचना कीजिए।

[सहायक संकेत :—सबसे पहले जीवन-स्तर का अर्थ बताइये। तत्पश्चात् ऊँचे और नीचे जीवन-स्तर का भेद बताइये और अन्त मे जीवन-स्तर को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का विवेचन कीजिये।]

२ पारिवारिक बजट क्या है और इसकी क्या उपयोगिता है ? एन्जिल्स के नियम की व्याख्या कीजिये।

तीसरा भाग

उत्पत्ति

[PRODUCTION]

१

उत्पत्ति और उत्पत्ति के साधन

(Production and Factors of Production)

उत्पत्ति का अर्थ

"उत्पादन" को नई वस्तु का सृजन कहना ठीक नहीं—

अर्थशास्त्र का दूसरा विभाग "उत्पत्ति" है। उत्पादन का अर्थ उत्पन्न करना या जन्म देना होता है। परन्तु बहुधा ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य किसी भी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता। जिस प्रकार उपभोग के अध्ययन में हमने देखा था कि मनुष्य किसी भी वस्तु का विनाश नहीं कर सकता है उसी प्रकार हम कह सकते हैं कि मनुष्य वस्तु का सृजन भी नहीं कर सकता है। सृजन और विनाश ये दोनों प्रकृति (Nature) के कार्य हैं, मनुष्य के नहीं। अतः यह कहना भूल है कि मनुष्य किसी पूर्णतया नई वस्तु को उत्पन्न कर सकता है। इसलिए एडम स्मिथ और अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों का यह विचार कि भौतिक वस्तुओं का सृजन करना ही उत्पादन है गलत था।

उपयोगिता का सृजन करना भी उत्पादन नहीं—

कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि हम वस्तु का सृजन तो नहीं कर सकते परन्तु उपयोगिता (Utility) का सृजन अवश्य कर सकते हैं। उनके अनुसार उपयोगिता का सृजन करने की क्रिया को ही उत्पत्ति कहा जाता है। किन्तु अन्य आधुनिक अर्थशास्त्री इस परिभाषा को वैज्ञानिक दृष्टि से सही नहीं बताते।

उपयोगिता के साथ मूल्य भी आवश्यक है—

उनका कहना है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल उपयोगिता और इसके सृजन से नहीं है। इसका सम्बन्ध तो ऐसी दुर्लभ वस्तुओं से है जिनमे उपयोगिता होती है। उदाहरणस्वरूप, यद्यपि वायु की हमारे लिए बहुत ही अधिक उपयोगिता है, परन्तु क्योंकि उसकी माँग की तुलना में उसकी पूर्ति सीमित नहीं है, इसलिए उसके सम्बन्ध मे कोई भी आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं होती है। अतः किंचित् यह कहना अनुचित न होगा कि किसी ऐसी वस्तु का उत्पन्न करना, जिसमें उपयोगिता तो हो, परन्तु मूल्य न हो, उत्पत्ति नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार, जैसा कि प्रो० टोमस (Thomas) ने बताया है, मूल्य के निर्माण (Creation of Value) को ही उत्पत्ति कहना उचित होगा। सकुचित अर्थ मे, शायद यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उत्पत्ति का अभिप्राय आर्थिक वस्तुओं (Economic Goods) और ऐसी सेवाओं को उत्पन्न करना है जिनका कि मूल्य होता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उत्पत्ति का सम्बन्ध उत्पन्न करने की कला (Technique) से नहीं है, बल्कि उत्पन्न करने के आर्थिक पक्ष से है।

नये सिरे से उपयोगिता या मूल्य का निर्माण सम्भव नहीं—

एक दूसरे दृष्टिकोण से, उपयोगिता अथवा मूल्य का सृजन करना भी उत्पत्ति नहीं हो सकता है। मनुष्य का कार्य तो केवल उपयोगिता अथवा मूल्य मे वृद्धि करने तक ही सीमित

होता है। नये सिरे से उपयोगिता या मूल्य का उत्पन्न करना मनुष्य का कार्य नहीं है, इस कारण उपयोगिता अथवा मूल्य का सृजन करना उत्पत्ति नही है, बल्कि केवल उपयोगिता या मूल्य में वृद्धि करना उत्पत्ति है। इस सम्बन्ध मे प्रमुख विद्वानों के मत निम्नलिखित हैं :—

(१) पेन्सन—"अनेक रीतियों से मनुष्य किसी वस्तु की मानव आवश्यकताओं को पूरा करने वाली शक्ति को बढा देता है और उसकी इन सब क्रियाओं के फलस्वरूप धन का उत्पादन होता है।"[1]

(२) टोमस—"केवल ऐसी उपयोगिता वृद्धि को उत्पत्ति कहा जा सकता है जिसके फलस्वरूप किसी वस्तु मे मूल्य की वृद्धि या विनिमय साध्यता की वृद्धि हो जाय, अर्थात उस वस्तु के बदले मे पहले से अधिक वस्तुएँ मिल सकें।"

(३) मार्शल—"इस भौतिक ससार मे मनुष्य अधिक से अधिक इतना कर सकता है कि पदार्थ की पुनर्व्यवस्था कर दे, जिससे कि वह पहले से अधिक उपयोगी हो जाय·······।"[2]

सरल शब्दो मे, उत्पत्ति का अर्थ मनुष्य द्वारा उपयोगिता अथवा मूल्य मे वृद्धि करना होता है। इस सम्बन्ध मे दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :—(i) उत्पादन केवल मनुष्य द्वारा किया जा सकता है, और, (ii) कोई भी कार्य वस्तु की उपयोगिता अथवा उसके मूल्य मे वृद्धि करने हेतु किया जाय, "उत्पत्ति-कार्य" कहलायेगा। यह आवश्यक नहीं है कि उस कार्य के फलस्वरूप भौतिक अर्थ मे उपयोगिता की वृद्धि हो ही। यदि उद्देश्य इस प्रकार की वृद्धि करना था तो वह कार्य उत्पादन का कार्य होगा, चाहे वास्तव मे उपयोगिता में वृद्धि होती है या नहीं, जैसे—कुआ खोदना, जो बनते समय ढह जाय।

उपयोगिता वृद्धि की रीतियाँ
(Methods of Adding Utility)

किसी वस्तु मे उपयोगिता की वृद्धि अनेक ढङ्गों से की जा सकती है। विशेषतः निम्नलिखित रीतियाँ उल्लेखनीय हैं :—

(१) **रूप उपयोगिता** (Form Utility)—अधिकाश उत्पत्ति किसी वस्तु का रूप बदल कर ही की जाती है। हम किसी वस्तु के रूप को बदल कर उसकी उपयोगिता को बढ़ा सकते है। एक लकड़ी जब मेज और कुर्सी के रूप में बदल दी जाती है तो इस रूप मे निस्सन्देह उसकी उपयोगिता अधिक हो जाती है।

(२) **स्थान उपयोगिता** (Place Utility)—किसी वस्तु या सेवा का स्थान बदल कर भी उसकी उपयोगिता बढ़ाई जा सकती है। जब किसी वस्तु को एक ऐसे स्थान से, जहाँ यह प्रचुर मात्रा मे है अथवा जहाँ उसकी माँग नही है, किसी ऐसे स्थान पर जहाँ पर वह दुर्लभ है, ले जाया जाता है, तो इससे वस्तु विशेष की उपयोगिता बढ जाती है। उदाहरणार्थ, जङ्गल

---

[1] "Practically, man does nothing but pull, press, carry or otherwise mechanically force things into new forms or new places. He pushes a spade into the ground, pulls a root out of it, lifts a load of firewood and carries it to the fire, the presses on the branch of a tree and breaks it, so on and so forth. All these activities result in the production of wealth."—**Penson.**

[2] "All that man can do in the physical world is either to re-adjust matter so as to make it more useful, as when he makes a log of wood into a table, or to put it in the way of being made more useful by nature, as when he puts seed where the forces of nature will make it burst into life." —**Marshall.**

में लकड़ी की उपयोगिता बहुत कम होती है, परन्तु जब यह लकड़ी शहर में लायी जाती है, तो इसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। ऐसी उपयोगिता की वृद्धि का यातायात के साधनों के विकास से गहरा सम्बन्ध है।

(३) **समय उपयोगिता** (Time Utility)—संचय द्वारा भी उपयोगिता अथवा मूल्य में वृद्धि की जा सकती है। बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि वे किसी विशेष समय या मौसम में ही पैदा होती हैं। उस काल में इनकी प्रचुरता रहती है; परन्तु इनकी मांग बराबर बने रहने के कारण दूसरे मौसम में ये मांग की तुलना में दुर्लभ हो जाती हैं ऐसी वस्तुओं का संचय करने से उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। जुलाई के महीने में आम की उपयोगिता उतनी नहीं होती है जितनी कि जनवरी के महीने में। मई और जून में गेहूँ सस्ता होता है, परन्तु जनवरी-फरवरी में महँगा हो जाता है। इससे पता चलता है कि संचय भी मूल्य-वृद्धि का कारण होता है।

(४) **अधिकार-हस्तान्तरण-उपयोगिता** (Possession Utility)—विभिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही वस्तु की उपयोगिता अलग-अलग होती है। एक पुस्तक का जब किसी रद्दी बेचने वाले से किसी विद्यार्थी के पास हस्तान्तरण होता है, तो उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। इस प्रकार की उपयोगिता वृद्धि को कभी-कभी "हस्तान्तरण उपयोगिता" (Transfer Utility) भी कहा जाता है।

(५) **सेवा उपयोगिता** (Service Utility)—सेवा उपयोगिता का अभिप्राय उस उपयोगिता से है जो मनुष्य की सेवा के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। एक गायक तबले और सितार का उपयोग करके इन दोनों की उपयोगिता को बढ़ा देता है। ठीक इसी प्रकार एक डाक्टर भी अपने औजारों की उपयोगिता को बढ़ा सकता है। यहाँ पर यह बता देना असङ्गत न होगा कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने मूर्त वस्तुओं के निर्माण को ही उत्पत्ति कहा है। उनके अनुसार सेवा द्वारा उपयोगिता में वृद्धि नहीं हो सकती है। किन्तु यह विचार ठीक नहीं है। मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार की वस्तुओं का निर्माण उत्पत्ति में सम्मिलित किया जाता है। वास्तविकता यह है कि उपयोगिता की प्रत्येक वृद्धि अमूर्त (Intangible) ही होती है।

(६) **ज्ञान उपयोगिता** (Knowledge Utility)—आधुनिक युग में विज्ञापन द्वारा उपभोक्ताओं को वस्तु के गुण और लाभ बता कर इनके उपयोगिता-प्राप्ति के ज्ञान में वृद्धि की जा सकती है। इसका परिणाम यह होता है कि उनके लिए वस्तु विशेष की उपयोगिता बढ़ जाती है।

इस प्रकार, उत्पत्ति अथवा उपयोगिता वृद्धि में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है :—(i) भूमि, समुद्र अथवा खानों से वस्तुयें प्राप्त करना। उदाहरणस्वरूप, कृषि द्वारा, मछली पकड़ कर और खानें खोद कर। (ii) वस्तुओं का निर्माण (Manufacture), जैसे—कपड़ा बुनना, मकान बनाना इत्यादि। (iii) रेलों, मोटरों, जहाजों आदि द्वारा वस्तुओं का एक स्थान से दूसरे स्थान को लाना और ले जाना। (iv) व्यापार, अर्थात् उत्पादित वस्तुओं का वितरण और (v) उपभोक्ताओं के लिए प्रत्यक्ष सेवाएँ उपलब्ध करना, जैसे—गाना, नाचना, पढ़ना सिखाना इत्यादि।

संक्षेप में, प्राकृतिक साधनों में मानसिक और शारीरिक शक्ति लगाकर उपयोगिता की वृद्धि करना उत्पत्ति कहलाता है।

उत्पत्ति का महत्त्व
(The Importance of Production)

व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन दोनों में ही उत्पत्ति का अधिक महत्त्व है। उत्पत्ति के महत्त्वपूर्ण होने के कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) **आवश्यकताओं की पूर्ति उत्पादन पर निर्भर होती है।** यह एक साधारण-सी बात है कि उत्पत्ति के बिना उपभोग हो ही नहीं सकता है। यह सम्भव है कि अल्पकाल में कोई व्यक्ति अथवा समाज अपने उत्पादन से अधिक उपभोग करे, परन्तु दीर्घकाल में वह ऐसा नहीं कर सकता। अन्तिम दशा में उपभोग उत्पत्ति की मात्रा पर ही निर्भर रहता है। यदि उत्पत्ति कम होती है, तो समाज के लोगों को अपनी दिन-प्रति-दिन की आवश्यकताएँ पूरी करने में कष्ट होता है।

(२) **किसी व्यक्ति अथवा समाज का जीवन-स्तर भी उसकी उत्पत्ति पर निर्भर होता है।** जिस देश में उत्पादन अधिक होता है वहाँ के लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा होता है और ऊँचा जीवन-स्तर शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को उन्नत करता है, जिससे कार्यकुशलता और उत्पादन शक्ति बढ़ती है। ऊँचा-जीवन-स्तर, नैतिक-स्तर और शिक्षा-स्तर को भी ऊँचा उठाता है। यही देश की आर्थिक सम्पन्नता का प्रतीक होता है। उत्पत्ति के बिना अधिक ऊँचे जीवन-स्तर की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। उन्नति के लिए सबसे पहली आवश्यकता उत्पत्ति बढ़ाने की होती है। भारत की आर्थिक दरिद्रता का प्रमुख कारण उत्पादन की कमी ही है।

(३) **देश में व्यापार और वाणिज्य की उन्नति भी उत्पत्ति पर निर्भर होती है।** जब उत्पत्ति ही कम होगी, तो विनिमय व्यापार भी उन्नति नहीं कर सकेगा। अन्य शब्दों में, अधिक माल का क्रय-विक्रय तभी हो सकता है जब माल अधिक हो।

(४) **सरकार को करों और अन्य शीर्षकों से प्राप्त होने वाली आय भी उत्पत्ति पर निर्भर होती है,** क्योंकि कर प्राय. उत्पत्ति में से ही चुकाये जाते हैं। राजस्व में समाज की करदान क्षमता (Taxable Capacity) का अध्ययन किया जाता है, अर्थात् हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि एक देश के निवासियों से अधिक से अधिक कितना कर वसूल किया जा सकता है। अन्तिम दशा में करदान क्षमता देश में उत्पादन की मात्रा पर ही निर्भर होती है।

उत्पत्ति की मात्रा को प्रभावित करने वाली बातें
(Factors Determining the Volume of Production)

उत्पत्ति के महत्त्व को भली-भाँति समझने के लिए हमें उन बातों का भी पता लगाना चाहिए जो किसी देश में उत्पत्ति की मात्रा को निर्धारित करती हैं। ये बातें निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रत्येक देश में उत्पत्ति की मात्रा देश में उपलब्ध उत्पत्ति के साधनों के **गुण और मात्रा** पर निर्भर होती है। यदि देश में प्राकृतिक साधन अच्छे हैं, पूँजी पर्याप्त है और देश के निवासी परिश्रमी हैं, तो उत्पत्ति की मात्रा अधिक होगी।

(२) उत्पत्ति की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि देश में **उत्पादन कलाओं और विज्ञान की उन्नति** किस अंश तक हुई है तथा इनका कृषि और उद्योगों में किस अंश तक उपयोग किया गया है। यदि वैज्ञानिक रीतियों का उपयोग नहीं हुआ है, तो सब कुछ होते हुए भी उत्पत्ति की मात्रा कम ही रहेगी। भारत में उत्पत्ति की मात्रा के कम रहने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है।

(३) आर्थिक उन्नति के लिए **यातायात और सम्वादवाहन** का विकास भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इनके विकास से मण्डियों का विस्तार होता है और कच्चा माल उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों को औद्योगिक क्षेत्रों से मिला देना सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त, उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता (Mobility), बढ़ जाती है, तथा उपभोक्ताओं और उत्पादकों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। परिणामस्वरूप उत्पत्ति की मात्रा बढ़ती है।

(४) 'वित्त" (Finance) को आधुनिक उत्पादन प्रणाली का तेल कहा जाता है,

जिसके बिना यह मशीन भली-भाँति नहीं चल सकती है। वर्तमान उद्योगों को भारी मात्रा में उधार पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। बैंकिंग और साख संस्थाओं के समुचित विकास के बिना उत्पत्ति के पैमाने का विस्तार सम्भव न होगा।

(५) उत्पत्ति की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि देश में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था कैसी है, सरकार आर्थिक मामलों में कितना हस्तक्षेप करती है और आर्थिक जीवन की उन्नति के लिए क्या-क्या प्रयत्न करती है। आधुनिक युग में सरकार द्वारा संचालित आर्थिक नियोजन (Economic Planning) के महत्त्व को हम सभी जानते हैं। रूस की आश्चर्य-जनक आर्थिक उन्नति का कारण सरकारी प्रयत्न ही है। भारत सरकार भी इस समय आर्थिक नियोजन द्वारा उत्पत्ति को बढ़ाने का प्रयत्न कर रही है।

(६) अन्त में, देश में उत्पत्ति की मात्रा वहाँ के प्राकृतिक साधनों की मात्रा और उनके गुण पर निर्भर होती है। जलवायु, भूमि, खानें, पहाड़ और नदियाँ ये सब प्रकृति की देन हैं। उत्पत्ति में इनके महत्त्व से सभी परिचित हैं। इसी प्रकार, प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों (जैसे—बाढ़, भूचाल आदि) का भी उत्पत्ति की मात्रा पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

उत्पत्ति के साधन
(Factors of Production)

उत्पत्ति कई साधनों के सामूहिक प्रयत्नों का परिणाम होती है। उत्पत्ति के साधनों से हमारा अभिप्राय उन सेवाओं और पदार्थों से होता है जिनका धन के उत्पादन के लिए उप-योग आवश्यक होता है।

उत्पत्ति-साधनों की संख्या के विषय में मतभेद—

उत्पत्ति के ५ साधन हैं। इन्हीं साधनों के मिल कर काम करने के फलस्वरूप उत्पत्ति सम्भव होती है। उत्पत्ति के साधनों, उनकी प्रकृति और उनके महत्त्व का अध्ययन अर्थशास्त्र में बहुत लम्बे काल से होता चला आ रहा है।

(१) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) ने उत्पत्ति के तीन साधन बताये थे—भूमि, श्रम और पूँजी। उनका विचार था कि भूमि उत्पत्ति का "आरम्भिक" (Primary) अथवा आधारभूत (Basic) साधन है जिसके बिना किसी भी प्रकार की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। उत्पत्ति के कम से कम दो साधनों का सहयोग आवश्यक है। भूमि और श्रम के बिना किसी भी प्रकार की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि कुल उत्पत्ति के तीन भाग होते हैं :—सबसे पहले भूमि को हिस्सा मिलता है, इसके पश्चात् श्रम को और अन्त में पूँजी को। इन अर्थशास्त्रियों ने भूमि को निष्क्रिय (Passive) साधन माना और श्रम को सक्रिय (Active) साधन बताया।

(२) आगे चलकर मार्शल ने उत्पत्ति के चार साधन बताये—भूमि, श्रम, पूँजी तथा सङ्गठन (Land, Labour, Capital and Organisation)। सङ्गठन को उन्होंने दो और भागों में विभाजित किया है—प्रबन्ध (Management) और साहस (Enterprise)।

(३) कुछ अर्थशास्त्रियों ने साहस को उत्पत्ति का एक पृथक् साधन मान कर उत्पत्ति साधनों की संख्या ५ कर दी है।

(४) कुछ अर्थशास्त्रियों ने उत्पत्ति के साधनों को घटा कर दो कर देने का प्रयत्न किया है—मनुष्य और प्रकृति, अथवा, श्रम और भूमि। बताया गया है कि उत्पत्ति के आर-म्भिक साधन यही हैं। पूँजी के विषय में कहा जाता है कि यह केवल श्रम और भूमि के प्रयत्नों का फल है। इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार, सङ्गठन एक प्रकार का श्रम है,

जो शारीरिक और मानसिक परिश्रम का मिश्रण है, इसलिए वास्तविक साधन भूमि और श्रम ही रह जाते हैं।

[एक अन्य दृष्टिकोण से भी उत्पत्ति-साधनों को दो वर्गों में बाँटा जाता है जैसा कि आस्ट्रियन अर्थशास्त्री वीजर ने बाँटा है :—विशिष्ट एवं अविशिष्ट। विशिष्ट साधन (Specific factors) वे हैं, जो एक समय केवल एक ही कार्य मे प्रयोग किये जा सकते है अर्थात् जो एक समयावधि मे अगतिशील होते हैं। अविशिष्ट साधन (Non-specific factors) वे हैं जो वैकल्पिक प्रयोग वाले होते हैं अर्थात् जो एक समयावधि मे गतिशील होते हैं। यह वर्गीकरण सापेक्षिक है अर्थात् जो साधन आज विशिष्ट है वह कुछ समय के बाद अविशिष्ट हो सकता है। दूसरे, यह वर्गीकरण अल्पकालीन है, क्योंकि दीर्घकाल मे सभी साधन अविशिष्ट होते हैं।]

(५) कुछ अर्थशास्त्री तो इससे और भी आगे बढ़ जाते हैं। उनके विचार में भूमि उत्पत्ति का साधन है ही नहीं, पूँजी एक प्रकार का श्रम है और चूँकि आयोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy) मे जोखिम होती ही नही है, इसलिए "श्रम" ही उत्पत्ति का एकमात्र साधन होता है।

(६) बेनहाम (Benham) के अनुसार, जो भी सेवा या वस्तु उत्पादन-कार्य मे सहायता दे वही उत्पादन का साधन है। साथ ही, भूमि, श्रम, पूँजी, सङ्गठन और साहस इनमे से प्रत्येक की सैकडो-हजारो किस्मे हैं, कुछ कम कुशल हैं तो कुछ अधिक। अतः इनमे से प्रत्येक की किस्म को एक पृथक् और स्वतन्त्र साधन मानना चाहिये। इस प्रकार, उनका कहना है कि उत्पत्ति के अनगिनत साधन हैं।

निष्कर्ष के रूप मे यह कह सकते हैं, अधिकाश आधुनिक अर्थशास्त्री यह मानते है कि उत्पत्ति-साधन ५ है। विशिष्ट और अविशिष्ट साधनो का वर्गीकरण अवैज्ञानिक है, क्योंकि यह केवल अल्पकाल मे ही पाया जाता है दीर्घकाल में नहीं। उत्पत्ति-साधनो को अनगिनत या दो मानने से विवेचन मे जटिलता और अस्पष्टता आने की आशका है। भूमि, श्रम, पूंजी, सङ्गठन एवं साहस को पृथक्-पृथक् साधन मान लेना ही ठीक होगा। यह स्वीकार करने मे तो आपत्ति नही हो सकती है कि उत्पत्ति के आधारभूत साधन मनुष्य और प्रकृति ही हो सकते हैं, यद्यपि इन दोनो मे भी मनुष्य का ही महत्त्व अधिक है। मार्शल (Marshall) ने ठीक ही कहा है, "प्रत्येक दृष्टिकोण से, मनुष्य ही उत्पत्ति और उपभोग दोनो की समस्याओं का केन्द्र है।"[1]

विभिन्न उत्पत्ति-साधन और उनका अर्थ—

अब हम यह देखने का यत्न करेंगे कि ये उत्पत्ति साधन क्या हैं ?

(१) भूमि (Land)—प्राचीन अर्थशास्त्रियो के अनुसार, भूमि प्रकृति का स्वतन्त्र उपहार है।[2] इस परिभाषा के अनुसार वे सब वस्तुएँ, जो मनुष्य को प्रकृति की ओर से बिना किसी मूल्य के मिल जाती हैं, भूमि कहलाती है। इस प्रकार, भूमि मे मनुष्य और मनुष्यकृत वस्तुओं को छोड़ कर वे सारी वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं, जो प्रकृति के उपहारस्वरूप है। वायु, वर्षा, प्राकृतिक जङ्गल, खानें आदि इसी प्रकार की वस्तुएँ हैं।

आगे चलकर कुछ अर्थशास्त्रियो ने इस परिभाषा पर आपत्ति की और यह बताया कि प्रकृति मनुष्य को बिना मूल्य के कुछ नही देती है। किसी भी वस्तु का उपयोग करने के लिए मनुष्य को उसका मूल्य चुकाना होता है। उन्होने बताया कि यद्यपि मनुष्य को कोई वस्तु बिना

---

[1] "From every point of view, man is the centre of the problem of production as well as that of consumption."—Marshall

[2] "Land is a free gift of nature."—Ricardo.

मूल्य के नहीं मिलती, किन्तु संसार में कुछ ऐसी वस्तुएँ अवश्य है, जो मनुष्य के परिश्रम के बिना ही विद्यमान है। अतएव भूमि की परिभाषा इस प्रकार की गई कि भूमि में वे सब वस्तुएँ सम्मिलित है जो बिना मनुष्य के परिश्रम के ही इस संसार में विद्यमान है। दूसरे शब्दों में, जिन वस्तुओं के इस संसार में होने के लिए मनुष्य किसी प्रकार भी उत्तरदायी नहीं है, वे भूमि हैं।[1] इस परिभाषा के अनुसार प्राकृतिक पहाड़, प्राकृतिक वन और प्राकृतिक नदियाँ भूमि है, परन्तु नहरें, मनुष्य द्वारा उगाये हुए वन आदि भूमि नहीं है।

कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भूमि की इस परिभाषा की भी आलोचना की है। उनका विचार है कि इस अर्थ में भूमि उत्पत्ति का साधन नहीं हो सकती है।[2] प्रो० मेहता (Mehta) के अनुसार, भूमि कोई भी वह वस्तु है जो पारिमाणिक (Specific) है अर्थात् जिसका समय विशेष में केवल एक ही उपयोग सम्भव है। यह सर्वविदित है कि अल्पकाल (Short Period) में उत्पत्ति के किसी भी साधन के उपयोग को बदला नहीं जा सकता। अतः अल्पकाल में उत्पत्ति के प्रत्येक साधन में परिमाणिकता (Specificity) होती है। इस दृष्टि से यह कह सकते है कि अल्पकाल में उत्पत्ति का प्रत्येक साधन भूमि ही होती है, परन्तु, दीर्घकाल में, उत्पत्ति के लगभग सभी साधनों के उपयोग को बदला जा सकता है, इसलिए दीर्घकाल में भूमि नाम का कोई साधन नहीं रहता (इस परिभाषा का विस्तृत अध्ययन लगान के अध्याय में किया जायगा)। प्रो० मेहता की परिभाषा के अनुसार कुछ दशाओं में स्वयं मनुष्य भी भूमि हो सकता है।[3]

(२) श्रम (Labour)—उत्पत्ति का दूसरा साधन श्रम है। अर्थशास्त्र में इस शब्द को संकुचित अर्थ में उपयोग किया जाता है। अर्थशास्त्र में केवल मनुष्य के परिश्रम को श्रम कहा जाता है। श्रम की परिभाषा इस प्रकार कर सकते है :—श्रम मनुष्य का वह शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम है जो उत्पत्ति करने के उद्देश्य से किया गया हो।[4] इस प्रकार श्रम की तीन विशेषताएँ होती हैं :—(i) यह केवल मनुष्य का परिश्रम होता है, (ii) शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार का परिश्रम श्रम में सम्मिलित किया जाता है और (iii) केवल उस परिश्रम को श्रम में सम्मिलित किया जाता है जो उत्पत्ति करने के उद्देश्य से किया गया हो। यह आवश्यक नहीं है कि श्रम के फलस्वरूप उत्पत्ति हो ही, परन्तु यह आवश्यक है कि उद्देश्य उत्पत्ति करना हो। यदि हम परिश्रम करके भी कुछ उत्पन्न करने में असमर्थ रहते हैं, यद्यपि हम उत्पत्ति करना चाहते थे, तो हमारा यह परिश्रम ही होगा।

(३) पूँजी (Capital)—उत्पत्ति का तीसरा साधन पूँजी है। पूँजी सदा मनुष्यकृत वस्तु होती है। पूँजी की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि वह मनुष्य के पिछले श्रम के फल का वह भाग है जो और आगे उत्पत्ति करने के लिए उपयोग किया जाता है।[5] कुछ अर्थ-

---

[1] "Land is anything above the surface of the earth, below the surface of the earth and including the surface of the earth which exists independently of man effort."

[2] *See* J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory* and Mrs. Joan Robinson : *Economics of Imperfect Competition* the Chapter 'A Digression on Rent'.

[3] "*See* J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory* and Mrs. Joan Robinson *Economics of Imperfect Competition* the Chapter 'A Digression on Rent'

[4] "Labour is any human exertion, either of the body or of the mind performed with a view to production."

[5] "Capital is that part of the result of man's past labour which is used for further production."

शास्त्रियों ने पूँजी को "संचित श्रम" (Stored-up Labour) कहा है। इस प्रकार पूँजी सदा ही मनुष्य के परिश्रम का ही फल होती है, परन्तु किसी वस्तु के लिए पूँजी बनना तभी सम्भव होता है जबकि उसका उपयोग और आगे उत्पत्ति करने के लिए किया जाय।

(४) **संगठन एवं साहस**—मार्शल ने सङ्गठन (Organisation) को उत्पत्ति का चौथा साधन बताया है। संगठन के दो भाग होते हैं :—(i) प्रबन्ध, जिसका कार्य उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को जुटाना तथा इनके मिलकर काम करने की व्यवस्था करना होता है, और (ii) साहस, जिसका कार्य उत्पत्ति सम्बन्धी जोखिम (Risk) अथवा अनिश्चितता (Uncertainty) को सहन करना होता है। आधुनिक अर्थशास्त्री प्रबन्ध को उत्पत्ति का पृथक् साधन नहीं मानते हैं। प्रबन्धक के कार्य को श्रम में सम्मिलित किया जाता है और यह उचित भी है। इसके विपरीत, साहस को उत्पत्ति का एक पृथक् साधन माना जाता है। उत्पत्ति के प्रत्येक कार्य में किसी न किसी प्रकार की जोखिम रहती है, जिसे उठाये बिना उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है। उदाहरणस्वरूप, एक किसान जब फसल बोता है तो बाढ़, सूखा, इत्यादि अनेक जोखिमों को उठाता है। इसी प्रकार, एक कारखाने का स्वामी भी हानि की सम्भावना की जोखिम को उठाता है। चूँकि जोखिम उठाना एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण कार्य है, इसलिए साहस को उत्पत्ति का एक पृथक् साधन मान लेना उचित ही है।

उत्पत्ति साधनों का सापेक्षिक महत्त्व

प्राय: यह विवाद किया जाता है कि उत्पत्ति का कौन-सा साधन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस विवाद पर ध्यान देना इसलिये आवश्यक है कि प्रत्येक साधन अपने पक्ष को बढ़ा-चढ़ा कर बताता और राष्ट्रीय आय में एक बड़े हिस्से के लिये माँग करता है।

भूमि के बिना कोई उत्पादन कार्य सम्भव नहीं है। अत: इसका महत्त्व स्पष्ट है। किन्तु देखा गया है कि प्रचुर भूमि (प्राकृतिक उपहार) होते हुए भी देश निर्धन रहा और कम भूमि रखने वाला देश धनी हो गया। इस विषमता का कारण श्रम-साधन है। जहाँ श्रम-साधन कुशल है वहाँ प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग हुआ है और देश धनी हो गया है। इस दृष्टि से श्रम के महत्त्व को भी कम करके बताना सम्भव नहीं है। आजकल पूँजी भी बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि श्रम-साधन पूँजी के प्रयोग द्वारा अधिक प्रभावशाली कार्य कर सकता है। वर्तमान युग में औद्योगिक व्यवस्था इतनी जटिल हो गई है कि इसके सुचारु रूप से सचालन हेतु कुशल प्रबन्धकों की बहुत आवश्यकता है। अत: प्रबन्ध की महत्ता स्पष्ट है। अन्त में आधुनिक उत्पादन भावी माँग के अनुमान के आधार पर किया जाता है, जिस कारण इसम बहुत जोखिम रहने लगी है और जब तक इसे उठाने को साहसी आगे न आयेंगे, उत्पादन कार्य या तो शुरू नहीं किया जायगा अथवा छोटे पैमाने पर किया जायेगा।

इस प्रकार, उत्पत्ति के पाँचों ही साधन महत्त्वपूर्ण हैं। किसी एक या दो को अन्य की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण नहीं बताया जा सकता। इनके समन्वित एवं कुशल उपयोग पर ही उत्पादन की मात्रा निर्भर है। हाँ, विभिन्न दशाओं या आर्थिक विकास की विभिन्न परिस्थितियों में कुछ साधन अन्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं, जैसे—हस्तकला अवस्था में श्रम का महत्त्व पूँजी की अपेक्षा अधिक था किन्तु औद्योगिक युग में पूँजी का महत्त्व अधिक हो गया है।

उत्पादन और उपभोग की परिधि में सभी आर्थिक क्रियायें सम्मिलित

आर्थिक क्रियाओं को प्राय: चार विभागों में बाँटा जाता है—उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण। राजस्व को हमने इस विवेचन में छोड़ दिया है क्योंकि इसमें उक्त चार [illegible] से ही सम्बन्धित सरकारी क्रियायें आती हैं।

वितरण से आशय उत्पादित धन को विभिन्न उत्पत्ति साधनों में बाँटने का है। यह स्थान उपयोगिता का सृजन ही तो है। जिस प्रकार वन की कम उपयोगी लकड़ी को नगर में ले जाने का परिणाम स्थान उपयोगिता में वृद्धि होना है, उसी प्रकार वितरण की क्रिया उत्पादित धन को व्यक्तिगत उत्पत्ति-साधनों के हाथों में पहुँचा कर उसे अधिक उपयोगी बना देती है। अतः वितरण को उत्पादन के अन्तर्गत गिना जा सकता है।

जहाँ तक विनिमय का प्रश्न है, विनिमय-क्रिया तब ही की जाती है जबकि इसके दोनों पक्ष यह अनुभव करें कि उनमें से प्रत्येक के लिये दूसरे की वस्तु अपनी वस्तु की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। अतः जब वे वस्तुयें अदल-बदल लेते हैं तो दोनों के लिये उपयोगिता बढ़ जाती है। यहाँ उपयोगिता की वृद्धि अधिकार परिवर्तन के द्वारा सम्भव हुई। यह 'अधिकार उपयोगिता' है। इस प्रकार, विनिमय भी उत्पादन के अधीन आ जाता है।

उपभोग समस्त आर्थिक क्रियाओं का आदि और अन्त है। अतः वितरण व विनिमय उपभोग के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं।

पुनः प्रत्येक व्यक्ति उत्पादक और उपभोक्ता दोनों होता है, जिस कारण प्रत्येक आर्थिक क्रिया उत्पादन या उपभोग से सम्बन्धित होती है। इस दृष्टि से भी सारी आर्थिक क्रियायें उत्पादन और उपभोग के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं।

उत्पत्ति के साधनों की कुशलता

उत्पत्ति के साधन की कुशलता से हमारा अभिप्राय किसी साधन की कम से कम लागत और कम से कम परिश्रम द्वारा अधिक और अच्छा कार्य करने की योग्यता से होता है। सभी जानते हैं कि सभी भूमि समान रूप से उपजाऊ नहीं होती, विभिन्न श्रमिकों की निपुणता और कार्यक्षमता में अन्तर होता है और सभी प्रबन्धक समान रूप से कुशल नहीं होते हैं। जो साधन न्यूनतम लागत पर अधिक और अच्छा काम करता है, वही अधिक कुशल माना जाता है। उत्पत्ति के किसी साधन की कुशलता जिन बातों पर निर्भर होती है, उन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं :—(I) आन्तरिक दशायें और (II) बाहरी दशायें।

(I) आन्तरिक दशाओं में निम्न दो बातों को सम्मिलित किया जाता है :—(i) प्रत्येक साधन को उसकी योग्यता के अनुसार काम मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक साधन को उसकी निपुणता, योग्यता और क्षमता के अनुसार ही काम करने का अवसर देना चाहिए। निपुण साधन को अनिपुण काम देने से कुशलता नहीं रहेगी। (ii) साधनों को ठीक-ठीक अनुपात में मिलाकर काम में लगाना चाहिए। उत्पत्ति की कुशलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि किसी साधन का भी अपव्यय न होने पाये।

(II) बाहरी दशायें, जिनका कि उत्पत्ति के साधन की कुशलता पर प्रभाव पड़ता है, अनेक हैं। इनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं :—(i) यातायात और संवादवाहन के साधनों का विकास (Development of the means of transport and communications), (ii) कीमत का ऊँचा होना, (iii) उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण (Localisation of industries), (iv) प्रतियोगिता (Competition), (v) बैंक आदि का विकास, (vi) वैज्ञानिक और शिल्प शिक्षा (Scientific and Technical Education), (vii) राजनैतिक शान्ति और सुरक्षा, (viii) सरकार की आर्थिक और कर नीति और (ix) अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति।

परीक्षा प्रश्न :

१. उत्पादन क्या है ? किसी देश में समय विशेष पर उत्पादन की मात्रा को निर्धारित करने वाले घटक कौन-कौन से हैं ?
२. "श्रम सम्पत्ति का पिता और सक्रिय सिद्धान्त है, भूमि उसकी जननी"—उत्पादन कार्य में भूमि और श्रम की भूमिका को दर्शाते हुए इस कथन को स्पष्ट कीजिये।
३. "उपयोगिताओं का सृजन करना ही उत्पादन है।" आलोचना कीजिये।
४. उपयोगिता के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए। निम्नलिखित लोग किस प्रकार की उपयोगिता उत्पन्न करते हैं —(क) कक्षा में भाषण देने वाले प्रोफेसर, (ख) किसी होस्टल में बावर्ची, एवं (ग) सब्जी के बाग में फल बेचने वाला।

२१

उत्पत्ति के नियम

(The Laws of Production)

प्रारम्भिक—

आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली मे, जहाँ उत्पत्ति अधिकतर परोक्ष रीति से होती है, बहुधा उत्पत्ति के सभी साधनो का एक साथ उपयोग आवश्यक होता है। अतः हम कह सकते हैं कि उत्पत्ति विभिन्न साधनो के सहयोग के फलस्वरूप होती है। साधनो के इस सहयोग को हम दो विभिन्न दृष्टिकोणो से देख सकते हैं :—

(१) उत्पत्ति के साधनों में सहयोग—देखने मे आता है कि विभिन्न साधनों की *सामूहिक उपज अर्थात् प्रतिफल (Return) पर कुछ विशेष नियम लागू होते हैं, जिन्हे अर्थशास्त्रियो* ने उत्पत्ति के नियमो का नाम दे दिया है।

(२) साधनों का प्रतिस्थापन—यह देखा जाता है कि एक से ही साधनो का अलग-अलग अनुपात मे उपयोग करने पर भी बहुत बार उपज उतनी ही रहती है। यही कारण है कि उत्पत्ति के साधनो के बीच प्रतिस्थापन की सम्भावना रहती है और एक उत्पादक एक निश्चित फल की प्राप्ति के लिए साधनो के सर्वोत्तम अनुपात की खोज मे एक साधन के स्थान पर दूसरे का उपयोग करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार उत्पत्ति के सिद्धान्तो मे हमारे लिए उत्पत्ति के प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution in Production) का भी अध्ययन करना आवश्यक है।

उत्पत्ति ह्रास नियम अथवा परिवर्तनशील अनुपातों का नियम

प्रत्येक उत्पादन-क्रिया मे, यदि वह लम्बे काल तक चलती रहे तो, अलग-अलग प्रकार के फल प्राप्त होते है। यदि कम से कम एक साधन को यथास्थिर रखकर अन्य साधनो की *मात्राओ में वृद्धि की जाय, तो निम्न तीन प्रकार की सम्भावनाये हो सकती है*—(i) साधनो की वृद्धि से भी अधिक अनुपात मे उत्पत्ति बढ़े, (ii) साधनो की वृद्धि के अनुपात मे ही उत्पत्ति बढ़े और (iii) साधनो की वृद्धि से भी कम अनुपात मे उत्पत्ति बढ़े। यह सर्वविदित है कि उत्पादक उसी दशा मे साधनो मे वृद्धि करेगा जबकि इस वृद्धि से उत्पत्ति भी बढ़े। यदि ऐसा न हो, तो साधनो के बढ़ाने का प्रश्न ही नही उठता। प्रथम दशा मे वृद्धि नियम, दूसरी दशा मे उत्पत्ति स्थिरता नियम और तीसरी दशा मे उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है। **कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि उत्पादन ह्रास नियम ही उत्पत्ति का एक मात्र मूल नियम है। कारण, उत्पत्ति वृद्धि या उत्पत्ति स्थिरता नियम तो थोड़े समय के लिए ही लागू होते हैं किन्तु अन्ततः उत्पत्ति ह्रास नियम ही लागू होता है। अन्य शब्दो में, उत्पत्ति वृद्धि नियम एवं उत्पत्ति स्थिरता नियम उत्पत्ति ह्रास नियम की अस्थायी अवस्थायें हैं।**

उत्पत्ति ह्रास नियम के विषय मे मार्शल का कहना था कि यह केवल कृषि अथवा भूमि पर ही क्रियाशील होता है। उन्होने केवल भूमि को स्थिर माना और अन्य साधनो को परि-

वर्तनशील रखा। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि उत्पत्ति ह्रास नियम उत्पत्ति के सभी क्षेत्रो मे देर-सवेर अवश्य लागू होता है और यदि किसी भी साधन को (चाहे भूमि या पूँजी अथवा अन्य कोई) स्थिर रखकर अन्य साधनों को बढ़ावें, तो उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होगा। इस व्यापक क्रियाशीलता के आधार पर ही **आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उत्पत्ति ह्रास नियम को 'परिवर्तनशील अनुपातों का नियम'** (Law of Variable Proportions) कहा है।

[कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री 'उत्पत्ति ह्रास नियम' का प्रयोग केवल भूमि के सम्बन्ध मे करते हैं अर्थात् तब प्रयोग करते हैं जबकि भूमि को स्थिर और अन्य साधनो को परिवर्तनशील रखा जाय। किन्तु उस स्थिति मे, जबकि भूमि को ही नहीं वरन् किसी भी साधन को स्थिर माना जा सकता है, 'परिवर्तनशील अनुपातो के नियम' का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार कुछ अर्थशास्त्रियो के मतानुसार उत्पत्ति ह्रास नियम 'परिवर्तनशील अनुपातो के नियम' की एक अवस्था है। किन्तु अधिकाश आधुनिक अर्थशास्त्री इस प्रकार का भेद नहीं करते और वे उत्पत्ति ह्रास नियम को व्यापक रूप मे परिभाषित करते हुए उसे 'परिवर्तनशील अनुपात का नियम' कहते है।]

नियम की व्याख्या एवं स्पष्टीकरण—

जब उत्पत्ति की मात्रा साधनो की वृद्धि से कम अनुपात मे बढ़ती है, तो उत्पत्ति की यह प्रवृत्ति क्रमगत: उत्पत्ति ह्रास नियम कहलाती है।[1] नीचे के उदाहरण से यह प्रवृत्ति स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए कि उत्पत्ति के एक साधन, अर्थात् पूँजी को यथास्थिर रखा जाता है और अन्य साधनों को बढाया जाता है, जिससे उत्पत्ति मे निम्न प्रकार वृद्धि होती है :—

पूँजी + १० भूमि + १० श्रम + १० प्रबन्ध + १० साहस = १,००० इकाई उत्पत्ति
" + ११ " + ११ " + ११ " + ११ " = १,०८० " "
" + १२ " + १२ " + १२ " + १२ " = १,१५० " "
" + १३ " + १३ " + १३ " + १३ " = १,२१० " "

इस दशा मे हम देखते हैं कि जब साधनो मे वृद्धि १०% के अनुपात मे की जाती है तो पहली बार कुल उपज ८%, दूसरी बार ७%, और तीसरी बार केवल ६% के अनुपात से बढ़ती है। इससे सिद्ध होता है कि उत्पत्ति की वृद्धि-दर गिर रही है और वह साधनो की वृद्धि से कम अनुपात मे बढ रही है। यही उत्पत्ति ह्रास नियम का रूप है।

निश्चय है कि उत्पत्ति ह्रास नियम साधनों के सर्वोत्तम अनुपात को भंग कर देने के पश्चात् लागू होता है। इस नियम को हम **"सीमान्त उत्पादन व्यय वृद्धि नियम"** भी कह सकते हैं, क्योकि इस नियम के अन्तर्गत उत्पत्ति की प्रत्येक अगली इकाई का उत्पादन-व्यय बढ़ता चला जाता है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

उत्पत्ति के इन तीनो नियमो को रेखाचित्र द्वारा भी अंकित किया जा सकता है। आगे के चित्र मे तीनो नियमो का चित्रण किया गया है। मान लीजिए कि भूमि अविभाज्य साधन है और श्रम तथा पूँजी की मात्राएँ बढ़ाई जानी हैं—

---

1 When the output increases less than proportionately to the increase in the amount of factors of production, the amount of at least one factor being kept constant, the tendency is known as the Law of Diminishing Returns.

इस चित्र के देखने से ज्ञात होता है कि श्रम और पूंजी की दूसरी मात्रा (Dose) के उपयोग से पहली मात्रा की अपेक्षा उत्पत्ति अधिक होती है। तीसरी मात्रा के उपयोग से उत्पत्ति की वृद्धि दूसरी मात्रा के उपयोग द्वारा की हुई वृद्धि से भी अधिक होती है। अर्थात्, यहां तक उत्पत्ति वृद्धि नियम कार्यशील है। श्रम और पूंजी की चौथी मात्रा से ठीक उतनी ही उपज प्राप्त होती है जितनी कि तीसरी मात्रा से, जो उत्पत्ति स्थिरता नियम को सूचित करती है। परन्तु पांचवी मात्रा के उपयोग से चौथी की अपेक्षा कम उपज मिलती है और छठी मात्रा के उपयोग से पांचवी से भी कम। इस प्रकार श्रम और पूंजी के और अधिक उपयोग से घटते हुए अनुपात में उत्पत्ति की वृद्धि होती है, अर्थात् यहां से आगे उत्पत्ति ह्रास नियम कार्यशील है।
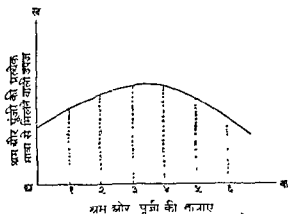
सीमान्त उत्पादन व्यय के सन्दर्भ में उक्त नियम—
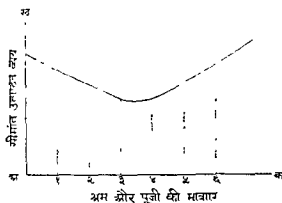
जब उत्पत्ति के नियमों का उल्लेख सीमान्त उत्पादन व्यय के अनुसार किया जाता है, तो चित्र का रूप भिन्न होता है। सीमान्त उत्पादन व्यय की वक्र रेखा श्रम और पूंजी की मात्राओं की प्रत्येक वृद्धि के साथ आरम्भ में गिरती है, परन्तु तत्पश्चात् उठती जाती है।

यह चित्र दिखाता है कि श्रम और पूंजी की तीसरी मात्रा के उपयोग तक सीमान्त उत्पादन व्यय घटता जाता है, जो उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत होता है। चौथी मात्रा के उपयोग पर सीमान्त उत्पादन-व्यय ठीक उतना ही होता है जितना कि तीसरी मात्रा के उपयोग से, जो क्रमगतः उत्पत्ति स्थिरता नियम की कार्यशीलता को सूचित करता है। परन्तु चौथी मात्रा के पश्चात् श्रम और पूंजी की मात्रा की प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ सीमान्त उत्पादन-व्यय भी बढ़ता जाता है, जो उत्पत्ति ह्रास नियम को दिखाता है। इस प्रकार अन्त में प्रवृत्ति ह्रास नियम की ओर ही होती है।[1]

---

1 आचार्य रघुवीर ने उत्पत्ति के नियमों को वर्धी प्रत्याय नियम (Law of Increasing Returns), स्थिर प्रत्याय-नियम (Law of Constant Returns) और आह्रासी प्रत्याय-नियम (Law of Diminishing Returns) के नाम दिये हैं, परन्तु लेखक द्वारा उपयोग किये हुए नाम ही अर्थशास्त्र में अधिक प्रचलित हैं।

ह्रास नियम का ऐतिहासिक विवेचन—

ऐतिहासिक दृष्टि से अर्थशास्त्र में उत्पत्ति ह्रास नियम का अध्ययन बहुत समय से होता आया है। एडम स्मिथ सबसे पहले अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने इस नियम पर ध्यान दिया था। यद्यपि उनकी पुस्तक वैल्थ ऑफ नेशन्स (Wealth of Nations) से इस बात का पता चलता है कि वे इस नियम के रूप और गुणों को समझते थे, फिर भी उन्होंने इस नियम की कोई विस्तृत विवेचना नहीं की है।

सबसे पहले माल्थस (Malthus) ने अपनी पुस्तिका 'लगान' (On Rent) में इस नियम की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। माल्थस का विचार था कि लगान का मुख्य कारण क्रमगतः उत्पत्ति ह्रास नियम का कार्यशील होना ही है। वास्तविकता तो यह है कि माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त भी इसी नियम पर आधारित है। किसी देश में खाद्य-उत्पादन के जन-संख्या के अनुपात में न बढ़ने का प्रमुख कारण माल्थस के विचार में कृषि-उत्पत्ति पर इस नियम का लागू होना ही है। माल्थस का विचार था कि जन-संख्या की वृद्धि तो निरन्तर होती रहती है, परन्तु खाद्य-उत्पत्ति पर ह्रास-नियम लागू हो जाने के कारण उसकी वृद्धि की गति मन्दी हो जाती है, जिसके फलस्वरूप कुछ समय पश्चात् खाद्य-उत्पत्ति जन-संख्या के लिए पर्याप्त नहीं रह पाती और जन-संख्या आवश्यकता से अधिक प्रतीत होने लगती है।

माल्थस के पश्चात् रिकार्डो (Ricardo) ने तो अपने लगान के सिद्धान्त को पूर्णतया इसी नियम पर आधारित किया। लगान के उत्पन्न होने का एक प्रमुख कारण उनके विचार में यही है कि गहन खेती (Intensive Cultivation) में श्रम और पूँजी की प्रत्येक अगली मात्रा (Dose) से पहले की अपेक्षा कम उपज प्राप्त होती है। रिकार्डो का "लगान सिद्धान्त" इतना सर्वप्रिय हुआ कि आगे के लगभग सभी अर्थशास्त्रियों ने इसका अनुकरण किया और इस प्रकार उत्पत्ति ह्रास नियम प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र (Classical Economics) का एक महत्वपूर्ण नियम बन गया। समय के साथ-साथ इस नियम का महत्त्व बढ़ता ही गया है और आज भी यह अर्थ-विज्ञान का एक प्रमुख नियम है।

उत्पत्ति ह्रास नियम के सम्बन्ध में मार्शल का दृष्टिकोण—

मार्शल द्वारा नियम का कथन—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री परम्परा को निभाते हुए मार्शल ने इस नियम की परिभाषा इस प्रकार की है, "खेती में साधारणतया श्रम और पूँजी की किसी एक वृद्धि के फलस्वरूप, यदि यह खेती करने की रीति में सुधार करने के साथ-साथ न हो, तो उपज में अनुपात से कम वृद्धि होती है।"[1]

व्याख्या—स्पष्ट है कि मार्शल ने उत्पत्ति ह्रास नियम की चर्चा कृषि के सन्दर्भ में की। उनका कहना है कि यदि खेती करने की रीतियों में सुधार न किया जाये, तो साधारणतया कृषि की उपज उतनी अधिक तेजी से नहीं बढ़ती है जितनी तेजी से श्रम और पूँजी की मात्राएँ बढ़ाई जाती हैं।

मार्शल की इस परिभाषा में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं:—(1) उनका विचार है कि उत्पत्ति ह्रास नियम "साधारणतया" लागू होता है, जिसका अर्थ यह होता है कि सभी दशाओं में इस नियम का लागू होना आवश्यक नहीं है। (यह हम पहले ही देख चुके हैं कि कुछ

---

1 "An increase in the amount of capital and labour employed in the cultivation of land causes, in general, a less than proportionate increase in the amount of produce raised unless it happens to coincide with an improvement in the art of agriculture."—**Marshall** : *Principles of Economics*, p. 189.

दशाओं में उत्पत्ति वृद्धि तथा स्थिरता नियम लागू होते हैं) एवं (ii) यह नियम केवल उसी दशा में लागू होता है, जबकि खेती करने की रीतियों में सुधार न हो, अर्थात् जबकि खेती में ठीक उसी प्रकार के औजारों, यन्त्रों और कृषि ज्ञान का उपयोग किया जाये जैसा कि पहले हो रहा था। यदि पहले खेती देशी हलों और बैलों की सहायता से की जाती है, परन्तु बाद में आधुनिक ट्रैक्टरों द्वारा, तो इस नियम का लागू होना आवश्यक नहीं है।

आलोचना—स्मरण रहे कि मार्शल के अपने ही कथन के अनुसार उनकी यह परिभाषा अधूरी है, अन्तिम नहीं। इस परिभाषा में मौलिक सत्य तो अवश्य है, परन्तु कमी यह है कि अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की भाँति मार्शल ने भी इस नियम को एक कृषि सम्बन्धी नियम ही बताया है। कुछ ऐसी परम्परा-सी चली आ रही है कि इस नियम को केवल भूमि से ही सम्बन्धित किया जाता रहा है, जिससे कभी-कभी यह भ्रम होता है कि कदाचित् यह नियम अन्य उद्योगों में लागू नहीं होता। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, ऐसी बात नहीं है। यह नियम तो सभी उत्पादन-क्रियाओं पर लागू होता है। मार्शल ने तो यथार्थ में इस नियम के क्षेत्र को और भी संकुचित कर दिया है, क्योंकि उनकी परिभाषा के अनुसार यह नियम केवल गहन खेती पर ही लागू होता है। स्मरण रहे कि कृषि की उपज विस्तृत खेती के द्वारा भी, जिसमें श्रम और पूँजी के स्थान पर भूमि की मात्रायें बढ़ाई जाती हैं, बढ़ाई जा सकती है। मार्शल की परिभाषा में भूमि की मात्रा को यथास्थिर रखकर श्रम और पूँजी की मात्रायें बढ़ाई गई हैं। यह दशा गहन खेती की है।

जॉन रोबिन्सन की परिभाषा—

मार्शल की परिभाषा की त्रुटियों को ध्यान में रखते हुए श्रीमती जॉन रोबिन्सन (Mrs Joan Robinson) ने इस नियम की एक नई परिभाषा दी है, जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिक सही है। उनके विचार में इस नियम की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है, "क्रमगत: उत्पत्ति ह्रास नियम, जैसा कि साधारणतया कहा जाता है, यह बताता है कि किसी एक साधन की मात्राओं के निश्चित होने की दशा में एक निश्चित बिन्दु के पश्चात् अन्य साधनों की प्रत्येक अगली वृद्धि से उत्पत्ति की घटती हुई वृद्धि (Increment) प्राप्त होगी।"[1] उत्पादन-व्यय के दृष्टिकोण से यह कह सकते हैं कि यदि एक साधन की मात्रा निश्चित है, इसके साथ अन्य साधनों की बढ़ती हुई मात्राओं का उपयोग किया जाता है तथा यदि न तो कार्यक्षमता में सुधार होता है और न इन साधनों के अधिक मात्रा में उपयोग होने से इनके मूल्य में ही परिवर्तन होता है, तो एक निश्चित बिन्दु के उपरान्त प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ जायगा।"[2]

इसी सम्बन्ध में उनकी क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम की परिभाषा को दे देना भी

---

1 "The Law of Diminishing Returns, as it is usually formulated, states that, with a fixed amount of any one factor of production, successive increases in the amount of other factors will, after a point, yield a diminishing increment of output."—**Joan Robinson** : *Economics of Imperfect Competition*

2 "Looking at the matter from the point of view of cost of production, if one factor is fixed in amount and increased amounts of other factors are used with it, and if no improvement in the efficiency and reduction in the price of these other factors is introduced by the increase in the amount used, after a point, the cost of production per unit of output will rise."—*Ibid*

अनुपयुक्त न होगा। वृद्धि नियम की परिभाषा उन्होंने इस प्रकार की है, "कभी-कभी ऐसा देखने मे आता है कि जब किसी एक उत्पत्ति के साधन की अधिक मात्राओं को उपयोग मे लाया जाता है, तो प्रबन्ध मे इस प्रकार के सुधार सम्भव हो जाते हैं, जिससे कि साधन (मनुष्य, एकड़ अथवा द्रव्य, पूँजी) की प्राकृतिक इकाइयों की क्षमता बढ़ जाती है। फलतः उपज बढ़ाने के लिए साधनों की भौतिक मात्राओं को उसी अनुपात मे बढ़ाना आवश्यक नही होता है।"

इस परिभाषा की विशेषता यह है कि श्रीमती रोबिन्सन ने इस नियम के क्षेत्र को कृषि तक ही सीमित नही रखा है। उन्होंने नियम का सही-सही स्पष्टीकरण भी किया है। यह नियम प्रत्येक उत्पादन क्रिया पर, परन्तु एक निश्चित बिन्दु के पश्चात्, जिसका सही स्थान जाना जा सकता है, लागू होता है। यह बिन्दु वहाँ होता है जहाँ स्थिर साधन का पूर्ण उपयोग (Full Utilization) हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस नियम को उत्पादन व्यय के दृष्टिकोण से भी समझाने का प्रयत्न किया है।

बेनहाम का दृष्टिकोण—

बेनहाम ने उत्पत्ति ह्रास नियम के सम्बन्ध मे एक दूसरा ही दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होंने भी मार्शल की इस सम्बन्ध में आलोचना की है कि मार्शल ने इस नियम को बेकार ही इतना मान्यता-जटिल बना दिया है और इसके क्षेत्र को केवल कृषि तक सीमित कर दिया है। उन्होंने लिखा है कि, **"उत्पत्ति ह्रास नियम केवल यह बताता है कि यदि समय-विशेष पर उत्पत्ति के साधनों के अनुपात में परिवर्तन किया जाय, तो उत्पत्ति की मात्रा में किस प्रकार परिवर्तन होते हैं और इसका आधार यह होता है कि इस काल में ज्ञान (Knowledge) में किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं हो सकते हैं।..........यह उत्पत्ति की सभी शाखाओं पर लागू होता है। केवल कृषि पर हो नहीं।"**[1] हमारी आधारभूत समस्या विभिन्न साधनों के अनुपात मे परिवर्तन की समस्या है। बात ऐसी है कि यदि उत्पत्ति के केवल एक साधन की मात्रा मे १०% की वृद्धि की जाती है जबकि अन्य साधन यथास्थिर रहे, तो हमें कुल उपज मे १०% से कम वृद्धि की आशा करनी चाहिए। यदि ऐसा न होता तो किंचित् हम सारे संसार की आवश्यकता पूर्ति के लिए पर्याप्त अन्न एक ही खेत से उपजा सकते थे।

बेनहाम ने उत्पत्ति ह्रास नियम को उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उपज के दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न किया है। किसी साधन की सीमान्त उपज से हमारा अभिप्राय कुल उपज की उस वृद्धि से होता है जो साधन विशेष की एक और इकाई के उपयोग के फलस्वरूप मिलती है। निम्न तालिका बेनहाम के दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है।

तालिका

श्रम की इकाइयाँ	कुल उपज (Total Product)	औसत उपज (Average Product)	सीमान्त उपज (Marginal Product)
१	१००	१००	१००
२	२५०	१२५	१५०
३	४५०	१५०	२००

[1] "The Law of Diminishing Returns states how output would vary if the proportions of the factors were altered *at a given* moment and this rules out any changes in knowledge.........it applies to all branches of production and not only to agriculture."—Benham : *Economics*, pp. 122-23.

४	६००	१५०	१५०
५	७२५	१४५	१२५
६	८२५	१३७·५	१००
७	९००	१२८·६	७५
८	९५०	११८·७५	५०
९	९७५	१२८·८	२५
१०	९८५	९०·८५	१०

इस तालिका से पता चलता है कि जैसे-जैसे श्रम की मात्रा बढ़ाई जाती है (भूमि की मात्रा यथास्थिर रखते हुए), वैसे-वैसे श्रम की तीसरी इकाई के पश्चात् सीमान्त उपज घटने लगती है। श्रम की चौथी इकाई के पश्चात् औसत उपज भी घटने लगती है। इसके पश्चात् धीरे-धीरे सीमान्त और औसत-उपज दोनों घटती ही चली जाती है। यहाँ तक कि १०वें श्रमिक पर सीमान्त उपज केवल १० रह जाती है। इस स्थिति को निम्न रेखा-चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है :—
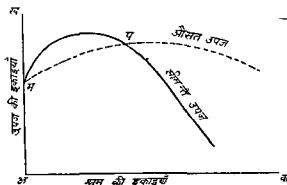
प बिन्दु पर सीमान्त उपज और औसत उपज की रेखायें एक दूसरे को काटती हैं। यहाँ से आगे दोनों ही रेखायें नीचे की ओर गिरने लगती है। प बिन्दु से ही, बेनहाम के अनुसार, उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता प्रारम्भ होती है। बेनहाम के अनुसार उत्पत्ति ह्रास नियम की परिभाषा इस प्रकार है :—"जैसे-जैसे उत्पत्ति के साधनों के सयोग मे किसी एक साधन का अनुपात बढ़ाया जाता है, एक बिन्दु के पश्चात् उस साधन की सीमान्त और औसत उपज घटने लगेगी।"[1]

मार्शल, रोबिन्सन और बेनहाम के दृष्टिकोण की तुलना—

मार्शल, रोबिन्स और बेनहाम इन तीनों के दृष्टिकोण ऊपर से एक दूसरे के प्रतिविरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि तीनों मे कोई आधारभूत अन्तर नहीं है, जैसे—(१) तीनों का ही विश्वास है उत्पत्ति की कुछ ऐसी दशायें होती हैं जिनमे ह्रास नियम लागू नहीं होता। (२) तीनों ही का यह भी विश्वास है कि इस नियम के कुछ अपवाद (Exceptions) होते है, यद्यपि साधारणतया यह नियम लागू होता है। अर्थात्, उत्पादन की प्रत्येक क्रिया वृद्धि, स्थिरता और ह्रास नियम से होकर गुजरती है, किन्तु अन्तिम प्रवृत्ति

[1] "As the proportion of one factor in a combination of factors is increased, after a point, the marginal and average product of that factor will diminish."—**Benham** : *Ecoconomics*, p. 128.

ह्रास नियम की ही होती है। (३) मार्शल और रोबिन्सन दोनों ने घटती हुई सीमान्त वृद्धि की ओर भी संकेत किया है, यद्यपि उन्होंने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है, परन्तु बेनहाम ने स्पष्ट शब्दों में इसका उल्लेख किया है।

इस सम्बन्ध में मार्शल और रोबिन्सन के विचारों में अधिक समानता है। दोनों का विचार है कि यदि एक साधन (मार्शल के अनुसार भूमि) को यथास्थिर रखा जाय और अन्य साधनों की मात्राओं में क्रमशः वृद्धि की जाय, तो उत्पादन की सीमान्त वृद्धि घटती जाती है। इस सम्बन्ध में बेनहाम ने एक दूसरी ही रीति अपनाई है। वे अन्य सभी साधनों की मात्रा को यथास्थिर रखकर केवल एक साधन की सीमान्त उपज का पता लगाते हैं। परन्तु यह अन्तर भी केवल अध्ययन की रीति का ही अन्तर है। अन्तिम परिणाम में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतः उत्पत्ति ह्रास नियम का आधार यही है कि एक या अधिक साधनों की मात्रा यथास्थिर रखकर यदि अन्य साधनों की मात्राएँ बढ़ाई जायें, तो कुल उपज घटते हुए अनुपात में बढ़ती है।

शायद अन्तर केवल इतना है कि बेनहाम के अनुसार ह्रास नियम तब लागू होता है जबकि सीमान्त औसत उपज दोनों घटने लगती हैं, किन्तु दूसरे दोनों अर्थशास्त्री ऐसा नहीं समझते। जैसे ही सीमान्त उपज घटने लगती है, ह्रास नियम की कार्यशीलता आरम्भ हो जाती है और यही ठीक भी है। किन्तु वास्तविक जगत में इन दोनों दृष्टिकोणों का अन्तर भी इतना सूक्ष्म है कि उसे बहुत महत्त्व देना उचित न होगा।

श्रेष्ठ परिभाषा—

यदि हमें मार्शल, रोबिन्सन और बेनहाम की परिभाषाओं के बीच चुनाव करना हो, तो शायद रोबिन्सन की परिभाषा सबसे अच्छी रहेगी। यह परिभाषा निश्चित, स्पष्ट और सरलता से समझ में आने वाली है। इसमें गलती की सम्भावना बहुत कम है। इसके अतिरिक्त, इसमें ह्रास नियम को उत्पादन व्यय के अनुसार भी समझाया गया है।

यहाँ पर स्टिगलर (Stigler) के दृष्टिकोण को व्यक्त करना भी उचित होगा, क्योंकि उन्होंने श्रीमती रोबिन्सन तथा बेनहाम दोनों के दृष्टिकोण का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है, "जैसे-जैसे किसी एक साधन की मात्राएँ समान अंश तक बढ़ाई जाती हैं, जब कि अन्य साधनों की उत्पादन सेवायें यथास्थित रखी जाती हैं, तो एक निश्चित बिन्दु के पश्चात् उत्पादन की मात्रा में वृद्धि का अंश घट जायेगा, अर्थात् सीमान्त उत्पादन घट जायेगा।"[1] यह परिभाषा बहुत सीमा तक सही है, क्योंकि एक ओर तो इसका श्रीमती रोबिन्सन की परिभाषा से किसी प्रकार का विरोध नहीं है, और दूसरी ओर इससे साधनों की मात्रा की वृद्धि के सम्बन्ध में बेनहाम का दृष्टिकोण भी सन्तुष्ट हो जाता है।

उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता का मूल कारण—

आदर्श अनुपात को बनाये रखना कठिन है—हम पहले बता चुके हैं कि उत्पत्ति ह्रास नियम का मूल कारण साधनों के सर्वोत्तम अनुपात का भंग हो जाना है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि सर्वोत्तम अनुपात भङ्ग क्यों होता है? क्या यह सम्भव नहीं है कि यह अनुपात बना ही रहे? उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सर्वोत्तम अनुपात को बनाये रखना थोड़े ही

---

1 "As equal increments of one input are added, the inputs of other productive services being held constant beyond a certain point, the resulting increments of product will decrease, *i. e.* the marginal product will diminish."—Stigler : *The Theory of Price*, p. 124.

समय के लिए सम्भव होता है। इस अनुपात को लम्बे काल तक बनाये रखना मनुष्य की शक्ति के बाहर होता है, क्योंकि साधनों की मात्राओं पर पूर्णतया मनुष्य का ही अधिकार नहीं है।

सबसे बड़ी बाधा स्वयं प्रकृति है—इस दिशा में मनुष्य के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा प्रकृति के द्वारा उपस्थित की जाती है। सीमित होना प्रकृति का प्रमुख लक्षण है। वैसे तो संसार में कोई भी वस्तु असीमित मात्रा में नहीं है, परन्तु जिन वस्तुओं की पूर्ति पर मनुष्य की अपेक्षा प्रकृति का अधिकार अधिक है, उनकी मात्राएँ अधिक सीमित होती हैं। निश्चित है कि भूमि पर पूँजी की अपेक्षा प्रकृति का प्रभुत्व अधिक है, यद्यपि श्रम, पूँजी, साहस आदि सभी साधनों की मात्राएँ अन्तिम दशा में प्रकृति द्वारा ही निश्चित होती हैं। लम्बे काल में प्रत्येक साधन की मात्रा सीमित होती है और यही कारण है कि क्रमगत. उत्पत्ति-ह्रास नियम साधारणतया एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति है, यद्यपि जिन उद्योगों में प्रकृति शीघ्र ही कुछ साधनों की मात्राएँ सीमित कर देती है, जैसे कृषि में, वहाँ यह नियम अल्पकाल या आरम्भ में ही लागू हो जाता है।

मान लीजिए कि उत्पत्ति सर्वोत्तम अनुपात के बिन्दु पर पहुँच गई है। इस स्थान पर उत्पत्ति अधिकतम् लाभप्रद होगी और उत्पादन व्यय न्यूनतम् होगा। मनुष्य इस सर्वोत्तम अनुपात को बनाये रखने का प्रयत्न करेगा, परन्तु इस अनुपात को बनाये रखते हुये उत्पत्ति बढ़ाने के लिए उत्पत्ति के समस्त साधनों को एक ही अनुपात में बढ़ाना आवश्यक होता है। क्या ऐसा करना हमारे लिए सम्भव है? मान लीजिए कि प्राकृतिक कारणों से भूमि की या श्रम की मात्रा सीमित हो जाती है। ऐसी दशा में भूमि या श्रम तो यथास्थिर हो जाता है और अन्य साधनों की मात्राएँ बढ़ाकर ही उत्पत्ति में वृद्धि की जायेगी, किन्तु क्योंकि साधनों के बीच पूर्ण प्रति-स्थापन (Substitution) नहीं हो सकता है, इसलिए सर्वोत्तम अनुपात अवश्य भङ्ग हो जायगा, जिसके कारण तुरन्त ही उत्पत्ति ह्रास नियम कार्यशील हो जायगा।

प्रकृति एवं मनुष्य का प्रयत्न विपरीत दशाओं में—मार्शल का यह कथन है कि, "हम साधारणतया यह कह सकते हैं कि उत्पादन क्रिया में प्रकृति उत्पत्ति ह्रास नियम की अनुकूल दशा में काम करती है, जबकि मनुष्य का प्रयत्न उत्पत्ति वृद्धि नियम प्राप्त करने की दिशा में होता है।"[1] यथार्थ में ठीक ही है। अनुभव हमें बताता है कि कृषि, कच्चा माल उत्पन्न करने वाले उद्योगों और खनिज पदार्थों के उत्पादन में, जहाँ प्रकृति का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है, ह्रास नियम शीघ्र ही लागू हो जाता है, जबकि निर्माण उद्योगों (Manufacturing Industries) में, जहाँ मानव कार्य प्रधान है, उत्पत्ति वृद्धि नियम की सम्भावना अधिक रहती है। दीर्घकाल में निर्माण उद्योगों में भी ह्रास नियम इसलिए कार्यशील होता है कि प्रकृति द्वारा व्यवसायी की शारीरिक और मानसिक शक्ति सीमित हो जाती है, और, जब उत्पत्ति का पैमाना एक सीमा से आगे बढ़ जाता है, तो व्यवसायी या प्रबन्धक की शक्ति के बाहर हो जाने के कारण कार्यक्षमता में कमी आ जाती है, जिससे ह्रास नियम लागू होने लगता है।

साधनों की अविभाज्यता—सीमित होने के साथ-साथ कुछ साधन स्वभाव से ही अविभाज्य होते हैं। वे साधन सर्वोत्तम उत्पादन बिन्दु तक तो अन्य साधनों की वृद्धि होने पर उपयोगी परिणाम देते रहते हैं, परन्तु इस बिन्दु के पश्चात् इनका और अधिक उपयोग उतना अधिक लाभप्रद नहीं रहता। इनकी मात्रा में थोड़ी-थोड़ी वृद्धि सम्भव नहीं होती। साधन की

---

1 "We say broadly that while the part which nature plays in production conforms to the Law of Diminishing Returns, the part which man plays conforms, to the Law of Increasing Returns."—Marshall : *Principles of Economics*, p. 195.

एक और इकाई का उपयोग करके ही वृद्धि की जा सकती है। इस एक साधन के इतना बढ़ाने पर व्यय अधिक हो जाता है और सर्वोत्तम अनुपात भी भङ्ग हो जाता है।

उत्पत्ति ह्रास नियम का महत्त्व

(१) **उत्पत्ति ह्रास नियम सर्वव्यापी है**—उपरोक्त विवेचना इस बात की पुष्टि करती है कि केवल कृषि ही इस नियम का विशेष कार्यक्षेत्र नहीं है। यह नियम तो सर्व व्यापी है और सभी उद्योगों पर लागू होता है। मानव व्यवहार के प्रत्येक अंग में इस विषय को कार्यशील देखा जा सकता है। विकस्टीड के शब्दों में—"**यह नियम इतना ही सर्वव्यापी है जितना कि स्वयं जीवन का नियम।**"[1] एक साधारण विद्यार्थी का भी यही अनुभव होता है कि दो-तीन घण्टे पढ़ लेने के पश्चात् उसके अध्ययन की गति मन्द हो जाती है और आगे प्रत्येक घण्टे में वह पहले की अपेक्षा कम और कम पढ़ सकता है तथा याद रख सकता है। यह भी उत्पत्ति ह्रास नियम का ही एक रूप है और इसका कारण विद्यार्थी की मानसिक शक्ति का सीमित होना है।

(२) **जनसंख्या का आवास-प्रवास**—यदि उत्पत्ति ह्रास नियम लागू न होता, तो कदाचित् हम एक ही खेत से तथा एक ही कारखाने से संसार की सारी उत्पत्ति कर लेते और ऐसा होने पर जनसंख्या के एक स्थान या देश से दूसरे स्थान या देश को प्रवास की आवश्यकता न पड़ती।

(३) **माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त**—यह सिद्धान्त, जिसके अनुसार जन-संख्या खाद्यान्नों की अपेक्षा अधिक तेज गति से बढ़ती है और इसलिए अति-जनसंख्या की विकट समस्या उत्पन्न होती है, उत्पत्ति ह्रास नियम पर आधारित है। इसी नियम की क्रियाशीलता के कारण खाद्यान्नों का उत्पादन धीमी गति से बढ़ता है।

(४) **रिकार्डो का लगान सिद्धान्त**—लगान उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता के कारण ही प्राप्त होता है। विस्तृत खेती में जो बचत अधि-सीमान्त भूमियों को सीमान्त भूमि के ऊपर प्राप्त होती है उसे रिकार्डो ने लगान कहा है किन्तु सीमान्त भूमि को प्रयोग में लाने का कारण उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता ही है।

(५) **जीवन-स्तर पर प्रभाव**—यदि देश विशेष में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू है, तो लोगों का जीवन-स्तर नीचा हो जायेगा और यदि उत्पत्ति वृद्धि नियम (जो यथार्थ में उत्पत्ति ह्रास नियम की ही एक अवस्था है) लागू है, तो जीवन-स्तर ऊँचा हो जायेगा।

(६) **आविष्कारों के लिए प्रेरणा**—अनेक आविष्कार और नई उत्पादन रीतियों की खोज उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता को रोकने के लिए ही हुई है।

नियम का क्षेत्र

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ह्रास नियम का कार्यक्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। यह नियम सभी उद्योगों पर लागू होता है, परन्तु शर्त यह है कि उत्पादन क्रिया लम्बे काल तक चलती रहे।

(१) **कृषि में**—सबसे पहले कृषि उद्योग को ही लीजिए। कृषि में यह नियम बहुत ही शीघ्र तथा बड़े वेग से लागू होता है, क्योंकि कृषि में प्रकृति का कार्य प्रधान होता है। कृषि दो प्रकार की होती है, विस्तृत और गहन (Extensive and Intensive)। विस्तृत कृषि में भूमि

---

[1] "This law is as universal as the law of life itself."—Wicksteed : *Common-sense of Political Economy*, p. 47.

की मात्रा बढाकर अधिक उत्पत्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु अधिक उपजाऊ भूमि की मात्रा प्रकृति द्वारा सीमित है। अतः थोडे ही समय पश्चात् कम उपजाऊ भूमि पर खेती करना आवश्यक हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि समान श्रम और पूँजी लगाने पर भी उत्पत्ति पहले की अपेक्षा कम बढती है और इस प्रकार उत्पादन व्यय बढता चला जाता है। जैसे-जैसे कृषि की सीमा (Margin) को बढाया जाता है, क्रमशः कम और कम उपजाऊ भूमि पर खेती होने लगती है और सीमान्त उत्पादन व्यय बढता चला जाता है।

ठीक, इसी प्रकार, गहन खेती पर भी यह नियम लागू होता है। गहन खेती मे भूमि की मात्रा को यथास्थिर रखकर श्रम और पूँजी की मात्राएँ बढा कर उत्पत्ति मे वृद्धि की जाती है। जैसे-जैसे एक ही भूमि पर अधिक श्रम और पूँजी लगाई जाती है वैसे-वैसे भूमि की उर्वरता या उपजाऊपन (Fertility) के सीमित होने के कारण कुछ समय पश्चात् श्रम और पूँजी की प्रत्येक अगली मात्रा क्रमशः कम और कम उपज प्रदान करती है।

(२) खनिज उद्योग (Mining)—कृषि की भाँति यह नियम खान खोदने के उद्योग पर भी लागू होता है। खानो की उपज बढाने की भी दो रीतियाँ हैं। जैसा कि सभी जानते हैं, पहले उन खानो पर खुदाई की जाती है जो आबादी के समीप होती हैं या जहाँ तक सुगमता से पहुँचा जा सकता है या जिन पर सरलतापूर्वक खुदाई हो सकती है। परन्तु धीरे-धीरे ऐसी खानें समाप्त हो जाती हैं और खुदाई का काम दूर की खानो पर अथवा ऐसी खानो पर आरम्भ किया जाता है, जिनकी खुदाई सरलता से नही हो सकती है।

खानो की उपज बढाने का दूसरा उपाय यह है कि नई खानो के स्थान पर पुरानी खानो की ही और गहरी खुदाई की जाय। इन दोनों ही दशाओं मे श्रम और पूँजी की अगली मात्राओ से कम उपज प्राप्त होती है, अर्थात् ह्रास नियम लागू होता है। दूर की खानो तक पहुँचने तथा वहाँ से खनिज पदार्थ को मण्डी तक लाने मे अधिक व्यय होता है, जिससे उत्पादन व्यय बढता चला जाता है। इसके अतिरिक्त नई खानो से खनिज पदार्थ निकालने मे आरम्भ मे व्यय अधिक होता है, क्योकि ऊपर की मिट्टी हटाने, रास्ते बनाने आदि में काफी व्यय हो जाता है और उत्पादन व्यय बढ जाता है।

इसी प्रकार, जब पुरानी खानों की गहरी खुदाई की जाती है, तो भीतर रोशनी करने, पृथ्वी के भीतर के पानी को निकालने तथा खनिज पदार्थ को बाहर निकालने में अधिक व्यय करना पडता है और उत्पादन व्यय बढ जाता है। अतः स्पष्ट है कि खान के उद्योग मे भी कृषि की भाँति उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

(३) मछली उद्योग (Fishing)—मछली पकडने के उद्योग मे भी यह नियम कार्यशील होता है। मछली उद्योग को दो भागो मे बाँटा जा सकता है:—मछलियाँ या तो नदियो और झीलो मे से पकडी जा सकती हैं या समुद्र मे से। नदियो और झीलो मे मछली की मात्रा सीमित होती है। थोडे ही समय के पश्चात् मछलियो की संख्या इतनी कम हो जाती है कि पहले के बराबर परिश्रम करने पर कम मात्रा मे मछलियाँ पकडी जा सकती हैं। दूसरे शब्दो मे, श्रम और पूँजी की अगली मात्रायें कम उपज प्रदान करती हैं और सीमान्त व्यय क्रमशः बढता चला जाता है।

समुद्र से मछलियां पकडने के विषय मे यह कहा जाता है कि वहाँ ह्रास नियम लागू नही होता, क्योकि समुद्र मे मछलियो का स्टॉक अक्षय होता है। मछलियो के विषय में यह प्रसिद्ध है कि जितनी तेजी से वे पकडी जाती हैं इससे भी अधिक वेग से उनका संख्या-वर्द्धन होता रहता है। इस प्रकार, समुद्र से मछली पकडने के उद्योग मे ह्रास नियम लागू नही होता है।

परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि यथार्थ में ऐसा नहीं है। समुद्र में भी मछलियों की मात्रा अक्षय नहीं होती है। यह निश्चय है कि उत्पत्ति में वृद्धि और स्थिरता नियम समुद्र से मछली पकड़ने में बहुत अधिक समय तक चालू रहते हैं, किन्तु यहां भी पूर्णतया स्थायी नहीं हो सकते। जब बड़े पैमाने पर मछलियां पकड़ने का काम किया जाता है, तो मछलियाँ किनारे से अधिक दूर को जाने लगती हैं और उनको पकड़ने के लिए पहले से अधिक व्यय करना पड़ता है। इस प्रकार, कुछ समय पश्चात् ह्रास नियम यहाँ भी, परन्तु एक लम्बे काल के पश्चात् लागू होने लगता है।

(४) मकान बनाने का उद्योग (House Building)—मकान बनाने के उद्योग मे भी हम इस नियम को कार्यशील देख सकते हैं। मकान उद्योग मे भी दो रीतियां अपनाई जा सकती हैं—या तो और अधिक भूमि पर मकान बनाये जाएँ या पहले से बनाए हुए मकानों पर और मंजिलें (Storeys) बनाई जाएँ।

पहली दशा मे धीरे-धीरे मण्डी से दूर की भूमि पर मकान बनने लगते है, जिससे उत्पादन व्यय बढ़ता है और ह्रास नियम लागू हो जाता है।

दूसरी दशा मे पहली मंजिल की अपेक्षा दूसरी मंजिल पर व्यय कम होता है, क्योंकि नींव डालने और मोटी दीवार बनाने पर व्यय नहीं करना पड़ता, परन्तु और अधिक मंजिलों का बनाना अधिक असुविधाजनक होता चला जाता है। सामान को ऊपर चढाने आदि के कारण व्यय बढ़ने लगता है और ह्रास नियम का प्रारम्भ हो जाता है।

(५) निर्माण उद्योग (Manufacturing Industries)—अब हमें यह देखना है कि निर्माण उद्योगों पर यह नियम क्यों और किस प्रकार लागू होता है ? कुछ लोगों का विचार है कि निर्माण उद्योगों (Manufacturing Industries) पर यह नियम लागू नहीं होता है। डॉ० चैपमैन के अनुसार, निर्माण उद्योग का विस्तार, यदि उत्पत्ति के उपयुक्त साधनों की कमी न हो, उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत होता है।[1] साथ ही साथ, निर्माण उद्योगों मे मनुष्य का कार्य प्रधान होता है। एक बड़े अंश तक मनुष्य उत्पत्ति के साधनों को यथेष्ठ मात्रा मे घटा-बढ़ा सकता है और इस प्रकार सर्वोत्तम अनुपात को बनाये रखने मे सफल हो सकता है। यही नहीं, वरन् जैसे-जैसे उत्पत्ति के पैमाने का विस्तार होता जाता है, बाह्य और आभ्यान्तरिक बचतें (Internal and External Economies) अधिकाधिक प्राप्त की जा सकती है और इस प्रकार उत्पादन व्यय घटता चला जाता है।

परन्तु इन दोनो प्रकार की बचतों की भी सीमा होती है। उत्पत्ति का पैमाना किसी भी सीमा तक नहीं बढाया जा सकता है। प्रबन्धक की कार्य-क्षमता की सीमायें होती है और प्रबन्धक तथा मशीन जैसे अविभाज्य साधनों का एक सीमा तक ही लाभप्रद उपयोग हो सकता है। इस सीमा के पश्चात् ह्रास नियम अवश्य लागू होता है। अन्तर केवल इतना है कि दूसरे उद्योगों की अपेक्षा निर्माण उद्योगों मे ह्रास नियम की कार्यशीलता को अधिक समय तक रोके रखा जा सकता है।

क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम
(Law of Increasing Returns)

लगभग सभी उद्योगों मे, परन्तु कुछ उद्योगों मे विशेष रूप से, यह देखने में आता है कि साधारणतया प्रारम्भ मे कम से कम उत्पत्ति के एक साधन को यथास्थिर रखते हुए जब अन्य साधनों के उपयोग की मात्राएँ बढाई जाती हैं, तो उत्पत्ति वेग से बढ़ने लगती है। जिस

---

1 Chapman : *Outlines of Political Economy*, p. 102.

अनुपात या प्रतिशत से इन साधनों को बढ़ाया जाता है, उत्पत्ति उससे भी अधिक वेग से बढ़ती है। उत्पत्ति की वृद्धि की इस प्रवृत्ति को अर्थशास्त्र में "क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम" कहते हैं।

नियम का कथन—

मार्शल के अनुसार, "श्रम और पूंजी में वृद्धि सामान्यतः संगठन को सुधारती है, जिसके परिणामस्वरूप श्रम और पूंजी की कार्य-कुशलता बढ़ जाती है (और इसलिए उत्पादन में अनुपात से अधिक वृद्धि होती है)।"[1]

जबकि मार्शल के अनुसार उत्पत्ति वृद्धि नियम केवल निर्माण उद्योगों में ही लागू होता है, आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह कृषि, उद्योग इत्यादि सभी क्षेत्रों में लागू होता है। श्रीमती जॉन रोबिन्सन के अनुसार, "जब किसी उत्पत्ति-साधन की बढ़ी हुई मात्रा को प्रयोग विशेष में लाया जाता है, तो प्रायः संगठन में कुछ सुधार प्रचलित करना सम्भव होता है, जिनके परिणामस्वरूप साधनों की प्राकृतिक इकाइयां (मनुष्य, एकड़, या मुद्रा-पूंजी) अधिक कुशल बन जाती हैं और इस प्रकार उत्पादन को बढ़ाने के लिए साधनों की भौतिक मात्राओं में आनुपातिक वृद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती है।"[2] उन्होंने आगे लिखा है कि उत्पत्ति वृद्धि नियम उत्पत्ति ह्रास नियम के ही समान सभी उत्पत्ति साधनों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू हो सकता है किन्तु उत्पत्ति ह्रास नियम के असमान वह प्रत्येक दशा में लागू नहीं होता। साधनों की वृद्धि से कभी तो कुशलता में सुधार होंगे और कभी नहीं होंगे।

अधिक सरल शब्दों में, हम इस नियम की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं :—**जब संगठन की कुशलता बढ़ जाने के कारण उत्पत्ति की मात्रा साधनों की मात्रा की वृद्धि की तुलना में अधिक तेजी के साथ बढ़ती है, तो उत्पत्ति की यह प्रवृत्ति क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम कहलाती है।**

उत्पत्ति वृद्धि नियम की व्याख्या—

उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत सीमान्त उत्पादन बढ़ता है अर्थात् कुल उत्पादन बढ़ती हुई गति से बढ़ता है और औसत उत्पादन में भी वृद्धि होती है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये कि एक उत्पादक पूंजी इत्यादि साधनों को स्थिर रखते हुए श्रम की इकाइयां बढ़ाता है, जिससे सङ्गठन में सुधार होकर उत्पादन की वृद्धि अग्रांकित तालिका में दिखाये अनुसार होती है :—

---

1 "An increase of labour and capital leads generally to improved organisation, which increases the efficiency of the work of labour and capital."
—Marshall : *Principles of Economics*, p. 265.

2 "When an increased amount of any factor of production is devoted to a certain use, it is often the case that improvements in organisation can be introduced which will make natural units of the factors (men, acres or money capital) more efficient, so that an increase in output does not require a proportionate increase in the physical amount of the factors"
—Joan Robinson : *Economics of Imperfect Competition*

परिवर्तनशील साधन (श्रम) की इकाइयाँ	कुल उत्पादन (T P)	सीमान्त उत्पादन (M P)	औसत उत्पादन (A P)
१	२०	२०	२०
२	५०	३०	२५
३	९४	४४	३१·३
४	१५४	६०	३८·५
५	२२४	७२	४४·२

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि श्रम की इकाइयाँ बढ़ाने पर सीमान्त उत्पादन बढ़ती हुई गति से बढ़ता है और औसत उत्पादन भी बढ़ रहा है, यद्यपि इसके बढ़ने की गति अपेक्षाकृत कम है। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि वृद्धि कुल उपज तथा सीमान्त उपज दोनों में ही होती है, परन्तु इस नियम के लिए सीमान्त उपज अर्थात् श्रम की अन्तिम इकाई द्वारा उत्पन्न उपज की वृद्धि ही अधिक महत्वपूर्ण है।
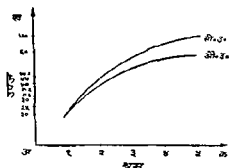
चित्र अ—उत्पत्ति वृद्धि नियम
(भौतिक उपज)

ऊपर दी हुई तालिका के दूसरे कालम में श्रम की सीमान्त उपज पहले तो २० से बढ़कर ३० हो जाती है और फिर ३० से बढ़कर ४४, जो इस नियम की कार्यशीलता का सूचक है। इसी कारण कभी-कभी इस नियम की परिभाषा इस प्रकार भी की जाती है कि जब अन्य साधनों को यथास्थिर रखते हुए एक साधन के बढाने से उसकी सीमान्त उपज मे वृद्धि होती है, तो हम कहते है कि क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू है।

चित्र अ मे उत्पत्ति वृद्धि नियम की क्रियाशीलता को भौतिक उपज के सन्दर्भ में दिखाया गया है। सी॰ उ॰ रेखा औ॰ उ॰ रेखा के ऊपर है जिससे पता चलता है कि औसत उत्पादन मे वृद्धि सीमान्त उत्पादन की अपेक्षा धीमी गति से होती है।

चित्र ब मे उत्पत्ति वृद्धि नियम की क्रियाशीलता को लागत वृद्धि नियम के सन्दर्भ मे दिखाया गया है परिवर्तनशील साधन को बढ़ाने पर अधिक उत्पादन प्राप्त होता है, जिस कारण सीमान्त लागत और औसत लागत घटती हैं। इन लागतो के घटने के कारण ही नियम को लागत ह्रास नियम भी कहते है।

चित्र ब—उत्पत्ति वृद्धि नियम
(लागत)

नियम की सीमायें—

उत्पत्ति वृद्धि नियम प्रत्येक दशा मे लागू नही होता है। यह तब ही लागू होता है जबकि परिवर्तनशील साधन की इकाई स्थिर साधन की अपेक्षा छोटी हो। यदि वह बड़ी है तो प्रारम्भ से
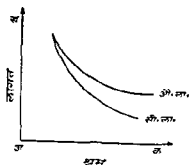
ही उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जायेगा। दूसरे, उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होने के बाद अनिश्चित काल तक क्रियाशील नही रहता। जब तक अनुकूलतम् स्थिति नही पहुँच जाती है, तब तक यह नियम लागू रहेगा, किन्तु इस स्थिति के पहुँचने पर लागू नही रहेगा।

नियम की क्रियाशीलता के कारण—

नियम के लागू होने की दशायें या कारण निम्नांकित हैं :—

(१) **साधनों की अविभाज्यता** (Indivisibility of Factors)—उत्पत्ति मे बहुत बार कुछ अविभाज्य (Indivisible) साधनो का उपयोग किया जाता है—जैसे मशीनें, जिनका आरम्भ मे पूर्ण रूप से उपयोग नही हो पाता है। परन्तु जैसे-जैसे दूसरे साधनो की मात्राएँ बढ़ाई जाती हैं, इस साधन का अधिक अच्छा उपयोग होने लगता है। यही कारण है कि जब ऐसे किसी साधन को यथास्थिर रखकर अन्य साधनो की मात्रा को बढ़ाया जाता है, तो कुल उपज साधनो की वृद्धि की अपेक्षा और भी अधिक तेजी से बढ़ती है। आरम्भ मे ऐसे साधन का अधिकार क्षयपूर्ण (Wasteful) उपयोग होता है परन्तु अन्य साधनो की मात्रा मे वृद्धि के साथ-साथ इसका उपयोग अधिक 'आर्थिक' (Economic) होता जाता है, और, अन्त मे, एक समय ऐसा भी आ जाता है जबकि उसका उपयोग सर्वोत्तम होता है। इस अवधि मे उत्पत्ति की मात्रा साधनो की वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती है, अर्थात् 'उत्पत्ति वृद्धि नियम' लागू होता है।

(२) **साधनो की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि**—यदि सभी आवश्यक साधन सुगमता से और पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो, जिस कारण प्रत्येक साधन के अनुपात मे कमी या वृद्धि की जा सकती है, तो एक सीमा तक अनुपात से अधिक उत्पादन बढ़ेगा या लागत घटेगी।

(३) **बड़े पैमाने की उत्पत्ति की बचतें**—कुछ उद्योगो मे उत्पत्ति साधनों को बढ़ाने से बड़े पैमाने की बाहरी और आन्तरिक बचतें प्राप्त होती हैं, जिस कारण एक सीमा तक उत्पादन अनुपात से अधिक बढ़ता है या लागत गिरती है।

नियम का क्षेत्र—

जैसा कि हम पहले भी संकेत कर चुके हैं, मार्शल के अनुसार यह नियम केवल निर्माणी उद्योगो मे ही लागू होता है। इसका कारण यह बताया गया कि उद्योगों मे प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य की भूमिका अधिक महत्व रखती है। किन्तु यह धारणा सही नही है। उत्पत्ति वृद्धि नियम की क्रियाशीलता का कारण प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण होना नहीं है वरन् साधनो की अविभाज्यता इत्यादि है। अत: यह नियम केवल उद्योगों में ही नही वरन् कृषि आदि क्षेत्रो मे लागू होता है यद्यपि प्रत्येक दशा मे और सदा के लिए नही। चूँकि कृषि मे भूमि साधन सीमित है किन्तु उद्योग मे सभी साधनो को सुगमतापूर्वक बढ़ाया जा सकता है, श्रम विभाजन और बड़े पैमाने की बचतें प्राप्त होती हैं तथा अनुसन्धान व परीक्षण की सुविधा रहती है इसलिए नियम कृषि की अपेक्षा उद्योगों मे 'विशेष रूप से' लागू होता है।

उत्पत्ति वृद्धि नियम एवं उत्पत्ति ह्रास नियम का सम्बन्ध—

जबकि उत्पत्ति वृद्धि नियम साधनो की कुशलता के बढ़ने, साधनो के अधिक सुधरे अनुपातो मे मिलने और अनुकूलतम की ओर बढ़ने का संकेत मिलता है तब उत्पत्ति ह्रास नियम साधनो की कुशलता में कमी होने, साधनों के गलत अनुपातो मे मिलने और अनुकूलतम से हटने का सूचक है। इस प्रकार, उत्पत्ति वृद्धि नियम और उत्पत्ति ह्रास नियम विभिन्न प्रकार के तत्वो से सम्बन्धित होते हैं और विभिन्न परिस्थितियो में लागू होते हैं। इतने पर भी यह स्वीकार करना होगा कि इन दोनो मे घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि प्रारम्भिक अवस्था में एक सीमा तक प्राय उत्पत्ति वृद्धि नियम, अनुकूलतम अवस्था मे उत्पत्ति स्थिरता नियम एवं तत्पश्चात् उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

उत्पत्ति वृद्धि नियम और पूर्ण प्रतियोगिता—

बढ़ती हुई उपज और पूर्ण प्रतियोगिता एक दूसरे से संगति नहीं रखते, क्योंकि बढ़ती हुई उपज क्रियाशील रहने से पूर्ण प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है और उसका स्थान एकाधिकार, अल्पाधिकार या किसी अन्य प्रकार की अपूर्ण प्रतियोगिता ले लेती है। कारण, किसी उद्योग में सभी फर्मों को बढ़ते हुए प्रतिफल एक साथ प्राप्त नहीं होते हैं। केवल कुछ फर्में ही बढ़ती हुई उपज प्राप्त करने में सफल होती है। ये विकासमान फर्में अन्य फर्मों को प्रतियोगिता में डटने नहीं देतीं, जिस कारण फर्मों की संख्या कम होती जाती है। इस प्रकार, पूर्ण प्रतियोगिता के साथ बढ़ती हुई उपज का सह-अस्तित्व सम्भव नहीं है।

नियम का अन्य नाम—

उत्पत्ति वृद्धि नियम को कभी-कभी 'सीमान्त उत्पादन व्यय ह्रास नियम' (Law of Diminishing Marginal Cost) भी कहा जाता है। यह निश्चय है कि जब सीमान्त उपज (Marginal Produce) साधनों की वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती जाती है, तो सीमान्त उत्पादन व्यय (Marginal Cost of Production), अर्थात् उत्पत्ति की अन्तिम इकाई का उत्पादन व्यय, क्रमशः घटता जाता है। यह दो कारणों से होता है :—प्रथम, अविभाज्य साधन का मूल्य या व्यय उत्पत्ति की अधिक इकाइयों पर फैलता जाता है, और, दूसरे, जिन साधनों को बढ़ाया जा रहा है उनकी प्रत्येक अगली इकाई पर पहले के बराबर ही व्यय करके अधिक उपज प्राप्त कर ली जाती है। अतः, जैसे-जैसे उत्पत्ति बढ़ती जाती है,उत्पत्ति की प्रत्येक अगली इकाई पहले से कम व्यय पर उत्पन्न हो जाती है, और इस प्रकार, सीमान्त उत्पादन व्यय क्रमशः घटता चला जाता है।

क्रमगतः उत्पत्ति स्थिरता नियम
(The Law of Constant Returns)

उत्पत्ति को बराबर बढ़ाते रहने के प्रयत्न की दशा में क्रमगतः उत्पत्ति वृद्धि नियम के पश्चात बहुधा उत्पत्ति स्थिर नियम लागू होता है। यदि हम ऐसा कहें कि क्रमगतः उत्पत्ति वृद्धि नियम की अन्तिम सीमा पर यही नियम आरम्भ होता है, तो कदाचित या अनुचित न होगा।

नियम का कथन एवं उसकी व्याख्या—

जब उत्पत्ति के एक या कुछ साधनों को यथास्थिर रखकर अन्य साधनों की मात्राओं में वृद्धि की जाती है, तो प्रारम्भ में बढ़ती हुई उपज प्राप्त होती है। यदि कुछ साधनों के प्रयोग में वृद्धि जारी रहे, तो एक ऐसी दशा आती है जबकि बड़े पैमाने की उत्पत्ति की मितव्ययितायें समाप्त हो जाती हैं और वस्तु न्यूनतम प्रति इकाई लागत पर उत्पन्न की जाती है। इस दशा में कहा जायेगा कि उत्पादन अनुकूलतम स्तर पर हो रहा है। इस स्थिति में विभिन्न साधनों का एक अनुकूलतम् संयोग स्थापित हो जाता है। जब तक यह संयोग बना रहेगा, उत्पत्ति भी स्थिर लागत पर होती रहेगी। उदाहरणार्थ, २० श्रमिक और १ मशीन की सहायता से एक वस्तु की १०० इकाइयां उत्पन्न की जाती हैं। प्रति इकाई लागत १० रु० हुई, जो कि न्यूनतम है। जब तक न्यूनतम लागत पर उत्पादन चलता रहेगा, उत्पत्ति स्थिरता नियम लागू कहा जायेगा।

परन्तु बहुत बार सर्वोत्तम अनुपात को बनाये रखना सम्भव नहीं होता है। अधिक उत्पत्ति करने के लिये इस अनुपात को तोड़ना पड़ता है, क्योंकि कोई-कोई साधन अभाव के कारण पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाता है। यही पर इस नियम की कार्यशीलता का अन्त हो जाता है।

नियम के अन्य नाम—

क्रमगतः उत्पत्ति स्थिरता नियम का ही दूसरा नाम **'सीमान्त व्यय स्थिरता नियम'** या 'समान सीमान्त व्यय नियम' (Law of Constant Cost) भी है। स्पष्टतः, जब उत्पत्ति साधनों की वृद्धि के अनुपात मे ही बढ़ती है, तो उत्पादन की प्रत्येक अगली इकाई की लागत पूर्ववत् रहेगी अर्थात् न घटेगी, न बढ़ेगी वरन् स्थिर रहेगी। यह समझने में देर लगेगी कि जब साधनो की वृद्धि के अनुपात मे ही उत्पत्ति बढ़ती है, तो प्रत्येक उत्पादन की अगली इकाई का व्यय समान ही रहेगा।

यह उल्लेखनीय है कि उत्पत्ति के नियमो में प्रायः एक साधन को परिवर्तनशील रखकर अन्य सभी साधनो को स्थिर रखा जाता है। लेकिन हम यदि 'अनुकूलतम स्तर पर', समान लागत से, अधिक उत्पादन करना चाहें, तो सभी उत्पत्ति साधनों को समान अनुपात मे बढ़ाना होगा। इस दृष्टि से, उत्पत्ति स्थिरता नियम की परिभाषा एक अन्य ढङ्ग से की जाती है जो स्टिगलर (Stigler) के शब्दो मे निम्न है : "जब सभी उत्पादन सेवाओं को एक दिए हुए अनुपात मे बढ़ाया जाता है, तो उत्पादन उसी अनुपात मे बढ़ता है।"[1]

चित्र—स्थिर लागत नियम या पैमाने का स्थिर उत्पादन नियम

उदाहरणार्थ, यदि हम ४० श्रमिको और २ मशीनो का, अथवा ८० श्रमिको और ३ मशीनो का, प्रयोग करें, तो कुल उत्पादन पहिले की अपेक्षा क्रमश. दूना और तिगुना हो जायेगा किन्तु प्रति इकाई लागत वही १०रु० रहेगी। साथ के चित्र मे दिखाया गया है कि सभी उत्पत्ति साधनो की मात्रा को समान अनुपात मे बढ़ाने पर उत्पादन की वृद्धि स्थिर लागतो पर प्राप्त होती है। तब ही तो लागत रेखा अ क अक्ष के समानान्तर चलती है।

स्टिगलर की परिभाषा की यह विशेषता स्मरणीय है कि इसमें किसी भी साधन को स्थिर नही रखा गया है वरन् सभी साधनो को समानुपात मे बढ़ाकर अधिक उत्पादन प्राप्त किया गया है और यह अधिक उत्पादन पहले के समान लागत पर ही सम्भव होता है। ऐसी दशा को **'पैमाने का स्थिर उत्पादन नियम** (Law of Constant Returns to Scale) कहा जाता है।

इस प्रकार, अनुकूलतम बिन्दु पर उत्पादन दोनो—'स्थिर उत्पादन' और 'पैमाने का स्थिर उत्पादन'—के आधीन होना है। [किन्तु कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि कोई उत्पत्ति स्थिरता नियम नही होता केवल पैमाने का स्थिर उत्पादन नियम होता है]

उत्पत्ति का प्रतिस्थापन नियम
(The Law of Substitution in Production)

उत्पत्ति का यह नियम उपभोग के प्रतिस्थापन नियम के ही समान होता है। अन्तर केवल इतना होना है कि उपभोग मे आय को उपभोग के विभिन्न शीर्षकों पर इस प्रकार बाँटा जाता है कि अधिकतम् सन्तोष प्राप्त किया जा सके। इसके विपरीत, उत्पत्ति मे कम से कम लागत

---

1 "When all the productive services are increased in a given proportions, the product is increased in the same proportion."—**Stigler** : *The Theory of Price*, p. 129.

पर उत्पत्ति करने के उद्देश्य से साधनों का सर्वोत्तम पारस्परिक अनुपात निश्चित किया जाता है। कम से कम लागत पर उत्पादन करने के उद्देश्य से उत्पादक के लिए बहुत बार यह आवश्यक होता है कि वह एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन का उपयोग करे। यदि श्रम का मूल्य पूँजी की अपेक्षा अधिक है, तो श्रम के स्थान पर मशीन के रूप में पूँजी का उपयोग किया जायगा। इसी प्रकार, बहुत-सी दशाओं में, मशीन के स्थान पर श्रम का उपयोग अधिक लाभदायक होता है। बहुत बार एक प्रकार की मशीन के स्थान पर दूसरी प्रकार की मशीन तथा एक प्रकार के कच्चे माल के स्थान पर दूसरे प्रकार के कच्चे माल का उपयोग लाभप्रद होता है। लागत को कम करने के लिए इस प्रकार एक साधन के स्थान पर दूसरे का उपयोग आवश्यक हो जाता है।

प्रतिस्थापन क्यों सम्भव होता है ?

अब हमें यह देखना है कि प्रतिस्थापन अर्थात् एक साधन के स्थान पर दूसरे का उपयोग क्यों और किस प्रकार किया जाता है। प्रतिस्थापन इस कारण सम्भव हो जाता है कि उत्पत्ति एक से अधिक साधनों का प्रतिफल होती है और इन साधनों के विभिन्न संयोगों से एक-सा ही फल प्राप्त किया जा सकता है। आरम्भ में ही हम यह बता चुके हैं कि बहुत बार श्रम और पूँजी को ५० और ३ के अनुपात में उपयोग करने पर भी उतनी ही उपज मिल सकती है जितनी २० और ४ के अनुपात में उपयोग करने से मिलती है। प्रतिस्थापन का एक आवश्यक कारण यह होता है कि कुछ साधनों का मूल्य उनकी सीमान्त उपज के मूल्य से अधिक होता है, अर्थात् जितना इन साधनों पर व्यय किया जाता है, इसके उपयोग से उत्पत्ति में उससे भी कम वृद्धि होती है। ऐसे साधनों के उपयोग को कम कर देने से लाभ की सम्भावना अधिक हो जाती है।

प्रतिस्थापन सम्भव करने वाली दशायें—

परन्तु सभी दशाओं में प्रतिस्थापन सम्भव नहीं होता। उत्पत्ति की दो दशायें होती हैं :—प्रथम, जबकि उत्पत्ति के पारिभाषिक गुणक (Technical Coefficients of Production) परिवर्तनीय (Variable) होते हैं, और, दूसरी, जबकि ये गुणक अपरिवर्तनीय (Fixed) होते हैं। स्मरण रहे कि केवल पहली दशा में प्रतिस्थापन सम्भव होता है। दूसरी दशा में एक साधन का दूसरे स्थान पर उपयोग करना लाभदायक नहीं हो सकता।

उदाहरणस्वरूप, यदि हम तीन टाइपराइटर, तीन टाइपिस्ट, कागज और अन्य वस्तुओं को लें और देखें कि आठ घण्टे में १०० पृष्ठों की प्रतिलिपियाँ निकलती हैं। अब, यदि हम टाइपराइटरों की मात्रा को यथास्थिर रख कर अन्य साधनों को बढ़ायें, अर्थात्, तीन के स्थान पर चार टाइपिस्ट लें, तो क्या नकल किये हुए पृष्ठों की मात्रा में वृद्धि होगी ? इसका उत्तर 'नहीं' में ही, होगा क्योंकि टाइपिस्ट को टाइपराइटर के स्थान पर उपयोग नहीं किया जा सकता है। चौथे टाइपिस्ट को बेकार ही रहना पड़ेगा। इस दशा में उत्पत्ति के पारिभाषिक गुणक अपरिवर्तनीय हैं। परन्तु, यदि चौथा टाइपिस्ट हाथ से नकल करता है, तो एक अंश तक वह टाइपराइटर के स्थान पर काम करेगा। उस दशा में प्रतिस्थापन सम्भव है।

अतः प्रतिस्थापन नियम के कार्यशील होने के लिए उत्पत्ति के पारिभाषिक गुणकों का परिवर्तनीय होना आवश्यक है। कठिनाई यह है कि सभी दशाओं में उत्पत्ति के पारिभाषिक गुणक परिवर्तनीय नहीं होते। इसका अच्छा उदाहरण हमारे देश के सूती कपड़े के उद्योग में मिलता है। हमारे कारखाने लम्बे रेशे की रुई से कपड़ा बुनते हैं, जिनकी कीमत इस समय बहुत ऊँची है। साथ ही साथ यह प्रचुर मात्रा में भी नहीं मिलती है। छोटे रेशे की रुई के सस्ता होने हुए तथा पर्याप्त मात्रा में मिलते हुए भी हमारे कारखाने उसका उपयोग नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी मशीनें ऐसी रुई के सूत नहीं कात सकती हैं।

प्रतिस्थापन किस प्रकार होता है ?

यद्यपि प्रत्येक दशा मे प्रतिस्थापन सम्भव नही होता फिर भी उत्पत्ति मे प्रतिस्थापन प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है और प्रत्येक उत्पादक अवसर मिलते ही कम लाभदायक साधन के स्थान पर अधिक लाभदायक साधन का उपयोग करने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक उत्पादक का उद्देश्य उत्पादन व्यय को कम करना होता है और ऐसा करने के लिए वह प्रत्येक साधन की सीमान्त उपज की उसके मूल्य से तुलना करता है। जिस साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उपज के मूल्य से अधिक हो उसके स्थान पर किसी ऐसे साधन का उपयोग करने से लाभ होता है जिसका मूल्य उसकी सीमान्त उपज के मूल्य से कम है। इस कारण कम उत्पादक साधन की माँग कम हो जाती है, जिससे उसका मूल्य गिर जाता है और अधिक उत्पादक साधन की माँग बढ जाती है, जिससे उसका मूल्य भी बढ जाता है। कम उत्पादन साधन के स्थान पर अधिक उत्पादक साधन का उपयोग उस समय तक होता रहेगा जब तक दोनों साधनों की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) उनके मूल्यो के बराबर नही हो जायेगी।

अत, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि, प्रतिस्थापन नियम हमें यह बताता है कि कम से कम लागत पर उत्पत्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न साधन को ऐसे अनुपात मे उपयोग किया जाय कि प्रत्येक की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य के बराबर हो। दूसरे शब्दों मे, प्रतिस्थापन नियम निम्न प्रकार होता है :—

$$\frac{\text{साधन अ की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{अ का मूल्य}} = \frac{\text{साधन ब की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{ब का मूल्य}}$$

रेखा-चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

इस दशा को साथ के रेखा-चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

इस चित्र मे च च वक्र समान उपज की रेखा है। इस वक्र रेखा का प्रत्येक बिन्दु अ और ब साधनो के एक ऐसे सयोगों (Combinations) को दिखाता है जिनमे से प्रत्येक समान उपज प्रदान करता है। इस प्रकार च च वक्र रेखा इस सम्बन्ध को दिखाती है :—
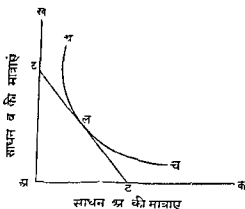
$$\frac{\text{साधन ब की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन अ की सीमान्त उत्पादकता}}$$

इसी प्रकार, ट ट रेखा $\frac{\text{साधन ब का मूल्य}}{\text{साधन अ का मूल्य}}$ को दिखाती है। ल बिन्दु, जहाँ पर च च वक्र तथा ट ट रेखा मिलते है निम्न दशा को सूचित करता है —

$$\frac{\text{साधन अ की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन अ का मूल्य}} = \frac{\text{साधन ब की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन ब का मूल्य}}$$

एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि अ और ब साधनो की सीमान्त उपज का मूल्य तथा साधनो का अपना मूल्य अग्रांकित प्रकार से है :—

साधन	सीमान्त उपज का मूल्य	साधन का मूल्य
अ	३० रुपये	२० रुपये
ब	२० रुपये	४० रुपये

यह सन्तोषजनक दशा नहीं है इसलिए उत्पादक ब के उपयोग को कम करके अ का अधिक उपयोग करेगा। ऐसा करने से अ की सीमान्त उत्पादकता घटनी चली जायगी और ब की बढ़ती चली जायगी। प्रतिस्थापन उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि आगामी दशा उत्पन्न नहीं हो जायगी :—

साधन	सीमान्त उपज का मूल्य	साधन का मूल्य
अ	२० रुपये	२० रुपये
ब	४० रुपये	४० रुपये

केवल इसी दशा में प्रत्येक साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है।

उदासीनता वक्र की सहायता से निरूपण अथवा उत्पादन का सन्तुलन
(Law Explained with Indifference Curve Technique or Equilibrium of Production)

उत्पत्ति के प्रतिस्थापन नियम को उदासीनता वक्रों की सहायता से भी समझाया जा सकता है। इस दशा में उदासीनता वक्र समान उपज वक्र (Equal Product Curve) बन जाता है, जो उत्पत्ति के किन्हीं दो साधनों (मान लीजिए श्रम और पूँजी) के ऐसे विभिन्न संयोगों को दिखाता है जिनसे समान मात्रा में उपज प्राप्त होती है। साधनों के ऐसे संयोगों के सम्बन्ध में उत्पादक पूर्णतया तटस्थ अथवा उदासीन होता है कि एक निश्चित मात्रा में उपज प्राप्त करने के लिए वह कौन से संयोग को चुने। उत्पादक वास्तव में कौन से संयोग को चुनेगा, यह इस बात पर निर्भर होता है कि दोनों साधनों की तुलनात्मक कीमत (Relative Price) किस प्रकार है। यदि पूँजी में श्रम की कीमत ग घ द्वारा दी जाती है, जैसा कि निम्न चित्र में दिखाया गया है, तो उत्पादक का सन्तुलन प बिन्दु पर प्राप्त होगा और वह पूँजी की प म तथा श्रम की अ म इकाइयों का उपयोग करेगा। इन निश्चित कीमतों पर उत्पादक के लिए श्रम और पूँजी का यही सर्वोत्तम संयोग होगा।

परन्तु यदि पूँजी में श्रम की कीमत घटती है, जैसा कि कीमत रेखा च छ द्वारा दिखाया गया है, तो उत्पादक का सन्तुलन फ बिन्दु पर प्राप्त होगा और वह पूँजी और श्रम की क्रमशः फ ल तथा अ ल मात्राओं को चुनेगा। ऐसी दशा में पूँजी और श्रम का यही संयोग सर्वोत्तम होगा।

प्रत्येक दशा में यह जानना आवश्यक है कि 'सन्तुलन बिन्दु" वह बिन्दु है जहाँ पर कीमत रेखा समान उपज रेखा को स्पर्श करती है यह स्पष्ट है कि पूँजी में श्रम की कीमत के बदलते ही सन्तुलन स्थिति बदल जाती है। दूसरी दशा में पूँजी की कम मात्रा के साथ श्रम की अधिक मात्रा आवश्यक होती है। कारण, अब पूँजी की तुलना में
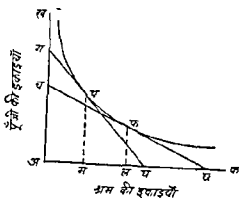
श्रम सस्ता हो गया है। अतः उत्पादक की दृष्टि से यह अधिक लाभदायक होगा कि पूँजी के स्थान पर श्रम का अधिक मात्रा मे उपयोग किया जाये अर्थात् समान उपज प्राप्त करने के लिए पूँजी का श्रम द्वारा प्रतिस्थापन किया जाय।

सीमान्त उत्पादकता का अर्थ

प्रतिस्थापन नियम के सम्बन्ध मे हमने अनेक बार सीमान्त उत्पादकता शब्द का उपयोग किया है, इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उत्पादकता का अर्थ स्पष्ट कर दिया जाय। अन्य साधनों को यथास्थिर रखकर किसी एक साधन की मात्रा मे एक इकाई की वृद्धि करने से कुल उपज मे जितनी वृद्धि होती है वह उस साधन की सीमान्त उत्पादकता कहलाती है। उदाहरणार्थ, यदि अन्य साधनो के साथ १०० श्रमिकों का उपयोग किया जा रहा है और बाद मे एक श्रमिक बढा देने से कुल उपज में तीन इकाइयो की वृद्धि होती है, तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता उपज की तीन इकाइयो के बराबर होगी। दूसरे शब्दो मे, सीमान्त उत्पादकता साधन की सीमान्त या अतिरिक्त (जो अन्तिम भी हो सकती है) इकाई द्वारा उत्पन्न की हुई उपज से सूचित होती है। प्रोफेसर हिक्स (Hicks) के अनुसार सीमान्त उपज "उस वृद्धि को कहते हैं जो साम्य की दशा मे किसी फर्म द्वारा उपयोग किए हुए साधनो की मात्रा मे एक छोटी सी इकाई जोडने से प्राप्त हो।"[1]

परीक्षा प्रश्न :

१. परिवर्तनशील अनुपातो के नियम की व्याख्या कीजिये और उसके लागू होने की दशाओ को स्पष्ट कीजिये।

अथवा

असमान अनुपातीय प्रतिफल के नियम (या प्रतिफल के नियम या अन्ततः घटती हुई सीमान्त भौतिक उत्पादकता के नियम) का कथन दीजिये और उसकी व्याख्या कीजिए।

[**सहायक संकेत**—उपर्युक्त प्रश्नों मे परिवर्तनशील अनुपातो के विभिन्न नामो का प्रयोग हुआ है। स्मरण रखिये कि अधिकाश आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने उत्पन्न ह्रास नियम को, इसकी व्यापक क्रियाशीलता के आधार पर, 'परिवर्तनशील अनुपातो के नियम' की सज्ञा दी है। अत. इस नियम का रोबिन्सन एव बेनहम के शब्दो मे कथन दीजिये। तत्पश्चात् उदाहरण और चित्र द्वारा व्याख्या कीजिए और अन्त मे इसके लागू होने की दशाओ या कारणों को बताइये।]

२. उत्पत्ति ह्रास नियम को समझाइये और इसकी सीमायें स्पष्ट कीजिये।

[**सहायक संकेत**—सर्वप्रथम उत्पत्ति ह्रास नियम का कथन दीजिये, उदाहरण व रेखा-चित्र द्वारा उसकी व्याख्या कीजिये। (यहाँ मार्शल, रोबिन्सन और बेनहम तीनो के मत देने चाहिए।) तत्पश्चात् नियम को लागत के सदर्भ मे व्यक्त कीजिये और अन्त मे उत्पत्ति ह्रास नियम की सीमायें या मान्यतायें दीजिये।]

३ उत्पत्ति ह्रास नियम की विवेचना कीजिये और एक चित्र के द्वारा यह बताइये कि प्रत्येक प्रकार की आर्थिक क्रिया मे किस प्रकार लागू होता है ?

---

[1] **J. R. Hicks** : *Value and Capital*, Chapter VI.

अथवा

निम्नांकित में ह्रास प्रत्याय नियम किस प्रकार लागू होता है—भवन निर्माण स्थल, खदान और मछली पकड़ने का स्थान ?

[सहायक संकेत—सर्वप्रथम चित्र और उदाहरण द्वारा नियम की, इसके लागू होने के कारणों सहित, विवेचना कीजिये। आधुनिक मत देना अच्छा होगा। तत्पश्चात् नियम का क्षेत्र बताइये। भवन-निर्माण स्थल, खदान और मछली पकड़ने के स्थान की चर्चा सबसे अन्त में करनी चाहिये।]

४. उत्पत्ति ह्रास नियम की व्याख्या कीजिये। क्या यह नियम कृषि और उद्योग दोनों में ही दीर्घकाल में अवश्य लागू होगा ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम उदाहरण और रेखाचित्र द्वारा नियम की पूर्ण विवेचना कीजिये। (आधुनिक मत देना अच्छा होगा)। तत्पश्चात् नियम के लागू होने के कारण बताइये और अन्त में, यह स्पष्ट कीजिये कि दीर्घकाल में नियम कृषि और उद्योग दोनों में क्रियाशील होगा।]

५. क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम की परीक्षा कीजिये और यह दिखाइये कि माल्थस के जन-संख्या सिद्धान्त और लगान के सिद्धान्त से यह किस प्रकार सम्बन्धित है ?

६. उत्पत्ति ह्रास नियम की परीक्षा कीजिये तथा माल्थस के जन-संख्या सिद्धान्त पर इसके प्रभाव को दर्शाइये। क्या यह भूमि के अतिरिक्त किन्हीं अन्य साधनों पर भी लागू होता है ?

[सहायक संकेत—सर्वप्रथम उत्पत्ति ह्रास नियम का कथन एवं उदाहरण व रेखाचित्र द्वारा उसकी संक्षिप्त व्याख्या दीजिये। तत्पश्चात् नियम के महत्त्व की चर्चा करते हुए माल्थस के जन-संख्या सिद्धान्त पर इसका प्रभाव बताइये। अन्त में, स्पष्ट कीजिये कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार यह नियम उत्पत्ति के सभी साधनों पर लागू होता है।]

७. "वृद्धि और स्थिरता नियम उत्पत्ति ह्रास नियम की अस्थायी दशायें मात्र हैं।" इस कथन का विश्लेषण कीजिये।

[सहायक संकेत—सर्वप्रथम उत्पत्ति ह्रास नियम की उदाहरण और चित्र द्वारा व्याख्या कीजिये। (आधुनिक मत देना अधिक ठीक होगा)। तत्पश्चात् उत्पत्ति वृद्धि नियम और उत्पत्ति स्थिरता नियम की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये और अन्त में निष्कर्ष निकालिये कि ये दोनों नियम उत्पत्ति ह्रास नियम के अस्थायी रूप हैं।]

८. "उत्पादन में प्रकृति की भूमिका घटते हुए प्रतिफल की ओर मनुष्य की भूमिका बढ़ते हुए प्रतिफल की प्रवृत्ति को दर्शाती है।" विवेचन कीजिये।

[सहायक संकेत—सर्वप्रथम दोनों नियमों की परिभाषायें एवं उदाहरण और रेखाचित्र द्वारा व्याख्या (आधुनिक मत के संदर्भ में) दीजिये। तत्पश्चात् दोनों नियमों की क्रियाशीलता के कारणों को बताइये और अन्त में मार्शल के इस भ्रम का निवारण कीजिये कि प्रकृति की प्रधानता के कारण उत्पत्ति ह्रास नियम और मनुष्य की प्रधानता के कारण उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।]

३

भूमि
(Land)

प्रारम्भिक—

अर्थशास्त्र के दूसरे शब्दों की भाँति भूमि की परिभाषा के सम्बन्ध मे भी भारी मतभेद हैं। एक पिछले अध्याय मे यही बताया जा चुका है कि कालान्तर मे भूमि की परिभाषा बदलती गई है।

भूमि का अर्थ

(१) **प्राचीन दृष्टिकोण**—सबसे पहले निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियो ने इस शब्द का उपयोग किया है। उनके अनुसार पृथ्वी की ऊपरी सतह, खनिज पदार्थ और इस प्रकार की दूसरी प्राकृतिक वस्तुये "भूमि" शब्द मे सम्मिलित होती हैं। इन अर्थशास्त्रियो का विचार था कि प्रकृति की मनुष्य पर विशेष कृपा है। कृषि और खनिज उद्योग मे मनुष्य प्रकृति के साथ मिलकर काम करता है और प्रकृति की उदारता के कारण उसे अपने परिश्रम से अधिक पारितोषण मिल जाता है। इस प्रकार, "भूमि" प्रकृति के वे उपहार हैं जो प्रकृति की उदारता के कारण मनुष्य को मिलते हैं।

(२) **रिकार्डो का दृष्टिकोण**—बाद के अर्थशास्त्रियो ने भूमि की इस परिभाषा को कुछ सशोधन के साथ स्वीकार किया है। रिकार्डो का विचार है कि प्रकृति मे "उदारता" नही है, बल्कि "सीमितता" अथवा "सकीर्णता" (Niggardliness) है, परन्तु फिर भी रिकार्डो ने भूमि को प्रकृति का "स्वतन्त्र उपहार" (Free gift of Nature) कहा है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस परिभाषा के विरुद्ध आपत्ति की जा सकती है, क्योकि मानव उपभोग की कोई भी वस्तु ऐसी नही है जिसे बिना मूल्य के प्राप्त किया जा सकता हो। यही कारण है कि भूमि की परिभाषा को बदला गया।

(३) **मार्शल का दृष्टिकोण**—मार्शल ने भूमि की परिभाषा इस प्रकार से दी है, "भूमि से हमारा अभिप्राय केवल पृथ्वी की ऊपरी सतह से नही होता, बल्कि उन सब पदार्थों और शक्तियो से है जो प्रकृति मनुष्य को जल और पृथ्वी, वायु और प्रकाश एव ताप मे बिना मूल्य, उसकी सहायता के लिए देती है।"[1]

भूमि या इस प्रकार की कोई वस्तु मनुष्य को बिना मूल्य के तो नही मिलती है, परन्तु इस ससार मे ऐसी अनेक वस्तुये हैं जिन्हे मनुष्य ने अपने परिश्रम से नहीं उपजाया है।

---

[1] "By land is meant, not only land in the strict sense of the word, but whole of the materials and the forces which nature gives freely for man's aid, in land and water, in air and light and heat."—**Marshall :** *Economics of Industry*, p. 35.

ऐसी ही वस्तुओं को "भूमि" कहा जा सकता है। अतएव भूमि में उन सब वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिनके इस संसार मे होने के लिए मनुष्य किसी प्रकार भी उत्तरदायी नहीं है, जैसे—भूमि की सतह, खानें, जंगली वृक्ष, जंगली पशु-पक्षी, बादल, धूप, गर्मी इत्यादि।

(४) मेहता का दृष्टिकोण—प्रो० मेहता का विचार है कि उपरोक्त अर्थ मे भूमि को उत्पत्ति का साधन नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने वीजर (Wieser) नामक आस्ट्रियन अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण को अपनाया है। वीजर ने उत्पत्ति के साधनों को दो भागों मे बांटा है—(i) परिमाणिक (Specific) एवं (ii) अपरिमाणिक (Non-specific)। पहली प्रकार के साधन वे हैं जिनका केवल एक ही उपयोग सम्भव होता है। दूसरी प्रकार के साधन बहु-उपयोगी हुआ करते हैं। प्रो० मेहता केवल परिमाणिक साधनों को ही "भूमि" मानते है, यद्यपि यह निश्चय है कि परिमाणिकता (Specificity) उत्पत्ति के सभी साधनों मे हो सकती है। अल्पकाल (Short period) में उत्पत्ति के किसी भी साधन के उपयोग को बदलना सम्भव नहीं होता, जबकि दीर्घ-काल (Long period) मे प्रत्येक साधन का उपयोग बदला जा सकता है। इस अर्थ मे "भूमि" की विद्यमानता केवल अल्पकाल मे ही हो सकती है। प्रो० मेहता का विचार है कि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन मे भूमि पक्ष (Land Aspect) हो सकता है। इस प्रकार का साधन जब उत्पत्ति के लिए अपनी सेवायें उपस्थित करता है, तो उसे किसी प्रकार का त्याग नहीं करना पड़ता। इस प्रकार **"कोई उत्पत्ति-साधन भूमि के रूप में तभी दृष्टिगोचर होता है, जबकि यह माना जाय कि वह अपनी सेवायें बिना किसी त्याग अथवा व्यय के उपस्थित कर रहा है।"**[1]

उत्पादन में भूमि का महत्त्व

आदिकाल से ही मनुष्य भूमि अर्थात् प्रकृति का बहुत ऋणी है, क्योंकि विकास की विभिन्न अवस्थाओं मे प्रकृति ने उसे भोजन-व्यवस्था, औद्योगीकरण और सभ्यता के विकास मे बहुत सहयोग दिया है। आज भी किसी देश का आर्थिक विकास वहाँ उपलब्ध प्राकृतिक उपहारों पर निर्भर है। जितनी अधिक मात्रा मे विविध प्रकार के प्राकृतिक उपहार देश मे पाये जायेंगे, उतना ही वह देश समृद्धिशाली होगा बशर्ते मानवीय प्रयत्न द्वारा इनका समुचित शोषण किया जाय। अच्छी उर्वरा भूमि, अनुकूल जलवायु, खनिज पदार्थ, वन एवं वन-उपजें, फल, दूध इत्यादि कृषि एवं औद्योगिक विकास को बहुत सीमा तक प्रभावित करते हैं। भूमि की रचना यातायात और संवादवाहन के साधनों के विकास को प्रभावित करती है और इन साधनों का समुचित विकास होना औद्योगीकरण के लिये एक पूर्व शर्त है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी भूमि का महत्त्व है। उदाहरणार्थ, लगान का आधुनिक सिद्धान्त भूमि पर आधारित है। भूमि का अर्थ भूमि तत्त्व अथवा विशिष्टता से है।

भूमि के लक्षण
(Characteristics of Land)

भूमि मे कुछ ऐसी विशेषतायें होती है जो उत्पत्ति के अन्य साधनों मे नहीं मिलती हैं। रिकार्डो (Ricardo) का विचार था कि भूमि की कुछ **मूल और अविनाशी** (Original and Indestructible) शक्तियां होती है, जो उसे उत्पत्ति के दूसरे साधनों से पृथक् कर देती है। **पुरानी विचारधारा के अनुसार भूमि की विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—**

(१) **भूमि सीमित है**—भूमि का सबसे प्रमुख लक्षण उसकी सीमितता बताया जाता

---

[1] "A factor of production, therefore, appears in its land aspect when it is considered as rendering its service without any sacrifice or cost"—J K Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 224.

है। भूमि की जितनी मात्रा विद्यमान है उसमें हम कमी या वृद्धि नही कर सकते। निस्संदेह भूमि कटाव, बाढ आदि के द्वारा भूमि की मात्रा कम हो सकती है और समुद्र या नदी के पानी को सुखाकर (जैसा कि हालेण्ड मे किया गया था) भूमि की मात्रा को बढा सकते हैं किन्तु ऐसी कमी या वृद्धि बहुत ही अल्प सीमा तक सम्भव है और साथ ही खर्चीली भी। अतः यह स्वीकार करना होगा कि भूमि की मात्रा सीमित है और उसे घटाना-बढाना सम्भव नहीं है।

किन्तु भूमि की प्रभावपूर्ण पूर्ति को बढाया जा सकता है। ऐसा तब होता है जब हम गहरी खेती अपनाते हैं या भूमि के एक ही प्लॉट पर कई मंजिलो वाली इमारत बनाते हैं।

(२) भूमि का उत्पादन व्यय नहीं है—भूमि बिना मूल्य का उपहार है। उसके लिए कोई उत्पादन-व्यय नही होता है। वास्तविकता यह है कि भूमि की परिभाषा ही इस प्रकार की गई है कि उसका कोई उत्पादन-व्यय नही होता। भूमि का यह लक्षण लगभग सभी अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। परन्तु इस सम्बन्ध मे कठिनाई यह है कि उत्पत्ति के कार्य के लिए उपयोग करने में मनुष्य को प्रत्येक वस्तु के लिए व्यय करना पड़ता है। उत्पत्ति का कोई भी साधन निःशुल्क नहीं होता और यदि कोई वस्तु बिना मूल्य प्राप्त होती है, तो वह उत्पत्ति का साधन नही हो सकेगी।

(३) अक्षयता (Indestructibility)—भूमि को अमर, अविनाशी और अनन्त कहा जाता है। रिकार्डो विशेष रूप से भूमि के इस गुण को महत्त्वपूर्ण समझते थे। किन्तु भली-भाँति देखने से पता चलता है कि यह गुण भी वास्तव मे केवल भूमि का ही गुण नही है। ससार में लगभग किसी भी वस्तु का विनाश नही किया जा सकता केवल उसका रूप बदला जा सकता है और अन्य वस्तु की भाँति भूमि के रूप और गुणों मे भी परिवर्तन करना सम्भव होता है।

(४) विविधता (Variability)—कहा जाता है कि समस्त भूमि एक जैसी नही होती है। अलग-अलग भूमि अलग-अलग कामो के लिये उपयुक्त होती है। सभी देशों के प्राकृतिक साधन भी एक जैसे नही होते हैं। जैसे—कही खानें होती है, तो कही उपजाऊ भूमि और इसी प्रकार अलग-अलग देश अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त होते है। किन्तु भूमि का यह गुण भी बहुत महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता है। विविधता का गुण ससार की सभी वस्तुओं में पाया जाता है। अत. इस आधार पर भूमि और उत्पत्ति के दूसरे साधनो के बीच कोई भेद नही किया जा सकता है।

(५) स्थिरता (Stability)—भूमि स्थिर है। भूमि नाम की वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाया जा सकता है। हमारी नदियाँ और पहाड अपने-अपने स्थान पर दृढ है। एक स्थान की जलवायु को दूसरे स्थान पर नही ले जाया जा सकता और ठीक इसी प्रकार एक देश की खाने दूसरे देश मे नहीं जा सकती है। स्मरण रहे कि जब किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है, तो वह भूमि नहीं रहती क्योंकि उसमे मनुष्य का परिश्रम सम्मिलित हो जाता है। प्रो० मेहता की परिभाषा के अनुसार भूमि का उपयोग भी स्थिर होता है। उपयोग के बदलते ही एक वस्तु भूमि नही रह पाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भूमि मे परिमाणिकता का गुण है।

(६) निष्क्रियता (Passiveness)—उत्पत्ति के दो प्रमुख साधन होते हैं, भूमि और श्रम। इन दोनों मे से केवल श्रम ही सक्रिय (Active) होता है। भूमि अपने आप उत्पत्ति के कार्य मे भाग नही ले सकती है, उसका उपयोग दूसरो की सहायता से ही किया जा सकता है।

(७) भूमि के महत्त्व पर इसकी स्थिति का प्रभाव—भूमि का मूल्य कितना होगा, यह अधिकतर इस बात पर निर्भर होता है कि वह भूमि कहाँ स्थिर है? एक-सी ही भूमि, एक-सी खानो अथवा एक से ही जङ्गलो का मूल्य उनकी स्थिति के अनुसार अलग-अलग होता है।

भूमि की उत्पादकता
(The Productivity of Land)

भूमि की उत्पादकता का कुल उत्पत्ति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उत्पादकता के दो अर्थ लगाये जा सकते हैं—निरपेक्षिक अर्थ (Absolute Sense) और सापेक्षिक अर्थ (Relative Sense)। उत्पादकता शब्द को अधिकतर सापेक्षिक अर्थ में ही उपयोग किया जाता है। इस अर्थ में हम यह जानने का प्रयत्न करते है कि भूमि के एक टुकड़े की उत्पादकता दूसरे टुकड़े की तुलना में किस प्रकार है। जो टुकड़ा उपयोग करने वाले को अधिक लाभ पहुँचाता है वह अधिक 'उत्पादक' कहलाता है। इसके विपरीत कम उत्पत्ति प्रदान करने वाली भूमि की उत्पादकता कम होती है।

भूमि की उत्पादकता साधारणतया चार बातों पर निर्भर होती है :—(१) भूमि के गुण, अर्थात् इस बात पर कि भूमि उपजाऊ है या नहीं, उत्तम प्रकार की है या नीची किस्म की और उसकी बनावट कैसी है। (२) भूमि की क्षय पूर्ति अर्थात् सुधार की दशा, अर्थात् इस बात पर कि भूमि पर किस अंश तक सुधार किया गया है। अच्छे खाद, अच्छे बीज और अच्छी सिंचाई के द्वारा कृषि भूमि की उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है। (३) भूमि की स्थिति जितनी ही अनुकूल होगी उतनी ही उत्पादकता भी अधिक होगी। (४) भूमि का उपयोग, अर्थात् भूमि किस काम में लाई जा रही है। कुछ उपयोगों में उत्पादकता अधिक होती है और कुछ में कम। (५) भूमि की उत्पादकता उसे अन्य उत्पत्ति साधनों के साथ मिलाये जाने के अनुपात पर भी निर्भर होती है। यदि उसे अनुकूलतम् अनुपात में मिलाया गया है, तो उत्पादकता अधिक होगी, अन्यथा कम, और अनुकूलतम् अनुपात की प्राप्ति एक कुशल संगठनकर्त्ता के द्वारा ही सम्भव है।

विस्तृत और गहन कृषि
(Extensive and Intensive Cultivation)

कृषि की उपज को बढ़ाने की दो रीतियाँ होती है :—(i) कृषि की जाने वाली भूमि की मात्रा बढ़ा कर अधिक उपज प्राप्त करना या (ii) वर्तमान खेतो पर अच्छे खादो, अच्छे बीजो और इस प्रकार के दूसरे सुधार करके उपज बढ़ाना। पहले प्रकार की खेती को 'विस्तृत खेती' कहा जाता है। दूसरे प्रकार की खेती 'गहन खेती' होती है। ससार में दोनों ही प्रकार की खेती पाई जाती है, परन्तु जनसख्या के बढ़ते रहने के कारण अब गहन खेती का महत्त्व बराबर बढ़ता जा रहा है। जब भूमि अधिक मात्रा मे होती है और जनसख्या थोड़ी होती है, तो विस्तृत खेती अपनाई जाती है। विस्तृत खेती के चार लक्षण हैं—नये देशों मे प्रचलन, कृषि जोतो का बड़ा आकार, पूंजी और श्रम का अल्प प्रयोग, प्रयोग मे अमितव्ययिता। इसके विपरीत, गहन खेती के निम्न लक्षण हैं :—पुराने देशो मे प्रचलन, कृषि जोतो का छोटा आकार, श्रम और पूंजी का अधिक प्रयोग, वैज्ञानिक ढङ्ग से प्रयोग। प्रारम्भ मे अमेरिका और आस्ट्रेलिया के उपनिवेशों में विस्तृत खेती का ही बोलबाला था। यूरोप के अधिकांश देशों में, जहाँ जनसख्या का घनत्व अधिक है, गहन खेती का अधिक प्रचलन है।

यह कहना कठिन है कि किस प्रकार की खेती अधिक अच्छी है। अधिकांश देशों में दोनो प्रकार की खेतियाँ एक ही साथ चलती रहती हैं। कुछ दिनो तक तो दोनों का महत्त्व बराबर ही रहता है, परन्तु आगे चलकर गहन खेती का महत्त्व बढ़ जाता है, क्योंकि अन्त मे कृषि-योग्य भूमि की कमी अनुभव होने लगती है। कुछ अर्थशास्त्रियो ने विस्तृत खेती की कड़ी निन्दा की है। उनका विचार है कि ऐसी खेती अपव्ययी होती है क्योंकि उसमें भूमि का दुरुपयोग होता है। गहन खेती भूमि के उपयोग मे मितव्ययिता लाती है। **गहन खेती अधिकतर दो बातों पर निर्भर होती है**—(i) जनसंख्या की अधिकता और (ii) शिल्प ज्ञान का विकास। जैसे-जैसे ये दोनों

बढ़ती जाती हैं, गहन खेती अधिक लोकप्रिय होती चली जाती है। यूरोप के देशों में इसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण यही है। भारत मे भी धीरे-धीरे गहन खेती का प्रचलन बढ़ रहा है।

उल्लेखनीय है कि विस्तृत खेती के अधीन जोत की इकाई बड़ी हो सकती है किन्तु उन पर गहरी खेती की रीति (अर्थात् अधिक श्रम व पूंजी और वैज्ञानिक कृषि पद्धति) का प्रयोग भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका और कनाडा मे गहरी खेती के साथ बड़े-बड़े फार्म देखने मे आते हैं। किन्तु भारत मे विस्तृत खेतों के साथ छोटे-छोटे फार्म देखने मे आते हैं अर्थात् यहाँ छोटे-छोटे खेतो पर वैज्ञानिक पद्धति से खेती नही की जा रही है और श्रम व पूंजी का भी कम प्रयोग होता है।

क्या भूमि उत्पत्ति का एक साधन है ?

प्रकृतिवादी तथा प्रतिष्ठित विचारधारा—भूमि को अधिक महत्त्व

आधुनिक अर्थशास्त्र मे यह विषय विवाद-ग्रस्त (Controversial) है कि क्या भूमि को उत्पत्ति का एक स्वतन्त्र साधन माना जाये। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, प्रकृतिवादी (Physiocrats) और इनके बाद के प्रतिष्ठित (Classical) अर्थशास्त्रियों ने भूमि को बहुत महत्त्व दिया। प्रकृतिवादियों के अनुसार केवल भूमि पर खेती करना ही उत्पादक कार्य था। एडम स्मिथ तथा इनके बाद के आर्थिक लेखकों ने यद्यपि केवल कृषि सम्बन्धी कार्यों को उत्पादक नहीं माना, परन्तु फिर भी भूमि को उत्पादन कार्य मे विशेष स्थान दिया है। कुछ थोड़े से अर्थशास्त्रियों को छोड़कर मार्शल के समय तक लगभग सभी की इसी प्रकार की विचारधारा रही। मार्शल ने स्वयं भी प्रतिष्ठित परम्परा ही का अनुकरण किया, यद्यपि एक अंश तक उन्होंने इस परम्परा को तोड़ने का भी प्रयत्न किया। मार्शल का अर्थशास्त्र मे विशेष महत्त्व इसलिए है कि वे प्रतिष्ठित और आधुनिक अर्थशास्त्र के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करते हैं। विगत काल मे भूमि शब्द की परिभाषा तथा भूमि को उत्पत्ति का एक साधन मानने के विषय मे अधिक वाद-विवाद रहा है। श्रीमती जोन रोबिन्सन (Mrs. Joan Robinson), प्रोफेसर मेहता तथा आधुनिक युग के अनेक अर्थशास्त्रियों का मत है कि भूमि के विषय मे अधिकांश पुराने विचार ठीक नही है।[1]

बदलता हुआ दृष्टिकोण—

लगभग सभी पुराने लेखकों ने भूमि को "प्रकृति का बिना मूल्य उपहार" (Free gift of nature) माना है और इसी के अनुसार उसके गुण और महत्त्व की व्याख्या की है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, रिकार्डो (Ricardo) के लगान सिद्धान्त (Theory of Rent) का भी यही आधार है। रिकार्डो का विचार है कि भूमि मे कुछ मूल और अविनाशी गुण हैं, जिनके कारण वह उत्पत्ति के दूसरे साधनो से भिन्न है। परन्तु उन्होंने अपने मूल्य के सिद्धान्त मे भूमि को कोई महत्त्व नही दिया। वे मूल्य के श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) के अनुयायी थे, जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी उत्पत्ति पर व्यय किये हुए श्रम द्वारा निश्चित किया जाता है। इस प्रकार मूल्य के निर्धारण मे भूमि का कुछ भी हाथ नही होता। प्रसिद्ध साम्यवादी लेखक कार्ल मार्क्स (Karl Marx) तथा लगभग सभी समाजवादी लेखकों ने भी इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। इस प्रकार भूमि के स्थान पर श्रम को उत्पत्ति का मुख्य साधन मानने की प्रथा बढ़ती ही चली आई है और साथ-साथ भूमि की परिभाषा का स्पष्टी-

---

[1] **Mrs. Joan Robinson** . *Economics of Imperfect Competition*, **pp. 102-103 and J K. Mehta** : *Advanced Economic Theory*, **p. 224.**

करण भी बराबर होता चला आया है। जब मार्शल ने इस प्रकार पूँजी और भूमि मे भेद किया कि, "वे भौतिक वस्तुएँ, जिनकी उपयोगिता (Usefulness) मानव परिश्रम से उत्पन्न हुई है, पूँजी कहलानी चाहिए तथा वे जिनकी उपयोगिता का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, भूमि है,"[1] तो, इस प्रकार वे आधुनिक विचार के बहुत समीप पहुँच गये थे। परन्तु पुरानी परम्परा को निभाने के नाते मार्शल ने भूमि के लगभग वही लक्षण बताये जो प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने बताये थे।

आधुनिक विचारधारा—भूमि का अल्पकाल में महत्व

आधुनिक युग मे भूमि सम्बन्धी इस पुराने विचार की, कि वह प्रकृति की बिना मूल्य की देन है, कड़ी आलोचना की गई है। कहा जाता है कि कोई भी वस्तु मनुष्य को बिना मूल्य के नहीं मिलती। यदि किसी वस्तु के प्राप्त करने मे द्रव्य व्यय (Money Cost) नहीं भी होता, तो अवसर-व्यय (Opportunity Cost) अवश्य होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी जङ्गल मे कोई सुन्दर झरना है, जो प्रकृति की देन है, तो क्या इस झरने द्वारा आवश्यकता की सन्तुष्टि बिना व्यय के हो जाती है? झरने तक पहुँचने के लिए व्यय करना पड़ता है और, इसके अतिरिक्त, जितना समय झरने का उपभोग करने पर व्यय किया जाता है, इसका भी मूल्य होता है, क्योंकि उतने समय मे कोई दूसरा कार्य किया जा सकता है। इस प्रकार झरने का आनन्द प्राप्त करने मे अवसर व्यय होता है। ठीक इसी प्रकार, यद्यपि नदियाँ, झील, इत्यादि मनुष्य के परिश्रम बिना इस संसार मे विद्यमान है, पर क्या वह मनुष्य को बिना व्यय के प्राप्त हो जाती हैं। बनावटी झीलों पर भले ही अधिक व्यय होता हो, परन्तु प्राकृतिक झीलो के उपभोग पर भी कुछ न कुछ व्यय अवश्य करना पड़ता है। अतः पता चला कि बिना मूल्य की प्राकृतिक वस्तु कोई भी नहीं है और इस अर्थ मे भूमि का अस्तित्व ही नहीं। इसलिए भूमि की इस प्रकार परिभाषा करना उचित न होगा।

इस विषय मे यह भी कहा जा सकता है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि मनुष्य को बिना व्यय के कोई भी वस्तु नहीं मिलती तो इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि संसार मे ऐसी वस्तुएँ नहीं है, जिनके निर्माण मे मनुष्य का कुछ भी हाथ न हो। जंगल मे उगने वाले पेड़ो और प्राकृतिक झीलो मे मनुष्य का परिश्रम किसी प्रकार भी नहीं लगा है। क्या उनको भूमि कहना ठीक नहीं होगा? इस प्रश्न के उत्तर मे केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इन वस्तुओं को भूमि मान लेने से कोई विशेष लाभ नहीं होता है। अपनी प्राकृतिक दशा मे जङ्गली पेड़ और झीलें उत्पादन कार्य मे तनिक भी सहायक नहीं है, अतः उन्हे उत्पत्ति के साधन नहीं माना जा सकता है।

जैसा कि हमने पहिले भी बताया था, प्रसिद्ध आस्ट्रियन अर्थशास्त्री वीजर (Wieser) ने उत्पत्ति के साधनो को दो भागो मे विभाजित किया है—परिमाणिक (Specific) तथा अपरिमाणिक (Non-specific)। पहली प्रकार के उत्पत्ति के साधन वे है जिनका केवल एक ही उपयोग सम्भव है। दूसरी प्रकार के साधनो के एक से अधिक उपयोग हो सकते है। साधारणतया ऐसी कोई भी वस्तु इस संसार मे नहीं है जिसका केवल एक ही उपयोग होता हो। परन्तु, यदि समय या काल का ध्यान रखा जाय, जैसा कि लगान के सिद्धान्त की विवेचना मे बताया जायगा, तो अल्पकाल (Short period) मे लगभग सभी साधन परिमाणिक होते है और कुछ साधन तो आभास दीर्घ-काल (Quasi-long period) मे भी इसी प्रकार के होते है। श्रीमती जोन रोबिन्सन

1 Marshall : *Principles of Economics*, p. 114.

ने प्रोफेसर मेहता का अनुकरण करते हुए बताया है कि केवल परिमाणिक साधन ही भूमि कहलाते हैं और इस प्रकार के साधन अल्प तथा आभास दीर्घकाल में ही विद्यमान रहते हैं, अर्ध-काल में नहीं। ऐसे साधन भी निःसन्देह उत्पत्ति में सहायक होते हैं और उन्हें उत्पत्ति के साधन कहना उचित ही है।[1] ऐसे साधनों को भूमि कहा जा सकता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. भूमि की उत्पत्ति बढाने के विविध उपायों की व्याख्या कीजिए। क्या यह उपाय प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक समय पर प्रयुक्त किये जा सकते हैं ? कारण सहित उत्तर दीजिए।
२. अर्थशास्त्र मे "भूमि" किसे कहते हैं ? कृषि-भूमि की उत्पादन क्षमता किन-किन बातों पर निर्भर होती है ?
३. "भूमि" की विशेषतायें स्पष्ट कीजिए। भूमि की उत्पादकता कौन से कारणों पर निर्भर रहती है ?
४. भूमि की परिभाषा दीजिए और उसकी मुख्य विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।
५. अर्थशास्त्र मे उत्पादन से क्या आशय है ? एक उत्पत्ति साधन के रूप में भूमि के लक्षण और उसकी महत्ता बताइये।

---

1 Joan Robinson : *Economics of Imperfect Competition*, The Chapter 'A Disgression on Rent', Also *see* J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 224.

४

श्रम
(Labour)

श्रम की परिभाषा

"श्रम" शब्द से साधारण बोलचाल मे सभी परिचित हैं। हाथ से कार्य करने वाले अनिपुण श्रमिकों के परिश्रम को साधारणतया श्रम कहा जाता है, परन्तु यह श्रम का बड़ा ही सकुचित अर्थ है। अर्थशास्त्र मे यह शब्द अधिक व्यापक अर्थ मे उपयोग किया जाता है। यहाँ उस सभी मानव परिश्रम को (चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक) जो उत्पत्ति करने के उद्देश्य से किया गया है, श्रम कहा जाता है। इसमें निपुण और अनिपुण, औद्योगिक और कृषक, शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार के परिश्रम को सम्मिलित किया जाता है। कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित है :—

(१) टोमस—"सभी प्रकार का मानव श्रम, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, किन्तु किसी पारितोषण की आशा पर किया गया है, श्रम कहलाता है।"[1]

इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सभी प्रकार का मानव परिश्रम श्रम मे सम्मिलित होता है। परन्तु यह आवश्यक है कि यह परिश्रम उत्पत्ति करने के उद्देश्य से अथवा किसी लाभ की आशा से किया गया हो। यदि कोई व्यक्ति बिना किसी आर्थिक लाभ की आशा के ही काम करता है, तो उसके परिश्रम को श्रम नही कहा जायगा। जो कार्य केवल इस हेतु किया जाता है कि कार्य करना स्वयं आनन्द देता है, उसे श्रम में सम्मिलित नही किया जाता है।

(२) जेवन्स—"श्रम मस्तिष्क अथवा शरीर का वह परिश्रम है जो पूर्णतया अथवा आशिक रूप मे उस आनन्द के उद्देश्य के अतिरिक्त, जो कि काम से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होता है, किसी दूसरे ही उद्देश्य से किया जाता है।"[2]

इस प्रकार श्रम मे समाज के ऊँचे से ऊँचे अथवा प्रतिष्ठित व्यक्ति से लेकर नीचे से नीचे व्यक्ति, सभी के परिश्रम को सम्मिलित किया जाता है। एक न्यायाधीश का कार्य उसी प्रकार श्रम है जैसे कि मेहतर का कार्य।

(३) प्रो० निकलसन—"श्रम शब्द मे हमे प्रत्येक प्रकार की ऊँची से ऊँची व्यावसायिक निपुणता तथा अनिपुण श्रमिकों तथा कारीगरों के परिश्रम को सम्मिलित करना पड़ता है। अब हमे न केवल उन व्यक्तियो के परिश्रम को सम्मिलित करना चाहिये जो व्यव-

---

[1] "Labour connotes all human effort, of body or mind, which is undertaken in the expectation of reward."—Thomas.

[2] "... any exertion of mind or body undertaken partly or wholly with a view to some good other than the pleasure derived directly from the work."—Jevons *quoted by* Marshall : *Principles of Economics*, p. 65

सायों में लगे हुए हैं, बल्कि उन व्यक्तियों के परिश्रम को भी सम्मिलित करना चाहिये जो शिक्षा, ललित कलाओं, साहित्य, विज्ञान, न्याय, शासन और अनेक प्रकार की सरकारी सेवाओं में लगे हैं और साथ ही न केवल उस परिश्रम को, जिसके फलस्वरूप कोई स्थायी उत्पत्ति होती है, बल्कि उस परिश्रम को भी, जो कि उत्पत्ति-कार्य करते हुए ही विनष्ट हो जाती है, सम्मिलित करना चाहिए।"

इन परिभाषाओं से श्रम की निम्न महत्वपूर्ण विशेषताओं का पता चलता है, (i) श्रम में केवल मनुष्य के परिश्रम ही को सम्मिलित किया जाता है। पशु और मशीनें भी परिश्रम करते हैं, परन्तु उसे अर्थशास्त्र में श्रम नहीं कहा जाता है। (ii) सभी प्रकार के मानव परिश्रम को श्रम कहा जाता है, चाहे उसका सम्बन्ध शरीर से हो या मस्तिष्क से और चाहे उसके फलस्वरूप किसी मूर्त वस्तु का निर्माण हो अथवा अमूर्त सेवा का। (iii) सभी प्रकार का मानवीय परिश्रम श्रम नहीं कहलाता। यह आवश्यक है कि इस परिश्रम का उद्देश्य आर्थिक अथवा लाभ की आशा हो।

उक्त आधार पर हम श्रम को वह मानव परिश्रम कह सकते हैं जो उत्पत्ति करने के उद्देश्य से किया गया हो। इस विषय में यह जानना आवश्यक है कि वास्तव में उत्पत्ति का होना भी आवश्यक नहीं है। इतना ही पर्याप्त है कि उद्देश्य उत्पत्ति करना होना चाहिए। बहुत बार हमारा परिश्रम निष्फल जाता है, यद्यपि हम उसे सफल बनाना चाहते थे। ऐसा परिश्रम भी आर्थिक अर्थ में श्रम ही होगा। एक वैज्ञानिक किसी नये आविष्कार के लिए वर्षों प्रयत्न करने पर भी असफल रह सकता है। उसका परिश्रम भी, यद्यपि वह अनुत्पादक है, श्रम ही कहा जायगा।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम
(Productive and Unproductive Labour)

'उत्पादक' शब्द के विषय में मतभेद—

लम्बे काल से अर्थशास्त्री उत्पादक और अनुत्पादक श्रम में भेद करते आये हैं। आरम्भ में 'उत्पादक' शब्द के सकुचित अर्थ लगाये गये थे।

(१) प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों (Physiocrats) का विचार था कि केवल वही श्रम उत्पादक है जो उन उत्पादक कार्यों में लगा हुआ है जहाँ प्रकृति मनुष्य के कार्य में सहायक है। उनके विचार में केवल कृषि और खनिज उद्योग ही उत्पादक कार्य थे। व्यापार और निर्माण उद्योगों में मनुष्य प्रकृति से अलग रहता है, इसलिए कृषि, खान उद्योग तथा मछली उद्योग के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में लगा हुआ श्रम अनुत्पादक है। बात यह थी कि प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार कृषि आदि उद्योगों में प्रकृति की सहायता और दयालुता के कारण मानव प्रयत्न से अधिक उत्पत्ति होती थी, जबकि अन्य उद्योगों में ऐसी बात नहीं थी।

(२) एडम स्मिथ ने इस विचार में थोड़ा सशोधन किया। उनके विचार में कृषि और निर्माण उद्योग दोनों में लगे हुए श्रमिक उत्पादक थे। स्मिथ का विचार था कि वह श्रम जिसके द्वारा किसी मूर्त (Tangible) वस्तु का निर्माण होता है, उत्पादक श्रम है, और जिस श्रम के फलस्वरूप अमूर्त वस्तुयें (Immaterial Commodities) उत्पन्न होती हैं, वह 'अनुत्पादक'। इस प्रकार अन्न, वस्त्र, मेज इत्यादि उत्पन्न करने वाले श्रमिकों का श्रम उत्पादक होगा, परन्तु एक वकील, डाक्टर अथवा अध्यापक का श्रम अनुत्पादक, क्योंकि उसके फलस्वरूप अमूर्त सेवायें उत्पन्न होती हैं।

(३) आधुनिक अर्थशास्त्री प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों और एडम स्मिथ के विचारों से सहमत नहीं हैं। उत्पत्ति का अर्थ किसी वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि करने से होता है। यह योगिता की वृद्धि किसी मूर्त वस्तु में भी हो सकती है और अमूर्त वस्तु में भी। दोनों ही

दशाओं में यह उत्पत्ति कहलायेगी और जिस श्रम के फलस्वरूप यह सम्पन्न हुई है उसे उत्पादक श्रम ही कहा जायगा। अनुत्पादक श्रम तो वह श्रम होगा जो उपयोगिता में किसी भी प्रकार की वृद्धि नहीं कर सकता है, अर्थात् जो नष्ट हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक व्यक्ति वर्षों के परिश्रम से एक मशीन बनाता है, जो चलते ही टूट जाती है तो उसका श्रम अनुत्पादक ही कहलायेगा। टॉजिग ने ठीक ही कहा है कि, "क्योंकि उत्पत्ति की प्रमुख विशेषता यही है कि उससे सन्तोष और उपयोगिता प्राप्त होती है, इसीलिए कोई भी श्रम, जिसके फलस्वरूप उपयोगिता प्राप्त होती है, उत्पादक श्रम होगा।" इस प्रकार टॉजिग के अनुसार, किसान, उद्योगपति, वकील, डाक्टर, व्यापारी और गायक सभी का श्रम उत्पादक है; किन्तु चोर, ठग तथा समाज-शोषक (Parasites), जो स्वयं कुछ नहीं करते, बल्कि दूसरों के परिश्रम पर निर्भर रहते हैं, "अनुत्पादक श्रमिक" हैं।

(४) मार्शल का भी यही विचार है। उनके विचार में सभी प्रकार का श्रम उत्पादक है, केवल वह श्रम उत्पादक नहीं होगा जो उस उद्देश्य को पूरा नहीं कर पाता है, जिसके लिए वह किया गया था, अर्थात् जो उपयोगिता की वृद्धि करने में असमर्थ रहता है। इस प्रकार केवल वह श्रम अनुत्पादक है जो उत्पत्ति करने के उद्देश्य से तो किया गया था, परन्तु जिसके फलस्वरूप उत्पत्ति नहीं हो पाती है।

(५) प्रो० टोमस 'उपयोगिता सृजन' के बजाय मूल्य-सृजन का प्रयोग श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार अनेक वस्तुओं में उपयोगिता तो बहुत हो सकती है, लेकिन मूल्य का अभाव होता है। अतः वही श्रम उत्पादक है जो कि मूल्य का सृजन करता है। स्मरण रहे यदि श्रम का उद्देश्य मूल्य का सृजन करना है किन्तु वह ऐसा न कर सके, तो ऐसा श्रम, प्रो० टोमस के अनुसार, तब ही उत्पादक कहलायेगा जबकि इसके लिए पुरस्कार मिले। उदाहरणार्थ, जब पनामा नहर पहली बार बनाई गई, तो पनामा नहर ठीक न बन सकी थी और उसे दुबारा बनाना पड़ा था। यहाँ श्रम का उद्देश्य असफल हुआ किन्तु क्योंकि श्रमिकों को श्रम से आय प्राप्त हुई थी इसलिए ऐसे श्रम को 'उत्पादक' कहेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार विभिन्न प्रकार की सेवायें जिनके द्वारा मनुष्य आय प्राप्त करता है, उत्पादक श्रम के अन्तर्गत आती हैं।

श्रम की विशेषताएँ
(Peculiarities of Labour)

एक वस्तु के रूप में श्रम की कुछ ऐसी विशेषतायें हैं, जो उसे उत्पत्ति के अन्य साधनों से पृथक् कर देती हैं। श्रम की इन विशेषताओं का श्रम के पारितोषण (Remuneration) अथवा मजदूरी पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार है :—

(१) श्रम को श्रमिक से पृथक् नहीं किया जा सकता है। श्रम और श्रमिक दोनों साथ-साथ चलते हैं। श्रम को खरीदने वाला इसे अपनी इच्छा के अनुसार मनमाने स्थान पर नहीं ले जा सकता। कारण, श्रम के साथ-साथ श्रमिक भी जाता है। यही कारण है कि श्रमिक पर कार्य की प्रकृति, स्वामी के व्यवहार और कार्य से मिलने वाले पारितोषण का अधिक प्रभाव पड़ता है। इसी विशेषता के कारण श्रम की गतिशीलता भी घट जाती है। सम्भव है कि किसी स्थान पर मजदूरी अधिक होते हुए भी श्रमिक वहाँ न जाय।

(२) श्रम एक शीघ्र नाशवान सेवा है। श्रम का संचय करके रखना सम्भव नहीं है। संसार में लगभग सभी वस्तुओं को कुछ न कुछ समय तक संचय करके रखा जा सकता है, परन्तु श्रम इतनी जल्दी नष्ट हो जाता है कि उसके संचय करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि हम एक दिन काम न करें, तो एक दिन का हमारा श्रम सदा के लिये नष्ट हो जाता है। इसी

विशेषता का यह परिणाम होता है कि श्रमिक अपना श्रम बेचने के लिये उत्सुक रहता है। उसके लिये प्रतीक्षा करना सम्भव नही होता। वह जिस कीमत पर हो सके, अपने श्रम को बेचने का प्रयत्न करेगा। सेवायोजक श्रम की इस विशेषता का लाभ उठाता है और श्रमिक को कम मजदूरी देने का प्रयत्न करता है। इसका श्रमिक के जीवन-स्तर पर बुरा प्रभाव पड़ता है और श्रमिक की सेवायोजक से सौदा करने की शक्ति कम रहती है।

(३) **श्रम की पूर्ति धीरे-धीरे बढ़ती है।** *श्रम की पूर्ति दो बातों पर निर्भर होती है।* मात्रा की दृष्टि से तो यह जन-सख्या के आकार पर निर्भर होती है और गुणात्मक दृष्टि से यह श्रम की कार्य-कुशलता पर निर्भर होती है। जन-सख्या मे परिवर्तन धीरे-धीरे होते हैं और ठीक इसी प्रकार कार्य-कुशलता भी धीरे-धीरे ही घटती-बढती है। अतः साधारणतया श्रम की पूर्ति को बहुत वेग के साथ नही बढाया जा सकता। यदि पूर्ति को तेजी के साथ बढाने की आवश्यकता पडे, तो इसके दो ही उपाय होते हैं—या तो कार्यशील जन-सख्या की सख्या बढाई जाये, अर्थात् कुल जन-सख्या के अधिक बडे भाग को काम पर लगाया जाय, अथवा, प्रशिक्षण (Training) की सहायता से श्रमिकों की कार्य-कुशलता तेजी के साथ बढाई जाय। श्रम की पूर्ति को एक दम कम कर देना भी सम्भव नही होता है। जन-सख्या केवल धीरे-धीरे ही घटाई जा सकती है और ठीक इसी प्रकार श्रमिकों की कार्य-कुशलता भी धीरे-धीरे घटती-बढती है। पूर्ति मे तेजी के साथ परिवर्तन न होने का एक कारण यह भी है कि श्रमिक की गतिशीलता कम होती है।

(४) **श्रमिक अपना श्रम अथवा अपनी सेवा बेचता है, परन्तु स्वय अपने गुणो का स्वामी बना रहता है।** अन्य वस्तुओ की भाँति श्रम के उत्पन्न करने की लागत एकदम वसूल नहीं हो जाती है, वह धीरे-धीरे प्राप्त होती है। परिणाम यह होता है कि श्रमिक की शिक्षा और उसके प्रशिक्षण पर जो कुछ व्यय किया जाता है वह सदा के लिये उसमे लग जाता है और व्यय करने वाले को इसका फल कम ही मात्रा मे प्राप्त होता है। पुराने काल मे, जबकि दासता की प्रथा थी, और श्रम और श्रमिक दोनो पर मालिक का अधिकार रहता था, तब शायद यह सम्भव था, परन्तु अब तो स्वामी को यह भय बना रहता है कि अधिक निपुण हो जाने पर श्रमिक अधिक मजदूरी माँगेगा अथवा काम छोडकर दूसरे स्थान पर चला जायगा। इस विशेषता का परिणाम यह होता है कि सेवायोजक श्रमिको की कार्य-कुशलता को बढाने की ओर कम ध्यान देता है।

(५) **श्रमिक की सौदा करने की शक्ति सेवायोजक की तुलना मे कम होती है।** इसका एक कारण यह है कि श्रम एक अति शीघ्र नाशवान वस्तु है, जिससे श्रमिकों को अपना श्रम तुरन्त बेचने पर बाध्य होना पडता है और वह श्रम का सचय करके उसकी पूर्ति को नही घटा सकता है। दूसरे, सेवायोजक की तुलना मे श्रमिक की आर्थिक स्थिति अधिक बलहीन होती है, जिसका प्रमुख कारण श्रमिक की निर्धनता होती है। तीसरे, सङ्गठन की कमी, अशिक्षितता आदि के कारण श्रमिक का पक्ष निर्बल होता है। अन्त मे, रोजगार पर सेवायोजक का अधिकार रहता है। वह उसे घटा-बढाकर श्रमिको की माँग और मजदूरियो मे परिवर्तन कर सकता है।

(६) **श्रम उत्पत्ति का सक्रिय साधन है।** भूमि, पूँजी और साहस सभी निष्क्रिय साधन होते है। वे स्वय काम को आरम्भ नही कर सकते। सभी साधनों को श्रम द्वारा काम पर लगाया जाता है। श्रम के बिना किसी भी प्रकार की उत्पत्ति सम्भव नही होती है। अपनी सक्रियता के कारण यह साधन दूसरे साधनो का उपयोग करके उत्पत्ति करने की अनुकूल दशायें उत्पन्न कर देता है। इस दृष्टि से श्रम उत्पत्ति का सबसे महत्वपूर्ण साधन है।

(७) **श्रमिक एक ही साथ उत्पादक और उपभोक्ता दोनों होता है।** यह विशेषता वास्तव मे श्रम की विशेषता नहीं है, बल्कि श्रमिक की विशेषता है। किन्तु, क्योंकि श्रम को श्रमिक से अलग करना सम्भव नही होता, इसलिए श्रम का उपयोग करते समय श्रमिक को उपभोक्ता के रूप

में भी ध्यान में रखा जाता है। अधिकांश उत्पत्ति का अन्तिम उद्देश्य श्रमिकों के लिए उपभोग की वस्तुओं की व्यवस्था करना ही होता है।

(८) श्रम भूमि और संगठन की तुलना में अधिक गतिशील होता है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि पूँजी और साहस की तुलना में श्रम की गतिशीलता कम है, परन्तु उत्पत्ति के अन्य साधनों की तुलना में वह अधिक होती है।

(९) श्रम का पुरस्कार उसकी पूर्ति को साधारण ढङ्ग में प्रभावित नहीं करता। साधारणतः वस्तु की कीमत बढ़ने पर उसकी पूर्ति बढ़ जाती है किन्तु मजदूरी बढ़ने पर श्रम की पूर्ति बढ़ना अनिवार्य नहीं है क्योंकि एक सीमा से अधिक पुरस्कार मिलने की दशा में श्रमिक आराम को अधिक पसन्द करेंगे, काम (श्रम) को कम। इसके विपरीत, एक सीमा से नीचे मजदूरी घटने पर श्रमिकों के लिये अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करना कठिन हो जाता है, जिस कारण वे अधिक श्रम करने के लिए प्रेरित होते हैं। इस प्रकार, जबकि वस्तु की कीमत घटने पर उसकी पूर्ति घट जाती है, श्रम की कीमत (मजदूरी) घटने पर श्रम की पूर्ति घटना अनिवार्य नहीं है और वह प्रायः बढ़ जाती है।

(१०) श्रम एक साधारण वस्तु की भाँति लगातार सेवा प्रदान नहीं कर सकता, क्योंकि श्रमिक एक सजीव प्राणी है, जिसे बीच-बीच में मनोरंजन, आराम, भोजन इत्यादि की आवश्यकता पड़ती है।

(११) श्रम में बुद्धि और तर्क व निर्णय शक्ति होती है, क्योंकि श्रमिक मनुष्य होता है और किसी भी कार्य में उसके लिए बुद्धि या निर्णयशक्ति प्रयोग करना स्वाभाविक है। यथार्थ में इसी लक्षण के आधार पर श्रम को अन्य उत्पत्ति साधनों से पृथक् किया जा सकता है।

क्या श्रम की विशेषतायें मौलिक हैं ?

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि श्रम की जो विशेषतायें ऊपर बताई गई हैं वे मौलिक नहीं हैं, बल्कि उन्हें वास्तव में बढ़ा-चढ़ा कर बताया गया है। कारण :—(i) वास्तविकता यह है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के बीच प्रतिस्थापन हो सकता है। एक अंश तक एक साधन के स्थान पर दूसरे का उपयोग सम्भव होता है। (ii) प्रत्येक साधन का स्वामी भी अन्तिम दशा में कोई न कोई मनुष्य ही होता है और इस प्रकार साधन को मनुष्य (उसके स्वामी) से अलग करना कठिन होता है। (iii) उत्पत्ति के अन्य साधनों में भी गतिशीलता पाई जाती है, अन्तर केवल अंश का होता है, अर्थात् किसी साधन की गतिशीलता किसी निश्चित काल में कम होती है और किसी की अधिक। (iv) ठीक यही बात अन्य विशेषताओं के विषय में भी कही जा सकती है। किंचित् श्रम की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसका शीघ्र नाशवान होने का गुण ही है।

आर्थिक सिद्धान्त में श्रम की विशेषताओं का महत्त्व—

श्रम की विशेषताओं का आर्थिक सिद्धान्त में बहुत महत्त्व है, जिसका अनुमान निम्न विवरण से लगाया जा सकता है :—(अ) जबकि एक वस्तु के लिए माँग उसकी प्रत्यक्ष उपयोगिता के कारण की जाती है, श्रम के लिए माँग उसकी उत्पादकता के कारण होती है। (ब) श्रम की पूर्ति को शीघ्रता से घटाना-बढ़ाना सम्भव नहीं है और श्रम अत्यन्त नाशवान व दुर्बल होता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मालिक या उद्योगपति श्रमिकों का शोषण करते हैं। इससे बचने के लिए श्रमिक अपने आपको श्रमिक संघों में संगठित करते हैं और इनकी सहायता से अच्छी शर्तें प्राप्त करने में सफल भी होते हैं। चूँकि श्रम की पूर्ति को शीघ्रता से घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता इसलिए उनकी मजदूरी के निर्धारण पर माँग का प्रभाव अधिक पड़ता है। (स) श्रम एक जीव है, जिस कारण उसके साथ निर्जीव वस्तुओं की भाँति व्यवहार नहीं किया जा सकता। उसके कल्याण आदि के लिए सरकार को नियम व व्यवस्थायें बनानी पड़ती

हैं। (द) चूँकि श्रम को श्रमिक से पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए उसे कार्य, आराम, मनोरंजन आदि की सुविधायें देना आवश्यक है। (य) श्रम में मानवीय तत्व की उपस्थिति के कारण ही मजदूरी ऊँची हो जाने पर भी श्रम कभी-कभी कम घण्टे कार्य करना पसन्द करता है जिससे वह सुखी जीवन बिता सके। श्रम की विशेषताओं के प्रभावों को दृष्टिगत रखते हुये यह आवश्यक हो गया है कि इनके लिए अलग सिद्धान्त बनावें।

क्या श्रम के साथ एक वस्तु की भाँति व्यवहार कर सकते हैं ?

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने श्रम को एक वस्तु की भाँति माना था और तदनुसार वे उसका मूल्य भी माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निश्चित करने पर बल देते थे। लेकिन उनकी यह धारणा ठीक नहीं है अर्थात् श्रम के साथ एक वस्तु की भाँति व्यवहार नहीं किया जा सकता, जिसके निम्नांकित कारण हैं —(१) वस्तु निर्जीव होती है किन्तु श्रम जीव होता है। अन्य वस्तु विक्रेता अपनी वस्तु को बेचने के बाद यह चिन्ता नहीं करता कि उसकी वस्तु का क्या होगा। किन्तु एक श्रमिक को अपने श्रम के सदुपयोग की चिन्ता रहती है क्योंकि इसके साथ सन्देह उपस्थित रहता है। (२) जबकि वस्तु की पूर्ति को बढ़ाया-घटाया जा सकता है, तब श्रम की पूर्ति को बढ़ाना-घटाना सहज नहीं होता और उसमें लम्बा समय लगता है। (३) कुछ वस्तुओं को दूसरी वस्तुओं से प्रतिस्थापित किया जा सकता है किन्तु श्रमिकों को अन्य वस्तुओं या मशीनों से सहज ही या अल्पकाल में प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता। यदि श्रमिकों को मशीन से प्रतिस्थापित करना है, तो इसके लिए पहले बेरोजगार होने वाले श्रमिकों के लिए नये रोजगार की व्यवस्था करनी होगी। (४) वस्तु में अपनी कोई भावना नहीं होती है किन्तु श्रम में होती है, जिस कारण वह अपना जीवन-स्तर उठाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। (५) वस्तुओं में श्रम की अपेक्षा अधिक गतिशीलता होती है। (६) वस्तुओं को दीर्घकाल तक संचय कर सकते हैं किन्तु श्रम को नहीं, क्योंकि यह नाशवान है।

इस प्रकार, श्रम से एक वस्तु की भाँति व्यवहार नहीं किया जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रम के मूल्य निर्धारण के लिए कोई पृथक् सिद्धान्त बनाना होगा। यथार्थ में, श्रम की विशेषतायें मजदूरी के निर्धारण में सरकार के हस्तक्षेप को आवश्यक बनाती हैं।

श्रम की कार्य-कुशलता
(The Efficiency of Labour)

श्रम की कार्यकुशलता से आशय—

कार्य-कुशलता का अर्थ काम करने की शक्ति अथवा उत्पादन-क्षमता से होता है। कार्य-कुशलता के दो पक्ष होते हैं :—(i) परिमाणवाचक पक्ष (Quantitative Aspect) और (ii) गुणात्मक पक्ष (Qualitative Aspect)। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि कार्य-कुशलता सदैव तुलनात्मक होती है। दो व्यक्तियों की कार्य-शक्ति की तुलना करके ही हम यह कह सकते हैं कि उनमें से कौन अधिक कुशल है और कौन कम कुशल। यदि अन्य बातें समान रहते हुए एक श्रमिक एक निश्चित समय में दूसरे श्रमिक से अधिक काम करता है, तो वह अधिक कुशल होगा। इसी प्रकार, यदि दो श्रमिकों का काम मात्रा में बराबर है, परन्तु एक का काम दूसरे से उत्तम है, तो अच्छा काम करने वाला श्रमिक अधिक कुशल होगा। इस प्रकार, दो व्यक्तियों की कार्य-कुशलता की तुलना करते समय हमें तीन बातों को ध्यान में रखना चाहिए—(i) कार्य की दशाएँ, सुविधाएँ और समय-अवधि, (ii) काम करने की मात्रा और (iii) काम की उत्तमता।

कार्य-कुशलता की तुलना एक अन्य प्रकार से भी की जा सकती है। उपरोक्त विवेचन

में हमने कार्य के आधार पर कुशलता की तुलना की थी। परन्तु अर्थशास्त्र में सभी तथ्यों को मुद्रा में नापा जाता है, अतएव कार्य-कुशलता की तुलना भी मुद्रा की माप के आधार पर करना अधिक अच्छा होगा। एक सेवायोजक की दृष्टि में यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि श्रमिक कितना और किस किस्म का काम करता है। उसके लिए अधिक महत्वपूर्ण यह देखना होता है कि एक श्रमिक को काम पर लगाने का उसके उत्पादन व्यय (Cost of Production) पर क्या प्रभाव पड़ता है। अधिक सरल शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि एक सेवायोजक का हित केवल इसे देखने में है कि सब बातों को ध्यान में रखते हुए कौनसा श्रमिक महँगा है और कौन-सा श्रमिक सस्ता।

एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट की जा सकती है। मान लीजिए कि एक व्यवसायी दो कारीगरों को काम पर रखता है, जिनमें से एक दो जोड़ी जूते रोजाना बनाता है और दूसरा तीन जोड़ी जूते। यह निश्चय है कि दूसरे श्रमिक को अधिक कुशल कहा जायगा, क्योंकि वह अधिक काम करता है। परन्तु यदि पहले श्रमिक को दो रुपये प्रति दिन मजदूरी दी जाती है और दूसरे को ३ रुपया ३० पैसे, तो प्रति जोड़ा जूता उत्पादन-व्यय पहले का केवल १ रु० होगा और दूसरे का १ रुपया १५ पैसे। इस दशा में मालिक की दृष्टि से पहला श्रमिक अधिक कुशल होगा, यद्यपि उसका उत्पादन कम है। अतएव कुशलता को मुद्रा में नापना अधिक उपयुक्त हो सकता है। एक सेवायोजक की दृष्टि से कार्य-कुशलता की सही माप यही है।

श्रमिक की कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाली बातें—

पेन्सन के अनुसार, "श्रम की कार्य-कुशलता आंशिक रूप में सेवायोजक पर और आंशिक रूप में श्रमिक पर, कुछ अंश तक संगठन पर और कुछ अंश तक व्यक्तिगत प्रयत्न पर, कुछ अंश तक उन औजारों और मशीनों पर जिनसे श्रमिक काम करते हैं और कुछ अंश तक श्रमिक की अपनी निपुणता और उसके अपने परिश्रम पर निर्भर होती है।"[1] उद्योग की भीतरी और बाहरी दोनों ही प्रकार की दशाओं का श्रमिक की कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। सुविधा के लिए कार्य-कुशलता पर प्रभाव डालने वाली बातों का निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है :—

(I) **श्रमिक का जीवन-स्तर**—श्रमिक की कार्य-कुशलता एक बड़े अंश तक उसके जीवन-स्तर पर निर्भर होती है। श्रमिक को आवश्यक, आरामदायक और विलास की वस्तुएँ कितनी मात्रा में मिलती हैं, इस बात का उसकी काम करने की शक्ति और काम करने की इच्छा दोनों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यदि श्रमिक को पर्याप्त और पौष्टिक भोजन मिलता है, अच्छे कपड़े प्राप्त होते हैं और अच्छा मकान उपलब्ध है तो उसकी कार्य-कुशलता ऊँची होगी। इसी प्रकार, विलास-वस्तुओं का उपभोग हमारे कार्य-उत्साह को बढ़ाता है। यदि श्रमिक को भर-पेट भोजन नहीं मिले तथा उसे गन्दे और अस्वस्थ मकानों में रहना पड़े, तो उसका स्वास्थ्य खराब हो जायगा और उसकी कार्य-कुशलता घट जायगी।

किन्तु स्वयं जीवन-स्तर अनेक बातों पर निर्भर होता है। मुख्यतया वह मजदूरी की दर, मजदूरी के रूप, व्यय करने की रीति और कीमत-स्तर (Price level) पर निर्भर होता है। साधारणतया मजदूरी की वृद्धि जीवन-स्तर को ऊँचा उठा देती है। श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा करके उनकी कार्य-कुशलता को बढ़ाने की सबसे उपयुक्त रीति मजदूरियों में वृद्धि करना ही है।

निस्सदेह मजदूरी और जीवन-स्तर की उन्नति कार्य-कुशलता को साधारणतया बढ़ा देती है, परन्तु यह समझना भूल होगी कि जीवन-स्तर को जितना ही ऊँचा उठाया जायगा

---

[1] Penson : *Economics of Everyday Life*, Pt. I, p. 51.

उतनी ही कार्य-कुशलता भी बराबर बढ़ती जायगी। ह्रास नियम यहाँ पर भी लागू होता है। बहुत ही नीचे जीवन-स्तर को ऊपर उठाने की दशा में कार्य-कुशलता बहुत तेजी के साथ बढ़ सकती है। परन्तु जब जीवन-स्तर एक निश्चित बिन्दु तक पहुँच जाता है, तो कार्य-कुशलता जीवन-स्तर की उन्नति की तुलना में कम तेजी से बढ़ने लगती है। अन्त में यह भी सम्भव है कि यदि जीवन-स्तर बहुत ही ऊँचा चला जाता है, तो जीवन इतना विलासपूर्ण हो सकता है कि कार्य-कुशलता उल्टी घट जाय। किन्तु समाज के अधिकांश व्यक्तियों का जीवन-स्तर इस बिन्दु तक नहीं पहुँच पाता है, इसलिए जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर कार्य-कुशलता में वृद्धि करने की सम्भावना साधारणतया शेष ही रहती है।

भारतीय श्रमिकों की नीची कार्य-कुशलता का प्रमुख कारण नीची मजदूरी और नीचा जीवन-स्तर ही है। हमारे देश के मजदूर अस्वस्थ्य मकानों और गन्दी बस्तियों में रहते हैं। उन्हें विश्राम, थकावट को दूर करने और पौष्टिक भोजन प्राप्त करने का अवसर कम मिलता है। ऐसे श्रमिकों से ऊँची कार्य-कुशलता की आशा निर्मूल होगी। बहुत बार कुछ मिल-मालिकों की ओर से यह तर्क रखा जाता है कि भारतीय मजदूरों को ऊँची मजदूरी देना इसलिए सम्भव नहीं है कि उनकी कार्य-कुशलता कम है और उन्हें ऊँची मजदूरी देने का परिणाम यह होगा कि मालिक को घाटा होगा, जिससे उत्पत्ति का सकुचन होगा और अन्त में रोजगार घटेगा। इस सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि नीची मजदूरी नीची कार्य-कुशलता का कारण है या नीची कार्य-कुशलता के कारण ही मजदूरी नीची रहती है। इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि अधिकांश दशाओं में, जहाँ मजदूरियाँ बढ़ाई गई हैं, श्रमिकों की कार्य-कुशलता भी बढ़ी है।

(II) **कार्य की दशाएँ**—इस शीर्षक में हम अनेक बातों को सम्मिलित करते हैं, जैसे—कार्य करने के घण्टे (Hours of work), कार्य-स्थान की दशा, मालिक का व्यवहार, श्रमिक की स्वतन्त्रता तथा फैक्ट्री के भीतर की सामान्य दशाएँ। इनका विस्तृत अध्ययन निम्न प्रकार है :—

(१) **कार्य के घण्टे**—बहुत से मिल-मालिक ऐसा समझते हैं कि श्रमिकों से प्रतिदिन जितने ही अधिक समय तक काम लिया जायगा, उतना ही काम अधिक होगा। यह धारणा बहुत सही नहीं है। प्रत्येक मनुष्य की शारीरिक और मानसिक शक्ति सीमित होती है। अधिक समय तक काम करने से थकावट आती है जिससे न केवल काम में शिथिलता आ जाती है, बल्कि काम भी अच्छा नहीं हो पाता है। दीर्घकाल में लम्बे समय तक काम करने के फलस्वरूप स्वास्थ्य और कार्य-कुशलता दोनों चौपट हो जाते हैं। आराम करने से थकावट दूर हो जाती है और खोई हुई कार्य-शक्ति फिर से लौट आती है। पश्चिम के उन्नतिशील देशों की प्रवृत्ति काम के घण्टों को बराबर घटाने और विश्राम की अवधि को बढ़ाने की ओर रही।

(२) **कार्य-स्थान की दशा**—श्रमिक जिस स्थान पर काम करता है, उसकी दशा का भी उसकी कार्य-कुशलता पर अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि कार्य-स्थान स्वच्छ, स्वस्थ और हवादार है तथा उसमें गर्मी और सर्दी से बचने का अच्छा प्रबन्ध है, तो श्रमिक की कुशलता बढ़ जायगी। कारखाने के भीतर का वातावरण जितना ही अनुकूल और रुचिकर होगा उतनी ही कार्य-कुशलता अधिक होगी। भारत में बहुत से कारखानों में श्रमिकों को खुले में काम करना पड़ता है, अथवा टीन के छप्पर डाल दिये जाते हैं। गर्मी और सर्दी के विरुद्ध किसी प्रकार की रोक नहीं की जाती है और सफाई का भी कोई अच्छा प्रबन्ध नहीं होता है। इससे एक ओर तो व्यावसायिक बीमारियाँ फैलती हैं और दूसरी ओर श्रमिकों की कुशलता घट जाती है।

(३) **मालिक का व्यवहार**—यदि मालिक सहानुभूति के साथ व्यवहार करे और श्रमिकों के कष्टों को दूर करने का प्रयत्न करे, तो इससे काम करने वाले अधिक प्रसन्न, सन्तुष्ट

और उत्तरदायी रहेंगे। यदि मालिक का व्यवहार बुरा है, तो उसे श्रमिकों का सहयोग प्राप्त न हो सकेगा। इसी प्रकार, यदि मालिक श्रमिकों के साथ बात-बात पर बिगड़ता है और छोटी-छोटी बातों पर मजदूरी काट लेने या श्रमिक का रोजगार छीन लेने की धमकी देता है, तो श्रमिक अच्छा काम न करेंगे। मालिक और श्रमिक के अच्छे सम्बन्ध ही औद्योगिक शान्ति (Industrial Peace) की एकमात्र गारन्टी होते हैं।

(४) श्रमिक की स्वतन्त्रता—कार्य-कुशलता शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के कारणों पर निर्भर होती है। यदि श्रमिक को स्वतन्त्रता नहीं है, तो उसे कार्य के प्रति अरुचि हो जायगी। वह मन से कार्य नहीं करेगा, जिसका उसकी कुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। दासता के अन्तर्गत श्रमिक से कुशलता की आशा निर्मूल है। इसी प्रकार, जब श्रमिक को कार्य करने पर मजबूर किया जाता है, तो वह कुशल कार्यकर्ता नहीं रह पाता। कुशलता की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उसकी रुचि और स्वतन्त्रता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय।[1]

(५) फैक्टरी के भीतर की सामान्य दशाएँ—कुशलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि फैक्टरी के भीतर का सामान्य वातावरण कैसा है, किस प्रकार की मशीनों का उपयोग किया जा रहा है, श्रम-विभाजन (Division of Labour) कितना और किस प्रकार का है तथा श्रमिक और मालिक के सम्बन्ध कैसे हैं? यदि नवीन प्रकार की सुरक्षित मशीनों का उपयोग किया जाता है, श्रम-विभाजन द्वारा प्रत्येक श्रमिक को उसकी रुचि और योग्यता के अनुसार काम दिया जाता है तथा मजदूर और मालिक के सम्बन्ध अच्छे हैं, तो कार्य-कुशलता अधिक होगी।

(III) शिक्षा और प्रशिक्षण—श्रमिकों की कार्य-कुशलता उनकी शिक्षा और उनके प्रशिक्षण पर भी निर्भर होती है। शिक्षा दो प्रकार की होती है—(१) सामान्य (General) और (२) व्यावसायिक (Professional)। दोनों ही प्रकार की शिक्षा की वृद्धि श्रमिक की कार्य-कुशलता को बढ़ाती है।

सामान्य शिक्षा से श्रमिक के ज्ञान में वृद्धि होती है, जिससे उसके लिए किसी काम को सीख लेना सरल हो जाता है। इसके अतिरिक्त, शिक्षा मनुष्य में नैतिकता, उत्तरदायित्व और सोच-समझ कर काम करने के गुण उत्पन्न करती है। योग्य और चतुर हो जाने के बाद श्रमिक अधिक मात्रा में तथा अधिक उत्तरदायित्व के साथ काम करने लगता है।[2] व्यावसायिक शिक्षा अथवा प्रशिक्षण प्रत्यक्ष रूप में श्रमिक की कुशलता को बढ़ाता है, क्योंकि व्यावसायिक शिक्षा श्रमिक को उसके काम में अधिक दक्षता और निपुणता प्रदान कर देती है।

शिक्षा का प्रभाव एक दूसरी रीति से भी पड़ता है। एक शिक्षित श्रमिक ऊँचे जीवन स्तर के महत्त्व को समझने लगता है। वह अपने जीवन स्तर को ऊँचा करने के लिए

[1] "Give a man secure possession of a bleak rock and he will turn it into a garden."—Arthur Young.

[2] "The intelligent labourer is more useful than the unintelligent labourer : (a) because he requires a far shorter apprenticeship (he can learn his trade in a half, a third or a quarter the time which the other requires), (b) because he can do his work with little or no superintendence; (c) because he is less wasteful of materials; and (d) because he readily learns to use machinery however delicate and intricate."—Walker.

अधिक परिश्रम करता है और जीवन-स्तर को ऊँचा करके अपनी कार्य-कुशलता को भी बढ़ा लेता है।

आधुनिक युग मे, जहाँ उत्पत्ति मे मशीनो का विस्तृत उपयोग होता है, व्यावसायिक शिक्षा और शिल्प शिक्षा (Technical Education) का महत्त्व और भी बढ़ गया है। श्रमिक को थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् नई-नई मशीनो और उनके उपयोग के बारे मे सीखना पड़ता है। सच बात तो यह है कि आधुनिक जगत मे औद्योगिक कार्यों को इतना वैज्ञानिक बना दिया गया है कि व्यावसायिक शिक्षा लगभग आवश्यक हो गई है। भारतीय मिल-मालिको ने भी धीरे-धीरे शिक्षा के महत्त्व को समझ लिया है तथा वे भी श्रमिकों की सामान्य और व्यावसायिक शिक्षा की ओर ध्यान देने लगे हैं। वर्तमान युग मे श्रमिको की शिक्षा का प्रबन्ध औद्योगिक नीति का एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है।

(IV) जातीय और वशगत गुण—श्रमिक की कुशलता पर उसकी जाति (Race) और उसके वश का भी प्रभाव पड़ता है। ससार मे कुछ जातियाँ ऐसी हैं कि उनके सदस्य अधिक स्वस्थ और परिश्रमी होते हैं। कुछ जातियो मे शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम की परम्परा भी अधिक होती है। उदाहरणस्वरूप, हमारे देश मे पहाड़ी लोग अधिक हृष्ट-पुष्ट और परिश्रमी होते हैं। इसी प्रकार पजाबी लोग बगाली लोगो की तुलना मे अधिक स्वस्थ और परिश्रमी होते हैं और कुछ जातियाँ बुद्धि मे अधिक तेज हैं।

वश का भी कार्य-कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। हम जिस वातावरण मे पलते हैं, जैसे लोगो के साथ रहते हैं और आरम्भ मे जैसा दूसरो को करते हुए देखते है, वैसे ही गुण स्वय हम मे भी उत्पन्न होने लगते है। परिश्रमी माँ-बाप के बच्चे आरम्भ से ही परिश्रम के महत्त्व को समझने लगते हैं। इसके अतिरिक्त, जातिगत रीति-रिवाजो, परम्पराओ और सामाजिक जीवन का भी कार्य-कुशलता पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। ससार के विभिन्न भागो मे एक ही व्यवसाय मे श्रमिको की उत्पादन शक्ति के विशाल अन्तरो का कारण जातिगत और वशगत गुणो का अन्तर भी है।

इस सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि यद्यपि जाति और वश का प्रभाव भी कार्य-कुशलता पर पड़ता है। परन्तु इसको अधिक महत्त्व देना उचित न होगा। यह आवश्यक नही है कि एक जाति मे उत्पन्न होने वाला व्यक्ति किसी एक काम को दूसरी जाति मे उत्पन्न होने वाले श्रमिक की तुलना मे अधिक कुशलता अथवा योग्यता के साथ करे। इसमे तो सन्देह नही कि वातावरण का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, परन्तु वातावरण मे परिवर्तन किये जा सकते हैं। रूस का अनुभव भी यही है।

(V) जलवायु—जलवायु का भी मनुष्य के जीवन और उसकी कार्य-शक्ति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, जो निम्न प्रकार है :—(i) जलवायु ही यह निश्चित करती है कि मनुष्य का आहार क्या होगा और क्षेत्र विशेष मे किस वस्तु की उत्पत्ति होगी। (ii) जलवायु ही यह निश्चित करती है कि काम करने से कितनी थकावट होगी। जिन देशो की जलवायु अधिक उष्ण होती है, वहाँ शारीरिक और मानसिक थकान शीघ्र आ जाती है।[1] हमारा अनुभव भी हमें

---

[1] "Upto the present time a tropical climate has been fatal to the best energies of races, however vigorous. It has not indeed extinguished either the subtlety of their thinkers or the physical strength which the workers can exert for short periods; but it has been hostile to the power of undergoing severe continuous strain of mind and body."—**Marshall**. *Industry and Trade*, p. 61.

बनाता है कि गर्मी की तुलना में हम जाड़ों में अधिक समय तक कार्य कर सकते हैं। (iii) जाड़ों की ऋतु में भूख भी अच्छी लगती है और खाना भी भली-भाँति पच जाता है। इससे शरीर में स्फूर्ति रहती है और कार्य-कुशलता बढ़ती है। (iv) इसके अतिरिक्त गर्म देशों में थोड़ी सी ही मेहनत से जीवन की आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकती हैं। इसका कारण यह है कि एक ओर तो आवश्यकताएँ ही कम होती हैं और दूसरे प्रकृति अधिक उदार होती है। परिणामत: दीर्घकाल में मनुष्य आलसी हो जाता है। (v) गर्म देशों में सन्तान-उत्पत्ति भी अधिक होती है, जिसका श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और उनकी कार्य-कुशलता घट जाती है। (vi) कुछ उद्योगों में तो जलवायु का महत्त्व बहुत ही अधिक है। सूती कपड़ा उद्योग के लिए नम (Damp) जलवायु आवश्यक होती है। सूखी जलवायु में सूत के धागे टूटते रहते हैं और कार्य-कुशलता कम हो जाती है।

भारतीय श्रमिकों के विषय में बहुधा यह कहा जाता है कि उनकी कार्य कुशलता के कम होने का एक कारण देश की जलवायु भी है। यह कथन केवल आंशिक रूप में ही सही है। बहुधा ऐसा देखने में आता है कि एक योरोपियन श्रमिक भारत में भी भारतीय मजदूर से अधिक काम करता है। इसका कारण शायद यह है कि यूरोपियन पहले से ही अधिक परिश्रम करने का अभ्यस्त होता है और उसका जीवन-स्तर भी ऊँचा होता है। अत: यद्यपि जलवायु का श्रमिक की कार्य-कुशलता पर प्रभाव पड़ता है, परन्तु यह प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता।

(VI) नैतिक गुण—श्रमिक की कार्य-कुशलता उसके चरित्र पर भी निर्भर होती है। (i) यदि श्रमिक चरित्रवान, शिक्षित और आत्म विश्वासी है, उसमें निर्भयता, परिस्थितियों से न घबराने का गुण है और वह अपने उत्तरदायित्व को समझता है, तो उसकी कार्य-कुशलता अधिक होगी। (ii) ऐसे श्रमिक के लिए देख-रेख की आवश्यकता नहीं रहती है। (iii) श्रमिक औजार और माल का अधिक सावधानीपूर्वक उपयोग करता है तथा इस बात का प्रयत्न करता है कि मालिक के कार्य में कमी न होने दे। (iv) ऐसा श्रमिक कार्य से जी नहीं चुराता है। चरित्र मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है।

साधारणतया शिक्षा, सदुपदेश आदि द्वारा चरित्र को ऊँचा किया जा सकता है। परन्तु सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि श्रमिक की मजदूरी अच्छी हो, क्योंकि निर्धनता चरित्र के विकास में बाधक होती है। भारतीय श्रमिक अशिक्षित है और साथ ही साथ निर्धन भी है। उनसे उस समय तक नैतिक गुणों की आशा करना निर्मूल होगा, जब तक कि शिक्षा तथा प्रगतिशील श्रम-नीति द्वारा उनकी नैतिकता का स्तर ऊँचा न किया जाय। मजदूर को सन्तुष्ट रखने और उसके अनैतिक कार्य करने की प्रवृत्ति को रोकने के लिये यह भी आवश्यक है कि मजदूरी पर्याप्त हो।

(VII) सामाजिक दशायें—देश की सामाजिक दशाओं का भी श्रमिकों की कार्य-कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। जाति प्रथा का प्रभाव यह होता है कि जन्म से ही बालक अपने वंशगत काम को सीख लेता है क्योंकि उस काम की सभी ऊँच-नीच उसे वंशगत अनुभव के आधार पर ज्ञात होती है। इससे कुशलता के बढ़ने की सम्भावना होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जाति-प्रथा सदा ही अच्छी होती है। इस प्रथा का बहुत बार कुशलता पर बुरा प्रभाव भी पड़ता है। कारण, जाति प्रथा एक व्यक्ति के लिए व्यवसाय के चुनाव की स्वतन्त्रता को सीमित कर देती है। एक बढ़ई (Carpenter) के बच्चे को वही काम करना पड़ता है, चाहे वह काम उसकी योग्यता और निपुणता के अनुकूल हो या नहीं। इससे अधिक उन्नति करने और कार्य-कुशलता बढ़ाने का उत्साह समाप्त हो जाता है।

(VIII) धार्मिक कारण—धार्मिक कारणों का भी कार्य-कुशलता पर प्रभाव पड़ता

है। धार्मिक विचारधारा बहुत बार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता को सीमित कर देती है। एक धर्म के अनुयायियों के लिए कुछ प्रकार के कार्य वर्जित हो सकते हैं। कुछ धर्मों के अनुसार तो धनवान होना और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना पाप होते हैं। हमारे देश में अन्य कारणों के साथ मिलकर धार्मिक भावनाओं ने भी कार्य-कुशलता को घटाया है।

(IX) राजनैतिक दशायें—श्रमिक की कार्य-कुशलता देश की राजनैतिक दशा पर भी निर्भर होती है। पराधीन देशों में श्रमिकों का कार्य-उत्साह मारा जाता है। वे निराशावादी हो जाते हैं, उनका नैतिक पतन होता है और वे अपना आत्म-विश्वास खो बैठते हैं। इसी प्रकार, यदि राजनैतिक वातावरण अशान्त है, तो राजनैतिक कारणों से हड़तालें होती रहेंगी और श्रम की कुशलता घट जायगी। जब श्रमिक देश की सरकार को अपनी ही सरकार समझते हैं, तो वे अधिक उत्साह और परिश्रम के साथ कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त राजनीतिक अशान्ति कार्य करने की उपयुक्त दशाएं उत्पन्न नहीं होने देती है। अनिश्चितता प्रत्येक कार्य को नीरस बना देती है।

(X) उन्नति की आशा—श्रमिक की कुशलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि भविष्य में उसकी उन्नति के लिए कैसी आशा है। यदि हम ऐसा समझते हैं कि अच्छा काम करने से हमारी उन्नति हो जायगी, तो हमारा कार्य-उत्साह बढ़ जाता है और हम अधिक परिश्रम करने लगते हैं तथा अपना काम अधिक मन लगाकर करते हैं। जब अच्छे काम का कोई भी फल नहीं मिलता है, तो श्रमिक का कार्य-उत्साह मारा जाता है। इसी उद्देश्य से आधुनिक औद्योगिक जगत में श्रमिकों को लाभों में से हिस्से दिये जाते हैं और कुशलता अधिलाभांश (Efficiency Bonus) आदि दिये जाते है।

(XI) कार्य की प्रकृति—श्रमिक की कार्य-कुशलता उसके काम की प्रकृति पर भी निर्भर होती है। कुछ कार्य स्वभाव से नीरस अथवा अरुचिकर होते हैं, कुछ कार्य खतरनाक होते हैं और कुछ कार्यों में व्यक्तिगत उत्साह के लिए बहुत ही कम अवकाश रहता है। इसी प्रकार, यदि एक श्रमिक को सदा एक ही काम करना पड़ता है, तो काम धीरे-धीरे नीरस हो जाता है। इसके लिए कार्य की विभिन्नता का बना रहना आवश्यक हो जाता है।

(XII) प्रबन्धक की कुशलता—श्रमिक की कुशलता एक बड़े अंश तक इस बात पर भी निर्भर होती है कि जिस प्रबन्धक के नीचे वह काय कर रहा है उसकी कुशलता कितनी है। उत्पत्ति की कुशलता के लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का सर्वोत्तम अनुपात में उपयोग किया जाय। किसी साधन का आवश्यकता से अधिक या कम उपयोग होने से उसकी कुशलता कम हो जाती है। **साधारणतया एक अच्छा प्रबन्धक अकुशल श्रमिकों को भी कुशल बना देता है।** श्रम-विभाजन कैसे किया जाय, किस व्यक्ति को कौन-सा काम दिया जाय और फिर श्रमिकों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय, ये सब निर्णय महत्त्वपूर्ण होते हैं। एक कुशल प्रबन्धक इन सब दिशाओं में सुधार करके श्रमिकों की कुशलता बढ़ा सकता है। इस प्रकार जितना ही प्रबन्ध योग्य, प्रगतिशील और सहानुभूतिपूर्ण होगा, उतनी ही श्रमिकों की कुशलता भी बढ़ जायगी। हमारे देश में निपुण और योग्य प्रबन्धकों की अधिक कमी है, इस लिए श्रमिकों की कुशलता कम रहती है।

(XIII) श्रम-संगठन अथवा श्रम-संघ आन्दोलन—श्रमिकों के संगठन का भी उसकी कार्य कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। श्रम संघों (Trade Unions) के दो प्रमुख कार्य होते हैं:—(i) श्रम-संघ श्रमिकों के लिए अच्छी मजदूरी और कार्य की अच्छी दशाएं प्राप्त करने के लिये निरन्तर संघर्ष करते रहते हैं। इन क्रियाओं का यह परिणाम होता है कि श्रमिकों की कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है। (ii) श्रम-संघ श्रमिकों के लिये श्रम-कल्याण सेवाओं (Labour

Welfare Service) चालू करते हैं। वे श्रमिकों की शिक्षा, उनके मनोरंजन और उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास की व्यवस्था करते हैं। इससे औद्योगिक थकान घटती है और कार्य-कुशलता में वृद्धि हो जाती है।

(XIV) सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था—कार्य-कुशलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि मजदूर को कितनी सामाजिक सुरक्षा प्राप्त है। दूसरे शब्दों में, हमें यह देखना पड़ता है कि श्रमिक को बेरोजगारी, बीमारी और दुर्घटना के विरुद्ध क्या और कितना लाभ प्राप्त होता है। ऐसे लाभों के प्राप्त होने की दशा में श्रमिक निश्चिन्त रहता है और उसके सन्तुष्ट रहने के कारण उसकी कुशलता बढ़ जाती है।

(XV) श्रमिक की प्रादेशिक और व्यावसायिक गतिशीलता—श्रमिक की कार्य-कुशलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि वह किस अंश तक गतिशील है। यदि श्रमिक बार-बार अपना व्यवसाय अथवा कार्य-स्थान बदलता रहता है, तो उसकी कुशलता घट जाती है।

श्रम की गतिशीलता
(The Mobility of Labour)

गतिशीलता से अभिप्राय एवं इसके भेद—

गतिशीलता का अभिप्राय उत्पत्ति के एक साधन का एक स्थान से दूसरे स्थान को चले जाने अथवा एक व्यवसाय या एक उपयोग से दूसरे व्यवसाय या उपयोग में चले जाने से होता है। इस प्रकार, गतिशीलता दो प्रकार की होती है:—प्रादेशिक अथवा भौतिक (Territorial or Physical) और व्यावसायिक अथवा उपयोग-परिवर्तन (Occupational or Use Mobility)। प्रथम दशा में उत्पत्ति का एक साधन एक स्थान से दूसरे स्थान को चला जाता है, जबकि दूसरी दशाओं में साधन अपने वर्तमान व्यवसाय अथवा उपयोग को बदल देता है। ऐसी दशा में यह आवश्यक नहीं है कि उत्पत्ति का साधन कार्य-स्थान का भी परिवर्तन करे। बहुत-सी दशाओं में तो उसके लिए वर्तमान उत्पादन इकाई का छोड़ना भी आवश्यक नहीं होता। प्रादेशिक गतिशीलता में केवल कार्य-स्थान का परिवर्तन होता है और व्यावसायिक गतिशीलता में केवल उपयोग का, यद्यपि यह सम्भव है कि एक साधन एक ही साथ प्रादेशिक और व्यावसायिक दोनों प्रकार की गतिशीलता प्राप्त कर ले। उदाहरणस्वरूप, जब एक कॉलेज का प्रोफेसर मेरठ से आगरा आकर नौकरी करता है, तो यह उसकी प्रादेशिक गतिशीलता रही। जब एक कॉलेज का प्रोफेसर उसी नगर में सरकारी नौकरी में चला जाता है, तो यह व्यावसायिक गतिशीलता होगी और यदि सरकारी नौकरी किसी दूसरे नगर में मिलती है, तो यह एक ही साथ प्रादेशिक और व्यावसायिक गतिशीलता होगी।

श्रम की गतिशीलता से आशय एवं इसके भेद—

श्रम की गतिशीलता से हमारा अभिप्राय श्रमिक द्वारा कार्य स्थान अथवा वर्तमान कार्य को बदल लेने से होता है।

(१) श्रम की प्रादेशिक गतिशीलता—बहुधा यह देखने में आता है कि श्रमिक अधिक मजदूरी अथवा अन्य कारणों से प्रेरित होकर एक स्थान से दूसरे स्थान को चला जाता है। कुछ श्रमिक तो स्थायी रूप से दूसरे स्थानों को चले जाते हैं और कुछ केवल कुछ समय के लिए। स्थान परिवर्तन के मार्ग में अनेक बाधाएँ होती हैं। विभिन्न स्थानों पर भाषा, आहार, रीति-रिवाज और जाति-पाँति के भारी अन्तर होते हैं। इसके अतिरिक्त, श्रमिक को बहुधा अपना कुटुम्ब और घर छोड़कर जाना पड़ता है, परन्तु फिर भी श्रमिक स्थान-परिवर्तन करते रहते हैं। इस प्रकार का परिवर्तन "भौगोलिक परिवर्तन" अथवा "प्रादेशिक गतिशीलता" कहलाता है।

(२) श्रम की व्यावसायिक गतिशीलता—इस प्रकार की गतिशीलता में श्रमिकों के

विस्तृत उपयोग और श्रम-विभाजन ने विशेष सहायता दी है। विभिन्न प्रकार की मशीनों में भारी अन्तर नहीं होते और फिर श्रम-विभाजन कामों को इतना सरल बना देता है कि श्रमिक को अपना व्यवसाय बदलने में अधिक कठिनाई नहीं होती है। इस सम्बन्ध में यह कठिनाई अवश्य है कि कुछ प्रकार के श्रमिक विशिष्ट प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। उनके लिए व्यवसाय का परिवर्तन कठिन होता है।

(३) शीर्ष गतिशीलता (Vertical Mobility)—शीर्ष गतिशीलता का अभिप्राय एक ही व्यवसाय में नीचे के काम से ऊँचे काम में जाने से होता है। उदाहरणस्वरूप, एक प्राध्यापक प्रधान अध्यापक बन सकता है अथवा एक चपरासी दफ्तरी बन सकता है। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि विभिन्न व्यवसायों में अलग-अलग प्रकार की निपुणता, योग्यता और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति एक लम्बे समय तक एक काम कर चुकता है, उसके लिए किसी दूसरे काम को करने में थोड़ी-बहुत कठिनाई अवश्य रहती है। जब एक व्यक्ति किसी व्यवसाय में नया ही नया आता है, तो उसके किसी दूसरे व्यवसाय में जाने की सम्भावना अधिक रहती है परन्तु पुराना पड़ जाने की दशा में गतिशीलता घट जाती है।

श्रम की गतिशीलता के कारण—

श्रम की गतिशीलता के कारण अथवा श्रम की गतिशीलता को प्रोत्साहित करने वाले तत्त्व निम्नांकित हैं —

(१) भौगोलिक गतिशीलता के कारण—(i) आर्थिक लाभ, आर्थिक उन्नति या नौकरी की प्राप्ति के लिए श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पसन्द करते हैं। (ii) कुछ व्यक्ति राजनैतिक प्रगति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं। (iii) सामाजिक कारण (जैसे जाति बिरादरी के प्रतिबन्ध) भी श्रमिकों को एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिए प्रेरित करते हैं।

(२) व्यावसायिक गतिशीलता के कारण—(i) ऊँचा वेतन, (ii) कार्य की सुरक्षा, (iii) अच्छी कार्य-दशायें, एवं (iv) भावी उन्नति की आशा भी श्रमिकों को एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर खींचती है।

(३) वर्गीय गतिशीलता के कारण—जब श्रमिक की योग्यता में ट्रेनिंग, अनुभव आदि के कारण वृद्धि हो जाती है या जब अन्य ऊँचे वर्ग में रिक्त स्थान उपलब्ध है अथवा मालिक द्वारा तरक्की देने पर वह एक वर्ग से दूसरे वर्ग में जा सकता है।

श्रम की गतिशीलता में बाधा डालने वाले तत्त्व—

निम्न कारण श्रमिकों की गतिशीलता को हतोत्साहित करते हैं :—(१) अपने गाँव, घर और परिवार से स्नेह के कारण श्रमिक प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पसन्द नहीं करते चाहे दूसरे स्थान में उन्हें आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक प्रगति के लिए अधिक अवसर मिलें। (२) विभिन्न स्थानों में खान-पान, रीति-रिवाज, भाषा, रहन-सहन इत्यादि की भिन्नतायें भी श्रमिक को एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने से रोकती हैं। (३) जाति प्रथा और संयुक्त परिवार प्रणाली जैसी सामाजिक बातें भी श्रम की गतिशीलता में बाधक रही हैं किन्तु अब इनके बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं। (४) सामान्य शिक्षा, तकनीकी ज्ञान एवं नौकरी की दशाओं के विषय में आवश्यक जानकारी के अभाव के कारण भी श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान को या एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय को अथवा एक ही व्यवसाय में नीचे वर्ग से ऊँचे वर्ग में जाने नहीं पाते। (५) यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का अपर्याप्त विकास भी श्रमिकों की गतिशीलता में बाधक होता है। (६) श्रमिकों की निर्धनता भी उन्हें आने-जाने से रोकती है। (७) कुछ श्रमिकों में उच्चाकांक्षा की कमी होती है जिस कारण वे वर्तमान नौकरी से ही सन्तुष्ट रहते हैं।

परीक्षा प्रश्न :

१. श्रम की विशेषतायें क्या हैं ? इनका आर्थिक सिद्धान्त में महत्त्व बताइये।
२. आधुनिक उद्योग में श्रमिक की कार्य-क्षमता को निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्त्वों की विवेचना भारतीय उदाहरणों सहित कीजिये।
३. 'श्रम की गतिशीलता' से आप क्या समझते हैं ? इसे प्रोत्साहित करने वाले कारणों का विवेचन करिये।

५

जन-संख्या और उसके सिद्धान्त

(Population and The Theories of Population)

प्रारंभिक—

(१) अति प्राचीन दृष्टिकोण—यह तो सभी जानते है कि मात्रा की दृष्टि से किसी देश में श्रम की पूर्ति जन-संख्या पर निर्भर होती है। परन्तु भूतकाल में जन-संख्या के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया था। अपनी सेनाओं को बढ़ाने के लिए अधिकांश सम्राट जन संख्या का बढ़ाना ही अधिक अच्छा समझते थे। उस काल मे जीविका के साधन भी सुलभ थे। जनसंख्या कम होने के कारण पृथ्वी पर मानव दबाव कम था। वैदिक साहित्य मे प्रत्यक्ष रूप मे जन-संख्या की विवेचना तो नही मिलती है, परन्तु ऐसी प्रार्थनाये अवश्य मिलती हैं, जिनमे देवताओ से अधिक सन्तान माँगी जाती थी। यूनानी साहित्य मे अफलातून (Plato) ने जन-संख्या नियोजन का सुझाव दिया था, ताकि स्वस्थ, बुद्धिमान तथा वीर मनुष्य उत्पन्न हों। साधारणतया भूतकाल मे जन-संख्या का बढ़ना ही अच्छा समझा जाता था।

(२) वाणिज्यवादी दृष्टिकोण—वाणिज्यवादी अर्थशास्त्री (Mercantilists) भी जन-संख्या को बढ़ाने के पक्ष मे थे। इन लोगों का विचार था कि किसी देश की आर्थिक सम्पन्नता और राजनीतिक शक्ति इसी बात पर निर्भर होती है कि उसके पास सोना-चांदी और बहुमूल्य धातुओ का कितना संग्रह है। उन देशों के लिए जिनके पास सोने और चांदी की खाने नहीं थी, इन धातुओं को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यही था कि निर्यातों (Exports) को बढ़ाकर अर्थात् देश से विदेशो को अधिक माल भेजकर, विदेशों से इन धातुओ को प्राप्त करें। निर्यातों को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक था कि देश मे उद्योगो की उन्नति की जाय और माल को नीची कीमतों पर बेचा जाय। उत्पादन-व्यय का एक बड़ा भाग मजदूरी के रूप मे होता है, इसलिए जब तक मजदूरियां नहीं घटेंगी, तब तक सस्ते दामो पर उत्पादन नहीं हो सकेगा। इन अर्थशास्त्रियों का विचार था कि जब तक श्रमिकों की पूर्ति (जन-संख्या) नहीं बढ़ेगी, मजदूरी ऊँची ही रहेगी, इसलिए इन अर्थशास्त्रियों ने जन-संख्या को बढ़ाने के प्रस्ताव रखे।

(३) प्रकृतिवादियों का दृष्टिकोण—प्रकृतिवादी अर्थशास्त्री (Physiocrats) प्राकृतिक व्यवस्था (Natural Order) मे विश्वास रखते थे। उनका विचार था कि राज्य को देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन मे किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इन लोगो ने जन-संख्या के बढ़ाने या घटाने का सुझाव नही दिया। ये अर्थशास्त्री ऐसा समझते थे कि प्राकृतिक रूप मे न तो जन-संख्या का बढ़ना ही बुरा है और न उसका घटना ही। उनके विचारों से इतना निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि वे जन-संख्या की वृद्धि के विरुद्ध न थे, क्योंकि प्राकृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत जो कुछ भी होता है, उसे वे ठीक ही समझते थे। एडम स्मिथ भी लगभग इसी विचार के समर्थक थे, यद्यपि उनकी पुस्तक से कुछ ऐसा आभास अवश्य होता है कि वे जन-संख्या की वृद्धि के विषय मे चिन्तित भी थे।

(४) माल्थस का दृष्टिकोण—जन-संख्या का गहन अध्ययन वास्तव मे माल्थस से ही आरम्भ होता है। इससे पहले जन-सख्या के विषय मे थोड़ा-बहुत कहा तो अवश्य गया था, परन्तु किसी सिद्धान्त का निर्माण नही हुआ था। माल्थस के पश्चात् जन-संख्या के विषय मे जो कुछ भी लिखा गया है उस सब पर माल्थस का प्रभाव साफ-साफ दिखाई पड़ता है। माल्थस इसके विपरीत, आरम्भ से ही निराशावादी थे। सन् १७९८ मे माल्थस की प्रसिद्ध पुस्तक Essay on the Principle of Population as it Affects the Future Improvement of Society प्रकाशित हुई। सन् १८०३ मे पुस्तक का दूसरा संस्करण निकला, जिसमें पुस्तक का नाम बदलकर Essay on the Principle of Population, or A View of its Past and Present *Effects on Human Happiness* रखा गया। इस पुस्तक मे माल्थस ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि जन-सख्या आवश्यकता से अधिक तेजी के साथ बढ रही थी, जो मानव समाज की सम्पन्नता और उन्नति के लिए घातक थी। इसलिए माल्थस ने कृत्रिम उपायों से जन-सख्या की वृद्धि को रोकने का सुझाव दिया।

(५) माल्थस के सिद्धान्त की आलोचनाओं के कारण कुछ अर्थशास्त्रियों ने अन्य सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं, जैसे—अनुकूलतम् जन-संख्या का सिद्धान्त, जन-सख्या का जैविकीय सिद्धान्त, शुद्ध पुनरुत्पादन सिद्धान्त एवं जनांकिकी परिवर्तन का सिद्धान्त।

माल्थस का जन-सख्या सिद्धान्त
(Malthusian Theory of Population)

माल्थस के विचारों पर प्रभाव डालने वाले कारण—

माल्थस के विचारो पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख कारण निम्नलिखित थे :—

(१) माल्थस का काल **औद्योगिक क्रान्ति** के तुरन्त बाद का काल था। अभी-अभी उत्पत्ति की फैक्ट्री प्रणाली का आरम्भ हुआ था। समाज दो प्रति-विरोधी (Antagonistic) वर्गों मे विभाजित होता हुआ दिखाई पडता था। एक ओर तो पूँजीपति थे, जिनका उत्पत्ति के साधनों और रोजगार पर अधिकार था। दूसरी ओर श्रमिक थे, जिन्हें अपना श्रम बेचना पड़ता था। पहला वर्ग अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहता था और इसके लिए मजदूरों का शोषण करने मे संकोच नही करता था। दूसरा वर्ग पहले वर्ग पर आश्रित था और बराबर अधिक दरिद्र होता चला जा रहा था।

(२) माल्थस को अपने चारो ओर **दरिद्रता और असन्तोष** ही दिखाई दिया था। इङ्गलैण्ड मे जन-सख्या के लिए भोजन की कमी थी। फ्रांस और यूरोप के दूसरे देशो की दशा भी बहुत चिन्ताजनक थी। माल्थस ने अपने निरीक्षण और भ्रमण से पता लगाया था कि इन देशो मे जन-सख्या के पोषण के लिए पर्याप्त भोजन की उत्पत्ति नही हो रही थी।

(३) माल्थस की पुस्तक के प्रकाशित होने का तुरन्त कारण **गौडविन** (Godwin) **की पुस्तक** Political Justice **का प्रकाशन** था। गौडविन का विचार था कि मानव समाज का भविष्य बडा ही उज्ज्वल है। वे तो यहाँ तक विश्वास रखते थे कि, "इसमे तो सन्देह नही है कि मनुष्य कभी भी अमर नही हो पायगा, किन्तु मानव जीवन को अपरिमित सीमा तक लम्बा किया जा सकता है।"[1]

यह विचार माल्थस के अपने विचारो के लिए एक चुनौती थी, इसलिए उन्होने जन-

[1] "Man doubtless will never become immortal, but it is possible that the span of human life may be, indefinitely prolonged"—**Charles Godwin :** ***Political Justice.***

संख्या पर अपने विचार प्रकट करना ही उचित समझा। चूँकि माल्थस ने अपनी पुस्तक गोडविन के उत्तर में लिखी थी इसलिए पुस्तक की भाषा कठोर और प्रभावशाली रखी गई थी।

माल्थस के जन-संख्या सम्बन्धी सिद्धान्त ने आर्थिक विचारों में क्रान्ति उत्पन्न की है। **गाइड** (Gide) ने ठीक ही कहा है—"एक शताब्दी के बीत जाने पर भी उस वाद-विवाद की प्रतिध्वनि अभी तक समाप्त नहीं हुई है, जो इस सिद्धान्त ने उत्पन्न की है।............माल्थस की पुस्तक एडम स्मिथ की पुस्तक का एक प्रत्युत्तर है।"[1] माल्थस ने आर्थिक विवेचना के क्षेत्र का विस्तार किया है और अर्थशास्त्र में समाजशास्त्र (Sociology) के अध्ययन के प्रवेश की घोषणा की है।

नियम का कथन एवं इसकी व्याख्या—

माल्थस के जन-संख्या सम्बन्धी नियम को निम्न प्रकार व्यक्त किया जाता है :— "उत्पादन कलाओं की एक दी हुई स्थिति के अन्तर्गत जन-संख्या जीवन निर्वाह के साधनों से अधिक तीव्रगति से बढ़ने की प्रवृत्ति दिखलाती है।"

माल्थस के सिद्धान्त को समझने के लिए पहले उन दो मान्यताओं को समझ लेना आवश्यक है, जिनके आधार पर यह सिद्धान्त बनाया गया है। माल्थस का विश्वास है कि (i) मनुष्यों की कामवासना यथास्थिर है। सन्तान-उत्पादन की इच्छा की तीव्रता पर विज्ञान, सभ्यता इत्यादि की उन्नति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। (ii) **आर्थिक सम्पन्नता और सन्तान-उत्पादन के बीच बड़ा ही प्रत्यक्ष और घनिष्ठ सम्बन्ध है।** जीवन-निर्वाह की वस्तुओं की मात्रा की प्रत्येक वृद्धि जन-संख्या को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखती है। आर्थिक सम्पन्नता की प्रत्येक वृद्धि सन्तान-उत्पादन तथा जन-संख्या की वृद्धि को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार माल्थस ने जन-संख्या की प्रवृत्ति का अध्ययन करने के पश्चात् निम्न निष्कर्ष बनाये है :—

(१) किसी स्थान पर केवल उतने ही मनुष्य रह सकते हैं, जितनों को वहाँ जीवन-निर्वाह के साधन मिल सकते हैं। इस प्रकार **जन-संख्या की वृद्धि जीवन-निर्वाह के साधनों (Means of Subsistence) की उपलब्धता पर निर्भर होती है।**

(२) **प्रत्येक देश की जन-संख्या खाद्य-पदार्थों की पूर्ति की तुलना में अधिक तेजी के साथ बढ़ने की प्रवृत्ति रखती है।** यदि किसी प्रकार की रुकावट न हो, तो जन-संख्या गुणोत्तर श्रेढ़ी (Geometrical Progression) में बढ़ती है और खाद्य-उत्पादन माध्य श्रेढ़ी (Arithmetical Progression) में। अतः यदि किसी प्रकार जन-संख्या की वृद्धि नहीं रोकी जाती है, तो खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति की तुलना में जन-संख्या बहुत अधिक हो जाती है।[2] जन-संख्या और खाद्य-उत्पादन की वृद्धि निम्न प्रकार होती है :—

जन-संख्या	१	२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६
खाद्य-उत्पादन	१	२	३	४	५	६	७	८	९

---

[1] "Even after the lapse of a century, the echo of the controversy which it aroused has not altogether faded away,...The essay might be considered as a reply to Adam Smith."—Gide.

[2] "Population when unchecked, increases in geometrical progression and the food supply increases only in arithmetical progression, *i. e.*, population will tend to increase much faster than the food supply of the country can be increased unless the forces which tend to increase the population are contracted by other forces."—Malthus : *Essay on Population.*

इस प्रकार थोडे ही समय पीछे जन-संख्या खाद्य-उत्पादन से बहुत आगे निकल जाती है। इस सम्बन्ध मे इतना बता देना आवश्यक है कि पुस्तक के दूसरे संस्करण मे माल्थस ने यह स्वीकार किया है कि उपरोक्त दृष्टान्त केवल उदाहरणार्थ है। वास्तविक जीवन मे केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि जन-सख्या खाद्य-उत्पादन की तुलना मे अधिक तेजी के साथ बढती है।

(३) प्रत्येक २५ वर्ष पीछे देश की जन-संख्या दूनी हो जाती है। १ से २ पर अथवा २ से ४ पर पहुँचने मे साधारणतया २५ वर्ष लगते है। इस सम्बन्ध मे भी माल्थस ने स्पष्ट किया है कि यह भी उदाहरणार्थ है। वास्तव मे जन-सख्या इससे कम या अधिक समय में दूनी हो सकती है।

(४) भूतकाल मे जन-सख्या खाद्य-उत्पादन की तुलना मे अधिक तेजी से बढी है और भविष्य मे भी ऐसी ही सम्भावना है, किन्तु इस तेजी से बढी हुई जन-सख्या पर नैसर्गिक प्रतिबन्ध (Positive or Natural Checks) लागू होते हैं, जो इसकी वृद्धि की गति शिथिल कर देते हैं। ये प्रतिबन्ध (Nature) द्वारा लगाये जाते है और दुर्भिक्ष, महामारी, भुखमरी, बाढ तथा अन्य प्राकृतिक आपत्तियो के रूप मे होते है। माल्थस ने इन्हे "कष्ट" (Miseries) का नाम दिया है।

नैसर्गिक प्रतिबन्धो के द्वारा मृत्यु-दर मे वृद्धि होकर जन-सख्या मे कमी होती है और इससे खाद्यान्न के साथ जन-सख्या का सन्तुलन स्थापित हो जाता है। किन्तु यह सन्तुलन अल्पकालीन होता है, क्योंकि मनुष्य की बढने की स्वाभाविक इच्छा शीघ्र कार्य करने लगती है। परिणामत. जन-सख्या फिर से बढ़कर खाद्यान्न की पूर्ति से अधिक हो जाती है और प्राकृतिक प्रतिबन्ध पुन. क्रियाशील हो जाते हैं। इन घटनाओ का एक कुचक्र बन जाता है, जिसमे फँस कर जन-सख्या कष्ट पाती रहती है।
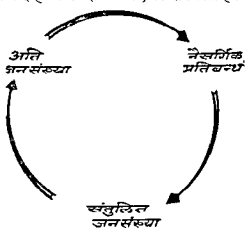
चित्र—माल्थूसियन चक्र

(५) माल्थस का विश्वास है कि नैसर्गिक प्रतिबन्ध जन-सख्या के लिए अधिक कष्टदायक होते है, परन्तु यदि निवारक प्रतिबन्धो द्वारा जन-सख्या की वृद्धि को रोका नही जाता है तो ये प्राकृतिक प्रतिबन्ध अवश्य लागू होगे। ब्रह्मचर्य, सयम, दूरदर्शिता, सन्तान निरोधक विधियाँ (Birth control devices), आदि निर्धारक प्रतिबन्ध (Preventive Checks) हैं। माल्थस के शब्दो मे, 'एक देश अथवा विभिन्न देशो मे जन-सख्या पर जो प्रतिबन्ध लागू होते हुए देखे गये है, उन्हे सयम (Moral Restraint), पाप (Vice) और कष्ट (Miseries) मे विभाजित किया जा सकता है और यदि हमे इन्ही मे से किसी एक को चुनना है, तो शायद हमे यह निश्चय करने मे देर नही लगेगी कि हमारे लिए इनमे से कौन सबसे अच्छा है।" माल्थस ने इस बात पर बल दिया है कि मानव समाज के कष्टो को दूर करने के लिए जन-सख्या की वृद्धि पर निवारक प्रतिबन्ध लगाये जायें।[1]

---

[1] "As from the laws of nature it appeared that some check to population must exist, it was better that this check should arise from a foresight of the difficulties attending a family and the fear of dependent poverty, than from actual presence of want and sickness."—**Malthus :** *Essay on the Principle of Population*, 2nd edition.

माल्थस का विश्वास है कि किसी देश में नैसर्गिक प्रतिबन्धों की कार्यशीलता इस बात का प्रमाण होती है कि वहाँ जन-संख्या आवश्यकता से अधिक (Over Population) है। ऐसी दशा में निष्कर्ष यही है कि प्राकृतिक शक्तियाँ जन-संख्या को तेजी के साथ बढ़ने से रोक रही हैं।

माल्थस के सिद्धान्त की आलोचना—

माल्थस के जन-संख्या के सिद्धान्त की बहुत कड़ी आलोचनायें हुई हैं, यद्यपि माल्थस के समर्थकों का भी प्रभाव कम नहीं है। कुछ लेखकों ने तो यहाँ तक कहा है कि माल्थस ने मानव-जीवन की सभी अच्छाइयों का सत्यानाश करके हमें पशुओं के स्तर पर ले जाने का प्रयत्न किया है। माल्थस के विचार प्रचलित धार्मिक और सामाजिक विचारों के पूर्णतया विरोधी थे—"जिस प्रकार डारविन (Darwin) ने प्राचीन धार्मिक विचारों को तोड़ डाला था, ठीक, इसी प्रकार माल्थस ने मानव-जाति के भावी स्वरूप का अनुमान पूर्णतया बदल दिया।"[1] वास्तविकता यह है कि माल्थस न तो कोई राक्षस था और न मानव-जाति का शत्रु। जाइड और रिस्ट (Gide and Rist) का विचार है कि माल्थस ने ठीक इसी प्रकार की सलाह दी है, जैसी कि एक हितैषी परन्तु स्पष्टभाषी चाचा अपने भतीजों और भतीजियों को देता है। उन्होंने केवल कामवासना को सीमित रखने की सिफारिश की है। माल्थस के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) माल्थस के सिद्धान्त की दोनों मान्यतायें गलत हैं। यह समझना भूल होगी कि मनुष्य में काम-वासना स्थिर है। जीव-विज्ञान (Biology) के विद्वानों का विचार है कि जैसे जैसे जीवन का विकास होता जाता है, पुनरुत्पादन की क्रिया अधिक घुमावदार होती चली जाती है और सन्तानोत्पादन शक्ति घटती जाती है। अनुभव भी यही बतलाता है कि अधिक सभ्य जातियों में जन्म-दर नीची होती है और परिवार का आकार छोटा होता है। जहाँ तक जन्म-दर और आर्थिक सम्पन्नता के सम्बन्ध का प्रश्न है, हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि आर्थिक सम्पन्नता की वृद्धि के साथ-साथ जन्म-दर घटती है, बढ़ती नहीं है। वास्तव में माल्थस यह भूल गये कि काम-वासना और सन्तान-उत्पादन दोनों एक नहीं हैं। काम वासना एक अन्तः प्रेरणा है परन्तु सन्तान-उत्पादन का आधार सामाजिक है।

(२) माल्थस ने जन-संख्या के सिद्धान्त के निर्माण में व्याप्तिमूलक प्रणाली (Inductive Method) का उपयोग किया है। उन्होंने विभिन्न देशों के निरीक्षण के आधार पर ही जन-संख्या का सामान्य सिद्धान्त बनाया था। इस सम्बन्ध में कठिनाई यह है कि माल्थस का अध्ययन यूरोप के कुछ थोड़े से देशों और एक निश्चित काल तक ही सीमित था। जो बात कुछ देशों के विषय में सत्य हो सकती है, उसका सभी देशों के विषय में सत्य होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार, जो बात एक काल में सही हो उसका सभी कालों में सही होना आवश्यक नहीं है। शायद यही कारण है कि अनुभव ने माल्थस के सिद्धान्त की पुष्टि नहीं की है।

(३) माल्थस ने केवल जन-संख्या और खाद्य-उत्पादन के बीच सम्बन्ध स्थापित किया, जब कि जन संख्या और देश के सभी प्रकार के कुल उत्पादन के बीच सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए था। यदि कोई देश (जैसे—इङ्गलैंड) खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं का अधिक मात्रा में उत्पादन करता है, तो वह खाद्य पदार्थ तो विदेशों से भी मँगा सकता है। खाद्य-उत्पादन के सम्बन्ध में भी माल्थस ने क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के समझने में भूल की है। उन्होंने

---

[1] "Just as Darwin shocked traditional theology regarding the origin, so Malthus offenden it in respect of the continuance of human species"

—Nicholson : *Principles of Economics*, Vol. I.

यह नही समझा था कि इस नियम की कार्यशीलता को कृषि की कला में सुधार करके, निर्माण उद्योगो का विस्तार करके तथा विदेशो से खाद्य पदार्थों को मँगा कर पर्याप्त समय तक रोका जा सकता है।

(४) **माल्थस की भविष्यवाणियाँ गलत रही हैं।** जाइड एव रिस्ट के अनुसार, "इतिहास ने उनके भय की निश्चय ही पुष्टि नही की है। किसी भी देश मे अति जन-संख्या के लक्षण दिखाई नही पडे हैं। कुछ देशो मे विशेषतया फ्रास मे जन-सख्या धीरे-धीरे ही बढ़ी है। अन्य देशों मे जन-सख्या की वृद्धि पर्याप्त तेजी के साथ हुई है, परन्तु किसी भी देश में ऐसा नही हुआ है कि जन-संख्या धन-उत्पादन की वृद्धि को पार कर गई हो।"

(५) **माल्थस ने जीव-विज्ञान को गलत समझा था।** जिस कारण वे जन-सख्या की वृद्धि से इतने भयभीत थे। यह समझ लेना भूल थी कि काम-वासना और सन्तान-उत्पादन की इच्छा दोनो एक ही हैं। काम-वासना एक पशु प्रकृति है, जबकि सन्तानोत्पादन की प्रकृति का आरम्भ सामाजिक। सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के परिवर्तनो के कारण उसमे कमी आती रहती है। काम-वासना की प्रकृति स्थिर रहने का यह अर्थ नही होता कि सन्तानोत्पादन की प्रकृति भी यथास्थिर होगी।

(६) **कैनन** का विचार है कि **माल्थस ने यह समझने में भूल की है कि जो भी बच्चा इस ससार में पैदा होता है, वह केवल खाने के लिए मुँह लेकर ही आता है।** वास्तविकता यह है कि वह काम करने के लिए दो हाथ भी साथ लाता है। जन-सख्या की वृद्धि का केवल यही अर्थ नही है कि खाने वालो की सख्या बढ गई है, बल्कि यह भी अर्थ है कि काम करने वालो की सख्या बढी है। जन-सख्या की वृद्धि के साथ-साथ उत्पत्ति के अन्य साधनों का विदोहन और भी भली प्रकार हो सकता है, इसलिए उत्पत्ति को बढाने की सम्भावना अधिक बढ जाती है। इस सम्बन्ध मे कैनन का विचार है कि माल्थस ने ज्योमेतिक श्रेढी और गणित श्रेढी की जो बात कही है, वह उदाहरणार्थ नही है, बल्कि माल्थस उन्हें वास्तविकता समझते थे।[1]

(७) **माल्थस का यह विचार भी गलत है कि किसी देश में नैसर्गिक प्रतिबन्धों की कार्यशीलता अति जन-संख्या (Over-Population) का सूचक होती है।** नैसर्गिक प्रतिबन्ध उत्पादन की अकुशलता, उत्पादित धन के असमान वितरण और जन-सख्या की आलस्यमय प्रवृत्ति के कारण भी लागू हो सकते हैं। भारत मे प्रचुरता के बीच इसी कारण दरिद्रता है। सैलिगमैन ने ठीक ही कहा है, "अनुकूल परिस्थितियो मे खाद्य-उत्पादन अधिक तेजी के साथ बढ सकता है और जन-सख्या धीरे-धीरे। सभी बातो को ध्यान मे रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि जन-संख्या की समस्या केवल आकार (Size) की समस्या नही है, बल्कि कुशल उत्पादन और न्यायशील वितरण की भी समस्या है। दूसरे शब्दो मे, यह केवल, सख्या की समस्या नही है, बल्कि धन की भी समस्या है।"[2]

---

[1] "Malthus was a Cambridge Wrangler. This explains his fondness for mathematical formulas. He attached great importance to his geometrical and arithmetical ratios, though some of his apologists have maintained the contrary."—**Cannan** : *Production and Distribution*, Chap. V.

[2] "Under favourable conditions population may increase gradually and wealth rapidly. The problem of population as a whole is, not mere size, but of efficient production and equitable distribution. That is, it is a problem not of numbers alone but of wealth."—**Seligman.**

(८) माल्थस का सिद्धान्त एक दीर्घकालीन सिद्धान्त ही है और उन्होंने संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अपनाया है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से जन-संख्या अन्तिम अवस्था में भोजन के उत्पादन पर ही निर्भर होती है। अल्पकाल में भी जन-संख्या की समस्या गम्भीर हो सकती है। इसके अतिरिक्त माल्थस ने स्थैतिक (Static) अवस्था का अध्ययन किया है, जबकि यह संसार प्रत्येक दृष्टि से प्रवैगिक (Dynamic) है। शायद यही कारण है कि वास्तविक जीवन में माल्थस का सिद्धान्त ठीक नहीं रहा है।

(९) माल्थस ने संयम के लिए जो सिफारिश की है वह भी सन्तोषजनक नहीं है। केवल समझाने अथवा चेतावनी देने से लोग सन्तानोत्पादन कम नहीं कर देंगे। जन-संख्या की समस्या इससे बहुत गम्भीर समस्या है और उसके नियन्त्रण के लिए अधिक कठोर व्यावहारिक उपायों की आवश्यकता पड़ती है।

माल्थस के सिद्धान्त में सत्यता का अंश—

(१) माल्थस के सिद्धान्त का आधार यह है कि जन-संख्या खाद्य-उत्पादन की तुलना में अधिक तेजी के साथ बढ़ती है और जन-संख्या का आधार देश का खाद्य-उत्पादन ही है, न कि उत्पादन। किसी देश विशेष के सम्बन्ध में तो यह कथन गलत हो सकता है, परन्तु सारे संसार के सम्बन्ध में यह बिल्कुल ठीक ही है। पिछले २०० वर्ष का इतिहास यही बताता है कि संसार में जन-संख्या खाद्य-उत्पादन की तुलना में अधिक तेजी के साथ बढ़ी है और भावी प्रवृत्ति भी ऐसी ही है। सन् १७५० में सारे संसार की जन-संख्या का अनुमान ७३ करोड़ का लगाया था। सन् १९५० में यह बढ़कर २४० करोड़ हो गई थी। सन् २००० तक इसके ३२५ करोड़ हो जाने की आशा है और सन् २,१०० तक ४०० करोड़। किन्तु खाद्य-उत्पादन इतनी तेजी के साथ नहीं बढ़ पाया है। साथ ही, इसमें तो सन्देह नहीं है कि यूरोप के देशों में धन के उत्पादन की वृद्धि जन-संख्या की वृद्धि से अधिक रही है, परन्तु इसका मूल कारण इन देशों में निवारक प्रतिबन्धों द्वारा जन-संख्या की वृद्धि को रोकना ही रहा है। इसके लिए माल्थस के सिद्धान्त का महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता।

(२) कम उन्नत अथवा पिछड़े हुए देशों में तो माल्थस के सिद्धान्त की सत्यता और भी अधिक प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ती है। इन देशों में तो जन-संख्या की वृद्धि की तुलना में खाद्य-उत्पादन की वृद्धि कम हो रही है। यह भी देखने में आता है कि आर्थिक सम्पन्नता की प्रत्येक वृद्धि जन-संख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन देती रहती है।

वाकर का विचार है कि माल्थस का सिद्धान्त सभी जातियों और सभी देशों में सही सिद्ध हुआ है, "वाद-विवाद के बीच में भी माल्थस का सिद्धान्त सही और अविनाशी ही रहा है।"[1] मार्शल, टाउजिग (Taussig), ऐली (Ely), पैटन (Patten) और विक्सैल (Wicksell) ने भी माल्थस के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

नव माल्थसवाद—विगत वर्षों में एक नई विचारधारा उत्पन्न हुई है, जो अर्थशास्त्र में 'नव माल्थसवाद' (Neo-Malthusianism) के नाम से प्रसिद्ध हुई है। इस विचारधारा के अन्तर्गत सन्तान-निरोधक विधियों (Birth-control devices) का उपयोग बहुत बढ़ा है। इङ्गलैंड में मेरी स्टोपस् (Mrs. Mary Stopes) और संयुक्त राज्य अमेरिका में मारगेरट सैंगर (Mrs. Margaret Sanger) ने इस विचारधारा का बहुत प्रचार किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि संसार ने परोक्ष रूप में माल्थस के सिद्धान्त को ग्रहण कर लिया है।

---

1 "Malthusianism has stood unshattered and impregnable amidst all the controversy that has raged around it."—Walker

भारत और माल्थस का सिद्धान्त—

भारत मे ऐसे साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनके आधार पर यह कह सकते हैं कि यहां माल्थस का जन-संख्या सिद्धान्त क्रियाशील हो रहा है। प्रमुख साक्ष्य निम्न प्रकार हैं :—(अ) यहां जन-संख्या २·५% वार्षिक दर से बढ़ रही है किन्तु खाद्यान्नों की पूर्ति धीमी गति से बढ़ी है, जिसका यह स्वाभाविक परिणाम हुआ है कि हम अपनी उदर-पूर्ति के लिए विदेशी आयातों पर निर्भर हो गये हैं। (आ) यहां जन्म-दर ऊँची है और कुछ समय पहले तक मृत्यु-दर भी ऊँची थी। (इ) कृषि पुराने ढङ्ग से की जा रही है और इस पर उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील हो रहा है। (ई) यहां लगभग ३३% जनता ही साक्षर है। ३५ करोड़ व्यक्ति अभी भी निरक्षर हैं। अतः उन्हें कृत्रिम साधनों के प्रयोग की जानकारी नहीं है। (उ) देशवासियों का जीवन-स्तर नीचा है, उद्योग-धन्धे अभी भी कम विकसित हैं तथा बीमारियाँ, अकाल, बाढ जैसे प्राकृतिक प्रतिबन्ध क्रियाशील हैं।

इस सम्बन्ध में हमे निम्न दो बातो को ध्यान में रखना चाहिए—(i) खाद्य उत्पादन पर क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास-नियम उतनी कठोरता के साथ लागू नहीं होता है, जितना कि माल्थस ने समझा था और (ii) जन-संख्या का घटना सदा ही अच्छा नहीं होता। यूरोप के देशों में जन-संख्या की वृद्धि के रुक जाने का एक परिणाम यह हुआ कि सर्वोत्तम वर्गों में वृद्धि धीमी पड़ गई है।[1]

आदर्श, अनुकूलतम या सर्वोत्तम जन-संख्या का सिद्धान्त
(The Optimum Theory of Population)

माल्थस ने देश की जन-संख्या की तुलना वहां के खाद्यान्नों के उत्पादन से की और जन-संख्या की प्रत्येक वृद्धि को सामान्यत. हानिकारक बताया। इस प्रकार, उसने जन-संख्या की समस्या को केवल आकार (Size) की समस्या माना। किन्तु जन-संख्या की समस्या केवल आकार या संख्या की ही नहीं है वरन् वह कुशल उत्पादन एवं उचित वितरण की भी समस्या है। अर्थात्, जन-संख्या की वृद्धि अथवा कमी को (अर्थात् जन-संख्या के आकार को) देश के कुल उत्पादन और धन के उचित वितरण के संदर्भ में देखना चाहिए। कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसी दृष्टिकोण से जन-संख्या का एक नया सिद्धान्त बनाया है जिसे अनुकूलतम जन-संख्या सिद्धान्त कहते हैं। इसके प्रतिपादकों में केनन, कार-सौन्डर्स, डाल्टन, रोबिन्स आदि के नाम मुख्य हैं।

सिद्धान्त का उद्देश्य—

अनुकूलतम जन-संख्या सिद्धान्त का उद्देश्य यह बताना है कि एक देश विशेष के लिए जन-संख्या का कौनसा आकार आर्थिक दृष्टि से अनुकूलतम, आदर्श या सर्वोत्तम है। प्रत्येक देश की जन-संख्या में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। आदर्श जन-संख्या का सिद्धान्त इन परिवर्तनों को ध्यान में रखकर यह बताने का प्रयत्न करता है कि इनका क्या प्रभाव पड़ता है।

अनुकूलतम् के विचार का प्रयोग—

अनुकूलतम् जन-संख्या का सिद्धान्त यह नहीं बताता कि जन-संख्या में क्यों और किस प्रकार से वृद्धि होती है। अतः इसे एक 'सिद्धान्त' का विशेषण देना अनुपयुक्त है। यह तो जन-संख्या के क्षेत्र में 'अनुकूलतम् के विचार' का प्रयोग मात्र करता है। दूसरे शब्दों में, वह उत्पत्ति-साधनों के मिलाने के अनुकूलतम् अनुपात के विचार की सहायता लेता है। जिस प्रकार एक उत्पादक विभिन्न उत्पत्ति-साधनों को एक अनुकूलतम् अनुपात में मिलाता है जिससे कि अधिकतम् उत्पादन सम्भव हो सके, उसी प्रकार देश के अन्य उत्पत्ति-साधनों के साथ जन-संख्या (अर्थात्

---

1 "What is regrettable at present is not the decline of the birth-rate in itself, but the fact that the decline is the greatest in the best elements of the population……."—**Bertrand Russel**

श्रम-साधन) का एक ऐसा अनुकूलतम् सयोग होना चाहिए जिससे कि देश का उत्पादन और प्रति व्यक्ति आय अधिकतम् हो जाय। देश की जन-सख्या इस स्तर से न तो कम होनी चाहिए और न अधिक। हमारे लिए एक ऐसे बिन्दु का पता लगा लेना सम्भव होता है, जिस पर जन-सख्या के आ जाने से उत्पत्ति और उपभोग दोनों की दृष्टि से सर्वोत्तम फल प्राप्त होते है। देश के साधनो की निश्चित मात्रा को देखते हुए हम ऐसा कह सकते है कि ऐसी जन-सख्या होती है, जिस पर "वास्तविक प्रति व्यक्ति आय" (Real per capita Income) अधिकतम् होती है, यही "आदर्श जनसख्या" है। आदर्श जन-सख्या का सिद्धान्त उस बिन्दु का पता लगाने का प्रयत्न करता है, जिस पर प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अधिकतम् होती है।

सिद्धान्त की परिभाषा—

कार सॉडरस का विचार है कि—"आदर्श जन-सख्या वह जन-सख्या है, जो अधिकतम् आर्थिक कल्याण उत्पन्न करती है। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि अधिकतम् आर्थिक कल्याण और अधिकतम् प्रति व्यक्ति वास्तविक आय दोनों एक ही होते है, परन्तु व्यावहारिक जीवन मे दोनो को एक ही माना जा सकता है।"[1]

यही कारण है कि बहुधा जन-सख्या और वास्तविक प्रति व्यक्ति आय के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। यदि जन-सख्या की वृद्धि के फलस्वरूप प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़े, तो जन-सख्या की यह वृद्धि लाभदायक होगी। इसके विपरीत, जन-सख्या के बढने से यदि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय घटे, तो जन-सख्या की यह वृद्धि आर्थिक कल्याण की दृष्टि से अनुपयुक्त होगी। इसी प्रकार, यदि जन-सख्या के घटने से प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़े, तो अच्छा है, और, यदि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय घटे, तो जन-सख्या का घटना हितकारी न होगा। आदर्श जन-सख्या वह है, जिस पर किसी देश की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अधिकतम् होती है। इसी बिन्दु पर जन-सख्या को बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

आदर्श जन-संख्या निश्चित या स्थिर नहीं—

यह भी बताना यहाँ आवश्यक है कि आदर्श जन-सख्या कोई निश्चित अथवा स्थिर (Fixed) जन-सख्या नही है। किसी देश मे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय इस बात पर निर्भर होती है कि देश के उपलब्ध साधनों का किस अश तक उपयोग किया गया है। साधनों के उपयोग का अश बढ सकता है और इस परिवर्तन के साथ-साथ आदर्श जन-सख्या भी बदल जायगी। दूसरे शब्दों मे, शिल्प ज्ञान का प्रत्येक परिवर्तन, उत्पत्ति की रीतियो के परिवर्तन और सभी प्रकार के आविष्कार आदर्श जन-सख्या मे भी परिवर्तन कर देते है। ऐसी दशा मे, जबकि आर्थिक परिस्थितियो मे परिवर्तन होते रहते है, आदर्श जन-सख्या स्थिर नही रह सकती, वह भी परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ-साथ बदलती रहती है।

आदर्श जन-संख्या और क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम—

आदर्श जन-सख्या का सिद्धान्त क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम पर आधारित है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि किसी व्यक्तिगत उत्पादक के लिए सबसे लाभदायक उत्पादन तब होता है, जबकि उत्पत्ति के विभिन्न साधनो को एक निश्चित अनुपात मे, जिसे आदर्श अनुपात (Ideal Ratio) कहा जाता है, उपयोग किया जाय। जब तक यह आदर्श अनुपात स्थापित

---

[1] ".......the optimum population is that population which produces maximum economic welfare....Maximum economic welfare is not necessarily the same as maximum real income per head but for practical purposes they may be taken as equivalent."—Carr Saunders : *World Population*, p 330

नही होता, परन्तु इस अनुपात को स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है, तब तक क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है, अर्थात् सीमान्त उत्पादन-व्यय क्रमश: घटता जाता है। जब यह अनुपात स्थापित हो जाता है और इसे बनाये रखा जाता है, तो उत्पत्ति स्थिरता नियम लागू होता है, अर्थात् सीमान्त उत्पादन की कुशलता अधिकतम् होती है और उत्पादन-व्यय न्यूनतम होता है। यदि इस अनुपात को तोडा जाता है, तो ह्रास नियम लागू होने लगता है और सीमान्त उत्पादन-व्यय क्रमश: बढता जाता है।

किसी देश में भी उत्पत्ति के विभिन्न साधन प्राकृतिक साधनों, जन-सख्या, पूंजी के सचय तथा साहसियों के रूप मे हुआ करते हैं। समस्त देश के लिए कुशलतम् उत्पादन की स्थिति प्राप्त करने के लिए जन-सख्या इतनी होनी चाहिए कि उसका दूसरे साधनों के साथ सर्वोत्तम अथवा आदर्श अनुपात हो सके। केवल ऐसी ही दशा मे प्रति व्यक्ति उत्पादन (Per Capita Production) अथवा प्रति व्यक्ति वास्तविक आय (Per Capita Real Income) अधिकतम् होगी। इस प्रकार, यदि जन-सख्या की वृद्धि के फलस्वरूप प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढे, तो इसका अर्थ यह होगा कि देश मे उत्पत्ति के विभिन्न साधनों की तुलना मे जन सख्या कम है और उसके बढने से विभिन्न साधनो के बीच सर्वोत्तम अनुपात की सम्भावना बढ़ रही है। ऐसी दशा मे जन-सख्या का बढना लाभदायक होगा। इसके विपरीत, यदि जन-सख्या की वृद्धि के फलस्वरूप प्रति व्यक्ति वास्तविक आय घटे, तो इसका अर्थ यह होगा कि दूसरे साधनों की तुलना मे जन-सख्या अधिक है। ऐसी दशा मे जन-सख्या की वृद्धि हानिकारक होगी। आदर्श जन-सख्या वही है, जिस पर विभिन्न साधनो के बीच सर्वोत्तम अनुपात स्थापित होता है और प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अधिकतम होती है।

तालिका एव रेखा-चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

निम्न तालिका से स्थिति स्पष्ट हो जायगी :—

तालिका

कुल जन-सख्या (करोड में)	कुल वास्तविक आय (करोड इकाइयो मे)	औसत वास्तविक आय (करोड इकाइयाँ)	सीमान्त वास्तविक आय (करोड इकाइयाँ)
३०	१,५००	५०	....
३१	१,६७४	५४	१७४
३२	१,८२४	५७	१५०
३३	१,९७४	५९	१२३
३४	२,०७४	६१	१२७
३५	२,१७०	६२	९६
३६	२,१९७	६१	२७
३७	२,२२०	६०	२३
३८	२,२४२	५९	२२
३९	२,२६२	५८	२०
४०	२,२८०	५७	१८

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि जन-सख्या के बढ़ने के साथ-साथ कुल वास्तविक आय भी बराबर बढती जाती है। यहाँ तक कि जब जन-सख्या बढते-बढ़ते ३० करोड से ४० करोड हो जाती है, तो कुल वास्तविक आय २,२८० करोड़ इकाई तक पहुँच जाती है।

परन्तु प्रारम्भ में औसत प्राय भी कुल प्राय के साथ-साथ बढ़ती जाती है और ३५ करोड़ जन-संख्या पर यह बढ़कर ६२ करोड़ इकाई तक पहुँच जाती है। इसके पश्चात् जन-संख्या की वृद्धि के साथ-साथ कुल प्राय तो बढ़ती है, परन्तु औसत प्राय घटने लगती है। इस प्रकार, ३५ करोड़ जन-संख्या ही ऐसी जन-संख्या है, जिस पर प्रति व्यक्ति वास्तविक प्राय अधिकतम् है। यही सर्वोत्तम जन-संख्या है। इसी को हम निम्नांकित रेखा-चित्र द्वारा भी दिखा सकते हैं :—
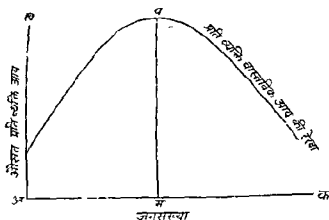
इस चित्र में अ म आदर्श अथवा सर्वोत्तम जनसंख्या है। इस जनसंख्या पर प्रति व्यक्ति वास्तविक प्राय प म के बराबर होती है, जो अधिकतम् है। यह निश्चय है कि अ म से कम या अधिक जन-संख्या पर प्रति व्यक्ति प्राय प म से कम रहती है।

अति जन-संख्या और न्यून जन-संख्या—

सर्वोत्तम जन-संख्या के सिद्धान्त के आधार पर अति जन-संख्या और न्यून जन-संख्या का सरलता के साथ पता लगाया जा सकता है। यदि किसी देश की जन-संख्या आदर्श जन-संख्या से कम है, तो वहाँ की समस्या न्यून-जन-संख्या (Under-Population) की समस्या है, और, यदि वास्तविक जन-संख्या आदर्श से अधिक है तो वहाँ अति-जन-संख्या (Over-Population) की समस्या होगी।

पहली दशा में यह सिद्ध होता है कि जन-संख्या की तुलना में देश के साधन अधिक विशाल है, जबकि दूसरी दशा में यह पता चलता है कि साधनों की तुलना में जन-संख्या अधिक है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि यदि जन-संख्या के बढ़ने के साथ-साथ प्रति व्यक्ति वास्तविक प्राय बढ़े, तो देश में न्यून-जन-संख्या है और, यदि जन-संख्या के बढ़ने से प्रति व्यक्ति वास्तविक प्राय घटे, तो अति-जन-संख्या का आभास होता है। इसके विपरीत, यदि जन-संख्या के घटने से प्रति व्यक्ति वास्तविक प्राय बढ़े, तो अति-जन संख्या है, और, यदि औसत वास्तविक प्राय घटे, तो न्यून-जन-संख्या की समस्या है। अति-जन-संख्या की दशा में जन-संख्या का घटना लाभ-दायक होगा और न्यून-जन-संख्या की दशा में उसका बढ़ना उपयुक्त होगा। दोनों ही दशाओं में जन-संख्या के ये परिवर्तन प्रति व्यक्ति वास्तविक प्राय को अधिकतम् करने की प्रवृत्ति रखते हैं। स्मरण रहे कि माल्थस ने प्राकृतिक प्रतिबन्धों की कार्यशीलता को ही अति-जन-संख्या का लक्षण माना था।

अति जन-संख्या तथा न्यून जन-संख्या को नापने की विधि—

आदर्श जन-संख्या सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी देश की जन-संख्या आदर्श जन-

सख्या से कम है तो वहाँ न्यून-जन-सख्या की समस्या होगी, और, यदि वास्तविक जन-संख्या आदर्श जन-सख्या से अधिक है, तो अति-जन-संख्या की समस्या है। इस सम्बन्ध मे अति और न्यून-जन-सख्या को नापने के लिए डाल्टन (Dalton) ने एक सूत्र (Formula) का निर्माण किया किया है। उनके अनुसार अति अथवा न्यून जन-सख्या का अश (Degree) इस प्रकार जाना जाता है :—

$$म = \frac{व - अ}{अ} \text{ अथवा } M = \frac{A - O}{O}$$

इस सूत्र मे म (M) समायोजन के अभाव (Mal-adjustment) के अश को दिखाता है, व (A) वास्तविक जन-सख्या और अ (O) आदर्श जन-सख्या है। यदि म धनात्मक है, तो देश मे अति-जन-सख्या है, और, यदि म ऋणात्मक है, तो न्यून-जन-सख्या। यदि वास्तविक जन-सख्या आदर्श जन-सख्या के बराबर है, तो म शून्य (Zero) के बराबर होगा। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी देश की वास्तविक जन-सख्या ३० करोड है और आदर्श जन सख्या २७ करोड होती है, तो

$म = \frac{३० - २७}{२७} = \frac{१}{९} = ११$ होगा। इसका अर्थ यह कि देश मे थोड़ी-सी अति जन सख्या है किन्तु

व्यावहारिक जीवन मे इस सूत्र का कोई विशेष लाभ नही, क्योकि अ का अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन कार्य है। यह स्थैतिक (Static) नही, वरन् प्रवैगिक (Dynamic) है और बहुधा बदलता रहता है।

कार सॉडरस के अनुसार, "यदि वास्तविक जन-सख्या आदर्श जन-सख्या से अधिक है तो अति जन-सख्या है और कम है तो न्यून-जन-सख्या है। दोनों ही दशाओ मे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय उससे कम होगी, जितनी कि आदर्श जन-सख्या होने की दशा मे होगी। दूसरे, किसी देश मे आदर्श जन-सख्या कई बातो पर निर्भर होती है :—(i) क्षेत्र के प्राकृतिक साधन, (ii) लोगो की प्राकृतिक अथवा प्राप्त आदतें, ज्ञान और निपुणता तथा (iii) आर्थिक क्रियाओ के लिए देश के भीतर और बाहर अवसर।"[1]

आदर्श जन-संख्या सिद्धान्त की मान्यतायें—

जन-सख्या का यह सिद्धान्त दो मान्यताओं पर आधारित है :—(i) इस सिद्धान्त मे यह मान लिया गया है कि कार्यवाहक जन-सख्या (Working Population) के प्रत्येक सदस्य द्वारा किया जाने वाला प्रति घण्टा काम तथा उसके काम करने के घण्टे यथास्थिर रहते हैं। यदि इन दोनो मे परिवर्तन होता है, तो उसका वही परिणाम होगा जो जन-सख्या के परिवर्तनों का होता है। (ii) कुल जन-सख्या मे कार्यवाहक जन-सख्या का अनुपात यथास्थिर रहना चाहिए। इसमे परिवर्तन होने का भी बिल्कुल वही परिणाम होता है, जो जन-सख्या के परिवर्तन का होता है।

आदर्श-जन-संख्या सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त पर एक सुधार—

इन दोनो मान्यताओ को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इनके कारण इस सिद्धान्त को वास्तविक जीवन मे लागू करना कठिन हो जाता है। किन्तु इससे इस सिद्धान्त का आधार गलत सिद्ध नही होता। **यह सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त पर महत्त्वपूर्ण सुधार है** : क्योकि (i) वह हमे बताता है कि जन-सख्या की प्रत्येक वृद्धि बुरी नही होती। (ii) जन-सख्या के आधार का सम्बन्ध देश के सभी प्रकार के कुल उत्पादन से होना चाहिए, न कि केवल खाद्य उत्पादन

[1] **Carr-Saunders** : *World Population*, pp. 330-31.

से। (iii) वह हमारे लिए ऐसी व्यावहारिक रीति उपलब्ध करने का प्रयत्न करता है, जिसके आधार पर हम जन-संख्या के परिवर्तनों पर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं। (iv) वह हमारा ध्यान इस सत्य की ओर भी आकर्षित करता है कि साधनों, उनके उपयोग के ढंग, आविष्कारों और शिल्प ज्ञान की वृद्धि द्वारा देश से सम्बन्धित आदर्श जन-संख्या में वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार, अति और न्यून जन-संख्या के विचार केवल तुलनात्मक हैं, जिनका सम्बन्ध कुछ विशेष परिस्थितियों से होता है। इन परिस्थितियों के परिवर्तन से ये स्थितियाँ बदली जा सकती हैं।

आदर्श जन-संख्या सिद्धान्त के दोष—

इस सिद्धान्त के कुछ दोष भी हैं। सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) राष्ट्रीय वास्तविक आय के वितरण पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया है :— यदि औसत वास्तविक आय बढ़ती है, तो जन-संख्या की वृद्धि उपयुक्त होगी, परन्तु इस बात की क्या गारण्टी है कि यह बढ़ी हुई वास्तविक आय समाज के कुछ थोड़े से ही व्यक्तियों के पास न रह कर निर्धन व्यक्तियों को पहुँचेगी ? यदि उत्पादित धन का न्यायपूर्ण वितरण नहीं होता है, तो जन-संख्या और वास्तविक आय की वृद्धि सामाजिक कल्याण को नहीं बढ़ायेगी और माल्थस के नैसर्गिक प्रतिबन्ध कार्यशील होने लगेंगे। यह सन्देहपूर्ण है कि ऐसी दशा में जन-संख्या की वृद्धि को कहाँ तक उचित कहा जा सकेगा।

(२) देश की सामाजिक नीति का बहुत ही संकुचित उद्देश्य बनाया गया है—केवल प्रति व्यक्ति वास्तविक आय को ही अधिकतम् कर देने से कोई देश उन्नति नहीं करेगा। देश में स्वस्थ, बुद्धिमान, शिक्षित और चरित्रवान् जनसंख्या के होने का भी बहुत महत्व है। यदि कोई जनसंख्या सम्बन्धी नीति इस उद्देश्य पर ध्यान नहीं देती है तो वह सफल और उचित नहीं हो सकती है।

(३) इसका व्यावहारिक महत्त्व भी सन्देहपूर्ण है।

जन-संख्या का जैवकीय सिद्धान्त
(The Biological Theory of Population)

इस सिद्धान्त का निर्माण अमेरिका के जीव-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० रेमण्ड पर्ल (Raymond Pearl) ने किया था और यह सर्वप्रथम उनकी पुस्तक Biology of Population Growth (1925) में प्रस्तुत किया गया था। इस सिद्धान्त को कभी-कभी लॉजिस्टिक वक्र सिद्धान्त (Logistic Curve Theory) भी कहा जाता है, क्योंकि इसका चित्र एक ऐसे वक्र द्वारा प्रदर्शित होता है जो अंग्रेजी के S अक्षर से मिलता-जुलता है।

सिद्धान्त का कथन—

यह सिद्धान्त बताता है कि जनसंख्या के तेजी और धीरे-धीरे बढ़ने के काल होते हैं जो लगभग एक क्रम में घटित होते हैं। कोई-कोई काल ऐसा भी हो सकता है जिसमें जन-संख्या वास्तव में घटने लगे, परन्तु कुल मिलाकर जन-संख्या की सामान्य प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ते रहने की ही होती है। घटने के पश्चात् भी जन संख्या इतनी नीचे नहीं होती है कि उस स्तर पर पहुँच जाये जिससे उसने बढ़ना प्रारम्भ किया था। वह अब भी उससे ऊँची रहती है।

चित्र—जन-संख्या का घटना-बढ़ना

एक प्रकार यह सिद्धान्त भी एक दूसरी रीति से माल्थस के निष्कर्षों की ही पुष्टि करता है।
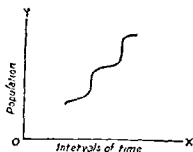
यह सिद्धान्त उन प्रयोगों के आधार पर बनाया गया है जो पर्ल ने फल की मक्खियों (Fruit Fly) पर किये थे। पर्ल के प्रयोगों ने बताया था कि इन मक्खियों की संख्या पहले बहुत तेजी के साथ बढ़ती है परन्तु कुछ समय पश्चात् वृद्धि की दर घटती जाती है। यह भी सम्भव है कि कुछ समय पश्चात् जन-संख्या उल्टी घटने लगे क्योंकि कुछ प्रकार के प्रतिबन्ध कार्यशील होने लगते हैं। घटने के कारण संख्या कुछ कम अवश्य हो जाती है, परन्तु घटने के पश्चात् भी वह उस बिन्दु से ऊँची ही रहती है जिससे इसने आरम्भ में बढ़ना शुरू किया था। एक निम्नतम् बिन्दु पर पहुँचने के पश्चात् संख्या फिर बढ़ने लगती है—पहले तेजी के साथ, फिर धीरे धीरे और फिर घटने लगती है और यह क्रम बराबर चलता रहता है। इस प्रकार यदि जन-संख्या के इस व्यवहार का रेखा चित्र खींचा जाये तो वह अंग्रेजी के S अक्षर जैसा होगा जैसा कि उक्त चित्र में दिखाया गया है।

सिद्धान्त की व्याख्या—

पर्ल ने अपने अध्ययन का आरम्भ तो फल की मक्खियों से किया था, परन्तु बाद में उन्होंने पशु और वनस्पति का भी अध्ययन किया। पर्ल का विचार है कि मानव समाज भी इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाता है। पर्ल ने फ्रांस, जर्मनी तथा संयुक्त-राज्य-अमेरिका की जनसंख्याओं का भी अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी अध्ययन उनके सिद्धान्त की पुष्टि करते थे। पर्ल ने अपने निष्कर्षों को एक गणितीय सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया है जो लॉजिस्टिक वक्र पर आधारित है।

आर्थिक विवेचन की दृष्टि से शायद हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जन-संख्या वृद्धि वक्र का निचला भाग ज्योमेतिक प्रौढ़ी (Geometrical Progression) में जन-संख्या की वृद्धि को दिखाता है परन्तु वक्र का ऊपर का भाग यह दिखाता है कि जन-संख्या की वृद्धि की दर काफी घट गई है इसका एक मात्र यही कारण हो सकता है कि आरम्भ में जन-संख्या पर किसी प्रकार की रोक अथवा कोई प्रतिबन्ध (Check) नहीं होता परन्तु बाद में प्रतिबन्ध दृष्टिगोचर होने लगते हैं, जिस कारण जन-संख्या की वृद्धि दर घट जाती है। जैवकीय सिद्धान्त का प्रमुख निष्कर्ष हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—"जनसंख्या घटती-बढ़ती है, ऊपर नीचे जाती है, तेजी से बढ़ती है, धीरे-धीरे बढ़ती है अथवा नीचे गिरती है, परन्तु कुल मिला कर यह सदा बढ़ती ही रहती है।"

इस सिद्धान्त की आलोचना—

माल्थस के समर्थकों ने जैवकीय सिद्धान्त का उपयोग माल्थस के सिद्धान्त की पुष्टि करने के लिए किया है। कहा जाता है कि यह सिद्धान्त प्रयोगों तथा निरीक्षणों की सहायता से माल्थस के निष्कर्षों तक पहुँचने का प्रयत्न करता है और इसके निष्कर्ष माल्थस के निष्कर्षों से मिलते हैं। एक सच्चा वैज्ञानिक होने के कारण पर्ल ऐसी कोई बात नहीं कहते कि जन-संख्या की यह वृद्धि समाज के लिए अच्छी है या बुरी। अन्य व्यक्ति उनके द्वारा उपलब्ध सूचना का क्या उपयोग करते हैं इसका निर्णय वे दूसरों पर ही छोड़ देते हैं।

पर्ल का सिद्धान्त कहाँ तक सही है इस विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि इस सिद्धान्त की जाँच अर्थशास्त्र के क्षेत्र से बाहर पड़ती है। इस सम्बन्ध में एक सन्देह यह है कि नीची श्रेणी के पशुओं और पौधों पर किये गये प्रयोग भले ही पर्ल के कथन की पुष्टि करते हों परन्तु यह कहना कठिन है कि वह सिद्धान्त मनुष्य पर भी लागू होता है।

परन्तु पर्ल के सिद्धान्त के पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संसार में जन-संख्या की वृद्धि इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है। सन् १७५० से अब तक सारे संसार की जन-संख्या की वृद्धि का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि यद्यपि किसी काल में जनसंख्या अधिक

तेजी के साथ बढ़ी है और किसी काल में कम तेजी के साथ; परन्तु कुल मिलाकर संसार की जन-संख्या निरन्तर बढ़ती ही गई है। ऐसा कहा जाता है कि इस समय संसार उस अवस्था से गुजर रहा है जिसमें जनसंख्या अधिक तेजी के साथ बढ़ रही है, परन्तु यह अवस्था लगभग सन् २००० के आस-पास समाप्त हो जायेगी। इसके पश्चात् जन-संख्या की वृद्धि दर काफी घट जायेगी।

शुद्ध पुनरुत्पादन अर्घ का सिद्धान्त
(Theory of Net Reproduction Rate)

जन-संख्या की वृद्धि की दर का पता लगाने के लिए हम बहुधा किसी देश की जन्म और मृत्यु दरों के अन्तर का पता लगाते हैं। यदि १,००० व्यक्तियों के पीछे जन्म दर २५० है और मृत्यु दर २०० है, तो जन-संख्या की वृद्धि अर्घ ५० प्रति हजार होगी। इस प्रकार की दर वास्तविक वृद्धि को नहीं दिखाती है। इङ्गलैंड और फ्रांस में सन् १६४० में इस प्रकार की वृद्धि अर्घ क्रमशः ५ और २ प्रति हजार थी, जिससे ऐसा पता लगता था कि जन-संख्या बढ़ रही थी, जबकि वास्तव में दोनों देशों की जन-संख्या घट रही थी।

शुद्ध पुनरुत्पादन अर्घ के सिद्धान्त का कथन—

कुजन्स्की (Kuczynski) का विचार है किसी देश में जन-संख्या की वृद्धि वास्तव में स्त्री जनसंख्या की वृद्धि अर्घ पर निर्भर होती है, इसलिए जन-संख्या की वास्तविक वृद्धि का पता लगाने के लिए हमें स्त्री जन-संख्या की वृद्धि का अर्घ मालूम करना चाहिए। जिस दर पर स्त्री जन-संख्या का प्रतिस्थापन (Replacement) होता है उसे ही "शुद्ध पुनरुत्पादन अर्घ" कहते हैं।[1]

सिद्धान्त की व्याख्या (अर्घ निकालने की विधि)—

शुद्ध पुनरुत्पादन अर्घ को निकालने के लिये सबसे पहले तो हमें देश की मृत्यु अर्घ का पता लगाना होता है इसके पश्चात् हम यह पता लगाने का प्रयत्न करते हैं कि स्त्रियों के सन्तान-उत्पादन-काल (Reproductive Period) में प्रति वर्ष कितने बच्चे पैदा होते हैं। इस प्रकार के बच्चों में केवल लड़कियों की संख्या सम्मिलित की जाती है और लड़कों की संख्या निकाल दी जाती है। इसका कारण यह है कि केवल स्त्रियाँ ही सन्तानोत्पादन कर सकती हैं। दूसरे शब्दों में, हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि स्त्री जन-संख्या का अपना प्रतिस्थापन किस प्रकार करती है। निम्न तालिका में शुद्ध पुनरुत्पादन अर्घ निकालने की विधि दिखाई गई है :—

आयु वर्ग	प्रत्येक आयु-वर्ग में १,००० स्त्रियों के पैदा होने वाली लड़कियों की संख्या	पैदा होने वाली १,००० लड़कियों में से जीवित रहने वाली लड़कियों की संख्या	प्रत्येक आयु-वर्ग में जीवित रहने वाली लड़कियों का प्रतिशत	जीवित रहने वाली स्त्रियों की संख्या, जो कि स्त्री जन-संख्या का प्रतिस्थापन करती है
१५–२०	१००	६००	६०	६०
२०–२५	४००	८००	८०	३२०
२५–३०	२००	७००	७०	१४०
३०–३५	१५०	६००	६०	६०
३५–४०	१००	५००	५०	५०
४०–४५	५०	४००	४०	२०
	१,०००			७१०

इस तालिका में सन्तान उत्पादन की आयु १५ और ४५ वर्ष के बीच मानी गई है। यह निश्चय है कि यदि स्त्री जन-संख्या में मृत्यु नहीं होती है, तो १,००० स्त्रियाँ १,००० लड़कियाँ

[1] Kuczynski : *Balance of Births and Deaths*, p. 44.

उत्पन्न करके अपना प्रतिस्थापन कर लेंगी। परन्तु उपरोक्त तालिका मे १,००० स्त्रियो का प्रतिस्थापन केवल ७१० स्त्रियो द्वारा होता है। इस आधार पर शुद्ध पुनरुत्पादन अर्घ ७१०/१००० अथवा ·७१ होगी, जो जन-सख्या के घटने को सूचित करती है। यह अर्घ हमे यह दिखाती है कि स्त्री जन-सख्या कितनी तेजी के साथ सन्तान उत्पादक आयु-वर्ग की स्त्रियो का प्रतिस्थापन करती है। यदि शुद्ध पुनरुत्पादन अर्घ १ है, तो जन-सख्या स्थिर रहेगी, अर्थात्, वह न तो घटेगी और न बढ़ेगी। १ से अधिक दर जन-सख्या की वृद्धि को सूचित करती है और १ से कम अर्घ जन-सख्या के घटने को।

सिद्धान्त का मूल्याङ्कन—

(१) शुद्ध पुनरुत्पादन सिद्धान्त इस बात का ध्यान दिलाता है कि सन्तान-उत्पादन-शक्ति और प्रजनन-उर्वरता दोनो मे भेद है, क्योकि प्रकृति ने तो मनुष्य को सन्तान उत्पादन शक्ति बहुत प्रदान की है लेकिन लडकियो की मृत्यु, वैधव्य, कृत्रिम जन्म-निरोधक साधनो का प्रयोग इत्यादि के फलस्वरूप यह शक्ति व्यवहार मे बहुत कम हो जाती है। अन्य शब्दो मे, वास्तविक सन्तान-उत्पादन-शक्ति (या प्रजनन उर्वरता) प्रकृति-दत्त सन्तान शक्ति से कही कम होती है। माल्थस ने इस अन्तर की उपेक्षा कर दी थी।

(२) कुछ यूरोपीय देशो मे शुद्ध पुनरुत्पादन दर इकाई से कम है (जैसे कि इङ्गलैंड, फ्रान्स, जर्मनी), जो माल्थस के इस दावे को रद्द करती है कि जनसख्या सदैव बढती है।

(३) यह सिद्धान्त जन-सख्या के विकास को मापने के लिए एक विवेकशील आधार प्रदान करता है।

किन्तु, स्मरण रहे कि शुद्ध पुनरुत्पादन सिद्धान्त को भी जनसख्या का एक पूर्ण सिद्धान्त नही कहा जा सकता। कारण, यह जन-सख्या के विकास को मापने की रीति मात्र ही प्रस्तुत करता है और इसके अन्य पहलुओ के बारे मे शान्त है।

जन-सख्या और आर्थिक विकास

जनसख्या का विकास देश विशेष के आर्थिक विकास को कैसे प्रभावित करता है यह वर्तमान युग मे एक ज्वलन्त प्रश्न बना हुआ है, जिस पर हम दो शीर्षको के अन्तर्गत विचार करेंगे—न्यून जनसख्या और आर्थिक विकास एव अति जन-सख्या और आर्थिक विकास।

न्यून जन-संख्या और आर्थिक विकास—

प्रो० हिक्स के अनुसार, न्यून जन सख्या देश विशेष के आर्थिक विकास मे दो प्रकार से बाधायें डालती है —(अ) जन-सख्या (एव इसलिए श्रम) की कमी के कारण रेलो, पुलों, सडको इत्यादि के निर्माण कार्य, जिनमें प्राय: बहुत अधिक श्रम की आवश्यकता पडती है, या तो सम्भव नही होंगे अथवा धीमी गति से चलेंगे और इस प्रकार इन बुनियादी तत्वो के अभाव मे देश मे उत्पादन कम होगा और उसका आर्थिक विकास रुक जायेगा। (ब) जन-संख्या (और इसलिये श्रम) की कमी के कारण विशिष्टीकरण उचित सीमा तक नहीं किया जा सकेगा, बडे पैमाने के उद्योगो को स्थापना मे बाधा पडेगी, देश मे औद्योगिक वस्तुओ के लिए बाजार सकुचित रह जायेगा, औद्योगीकरण अप्रोत्साहित होगा एव कृषि भी पिछडी रह जायेगी, क्योकि इसके लिए, मशीनें, ट्रैक्टर, उर्वरक इत्यादि का अभाव रहेगा। सक्षेप मे, देश, बडे पैमाने की बचतो, से वचित रहेगा और उसके आर्थिक विकास मे बाधा पडेगी। नि सदेह, विदेशी व्यापार के द्वारा उपर्युक्त हानियो को कम किया जा सकता है किन्तु यह कमी एक सीमा तक सम्भव होगी। अन, निष्कर्ष के रूप मे यह कह सकते हैं कि यदि अपर्याप्त जन-सख्या वाले देश मे जन-सख्या की वृद्धि हो तो यह एक लाभदायक बात होगी, क्योकि ऐसी दशा मे प्राकृतिक साधनों का अधिक अच्छा शोषण किया जा सकेगा तथा देश की आर्थिक प्रगति होगी।

अति-जनसंख्या एवं आर्थिक विकास—

किन्तु अनुकूलतम बिन्दु पर पहुँचने के बाद जन-संख्या का बढ़ना रुक जाना ही अच्छा होगा। यदि इस बिन्दु के बाद भी जन-संख्या में वृद्धि जारी रहे, तो अति जन-संख्या हो जायेगी जो आर्थिक विकास में निम्न तीन तरह से बाधक होती है :—(अ) देश में श्रम उत्पत्ति के अन्य साधनों की अपेक्षा बहुत अधिक हो जाता है, जिस कारण उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है। (ब) आवश्यक वस्तुओं के लिये माँग में तेजी से वृद्धि होती है किन्तु वास्तविक उत्पादन उतनी तेजी से नहीं बढ़ता (क्योंकि उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील रहता है), जिससे जीवन-स्तर गिरने लगता है। (स) आर्थिक विकास के लिए अधिक विनियोग की और अधिक विनियोग के लिए अधिक बचत की आवश्यकता होती है, किन्तु अति जन-संख्या बचतों को कम करती है।

यह उल्लेखनीय है कि विकसित देशों की परिस्थितियाँ अविकसित देशों से भिन्न होती है। एक विकसित या धनवान देश में अपने ही साधनों से पूँजी तत्व को तेज गति से बढ़ा सकता है, जिस कारण वहाँ अति जन-संख्या का भय क्षीण हो जाता है। यदि वहाँ जनसंख्या बढ़े, तो बड़े पैमाने की बचतें प्राप्त होंगी, विनियोग बढ़ेगा, बेकारी घटेगी और रोजगार स्तर को ऊँचा रखना सुगम हो जायेगा।

अति जन-संख्या को रोकने के उपाय

अति जन-संख्या के दुष्परिणाम बहुत ही गम्भीर हैं, क्योंकि यह आर्थिक विकास की गति को कुप्रभावित करते हैं। अतः यह परमावश्यक है कि अति जनसंख्या को रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाये जाये, जोकि संक्षेप में निम्न प्रकार है :—(१) कृषि उत्पादन की आधुनिक विधियों (फसलों का वैज्ञानिक हेर-फेर, भूमि पुनरुद्धार, भूमि कटाव से रक्षा, गहन कृषि) के प्रयोग द्वारा कृषि उपज को बहुत बढ़ाया जाय। (२) तीव्र गति से औद्योगीकरण किया जाय, जिससे भूमि पर भार हल्का हो, बेरोजगारी का निवारण हो और जीवन-स्तर ऊँचा उठे। (३) परिवार नियोजन पर ध्यान दिया जाय और इसके साधनों का व्यापक प्रचार किया जाय। (४) जन-संख्या से सम्बन्धित पर्याप्त एवं विश्वसनीय आँकड़े एकत्र किये जायें। इस हेतु एक कुशल और दक्ष जनगणना विभाग होना अति आवश्यक है। (५) चहुँमुखी आर्थिक विकास के लिए योजनाबद्ध प्रयास किये जायें। (६) शिक्षा विस्तार किया जाय और सामाजिक कुरीतियों (बहु विवाह, अल्प आयु विवाह) को समाप्त किया जाय। (७) निरन्तर बीमार रहने वाले और दिमागी खराबी वाले लोगों को विवाह करने से रोका जाय।

परीक्षा प्रश्न :

१. आधुनिक दशाओं की पृष्ठभूमि में माल्थस के जन-संख्या सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

अथवा

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त को समझाइये। आप उसके विचारों से कहाँ तक सहमत हैं ? [सहायक संकेत :—सर्वप्रथम माल्थस के जन-संख्या सिद्धान्त का कथन दीजिये और इसकी व्याख्या कीजिये। तत्पश्चात् इसकी आलोचना और अन्त में इसकी सत्यता पर प्रकाश डालते हुये निष्कर्ष दीजिये।]

२. इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये कि जनसंख्या में जीवन निर्वाह के साधनों की अपेक्षा तीव्र गति से बढ़ने की प्रवृत्ति पाई जाती है।
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम माल्थस के जनसंख्या नियम का कथन दीजिये और इसकी व्याख्या कीजिये। तत्पश्चात् इसकी आलोचना दीजिये और सिद्धान्त की सत्यता को दर्शाने वाले दो तीन उदाहरण दीजिये। अन्त में निष्कर्ष निकालिये।]

३. "वर्तमान समाज के लिये माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का डर समाप्त हो गया है।" क्या आप इस दृष्टिकोण से सहमत हैं ? उत्तर दीजिये।
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम माल्थस के जनसंख्या-नियम का कथन और इसकी व्याख्या दीजिये। तत्पश्चात् इसकी आलोचना दीजिये और यह बताइये कि इन आलोचनाओं के सन्दर्भ में कुछ लोगों का यह मत है कि आधुनिक समाज के लिए माल्थस के सिद्धान्त का भय नहीं रहा गया है। किन्तु इसकी सत्यता के दो चार उदाहरण देने के बाद यह निष्कर्ष निकालिये कि कथन पूर्णतया सही नहीं है।]

४. 'अनुकूलतम के विचार' को समझाइये। अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त का विवेचन कीजिये।
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम 'अनुकूलतम का विचार' क्या है इसे समझाइये और यह बताइये कि अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त इस प्रसिद्ध आर्थिक विचार का ही प्रयोग है। तत्पश्चात् अनुकूलतम जनसंख्या की परिभाषा दीजिए, रेखाचित्र देकर इसकी व्याख्या कीजिये एवं डाल्टन का सूत्र दीजिये। अन्त में इस विचार की आलोचना दीजिये और यह निष्कर्ष निकालिये कि माल्थस के सिद्धान्त की भाँति अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त भी अपूर्ण है।]

५. 'अति जनसंख्या' से आप क्या समझते हैं ? अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या दीजिये।
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम अति जनसंख्या को समझाइये। तत्पश्चात् अनुकूलतम जनसंख्या की परिभाषा, रेखाचित्र द्वारा इसकी व्याख्या और डाल्टन का सूत्र दीजिये। अन्त में आलोचना संक्षेप में दीजिये और निष्कर्ष निकालिये।]

६. "जनसंख्या की समस्या केवल आकार की समस्या नहीं है वरन् यह तो कुशल उत्पादक और न्यायपूर्ण वितरण की समस्या है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।
[सहायक संकेत :—माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार, जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि हानिकारक है क्योंकि यह सदैव खाद्यान्नों की वृद्धि से आगे निकल जाती है, इस प्रकार, यह सिद्धान्त जनसंख्या की समस्या को केवल आकार की संख्या की समस्या को केवल आकार या संख्या की समस्या मानता है। किन्तु अनुकूलतम सिद्धान्त के अनुसार जनसंख्या की वृद्धि के साथ यदि प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ती है तो वह लाभदायक होगी। जनसंख्या की वृद्धि हानिकारक तब ही होती है जबकि वह अनुकूलतम बिन्दु को पार कर जाय अर्थात् जबकि प्रति व्यक्ति आय घटने लगे। इस प्रकार, इस सिद्धान्त के अनुसार जनसंख्या की समस्या केवल आकार की समस्या नहीं है वरन् कुशल उत्पादन और और न्यायपूर्ण वितरण की भी है। इस प्रारम्भिक स्पष्टीकरण के बाद अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की चित्र द्वारा व्याख्या, डाल्टन का सूत्र और संक्षेप में आलोचना भी दीजिये तथा अन्त में निष्कर्ष निकालिये।]

७. "माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त निराशावादी है और अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त आशावादी है किन्तु इनमें से कोई भी एक पूर्ण जन-संख्या सिद्धान्त नहीं है।" विवेचन कीजिये।

अथवा

माल्थस के जन-संख्या के सिद्धान्त को समझाइये। अनुकूलतम सिद्धान्त किस सीमा तक माल्थस के सिद्धान्त पर सुधार है ?

[सहायक संकेत:—सर्वप्रथम माल्थस के जन-संख्या के नियम का कथन दीजिये एवं उसकी व्याख्या कीजिए। तत्पश्चात् अनुकूलतम जन-संख्या की परिभाषा और चित्र व सूत्र की सहायता से संक्षेप में उसकी व्याख्या कीजिए। अन्त में दोनों सिद्धान्तों की तुलना करते हुए यह निष्कर्ष निकालिये कि माल्थस का सिद्धान्त निराशावादी है किन्तु अनुकूलतम सिद्धान्त आशावादी परन्तु दोनों ही अपूर्ण हैं।]

८ अनुकूलतम और माल्थस के जन-संख्या सिद्धान्तों का विवेचन करिये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम माल्थस के जन-संख्या के नियम का कथन दीजिए और संक्षेप में इसकी व्याख्या कीजिये व आलोचना लिखिये। तत्पश्चात् अनुकूलतम जन-संख्या के सिद्धान्त का उद्देश्य, उसकी परिभाषा, चित्र सहित व्याख्या कीजिए एवं संक्षेप में आलोचना दीजिए। अन्त में यह निष्कर्ष निकालिये कि इनमें से एक सिद्धान्त यदि निराशावादी है तो दूसरा आशावादी परन्तु कोई भी पूर्ण सिद्धान्त नहीं है।]

६

पूँजी
(Capital)

प्रारम्भिक—

पूँजी का अर्थ एक पिछले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है। अर्थशास्त्र में पूँजी का अर्थ बोलचाल के अर्थ से भिन्न होता है। आर्थिक अर्थ में पूँजी मनुष्य की पहली कमाई का वह भाग होती है जो और आगे उत्पत्ति करने के काम में लाई जाती है।

पूँजी की परिभाषा

पूँजी के अर्थ को भली-भाँति समझने हेतु निम्न परिभाषाओं का अध्ययन करना चाहिए :—

(१) **चैपमैन** के शब्दों में, "पूँजी वह धन है, जो आय प्रदान करता है, अथवा आय के उत्पादन में सहायक होता है, अथवा जिसके इस प्रकार उपयोग करने की इच्छा होती है।"[1] इस प्रकार, पूँजी में रेल, जहाज, नहर, कारखाने, सभी प्रकार की मशीनें, औजार इत्यादि सम्मिलित होते हैं।

(२) पीगू ने पूँजी की तुलना एक ऐसी झील या जलयान से की है, जिसमें बहुत सी वस्तुएँ, जो बचत का फल हैं, निरन्तर डाली जाती हैं। सभी वस्तुयें, जो इस झील में डाली जाती हैं, अन्त में फिर इससे बाहर निकलती रहती हैं।[2]

(३) **बोम बेवर्क** के अनुसार, पूँजी का आशय उत्पादित उत्पत्ति-साधनों से है, अर्थात् पूँजी में औजार, मशीन, भवन इत्यादि सम्मिलित हैं, क्योंकि वे श्रम द्वारा उत्पन्न किये गये है। किन्तु भूमि और प्राकृतिक व्यवहार पूँजी में नहीं गिने जायेंगे, क्योंकि वे श्रम द्वारा उत्पादित नहीं होते। स्पष्टतः यह परिभाषा अपूर्ण है, क्योंकि इसमें केवल उत्पादक वस्तुओं को पूँजी में सम्मिलित किया है, किन्तु उत्पादक और उपभोग वस्तुओं में कोई स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता। कोई भी वस्तु (जैसे कि कार) जब वह प्रत्यक्ष रूप से किसी आवश्यकता को पूरा करने (जैसे—घूमने) के लिए उपयोग की जाती है, तो उपभोग-वस्तु और जब आय प्राप्त करने या आगे और उत्पत्ति करने (जैसे—मरीजों को देखने) के लिए उपयोग की जाय, तो उत्पादक-वस्तु कहलायेगी। इस प्रकार, उपभोग और उत्पादक वस्तुओं के मध्य अन्तर करना कठिन होता है। पुनः केवल औजार, मशीन, इत्यादि ही नहीं, वरन् व्यापारी लोग द्रव्य, बॉण्ड्स, प्रतिभूतियों आदि को भी पूँजी में सम्मिलित करते हैं।

---

[1] "Capital is wealth which yields an income or aids the production of an income or is intended to do so"—**Chapman** . *Outlines of Political Economy*, p 73.

[2] ".........a lake into which a great variety of things, which are the fruit of saving, are continuously being projected. All things that enter the lake eventually pass out of it again"—**Pigou** : *Economics of Welfare*, p. 43.

किन्तु दूसरे अर्थशास्त्रियो ने भूमि और पूँजी मे निम्न कारणो से भेद किया है :— (१) भूमि प्रकृति की देन है, जबकि पूँजी मनुष्यकृत है, इसलिए पूंजी मरणशील है, जबकि भूमि अमर, अविनाशी और स्थायी (Permanent)। (२) पूँजी गतिशील (Mobile) है, परन्तु भूमि स्थिर। (३) पूंजी की मात्रा मनुष्य द्वारा घटाई-बढाई जा सकती है, परन्तु भूमि की मात्रा नहीं। (४) पूंजी से प्राप्त आय बहुधा निश्चित होती है, जबकि भूमि के लगान मे पर्याप्त परिवर्तन होते रहते है। (५) व्यक्तिगत दृष्टि से भूमि आय का साधन है, सामाजिक दृष्टि से नहीं किन्तु पूँजी व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो ही दृष्टिकोण से आय का साधन होती है। इस कारण कुछ अर्थशास्त्रियो ने भूमि को व्यक्तिगत पूंजी कहा है।

वास्तव मे इस विवेचन मे भूमि और पूंजी के अन्तर को बहुत बढ़ा-चढाकर दिया गया है, क्योकि कोई वस्तु भूमि है या पूंजी, यह उसके उपयोग पर निर्भर होता है। फिर भी हम इतना कह सकते हैं कि भूमि और पूँजी दोनो एक ही नही होते हैं।

पूँजी और आय

पूंजी और आय मे भी अन्तर होता है। आय पूंजी के उपयोग द्वारा उत्पन्न हो सकती है और उत्पत्ति के अन्य कार्यों द्वारा भी। पूंजी को हम अधिक से अधिक आय का साधन अथवा आय का स्रोत कह सकते है क्योकि स्वय पूंजी आय नही होती है।

प्रो० फिशर ने दोनो के अन्तर का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। वे लिखते हैं, "पूंजी एक संचित कोष है और आय एक धारा।···पूंजी मे धन सम्मिलित है और आय में लाभ।·······किसी दिए हुए समय-बिन्दु (Point of time) पर विद्यमान धन के कोष अथवा भण्डार को पूँजी कहते है, परन्तु एक समयावधि (Period of time) के भीतर धन से लाभो की धारा को आय कहा जाता है।"[1]

स्मरण रहे कि फिशर ने पूँजी की बड़ी विस्तृत परिभाषा की है। उनके विचार मे किसी देश की वास्तविक पूंजी वहाँ की भूमि, रेलो, कारखानों, मकानो आदि से मिलकर बनती है और इस विस्तृत अर्थ मे देश के निवासी भी पूँजी होते हैं।[2]

पूँजी और द्रव्य

सभी द्रव्य पूंजी नही होता, क्योकि द्रव्य का वही भाग पूंजी कहला सकता है जो कि अधिक उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाय। इसी प्रकार सभी पूंजी द्रव्य नहीं होती है, क्योकि यह अशतः द्रव्य मे और अशतः भवन, मशीन आदि के रूप मे भी होती है।

पूँजी और धन

धन का केवल वह भाग जो और अधिक धन उत्पन्न करने मे प्रयोग किया जाता है, पूंजी कहलाता है। अत समस्त धन पूंजी नही है किन्तु समस्त पूंजी धन है।

क्या व्यक्तिगत गुणो को पूँजी कहा जा सकता है ?

यह प्रश्न भी बहुत बार पूछा जाता है कि व्यक्तिगत गुणों को पूँजी कहना कहाँ तक

---

1 "Capital is a stock and income a flow....capital consists of wealth while income consists of benefits...A stock of wealth existing at a given instant of time is called capital, a flow of benefits from wealth through a period of time is income."—Fisher : *Elementary Principles of Economics.*

2 "The only true capital of a society as a whole is its capital wealth—its lands, railways, factories, dwellings and in its broader sense, its inhabitants."—*Ibid.*

उपयुक्त है ? किसी व्यक्ति की बुद्धि, उसकी व्यावसायिक योग्यता, निपुणता, आदि ऐसे गुण हैं, जो प्राप्त किये जाते हैं और जिनके उपयोग से आय भी प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में हम इतना कह सकते हैं कि इन गुणों का हस्तान्तरण सम्भव नहीं होता इसलिए इन्हें हम पूँजी नहीं कह सकते। अमेरिकन लेखक इन्हें व्यक्तिगत पूँजी कहते हैं, परन्तु चैपमैन ने इन्हें 'प्रकृति की देन' कहा है जिसके आधार पर ये पूँजी नहीं हो सकते हैं।[1]

पूँजी का महत्त्व और उसके कार्य

इसमें सन्देह नहीं कि पूँजी की सहायता के बिना भी उत्पत्ति हो सकती है, परन्तु इस तरह जो उत्पत्ति होती है, वह पूँजी की सहायता से की जाने वाली उत्पत्ति की तुलना में बहुत कम होती है। हजारों वर्ष पूर्व के मनुष्य ने भी इस बात को भली-भाँति समझ लिया था। यही कारण है कि आरम्भ से ही मनुष्य उत्पत्ति में किसी न किसी प्रकार के औजारों की सहायता लेता चला आया है। वर्तमान काल में तो बिना पूँजी के किसी प्रकार के उत्पादन की बात सोची भी नहीं जा सकती है। आजकल के सभी कारखाने, यातायात के साधन और लगभग वे सभी वस्तुएँ जिन पर हमारा जीवन निर्भर है, पूँजी का ही फल हैं। पूँजी का महत्त्व निम्न दृष्टिकोणों से उल्लेखनीय है :—

(१) पूँजी की सहायता के बिना बड़े पैमाने की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यद्यपि पूँजी उत्पत्ति का केवल निष्क्रिय साधन है, परन्तु फिर भी इसके बिना मनुष्य की उत्पादन शक्ति बहुत ही कम रहती है।

(२) पूँजी के बिना लगभग किसी भी प्रकार का उद्योग-धन्धा चलाना कठिन होता है। इसके बिना न खेतों में उन्नति की जा सकती है, न कारखानों का विस्तार किया जा सकता है, न मशीनें खरीदी जा सकती हैं और न यातायात के साधनों का ही विकास हो सकता है। इसके बिना आधुनिक काल के औद्योगिक-जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

(३) किसी देश की आर्थिक उन्नति और वहाँ के निवासियों का जीवन-स्तर बड़े अंश तक उस देश में उपलब्ध पूंजी के साधनों पर निर्भर होता है। व्यापार, वाणिज्य और जीवन-स्तर की उन्नति पूँजी की पूर्ति एवं वृद्धि पर ही निर्भर होती है।

(४) सैनिक शक्ति को दृढ़ बनाने के लिए भी अधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। सशस्त्र सेनायें अधिक मात्रा में पूँजी व्यय किये बिना तैयार नहीं की जा सकती है।

(५) राजनैतिक क्षेत्र में भी पूँजी किसी देश को गौरव और सम्मान प्रदान करती है।

पूँजी का वर्गीकरण
(Types of Capital)

पूँजी के निम्न वर्गीकरण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) अचल एवं चल पूँजी—

जो पूँजी अपने वर्तमान रूप में उत्पादन कार्य में बार-बार काम में लाई जा सकती है, उसे हम "अचल पूँजी" अथवा "स्थिर पूँजी" (Fixed Capital) कहते हैं, जैसे—मशीन, औजार, मकान, आदि। इसके विपरीत, जो पूँजी अपने वर्तमान रूप में उत्पादन के कार्य में केवल एक ही बार उपयोग की जा सकती है, उसे हम "चल पूँजी" (Circulating Capital)

---

[1] "Natural endowments of capacity should hardly be reckoned as capital if external agents are not so reckoned......As I spend wealth in making a type-writing machine so may spend wealth in training myself, to be a typist. If the type-writing machine is capital, is not my acquired type writing dexterity capital ?......let us agree to entitle it personal capital."—Chapman.

कहते है, जैसे—कच्चा माल, रुई, जूट आदि । एक ही बार उपयोग करने के पश्चात् चल पूँजी का रूप बदल जाता है ।

इस सम्बन्ध मे यह जानना आवश्यक है कि इन दोनो प्रकार की पूँजी का भेद केवल सापेक्षिक (Relative) है, क्योंकि एक ही वस्तु विभिन्न परिस्थितियों मे चल अथवा अचल पूँजी हो सकती है । उदाहरणार्थ, रुई का उपयोग जब हम सूत कात कर कपडा बुनने के लिए करते है, तो रुई का रूप एक ही उपयोग से बदल जाता है । ऐसी दशा मे रुई चल पूँजी होगी । किन्तु इसी रुई का उपयोग जब लिहाफ मे भर कर किया जाता है, तो वह उसी रूप मे कई वर्ष तक उपयोग की जा सकती है । इस दशा मे उसे अचल पूँजी कहा जा सकता है ।

(२) उत्पत्ति तथा उपभोग पूँजी—

"उत्पत्ति की पूँजी" (Production Capital) वह पूँजी है जो उत्पादन मे प्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है, जैसे —मशीन, औजार आदि । ऐसी पूँजी को उत्पादन कार्य मे प्रत्यक्ष रूप मे उपयोग किया जाता है । इसके विपरीत, "उपभोग की पूँजी" (Consumption Capital) वह है जो उत्पादन मे केवल परोक्ष रूप मे ही सहायक होती है । ऐसी पूँजी का उपभोग उपयोग करने वाले द्वारा किया जाता है, जिससे उसकी कार्यक्षमता बढती है और, इस प्रकार, अन्त मे, उत्पादन बढ जाता है ।

इस सम्बन्ध मे उपभोग-पूँजी और उपभोग-सम्पत्ति का भेद समझ लेना आवश्यक है। उपभोग पूँजी श्रमिकों को स्वस्थ, शिक्षित तथा अधिक कुशल बनाने के काम आती है, जबकि सम्पत्ति का उपयोग मनोरजन अथवा आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए किया जाता है ।

(३) भौतिक और अभौतिक अथवा वैयक्तिक पूँजी—

"भौतिक पूँजी" (Material Capital) वह पूँजी होती है, जो स्थूल रूप मे विद्यमान होती है, जैसे—मशीन, मकान, इत्यादि । ऐसी पूँजी "अव्यक्तिक" (Impersonal) होती है, अर्थात्, वह अपने स्वामी से पृथक् होती है । इसके विपरीत, "अभौतिक" अथवा "व्यक्तिक पूँजी" (Non-material or Personal Capital) मनुष्य के भीतर विद्यमान होती है और बहुधा गुणो के रूप में होती है, जैसे—किसी वकील अथवा डाक्टर की योग्यता, किसी श्रमिक की निपुणता अथवा किसी व्यवसायी की कुशलता । ऐसी पूँजी को इसके स्वामी से अलग नहीं किया जा सकता। इसका हस्तान्तरण भी सम्भव नही होता और इसी आधार पर कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसे पूँजी स्वीकार करने से इन्कार किया है । परन्तु कुछ अर्थशास्त्री इन गुणो को भी पूँजी कहते हैं ।[1]

(४) वेतनीय और सहायक पूँजी—

उत्पत्ति के कार्य मे लगे हुए श्रमिको को उनकी मजदूरी अथवा उनके वेतन के रूप मे जो पूँजी दी जाती है, उसे "वेतनीय पूँजी" कहा जाता है । सभी प्रकार की मौद्रिक मजदूरी ऐसी ही पूँजी होती है । जो पूँजी श्रमिकों द्वारा धन का उत्पादन करने मे सहायक होती है उसे "सहायक पूँजी" कहा जाता है, जैसे—औजार, मशीन आदि ।

(५) एक-अर्थी और बहु-अर्थी पूँजी—

ऐसी पूँजी को, जो किसी एक ही उपयोग मे लगी रहे और जिसका यह उपयोग बदला न जा सकता हो, "एक-अर्थी पूँजी" (Sunk Capital) कहा जाता है । ऐसी पूँजी की राशि को वापस लेना सम्भव नहीं होता है । सडक, रेल आदि मे लगी हुई पूँजी ऐसी ही होती

---

1 "The improved dexterity of a workman may be considered in the same light as a machine or an instrument of trade which facilitates and abridges labour and repays the expenditure with profit."—**Adam Smith.**

साधनों की अपेक्षा अधिक होती है। (७) पूँजी आय प्रदान करने वाली है, जिस कारण लोग बचत करके इसकी पूर्ति उपलब्ध करने को तत्पर रहते हैं। (८) वह अस्थाई होती है, जिस कारण इसे समय-समय पर पुनरुत्पादित और पुनरापूरित करना पड़ता है।

पूँजी और पूँजीवाद
(Capital and Capitalism)

पूँजी से हमारा अभिप्राय संचित धन के उस भाग से होता है जिसका और आगे उत्पत्ति करने के लिए उपयोग किया जाता है। इसके विपरीत, पूँजीवाद से हमारा आशय ऐसी आर्थिक प्रणाली (Economic System) से होना है जिसमें पूँजी के साधनों पर थोड़े से ही व्यक्तियों का अधिकार होता है और वे उसे व्यक्तिगत लाभ के लिए उपयोग करते हैं। पूँजीवाद बहुधा घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, क्योंकि यह सामाजिक शोषण को जन्म देता है, परन्तु पूँजी का बहुधा आदर ही किया जाता है। समाजवादी देशों में भी उनकी इतनी आश्चर्य-जनक उन्नति का प्रमुख कारण पूँजी का भारी संचय ही है।

वास्तव में पूँजी के संचय और पूँजीवाद में कोई सम्बन्ध नहीं है। पूँजी तो तटस्थ है और उसका उपयोग समाज का कल्याण करने के लिए भी किया जा सकता है और समाज का शोषण करने के लिए भी। पूँजीवाद में देश की सारी पूँजी पर केवल थोड़े से ही व्यक्तियों का अधिकार होता है, जो उसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को उन्नत करने और अपने लाभों के बढ़ाने के लिए उपयोग करते हैं। पूँजीपति बहुधा यह भूल जाते हैं कि पूँजी मनुष्य के लिए है, मनुष्य पूँजी के लिए नहीं है। पूँजीपति और श्रमिकों के हित बहुधा एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी होते हैं, अतः दोनों के बीच संघर्ष चलता रहता है, जिसे हम वर्ग-संघर्ष (Class-Conflict) कहते हैं।

पूँजी का निर्माण

पूँजी-निर्माण से आशय—

पूँजी का निर्माण अथवा पूँजी का संचय धीरे-धीरे होता है। यह एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें सभी सदस्य न्यूनाधिक हिस्सा लेते हैं। इस प्रक्रिया की तीन अवस्थायें हैं :— **(अ) वास्तविक बचत का निर्माण**—सर्वप्रथम साधनों को उपभोग वस्तुओं पर कम व्यय करने से वास्तविक बचत का निर्माण होता है। इस हेतु लोगों में बचत करने की शक्ति (Power to save) और बचत करने की इच्छा (Will to save) दोनों ही बातें होना जरूरी है। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि बचत को अनुत्पादक प्रयोजनों (जैसे—जेवर खरीदना) पर बर्बाद न किया जाय। **(ब) बचतों का एकत्रीकरण**—अनेक लोगों की बचत को बैंकों, बीमा कम्पनियों आदि के द्वारा एकत्र किया जाता है, जिससे कि उन्हें विनियोक्ताओं तक पहुँचाने में सुविधा रहे। **(स) वास्तविक पूँजीगत सम्पत्तियों में बदलना**—जनता से एकत्रित बचतों को साहसियों को उधार दिया जाता है। ये लोग द्राव्यिक बचतों को लेकर उत्पादक कार्यों में विनियोग करते हैं, जिससे नई पूँजीगत सम्पत्तियों का निर्माण होता है।

इस प्रकार, पूँजी निर्माण से आशय जनता द्वारा बचत करने, वित्तीय संस्थाओं द्वारा इन बचतों को एकत्र करने एवं साहसियों द्वारा द्राव्यिक बचतों को नई पूँजीगत वस्तुओं में बदलने का है। पूँजी-निर्माण के अर्थ को भली प्रकार समझने हेतु हमें 'पूँजी-निर्माण' और 'पूँजी की पूर्ति' के अन्तर को समझ लेना चाहिए, जो यह है कि पूँजी-निर्माण देश के अन्दर होता है, किन्तु पूँजी-पूर्ति एक सीमा तक देश के बाहर से प्राप्त की जा सकती है। बाहर से पूँजी की पूर्ति देश के पूँजी-निर्माण के लिए एक शक्तिशाली प्रेरक का काम कर सकती है। यदि देश को उन्नति करनी है, तो उसे बाहर से पूँजी की पूर्ति की अपेक्षा आन्तरिक साधनों से पूँजी की पूर्ति (अर्थात् पूँजी-निर्माण) पर अधिक निर्भर रहना चाहिए।

होता है और उत्पादन की मात्रा ही अन्तिम अवस्था मे राष्ट्रीय आय को निर्धारित करती है। अन्य शब्दो मे, प्राकृतिक साधनो के विकास के द्वारा, उत्पत्ति के साधनों की कुशलता बढाकर तथा एक उपयुक्त कर-प्रणाली का निर्माण करके राष्ट्रीय आय की मात्रा बढ़ाई जा सकती है।

(२) समाज का जीवन-स्तर—समाज का व्यय समाज के जीवन-स्तर पर निर्भर होता है। ऊँचा जीवन-स्तर हो जाने से व्यय बढ़ता है, अतः यदि दो देशो मे राष्ट्रीय आय समान है, परन्तु एक मे लोगो का जीवन-स्तर दूसरे से नीचा है, तो नीचे जीवन-स्तर वाले देश में लोगो की बचत करने की क्षमता अधिक होगी। इस आधार पर यह कहना तो अनुचित होगा कि बचत को बढाने के लिए जीवन-स्तर को नीचे गिरा देना अच्छा होगा। हम केवल यही कह सकते हैं कि **बचत को बढ़ाने का सबसे अच्छा उपाय राष्ट्रीय आय को बढ़ाना ही हो सकता है।**

भारत के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि यहाँ समाज की बचत करने की क्षमता कम है। अधिकाश भारतवासी निर्धन हैं और ससार के उन्नतिशील देशो की तुलना मे हमारी राष्ट्रीय आय बहुत ही कम है। किन्तु दो कारणो से भारत मे आय कम होते हुए भी बचत हो जाती है—**प्रथम**, देश मे बहुत निर्धनता है और लोगो का जीवन-स्तर बहुत नीचा है; **दूसरे**, महँगाई के कारण जीवन-निर्वाह व्यय बढ़ गये हैं, **तीसरे**, जन-सख्या की तीव्र वृद्धि के कारण आर्थिक प्रगति के बावजूद प्रति व्यक्ति बचत कम है, और, **चौथे**, आय के वितरण की असमानतायें बहुत ही विशाल हैं, जिससे उत्पादित आय का अधिकाश भाग कुछ थोड़े से ही व्यक्तियो के पास केन्द्रित रहता है।

(II) बचत करने की इच्छा (Willingness to Save)—

बचत तभी हो सकती है जबकि कोई बचत करना चाहता हो। हम कितनी बचत करेंगे, यह इस बात पर भी निर्भर है कि हमारी बचत करने की इच्छा कितनी तीव्र है। अनेक प्रकार के उद्देश्यो से प्रेरित होकर एक व्यक्ति बचत करता है। एक निर्धन व्यक्ति भी इन इच्छाओ से प्रेरित होकर कुछ न कुछ बचत कर लेता है, परन्तु इच्छा के अभाव की दशा में एक धनी व्यक्ति भी बचत करने मे असमर्थ रहेगा। बचत करने की इच्छा पर भी कई बातो का प्रभाव पड़ता है :—

(१) दूरदर्शिता—कुछ लोग स्वभाव से ही दूर की बात सोचने वाले होते हैं। वे जानते हैं कि भविष्य सदा अनिश्चित होता है, भविष्य मे कोई आपत्ति आ सकती है अथवा कोई अकस्मात् आवश्यकता पड सकती है। यदि पहल से ही इनके लिए व्यवस्था नही की जाती है तो बहुत कठिनाई होगी। दूरदर्शी मनुष्य इसी उद्देश्य से बचत करता है कि भविष्य की अनिश्चितता के विरुद्ध उपचार कर सके। यह निश्चय है कि कोई व्यक्ति जितना ही अधिक दूरदर्शी होगा, उतना ही उसमे भविष्य के लिए बचाकर रखने की प्रवृत्ति भी अधिक बलवान होगी। मानव-जीवन के इतिहास मे भविष्य के लिए व्यवस्था करने की आदत धीरे-धीरे बढती गई है, यद्यपि अभी तक भी यह आदत सभी मनुष्यो मे नही आ पाई है।

(२) पारिवारिक प्रेम—बचत करने की इच्छा को एक व्यक्ति का पारिवारिक प्रेम भी प्रोत्साहन देता है। मनुष्य अपने परिवार अथवा अपने आश्रितो के लिए पर्याप्त व्यवस्था करना चाहता है, ताकि उसकी मृत्यु के उपरान्त भी वे सुखमय जीवन बिता सकें। इस उद्देश्य को लेकर एक व्यक्ति कभी-कभी अपने आप को कष्ट देकर भी बचत करता है। इसी प्रकार अपने परिवार को समाज मे अधिक सम्मान प्रदान करने के लिए भी एक व्यक्ति बचत कर सकता है।

(३) शक्ति और सम्मान की इच्छा—बहुत से व्यक्ति आर्थिक और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने और समाज मे अपने को सम्मानित करने के लिए भी बचत करते हैं।

व्यवहार, ये सभी बचत के मार्ग मे बाधा डाल देते हैं। जिन देशो की सरकार बचत को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करती है वहां बचत भी अधिक होती है। समाजवादी देशों मे व्यक्तिगत बचत और सचय को अच्छा नही समझा जाता है। ऐसे देशो मे व्यक्तिगत बचत कम होती है। अधिकाश बचत स्वय सरकार द्वारा की जाती है।

(३) **मुद्रा का उपयोग**—किसी देश मे बचत की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि वहां मुद्रा का उपयोग किस अश तक होता है। असभ्य जातियो मे, जहां मुद्रा का चलन कम है, सचय वस्तुओ के रूप मे किया जाता है। वस्तुओ मे न तो टिकाऊपन का गुण होता है और न उनकी कीमतो मे स्थिरता ही रहती है। इस कारण ऐसा सचय बहुधा छोटा होता है और उसे थोडे ही काल के लिए रखा जाता है। किन्तु इसके विपरीत, मुद्रा न तो शीघ्र नाशवान वस्तु है और न उसकी कीमत ही बहुत तेजी के साथ घटती-बढ़ती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा में तो सेवाओ की कीमत का भी सचय हो जाता है। यही कारण है कि जैसे-जैसे समाज मे मुद्रा का उपयोग बढ़ता गया है, सचय की प्रवृत्ति भी बढ़ती गई है।

(४) **लाभदायक तथा सुरक्षित विनियोग की सुविधा**—यदि देश मे सुरक्षित विनियोगो (Investments) की सुविधा नही है और लोग अपनी बचतो को अपने घर मे ही जमा करके रखते है, तो बचत कम होगी। इसका एक कारण तो यह है कि ऐसी दशा मे बचत का लाभदायक उपयोग नही होगा। दूसरा कारण यह है कि इस बचत का आग, चोरी अथवा डकैती से नष्ट हो जाने का भय रहेगा। इसलिए, जितनी ही किसी देश मे उद्योग, व्यापार और व्यवसायो की उन्नति होगी, उतनी ही वहां बचत भी अधिक होगी। बचत को प्रोत्साहन देने मे सबसे अधिक महत्व बैंकिंग प्रणाली के विकास का होता है। बैंक छोटी से छोटी बचत को भी जमा कर लेती है और प्रत्येक बचत करने वाले को बचत के सुरक्षित और लाभपूर्ण उपयोग का अवसर देती है। इसके अतिरिक्त, बीमा कम्पनियां और सहकारी समितियां भी बचत को अधिक प्रोत्साहन देती हैं।

स्वतन्त्रता के पूर्व भारत मे बचत की सुविधायें बहुत ही कम थी किन्तु स्वतन्त्रता के बाद इनमे यथेष्ट विस्तार हुआ है। डाकघर देश के गांव-गांव मे खुल गये हैं, जीवन बीमा निगम छोटी रकमो की जीवन बीमा पालिसियां जारी कर रहा है, यूनिट ट्रस्ट जैसी सस्थायें स्थापित हुई हैं, स्टेट बैंक ने छोटे-छोटे स्थानो तक मे अपनी शाखायें स्थापित कर दी है। अन्य बैंको ने भी अपनी शाखायें बढ़ाई है। देश मे नियोजित आर्थिक विकास की नीति अपनाई गई है, जिसके अन्तर्गत सार्वजनिक एव निजी क्षेत्र मे अनेक छोटे-बड़े कारखाने खुल रहे हैं। व्यावसायिक शिक्षा के विस्तार के फलस्वरूप 'उद्योग के कप्तानो' की ट्रेनिंग सम्भव हो गई है।

(ब) आसचन की प्रवृत्ति को प्रभावित करने वाली बातें

समाज की आसचन प्रवृत्ति निम्न बातो पर निर्भर होती है :—

(१) **विनियोग की सुविधायें**—यदि देश मे विनियोग की सुविधायें अपर्याप्त हैं और विनियोग सुरक्षित तथा लाभदायक नही है, तो जो कुछ भी बचत की जायगी, वह बेकार के आसचित कोषो मे लुप्त हो जायगी और पूंजी के निर्माण मे सहायक न हो सकेगी।

(२) **बैंक प्रथा**—यदि किसी देश मे बैंकिंग का समुचित विकास नही हुआ है और बैंक प्रथा के प्रचलन के अभाव के कारण अधिकाश भुगतान नकदी मे होते हैं, तो आसचन प्रवृत्ति अधिक बलवान होगी।

(३) **लोगों का स्वभाव**—बचत का कौन-सा भाग आसचित कोषों मे जायगा और कौन सा भाग पूंजी के रूप मे उपयोग किया जायगा, यह इस बात पर भी निर्भर होता है कि लोग

किस अंश तक जोखिम उठाने के लिए तैयार हैं। हमारे देश में धन को गाड़कर रखने और छुपाने की प्रवृत्ति अधिक बलवान है, इसलिए आसंचन अधिक होता है।

आधुनिक काल में दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ एक ही साथ दृष्टिगोचर होती हैं—एक ओर तो लगभग सभी देशों में राष्ट्रीय आय, आर्थिक विकास और बैंकिंग तथा विनियोगों की उन्नति हो रही है, जिसके कारण बचत करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है और आसंचन की आदत घटती जा रही है, और, दूसरी ओर सामाजिक सुरक्षा (Social Security) प्रणाली का विकास हो रहा है, जिसके अन्तर्गत भविष्य की अनिश्चितता एक बड़े अंश तक दूर हो जाती है एवं आश्रितों के लिए भी चिन्ता कम हो जाती है। इससे बचत करने की इच्छा और आवश्यकता दोनों घट जाती हैं। किंचित् भविष्य में व्यक्तिगत बचत में अधिक कमी हो जाय, परन्तु सौभाग्य से अब राज्यों ने बचत और पूँजी-निर्माण का कार्य अपने हाथों में ले लिया है, इसलिए व्यक्तिगत बचत का अभाव लोक अथवा सार्वजनिक बचत (Public Savings) द्वारा पूरा हो जाने की आशा है। भविष्य के विषय में हम यही कह सकते हैं कि पूँजी के निर्माण की गति (Rate of Capital formation) तेजी के साथ बढ़ेगी। समाजवादी देशों में तो लगभग सारी की सारी राष्ट्रीय पूँजी सरकार द्वारा ही उपलब्ध की जाती है। आर्थिक नियोजन द्वारा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकास की जो सम्भावना उत्पन्न हो गई है, उसने राज्य द्वारा पूँजी निर्माण प्रवृत्ति को और भी बढ़ा दिया है।

(स) सरकार की भूमिका

पूँजी के निर्माण के कार्य में सरकार निम्न प्रकार से योग दे सकती है :—(अ) विकसित और उन्नतिशील देशों में सरकार विशेषतः व्यापारिक मन्दी के समय में सहयोग देती है, क्योंकि साधारणतः ऐसे देशों में बचतों की कोई कमी नहीं होती है। व्यापारिक मन्दी के समय में देश में बेकारी छा जाती है, लोगों की आय घट जाती है और पूँजी के निर्माण की दर में कमी हो जाती है। सरकार सार्वजनिक निर्माण कार्य चलाती है, जिनसे रोजगार मिलता है, लोगों को आय और इसलिए प्रभावपूर्ण माँग बढ़ती है, उद्योग और व्यापार का विस्तार होता है। इस प्रकार, पूँजी-निर्माण की दर सरकार के प्रयत्नों के सुपरिणामस्वरूप बढ़ने लगती है। (ब) समाजवादी देशों में तो सरकार पूँजी-निर्माण के लिए पूर्णतः दायी होती है, क्योंकि उसी का समस्त साधनों पर स्वामित्व और नियन्त्रण होता है। वह उत्पत्ति-साधनों का विभिन्न प्रयोगों में वितरण करती है और कर नीति, राशन इत्यादि के द्वारा उपभोग को कम करके बचतों को पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में लगाती है। (स) अल्प विकसित देशों में सरकार पूँजी के निर्माण के लिए एक बड़ी सीमा तक दायी होती है। वह निम्न प्रकार से पूँजी के निर्माण को प्रोत्साहित करती है—प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर लगाकर जो धन प्राप्त हो उसे पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण में व्यय करना, नये उद्योगों पर करों में रियायत करना या उन्हें आर्थिक सहायता देना, अनिवार्य बचत योजना लागू करना, छोटे-छोटे शहरों और गाँवों में बैंक की शाखायें खुलवाना, विशेष वित्तीय संस्थायें जैसे विनियोग ट्रस्ट आदि स्थापित करना, सामाजिक पूँजी (जैसे—सड़क, पुल, रेल इत्यादि) में विनियोग करके निजी पूँजी-निर्माण को बढ़ावा देना, स्वयं अपने उद्योग स्थापित करना, घाटे की अर्थ-व्यवस्था करना, विदेशों से सहायता लेना, राष्ट्रीय स्तर पर उचित जन-संख्या नीति बनाना, बेकार श्रम-शक्ति का सड़क-निर्माण आदि कार्यों में सदुपयोग करना, सामान्य शिक्षा की अधिक सुविधायें उपलब्ध करना।

भारत जैसे अल्पविकसित देशों में पूँजी-निर्माण की गति धीमी क्यों ?

भारत जैसे अल्पविकसित देशों में श्रम-साधन की बाहुल्यता और पूँजी-साधन की

कमी होती है। वहाँ निम्न कारणो से पूँजी के निर्माण की गति धीमी होती है :—(i) अधिकांश जनता की आय (और इसलिये जीवन-स्तर) बहुत ही नीची होती है, जिस कारण उनकी बचत-शक्ति नगण्य होती है। बचत की सुविधाये भी प्राय: कम ही है। (ii) थोडी-बहुत बचत धनवान व्यक्तियों द्वारा की जाती है, किन्तु यह बचत प्राय अनुत्पादक कार्यों (जैसे—जेवरो, मकानो, भूमियों इत्यादि) मे फँसी रहती है। (iii) जनसख्या की तेज वृद्धि के कारण अधिकांश बचत बढ़ती हुई जनसख्या के भरण-पोषण पर ही व्यय हो जाती है और पूँजी-निर्माण के कार्यों मे उसका प्रयोग नही होने पाता। (iv) अल्प विकसित देश कई प्रकार के दुष्चक्रो मे फँसे होते हैं, जैसे—(अ) "अविकसित साधन, पिछडे लोग, पूँजी की कमी," (ब) "न्यून उत्पादकता, कम वास्तविक आय, कम माँग, कम विनियोग, पूँजी की कमी," एव (स) अविकसित साधनो के कारण पिछडे व्यक्ति रहते है और पिछडे व्यक्तियो के कारण अविकसित साधन रहते हैं। इन परिस्थितियो मे पूँजी की निर्माण-दर को तेज करने मे सरकार एक प्रमुख भूमिका रखती है, जिस पर हम ऊपर प्रकाश डाल चुके हैं।

परीक्षा प्रश्न :

१. पूँजी का अर्थ बताइए। पूँजी का विकास किन घटको पर निर्भर है ?

अथवा

किसी देश मे पूँजी के निर्माण मे सहायक कारणो की व्याख्या कीजिये और बताइये कि *ये किस सीमा तक भारत मे क्रियाशील है ?*

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम पूँजी की परिभाषा (आधुनिक दृष्टिकोण सहित) दीजिये। तत्पश्चात पूँजी-निर्माण (या पूँजी-सचय या पूँजी-विकास) को प्रोत्साहित (या प्रभावित) करने वाले तत्त्वो को बताइये। अन्त मे (अथवा सामान्य विवेचन के साथ-साथ) भारतीय उदाहरण देकर भारत मे इन तत्त्वो की क्रियाशीलता को दर्शाइये।]

२ पूँजी की परिभाषा दीजिये और आधुनिक उत्पादन मे यह जो भूमिका निभाती है उसका विवेचन करिये।

[सहायक संकेत :—आधुनिक मत के सन्दर्भ मे पूँजी की परिभाषा दीजिये और फिर उत्पादन एव आर्थिक विकास मे पूँजी के महत्त्व को दर्शाइये।]

३. पूँजी की परिभाषा दीजिये और उत्पादन मे इसके कार्यों का विवेचन करिये।

[सहायक संकेत :—आधुनिक दृष्टिकोण के सदर्भ सहित पूँजी की परिभाषा दीजिये और फिर पूँजी के कार्यों को बताइये।

४ किसी देश मे पूँजी का सचय किस प्रकार होता है ? पूँजी निर्माण की दर और आर्थिक उन्नति मे सम्बन्ध को बताइये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम पूँजी के निर्माण के अर्थ को स्पष्ट कीजिये और इस हेतु *पूँजी निर्माण की विभिन्न अवस्थायें बताइये। तत्पश्चात् पूँजी निर्माण और आर्थिक विकास* के मध्य निर्भरता को दिखाइये।]

५. किसी देश मे पूँजी के निर्माण को कौन-कौन से घटक प्रभावित करते हैं ? भारत मे पूँजी के निर्माण की गति धीमी क्यो है ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम पूँजी के निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्त्वो को बताइये। तत्पश्चात यह बताइये कि भारत एक अल्प विकसित देश है जिस कारण अल्प विकसित देशो मे जो कारण पूँजी के निर्माण मे बाधक होते हैं वे ही भारत मे भी पूँजी के निर्माण की धीमी गति के लिए दायी हैं। अतः उन्हे सक्षेप मे (भारतीय सन्दर्भ के साथ) दीजिए।]

७

संगठन और साहस
(Organisation and Enterprise)

संगठन अथवा प्रबन्धक

प्रबन्धक से आशय—

उत्पत्ति के सभी साधनो के मिल कर काम करने से ही उत्पादन होता है, परन्तु किस-किस साधन को कितनी-कितनी मात्रा मे और किस प्रकार काम मे लाया जाय, यह प्रश्न बहुधा महत्वपूर्ण होता है और इसके समाधान के लिये प्रबन्ध की आवश्यकता पडती है । संगठन अथवा प्रबन्धक वह व्यक्ति होता है, जो उत्पत्ति के विभिन्न साधनो को एकत्र करता है, उनको अनुकूलतम् अनुपात मे मिलाये और उनसे उनकी योग्यता के अनुसार काम ले ।

प्रबन्ध और साहस में भेद—

उत्पत्ति मे कुशलता प्राप्त करने के लिए बहुधा श्रम-विभाजन की भी आवश्यकता पडती है । काम मे लगाने के पश्चात् उत्पत्ति-साधनो की देख-भाल की आवश्यकता होती है । ये सभी काम प्रबन्धक अथवा व्यवस्थापक द्वारा ही किए जाते है किन्तु, साहसी का काम इससे बिल्कुल भिन्न होता है । साहसी उत्पत्ति सम्बन्धी जोखिम (Risk) को उठाता है, क्योंकि जोखिम उठाये बिना किसी भी प्रकार की उत्पत्ति सम्भव नही होती है । एक संयुक्त स्कन्ध कम्पनी में अंशधारी जोखिम उठाते है इसलिये उन्हे साहसी कह सकते है किन्तु प्रबन्ध संचालक या मैनेजर उत्पत्ति-साधनों को एकत्र करके अनुकूलतम् अनुपात मे मिलाता है । अतः उसे प्रबन्धक कहा जाता है । पुनः जबकि साहसी का पुरस्कार लाभ कहलाता है, प्रबन्धकर्त्ता का पुरस्कार वेतन ।

प्रबन्ध एवं साधारण श्रम में भेद—

शारीरिक और मानसिक दोनो ही प्रकार के मानव-परिश्रम को अर्थशास्त्र मे श्रम कहा जाता है । प्रबन्धक का कार्य शारीरिक और मानसिक प्रयत्न का मिश्रण होता है, इसलिए उसे भी एक प्रकार का श्रम कहना ही उचित होगा । अधिक से अधिक इसे हम एक विशेष प्रकार का श्रम कह सकते हैं । फिर भी साधारण श्रमिक और प्रबन्धक के कार्यों मे थोडा अन्तर अवश्य होता है, जो यह है कि एक प्रबन्धक का अधिकाश कार्य मानसिक होता है किन्तु एक श्रमिक का शारीरिक । दूसरे, प्रबन्धक प्रायः दूसरो से कार्य लेता है किन्तु एक श्रमिक प्रबन्धक द्वारा निर्धारित कार्य ही करता है । तीसरे, प्रबन्धकर्त्ता के लिये उच्च कोटि के ज्ञान और अनुभव की आवश्यकता पडती है किन्तु एक श्रमिक का कार्य अपेक्षत. सरल होता है और इतने ज्ञान व अनुभव की आवश्यकता नही होती ।

संगठन का महत्व—

आधुनिक युग मे उत्पादन बडे पैमाने पर, अनेको श्रमिक और मशीनों की सहायता से किया जाता है । श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण भी एक बडी सीमा तक लागू किया है । इन सब प्रगतियों के कारण उत्पादन-व्यवस्था बहुत जटिल हो गई है और यह आवश्यक हो गया है

कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को अनुकूलतम् अनुपात मे मिलाकर, उनमें प्रभावपूर्ण सहयोग रखते हुए, कार्य कराया जाय। अत: उत्पादन-कुशलता इस बात पर निर्भर है कि सङ्गठनकर्त्ता एक योग्य और कुशल व्यक्ति हो, एक कुशल एवं योग्य सङ्गठनकर्त्ता ही विभिन्न साधनो से समुचित कार्य ले सकता है। यह एक ऐसा साधन है जो कि सभी प्रकार की आर्थिक प्रणालियों में एक महत्वपूर्ण भूमिका रखता है।

सङ्गठन के कार्य—

एक सङ्गठन या प्रबन्धक के मुख्य कार्य निम्न हैं :—(i) वह उत्पादन की योजना बनाता है और यह निर्णय करता है कि किस वस्तु का और कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाय। (ii) वह विभिन्न साधनो को पर्याप्त मात्रा मे जुटाता है, उन्हें अनुकूलतम् अनुपात में मिलाता है। (iii) श्रम का विभाजन करता है, कार्य-दशाओं को ठीक बनाये रखता है और औद्योगिक शान्ति भङ्ग न हो इसका प्रयत्न करता है। (iv) वस्तु का मूल्य नियत करता है, उसके विज्ञापन की व्यवस्था करता है एवं बेचने के लिये एजेन्टो आदि की नियुक्ति करता है। (v) वह अनुसन्धान कार्य पर भी ध्यान देता है। एवं (vi) उत्पत्ति के साधनो मे पुरस्कार के वितरण की व्यवस्था करता है।

साहसी

साहसी से आशय—

प्रत्येक व्यवसाय मे कुछ न कुछ जोखिम होती है, विशेषत: आधुनिक-युग मे, जबकि उत्पादन भावी माँग के अनुमानानुसार किया जाता है, जोखिम अनिवार्य है।

एक साहसी और प्रबन्धक के अन्तर का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। साहसी और पूँजीपति मे भी अन्तर है। साहसी व्यवसाय की जोखिम उठाता है और इसके पुरस्कार को लाभ कहते हैं, किन्तु पूँजीपति का जोखिम उठाने से कोई सम्बन्ध नही है, वह तो व्यवसाय को ऋण देने वाला मात्र है और उसके पुरस्कार को ब्याज कहा जाता है। छोटे-छोटे व्यवसायों में पूँजीपति और साहसी प्राय. एक ही व्यक्ति होता है किन्तु बड़े व्यवसायो मे ये भिन्न व्यक्ति होते हैं। **साहसी वह है जो उत्पत्ति से सम्बन्धित जोखिमों को उठाता है।**

साहसी का महत्व—

व्यवसाय मे जोखिम होना स्वाभाविक है और जब तक कोई साहसी इसे उठाने को आगे न बढ़े वह आरम्भ नही किया जा सकता। आधुनिक युग मे जोखिम की मात्रा बहुत बढ़ गई है. क्योंकि उत्पादन विधियों मे जटिलता आ गई है एवं उपभोक्ताओं की रुचि आदि मे परिवर्तन होते रहते हैं। अत: आजकल पहले की अपेक्षा साहसी का महत्व बहुत बढ गया है। सच तो यह है कि अमेरिका, इगलैंड, जर्मनी आदि देशो ने जो आज आर्थिक प्रगति की है उसका रहस्य वहाँ अनेकों कुशल साहसियों की उपलब्धि है। भारत मे ऐसे व्यक्तियों का अभाव रहा है, जिस कारण यहाँ उद्योग-धन्धों की अधिक उन्नति नही हो सकी है।

साहसी के कार्य—

कुछ लेखकों ने साहसी के कार्यों को तीन भागो मे विभाजित किया है :—

(I) प्रशासनात्मक कार्य—(१) साहसी सर्वप्रथम उद्योग का चुनाव करता है। इस हेतु वह विभिन्न उद्योगो की लाभ की सम्भावनाओं का अध्ययन और विश्लेषण करता है तथा अन्त मे यह निर्णय करता है कि किस उद्योग को शुरू करने मे उसे अधिकतम् लाभ मिलेगा।

(२) तत्पश्चात् साहसी यह निर्णय करता है कि उद्योग मे किस प्रकार की वस्तु का उत्पादन किया जाय, क्योंकि आजकल उत्पादन मे बहुत विशिष्टीकरण हो गया है और कोई भी फर्म उद्योग से सम्बधित सभी वस्तुओं का उत्पादन करने मे असमर्थ-सी होती है।

(३) साहसी यह भी निर्णय करता है कि उत्पादन का पैमाना क्या हो अर्थात् बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाय या छोटे पैमाने पर ।

(४) उसे उत्पादन के लिए अनुकूल स्थान का चुनाव करना पड़ता है । ऐसा करते समय वह शक्ति, कच्चे माल, श्रमिक आदि की उपलब्धि, बाजार से समीपता, सरकारी प्रतिबन्धों आदि का ध्यान रखता है ।

(५) आरम्भ में साहसी को कुछ ऐसे प्रशासनात्मक कार्य भी करने पड़ते हैं जो कि प्रबन्धक के क्षेत्र में पड़ते हैं । उसे विभिन्न साधन जुटाने पड़ते हैं एवं प्रतिस्थापन नियम के अनुसार उन्हें एक अनुकूल अनुपात में मिलाना पड़ता है । वह बिक्री व विज्ञापन के कार्य में प्रबन्धक को सहयोग देता है । वह प्रबन्धक को व्यवसाय पर सामान्य नियन्त्रण रखने में सहायता देता है ।

(६) साहसी यह भी निश्चय करता है कि प्रतिस्पर्धियों के सम्बन्ध में कम्पनी की क्या नीति होगी । इस नीति का निश्चय भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस पर बहुधा व्यवसाय की सफलता तथा विफलता निर्भर रहती है ।

(७) कम्पनी का सम्बन्ध, उपभोक्ता, बैंक, बीमा कम्पनी, कच्चा माल तैयार करने वाले आदि से ही नहीं होता है, बल्कि उसे पग-पग पर देश की सरकार के सम्पर्क में आना पड़ता है । साथ ही साथ, देश की जनता को भी अपने साथ रखना पड़ता है । इस प्रकार साहसी को यह भी निर्णय करना पड़ता है कि कम्पनी सरकार तथा जनता के प्रति कैसी नीति रखेगी ।

(II) वितरणात्मक कार्य—*साहसी का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य भूमि, श्रम और पूँजी* को उनका पारिश्रमिक देना है । यह पारिश्रमिक व्यवसाय की आय में से दिया जाता है । व्यवसाय में हानि हो अथवा लाभ, उत्पत्ति के अन्य साधनों को पारिश्रमिक अथवा पारितोषण तो देना ही होता है ।

(III) अनिश्चितता का सहन करना—जोखिम उठाना साहसी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है । यह कार्य ऐसा नहीं है जो किसी दूसरे व्यक्ति को सौंपा जा सके । व्यवसाय की सफलता अथवा विफलता का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व साहसी के ही ऊपर होता है । आजकल उत्पत्ति प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन करने वालों के लिए नहीं की जाती है, वरन् मण्डी के लिए की जाती है । साहसी की सम्पूर्ण उत्पत्ति योजना मण्डी के माँग सम्बन्धी अनुमान के आधार पर बनाई जाती है । यह अनुमान गलत भी हो सकता है । ऐसी दशा में साहसी को हानि होती है । इसके विपरीत, यदि अनुमान ठीक सिद्ध होता है, तो साहसी को लाभ होता है । इस प्रकार, आधुनिक उत्पादन प्रणाली के अनुसार प्रत्येक व्यवसाय में एक प्रकार अनिश्चितता रहती है, जो मापी नहीं जा सकती है । इस अनिश्चितता का सहन करना साहसी ही का काम है । यह उसका एक विशेष उत्तरदायित्व है और इसी के कारण पूँजीवाद के अन्तर्गत साहसी उत्पादन प्रणाली का एक प्रमुख स्तम्भ है ।[1]

साहसी के कार्यों का हस्तान्तरण
(Delegation of the Entrepreneurial Functions)

विगत वर्षों में व्यावसायिक जगत में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं और धीरे-धीरे साहसी अपने कार्यों का हस्तान्तरण करता गया है । प्राचीन व्यावसायिक रीति यह थी कि नियन्त्रण और जोखिम दोनों एक ही व्यक्ति का उत्तरदायित्व थे । धीरे-धीरे यह स्थिति बदल गई । अब साहसी

[1] Benham : *Economics*, p. 175-76.

का कार्य तीन अलग-अलग भागों में बँट गया है—(i) जोखिम सम्मिलित पूँजी कम्पनी (Joint-stock Company) के साधारण अंशधारी (Shareholders) उठाते हैं, (ii) व्यवसाय का संगठन साहसी द्वारा किया जाता है और (iii) प्रवन्ध वेतनभोगी कर्मचारियों के हाथ में रहता है।

बीमा कम्पनियों के विकास ने साहसी द्वारा जोखिम उठाने की समस्या भी सरल बना दी है। कर्मचारियों के गबन (Embezzlement), फैक्ट्री में आग लग जाने और माल के खराब अथवा नष्ट हो जाने की जोखिम से भी वह बीमा कराकर बच जाता है। साहसी सट्टेबाजों के साथ दृढ़-रक्षण ठेके (Hedging Contrcts) करके कच्चे माल की कीमतों के परिवर्तन की जोखिम से भी बच सकता है। बहुत बार तो व्यावसायिक हानि का एक भाग साहसी के श्रमिकों पर भी पड़ता है। इस प्रकार वित्तीय जोखिम तो अंशधारी उठाते हैं और अन्य प्रकार की जोखिम बीमा कम्पनियाँ, सट्टेबाज तथा दूसरे व्यक्ति उठा लेते हैं और प्रबन्ध का काम वेतनभोगी कर्मचारी करते हैं।

किन्तु इतना सब कुछ हो जाने के पश्चात् भी साहसी के बहुत से कार्य बच रहते हैं :—(i) साहसी बहुधा अपने पास से कुछ न कुछ पूँजी लगाता है और उससे सम्बन्धित जोखिम उसी के सिर रहती है।[1] (ii) बीमा कम्पनियाँ और दूसरे व्यक्ति व्यवसाय से सम्बन्धित जोखिम नहीं उठाते हैं, वह तो फिर भी साहसी को ही उठानी पड़ती है। (iii) जिस प्रकार साहसी अपनी सभी प्रकार की जोखिम सट्टेबाजों के ऊपर नहीं डाल सकता है, उसी प्रकार यद्यपि जोखिम का एक अंश श्रमिकों पर भी पड़ता है, परन्तु वास्तविक जोखिम तो साहसी ही उठाता है।

प्रबन्धक की निजी कुशलता

वही प्रबन्धक कुशल समझा जाता है, जो या तो एक निश्चित मात्रा का माल कम से कम लागत पर उत्पन्न कर सके, या एक निश्चित उत्पादन व्यय में अधिक से अधिक माल तैयार कर सके। प्रबन्धक की कुशलता की यही दो कसौटियाँ हैं। प्रबन्धक की कुशलता दो बातों पर निर्भर रहती है —पहली, उत्पत्ति में काम आने वाले साधनों की कुशलता और दूसरी, उसकी निजी कुशलता। उत्पत्ति के साधनों की कुशलता के सम्बन्ध में तो पहले ही लिखा जा चुका है। प्रबन्धक की निजी कार्यक्षमता के लिए उसमें निम्नलिखित गुण होने आवश्यक हैं —

(१) **दूरदर्शिता, विचार करने की शक्ति तथा विस्तृत ज्ञान**—यह ऊपर लिखा जा चुका है कि प्रबन्धक की सफलता बहुत कुछ उसकी बाजार की स्थिति का ठीक-ठीक अनुमान लगाने की योग्यता पर निर्भर रहती है। उसमें वस्तु की माँग का ठीक अनुमान लगाने की योग्यता होनी चाहिए। साथ ही, उसमें इसका भी अनुमान लगाने की क्षमता होनी चाहिए कि वह उस माँग से भाग की पूर्ति कर सकता है। यह कोई सरल कार्य नहीं है। आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली के अन्तर्गत प्रबन्धक को वस्तु के बाजार में आने से महीनों पहले अपनी उत्पत्ति योजना को तैयार करना पड़ता है। ऐसा करने के लिए उसे देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दशा का अध्ययन करना पड़ता है। उसे इस बात को भी ध्यान में रखना पड़ता है कि उसके प्रतिद्वन्द्वी उस वस्तु को किस मूल्य में बाजार में बेच रहे हैं। इन सब बातों के लिए यह आवश्यक है कि प्रबन्धक में दूरदर्शिता हो और साथ ही साथ विस्तृत ज्ञान तथा विचार शक्ति भी हो।

(२) **सङ्गठन की योग्यता**—भूमि और श्रम उत्पत्ति के मूल साधन हैं, इनमें श्रम ही सक्रिय है। आजकल, जबकि मिलों और कारखानों में हजारों श्रमिक कार्य करते हैं, यह आवश्यक

---

[1] "The function of risk-taking cannot be turned over to an employee working for a salary It is essentially the function of a businessman himself"—**Carver** : *The Distribution of Wealth*, Chap. VII.

है कि प्रबन्धक में श्रमिकों से उचित व्यवहार करने की योग्यता हो। इस हेतु (i) उसे मानव प्रकृति का ज्ञान होना चाहिए, तभी वह श्रमिकों से अधिक से अधिक कार्य ले सकता है। (ii) श्रमिकों के प्रति सफल हो जाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रबन्धक को यह ज्ञान हो कि किस वर्ग के श्रमिकों से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए? (iii) उसको न तो बहुत कठोर ही होना चाहिए और न बहुत नम्र ही। (iv) उसका श्रमिकों के प्रति ऐसा व्यवहार होना चाहिए कि श्रमिक यह भली-भाँति समझ लें कि वे मनमानी नहीं कर सकते हैं, और यदि वे कार्य अच्छा करेंगे, तो उन्हें लाभ होगा (v) उसमें ऐसी शक्ति और योग्यता होनी चाहिए कि वह श्रमिकों को उनकी कार्यक्षमता के अनुसार कार्य दे सके। यद्यपि यह सर्वथा सम्भव नहीं हो सकता है, तथापि जहाँ तक सम्भव हो ऐसा होना चाहिए। (vi) ठीक-ठीक श्रम-विभाजन पर भी उत्पत्ति की कुशलता, श्रमिकों की कार्यक्षमता और प्रबन्धक की सफलता पर निर्भर रहती है।

दूसरे शब्दों में, श्रमिकों से ठीक-ठीक काम लेने के लिए यह आवश्यक है कि *प्रबन्धक में एक नेता के गुण हों। आजकल उद्योग-धन्धों और वाणिज्य में "नेतृत्व" (Leadership) का वही महत्त्व है, जैसा कि युद्ध में।* प्राचीन काल में युद्ध में हार-जीत सैनिक की वीरता, शूरता और चातुर्य पर उतनी ही निर्भर थी, जितनी कि एक सेनापति की कुशलता पर। जिसकी सेना में जितने ही अधिक अच्छे सेनापति होते थे, उतनी ही अधिक उस सेना की विजय की आशा होती थी। परन्तु आजकल हार-जीत का निर्णय एक ऐसे व्यक्ति पर निर्भर है, जो लड़ाई के मैदान से बहुत दूर, टेलीफून के तारों के जमघट के बीच बैठा है जिसके सामने सम्भवतः कुछ कागज फैले हों, जो यह निर्णय करता है कि युद्ध किस प्रकार होगा, *जिससे शत्रु को अधिक से अधिक मोर्चों पर हार खानी पड़े और उसकी पराजय हो जाय। इसी प्रकार, आधुनिक उद्योग-धन्धों और वाणिज्य में भी सफलता अधिकतर प्रबन्धक की संचालन शक्ति पर ही निर्भर होती है।*

(३) **प्रबन्धक के गुण**—प्रबन्धक की कुशलता केवल इस बात में नहीं है कि वह इस बात का ठीक-ठीक अनुमान लगा ले कि कौन-सी वस्तु किस मात्रा में तैयार की जाय, बल्कि उसे इस बात का भी ज्ञान होना चाहिए कि कौन-सी नई-नई वस्तुएँ हैं, जिनकी माँग है और वे कौन-सी पुरानी वस्तुएँ हैं, जिनकी माँग अधिक है। इसके अतिरिक्त, उसे उत्पत्ति की नई-नई विधियों तथा उपयोग में आने वाली नई-नई मशीनों के सम्बन्ध में जानकारी होना भी अत्यन्त आवश्यक है।

(४) **विशिष्ट ज्ञान (Special Knowledge)**—प्रबन्धक को उसके व्यवसाय में काम आने वाले कच्चे माल के सम्बन्ध में भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए, उसे कच्चा माल कहाँ अच्छा मिलता है, मशीन आदि की बनावट, परिचालन आदि का भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए।

(५) **आत्मविश्वास और विश्वास दिलाने वाली योग्यता**—प्रबन्धक को अपने ऊपर विश्वास होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, उसमें इतनी योग्यता होनी चाहिए कि अन्य व्यक्तियों को अपने तथा अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में विश्वास दिला सके। विश्वास दिलाने की योग्यता आजकल विशेषतया महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आधुनिक व्यवसाय अधिकतर उधार ली हुई पूँजी से चलाये जाते हैं। पूँजीपति उधार तब दे सकता है, जब उसे इस बात का विश्वास हो कि उसका रुपया डूबेगा नहीं। इसके लिए यह आवश्यक है कि पूँजीपति को प्रबन्धक की योग्यता में विश्वास हो। यही नहीं प्रबन्धक के नीचे के कर्मचारी भी काम तभी ठीक-ठीक कर सकते हैं, जब उनको प्रबन्धक और उसकी कुशलता में विश्वास हो।

बहुधा देखा जाता है कि बहुत से सफल प्रबन्धक अपना काम स्वाभाविक अथवा सहज प्रवृत्ति से करते हैं, न कि किसी विशेष विचार के कारण। वे यह तो जानते हैं कि किसी दशा विशेष में उन्हें क्या करना चाहिए या क्या करना ठीक है, परन्तु ऐसा करने का वे कारण

प्रस्तुत नहीं कर सकते हैं। एक आदर्श प्रबन्धक में जो गुण होने चाहिए, वे इतनी उच्च कोटि के होते हैं कि वास्तविक जीवन में कम ही मिलते हैं। कुछ व्यक्तियों में कुछ गुण होते हैं और कुछ में दूसरे। कुछ प्रबन्धक तो अपने गुणों के ही कारण सफल होते हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जिनकी सफलता का मुख्य कारण उनकी चालाकी है। इसी प्रकार, कुछ प्रबन्धक अपने अनुशासन के कारण सफल होते हैं। तात्पर्य यह है कि अच्छे से अच्छे प्रबन्धक भी आदर्श से बहुत नीचे होते हैं। इसीलिए वेबलन (Veblen) का कथन है कि प्रबन्धक का मुख्य उद्देश्य अधिकतम् उत्पत्ति नहीं है, वरन् अधिकतम् लाभ है।

साहसी के गुण

एक अच्छे साहसी के लिये भी कुछ गुण होना अनिवार्य है। वह दूरदर्शी होना चाहिए तब ही वह व्यवसाय की भावी प्रवृत्तियों का अनुमान लगा सकता है। वह शिक्षित एवं तेज बुद्धि वाला होना चाहिए अन्यथा व्यवसाय की जटिलताओं को समझने और सुलझाने में समर्थ नहीं होगा उसमें शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता होना भी बहुत आवश्यक है, क्योंकि विलम्ब व्यवसाय के लिये घातक हो सकता है। उसे मानवीय प्रकृति का अच्छा ज्ञान होना चाहिये, तब ही वह व्यवसाय के लिए योग्य कार्यकर्त्ताओं का चुनाव कर सकेगा। उसे ईमानदार, गम्भीर, धैर्यवान एवं दृढ़ निश्चयी होना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न :

१. 'सङ्गठन' के महत्त्व की व्याख्या कीजिए, जो उत्पादन का एक साधन है। उत्पादन में साहसी (Entrepreneur) का क्या महत्त्व है ?
२. साहस (Enterprise) की परिभाषा लिखिए। आधुनिक आर्थिक जीवन में उसके महत्त्व को समझा कर लिखिए।
३. "व्यापारी एक ओर कच्चे माल के उत्पादन और निर्माता के मध्य तथा दूसरी ओर निर्माता और उपभोक्ता के मध्य एक पुल का काम करता है।" विवेचन कीजिये।
४. "यह व्यापारी है न कि निर्माता जो कीमत मिकेनिज्म से निर्देशित आधुनिक आर्थिक प्रणाली की धुरी बना हुआ है।" विवेचन कीजिए।

८

उत्पत्ति का पैमाना

(The Scale of Production)

प्रारम्भिक—

प्रत्येक साहसी को यह निश्चित करना पड़ता है कि उसकी फर्म अथवा उत्पादन इकाई का आकार कितना बड़ा रहेगा। कारण यह है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए उत्पादन इकाई का एक निश्चित आकार ही सबसे अधिक लाभप्रद होता है। इस सम्बन्ध में हम दो प्रकार की उत्पत्ति मे भेद करते हैं :—(I) बहु-मात्रा अथवा बड़े पैमाने की उत्पत्ति (Large Scale Poduction), और (II) लघु-मात्रा अथवा छोटे पैमाने की उत्पत्ति (Small Scale Production)।

बड़े एवं छोटे पैमाने की उत्पत्ति से आशय

यह पता लगाने के लिए कि किसी देश मे किसी एक वस्तु का उत्पाद छोटे पैमाने पर हो रहा है अथवा बड़े पैमाने पर, हम इस बात पर ध्यान नहीं देते कि देश में उस उद्योग द्वारा कुल मिलाकर कितनी उत्पत्ति की जाती है, बल्कि यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि देश मे प्रति उत्पादन इकाई उत्पत्ति की मात्रा कितनी होती है। यदि प्रति उत्पादन-इकाई उत्पत्ति की मात्रा अधिक है तो उत्पत्ति का पैमाना बड़ा और, यदि उत्पत्ति की मात्रा थोड़ी है, तो उत्पत्ति का पैमाना छोटा होगा।

दोनों प्रकार की उत्पत्ति मे भेद करने की हम एक अन्य रीति अपना सकते हैं। यदि किसी फैक्टरी अथवा कारखाने मे कर्मचारियों की संख्या इतनी है कि व्यवस्थापक प्रत्येक कर्मचारी से प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रख सकता है, तो उत्पत्ति का पैमाना छोटा होगा। इसके विपरीत, यदि कर्मचारियों की संख्या इतनी अधिक है कि व्यवस्थापक के लिए सभी कर्मचारियों से प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्पर्क बनाये रखना सम्भव नहीं है, तो उत्पत्ति का पैमाना बड़ा होगा। अलग-अलग उद्योगों मे उनकी प्रकृति के अनुसार व्यवस्थापक की कर्मचारियों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क रखने की क्षमता अलग-अलग हो सकती है। कुछ उद्योगों में प्रति उत्पादन इकाई उत्पत्ति की मात्रा के अधिक होने हुए भी उत्पत्ति का पैमाना छोटा हो सकता है, क्योंकि उद्योग की प्रकृति ही ऐसी हो सकती है कि व्यवस्थापक प्रत्येक श्रमिक को व्यक्तिगत रूप से जाने।

इस प्रकार, छोटे और बड़े पैमाने की उत्पत्ति का आकार सभी उद्योगों में समान नहीं होता। साधारणतया निर्माण उद्योगों में बड़े पैमाने की उत्पत्ति के अन्तर्गत प्रति इकाई उत्पादन की मात्रा कृषि उद्योग की तुलना में अधिक होती है। भूतकाल मे अधिकांश उत्पत्ति प्रायः छोटे पैमाने पर ही होती थी। कृषि मे भी उत्पत्ति का पैमाना छोटा था और अधिकांश औद्योगिक उत्पादन कुटीर उद्योगों द्वारा किया जाता था। कालान्तर में उत्पत्ति का पैमाना बढ़ता गया है। आधुनिक युग बड़े पैमाने का ही युग है और यह आशा की जाती है कि भविष्य मे उद्योगों की उत्पत्ति के पैमानों का और भी अधिक विस्तार होगा।

'बड़े पैमाने की उत्पत्ति' और 'बड़ी मात्रा में उत्पत्ति'—

यहाँ पर हमे 'बड़े पैमाने की उत्पत्ति' (Large Scale Production) और 'बड़ी मात्रा मे उत्पत्ति' (Mass Production) के भेद को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। इन दोनों की विशेषताओं मे इतना अधिक सादृश्य है कि लोग इन्हें एक ही समझ लेते हैं किन्तु यथार्थ में दोनों मे अन्तर है। 'बड़े पैमाने के उत्पादन' का आशय बड़ी इकाइयों द्वारा उत्पादन से है (चाहे ये एक ही स्थान मे स्थापित हो या अलग-अलग स्थानों मे), जैसे—एक एयरक्राफ्ट फैक्टरी वर्ष मे इने-गिने जहाज ही बनाती है किन्तु चूँकि उसमें साधनों का प्रयोग बड़ी मात्रा मे किया जाता है इसलिए उसे 'बड़े पैमाने का उद्योग' कहेंगे। ऐसे उद्योगों को आन्तरिक एव बाह्य दोनों ही प्रकार की बचतें प्राप्त होती हैं। इसके विपरीत, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति का सम्बन्ध उन उद्योगों से है जो चाहे छोटे कारखानों के रूप मे हों, किन्तु जिनमे प्रमापित वस्तुओं का उत्पादन बड़ी मात्रा मे किया जाता है। (प्रमापित वस्तु की सब इकाइयाँ समरूप होती हैं और इनके Component parts विनिमय साध्य होते हैं) घड़ी बनाने का कारखाना छोटा होता है, किन्तु उसमे प्रति वर्ष बड़ी संख्या मे घड़ियाँ बनती हैं। अतः यह बड़ी मात्रा की उत्पत्ति का उदाहरण है। ऐसे उद्योगों को केवल आन्तरिक बचतें ही प्राप्त होती हैं, बाह्य बचतें प्राप्त होना जरूरी नही।

बड़े पैमाने की उत्पत्ति में बचत
(Economies of Large Scale Production)

बड़े पैमाने पर उत्पत्ति करने की प्रवृत्ति बराबर बढ़ती जा रही है। मशीनों के आविष्कार और बैंकिंग के विकास ने इस प्रवृत्ति को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया है। परन्तु बड़े पैमाने की उत्पत्ति की लोकप्रियता के प्रमुख कारण आर्थिक हैं। ऐसे पैमाने की उत्पत्ति को विशेष प्रकार की बचतें प्राप्त होती हैं, जिनके कारण इसमें लाभ होता है। ये बचतें (Economies) दो प्रकार की होती हैं :—

(I) उत्पादन-शक्ति की बचत (Economies of Productive Power)—

"उत्पादन शक्ति की बचत" का अभिप्राय यह होता है कि बड़े पैमाने की उत्पत्ति के अन्तर्गत फर्म विशेष की उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है, जिससे वह लागत पर अधिक मात्रा मे और अधिक माल तैयार करती है। उत्पादन-क्षमता की बचतों को हम निम्न दो भागों मे बाँट सकते हैं —

(१) बाह्य बचत (External Economies)—इस प्रकार की बचत मे हम उन बचतों को सम्मिलित करते हैं, जो एक उत्पादक को उत्पादन इकाई के बाहर से प्राप्त होती हैं। इस प्रकार की बचतों का फर्म के भीतरी सङ्गठन से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नही होता है, वे उन कारणों से उत्पन्न होती हैं, जो फर्म के अधिकार क्षेत्र से बाहर होते हैं। ऐसी बचत का सम्बन्ध किसी विशेष फर्म से नही होता, बल्कि सारे उद्योग मे होता है। सभी फर्म या कारखाने; जो उद्योग विशेष मे भाग लेते हैं, इन बचतों को प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी बचतों की मात्रा सारे उद्योग के विकास की स्थिति पर निर्भर होती है।

उदाहरणस्वरूप, जब माल अधिक मात्रा मे खरीदा जाता है, तो वह कुछ सस्ता मिल जाता है और अधिक माल ढोने के लिए यातायात कम्पनियाँ भाड़े की दर नीची कर देती हैं। "बाह्य बचतों" मे स्थानीयकरण (Localisation) के लाभ, यातायात और सम्वादवाहन के साधनों के विकास के लाभ, बाजार और बैंकिंग के विकास के लाभ आदि भी सम्मिलित होते हैं। ऐसे लाभों की मात्रा बहुधा देश के सामान्य आर्थिक विकास पर निर्भर होती है। उन्नतिशील देशों मे कम-उन्नत देशों की तुलना मे इस प्रकार की बचत अधिक होती है।

(२) अभ्यान्तरिक अथवा भीतरी बचत (Internal Eocnomies)—इस प्रकार की बचत का सम्बन्ध कारखाने की भीतरी व्यवस्था से होता है। इसमें उन सब सुविधाओं को सम्मिलित किया जाता है, जो कारखाने के भीतरी संगठन की दशाओं में सुधार के कारण उत्पन्न होती हैं। ऐसी सुविधाओं का सम्बन्ध फर्म विशेष से होता है, सारे उद्योग से नहीं। एक बड़े अंश तक इस प्रकार की सुविधायें प्रबन्धक की व्यक्तिगत कुशलता और योग्यता पर भी निर्भर होती हैं। एक चतुर और अनुभवी प्रबन्धक अपने कारखाने में उत्पादन की नई और वैज्ञानिक रीतियों का उपयोग करके उत्पत्ति की कुशलता को बढ़ा सकता है। वह उत्पत्ति के साधनों के उपयोग की नई और अधिक मितव्ययी रीतियाँ निकाल सकता है। सबसे बड़ा लाभ श्रम-विभाजन (Division of Labour) से वैज्ञानिक और सूक्ष्म विकास के कारण होता है।

इस सम्बन्ध में किंचित् यह कहना असङ्गत न होगा कि वर्तमान युग में शिक्षा, विज्ञान तथा शिल्प ज्ञान के विकास के कारण बाह्य बचत अभ्यान्तरिक बचतों की तुलना में अधिक तेजी के साथ बढ़ रही हैं; यद्यपि श्रम विभाजन की उन्नति ने अभ्यान्तरित बचत को भी प्रोत्साहित किया है। आधुनिक युग की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विशिष्ट ज्ञान और औद्योगिक रहस्य धीरे-धीरे सभी उत्पादकों को प्राप्त होते जा रहे हैं।

(II) उपयोगी शक्ति की बचत (Economies of Competitive Power)—

इन बचतों में हम उन लाभों को सम्मिलित करते हैं जो एक बड़ी फर्म को छोटी फर्मों के साथ प्रतियोगिता करने में प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि उत्पादन शक्ति की बचत फर्म तथा समाज दोनों को होती है, परन्तु प्रतियोगिता शक्ति की बचत केवल बड़ी-बड़ी और शक्तिशाली फर्मों को ही प्राप्त होती है। ऐसी बचत भी दो प्रकार की हो सकती है :—

(१) एक बड़ी फर्म बहुधा छोटी-छोटी फर्मों का व्यवसाय छीन लेने में सफल हो सकती है। ऐसा करने के लिए वह विस्तृत विज्ञापन कर सकती है। बिक्री की तुलना में उसका विज्ञापन व्यय भी नीचा होता है, क्योंकि एक ही साथ बहुत-सी उपजों का विज्ञापन किया जाता है। पत्र और पत्रिकाएँ इसके विज्ञापनों के लिए कम मूल्य लेती हैं और बिक्री की मात्रा की तुलना में इसे एजेन्ट और बिक्री डिपो कम संख्या में रखने की आवश्यकता होती है।

(२) एक बड़ी फर्म के लिए मजदूरियों को कुछ नीचे रखना और उपभोक्ताओं से ऊँची कीमतें वसूल करना भी बहुधा सम्भव होता है। इससे बड़े उत्पादक को तो लाभ होता है, परन्तु समाज की हानि होती है। इसके अतिरिक्त बड़ी फर्म को सस्ती साख की विस्तृत सुविधायें प्राप्त होती हैं, जिसके कारण छोटी फर्मों के लिए उसकी प्रतियोगिता में रहना कठिन हो जाता है।

बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ
(Advantages of Large-scale Production)

बड़े पैमाने की उत्पत्ति के अधिकांश लाभ उन बचतों के कारण पैदा होते हैं, जो बड़े उत्पादक को प्राप्त होते हैं। ऐसे लाभों की सविस्तार विवेचना निम्न प्रकार की जा सकती है :—

(I) उत्पादकों को लाभ—

(१) श्रम तथा मशीन के उपयोग में बचत—ऐसी उत्पत्ति में श्रम और मशीन दोनों का अधिक विशिष्ट उपयोग किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा मशीन का सबसे अधिक लाभदायक उपयोग हो सकता है। श्रम-विभाजन को उसकी चरम सीमा तक ले जाकर प्रत्येक श्रमिक को उसकी योग्यतानुसार काम दिया जा सकता है। इससे उत्पादन की क्षमता बढ़ती है और उत्पादन व्यय घटता है।

(२) **निपुण और योग्य कर्मचारियों का उपयोग**—एक बडे उत्पादक के लिए निपुण और योग्य कर्मचारियो का रखना भी सम्भव होता है। कुछ उद्योगों मे विशिष्ट प्रकार के श्रम का उपयोग महत्त्वपूर्ण होता है। ऐसे कारखानो मे साहसी कारखाने की सामान्य समस्याएँ अपने प्रबन्धक, फोरमैन (Foreman) आदि को सौंप कर स्वय नीति निर्माण के कार्य को कर सकता है। एक छोटे पैमाने के उत्पादक को सभी काम स्वय ही करने पडते हैं। यही कारण है कि बडे पैमाने की उत्पत्ति मे उत्पादक की कुशलता अधिक होती है।

(३) **विशिष्ट यन्त्रों का उपयोग**—बडे पैमाने के कारखाने मे विशिष्ट मशीनो और यन्त्रो का भी उपयोग हो सकता है। अधिकतर ऐसी मशीनें अधिक महँगी होती हैं और छोटा उत्पादक या तो धनाभाव के कारण उनका उपयोग नही कर सकता है या उसके लिए उनका उपयोग लाभदायक नही होता है।

(४) **नये यन्त्रो का उपयोग**—बडे पैमाने का उत्पादक नई से नई मशीनो और यन्त्रो का उपयोग कर सकता है। उसके लिए नये आविष्कारो और उत्पत्ति सम्बन्धी नये अनुसधानो (Researches) का उपयोग सम्भव हो सकता है, क्योंकि उसके पास अधिक धन होता है। इसी प्रकार बडा उत्पादक मरम्मत के लिए भी अपने निजी कारखाने खोल सकता है।

(५) **आविष्कार और अनुसंधान**—एक बडे पैमाने का उत्पादक अपने कारखाने के लिये आविष्कार और अनुसधान का भी प्रबन्ध कर सकता है। वह ऐसे वैज्ञानिकों और शिल्प विशेषज्ञो की सेवायें प्राप्त कर सकता है, जो उत्पादन की नई रीतियो द्वारा उसके उत्पादन की क्षमता को बढ़ा सके।

(६) **अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग**—बडे पैमाने की उत्पत्ति मे अवशिष्ट पदार्थों (By-products) को भी फेंक देने की आवश्यकता नही होती है। प्रत्येक उत्पादन कार्य मे किसी न किसी प्रकार की अवशिष्ट उपज अथवा बेकार सामान अवश्य निकलता है। छोटे-छोटे कारखाने ऐसी उपज का कोई उपयोग नही कर पाते किन्तु बडे-बडे कारखाने इसका भी उपयोग कर लेते हैं। एक बडा सूती कपडे का कारखाना टूटे-फूटे सूत के धागों को दरियाँ बनाने के काम मे ला सकता है, क्योंकि उसके पास यह टूट-फूट अधिक मात्रा मे निकलती है।

(७) **शक्ति के उपयोग मे बचत**—बड़ा उत्पादक शक्ति के उपयोग मे भी बचत कर सकता है, क्योंकि वह बडी तथा नवीन प्रकार की मशीनों का प्रयोग करता है, जिनमे प्रति उत्पादन इकाई कम शक्ति का व्यय होता है।

(८) **माल खरीदने और बेचने मे बचत**—बडे कारखानेदार को माल के खरीदने और बेचने मे भी बचत होती है, क्योंकि विभिन्न उत्पादक माल बेचने और उसे अपना ग्राहक बनाने के लिए इच्छुक रहते हैं। इससे माल अच्छा मिल जाता है और कम दाम पर भी मिलता है। इसके विपरीत, बडी फर्म के पास विस्तृत बाजार होता है। वह तुरन्त और नियमित रूप से माल सप्लाई कर सकती है। उसके लिए ग्राहकों के आदेशों को शीघ्र तथा कम व्यय पर पूरा करना सम्भव होता है। यही नही, एक बडी फर्म योग्य विक्रेताओ, एजेण्टो और बिक्री विशेषज्ञो की भी सेवायें प्राप्त कर सकती है। इससे बाजार की स्थिति का सही ज्ञान मिलता रहता है और बिक्री व्यय कम होता है।

(९) **विशाल साधन**—बडी फर्म के साधन विशाल होते हैं। फलत सकट के काल में भी ऐसी फर्म के लिए छोटे उत्पादको की तुलना मे अपने पैरों पर खडे रहना अधिक सरल होता है।

(१०) **विज्ञापन लाभ**—बडी फर्म विज्ञापन तथा बिक्री सगठन पर अधिक व्यय कर सकती है। इससे बिक्री बढती है और लाभ अधिक हो जाते हैं।

(११) पूँजी के उपयोग में बचत—बड़े पैमाने के उत्पादक को पूँजी के उपयोग में भी बचत होती है, क्योंकि ऐसे उत्पादक की साख ऊँची होती है, जिससे उसे कम ब्याज पर और अधिक मात्रा में ऋण मिल जाता है।

(१२) नीचा यातायात व्यय—यातायात कम्पनियाँ अधिक माल मँगाने वालों और भेजने वालों को भाड़े की दर में छूट दे देती हैं। अन्य लोग भी अधिक माल की सप्लाई और निकासी के लिए नीची दरें रखते हैं।

(१३) ऊपरी व्यय में कमी—बड़े कारखानों में उत्पत्ति की प्रति इकाई के पीछे अनुपूरक व्यय (Supplementary costs) अथवा ऊपरी व्यय (Overhead charges) कम आते हैं। ऐसे व्यय में हम उद्योग के प्रशासन सम्बन्धी व्यय, जैसे—प्रबन्धकों तथा कार्यालय का व्यय, भूमि या फैक्टरी का लगान, विज्ञापन-व्यय आदि को सम्मिलित करते हैं। ये व्यय साधारणतया निश्चित अथवा स्थिर होते हैं। चूँकि उत्पत्ति के पैमाने के विस्तार के साथ-साथ ये उत्पत्ति की अधिक इकाइयों पर फैलते जाते हैं, इसलिए प्रति इकाई *उत्पादन-व्यय नीचा रहता है*। उत्पत्ति में कुछ अविभाज्य साधनों का भी उपयोग होता है जिनका व्यय न्यूनतम् उसी दशा में होता है, जबकि उत्पत्ति का पैमाना बड़ा रखा जाय।

(१४) नीचा पैकिंग व्यय—पैकिंग (Packing) के सम्बन्ध में भी बड़े पैमाने के उत्पादक को लाभ होता है। पैकिंग का काम मशीनों की सहायता से शीघ्रतापूर्वक, कम व्यय पर तथा जल्दी हो जाता है। इसमें उपभोक्ताओं अथवा ग्राहकों को भी माल कम दाम पर मिल जाता है।

(II) जन-साधारण को लाभ—

बड़े पैमाने की उत्पत्ति सम्बन्धी उपरोक्त लाभ उत्पादक को होते हैं, परन्तु ऐसी उत्पत्ति से श्रमिकों, उपभोक्ताओं जन-साधारण को भी लाभ होता है :—(i) बड़े पैमाने से वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन-व्यय कम होता है, जिससे वे सस्ती बिकती हैं। (ii) इससे उपभोक्ताओं को लाभ होता है और सारे समाज का जीवन स्तर ऊँचा उठ जाता है। (iii) बड़े कारखाने के श्रमिकों को भी अनेक सुविधायें मिल जाती हैं, जैसे—ऊँचे वेतन, अच्छे मकान, चिकित्सा की सुविधा आदि। (iv) श्रम-विभाजन की सुविधा के बढ़ जाने के कारण, श्रमिक को उसकी योग्यता और निपुणता के अनुसार काम मिल जाता है। (v) मशीनों के उपयोग के कारण श्रमिकों की गतिशीलता बढ़ जाती है, क्योंकि विभिन्न प्रकार की मशीनों में कोई विशेष अन्तर नहीं होते हैं। (vi) बहुत से श्रमिकों के एक साथ रहने के कारण श्रम संघों का भी विकास होता है, जो श्रमिकों के कल्याण को बढ़ाने में सहायक होते हैं।

बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमायें
(Limits to Large-scale Production)

उपरोक्त लाभों के कारण एक फर्म अपना विस्तार करती जाती है। जैसे-जैसे उत्पत्ति का पैमाना बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आन्तरिक और बाह्य बचतें फर्म विशेष को और अधिक मात्रा में प्राप्त होती जाती हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि उत्पत्ति के पैमाने का यह विस्तार कहाँ रुकेगा ? यह जानना आवश्यक है कि इन बचतों की भी एक सीमा होती है, जिसके आगे इन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता है। बड़े पैमाने की उत्पत्ति की निम्न दो सीमायें होती हैं :—(i) साहसी की योग्यता और शक्ति तथा (ii) बाजार की प्रकृति। कभी-कभी बढ़ते-बढ़ते व्यवसाय इतना बड़ा हो जाता है कि वह सेवायोजक (Employer) की शक्ति से बाहर हो जाता है और फिर प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण पैमाने का विस्तार रुक जाता है। इसी प्रकार, किसी फर्म के विस्तार की सीमा इस बात पर भी निर्भर होती है कि उपज की माँग की क्या स्थिति

है। साधारणतया बाजार जितना ही अधिक विस्तृत होगा और वस्तु की मांग जितनी ही स्थायी होगी, उतना ही उत्पत्ति के पैमाने के विस्तार की सम्भावना भी अधिक होगी। प्रो॰ चैपमैन ने किसी फर्म के विस्तार की अन्तिम सीमायें निम्न प्रकार बताई है :—(i) व्यवस्था की भीतरी जटिलता। (ii) उपज की किस्म का महत्त्व। (iii) मशीनों की महगाई। (iv) बाहरी सम्बन्ध, जो बाजारों की प्रकृति पर निर्भर होते हैं। (v) वस्तु की मांग का स्थायित्व। (vi) उत्पादन-विधि की तुलना मे उद्योग की स्थिरता। (vii) बडे पैमाने के उत्पादन की बचतें।

बड़े पमाने की उत्पत्ति के सामाजिक दुष्परिणाम

बडे पैमाने के उत्पादन के दोष भी महत्त्वपूर्ण है। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) छोटे उत्पादकों से कटु प्रतियोगिता—बडे उत्पादक के पास विशाल साधन होते हैं। वह छोटे उत्पादकों के साथ सफलतापूर्वक प्रतियोगिता करके धीरे-धीरे उन्हें समाप्त कर देता है। धन और उत्पत्ति के साधन थोडे से व्यक्तियो के पास एकत्रित हो जाते है। इससे अन्त मे एकाधिकार (Monopoly) स्थापित हो जाता है, उपभोक्ता और जनसाधारण का शोषण होने लगता है और सारे समाज को हानि होती है। एकाधिकारी राजनीतिक भ्रष्टाचार को बढाते है, क्योंकि उनके पास विशाल आर्थिक शक्ति होती है, जिसका वे दुरुपयोग करते हैं।

(२) श्रमिकों से व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव—बडे पैमाने का उत्पादन सभी श्रमिको से व्यक्तिगत सम्पर्क नही रख सकता। इसका परिणाम यह होता है कि मालिक और कर्मचारियो के बीच मन-मुटाव बढ़ने लगता है। दोनो ही एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने में असमर्थ रहते है, जिससे औद्योगिक विवाद (Industrial Disputes) बढ़ते है, जो हड़तालो और तालाबन्दी के रूप मे प्रकट होते है तथा देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन की शान्ति भङ्ग कर देते हैं।

(३) व्यक्तिगत रुचि के उद्योगो मे विफल—बहुत-सी वस्तुये ऐसी होती है, जिनका उत्पादन बडे पैमाने पर सफल नही होता है। जिन वस्तुओ मे व्यक्तिगत रुचि को पूरा करने का गुण आवश्यक होता है, उनका प्रमापीकरण (Standardisation) नही हो सकता। इसी प्रकार जिन सेवाओ या उत्पादक द्वारा सम्पर्क करना आवश्यक होता है उनका उत्पादन भी बड़े पैमाने पर सफल नही हो सकता है।

(४) वितरण मे असमानतायें—बडे पैमाने के उत्पादन से देश के भीतर उत्पादित धन के वितरण में असमानतायें आ जाती है। इससे एक ओर तो देश मे आर्थिक कल्याण घट जाता है और दूसरी ओर समाज में असन्तोष फैलता है।

(५) मांग के अनुमान मे त्रुटि—बडे पैमाने का उत्पादक बहुधा मांग का सही अनुमान नही लगा पाता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश का उत्पादन प्रप्रभाविक मांग (Effective Demand) से कम या अधिक हो सकता है। इससे "अति-उत्पादन" (Over-production) और "न्यून-उत्पादन" (Under-production) की समस्यायें उत्पन्न होती हैं और आर्थिक जीवन मे सङ्कट (Crisis) आते हैं।

(६) पूँजीवाद के दोषों को बढ़ावा—बडे पैमाने का उत्पादन पूँजीवाद और उसकी बुराइयो को प्रोत्साहन देता है। वह उत्पादक को समाज का शोषण करने की शक्ति को बढ़ा देता है।

यहाँ पर यह जानना असंगत न होगा कि बड़े पैमाने के उत्पादन के अधिकांश दोष यथार्थ में पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के उपयोग के दोष हैं। वास्तव में स्वयं बड़े पैमाने के उत्पादन मे कोई गम्भीर दोष नहीं है। यदि ऐसे उद्योगो के लाभ व्यक्तियो को न मिलकर सारे समाज

अधिक न्यायपूर्ण तथा समान वितरण होता है। इससे एक ओर तो सामाजिक कल्याण मे वृद्धि होती है और दूसरी ओर सन्तोष और सहयोग को प्रोत्साहन मिलता है, जिसका देश के राजनीतिक जीवन मे अधिक महत्त्व होता है।

(७) **स्वतन्त्रता एवं उत्साह**—छोटे पैमाने के उत्पादन मे श्रमिको की स्वतन्त्रता और उनका उत्साह बना रहता है। अत्यधिक श्रम-विभाजन के दोष यहाँ नही रहते हैं और न काम नीरस ही रहता है।

(८) **मशीन की आवश्यकता नहीं होती**—ऐसे उत्पादन मे मशीनो के अत्यधिक उपयोग से सम्बन्धित दोष भी नही रहते हैं। श्रमिक मशीन का दास बन कर बेकार नही हो जाता है।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति से हानियाँ—

(१) **प्रति इकाई अधिक उत्पादन-व्यय**—बड़ी उत्पत्ति वालो को जो भिन्न प्रकार की बचतें प्राप्त है, वे छोटी उत्पत्ति वालो को उपलब्ध नही होती हैं। फलतः छोटी उत्पत्ति वालों का प्रति इकाई उत्पादन-व्यय अधिक होता है। उदाहरणार्थ, नवीनतम् मशीनों के उपयोग से बचत, अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग, सूक्ष्म श्रम-विभाजन से बचत, कार्यालय मे बचत, बैंकिंग विभाग से बचत, मरम्मत की दुकानो से बचत, कच्चा माल स्वय तैयार करने से बचत, शक्ति के साधनो के स्वय स्वामी होने से बचत, अपने ही यातायात के साधनों से बचत, आदि सुविधायें केवल बडी उत्पत्ति वालो को ही उपलब्ध हो सकती हैं।

(२) **कम प्रतियोगिता शक्ति**—प्रति इकाई उत्पादन व्यय अधिक होने से छोटी उत्पत्ति वालो की प्रतियोगिता शक्ति अपेक्षतन कम होती है।

(३) **बहुत अधिक पूँजी वाले उद्योगों में अनुपयुक्त**—बहुत से व्यवसाय ऐसे हैं जिनमे बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यवसाय केवल बड़ी पूँजी वाले ही कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यातायात उद्योग, खानों की खुदाई, थोक व्यापार और बहुत से निर्माण सम्बन्धी उद्योग छोटी पूँजी वालो के लिए असम्भव ही हैं।

परीक्षा प्रश्न :

१. बडे पैमाने के उत्पादन से आप क्या समझते हैं? इससे क्या लाभ हैं? ऐसा क्यों है कि भारत मे कुटीर उद्योग को प्रोत्साहन दिया जा रहा है?
[**सहायक संकेत:**—सर्वप्रथम बडे पैमाने के उत्पादन का अर्थ बताइये। तत्पश्चात् आन्तरिक और बाह्य बचतो को समझाइये और अन्त मे यह बताइये कि निम्न कारणो से भारत मे कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन दिया जा रहा है—पूँजी की कमी किन्तु श्रमिको का बाहुल्य, धन के वितरण मे सुधार एवं सतुलित आर्थिक विकास।]

२. मशीनो के प्रयोग और बडी मात्रा की उत्पत्ति से कौन-कौन सी बचतें प्राप्त होती हैं? छोटे पैमाने के उद्योगो का बडे पैमाने के उद्योगो के साथ अस्तित्व क्यो बना हुआ है, समझाइये।
[**सहायक संकेत** —सर्वप्रथम बडे पैमाने की उत्पत्ति से मिलने वाली आन्तरिक और बाह्य बचतें बताइये। तत्पश्चात् बडे पैमाने के उत्पादन की सीमाओ और छोटे उत्पादन के कुछ लाभो को बताइये, क्योकि ये ही वे परिस्थितियाँ हैं जिनके अन्तर्गत छोटे पैमाने की इकाइयों के साथ सफलतापूर्वक प्रतियोगिता कर सकती हैं और इसलिए वे आज भी जीवित हैं।]

३. व्यावसायिक इकाई के आकार को निर्धारित करने वाले घटकों का विवेचन कीजिये। दिखाइये कि प्रबन्ध सम्बन्धी समस्या किस प्रकार एक बाधक तत्व है ?
[सहायक संकेत :—यहाँ बड़े पैमाने की उत्पत्ति की सीमायें बताइये, क्योंकि ये सीमायें ही *वे तत्व हैं जो कि उत्पत्ति के पैमाने को बढ़ाने में बाधक होती हैं अथवा यों कहें कि व्याव*-सायिक इकाइयों के आकार को निर्धारित करती हैं। प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाइयों या सीमाओं को कुछ विस्तारपूर्वक किन्तु अन्य सीमाओं के बाद में बताइये। इससे प्रश्न के *दूसरे भाग का उत्तर भी पूर्ण हो जायेगा।]*

४. आधुनिक उद्योग बड़े पैमाने पर क्यों संगठित किये जाते हैं ? बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमायें बताइये।
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम यह बताइये कि बड़े पैमाने के उत्पादन से कुछ आन्तरिक और बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं जिनके सुपरिणामस्वरूप प्रति इकाई लागत कम होती है। अत: इन बचतों को प्राप्त करने हेतु ही आधुनिक उद्योग प्राय: बड़े पैमाने पर संगठित किये जाते हैं। तत्पश्चात् इन बचतों को बताइये और अन्त में बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमाओं पर प्रकाश डालिए।]

५. 'बड़े पैमाने के उत्पादन' और 'बड़ी मात्रा में उत्पादन' में भेद कीजिये। बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ और हानियाँ बताइये।
[सहायक संकेत :—*सर्वप्रथम 'बड़े पैमाने का उत्पादन' का अर्थ बताइये और 'बड़ी मात्रा* में उत्पादन' से इसका भेद उदाहरण देकर समझाइये। तत्पश्चात् संक्षेप में बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ और हानियाँ बताइये। निष्कर्ष के रूप में इसकी सीमाओं का संकेत कीजिए।]

६. बड़े पैमाने के उत्पादन की आन्तरिक और बाह्य बचतों में भेद कीजिये। ये मितव्ययितायें उत्पादन को सस्ता कैसे बना देती हैं ?
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम दोनों प्रकार की बचतों का अर्थ बताइये। तत्पश्चात् इनके सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए उदाहरणों की सहायता से यह बताइये कि इनके मध्य अन्तर की कोई निश्चित और स्पष्ट रेखा खींचना कठिन है। अन्त में, विभिन्न प्रकार की *आन्तरिक और बाह्य बचतों का विवरण दीजिये, क्योंकि इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि* ये बचतें उत्पादन को किस प्रकार सस्ता बना देती हैं ?]

७. आन्तरिक और बाह्य बचतों में भेद कीजिये। यह दिखाइये कि उत्पादन के पैमाने का विस्तार इन दोनों प्रकार की बचतों को कैसे प्राप्त करता है ?
[सहायक संकेत—सर्वप्रथम आन्तरिक और बाह्य बचतों में भेद कीजिये। तत्पश्चात् आन्तरिक बचतें प्राप्त होने के कारणों (अविभाज्यता और विशिष्टीकरण) को बताइये और अन्त में बाह्य बचतों के कारणों (स्थानीयकरण एवं विशिष्टीकरण) को समझाइये।]

९

श्रम-विभाजन
(Division of Labour)

प्रारम्भिक—श्रम-विभाजन का अर्थ—

मानव-जीवन की आरम्भिक अवस्था में श्रम-विभाजन नहीं था। पारिवारिक जीवन के विकास के साथ-साथ कुछ अंश तक श्रम-विभाजन होने लगा, किन्तु फिर भी श्रम-विभाजन अपनी बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में ही रहा। प्रत्येक मनुष्य को अपनी आवश्यकता-पूर्ति से सम्बन्धित सभी प्रकार के कार्य करने पड़ते थे। एक व्यक्ति एक ही साथ किसान, शिकारी, जुलाहा और मिस्त्री सभी कुछ होता था।

आर्थिक जीवन और मानव-आवश्यकताओं के विकास के साथ-साथ इसमें कठिनाई अनुभव होने लगी और मनुष्यों ने विभिन्न कार्यों को आपस में बाँटना आरम्भ कर दिया। कोई किसान का कार्य करने लगा, कोई लुहार का और कोई जुलाहे का। इस प्रकार श्रम विभाजन का आरम्भ हुआ। कार्य का बँटवारा शनै शनै बढ़ता गया तथा एक-एक कार्य को और छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटा गया, यहाँ तक कि आज के औद्योगिक युग में प्रत्येक कार्य को बहुत ही छोटी-छोटी सरल क्रियाओं (Processes) में बाँट दिया जाता है।

काम का इस प्रकार बँटवारा ही आर्थिक भाषा में श्रम-विभाजन कहलाता है। प्रत्येक वस्तु का निर्माण छोटी-छोटी क्रियाओं में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक क्रिया अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न की जाती है, यही श्रम-विभाजन है।

यहाँ पर श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण के भेद को अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिए क्योंकि प्रायः गलती से इन दोनों को समान अर्थ में प्रयोग कर दिया जाता है। विशिष्टीकरण एक विस्तृत शब्द है और श्रम-विभाजन इसकी एक किस्म मात्र है। जबकि श्रम-विभाजन वाक्यांश का प्रयोग केवल श्रम के ही सम्बन्ध में होता है, विशिष्टीकरण का प्रयोग श्रम, क्षेत्रो, पूँजी आदि के बारे में किया जाता है। यथार्थ में श्रम के विशिष्टीकरण को ही श्रम-विभाजन कहा जाता है।

श्रम-विभाजन के प्रकार—

(१) श्रम-विभाजन साधारण होता है, जबकि एक क्रिया को बहुत से व्यक्ति मिलकर करते हैं और यह कहना कठिन होता है कि प्रत्येक ने कितना काम किया है। टोमस के अनुसार, "श्रम-विभाजन उस दशा में साधारण कहलाता है जबकि दो या अधिक व्यक्ति एक ही तरीके से काम करते हुए, ऐसे कार्य को मिलकर पूरा करें जो उनमें से केवल एक के लिए बहुत बड़ा, कठिन या भारी हो।" उदाहरणार्थ, दो व्यक्ति मिलकर किसी भारी सामान को उठायें, तो यह साधारण श्रम-विभाजन हुआ।

(२) श्रम-विभाजन जटिल भी हो सकता है, जबकि एक व्यक्ति केवल एक छोटे से काम को ही करता है और सब व्यक्तियों का काम अलग-अलग होता है। प्रो० टोमस के

शब्दों में, "जटिल श्रम-विभाजन वह है जिसके अधीन प्रत्येक व्यक्ति या व्यक्ति समूह कोई ऐसा विशेष कार्य करता है जो कि अन्तिम उत्पादन में सहायक मात्र है।" जैसे—एक व्यक्ति द्वारा रुई कातना, दूसरे व्यक्ति द्वारा कपड़ा बुनना और तीसरे व्यक्ति द्वारा पहिनने के वस्त्र तैयार करना जटिल श्रम-विभाजन है। *जटिल श्रम-विभाजन स्वयं भी दो तरह का होता है—पूर्ण विधि एवं अपूर्ण विधि।*

पूर्ण विधि श्रम-विभाजन वह है जिसके अन्तर्गत उद्योग का उत्पादन कार्य (जैसे—कपड़े के उत्पादन का कार्य) कई विधियों (जैसे कताई, बुनाई, रंगाई आदि) में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक विधि को एक पृथक् व्यक्ति-समूह से कराया जाता है। इसमें एक समूह की उपज दूसरे समूह के लिए कच्चे माल का कार्य करती है। स्मरण रहे कि प्रत्येक विधि स्वयं में पूर्ण होती है किन्तु यदि किसी समूह का कार्य बन्द हो जाय, तो समस्त उत्पादन रुक जायेगा। अत. विभिन्न श्रमिक-समूहों में सहयोग की आवश्यकता पड़ती है।

अपूर्ण विधि श्रम-विभाजन वह है जिसके अन्तर्गत उत्पादन-कार्य की पूर्ण विधियों को अनेक अपूर्ण उप-विधियों में बाँटा जाता है और प्रत्येक उपविधि एक पृथक् श्रमिक समूह से कराई जाती है। ऐसी दशा में प्रत्येक समूह के कार्य का कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं होता। हाँ, उससे सामूहिक उत्पादन में सहायता अवश्य मिलती है।

(३) श्रम-विभाजन व्यावसायिक (Occupational Division of Labour) भी होता है, जबकि कुछ व्यक्ति एक व्यवसाय को करते हैं और कुछ किसी दूसरे व्यवसाय को।

(४) श्रम-विभाजन प्रादेशिक भी हो सकता है, जिसमें अलग-अलग क्षेत्रों या स्थानों में अलग-अलग काम या व्यवसाय ग्रहण किये जाते हैं।

श्रम-विभाजन की दशायें
(Conditions of Division of Labour)

श्रम-विभाजन से उत्पत्ति सम्बन्धी बचतें कुछ विशेष दशाओं में ही प्राप्त होती है। इन दशाओं का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं :—

(१) **बाजार का विस्तार**—श्रम-विभाजन उसी दशा में सम्भव होता है, जबकि उत्पत्ति का पैमाना बड़ा हो और बड़ी संख्या में श्रमिकों को काम पर लगाया जाता हो। यह निश्चय है कि बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करने के लिए विस्तृत बाजार की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि श्रम-विभाजन की सफलता के लिए विस्तृत बाजार आवश्यक होता है।

(२) **उत्पादन की निरन्तरता**—यदि काम लगातार नहीं होता, जिस कारण श्रमिक को बीच-बीच में और काम ढूँढने पड़ते हैं, तो वह अपने को एक ही काम तक सीमित नहीं रखेगा। यही कारण है कि निर्माण उद्योगों में कृषि उद्योग की अपेक्षा श्रम-विभाजन के विस्तार की सम्भावना अधिक होती है।

(३) **श्रमिकों की अधिक संख्या**—थोड़े से श्रमिकों के बीच सूक्ष्म श्रम-विभाजन सम्भव नहीं हो सकता है। जब बहुत से श्रमिक होते हैं, तो प्रत्येक को उसकी योग्यता और निपुणता के अनुसार काम दिया जा सकता है।

(४) **विनिमय**—जिस समाज में प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होता है, वहाँ श्रम-विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता। अत., जितना ही किसी देश में विनिमय अधिक महत्त्वपूर्ण होगा, उतनी ही वहाँ श्रम-विभाजन की सम्भावना भी अधिक रहेगी।

श्रम-विभाजन के गुण-दोष

श्रम-विभाजन के लाभ—

श्रम-विभाजन के आरम्भ का कारण उसके लाभ ही है। अनुभव बताता है कि श्रम-विभाजन ने मनुष्य के आर्थिक जीवन की उन्नति और उसके विकास मे बहुत सहायता दी है। श्रम विभाजन के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं —

(१) **यन्त्रों के उपयोग में बचत**—श्रम-विभाजन मे कम मात्रा मे यन्त्रों और मशीनो की आवश्यकता पडती है। काम को छोटे-छोटे टुकडों मे इस प्रकार बाँट दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग औजारों का उपयोग करता है। इससे एक आदमी के लिए सभी औजारों की आवश्यकता नही पडती है।

(२) **मशीनों के उपयोग में वृद्धि**—श्रम-विभाजन मशीनो और कलो के उपयोग को प्रोत्साहन देता है। इससे मशीनो के उपयोग के सभी लाभ, जैसे—प्रमापीकृत उत्पादन, शीघ्र और सस्ता उत्पादन आदि, प्राप्त हो जाते है।

(३) **श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि**—श्रम-विभाजन के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक को उसकी रुचि, योग्यता और निपुणता के अनुसार काम मिल जाता है। प्रत्येक श्रमिक वही कार्य करता है, जिसके लिए वह सबसे योग्य है। इससे श्रमिको की कुशलता बढ़ती है, उत्पादन व्यय घट जाता है तथा स्वयं श्रमिक के लिए भी कार्य का उत्साह बना रहता है।

(४) **विशेष ज्ञान की प्राप्ति**—जब एक व्यक्ति निरन्तर एक ही काम करता रहता है, तो उसमे उस काम को करने की विशेष क्षमता आ जाती है। उदाहरणार्थ, एक अत्यन्त कुशल दफ्तरी कागजों को मोडने का काम साधारण लोगो की तुलना मे अधिक जल्दी और अधिक अच्छी तरह कर सकता है।

(५) **समय की बचत**—जब एक आदमी एक से अधिक काम करता है, तो समय की हानि होती है, क्योंकि एक काम को छोड़कर दूसरे को आरम्भ करने मे कुछ समय अवश्य नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, दूसरे काम को सीखने में भी समय का व्यय होता है। किन्तु श्रम-विभाजन से समय की ये दोनो ही प्रकार की हानियाँ बच जाती हैं।

(६) **शारीरिक परिश्रम में बचत**—आधुनिक कारखानो मे उत्पादन-क्रियाओ को सूक्ष्म विभागो मे बाँट दिया जाता है और प्रत्येक श्रमिक एक छोटा-सा काम ही करता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक श्रमिक को कम शारीरिक परिश्रम करना पडता है। मानसिक परिश्रम की आवश्यकता भी श्रम-विभाजन के अन्तर्गत कम होती है।

(७) **आविष्कार को प्रोत्साहन**—यह निश्चय है कि जब एक व्यक्ति बराबर एक ही काम करता है, तो वह उस काम से सम्बन्धित सारी बातो से भली-भाँति परिचित हो जाता है। वह उत्पादन की नई रीतियो, कच्चे माल के अधिक मितव्ययी उपयोग और नये आविष्कारो की खोज निकालता है जिससे उद्योग और समाज दोनो ही को लाभ होता है।

(८) **पूँजी के उपयोग में मितव्ययिता**—श्रम-विभाजन पूँजी के उपयोग मे भी बचत करता है। जितना ही श्रम-विभाजन का अधिक विकास होता है, उतना ही विशिष्ट प्रकार की मशीनो का उपयोग बढ़ता है। निरन्तर ऐसी मशीनो का उपयोग होता है, जिनमे प्रति इकाई पूँजी-व्यय कम होता है।

(९) **रोजगार के दृष्टिकोण से धन्धों के भेद को मिटाना**—आधुनिक श्रम-विभाजन मे मशीनो का उपयोग अधिक होता है। इन मशीनों की यन्त्र-रचना मे अधिक अन्तर नही

होता। जैसी मशीन का जूट के कारखाने में उपयोग होता है, लगभग वैसी ही मशीन कपड़ा बुनने के कारखानों में भी काम आती है। इस प्रकार, श्रम-विभाजन द्वारा भिन्न-भिन्न धन्धों का भेद मिट जाता है।

(१०) श्रम की गतिशीलता में वृद्धि—जब धन्धों का भेद मिट जाता है, तो श्रमिक एक धन्धे से दूसरे धन्धे में सरलता से जा सकते हैं। इस प्रकार गतिशीलता में वृद्धि होने से श्रमिक को अधिक मजदूरी, काम की सरलता तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं।

(११) सभ्यता का विकास—श्रम विभाजन के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमिकों की माँग होती है। एक ही कारखाने में सहस्रों व्यक्ति काम करते हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों और देशों से आते हैं। उनके रीति-रिवाज, चाल-चलन, रहन-सहन, आचार-विचार, बोल-चाल, आदि में भी अन्तर होता है। जब इस प्रकार के लोग एक साथ काम करते हैं, तो यह स्वाभाविक ही है कि वे एक-दूसरे से कुछ न कुछ सीखें। उनमें परस्पर आचार-विचारों का आदान-प्रदान होता है, सद्भावना और सहयोग की भावना जाग्रत होती है और एकता की नींव पड़ जाती है।

(१२) नई-नई वस्तुओं की उत्पत्ति—श्रम-विभाजन आविष्कारों को प्रोत्साहन देता है। नये-नये आविष्कारों से नई-नई वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। विचारों के आदान-प्रदान से कल्पना-शक्ति भी बढ़ती है जो नई-नई वस्तुओं की जननी है। इसके अतिरिक्त, श्रम-विभाजन में एक व्यक्ति वही वस्तु तैयार करता है, जिसमें वह निपुण होता है। इस कारण से भी हजारों नई-नई वस्तुएँ तैयार होती हैं।

(१३) उत्पादन की वृद्धि तथा ऊँचा जीवन स्तर—श्रम-विभाजन द्वारा उत्पत्ति में वृद्धि होती है। हम देखते हैं कि एक मनुष्य मशीन द्वारा एक दिन में चार हजार आठ सौ पिन बना सकता है। अखबार छापने की मशीन एक घण्टे में बीस मील लम्बा अखबार छापती है। सिगरेट बनाने की मशीन एक मिनट में दो लाख पचास हजार सिगरेट बनाती है, इत्यादि। जब एक देश में उत्पत्ति इतने तीव्र वेग से होती है, तो स्पष्ट है कि प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होती है और जीवन-स्तर भी ऊँचा हो जाता है।

(१४) बेकारी की समस्या सुलझती है—श्रम-विभाजन में सभी प्रकार के काम होते हैं। कुछ तो ऐसे होते हैं, जिनके लिए बलवान व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। अन्य ऐसे कार्य होते हैं जिन्हें स्त्री, बच्चे और अपाहिज व्यक्ति भी सरलता से कर सकते हैं। इस प्रकार कुछ न कुछ कार्य, प्रत्येक व्यक्ति को मिल जाता है और बेकारी कम हो जाती है।

(१५) व्यावसायिक प्रगति और पूँजी की वृद्धि—श्रम-विभाजन से विशिष्टीकरण (Specialisation) को प्रोत्साहन मिलता है। विशिष्टीकरण से भौतिक प्रगति में वृद्धि होती है। इन दोनों (विशिष्टीकरण और भौतिक प्रगति) से उत्पत्ति की कुशलता बढ़ती है, अर्थात्, वस्तुएँ अधिक मात्रा में बनती हैं। धनोत्पत्ति में वृद्धि होने से पूँजी में भी वृद्धि होती है।

श्रम-विभाजन की हानियाँ—

श्रम-विभाजन के लाभ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, और अधिकांश दशाओं में इन लाभों का परिणाम यह होता है कि समाज की उत्पादकता (Productivity) बढ़ जाती है। यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि केवल समाज की उत्पादकता बढ़ाना ही हमारा उद्देश्य नहीं होता। हमारा उद्देश्य तो मनुष्य को लाभ पहुँचाना होना चाहिए। हमें देखना यह है कि श्रम-विभाजन का मनुष्य और उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से श्रम-विभाजन की अनेक हानियाँ हैं। प्रमुख हानियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) नीरसता—श्रम-विभाजन मनुष्य के कार्य को नीरस बना देता है। यदि श्रमिक को लगातार एक ही छोटा-सा काम प्रत्येक दिन करना पडे, तो उस काम के प्रति हमारी अरुचि हो जाती है। इसके उत्तर मे यह कह सकते हैं कि यद्यपि श्रम विभाजन नीरसता उत्पन्न करता है, तथापि वह समय भी बचाता है और मनुष्य के लिए विश्राम और मनोरंजन के लिए अधिक समय देकर उसकी नीरसता को कुछ अंश तक दूर कर देता है।

(२) उत्तरदायित्व में कमी—श्रम-विभाजन मे श्रमिक एक काम को आरम्भ से अन्त तक नही करता, बल्कि उसके केवल एक छोटे से ही भाग को पूरा करता है। वह इस बात के लिये बहुत चिन्तित नहीं रहता कि वस्तु अच्छी बनती है या खराब, क्योंकि वस्तु अन्त में कैसी बनती है, यह किसी एक आदमी की जिम्मेदारी नही होती है।

(३) आनन्द का अभाव—जब एक व्यक्ति किसी वस्तु को तैयार करता है, तो तैयार वस्तु को देखकर उसे विशेष आनन्द मिलता है। जब हम अपने सम्पूर्ण कार्य को पूरा होते हुए देखते हैं, तो हमे विशेष प्रसन्नता होती है। श्रम-विभाजन के अन्तर्गत ऐसी सम्भावनायें उत्पन्न नही होती हैं क्योंकि जो उपज तैयार होती है, वह किसी भी एक श्रमिक द्वारा तैयार नही की जाती है।

(४) कार्यक्षमता में कमी—श्रम-विभाजन के अन्तर्गत श्रमिक प्रतिदिन एक छोटे से काम को करता है। वह कार्य उसके लिए एक प्रकार का बँधा कार्य हो जाता है, श्रमिक को सुधार करने अथवा कार्य की नई विधियाँ सोचने की आवश्यकता ही नही पडती है। इससे अन्त मे श्रमिक की कुशलता पर बुरा प्रभाव पडता है। इसके अतिरिक्त, श्रम-विभाजन मनुष्य के शारीरिक और मानसिक विकास मे भी शिथिलता लाता है क्योंकि उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ एक ही दिशा मे कार्य करती हैं।[1]

(५) मनुष्य का पतन—श्रम-विभाजन मे मनुष्य का सारा उत्तरदायित्व और उसकी सारी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। मशीन उसकी दास नही रहती है, बल्कि वह स्वय मशीन का दास हो जाता है। इससे मनुष्य का पतन होता है।

(६) श्रम की गतिशीलता में कमी—श्रम-विभाजन में एक श्रमिक किसी एक काम के एक छोटे से भाग मे ही क्षमता प्राप्त करता है। उसे न तो पूरा काम ही आता है और न कोई दूसरा काम ही। उसे अपना व्यवसाय बदलने मे भारी कठिनाई होती है। इसका उसकी प्रगतिशीलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। गतिशीलता की कमी श्रमिक की सौदा करने की शक्ति को घटाती है और मजदूरी की वृद्धि मे बाधक होती है।

(७) निपुणता की हानि—श्रम-विभाजन के अन्तर्गत निपुण से निपुण श्रमिक भी अपनी निपुणता खो देता है। उसे केवल एक छोटा-सा ही काम आता है, जिसमें उसे निपुणता को बढ़ाने का अवसर बहुत ही कम मिल पाता है।

(८) बेरोजगारी का भय—एक काम का एक ही भाग श्रमिक जानता है, इसीलिए इस बात का भय सदा ही बना रहता है कि श्रमिक अपना रोजगार खो बैठे। एक बार रोजगार छूट जाने पर श्रमिक को काम कठिनाई से मिलता है, क्योंकि कोई दूसरा काम वह जानता ही नही है।

---

[1] "The man whose whole life is spent in performing a few simple operations.......has no occasion to exert his understanding..........He generally becomes as stupid and ignorant as is possible for a human creature to become."—**Adam Smith.**

(६) स्त्री और बालक श्रम का शोषण—श्रम-विभाजन कार्यों को इतना सरल बना देता है कि स्त्री और बच्चे भी उन्हें करने लगते हैं। इससे दो हानियाँ होती हैं :—एक ओर तो पारिवारिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है तथा दूसरी ओर स्त्री और बच्चों के काम करने से देश के मानवीय साधनों का अपव्ययी और हानिकारक उपयोग होता है। स्त्री और बालक श्रम का शोषण भी होता है, क्योंकि उन्हें मजदूरी कम दी जाती है।[1]

(१०) मशीनों के उपयोग के दोष—श्रम-विभाजन तभी सम्भव होता है, जबकि उत्पत्ति बड़े पैमाने पर होती है और मशीनों का अधिक उपयोग होता है। इस कारण बड़े पैमाने की उत्पत्ति और यन्त्रीकरण (Mechanisation) के सभी दोष श्रम-विभाजन में पाये जाते हैं। इस प्रणाली में उत्पादन की फैक्ट्री प्रणाली के भी सभी दोष पाये जाते हैं।

श्रम-विभाजन के दोषों के उपचार—

श्रम-विभाजन की अधिकांश हानियों को दूर करना सम्भव है। इस हेतु निम्न उपाय करने आवश्यक है :—(अ) कार्य-दशाओं में सुधार द्वारा (जैसे—बीच-बीच में श्रमिकों को आराम का समय देकर) कार्य की नीरसता और थकावट को दूर किया जा सकता है। (ब) कार्य के घण्टों में कमी की जाय, जिससे कि श्रमिकों को आराम और मनोरंजन के लिए अधिक समय मिल सके। (स) श्रमिकों को सामान्य एवं तकनीकी शिक्षा दी जाय, जिससे कि वे आवश्यकता पड़ने पर नया काम सुगमता से सीख सकें या नया रोजगार ग्रहण कर सकें। (द) श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिये सरकार विभिन्न प्रकार के कानून (जैसे—कारखाना अधिनियम, सामाजिक बीमा, कल्याण कार्य, आवास, औद्योगिक संघर्ष अधिनियम) बनाये और उनका कड़ाई से पालन कराये। (य) उपयुक्त मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीतियों के प्रयोग द्वारा आर्थिक संकटों को रोके।

श्रम-विभाजन की सीमायें
(Limits of the Division of Labour)

श्रम-विभाजन सभी दशाओं में सम्भव नहीं होता है। कुछ ऐसी बातें होती हैं, जिन पर श्रम-विभाजन का विस्तार निर्भर होता है। ये बातें निम्न प्रकार हैं :—

(१) बाजार का विस्तार—बहुत पहले ही एडम स्मिथ ने कहा था कि श्रम-विभाजन बाजार के विस्तार द्वारा सीमित होता है।[2] जिस वस्तु का बाजार संकुचित होता है, उसकी उत्पत्ति भी कम मात्रा में होती है, क्योंकि उसमें मशीनों के उपयोग की सम्भावना कम रहती है और श्रमिकों को भी थोड़ी संख्या में लगाया जाता है। जब माँग थोड़ी होती है और तदनुसार उत्पत्ति की मात्रा भी कम रहती है, तो श्रम-विभाजन को बहुत आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है।

स्मरण रहे कि बाजार के विस्तार का अर्थ केवल भौगोलिक क्षेत्र के कम या अधिक होने से नहीं है वरन् वस्तु की माँग की मात्रा से है। किसी वस्तु का बाजार भौगोलिक दृष्टि से बहुत बड़ा (अन्तर्राष्ट्रीय) होते हुए माँग की दृष्टि से इतना संकुचित हो सकता है (अर्थात् वस्तु की माँग इतनी कम हो सकती है) कि श्रम-विभाजन न हो सके। इसके विपरीत, भौगोलिक दृष्टि से छोटा होते हुये भी माँग की दृष्टि से बाजार इतना बड़ा हो सकता है कि पर्याप्त सीमा तक श्रम का विभाजन हो जाय। साथ ही, हमें यह भी न भुलाना चाहिये कि जहाँ बाजार

---

1 "Division of labour in the workshop of the capitalist leads to the exploitation of women and children."—Karl Marx.

2 "Division of Labour is limited by the extent of the market."

—Adam Smith

का विस्तार श्रम-विभाजन पर प्रभाव डालता है वहाँ श्रम-विभाजन स्वय भी बाजार के विस्तार को प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ, श्रम-विभाजन के अभाव में (या इसकी उपस्थिति मे) वस्तु के उत्पादन की लागत बहुत अधिक (या कम) हो सकती है, जिस कारण उसके लिए माँग (या बाजार का विस्तार) कम (या अधिक) हो सकती है।

(२) **व्यवसाय अथवा उद्योग की प्रकृति**—श्रम-विभाजन का अंश व्यवसाय की प्रकृति पर निर्भर होता है। जिन व्यवसायो मे ग्राहक की रुचि, व्यक्तिगत सम्पर्क अथवा अत्यधिक निपुणता की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ उत्पत्ति का पैमाना ही छोटा रहता है और श्रम-विभाजन भी बहुत दूर तक नही जा सकता है।

(३) **माँग की स्थिरता और उत्पादन की नियमितता**—जिन उद्योगो की उपज की माँग मे सामयिक (Seasonal) अथवा अन्य प्रकार के परिवर्तन अधिक होते हैं, वहाँ न तो उत्पत्ति के पैमाने का ही विस्तार किया जा सकता है और न श्रम-विभाजन ही आगे बढ सकता है। इसी प्रकार, यदि उत्पादन मे नियमितता नही है और वह रुक-रुककर होता है, तो श्रम-विभाजन के लिए कम अवकाश रहेगा।

(४) **व्यापार सम्बन्धी सुविधाएँ**—ऐसी सुविधाओं मे यातायात और सम्वादवाहन के साधनों का विकास, बैंकिंग की उन्नति तथा व्यापारिक सूचनाओ का आयोजन सम्मिलित होते हैं। इन सबका विकास बाजार का विस्तार करके श्रम-विभाजन को प्रोत्साहन देता है और इनका अभाव श्रम-विभाजन मे बाधक होता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. श्रम-विभाजन के मुख्य लक्षण बताइये। श्रम-विभाजन उत्पादन कुशलता मे किस प्रकार वृद्धि करता है ?
   [**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम श्रम-विभाजन का अर्थ, विशिष्टीकरण से इसका भेद और इसके लिए आवश्यक दशायें बताइये। इन आवश्यक दशाओं की उपस्थिति ही श्रम-विभाजन के मुख्य लक्षण हैं। तत्पश्चात् श्रम-विभाजन के लाभ बताइये और अन्त मे यह निष्कर्ष निकालिये कि इन विभिन्न प्रकार के लाभों के कारण उत्पादन-कुशलता मे बहुत वृद्धि हो जाती है।]

२. दिखाइये कि श्रम-विभाजन बाजार के विस्तार से किस प्रकार सीमित होता है ?
   [**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम श्रम-विभाजन का अर्थ बताइये और फिर विस्तार से यह स्पष्ट कीजिये कि श्रम-विभाजन बाजार के विस्तार से सीमित होता है। बाजार के विस्तार से आशय केवल भौगोलिक क्षेत्र के कम या अधिक होने से नही है वरन् इसका अर्थ माँग की मात्रा से होता है। अन्त मे बताइये कि श्रम-विभाजन स्वय भी बाजार को प्रभावित करता है।]

३. श्रम-विभाजन के अर्थ को पूर्णतया समझाइये। क्या यह एक अमिश्रित वरदान है ? इससे उत्पादक-कुशलता मे कैसे वृद्धि होती है ?
   [**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम श्रम-विभाजन का अर्थ दीजिये। तत्पश्चात् श्रम-विभाजन की हानियों को बताइये। इन हानियो के विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि श्रम-विभाजन एक अमिश्रित वरदान है। अन्त मे श्रम-विभाजन के लाभो पर प्रकाश डालते हुए यह निष्कर्ष निकालिये कि इन्हीं लाभों के फलस्वरूप उत्पादक-कुशलता में बहुत वृद्धि हो जाती है।]

१०

उत्पत्ति में मशीनों का उपयोग

(Use of Machinery in Production)

प्रारम्भिक—आधुनिक युग 'कल-युग' है

आधुनिक युग यन्त्रीकरण (Mechanisation) का युग है। उत्पत्ति में मशीनो का उपयोग निरन्तर बढ़ रहा है। नई-नई और विशालकाय मशीनो का आविष्कार होता जा रहा है। आधुनिक प्रवृत्ति बराबर यही है कि और अधिक बड़ी मशीनो का उपयोग किया जाय और यथासम्भव मानव-श्रम के स्थान पर मशीनों को काम में लाया जाये। शिल्प-विज्ञान (Technology) का विकास भी हमे इसी दिशा मे प्रेरित करता है।

मशीनों के गुण-दोष

मशीनों में स्वयं कोई दोष नहीं—

अधिकाश विद्वानो का विचार है कि यान्त्रिक शक्ति का विकास निस्सन्देह ही मानव-जीवन की अधिकाश समस्याओ को सुलझा देगा और मानव-जीवन को अधिक सुखी, सम्पन्न और सार्थक बना देगा। परन्तु मशीनो के उपयोग के आलोचको की भी कमी नही है। बहुधा ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान औद्योगिक काल की अधिकांश बुराइयाँ मशीनो के उपयोग द्वारा ही उत्पन्न हुई हैं। उनके विचार मे मशीनो का उपयोग हमे बराबर पतन की ओर ले जा रहा है।

इस सम्बन्ध मे हम केवल इतना कह सकते हैं कि स्वयं मशीनो मे कोई दोष नही है। वे तो एक प्रकार की आर्थिक शक्ति को सूचित करती है, जिसका अच्छा और बुरा दोनो प्रकार का उपयोग सम्भव होता है। कठिनाई यह है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत यह विशाल आर्थिक शक्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियो के हाथ मे होती है, जो इसका दुरुपयोग करते हैं और इसे समाज के शोषण का साधन बना लेते हैं। यदि पूंजी पर सारे समाज का अधिकार हो और मशीनो का उपयोग सामाजिक शोषण के स्थान पर सामाजिक कल्याण के लिए किया जाय, तो मानव-जाति को पर्याप्त लाभ मिल सकता है। समाजवादी देशो मे मशीनो के उपयोग ने मनुष्य को ऊँचा जीवन-स्तर, अधिक अवकाश तथा अधिक सम्पन्नता एक ही साथ प्रदान की है। पूंजीवादी देशो मे मशीनो के उपयोग के लाभ पूंजीपति के ही पास रहने के कारण समाज का भला कम अश तक ही हो पाता है।

मशीनों के आर्थिक लाभ—

मशीनो के उपयोग ने उत्पादन-प्रणाली मे एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। इसने उत्पादन की क्रिया को सरल, सुगम और शीघ्रगामी बना दिया है। मशीनो के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार है :—

(१) मशीन भारी और कठिन कार्य को भी सरल तथा सीधा बना देती है—कुछ कार्य इतने भारी तथा अधिक परिश्रम चाहने वाले होते हैं कि श्रमिकों के लिए उसका सम्पन्न करना बहुत ही कठिन होता है, जैसे—एक क्रेन (Crane) की सहायता से हजारो मन बोझ एक दम बड़ी आसानी के साथ उठाया जा सकता है, एक बुल डोजर (Bull dozer) मिनटो मे हजारो

मन मिट्टी खोद कर फेंक देता है। एक छापेखाने की मशीन हजारों लिखने वालो का कार्य एक ही साथ करती रहती है।

(२) चालक शक्ति का उपयोग—मशीन हमें इस योग्य बनाती है कि हम प्राकृतिक साधनों का समुचित, उपयुक्त और लाभदायक उपयोग कर सकें। मशीनों को चलाने में हवा, पानी, भाप, पैट्रोल, बिजली और कोयला जैसी प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग किया जाता है।

(३) उत्पादन-शक्ति और कार्यक्षमता में वृद्धि—मशीनों की सहायता से उत्पत्ति तेजी के साथ तथा अधिक मात्रा मे की जा सकती है। मनुष्य जिस कार्य को हाथ से महीनो मे कर सकता है, वह मशीन की सहायता से घण्टो मे हो जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य की उत्पादन-शक्ति बढ़ गई है। साथ ही, मशीनों ने कार्य को सरल बना दिया है। नीरस, अरुचिकर और कठिन कार्य मशीनो की सहायता से किये जा सकते हैं। इससे श्रमिक की कार्य-कुशलता और उत्पादन-शक्ति बढी है। मशीनो की सहायता से बारीक और अत्यधिक निपुणता चाहने वाले कार्य भी बडी आसानी के साथ हो जाते हैं और मनुष्य को थोड़े से फल के लिए लम्बे काल तक घोर प्रयत्न करने की आवश्यकता नही पड़ती है।

(४) प्रमापीकृत, अनुरूप तथा उत्तम वस्तुओं का उत्पादन—एक श्रमिक हाथ से कार्य करके, अत्यधिक सावधानी और निपुणता रखते हुए भी, बिल्कुल एक जैसी वस्तुएँ तैयार नही कर सकता है। हाथ की बनी वस्तुओं मे प्रमापीकरण (Standardisation) का अभाव होता है। मशीन की सहायता से बिल्कुल एक नमूने की (Uniform) वस्तुये बनाई जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त बहुधा मशीनों की सहायता से अधिक साफ और उत्तम वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है।

(५) मशीनों द्वारा गन्दे, खतरनाक और अति नीरस कार्य भी किये जा सकते है—कुछ कार्य गन्दे होते हैं, जैसे मेहतर का कार्य। कुछ कार्य खतरनाक होते हैं और कुछ कार्य बहुत ही नीरस होते हैं। उन कार्यों को, जिन्हें करने मे मनुष्य को विशेष कष्ट और अरुचि होती है, मशीनों की सहायता से सरलता के साथ किया जा सकता है और मानव कष्ट को बचाया जा सकता है।

(६) बड़े पैमाने के उत्पादन और श्रम-विभाजन—मशीन द्वारा किये जाने वाले उत्पादन मे उत्पत्ति का पैमाना बढाया जा सकता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म श्रम-विभाजन को लागू किया जा सकता है। इन दोनों से सम्बन्धित लाभ मशीन के उत्पादन में पाये जाते हैं।

(७) श्रम की गतिशीलता में वृद्धि—मशीनो का उपयोग श्रमिकों की गतिशीलता को बढा देता है। विभिन्न कारखानो मे उपयोग की जाने वाली मशीनो मे कोई आधारभूत अन्तर नहीं होता है। जो श्रमिक एक प्रकार की मशीन पर कार्य कर चुकता है, उसके लिए दूसरे प्रकार की मशीन पर कार्य करना बहुत कठिन नही होता है। मशीनों के उपयोग ने विभिन्न उद्योगों की भिन्नता धीरे-धीरे पर्याप्त अंश तक दूर कर दी है। इससे श्रमिक आसानी के साथ अपने वर्तमान व्यवसाय का परिवर्तन कर लेता है। गतिशीलता की वृद्धि उसे उसकी मजदूरी बढाने और अच्छे कार्य की दशायें प्राप्त करने मे सहायता देती है।

(८) सस्ती वस्तुओं का उत्पादन—मशीनो का उपयोग उद्योग के लिए बाह्य और आभ्यान्तरिक बचत प्राप्त करता है। इससे वस्तुओं के दाम घटते हैं। दामों की यह कमी उत्पादक और समाज दोनों के लिए लाभदायक होती है, क्योंकि उत्पादक के लिए माँग बढ जाती है जिससे उसे अधिक उत्पत्ति करके अधिक लाभ कमाने का अवसर मिल जाता है और समाज के लिए सभी वस्तुयें सस्ती हो जाती हैं, जिससे उसका जीवन-स्तर ऊपर उठता है।

(९) समय और दूरी की समस्या का समाधान—मशीनों के उपयोग ने मानव-जीवन

में समय और दूरी की समस्या को हल कर दिया है। इनकी सहायता से उत्पादन शीघ्रतापूर्वक हो जाता है और बहुमूल्य समय की बचत होती है। आवश्यकता पड़ने पर पूर्ति की मात्रा बढाने में अधिक समय नही लगता है। इसी प्रकार मशीनों की सहायता ने यातायात और सम्वादवाहन को सस्ता, शीघ्रगामी तथा सरल बना दिया है। धीरे-धीरे दूरी समाप्त होती जा रही है। इससे आर्थिक क्षेत्र में व्यापार और वाणिज्य का विस्तार हुआ है। अन्य क्षेत्रों मे इसने राजनीतिक मैत्री और सांस्कृतिक विकास में सहायता दी है।

(१०) ज्ञान और निपुणता की वृद्धि—मशीनों के उपयोग से श्रमिकों मे बुद्धि का विकास हुआ है। मशीन पर कार्य करने वाला श्रमिक अधिक चतुर, बुद्धिमान तथा निपुण हो जाता है।

(११) नीरसता का अन्त—कुछ लेखकों का विचार है कि मशीनो का उपयोग बडे अंश तक मानव-जीवन की नीरसता को भी समाप्त कर देता है। मनुष्य के लिए गन्दे, खतरनाक और अरुचिकर कार्य मशीन कर देती है। इसके अतिरिक्त मशीनो का उपयोग कार्य करने की अवधि को घटाकर मनुष्य को अधिक अवकाश प्रदान करता है।

(१२) प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग—मशीनो के द्वारा देश के अगम्य और विस्तृत प्रसाधनो (जैसे—जल ससाधन, खनिज, वन आदि) का पूर्णरूपेण शोषण किया जा सकता है और इससे राष्ट्रीय आय बढ़ती है।

(१३) मानव जीवन में नियमितता—मशीन मनुष्य मे निश्चितता, नियमितता और धैर्य जैसे *महत्वपूर्ण गुण उत्पन्न करती है।*[1]

(१४) सरकार को लाभ—उत्पादन बढने और राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होने से सरकार को उत्पादन कर, बिक्री कर और आय कर के रूप मे अधिक आय होने लगती है, जिसे वह राष्ट्र के चहुँमुखे विकास के लिए प्रयोग कर सकती है।

मशीन के उपयोग की हानियाँ—

इसमे कोई सन्देह नही है कि मशीनों के लाभ महत्वपूर्ण हैं, परन्तु लाभो के साथ-साथ उनकी हानियाँ भी उतनी ही गम्भीर हैं। प्रमुख हानियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) बेरोजगारी का भय—मशीनों के उपयोग से बेरोजगारी फैलने का भय रहता है। एक मशीन हजारो श्रमिकों का कार्य कर सकती है। प्रतिस्थापन नियम के अन्तर्गत वैसे ही उत्पादक श्रमिको के स्थान पर मशीनों का उपयोग करता है, जिससे बहुत से श्रमिक बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार मशीनों का उपयोग रोजगार को घटाता है और श्रमिकों के लिए चिन्ताजनक स्थिति उत्पन्न कर देता है। कार्ल-मार्क्स का विचार है कि मशीनें कारीगरी के कार्य को समाप्त कर देती हैं।[2] श्रम संघ (Trade Unions) बहुधा इसी आधार पर उद्योग-धन्धो के आधुनिकीकरण (Modernisation) का विरोध करते हैं।

इस सम्बन्ध मे यह जानना आवश्यक है कि (i) मशीनों के उपयोग का रोजगार पर सदा ही बुरा प्रभाव नही पड़ता। मशीनें अधिक उत्पादन द्वारा माँग को बढाकर अधिक बिक्री कराने मे सफल हो सकती हैं। इससे प्राकृतिक साधनो का अधिक अंश तक विदोहन होता है

---

1 "Machinery like everything else can only teach what it practises—order, exactness, persistense, conformity to unbending laws—these are the lessons which must emanate from the machine."—Hobson.

2 "It is they that sweep away the handicraftman's work as the regulating principle of social production."—Karl Marx.

और रोजगार बढता है । (ii) स्वय मशीनो का उत्पादन करने के लिए भी अधिक श्रमिकों की आवश्यकता पडती है । (iii) मशीनों द्वारा उत्पादित वस्तुओ की कीमत नीची होती है, जिससे समाज की क्रय-शक्ति बढ़ती है और उसके लिए उत्पादन और सम्बन्धित रोजगार को भी बढ़ाया जा सकता है । (iv) मशीनो के द्वारा बेरोजगारी की वृद्धि उसी दशा मे होती है, जबकि यन्त्रीकरण के साथ-साथ कार्य करने के घण्टो मे कमी करके श्रमिको के लिए विश्राम की अवधि नही बढाई जाती है । समाजवादी देशो मे, यदि बेरोजगारी का भय उत्पन्न होता है, तो कार्य के घण्टों मे कमी करके उसे दूर कर दिया जाता है ।

सब कुछ देखते हुए हमे इतना अवश्य मानना पडेगा कि पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली मे मशीनो के उपयोग से बेरोजगारी के बढने का भय अवश्य रहता है । सामान्य अनुभव बताता है कि मशीन उत्पादन ने कुटीर उद्योगो और छोटे उत्पादको को समाप्त करके लाखों कारीगरो और श्रमिको के रोजगार का अन्त कर दिया है । पूंजीवाद मे यन्त्रीकरण की प्रगति की तुलना मे कार्य करने के घण्टो की कमी बहुत ही कम अश तक हुई है । श्रमिकों को किसी भी प्रकार यह विश्वास नही होता कि मशीनो के उपयोग ने उनकी बेरोजगारी मे वृद्धि नही की है ।

(२) मशीने मजदूरियों को कम करती हैं—मशीनो के पक्ष मे बहुधा यह कहा जाता है कि उन्होने श्रमिको की कार्य-कुशलता और उत्पादन शक्ति मे वृद्धि की है । इसका मजदूरियो पर अच्छा प्रभाव पडा है । विभिन्न उद्योगो मे मजदूरियो का अध्ययन बहुधा यही दिखाता है कि जैसे-जैसे यन्त्रीकरण की उन्नति हुई है मजदूरियाँ भी बराबर बढी हैं । परन्तु मजदूरियो की वृद्धि यन्त्रीकरण की तुलना मे पीछे ही रही है । यह निश्चय है कि मशीन से उत्पादन के अधिकाश लाभ श्रमिकों को प्राप्त नहीं हुए हैं, बल्कि इसके विपरीत पूंजीपतियो को प्राप्त हुए हैं । मशीन प्रवीण श्रमिक की निपुणता को घटाती है और उसे नीची मजदूरी स्वीकार करने पर बाध्य करती है । यह दोष श्रमिक, उसके परिवार और समाज के लिए दुखदायी है ।[1]

(३) मशीनो ने औद्योगिक नगरो के जीवन को दूषित किया है—कुछ लोग मशीनों के उपयोग को इस कारण बुरी दृष्टि से देखते हैं कि मशीनों के उपयोग का परिणाम यह होता है कि नगरो मे बहु-सख्या मे श्रमिक एकत्रित हो जाते हैं, जिसका उनके स्वास्थ्य और नैतिक स्तर पर बुरा प्रभाव पडता है । इसमे तो सन्देह नही है कि इन दशाओ मे सुधार हो सकता है और पूंजीवादी देशो मे भी नगर नियोजन योजनाओं द्वारा इन्हे सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है परन्तु यह सन्देहपूर्ण है कि ऐसे उपाय पूंजीवाद मे किसी अधिक अश तक सफल हो सकेंगे ।

(४) शिल्पकला की हानि—मशीन उत्पादन का अभिप्राय यह होता है कि सस्ती और प्रमापीकृत वस्तुओ का निर्माण हो । ऐसी वस्तुयें मजबूत हो सकती हैं परन्तु इनमे कारीगर के व्यक्तिगत शिल्प-ज्ञान और उसकी योग्यता की झलक नही मिलेगी । अनुभव बताता है कि मशीनो की प्रतियोगिता के कारण कलाकारों को अपना कार्य बन्द करना पड़ा है और कारखानो मे नौकरी करके जीवन-निर्वाह करना पडा है । भारत के कितने ही उच्च कोटि के धन्धे इसके कारण ठप्प हो गये है । ससार के सभी देशो मे मशीन उत्पादन ने हस्तकला का अन्त कर दिया है ।

इस सम्बन्ध मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शिल्प ज्ञान और निपुणता की

---

[1] "Let us return to the increasing tendency of machinery to supplant the skilled hand, which is greatly increasing man's power over nature and his material, wealth, though it is not an unmixed benefit from the social point of view."—Marshall.

आवश्यकता मशीन उत्पादन मे भी उतनी ही है जितनी कि हस्त-कला मे। अन्तर केवल इतना होता है कि मशीन उत्पादन मे दूसरी प्रकार की निपुणता की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ भी मांग के परिवर्तनों की दिशा मे वस्तुओं के रूप और डिजाइन को बदलने की आवश्यकता पड़ती है।

(५) अति-उत्पादन का भय—मशीनो के उपयोग का अभिप्राय यह होता है कि बड़ी मात्रा मे उत्पत्ति की जाय। ऐसी उत्पत्ति भावी मांग के अनुमान पर ही की जाती है। परन्तु इस प्रकार का अनुमान बहुधा गलत भी होता है। भय यह रहता है कि कही आवश्यकता से अधिक उत्पादन न हो जाय। पूँजीवाद मे निरन्तर अति-उत्पादन के कारण आर्थिक सकट आते है। इन सङ्कटों के लिए मशीनो का उपयोग भी एक बड़े अंश तक उत्तरदायी है।

इसके उत्तर मे हम यह कह सकते है कि अति-उत्पादन व्यवस्थापक की भूल से उत्पन्न होता है, न कि मशीनों के उपयोग से। समाजवादी देशों मे जहाँ उत्पत्ति एक पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार होती है, अति-उत्पादन की सम्भावना ही नहीं होती है।

(६) धन का केन्द्रीयकरण और सामाजिक संघर्ष—*मशीन द्वारा उत्पादन पूँजीवाद* मे पूँजीपति की आर्थिक शक्ति को और भी बढ़ा देता है। धन निरन्तर थोड़े हाथो मे केन्द्रित होता चला जाता है और थोड़े से व्यक्ति सारे समाज का शोषण करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि धनी लोग और अधिक धनी होते चले जाते हैं तथा निर्धन लोग और भी निर्धन। इससे सामाजिक कल्याण घट जाता है और समाज दो प्रति-विरोधी दलो मे बँट जाता है। इस सम्बन्ध मे हम केवल यह कह सकते हैं कि यह दोष पूँजीपति से सम्बन्धित है, न कि मशीनो के उपयोग से।

(७) कार्य की नीरसता—मशीनों का कार्य नीरस होता है। श्रमिक को अपने व्यक्तिगत गुणो को दिखाने, अपने व्यक्तित्व का प्रदर्शन करने और अपनी शिल्प-योग्यता का उपयोग करने का अवसर बहुत कम मिलता है। धीरे-धीरे उसका कार्य-उत्साह मारा जाता है और कार्य उसके लिए अत्यधिक नीरस और फीका हो जाता है। उसे मानसिक और शारीरिक थकावट अधिक अनुभव होती है। इसके सम्बन्ध मे भी हम यही कह सकते हैं कि इस नीरसता का प्रमुख कारण पूँजीवाद है, जिसके अन्तर्गत कार्य के घण्टों को कम करके नीरसता को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया जाता है।

(८) राजनीतिक झंझट—*मशीन के उपयोग ने विभिन्न देशों के पारस्परिक सहयोग* पर आघात किया है। प्रत्येक देश नई मशीनो का उपयोग करके अपनी उपज को सस्ते दामों पर बेचना चाहता है और दूसरे देशों को बाजार से निकाल देने का प्रयत्न करता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष और पारस्परिक मन-मुटाव बढ़ता है तथा विभिन्न देशों के बीच आर्थिक और राजनीतिक झगड़े प्रारम्भ हो जाते हैं। सैनिक सेवाओं मे मशीनों के उपयोग ने युद्ध की सम्भावना को भी बढ़ा दिया है।

(९) स्त्री और बालक श्रम का शोषण—मशीनों का उपयोग और श्रम-विभाजन क्रियाओं को इतना सरल बना देते हैं कि स्त्री और बच्चे भी उन कार्यों को करने लगते है जो साधारणतया वयस्क पुरुष श्रमिकों द्वारा किये जाते थे। पूँजीपति के लिए यह सुनहरा अवसर होता है। वह नीची मजदूरियों पर स्त्रियों और बालकों को कार्य पर लगाता है। इससे इन लोगों का शोषण तो होता है, परन्तु साथ ही साथ आने की पीढ़ियों के स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। यह एक सन्तोषजनक बात है कि अब सभी प्रगतिशील देश इस प्रवृत्ति को रोकने का प्रयत्न कर रहे हैं।

(१०) श्रमिक मशीन का दास बन जाता है—मशीन पर कार्य करने वाला श्रमिक मशीन की भांति स्वय भी एक निर्जीव यन्त्र बन जाता है। मशीन को अपना दास बनाने के स्थान पर वह स्वय मशीन का दास बन जाता है। वैसे भी मशीन श्रमिक की कुशलता का स्थान स्वय ग्रहण कर लेती है।

निष्कर्ष—

इस प्रकार, मशीनो के उपयोग के लाभ और हानियाँ दोनों ही गम्भीर हैं, परन्तु इसमे सन्देह नही है कि **हानियों की तुलना में लाभों की सूची अधिक लम्बी है।** इसके अतिरिक्त, यह भी कहा जा सकता है कि **स्वयं मशीन के भीतर कोई दोष नहीं है।** यदि मशीनो पर व्यक्तियो का अधिकार न होकर सारे समाज का अधिकार हो, तो मशीनो के अधिकाश दोष समाप्त हो जायेंगे। दोषो के कारण मशीनो के उपयोग को छोड देने की सलाह नही दी जा सकती है। हम केवल यही कह सकते हैं कि यदि विशाल आर्थिक शक्ति का यह साधन सामाजिक हित मे काम करे, तो अच्छा है।

परीक्षा प्रश्न :

१ मशीनो के प्रयोग के आर्थिक प्रभावों का विवेचन करिये। क्या मशीनें बेकारी उत्पन्न करती हैं ?
[**सहायक संकेत**.—सर्वप्रथम मशीनो के लाभ और उनकी हानियाँ बताइये। तत्पश्चात् यह समझाइये कि मशीनें अल्पकाल मे बेकारी उत्पन्न कर सकती है, दीर्घकाल मे नही।]

२. मशीनो के प्रयोग ने उत्पादन, रोजगार, मजदूरियो और श्रमिको के कल्याण को किस प्रकार से प्रभावित किया है ?
[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम उत्पादन के क्षेत्र में मशीनो के प्रयोग के लाभ बताइये। तत्पश्चात् अल्पकाल और दीर्घकाल के सन्दर्भ मे रोजगार पर उनके प्रभाव दर्शाइये और अन्त मे श्रमिको के लिए मशीनो के लाभ व हानियाँ बताइये।]

३. क्या मशीनो के प्रयोग से बेकारी उत्पन्न होती है ? भारतीय दशाओ के सन्दर्भ मे समझाइये।
[**सहायक संकेत** :—सर्वप्रथम यह बताइये कि अल्पकाल मे बेकारी उत्पन्न होगी किन्तु दीर्घकाल मे वह समाप्त हो जायेगी। तत्पश्चात् भारत में बेकारी के कारणो (जैसे—बढ़ती हुई जन-सख्या, औद्योगिक पिछड़ापन, मानसून निर्भर कृषि आदि) पर प्रकाश डालिये और यह दिखाइये कि मशीनो के प्रयोग से भारत के औद्योगीकरण मे किस प्रकार सहायता मिलेगी। अन्त में यह निष्कर्ष निकालिये कि भारत में मशीनो से अल्पकाल मे बेकारी उत्पन्न हो सकती है लेकिन दीर्घकाल मे वह समाप्त हो जायेगी। साथ ही मशीनो का प्रयोग सोच-समझ कर और धीरे-धीरे बढाना चाहिये।]

११

उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण

(The Localisation of Industries)

प्रारम्भिक—स्थिति चयन की समस्या

एक उत्पादक की दृष्टि में यह प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण होता है कि कारखाना कहाँ खोला जाय क्योंकि प्रत्येक स्थान में स्थिति के फलस्वरूप समान लाभ प्राप्त नहीं होते हैं। कहीं जलवायु उपयुक्त होती है, तो कहीं पर बाजार समीप होता है। इसी प्रकार कहीं कच्चा माल पास में होता है, तो कहीं शक्ति के साधन। एक उद्योगपति बड़े सोच-विचार के पश्चात् यह निर्णय करता है कि वह अपने कारखाने को किस स्थान पर खोलेगा। बहुधा ऐसा भी होता है कि जब एक कारखाना किसी कारण से एक स्थान में खुल जाता है, तो उस जैसे और भी बहुत से कारखाने वहाँ खुल जाते हैं और धीरे-धीरे उद्योग का वहीं स्थानीयकरण हो जाता है।

स्थानीयकरण का अर्थ

स्थानीयकरण का अभिप्राय उद्योग-धन्धों के किसी एक स्थान में केन्द्रित अथवा एकत्रित हो जाने से होता है। बहुत बार ऐसा होता है कि उद्योग एक ही स्थान में आकर केन्द्रित हो जाता है। अर्थात्, उस उद्योग की समस्त उत्पादन-इकाइयाँ एक ही स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं। उद्योगों के इस प्रकार एक स्थान पर केन्द्रित हो जाने को हम केन्द्रीयकरण (Centralisation) *अथवा स्थानीयकरण कहते हैं। उदाहरण के लिए, लगभग सारा का सारा जूट* उद्योग पश्चिमी बङ्गाल में केन्द्रित है। इसी प्रकार, चीनी उद्योग उत्तर-प्रदेश और बिहार में तथा सूती कपड़ा उद्योग महाराष्ट्र में केन्द्रित हो गया है। इन सभी उद्योगों का स्थानीयकरण हो गया है। *अतः, यदि एक उद्योग की बहुत-सी फर्में एक ही स्थान अथवा क्षेत्र में स्थित हों, तो उस* उद्योग का वहाँ पर स्थानीयकरण हो जाता है, जैसे—इङ्गलैंड के सूती कपड़ा उद्योग का लङ्काशायर में और लोहे के छोटे औजारों के उद्योग का शेफील्ड में स्थानीयकरण हो गया है।

प्राचीन काल में स्थानीयकरण के उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं। किन्तु औद्योगिक विकास की प्रत्येक उन्नति के साथ स्थानीयकरण की प्रवृत्ति भी अधिक बलवान होती हुई दिखाई देती है। औद्योगिक विकास श्रम, पूँजी और स्थान के विशिष्टीकरण पर निर्भर होता है। जब किसी देश की औद्योगिक प्रणाली पूर्णतया सगठित नहीं होती है, जैसे कि भारत में, तो वहाँ स्थानीयकरण भी अपूर्ण ही होता है। इस सम्बन्ध में हाबसन का विचार है कि साधारणतया आवश्यकताओं को पूरा करने वाली वस्तुओं के उत्पादन का स्थानीयकरण बहुत ही कम होता है। ऐसे उद्योग प्रायः सारे देश में फैले रहते हैं।[1] चूँकि प्राचीन काल में अधिकांश उद्योग जीवन

---

[1] "The staple industries, tillage, stock raising and those connected with the supply of common articles of clothing, furniture, fuel and other necessaries were spread over the whole country."—Hobson.

की प्रारम्भिक आवश्यकताओं को ही पूरा करते थे, इसलिए स्थानीयकरण के उदाहरण बहुत ही कम थे। परन्तु, जैसे-जैसे विशिष्ट प्रकार का उत्पादन बढ़ता गया, उद्योगों के स्थानीयकरण की प्रवृत्ति और अधिक बलवान होती गई है।

स्थानीयकरण के कारण
(Factors Influencing Localization)

उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण अनेक बातों पर निर्भर होता है। प्रमुख कारणों को हम निम्न प्रकार से पाँच भागों में बाँट सकते हैं :—

(I) प्राकृतिक कारण

इन कारणों से हमारा अभिप्राय स्थिति, जलवायु तथा अन्य ऐसे कारणों से है, जोकि प्रकृति पर निर्भर होते हैं। क्षेत्र की भौगोलिक दशायें, भूमि की बनावट, खनिज पदार्थ, शक्ति के साधन आदि उद्योग की स्थिति को निर्धारित करते हैं।

(१) जलवायु सम्बन्धी दशायें—बहुत से उद्योगों के स्थानीयकरण पर क्षेत्र विशेष की जलवायु का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, सूती कपड़ा उद्योग को नम जलवायु की आवश्यकता होती है। सूखी जलवायु में सूत के धागे जल्दी-जल्दी टूटते रहते हैं। ऐसी जलवायु में कारखाने के भीतर नमी रखने की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि सूती कपड़ा उद्योग भारत में बम्बई के आस-पास और इङ्गलैंड में लकाशायर में केन्द्रित है।

(२) कच्चे माल का पास में मिलना—बहुत से उद्योगों के स्थानीयकरण पर इस बात का प्रभाव पड़ता है कि कच्चा माल पास में ही मिलता है। कुछ उद्योगों में ऐसे कच्चे माल का उपयोग किया जाता है जो तैयार माल की तुलना में बहुत अधिक बोझ वाला होता है। उदाहरणार्थ, गन्ने में से १०-१२% ही चीनी निकलती है। ऐसे उद्योगों को उन स्थानों पर स्थापित करना लाभदायक होता है, जहाँ कच्चा माल पास में मिल जाता है। इसी प्रकार, जिन उद्योगों को नियमित रूप से अधिक मात्रा में कच्चे माल की आवश्यकता पड़ती रहती है, उन्हें भी कच्चा माल उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों में स्थापित करना लाभदायक होता है। भारत में चीनी उद्योग और जूट उद्योग ऐसे स्थानीयकरण के अच्छे उदाहरण हैं।

(३) शक्ति के साधनों की समीपता—कुछ उद्योगों का स्थानीयकरण शक्ति के साधनों की समीपता द्वारा निश्चित होता है। जिन उद्योगों में शक्ति का उपयोग अधिक होता है, उन्हें कोयले की खानों अथवा विद्युत-घरों के पास ही खोलना लाभदायक है। भारत में टाटानगर में लोहे और इस्पात का कारखाना खुलने का एक महत्त्वपूर्ण कारण कोयले का पास ही में बहुत मात्रा में मिलना है। बङ्गलौर में हवाई जहाज के कारखाने का स्थानीयकरण सस्ती जल-विद्युत शक्ति की प्राप्ति से प्रभावित हुआ है।

(II) आर्थिक कारण—

आर्थिक कारणों में हम उन कारणों को सम्मिलित करते हैं, जिन पर किसी उद्योग की मितव्ययिता निर्भर होती है। प्रत्येक उद्योग ऐसे स्थान पर केन्द्रित होने का प्रयत्न करता है, जहाँ पर उसका उत्पादन-व्यय न्यूनतम् होता है। प्रमुख आर्थिक कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) बाजार की निकटता—बहुत से उद्योगों में बाजार के निकट स्थापित होने की प्रवृत्ति होती है। जिन उद्योगों में कच्चे माल और तैयार माल के बोझ का अन्तर बहुत ही कम होता है, अथवा, तैयार माल को दूर के स्थानों पर भेजने में टूट-फूट द्वारा हानि का भय होता है, वे बाजार के पास ही खोले जाते हैं। जैसे—काँच का सामान बनाने का उद्योग। इसी प्रकार,

जिस वस्तु की माँग मे तेजी के साथ परिवर्तन होते रहते हैं, उसे भी बाजार के पास ही स्थापित करना लाभदायक होता है, ताकि माँग की प्रवृत्तियो का सही ज्ञान तुरन्त ही प्राप्त हो सके।

(२) **श्रम की प्राप्ति की सुविधा**—कुछ उद्योगो मे विशिष्ट अथवा अति-कुशल श्रम की आवश्यकता पड़ती है। अतः ऐसे उद्योग उन्ही स्थानो पर खोले जाते है, जहाँ उपयुक्त श्रम सस्ता और पर्याप्त मात्रा मे मिल जाता है। बनारस का जरी का काम इसका अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार, यदि किसी उद्योग मे उत्पादन-व्यय का अधिक बड़ा भाग मजदूरी के रूप मे होता है, तो उसे उन क्षेत्रो मे, जहाँ सस्ते और पर्याप्त श्रमिक मिलें, स्थापित करके उत्पादन-व्यय को कम किया जा सकता है।

(३) **पूँजी की सुविधा**—बहुत से उद्योगों का स्थानीयकरण पूँजी की उपलब्धता पर निर्भर होता है। बम्बई और कानपुर मे अनेक उद्योगों के जमा हो जाने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि बैंकों और दूसरी सुविधाओं के कारण वहाँ सस्ते ब्याज पर और अधिक मात्रा मे ऋण मिल जाते हैं। आधुनिक उद्योगो को अधिक मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए ऐसे स्थानो पर, जहाँ पूँजी की सुविधायें प्राप्त न हो, उद्योग के खोलने का प्रश्न कम ही उठता है।

(४) **यातायात और संचार की सुविधायें**—उद्योगो के स्थानीयकरण पर यातायात और सम्वादवाहन का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि सस्ते, शीघ्रगामी और पर्याप्त यातायात और सम्वादवाहन के साधन उपलब्ध है, तो बाजार की निकटता, कच्चे माल की समीपता और शक्ति के साधनों के पास में होने की विशेष चिन्ता नही की जायगी। पुराने काल मे भी यातायात और सम्वादवाहन के साधनो के केन्द्र उद्योग के स्थानीयकरण के उपयुक्त स्थान समझे जाते थे।

(III) राजनीतिक एवं सैनिक कारण—

कुछ उद्योगों के स्थानीयकरण पर राजनैतिक और सैनिक कारणो का भी प्रभाव पड़ता है :—

(१) **सैनिक कारण**—कुछ उद्योगो का सैनिक महत्त्व होता है। इन्हें ऐसे स्थानो पर खोला जाता है, जहाँ उन्हें युद्ध की दशा मे शत्रु के आक्रमणों से सुरक्षित और उनके कार्य-वाहन को गुप्त रखा जा सके। हमारे देश मे गोला और बारूद के कारखाने देहात के छोटे-छोटे कस्बो मे ऐसे स्थानो पर खोले गये है जहाँ उनकी रक्षा के लिए पास मे कोई हवाई जहाज अड्डा अथवा सैनिक केन्द्र है।

(२) **राजनैतिक कारण**—राजनीतिक कारणो मे सरकार का सरक्षण आदि भी सम्मिलित होते है। प्राचीन काल मे बहुत से उद्योगो को राजा अथवा दरबार का सरक्षण प्राप्त होता था और अधिकतर उद्योग-धन्धे राजधानी मे खोले जाते थे। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत मे अधिकांश उद्योग-धन्धो मे ब्रिटिश भारत के स्थान पर देशी राज्यों मे खुलने की प्रवृत्ति पैदा हो गई थी, क्योंकि इन राज्यों मे फैक्टरी नियम नही थे, मजदूरी की दरों और कार्य की दशाओं मे सम्बन्धित किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नही थे और देशी राज्य उद्योगो को विशेष सुविधायें देकर प्रोत्साहन देते थे।

(IV) सामाजिक एवं धार्मिक कारण—

बहुत से उद्योगों का स्थानीयकरण सामाजिक और धार्मिक कारणो पर भी निर्भर होता है। अनेक उद्योग-धन्धे ऐसे स्थानो पर खुलते हैं, जो तीर्थ-स्थान होते हैं अथवा किसी सामाजिक क्रिया के केन्द्र होते हैं। हरिद्वार और मथुरा मे मूर्ति और मालायें बनाने के उद्योगो का स्थानीयकरण इसी कारण हुआ है। आगरे मे खिलौने बनाने और पत्थर का काम इसलिए होता है कि प्रति दिन लोग दूर-दूर से ताज को देखने के लिए आते रहते हैं।

(V) अन्य कारण—

उपरोक्त कारणो के अतिरिक्त उद्योग-धन्धो का स्थानीयकरण और भी बहुत-सी बातो पर निर्भर होता है।

(१) शीघ्र आरम्भ का आवेग—बहुत बार ऐसा होता है कि आरम्भ मे कोई उद्योग किसी कारण से किसी स्थान मे स्थापित हो जाता है। तत्पश्चात् वह उस स्थान पर ख्याति प्राप्त कर लेता है और अपनी व्यावसायिक साख (Goodwill) बना लेता है। इस ख्याति और साख का लाभ उठाने के लिए बाद मे जो कारखाने खोले जाते हैं, वे भी उसी स्थान पर खोले जाते हैं। अलीगढ का ताला बनाने का उद्योग इसका अच्छा उदाहरण है। इसके अतिरिक्त आरम्भ मे कोई उद्योग जिस स्थान पर खुल जाता है, वहाँ धीरे-धीरे श्रम और पूँजी तथा याता यात और सम्वादवाहन की सुविधाओ के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। बाद को और उद्योगो का वहाँ पर खोलना लाभदायक होता है।

(२) नियमों की सुविधा—बहुत बार उद्योगों के स्थानीयकरण पर इस बात का भी प्रभाव पडता है कि क्षेत्र विशेष के नियम कैसे हैं। यदि उद्योगपति को सुविधाये उपलब्ध हैं तो वह कारखाना खोलना पसन्द करेगा। यदि उसके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं तो वह उद्योग को कही और ले जायगा।

(३) सरकारी नीति—सरकारी नीति का भी उद्योगो के स्थानीयकरण पर प्रभाव पड़ता है। बहुत बार सरकार किसी उद्योग को किसी विशेष स्थान पर स्थापित करना चाहती है। व्यापार, प्रशुल्क (Tariff) और करारोपण नीति का उद्योगो के स्थानीयकरण पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत स्थानीयकरण सोच-समझ कर निश्चित किया जाता है।

स्थानीयकरण की लाभ-हानियाँ

स्थानीयकरण से लाभ—

जब एक उद्योग किसी स्थान मे केन्द्रित हो जाता है, तो फिर सरलता से वहाँ से हटना नही है। इसका मुख्य कारण वे सब सुविधाये और लाभ हैं, जो उस उद्योग को स्थानीयकरण से प्राप्त होते हैं। ये लाभ निम्नलिखित हैं :—

(१) स्थान की प्रसिद्धि (Fame)—वह स्थान जहाँ कोई उद्योग केन्द्रित हो जाता है उस उद्योग के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है, जिसके फलस्वरूप वहाँ की वस्तुये सरलता से बिक जाती हैं। मुरादाबाद के बर्तन, लखनऊ की तम्बाकू, कन्नौज का इत्र, सूरत की जरी का काम, आगरे के सगमरमर के खिलौने, आदि इसी कारणवश सरलता से बिक जाते हैं।

(२) श्रमिको की कार्य-कुशलता मे वृद्धि—जब किसी उद्योग का किसी स्थान मे बडे पैमाने पर स्थानीयकरण हो जाता है, तो वहाँ के श्रमिको को उस उद्योग से सम्बन्धित कार्यों का विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यही नहीं, उनकी सन्तान को भी वह कार्य सीखने मे सुविधा रहती है और यह क्रम इस प्रकार बहुत पीढियों तक चलता रहता है। इससे निर्माणकर्त्ताओं और श्रमिको दोनो को लाभ होता है। जो निर्माणकर्त्ता, उस वस्तु के उत्पादन के लिए नये कारखाने खोलना चाहते है, वे इसी स्थान मे खोलेगे, क्योकि वे जानते हैं कि ऐसे स्थान मे उनको उस वस्तु की उत्पत्ति से जानकारी रखने वाला श्रम सरलता से मिल सकता है। श्रमिक भी ऐसे स्थान पर दूर-दूर से आते हैं, क्योकि वे जानते है कि वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रम की आवश्यकता होती है और इसीलिए उनको कार्य सरलता से मिल सकता है।

(३) पूँजी मिलने की सुविधा—यदि किसी स्थान मे किसी वस्तु विशेष के उत्पादन

से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से कारखाने खुल जाते हैं, तो उनको बैंकों आदि की सुविधा के कारण कम ब्याज पर पर्याप्त पूंजी सरलता से प्राप्त हो जाती है।

(४) विशिष्ट यन्त्रों और मशीनों का उपयोग—एक उद्योग के एक स्थान में केन्द्रित हो जाने से उत्पत्ति बड़े पैमाने पर होने लगती है और इसके फलस्वरूप श्रम-विभाजन उच्च सीमा पर पहुँच जाता है। इसके अतिरिक्त, विभिन्न निर्माणकर्त्ताओं में भी कभी-कभी तो सहयोग और कुछ क्षेत्रों में स्पर्धा होने लगती है। फिर उस उद्योग में लगा हुआ श्रम भी अपने काम में पूर्णतया दक्ष हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उसमें मशीनों और यन्त्रों में उन्नति करने की क्षमता आ जाती है। इन सबका फल यह होता है कि विशिष्ट यन्त्रों और मशीनों का प्रयोग बढ़ता है और नई-नई मशीनों का आविष्कार होता है। एक अन्य ढंग से भी नवीनतम् यन्त्रों और मशीनों के उपयोग को प्रोत्साहन मिलता है—प्रमुख उद्योग के साथ-साथ बहुत से पूरक उद्योग भी खुल जाते हैं। यदि एक पूरक उद्योग बहुत से कारखानों की सहायता करता है, तो यह स्पष्ट है कि इस पूरक उद्योग में भी काम बड़े पैमाने पर होगा और विशिष्ट से विशिष्ट मशीनों के उपयोग से लागत मूल्य में कमी होगी।

(५) गौण और पूरक उद्योग-धन्धों की स्थापना—स्थानीयकरण से एक लाभ यह भी होता है कि प्रमुख उद्योग के साथ बहुत से गौण और पूरक धन्धों की भी स्थापना हो जाती है। गौण उद्योग प्रमुख उद्योग को कई प्रकार सहायता करते हैं, जैसे—उद्योग को कच्चा माल देना, इत्यादि। इसी प्रकार, पूरक धन्धे भी प्रमुख उद्योगों की सहायता करते हैं, यद्यपि यह सहायता परोक्ष रूप से होती है। उदाहरण के लिए, लोहे के कारखानों के पास कपड़े बुनने की मिलें खुल जाती हैं, जिनमें स्त्रियों और बच्चों को भी नौकरी मिल जाती है। इसके फलस्वरूप श्रमिक की कुल आय में वृद्धि हो जाती है और निर्माणकर्त्ता को यह लाभ होता है कि उसे श्रम सस्ती मजदूरी पर मिल जाता है।

(६) औद्योगिक सङ्गठन और यन्त्रों तथा मशीनों के सम्बन्ध के नये विचार—जब कोई उद्योग किसी स्थान पर केन्द्रित हो जाता है, तो उसमें सम्बन्धित कारखानों के निर्माणकर्त्ता, इन्जीनियर तथा अन्य कर्मचारी समय-समय पर आपस में मिलते रहते हैं और एक दूसरे की कठिनाइयों का अध्ययन करके उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे सम्पूर्ण उद्योग की सामूहिक रूप से उन्नति होती है। वे यह प्रयत्न करते हैं कि वस्तु के निर्माण-व्यय कम हों। इस प्रकार, प्रत्यक्ष लाभ के अतिरिक्त प्रबन्धक तथा साहसियों में आपस में सहयोग और एकता के भाव भी जाग्रत होते हैं। साथ ही, औद्योगिक तथा शैल्पिक अनुसन्धान को भी प्रोत्साहन मिलता है।

(७) अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग—स्थानीयकरण से अवशिष्ट पदार्थों (Waste matters) का भी उचित उपयोग होता है। बहुधा प्रत्येक उद्योग में कुछ न कुछ अवशिष्ट पदार्थ निकलता है, जिसका उचित उपयोग तभी हो सकता है, जब यह पदार्थ पर्याप्त मात्रा में हो। पर्याप्त मात्रा में यह तभी हो सकता है, जब कि ऐसी वस्तु के निर्माण के बहुत से कारखाने एक स्थान पर हों।

(८) व्यापारिक सुविधायें—जब कोई स्थान किसी उद्योग का केन्द्र बन जाता है, तो उद्योग के लिए उपयुक्त यातायात तथा सम्वादवाहन के साधनों का विकास होता है और ऐसी संस्थायें भी खुल जाती हैं जो व्यापार में पूंजी लगा सकें।

(९) विज्ञान और यन्त्र सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन—ऐसे स्थान से विज्ञान सम्बन्धी पत्र और पत्रिकायें भी निकलती हैं, जिनसे इन्जीनियर आदि को अपने काम में सहायता मिलती है और वे उत्पत्ति की क्रिया तथा मशीनों और यन्त्रों में नये-नये सुधार करते रहते हैं।

(१०) **मरम्मत करने के कारखानों की सुविधा**—केन्द्रीयकृत उद्योगों के लिए इस प्रकार की सुविधायें आसानी के साथ तथा अधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाती हैं।

स्थानीयकरण की हानियाँ

जहाँ स्थानीयकरण के इतने लाभ हैं, वहाँ कुछ हानियाँ भी हैं। ये हानियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) **श्रमिक की कार्यक्षमता की कमी**—उद्योग के स्थानीयकरण से उस उद्योग मे काम करने वाले श्रमिक उस उद्योग मे तो पूर्णतया दक्ष अवश्य हो जाते हैं, परन्तु उनका ज्ञान केवल एक ही उद्योग तक सीमित रहता है। इससे उनकी कार्यक्षमता सकुचित हो जाती है। दूसरे शब्दो मे, विशिष्टीकरण की समस्त हानियाँ उद्योगो के स्थानीयकरण मे पाई जाती है।

(२) **आर्थिक सकट का भय**—स्थानीयकरण मे एक प्रदेश अथवा स्थान एक ही उद्योग पर निर्भर रहता है। यदि किसी प्रकार दुर्भाग्यवश इस व्यवसाय मे मन्दी आ जाती है, तो उन सब व्यक्तियो को जो इस व्यवसाय पर निर्भर रहते हैं, महान् आर्थिक कष्ट उठाना पड़ता है। कारखाने बन्द हो जाते है, बेकारी फैलती है और सम्पूर्ण वातावरण अत्यन्त ही निराशाजनक हो जाता है।

(३) **श्रम महँगा पड़ता है**—यदि किसी केन्द्रित उद्योग मे काम ऐसा है, जिसे केवल विशेष प्रकार का ही श्रमिक कर सकता है, तो ऐसी दशा मे निर्माणकर्त्ताओं को मजदूरी अधिक देनी पड़ेगी। उदाहरणार्थ, लोहे के कारखानों मे काम अधिकतर बलवान् मनुष्य ही कर सकते हैं, इसलिए यह स्पष्ट है कि किसी पूरक उद्योग जहाँ स्त्रियो और बच्चों को भी काम मिल सकता है, के अभाव मे, श्रमिक अधिक मजदूरी की माँग करेगे। इसके अतिरिक्त, यद्यपि निर्माणकर्त्ताओं को तो मजदूरी पर अधिक व्यय करना पड़ेगा, तथापि मजदूरो को इतनी मजदूरी नही मिलेगी कि उनके परिवार का काम भली-भाँति चल सके।

(४) **श्रम की गतिशीलता में कमी**—स्थानीयकरण से निपुण श्रम की गतिशीलता मे कमी आ जाती है, क्योंकि वे एक ही उद्योग के कार्य मे विशेषता रखते हैं और उन्हे अन्य उद्योगों का सामान्य ज्ञान भी नही होता है।

(५) **देश का असन्तुलित आर्थिक विकास**—स्थानीयकरण के फलस्वरूप देश के कुछ भागो मे बहुत से उद्योग स्थापित हो जाते हैं किन्तु अन्य भाग इससे पिछड़े हुए रह जाते हैं। इससे आर्थिक विकास मे असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है, धन का क्षेत्रीय वितरण असमान हो जाता है, विभिन्न क्षेत्रो के निवासियो मे ईर्ष्या-भावना पनपती है तथा देश की अखण्डता को ठेस पहुँचती है।

(६) **सामाजिक दृष्टि से अवाञ्छनीय**—सुरक्षा की दृष्टि से कुछ स्थानों मे उद्योगों का अत्यधिक जमाव होना हानिकारक है, क्योंकि लड़ाई छिड़ने पर औद्योगिक केन्द्रो को ही शत्रु अपनी बमबारी का निशाना बनाता है।

(७) **औद्योगिक केन्द्रों के दोष**—स्थानीयकरण के फलस्वरूप विशाल औद्योगिक केन्द्र बन जाते हैं, जिनमे लाखो श्रमिक काम करते हैं। ऐसी दशा में मकानो की समस्या, सफाई की समस्या, भीड़-भाड़ एव चरित्र-पतन की समस्या और स्वास्थ्य की समस्या उत्पन्न हो जाती हैं।

(८) **रहन-सहन के व्यय बढ़ना**—औद्योगिक केन्द्रो मे मकानो के किराये ऊँचे होते हैं। अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं के मूल्य भी अधिक होते हैं तथा शुद्ध और बढ़िया चीजें (जैसे—दूध, घी) मिलना कठिन हो जाता है।

economies) ले लेती हैं। जैसे—यातायात के साधन क्षेत्र की आवश्यकताओं से कम पड़ने लगते हैं और इसलिए भाड़े बढ़ जाते हैं। भूमि का अभाव अनुभव होने से उनके किराये भी बढ़ जाते हैं, इत्यादि।

स्थानीयकरण की हानियों को दूर करने का उपाय—

स्थानीयकरण की हानियों को उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण द्वारा दूर किया जा सकता है। यदि उद्योगों को एक न्यायसंगत और सुनिश्चित योजना के अनुसार देश के विभिन्न स्थानों और क्षेत्रों में फैला दिया जाय, तो भीड़-भाड़, गन्दगी, मकानों के अभाव की समस्यायें सुलझ जायेंगी, अधिक लोगों को रोजगार मिलेगा, आर्थिक संकट से बचाव होगा, युद्ध के समय उद्योग सुरक्षित रहेंगे, उत्पादन लागतों में कमी होगी, देश का संतुलित आर्थिक विकास होगा एवं भावनात्मक एकता बढ़ेगी। पुराने औद्योगिक केन्द्रों में स्वच्छ बस्तियों की स्थापना, कारखाना नियमों का निर्माण एवं परिपालन, सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण योजनाओं के विस्तार द्वारा औद्योगिक केन्द्रीयकरण के दोष बहुत सीमा तक दूर हो सकते हैं।

उद्योगों का केन्द्रीयकरण
(De-localisation or De-centralization of Industries)

विकेन्द्रीयकरण का अर्थ एवं इसके कारण—

विगत वर्षों में औद्योगिक जगत में एक दूसरी प्रकार की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। उद्योग-धन्धों के केन्द्रीयकरण होने के स्थान पर उनका विकेन्द्रीयकरण हो रहा है। उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण का अर्थ है, उद्योगों का एक स्थान पर एकत्रित होने के स्थान पर उल्टे उनका फैलते जाना अर्थात् देश में दूर-दूर तक और पृथक्-पृथक् स्थानों में स्थापित होना। बहुत से उद्योग अपने पुराने स्थानों को छोड़ कर नये-नये स्थानों को जा रहे हैं। क्षेत्रवर्ती आर्थिक नियोजन (Regional Planning) के विचार के अभ्युदय ने तो इस प्रवृत्ति को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया है। इस प्रवृत्ति के प्रमुख कारण निम्न हैं :—

(१) **सन्तुलित विकास का विचार**—*आधुनिक आर्थिक विचारधारा इस प्रकार की है कि नगर और ग्रामीण क्षेत्रों तथा औद्योगिक और गैर-औद्योगिक क्षेत्रों* (Industrial and Non-industrial regions) के भेद को मिटाया जा रहा है। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि नये कारखाने ऐसे स्थानों में स्थापित किये जायें, जहाँ पहले से औद्योगिक विकास नहीं हो पाया है। बहुत से पुराने कारखानों को भी उठाकर ऐसे स्थानों पर ले जाया जा रहा है।

(२) **विद्युत शक्ति का विकास**—*विद्युत शक्ति दूर-दूर तक जा सकती है,* इसलिए उद्योग अधिक सुविधाजनक स्थानों पर स्थापित होने लगे हैं। जब कोयला ही शक्ति का प्रमुख साधन था, तब उद्योग-धन्धों के लिए कोयले की खानों के पास स्थापित होना आवश्यक था। परन्तु अब यह बात नहीं है, इसलिए अब बहुत से उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण हो गया है।

(३) **यातायात तथा सम्वादवाहन के साधनों में उन्नति**—रेल और जलयान यातायात में उन्नति के कारण भारी मशीन आदि ऐसे दूर के स्थानों पर सरलतापूर्वक ले जाई जा सकती है, जहाँ विशेष उद्योगों के लिए अधिक सुविधा हो। उदाहरण के लिए, भारत में इन्लप, बाटा, रैले साइकिल, आदि के कारखाने आने का यही कारण है।

(४) **आधुनिक औद्योगिक नगरों में घनी आबादी, अधिक मकान का किराया आदि के दोष**—बहुत से नगरों में, जहाँ बहुत पहले से कारखाने आदि खुले हुए हैं, आबादी बहुत घनी हो गई है, जिसके कारण मकानों के किराये बढ़ गये हैं, भूमि का मूल्य बढ़ गया है और म्यूनिसि-

पैलिटियों के करों में भी वृद्धि हो गई है। यही नहीं, नगरों में मिलों के धुँये और गन्दगी आदि से स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती है। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक नगरों की अन्य बुराइयां भी यहाँ पाई जाती हैं। इन सब कारणों से भी इन नगरों के उद्योग दूसरे स्थान को चले जाते हैं।

(५) **सैनिक कारण**—बहुत से उद्योगों का केन्द्रीयकरण सैनिक कारणों से भी हो रहा है। कुछ उद्योगों को हटाकर ऐसे स्थानों पर ले जाया जा रहा है, जहाँ वे अधिक सुरक्षित समझे जाते हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी आवश्यक समझा जाता है कि कम से कम आवश्यक उद्योगों को देश भर में इस प्रकार फैला दिया जाय कि युद्ध की दशा में यदि एक भाग पर शत्रु का अधिकार हो भी जाता है, तो राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था टूटने न पाये।

(६) **आर्थिक संकटों से बचाव**—ऐसा समझा जाता है कि उद्योग-धन्धों का विकेन्द्रीयकरण आर्थिक सङ्कटों के विरुद्ध अधिक अच्छी रोक-थाम करता है। कोई एक उद्योग पूर्णतया चौपट नहीं हो पाता है और जनता के कष्ट और बेरोजगारी को पर्याप्त अंश तक कम किया जा सकता है।

(७) **मशीनों का बढ़ता हुआ उपयोग**—ज्यों-ज्यों मशीनों का प्रयोग बढ़ रहा है, कुशल श्रमिकों पर कई उद्योगों की निर्भरता बहुत ही कम हो गई, जिससे उनके लिए यह आवश्यक नहीं रहा है कि वे श्रमिकों की पूर्ति के केन्द्रों के निकट ही स्थापित हों।

परीक्षा प्रश्न :

१. उद्योग-धन्धों के विकेन्द्रीयकरण के पक्ष में तर्क दीजिए और बताइये कि इसके लिए क्या उपाय करने चाहिए ?

२. उद्योगों के स्थानीयकरण की परिभाषा लिखिये। उद्योगों के स्थानीयकरण को प्रभावित करने वाले कारणों की सक्षेप मे व्याख्या कीजिये।

३. उद्योगों के स्थानीयकरण के कारणों की विवेचना कीजिए। ऐसे उद्योगों को कौन-कौन से लाभ और हानियाँ हैं ?
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम स्थानीयकरण का अर्थ बताइये। तत्पश्चात् इसके कारण दीजिए और अन्त में इसके गुण-दोषों का विवरण दीजिए।]

४. उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण से आप क्या समझते हैं ? वर्तमान युग में विकेकीकरण की दिशा में प्रवृत्ति क्यों बढ़ रही है ? इससे स्थानीयकरण के दोष कहाँ तक दूर हो सकेंगे ?
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम विकेकीकरण का अर्थ बताइये। तत्पश्चात् इसके कारण दीजिये और अन्त में यह दिखाइये कि विकेन्द्रीयकरण के द्वारा स्थानीयकरण के दोषों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है।]

जा सकता है। (४) श्रमिकों से अच्छे सम्बन्ध रहते हैं। मालिक सभी श्रमिकों की समस्याओं, आदतों और योग्यताओं को समझता है। आपसी मन-मुटाव बातचीत द्वारा ही दूर हो जाता है। (५) ऐसी उत्पादन-प्रणाली में व्यवसायी के लिए काम शीघ्रता के साथ होता है और कार्य-कुशलता अधिक होती है। (६) उत्पादक अथवा व्यवसायी के लिए रहस्यों का गुप्त रखना सम्भव होता है। (७) बाहर के लोगों को भी ऐसी फर्म से व्यवसाय करने में सुविधा होती है, क्योंकि उन्हें केवल एक ही व्यक्ति से काम पड़ता है, जिसके विषय में सब बातों का शीघ्र और विश्वसनीय पता लगाया जा सकता है। (८) इसे स्थापित करने में कोई वैधानिक औपचारिकतायें पूरी नहीं करनी पड़ती हैं और न समाप्त करने में ही कोई विशेष रीति अपनानी पड़ती है। संक्षेप में, इसकी स्थापना एवं समाप्ति सरल है। (९) एकाकी व्यवसाय-पद्धति के अधीन प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार उन्नति करने का अवसर मिलता है, धन के वितरण में समानता बढ़ती है तथा व्यक्तियों में दूरदर्शिता, पहल-भावना आदि गुणों का विकास होता है जो समाज के लिए लाभ की बात है।

एकाकी स्वामित्व के दोष—

ऐसी व्यावसायिक प्रणाली में कुछ महत्त्वपूर्ण दोष भी हैं :—(१) प्रायः एक अकेले आदमी के पास पूँजी के साधन सीमित होते हैं। अतः पूँजी की कमी के कारण ऐसे व्यवसाय का पैमाना साधारणतया छोटा होता है। (२) असीमित उत्तरदायित्व के कारण जोखिम का अंश अधिक होता है। एकाकी स्वामी की व्यक्तिगत सम्पत्ति भी व्यवसाय की हानि में समाप्त हो सकती है। (३) एक व्यक्ति की संचालन और प्रबन्ध की योग्यतायें भी सीमित होती हैं। कोई भी व्यक्ति सभी कामों में एक ही साथ निपुण नहीं हो सकता। (४) ऐसे उत्पादन में विशेषज्ञों की सेवायें प्राप्त नहीं की जा सकती है। प्रबन्ध साधारणतया पुश्तैनी होता है, जिसमें कुशलता और मितव्ययिता कम रहती है। (५) एकाकी स्वामी को निर्णय लेने में अन्य व्यक्तियों से परामर्श की सुविधा नहीं होती है, जिस कारण गलत निर्णय लिये जाने की आशंका रहती है। (६) यदि बीमारी या किसी जरूरी काम से एकाकी स्वामी को व्यावसायिक स्थान से अनुपस्थित रहना पड़े, तो प्रबन्ध का भार कर्मचारियों पर पड़ता है। देखा गया है कि वे मालिक की अनुपस्थिति में शिथिल ढंग से कार्य करते हैं। (७) एकाकी व्यवसाय आवश्यक रूप में छोटे पैमाने पर होता है, जिस कारण उसकी प्रतियोगिता शक्ति सीमित होती है। (८) जैसा कि प्रो० हैने ने बताया है, प्रायः उत्तराधिकारियों में आवश्यक गुणों की कमी होती है, जिस कारण व्यवसाय दूसरी या तीसरी पीढ़ी में दुर्बल हाथों में चला जाता है और इस प्रकार उसके जल्दी बन्द होने की सम्भावना रहती है।

साझेदारी
(Partnership)

साझेदारी का अर्थ एवं इसकी विशेषतायें—

एकाकी स्वामित्व प्रणाली उस काल के लिए तो ठीक थी, जबकि उत्पत्ति का पैमाना छोटा था और माँग अधिकतर स्थानीय ही होती थी, परन्तु वर्तमान युग में विशालकाय कारखाने और व्यापार गृह होते हैं, जिनमें पूँजी की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण अकेले-अकेले व्यवसाय न करके कुछ लोगों ने मिलकर व्यवसाय आरम्भ किया, ताकि पूँजी अधिक मात्रा में प्राप्त हो सके और विभाजित उत्तरदायित्व के आधार पर व्यवसाय की देखभाल भी भली प्रकार हो सके।

भारतीय साझेदारी अधिनियम १९३२ के अनुसार, "साझेदारी उन व्यक्तियों के

या सबके द्वारा चलाया जाता हो, लाभों को बाँटने का ठहराव किया हो।" साझेदारी की परिभाषा का विश्लेषण करने से निम्न विशेषतायें पता चलती हैं :—(१) साझेदारी अधिनियम के अनुसार साधारण साझेदारी फर्म में कम से कम दो और अधिक से अधिक २० साझेदार हो सकते हैं। बैंकिंग फर्म में साझेदारी की अधिकतम् संख्या १० रखी गई है। (२) प्रत्येक साझेदार का दायित्व अपरिमित होता है। साहूकार अपनी सारी की सारी लेन किसी भी एक साझेदार से वसूल कर सकता है, यद्यपि यह साझेदार इसे अन्य साझेदारों से वसूल करने का अधिकारी होता है। साझेदार की व्यक्तिगत सम्पत्ति से भी फर्म के ऋण वसूल किये जा सकते हैं। [अमेरिका में परिमित उत्तरदायित्व साझेदारी प्रणाली भी प्रचलित है, जिसमें प्रत्येक साझेदार की देन उसके साझे के अंश तक सीमित होती है।] (३) व्यवसाय का संचालन सभी साझेदारों द्वारा या उनमें से एक के द्वारा सबकी ओर से किया जाता है। (४) साझेदारी का उद्देश्य व्यवसाय के लाभों को एक निश्चित अनुपात में बाँटना है। (५) यह आवश्यक नहीं है कि सभी साझेदार पूंजी लगावें। कुछ साझेदार पूंजी लगाते हैं, तो कुछ अपनी योग्यता का लाभ फर्म को प्रदान करते हैं। कुछ साझेदार फर्म को अपने 'नाम' का लाभ देते हैं।

साझेदारी के लाभ—

इस प्रकार की प्रणाली एकाकी स्वामित्व प्रणाली पर एक सुधार है। इसके प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—(१) एकाकी प्रणाली की तुलना में अधिक पूंजी प्राप्त हो सकती है, जिससे उत्पत्ति के पैमाने का विस्तार सरल हो जाता है। (२) जोखिम का वितरण हो जाता है। बहुत से व्यक्तियों को व्यवसाय के भाग्य में रुचि होती है और सभी मिलकर उसकी सफलता के लिए प्रयत्न करते हैं। (३) व्यवसाय को अनेक व्यक्तियों के अनुभव, कुशलता, व्यक्तिगत गुण और योग्यता का लाभ प्राप्त हो जाता है। (४) साझेदारी में विभिन्न साझेदार कार्य का बँटवारा करके श्रम-विभाजन और व्यावसायिक कुशलता के लाभ प्राप्त कर सकते हैं। (५) उत्पादन का विशिष्टीकरण हो जाता है। (६) अधिक जटिल व्यावसायिक प्रणालियों (जैसे—मिश्रित पूंजी कम्पनियों) की तुलना में इस प्रणाली में सरलता, व्यक्तिगत सम्पर्क तथा कुशलता के गुण अधिक पाये जाते हैं। (७) एकाकी स्वामित्व प्रणाली की तुलना में ऐसा व्यावसायिक सङ्गठन अधिक स्थायी होता है। (८) साझेदारी व्यवसाय में नीतियों, कार्यविधियों और भेदों को गुप्त रखा जा सकता है। हाँ, यदि साझेदारों में फूट पड़ जाय, तो बात दूसरी है। (९) फर्म का संचालन प्रजातन्त्रीय आधार पर अर्थात् सभी साझेदारों की सम्मति से किया जाता है।

साझेदारी के दोष—

किन्तु यह प्रणाली भी दोषों से विमुक्त नहीं है। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—(१) साझेदारी तभी तक सफलतापूर्वक चल सकती है, जब तक साझेदारों में परस्पर सहयोग रहता है। सहयोग के अभाव में साझेदारी टूट जाती है। (२) चूंकि इस पद्धति में देनदारी अपरिमित होती है, इसलिए एक साधारण भूल से भी व्यवसाय को भारी हानि पहुँच सकती है। (३) यह प्रणाली बहुत बड़े व्यवसायों के लिए उपयुक्त नहीं है। बहुत से व्यक्ति प्रबन्ध और साहस में भाग न लेकर केवल पूंजी लगाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिये साझेदारी अनुपयुक्त है। (४) यहाँ काम बहुत से व्यक्तियों की राय से होता है, परन्तु महत्वपूर्ण निर्णय करने में देर लगती है, जिससे व्यवसाय को हानि होती है। (५) यह कहना कठिन होता है कि साझेदारी कब तक चलेगी। यदि एक साझेदार न रहे (मर जाय या पागल हो जाय), तो साझेदारी टूट जाती है। (६) इस प्रणाली से आधुनिक उद्योग की आवश्यकतायें पूरी नहीं हो सकती हैं।

साझेदारी के गुण-दोषों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ऐसा सङ्गठन-स्वरूप

तब अधिक उपयुक्त रहता है जबकि व्यवसाय का पैमाना बहुत बड़ा न हो और साझेदारों में सहयोग हो। किन्तु एक आधुनिक व्यवसाय व बड़े पैमाने के उत्पादन के लिए साझेदारी अनुपयुक्त है।

संयुक्त पूँजी कम्पनियाँ
(Joint-stock Companies)

मिश्रित पूँजी कम्पनियों से आशय—

आधुनिक प्रकार के कारखानों और मशीनों में अधिक मात्रा में पूँजी लगती है। इतनी पूँजी कोई एक व्यक्ति या कुछ थोड़े से व्यक्ति मिलकर उपलब्ध नहीं कर सकते। अतः अधिक पूँजी प्राप्त करने के लिए आजकल मिश्रित अथवा संयुक्त पूंजी कम्पनियाँ खोली जाती हैं।

प्रो० हैने के अनुसार, "एक संयुक्त स्कन्ध कम्पनी लाभ कमाने के लिए व्यक्तियों द्वारा निर्मित एक ऐच्छिक सङ्घ है जिसकी पूंजी हस्तान्तरण-योग्य अंशों में विभाजित होती है और इनका स्वामित्व सदस्यता के लिये आवश्यक शर्त है।" भारतीय नियमों के अनुसार कोई भी सात या सात से अधिक व्यक्ति मिलकर संयुक्त पूँजी कम्पनी का निर्माण कर सकते हैं। राज्य की ओर से एक संयुक्त पूंजी कम्पनी रजिस्ट्रार नियुक्त किया गया है, जिसके यहाँ कम्पनी का पंजीयन (Registration) कराया जाता है।

मिश्रित पूँजी कम्पनियों की विशेषतायें—

एक मिश्रित पूँजी कम्पनी व्यक्तियों का ऐच्छिक सङ्घ है। यह लाभ कमाने के लिए बनाई जाती है। जो लाभ प्राप्त होता है उसे कुछ निश्चित नियमों के अनुसार इसके स्वामियों (अर्थात् अंशधारियों) में बाँट दिया जाता है। इसे इसके स्वामियों से एक पृथक् वैधानिक अस्तित्व प्राप्त है, जिस कारण यह अपने नाम से अन्य पक्षों पर मुकद्दमा चला सकता है और अन्य पक्ष भी उस पर मुकद्दमा चला सकता है। यथार्थ में कम्पनी कानून का उत्पाद है। अतः इसे कृत्रिम व्यक्ति या वैधानिक व्यक्ति कहते हैं। कम्पनी के सदस्यों का दायित्व उनके द्वारा लिये गये अंशों के मूल्य तक सीमित होता है। इसकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता निरन्तर उत्तराधिकार है अर्थात् कुछ सदस्यों के बहिर्गमन या इनकी मृत्यु द्वारा अथवा नये सदस्यों के प्रवेश से कम्पनी के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वह शाश्वत है। चूँकि कम्पनी एक कृत्रिम व्यक्ति है इसलिये वह स्वयं अपने कार्य नहीं कर सकती है वरन् प्रतिनिधियों के द्वारा करती है जिन्हें संचालक कहते हैं। कम्पनी की एक सार्वमुद्रा होती है जो उसके अधिकृत हस्ताक्षरों का काम करती है। कम्पनी का जन्म कानून द्वारा होता है और कानून द्वारा ही उसका अन्त होता है।

मिश्रित पूँजी कम्पनी का निर्माण—

एक कम्पनी का निर्माण जिस तरह होता है उसके अध्ययन के लिए हम इसको निम्न चार अवस्थाओं में विभक्त कर सकते हैं प्रवर्तन की अवस्था, समामेलन की अवस्था, पूँजी प्राप्त करने की अवस्था और व्यवसाय प्रारम्भ करने की अवस्था।

(१) **प्रवर्तन की अवस्था**—सर्वप्रथम एक या कई व्यक्ति व्यवसाय के लाभदायक अवसरों की खोज करते हैं और जब कोई उपयुक्त अवसर उनकी दृष्टि में आता है तो उसमें लाभ उठाने के लिए व्यवसाय की योजना बनाते हैं। यदि आवश्यक हो, तो योजना बनाने में विशेषज्ञों की भी सहायता लेते हैं। इस सब कार्य को व्यवसाय का 'प्रवर्तन' (Promotion) और प्रवर्तन करने वाले व्यक्ति को 'प्रवर्तक' (Promoter) कहते हैं।

(२) **समामेलन की अवस्था**—व्यवसाय की योजना बना लेने के बाद उसे अस्तित्व

मे लाने हेतु कानूनी कार्यवाही करनी पडती है । इसे 'समामेलन की अवस्था' कहते हैं । जब कानूनी कार्यवाही पूर्ण हो जाती है तो कम्पनियो का रजिस्ट्रार कम्पनी के वैधानिक अस्तित्व मे आने का प्रमाण-पत्र जारी करता है, जिसे 'समामेलन का प्रमाण-पत्र' (Certificate of Incorporation) कहते हैं । ऐसा प्रमाण-पत्र पाने के लिए प्रवर्तकों को निम्न प्रलेख रजिस्ट्रार के पास, निर्धारित शुल्क सहित, फाइल करने पड़ते है :—(अ) **पार्षद सीमानियम** (Memorandum of Association), जिसमे कम्पनी का नाम, मुख्य कार्यालय का स्थान, अधिकृत शेयर पूँजी, कम्पनी के उद्देश्य इत्यादि का विवरण होता है । यह कम्पनी के अधिकारो की सीमा निश्चित करता है । कम्पनी ऐसा कोई कार्य नही कर सकती है, जो पार्षद सीमानियम द्वारा निर्धारित अधिकार क्षेत्र से बाहर हो । यह बाह्य पक्षों के साथ कम्पनी के सम्बन्धो को निश्चित करता है । (आ) **पार्षद अन्तर्नियम** (Articles of Association), जिसमे कम्पनी के आन्तरिक प्रबन्ध के लिए बनाये गये नियमो का उल्लेख होता है । (इ) **सञ्चालकों की सूची** (List of Directors), जिसमे सचालको के नाम, पते और उनके द्वारा लिये जाने वाले शेयरो की सख्या इत्यादि दी जाती है । पार्षद-सीमानियम पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्ति ही प्रायः कम्पनी के प्रथम संचालक होते है । (ई) **प्रविवरण** (Prospectus), जिसके द्वारा कम्पनी जनता को खरीदने के लिए शेयर प्रस्तुत करती है । (उ) **लाइसेन्स** (Licence), जो उद्योग विकास एव नियमन अधिनियम १६५१ के अधीन लेना आवश्यक है । इसके विना देश मे कुछ उद्योग स्थापित करने का निषेध है ।

(३) **पूँजी प्राप्त करने की अवस्था**—कम्पनी आवश्यक पूँजी न केवल अंशो के विक्रय द्वारा वरन् ऋण-पत्र वेचकर भी प्राप्त करती है । इसके विषय में हमने आगे प्रकाश डाला है ।

(४) **व्यापार आरम्भ करने की अवस्था**—जब उपर्युक्त कार्यवाही पूरी हो जाय और कम्पनी अशो के निर्गमन द्वारा न्यूनतम् कार्यशील पूँजी प्राप्त कर ले तो रजिस्ट्रार उसे 'व्यापार शुरू करने का प्रमाण-पत्र' (Certificate of Commencement of Business) दे देता है । ऐसा प्रमाण-पत्र मिलने के बाद कम्पनी अपना व्यवसाय चालू कर सकती है ।

मिश्रित पूँजी कम्पनी के साधन—

सयुक्त पूँजी कम्पनी की पूँजी कई प्रकार की होती है :—

(१) **अधिकृत पूँजी** (Authorised Capital)—यह एक अधिक से अधिक पूँजी होती है, जो कम्पनी अपने विधान के अनुसार किसी भी समय रख सकती है। कम्पनी को इस पूँजी से अधिक कीमत के अश वेचने का अधिकार नही होता है ।

(२) **निर्गमित पूँजी** (Issued Capital)—एक कम्पनी अपनी समस्त अधिकृत पूँजी को बहुधा प्रारम्भ मे ही निर्गमित नहीं कर देती वरन् थोडा-थोडा करके आवश्यकतानुसार निर्गमित करती है । निर्गमित पूँजी अधिकृत पूँजी का वह भाग है, जिसे कम्पनी वास्तव मे जनता से इकट्ठा करना चाहती है ।

(३) **प्रार्थित पूँजी** (Subscribed Capital)—यह आवश्यक नही है कि जनता कम्पनी द्वारा प्रस्तुत किये गये सभी अंशो को लेने को तैयार हो जाय । निर्गमित पूँजी का वह भाग, जिसे जनता लेने की इच्छा प्रकट करती और प्रार्थना-पत्र भेजती है, प्रार्थित पूँजी कहा जाता है ।

(४) **मांगी हुई पूँजी** (Called-up Capital)—जितनी कीमत के अंश होते हैं, उतनी पूरी की पूरी रकम एक दम कम्पनी वसूल नही करती है, बल्कि अंश की कीमत का थोड़ा-थोड़ा भाग धीरे-धीरे मांगा जाता है । यह मांगा हुआ भाग "मांगी हुई पूँजी" कहलाता है ।

(५) परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital)—यह पूँजी की उस मात्रा को सूचित करती है, जो अशो को बेचकर वास्तव मे प्राप्त होती है। अर्थात्, यह माँगी हुई पूँजी का वह भाग होती है, जिसे अशधारी वास्तव मे चुका देते हैं।

मिश्रित अथवा संयुक्त पूँजी कम्पनी के पूँजी प्राप्त होने के कई साधन होते हैं :— पूँजी अश (Shares) को बेचकर प्राप्त की जा सकती है। (ii) कम्पनी ऋण-पत्रो (Debentures) की निकासी (Issue) करती है। ये ऋण-पत्र अशो की भाँति ही बेचे जाते हैं। इनके खरीदने वाले कम्पनी के साहूकार (Creditors) होते हैं, जिन्हें एक निश्चित दर पर ब्याज मिलता है। (iii) अपने लाभो का एक भाग तो अशधारियो को लाभाश (Dividend) के रूप में बाँट देती है, और दूसरा भाग एक सुरक्षित कोष (Reserve Fund) मे जमा कर देती है, जिसे बाद को पूँजी के रूप में उपयोग किया जा सकता है। (iv) आवश्यकता पड़ने पर कम्पनी सरकार, बैंक अथवा दूसरी सस्थाओ से ऋण भी ले सकती है।

कम्पनियों के अंश (Shares)—

मिश्रित पूँजी कम्पनी के अश उसकी पूँजी के सबसे प्रमुख साधन होते हैं। कम्पनी के अशधारी ही व्यवसाय की जोखिम को उठाते हैं। अश भी कई प्रकार के होते हैं। वैसे भी सभी अशो का समान कीमत का होना आवश्यक नही होता है। **अंशो के प्रमुख भेद निम्न प्रकार हैं :—**

(१) **पूर्वाधिकार अंश** (Preference Shares)—ऐसे अशो पर एक निश्चित दर पर लाभांश बाँटा जाता है, जिसकी प्रकृति ब्याज जैसी ही होती है। ऐसे अशधारियो को कम्पनी के लाभ और हानि का बहुत भय नही होता है। लाभो पर इनका अधिकार सर्वप्रथम होता है। कम्पनी के निस्तारण (Liquidation) पर भी इन अशधारियो का हक सबसे पहले भुगतान लेने का होता है। ऐसे अश भी दो प्रकार के होते हैं—प्रथम, **संचीय पूर्वाधिकार अंश** (Cumulative Preference Shares), जिस पर लाभ के वर्ष मे उन पिछले वर्षों के लिए भी निश्चित दर पर लाभ मिलता है, जिनमे लाभ नहीं हुआ था। दूसरे, **असचीय पूर्वाधिकार अंश** (Non-Cumulative Preference Shares), जिन पर उन वर्षों का लाभ का हिस्सा बाद को नही दिया जाता है, जिनमे कि लाभ नही होता है।

(२) **साधारण अंश** (Ordinary Shares)—ऐसे अशो पर लाभ की कोई दर निश्चित नही होती है। इनके क्रेताओ को कम्पनी के भाग्य के अनुसार लाभ अथवा हानि होती है। कुल प्राप्त लाभो मे से सर्वप्रथम पूर्वाधिकार अशधारियो को हिस्सा दे देने के बाद शेष में से साधारण अशधारियो को हिस्सा दिया जाता है।

(३) **ऋण-पत्र** (Debentures)—ये प्रकृति मे अशो की भाँति होते हैं, परन्तु उन पर केवल निश्चित दर पर ब्याज ही दिया जाता है। कम्पनी को लाभ हो या हानि, परन्तु ऋण-पत्रधारियो को निश्चित दर पर ब्याज अवश्य मिलेगा। बहुधा ऋण-पत्रो को अशो की ही श्रेणी मे ही रखा जाता है। निश्चित दर पर ब्याज न मिलने की दशा मे ऋण-पत्रधारी कम्पनी की सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त कर सकते है। कम्पनी के निस्तारण की दशा मे इनको पूँजी और ब्याज का भुगतान सर्वप्रथम होता है।

साझेदारी और संयुक्त पूँजी कम्पनी में अन्तर—

(१) **देनदारी**—सयुक्त पूँजी कम्पनी मे अंशधारी की देनदारी परिमित होती है, परन्तु साझेदारी मे अपरिमित होती है।

(२) **कार्य का पैमाना**—साझेदारी मे व्यवसाय का पैमाना छोटा होता है, परन्तु मिश्रित पूँजी कम्पनियो में व्यवसाय का पैमाना बड़ा होता है।

(३) प्रबन्ध-व्यवस्था—साझेदारी में प्रबन्ध के लिए कोई वेतनभोगी प्रबन्धक नही रखा जाता है, परन्तु मिश्रित पूँजी कम्पनियों में ऐसा प्रबन्धक रखा जाता है।

(४) रजिस्ट्रेशन—साझेदारी के लिए यह आवश्यक नही है कि वह रजिस्टर्ड हो, परन्तु मिश्रित पूँजी कम्पनी बिना रजिस्टर्ड हुए बनाई ही नही जा सकती है।

(५) कानूनी हैसियत—साझेदारी की कोई पृथक् कानूनी स्थिति (हैसियत) नही होती, न यह अभियोग चला सकती है और न इस पर अभियोग चल सकता है, परन्तु मिश्रित पूँजी कम्पनियों की अंशधारियों से पृथक् स्थिति होती है। इस पर अभियोग चलाया जा सकता है और यह स्वयं भी अभियोग चला सकती है। इसी कारण एक अंशधारी के मरने से कम्पनी का अन्त नही होता। इसके विपरीत, साझेदारी का, किसी साझेदार के मर जाने या पागल हो जाने पर अन्त हो जाता है।

(६) संख्या—साझेदारी में साझेदारों की संख्या २० से अधिक नहीं हो सकती है और बैंकिंग व्यवसाय (Banking Business) में यह सीमा केवल १० है, परन्तु एक प्राइवेट कम्पनी में, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, अंशधारियों की न्यूनतम संख्या २ है और पब्लिक कम्पनियों में ७ है। पब्लिक कम्पनियों में अंशधारियों की कोई निश्चित अधिकतम सीमा नही है, परन्तु प्राइवेट कम्पनी में एक निश्चित सीमा है।

(७) स्वामित्व—साझेदारी में प्रत्येक साझेदार व्यवसाय का वास्तविक स्वामी होता है और प्रबन्ध में भाग ले सकता है, परन्तु एक कम्पनी में अंशधारी केवल नाममात्र के स्वामी होते हैं।[1] वास्तव में सारा काम सचालक (Directors) करते हैं।

मिश्रित पूँजी कम्पनी का प्रबन्ध—

मिश्रित पूँजी कम्पनी के सारे अंशधारी एक ही साथ कम्पनी का प्रबन्ध नहीं कर सकते हैं। प्रबन्ध के लिए सारे अंशधारी मिलकर **संचालक-मण्डल (Board of Directors)** का निर्वाचन करते हैं। यही मण्डल व्यवसाय की देख-रेख और प्रबन्ध-कार्य करता है। सचालक-मण्डल अपने में से किसी एक सदस्य को **प्रबन्ध संचालक (Managing Director)** चुन लेता है। दिन-प्रति-दिन के कार्य का सचालन यही सदस्य करता है। काम की वास्तविक देख-भाल के लिए कोई **वेतनभोगी प्रबन्धक (Salaried Manager)** रखा जाता है। अंशधारियों का परोक्ष रूप में व्यवसाय के सचालन पर पूरा नियन्त्रण होता है, क्योंकि उन्हें निर्वाचन और आलोचना का अधिकार प्राप्त होता है, परन्तु वास्तव में अंशधारियों की बैठक साल में केवल एक बार ही होती है।

मिश्रित पूँजी कम्पनियाँ साधारणतया दो प्रकार की होती हैं—प्रथम, वे जिनमें अंशधारियों का उत्तरदायित्व सीमित होता है। इन्हें हम **सीमित उत्तरदायित्व कम्पनियाँ (Limited Liability Companies)** कहते हैं। ऐसी कम्पनियों के नाम के आगे साधारणतया लिमिटेड (Ltd.) शब्द लिखा रहता है। इसका अर्थ यह होता है कि एक अंशधारी ने जितने अंश खरीदे हैं, कम्पनी के ऋणों के सम्बन्ध में उसकी जिम्मेदारी उन्ही अंशों की पूरी कीमत तक ही सीमित होती है। दूसरे प्रकार की मिश्रित पूँजी कम्पनियाँ वे होती हैं, जिनमें अंशधारियों का उत्तरदायित्व असीमित होता है। प्रत्येक अंशधारी की जिम्मेदारी अंशों की कीमत के परे उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति तक विस्तृत होती है। इन्हें 'असीमित दायित्व कम्पनियाँ' कहा जाता है।

---

[1] "In form, therefore...the Joint Stock Company is in the most instances a close oligarchy : the monetary support of the public is wanted but not their direction."—Hobson : *Evolution of Modern Capitalism.*

संयुक्त पूँजी कम्पनियों के लाभ—

ऐसी कम्पनियो के अनेक लाभ होते हैं। प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—(१) कम्पनी साझेदारी और एकाकी स्वामित्व प्रणाली की अपेक्षा अधिक स्थायी होनी है, क्योंकि इसकी अपनी कानूनी स्थिति होती है। (२) परिमित देनदारी होने के कारण पूँजी की कोई कठिनाई नहीं होती है। (३) राष्ट्रीय बचत का सदुपयोग होता है। कम्पनी के अश छोटे मूल्य के होते हैं, इससे सभी वर्ग के लोग अपनी बचत उद्योग एव व्यवसाय मे लगा सकते हैं। (४) परिमित देनदारी के कारण कम्पनी नये-नये औद्योगिक क्षेत्रों में कार्य प्रारम्भ कर सकती है। इस प्रकार देश का औद्योगिक विकास एव आर्थिक उन्नति होती है। (५) व्यवसाय के अश सरलता से बेचे जा सकते हैं, इसलिए प्रत्येक अशधारी को यह स्वतन्त्रता होनी है कि वह जब तक चाहे व्यवसाय मे रह सकता है। (६) सीमित देनदारी व्यवसाय मे पूँजी लगाने की सुविधा एवं हस्तान्तरण के कारण देश मे बचत करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे देश की पूँजी मे वृद्धि होती है। (७) कम्पनी का व्यवसाय अधिकतर बड़े पैमाने पर होता है, जिससे श्रम-विभाजन, विशिष्टीकरण एव मशीनो के उपयोग को प्रोत्साहन तो मिलता ही है, साथ ही साथ विशेषज्ञों की सेवाएँ भी सरलता से प्राप्त हो जाती हैं, जिसके कारण प्रबन्ध मे कुशलता आती है। इसके अतिरिक्त सचालक समिति के रूप मे कम्पनी को ऐसे योग्य व्यक्ति मिल जाते हैं, जो व्यवसाय को सुचारु रूप से चला सकते हैं। (८) यद्यपि अशधारी अधिकतर कम्पनी के काम मे अधिक रुचि नही लेते हैं, तथापि अवसर पड़ने पर उनको यह अधिकार होना है कि अकुशल सचालकों और प्रबन्धको को निकाल दें। बहुत से बड़े व्यवसाय, जैसे—रेल, जहाज बनाना आदि केवल मिश्रित पूँजी कम्पनियो द्वारा ही सरलतापूर्वक बनाये जा सकते हैं, क्योंकि ऐसे व्यवसायो मे इतनी अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, जो एक मिश्रित पूँजी कम्पनी ही एकत्रित कर सकती है। (९) चूँकि व्यवसाय बड़े पैमाने पर होता है, इसलिए बड़े पैमाने की उत्पत्ति के सम्पूर्ण लाभ कम्पनी को उपलब्ध होते हैं। (१०) इस प्रणाली के आ जाने से पूँजीपति और साहसी अलग-अलग हो गये हैं, जिससे उत्पादन की कुशलता में वृद्धि हो गई है।

कम्पनी व्यवसाय की हानियाँ—

(१) परिमित देनदारी के फलस्वरूप ऐसी गलत योजनायें अपना ली जाती हैं, जिनमें लाभ की अपेक्षा हानि होने की अधिक सम्भावना रहती है। (२) हस्तान्तरण की सरलता के कारण जब कभी कोई अशधारी यह देखता है कि कम्पनी की दशा ठीक नहीं है तो अन्य अशधारियो की सहायता से कम्पनी की दशा को ठीक करने के स्थान पर, वह बाजार मे अपने अश बेच देता है। अतः इस पद्धति मे अशधारियों के परस्पर सहयोग को प्रोत्साहन नहीं मिलता है। (३) कानूनी औपचारिकता के कारण कम्पनी खोलने मे कठिनाई होती है। (४) इसमें कार्य उतनी शीघ्रता से नहीं होता है, जितना एकाकी स्वामित्व अथवा साझेदारी में होता है, क्योंकि मालिको के अधिक सख्या मे होने से व्यवसाय की समस्याओं के सम्बन्ध मे निर्णय देर मे होता है। (५) व्यावसायिक भेद गुप्त नहीं रखे जा सकते हैं, क्योंकि भेद बहुत से व्यक्तियों को मालूम हो जाते हैं। (६) अशो की सरल हस्तान्तरित के कारण कम्पनी के सचालक भी बहुधा बेईमानी करते हैं। इन्हें व्यवसाय की स्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान रहता है और इस ज्ञान से वे समुचित लाभ उठाते हैं। यदि व्यवसाय की दशा शोचनीय होती है तो वे अपने अश यह कह कर बेच देते हैं कि व्यवसाय बड़ी अच्छी दशा मे है, और, यदि पर्याप्त लाभ की आशा रहती है, तो अन्य अशधारियों के अंश खरीद लेते हैं। (७) कम्पनी का सचालन एवं प्रबन्ध अशधारियों, सचालको तथा वेतनभोगी प्रबन्धकों मे बँटा रहता है, इस कारण उत्तरदायित्व भी इन सभी में विभाजित रहता है। यदि प्रबन्ध में कुछ गड़बड़ होती है, तो सब अपनी

गर्दन निकालने का प्रयत्न करते हैं, अर्थात्, जिम्मेदारी एक-दूसरे पर ढकेलते हैं। (८) संचालक और भी कई प्रकार की बेईमानी करके अंशधारियों को धोखा देते है। अपने सम्बन्धियो को ऊंचे वेतन वाले पदों पर नियुक्त कर देते है और हर समय अपने स्वार्थ के लिए ही चिन्तित रहते है, कम्पनी का चाहे कुछ भी हो। (९) कम्पनी के स्वामी अंशधारी होते है, जो कम्पनी के कर्मचारियो से बहुत दूर रहते है। इस प्रकार स्वामी और सेवक के बीच दूरी होने के कारण श्रम समस्याये (Labour problems) अत्यन्त जटिल हो जाती हैं। (१०) पर्याप्त पूंजी होने के कारण कम्पनियाँ छोटे व्यवसायों को बाजार से बाहर करके चौपट कर देती हैं और इस प्रकार एकाधिकार को जन्म देती है। (११) अमेरिका और अन्य देशो का इतिहास यह बतलाता है कि बडी-बडी कम्पनियां आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों के अतिरिक्त राजनैतिक क्षेत्रों में गडबड़ करती हैं और भ्रष्टाचार को उत्पन्न करके देश के जीवन को दूषित कर देती हैं।

सहकारी उत्पादन
(Co-operative Production)

सहकारिता की आवश्यकता एवं परिभाषा—

लगभग सभी प्रकार की उत्पादन-प्रणालियो की स्थापना स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से की जाती है। इन सभी प्रणालियो मे उत्पादक अपने लाभों को अधिकतम् करना चाहता है। ऐसी उत्पादन-प्रणालियो में श्रमिको की यह शिकायत रहती है कि उत्पादन के सारे के सारे लाभ पूंजीपति हड़प जाते है। श्रमिकों के साथ न्याय तभी हो सकता है, जबकि, श्रमिक स्वय अपने व्यवसाय के स्वामी हो, श्रमिको की ओर से यह तर्क भी रखा जाता है कि उनके लिए व्यवसाय को स्वय चलाना असम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि श्रमिकों के पास आधुनिक प्रकार के उत्पादन को चलाने के लिए पर्याप्त पूंजी नही होती है। सहकारी उत्पादन-प्रणाली में श्रमिक साहसी और प्रबन्ध के कार्यों को स्वय सम्भाल लेते है। वे मिल जुल कर कुछ पूंजी का प्रबन्ध अपने पास से कर लेते हैं और कुछ पूंजी उधार लेते है। वे किसी फोरमैन (Foreman) और प्रबन्धक का निर्वाचन कर लेते हैं और कुछ कर्मचारी भी नियुक्त कर लेते हैं। सभी प्रकार के खर्चों को चुकाने के पश्चात् (जैसे—पूंजी का ब्याज, वेतन और मजदूरियां आदि) जो कुछ लाभ के रूप मे बचता है उसे श्रमिक आपस मे बाँट लेते हैं। ऐसी व्यवस्था को सहकारी उत्पादन कहते हैं।

(१) **स्ट्रिकलैंड के शब्दों में**—"सहकारिता व्यक्तियों के ऐसे सघ को सूचित करती है जिसमे वे उचित उपायों द्वारा अपने सामूहिक उद्देश्य की प्राप्ति करते है।......सहयोग का आधार (i) ऐच्छिक तथा (ii) प्रजातन्त्रीय होता है, ऐच्छिक इस कारण कि इसमे वही सम्मिलित होते हैं जो इसकी आर्थिक आवश्यकता अनुभव करते हैं और, प्रजातन्त्रीय इस कारण कि जो व्यक्ति इसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं वे साधारणतया साधारण आर्थिक स्थिति के व्यक्ति होते है...।"[1] इस प्रकार यह एक सहयोग का कार्य है, जिसका उद्देश्य सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सामूहिक कठिनाइयो का निवारण करना है और इसके लिए 'एक सबके लिए और सब एक के लिए' के आधार पर पारस्परिक सहायता का मार्ग अपनाया जाता है।

(२) **फे (Fay) ने एक सहकारी समिति की परिभाषा इस प्रकार की है**—"यह

---

1 "It indicates the association of individuals to secure a common economic end by honest means...The basis of association is (i) voluntary and (ii) democratic; voluntary, because those only enter it who feel the economic need of it; and democratic, because those who feel a real need will be men of modest status ....."—Strickland

सम्मिलित व्यवसाय हेतु बनाया हुआ संघ है, जो निर्धन व्यक्तियों द्वारा बनाया जाता है और सदा निःस्वार्थ भावना से कार्य करता है, शर्त यह होती है कि समिति के सभी सदस्य उसके लाभों में से उसी अनुपात में भाग प्राप्त करते हैं जिसमें कि वे समिति की सेवा का उपयोग करते हैं।"[1] ऐसी उत्पादन-प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह होती है कि काम करने वाले स्वयं ही व्यवसाय के मालिक भी होते हैं। इस पद्धति में लाभ कमाने वाले पूँजीपति का अन्त हो जाता है।

इस प्रकार की उत्पत्ति संगठन का सुझाव सबसे पहले **रोबर्ट ओविन (Robert Owen)** ने दिया था। अब संसार के सभी देशों में इसका प्रचलन बढ़ रहा है। कृषि उद्योग में तो सहकारी उत्पादन प्रणाली को अधिक लोकप्रियता प्राप्त हो गई है। यद्यपि अन्य क्षेत्रों में इसकी सफलता कम ही रही है।

सहकारी-व्यवसाय के लाभ—

ऐसी उत्पादन-प्रणाली के अनेक लाभ हैं :—(१) **श्रमिकों और मिल-मालिकों के झगड़ों का सदा के लिए अन्त हो जाता है।** जब पूँजीपति का अन्त हो जाता है, तो सारे के सारे लाभ श्रमिकों के ही पास रह जाते हैं। (२) **स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है,** क्योंकि वे स्वयं अपने आप को व्यवसाय का मालिक समझते हैं। फलतः व्यवसाय को व्यक्तिगत रुचि, श्रमिकों की जिम्मेदारी और श्रमिकों द्वारा पूरे उत्साह के साथ काम करने के लाभ प्राप्त होते हैं। (३) श्रमिकों की व्यक्तिगत रुचि और स्वतन्त्रता उनकी कार्य-कुशलता को बढ़ा देती है तथा उन्हें **उत्पादन-विधियों में सुधार करने और नये-नये आविष्कार करने के लिए प्रेरित करती है।** (४) **मजदूरियों और कार्य की दशाओं में उन्नति होती है।** (५) **शोषण का अन्त हो जाता है,** श्रमिकों के सन्तोष में वृद्धि होने लगती है और सामाजिक शान्ति तथा कल्याण में वृद्धि होती है। (६) श्रमिकों में **आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास के गुण उत्पन्न होते हैं।** वे आपस में मिल-जुलकर काम करने के सिद्धान्त को समझ लेते हैं। इससे उनका नैतिक उद्धार होता है।

सहकारी व्यवसाय की कठिनाइयाँ—

साधारणतया सहकारी उत्पादन बहुत सफल नहीं हो पाया है। इसके कारणों को समझ लेना कठिन नहीं है। (१) लाभ अधिकतर साहसी की योग्यता, निपुणता और कुशलता का परिणाम होते हैं। श्रमिकों में इन गुणों का होना कठिन होता है। श्रमिक ऊँचे वेतन वाले प्रबन्धक भी नहीं रख सकते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रबन्ध और सङ्गठन में **अकुशलता या ढील-पोल आ जाती है।** (२) निर्वाचित प्रबन्धक अनुशासन स्थापित नहीं कर पाते हैं। जब जिम्मेदारी का विभाजन हो जाता है, तो जिम्मेदारी का ही अन्त हो जाता है। (३) श्रमिकों में **आपसी मतभेद** उत्पन्न हो जाते हैं। यदि लाभ हुआ, तो अधिक परेशानी नहीं होती है, परन्तु हानि होते ही आपसी झगड़े आरम्भ हो जाते हैं। (४) पूँजी के अभाव के कारण **उत्पत्ति का पैमाना छोटा** ही रहता है। (५) बड़े-बड़े उत्पादकों की **प्रतियोगिता** सहकारी उत्पादन को पनपने नहीं देती है। (६) **नीची साख** के कारण श्रमिकों को बाहर से ऋण भी बहुत ही कम मिल पाते हैं।

---

[1] "An association for the purpose of joint trading, originating among the weak and conducted always in an unselfish spirit, on such terms that all who are prepared to assume the duties of membership share in its rearwds in proportion to the degree in which they make use of their association."
—**C. B. Fay** : *Co operation at Home and Abroad.*

उपभोक्ताओं का सहकार (Consumer's Co-operation)—

कुछ दिशाओं में सहकारिता को अधिक सफलता मिली है। उपभोक्ताओं का सहकार इसी प्रकार का है। इसके अन्तर्गत किसी एक स्थान के उपभोक्ता मिलकर अंशों के रूप में थोड़ी-थोड़ी पूँजी जमा करते हैं और एक सहकारी भण्डार खोल लेते हैं। वे अपने भण्डार के लिए थोक दरों पर माल खरीदते हैं और सदस्यों को बाजार भाव पर उसे बेच देते हैं। लाभों को भण्डार के सदस्यों या अंशधारियों में बाँट दिया जाता है, जिसका आधार या तो सदस्य द्वारा खरीदे हुए माल की कीमत होती है या सदस्य द्वारा दी हुई अंश पूँजी। साधारणतया सभी सदस्य समान कीमत के अंश खरीदते हैं और इस कारण लाभ भी बराबर-बराबर बाँट दिये जाते हैं।

व्यवसाय के प्रबन्ध के लिए मिश्रित पूँजी कम्पनी की भाँति सचालक-मण्डल (Board of Directors) तथा प्रबन्ध-सचालक का निर्वाचन किया जाता है। प्रबन्ध प्रजातन्त्रीय होता है, क्योंकि सभी अंशधारियों को मतदान का अधिकार होता है। ऐसे भण्डारों में सदस्यों को उचित कीमत पर अच्छा माल मिल जाता है और व्यापार में मध्यजनों का अन्त हो जाता है। कुछ दशाओं में उपभोक्ता सहकारी भण्डार माल की बिक्री के साथ-साथ सहकारी उत्पादन समितियाँ भी खोलते हैं।

आजकल बहु-मुखी सहकारी समितियों के खोलने पर अधिक बल दिया जाता है, जिसमें एक ही सहकारी समिति उत्पादन, बिक्री, ऋण देने आदि अनेक प्रकार के काम एक ही साथ करती है। उपभोक्ता सहकार का ही एक रूप सहकारी साख समिति (Co-operative Credit Society) होती है, जिसका उद्देश्य सदस्यों के लिये उचित ब्याज पर ऋणों की व्यवस्था करना होता है। भारत में अधिकांश सहकारी समितियाँ इसी प्रकार की हैं।

सरकारी उपक्रम
(State Enterprises)

वर्तमान युग में सरकार द्वारा उत्पादन करने की प्रथा निरन्तर बढ़ रही है। लगभग सभी देशों में कुछ प्रकार के उत्पादन-कार्य केन्द्रीय, राज्य अथवा स्थानीय सरकारों द्वारा किये जाते हैं। हमारे देश में रेलवे केन्द्रीय सरकार का उपक्रम है। उत्तर-प्रदेश की राज्य सरकार मोटर-गाड़ियाँ चलाती है और लगभग सभी नगरों में पानी की सप्लाई नगरपालिकाओं द्वारा चलाई जाती है। कुछ ऐसी प्रवृत्ति बनती जा रही है कि राज्य अपने वाणिज्य-व्यवसायों के क्षेत्रों का विस्तार कर रहे हैं। लोक-उपयोगी-सेवाओं (Public Utility Service) का संचालन लगभग सभी देशों में राज्य द्वारा किया जा रहा है।

सरकारी उपक्रम का अर्थ एवं इसके रूप—सरकारी उपक्रम वे हैं जिनका स्वामित्व सरकार का होता है अथवा जिनका स्वामित्व और प्रबन्ध दोनों ही सरकार के अधिकार में होते हैं। एक सरकारी उपक्रम के कई रूप हो सकते हैं, यथा :—(i) वह एक सरकारी विभाग के रूप में हो सकता है *(जैसे कि डाक व तार विभाग)*, *(ii) वह एक संयुक्त पूँजी कम्पनी के रूप* में हो सकता है (जैसे कि सिंदरी खाद कारखाना, एवं (iii) वह एक वैधानिक निगम के रूप में हो सकता है (जैसा कि दामोदर घाटी निगम), जिसकी स्थापना के लिए संसद एक विशेष अधिनियम बनाती है। एक सरकारी उपक्रम के कुछ अन्य रूप भी हो सकते हैं, जैसे—वह सरकार और प्राइवेट व्यक्तियों के संयुक्त स्वामित्व एवं प्रबन्ध में हो या उस पर स्वामित्व तो सरकार का हो किन्तु प्रबन्ध एक प्राइवेट एजेन्सी के हाथ में हो।

सरकारी उपक्रमों का सगठन भी ठीक उसी प्रकार किया जाता है जैसे कि व्यक्तिगत उपक्रमों का। इनमें भी वेतनभोगी प्रबन्धक और कर्मचारी रखे जाते हैं। काम करने की रीति

भी व्यावसायिक आधार पर ही निश्चित की जाती है और व्यवसाय के संचालन का आधार भी साधारणतया वाणिज्यिक ही होता है। अन्तर यह होता है कि सभी कर्मचारी सरकारी नौकर होते है। पूँजी राज्य द्वारा उपलब्ध की जाती है, जो कि करदाताओं की जेबों से आती है। लाभ सरकार को प्राप्त होते हैं और सरकारी आय मे जोड दिये जाते हैं।

इस प्रकार की उत्पादन-प्रणाली का २०वी शताब्दी में पर्याप्त विस्तार हुआ है। यह समाजवाद और पूँजीवाद के बीच का मार्ग है। यह भी कहा जाता है कि आर्थिक सङ्कटों (Economic Crisis) की क्रूरता दूर करने के लिए सरकारी उपक्रमो का विस्तार आवश्यक है। आर्थिक नियोजन के विकास ने सरकारी उत्पादन को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया है।

सरकारी उपक्रमों के लाभ—

इस प्रणाली के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार है :—(१) व्यक्तियो अथवा व्यक्तिगत फर्मों की तुलना मे राज्य की **साख सदा ही बहुत ऊँची** होती है। यही कारण है कि राज्य को उचित ब्याज पर पर्याप्त मात्रा मे आसानी के साथ पूँजी मिल जाती है। (२) अपने विशाल साधनो के कारण **ऊँचे वेतन देकर सरकार योग्य से योग्य कर्मचारी रख सकती है।** सरकारी नौकरी का लोभ ही ऐसा होता है कि अच्छे से अच्छे लोग चले आते हैं। परिणामत: सरकारी उपक्रमों मे योग्यता, निपुणता और कुशलता का स्तर प्राय: ऊँचा ही रहता है। (३) सरकारी उपक्रम की **प्रकृति साधारणतया एकाधिकारी** होती है। ग्राहकों को ढूँढने की आवश्यकता नही पड़ती है। विज्ञापन पर भी अधिक व्यय नही होता है। कम खर्च पर भी अच्छी सेवाएँ उपलब्ध की जा सकती हैं। (४) सरकारी उपक्रम मे **मजदूरियाँ और कार्य की दशायें अधिक अच्छी होती हैं।** इसका श्रमिकों के सन्तोष और उनकी कार्य-कुशलता पर अच्छा प्रभाव पडता है। (५) सरकारी उपक्रमो के लाभ **सरकारी खजाने में** जाते हैं। उसका उपयोग जन-साधारण के लाभ के लिए किया जाता है। (६) सरकारी उपक्रम एकाधिकार के सदृश्य होते हैं परन्तु प्राइवेट एकाधिकार से असमान वे जनता को कम **कीमत पर उत्तम** सेवा प्रदान करते हैं। (७) सरकारी उपक्रम लोहा व स्पात उद्योग, रासायनिक उद्योग, विद्युत उत्पादन आदि **बुनियादी उद्योगों के विकास के लिए संगठन का सबसे उपयुक्त रूप** होते हैं, क्योंकि इनमें पूँजी तो अधिक लगती है और लाभ थोडा व देर से मिलता है, जिस कारण प्राइवेट उद्योगपति इनमे आकर्षण अनुभव नही करते।

सरकारी उपक्रम की हानियाँ—

लाभो के साथ-साथ सरकारी उपक्रमों मे कुछ महत्त्वपूर्ण दोष भी होते हैं:—(१) अधिकाश अर्थशास्त्री इस विषय मे सहमत हैं कि व्यवसाय के सचालन मे सरकारी प्रबन्ध **व्यक्तिगत प्रबन्ध की कुशलता और मितव्ययिता प्राप्त नहीं** कर सकता है। (२) सरकारी प्रबन्धकों मे **व्यक्तिगत रुचि का अभाव** होता है। वेतनभोगी प्रबन्धक कभी भी मालिक का स्थान नहीं ले सकता। उसमे उत्साह, व्यक्तिगत रुचि, आदि के महत्वपूर्ण गुण नही पाये जाते हैं। (३) **सरकारी नौकरी निश्चित** होती है, परन्तु यदि एक व्यक्तिगत फर्म का प्रबन्धक अकुशल है तो उसे तुरन्त ही निकाल दिया जाता है। (४) सरकारी कर्मचारी अपने ऊपर के अधिकारी की **आज्ञाओं का आसानी के साथ उल्लंघन** कर सकता है, यदि वह ऊपर उठने की अभिलाषा नही रखता है। इससे काम की कुशलता मे गडबड आ जाती है। प्रत्येक श्रमिक अपने आप को किसी व्यक्ति का नौकर नहीं समझता, इसलिए वह बहुधा मनमानी कर सकता है। व्यक्तिगत फर्मों मे यह बात नही होती है। (५) सरकारी उपक्रमो मे **राजनीतिक घटक** प्रभाव डालते रहते हैं। कर्मचारियो की नियुक्ति एव ट्रान्सफर आदि मे **राजनैतिक दलबन्दी** का जोर होता है। (६) सरकारी उपक्रमो मे हानि होने पर इसका **बोझ सामान्य करदाता पर** पडता है और हानि की पूर्ति अधिक करो के द्वारा पूरी की जाती है।

एकाधिकार
(Monopolies)

एकाधिकार से आशय—

हम बहुधा ऐसा देखते हैं कि एक या थोड़ी-सी कम्पनियाँ मिलकर बाजार पर अपना प्रभुत्व इस प्रकार जमा लेती हैं कि किसी वस्तु विशेष की बिक्री पर उनका पूरा अधिकार हो जाता है। इसी को अर्थशास्त्र में 'एकाधिकार' कहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसी एक फर्म अथवा संगठन को किसी भी प्रकार की प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ता है। यह सम्भव है कि वस्तु विशेष के उत्पादन मे अन्य किसी फर्म अथवा सङ्गठन का हाथ न हो, परन्तु बहुत-सी ऐसी वस्तुयें होती हैं कि जिनके स्थानापन्न हो सकते हैं। प्रत्यक्ष रूप मे एकाधिकार मे प्रतियोगिता का अभाव हो सकता है, परन्तु परोक्ष रूप में एकाधिकारी को कुछ न कुछ प्रतिस्पर्धा का सामना ही करना पड़ता है। एकाधिकार अधिकतर संयुक्त पूँजी कम्पनियो अथवा ऐसी कम्पनियों की संघ-बन्दियों को प्राप्त होता है। अमेरिका के ट्रस्ट और जर्मनी के कार्टेल्स ऐसी संघबन्दियों अथवा संयोजनों के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

परीक्षा प्रश्न :

१. मिश्रित पूँजी कम्पनियो के मुख्य लक्षण क्या हैं ? इनके लाभ व हानि बताइये।
२. सरकारी उपक्रमों का क्षेत्र बढ़ने के कारण बताइये। उद्योगों के सरकारी स्वामित्व के गुण-दोषों का विवेचन कीजिये।
३. साझेदारी और संयुक्त पूँजी कम्पनी मे अन्तर बताइये। दोनो में आप किसे उत्तम समझते हैं और क्यो ?
४. साहसिक सगठनो के प्रमुख रूप क्या है ? इनके गुण-दोषो की सक्षेप मे व्याख्या कीजिये।

१३

एकाधिकार एवं अद्योगिक संयोजन

(Monopoly and Industrial Combinations)

एकाधिकार
(Monopoly)

एकाधिकार का अर्थ—

जब एक ही व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाले एक या एक से अधिक व्यक्ति मिल-जुल कर कार्य करते हैं, जिसके फलस्वरूप उनका वस्तु के मूल्य पर और कुछ सीमा तक वस्तु की पूर्ति पर भी पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो जाता है, तो ऐसी अवस्था को एकाधिकार कहते हैं। इसमें प्रबन्ध, उत्पत्ति एव क्रय-विक्रय का नियन्त्रण भी समाविष्ट है।[1]

एकाधिकार का आधार—

बेनहम के अनुसार एकाधिकार की सफलता की कुँजी उत्पत्ति का सीमित रखना है। उत्पत्ति के सीमित रखने से ही वस्तु का मूल्य सीमान्त उत्पादन-व्यय (Marginal Cost) से अधिक हो सकता है। अतः एकाधिकारी सदा यह प्रयत्न करता है कि अन्य व्यवसायियो को उस व्यवसाय मे न आने दे। इस प्रकार वे दशायें, जिनमें अन्य व्यवसायियो को व्यवसाय विशेष अपनाने मे कठिनाई होती है, एकाधिकार का आधार कहलाती हैं।" ये आधार निम्नलिखित हैं :-

(१) कानूनी अधिकार—कभी-कभी लोगो को कानून द्वारा एकाधिकार मिल जाते हैं, जैसे—किसी पुस्तक का कॉपीराइट अथवा किसी आविष्कार की पेटेन्टराइट, लोक उपयोगिता सेवा एकाधिकार (Public Utility Monopolies), इत्यादि।

(२) किसी परमावश्यक वस्तु पर अधिकार—"यह भी सम्भव है कि किसी व्यक्ति अथवा कम्पनी को किसी वस्तु पर अधिकार प्राप्त हो, जो उत्पत्ति के लिये नितान्त आवश्यक है।" ऐसी अवस्था मे भी एकाधिकार स्थापित हो सकता है। उदाहरण के लिये, डी० बी० फर्म कम्पनी के पास दक्षिणी अफ्रीका की समस्त हीरे की खानें हैं, अस्तु इस व्यवसाय मे इस कम्पनी का एकाधिकार स्थापित होना स्वाभाविक है।

(३) बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता—जिन व्यवसायों मे बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, उनमे भी नये व्यवसायी तनिक कठिनाई से आते हैं। उदाहरणार्थ, लोहे, हवाई जहाज या पानी के जहाज के कारखाने स्थापित करना हर किसी व्यवसायी के वश की बात नही है।

(४) पुरानी प्रसिद्धि—कुछ कम्पनियाँ पुरानी तथा प्रतिष्ठित होती हैं। वे विज्ञापन

---

1 "Broadly speaking, the word is used to cover any effective price control, whether of supply or of demand of services or of goods; narrowly, it is saidto mean a combination of manufacturers or merchants to control the supply prices of commodities or services." **Thomas**: *Elements of Economics*, p. 215.

आदि द्वारा अपनी वस्तुओं के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर लेती है जिससे नये लोग उस व्यवसाय में आते हुए हिचकिचाते हैं।

एकाधिकारों का वर्गीकरण (Classification of Monopolies)—

एकाधिकारो के अनेक प्रकार के वर्गीकरण प्रचलित हैं :—

(I) इन्हें बहुधा प्राकृतिक (Natural) सामाजिक (Social), वैधानिक (Legal) और ऐच्छिक (Voluntary) एकाधिकारों से विभाजित किया जाता है :—

(१) प्राकृतिक एकाधिकार प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, दक्षिणी अफ्रीका के पास हीरे की उत्पत्ति का एकाधिकार है। भारत में बगाल को जूट के उत्पादन में एकाधिकार प्राप्त है।

(२) सामाजिक एकाधिकारों को कभी-कभी लोक उपयोगी सेवा एकाधिकार (Public Utility Monopolies) भी कहा जाता है। ये एकाधिकार ऐसे होते हैं कि इनकी स्थापना समाज के लिये लाभदायक होती है। रेलो और बिजली कम्पनियो के एकाधिकार इसी प्रकार के होते है। यह निश्चय है कि यदि एकाधिकार नही रखा जाता है, तो रेलो की लाइनो और बिजली के तारो का इतना जमघट हो जायगा कि समाज को असुविधा होगी और राष्ट्र के साधनों का अनावश्यक अपव्यय होगा।

(३) वैधानिक एकाधिकार कानून द्वारा स्थापित किये जाते है। कॉपीराइट (Copyright) पेटेन्ट, (Patent) आदि इसी प्रकार के एकाधिकार है। इनकी स्थापना लोगो के उत्साह को बनाये रखने तथा आविष्कार और खोज को प्रोत्साहन देने के लिए आवश्यक होती है।

(४) ऐच्छिक एकाधिकार व्यवसायी अपने निजी स्वार्थ से स्थापित करता है, जिसका उद्देश्य बहुधा दूसरो का शोषण करके अपने लाभों को अधिकतम करना होता है।

(II) स्थान के दृष्टिकोण से एकाधिकारों का निम्नलिखित वर्गीकरण भी प्रचलित है :—

(१) स्थानीय एकाधिकार (Local Monopoly)—ऐसे एकाधिकार का अधिकार क्षेत्र छोटा-सा ही होता है, जैसे—कोई व्यक्ति आगरा नगर में दूध को सप्लाई का अधिकार प्राप्त कर ले। नगर की बिजली सप्लाई कम्पनी स्थानीय एकाधिकार का एक अच्छा उदाहरण होती है।

(२) राष्ट्रीय एकाधिकार (National Monopoly)—ऐसे एकाधिकार का क्षेत्र सारे देश तक विस्तृत होता है। देश के भीतर एकाधिकारी का कोई भी प्रतियोगी नही होता है, परन्तु देश के बाहर प्रतियोगी हो सकते हैं। भारत मे सरकार के पास रेलों का एकाधिकार है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार (International Monopoly)—ऐसे एकाधिकार का अधिकार-क्षेत्र ससार भर में फैला रहता है। अनेक देश ऐसे एकाधिकार को मान लेते हैं। एक कॉपीराइट (Copyright), जिसे ससार के बहुत से देश मानते हो, अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार कहलायेगा। इस सम्बन्ध मे हमे यह याद रखना चाहिये कि किसी एकाधिकार का अधिकार क्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होगा, उतनी ही एकाधिकारी की शक्ति भी अधिक होगी।

(III) स्वामित्व की दृष्टि से एकाधिकार निम्नलिखित तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) सार्वजनिक, लोक अथवा सरकारी एकाधिकार (Public or State Monopolies)—ऐसे एकाधिकार का प्रबन्ध किसी सार्वजनिक सत्ता के हाथ मे होता है और इसके लाभो का उपयोग भी सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए किया जाता है। सभी प्रकार के राष्ट्रीयकृत

(Nationalised) उद्योग तथा राज्य और स्थानीय सरकारों के उपक्रम इसी प्रकार के एकाधिकार होते है।

(२) व्यक्तिगत एकाधिकार (Private Monopolies)—इन पर व्यक्तियों का अधिकार होता है। इनके लाभो का उपयोग व्यक्तिगत उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया जाता है। ऐसी दशा मे बहुधा कीमतो को ऊपर उठाकर जन-साधारण का शोषण किया जाता है। इस प्रकार के एकाधिकार देश और समाज के लिए बहुधा हानिकारक होते है, यद्यपि कभी-कभी इनसे समाज को कुछ परोक्ष लाभ भी हो जाते हैं।

(३) अर्द्ध-सरकारी एकाधिकार (Quasi-public Monopolies)—ऐसा एकाधिकार उपरोक्त दो प्रकार के एकाधिकारो का मिश्रण होता है। इसमे स्वामित्व तो सार्वजनिक अथवा सरकारी होता है, परन्तु प्रबन्ध व्यक्तिगत होता है। व्यावहारिक जीवन मे बहुत बार सरकार किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर लेने पर भी उसके पुराने निजी सम्बन्ध को भी बना रहने दे सकती है। ऐसी दशा मे अर्द्ध-सरकारी एकाधिकार स्थापित हो जायगा।

एकाधिकार अथवा एकाधिकारी संयोगों का निर्माण क्यों ?

ऐसा कम ही होता है कि कोई एक फर्म ऐसी विशिष्ट स्थिति रखे कि वह एकाधिकार जमा सके। प्राय. वस्तु बनाने वाली कई फर्में मिलकर एकाधिकार जमाने का प्रयास करती है। एकाधिकार या एकाधिकारी सयोग की दिशा मे बढ़ने की प्रेरणा देने वाले विभिन्न *उद्देश्य या कारण निम्न हैं :—(१) बड़े पैमाने की बचतें प्राप्त करना, जिससे कम लागत पर* उत्पादन किया जा सके; (२) अत्यधिक लाभ कमाना; (३) प्रतियोगिता की जोखिमो से बचना; (४) विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करना; (५) सार्वजनिक हित की अधिकतम प्राप्ति करना; एव (६) अधिक से अधिक शक्ति और प्रतिष्ठा अर्जित करना।

एकाधिकार के आर्थिक परिणाम—

एकाधिकारो की स्थापना से जहाँ अनेक लाभ हैं वहाँ कुछ हानियाँ भी होती है :—

लाभ—(i) चूँकि उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता है, इसलिये **बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययितायें** प्राप्त होती हैं। (ii) विज्ञापन आदि व्यय बचने से **विक्रय लागतें घट** जाती हैं। (iii) विशाल आर्थिक प्रसाधनो के बल पर एकाधिकारी **संकटों पर सहज ही काबू** पा लेता है। (iv) **अनुसंधानो को प्रोत्साहन** मिलता है, क्योंकि उन पर व्यय के लिए अधिक धन उपलब्ध होता है। (v) रेल, बिजली, पानी जैसी **सार्वजनिक सेवाओ के लिए आवश्यक है,** क्योकि इनमे प्रतियोगिता हानिप्रद होती है।

हानियाँ—(i) इसमे **उपभोक्ताओं का शोषण** होता है, क्योकि अधिकतम लाभ कमाने के लिये एकाधिकारी वस्तु की प्राय. ऊँची कीमत रखता है किस्म मे गिरावट कर देता है, मूल्य-विभेद अपनाता है, और पूर्ति को सीमित रखने के लिये यत्न करता है। (ii) अकेला उत्पादक होने के कारण वह **श्रमिकों को कम मजदूरी** लेने के लिये विवश कर सकता है। (iii) प्रतियोगिता की अनुपस्थिति मे उसे **तकनीकी प्रगति के लिए उत्साह नहीं रहता**। (iv) वे उत्पादन के क्षेत्र मे **नई पूँजी और उपक्रम के प्रवेश में बाधा** डालते है, ताकि उसका एकाधिकार सुरक्षित रहे। (v) उसे **कुशलता बढ़ाने की भी चिन्ता नहीं होती,** क्योंकि वह अपनी एकाधिकारिक शक्ति के कारण स्वय को सुरक्षित समझता है। (vi) एकाधिकारी प्राय. धनी व्यक्ति होते हैं तथा वे अधिक धनी बनते जाते हैं और इस प्रकार उनके हाथो मे **आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण** हो जाता है। (vii) **भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन** मिलता है क्योंकि वे रिश्वत देकर अफसरो से अपना काम निकलवाते है।

औद्योगिक संघबन्दी
(Industrial Combinations)

प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति को बढ़ाने के लिये फर्म अपना विस्तार करती है। ऐसे विस्तार की दो रीतियाँ हैं—या तो फर्म अपने प्लान्ट का विस्तार करे अथवा अन्य फर्मों के साथ मिलकर संयोग बनाये। ऐसे औद्योगिक संयोगों या संघबन्दियों द्वारा व्यवसाय के नियन्त्रण एवं प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण होकर उत्पादन की क्षमता में वृद्धि होती है तथा व्यवसाय का विस्तार बढ़ जाता है। यह संयुक्तीकरण निम्नांकित दो प्रकार का होता है :—

(I) खड़ा मिलान (Vertical Combination)—

इसको 'उद्योगों का सम्मिलन' अथवा 'विलय' (Integration of Industries) भी कहते हैं। जब किसी व्यवसाय के विभिन्न कार्य एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत होते हैं, तो इसे "खड़ा मिलान" कहते हैं। उदाहरण के लिये, टाटा आयरन एण्ड स्टील वर्क्स की अपनी ही लोहे और कोयले की खानें हैं, जहाँ से यह कम्पनी स्वयं ही लोहा और कोयला खोदती है और कच्चे माल से लोहा तथा स्पात (Steel) बनाती है। इसी प्रकार, युनाइटेड स्टेट्स स्टील कॉरपोरेशन है, जिसकी अपनी लोहे और कोयले की खानें हैं। अपने ही यातायात के साधन (रेल और जहाज) हैं तथा माल तैयार करने के अपने ही कारखाने हैं। ऐसे संगठन से बहुत से लाभ हैं, जो निम्न प्रकार है :—(१) इसमें अल्पव्यय पर अधिकतम उत्पत्ति होती है। (२) उपभोक्ता को कम कीमत पर वस्तु उपलब्ध हो जाती है। (३) भिन्न-भिन्न कम्पनियों को जो लाभ होता है, वह एक ही कम्पनी को मिल जाता है। (४) वस्तु के विक्री सम्बन्धी व्यय में कमी हो जाती है। (५) कच्चा माल सरलता से उपलब्ध हो जाता है। (६) हानिकारक प्रतिस्पर्धा से जो हानियाँ होती है, वे नहीं होने पाती है।

खड़े मिलन की कतिपय कठिनाइयाँ भी हैं, यथा :—(i) इसके लिये अधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, जो सहज ही उपलब्ध नहीं होती है। (ii) विभिन्न उत्पादन अवस्थाओं में विभिन्न तकनीकें प्रयुक्त होती हैं, जिनकी पूरी जानकारी के अभाव में फर्मों के लिये खड़े मिलान को अपनाना कठिन होता है। चूँकि खड़े मिलान के मार्ग में ये कठिनाइयाँ हैं इसलिये फर्मों की प्रवृत्ति क्षैतिज एकीकरण की ओर अधिक देखी जाती है।

(II) पड़ा मिलान या क्षैतिज एकीकरण (Horizontal Combination)—

जब किसी व्यवसाय विशेष सम्बन्धी एक ही कार्य के करने वाली बहुत-सी कम्पनियों का मिलान हो जाता है, तो इसे "पड़ा मिलान" कहते हैं। खड़े मिलान में एक व्यवसाय विशेष के भिन्न-भिन्न कार्यों से सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी कम्पनियों का संयुक्तीकरण होता है, परन्तु पड़े मिलान में एक व्यवसाय के एक ही कार्य से सम्बन्ध रखने वाली भिन्न-भिन्न कम्पनियों की संघबन्दी होती है, जैसे—किसी वस्तु के दो या दो से अधिक कारखानों का मिल जाना। इन संघबन्दियों का पैमाना बहुत अधिक बड़ा हो सकता है। कभी-कभी इनका विस्तार राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं को पार करके अन्य देशों में भी फैल जाता है। इस प्रकार की संघबन्दियों का उद्देश्य सामान्यतया वही होता है जो अन्य प्रकार की संघबन्दियों का होता है, अर्थात् न्यूनतम् व्यय पर अधिक लाभ कमाना। खड़ी संघबन्दियों की भाँति यहाँ भी प्रबन्ध की क्षमता बढ़ती है एवं हानिकारक प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है।

क्षैतिज या पड़ा मिलान के विभिन्न रूप—

क्षैतिज मिलान के अनेक रूप संसार में दृष्टिगोचर हुए हैं। प्रमुख रूप अग्र-लिखित हैं :—

(१) भले आदमियों का समझौता अथवा सज्जन करार (Gentleman's Agreement)—इस प्रकार का समझौता व्यावसायिक संघबन्दी का सबसे प्रारम्भिक रूप होता है। एक ही वस्तु अथवा सेवा के विक्रेता मिलकर अथवा एक दूसरे के हितों को देखते हुये एक आपसी समझौता कर लेते हैं, जिसमे वस्तु अथवा सेवा को एक निश्चित कीमत पर बेचने का निश्चय किया जाता है। यह समझौता मौखिक ही होता है। कभी-कभी तो कोई समझौता भी नही होता है, बल्कि एक प्रकार की समझदारी (Understanding) हो जाती है। सभी विक्रेता एक ही कीमत पर विक्रय करते है परन्तु समझौते से नीची कीमत माँगने वाले को समझाया ही जा सकता है, कोई अन्य कार्यवाही सम्भव नही होती है।

(२) उत्पादक सङ्घ या पूल (Pool)—इस प्रकार की सङ्घबन्दी भले आदमियों के समझौते से अधिक व्यापक होती है। इसमे विभिन्न उत्पादक मिलकर कीमत, बाजार और लाभ के बारे मे आपसी समझौता कर लेते हैं। समझौते के अनुसार एक निश्चित कीमत पर माल बेचा जाता है, लाभ की एक निश्चित दर रखी जाती है और प्रत्येक उत्पादक बहुधा अलग-अलग बाजार निश्चित कर लेता है। यह मिलान बहुत लचीला (Flexible) होता है। इस प्रकार के समझौते मे एक कोष की स्थापना की जाती है। प्रत्येक सदस्य अपने लाभ का एक भाग इस कोष मे जमा करता है। कोष मे जमा रकम एक निश्चित रीति पर सङ्घबन्दी की फर्मों मे बाँट दी जाती है।

ऐसे सङ्घ आसानी से बनाये जाते हैं और जल्दी ही टूट जाते है। इसी प्रकार की सङ्घबन्दी कभी-कभी रिंग (Ring) अथवा कान्फ्रेन्स (Conference) भी कहलाती है। जहाजी कम्पनियों ने रिंग स्थापित करने के अनेक प्रयत्न किये हैं। बाजार मे जहाजी सेवाओं की कीमत मे वृद्धि करने और सेवाओं की पूर्ति सीमित करने के लिए स्थायी सङ्गठन बनाये जाते हैं जैसे—विभिन्न बन्दरगाहों के बीच भाड़ा तय करना।

(३) कार्टेल (Kartel)—कॉर्टेल का प्रचार जर्मनी मे है। इस प्रकार की सङ्घबन्दी ट्रस्ट से निर्बल होती है। इनमे सम्मिलित कम्पनियों के पृथक् अस्तित्व का अन्त नही होता। वे अपने स्वय के प्रबन्ध के अन्तर्गत कार्य करती रहती हैं, केवल अपना माल बिक्री के लिए सम्मिलित सङ्गठन को दे देती हैं। दूसरे शब्दों मे, इनका समझौता केवल मूल्य और वितरण तक सीमित रहता है।

इस प्रकार, ट्रस्ट कार्टेल की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली सङ्गठन है। ट्रस्ट मे सम्मिलित कम्पनियों के पृथक् अस्तित्व का अन्त हो जाता है। उनका पृथक् अस्तित्व नई कम्पनी (Trust) मे विलीन हो जाता है, परन्तु कॉर्टेल मे सम्मिलित कम्पनियों का पृथक् अस्तित्व बना रहता है। ट्रस्ट मे उत्पादन एवं वितरण दोनों ही पर केन्द्रीय नियन्त्रण रहता है, किन्तु कॉर्टेल मे नियन्त्रण केवल वितरण पर होता है। इसके अतिरिक्त कॉर्टेल (जिसे सिन्डीकेट भी कहते हैं) एक अस्थाई सङ्गठन मात्र है। माल की जितनी भी मांग आती है वह सब कॉर्टेल अथवा सिन्डीकेट (Syndicate) के पास आती है।

(४) कॉर्नर (Corner)—कॉर्नर भी एक प्रकार का ढीला सगठन है, जिसका उद्देश्य बाजार मे मूल्य पर इस प्रकार नियन्त्रण रखना होता है कि वस्तुओं का अधिक मूल्य लिया जा सके। उदाहरण के लिए, भारत मे यदि व्यापारियों का एक समूह एक साल मे जितना भी गेहूँ पैदा हुआ है, सब खरीद ले और फिर इसे मण्डियों मे मनमानी कीमत पर बेचे, तो इस प्रयत्न को कॉर्नर कहेंगे। परन्तु आधुनिक युग मे यातायात के साधन इतनी उन्नति कर गये हैं, इस प्रकार के प्रयत्न सफल नही हो पाते है, क्योंकि माल बाहर से मँगाया जा सकता है।

(५) प्रबन्धक कम्पनी (Holding Company)—ट्रस्ट के विरुद्ध सरकारी कानून से

बचने के लिए प्रबन्धक कम्पनी का जन्म हुआ। ट्रस्ट में तो सम्मिलित कम्पनियों के अंश बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज को दे दिये जाते हैं। परन्तु यहाँ बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज के स्थान में एक नवीन कम्पनी स्थापित की जाती है, जो बहुत-सी प्रतिद्वन्द्वी कम्पनियों के अंश खरीद लेती है। जिन कम्पनियों के अंश खरीदे जाते हैं, उन्हें "सहायक" (Subsidiary) कम्पनी कहते हैं। इसमें सम्मिलित कम्पनियों के पृथक् अस्तित्व का अन्त नहीं होता है। ऐसी कम्पनी के अनेक लाभ होते हैं। प्रमुख लाभ निम्न प्रकार है :—(अ) गौण कम्पनियों को योग्य एवं प्रवीण कर्मचारियों से सहायता मिल जाती है। (ब) सामान के खरीदने में बचत हो जाती है, क्योंकि सब सदस्य कम्पनियों का माल एक ही साथ खरीदा जाता है। (स) प्रबन्ध का एकीकरण होने से मितव्ययिता आ जाती है। (द) साधनों के एकत्रित हो जाने के कारण सारे उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति बढ़ जाती है। (य) कीमतों के गिरने अथवा अति-उत्पादन का भय नहीं रहता है।

(६) **विलयन अथवा एकीकरण (Merger)**—यह व्यावसायिक सघबन्दी का बहुत ही व्यापक रूप है, इसमें सघबन्दी करने वाली दो या अधिक कम्पनियाँ एक दूसरे से पूर्णतया मिल जाती हैं। दोनों का व्यक्तिगत अस्तित्व बिल्कुल मिट जाता है और दोनों के मिलने से एक नई ही कम्पनी का निर्माण होता है। हमारे देश में एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी (Associated Cement Company) ऐसी सङ्घबन्दी का अच्छा उदाहरण है। लोहा निर्माण उद्योगों में भी इस प्रकार का मिलान हुआ है। यह मिलान बड़ा ही व्यापक होता है।

(७) **ट्रस्ट (Trust)**—अमेरिका में किसी भी बड़े औद्योगिक मिलान को ट्रस्ट का नाम दिया जाता है, परन्तु साधारणतया ट्रस्ट विलय (Merger) का ही एक रूप होता है। दो या अधिक कम्पनियाँ अपना अलग व्यक्तित्व मिटाकर एक नई कम्पनी का निर्माण करती हैं, जैसे—अमेरिका का स्टील ट्रस्ट।

ट्रस्ट और कार्टेल में तुलना—दोनों का उद्देश्य ऊँची कीमतें रखकर लाभ को अधिकतम करना है। इस पर भी दोनों में कई असमानतायें हैं, जैसे—(i) कार्टेल में कुशलता का स्तर ट्रस्ट की अपेक्षा नीचा रहता है, क्योंकि उसे केवल विपणन सम्बन्धी बचतें ही प्राप्त होती हैं, किन्तु ट्रस्ट में उत्पादन और विपणन दोनों की। (ii) कार्टेलों में फर्मों का सयोग अस्थाई है, क्योंकि उनका पूर्ण विलयन तो होता नहीं, लेकिन ट्रस्ट में सयोग स्थाई है क्योंकि इसमें फर्में सदा के लिए अपने अस्तित्व को विलीन कर देती है। (iii) कार्टेल में उद्योग की प्रायः सभी फर्में सम्मिलित हो जाती हैं, लेकिन ट्रस्ट में ऐसा नहीं है। (iv) ट्रस्ट का निर्माण कार्टेल की अपेक्षा महँगा होता है।

लाभ—ऐसी सङ्घबन्दी के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—(१) इस सङ्गठन के बहुत बड़े पैमाने पर होने से इसमें प्रबन्ध, श्रम-विभाजन, मशीनों के अधिकतम उपयोग, विशिष्टीकरण, अनुसन्धान एवं आविष्कार के फलस्वरूप बहुत अधिक बचत होती है। (२) इनमें लगातार उत्पादन अधिक निश्चित है। (३) यह मन्दी की कठिनाइयों का सरलता से सामना कर सकते हैं, जबकि ऐसी दशा में मामूली व्यवसायों की नींवें तक हिल जाती हैं। (४) मिश्रित पूँजी कम्पनी होने से इनको ऐसी कम्पनियों के समस्त लाभ उपलब्ध हैं। (५) इनके पास अपरिमित पूँजी होती है, स्थिर विशालकाय सङ्गठन होता है और इसके प्रमुख स्वामी 'स्थिर व्यवसाय' का महत्व समझते हैं। इन सब कारणों से इनके उत्पादन एवं मूल्यों में भी स्थिरता आ जाती है। (६) एकाधिकारी होने से इन्हें क्रय विक्रय में भी बचत हो जाती है। इसके अतिरिक्त ये माल की वस्तुओं का अधिक मूल्य भी प्राप्त कर सकते हैं। (७) प्रतिस्पर्धा सम्बन्धी व्यय, जैसे—विज्ञापन और एजेन्टों पर व्यय कम हो जाता है। (८) अधिक पूँजी होने के कारण ये प्रतिद्वन्द्वी व्यवसायों का

अन्त करके विदेशी मण्डियों पर अधिकार कर सकते हैं। (६) ये विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न करके उपभोक्ताओं की विभिन्न रुचियों को सन्तुष्ट करते हैं।

हानियाँ—इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि उचित दशायें या ठीक नियन्त्रण हो तो ट्रस्ट से समाज तथा देश को अनेक लाभ हो सकते हैं, परन्तु वास्तविक जीवन में न ऐसी दशायें ही पाई जाती हैं और न उचित नियन्त्रण ही हो पाते हैं। इनसे मुख्य हानियाँ निम्न प्रकार हैं :—(१) **ट्रस्ट प्रतिद्वन्दी व्यवसाय का अन्तर कर देते हैं**, जिसके फलस्वरूप समाज को सम्भावित लाभ नहीं होने पाते हैं। इसके अतिरिक्त, वस्तु उत्पादन में उपभोक्ता की रुचि का ध्यान नहीं रखा जाता है, दृष्टि केवल लाभ पर होती है। (२) **ट्रस्ट दूकानदारों पर अनुचित दबाव डालते हैं और** उनको इस शर्त पर अपनी वस्तुयें बेचने का अधिकार देते हैं कि वे अन्य किसी कारखाने की वस्तुएँ न बेचें। (३) *अमेरिका में ये रेलवे कम्पनियों द्वारा माल भेजने के भाड़े में रियायत* करा लेते हैं। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वी कम्पनियों की अपेक्षा **इनमें अधिक प्रतिस्पर्धा शक्ति आ जाती** है। (४) **इनके महान साधनों के कारण नये व्यवसायी व्यवसाय विशेष में नहीं आ पाते हैं।** इस प्रकार आर्थिक विकास में बाधा पड़ती है। (५) **ये श्रमिक वर्ग का शोषण करते हैं और** उनकी मजदूरी कम करने के लिए उनको बेकारी का भी भय दिखलाते हैं। ये उपभोक्ता का भी शोषण करते हैं और उन्हें अधिक मूल्य दे देने पर विवश करते हैं। अमेरिका में यह भी देखा गया है कि न्यायाधीशों और धारा सभा के सदस्यों से अपने रुपये के बल पर मनमानी करा लेते हैं। (६) जब बहुत-सी प्रतिद्वन्द्वी कम्पनियाँ उत्पादन करती हैं, तो उत्पत्ति के साधनों की माँग अधिक होती है और इस कारण उनका पारिश्रमिक भी अधिक हो जाता है, परन्तु एकाधिकार स्थापित होने पर बहुत-सी प्रतिद्वन्दी कम्पनियों का अन्त हो जाता है। **अस्तु उत्पत्ति के साधनों की माँग कम होने के साथ-साथ उनके पारिश्रमिक में भी कमी हो जाती है।** (७) उत्पादन पर नियन्त्रण होने के कारण **उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता।** (८) कुशल तथा प्रगतिशील कम्पनियाँ ट्रस्ट में सम्मिलित निर्बल कम्पनियों को जीवित रखने के लिए अपनी शक्ति से कम उत्पादन करती हैं। इस प्रकार उनके **अविभाज्य साधनों का उपयोग नहीं** हो पाता है।

एकाधिकार एवं औद्योगिक संघबन्दी पर नियन्त्रण
(Control on Monopolies & Combinations)

औद्योगिक और व्यावसायिक संघबन्दी पूँजीवाद का सबसे उग्र रूप है। ऐसी संघबन्दी में *एकाधिकार के सभी दोष पाये जाते हैं। इन संघों अथवा एकाधिकारों का उद्देश्य पारस्परिक* प्रतियोगिता को मिटाकर श्रमिकों और उपभोक्ताओं का शोषण करके अधिकतम् लाभ कमाना होता है। ये बहुधा देश में उत्पादन की मात्रा को सीमित कर देते हैं और नये उद्योगों तथा व्यवसायों की स्थापना और विकास में भारी बाधा डालते हैं। बहुत बार तो इनसे राजनैतिक भ्रष्टाचार भी फैलता है। एकाधिकारी अपनी विशाल आर्थिक शक्ति के कारण राजनीतिक दलों पर अपना प्रभाव डाल सकता है। एकाधिकार देश के भीतर धन के वितरण में भी असमानता उत्पन्न करते हैं। उनसे धनी *व्यक्ति और अधिक धनवान हो जाते हैं और निर्धन व्यक्तियों की* निर्धनता बढ़ती जाती है। इन्हीं कारणों से लगभग सभी देशों में एकाधिकार और संघबन्दी पर कुछ न कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगाये जाते हैं।

इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि सभी प्रकार के एकाधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। कुछ प्रकार के एकाधिकार तो स्वयं सरकार ही उत्पन्न करती है, जिन्हें हम "लोक एकाधिकार" (Public Monopolies) कहते हैं। इन पर प्रतिबन्ध लगाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। इसी प्रकार वैधानिक एकाधिकारों, (जैसे—कॉपीराइट आदि) की सरकार रक्षा करती है और उन्हें प्रोत्साहन देती है। लोक उपयोगी सेवाओं (Public Utility Services) में

भी एकाधिकार की स्थापना लाभदायक समझी जाती है, किन्तु अधिकांशतः निजी एकाधिकारों तथा सघबन्दियों को रोकने और मिटाने का प्रयत्न किया जाता है। एकाधिकार सम्बन्धी सभी प्रकार के प्रतिबन्ध ऐसे ही एकाधिकारों से सम्बन्धित होते हैं।

सङ्घबन्दी को रोकने की रीतियाँ—

एकाधिकार और सघबन्दी पर लगाये हुए प्रतिबन्ध बहुधा तीन प्रकार के होते हैं—(i) वे प्रतिबन्ध जिनका उद्देश्य केवल एकाधिकारी की शोषण-शक्ति को कम करना या मिटाना होता है, (ii) वे प्रतिबन्ध जिनका उद्देश्य एकाधिकारी के प्रतियोगी उत्पन्न करना होता है, और (iii) वे प्रतिबन्ध जिनका उद्देश्य एकाधिकार को समाप्त करना होता है। इस प्रकार की रीतियाँ तीन भागों में बाँटी जा सकती है, जो निम्न प्रकार है :—

(१) अनुचित प्रतियोगिता बन्द करना—एकाधिकार अथवा सघबन्दी बहुधा इसलिए की जाती है कि उत्पादक प्रतिद्वन्द्वी की अनुचित और अनार्थिक प्रतियोगिता से बचना चाहता है। जब बड़े-बड़े और शक्तिशाली उद्योगपति छोटे-छोटे उद्योगपतियों से स्पर्धा करने लगते हैं, तो उनके पास जीवित रहने का एकमात्र उपाय सघबन्दी ही होता है। इसी प्रकार, राशिपातन (Dumping) का सामना भी सघबन्दी द्वारा ही किया जा सकता है। सरकार ऐसी अनुचित और अनार्थिक प्रतियोगिता को बन्द कर सघबन्दी करने के उद्देश्य को ही समाप्त कर सकती है।

(२) सघबन्दी विरोधी कानून (Anti-trust Laws)—सरकार सघबन्दी के विरुद्ध कानून बना सकती है और सघबन्दी को अवैध घोषित कर सकती है। अमेरिका में इस प्रकार के अनेक नियम बने है, यद्यपि इनकी सफलता सन्देहपूर्ण ही रही है। प्रत्येक नियम में कुछ न कुछ कमी ढूँढ ली जाती है, और, यदि एक प्रकार की सघबन्दी अवैध घोषित कर दी जाती है, तो दूसरे प्रकार की सघबन्दी कर ली जाती है।

(३) राष्ट्रीयकरण (Nationalisation)—यह सघबन्दी को रोकने की सबसे सप्रभाविक रीति है जो उद्योग स्वभाव से ही एकाधिकारी प्रवृत्ति के है या जिनमें एकाधिकार स्थापित होने का भय है, उन्हें सरकार स्वयं लेकर सरकारी उपक्रमों के रूप में चला सकती है, जिससे वे व्यक्तिगत एकाधिकार न रहकर लोक एकाधिकार बन जायेंगे।

एकाधिकारी की शक्ति को कम करने के उपाय

एकाधिकारी की शक्ति अनेक रीतियों से कम की जा सकती है। प्रमुख रीतियाँ पाँच प्रकार की हो सकती हैं :—

(१) एकाधिकारी पर कर लगाना—इस प्रकार के कर चार प्रकार के हो सकते हैं, जिनमें से प्रत्येक का प्रभाव अलग-अलग होता है। **(क) थोक रकम कर**—इसमें एकाधिकारी पर कर की एक निश्चित मात्रा नियत कर दी जाती है। एकाधिकारी मन चाहे दाम ले सकता है, केवल उसे एक निश्चित रकम सरकार को कर के रूप में देनी पड़ती है। इस कर में दो बड़े गुण होते हैं—प्रथम, तो एकाधिकारी इस कर की रकम को स्वयं देता है। वह उपभोक्ताओं से ऊँचे दामों के रूप में इसे वसूल नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने से उसके कुल लाभ में कमी आ जाती है। दूसरे, इससे सरकार को कुछ आय हो जाती है, जो जनता के हित के लिए व्यय की जा सकती है। परन्तु इसमें सबसे बड़ा दोष यह होता है कि इसमें उपभोक्ताओं को कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता है और न ही उनके कष्ट में कमी होती है। **(ख) लाभ का प्रतिशत कर**—सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसा कर लाभदायक होता है, क्योंकि यह भी एकाधिकारी को देना पड़ता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से लाभ की सही माप सरकार के लिए लगभग असम्भव ही रहती है। साथ ही, यदि एकाधिकारी की उपज की माँग की लोच बहुत ही कम है, तो इस प्रकार के कर का बोझ कुछ दशाओं में जनता पर भी डाला जा सकता है। **(ग) प्रति उत्पादन इकाई कर**—

यह कर उत्पादन-कर (Excise Duties) के समान होता है और इसमे परोक्ष कर के सभी गुण और दोष होते हैं। ऐसे करो से उत्पत्ति बढने के स्थान पर बहुधा घट जाती है और जनता की कठिनाई बढ जाती है। (घ) दाम या मूल्य का प्रतिशत कर—इसमे दामो के अनुसार कर लगाया जाता है। उद्देश्य दाम बढा कर एकाधिकार की मांग को कम करना होता है, परन्तु यह कर उन्ही दशाओ मे सफल होते हैं, जबकि मांग बहुत लोचदार होती है और इनका सारा बोझ उपभोक्ताओ पर ही पडता है।

(२) दामों पर नियन्त्रण (Price Control)—इसका उद्देश्य दामो का इस प्रकार नियत करना होता है कि उपभोक्ताओं का अनहित न हो सके। व्यावहारिक जीवन मे यह भी बडा कठिन होता है। पीगू के अनुसार, इसकी सफलता अनेक बातो पर निर्भर होती है, जिनमें व्यय का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है।

(३) उत्पत्ति पर नियन्त्रण—प्रयत्न इस बात का किया जाता है कि एकाधिकारी को इस प्रकार बाध्य किया जाय कि उत्पत्ति की मात्रा उतनी ही हो, जितनी कि प्रतियोगिता की दशा मे होती।

(४) सरकारी सहायता (Bounties)—आर्थिक सहायता देकर सरकार कम उन्नत उद्योगो की प्रतियोगिता शक्ति को इस प्रकार बढ़ा सकती है कि वे एकाधिकारी से टक्कर ले सकें। इसी प्रकार आर्थिक सहायता देकर पूर्णतया नये उद्योग भी उत्पन्न किये जा सकते हैं।

(५) सरकारी उत्पादन—सरकार द्वारा स्वय ऐसी वस्तु का उत्पादन किया जा सकता है, जो एकाधिकारी द्वारा उत्पन्न की जाती है।

१४

उद्योगों का विवेकीकरण

(Rationalisation of Industries)

विवेकीकरण का अर्थ

उद्योगों के विवेकीकरण का शाब्दिक अर्थ है उद्योगों में तर्क अथवा युक्ति का प्रयोग करना। अर्थात्, उद्योगों को ऐसे वैज्ञानिक ढङ्ग से चलाया जाता है, जैसा कि कोई भी बुद्धिमान अथवा तर्कशील व्यक्ति उपयोग करेगा। इस प्रकार, विवेकीकरण को हम सुधार तथा समन्वय (Co-ordination) की वैज्ञानिक युक्ति कह सकते हैं। इस दृष्टिकोण से विवेकीकरण औद्योगिक प्रबन्ध का ही एक रूप होता है। वर्तमान उद्योगों को समय के परिवर्तनों के अनुसार अपनी उत्पादन क्रियाओं और विधाओं में भी परिवर्तन करना पड़ता है। ये परिवर्तन विवेकीकरण द्वारा ही किये जाते हैं। यदि कोई उद्योग इस प्रवैगिक और परिवर्तनशील जगत में जीवित रहना चाहता है और अपनी प्रतियोगी शक्ति को बनाये रखना चाहता है, तो उसके लिए विवेकीकरण आवश्यक होता है।

विवेकीकरण की प्रमुख परिभाषायें—

जहाँ तक परिभाषाओं का सम्बन्ध है, विवेकीकरण की भी अनेक प्रकार की परिभाषाएँ की गई हैं। कुछ लेखकों ने इस शब्द के विस्तृत अर्थ लगाये हैं और कुछ ने संकुचित अर्थ।

(१) **विश्व आर्थिक सम्मेलन (१९२७)**—"यह उत्पादन विधि और प्रबन्ध की वह प्रणाली है, जिसमें मानव-श्रम और सामानों का न्यूनतम् अपव्यय होता है। इसमें सामानों और उपजों का प्रमापीकरण, श्रम का वैज्ञानिक सगठन, यातायात और बिक्री प्रणालियों में सुधार और उत्पादन-क्रियाओं का सरल बनाना सम्मिलित होते हैं।"[1]

(२) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्गठन (I. L O.)**—"विवेकीकरण में परम्परागत क्रियाओं, बँधे हुये कार्य-नियमों, अवैज्ञानिक कायदों और रीतियों के स्थान पर ऐसी रीतियों का उपयोग किया जाता है, जो वैज्ञानिक अध्ययन का फल होती हैं, उद्योगों में उद्देश्य और साधनों के बीच अधिकतम् समायोजन करती है और इस प्रकार यह सम्भव बनाती है कि प्रत्येक प्रयत्न के फलस्वरूप अधिकतम् लाभपूर्ण फल प्राप्त हो सकें।"[2]

[1] "The method of technique and organisation designed to secure the minimum of waste either of efforts or of materials. It includes standardisation of materials and products, scientific organisation of labour, improvement in the systems of transport and marketing and simplification of processes" —*World Economic Conference*, 1921.

[2] "...instead of traditional processes, established routines, empirical rules and improvisations, use is made of methods that are the fruit of patient scientific study and aim at the optimum adjustment of means to ends, thus securing that every effort produces the maximum useful results." —I L O.

(३) बालफोर (Balfour)—"प्राचीन काल में हम उत्पादन मे साधारण ज्ञान का उपयोग करते थे और मेरा विचार है कि यही बात अब भी होती है। परन्तु, क्योंकि विवेकीकरण एक नया शब्द है, इसलिये इसकी परिभाषा की आवश्यकता है। यह यथार्थ मे उत्पादन-विधि और सगठन की ऐसी प्रणाली है, जिसमे प्रयत्न और सामान का न्यूनतम् अपव्यय प्राप्त किया जाता है, श्रम का वैज्ञानिक सगठन किया जाता है, वस्तुओ और सामानों का प्रमापीकरण किया जाता है उत्पादन-क्रियाओ मे सरलता लाई जाती है और यातायात तथा बिक्री-प्रणालियों में भौतिक सुधार किये जाते हैं।"

(४) बोई (Bowie)—"नये विवेकीकरण मे नियोजन, पुनर्व्यवस्था तथा विकास की तीन अवस्थायें सम्मिलित होती हैं।"[1]

(५) प्रो० जेवेन्स—"नई औद्योगिक क्रान्ति का सार निश्चित ज्ञान की खोज तथा क्रियाओ का नियोजन है। यह हस्त-क्रियाओ से लेकर विशालकाय प्लांट (Plant) के ही नहीं बल्कि देश के सम्पूर्ण उद्योग के नियोजन तक फैला रहता है।"

(६) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सङ्गठन—"सकुचित अर्थ में, विवेकीकरण उद्योग, शासन अथवा सेवा का कोई भी ऐसा सुधार है, चाहे यह एक सार्वजनिक सत्ता द्वारा किया जाये अथवा व्यक्ति द्वारा, जिसमे पुरानी और घिसी हुई रीतियो के स्थान पर ऐसी विधियो का उपयोग किया जाता है जो सम्बद्ध तर्कों पर आधारित हो। विस्तृत अर्थ में, विवेकीकरण एक ऐसा सुधार है जो कई व्यवसायों को एक इकाई के रूप मे लेता है और उनसे सम्बन्धित उस हानि और अपव्यय को, जो निर्बाध प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न होते हैं, सम्बद्ध तर्कपूर्ण रीतियो द्वारा दूर करने की प्रवृत्ति रखता है। सबसे विस्तृत अर्थ मे, विवेकीकरण कोई भी ऐसा सुधार है जिसमे सम्बद्ध तर्क पर आधारित साधनो और रीतियो को बडे आर्थिक और सामाजिक वर्गों की सामूहिक क्रियाओ पर लागू करने का प्रयत्न किया जाता है।"

सरल शब्दों मे, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि विवेकीकरण मे उद्योग अथवा व्यवसाय मे ऐसी नई-नई उत्पादन और व्यावसायिक विधियो का उपयोग किया जाता है जो तर्क पर आधारित हो, अपव्यय और हानियो को घटाती हो और सामान्य रूप मे व्यवसाय की कुशलता और प्रतियोगी शक्ति को बढाती हो।

विवेकीकरण की आवश्यकता (उद्देश्य)

प्रत्येक उद्योगपति अपने व्यवसाय से अधिकतम् लाभ कमाने का प्रयत्न करता है। वह माँग और औद्योगिक विधियो के परिवर्तनो को बराबर ध्यान मे रखता है। समय-समय पर उत्पादन-रीतियो मे आवश्यक परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है और इसके लिए विवेकीकरण ही सबसे उपयुक्त रीति है। विवेकीकरण की आवश्यकता निम्न कारणों से उत्पन्न होती है :—(१) **विवेकीकरण औद्योगिक पुनर्संङ्गठन का एक शक्तिशाली साधन है।** इसके द्वारा श्रम और माल के उपयोग की नई विधियों को काम में लाया जा सकता है, उद्योग की उपज की माँग का रुचियो के परिवर्तनो के साथ समायोजन किया जा सकता है और व्यवसाय के पुनर्वासन (Rehabilitation), पुनर्निर्माण (Reconstruction) और पुनर्संङ्गठन की समस्याओ को एक ही साथ सुलझाया जा सकता है। (२) **विवेकीकरण की आवश्यकता अनेक प्रकार के अपव्यय को दूर करने के लिए भी उत्पन्न होती है।** इसके लिये कच्चे माल का अधिक वैज्ञानिक उपयोग किया जाता है, अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग किया जाता है, श्रम-विभाजन की उन्नति

---

[1] "Rationalisation involves the three stages of planning, re-arrangement and development."—Bowie.

की जाती है, निरीक्षण की कुशलता बढ़ाई जाती है और उत्पादन की क्रियाओं को सरल बनाया जाता है। इन सब बातों का यह परिणाम होता है कि उत्पादन-व्यय में कमी आ जाती है। (३) विवेकीकरण का उपयोग उद्योग अथवा व्यवसाय की प्रतियोगिता-शक्ति बढ़ाने के लिए भी किया जा सकता है, और अपनी रक्षा के लिए भी यह मार्ग अपनाया जा सकता है। व्यावसायिक मन्दी के काल के उद्योग का जीवन ही इस पर निर्भर होता है। (४) औद्योगिक उत्पादन में प्रबंधिक दृष्टिकोण भी विवेकीकरण की आवश्यकता उत्पन्न करता है। आधुनिक संसार में पिछड़े रहना अन्त में संकट का कारण बनता है। (५) नये आविष्कारों और नई उत्पादन कलाओं की खोज के कारण भी नई उत्पादन-विधियाँ आवश्यक हो सकती हैं। (६) विशेष परिस्थितियों, जैसे—युद्ध का सामना करने के लिये भी विवेकीकरण आवश्यक हो सकता है। युद्ध छिड़ जाने की दशा में औद्योगिक इकाइयों का युद्ध के सफल संचालन हेतु समायोजन आवश्यक होता है।

मैद्धायोजकों की ओर से बहुधा यह तर्क रखा जाता है कि सभी देशों में औद्योगिक कुशलता को बढ़ाने के लिए विवेकीकरण एक सर्वव्यापी प्रवृत्ति बन गया है। इसके बिना उद्योग की प्रतियोगिता-शक्ति घट जायगी। इसके अतिरिक्त विवेकीकरण कीमतों में कमी कर देता है, क्योंकि उत्पादन व्यय में कमी हो जाती है। विवेकीकरण उद्योगों को वैज्ञानिक अनुसन्धान, बड़े पैमाने के उत्पादन, विशिष्टीकरण, सुधार और शिल्पज्ञान के लाभ प्रदान करता है। उत्पादकों में सहकार की भावना उत्पन्न हो जाती है और औद्योगिक विकास की अनुकूल दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

विवेकीकरण के सिद्धान्त और प्रणालियाँ
(Principles and Methods of Rationalisation)

विवेकीकरण की विशेषतायें—

प्रो० जेवन्स (Jevons) ने विवेकीकरण को निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है :—(१) कम्पनियों का विलय अथवा एकाकी नियन्त्रण और कमजोर उत्पादन इकाइयों का समाप्त करना, जिससे एकाधिकारी लाभ प्राप्त हो सके और अधिक मात्रा में पूँजी मिल सके। (२) प्लाण्ट और उनसे सम्बन्धित बातों का विशिष्टीकरण, जिससे कि बड़े पैमाने के उत्पादन और संगठन की बचतें प्राप्त हो सकें और ऐसे प्लाण्टों की स्थापना, जिससे कि उत्पादन में अधिक बचत मिल सके। (३) विशिष्ट मशीनों और यन्त्रों की सहायता से प्रत्येक प्लाण्ट का इस प्रकार नियोजन करना कि लगातार उत्पादन हो सके। (४) प्रबन्ध का सुधार, जिससे कि खरीदने, बेचने, प्रमापीकरण करने और कच्चे मालों के मिलाकर उपयोग करने की मितव्ययिता प्राप्त हो सके। (५) समय और क्रिया (Time and motion) अध्ययन के आधार पर हस्त-क्रियाओं का नियोजन करना और श्रमिकों को आवश्यक प्रशिक्षण देना।

विवेकीकरण की रीतियाँ—

उपरोक्त उद्देश्य को पूरा करने के लिए अलग-अलग उद्योगों में अलग-अलग रीतियाँ अपनाई जाती है, क्योंकि प्रत्येक की आवश्यकता अलग-अलग हो सकती है। विवेकीकरण के लिए जिन रीतियों का उपयोग किया जाता है, उन्हें हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं :—

(१) पुनर्संङ्गठन—तीनों रीतियों में पुनर्संङ्गठन सबसे सरल है। इसमें औद्योगिक इकाई में इस प्रकार के सङ्गठन सम्बन्धी सुधार और परिवर्तन किये जाते हैं कि कुशलता अधिकतम हो जाय। इसके लिए सघबन्दी अथवा उत्पादन-विधियों के परिवर्तन द्वारा प्रतियोगिता को समाप्त किया जा सकता है। कार्य की दोबारगी (Duplication) को समाप्त किया जा सकता है, अपव्यय को दूर किया जा सकता है और बड़े पैमाने के उत्पादन की बचत प्राप्त की जा सकती है। उद्योग के वित्तीय आधार को दृढ़ किया जा सकता है और संघबन्दी द्वारा

मन्दी के सकट को कम किया जा सकता है। पुनर्मङ्गठन मे उत्पत्ति के विभिन्न साधनो के बीच अच्छा समायोजन किया जाता है, उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित किया जाता है और उत्पादन को निश्चित योजना-क्रम के अनुसार चलाया जाता है।

(२) **आधुनिकीकरण**—आधुनिकीकरण का अभिप्राय वर्तमान प्लाण्ट मे परिवर्तन करने, नवीनतम् मशीनो का उपयोग करने और श्रमिकों के स्थान पर मशीनों का उपयोग करने से होता है। यह कार्य धीरे-धीरे ही हो पाता है और इसमे अधिक मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता पडती है। बहुत बार यह भी देखने मे आता है कि कुछ उद्योगों मे श्रमिकों के स्थान पर मशीनों का उपयोग करने से उत्पादन की कुशलता नही बढ़ती है। साधारणतया पुनर्सङ्गठन के पश्चात् *ही आधुनिकीकरण का कार्य किया जाता है, परन्तु बडी-बडी औद्योगिक इकाइयो मे पुनर्सङ्गठन* से पहले भी आधुनिकीकरण किया जा सकता है।

(३) **वैज्ञानिक प्रबन्ध**—वैज्ञानिक प्रबन्ध का विचार टेलर (F. W. Taylor) नामक एक अमेरिकन इन्जीनियर की देन है। इसमे समय, क्रिया और थकान के अध्ययन के तीन सिद्धान्त सम्मिलित होते है। इस रीति द्वारा उत्पादन-क्रियाओं का सरल, छोटी और शीघ्रगामी बनाने का प्रयत्न किया जाता है, जिसके लिए श्रम-विभाजन की उन्नति की जाती है और यन्त्रों का अधिक वैज्ञानिक उपयोग किया जाता है और उत्पादन-क्रियाओं का इस प्रकार प्रमापीकरण कर दिया जाता है कि यह मानना सम्भव हो जाता है कि कोई श्रमिक औसत से कम काम कर रहा है अथवा अधिक। मजदूरी चुकाने की भी ऐसी रीतियों का उपयोग किया जाता है कि श्रमिक का कार्य-उत्साह बना रहे। इसके अन्तर्गत यह भी आवश्यक होता है कि औद्योगिक इकाई मे नियोजन और अनुसन्धान (Planning and Research) के विभाग हो।

इस प्रकार, विवेकीकरण मे औद्योगिक कुशलता की समस्या को भीतरी और बाहरी दोनो ही दिशाओं मे हल करने का प्रयत्न किया जाता है। एक ही साथ श्रम और प्रबन्ध की कुशलता बढाने का भी प्रयत्न किया जाता है और वित्तीय प्रश्नों तथा अनुसन्धान की समस्याओं का सुलझाया जाता है। विवेकीकरण तभी पूरा होता है, जबकि अति-पूँजीयन (Over-capitalisation) और *अव-पूँजीयन (Under-capitalisation) की समस्यायें भी सुलझा दी जाती हैं,* उपज की माँग और पूर्ति के बीच समायोजन कर दिया जाता है और उद्योग के आर्थिक आधार को मजबूत बना दिया जाता है।

विवेकीकरण के लाभ

विवेकीकरण की लोकप्रियता बहुत बढ रही है, क्योंकि इसके अनेक लाभ हैं। विभिन्न लाभों को हम निम्न चार शीर्षकों के अन्तर्गत बाँट सकते हैं —

(I) **उत्पादकों को लाभ**—उत्पादकों को विवेकीकरण की योजना के लागू करने से निम्नांकित लाभ होते हैं —(१) आधुनिक मशीनो, नवीनतम् प्रक्रियाओं, विशिष्टीकरण और प्रमापीकरण के प्रयोग तथा बडे पैमाने पर उत्पादन करने के फलस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है और उत्पादन-व्यय घट जाते है। (२) दोषपूर्ण सङ्गठन युक्त प्रतियोगिता, दोषपूर्ण उत्पादन-विधियों और साधनो के दोषपूर्ण समन्वय मे उत्पादन होने वाले अपव्यय दूर होते हैं तथा इसलिये उत्पादन-लागत मे कमी होती है। (३) पूँजी की व्यवस्था उद्योग की आवश्यकतानुसार की जाती है, जिस कारण अति पूँजीकरण और न्यून पूँजीकरण नहीं होने पाता। (४) विवेकीकरण व्यापारिक अस्थिरता के विरुद्ध बीमे का कार्य करता है। (५) विवेकीकरण ने मजदूरी की दरों और कार्य की दशाओं मे सुधार करके श्रमिकों और उद्योगपतियों के सम्बन्धों को अच्छा बना दिया है। इस प्रकार यह औद्योगिक शान्ति स्थापित करने मे सहायक रहा है। (६) विवेकीकरण अनुसन्धान, वैज्ञानिक प्रबन्ध और आधुनिकीकरण के लाभो को प्रदान करके उद्योगो की

(IV) श्रमिकों के लिये खतरे—निम्न दोषो के आधार पर श्रमिक भी विवेकीकरण सम्बन्धी योजनाओ का विरोध करते हैं :—(१) अच्छी कार्य-दशायें, नवीनतम् मशीनो इत्यादि के प्रचलन विना ही सेवायोजक श्रमिको के कार्य-भार को बढ़ा देते हैं। (२) विवेकीकरण के परिणामस्वरूप उत्पादन मे जो वृद्धि होती है उसका उचित भाग श्रमिकों को बढ़ी हुई मजदूरी के रूप मे प्राप्त नही होता। (३) विवेकीकरण बहुधा बेरोजगारी को बढ़ाता है। श्रम-संघ इसका इसी कारण विरोध करते है कि यह श्रमिको के स्थान पर मशीनो का उपयोग बढाकर रोजगार का संकुचन करता है। यही नहीं, प्रत्येक श्रमिक से अधिक उपज भी प्राप्त की जाती है, जिससे भी अन्त मे बेरोजगारी बढ़ती है। उद्योगपति बहुधा ऐसा समझते है कि यह तर्क गलत है, क्योंकि विवेकीकरण मांग को बढ़ाकर अधिक उत्पादन की आवश्यकता पैदा करता है, जिससे रोजगार घटने के स्थान पर उल्टा बढ़ जाता है। (४) विवेकीकरण पूँजीवाद की जड़ों को दृढ़ कर देता है। उद्योग का व्यक्तिगत लाभों को बढ़ाने के लिए ही उपयोग होता है, न कि समाज के कल्याण की उन्नति करने के लिए।

निष्कर्ष—विवेकीकरण के अनेक लाभ है किन्तु साथ ही कुछ खतरे भी, जिस कारण यह आवश्यक हो जाता है कि विवेकीकरण की योजना को क्रियान्वित करते समय समुचित सावधानी रखी जाय। भारत को अपने आर्थिक विकास के लिए तथा विश्व के राष्ट्रों की श्रेणी मे उचित स्थान प्राप्त करने हेतु विवेकीकरण की योजनायें लागू करना नितान्त आवश्यक है। किन्तु उसे यह सावधानी रखनी चाहिए कि बेकारी कम से कम फैले और बेरोजगार होने वाले व्यक्तियों के लिये नये कार्यों की व्यवस्था की जाय। ऐसा तब ही किया जा सकता है जबकि विवेकीकरण की योजनायें सहज लागू की जावें।

परीक्षा प्रश्न :

१. उद्योगो के युक्तिसगत पुनर्सङ्गठन से आप क्या समझते हैं ? उसके गुण तथा दोष कौन-कौन से हैं ?

[**सहायक संकेत.**—सर्वप्रथम विवेकीकरण के अर्थ को बताइये। तत्पश्चात् उत्पादकों, श्रमिको, उपभोक्ताओ एव समाज की दृष्टि से इसके गुण-दोषो को बताइये और अन्त में निष्कर्ष निकालिये कि विवेकीकरण की योजनाओ को भारत के आर्थिक विकास के हित मे स्थगित नही किया जा सकता है।]

२. वैज्ञानिक प्रबन्ध क्या है ? इसका व्यवसाय के आकार एव श्रमिको पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

१५

रोजगार का सिद्धान्त
(The Theory of Employment)

रोजगार का अर्थ

रोजगार शब्द के अनेक अर्थ लगाये गये हैं, यथा—

(१) विस्तृत परिभाषा—विस्तृत अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति के पास सदा ही कुछ न कुछ रोजगार होता है, क्योंकि वह सदा ही कुछ न कुछ करता ही रहता है और यह कार्य शारीरिक अथवा मानसिक हो सकता है। इस अर्थ में रोजगार उचित हो सकता है अथवा अनुचित, अच्छा हो सकता है अथवा बुरा, सरल हो सकता है अथवा कठिन और लाभदायक हो सकता है अथवा लाभहीन, परन्तु प्रत्येक दशा में वह रोजगार ही होगा। इस प्रकार चाहे कोई व्यक्ति उपभोग के कार्य में लगा हो, चाहे उत्पादन के कार्य में, प्रत्येक दशा में उसके पास रोजगार होना है।

(२) संकुचित अर्थ—थोड़े संकुचित अर्थ में, रोजगार की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते है कि यदि कोई व्यक्ति उत्पादन कार्य में लगा हुआ है, तो उसके पास रोजगार है। उत्पादन-कार्य में लगे रहने का अर्थ यह नहीं है कि कोई व्यक्ति दूसरों के ही लिए काम करे। वह स्वय अपने लिए भी काम कर सकता है। इस अर्थ में रोजगार का अर्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति उत्पादन से सम्बन्धित किसी भी प्रकार के कार्य में लगा हुआ है, तो उसके पास रोजगार होगा। किन्तु इस अर्थ में रोजगार शब्द का कमाई से कोई सम्बन्ध नहीं होता, कमाई चाहे कम हो या अधिक, मुद्रा के रूप में हो अथवा वस्तुओं के रूप में और स्वय व्यक्ति विशेष द्वारा उत्पन्न की गई हो अथवा दूसरों के द्वारा दी गई हो।

इस अर्थ में, एक व्यक्ति का रोजगार चार प्रकार का होता है :—(i) एक व्यक्ति जब शरीर से कार्य करता है तो वह श्रमिक होता है, (ii) मस्तिष्क से कार्य करता है तो प्रबन्धक होता है, (iii) प्रतीक्षा द्वारा उपभोग को स्थगित करता है तो पूँजीपति होता है, और (iv) उत्पादन सम्बन्धी जोखिम उठाता है तो साहसी होता है। किन्तु इन चारों दशाओं में रोजगार केवल मनुष्य को ही प्राप्त होता है। [वास्तव में रोजगार भौतिक पदार्थों को भी प्राप्त हो सकता है। जब कोई भौतिक पदार्थ उत्पादक उपयोग में लगा होता है, तो उसे रोजगार प्राप्त होता है। साधारणतया रोजगार शब्द का उपयोग मनुष्यों के सम्बन्ध में ही किया जाता है। मनुष्यों के सम्बन्ध में भी रोजगार शब्द का उपयोग प्रायः श्रमिकों के लिए किया जाता है।]

'रोजगार' शब्द की संकुचित परिभाषा देना ही ठीक है। एक श्रमिक को उस समय तक रोजगार में लगा हुआ माना जाता है जब तक कि प्रचलित मजदूरी दरों पर उसके पास काम होता है। यदि बाजार में प्रचलित मजदूरी दरों पर उसे कार्य नहीं मिल पाता है, तो वह बेरोजगार कहा जायेगा।

रोजगार की इस परिभाषा के सम्बन्ध में दो कठिनाइयाँ हैं :—प्रथम, यदि किसी श्रमिक को प्रचलित मजदूरी से नीची दर पर रोजगार मिलता है, तो उसे बेरोजगार कहा

जायेगा, परन्तु व्यवहार में किसी दिये हुए बाजार में मजदूरी की दर समान ही रहती है। दूसरे, प्रचलित मजदूरी दरों का स्पष्ट अर्थ जानना आवश्यक है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर तथा एक उद्योग से दूसरे उद्योग में मजदूरी की दरों में अन्तर होते हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि एक बाजार में अन्तर मिट जाते हैं, तो भी विभिन्न उद्योगों में मजदूरी की दरों में अन्तर अवश्य रहेंगे। इस कारण व्यावहारिक दृष्टि से रोजगार की परिभाषा देना कठिन है।

पूर्ण वृत्ति अथवा पूर्ण रोजगार
(Full Employment)

पूर्ण रोजगार की स्थिति वह है जिसमें ऐसे सभी व्यक्ति, जो प्रचलित मजदूरी दर पर कार्य करने को तैयार हैं, रोजगार पा जाते हैं। स्पष्ट है कि रोजगार-प्राप्ति की दृष्टि से हम केवल उन्हीं व्यक्तियों के सम्बन्ध में विचार करते हैं जो प्रचलित मजदूरी दरों पर कार्य करने को तैयार हैं। यदि कोई व्यक्ति इस कारण बेरोजगार है कि वह प्रचलित मजदूरी पर कार्य करने के लिए तैयार नहीं तो उसे बेरोजगार नहीं कहा जायेगा। केवल वही व्यक्ति बेरोजगार होगा जो अनिच्छा से बेरोजगार है, अर्थात् जबकि वह प्रचलित दरों पर कार्य करने को तैयार तो है, परन्तु उसे कार्य मिलता नहीं है। इस सम्बन्ध में भी कुछ अन्य कठिनाइयाँ आ सकती हैं। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति किसी विशेष स्थान, उद्योग, व्यवसाय अथवा किसी विशेष अवधि में ही कार्य करना चाहता है और उसे वैसा कार्य नहीं मिलता है, तो क्या वह बेरोजगार कहा जायेगा? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बेरोजगारी के प्रकारों को जानना आवश्यक होगा।

बेरोजगारी के प्रकार—

बेरोजगारी के अनेक कारण एवं इसके अनेक प्रकार होते हैं :—

(१) **संक्रान्तिकालीन बेरोजगारी**—आर्थिक जीवन प्रवैगिक होता है। कुछ उद्योगों की उपज के लिये माँग बढ़ती जाती है और कुछ के लिये घटती जाती है। जब माँग के इन परिवर्तनों के कारण श्रमिक एक उद्योग से दूसरे में जाते हैं, तो रोजगार बदलने में कुछ समय लगता है और इस बीच में श्रमिक बेकार हो सकते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी को "संक्रान्ति-कालीन बेरोजगारी" (Frictional Unemployment) कहा जाता है।

(२) **क्रियात्मक बेरोजगारी**—यह सम्भव है कि किसी उद्योग में माँग घट रही हो और उस उद्योग के श्रमिक अन्य उद्योगों में न जा सकते हों, क्योंकि या तो उनमें मजदूरियाँ नीची हैं या विशेष प्रशिक्षण आवश्यक है या श्रमिकों को आशा है कि भविष्य में उद्योग की उपज के लिये माँग बढ़ जायगी। इस प्रकार की बेरोजगारी को "क्रियात्मक बेरोजगारी" (Structural Unemployment) कहा जाता है।

(३) **ऐच्छिक बेरोजगारी**—एक श्रमिक अपनी इच्छा से बेरोजगार हो सकता है, क्योंकि वह प्रचलित मजदूरी दर पर काम करने को तैयार नहीं है। ऐसी बेरोजगारी ऐच्छिक बेरोजगारी (Voluntary Unemployment) होगी।

(४) **छुपी हुई बेरोजगारी**—बेरोजगारी छुपी हुई (Disguised) हो सकती है। छुपी हुई बेरोजगारी उस समय होती है जबकि श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता शून्य अथवा ऋणात्मक होती है। इसका अर्थ यह है कि उद्योग में रोजगार घटा देने से भी उद्योग की कुल उपज घटती नहीं है। ऐसी दशा में वे श्रमिक जो इस कारण काम से हटाये गये हैं उस समय भी बेरोजगार समझे जायेंगे जबकि वे काम पर लगे हुए थे।

पूर्ण रोजगार का अर्थ—

अब हम पूर्ण रोजगार के विचार पर फिर लौट आते हैं। पूर्ण रोजगार का अर्थ यह नहीं होता कि सभी प्रकार की बेरोजगारी पूर्णतया अनुपस्थित हो, क्योंकि प्रत्येक प्रकार का

अर्थ-व्यवस्था में कुछ प्रकार की बेरोजगारी के लिए अवसर अवश्य रहेगा। प्रथमतः कुछ व्यक्ति ऐसे होंगे जो किसी न किसी कारण बेरोजगार रहेंगे और उन्हें किसी भी प्रकार काम करने के लिए राजी नहीं किया जा सकेगा, चाहे जो भी प्रलोभन दिया जाये। दूसरे, कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो एक काम को छोड़ कर दूसरे की तलाश में रहते हैं और इस बीच बेरोजगार हो जाते हैं अथवा कुछ समय तक नया काम सीखने के कारण या कम मजदूरी पर काम करने के कारण बेरोजगार हो जाते हैं। ३ से ५ प्रतिशत तक व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं। इस प्रकार, यदि ९५ से ९७% तक लोगों को रोजगार प्राप्त है तो यह पूर्ण रोजगार की स्थिति ही होगी। प्रो० मेहता का विचार है कि पूर्ण रोजगार के स्थान पर "अनुकूलतम् रोजगार" (Optimum employment) शब्द अधिक उपयुक्त है और अनुकूलतम रोजगार वह स्थिति है जिसमें सामाजिक उपज अधिकतम् होती है।

रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त
(Classical Theory of Employment)

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने भी रोजगार की समस्या का अध्ययन किया था। इस सम्बन्ध में से (Say), रिकार्डो (Ricardo) और मिल (Mill) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त क्या है?

से ने रोजगार का जो सिद्धान्त बनाया था उसे "से का बाजार नियम" (Say's Law of Market) कहा जाता है। से का विचार है कि सामान्य अति-उत्पादन असम्भव है। कारण, सभी वस्तुओं का बाजार इसके उत्पादन द्वारा उत्पन्न किया जाता है। प्रत्येक उत्पादक अपनी उपज को उन वस्तुओं के बदले में बेचता है जिनकी उसे आवश्यकता होती है। यही कारण है कि "पूर्ति" ही "माँग" को उत्पन्न करती है। चूँकि अति-उत्पादन अथवा अति पूर्ति सम्भव नहीं है, इसलिए सामान्य बेरोजगारी भी असम्भव है।

मिल ने इस नियम का बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है। इनके अनुसार माँग निम्न दो कारणों से पूर्ति की अपेक्षा कम रह सकती है :—(i) लोगों के पास पर्याप्त क्रय शक्ति न होना, और (ii) क्रय: शक्ति का उपयोग करने की इच्छा न होना। किन्तु उनका विचार है कि ये दोनों ही सम्भावनायें कम हैं, जिससे सामान्य अति-उत्पादन का प्रश्न हो नहीं उठता, यद्यपि यह सम्भव है कि कुछ दशाओं में उत्पादन कुछ अधिक हो जाय और कुछ में कम रह जाये। यह कहा जा सकता है कि कुछ लोग उत्पत्ति करके उपज का संचय कर सकते हैं, परन्तु ऐसे व्यक्ति अपनी बचत उत्पादक कार्यों में लगायेंगे और इस प्रकार अपने पास की अतिरिक्त क्रय शक्ति श्रमिकों को हस्तान्तरित कर देंगे। श्रमिक या तो इस प्रकार की क्रय: शक्ति को व्यय करेंगे, या (क्योंकि उनकी मजदूरियाँ बढ़ गई है) वह कम कार्य करेंगे, जिससे उत्पादन घट जायगा।

मिल का विचार है कि व्यावसायिक संकट के काल में यह सम्भव है कि सभी वस्तुओं की पूर्ति उनकी मौद्रिक माँग से अधिक हो जाय। ऐसी दशा में बेचना तो हर कोई चाहता है परन्तु खरीदने वाले बहुत कम होते हैं। किन्तु (मिल का कथन है कि) इस प्रकार के सङ्कट का कारण अत्यधिक उत्पादन नहीं होता, बल्कि सट्टे की अधिकता है। इसका उपचार भी पूर्ति को घटाकर नहीं बल्कि जन-विश्वास को फिर से स्थापित करके ही किया जा सकता है। इस प्रकार मिल के अनुसार सामान्य अति-उत्पादन सम्भव है यद्यपि आंशिक अति-उत्पादन हो सकता है, जिसे आर्थिक शक्तियाँ कालान्तर में स्वयं ही समाप्त कर देंगी। अतः प्रतिष्ठित विचारधारा के अनुसार सामान्य स्थिति पूर्ण रोजगार की ही स्थिति है और वास्तविक स्थिति इसी के आगे और घूमती रहती है।

इस प्रकार, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार बेरोजगारी का कारण अति-उत्पादन न होकर अन्य बाधायें हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप, (i) श्रमिक एक काम छोड़कर दूसरा करने को तैयार न हो अथवा ऊँची मजदूरी के लोभ में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिए तैयार न हो। (ii) उत्पादक ऊँचे लाभों की सम्भावना पर भी अपने वर्तमान व्यवसाय के स्थान पर अन्य काम आरम्भ करने को तैयार न हो। (iii) एकाधिकारी वस्तु की पूर्ति पर इस प्रकार नियन्त्रण रखता हो कि बाजार में उसकी पूर्ति सीमित हो जाये। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री इन सभी बाधाओं को अनुचित समझते हैं। बेरोजगारी को दूर करने के लिए इन बाधाओं को हटाना आवश्यक है और इस दिशा में राज्य का विशेष कर्त्तव्य है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने बेरोजगारी का उपचार यह बताया कि कीमतों के घटने और बेरोजगारी बढ़ने की दशा में मजदूर अपनी मजदूरियों में कमी स्वीकार कर लें।

प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की आलोचना—

माल्थस और कार्ल-मार्क्स दोनों ने 'से के नियम' की कड़ी आलोचना की है। उनका विचार है कि सामान्य अति-उत्पादन तथा बेरोजगारी दोनों सम्भव हैं। नि:सन्देह यदि माँग और पूर्ति के समायोजन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो, तो विनियोग और माँग में पूर्ण समन्वय होगा और सामान्य अति-उत्पादन कभी भी नहीं होगा। परन्तु कठिनाई तो यह है कि इस प्रकार के समायोजन की मान्यता ही अवास्तविक है, पूर्ण रोजगार की मान्यता ही गलत है और इसके आधार पर बनाया गया यह सिद्धान्त भी गलत है।

सच बात यह है कि से और मिल के विचार उस काल से सम्बन्धित हैं जिसमें श्रमिक साधारणतया स्वयं अपने लिए काम करते थे और श्रम के स्थान पर अपने श्रम की उपजें बेचते थे। अन्तिम दृष्टि से इस प्रकार की उपजें अन्य उपजों के बदले में भी बेची जाती थीं और इस प्रकार यह कहना ठीक ही था कि पूर्ति स्वयं अपनी माँग उत्पन्न करती है। उस दशा में रोजगार का अर्थ यही था कि श्रमिकों को अपनी उपज के लिए बाजार प्राप्त हो। आधुनिक युग में यह स्थिति पूर्णतया बदल चुकी है। आज रोजगार-प्राप्ति का अर्थ है कि मजदूरी के बदले में दूसरों के लिए काम करने का अवसर मिलना, अतः से का सिद्धान्त श्रम-बाजार पर लागू नहीं होता।

पीगू द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्त का स्पष्टीकरण—

पीगू[1] ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त को एक नया रूप देने का प्रयत्न किया है, ताकि वह वर्तमान जगत के श्रम-बाजार पर लागू किया जा सके। उनका विचार है कि यदि श्रम की माँग सम्बन्धी दशाएँ दी हुई हैं, तो मजदूरियाँ एक ऐसे स्तर पर आकर रुक जायेंगी, जहाँ सभी श्रमिकों को रोजगार प्राप्त हो जाये। पीगू का कथन है कि जो कुछ भी बेरोजगारी दीख पड़ती है वह या तो माँग की दशाओं में परिवर्तन के कारण होती है अथवा श्रम-बाजार की अपूर्णता के कारण। जहाँ तक पूर्ण रोजगार का प्रश्न है वह तो स्व-समायोजन का परिणाम होता है। यदि किसी देश की सरकार श्रम की माँग की दशाओं में सुधार करती है, तो इससे बेरोजगारी का उपचार नहीं होता है। राज्य अगर कुछ भी न करे तब भी, जैसे ही माँग की दशाओं में होने वाले परिवर्तन रुक जायेंगे, पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जायेगी। पीगू का विचार है कि माँग की दशाओं का बेरोजगारी से सम्बन्ध नहीं है। बेरोजगारी तो माँग के परिवर्तनों के कारण

---

[1] *See* Theory of Employment.

उत्पन्न होती है। इस प्रकार, पीगू के अनुसार अनैच्छिक बेरोजगारी का प्रश्न ही नहीं उठता। सभी प्रकार की बेरोजगारी अस्थायी (Frictional) होती है।

गणित की भाषा में पीगू ने कहा है : $N=\frac{qY}{W}$ जिसमें N काम में लगे हुये श्रमिकों की संख्या को दिखाता है, Y राष्ट्रीय आय है, q राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो श्रमिकों को मजदूरी के रूप में दिया जाता है और W मजदूरी की दर है। इस समीकरण के अनुसार, W (अर्थात् मजदूरी की दर) में कमी करने से N (काम में लगे हुए श्रमिकों की संख्या) को बढ़ाया जा सकता है। सच यह है कि W में इस प्रकार के समायोजन होंगे कि N श्रमिकों की कुल संख्या के बराबर हो जावे।

प्रतिष्ठित सिद्धान्त के सम्बन्ध में केन्ज का मत—

केन्ज का मत है कि रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त तीन ऐसी मान्यताओं पर आधारित है जो तीनों एक साथ ही सही अथवा गलत होंगी। ये तीनों मान्यताएँ है—(i) वास्तविक मजदूरी रोजगार की सीमान्त अनुपयोगिता के बराबर होती है, (ii) अनैच्छिक बेरोजगारी असम्भव है और (iii) पूर्ति स्वयं अपनी माँग उत्पन्न करती है।

ये तीनों मान्यताएँ वास्तव में गलत है। पहली मान्यता दो कारणों से गलत है :— प्रथम, यह समझना ठीक नहीं है कि श्रमिक अपनी मजदूरी का सौदा वास्तविक मजदूरी के रूप में करते हैं और दूसरे, यह मान्यता बनाती है कि वास्तविक मजदूरी के घटने से श्रम की पूर्ति भी घट जायेगी। वास्तविक अनुभव इन दोनों के विरुद्ध है। कम से कम अवसाद के काल में ऐसी स्थिति अवश्य आ जाती है कि अनेक श्रमिकों को प्रचलित मजदूरी दरों पर काम नहीं मिलता। ठीक इसी प्रकार, पूर्ति अपनी माँग उसी समय उत्पन्न करेगी जबकि सामूहिक पूर्ति कीमत सामूहिक माँग की कीमत के बराबर हो, परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा भी नहीं होता है।

केन्ज द्वारा प्रतिपादित रोजगार का आधुनिक सिद्धान्त
(Keynesian Employment Theory)

केन्ज का रोजगार सिद्धान्त संक्षेप में—

बहुत पहले केन्ज ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक General Theory of Employment, Interest and Money में रोजगार के आधुनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इस सिद्धान्त पर लम्बे काल तक वाद-विवाद चलता रहा है जो अब बड़े अंश तक शान्त हो चुका है। केन्ज का मत है कि किसी देश में रोजगार का स्तर सामूहिक माँग (Aggregate Demand) और सामूहिक पूर्ति (Aggregate Supply) की दशाओं पर निर्भर होता है।

(I) सामूहिक माँग—

सामूहिक माँग वक्र वह है, जो सम्भावित बिक्री राशियों को उपज की विभिन्न मात्राओं से सम्बन्धित करता है, किन्तु केन्ज इसे एक ऐसा वक्र बताते हैं जो रोजगार की विभिन्न मात्राओं का सम्बन्ध बिक्री की उन राशियों से जोड़ता है जो रोजगार द्वारा उत्पन्न की गई उपजों से सम्बन्धित है। इसे केन्ज ने तीन कारणों से उचित बताया है .—(i) केन्ज उन कारणों *की खोज करना चाहते है जो रोजगार को निश्चित करते हैं, न कि उन कारणों की, जो उपज* को निश्चित करते हैं। (ii) अल्पकाल में, जबकि उत्पादन-विधियाँ तथा साधन यथास्थित रहते है, उपज तथा रोजगार दोनों की मात्राओं में समान दिशाओं में बदलने की प्रवृत्ति होती है। (iii) ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिससे भौतिक इकाइयों के सन्दर्भ में अन्य सभी वस्तुओं की मात्राओं को सूचित किया जा सके। अतः श्रम की मात्रा को उपज के आकार का प्रतीक माना जा सकता है।

अब देखना यह है कि सामूहिक-माँग रेखा का क्या रूप होगा। जब हम किसी वस्तु की माँग-रेखा को खींचते हैं, तो हम अ ख पर प्रति इकाई कीमत दिखाते हैं और अ क पर माँग की मात्रा को। परन्तु सामूहिक-माँग-रेखा का रूप दो दिशाओं में पृथक् होता है :—प्रथम, अ ख पर प्रति इकाई कीमत के स्थान पर हम कुल सामूहिक उपज की कुल कीमत दिखाते हैं, और अ क पर उपज की मात्रा के स्थान पर हम रोजगार की उस मात्रा को दिखाते हैं जो उस उपज द्वारा उत्पन्न किया जाता है। रोजगार की विभिन्न मात्राओं पर वह विक्री-आय, जिसकी उस रोजगार से सम्बन्धित उपज को बेचकर आशा की जाती है, अलग-अलग होती है। यदि रोजगार की मात्रा शून्य है, तो सम्भावित विक्री-आय भी शून्य होगी। जैसे-जैसे अधिक श्रमिकों को काम पर लगाया जाता है, उत्पत्ति अधिक मात्रा में होती है और विक्री-आय भी अधिक मात्रा में होती है। इसका अर्थ यह निकलता है कि यदि विक्री-आय अधिक है, तो रोजगार का अंश ऊँचा होगा और यदि विक्री-आय नीची है, तो रोजगार का अंश भी नीचा होगा। इस प्रकार सामूहिक माँग की रेखा अ बिन्दु से आरम्भ होगी और दाहिनी ओर ऊपर को जायेगी।

(II) सामूहिक पूर्ति—

हम उत्पादन की एक निश्चित मात्रा लेते हैं। इस मात्रा से सम्बन्धित एक न्यूनतम् विक्री-आय अथवा विक्री-राशि होती है जिसका सभी सेवायोजकों को सामूहिक रूप में प्राप्त होना आवश्यक होता है। इसे हम उस उपज की "पूर्ति-कीमत" (Supply Price) कह सकते हैं। उपज की अलग-अलग मात्राओं के लिए पूर्ति-कीमत अलग-अलग होगी। साधारण दशा में सामूहिक पूर्ति-रेखा को विभिन्न पूर्ति-कीमतों और उपज-मात्राओं का सम्बन्ध दिखाना चाहिए। परन्तु सामूहिक माँग की रेखा के आधार पर यह कहना उचित होगा कि सामूहिक पूर्ति-रेखा विभिन्न उपज-मात्राओं या रोजगार की उन मात्राओं से सम्बन्ध दिखाती है जो इन विभिन्न उपजों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। इस प्रकार, यहाँ भी अ ख पर पूर्ति-कीमतों और अ क पर रोजगार की मात्रायें दिखाई जायेंगी।

पूर्ति-कीमत वह न्यूनतम् कीमत है जो उस उपज को उत्पन्न करने के लिए उत्पादकों को अवश्य मिलनी चाहिए और यह उपज के उत्पादन-व्यय के बराबर होती है। परन्तु यहाँ पर भी सावधानी आवश्यक है—एक व्यक्तिगत उत्पादक अपने उत्पादन-व्यय में चार प्रकार के व्यय सम्मिलित करता है—उत्पत्ति-साधनों का व्यय, कच्चे मालों का व्यय, उपयोग किये हुए आदेयों की घिसावट का व्यय (अथवा उपयोग-व्यय) तथा अपने साहस का एक न्यूनतम् प्रतिफल। जहाँ तक सामूहिक व्यय का प्रश्न है उसमें आदेयों की घिसावट का व्यय सम्मिलित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह व्यय परोक्ष रूप में अन्य प्रकार के व्ययों में जुड़ा रहता है।

अब हमें विक्री-आय और रोजगार के सम्बन्ध को एक बार फिर देखना है। यदि विक्री आय शून्य है, तो रोजगार भी शून्य होगा। अधिक मात्रा में तभी उत्पादन किया जायेगा जबकि विक्री-आय अधिक होगी अथवा रोजगार अधिक होगा। इसका अर्थ यह होता है कि सामूहिक माँग-रेखा की भाँति सामूहिक पूर्ति-रेखा भी अ से आरम्भ होती है और दाहिनी ओर ऊपर को जाती है।

(III) सप्रभाविक माँग का विचार (Concept of Effective Demand)—

रोजगार का निर्धारण सप्रभाविक माँग द्वारा किया जाता है। जिस बिन्दु पर सामूहिक माँग-रेखा सामूहिक पूर्ति-रेखा को काटती है उसे "सप्रभाविक माँग का बिन्दु" कहा जाता है। यह हम ऊपर बता चुके हैं कि रोजगार की मात्रा सप्रभाविक माँग द्वारा निश्चित की जाती है, परन्तु सप्रभाविक माँग आवश्यक रूप में उसी बिन्दु पर नहीं होती है जहाँ पर पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि किसी समय विशेष में रोजगार का केवल एक ही स्तर

ऐसा होता है जिस पर सन्तुलन अथवा साम्य प्राप्त होता है अर्थात् जिस पर सामूहिक-मांग-कीमत सामूहिक-पूर्ति-कीमत के बराबर होती है।

निम्न चित्र में सम्भाविक मांग की स्थिति दिखाई गई है। अ क रेखा पर रोजगार को दिखाया गया है और अ ख रेखा पर बिक्री-आय को। चित्र में अ म रेखा सामूहिक-मांग रेखा है और अ प सामूहिक-पूर्ति-रेखा है। सामूहिक-मांग-रेखा बिक्री-मांग की उन विभिन्न मात्राओं को दिखाती है जो रोजगार के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित है जबकि सामूहिक-पूर्ति-रेखा बिक्री-आय की उन मात्राओं को दिखाती है जो रोजगार की विभिन्न मात्रायें उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है।
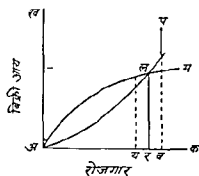
सामूहिक-मांग और सामूहिक-पूर्ति-रेखाएँ एक-दूसरे को ल बिन्दु पर काटती हैं। यही 'साम्य का बिन्दु' है। इसका अर्थ यह है कि साम्य-स्थिति में रोजगार की मात्रा अ र के बराबर होगी। इस बिन्दु पर साहसी को अधिकतम् लाभ प्राप्त होगा। रोजगार का अन्य कोई भी स्तर साहसी के लाभों को घटा देगा। उदाहरणस्वरूप, यदि रोजगार की मात्रा अ र से अधिक है अर्थात् अ व है तो इस दशा मे सम्भावित बिक्री-आय पूर्ति-कीमत से नीची रह जायेगी। ऐसी दशा मे लाभ सामान्य लाभ (Normal Profits) से नीचे होंगे और हो सकता है कि ऋणात्मक हो जायें। इसके विपरीत, यदि रोजगार की मात्रा अ र से कम है, अर्थात्, यदि वह अ य है, तो सम्भावित बिक्री-आय पूर्ति-कीमत से ऊँची हो जाती है। इससे सेवायोजक अथवा उत्पादक अधिक श्रमिकों को रोजगार देने की दिशा मे प्रेरित होंगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि जब तक रोजगार की मात्रा अ र के बराबर न हो, साम्य स्थापित नही हो सकता है।

केन्ज के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण—

सामूहिक पूर्ति-रेखा मुख्यतया पूर्ति की भौतिक दशाओं पर और पूर्ति की भौतिक दशाएँ प्राप्त उत्पत्ति-साधनों की किस्म तथा मात्रा और ज्ञान तथा उत्पादन-विधि की दशा पर निर्भर होती हैं। केन्ज का विचार है कि ये सब बातें इस प्रश्न तक सर्वविदित है कि इनका और आगे विवेचन आवश्यक नही है। फलतः वे सामूहिक पूर्ति-रेखा को दिया हुआ मान कर चलते हैं और सामूहिक मांग का सविस्तार विवेचन करने लगते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सामूहिक मांग-रेखा सम्भावित बिक्री-आय का रोजगार से सम्बन्ध दिखाती है और सम्भावित बिक्री-आय को हम दो भागों मे बाँट सकते हैं :—(i) उपभोग-वस्तुओं से प्राप्त बिक्री-आय तथा (ii) नई विनियोग-वस्तुओं से प्राप्त बिक्री-आय। मान लीजिए कि D सामूहिक मांग है, D_1 उपभोग-वस्तुओं की मांग और D_2 विनियोग-वस्तुओं की मांग है। इस दशा में $D=D_1+D_2$।

अब, क्योंकि कुल रोजगार उपभोग की वस्तुओं तथा विनियोग की वस्तुओं दोनों की मांग से उत्पन्न होता है इसलिए, रोजगार की वृद्धि या तो उपभोग-वस्तुओं पर व्यय बढ़ने से उत्पन्न हो सकती है अथवा विनियोग (Investment) बढ़ने से। सामूहिक मांग-सारणी, उपभोग मांग-सारणी तथा विनियोग-मांग-सारणी का योग होती है।

यह हम पहले ही देख चुके हैं कि किसी निश्चित रोजगार-स्तर पर कुल सामूहिक मांग कुल सामूहिक पूर्ति के बराबर होती है। यदि सामूहिक पूर्ति Z है, तो $D=Z$ ही साम्य की दशा होगी, और, क्योंकि $D=D_1+D_2$ इसलिए, $Z=D_1+D_2$।

अब हम D_1 तथा D_2 के विषय मे जानने का प्रयत्न करेंगे। D_1 आय पर निर्भर होता है क्योंकि उपभोग-वस्तुओं पर व्यय की गई राशि आय पर निर्भर होती है। जैसे ही रोजगार बढता है, आय भी बढती है, और, जैसे ही आय बढ़ती है, उपभोग-व्यय भी बढता है। परन्तु उपभोग पर किये गये व्यय की वृद्धि इतनी नहीं होती है जितनी कि आय मे वृद्धि, क्योंकि आय का एक भाग विनियोग पर व्यय किया जाता है। अब, रोजगार की वृद्धि सामूहिक पूर्ति-कीमत को भी बढ़ा देती है। रोजगार का नया स्तर केवल उसी दशा में बनाये रखा जा सकता है जबकि नये आय-स्तर अथवा सामूहिक पूर्ति-कीमत तथा उपभोग-व्यय के नये स्तर का अन्तर विनियोग द्वारा पूरा किया जाये; दूसरे शब्दों मे, जबकि $D_2 = Z - D_1$। यदि विनियोग इससे कम होता है, तो साहसियों को हानि होती है, क्योंकि ऐसी दशा मे सामूहिक माँग-कीमत सामूहिक पूर्ति-कीमत से नीची रह जायगी, और, इस कारण, रोजगार घटेगा। इसके विपरीत, यदि विनियोग इससे अधिक है, तो इससे माँग, आय और रोजगार तीनों मे ही वृद्धि होगी।

यदि नये विनियोग की दर दी हुई है और कुल सामूहिक उपभोग-व्यय का कुल आय से अनुपात भी दिया हुआ है, तो रोजगार का केवल एक ही स्तर ऐसा होगा, जिस पर सन्तुलन अथवा साम्य स्थापित हो सकेगा। यह आवश्यक नहीं है कि यह स्तर पूर्ण रोजगार-स्तर हो, यद्यपि संयोग से ऐसा भी हो सकता है। कारण, पूर्ण रोजगार केवल उस दशा मे प्राप्त होगा जबकि विनियोग पूर्ण रोजगार से उत्पन्न होने वाली उपज की सामूहिक पूर्ति कीमत तथा इसमें से उपभोग पर व्यय की हुई राशि के अन्तर के बराबर हो।
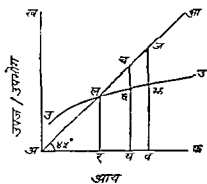
इस बात को रेखाचित्र द्वारा भी दिखाया जा सकता है। साथ के चित्र मे सामूहिक आय को अ क पर दिखाया गया है और सामूहिक उपज को अ ख पर। चूँकि सभी स्तरो पर सामूहिक आय तथा सामूहिक उपज के मूल्य बराबर होंगे, इसलिए अ आ रेखा, जो दोनो के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है, एक ऐसी सरल रेखा होगी, जो प्रत्येक अक्ष (AXIS) के साथ ४५° का कोण बनायेगी। चित्र मे उ उ वह वक्र रेखा है, जो आय के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित उपभोग-व्यय दिखाती है। यदि आय अ र से कम है, तो उपभोग-व्यय आय से अधिक होगा। जब आय अ र है, तो वह सारी की सारी उपभोग पर व्यय कर दी जाती है। किन्तु, जैसे-जैसे आय अ र से अधिक होती जाती है, आय और उपभोग व्यय का अन्तर बढता जाता है।

सम्भाविक माँग का बिन्दु अ आ रेखा पर कहीं होगा। यह उस स्थान पर होगा जहाँ विनियोग और उपभोग व्यय के अन्तर के बराबर हो। उदाहरणस्वरूप, यदि विनिमय च छ है, तो आय अ य के बराबर होगी और उपभोग छ य के बराबर होगा और रोजगार आय के अ य स्तर पर आधारित होगा। यदि पूर्ण रोजगार से सम्बन्धित आय अ व है, तो पूर्ण रोजगार उस अवस्था मे प्राप्त होगा जबकि विनियोग ज व तथा झ व के अन्तर के बराबर अर्थात् ज झ के बराबर हो।

सामाजिक आय तथा उपज (Social Income and Output)—

अर्थ व्यवस्था को भली-भाँति समझने के लिये राष्ट्रीय आय अथवा उत्पादन (Output) को समझ लेना आवश्यक है और राष्ट्रीय आय ही सामाजिक आय है। सामाजिक आय किसी

हमारे द्वारा आय प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि कोई हमारी सेवाओं अथवा हमारे द्वारा उत्पादित वस्तुओं को खरीदे। हम जो भी कार्य करें अथवा जो भी उत्पादन करें, बेचे जाने की सम्भावना पर होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, हम आय केवल उसी दशा मे उत्पन्न कर सकते है जबकि हम सामाजिक उपज के स्टॉक मे वृद्धि करते है और सामाजिक उपज के स्टॉक की वृद्धि के लिये नया पूंजी-निर्माण अथवा विनियोग आवश्यक होता है। आय के उत्पादन का आधारभूत तथ्य यही है कि कोई व्यक्ति सामाजिक उपज के स्टॉक में वृद्धि करता है और उत्पत्ति के विभिन्न साधनो को भुगतान देता है। जब कोई व्यक्ति सामाजिक उपज मे वृद्धि करता है तो आय की धारा उत्पन्न होती है, जिसका मूल्य उस भुगतान के बराबर होता है जो उत्पत्ति के साधनो को किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, इसका अर्थ यह होता है कि सामाजिक उपज की वृद्धि के साथ-साथ साधन के भुगतानो की मात्रा भी बढनी चाहिए।

परन्तु उत्पत्ति-साधनो को जो भुगतान किया जाता है वह वही पर नही रह जाता। प्रत्येक श्रमिक मजदूरी प्राप्त करने के पश्चात् इसे व्यय करता है। वह अपनी आय ऐसे अन्य व्यक्तियो को हस्तान्तरित कर देता है जिनसे वह अपनी आवश्यक वस्तुएं खरीदता है और आयों के हस्तान्तरण का यह क्रम इसी प्रकार आगे बढता रहता है। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्येक बार, जब आय का आगे को हस्तान्तरण होता है, आय की मात्रा घटती जाती है। क्योंकि एक व्यक्ति अपनी समस्त आय का व्यय नही करता, वरन् उसके एक भाग को भावी उपभोग के हेतु बचा लेता है। आय और व्यय का यह क्रम निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है :—

मान लीजिये कि एक व्यक्ति १,००० रुपये की आय प्राप्त करता है और वह इसका १०% बचत मे रखकर शेष को व्यय कर देता है। हिसाब इस प्रकार होगा :—१,००० रुपया आय=९०० रुपया उपभोग+१०० रुपये बचत। यदि यह ९०० रुपये एक दूसरे व्यक्ति (मान लीजिये कि विक्रेता) को प्राप्त होते हैं और वह भी १०% बचाकर शेष व्यय करके किसी अन्य विक्रेता को दे देता है, तो उसका हिसाब इस प्रकार होगा :—९०० रु० आय=८१० रुपया उपभोग+९० रुपया बचत। अब ८१० रुपये और आगे की ओर जाते हैं और किसी अन्य विक्रेता को प्राप्त होते हैं जो उनका इसी प्रकार उपभोग करता है। इसी प्रकार प्रत्येक अगली बार होता रहता है। जिस कारण हिसाब का क्रम इस प्रकार चलता है :—८१० रुपये आय=७२९ रुपये उपभोग+८१ रुपये बचत, ७२९ रुपये आय=६५६ १ रुपये उपभोग+७२ ९ रुपये बचत, ६५६·१ रुपया आय=५९० ४९ रुपया उपभोग+६५·६१ रुपये बचत, इत्यादि। व्यय की मात्रा प्रत्येक अगले क्रम मे घटती जाती है।

मान लीजिये कि यह क्रम १० बार चलता है। इसका अर्थ यह होता है कि सारे क्रम का योग १,००० रुपये की आरम्भिक व्यय का १० गुना अर्थात् १०,००० रुपया होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, इसका अर्थ यह होता है कि १,००० रुपये का आरम्भिक व्यय अन्त मे १०,००० रुपये के सामूहिक व्यय को उत्पन्न करता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि आरम्भिक आय तथा नई उत्पादित आय के बीच ठीक वही अनुपात रहता है जो बचत और आय के बीच रहता है। जितनी बार आरम्भिक पूंजी-व्यय का विस्तार होगा (उदाहरण मे १० बार) उसे "विनियोग गुणक" (Investment Multiplier) कहा जाता है। यह गुणक हमे यह बताने मे सहायक होता है कि विनियोग की किसी नई क्रिया के फलस्वरूप कितनी नई आय उत्पन्न हुई है।

रोजगार निश्चित करने वाले कारक (Determinants of Employment)—

उपरोक्त विवेचन से पता चलता है कि रोजगार वास्तव मे उपभोग द्वारा अथवा उपभोग की इच्छा द्वारा निश्चित किया जाता है। किन्तु आधुनिक जगत मे उपभोग आय पर निर्भर होता है। ऐसा बहुत ही कम होता है कि कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप मे अपने उत्पादन का उप-

भोग करें। हम में से अधिकांश लोग अपनी उपज को बेचकर आय प्राप्त करते हैं और फिर इस आय से वे वस्तुएँ खरीदते हैं जिन्हें हम उपभोग करना चाहते हैं। इस कारण हमारी वर्तमान आर्थिक प्रणाली में उपभोग का उत्पादन पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता है बल्कि आय के माध्यम से परोक्ष प्रभाव पड़ता है। चूंकि आय का उत्पादन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि रोजगार का निर्धारण आय करती है। अतः रोजगार निश्चित करने वाले कारकों को जानने के लिए उन कारकों को जानना आवश्यक है जो आय को निश्चित करते हैं। आय के निर्धारण का क्रम निम्न प्रकार है :—
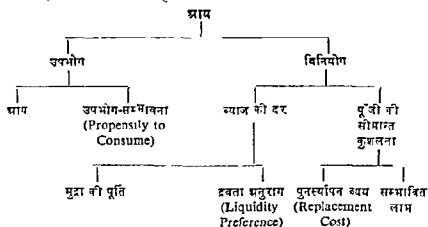
आय को निर्धारित करने वाले तीन महत्त्वपूर्ण कारक हैं :—(१) उपभोग-सम्भावना, (२) ब्याज की दर, और (३) पूँजी की सीमान्त कुशलता। अब हम इन तीनों को थोड़े विस्तार में जानने का प्रयत्न करेंगे।

(१) उपभोग-सम्भावना (Propensity to Consume)—आय और उपभोग-व्यय के सम्बन्ध को 'उपभोग-सम्भावना' कहा जाता है। इस प्रकार उपभोग-सम्भावना एक ऐसी सारणी होती है जो आय के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित उपभोग पर किये जाने वाले व्यय दिखाती है। निम्न तालिका इसे स्पष्ट कर देती है :—

आय	उपभोग पर व्यय
१००	९५
११०	१०३
१२०	११०
१३०	११५

स्पष्ट है कि यदि उपभोग-सम्भावना बढ़ती है, तो आय भी बढ़ जाती है, किन्तु उपभोग-सम्भावना लोगों की आदतों पर निर्भर होती है और आदतें आसानी से नहीं बदली जा सकती हैं। परन्तु एक दूसरी बात ध्यान देने योग्य है—किसी भी व्यक्ति की उपभोग-सम्भावना उसकी आय पर निर्भर होती है जितनी ही आय कम होगी उपभोग-सम्भावना उतनी ही अधिक होगी। इसका अर्थ यह होता है कि यदि आय का धनी व्यक्तियों से निर्धन व्यक्तियों को हस्तान्तरण किया जाय, तो समाज की उपभोग-सम्भावना बढ़ जाती है। इसके अनेक उपाय हो सकते हैं,

जैसे—सरकार द्वारा धनी व्यक्तियों पर कर लगाना और इस प्रकार प्राप्त आय को गरीबों पर व्यय करना तथा गरीबों को आर्थिक सहायता देना।

(२) **पूँजी की सीमान्त कुशलता (Marginal Efficiency of Capital)**—पूँजी की सीमान्त कुशलता का अर्थ यह है कि पूँजी के सीमान्त उपयोग से कितनी आय प्राप्त होती है। यह कुशलता भावी आशाओं पर निर्भर होती है। लोग भविष्य को जितना ही अधिक उज्ज्वल समझेंगे उतनी ही पूँजी की सीमान्त कुशलता अधिक होगी। सरकार अपनी नीतियों द्वारा भावी आशाओं को बढ़ा भी सकती है और घटा भी सकती है। विवेकहीन कर साधारणतया लोगों को निराशावादी बना देता है और इससे पूँजी की सीमान्त कुशलता घट जाती है।

(३) **ब्याज की दर**—ब्याज की दर विनियोगों में महत्वपूर्ण योग देती है। अवसाद के काल में विनियोगों को बढ़ाने के लिए एक अच्छा उपाय यह होता है कि जनता के पास मुद्रा की मात्रा को बढ़ा दिया जाये जिससे कि ब्याज की दरें नीचे गिर जायें और विनियोग लाभदायक हो जाये। किन्तु सामान्य अनुभव यह है कि अवसाद के काल में, जब रोजगार बहुत गिर जाता है तो, ब्याज-दर के परिवर्तनों का विनियोगों पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता।

रोजगार की वृद्धि में सरकारों का योग—

रोजगार में वृद्धि करने का एक उत्तम उपाय यह है कि सरकारी व्यय बढ़ा दिया जाय। सरकारी व्यय की वृद्धि से उपभोग और विनियोग दोनों में वृद्धि की जा सकती है और विनियोग के सम्बन्ध में सरकार के लिए इस बात की चिन्ता करना भी आवश्यक नहीं है कि विनियोग पर कितना लाभ प्राप्त होता है। सरकार अपना व्यय इस प्रकार कर सकती है कि गुणक प्रभाव (Multiplier Effect) अधिकतम हो। बेरोजगारों को आर्थिक सहायता तथा रोजगार देकर सरकार समाज के उन वर्गों के हाथ में क्रय शक्ति पहुँचा सकती है जिनकी उपभोग-सम्भावना बहुत ही अधिक हो। सरकार विनियोगों को भी प्रोत्साहन दे सकती है। सावधानी केवल इस सम्बन्ध में आवश्यक होती है कि सरकारी विनियोग व्यक्तिगत विनियोगों से स्पर्धा करके उन्हें न घटाने पायें अन्यथा सामूहिक विनियोग में वृद्धि नहीं हो पायेगी।

रोजगार या तो उपभोग बढ़ा कर बढ़ाया जा सकता है या विनियोग बढ़ा कर। प्रो० हाबसन (Hobson) का मत है कि अवसाद का कारण यह होता है कि आय में से उपभोग की वस्तुओं पर कम व्यय हो पाता है। इस प्रकार अवसाद का कारण "न्यून उपभोग" (Under Consumption) है और इस कारण रोजगार बढ़ाने के लिए एकमात्र उपाय उपभोग को बढ़ाना है। केन्ज इस विचार से सहमत नहीं हैं। केन्ज का विचार है कि इस समस्या पर उपभोग तथा विनियोग दोनों ही की दिशाओं से आक्रमण होना चाहिये और ऐसा करना असम्भव नहीं है। जब विनियोग को बढ़ाया जा रहा है तो साथ ही साथ उपभोग-सम्भावना को भी बढ़ाना चाहिये। *केन्ज तो यहाँ तक जाते हैं कि पूँजी के स्टॉक को उस समय तक बराबर बढ़ाना चाहिये* जब तक कि उसकी दुर्लभता दूर न हो जाये। इससे महत्त्वपूर्ण सामाजिक लाभ होगा।

केन्ज के रोजगार सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन

आधुनिक आर्थिक विचारधारा पर ग्रहण-प्रभाव—

आधुनिक विचारधारा तथा आर्थिक नीतियों पर केन्ज का प्रभाव अत्यधिक है। हैन्सन (Hansen) ने ठीक ही कहा है कि "केन्ज का प्रभाव उन सभी औपचारिक अन्तर्राष्ट्रीय बैठकों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है जो आर्थिक समस्याओं का हल ढूंढ़ने के लिये बुलाई जाती हैं।"[1] प्रो० नाइट के अनुसार, इस अत्यधिक प्रभाव का कारण यह है कि आर्थिक सिद्धान्त का वास्तविक

---

[1] A. H. Hansen : *New Economics*, p. 143.

महत्त्व सामाजिक क्षेत्र में ही है।[1] संयुक्त राष्ट्र संघ ने अनेक संस्थाओं का निर्माण किया है। इनमें से अधिकांश संस्थायें आर्थिक जीवन की विविध समस्याओं को केन्ज के सिद्धान्त पर सुलझाने का प्रयत्न करती है। इस सम्बन्ध में एक अन्य लेखक का मत है कि "केन्ज का सामान्य सिद्धान्त महान् अवसाद की उपज है। कारण, महान् अवसाद ने ही पूंजीवादी देशों के समक्ष बेरोजगारी की समस्या उग्रतम रूप में प्रस्तुत की जबकि समाजवाद के अन्तर्गत प्रचलित दशायें पूर्णतया भिन्न थीं। चूँकि सामान्य सिद्धान्त ने एक ऐसे सिद्धान्त का निर्माण किया, जो समाजवाद का विकल्प प्रस्तुत करता था, इसलिए संसार के लोगों ने इसे बड़ी उत्सुकता के साथ स्वीकार कर लिया।"[2]

पुराने सिद्धान्तों की भाँति यह भी एक साम्य सिद्धान्त परन्तु दो विचित्रताओं के साथ—

केन्ज के सिद्धान्त के विषय में हम यह कह सकते हैं कि पुराने सिद्धान्तों की भाँति यह भी एक साम्य-सिद्धान्त है परन्तु इसमें दो विचित्रतायें हैं—प्रथम, यह सिद्धान्त इस बात को बताता है कि 'साम्य' रोजगार के किसी भी स्तर पर स्थापित हो सकता है और 'रोजगार का स्तर' सप्रभावित माँग पर निर्भर होता है, और दूसरे, इस सिद्धान्त में ब्याज को मुख्यतया एक मौद्रिक घटना कहा गया है। अपनी पुस्तक के अन्त में केन्ज ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनका सिद्धान्त 'पर्याप्त अंश तक रूढ़िवादी' (Moderately conservative) है। यद्यपि केन्ज विनियोगों के समाजीकरण (Socialisation of investments) की चर्चा करते हैं, तथापि वे तुरन्त ही यह भी कहने लगते हैं कि उनके सिद्धान्त से "राज्य समाजवाद की जिसका कार्य-क्षेत्र सामाजिक जीवन के अधिकांश भाग पर विस्तृत होता है, वांछनीयता सिद्ध नहीं होती है।"[3] इस प्रकार, केन्ज समाजवाद के समर्थक नहीं हैं। वास्तविकता यह है, और, जैसा कि प्रो० हैरिस (Harris) ने भी कहा है, "केन्ज तो यह प्रयत्न करना चाहते हैं कि पूँजीवाद को, इसमें से परोपजीवी तत्वों *(Parasitic elements)* को *निकाल कर जीवित रखा जाय, अर्थात्, अत्यधिक बचतों,* ऊँची ब्याज-दरों, उत्तराधिकारी-अधिकारों तथा वर्तमान की तुलना में भविष्य के प्रति अनुराग आदि तत्वों को।[4] ठीक, इसी प्रकार, **डोब** (Dobb) का विचार है कि केन्ज का उद्देश्य यह था कि "पूंजीवाद के परोपजीवी तत्वों को पूँजीवाद से अलग कर दे, जिससे कि इस प्रणाली का जीवन नष्ट होने से बच जाये।"[5]

पूँजीवाद के आन्तरिक विरोधों पर ध्यान नहीं—

उपरोक्त विवेचना हमें समस्या के मुख्य भाग तक पहुँचाती है। क्या पूँजीवाद के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करना सम्भव है? केन्ज ने पूँजीवाद के आधारभूत आन्तरिक विरोधों पर ध्यान नहीं दिया है। ये अन्तर्विरोध निम्न प्रकार हैं—

(i) पहला अन्तर्विरोध यह है कि बढ़ी हुई उत्पादन-शक्ति तथा लाभदायकता के बीच संघर्ष होता है। (ii) पूँजीवाद के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार-स्तर केवल एक अस्थायी स्थिति *ही होती है। कारण, किसी भी ओर से थोड़ा सा भी दबाव पड़ जाने पर या तो मुद्रा-प्रसार हो* जायेगा या मुद्रा-संकुचन। (iii) पूँजीवाद के अन्तर्गत एकाधिकारों पर नियन्त्रण रखना लगभग

---

1 F. H. Knight : *Realism and Relevance in the Theory of Demand*, Journal of Political Economy, Vol. 24, No. 4 (1944), p. 311.

2 V. B. Singh : *Keynesian Economics*, pp. 178-79.

3 Keynes : *General Theory*, p. 378.

4 Harris : *The New Economics*, p. 544.

5 Article in *Mordern Quarterly*, (1950), Vol. V. No. 2, p. 129.

असम्भव होता है। एकाधिकारी अपने लाभो को बढाने के लिए उपज को घटाने तथा कीमतो को उठाने की नीति ग्रहण करते हैं। इसके फलस्वरूप उत्पादन के विस्तार पर कृत्रिम प्रतिबन्ध लग जाता है। (iv) बिवरीज (Beveridge) ऐसा अनुभव करते है कि पूँजीवाद मे पूर्ण रोजगार की स्थिति मे भी लाखो व्यक्ति बेरोजगार रहते हैं। उनका कहना है कि प्रजातन्त्रीय देशो मे अभी तक बेरोजगारी की अचूक दवा केवल युद्ध के रूप में ही देखी गई है। (v) पीगू का विचार है कि केन्ज के सामान्य सिद्धान्त मे रोजगार के केवल अल्पकालीन उच्चावचनो पर विचार किया गया है। यह सिद्धान्त अन्तिम साम्य की स्थिति का पता नही लगाता है। इस सम्बन्ध मे बिवरीज का भी विचार है कि "इस प्रगतिशील ससार मे केन्ज द्वारा बताई गई अल्पकालीन साम्य-स्थितियाँ वास्तविक जीवन मे किंचित् ही कभी प्राप्त हो सकें।"[1] (vi) केन्ज का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि राज्य न केवल पूँजीपतियो और श्रमिको के परस्पर विरोधी हितों सम्बन्धी सघर्ष मे तटस्थ है बल्कि यह सारे समाज के हित को देखकर ही कार्य करता है। यह स्पष्ट है कि वास्तविक दशायें ऐसी नही होती।

अविकसित देशों के लिए सिद्धान्त की अनुपयुक्तता—

ससार के उन देशो मे भी, जहाँ औद्योगीकरण पर्याप्त उन्नति कर चुका है, केन्जवाद को विशेष सफलता प्राप्त नही हुई है। कम उन्नत देशो मे तो केन्ज के सिद्धान्त को कार्य-आधार बनाना और भी कठिन है क्योकि ऐसे देशो की समस्यायें कृषि और पशुपालन व्यवसायो की प्रधानता, भारी उद्योगो के अभाव, विदेशी पूँजी के प्रभुत्व, अत्यधिक करारोपण तथा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष राजनैतिक दासता के कारण और भी अधिक जटिल होती हैं। वैभवकाल मे भी केन्जवाद इन देशो के लिए पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करने मे असमर्थ रहता है। कम उन्नत देशो मे विनियोग गुणक (Investment multiplier) का प्रभाव केन्ज द्वारा बताये हुए प्रभाव से पूर्णतया भिन्न होता है। "वास्तव मे कम विकसित देशो मे केन्जवाद के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण नही पाया जाता है। यहाँ अनैच्छिक बेरोजगारी के स्थान पर छुपी बेरोजगारी होती है, खाद्य उद्योग नही वरन् जीवन-निर्वाह कृषि होती है, पर्याप्त औद्योगिक पूँजी नही होती वरन् विदेशी शोषक पूँजी की बहुलता होती है।"

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठन ने बेरोजगारी पर जो रिपोर्ट तैयार की है उसमे बताया गया है कि बेरोजगारी को दूर करने के लिए इन देशो को "अपने आर्थिक कलेवर मे परिवर्तन करना होगा, अपनी उत्पादन-विधियो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने होगे और उससे भी अधिक पूँजी निर्माण की शीघ्र पूर्ण वृद्धि के लिए और बढ़ती हुई जनसख्या के निरुत्साहक प्रभाव को दूर करने के लिए पूँजी-निर्माण की गति को बढाना होगा।"[2]

श्रीमती जोन रोबिन्सन का विचार है कि कम विकसित देशो मे छुपी बेरोजगारी के कारण केन्ज का सामान्य सिद्धान्त उन देशो पर लागू नही हो सकता है। कारण, इन देशो मे यदि विनियोग की दर बढाई जाती है, तो उसके फलस्वरूप बचत के स्थान पर उपभोग ही प्रोत्साहित होता है।[3]

---

1 Sir William Beveridge : *Full Employment in a Free Society*, (1944), p 128.

2 "... ...to remove unemployment the countries have to alter their economic structure, to revolutionize their technique of production and above all to achieve a sufficiently rapid increase in capital accumulation to counteract the depressing effect of a rapidly growing population."—The I L O Report on *Action Against Unemployment*, (1950), p. 128.

3 Joan Robinson : *Essays in the Theory of Employment*, p. 86.

इस प्रकार, केन्ज का सिद्धान्त कम विकसित देशों पर लागू नहीं होता है। इस सम्बन्ध में डा० राव ने स्पष्ट कहा है कि "मेरा निष्कर्ष यही है कि कम विकसित देशों में बेरोजगारी तथा उपज की वृद्धि पर गुणक सिद्धान्त लागू नहीं होता है क्योंकि यदि इन देशों में विनियोग की वृद्धि हीनार्थ-प्रबन्ध द्वारा की जाती है, तो इसके फलस्वरूप उपज और रोजगार के स्थान पर कीमतों की स्फीतिक वृद्धि ही प्रोत्साहित होती है।"[1]

अन्य आलोचनाएँ—

केन्ज की पूर्ण रोजगार नीति के विरुद्ध निम्न और भी आलोचनायें की जा सकती हैं:—

(१) केन्ज ने बेरोजगारी के विरुद्ध यह उपचार बताया है कि सरकारी व्यय को बढ़ाया जाये। कुछ लेखकों का विचार है कि इससे अपव्यय प्रोत्साहित होगा।

(२) रौस्टो (Rostow) का विचार है कि केन्ज ने बेरोजगारी का जो निवारण बताया है वह व्यक्तिगत आरम्भ-प्रेरणा (Private initiative) पर इस अंश तक निर्भर है कि अपर्याप्त हो जाता है। "......युद्धोत्तर काल में रोजगार के सम्बन्ध में जो समस्यायें उपस्थित हैं उन्होंने उसकी तुलना में, जिसका केन्ज ने सुझाव दिया है, सरकारी हस्तक्षेप की बहुत अधिक आवश्यकता उत्पन्न की है। इस प्रकार, ऐसी क्रियात्मक बेरोजगारी (Structural unemployment), जो हटने का नाम नहीं लेती है, केवल सप्रभाविक माँग के स्तर में सामान्य वृद्धि करके ही दूर नहीं की जा सकती है।......निवारण हेतु यह आवश्यक है कि न केवल सप्रभाविक माँग का स्तर बल्कि सप्रभाविक माँग की प्रकृति को भी बदला जाये।"[2] कम विकसित देशों के सम्बन्ध में रौस्टो का कहना है कि "जब आवश्यक निपुणतायें उपलब्ध नहीं होती हैं, जब श्रम की गतिशीलता कम होती है, तो सप्रभाविक माँग बढ़ाने के लिए जो उपाय किये जाते हैं वे यदि हानिकारक न भी हों तब भी उनका केवल सीमित उपयोग ही किया जा सकता है।"

(३) केन्ज का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि एकाधिकारों पर, चाहे वे व्यवसायों से सम्बन्धित हों अथवा श्रमिकों से, नियन्त्रण करने की दृष्टि से राज्य पर्याप्त रूप में शक्तिशाली होता है।

(४) केन्ज प्रशुल्क नीति में इतने उलझ गये हैं कि उन्होंने मौद्रिक नीति के, जिसका उपयोग चक्रिक बेरोजगारी (Cyclical unemployment) का सामना करने के लिए भली-भाँति किया जा सकता है, अध्ययन को लगभग भुला दिया है।

पूर्ण रोजगार की स्थापना के हेतु आवश्यक नीति

बुनियादी नीतियों का वर्गीकरण—हैन्सन ने उन आधारभूत नीतियों को, जिनके द्वारा पूर्ण रोजगार प्राप्त किया जा सकता है, निम्न प्रकार वर्णित किया है[3] :—(अ) एक सावधानीपूर्वक चुनी हुई कर-नीति, जिसका उपयोग व्यक्तिगत विनियोगों को बढ़ाने हेतु रियायतें देने के लिए किया जा सकता है। (आ) सुलभ मुद्रा नीति, जिसे केन्द्रीय बैंक विनियोगों की वृद्धि में सहायता देने हेतु अपनाये। (इ) उपभोग के स्तरों में सुधार, जिसके लिए ऐसे उपाय अपनाये जा

---

[1] "My conclusion, therefore, is that the multiplier principle does not operate in regard to the problem of unemployment and increasing output in an under-developed economy, an increment of investment based on deficit financing tending to lead more to an inflationary rise in prices than to an increase in output and employment."—Dr. V. K. R. V. Rao : *Keynesian Economics, A Symposium*, p. 175.

[2] W. W. Rostow : *American Economic Review*, Vol. XIII, No. 2, p. 127.

[3] *Vide* Hansen's : *Economic Policy and Full Employment.*

सकते हैं जैसे कि आय वितरण की विषमताओं मे कमी आदि । **(ई) व्यक्तिगत विनियोगों को प्रोत्साहन देना ।** (उ) ऐसी मजदूरी नीति का अनुकरण, जिससे मौद्रिक मजदूरी के स्तरो मे स्थिरता बनी रहे । **(ऊ) हीनार्थ-प्रबन्धन द्वारा सार्वजनिक विनियोजन की नीति,** जिससे देश मे *कुल व्यय को इतने ऊँचे स्तरों पर रखा जा सके जो कि पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक हैं।* हीनार्थ-प्रबन्धन के कारण मुद्रा-प्रसार उत्पन्न होना अनिवार्य नहीं है । केवल उसी दशा में इससे मुद्रा-प्रसार उत्पन्न होगा जबकि इसकी मात्रा इतनी अधिक हो कि सप्रभाविक माँग के बढ़ने से श्रम और वस्तुओं की सामान्य कमी उत्पन्न हो जाय ।

पिछड़े हुये देशों के लिये पहला कदम—जहाँ तक पिछड़ी हुई व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, इन देशो मे आवश्यक सामाना और पूँजीगत माल की कमी होती है । वहाँ इन कमियो को दूर करना आवश्यक है, जिससे सामानों की पूर्ति इतनी पर्याप्त हो जाय कि समस्त उपलब्ध श्रम-शक्ति का उपयोग हो सके । ऐसे देशों मे पूर्ण रोजगार हेतु पूँजीगत माल की वृद्धि आवश्यक है । इन देशो के लिये आरम्भ मे औद्योगीकरण तथा पुनर्निर्माण की नीति उपयुक्त होगी, जिससे विद्यमान सामानो की मात्रा मे वेगपूर्ण वृद्धि की जा सके ।

सार्वजनिक विनियोगो के लिये वित्त की व्यवस्था कैसे हो ? सार्वजनिक विनियोग ब्याज-रहित अर्थ-प्रबन्धन पर आधारित हो सकता है, जिसके लिये नई मुद्रा के निर्माण द्वारा व्यवस्था की जा सकती है । केन्ज और लर्नर दोनो ने नई मुद्रा के निर्माण द्वारा हीनार्थ-प्रबन्धन का सुझाव दिया है । परन्तु हैन्सन इसे उपयुक्त नहीं समझते है, क्योंकि उनके विचार में इससे मुद्रा-प्रसार का भय उत्पन्न होता है । हैन्सन का विचार है कि सार्वजनिक व्यय-नीति, जिसे उन्होंने 'क्षतिपूरक प्रशुल्क नीति' (Compensatory fiscal policy) कहा है, केवल एक ही उद्देश्य को लेकर नही चलती है । यदि इस नीति को भली-भाँति नियन्त्रित रखा जाये, तो इससे मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकुचन दोनो को रोका जा सकता है ।

बिवरीज के सुझाव—बिवरीज ने पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए निम्न तीन उपाय बताये है—*(i) सार्वजनिक व्यय की वृद्धि, जिसमे, यदि करो की मात्रा मे परिवर्तन नहीं होता है* तो, हीनार्थ-प्रबन्धन होगा; (ii) अधिक व्यय तथा अधिक कर, जिसके फलस्वरूप सरकारी बजट सन्तुलित हो जाते है और (iii) सार्वजनिक व्यय को यथास्थिर रखना तथा करो को घटाना ।

क्रियात्मक वित्त—लर्नर ने पूर्ण रोजगार सम्बन्धी प्रशुल्क नीति को 'क्रियात्मक वित्त' (Functional Finance) का नाम दिया है । इस सम्बन्ध मे उन्होंने देश की अर्थ-व्यवस्था के निर्देशन के लिए निम्न तीन नियम सुझाये है—"(i) सरकार सदा ही अर्थ-व्यवस्था मे कुल व्यय का एक पर्याप्त ऊँचा स्तर कायम रखे । (ii) सरकार ब्याज-दर को उस स्तर पर बनाये रखे जो देश मे अनुकूलतम् दर से विनियोजन को प्रोत्साहन दे । (iii) सहकारी मुद्रालय इन नियमो का लागू करने के लिए आवश्यक मात्रा मे कागज के नोट छापने के लिये तैयार रहे ।"

१६

आर्थिक प्रणालियाँ

(Economic Systems)

प्रारम्भिक—आर्थिक प्रणाली से आशय

आर्थिक प्रणाली से आशय उस वैधानिक एवं संस्थागत ढाँचे का है, जिसके अन्तर्गत आर्थिक क्रियायें (अर्थात् उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण से सम्बन्धित मानवीय क्रियायें) संचालित होती हैं। प्रत्येक देश में सरकार आर्थिक क्रियाओं में कुछ न कुछ सीमा तक हस्तक्षेप करती है और कुछ सामाजिक नियम भी होते हैं। अतः आर्थिक प्रणाली का स्वरूप इनसे भी प्रभावित होता है।

आर्थिक प्रणाली के तीन कार्य हैं :—प्रथमतः, यह निश्चित करती है कि किन वस्तुओं का, कितनी मात्राओं में उत्पादन किया जायेगा। दूसरे, वस्तुयें किस प्रकार (अर्थात् किसके द्वारा, किन साधनों से और किन तकनीकों के प्रयोग द्वारा) उत्पन्न की जायेंगी। तीसरे, किसके लिये वस्तुयें उत्पादन की जायेंगी अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन का लाभ किन लोगों को मिलेगा। ये तीनों कार्य प्रत्येक आर्थिक प्रणाली के लिए बुनियादी होते हैं, केवल इनकी पूर्ति का तरीका विभिन्न आर्थिक प्रणालियों में विभिन्न होता है।

संसार में इस समय दो प्रकार की आर्थिक प्रणालियाँ प्रचलित हैं :—पूँजीवाद (Capitalism) और समाजवाद (Socialism)। समाजवाद के अनेक रूप देखने में आते हैं और ठीक इसी प्रकार पूँजीवाद के भी। वर्तमान संसार का राजनीतिक इतिहास वास्तव में पूँजीवादी और समाजवादी विचारधाराओं के ही संघर्ष का इतिहास है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ये दोनों प्रकार की आर्थिक प्रणालियाँ एक ही साथ संसार में चालू नहीं रह सकती हैं, यद्यपि समाजवादी नेताओं ने विगत वर्षों में यह विश्वास प्रकट किया है कि दोनों प्रणालियाँ शान्तिमय रीति से एक साथ प्रचलित रह सकती हैं, अर्थात् "सह-अस्तित्व" सम्भव है। कुछ विद्वानों का मत है कि पूँजीवाद की अब प्रौढ़ अवस्था है और वह धीरे-धीरे बलहीन होता जा रहा है किन्तु समाजवाद शिशु अवस्था को पार करके युवा अवस्था की ओर अग्रसर है। साधारण अनुभव इसके विपरीत यह बताता है कि कुछ देशों को छोड़कर अधिकांश देशों में पूँजीवाद के विकास का काल अभी तक चालू है। आजकल एक तीसरी आर्थिक प्रणाली का उदय हुआ है, जो पूँजीवाद और समाजवाद दोनों के गुणों का मिश्रण है। इसे 'मिश्रित अर्थ व्यवस्था' (Mixed Economy) कहते हैं।

पूँजीवाद
(Capitalism)

पूँजीवाद से आशय—

पूँजीवाद वह आर्थिक प्रणाली है, जिसमें उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार होता है। यह प्रणाली व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्वीकार करती है और उसकी रक्षा भी करती है। इस प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह है कि कुछ सामाजिक महत्व के प्रतिबन्धों को छोड़कर

व्यक्तिगत सम्पत्ति के उपयोग के सम्बन्ध मे किसी व्यक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया जाता है। वह अपनी सम्पत्ति का मनचाहा उपयोग कर सकता है। पूँजीवाद की प्रमुख परिभाषायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) पीगू—"एक पूँजीवादी उद्योग वह है जिसमे उत्पत्ति के भौतिक साधनो का स्वामित्व निजी व्यक्तियो के पास होता है अथवा इन्हें वह भाडे पर रखते हैं। इन (साधनो) का उपयोग इन्ही व्यक्तियो के आदेशानुसार होता है और उद्देश्य यह होता है कि इनकी सहायता से जो वस्तुयें अथवा सेवाये उत्पन्न हो उन्हें लाभ पर बेचा जाय। 'पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था' अथवा 'पूँजीवादी प्रणाली' वह है जिसके उत्पादक साधनो का प्रमुख भाग पूँजीवादी उद्योगो मे लगा हुआ है।"[1] ऐसी दशा मे एक व्यक्ति स्वभाव से ही अधिकतम् लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से कार्य करता है।

(२) बेनहाम—"पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था आर्थिक तानाशाही की प्रति-विरोधी है। उत्पादन का कोई केन्द्रीय नियोजन नही होता।.........राज्य द्वारा लगाये हुए प्रतिबन्धो को छोडकर प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए लगभग स्वतन्त्र होता है। समाज की आर्थिक क्रियाओ का निर्धारण विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो एव व्यक्ति-समूहो के समन्वय-रहित-निर्णयो द्वारा होता है, क्योकि प्रत्येक उत्पत्ति के साधन का स्वामी (जिसमे दास प्रथा के न होने के कारण श्रमिक भी सम्मिलित होता है) उस साधन को अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग कर सकता है और अपनी आय को मनचाही रीति से व्यय कर सकता है।"[2]

(३) वेब (Webb)—"पूँजीवाद, पूँजीवादी प्रणाली अथवा (यदि हम कहना चाहें तो) पूँजीवादी सभ्यता का अभिप्राय औद्योगिक और वैधानिक संस्थाओ के विकास की उस अवस्था से है, जिसमे अधिकाश कामगर अपने आपको उत्पत्ति के साधनो के स्वामित्व से इस प्रकार वंचित पाते हैं कि उनकी स्थिति ऐसे मजदूरो की हो जाती है जिनका जीवन-निर्वाह, जिनकी सुरक्षा और जिनकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता राष्ट्र के एक छोटे से ही जनसमूह की इच्छा पर निर्भर होती है, अर्थात्, उन लोगो पर, जो अपने वैधानिक स्वामित्व द्वारा भूमि, मशीनरी और

---

1 "A capitalist industry is one in which the material instruments of production are owned or hired by private persons and are operated at their orders with a view to selling at a profit the goods and services that they help to produce. A capitalist economy, or capitalist system, is one the main part of whose productive resources is engaged in capitalist industry."—**A. C Pigou** · *Socialism Versus Capitalism*

2 "A capitalist economy is the antithesis of an economic dictatorship. There is no central planning of production as a whole.......Subject to the limitation imposed by the State, everybody is more or less free to do what he likes. The economic activities of the community are determined by the apparently uncoordinated decisions of a multitude of different persons, since each owner of a factor of production (including workers—who in the absence of a slavery—own their own labour) is free to use it as he pleases, and to dispose of its earnings as he wishes."—**Benham** : *Economics*, p 155.

समाज की श्रम शक्ति के मालिक होते हैं और उनके संगठन पर नियन्त्रण रखते हैं तथा ऐसा करने में उनका उद्देश्य निजी तथा व्यक्तिगत लाभ कमाना होता है।"[1]

दोनों वैब और वेनहम की परिभाषाओं से पता चलता है कि पूँजीवाद में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत पूंजी और इससे प्राप्त आय को अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग करने की स्वतन्त्रता होती है। इस स्वतन्त्रता से सम्बन्धित पूँजीवाद की निम्नांकित तीन विशेषताएँ होती हैं :—

(१) **व्यक्तिगत सम्पत्ति**—व्यक्तिगत सम्पत्ति (Personal property) का अर्थ यह होता है कि सम्पत्ति-स्वामी, राज्य के नियमों का पालन करते हुए सम्पत्ति को किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है अथवा दूसरों को उपयोग करने के लिए किराये पर दे सकता है। यही नहीं, उसे एक प्रकार की सम्पत्ति को किसी दूसरे प्रकार की सम्पत्ति में बदल लेने की भी स्वतन्त्रता होती है।

(२) **व्यावसायिक स्वतन्त्रता**—व्यावसायिक स्वतन्त्रता (Freedom of enterprise) का अभिप्राय यह होता है कि राज्य के नियमों का उल्लंघन न करते हुए एक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी व्यवसाय चुनने के लिये पूर्णतः स्वतन्त्र है। वह अपने वर्तमान व्यवसाय को बन्द करके नया व्यवसाय खोल सकता है, अपनी सेवायें किसी भी सेवायोजक को बेच सकता है और यदि चाहे तो बेकार भी रह सकता है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि ऐसी स्वतन्त्रता अनेक कारणों से सीमित होती है। पूँजी की कमी, निपुणता, योग्यता और व्यवसाय में रोजगार की स्थिति भी व्यावसायिक स्वतन्त्रता की सीमाएँ निश्चित करती हैं, परन्तु इन सीमाओं के भीतर प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण व्यावसायिक स्वतन्त्रता होती है।

(३) **उपभोक्ता के लिए चुनाव की स्वतन्त्रता**—उपभोक्ता की चुनाव की स्वतन्त्रता (Freedom of choice) से अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को, राज्य के नियमों का पालन करते हुए, अपनी आय किसी भी प्रकार से व्यय करने की स्वतन्त्रता होती है। उसे यह भी स्वतन्त्रता होती है कि आय के भाग को बचा ले तथा उसका विनियोग अधिक प्राप्त करने के लिए करे। परन्तु यहाँ भी आय की मात्रा उपभोक्ता के चुनाव को सीमित कर देती है यद्यपि ऐसी सीमाओं के भीतर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते हैं।

पूँजीवाद की आधारभूत आर्थिक विशेषताएँ—

पूँजीवाद की परिभाषा से ही उसकी कुछ विशेषताओं का पता चल जाता है। प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

---

[1] "By the term capitalism or the capitalist system or as we prefer the 'capitalist civilization' we mean the particular stage in the development of industry and legal institutions in which the bulk of the workers find themselves divorced from the ownership of the intstruments of production in such a way as to pass in to the position of wage earners whose subsistence security and personal freedom seem dependent on the will of a relatively small proportion of the nation, namely those who own and through their legal ownership, control the organisation of the land, the machinery and the labour force of community and do so with the object of making for themselves individual and private gains."—Sidney and Beatrice Webb

(१) व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property)—पूँजीवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकारी प्रणाली है। प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति जमा करने तथा अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग करने की स्वतन्त्रता होती है। वह इस सम्पत्ति को और आगे उत्पत्तिकरने और अधिक आय प्राप्त करने का साधन बना सकता है, जिस कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति स्वय अपने विस्तार मे सहायक होती है। यह व्यक्तिगत सम्पत्ति एक व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी को पहुँच जाती है जो इसे और बढा सकता है। इस प्रणाली का परिणाम यह होता है कि देश मे आय अथवा धन के वितरण मे घोर असमानताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। पूँजीवादी प्रणाली की प्रवृत्ति अमीरो को और अमीर तथा गरीबो को और भी गरीब बनाने की है।

(२) स्वार्थी नीति (Self-interest)—व्यक्तिगत सम्पत्ति प्रणाली का ही एक परिणाम यह होता है कि उत्पत्ति के साधन व्यक्तिगत स्वामियो के अधिकार मे होते हैं, जो उन्हें अपने लाभ के लिए ही उपयोग करते है। भूमि और पूँजी व्यक्तिगत लोगों के हाथो मे होती है, जो समाज के हितों पर ध्यान दिये बिना केवल अपने स्वार्थों को ध्यान मे रखकर उत्पादन कार्यो को चलाते हैं और कुल उत्पादन का अधिकाश भाग अपने लिए ही रख लेते हैं। इस प्रकार, जन-साधारण (विशेषतया श्रमिक) को उत्पत्ति मे से उचित हिस्सा नही मिल पाता और उनका शोषण होता है। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली व्यक्तिगत उत्पादकों (पूँजीपतियों) के लाभ के लिए चलती है, सार्वजनिक लाभ के लिए नही। यह समाज और श्रमिकों का तो अहित करती है।

(३) वर्ग संघर्ष (Class Conflict)—पूँजीवादी प्रणाली की तीसरी विशेषता वर्ग संघर्ष है, जो इसलिए पूँजीपति और श्रमिक अथवा जन-साधारण के हितो मे अनुरूपता न होने के कारण उत्पन्न होती है। दोनो के हित साधारणतया एक-दूसरे के प्रति-विरोधी होते हैं। इस प्रणाली मे समाज दो स्पष्ट भागो मे विभाजित हो जाता है —(i) पूँजीपति और (ii) श्रमिक। पूँजीपति के पास उत्पत्ति के साधन होते हैं और वह रोजगार पर अधिकार रखता है। श्रमिक को अपना श्रम बेचने पर बाध्य होना पडता है। पूंजीपति का हित इसमे है कि वह श्रमिक का अधिक से अधिक शोषण करके अपने लाभों को बढाये, जबकि श्रमिक का हित इसमे होना है कि पूँजीपति द्वारा किये हुए शोषण को कम करके अपनी मजदूरी बढवाये और अच्छी कार्य दशाएँ प्राप्त करे। दोनो वर्गों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष बहुधा औद्योगिक विवादो तथा हडतालो और तालाबन्दियो के रूप मे दृष्टिगोचर होता है।

(४) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom)—आर्थिक स्वतन्त्रता मे तीन प्रकार की स्वतन्त्रतायें सम्मिलित हैं—(अ) व्यावसायिक स्वतन्त्रता (Freedom of Enterprise) (ब) प्रसंविदा करने की स्वतन्त्रता (Freedom of Contract), और (स) चुनाव की स्वतन्त्रता (Freedom of Choice)। इन तीनो प्रकार की स्वतन्त्रताओ का विश्लेषण पूँजीवाद की परिभाषा के सम्बन्ध मे किया जा चुका है। इन स्वतन्त्रताओं पर कुछ प्रकार के प्रतिबन्ध होते हैं, परन्तु इन प्रतिबन्धो के भीतर सभी व्यक्तियों को व्यवसाय चुनने, दूसरे से आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने और अपनी आय को इच्छानुसार व्यय करने का पूरा अधिकार होता है।

विगत वर्षों मे राज्य द्वारा इस सम्बन्ध मे अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये है, परन्तु फिर भी पूँजीवाद की सामान्य प्रवृत्ति इन स्वतन्त्रताओ को बनाये रखना ही होती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो इस प्रकार की स्वतन्त्रता सभी को होती है, परन्तु व्यावहारिक जीवन मे स्वतन्त्रता केवल पूँजीपति को ही होती है। श्रमिक और जन-साधारण के पास साधन सीमित ही होते हैं और उन्ही के अनुपात मे उनकी स्वतन्त्रता भी सीमित होती है।

(५) लाभ उद्देश्य (Profit Motive)—पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली लाभ उद्देश्य

योगिता मिलती है। यह प्रतियोगिता उत्पादकों अथवा विक्रेताओं के बीच पाई जाती है और ग्राहकों अथवा उपभोक्ताओं के बीच भी। साथ ही साथ संघबन्दी द्वारा प्रतियोगिता को कम करने का भी प्रयत्न किया जाता है। विक्रेता आपस में संघबन्दी करके प्रतियोगिता को सीमित करने का प्रयत्न करते हैं। श्रम संघों की स्थापना करके श्रमिक भी आपसी प्रतियोगिता को कम करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में संघबन्दी और प्रतियोगिता दोनों साथ-साथ चलती रहती है।

(६) नाशवान प्रकृति (Destructive Nature)—पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली स्वयं ही अपने विनाश की दशायें उत्पन्न करती है। इस प्रणाली में ऐसा दुर्गुण है जिसके फलस्वरूप यह अन्त में स्वयं अपनी जड़ें खोदती है। जैसे-जैसे पूँजीवाद का विकास होता जाता है, छोटे छोटे उत्पादक बड़े उत्पादकों की प्रतियोगिता के कारण बाजार से भागते जाते हैं। इस प्रकार पूँजीपतियों की संख्या घटती जाती है किन्तु श्रमिकों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है। आर्थिक आवश्यकता और पूँजीपति का शोषण भी श्रमिकों को संगठित करने के लिए बाध्य करते हैं। वैसे भी इस उत्पादन प्रणाली में भारी संख्या में श्रमिक औद्योगिक केन्द्रों पर एकत्रित हो जाते हैं और धीरे-धीरे पूँजीपतियों की तुलना में श्रमिकों की संगठित शक्ति बढ़ती जाती है। अन्त में वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) में श्रमिकों की विजय होती है। इस दृष्टिकोण से पूँजीवाद का अन्त निश्चय है। समाजवादियों का नारा कि "संसार के श्रमिकों आपस में मिल जाओ, तुम्हारे पास खोने के लिये अपनी दासता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है,[1] वास्तव में सार्थक है।

पूँजीवाद के गुण या इसकी सफलतायें—

लम्बे काल से पूँजीवाद ने संसार की सेवा की है और संसार के अधिकांश देशों में यह आर्थिक प्रणाली अभी तक भी लाभदायक कार्य कर रही है। पूँजीवाद की सफलता की सूची लम्बी है और पूँजीवाद के बड़े आलोचकों ने भी इसकी महान् देन को स्वीकार किया है। इसकी प्रमुख सफलतायें निम्न प्रकार हैं —

(१) उत्पादन में वृद्धि—पूँजीवाद के समर्थकों का कहना है कि इस प्रणाली ने वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति में गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों ही दृष्टिकोणों से वृद्धि की है। लाभ के लोभ में पूँजीपति ने अनेक प्रकार की जोखिम उठाई है और उत्पत्ति के नये-नये क्षेत्रों की खोज की है। वर्तमान युग में वस्तुओं और सेवाओं की विविधता और प्रचुरता का प्रमुख श्रेय पूँजीवाद को ही है। इस प्रणाली ने समाज के जीवन-स्तर और सन्तोष स्तर को भी निरन्तर ऊपर उठाया है और मानव जीवन की सम्पन्नता बढ़ाई है।

[इस सम्बन्ध में हम केवल इतना कह सकते हैं कि पूँजीवाद के ऋण से कोई इन्कार नहीं है; परन्तु निश्चित यदि पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद होता, तो मानव जीवन की सम्पन्नता और अधिक हो जाती। पूँजीवाद ने तो धन के वितरण में असमानता लाकर जीवन-स्तर की समान्य उन्नति में बाधा डाली है।]

(२) साधनों का मितव्ययी उपयोग—कहा जाता है कि पूँजीवाद उत्पत्ति के साधनों का अत्यधिक मितव्ययितापूर्ण उपयोग करता है और सभी प्रकार के अपव्यय को समाप्त कर देता है। लाभ को अधिकतम् करने के लिए पूँजीपति प्रत्येक साधन का सबसे उपयुक्त रीति से उपयोग करता है। इससे उत्पादक, समाज और राष्ट्र को लाभ होता है।

[इस सम्बन्ध में भी हम ऐसा कह सकते हैं कि यथार्थ में पूँजीवाद में राष्ट्रीय साधनों का पर्याप्त अपव्यय होता है। व्यक्तिगत उत्पादक अपने लाभ के लोभ में सामाजिक अथवा

[1] 'Workers of the world unite; you have nothing to lose but your chains."

राष्ट्रीय हितों पर ध्यान नहीं देता। कुछ साधनों का तो केवल इसी कारण उपयोग नहीं हो पाता है कि उनके उपयोग से उत्पादक को यथेष्ठ लाभ नहीं मिलता।]

(३) **योग्यतम् की विजय**—पूँजीवाद योग्यतम् जीवन के सिद्धान्त पर चलता है। अधिकतम् पारितोषण सबसे योग्य, सबसे अधिक जोखिम उठाने वाले तथा सबसे अधिक परिश्रमी साहसी को ही मिलता है। न्यायशीलता इसी में है कि सबसे योग्य व्यक्ति को ही अधिक से अधिक लाभ हो।

[इस सम्बन्ध में भी हम यह कह सकते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकार प्रणाली के फलस्वरूप पूँजीवाद योग्य लोगों को आगे बढ़ने का अवसर नहीं देता, बल्कि वही लोग आगे बढ़ते हैं, जिनके पास पहले से ही विशाल आर्थिक साधन मौजूद होते हैं।]

(४) **आर्थिक स्वतन्त्रता**—पूँजीवाद का सबसे बड़ा महत्वपूर्ण गुण यह है कि इसमें आर्थिक स्वतन्त्रता अधिक रहती है। इसमें उपभोक्ता की स्थिति तो सर्वशक्तिमान है वही यह निश्चित करता है कि उत्पादन कैसा होगा। इसी प्रकार, उपभोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार उपभोग करता है और पूँजीपति उत्पादक को उपभोक्ता की माँग के अनुसार ही उत्पादन करना पड़ता है। सभी व्यक्तियों को व्यवसाय चुनने की भी पूरी-पूरी स्वतन्त्रता होती है।

[वास्तविकता यह है कि पूँजीवाद में स्वतन्त्रता उतनी अधिक नहीं होती जितनी कि इसके प्रशंसक समझते हैं। प्रभावशाली विज्ञापन द्वारा पूँजीपति माँग को बहुत बड़े अंश तक प्रभावित कर सकता है। एकाधिकार रखने वाले पूँजीपति के सम्मुख तो उपभोक्ता लाचार होते हैं। व्यावसायिक स्वतन्त्रता भी केवल सैद्धान्तिक है, क्योंकि व्यवसायों और रोजगारों का निर्माण पूँजीपति अपने लाभ को ध्यान में रख कर करता है।]

(५) **व्यक्तिगत रुचि**—पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली को व्यक्तिगत रुचि, उत्तरदायित्व और हित के लाभ प्राप्त होते हैं। व्यवसाय पर साहसी का नियन्त्रण होने के कारण उसका संचालन बड़ी बुद्धिमानी और बड़ी जिम्मेदारी के साथ होता है, जिससे उसकी कुशलता बढ़ती है।

[यह निस्सन्देह इस उत्पादन प्रणाली का महत्वपूर्ण गुण है, परन्तु समाजवादी देशों का अनुभव हमें बताता है कि वहाँ भी कुशलता का अंश कम नहीं होता।]

(६) **लोच का गुण**—पूँजीवाद में परिस्थितियों का सामना करने और उनके अनुसार अपनी उत्पादन विधियों, प्रबन्ध और कार्य प्रणाली बदलने का भारी गुण होता है। इसने भारी संकटों का सामना किया है, परन्तु लगभग सदा ही यह विजयी रहा है। वास्तविकता यह है कि अपनी इस प्रगतिशील प्रकृति के कारण ही पूँजीवाद जीवित रहने और बराबर उन्नति करने में सफल रहा है।

[परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रत्येक संकट ने पूँजीवाद की कमर तोड़ी है। राज्य द्वारा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप बराबर बढ़ते जा रहे हैं, जिससे यही पता चलता है, कि पूँजीवाद बिना बाहरी रक्षा के जीवित रहने योग्य नहीं है।]

पूँजीवाद के दोष—

पूँजीवाद के दोष भी गम्भीर हैं। इसकी स्थापना के काल से लेकर अब तक बराबर ही पूँजीवाद की आलोचनायें हुई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पूँजीवाद में विकास के साथ-साथ उसके दोष अधिक स्पष्ट और अधिक गम्भीर रूप धारण करते चले जा रहे हैं। समाजवादी लेखक आरम्भ से ही यह चेतावनी देते आये हैं कि समय के साथ-साथ पूँजीवाद के दोष बढ़ते ही जायेंगे। वर्तमान युग में आर्थिक संकटों ने बड़ा ही गम्भीर, व्यापक और क्रूर रूप धारण

कर लिया है। व्यापारिक तेजी और मन्दी तथा उनसे सम्बन्धित कष्टों से आज का समार भली-भाँति परिचित है। इस प्रणाली ने सामाजिक और आर्थिक कलह उत्पन्न करके विश्व युद्धों को उत्पन्न किया है। जनसाधारण के कष्ट और उनकी दरिद्रता इतनी बढ़ गई है कि पूँजीवाद के विरुद्ध एक आन्दोलन सा खड़ा हो गया है। प्रणाली के आलोचकों की संख्या बढ़ती जा रही है और कुछ देशों में तो क्रान्ति द्वारा इसे समाप्त भी कर दिया गया है। आज का ससार तेजी के साथ समाजवाद की ओर जा रहा है। इसके प्रमुख दोष निम्न प्रकार है :—

(१) आर्थिक संकट—पूँजीवाद आर्थिक सकटों को जन्म देता है। इस प्रणाली मे राष्ट्रीय उत्पादन और राष्ट्रीय आवश्यकता के बीच किसी भी प्रकार का समायोजन नहीं होता। उत्पत्ति लाभ को ध्यान मे रखकर की जाती है, न कि राष्ट्रीय आवश्यकता को ध्यान में रखकर। परिणाम यह होता है कि राष्ट्रीय आवश्यकता से उत्पत्ति कम भी हो सकती है और अधिक भी। अति-उत्पादन और न्यून-उत्पादन के कारण व्यापार-चक्र और उनमें सम्बन्धित आर्थिक सकट उत्पन्न होते हैं। और आर्थिक जीवन कष्टमय होता जाता है। जैसे-जैसे पूँजीवाद की प्रगति बढ़ती जाती है, व्यापार चक्रों की क्रूरता बढ़ती जाती है। लगभग सभी पूँजीवादी देश इनसे व्याकुल हैं और प्रयत्न करने पर भी इनको दूर करने मे सफल नहीं हो पाये हैं। आर्थिक सकट पूँजीवाद की प्रकृति मे सम्मिलित है। लार्ड केन्ज (Lord Keynes) ने भी स्वीकार किया है कि अत्यधिक प्रयत्न के द्वारा भी पूँजीवाद मे व्यापार चक्रों की क्रूरता केवल कम की जा सकती है, समाप्त नही।

(२) वर्ग-संघर्ष—पूँजीवाद वर्ग सघर्ष को उत्पन्न करता है और जैसे जैसे पूँजीवाद का विकास होता जाता है, वर्ग-युद्ध (Class-war) का भी विकास होता जाता है। यह प्रणाली समाज को दो प्रति-विरोधी वर्गों में बाँट देती है—पूँजीपति और श्रमिक, अथवा धनवान और निर्धन (Haves and havenots)। इससे सामाजिक और आर्थिक जीवन दूषित हो जाता है। धनी लोग बराबर और अधिक धनवान होते जाते हैं अथवा निर्धन और भी अधिक निर्धन।

(३) अपव्ययी प्रकृति—पूँजीवाद का भारी दोष अपव्यय है। प्रतियोगिता जोकि पूँजीवाद की एक प्रमुख विशेषता है, भारी अपव्यय का कारण होती है। प्रत्येक उत्पादक को विज्ञापन तथा विक्री व्यय के रूप मे अधिक व्यय करना पड़ता है। जिसका उद्देश्य प्रतिद्वन्द्वियों को बाजार मे समाप्त करना होता है। इस प्रकार का सारा व्यय अपव्यय ही होता है। यही नहीं, असफल प्रतियोगियों का लगाया हुआ धन, और शक्ति साधन बेकार हो जाते हैं। राष्ट्रीय साधनों का भी अपव्यय होता है।

(४) वास्तविक स्वतन्त्रता का अभाव—पूँजीवाद मे आर्थिक स्वतन्त्रता केवल सैद्धान्तिक है और समाज एव उत्पादकों के हितों की अनुरूपता भी केवल कोरी कल्पना होती है। पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव, उत्पादकों द्वारा विज्ञापन और उनकी धोखेबाजी तथा उपभोक्ताओं की अज्ञानता व शक्तिहीनता सभी मिलकर उपभोक्ता को पूँजीपति का दास बना देते हैं। व्यावसायिक स्वतन्त्रता केवल दिखावटी होती है। रोजगार का रूप पूँजीपति ही निश्चित करता है। पूँजीवाद मे तो व्यक्ति को केवल भूखा या बिना औषधि के मरने अथवा बेकार रहने की स्वतन्त्रता रहती है।

(५) शोषण पर आधारित—पूँजीवाद श्रमिकों और उपभोक्ताओं के शोषण पर आधारित है। श्रमिकों के लिए, जो धन के वास्तविक उत्पादक होते हैं, किसी भी प्रकार की सुरक्षा नहीं होती। उनको रोजगार छूटने का भय बराबर बना रहता है। लगभग सभी पूँजीवादी देशों मे राज्य प्रेरणा द्वारा सचालित सामाजिक सुरक्षा योजनायें इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि पूँजीवाद मे सामाजिक सुरक्षा का भारी अभाव रहता है।

(६) **कुशलता कल्पित होती है**—पूँजीवाद मे उत्पादन सम्बन्धी कुशलता भी भ्रमात्मक होती है। सन्देह नही कि व्यक्तिगत उत्पादन इकाइयों मे उत्पादन व्यय-स्तर साधारणतया नीचा होता है, परन्तु *नीचे उत्पादन व्यय का कारण पूँजीवाद की कुशलता नहीं है,* बल्कि समाज विशेषत श्रमिको का शोषण होता है। पूँजीवाद उत्पादन प्रणाली मे मजदूरी और कार्य की दशायें समाजवादी उत्पादन प्रणाली से बहुत नीची होती हैं। इसके अतिरिक्त, पूँजीवाद मे *मौद्रिक उत्पादन व्यय तो नीचा हो सकता है,* परन्तु *सामाजिक व्यय (Social Cost) बहुत ऊँचा* होता है। समाज अथवा राज्य को स्वास्थ्य, मनोरंजन, सामाजिक सुरक्षा और नैतिक तथा सांस्कृतिक उत्थान के लिए बहुत व्यय करना पड़ता है। शायद हम यह कह सकते है कि *सभी प्रकार के व्यय को जोड़कर समाजवादी उत्पादन-व्यय पूँजीवाद से नीचा ही रहता है।*

(७) **व्यक्तिगत सम्पत्ति का दोष**—पूँजीवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकारी अधिकारो की रक्षा करता है। प्रौदो (Proudon) ने ठीक ही कहा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति एक प्रकार की चोरी है, जो समाज को धोखा देकर अथवा उसका शोषण करके उत्पन्न की जाती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकारी नियमों ने योग्यतम् जीवन के सिद्धान्त को तोड़ दिया है। इस प्रणाली मे मनुष्य को केवल एक वस्तु की भाँति समझा जाता है उसे उसकी वास्तविक स्थिति के अनुसार आदर नही मिल पाता है।

(८) **धन के वितरण की असमानतायें**—पूँजीवाद धन और आय के वितरण की असमानताओं को बढ़ाता है। इस प्रणाली मे धनिकों का धन और निर्धनों की दरिद्रता दोनों बराबर बढ़ते रहते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम धन के वितरण की इस असमानता को और बढ़ा भी देते हैं। आय के वितरण की इस असमानता के गम्भीर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिणाम होते हैं। इसके फलस्वरूप आर्थिक कल्याण मे कमी आती है, सामाजिक जीवन मे कलह पैदा होती है और राजनैनिक जीवन मे भ्रष्टाचार फैलता है।

(९) **सामाजिक विषाद**—पूँजीवाद मे सामाजिक जीवन विषाद और विरोधो से भरा रहता है। इसमे प्रचुरता और दरिद्रता, विलास और भुखमरी, शासन और दासता, दुर्लभता और बेकारी साथ ही साथ देखने को मिलते हैं।

(१०) **साधनों की बेकारी**—पूँजीवाद मे देश के साधनों का विकास उचित दिशाओं तथा उचित अंश तक नही हो पाता है। भले ही कुछ उद्योग सामाजिक दृष्टि से बहुत ही आवश्यक हो, यदि उनमे लाभ पर्याप्त नही है, तो उनका कभी भी विकास नही हो पायेगा।

(११) **स्त्रियों और बालकों का शोषण**—पूँजीवाद मे स्त्री और बच्चों का शोषण होता है, वृद्ध, बीमार और बेरोजगार की ओर ध्यान नही दिया जाता और मनुष्य केवल धनोत्पत्ति का उद्देश्य बना कर कार्य करता है।

पूँजीवाद का भविष्य—

वर्तमान काल मे पूँजीवाद के दोष इतने बढ़ गये हैं कि कई देशों से तो इसका अन्त हो चुका है। यहाँ तक हुआ कि पूँजीवाद के प्रबल गढ़ अमेरिका मे भी इसमे अनेक परिवर्तन हो गये हैं। आज विशुद्ध रूप मे पूँजीवाद किसी भी देश मे देखने को नही मिलता। अतः यह प्रश्न कि पूँजीवाद का भविष्य क्या है ठीक नही है। विशुद्ध रूप मे पूँजीवाद का कोई भविष्य नहीं है। इसमे अनेक देशों मे बुनियादी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था को सरकार द्वारा नियमित किया जाने लगा है धन और आय के वितरण की विषमताओं को प्रगतिशील करों द्वारा दूर किया जा रहा है, एकाधिकारो पर नियन्त्रण के लिए कानून बनाये गये है, व्यापार चक्रों के निवारणार्थ प्रशुल्क और मौद्रिक नीति का प्रयोग किया जाता है एवं श्रमिकों के विरोध को कम करने हेतु लाभ-भागिता, बोनस योजना, प्रबन्ध मे साझेदारी

आदि स्कीमें प्रचलित की गई है। संक्षेप में, पूँजीवाद मिश्रित अर्थव्यवस्था के बहुत निकट पहुँच गया है और इस रूप में उसका भविष्य उज्ज्वल है।

समाजवाद
(Socialism)

वास्तविक जीवन में समाजवाद के नाम से वर्तमान युग में सभी परिचित हैं। हम सभी, बिना यह जाने के समाजवाद क्या है, समाजवादी बनने का दावा करते रहते हैं। कठिनाई यह है कि समाजवाद के अनेक रूप हैं, इन रूपों में भारी अन्तर हैं और कुछ के दृष्टिकोण तो एक-दूसरे के प्रति विरोधी प्रतीत होते हैं। जोड (Joad) के इस वाक्य में पर्याप्त सत्यता है कि "समाजवाद एक ऐसी टोपी है, जिसका रूप इसीलिये बिगड़ गया है कि सभी ने उसे पहनना प्रारम्भ कर दिया है।"[1] श्रम संघवाद (Trade Unionism) से लेकर साम्यवाद तक समाजवाद के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ लोग तो ऐसा भी समझते हैं कि समाजवाद केवल एक भावना है, जो प्रत्येक हृदय में आवश्यक रूप में उत्पन्न होती है और अन्त में आयु के बढ़ने और समझ आ जाने के पश्चात् समाप्त हो जाती है।[2]

समाजवाद की परिभाषा सम्बन्धी कठिनाई—

समाजवाद के निश्चित अर्थ से सम्बन्धित कठिनाई के विषय में शाडवेल (Shadwell) ने कहा है—"यह (समाजवाद) सैद्धान्तिक और रचनात्मक, भौतिक और अभौतिक, विचारात्मक, अति प्राचीन और बहुत ही आधुनिक दोनों एक ही साथ है। इसका विस्तार एक कोरी भावना से लेकर एक ठोस रचनात्मक कार्यक्रम तक है। इसके विभिन्न समर्थक इसे एक जीवन दर्शन, एक प्रकार का धर्म, एक नैतिक नियम, एक आर्थिक प्रणाली, एक ऐतिहासिक पद्धति और एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह एक लोकप्रिय आन्दोलन तथा एक वैज्ञानिक विवेचन है। यह भूतकाल की एक टिप्पणी और भविष्य का एक दिग्दर्शन है। यह युद्ध का नारा है और युद्ध को रोकना चाहता है। यह एक हिंसात्मक क्रान्ति है तथा रक्तहीन क्रान्ति भी। यह प्रेम और सत्यता का महा-ग्रन्थ और घृणा तथा लालच के विरुद्ध आन्दोलन है। यह मनुष्य की भावी आशा है और सभ्यता का अन्त भी, यह एक अति प्रावर्पक भविष्य का प्रारम्भ है और भयपूर्ण संकट की चेतावनी भी।"[3]

---

[1] "Socialism, in short is a hat which has lost its shape because everybody wears it."—C E M Joad: *Modern Political Theory* (1953), p 40.

[2] "If one is not a socialist upto the age of twenty five, it shows that he has no heart, but if one continues to be a socialist after the age of 25 it shows that he has no head"—Remark of a Swedish King quoted by K. K. Dewett in *Modern Economic Theory* p 613

[3] "It is both abstract and concrete, theoretical and practical, idealist and materialist, very old and entirely modern, it ranges from a mere sentiment to a precise programme of action, different advocates present it as a philosophy of life, a sort of religion, an ethical code, an economic system, a historical category, a juridical principle, it is a popular movement and a scientific analysis, an interpretation of the past, a vision of the future, a war cry and a negation of war, a violent revolution and a gentle revolution, a gospel of love and altruism and a compaign of hate and greed, the hope of mankind and the end of civilization, the dawn of the millennium and a rightful catastrophe"—Shadwell.

प्रारम्भ में इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि समाजवाद एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है, जिसमें *उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व और नियन्त्रण के बजाय सारे समाज का स्वामित्व और नियन्त्रण* होता है।[1] साधारणतया यह सामाजिक स्वामित्व और नियन्त्रण राज्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार समाजवाद में उत्पत्ति के साधनों पर राज्य का सामूहिक रूप में अधिकार होता है और राज्य उनसे पूरे समाज के लिए अधिकतम् लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। परिणाम यह होता है कि "मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण" नहीं होने पाता है।

कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषायें—

(१) डा० तुगन बारानोवस्की (Tugan Baranowsky)—"समाजवाद का सार यह है कि इसके अन्तर्गत समाज के किसी व्यक्ति का शोषण नहीं हो सकता। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था लाभ की प्रेरणा के आधार पर चल रही है, परन्तु समाजवाद के अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्था का उद्देश्य अधिकतम् कल्याण प्राप्त करना है।......इसमें वस्तुओं का उत्पादन समाज के लिए इनकी उपयोगिता के आधार पर होता है।"[2]

(२) वैब्स (Webbs) ने एक समाजवादी उद्योग की परिभाषा इस प्रकार की है—"एक समाजवादी उद्योग (Socialised Industry) वह है जिसमें उत्पत्ति के राष्ट्रीय साधनों पर सार्वजनिक सत्ता अथवा ऐच्छिक संघों का स्वामित्व होता है और जिसका संचालन दूसरे व्यक्तियों को उपज बेचकर लाभ कमाने के लिए नहीं होता, बल्कि उन व्यक्तियों की प्रत्यक्ष सेवा के लिए होता है जिनका प्रतिनिधित्व उस सत्ता अथवा संघों द्वारा किया जाता है।"[3] समाजवाद की यह परिभाषा बहुत समय तक लोकप्रिय रही, परन्तु आधुनिक विचार के अनुकूल नहीं है क्योंकि एक ओर तो वह बहुत विस्तृत है और सहकारी उपभोक्ता भण्डार भी इसके भीतर आ जाते हैं और दूसरी ओर यह आर्थिक नियोजन का संकेत नहीं करती है, जो वर्तमान समाजवाद का एक *आवश्यक लक्षण है।*

(३) डिकिन्सन की परिभाषा इससे अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। उनके अनुसार, "समाजवाद समाज का ऐसा आर्थिक संगठन है, जिसमें उत्पत्ति के भौतिक साधनों पर सारे समाज का स्वामित्व होता है और उनका संचालन ऐसी संस्थाओं द्वारा एक *निश्चित योजनानुसार* के अनुसार किया जाता है, जोकि सारे समाज का प्रतिनिधित्व करती है और सारे

---

1 "The only essential feature in socialisation is *that industries and services* with the instruments of production which they require should not be owned by individuals and that industrial and social administration should not be organised for the purpose of obtaining private profit"—Webbs

2 "*The essence of socialism lies in the absence of exploitation of any individual* in the society. The present economic system is based on the profit motive. But under socialism it aims at the maximum welfare of all ......The production of commodities is on the basis of their utility to the community."—Tugan Baranowsky.

3 "A socialised industry is one in which the national instruments of production are owned by *public authority or voluntary associations* and operated not with a view to profiting by sale to other people, but for the direct service of those whom the authority or association represents"
—Webbs

समाज के प्रति उत्तरदायी होती है। समाज के सभी सदस्य समान अधिकारों के आधार पर ऐसे समाजीकृत आयोजित उत्पादन के सुफल मे भाग पाने के अधिकारी होते हैं।"[1]

(४) इससे भी अच्छी परिभाषा लुउकस् और हूट (Louks and Hoot) ने की है, क्योंकि उनकी परिभाषा मे समाजवाद की सभी विशेषतायें स्पष्ट रूप मे दिखलाई गई हैं। इन विद्वानों के अनुसार, "समाजवाद वह आन्दोलन है, जिसका उद्देश्य सभी प्रकार की प्राकृतिक और मनुष्यकृत उत्पादक वस्तुओं का, जो कि बड़े पैमाने के उत्पादन मे उपयोग की जाती हैं, स्वामित्व और प्रबन्ध व्यक्तियो को नही, बल्कि सारे समाज के हाथ मे देना होता है, जिससे व्यक्ति के आर्थिक उत्साह, उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता तथा उपभोग के चुनाव मे कोई विशेष हानि हुए बिना ही, बढी हुई राष्ट्रीय आय अधिक समानतापूर्वक वितरित हो सके।"[2]

(५) मोरिस (Morris) के अनुसार, समाजवाद की प्रमुख विशेषतायें ये हैं कि "सभी बड़े उद्योगो और सभी भूमियो पर सार्वजनिक अथवा सामूहिक स्वामित्व होना चाहिए और उनका उपयोग व्यक्तिगत लाभ के बजाय सार्वजनिक हित मे होना चाहिए।"[3]

इस प्रकार समाजवाद के रूपों में भी विभिन्नता है और उसकी परिभाषाओं में भी। परन्तु उपरोक्त परिभाषाओं से समाजवाद की कुछ आधारभूत विशेषताओं का पता चलता है, जो कि निम्न हैं :—(i) समाजवाद मे उत्पत्ति के साधनों पर सामूहिक अथवा सामाजिक अधिकार होता है। (ii) राष्ट्र के उत्पादित धन को समानता के आधार पर बाँटने का प्रयत्न किया जाता है। (iii) एक व्यक्ति द्वारा दूसरे का शोषण नही होने दिया जाता है। (iv) यह प्रणाली लाभ की प्रेरणा पर आधारित नही होती है। (v) आर्थिक संगठन का संचालन सार्वजनिक कल्याण की वृद्धि के लिये किया जाता है। (vi) साधारणतया जन-साधारण के प्रतिनिधि के रूप मे आर्थिक जीवन का संचालन राज्य (State) द्वारा किया जाता है यद्यपि कुछ प्रकार के समाजवाद ऐसे भी हैं, जिनमे राज्य को भी समाप्त करने पर बल दिया गया है क्योंकि राज्य को भी अत्याचार का ही कारण समझा गया है।

समाजवाद के प्रकार—

सामान्य दृष्टिकोण से समाजवाद को हम दो भागो मे बांट सकते हैं :—(I) विकास-

---

[1] "Socialism is an economic organisation of society in which the material means of production are owned by the community and operated by organs representative of and responsible to the community according to a general plan, all members of the community being entitled to benefits from the result of such socialised planned production on the basis of equal rights."
—**H D Dickenson** : *Economics of Socialism*, p. 11.

[2] "Socialism refers to that movement which aims at vesting in society as a whole rather than in individuals, the owenership and mannagement of all nature-made and man-made producer's goods used in large scale production, to the end that an increased national income may be more equally distributed without materially destroying the individual's economic motivations or his freedoms of occupational and consumption choices"—**Louks and Hoot.**

[3] "The important essentials of Socialism are that all the great industries and the land should be publicly or collectively owned, and that they should be conducted fo. the public good instead of for private profit."
—**Morris.**

वादी समाजवाद (Evolutionary Socialism) और (II) क्रान्तिवादी समाजवाद (Revolutionary Socialism)। प्रथम प्रकार का समाजवाद दूसरी प्रकार के समजावाद से भिन्न होता है। उद्देश्य तो दोनों दशाओं में एक ही होता है, परन्तु इसे पूरा करने की रीतियों में अन्तर होता है, जो इस प्रकार है :—

(१) **विकासवादी समाजवाद धीरे-धीरे शान्तिमय अथवा** वैधानिक रीति से **समाजवाद स्थापित करना चाहता है।** इसकी कार्य-विधि यह है कि वैधानिक रीति से देश की धारासभा में बहुमत प्राप्त किया जाय और फिर कल्याणकारी राज्य की स्थापना करके धीरे-धीरे समाजवादी व्यवस्था स्थापित की जाय। इसके विपरीत **क्रान्तिकारी समाजवाद में समाजवाद की स्थापना क्रान्ति द्वारा की जाती है। यह तो आवश्यक नहीं है कि इसके** लिए हिंसात्मक **उपायों का ही उपयोग किया जाय, परन्तु ऐसे उपायों के उपयोग को बुरा नहीं समझा जाता है।**

(२) **विकासवादी समाजवादी राज्य को बनाये रखने के पक्ष में है और इस** समाजवाद में राज्य को और अधिक शक्तिशाली बनाया जाता है। सामाजिक हितों का संरक्षण तथा समाजवाद की स्थापना का प्रमुख साधन राज्य ही होता है। धीरे-धीरे उद्योगों और व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण किया जाता है और राज्य के आर्थिक और सामाजिक कार्य-क्षेत्र को बढ़ाकर समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। **क्रान्तिकारी समाजवाद राज्य को भी शोषण और आतङ्क का ही एक साधन मानता है और** अन्त में उसे समाप्त करने के पक्ष में होता है। इस समाजवाद के समर्थकों के अनुसार अन्त में राज्य भी मुरझाकर सूख जायगा। (State will wither away.)

समाजवाद के दो प्रमुख भाग यही हैं। अलग-अलग प्रकार के समाजवाद इनमें से किसी न किसी एक प्रकार के अवश्य होते हैं। ब्रिटेन की फेबियन सोसायटी (Fabian Society) और लेबर पार्टी (Labour Party) विकासवादी समाजवाद के पक्ष में है, जबकि रूस तथा पूर्वी यूरोप के देशों में क्रान्तिवादी समाजवाद का ही बोलबाला है। **समाजवाद के** निम्न **रूप** महत्त्वपूर्ण हैं :—

(I) वैज्ञानिक समाजवाद अथवा मार्क्सवाद—

समाजवादी विचारकों और लेखकों ने समाजवादी दृष्टिकोण बहुत समय पहले ही प्रस्तुत किया था, परन्तु अधिकांश विचारधारायें अत्यधिक आदर्शवादी थीं, जिन्हें व्यावहारिक जीवन में उपयोग करना सम्भव न था। इस प्रकार के समाजवाद को बहुधा कल्पनात्मक समाजवाद (Utopian Socialism) कहा जाता है। इसका प्रारम्भ मुख्यतया सर टोमस मोर (Sir Thomas More) से होता है। मार्क्स ने इस समाजवाद की उसकी अव्यावहारिकता और भावनात्मक प्रवृत्ति के कारण बड़ी आलोचना की है। इसके स्थान पर उसने वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्तों और व्यवहारों का निर्माण किया है। सच तो यह है कि आधुनिक समाजवाद के पिता कार्ल मार्क्स ही थे। वही सभी प्रकार के समाजवादियों का उत्साह-केन्द्र हैं। वैज्ञानिक समाजवाद के दो प्रमुख आधार हैं :—

(१) **इतिहास का भौतिक मूल्यांकन**—मार्क्स का विचार है कि इतिहास की प्रत्येक घटना को समझने के लिए उसकी आर्थिक पृष्ठ-भूमि को समझना पड़ता है। इतिहास का निर्माण आर्थिक कारणों द्वारा होता है। मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक विवेचना (Economic Interpretation) की है। संसार के सभी युद्ध, उपद्रव, राजनैतिक आन्दोलन आदि आर्थिक कारणों से उत्पन्न होते हैं। किसी विशेष काल में शासन-प्रणाली कैसी होगी, यह भी उस समय की आर्थिक अवस्था और संगठन के रूप पर ही निर्भर होता है। आर्थिक कारणों का प्रत्येक परिवर्तन राजनैतिक कलेवर में भी परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। संसार में साम्राज्यवाद (Imperia-

lism) तथा उपनिवेशवाद (Colonialism) के विकास को समझने के लिए भी आर्थिक कारणों की ही विवेचना आवश्यक होगी। पूँजीवाद मे शासन प्रणाली ऐसी होगी कि व्यक्तिगत पूँजी सम्बन्धी अधिकारो की रक्षा की जाय और व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार को दृढ बनाया जाय। इसके विपरीत समाजवाद मे शासन प्रणाली पूर्णतया भिन्न होगी।

कार्ल मार्क्स का विचार है कि पूँजीवाद में ऐसे विरोध विद्यमान हैं, जिनके कारण पूँजीवाद का अन्त अवश्य होकर रहेगा। पूँजीवाद स्वय ही ऐसी दशायें और प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करता है, जो उसके विनाश का कारण बनती हैं और समाजवाद की स्थापना को आवश्यक बनाती हैं :—(i) जैसे-जैसे पूँजीवाद का विकास होगा, एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ बलवान होती चली जायेंगी। बड़ी-बड़ी मछलियाँ छोटी-छोटी मछलियो को निगल जाती हैं। इसी प्रकार, बड़े-बड़े पूँजीपति छोटे-छोटे पूँजीपतियो को समाप्त करके स्वय अपनी सख्या और शक्ति को घटा देंगे। (ii) विभिन्न देशो के पूँजीपति एकाधिकारी आधार पर विदेशो मे बाजारो की खोज करेंगे। इसके लिए साम्राज्यवादी युद्ध होंगे, जो एक के बाद दूसरे निरन्तर ही होते रहेंगे। प्रत्येक अगला युद्ध पहले से अधिक भीषण होगा और यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा, जब तक कि स्वय पूँजीवाद समाप्त होकर उसके स्थान पर श्रमिको की तानाशाही स्थापित नही हो जायेगी। (iii) पूँजीवाद मे आर्थिक सकट आते रहेंगे और प्रत्येक सकट से पूँजीवाद पहले से अधिक बलहीन होकर निकलेगा। (iv) पूँजीवाद श्रमिकों की सख्या को बढाता है, उन्हें एक ही स्थान पर एकत्रित करता है, आर्थिक कठिनाइयो द्वारा उनके सगठन को प्रोत्साहित करता है और अन्त मे श्रमिक सङ्गठित रूप मे पूँजीपति और पूँजीवाद को समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद का अन्त और समाजवाद की विजय निश्चित है।

(२) **अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त**—मार्क्स का समाजवाद "मूल्य के श्रम सिद्धान्त" तथा "अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त" पर आधारित है। मार्क्स का विचार है कि मूल्य का आदि कारण श्रम है। प्रत्येक वस्तु का मूल्य इसके उत्पादन मे लगे हुए श्रम की मात्रा द्वारा निश्चित होता है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट बनाने के लिये मार्क्स ने **"सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम"** (Socially Necessary Labour) का विचार प्रस्तुत किया है। "सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम" को समय अवधि की इकाइयो मे नापा जाता है। इसकी परिभाषा मार्क्स ने इस प्रकार की है कि यह *श्रम-अवधि वह है "जो किसी वस्तु को, उत्पत्ति की सामान्य दशाओं के अन्तर्गत* उत्पन्न करने के लिए प्रचलित निपुणता और परिश्रम के साधारण अश के अनुसार, आवश्यक होनी है।"[1]

मार्क्स का विचार है कि पूँजीपति श्रमिको को श्रम की सारी कीमत नही चुकाता। वह वस्तु को बेचकर उससे अधिक, जो उसने श्रमिको को दिया है, प्राप्त करता है। यथार्थ मे, क्योंकि सारा का सारा मूल्य श्रम द्वारा उत्पन्न होता है, वह सारा का सारा श्रमिक को ही मिलना चाहिए। परन्तु पूँजीपति सारा मूल्य श्रमिक को नही देता और इसके एक भाग को अपने पास रख लेता है। इस प्रकार श्रमिक कुछ समय तक तो अपने लिये कार्य करता है, अर्थात् उस मूल्य का निर्माण करता है जो मजदूरी के रूप मे उसे पूँजीपति से मिल जायगा, परन्तु बाद को वह ऐसे मूल्य का निर्माण करता है, जो पूँजीपति अपने पास रख लेगा। इस प्रकार श्रम "अतिरिक्त मूल्य" (Surplus Value) उत्पन्न करता है, जो वास्तव मे उस शोषण को

[1] "Labour time required to produce an article under the normal condition of production, and with the average degree of skill and intensity prevalent at the time."—**Marx.**

दिखाता है जो पूँजीपति करता है। अतिरिक्त मूल्य पूँजी-पति की हड़प है और श्रमिक का शोषण, क्योंकि वास्तव में इसे श्रमिक ने उत्पन्न किया है और यह उसी को मिलना चाहिए था।

यही अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त है और वैज्ञानिक समाजवाद इसी अतिरिक्त मूल्य को समाप्त करके उसे श्रमिकों को दिलाना चाहता है। वैसे वैज्ञानिक समाजवाद के अनेक अर्थ लगाये गये हैं।

(II) सामूहिकवाद अथवा राज्य समाजवाद—[1]

राज्य समाजवाद के जन्मदाता रोडवर्टस (Rodbertus) है। ऐसे समाजवादी वैधानिक प्रजातन्त्रवाद में विश्वास रखते हैं। उनका उद्देश्य उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण करना है।

कार्यविधि यह होती है कि राज्य के शासन यन्त्र पर अधिकार स्थापित करके शासन शक्ति को मजबूत किया जाय और उसे समाजवादी उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उपयोग किया जाय। इस प्रकार, सामूहिकवाद के अन्तर्गत राज्य को ही उत्पत्ति बढ़ाने तथा उत्पादित धन का अधिक समान और अधिक न्यायपूर्ण वितरण करने के लिए उपयोग किया जाता है।

इस प्रणाली में राज्य को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया जाता है और जैसे ही समाजवादियों का राज्य पर अधिकार हो जाता है, उनके लिए लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग खुल जाता है। धीरे-धीरे व्यक्तिगत सम्पत्ति समाप्त कर दी जाती है (जिसके लिए बहुधा सरकार मुआवजा देती है) और व्यक्तिगत उपक्रमों का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाता है। राष्ट्रीयकृत उद्योगों का सचालन सरकार के वेतनभोगी अधिकारी और कर्मचारी करते है और सारा लाभ सरकारी खजाने मे जाता है, जहाँ से उसका उपयोग सारे समाज के कल्याण के लिए होना है। सरकारी उपक्रमों की प्रकृति एकाधिकार की होती है और सभी प्रकार की अनार्थिक और हानिकारक प्रतियोगिता समाप्त कर दी जाती है।

गुण—यह प्रणाली पूँजीवाद पर थोड़ा-सा ही सुधार है। इसके आलोचकों ने इसे राज्य समाजवाद के स्थान पर "राज्य पूँजीवाद" (State Capitalism) कहा है। इसमे और व्यक्तिगत पूँजीवाद मे केवल इतना ही अन्तर होता है कि पूँजीपति और साहसी का स्थान राज्य ग्रहण कर लेता है, जिससे उत्पत्ति-साधनों का उपयोग सारे समाज के लाभार्थ करने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है, राष्ट्रीय आवश्यकताओं और राष्ट्रीय उत्पादन के बीच अधिक अच्छा समायोजन हो जाता है और अर्थ-व्यवस्था का विकास साधारणतया एक निश्चित योजना क्रम के अनुसार किया जाता है।

दोष—इसमे राज्य के इतना शक्तिशाली बन जाने का डर है कि आर्थिक तानाशाही (Economic Dictatorship) स्थापित हो जाय।

राष्ट्रीय समाजवाद—"राज्य समाजवाद" का ही बिगड़ा हुआ रूप "राष्ट्रीय समाजवाद" (National Socialism) भी है, जिसने नात्सीवाद (Nazism) तथा फासिज्म (Facism) के रूप मे ससार का बहुत अहित किया है। फिर भी इस प्रणाली मे पूँजीवाद के अधिकांश दोषों को दूर करने और समाजवाद के बहुत से लाभों को प्राप्त करने की सम्भावना शेष रहती है, क्योंकि इसमें उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तियों के स्थान पर राज्य का अधिकार होता है, राष्ट्रीय आय का न्यायपूर्ण पुनर्वितरण होता है, आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया जाता है और आर्थिक प्रणाली का शान्तिमय तथा प्रजातन्त्रीय आधार पर विकास किया जाता है।

---

[1] Democratic Socialism (Europe and Asia) Indian Brand of Socialism
—P. S. P., S. S. P., Congress.

(III) श्रमिक संघवाद (Syndicalism)—

आशय—इस क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रचार फ्रान्स में अधिक हुआ है। यह समाजवाद (Socialism) तथा श्रम संघवाद (Trade Unionism) का मिश्रण होता है। **इस विचारधारा के अनुसार उद्योगों पर राज्य के स्वामित्व और अधिकार के स्थान पर मजदूर सङ्घों (Syndicates of Trade Unions) का नियन्त्रण और प्रबन्ध अधिकार स्थापित होना चाहिये।**

इस विचारधारा में यह मान लिया गया है कि राज्य समाजवाद स्थापित करने का अच्छा साधन नहीं है क्योंकि राज्य के अधिकारियों में पूँजीवादी और तानाशाही मनोवृत्ति होती है, जिस कारण वह जनता के सच्चे सेवक और हितैषी नहीं हो सकते। राज्य को शक्तिशाली बनाने का अर्थ तो यही हो सकता है कि अनेक अत्याचारी पैदा कर दिये जायें और वास्तविक प्रजातन्त्रवाद समाप्त हो जाय। अतः उत्तम मार्ग यह होगा कि श्रम संघों का विस्तार करके और इन संघों को उद्योगों का संचालन सौंप कर नये सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संगठन का निर्माण किया जाय। इस प्रकार, स्थानीय उद्योगों पर स्थानीय श्रम संघों का अधिकार होगा और इन्हीं स्थानीय व स्वतन्त्र श्रम-संघों का एक महा संघ (Federation) होगा। इससे स्थानीय, विकेन्द्रित तथा वास्तविक प्रजातन्त्रवाद की स्थापना हो सकेगी।

व्यावहारिक नीति—जहाँ तक व्यावहारिक नीति का सम्बन्ध है, श्रमिक संघवाद शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक उपायों में विश्वास नहीं करता। ऐसी रीतियों के उपयोग से लाभ न होगा, क्योंकि शक्तिशाली सरकारी अधिकारी प्रत्येक प्रजातन्त्रवादी आन्दोलन को कुचल देंगे। उद्देश्य केवल प्रत्यक्ष और क्रान्तिकारी कार्यवाही से ही पूरा हो सकता है। पूँजीवाद तथा सरकार के अत्याचार को समाप्त करने का सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र हड़ताल होगी। संगठित रूप में की गई हड़तालों की सफलता बहुत कुछ निश्चित-सी होती है। यदि हड़ताल असफल भी होती है तब भी श्रमिकों में आर्थिक लड़ाई लड़ने, आपस में मिलकर काम करने और अपने वर्ग हितों (Class Interests) को समझने के महत्वपूर्ण गुण उत्पन्न हो जाते हैं। मजदूर संघवादियों का विचार है कि हड़तालें बराबर होती रहनी चाहिए, जिससे कि श्रमिकों का वर्ग-युद्ध सम्बन्धी जोश ठन्डा न होने पाये। अन्तिम उद्देश्य यह है कि अन्त में एक सामान्य हड़ताल (General Strike) की जाय, जिससे देश का राजनैतिक शासन यन्त्र अस्त-व्यस्त हो जाय और श्रमिक राजनैतिक शक्ति छीन लें।

दोष—यह विचारधारा बहुत अवैज्ञानिक है। मजदूर सङ्घवादी वर्तमान आर्थिक कलेवर को तोड़ना चाहते हैं और उसके स्थान पर एक नई क्रान्तिकारी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं। भावी आर्थिक व्यवस्था साधारणतया अस्पष्ट, किन्तु आकर्षक रखी जाती है। वर्तमान मशीनों की तोड़-फोड़ भी उनके कार्यक्रमों के अन्तर्गत आती है। शॉ (Bernard Shaw) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है, *"श्रम-संघवाद श्रमिकों का पूँजीवाद है समाजवाद नहीं।"*[1]

(IV) कारीगर संघवाद (Guild Socialism)—

आशय एवं विशेषतायें—कारीगर संघवाद और मजदूर सङ्घवाद दोनों में पर्याप्त समानता है। यह भी राज्य को घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। इसका विचार है कि राज्य उत्पादन प्रणाली को कुशलतापूर्वक कभी नहीं चला सकता। इस विचारधारा के अन्तर्गत

---

1 "Trade unionism is not socialism, it is the capitalism of the proletariat." —**George Bernard Shaw** : *Intelligent Women's Guide to Socialism, Communism, etc.*

सबसे पहला कार्य तो पूँजीपति को समाप्त करना है। उसके बाद उत्पादन इकाइयाँ श्रमिक सङ्घों या कारीगरों के सङ्घों को सौंपी जायेंगी, जो निश्चय ही संचालन और प्रबन्ध में दक्ष और कुशल होंगे। इस प्रकार, उद्योगों में प्रजातन्त्रीय शासन स्थापित हो जायगा। राज्य भी बना रहेगा, परन्तु उसका कार्य केवल निरीक्षण का रहेगा। वह उपभोक्ताओं के हितों को ध्यान में रखकर कीमतों के निर्धारण और उत्पादित वस्तुओं की किस्मों के निश्चित करने का काम करेगा। इस प्रणाली की विशेषता यह है कि इसमें राज्य समाजवाद और मजदूर सङ्घवाद का मिश्रण है। उत्पत्ति के साधन, उद्योग और व्यवसायों का स्वामित्व तो राज्य के पास रहेगा, परन्तु इनका संचालन स्वयं श्रमिकों के सङ्घ करेंगे। राज्य का कर्त्तव्य मुख्यतया यह रहेगा कि उपभोक्ताओं का शोषण न होने दे।

उद्देश्य एवं महत्त्व—इस प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य औद्योगिक प्रबन्ध के केन्द्रीयकरण को रोकना और औद्योगिक प्रजातन्त्रवाद (Industrial Democracy) स्थापित करना है। इसका विचार है कि इस प्रकार सङ्गठित उद्योगों में प्रजातन्त्रवाद और कुशलता दोनों रहेंगे। इस प्रणाली का प्रमुख दोष यही है कि श्रमिकों और श्रम सङ्घों को उच्चतम् प्रबन्ध के योग्य मान लिया गया है।

(V) साम्यवाद (Communism)—

साम्यवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स हैं। उन्होंने इसे वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) का नाम दिया है। मार्क्स ने पहली समाजवादी विचारधाराओं की कड़ी आलोचना की है। उनका विचार है कि अधिकतर समाजवादी विचारधाराएँ कल्पना मात्र हैं। तर्क के आधार पर केवल साम्यवाद ही वैज्ञानिक समाजवाद हो सकता है। मार्क्स और एन्जिलस् (Engels) का विचार है कि साम्यवाद का पहला काम श्रमिकों को सगठन द्वारा ऊपर उठाकर उन्हें शासकों में परिवर्तित करना है, जिसमें कि वे प्रजातन्त्रवाद के युद्ध को जीत सकें। साम्यवादी घोषणा-पत्र (Communist Manifesto) में उन्होंने साम्यवाद की स्थापना की निम्न विधि बताई है[1] :—

(१) भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन और भूमि के सभी लगानों को सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए उपयोग करना।

(२) एक बहुत ही प्रगतिशील (Progressive) अथवा ऊपर उठता हुआ आय कर।

(३) सभी प्रकार के उत्तराधिकारों को समाप्त करना।

(४) देश को छोड़ जाने वाले सभी व्यक्तियों तथा विद्रोहियों की सम्पत्ति जब्त कर लेना।

(५) साख का राज्य के हाथों में केन्द्रीयकरण। इसके लिए एक राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की जाय और फिर इसे साख के सम्बन्ध में एकाधिकार दिया जाय।

(६) यातायात और सम्वादवाहन के साधनों का राज्य के हाथों में केन्द्रीयकरण।

(७) राज्य के स्वामित्व में फैक्ट्रियों और उत्पत्ति के साधनों का प्रसार (Extension) करना, बंजर भूमि को खेती के योग्य बनाना और एक निश्चित सामूहिक योजना के अनुसार भूमि सम्बन्धी सुधार करना।

---

1 Karl Marx and Frederick Engels: *Manifesto of the Communist Party*, Marx Engels—*Selected Works*, Vol 1, pp. 50-51.

(८) सभी प्रकार के श्रम का समान उत्तरदायित्व और मुख्यत: कृषि के लिए एक श्रम सेना की स्थापना।

(९) कृषि और निर्माण उद्योगों के मध्य समन्वय लाना, धीरे-धीरे नगर और देहात के भेद को मिटाना और देहातो मे जन-संख्या का अधिक समानता से वितरण करना।

(१०) सभी बच्चों को सार्वजनिक स्कूलों में नि.शुल्क शिक्षा देना, बालको के फैक्ट्री श्रम को समाप्त करना, शिक्षा का औद्योगिक उत्पादन से मिलान करना।

आगे चल कर उन्होने लिखा है, "जब विकास के अन्तर्गत वर्ग भेद समाप्त हो जायेंगे और सारा उत्पादन राष्ट्र के एक विशाल सङ्घ के हाथ मे केन्द्रित हो जायगा, तो सार्वजनिक शक्ति की राजनैतिक प्रवृत्ति का अन्त हो जायेगा। राजनैतिक शक्ति वास्तव मे एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का दमन करने की सङ्गठित शक्ति होती है। यदि श्रमिक सङ्गठित रूप मे वर्ग-युद्ध मे भाग लेते है और विजयी होकर उत्पत्ति की पुरानी दशाओ को समाप्त कर देते हैं, तो वे वर्ग-विरोध की दशाओ को भी समाप्त कर देगे और इस प्रकार एक वर्ग के रूप मे स्वय अपने प्रभुत्व को भी समाप्त कर देगे।"

इस प्रकार साम्यवाद का अन्तिम उद्देश्य वर्ग सघर्ष को समाप्त करने के बाद राज्य के राजनीतिक आधार को भी समाप्त कर देना है।

साम्यवादियों की कार्य-विधि—साम्यवादियों की कार्य-विधि इस प्रकार है कि देश भर मे साम्यवादी सङ्गठन का एक जाल-सा बिछा दिया जाय। जब साम्यवादी सङ्गठन शक्तिशाली हो जायगा, तो पूँजीपतियो को समाप्त करके शासन के अधिकार को छीना जायगा और इस प्रकार श्रमजीवियो (Proletariat) का राज्य स्थापित किया जायगा। आरम्भ मे श्रमिको की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित होगी और इस तानाशाही का उद्देश्य सभी विरोधियो और पूँजीपतियो को समाप्त करना होगा। अन्त मे, एक वर्गहीन समाज (Classless Society) का निर्माण किया जायगा, जिसमे ऊँच-नीच तथा धनवान और निर्धन का भेद नही रहेगा। इसके पश्चात् राज्य की आवश्यकता नही रहेगी और राज्य स्वय समाप्त हो जायगा।

साम्यवाद का आधार—साम्यवाद का आधार अन्तर्राष्ट्रीय है। तभी यह जाति, धर्म, रग और राष्ट्रीयता के भेदो को स्वीकार नही करता है। "उद्देश्य सामान्य रूप मे सम्पत्ति को समाप्त करना नही है, बल्कि पूँजीपति की सम्पत्ति को समाप्त करना है······ जो कि वर्ग विरोध पर आधारित है और कुछ लोगो को अधिकांश लोगो के शोषण का अवसर देती है।"[1] "साम्यवाद किसी भी व्यक्ति के समाज की उत्पत्ति का उपयोग करने के अधिकार को छीनना नही चाहता। वह केवल ऐसा उपयोग करने के दौरान कुछ व्यक्तियो द्वारा दूसरे लोगो के श्रम का शोषण करने के अधिकार को छीनना चाहता है।"[2] जहाँ तक साम्यवाद को स्थापित करने के उपायो का प्रश्न है, साम्यवाद यह स्वीकार करता है कि परिस्थितियो के अनुसार उपाय भी

---

[1] "The distinguishing feature of communism is not the abolition property, generally, but the abolition of bourgeois property......that is based on class antagonism, on the exploitation of the many by the few."—*Ibid*, p 45.

[2] "Communism deprives no man of the power to appropriate the products of society, all that it does is to deprive him of the power to subjugate the labour of others by means of such appropriation."—*Ibid*, p. 47.

अलग-अलग रहेंगे। इसमें हिंसात्मक अथवा क्रान्तिकारी और अहिंसात्मक अथवा वैधानिक सभी प्रकार के उपायों को उचित बताया जाता है।

साम्यवाद का अन्तिम परिणाम—ऐन्जिल्स् के अनुसार अन्तिम परिणाम यह होता है कि श्रमिक राज्य पर अधिकार करके पूँजी को सार्वजनिक सम्पत्ति में परिवर्तित कर देते हैं, "इसके पश्चात् समाजीकृत उत्पादन के एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। ऐसी उत्पत्ति का विकास समाज के विभिन्न वर्गों के भेद को स्वयं मिटा देगा। जैसे-जैसे उत्पादन में सामाजिक विरोध समाप्त होता जाता है, राज्य की राजनीतिक सत्ता मिटती जाती है। मनुष्य अन्त में सामाजिक सङ्गठन के रूप का स्वामी बनकर प्रकृति का भी स्वामी बन जाता है—वह स्वयं अपना स्वामी होता है—सर्व-स्वतन्त्र।"[1]

साम्यवाद द्वारा निर्मित समाज की रूपरेखा—साम्यवाद किस प्रकार के समाज का निर्माण करेगा, इसके सम्बन्ध में कुछ सैद्धान्तिक अस्पष्टता का आभास कुछ लोगों ने किया है। *व्यावहारिक दृष्टि से यह अस्पष्टता अब समाप्त-सी हो गई है। साम्यवाद को इसके आलोचकों* ने एक विशाल खूनी राक्षस के रूप में चित्रित किया है। वास्तव में ऐसी कोई बात दिखाई नहीं पड़ती है। साम्यवाद सभी प्रकार की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता को समाप्त नहीं करता। वह केवल दूसरों के शोषण को सम्भव नहीं होने देता है। अन्तिम उद्देश्य यह है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार काम लिया जाय और उसे उसकी आवश्यकता के अनुसार उत्पत्ति में से हिस्सा दिया जाय। साम्यवाद आय की समानता की ओर प्रयत्न नहीं करता, परन्तु वह आय के अन्तरों को कम से कम रखने का प्रयत्न करता है। कार्य-उत्साह को बनाये रखने के लिए आय की असमानता आवश्यक ही है। साम्यवाद प्रत्येक को समान अवसर (Equality of Opportunity) देने की गारन्टी देता है। किसी के भी विकास के मार्ग में किसी दूसरे की तुलना में कोई बाधा नहीं रखी जाती है। इस आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत, भोजन, मकान, रोजगार और चिकित्सा की राज्य की ओर से गारन्टी होती है, परन्तु बिना उपयुक्त कारण के कोई भी व्यक्ति बिना काम किये नहीं रह सकता है।

साम्यवाद की आलोचना—साम्यवाद के प्रशंसकों और आलोचकों की कमी नहीं है :—*(i) आलोचकों का विचार है कि यह मनुष्य की सारी स्वतन्त्रताओं को कुचल देता है और* उससे एक मशीन अथवा पशु की भाँति व्यवहार करता है। (ii) साम्यवाद में तानाशाही *(Dictatorship) और सैन्यीकरण (Regimentation) के सभी दोष बताये जाते हैं और कहा* जाता है कि यह मानव-जीवन के सभी उच्चतम् मूल्यों को समाप्त कर देता है।

पूँजीपतियों और उनके पैसों पर चलने वाले राजनीतिज्ञों ने साम्यवाद को कलङ्कित करने में कोई कमी नहीं रखी है। आर्थिक लेखकों ने प्रायः साम्यवादी ग्रन्थों को पढ़े बिना और वास्तविक स्थिति का पता लगाये बिना ही पूँजीपतियों की आलोचनाओं को दोहराया है। वास्तव

---

[1] 'Socialised production upon a predetermined plan henceforth becomes possible The development of production makes the existence of different classes *of society henceforth an anarchism* In proportion as social anarchy in production vanishes, the political authority of the state dies out. Man is at last the master of his own form of social organisation, becomes at the same time the lord over nature, his own master free."—**Frederick Engels** : *Socialism Utopian and Scientific*, Marx Engels-Selected Works, Vol. II, p. 142.

में ऐसी कोई बात दृष्टिगोचर नही होती है। साम्यवाद के लगभग सभी सिद्धान्तो को परोक्ष रूप मे पूँजीवादी देशो ने भी स्वीकार कर लिया है। साम्यवाद पारिवारिक जीवन, उपयुक्त स्वतन्त्रता, मुद्रा का उपयोग तथा अन्य सभी बातो की आज्ञा देता है। केवल दूसरो के शोषण पर जीवित रहने की स्वतन्त्रता को समाप्त कर देता है।

(VI) रूसी साम्यवाद अथवा बोलशोविज्म (Bolshovism)—

सन् १९१७ मे रूस मे साम्यवादी क्रान्ति की विजय हुई और साम्यवादियो के हाथों मे शासन सत्ता आ गई। सबसे पहला कार्य भूमि का राष्ट्रीयकरण था। किसानो की भूमि उन्ही के पास रहने दी गई थी। शर्त केवल यह थी कि उन्हें अपनी अतिरिक्त उपज सरकार को बेचनी पडती थी। सन् १९१९ तक खानो, कारखानो, बैंक, यातायात सेवाओ और विदेशी वाणिज्य का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। प्रारम्भ मे अनुभवहीनता और पूँजीवादी देशो की विरोधी नीति के कारण राज्य को बहुत कठिनाइयाँ हुईं। भूमि के राष्ट्रीयकरण ने कृषि उत्पादन को घटा दिया। उद्योगों मे भी कार्य-उत्साह के अभाव ने शोचनीय दशा उत्पन्न कर दी, अत एक नई आर्थिक नीति ग्रहण की गई। सन् १९२८ तक यह नीति रही कि किसान अपनी अतिरिक्त उपज स्वय बेच सकते थे और उद्योगो मे भी मिश्रित पूँजी कम्पनियों को रियायत कर दी गई थी।

सन् १९२८ मे नीति मे फिर महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। आर्थिक नियोजन का क्रम आरम्भ हुआ तथा कृषि और उद्योगों के विकास की लम्बी-चौडी योजनाएँ बनाई गईं। सन् १९२९ में कृषि मे सामूहिक खेती (Collective Farming) की नीति अपनाई गई। साथ ही साथ, कृषि का यन्त्रीकरण (Mechanisation) भी किया गया। सन् १९३३ मे दूसरा पचवर्षीय आयोजन लागू किया गया। इस बार उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन को बढाने का प्रयत्न किया गया। सन् १९३५ मे राशनिंग व्यवस्था समाप्त कर दी गई। इस प्रणाली के अन्तर्गत उत्पादन का अधिक विकास हुआ।

रूसी साम्यवादी ऐसा समझते है कि अभी वे पूर्ण रूप मे समाजवाद स्थापित नही कर पाये है। अभी तो सक्रान्ति काल (Transition Period) ही चल रहा है, जो श्रमिकों की तानाशाही का युग है।

(VII) अराजकतावाद (Anarchism)—

इस आर्थिक प्रणाली का विचार साम्यवाद से ही उत्पन्न हुआ है। इसके जन्मदाता प्रिन्स क्रोपोटकिन (Prince Kropotkin) है। "अराजकतावाद" का साधारण अर्थ "व्यवस्थाहीनता" (Disorder) अथवा "सत्ताहीनता" (Lack of Authority) होना है, परन्तु आर्थिक दर्शन के रूप मे यह एक बिल्कुल अलग ही दर्शन है। वह समाजवाद मे केवल राज्य अथवा शासन के अभाव को सूचित करता है। जब साम्यवाद के द्वारा पूँजीवाद से सम्बन्धित स्वार्थ, लोभ, शोषण, धोखा आदि बुराइयो का अन्त हो जायगा, तो मनुष्य का दृष्टिकोण दूसरो से कुछ लेने के स्थान पर दूसरो को कुछ देने का हो जायगा। उस समय पुलिस, सेना, न्यायालय और राज्य सभी अनावश्यक हो जायेगे। आर्थिक और सामाजिक जीवन का सगठन स्वस्थ शासन-प्रणाली के आधार पर पारस्परिक समझौतो और सहयोग के आधार पर होगा। प्रत्येक व्यक्ति दूसरो के अधिकारो का सम्मान करेगा, इसलिए किसी प्रकार की कोई कठिनाई न होगी। राज्य का उद्देश्य अगर कोई हो सकता है तो यह कि शोषण न होने दे और लोगो के अधिकारों की रक्षा करे। इन सब बातो की आवश्यकता उसी समय तक रहती है जब तक कि पूर्ण रूप मे समाजवाद स्थापित नही हो जाता। समाजवाद की स्थापना पर राज्य की आवश्यकता समाप्त हो जाती है।

क्रोपोटकिन ने एक बड़े अच्छे उदाहरण द्वारा अपने दृष्टिकोण का चित्रण किया है। यदि हम पत्थर के टुकड़ों को किसी सन्दूक में रखकर हिला दें, तो वे इतनी अच्छी तरह चुन जायेंगे कि मनुष्य का हाथ कभी भी ऐसा नहीं कर पायेगा। ठीक उसी प्रकार शान्ति मानव-समाज का भी सङ्गठन कर देगी।

(VIII) फैबियन समाजवाद (Fabian Socialism)—

यह समाजवाद एक प्रकार से राज्य समाजवाद ही है। इसका विकास इङ्गलैंड में हुआ है। इसके समर्थकों में वेब्स (Sydeny Webb and Beatrice Webb), बर्नार्ड शॉ (G. B. Shaw) एवं कोल (J. D. H. Cole) आदि हैं। इन लोगों का विचार है कि समाजवाद का लोगों में प्रचार किया जा सकता है और प्रजातन्त्रीय धारा-सभा व्यवस्था के अन्तर्गत शान्तिमय और वैधानिक उपायों से समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। समाजवाद की स्थापना की कार्य-विधि उद्योग और व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण ही होगी। इङ्गलैंड की लेबर पार्टी इसी प्रकार की समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न कर रही है।

(IX) राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism)—

इस प्रकार के समाजवाद के मुख्यतया दो रूप देखने में आये हैं :—(i) जर्मनी का नात्सीवाद (Nazism) और इटली का फासिज्म (Facism) इनमें भी परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। समाजवाद का दृष्टिकोण संकुचित होता है। राज्य को सर्वशक्तिशाली बनाया जाता है और उसका तानाशाही शासन आधार पर सङ्गठन किया जाता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त कर दी जाती है और सभी कुछ राज्य के लिए किया जाता है। यह समाजवाद जाति-श्रेष्ठता (Race Superiority) को आधार बना कर आगे बढ़ता है।

समाजवाद की प्रमुख विशेषतायें—

समाजवाद के विभिन्न रूपों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् अब हमारे लिए समाजवादी व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का पता लगाना सरल होगा। ये विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन—सभी समाजवादी उत्पत्ति के साधनों में व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन के समर्थक हैं। इनका स्वामित्व राज्य के पास रहना चाहिए। उत्पादन सम्बन्धी लाभ राज्य के पास रहने चाहिए, जो उनका उपयोग सार्वजनिक हितों की उन्नति के लिए करेगा। स्मरण रहे कि कुछ समाजवादियों को छोड़कर लगभग सभी मकान, फर्नीचर, घरेलू सामान, आदि में व्यक्तिगत सम्पत्ति की आज्ञा देते हैं।

(२) अनुपार्जित आय की समाप्ति—समाजवाद अनुपार्जित आय (Unearned Income) की आज्ञा नहीं देता। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को काम करना चाहिए। किन्तु सबका पारितोषण भी समान नहीं होगा। योग्यता और निपुणता तथा कार्य की प्रकृति के अनुसार पारितोषण अलग-अलग रहेगा। हाँ, सभी व्यक्तियों को उन्नति, विकास, रोजगार आदि का समान अवसर दिया जायगा।

(३) राज्य का महत्व—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में राज्य का भारी महत्व है। राज्य उत्पादन और वितरण दोनों पर ही आधिपत्य रखता है। साम्यवाद और अराजकतावाद में भी कम से कम संक्रान्ति काल में राज्य ही सारी आर्थिक क्रिया का केन्द्र होता है। उत्पादन सम्बन्धी सभी लाभ व्यक्तिगत जेबों में न जाकर सरकारी खजाने में जाते हैं, जहाँ से उनका उपयोग जन-साधारण, अर्थात् सारे समाज के लाभ के लिए किया जाता है। उद्योग और व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण समाजवाद का आधारभूत सिद्धान्त होता है।

(४) आर्थिक नियोजन—समाजवाद सदा ही आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाता

है। आर्थिक जीवन का संचालन एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार केन्द्रीय सत्ता द्वारा किया जाता है।

(५) **आधारभूत गारण्टी**—समाजवाद कुछ प्रकार की आधारभूत गारण्टी देता है। देश के प्रत्येक नागरिक को अभाव से स्वतन्त्रता (Freedom from Want) का आश्वासन दिलाया जाता है। सामाजिक सुरक्षा की उन्नति की जाती है और सबको उन्नति के समान अवसर दिये जाते हैं।

(६) **असमानताओं की कमी**—समाजवाद आय के वितरण की असमानताओं को कम करने और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को रोकने को एक आवश्यक नीति समझता है।

(७) **सामाजिक कल्याण उद्देश्य**—समाजवाद का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक कल्याण (Social Welfare) है। मानव जीवन के सभी अंगों की उन्नति की जाती है और राज्य एक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) होता है।

(८) **नवीन व्यवस्था**—समाजवाद एक ऐसी नई सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता है, जिसमे मानव जाति के सम्मान और उसके अधिकतम् विकास की दशायें विद्यमान हों।

समाजवाद के दोष—

समाजवाद के विरुद्ध अधिकांश आलोचनायें बहुत सही नहीं हैं। ये आलोचनायें पूँजीपतियों अथवा उनके सिखाये हुए अर्थशास्त्रियों ने की हैं। विगत वर्षों मे समाजवाद को समझने और उससे सम्बन्धित सही कठिनाइयों को समझने का भी प्रयत्न किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रमुख कठिनाइयाँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) **तानाशाही और गैर-जिम्मेदार औद्योगिक शासन**—कहा जाता है कि समाजवाद मे उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण हो जाता है। सारे के सारे उद्योग-धन्धों और व्यवसायों का संचालन सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता है। सरकारी अधिकारियों की मनोवृत्ति मनमानी करने और बेकार की धौंस डालने की होती है। वैसे भी ये वेतनभोगी अधिकारी व्यक्तिगत उत्साह, स्वार्थ और जिम्मेदारी के आधार पर काम नहीं कर पाते, जिससे अकुशलता बढ़ती है, अनावश्यक विलम्ब होते है और औद्योगिक प्रजातन्त्रवाद समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों मे उत्पादन व्यय प्रायः ऊँचा ही रहता है।

(२) **शीघ्र निर्णय तथा बलवान निर्णय का अभाव**—यह भी कहा जाता है कि सरकारी उत्पादन केवल उन्हीं व्यवसायों में सफल हो सकता है जहाँ काम नैत्यक स्वभाव (Routine Type) का होता है। जहाँ शीघ्र अथवा दृढ़ निर्णय लेने आवश्यक हो वहाँ सरकारी उत्पादन बहुत कठिनाई से ही सफल हो पाता है।

(३) **समाजवाद में उपभोक्ता की स्वतन्त्रता का अभाव**—समाजवाद मे उपभोक्ता की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। सारी उत्पादन प्रणाली एक निश्चित योजना क्रम के अनुसार चलाई जाती है। उपभोक्ताओं को वही खरीदने और उपयोग करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, जो उनके लिए उत्पन्न किया गया है। मूल्य नियन्त्रण और राशनिंग भी बहुधा समाजवाद के साथ-साथ चलते हैं। प्रारम्भिक अवस्थाओं मे तो ऐसा लगभग आवश्यक ही होता है।

(४) **कार्य उत्साह का अभाव**—कुछ विद्वानों का मत है कि जब स्वार्थ तथा व्यक्तिगत लाभ की आशा ही समाप्त हो जायगी, तो अधिक काम करने तथा अपने में सुधार करने का उत्साह भी समाप्त हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति उत्पत्ति मे अपना अधिक से अधिक योगदान नहीं देगा। सरकारी कामों मे नियमितता तो रहेगी, परन्तु नई खोज का उत्साह नहीं रहेगा।

(५) **व्यावसायिक स्वतन्त्रता का लोप**—समाजवाद मे सरकार ही यह निश्चित करती है कि कौन-सी वस्तु कितनी मात्रा में कब, कहाँ और किस किस्म की उत्पन्न की जायगी।

ऐसी दशा में व्यावसायिक स्वतन्त्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। [इस सम्बन्ध में हमें यह विचारना चाहिए कि क्या व्यावसायिक स्वतन्त्रता सदा ही उचित होती है ?]

(६) **अनुभव अच्छा नहीं है**—कुछ लोग समाजवाद की निन्दा इस कारण करते हैं कि रूस के अनुभव से ऐसा कुछ भी सिद्ध नहीं होता है कि आय के वितरण में समानता आई है, अथवा, वास्तविक अर्थ में समाज का कल्याण हुआ है। [ऐसे आलोचकों से यही कहा जा सकता है कि शायद उन्हें रूस की प्रगति का अनुमान नहीं है।]

समाजवाद के गुण—

वर्तमान संसार को समाजवाद के लाभों को समझाने की शायद आवश्यकता नहीं है। **पूँजीवाद ने ऐसी आर्थिक और सामाजिक दशायें उत्पन्न कर दी हैं कि अब उसका अन्त ही हो** जाय तो अच्छा होगा। पूँजीवाद ने संसार को आर्थिक संकटों में फँसा दिया है, जिससे नियमित रूप में अभिवृद्धि (Boom or Prosperity) और मन्दी अथवा अवसाद (Slump or Depression) के काल आते रहते हैं, जिन्होंने मानव समाज को घोर कष्टों में डाला है। पूँजीवाद आर्थिक स्थिरता स्थापित नहीं कर पाया है। इसमें देश के साधनों का केवल व्यक्तिगत हितों को उन्नत करने में उपयोग किया जाता है। इसमें स्त्री और बच्चों का शोषण होता है। निर्धन व्यक्तियों को दिन-रात परिश्रम करने के पश्चात् भी भरपेट भोजन नहीं मिलता तथा अमीर लोग निकम्मे और निठल्ले रह कर भी आराम से रहते हैं। श्रमिकों और दूसरे निर्धन लोगों की *दशा मानवता के पतन का दिग्दर्शन कराती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि पूँजीवाद में निर्धन* मनुष्य शायद 'मनुष्य' रहता ही नहीं है।

इसके विपरीत, समाजवाद इन सभी बुराइयों को दूर कर देता है और मनुष्य की मानवता का आदर करता है। वहाँ व्यापार चक्रों का आतङ्क नहीं होता, धनवान और निर्धन की समस्या नहीं होती, दूसरों का शोषण असम्भव होता है, और निकम्मों और निठल्लों का आदर नहीं होता। किन्तु समाजवाद का आधार केवल यही नहीं है कि वह पूँजीवाद के दोषों को दूर कर देता है, वास्तव में समाजवाद के धनात्मक लाभ और भी महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ उत्पादन का विस्तार होता है, आर्थिक कल्याण का स्तर ऊँचा उठता है, बेरोजगारी का प्रश्न नहीं उठता और मनुष्य को मनुष्य का सम्मान मिलता है। शोषण की सम्भावना न रहने के कारण सहयोग और सद्भावना बढ़ती है। ऐसी दशा में समाज सम्भवतः शीघ्र ही एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना कर सकेगा। समाजवाद के पक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं :—

(१) समाजवाद पूँजीवाद के दोषों को समाप्त कर देता है।

(२) *सार्वजनिक प्रबन्ध का व्यक्तिगत प्रबन्ध की तुलना में अकुशल होना आवश्यक* नहीं है।

(३) पूँजीवाद में उपभोक्ता की स्वतन्त्रता केवल एक भ्रम है, क्योंकि एकाधिकारी उसका शोषण करते हैं और झूठे विज्ञापन द्वारा उसे धोखे में डाल देते हैं। किन्तु समाजवाद में केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन होता है जो लाभदायक हैं, इसलिए अन्त में उपभोक्ता को लाभ होता है।

(४) समाजवाद में उत्पत्ति के साधनों का विभिन्न उपयोगों में अधिक उपयुक्त वितरण होता है, क्योंकि यह वितरण लाभ पर आधारित न होकर उपयोगिता पर आधारित होता है।

(५) समाजवाद में उपयुक्त प्रचार, पारितोषण तथा मनोवैज्ञानिक उपायों द्वारा श्रमिकों के कार्य-उत्साह को बनाये रखना सम्भव होता है।

(६) समाजवाद जनता को कार्य का अधिकार और न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करके

आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। श्रमिक की निर्धनता तथा सौदा करने की बलहीन शक्ति के कारण पूँजीवाद में व्यावसायिक स्वतन्त्रता केवल सैद्धान्तिक ही होती है।

शुम्पीटर (Schumpeter) का विचार है कि निम्न चार कारणों से समाजवादी प्रणाली पूँजीवादी प्रणाली से उत्तम है :—(क) अधिक आर्थिक कुशलता, (ख) अधिक कल्याण, (ग) एकाधिकारी व्यवहारों का अभाव, और (घ) व्यापार चक्रों की अनुपस्थिति।

समाजवाद एवं पूँजीवाद का मिश्रण
[मिश्रित अर्थ-व्यवस्था]
(Mixed Economy)

पूँजीवादी देशों में समाजवादी तत्वों की उपस्थिति—

आज के युग में शुद्ध समाजवाद अथवा शुद्ध पूँजीवाद कहीं भी देखने को नहीं मिलता। समाजवाद और पूँजीवाद के बीच मूलभूत अन्तर सम्पत्ति और उत्पत्ति के साधनों के स्वामित्व के सम्बन्ध में है। पूँजीवाद में यह स्वामित्व व्यक्तियों के पास होता है, परन्तु समाजवाद में समाज अथवा राज्य के पास। व्यवहार में लगभग प्रत्येक देश में किसी न किसी अंश तक पूँजीवाद और समाजवाद का मिश्रण पाया जाता है। यद्यपि यह सम्भव है कि एक देश में तो पूँजीवादी तत्व अधिक बलवान हो और दूसरे में समाजवादी तत्व। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन जैसे पूंजीवादी देशों में भी आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तियों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। उदाहरणस्वरूप, ब्रिटेन में मृत व्यक्तियों की सारी सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त नहीं होती बल्कि उसका एक भाग राज्य द्वारा ले लिया जाता है। राज्य व्यक्ति को यह अधिकार नहीं देता कि वह अपनी इच्छानुसार अपनी सम्पत्ति किसी को भी दे सके। सम्पत्ति कुछ विशेष प्रकार के सम्बन्धियों को ही दी जा सकती है, जिसका उद्देश्य यह होना है कि अपरिचित लोगों को वास्तविक उत्तराधिकारी से ऊँचा स्थान न मिल सके। इसी प्रकार, व्यक्तियों को यह भी अधिकार नहीं होता है कि वे अपने धन का अपनी इच्छानुसार कोई भी उपयोग कर सकें। ठीक, इसी प्रकार, बहुत सी दशाओं में विक्रेताओं को भी यह अधिकार नहीं होता कि वह अपने माल को किसी भी दाम पर बेच सकें अथवा उसका ग्रासचन कर सकें। अधिकांश पूँजीवादी देश अपने आयातों और निर्यातों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाते हैं। इस प्रकार, पूँजीवादी देशों में भी सरकार व्यक्तियों की आर्थिक स्वतन्त्रता पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाती है। ऐसा इस कारण होता है कि पूँजीवाद में समाजवाद का कुछ न कुछ पुट अवश्य रहता है।

समाजवादी देशों में पूँजीवादी तत्वों की उपस्थिति—

ठीक, इसी प्रकार, यह भी दिखाया जा सकता है कि समाजवादी देशों में भी कुछ न कुछ पूँजीवादी तत्व समाविष्ट रहते हैं। ऐसे देशों में बहुत बार सीमित अंश तक व्यक्तिगत सम्पत्ति और एकाधिकार की आज्ञा दी जाती है। सोवियत रूस में भी कुछ अंश तक निहित पूँजीवादी तत्व अवश्य देखने को मिलते हैं। अधिक से अधिक हम इतना कह सकते हैं कि जिन देशों को 'समाजवादी देश' कहा जाता है उनमें समाजवादी तत्व अधिक तथा पूँजीवादी तत्व कम हैं और जिन देशों को हम 'पूंजीवादी देश' कहते हैं उनमें पूंजीवादी तत्व अधिक हैं और समाजवादी तत्व कम। "सच्ची बात यह कि संसार में, जिसमें कोई भी चीज विशुद्ध रूप में नहीं पाई जाती है, शुद्ध प्रकार की प्रणालियाँ पाना कठिन है। प्रत्येक स्थान पर हमें सत्य तथा प्रतिसत्य का मिश्रण मिलता है। सत्य तथा प्रतिसत्य ही शुद्ध प्रकार हैं अर्थात् आदर्श हैं। आदर्श अच्छे अथवा बुरे हो सकते हैं परन्तु वे इस अर्थ में आदर्श होते हैं कि उन्हें प्राप्त करना

कठिन होता है। इस प्रकार, इस संसार में हमें समाजवाद और पूँजीवाद परस्पर विभिन्न अनुपातों में मिले हुए दिखाई देते हैं।"[1]

समाजवाद और पूँजीवाद का मिश्रण क्यों आवश्यक है ?

दोनों प्रणालियों के मिश्रण का औचित्य प्रो० मेहता की भाषा में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—"स्वभाव में ही हम ऐसा अनुभव करते हैं कि जो वस्तु शुद्ध है वह उत्तम भी अवश्य होगी। यदि यह विचार सत्य हो, तो अपने शुद्ध रूप में पूँजीवाद और समाजवाद दोनों ही 'मिश्रण' से अच्छे होंगे। वास्तविक व्यावहारिक अनुभव ऐसा है कि एक विशुद्ध प्रकार हमारे उद्देश्य की उतनी अच्छी पूर्ति नहीं करता जितना कि एक मिश्रण, और इसका कारण शायद यह है कि जिसे हम 'शुद्ध' कहते हैं वह वास्तव में 'शुद्ध' नहीं होता। उदाहरणस्वरूप, *विशुद्ध मूर्खता को मूर्खता और बुद्धिमत्ता के मिश्रण से अच्छा नहीं कहा जा सकता।* किन्तु, इसके विपरीत, विशुद्ध बुद्धिमत्ता मूर्खता और बुद्धिमत्ता के मिश्रण से अच्छी होती है। परन्तु प्रश्न यह है कि शुद्ध अर्थ क्या है। शायद शुद्ध अर्थ स्वयं भी कुछ चीजों का मिश्रण है।...... *और हमने मिश्रण को अच्छा क्यों पाया है ? पूँजीवाद और समाजवाद दोनों ही हमसे अत्यधिक* नैतिकता की माँग करते हैं। यदि पूँजीवाद से अच्छे फलों की आशा है, तो इसके लिए लोगों को बहुत ईमानदार, बहुत बुद्धिमान और दृष्टियों से बहुत चरित्रवान होना चाहिए। यही बात समाजवाद के विषय में भी कही जा सकती है। समाजवाद तभी सफल होता है जब लोगों में उच्चकोटि की नागरिक भावना होती है।......यदि राज्य है तथा सरकार है, तो इसका अर्थ यह है कि कुछ उद्देश्यों के लिए लोग आपस में मिल गये हैं।......इसका अर्थ यह हुआ कि आर्थिक प्रणाली में कुछ समाजवादी तत्त्व हैं। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि मनुष्य सदा ही एक-दूसरे की सेवा करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं, अर्थात् वे जानते हैं कि अपने अस्तित्व का एक अंश तक समर्पण किये बिना उनका काम नहीं चल सकता है।"[2]

यह आवश्यक है कि कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लोग आपस में मिलकर कार्य करें। इसके बिना काम नहीं चलेगा। अपनी रक्षा के लिये, कुछ प्रकार के आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तथा सामाजिक-व्यवस्था को बनाये रखने के लिये उनका आपस में मिल जाना आवश्यक होता है। न मिलने की दशा में अव्यवस्था फैलने का भय है। मनुष्य सदा ही किसी ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है जो उसे केवल अस्पष्ट रूप में ही दिखाई पड़ता है। वह विभिन्न प्रकार की सामाजिक और राजनैतिक प्रणालियों में प्रयोग करता रहता है, क्योंकि उसे यह नहीं पता कि उसकी अन्तिम इच्छा क्या है ? ठीक, इसी प्रकार, समाजवाद और पूँजीवाद का मिश्रण भी आवश्यक है। यद्यपि इस मिश्रण में कहीं समाजवादी तत्त्व अधिक बलवान होगा और कहीं पूँजीवादी तत्त्व। कार्ल मार्क्स ने जब यह कहा कि पूँजीवाद के बाद समाजवाद का आना अवश्यम्भावी है, *तो उन्होंने ठीक कहा था, परन्तु दूसरे व्यक्ति यदि यह कहें कि समाजवाद के बाद* पूँजीवाद आयेगा, तो वे भी गलत नहीं हैं। "फिर क्यों ? इसलिए कि हम अनैतिक मनुष्य हैं। यदि हममें एक बार नैतिकता अथवा पूर्ण नैतिकता आ जाये, तो हमें किसी भी राजनैतिक प्रणाली की आवश्यकता न रहेगी। फिर न कोई सरकार होगी न कोई राज्य। फिर वह अवस्था आ जायेगी जिसे *राजनैतिक विचारकों ने अराजकतावाद (Anarchism) का नाम दिया है,* अथवा जिसे महात्मा गांधी ने राज्य का धीरे-धीरे मुरझाना कहा है।"[3]

---

[1] J. K. Mehta : *Foundations of Economics*, Vol. I, p. 270.
[2] *Ibid*, pp. 970-71.
[3] *Ibid*, p. 271.

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था क्या है ?

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था विशुद्ध निर्बाधावाद तथा उत्पत्ति के साधनों के सामाजीकरण के बीच एक समझौता है । इसे इस कारण उचित बताया जाता है कि इसमें पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के गुण प्राप्त किये जा सकते हैं जबकि दोनों के दोषों से यह प्रणाली बची रहेगी । भारत में समाजवादी ढंग की व्यवस्था का जो लक्ष्य निश्चित किया गया है वह वास्तव में मिश्रित व्यवस्था के विचार पर आधारित है । ऐसी व्यवस्था में उत्पादन, वितरण, उपभोग तथा विनियोग, संक्षेप में आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों के विषय में सभी प्रकार के महत्त्व-पूर्ण निर्णय ऐसी संस्थाओं द्वारा किये जाते हैं जो सामाजिक हितों को प्रधानता देती हैं ।

दूसरी पंचवर्षीय योजना के लेखकों ने कहा है कि "विकास के लिये आवश्यक दशायें उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य पूरे समाज की ओर से एक प्रमुख संस्था के रूप में भारी उत्तरदायित्व लें । सार्वजनिक क्षेत्र का शीघ्रगामी विकास होना चाहिये । इसके लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि उन राज्य विकासक्रमों को प्रारम्भ करे जिनके प्रारम्भ करने के लिए व्यक्तिगत क्षेत्र या तो अयोग्य है या तैयार नहीं है बल्कि यह भी आवश्यक है कि वह अर्थ-व्यवस्था में विनियोगों का समस्त रूप निश्चित करने में महत्त्वपूर्ण कार्य करे, चाहे ये विनि-योग स्वयं इसके द्वारा किये जायें अथवा निजी क्षेत्र द्वारा । निजी क्षेत्र को उस परिधि के भीतर, जो समाज के व्यापक नियोजन द्वारा निश्चित की जाती है, काम करना होगा । विनियोग के साधन वास्तव में अन्तिम रूप से सामाजिक क्रियाओं द्वारा ही उपलब्ध किये जाते हैं । व्यक्तिगत उपक्रम, स्वतन्त्र कीमत निर्धारण तथा व्यक्तिगत प्रबन्ध में सब ऐसी विधियाँ हैं जिनका उद्देश्य सामाजिक लक्ष्यों को पूरा करना है, अत: इनका औचित्य केवल समाज को होने वाले लाभों पर ही निर्भर होना है ।......जिन क्षेत्रों में प्राविधिक कारणों से शक्ति तथा धन के केन्द्रीयकरण का भय है, उनमें पूर्ण अथवा आंशिक रूप में सार्वजनिक स्वामित्व तथा सार्वजनिक नियन्त्रण और प्रबन्ध में सार्वजनिक साझेदारी विशेषतया आवश्यक है । कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें सरकारी सहायता के बिना व्यक्तिगत उपक्रम किसी प्रकार प्रगति नहीं कर सकता । ऐसी दशाओं में इनके लिये जो साधन जुटाये जाते हैं उनकी सार्वजनिक अथवा अर्द्ध-सार्वजनिक प्रवृत्ति को जान लेना आवश्यक है । शेष अर्थ-व्यवस्था में ऐसी दशायें उत्पन्न की जानी चाहिए, जिनमें व्यक्तिगत प्रेरणा तथा उपक्रम के लिए (चाहे वे व्यक्तिगत आधार पर हों अथवा सहकारी आधार पर) पूर्ण अवसर रहे । एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था में, जिसमें निरन्तर बढ़ते हुए अंश में विविधीकरण होता रहता है, सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत क्षेत्रों के एक ही साथ विकसित होने के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है......।"[1]

स्पष्ट है कि मिश्रित अर्थ व्यवस्था में समाजवादी और पूंजीवादी तत्त्वों का, देश की आर्थिक और ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुसार, सम्मिश्रण रहता है । अर्थ-व्यवस्था के कुछ ऐसे भाग निश्चित कर दिये जाते हैं, जिनमें व्यक्तिगत उपक्रम को विकास का पूरा अवसर दिया जाता है यद्यपि इस पर सामान्य रूप में सामाजिक हितों की रक्षा के लिए नियन्त्रण रखा जा सकता है । व्यक्तिगत उपक्रम के जीवित रहने तथा उन्नति करने की गारन्टी इसी आश्वासन पर दी जाती है कि वह व्यक्तिगत उद्देश्यों के स्थान पर सामाजिक हितों को उन्नत करेगा । लाभ-उद्देश्य तो बना रहता है परन्तु इसका अधिक अंश तक नियन्त्रण तथा नियमन कर दिया जाता है, जिससे इसके दोष बड़े अंश तक दूर हो जाते हैं । अर्थ-व्यवस्था के कुछ भागों को सार्वजनिक उपक्रमों के लिए सुरक्षित कर लिया जाता है ।

---

[1] The Govt of India Planning Commission —*Second Five Year Plan*, pp 22-23.

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के लक्षण—

इस प्रकार, मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का लक्षण यह है कि इसमें एक ही साथ सार्वजनिक और व्यक्तिगत क्षेत्र का सरकार द्वारा समुचित नियमन कर दिया जाता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का ऐतिहासिक विकास तथा उसका औचित्य—

निर्बाधावाद का समर्थन एक गलत मान्यता के आधार पर हुआ—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का विचार थोड़े ही काल से आया है यद्यपि व्यवहार में इतिहास के आरम्भ-काल से ही इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था संसार में बनी रही है। एडम स्मिथ तथा उनके समर्थक निर्बाध रूप से निर्बाधावादी नीति के पुजारी थे। किन्तु कुछ क्षेत्रों में (जैसे सार्वजनिक कार्यों और शिक्षा में) स्मिथ ने सरकारी कार्य की आवश्यकता स्वीकार की है। मिल की दृष्टि में निर्बाधावाद ही सर्वोत्तम विश्वास था। यह परम्परा मार्शल के काल तक चली आती है। यह विचार इस गलत मान्यता पर आधारित था कि व्यक्तिगत और सामाजिक हितों में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता है और जब एक व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए करता है तो वह यदि प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप से सामाजिक हित को भी आगे बढ़ाता है।

कैन्ज द्वारा गलत मान्यता का भण्डाफोड़*—*कैन्ज की प्रसिद्ध पुस्तक The End of Laissez-Faire के प्रकाशन के पश्चात् सन् १९२६ के बाद यह परम्परागत विचारधारा पूर्णतया बदल गई। केन्ज ने बताया कि "इस संसार का ऊपर से इस प्रकार निर्देशन नहीं होता कि सदा व्यक्तिगत और सामाजिक हितों में अनुरूपता रहे। नीचे से भी इसका प्रबन्ध इस प्रकार नहीं होता है कि व्यवहार में दोनों अनुरूप रहें ही। आर्थिक सिद्धान्तों से इस प्रकार का सही निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि विवेकपूर्ण स्वार्थ सदा ही सार्वजनिक हित को उन्नत करता है। यह भी साधारणतया सही नहीं होता कि व्यक्तिगत स्वार्थ विवेकपूर्ण हो। बहुत बार *जब व्यक्ति अलग-अलग अपने हितों को उन्नत करने के लिए कार्य करते हैं तो वे अपने स्वार्थों* को प्राप्त करने के लिए भी बहुत अशक्त तथा बुद्धिहीन होते हैं। अनुभव से यह सिद्ध नहीं होता कि जब व्यक्ति मिल कर एक सामाजिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं तो वे उतने स्पष्टदर्शी नहीं होते जितने उस दशा में जब उनमें से प्रत्येक अलग-अलग काम करता है।"

केन्ज का कहना है कि पूँजीवाद को पूर्णतया हटा देने से संसार के आर्थिक कष्ट दूर न होंगे। यह समझना भूल है कि समाजवाद भली-भाँति कार्य करने में असमर्थ है। स्वयं पूँजीवाद का रूप बदल रहा है। पुराना 'वित्तीय पूँजीवाद' (Financial capitalism) अब 'औद्योगिक पूँजीवाद' *(Industrial capitalism) में बदल रहा है। यह नये प्रकार का पूँजीवाद* समुचित रूप से चल सकता है बशर्ते सरकार समय-समय पर उपयुक्त कार्यवाही करती रहे और इसे आवश्यक नियन्त्रण तथा सहायता से बल देती रहे। वास्तविक उपचार सरकारी हस्तक्षेप ही है। इससे न केवल आर्थिक प्रणाली के वर्तमान दोष दूर होंगे बल्कि व्यक्तिगत प्रेरणा के सफल सचालन के लिए उपयुक्त दशायें उत्पन्न हो जायेंगी। सरकार ही सन्तुलन कार्य का कार्य कर सकती है। केन्ज तो यहाँ तक कहते है कि कुछ दशाओं में पूँजीवाद समाजवाद से अच्छा है।

महान् मन्दी की शिक्षा—आगे चलकर महान् मन्दवाद ने निर्बाधावादी कल्पना पूर्णतया *नष्ट कर दी और सरकारी हस्तक्षेप तथा नियोजन की आवश्यकता को प्रकाश में ला* दिया। पूँजीवाद के महान् समर्थक पीगू ने भी यह स्वीकार किया है कि "यदि प्रभावगामी ढंग से सगठन करना सम्भव हो, तो समाजवादी केन्द्रीय नियोजन हमारी वर्तमान पूँजीवादी प्रणाली से अच्छा रहेगा।"

द्वितीय महायुद्ध के बाद की परिस्थितियाँ—जैसा कि पहले बताया जा चुका है,

स्थापित किया जा सके। हमने अपने देश मे आर्थिक नियोजन का मार्ग ग्रहण किया है। यहाँ व्यक्तिगत क्षेत्र बना रहेगा परन्तु इस पर सामाजिक आवश्यकता का आधिपत्य रहेगा जिससे कि यह सार्वजनिक कार्य का पूरक बन सके।

इस प्रकार, मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के समर्थकों का कहना है कि यह प्रणाली व्यक्तिगत और सामाजिक हितों के समायोजन पर आधारित है। तर्क यह है कि सरकारी नियन्त्रण और नियमन द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक हितों मे मेल कराया जा सकता है और इस प्रकार पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों मे, व्यक्तिगत प्रारम्भन और प्रेरणा तथा सार्वजनिक हित दोनों ही एक साथ प्राप्त हो सकते है। किन्तु हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि जब पूंजीवाद और समाजवाद का इस प्रकार मिश्रण किया जाता है तो यह भी सम्भव है कि दोनों के दोष आ जायें और दोनों मे से किसी को भी लाभ प्राप्त न हो। शुद्धतावादी इसे छूना भी पसन्द नही करेंगे। यह न तो समाजवाद है और न पूंजीवाद वरन् दो प्रतिविरोधी विचारों तथा क्रियाओं का विचित्र मिश्रण है।

गाँधीवाद (Gandhism)

भारत मे आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक विचारधाराओं पर महात्मा गाँधी के विचारों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। गाँधीजी एक प्रकार आधुनिक भारत के निर्माता हैं। गाँधीजी ने पश्चिम के प्रगतिशील भौतिकवाद और भारत के परम्परागत आदर्शवाद के साथ एक अच्छा सुमिश्रण किया है। यद्यपि गाँधीजी ने स्वय कभी किसी अलग विचार-प्रणाली के निर्माण का दावा नहीं किया है परन्तु उनके चेलों और समर्थकों ने उनके विचारों को लेकर आर्थिक और सामाजिक विचारों की एक ऐसी प्रणाली का आविष्कार किया है जिसे गाँधीवाद के नाम से पुकारा जाता है।

इस सम्बन्ध मे यह बता देना आवश्यक है कि गाँधीजी स्वभाव से ही आदर्शवादी थे, परन्तु वे इस आदर्शवाद को व्यावहारिक जीवन मे कार्यरूप देने के पक्ष मे थे और स्वय अपने उदाहरण से आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते थे। इसके साथ ही साथ गाँधीजी पर भारत की परम्परागत धार्मिक विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा था और उन्होंने भारत की समस्याओं और संवेदनशीलताओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया था। गाँधीजी का विचार था कि भारत की समस्याओं को सुलझाने का सबसे अच्छा उपाय ग्रामीण पुनर्निर्माण था और इसके लिए यह आवश्यक था कि ग्रामवासियों को अपनी सहायता स्वय करने का महामन्त्र सिखाया जाय। यही कारण है कि अपने रचनात्मक कार्यक्रम मे गाँधीजी ने ग्रामीण उत्पादन तथा कुटीर उद्योगों के विकास को सबसे ऊँचा स्थान दिया है।

गाँधीजी के आर्थिक विचारों की प्रकृति—

गाँधीजी का विचार था कि अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र अथवा धर्म से अलग नहीं किया जा सकता है। उनके विचार मे अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र का दास ही है। गाँधीजी के अनुसार अर्थशास्त्र एक नैतिक तथा व्यावहारिक शास्त्र है जो हमे बताता है कि नैतिक आदर्शों को बनाये रखते हुए व्यक्ति तथा समाज के कल्याण को किस प्रकार अधिकतम् किया जा सकता है। गाँधीजी पश्चिमी विचारधारा की उस प्रवृत्ति के विरुद्ध हैं जिसमे अर्थशास्त्र मे भौतिक सुख पर ही बल दिया गया है और अर्थशास्त्र को नैतिकता से अलग कर दिया गया है। किन्तु गाँधीजी के विचार एक बड़े अंश तक कल्याणकारी अर्थशास्त्रियों के विचारों से मेल खाते हैं।

गाँधीवाद के आधारभूत तथ्य—

गाँधीवाद के आधारभूत तथ्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) **मानवता का महत्व**—गाँधीजी अर्थशास्त्र की इस परम्परागत विचारधारा के

विरुद्ध है कि मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध मुद्रा और धन पर आधारित हैं। उनका विचार है कि समाज की अधिकांश बुराइयों का कारण मानवता को समुचित महत्त्व न देना और लोगों द्वारा दूसरों का मूल्यांकन केवल मुद्रा से करना है। उनके अनुसार मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों का आधार मुद्रा और प्रतियोगिता न होकर सत्य, प्रेम तथा सहयोग है। यही कारण है कि गांधीजी ने सभी आर्थिक संस्थाओं और आर्थिक व्यवहारों के लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक आधार को स्वीकार किया।

(२) अहिंसा—गांधीजी के विचार में जीवन के सर्वोत्तम सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज दोनों ही के लिए सत्य और अहिंसा हैं। उनका कहना है कि साधनों और उद्देश्यों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। केवल इतना ही पर्याप्त न होगा कि उद्देश्य या लक्ष्य सज्जन हों बल्कि उसे प्राप्त करने के उपाय तथा साधन भी सज्जन होने चाहिए अन्यथा समस्याओं का स्थायी हल असम्भव होगा। अहिंसात्मक तथा सत्य साधनों से जो आर्थिक परिवर्तन लाये जाते हैं वे सदा के लिए बने रहते हैं और चिरस्थायी होते हैं, क्योंकि इससे विरोधियों का हृदय-परिवर्तन हो जाता है।

(३) सरलता—गांधीजी का विचार है कि जीवनयापन की जटिलता जो पाश्चात्य भौतिकवाद की प्रमुख विशेषता है कोई अच्छी बात नहीं है। गांधीजी साधारण जीवन तथा ऊँचे आदर्शों के पक्षपाती हैं, जिसमें मनुष्य की आवश्यकतायें कम तथा सरल होंगी। भौतिक आवश्यकताओं को बढ़ाने तथा उनकी पूर्ति के लिए अधिक से अधिक साधन जुटाने से भी जीवन-स्तर ऊँचा नहीं उठता है, बल्कि ऊँचा जीवन-स्तर सादगी और सन्तोष पर निर्भर होता है। यही कारण है कि गांधीजी ने जटिल मशीनों और जटिल औद्योगीकरण का विरोध किया है, ताकि मानव जीवन की जटिलता न बढ़े।

(४) विकेन्द्रीयकरण—गांधीजी का विचार है कि आर्थिक शक्ति का अत्यधिक केन्द्रीयकरण किसी न किसी प्रकार की आर्थिक दासता को उत्पन्न करता है और मानव व्यक्तित्व का विकास भली भांति तभी हो सकता है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आधारभूत आवश्यकताएँ अपने अथवा अपने पड़ोसियों के प्रयत्न से पूरा करे। यही कारण है कि वे आर्थिक प्रणाली के ऐसे विकेन्द्रीयकरण का सुझाव देते हैं जिसमें स्थानीय इकाइयों को एक बड़े अंश तक स्वावलम्बता प्राप्त हो। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन इकाइयों में किसी प्रकार का सहयोग नहीं होना चाहिए। उद्देश्य केवल इतना ही है कि अर्थ-व्यवस्था का संगठन विकेन्द्रीयकृत आधार पर होना चाहिए।

(५) संरक्षता—गांधीजी का विचार है कि समाज के विभिन्न वर्गों अथवा धनवानों और निर्धनों के बीच किसी प्रकार के संघर्ष का होना आवश्यक नहीं है। साधारण अर्थ में निजी सम्पत्ति का कोई अर्थ नहीं है। सभी प्रकार की सम्पत्ति चाहे वह किसी के भी पास है, एक प्रकार से "ट्रस्ट" सम्पत्ति है, जिसे हम दूसरों की ओर से उन्हीं के लाभार्थ लिए हुए हैं। यह सभी की सम्पत्ति है और इसके उपयोग के लाभ सभी को मिलने चाहिए। पूँजीपति, सामाजिक सम्पत्ति के संरक्षक (Trustee) के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। धीरे-धीरे समझा कर तथा हृदय-परिवर्तन द्वारा समाज में इसी विचारधारा को लाया जाना चाहिए, और, जब ऐसा हो जायेगा तो वर्ग-संघर्ष समाप्त हो जायेगा, क्योंकि स्वयं पूँजीपति श्रमिकों के कल्याण को प्राथमिकता देंगे।

संक्षेप में, गरीबी अनैतिक है क्योंकि यह मनुष्य को पतन की ओर ले जाती है तथा मानवता को नष्ट करती है, किन्तु निरन्तर आवश्यकताओं को बढ़ाने और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की इच्छा भी उचित नहीं है, क्योंकि यह लोभ, संघर्ष तथा शोषण को जन्म देती है।

अच्छा यह है कि मनुष्य स्वेच्छा से धीरे-धीरे अपनी आवश्यकताओं को घटायें, क्योंकि इसमें आवश्यकताओं को निरन्तर बढ़ाते रहने की तुलना में अधिक प्रगतिशीलता है। जीवन में संघर्ष की तुलना में सहयोग अधिक लाभदायक और उत्पादक है। शारीरिक परिश्रम बहुत महान्, सज्जन और पवित्र है। वे सभी मशीनें जो श्रम की बचत करती हैं, मनुष्य को पतन की ओर ले जाती हैं। प्रत्येक मनुष्य में स्वविकास की बहुत बड़ी क्षमता है और उसे इस दिशा में बढ़ने का अत्यधिक अवसर मिलना चाहिए। राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप से तथा व्यक्ति के राज्य पर अधिक निर्भर रहने से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है और उसकी प्रगति में बाधा आती है। आर्थिक प्रजातन्त्रवाद के लिए भी अर्थ-व्यवस्था का सङ्गठन विकेन्द्रीयकृत होना आवश्यक है।

गाँधीवाद का रचनात्मक कार्यक्रम—

उपरोक्त आदर्शों के आधार पर गाँधीजी ने एक १४ सूत्री के रचनात्मक कार्यक्रम का निर्माण किया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य आर्थिक सुधार तथा पुनर्निर्माण और इसका आधारभूत बल ग्रामीण पुनरोत्थान था। यह मान कर चला गया था कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था में गाँव ही आधारभूत इकाई है और गरीबी तथा आर्थिक दासता के विरुद्ध युद्ध का आरम्भ गाँव से होना चाहिए।

गाँधीजी ने ग्रामवासियों को सलाह दी कि वे राज्य अथवा बाहरी दान और सहायता पर निर्भर न रहें, बल्कि स्वयं अपनी सहायता करें। इस सम्बन्ध में खादी और उद्योगों के विकास पर विशेष बल दिया गया है। गाँधीजी का विचार था कि ग्रामवासियों के लिए गौण रोजगार की बहुत आवश्यकता थी और ग्रामवासियों को स्वावलम्बी बनाने के लिए भी अधिक रोजगार की व्यवस्था आवश्यक थी। अतः उन्होंने ग्रामोद्योग के विकास पर बल दिया। परन्तु वे ग्रामीण उद्योग को कुटीर उद्योगों के आधार पर सङ्गठित करने के पक्ष में थे। ऐसे उद्योगों के लिए कच्चा माल, श्रम, पूँजी और व्यवस्था सभी स्थानीय रूप में प्राप्त किये जा सकते हैं। गाँधीजी का विचार था कि आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योग जो अपना कच्चा माल और अपने श्रमिक गाँव से ही लेते हैं अन्त में ग्रामीण सम्पदा से ही लाभ कमाते हैं और गाँव में छोटे-छोटे उद्योग खोलने से यह धन गाँव में ही रह जायेगा। गाँव को शक्तिशाली बनाने के लिए उसकी स्वावलम्बना प्राप्त करने के लिए इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं कि गाँव में अनेक प्रकार के कुटीर-उद्योग खोले जाएँ।

गाँधीजी ने चर्खे की बहुत महिमा बताई है। इससे न केवल रोजगार और आय बढ़ेगी बल्कि ग्रामवासी का नैतिक और अध्यात्मिक उत्थान भी होगा। इसलिए उन्होंने चर्खा कातना सभी के लिए आवश्यक बताया है। गाँधीजी ने अखिल भारतीय चर्खा सङ्घ तथा अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सङ्घ की स्थापना की, जिससे कि सूत कातने वालों तथा ग्राम्य उद्योगों के कारीगरों को आवश्यक तकनीकी और सङ्गठनीय सहायता मिल सके। गाँधीजी ने कांग्रेस के सदस्यों के लिए सूत कातना और खादी पहिनना आवश्यक बताया, जिससे ग्रामीण उद्योगों के माल की खपत हो सके। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि लोग यथासम्भव हाथ की बनी वस्तुएँ ही उपयोग करें।

अन्य उद्योगों में गाँधीजी ने गुड़ बनाने, चमड़ा कमाने, चटाई बनाने, घानी का तेल निकालने आदि पर भी बल दिया। ग्रामोत्थान के अन्य कार्यक्रमों में उन्होंने ग्रामीण सफाई, पंचायतों के विकास, गौ रक्षा, निरक्षरता-उन्मूलन तथा हरिजन-उत्थान पर भी बल दिया।

गाँधीवाद और समाजवाद—

गाँधीजी के अपने कथन के अनुसार वे स्वयं समाजवादी थे और उनका सर्वोदय कार्य-

रूप भारतीय समाजवाद था। परन्तु क्या वास्तव में गांधीवाद समाजवाद है ? गांधीजी व्यक्तिगत सम्पत्ति के समर्थक है और पूँजीपतियों को सार्वजनिक सम्पत्ति के संरक्षक बना कर रखना चाहते हैं। वे तो पूँजीपतियों के हृदय-परिवर्तन द्वारा जागरण लाने के पक्ष में हैं, जिससे कि वे श्रमिकों के कल्याण पर अधिकतम् ध्यान दें।

मार्क्सवादी दृष्टि से गांधीवाद प्रतिक्रियावाद है। गांधीजी वर्ग-संघर्ष को स्वीकार नहीं करते और वह भी नहीं मानते कि इतिहास एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर आगे बढ़ा है और इस प्रकार वर्तमान पूँजीवादी अवस्था से समाजवाद की ओर जायेगा। गांधीवाद पूँजीवाद की बुराइयों को दूर करने के लिए भौतिक प्रगति तथा टेक्नीकल आविष्कारों को स्थगित करके समाज को आर्थिक संगठन की विकेन्द्रीयकृत तथा सरल प्रणाली की ओर ले जाना चाहता है। मार्क्सवादियों का विचार है कि गांधीवाद तो वास्तव मे पूँजीवाद तथा सामन्तवाद के प्रसार को प्रोत्साहन देना है।

किन्तु भारतीय समाजवादियों जैसे **डा० राममनोहर लोहिया**, श्री जयप्रकाश नारायण आदि ने गांधीवाद को भारतीय समाजवाद का प्रतीक मान लिया है। उनका विचार है कि भारतीय समाजवाद एक निर्धन कृषि-प्रधान देश का समाजवाद है, जिसका आधार अहिंसा तथा विकेन्द्रीयकरण ही हो सकते है। इसी प्रकार, श्री कुमारप्पा तथा पं० सुन्दरलाल का विचार है कि गांधीवाद तथा मार्क्सवाद में थोड़ा सा ही अन्तर है। मार्क्स में से हिंसा निकाल दी जाय तो वह गांधीवाद ही रह जाता है।

सर्वोदय
(Sarvodaya)

सर्वोदय का अर्थ एवं इसकी विशेतायें—

सर्वोदय कार्यक्रम भी भारत को महात्मा गांधी की देन है। यह गांधीवाद का दीर्घकालीन कार्यक्रम है, जिसके आधार पर भारत के भावी सङ्गठन का रूप निश्चित किया जायेगा। गांधीजी ने जो अल्पकालीन आर्थिक कार्यक्रम निश्चित किया है उससे दीर्घकाल मे सर्वोदय समाज का ही निर्माण होगा। इस सम्बन्ध मे गांधीजी देश के लिए बड़े पैमाने के केन्द्रीयकरण के पक्ष मे नहीं हैं। उनके सर्वोदय कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—(१) स्थानीय उद्योगों का अधिकतम् विकास होना चाहिए और उनके विकास का आधार स्वावलम्बता होनी चाहिए। (२) यदि तकनीकी आवश्यकताओं के कारण कुछ उद्योगों को बड़े पैमाने पर खोलना आवश्यक हो तो ऐसे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए, जिससे कि उन पर सभी देशवासियों का सामूहिक नियन्त्रण रहे। (३) मशीनों का उपयोग कम से कम रहना चाहिए और इसी प्रकार बड़े पैमाने के उत्पादन का क्षेत्र भी बहुत सीमित रहना चाहिए। (४) देश में उत्पादित धन का समाज के सदस्यों में अधिक न्यायोचित वितरण होना चाहिए, ताकि असमानताएँ समाप्त हों। (५) आर्थिक शक्तियों तथा उत्पत्ति के साधनों का भी विकेन्द्रीयकरण होना चाहिए, जिससे कि उनका एकाधिकार कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ मे न रहे।

सर्वोदय का अर्थ है सबका कल्याण। गांधीजी ने यह नाम रस्किन (Ruskin) की पुस्तक Unto This Last के गुजराती अनुवाद के लिए रखा था। रस्किन की पुस्तक पढ़कर गांधीजी ने निम्न निष्कर्ष निकाले थे :—*श्रम का जीवन वास्तविक जीवन है, एक व्यक्ति की भलाई समाज की ही भलाई में निहित है और सभी व्यक्तियों को अपनी जीविका-उपार्जन का समान अधिकार है।* गांधीजी के अनुसार सर्वोदय सच्चा प्रजातन्त्रवाद है, जहाँ पवित्रता और बुद्धिमानी साथ-साथ रहते हैं, जीवन का सिद्धान्त स्वदेशी होगा और मनुष्य के सभी कार्य सत्य पर आधारित होंगे। अपने जीवन को पवित्र बनाने के लिए गांधीजी ने सुझाव दिया कि लोग

मदिरापान तथा मांस-भक्षण छोड़ दें, जिससे कि वे त्याग और बलिदान की भावना बना सकें। गांधीजी ने अहिंसा पर भी बल दिया, जिसे उन्होंने सामाजिक पुण्य माना है। उन्होंने सभी धर्मों के आदर और छूआ-छूत को दूर करने की सलाह दी, जिसमे आपसी सहयोग बढ़ सके। सर्वोदय दर्शन के अनुसार मनुष्य ही वास्तविक धन है न कि सोना चाँदी। सभी के लिए न्याय होना आवश्यक है और इसके लिए मजदूरी न्यायोचित होनी चाहिए, ताकि देश में सभी सम्पन्न हों और कोई भी अधिक मात्रा में धन न जोड़ सके। सर्वोदय योजना में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और जीविका-उपार्जन में समान अवसर की व्यवस्था है। सर्वोदय योजना औद्योगीकरण द्वारा पूरी नहीं होगी, बल्कि ग्राम्य उद्योगों के विकास द्वारा पूरी होगी। वास्तव में अत्यधिक औद्योगीकरण तो एक अभिशाप है।

सर्वोदय योजना का प्रमुख आधार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को शक्ति प्रदान करना है। गांधीजी का कथन है कि "बड़े पैमाने का औद्योगीकरण आवश्यक रूप में ग्रामवासियों के सक्रिय अथवा निष्क्रिय शोषण को जन्म देगा, क्योंकि इनमे प्रतिस्पर्द्धा तथा बिक्री की समस्याएँ उत्पन्न होंगी। इस प्रकार हमें गाँव को स्वावलम्बी बनाने पर बल देना है ताकि वे मुख्यतया अपने ही उपयोग के लिए उत्पादन करें।"[1]

सर्वोदय समाज के लिए अनेक सामाजिक परिवर्तन आवश्यक बताये गये हैं। गांधीजी स्त्रियों को अहिंसा (अपरिमित प्रेम) की मूर्ति मानते हैं और उन्हें पुरुषों के समान अधिकार देने के पक्ष में हैं। वे गौ-रक्षा के पक्ष में हैं और पशु-हत्या का विरोध करते हैं। सर्वव्यापी भाई-चारे के पक्ष मे हैं और सभी प्रकार के आपसी अन्तर मिटाना चाहते हैं।

सर्वोदय समाज कैसे स्थापित हो ?

गांधीजी का कथन है कि मनुष्यों के बाहरी रूपों में अन्तर हो सकते हैं, परन्तु उनके आन्तरिक रूप समान होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने बाहरी रूप से अपने अन्तर की पुकार को न दबाये, बल्कि अन्तर की पुकार से शक्ति प्राप्त करे। सर्वोदय समाज में बीमारी के लिए बहुत कम स्थान है, इसमें निर्धनता और भीरुता नहीं होगी और निरक्षरता मिट जायेगी। यही वास्तविक स्वराज्य अथवा राम-राज्य होगा। भारतीय शासक प्रत्येक नशे से अलग रहने वाला व्यक्ति होगा। वह एक ऐसी झोपड़ी मे रहे जिस तक सबकी पहुँच हो। उसे चर्खा कातना होगा और अछूतता को छोड़ना होगा। सर्वोदय राज्य किसी धर्म पर आधारित न होगा। उसमें सभी धर्मों के लिए सम्मान होगा। यह दूसरे राष्ट्रों मे मैत्री और सद्भावना रखेगा और शक्ति के बल पर आपसी समस्यायें नहीं सुलझायेगा। इसमें पूँजी और श्रम के बीच मधुर सम्बन्ध होंगे और प्रत्येक प्रकार की बुराई समाप्त की जायेगी।

ऐसे समाज के निर्माण के लिए सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है जो अपना जीवन समाज-सेवा के लिए अर्पित कर दें। सर्वोदय-कार्यकर्त्ता स्वतन्त्रतापूर्वक सभी से मिलें और समाज के निर्धन वर्गों के साथ घुल-मिल कर उनके आर्थिक और सामाजिक जीवन को ऊँचा उठायें।

सर्वोदय का कार्यक्रम—

म० गांधी ने सर्वोदय कार्यक्रम निश्चित किया था, जिसमे डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद,

---

[1] "Industrialisation on a mass scale will necessarily lead to passive or active exploitation of the villagers as the problems of competition and marketing come in Therefore, we have to concentrate on village being self-contained, manufacturing mainly for use."—M. K. Gandhi : *Sarvodaya*, (1954), p. 43.

आचार्य विनोबा भावे तथा श्री जयप्रकाश नारायण आदि ने स्पष्टीकरण किया है। इस कार्य-क्रम के अनुसार जन-साधारण के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए किसानों और श्रमिकों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

इस दृष्टि से आवश्यक पहली बात यह है कि जमीदार और पूँजीपति कृषकों और श्रमिकों का शोषण न करने पायें। इसके लिए किसान सभाओं और श्रमिक संघों का संगठन आवश्यक है। सभी वयस्कों तथा पाठशाला जाने योग्य बच्चों के लिए शिक्षा सुविधा होनी चाहिए। वयस्कों को सामान्य शिक्षा तथा तकनीकी शिक्षा रात्रि स्कूलों में मिलनी चाहिए और बच्चों को बेसिक शिक्षा मिलनी चाहिये। ग्राम्य कार्यक्रमों में सबसे अधिक ध्यान ग्राम्य उद्योग के विकास, सफाई तथा बीमारी से बचने के उपायों पर दिया जाना चाहिए। प्रत्येक गाँव को पंचायतों की सहायता से पूर्ण रूप से ग्राम प्रजातन्त्र बना देना चाहिए। हाथ से सूत कातने के उद्योग का विशेष विकास होना चाहिए। इससे सभी ग्रामवासियों को लाभ होगा, सर्वोदय कार्य-क्रम में ऐसी दशायें उत्पन्न करना भी सम्मिलित किया गया है कि आर्थिक समानता प्राप्त की जा सके और साम्प्रदायिक मेल-जोल बना रहे।

आचार्य विनोबा भावे तथा श्री जयप्रकाश नारायण इस कार्यक्रम के महत्वपूर्ण कार्य-कर्त्ता हैं, यद्यपि स्वतन्त्र भारत वास्तव में इन आदर्शों को ग्रहण नहीं कर पाया है।

परीक्षा प्रश्न :

१. पूँजीवाद की बुनियादी आर्थिक विशेषतायें क्या हैं? किन बातों में समाजवाद इससे बेहतर है?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम पूँजीवाद की परिभाषा दीजिये और मुख्य आर्थिक विशेषताओं को बताकर इसके अर्थ को स्पष्ट कीजिये। तत्पश्चात् समाजवाद के गुणों का वर्णन करते हुए पूँजीवाद की तुलना में उसकी श्रेष्ठता को दिखाइये। अन्त में समाजवाद के दोषों को संक्षेप में बताइये और यह निष्कर्ष निकालिये कि लोकतान्त्रिक समाजवाद या मिश्रित अर्थ-व्यवस्था अधिक उपयुक्त है।]

२. पूँजीवाद की मुख्य विशेषतायें क्या हैं? समाजवाद उन्हें किस प्रकार से बदलना चाहता है?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम पूँजीवाद की परिभाषा और इसकी प्रमुख विशेषतायें दीजिये। तत्पश्चात् समाजवाद की परिभाषा और इसकी प्रमुख विशेषतायें बताइये। समाजवाद की विशेषताओं के उल्लेख से ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि पूँजीवाद की विशेषताओं को समाजवाद किस प्रकार बदलना चाहता है?]

३. क्या समाजवाद किसी समाज में पूँजीवाद की अपेक्षा अधिक आर्थिक सम्पन्नता लाता है? कारण दीजिये।

सहायक संकेत —सर्वप्रथम पूँजीवाद और समाजवाद के अर्थों को समझाइये। तत्पश्चात् समाजवाद के गुणों पर प्रकाश डालिये, किन्तु ऐसा करते समय प्रत्येक गुण की तुलना पूँजीवाद से करते जाइये। अन्त में, निष्कर्ष दीजिये कि कुछ दृष्टियों से समाजवाद पूँजी-

वाद की तुलना में बहतर है, किन्तु इसमें भी दोष हैं। यथार्थ में लोकतांत्रिक समाजवाद अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसमे दोनो के गुणों का समावेश है।]

४. पूँजीवाद और समाजवाद के अन्तर को स्पष्ट कीजिये। क्या आप यह समझते हैं कि पूँजीवाद के स्वभाव मे परिवर्तन हो रहे हैं ?
[सहायक सकेत :—सर्वप्रथम पूँजीवाद और समाजवाद के अन्तर को इनकी परिभाषायें और विशेषतायें देते हुये स्पष्ट कीजिये। तत्पश्चात् पूँजीवाद के दोषो की चर्चा कीजिये। अन्त मे यह बताइये कि पूँजीवाद मे परिवर्तन हो रहा है। इस सम्बन्ध में पूँजीवादी देशों मे पूँजीवाद के दोषो को दूर करने हेतु जो कदम उठाये गये है, उनको बताइये और यह निष्कर्ष निकालिये कि पूँजीवाद का रूप मिश्रित अर्थ व्यवस्था जैसा हो गया है और यह सशोधित रूप ही पूँजीवाद का भविष्य है।]

५. मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की परिभाषा दीजिये और इसकी विशेषताओं का विवेचन करिये। क्या मिश्रित अर्थ-व्यवस्था और लोकतान्त्रिक समाजवाद मे कोई अन्तर है ?

६. असमानताओं को दूर करने मे पूँजीवाद पर समाजवादी अर्थव्यवस्था को क्या लाभ प्राप्त हैं ?

१७

आर्थिक नियोजन
(Economic Planning)

प्रारम्भिक—आर्थिक नियोजन की नीति का अभ्युदय

आजकल संसार भर ने राज्य की निर्बाधावादी नीति का परित्याग कर दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी में जब इङ्गलैंड संसार की 'शिल्पशाला' था तो उसके लिए यही लाभप्रद था कि वह आर्थिक मामलों में सरकारी हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाये और दूसरों को भी इसी प्रकार कार्य करने की सलाह दे। संसार भर के देशों का धन इङ्गलैंड में खिंचा चला आ रहा था और व्यवसायी तथा श्रमिक दोनों ही सन्तुष्ट दिखाई पड़ते थे। बाद को, जैसे-जैसे दूसरे पूँजीवादी देशों की प्रतियोगिता अथवा अन्य कारणों से बाजार संकुचित होते गये, पिछड़े हुए देशों का औद्योगीकरण होता गया और आर्थिक राष्ट्रीयवाद (Economic Nationalism) की भावना जोर पकड़ती गई, वैसे-वैसे आर्थिक मामलों में पुरानी विचारधारा भी बदलती गई। स्वतन्त्र साहस व्यवस्था (Free Enterprise) मानव-समाज की तीन मूल समस्याओं—व्यापार चक्र (Trade Cycles), बिना इच्छा की बेकारी (Involuntary Unemployment) तथा निरन्तर वर्ग-संघर्ष को सुलझाने में असमर्थ रही थी।

इन सब दोषों को दूर करने का एक ही उपाय था। वह था योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था, जिसमें सरकार को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करने के अतिरिक्त स्वयं आर्थिक उन्नति का पथ-प्रदर्शक बनना पड़ता है। फिर भी इससे यही नहीं समझना चाहिए कि आर्थिक नियोजन नीति का विकास बिना किसी बाधा अथवा रुकावट के होता चला गया। संयोग की बात है कि सर्वप्रथम रूस की साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक नियोजन की नीति अपनाई गई थी, इसीलिये पूँजीवादी देशों में वहाँ के उद्योगपतियों ने यह सिद्ध करने का निरन्तर प्रयत्न किया कि इसका समाजवाद से कुछ सम्बन्ध था और इसलिए इससे डरना चाहिए।

लम्बे समय तक पूँजीवादी देश असमंजस में पड़े रहे, परन्तु सन् १९२९-१९३३ के आर्थिक संकट ने इन देशों की आँखें खोल दीं और उन्हें यह सोचने पर बाध्य कर दिया कि ऐसे संकटों से बचने का आर्थिक योजनाओं को कार्यशील करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय न था। क्या कार्ल मार्क्स की यह भविष्यवाणी कि पूँजीवाद में भीषण आर्थिक संकट आयेंगे, सच नहीं हो रही थी? अब तो सभी देशों ने सरकारी-तौर पर भी यह मान लिया कि निर्बाधावादी नीति का अन्त हो चुका था। राज्य द्वारा हस्तक्षेप तथा आर्थिक जीवन का योजनाबद्ध विकास आर्थिक-नीति के सर्वमान्य नियम बन गये। रूस में योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था की सफलता का सभी देशों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। रोबिन्स ने ठीक ही कहा है—"अभी हम सब भले ही समाजवादी न हों, परन्तु निश्चय ही हम लगभग सभी नियोजन के समर्थक हैं।

सन् १९२९ के महान् आर्थिक अवसाद (Great Depression) के पश्चात्, जिसमें संसार को यह असाधारण तथा आश्चर्यजनक अनुभव हुआ है कि प्रचुरता के होने पर भी

भुखमरी और बेकारी हो सकती है, इसने आर्थिक योजनाओं को विशेष प्रोत्साहन दिया। अमेरिका में 'न्यू डील' (New Deal) नीति की सफलता ने जिसके द्वारा रूजवेल्ट ने देश को संकट से मुक्ति कराई तथा फ्रांस में 'ब्लम प्रयोग' (Blum Experiment) की सफलता ने नियोजित अर्थ-व्यवस्था के महत्त्व को भली-भाँति प्रकट कर दिया। इसी प्रकार की व्यवस्था ने रूस को संसार का महान् औद्योगिक देश बना दिया था। जर्मनी में पूँजीवाद के होते हुये भी इसके द्वारा बेरोजगारी का अन्त असम्भव हो गया, मजदूरियों में वृद्धि हुई और कृषि-उद्योग का भारी विकास हुआ।

वर्तमान समय में अर्थ-व्यवस्था को माँग और पूर्ति की शक्तियों के अनुसार स्वच्छन्द रूप से चालू रखना लगभग कोई भी अर्थशास्त्री समाज के लिए हितकर नहीं समझता है। यदि कोई भी हस्तक्षेप न किया जाय, तो ये शक्तियाँ आर्थिक साधनों के सर्वोत्तम वितरण करने में असफल ही रहती हैं। *सर विलियम बीवरिज (Sir William Beveridge) ने कहा है कि, "बहुत सारे* अलग-अलग काम करने वाले छोटे-छोटे व्यवसायों से यह आशा करना कि वे अधिकतम् कुशल उद्योग की स्थापना कर सकते हैं, उतना ही असंगत है जितना कि असंख्य छोटे-छोटे मालिकों और मकान बनाने वालों की अव्यवस्थिति तथा अनियन्त्रित क्रियाओं से एक ऐसे योजनाबद्ध नगर की आशा करना, जिसमें अनावश्यक कोने, दोहरी सड़कें तथा यातायात के जमघट न रहें।

"आर्थिक नियोजन' से आशय

आर्थिक नियोजन किसे कहते हैं ?

आर्थिक नियोजन के अर्थ के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों के विचार बड़े अस्पष्ट हैं :—

(१) रोबिन्स के अनुसार, "योजना बनाने का अर्थ है उद्देश्य बनाकर काम करना, चुनाव या निर्णय करना और निर्णय सभी आर्थिक क्रियाओं का निचोड़ है।"[1] परन्तु नियोजन (Planning) शब्द अधिकतर इस अर्थ में उपयोग नहीं किया जाता है। इसी प्रकार, कुछ लोग औद्योगिक अभिनवीकरण, वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा पुनर्व्यवस्था को भी नियोजन का नाम देते हैं; परन्तु वास्तव में, ये आर्थिक नियोजन के रूप नहीं हैं, यद्यपि इनमें आर्थिक योजना के कुछ आवश्यक गुण मौजूद होते हैं।

(२) नियोजन की व्यापक परिभाषा प्रोफेसर लोरविन ने इस प्रकार की है :— "नियोजित अर्थ-व्यवस्था आर्थिक संगठन की एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें सब व्यक्तिगत और पृथक-पृथक स्थिर-यन्त्र (Plants), उपक्रम (Enterprise) तथा उद्योग, एक निश्चित समय के भीतर जनता की आवश्यकता की अधिकतम् तृप्ति करने के लिए समस्त उपलब्ध साधनों का उपयोग करने के उद्देश्य से, एक ही कुल (Whole) की एक दूसरे से सम्बन्धित इकाइयाँ समझे जाते हैं। प्रत्येक उत्पादक-इकाई का पूरी प्रणाली पर निर्भर रहना, उत्पत्ति और उपभोग का एक-दूसरे के बराबर होना और किसी ऐसे मिलान कराने वाले केन्द्र का होना, जो जान-बूझकर इस आर्थिक प्रणाली का उद्देश्य निश्चित करे और इसके अलग तथा भिन्न-भिन्न अंशों का ठीक-ठीक उपयोग करे, इसकी आवश्यक विशेषतायें हैं।"[2] इस प्रकार नियोजन के तीन ध्येय होते

---

1 "To plan is to act with a purpose to choose, and choice is the essence of economic activity "— **L Robbins** : *Economic Planning and International Order*, p. 4.

2 **Lewis Lorwin** : *Report of the Amsterdam Conference on World Social Planning* p. 714.

है :—*प्रथम, समस्त उपलब्ध साधनों का उपयोग करना;* दूसरे, उत्पत्ति और उपभोग के बीच समायोजन (Adjustment) करना; और तीसरे, लोगों की आवश्यकताओं की अधिकतम् सन्तुष्टि करना। *यह सब कुछ आर्थिक क्रियाओं को एक समन्वय कराने वाले केन्द्र के नीचे संगठित करके* पूरा किया जाता है।

(३) प्रोफेसर सुब्बा राव के अनुसार, "नई प्रणाली तथा नई कला से जो कुछ प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते हैं वे उत्पत्ति की कुशलता, आर्थिक जीवन की स्थिरता और वितरण की न्यायशीलता (Equity) हैं।"[1]

(४) डिकिन्सन ने आर्थिक नियोजन की परिभाषा इस प्रकार की है, "आर्थिक नियोजन बड़े आर्थिक निर्णयों का करना है—क्या और कितना उत्पन्न करना चाहिए तथा किनमें इसका वितरण होना चाहिए। ये निर्णय बहुत सोच-समझ कर ही एक निर्णायक सत्ता द्वारा, पूरे आर्थिक ढाँचे की व्यापक पड़ताल के आधार पर किये जाते हैं।"[2]

इस प्रकार, आर्थिक नियोजन में केन्द्रीय नियन्त्रण होता है और किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए सोच-समझकर राष्ट्रीय साधनों के उपयोग तथा उपयोगों के रूप निश्चित किये जाते हैं। सभी आर्थिक क्रियाओं के बीच इस प्रकार समन्वय तथा सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है कि सभी प्रकार की दोबारगी (Duplication) मिट जाती है और सारहीन प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है।

आर्थिक नियोजन की विशेषतायें—

यहाँ पर नियोजन की प्रमुख विशेषताओं को फिर से गिनाना शायद असंगत न होगा। ये निम्न प्रकार हैं :—(१) इसका एक निश्चित उद्देश्य होता है। (२) यह सोच-विचार कर किया जाता है और ऐच्छिक होता है। (३) नियोजन, व्यापक अर्थात् पूरे आर्थिक कलेवर का होता है यद्यपि कुछ अर्थशास्त्री ऐसा नहीं समझते हैं। उनके विचार में यह खण्डवार (Piecemeal) भी हो सकता है। (४) इसमें एक ही अविभाजित सत्ता (Authority) होनी चाहिये, जो योजना बनाने तथा विभिन्न आर्थिक कार्यों में सम्पर्क बनाये रखने के लिए उत्तरदायी हो। यह अलग बात है कि वह अपने कुछ कार्य दूसरों को सौंप दे। (५) प्राप्त साधनों का इस प्रकार वैज्ञानिक तथा न्यायपूर्ण रीति से वितरण होना चाहिए कि केवल सामान्य हित का उद्देश्य ही पूरा हो सके। अर्थात्, नियोजन किसी विशेष वर्ग या समुदाय के लिए नहीं होना चाहिए।

योजनारहित तथा नियोजित अर्थ-व्यवस्था का भेद

नियोजित तथा योजनारहित अर्थ-व्यवस्था में कुछ मौलिक भेद होते हैं। **श्रीमती वुटन (Wotton) के अनुसार, "योजनारहित अर्थ-व्यवस्था" (Unplanned economy) की विशेषतायें** *निम्न प्रकार होती हैं*[3] :—

---

[1] "All that is attempted out of the new system and the new technique is efficiency of production, stability of economy and equity of distribution."
—**N. S Subba Rao** : *Some Aspects of Planning*, p 5.

[2] "Economic planning is the making of major economic decisions—what and how much is to be produced and to whom it is to be allocated, by the conscious decision of a determinate authority on the basis of comprehensive survey of the economic system as a whole."—**H. D. Dickenson** : *Economics of Socialists*, p. 1.

[3] **Barbara Wootton** : *Plan or No Plan*, pp. 10-55.

(१) प्रमुख निर्णय कीमत-संयन्त्र द्वारा—एक योजनारहित अर्थ-व्यवस्था मे इन निर्णयो का करना कि कितनी जोडी जूते और कितने टन कोयले का उत्पादन किया जाय, विभिन्न व्यक्तियों की मजदूरियाँ क्या होनी चाहिए, नये कारखाने खोले जायें या नही और यदि खोले जायें, तो किस स्थान पर, इत्यादि किसी भी व्यक्ति का कार्य नही होता। ये निर्णय यथार्थ मे वहाँ कीमत-सयन्त्र द्वारा किये जाते हैं, किन्तु योजनाबद्ध व्यवस्था में इन बातो का निर्णय योजना कमीशन करता है।

(२) सीमित पूर्ति का समभाजित वितरण—कीमतों के परिवर्तनों (Price Movement) का प्रथम कार्य यह होता है कि वे सीमित पूर्ति का समभाजित (Rationed) वितरण कर दें। ऐसा करना इसलिए आवश्यक होता है कि ससार मे अच्छी वस्तुएँ इतनी मात्रा में नही हैं कि प्रत्येक मनुष्य को उसकी इच्छा के अनुसार लेने दी जा सकें, अतः कितना किसको मिलता है, यह कीमतो से सम्बन्धित होता है। अपनी सीमित आय के अनुसार कीमतो की स्थिति को देखते हुए एक व्यक्ति यह निर्णय करता है कि वह अमुक वस्तु की कितनी मात्रा खरीदेगा। कीमतो का ऊपर चढना उपभोग को हतोत्साहित करता है, क्योंकि जो कोई भी ऊँची कीमत देने की क्षमता नही रखता है, उसे वस्तु विशेष के उपयोग से वचित रहना पडता है। ठीक इसी प्रकार, कीमत गिरने पर वस्तु के नये उपभोक्ता उत्पन्न हो जाते है।

(३) उत्पत्ति की जाने वाली वस्तुओं और इनकी मात्रा का निर्णय—किसी वस्तु का उपयोग किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाये, यह भी कीमत यन्त्र (Price Mechanism) द्वारा ही निश्चित होता है। नगर मे एक रिक्त-स्थान सिनेमाघर बनाने, रहने के लिए मकान बनाने अथवा फैक्ट्री बनाने के लिए उपयोग किया जा सकता है, परन्तु वास्तव मे, यदि सिनेमा खोलने वाला ही इसकी कीमत दे सकता है, तो फिर उपयोग निश्चित होते हुये देर नहीं लगती है। दूसरे शब्दो मे, कीमत यन्त्र का दूसरा कार्य इस निर्णय का करना है कि क्या उत्पन्न किया जायेगा ? कीमतो के परिवर्तन वस्तु विशेष के उत्पादन को एक उत्पादक के लिये कम या अधिक लाभदायक बना देते हैं और उसे यह निश्चित करने पर बाध्य करते हैं कि उत्पादन वहाँ रोक दे जहाँ और अधिक लाभ की सम्भावना समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार, किस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होगा, यह भी कीमतो के परिवर्तन द्वारा ही निश्चित होता है।

(४) व्यवसायो का निर्णय—यह निर्णय करने के पश्चात् कि कौन वस्तु उत्पन्न होगी और कितनी मात्रा मे, कीमत-यन्त्र यह भी निश्चित करता है कि हम कौन-सा व्यवसाय ग्रहण करे। कितने लोग दुकानदारी करेगे और कितने वकालत, यह इस बात पर निर्भर होगा कि दामो के यन्त्र के द्वारा इन दोनो व्यवसायो की कितनी माँग होती है, "क्योंकि इसी माँग के अनुसार व्यवसाय का शुल्क नियत होगा। इस प्रकार कीमतो के परिवर्तन ही विभिन्न उपयोगो मे श्रम का वितरण करते हैं।

(५) उपभोग और विनियोग सम्बन्धी निर्णय—आय का कौन-सा भाग उपभोग मे लाया जायेगा और कौन-सा जोडा जायेगा तथा उपभोग की वस्तुओं तथा पूंजी की वस्तुओं के उत्पादन के बीच क्या अनुपात होगा, यह भी कीमत-यन्त्र द्वारा ही निर्धारित होता है। जिस दिशा मे कीमत लाभप्रद होती है, उधर ही प्रत्यक्ष रूप से या उत्पादित वस्तुओं की माँग के द्वारा परोक्ष रूप से, सब साधन आकर्षित हो जाते है और तदनुसार उपभोग और विनियोग के बीच अनुपात स्थापित हो जाता है।

योजनारहित अर्थ-व्यवस्था के दोष

योजनाहीन अर्थ-व्यवस्था की उपरोक्त विशेषताओं के कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम होते हैं, जिनके कारण ऐसी व्यवस्था नियोजित व्यवस्था से पूर्णतया भिन्न हो जाती है। पूंजीवाद के

ध्यान दिया ही नहीं जाता। यही नहीं, देश के बहुत से साधन इसलिये बेकार पड़े रहने दिये जाते है कि व्यक्तिगत दृष्टि से उनका उपयोग लाभप्रद नहीं होता है।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था के गुण

नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे आर्थिक क्रियाओं का सचालन एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार होता है। देश की आवश्यकताओं और देश के साधनों को ध्यान मे रखकर पहले ही उत्पादन और उसके वितरण की योजना बना ली जाती है। विभिन्न उद्योगों और व्यवसायों को इसी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार उत्पत्ति के साधन दिये जाते हैं और प्रत्येक के लिए उत्पत्ति सम्बन्धी लक्ष्य निश्चित कर दिये जाते हैं। साधारणतया उपजों का भी प्रमापीकरण कर दिया जाता है ताकि उत्पादन की मात्रा का गुणात्मक नियन्त्रण भी सम्भव हो सके। सारी उत्पादन योजनाओं का एक-दूसरे के साथ समायोजन भी किया जाता है। आर्थिक जीवन का कोई भी भाग व्यक्तिगत निर्णयों पर नहीं छोड़ा जाता है। **इस प्रकार की नियोजित अर्थ-व्यवस्था के प्रमुख गुण निम्न प्रकार होते हैं :—**

(१) ऐसी अर्थ-व्यवस्था मे अत्युत्पादन तथा बेरोजगारी का भय नहीं रहता—कारण यह है कि उत्पत्ति उपभोग को दृष्टि मे रखकर की जाती है। कोई वस्तु या सेवा केवल इसलिये उत्पन्न नहीं की जाती है कि ऐसा करना उत्पादन के लिए लाभप्रद है, वरन् इसीलिए और इतनी मात्रा मे उत्पन्न की जाती है, जो उसके उपभोग द्वारा निश्चित होती है। यही कारण है कि ऐसी अर्थ-व्यवस्था मे आर्थिक सङ्कट कभी उत्पन्न नहीं होते हैं। रूस की अर्थ-व्यवस्था इसका जीता-जागता उदाहरण है।

(२) ऐसी अर्थ-व्यवस्था में न तो किसी साधन का अपव्यय होता है और न कोई साधन बेकार ही रहता है—समाज तथा राष्ट्र का हित प्रधान होता है और व्यक्तिगत हित उसके अधीन होते हैं। मितव्ययिता तथा वैज्ञानिक रीतियों और दीर्घकालीन दृष्टिकोण को सामने रखते हुए साधनों के सर्वोत्तम उपयोग की रीति निकाल ली जाती है। यदि रूस मे कभी इस प्रकार की समस्या आने लगती है कि बेकारी बढ़ने लगे और उपज के बेचने में कठिनाई अनुभव हो (जैसा कि सन् १६२२-२४ के बिक्री-सङ्कट के समय देखने मे आया था), तो इसे उत्पन्न करने वाले कारण के अनुसार इसका दो प्रकार निवारण हो सकता है :—(i) यदि यह इस कारण से उत्पन्न होता है कि नई उत्पादन रीतियों के उपयोग के कारण श्रम की उत्पादकता बढ़ गई है, तो कुल कीमतों में सामान्य रूप से कमी करने का आदेश दे दिया जायगा। "यदि मजदूरी के रूप में दिये गये प्रत्येक १०० रूबल के फलस्वरूप उपज की १०० इकाइयों के स्थान पर ६०० इकाइयाँ प्राप्त हो जाती है, तो स्पष्ट है कि इस दशा में वे बिक्री के मूल्य को पहले का ⅙ करके भी पहले की भाँति सुखी रहेंगे जबकि दामों का गिरना, श्रमिकों को उनकी मजदूरी के बदले में अधिक खरीदने की शक्ति प्रदान करके, सभी ओर जीवन-स्तर को ऊँचा उठा देगा।"[1] (ii) यदि वह उपज जिसके बेचने में कठिनाई अनुभव होती है, उन नये श्रमिकों के श्रम के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है जो जन-संख्या के बढ़ने के कारण औद्योगिक क्षेत्र में आये है, तो इस दशा में सामान्य कीमतों तथा मजदूरियों में अनुपातन कमी कर दी जायगी। परिणाम यह होगा कि श्रमिकों की वास्तविक आय में कमी किये बिना ही, पहले के मजदूरी कोष में से ही, पहले से अधिक श्रमिकों को मजदूरी मिल जायगी।

(३) यह अवस्था लाभ की प्रेरणा (Motive) पर आधारित नहीं है, इसलिए वे उत्पत्ति के साधन भी जिनका व्यक्तिगत दृष्टि से लाभप्रद उपयोग नहीं हो सकता, बेकार नहीं पड़

---

[1] **Barbara Wootton : *Plan or No Plan*, p. 196.**

रहते हैं। एक उद्योग की हानि दूसरे उद्योग के लाभ से पूरी कर दी जाती है, और यदि कुछ साधनों के उपयोग का सामाजिक महत्त्व है, तो उन्हें अवश्य ही उपयोग किया जाता है, भले ही इनके उपयोग से लाभ के स्थान पर हानि होती हो।

(४) ऐसी व्यवस्था में धन का अधिक न्यायपूर्ण तथा समान वितरण होता है। समाजवादी नियोजन तो आर्थिक समानता के सिद्धान्त को एक प्रकार का आधार ही मानता है।

(५) आर्थिक सङ्गठन की कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि अलग-अलग हितों का पारस्परिक तथा पूर्ण सङ्गठन के साथ समायोजन हो सकता है।

आर्थिक नियोजन के उद्देश्य
(The Objects of Planning)

आर्थिक नियोजन मानव समाज के इतिहास में कोई पूर्णतया नई बात नहीं है। प्रत्येक युग में किसी न किसी प्रकार का नियोजन अवश्य दृष्टिगोचर होता है, परन्तु वर्तमान काल में आर्थिक नियोजन को जो अधिक लोकप्रियता मिली है, उसे उस अव्यवस्था ने प्रोत्साहित किया है जो दोनों महायुद्धों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् तो यह आशा की जाती थी कि युद्ध के कारण बिगड़ी हुई दशा सुधारी जा सकती है। परन्तु, जब इस दिशा में लगभग सभी प्रयत्न असफल रहे, तो विचारकों को यह सोचने पर बाध्य होना पड़ा कि नये युग के लिए कोई नई ही आर्थिक नीति होनी चाहिए। उस समय नियोजन ने ही अन्धेरे में दीपक का काम किया। इस सम्बन्ध में एक बड़ी कठिनाई यह रही है कि इस बात का निर्णय करना कठिन हो गया है कि आर्थिक नियोजन का उद्देश्य क्या होना चाहिए।

व्यापक उद्देश्य—

मोटे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि, "नियोजन का उद्देश्य मानव-जीवन में उसके भौतिक आधार को विस्तृत करके गुणात्मक उत्थान करना चाहिए और यह विज्ञान तथा प्रकृति की उदारता को मिला कर ही पर्याप्त मात्रा में सम्भव है। मानव-जीवन के भौतिक आधार को विस्तृत करने का अर्थ है अधिकतम उत्पत्ति, आर्थिक प्रगति की ज्ञानयुक्त स्थिरता और आय की अधिक समानता।"[1] इस प्रकार आर्थिक नियोजन का प्रमुख उद्देश्य मानव-समाज के आर्थिक विकास के स्तर को ऊँचा करना है और ऐसा करने के लिए उत्पत्ति की व्यापकता और कुशलता को बढ़ाना, आर्थिक जीवन में स्थायित्व लाना तथा आय के वितरण की असमानता में कमी करना आवश्यक है।

अन्य सीमित उद्देश्य—

नियोजन का उपरोक्त उद्देश्य तो व्यापक है, परन्तु इसके निम्नांकित सीमित उद्देश्य भी हैं :—

(१) अवसाद से उत्पन्न दशाओं को सुधारना—अर्थ-व्यवस्था का नियोजन इस उद्देश्य से भी किया जा सकता है कि अवसाद (Depression) से उत्पन्न हुई दशा को सुधारा जा सके। इसमें सन्देह नहीं है कि ऐसे नियोजन से भी अन्त में नियोजन के व्यापक उद्देश्यों की पूर्ति होती है, परन्तु नियोजन का वर्तमान ध्येय केवल पुनरोत्थान (Recovery) से सम्बन्धित होता है। फ्रांस का 'ब्लम प्रयोग' तथा अमेरिका की 'न्यू डील' ऐसे नियोजन के मुख्य उदाहरण हैं।

फ्रांस ने सन् १९३६ में काम करने के घण्टों को घटा कर ४० प्रति सप्ताह कर दिया था और प्रति घण्टा मजदूरी की दर भी ऊँची कर दी थी, ताकि श्रमिकों की मौद्रिक आय में

---

[1] N. S. Subba Rao : *Some Aspects of Economic Planning*, pp. 14-15.

कमी न हो सके और साथ ही, वित्तहीन श्रमिकों को भी रोजगार मिल सके। इसके साथ-साथ सार्वजनिक कार्यों पर सरकारी व्यय हीनार्थ-प्रबन्धन (Deficit Financing) की नीति अपनाकर बढा दिया गया था, जिससे कि रोजगार की सुविधाओं का और भी विस्तार हो सके।

अमरीका मे आर्थिक कार्यों पर मौद्रिक व्यय बढ़ाने के लिए पर्याप्त मात्रा में "सस्ती मुद्रा" (Cheap money) उपलब्ध की गई थी, सहायता तथा पुनर्वासन पर सार्वजनिक व्यय बढाया गया था और इन कामों के लिए अधिक मात्रा मे सार्वजनिक ऋणों की नीति अपनाई गई थी। 'न्यू डील' का उद्देश्य निरन्तर मजदूरी बढ़ाना और काम करने के घण्टों मे कमी करके वृत्तिहीनता को घटाना था।

(२) आन्तरिक बेकारी और गरीबी को दूर करके देश को युद्ध के लिए तैयार करना—जर्मनी मे नियोजन का उद्देश्य और भी अधिक व्यापक था। महान् अवसाद से जर्मन अर्थ-व्यवस्था को गहरा आघात पहुँचा था। हिटलर और राष्ट्रीय समाजवादियो (National Socialist) ने संस्फीतिक (Reflationary) नीति को ग्रहण करके सार्वजनिक कार्यों (जैसे—सड़कें बनाने, राष्ट्र को सशस्त्र करने तथा लड़ाई से सम्बन्धित उद्योगो) की उन्नति के लिए अधिक सार्वजनिक व्यय किया था। इस व्यय के लिए एक उपयुक्त अधिकोषण नीति अपनाकर मुद्रा की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि की गई। इस नियोजन का मुख्य उद्देश्य आन्तरिक बेकारी और गरीबी को दूर करके देश को युद्ध के लिए तैयार करना था।

(३) नियोजन का उद्देश्य वृत्तिहीनता का अन्त करना—देश में उपलब्ध उन साधनो का उपयोग करना जो बेकार पड़े हुए हैं अथवा साधनो के उपयोग में मितव्ययिता लाना भी हो सकता है। बहुत से पिछड़े हुए देश आर्थिक उत्पादन के लिए भी नियोजन की शरण ले सकते हैं।

क्या नियोजन खण्डवान भी हो सकता है ?

यह विषय विवादग्रस्त है कि क्या नियोजन पूरे आर्थिक कलेवर का न होकर उसके विशिष्ट भागो का भी हो सकता है ? नियोजन के मोटे-मोटे सिद्धान्तो को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था मे विभिन्न उद्योगो तथा आर्थिक जीवन के विभिन्न अंगों के बीच घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध होता है। एक विभाग का दूसरे से सम्पर्क स्थापित करके ही आर्थिक विकास सम्पन्न किया जाता है, क्योंकि किसी भी एक दिशा में उन्नति करने के लिए उससे सम्बन्धित सभी दिशाओं मे परिवर्तन करने पड़ते हैं। आधुनिक आर्थिक कलेवर मे विभिन्न अगों की परस्पर-निर्भरता इतनी अधिक होती है कि एक अग का सुधार दूसरो मे समान नीति अपनाये बिना हो ही नही सकता है।

उदाहरणस्वरूप, यदि हम सूती कपडे के उत्पादन को चार गुना करना चाहते हैं तो इन्जीनियरिंग उद्योग, कपास के उत्पादन तथा उसके फलस्वरूप अन्य कृषि उपज पर पड़ने वाले प्रभाव, कोयला उद्योग, रसायन उद्योग, इत्यादि मे भी आवश्यक वृद्धि करनी पडेगी। एक उद्योग के विकास का दूसरो की स्थिति पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे भी ध्यान मे रखना पड़ेगा और मुद्रा तथा व्यापार सम्बन्धी नीति मे आवश्यक परिवर्तन करने पड़ेंगे, जिसके परिणाम व्यापक होंगे। इसी कारण बहुधा कहा जाता है कि खण्डवान नियोजन वास्तव में नियोजन होता ही नही है। इस दिशा मे जो भी प्रयत्न किये जाते हैं, उनमे असफलता ही मिलती है।

पूँजीवाद और आर्थिक नियोजन

आरम्भ मे नियोजन को समाजवाद से सम्बन्धित किया गया था। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, सन् १९२९ के महान् अवसाद के पश्चात् बहुत से पूँजीवादी देशों ने भी इस प्रणाली को अपना लिया है। फिर भी प्राय: यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या पूँजीवाद मे आर्थिक नियोजन सम्भव तथा सफल हो सकता है ?

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि नियोजन की सफलता की कुछ ऐसी दशायें हैं, जो पूँजीवाद में सम्भव ही नहीं है। पूँजीवाद निजी सम्पत्ति प्रणाली तथा स्वतन्त्र साहस नीति पर आधारित है, परन्तु नियोजन की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि केन्द्रीय समन्वय सत्ता का आर्थिक जीवन के विभिन्न अंगों पर कितना आधिपत्य है और साथ ही स्वतन्त्र साहसियों का कितना सहयोग इस सत्ता को प्राप्त है। यदि योजना कमीशन को सर्वव्यापी अधिकार प्राप्त हैं, तो ऐसी अर्थ-व्यवस्था को पूँजीवादी कहना भूल होगी। साथ ही, अनुभव बताता है कि स्वतन्त्र साहसी का ऐच्छिक सहयोग एक प्रकार असम्भव ही है। अतः पूँजीवादी देशों में नियोजन के प्रयत्न प्रायः खण्डशः होते हैं और इनका कोई सीमित लक्ष्य ही होता है। ऐसे प्रयत्नों को अभिनवीकरण तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध के विस्तृत रूप ही कहना अधिक उचित होगा। वे वास्तविक अर्थ में नियोजन के कार्य नहीं होते।

परन्तु अमेरिका, फ्रांस तथा यूरोप के अन्य देशों में नियोजन के प्रयोग किये गये हैं तथा भारत और दूसरे देशों में इस दिशा में जो कुछ किया जा रहा है उसे देखकर यह कहना कठिन प्रतीत होता है कि पूँजीवाद और आर्थिक नियोजन में कोई मौलिक विरोध है। भले ही यह नियोजन उतना व्यापक न हो, जितना कि रूस, जर्मनी और चीन में, परन्तु इसे नियोजन के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं कहा जा सकता है। आर्थिक जीवन में राज्य हस्तक्षेप का सिद्धान्त अब अधिकांश देशों ने मान लिया है और यह हस्तक्षेप कभी-कभी बड़ा विस्तृत और व्यापक होता है।

नियोजन किसके लिए हो ?

फिर भी पूँजीवादी नियोजन में एक बड़ा दोष रहता है। प्रश्न यह है कि नियोजन किसके लिए किया जाता है ? कहते तो सभी यही हैं कि इसके लाभ जन-साधारण, विशेष रूप से पिछड़े हुए वर्गों के लिए होने चाहिए। यदि नियोजन के फलस्वरूप उत्पादन बढ़ता है, परन्तु इस वृद्धि का अधिकांश भाग कुछ विशेष व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है, तो फिर ऐसे नियोजन का क्या लाभ ? आर्थिक उत्थान की ऐसी योजना, जो उत्पादित धन के वितरण में समानता लाकर सार्वजनिक जीवन-स्तर को ऊँचा नहीं करती है, अपने वास्तविक उद्देश्य में असफल ही रहती है। पूँजीवादी नियोजन में वितरण की असमानता कम करना बड़ा कठिन होता है जिस कारण नियोजन के लाभों का न्यायपूर्ण वितरण नहीं हो पाता है। पूँजीवादी नियोजन का यह दोष उसके महत्त्व को बहुत कम कर देता है।

आर्थिक नियोजन में स्वतन्त्र उपक्रम का स्थान
(Place of Free Enterprise in Planning)

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह समझना भूल होगी कि आर्थिक नियोजन में व्यक्तिगत अथवा स्वतन्त्र उपक्रम के लिए कोई भी स्थान नहीं है। आर्थिक नियोजन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा उपक्रम को पूर्णतया समाप्त नहीं करता, केवल उसे नियोजन के अधीन बना देता है। अधिकांश देशों में व्यक्तिगत उपक्रम को समाप्त करने के स्थान पर उल्टा यह प्रयत्न किया जाता है कि नियोजन की सफलता के लिए व्यक्तिगत साहस का सहयोग प्राप्त कर लिया जाये। भारत तथा अमेरिका में तो आर्थिक नियोजन की सफलता में व्यक्तिगत उपक्रम का योग आवश्यक है ही, परन्तु सोवियत रूस जैसे समाजवादी देश में भी आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत, व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए कुछ न कुछ अवकाश रखा जाता है।

नियोजन की सफलता की दशायें

नियोजन की सफलता के लिए निम्न दशाओं का होना आवश्यक है :—

(१) किसी भी योजना की सफलता ज्ञान (Knowledge) तथा इस ज्ञान का उप-

योग करने की योग्यता पर निर्भर होती है। नियोजन के लिए वर्तमान उत्पत्ति, व्यापार, देश के भीतर आय के वितरण, उद्योग में शिल्प विज्ञान के उपयोग की दशा, भौगोलिक परिस्थितियाँ, जन-संख्या आदि के विषय में विस्तारपूर्वक सूचना का होना आवश्यक होता है। साथ ही, इसके लिए उच्च कोटि की शासन सम्बन्धी योग्यता तथा निरपक्षता आवश्यक है।

(२) **कोई ऐसी सत्ता या अधिकरण (Authority) होनी चाहिए, जो योजना बनाये भी और फिर इसके पूरा होने के कार्य को देख-भाल भी करे।** "रूस के योजना-कमीशन की भाँति गोसप्लान (Gosplan) जैसी किसी ऐसी समिति का होना आवश्यक है, जिसका आधिपत्य सम्पूर्ण राष्ट्र पर हो और जिसे प्रत्येक क्षेत्र में तथा प्रत्येक औद्योगिक इकाई में स्थानीय शाखाओं (Organs) का सहयोग प्राप्त हो।"[1] अच्छा हो कि इस समिति में योग्य आर्थिक विद्वानों तथा शासन में निपुण व्यक्तियों को नियुक्त किया जाय। इस बात का प्रयत्न किया जाये कि यह समिति स्थायी रूप से कार्यशील रहे। नियोजन में प्रजातन्त्रीय रूप को बनाये रखने के लिए इस समिति के निर्णयों की आलोचना करने तथा उसको कार्यशील करने की स्वीकृति देने का अधिकार जनता के प्रतिनिधियों को होना चाहिए।

(३) **नियोजन की सफलता बड़े अंश तक इस बात पर भी निर्भर रहती है कि योजना कमीशन को जनता का कितना सहयोग प्राप्त है?** एक छोटी-सी कहावत है कि "बिना आँसुओं के नियोजन असम्भव है।" (Planning without tears is an impossibility.) आशय यह है कि नियोजन की कार्यशीलता के अन्तर्गत पग-पग पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कुचलना पड़ता है। आर्थिक जीवन की विभिन्न शाखाओं के बीच समन्वय लाने के लिए व्यक्तिगत उद्योगों तथा व्यापारों को मनमानी करने से रोकना पड़ता है। यही नहीं, बहुत बार उपभोग और उत्पादन की वस्तुओं की उत्पत्ति के अनुपात को बदलना पड़ता है, जिसके लिए कुछ वस्तुओं के वितरण पर राशनिंग व्यवस्था लगानी पड़ती है, जो जनता को अरुचिकर होती है। इसी प्रकार, आय के वितरण का परिवर्तन भी असन्तोष उत्पन्न कर सकता है।

(४) **नियोजन का उद्देश्य, उसकी कार्यशीलता की विभिन्न अवस्थाएँ तथा प्रत्येक पर किया जाने वाला व्यय ये सभी बातें स्पष्ट और निश्चित होनी चाहिए।** जनता के सहयोग को प्राप्त करने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि जनता को योजना और उसकी कार्यवाहन अवस्थाओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। अस्पष्टता विश्वास को नष्ट कर देती है।

(५) **संसार में सफलता ही सफलता की वास्तविक कुंजी है।** अभिप्राय यह है कि योजना जो भी लक्ष्य निश्चित करे उसे ठीक समय पर पूरा करना चाहिए, अन्यथा सहयोग और विश्वास प्राप्त न होंगे।

राष्ट्रीय योजना अथवा अन्तर्राष्ट्रीय योजना

प्रायः कहा जाता है कि किसी एक देश का आर्थिक जीवन देश से बाहर के प्रभावों से पर्याप्त अंश तक प्रभावित होता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना आर्थिक नियोजन की सफलता सन्देहपूर्ण रहती है। राष्ट्रीय योजनाओं के विषय में **सैलिगमैन** (Seligman) ने कहा है "ये सभी योजनाएँ उस समय तक बेकार ही रहेंगी जब तक कि वे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

---

1 "There must be somebody corresponding to the Russian Planning Commission ard, like Gosplan, enjoying nation-wide authority as well as the support of local organs in every area, in every industrial unit."—**Barbara Wooton** : *Plan or No Plan*, p. 307.

अर्थात् राष्ट्रीय नियोजन के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन को स्वीकार नहीं कर लेंगी।"[1] थॉमस (A. Thomas) ने तो राष्ट्रीय नियोजन की ओर भी कड़े शब्दों में निन्दा की है। वे कहते हैं, "यदि वे विभिन्न देशों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना चालू की जाती हैं, तो इस प्रकार की योजना इकाइयाँ पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण बहुत हानिकारक सिद्ध हो सकती हैं।"[2]

परन्तु इस सम्बन्ध में यह निशंक कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के कारण योजना की सफलता की सम्भावना तो अवश्य बढ़ जाती है, परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना नियोजन सफल ही न हो सकेगा। रूस में आर्थिक नियोजन की सफलता इस मत की पुष्टि करती है। आधुनिक काल में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की आशा बड़े अंश तक कोरी कल्पना ही है। यथार्थ में, राष्ट्रीय योजना की सफलता के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग अनिवार्य नहीं है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि किसी ऐसे देश के लिए, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बड़े अंश तक निर्भर है, राष्ट्रीय आर्थिक योजना बनाना कठिन है, परन्तु फिर भी ऐसी योजना का बनाना असम्भव नहीं है।

सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से नियोजित अर्थ-व्यवस्था का स्वावलम्बी होना आवश्यक नहीं है, परन्तु ऐसी व्यवस्था को कुछ ऐसे नियमों का पालन अवश्य करना पड़ेगा, जो स्वयं इसने न बनाये हों, ताकि इसका उन देशों से भी, जो कीमत यन्त्र द्वारा आर्थिक व्यवस्था चलाते हैं व्यापारिक सम्बन्ध बना रहे।

नियोजन और स्वतन्त्रता
(Planning and Freedom)

नियोजन के आलोचक अधिकतर इस बात पर विशेष बल देते हैं कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था में बड़े अंश तक आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। जैसा कि नियोजन की प्रकृति से ही स्पष्ट होता है, ऐसी व्यवस्था में आर्थिक मामलों में सरकारी हस्तक्षेप बढ़ जाता है। व्यक्तिगत साहसी और व्यवसायी की स्वतन्त्रता में ही कमी नहीं आती, अपितु जन-साधारण की आर्थिक स्वतन्त्रता भी छीन ली जाती है। हमें क्या उत्पन्न करना है और कितना उपभोग करना है, कौन-सा व्यवसाय चुनना है और किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना है, इनका निर्णय हम स्वयं नहीं कर सकते, वरन् हमारे लिए सरकार करती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भविष्य में इसके परिणामस्वरूप हमारा व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन अधिक सुखी हो जायगा (और यह आशा सदा ही फलीभूत नहीं होती है), तो भावी सुख की आशा में हमसे आर्थिक स्वतन्त्रता को छीन कर बहुत ऊँची कीमत माँगी जाती है। कुछ लोग तो यहाँ तक भी कहने को तैयार हैं कि "स्वतन्त्रता की एक रोटी, दासता के भर पेट खाने से अधिक अच्छी है।" समाजवादी देशों में, जहाँ नियोजन ही नियम है, आर्थिक स्वतन्त्रता के दर्शन भी कठिन हैं। वहाँ तो आर्थिक तानाशाही का ही बोलबाला है, अतः यदि नियोजन के लाभ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता खोकर प्राप्त होते हैं, तो लाभों का न मिलना ही अच्छा है।

इस सम्बन्ध में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि (i) समाजवाद और आर्थिक नियोजन को एक समझना भूल होगी। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि समाजवादी नियोजन को अपनी आर्थिक नीति का एक आवश्यक सिद्धान्त समझते हैं, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता

---

[1] *Proceedings of the American Academy of Political Science*, XV, p. 4

[2] Annual 1952, from the Foreword to *National and World Planning* by Dr. Patterso.

कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के सब अवगुण नियोजन से ही उत्पन्न नही होते हैं। (ii) जहाँ तक पूँजीवादी देशो का सम्बन्ध है, आधुनिक युग मे सरकारी हस्तक्षेप को वांछनीय बताने की आवश्यकता प्रतीत नही होती है। मतभेद केवल इस दिशा में हो सकता है कि हस्तक्षेप की सीमा क्या हो। यहाँ भी यह कहना पर्याप्त होगा कि हस्तक्षेप का अंश परिस्थितियो पर निर्भर होना है और उसका सामान्य मान नही बनाया जा सकता है। (iii) यह समझ लेना भी भूल है कि योजनाहीन अर्थ-व्यवस्था मे आर्थिक स्वतन्त्रता रहती है। ऐसी [अर्थ-व्यवस्था में भी आर्थिक निर्णय व्यक्तियो द्वारा नही, अपितु कीमत-यन्त्र की अनिश्चित तथा अन्धी शक्ति द्वारा किये जाते हैं। इसके विपरीत, नियोजित व्यवस्था मे ये निर्णय विचारयुक्त योजना कमीशन द्वारा किये जाते हैं। व्यक्तिगत दृष्टि से दोनो दशाओं की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नही होता है।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था में स्वतन्त्रता का अभाव विभिन्न कारणों से बनाया जाता है :—(i) आर्थिक कलेवर का रूप एक कमीशन द्वारा निश्चित किया जाता है और वही इस रूप को प्राप्त करने वाली व्यावहारिक नीति का संचालन भी करता है, अतः **आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण** हो जाता है। (ii) यदि स्वतन्त्र साहस-व्यवस्था को किसी अंश तक बना भी रहने दिया जाता है, तो आर्थिक जीवन के विभिन्न विभागो के बीच **समन्वय स्थापित करने के नाम** पर उनकी स्वतन्त्रता कम कर दी जाती है। (iii) श्रमिक से हड़ताल **करने का अधिकार** छीन लिया जाता है और व्यवसायियो को व्यवसाय बन्द करने का अधिकार नही रहता। (iv) चूँकि उपभोग तथा उत्पादन की वस्तुओ की उत्पत्ति के बीच एक अनुपात निश्चित कर दिया जाता है, इसलिए **उपभोग पर नियन्त्रण** लगा दिये जाते हैं। राशनिंग व्यवस्था आर्थिक नियोजन का एक महत्त्वपूर्ण अंग होती है।

यदि यह मान लिया जाय कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था स्वतन्त्रता को घटा देती है, तो इससे यह सिद्ध नही होता कि यह सदा बुरा ही होता है। स्वतन्त्रता का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। कोई स्वतन्त्रता वास्तविक होती है और कोई कल्पित। उदाहरण के लिए स्वतन्त्र साहस अर्थ-व्यवस्था में व्यवसाय को चुनने की स्वतन्त्रता कल्पित ही होती है क्योकि क्या प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी व्यवस्था को अपना सकता है? यदि इस प्रकार की कल्पित स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है, तो कोई भी हानि नही होती। इसी प्रकार, स्वतन्त्रता उचित अथवा अनुचित भी हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, यदि हमें दूसरो का शोषण करने अथवा चोरी करने की स्वतन्त्रता है, तो वह सामाजिक दृष्टि से अनुचित ही है और यदि इसका अन्त हो जाय, तो समाज का भला ही होगा। जब हम यह कहते हैं कि नियोजन मे आर्थिक अथवा सामाजिक स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, तो हमे यह भी देखना चाहिए कि विनाश यथार्थ मे किस प्रकार की स्वतन्त्रता का होता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि सामूहिक अथवा सामाजिक दृष्टि से इस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का छिन जाना उचित है या नही।

आधुनिक युग जीवन के प्रत्येक विभाग मे नियन्त्रणो का आदी हो गया है, परन्तु फिर भी मानव मनोवृत्ति ही ऐसी है कि हम हर प्रकार के नियन्त्रण को बुरा समझते हैं। जब चौराहे पर खड़ा हुआ पुलिस का सिपाही हमारी तेजी से आती हुई साइकिल हाथ के इशारे से रोक देता है, तो हमे अवश्य ही बुरा लगता है, परन्तु क्या हम कभी यह सोचते हैं कि यातायात की सुविधा तथा सुरक्षा के लिए यह अति आवश्यक है और हमारा हित भी इसी मे है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अधिकांश नियन्त्रण ऐसे ही होते हैं।

परीक्षा प्रश्न :

१. आर्थिक नियोजन से क्या आशय है ? नियोजन के क्या उद्देश्य हैं ?
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम आर्थिक नियोजन की दो-तीन परिभाषायें दीजिये और नियोजन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करिये जिससे नियोजन का अर्थ स्पष्ट हो जाय। तत्पश्चात् नियोजन के उद्देश्य दीजिये।]

२. आर्थिक नियोजन क्या है ? एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था के लिये बुनियादी बातें क्या है ?
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम आर्थिक नियोजन के अर्थ को (दो-तीन परिभाषायें एव विशेषतायें देकर) स्पष्ट कीजिये और तत्पश्चात् नियोजन की सफलता की दशायें बताइये।]

३. स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था और नियोजित अर्थ-व्यवस्था में भेद कीजिए। उत्पादक प्रसाधनों के बेहतर उपयोग की दृष्टि से आप इनमें से किसे चुनेंगे ? कारण सहित बताइये।

अथवा

हस्तक्षेपरहित अर्थ-व्यवस्था और नियोजित अर्थ-व्यवस्था के भेद को स्पष्ट कीजिये। क्या हस्तक्षेपरहित अर्थ-व्यवस्था के स्थान में नियोजित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिए ?
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम नियोजित एव अनियोजित (या हस्तक्षेपरहित अथवा स्वतन्त्र) अर्थ-व्यवस्थाओं के अर्थों को स्पष्ट कीजिये। तत्पश्चात् अनियोजित अर्थ-व्यवस्था के दोषों को बताइये और नियोजित अर्थ-व्यवस्था के गुणों पर प्रकाश डालिये ; अन्त में यह निष्कर्ष निकालिये कि स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था के स्थान में नियोजित अर्थ-व्यवस्था को ग्रहण करना बेहतर है।]

४. स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था के क्या दोष हैं ? क्या नियोजित अर्थ-व्यवस्था उन्हें दूर कर सकती है ?
[सहायक संकेत :—स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था के अर्थ को स्पष्ट कीजिये। तत्पश्चात् इसके दोष बताइये और अन्त में यह बताइये कि नियोजित पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था इन दोषों का निवारण कर सकती है अर्थात् नियोजित अर्थ-व्यवस्था के गुणों पर प्रकाश डालिये।]

५. कीमत अर्थ-व्यवस्था, नियोजित एवं मिश्रित अर्थ-व्यवस्थाओं में क्या अन्तर है ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम कीमत अर्थ-व्यवस्था अर्थात् पूँजीवाद के अर्थ को बताइये। तत्पश्चात् नियोजित और अन्त में मिश्रित अर्थ-व्यवस्थाओं के अर्थ दीजिये। प्रत्येक के अर्थ में स्पष्टीकरण हेतु साथ में उनकी विशेषतायें देना भी आवश्यक है।]

चौथा भाग

विनिमय

[EXCHANGE]

१

विनिमय और उसका महत्व

(Exchange and Its Importance)

प्रारम्भिक—विनिमय का अर्थ—

साधारण बोल-चाल में तो एक वस्तु अथवा सेवा के बदले में किसी दूसरी वस्तु अथवा सेवा से प्राप्त करने की क्रिया को "विनिमय" का नाम दिया जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र में विनिमय शब्द थोड़ी सावधानी के साथ काम में लाया जाता है और इस अदला-बदली के कार्य के साथ कुछ शर्तें (Attribute) जुड़ी रहती हैं। इन शर्तों पर नीचे सविस्तार प्रकाश डाला गया है :—

(१) वैधानिकता—इस सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि किसी कार्य का सामाजिक होना एक बात है और वैधानिक होना दूसरी बात। वैधानिकता का मान या आदर्श सामान्य नहीं है। यह समय, स्थान तथा दूसरी परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। वैधानिकता का निर्णय न्यायाधीशों का कार्य है, जिस पर साधारण व्यक्ति के लिए अपना मत देना उचित नहीं है। करारोपित माल को चोरी से मंगाने वाले और बाहर भेजने वाले व्यक्ति (तस्कर व्यापारी) प्रतिदिन ही वस्तुओं और सेवाओं का परस्पर आदान-प्रदान करते रहते हैं। इस आदान-प्रदान में विनिमय के सभी गुण होते हैं और विनिमय से सम्बन्धित सभी नियम भी इस पर लागू होते हैं। इस प्रकार के विनिमय का सामाजिक और आर्थिक महत्त्व भी है, परन्तु सभी जानते हैं कि यह अवैध है। किन्तु इसके अवैध होने पर भी कोई भी अर्थशास्त्री इसके अध्ययन को नहीं छोड़ सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि विनिमय के साथ वैधानिकता की शर्त लगाना उचित नहीं है।

(२) ऐच्छिकता—'ऐच्छिक' से हमारा आशय ऐसे कार्य से है, जो जान-बूझकर किया गया हो, अथवा जो विचारयुक्त हो, अकस्मात् अथवा अज्ञानवश न हो। मान लीजिए कि कोई विद्यार्थी कुछ किताबें लिये हुए कॉलिज जा रहा है। रास्ते में कोई आदमी उसकी किताबें छीनकर भाग जाता है, किन्तु भागने में उसका बटुआ विद्यार्थी के सम्मुख गिर जाता है, जिसमें इतने पैसे हैं कि उन किताबों का पूरा मूल्य मिल जाता है। इस दशा में किताबों का पूरा मूल्य विद्यार्थी को मिल जाता है, परन्तु किताबों को बटुवे में बदल लेने की यह क्रिया आर्थिक अर्थ में विनिमय नहीं है, क्योंकि यह "ऐच्छिक" नहीं है।

(३) स्वतन्त्रता—स्वतन्त्र कार्य वह होता है जो स्वेच्छा से किया गया हो। ऐसा कार्य किसी दबाव अथवा किसी विवशता के कारण नहीं किया जाता। यदि किसी मनुष्य को बदला करने के लिए बाध्य किया जाय तब भी बदलने की क्रिया विनिमय नहीं होगी। जमींदारों को मुआवजा देकर विभिन्न राज्य सरकारों ने जमींदारियों को ले लिया है, परन्तु यह भी आर्थिक अर्थ में विनिमय नहीं है, क्योंकि इसमें एक पक्षकारी की स्वेच्छा प्राप्त नहीं थी। विनिमय केवल उसी पारस्परिक विनिमय को कहते हैं, जो दोनों पक्षों ने समझ-सोचकर स्वेच्छा से किया हो। जब हम अपनी किसी वस्तु को दूसरे की वस्तु से बदलते हैं, अथवा अपनी किसी सेवा को मुद्रा में बेचते हैं, तो हमारा कार्य विनिमय कार्य होता है।

उपाय यही है कि वह विदेशी विनिमय तथा व्यापार को बढ़ाये, दूसरे देशों को अपने यहाँ उत्पन्न किया हुआ माल भेजे और उसके बदले मे सोना और चाँदी वहाँ से ले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अनेक उपायो का सुझाव दिया था।

वाणिज्यवादी अर्थशास्त्रियों के बाद विनिमय का अध्ययन अर्थशास्त्र में बराबर होता रहा और प्रत्येक आर्थिक लेखक ने इस सम्बन्ध मे अपने विचार रखे। विशेष रूप से **एडम स्मिथ और रिकार्डो** ने विनिमय के नियमों की विवेचना की और मूल्य के सिद्धान्त का निर्माण किया। **जे० बी० से** (J. B. Say) सबसे पहले आर्थिक लेखक थे, जिन्होंने विनिमय को अर्थशास्त्र का एक विभाग बताया, परन्तु उन्होंने विनिमय को उत्पत्ति से मिला दिया। यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि विनिमय की प्रत्येक क्रिया, उत्पादन क्रिया होती है। यही कारण था कि से ने विनिमय को उत्पत्ति का ही रूप मान लिया। इसके उपरान्त भी धीरे-धीरे विनिमय का महत्त्व बढ़ता ही गया। उपयोगिता विवेचना प्रणाली के उपयोग से तो इस अध्ययन का रूप और भी विस्तृत हो गया। इस दिशा मे **आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियों** का कार्य बहुत सराहनीय है।

आधुनिक अर्थशास्त्र मे तो विनिमय को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। नवीन मत के अनुसार वितरण विनिमय की ही एक विशेष दशा है। मूल्य के सिद्धान्त द्वारा हम वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य का निर्धारण करते है, जबकि वितरण सिद्धान्त में उत्पत्ति के साधनों के मूल्य को निर्धारित किया जाता है। यथार्थ में वस्तुओं, सेवाओं और उत्पत्ति के साधनों में कोई भी अन्तर नही है, जिस कारण मूल्य का सिद्धान्त ही वितरण पर भी लागू होता है। वस्तुये और सेवायें जब उपभोग के स्थान पर उत्पादन कार्य मे प्रयोग होती हैं, तो उत्पत्ति के साधन बन जाती हैं। साथ ही साथ, आधुनिक काल मे कुछ ऐसे भी अर्थशास्त्री हैं जो अर्थशास्त्र को मूल्य के सिद्धान्त का ही एक विस्तृत रूप मानते हैं। उसके विचार मे विनिमय आर्थिक अध्ययन का ही एक दूसरा नाम है। **बीवरिज** (Sir William Beveridge) ऐसा ही समझते हैं।

विनिमय का वर्गीकरण

विनिमय के दो प्रधान रूप माने गये हैं :—(i) अदला-बदली अथवा वस्तु-विनिमय अथवा वस्तु-विनिमय और (ii) क्रय-विक्रय अथवा मुद्रा-विनिमय।

जब किसी वस्तु या सेवा का विनिमय किसी अन्य वस्तु या सेवा के साथ किया जाता है तो इसे **'वस्तु-विनिमय'** (Barter) कहते हैं। यह विनिमय प्रत्यक्ष होता है और इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नही होती है। उदाहरणार्थ, जब एक किसान गेहूँ के बदले कपड़ा लेता है, तो उसकी यह क्रिया वस्तु-विनिमय होगी।

जब विनिमय परोक्ष रीति से किया जाता है और मुद्रा को मध्यस्थ के रूप मे उपयोग किया जाता है, तो विनिमय की क्रिया **क्रय-विक्रय** (Purchase and Sale) **अथवा मुद्रा-विनिमय** (Money exchange) कहलाती है। यदि वह किसान गेहूँ के बदले मे सीधे कपड़ा न लेकर पहले गेहूँ को रुपयो मे बेचता है और फिर उन रुपयों से कपड़ा खरीदता है तथा इस प्रकार गेहूँ का बदला कपड़े मे करता है, तो यह क्रय-विक्रय विनिमय होगा। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि क्रय-विक्रय विनिमय यथार्थ मे दो अलग-अलग विनिमय क्रियाओं का योग होता है। विशेषता यह होती है कि इन दोनो क्रियाओं मे विनिमय की एक वस्तु "मुद्रा" होती है, जो दोनों में सम्मिलित होती है और मध्यस्थ का कार्य करती है।

विनिमय का महत्त्व

(१) विनिमय से दोनों पक्षों को लाभ—यह हम पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार विनिमय क्रिया के पश्चात् विनिमयकर्त्ताओं के पास कुल उपयोगिता बढ़ जाती है। यह निश्चय है कि विनिमय न करने की दशा मे जो कुल उपयोगिता मिलती है, वह उस कुल उपयोगिता से

कम होती है जो विनिमय करने के उपरान्त मिलती है। विनिमय भी एक उत्पादन कार्य है, जिसके द्वारा उपयोगिता मे वृद्धि की जा सकती है। इससे पता चलता है कि विनिमय द्वारा मानव व्यवहार अधिकतम् सन्तोष नियम के अनुकूल हो जाता है।

(२) **विनिमय द्वारा श्रम-विभाजन और विशेषीकरण सम्भव होना**—प्रत्येक व्यक्ति अथवा राष्ट्र वह कार्य करता है, जिसमें उसे अत्यधिक योग्यता अथवा क्षमता प्राप्त होती है। इससे मानव तथा राष्ट्रीय शक्तियों का सर्वोत्तम उपयोग होता है और उत्पादन-शक्ति तथा उत्पत्ति मात्रा दोनों बढ़ जाती हैं।

(३) **विनिमय द्वारा हमारी आवश्यकता पूर्ति का क्षेत्र अधिक विस्तृत होना**—इसके द्वारा बहुत सारी ऐसी वस्तुओं का उपयोग सम्भव हो जाता है जिन्हे एक व्यक्ति अपने स्वय के परिश्रम द्वारा प्राप्त करने की कभी आशा भी नही कर सकता। इसके अतिरिक्त विनिमय द्वारा सस्ती और अच्छी वस्तुएं मिल जाती हैं।

(४) **आधुनिक उत्पादन प्रणाली विनिमय पर ही आधारित**—इसकी उत्पत्ति मुख्यतया बाजार के लिए की जाती है। विस्तृत विनिमय क्षेत्र के बिना बड़े पैमाने की उत्पत्ति हो ही नही सकती है।

परीक्षा प्रश्न :

१. एक उदाहरण देकर यह सिद्ध कीजिए कि विनिमय के दोनो पक्ष उपयोगिता का लाभ प्राप्त करते है और आदान-प्रदान उस समय समाप्त हो जाता है जिस समय कि किसी एक पक्ष को उपयोगिता की हानि होने लगती है।
२. अर्थशास्त्र मे विनिमय का क्या अर्थ है ? यह क्यो आवश्यक है ?

२

बाजार अथवा मण्डी

(Markets)

प्रारम्भिक—

आर्थिक सिद्धान्तों के अध्ययन में 'बाजार' के विचार का बड़ा महत्त्व है। विनिमय सिद्धान्तों में तो इसका विशेष महत्त्व है, क्योंकि :—(i) विनिमय सिद्धान्त में इस विचार से सम्बन्धित कई शब्दों का उपयोग होता है, जैसे—बाजार मूल्य, पूर्ण बाजार, अपूर्ण बाजार, विस्तृत बाजार, बाजार-माँग, बाजार-पूर्ति इत्यादि। (ii) विनिमय के सभी कार्य प्रारम्भ से ही बाजारों या बिक्री के केन्द्रों में होते आये हैं। (iii) औद्योगीकरण की उन्नति उसी दशा में हो सकती है, जबकि बाजारों का अधिक विकास हो चुका है। (iv) एडम-स्मिथ ने श्रम-विभाजन की एक महत्त्वपूर्ण परिसीमा का उल्लेख किया है। उनका विचार है कि श्रम-विभाजन का विस्तार बाजार के विकास से सीमित होता है।[1] अतः मूल्य सिद्धान्त के अध्ययन से पहले बाजार के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेना अति आवश्यक है।

'बाजार' का अर्थ

साधारण बोल-चाल में बाजार से अभिप्राय उस स्थान अथवा केन्द्र से है, जहाँ पर किसी वस्तु अथवा वस्तुओं के ग्राहक और विक्रेता एकत्रित होते हैं और खरीदने तथा बेचने का कार्य करते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण गाँव की पेंठ अथवा हाट में मिलता है। सप्ताह में एक निश्चित दिन एक निश्चित स्थान पर विक्रेता और ग्राहक एकत्रित हो जाते हैं और बेचने-खरीदने का क्रम चलता रहता है।

'बाजार' शब्द का अर्थशास्त्रीय अर्थ—

अर्थशास्त्र में बाजार शब्द का अर्थ साधारण अर्थ से थोड़ा भिन्न होता है। यहाँ पर एक कठिनाई है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस शब्द की अलग-अलग परिभाषायें की हैं और इन परिभाषाओं में परस्पर अधिक विरोध पाया जाता है। अतः इस शब्द का अर्थ करते समय दो मुख्य दृष्टिकोणों की सन्तुष्टि करना आवश्यक है :—(i) जो भी परिभाषा की जाय वह इस प्रकार की हो कि बाजार सम्बन्धी दूसरे विचारों से इसका विरोध न हो। विशेष रूप से, वह मूल्य सिद्धान्त के तो अनुकूल ही होनी चाहिए और (ii) परिभाषा ऐसी होनी चाहिए जोकि इस विचार की प्रारम्भिक आवश्यकता की पूर्णतया सन्तुष्टि करे। भिन्न-भिन्न लेखकों ने बाजार की परिभाषायें इस प्रकार की हैं :—

(१) **सिजविक** (Sidgwick)—"बाजार मनुष्यों के उस समूह या समुदाय को सूचित करता है, जिनमें परस्पर इस प्रकार वाणिज्य-सम्बन्ध हों कि प्रत्येक को सुगमतापूर्वक यह

---

[1] Division of labour is limited by the extent of the market. —**Adam Smith.**

पता चल जाय कि अन्य व्यक्ति समय-समय पर कुछ वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय किन मूल्यों पर करते हैं।"[1]

(२) कूरनो (Cournot)—"बाजार कोई ऐसा विशेष स्थान नहीं है कि जहां पर वस्तुएं बेची और खरीदी जायें, वरन् ऐसा कुल क्षेत्र है जिसमें विक्रेताओं और ग्राहकों के मध्य इस प्रकार का सम्पर्क हो कि एक वस्तु की कीमत सुगमता तथा शीघ्रता से सर्वत्र ही समान हो जाय।"[2]

(३) जेवन्स (Jevons)—"बाजार" शब्द के सामान्य अर्थ किये गये हैं जिससे इसका अभिप्राय मनुष्यों के किसी ऐसे समुदाय से होता है, जिसके बीच घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध हो और जो किसी वस्तु में विस्तृत व्यवसाय करते हों।"[3]

(४) ऐली (Ely)—"बाजार वह साधारण क्षेत्र है, जिसके भीतर किसी वस्तु विशेष की कीमतों का निर्धारण करने वाली शक्तियाँ कार्यशील होती हैं।"[4]

(५) प्रो० चैपमैन—"यह आवश्यक नहीं है कि बाजार शब्द सदा किसी स्थान की ओर संकेत करे, परन्तु यह सदा वस्तु अथवा वस्तुओं और उनके ग्राहकों और विक्रेताओं की ओर संकेत करता है, जोकि एक-दूसरे से प्रत्यक्ष प्रतियोगिता करते हैं।"[5]

मार्शल ने बाजार की परिभाषा ही नहीं दी है। पीगू (Pigou) ने जेवन्स के दृष्टिकोण को अपनाया है। उनके विचार में बाजार में प्रतियोगिता का होना आवश्यक नहीं है, केवल माँग और पूर्ति का ज्ञान ही पर्याप्त है। एकाधिकारी भी बाजार में ही होता है, क्योंकि सभी प्रकार का व्यापार बाजार में किया जाता है।

आलोचना—

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि ऊपर दी हुई बाजार की परिभाषाओं में परस्पर महान् अन्तर है। सिजविक (Sidgwick) के अनुसार, बाजार का अर्थ विक्रेताओं से है, जिनके

---

1 ".......a body of persons in such commercial relations that each can easily acquaint himself with the rates at which certain kinds of exchanges of goods or services are from time to time made by others"—*Quoted by* **J. K. Mehta** : *Advanced Economic Theory* p 87.

2 Economists understand by the term market, not any particular market place in which things are bought and sold, but the whole of any region in which buyers and sellers are in such free intercourse with one another that the prices of the same goods tend to equality; easily and quickly." —*Quoted by* **Marshall** : *Principles of Economics*, p 324.

3 "Originally, a market was a public place in a town where provisions and other objects where exposed for sale but word has been generalised so as to mean any body of persons who are in intimate business relations and carry on extensive transactions in any commodity"—**Jevons** : *Theory of Political Economy*, pp 84-85.

4 "We mean by market the general field within which the forces determining the price of a particular commodity operate."—**Ely.**

5 "The term refers not necessarily to a place but always to a commodity or commodities and the buyers and sellers of the same who are in direct competition with one another."—**Chapman.**

मध्य प्रतियोगिता का होना आवश्यक नही है, केवल पूर्ण ज्ञान (Perfect knowledge) ही पर्याप्त है। कूरनो के विचार मे बाजार एक प्रदेश (Region) को सूचित करता है, जहाँ पूर्ण प्रतियोगिता होनी चाहिए। जेवन्स का अभिप्राय उन विक्रेताओं से है, जिनके बीच प्रतियोगिता सम्भव हो। ऐली का बाजार क्षेत्र को सूचित करता है, जहाँ प्रतियोगिता का होना आवश्यक नही है। इसी प्रकार पीगू (Pigou) के विचार में बाजार और एकाधिकार दोनो एक साथ स्थित हो सकते है। ये अन्तर इतने विशाल है कि इन पर विचार न करना भूल होगी। इन परिभाषाओं मे छः शब्दो का विशेष रूप से उपयोग किया गया है, जो इस प्रकार हैं :—(१) स्थान या क्षेत्र, (२) ग्राहक और विक्रेता, (३) वस्तु, (४) प्रतियोगिता या स्पर्धा, (५) पूर्ण ज्ञान और (६) एक दाम। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इन सब शब्दों मे से कौन-कौन से शब्द किस अश तथा किस प्रकार बाजार सम्बन्धी विचार से सम्बन्धित हैं।

(१) सर्वप्रथम स्थान या क्षेत्र को ही लीजिए। यह बाजार का एक आवश्यक अग नही है, यद्यपि साधारण बोल-चाल मे बाजार से अभिप्राय स्थान से ही होता है। आजकल ग्राहकों और विक्रेताओं का किसी स्थान पर एकत्रित होना आवश्यक नहीं है। यातायात और सम्वादवाहन के साधन अब इतने बढ गये हैं तथा क्रमबन्धन (Grading) और निदर्शन (Sampling) के क्षेत्र मे इतनी उन्नति हुई है कि विक्रेताओं और ग्राहकों के व्यक्तिगत सम्पर्क की कुछ भी आवश्यकता नही रही है। एक व्यापारी अपने देश से बाहर जाये बिना भी करोडो रुपये का माल विदेशों से खरीद सकता है।

(२) ग्राहकों और विक्रेताओं के बिना बाजार नही चल सकता। बाजार की आवश्यकता विनिमय कार्य के लिए होती है और विनिमय के लिए सदैव दो पक्ष होते है विक्रेता और ग्राहक। किन्तु बेचने वालो और खरीदने वालो का किसी निश्चित सख्या मे होना आवश्यक नही है और न ही इस बात की आवश्यकता है कि वे किसी विशेष स्थान पर स्थित हों। जहाँ कहीं भी ग्राहक और विक्रेता होंगे, बाजार बन जायगा।

(३) यह विषय विवादग्रस्त है कि एक बाजार मे एक ही वस्तु होनी चाहिए या उस वस्तु के स्थानापन्नों को भी उसी बाजार मे सम्मिलित करना चाहिए। इस विषय में बेनहम का विचार अधिक ठीक ज्ञात होता है। उनका कहना है कि उन वस्तुओं को छोडकर जो एक दूसरी का पूर्णरूप से प्रतिस्थापन कर सकती है, प्रत्येक वस्तु का बाजार पृथक् होगा।[1]

(४) प्रतियोगिता का होना भी बाजार के लिए आवश्यक नहीं है। पीगू का यह विचार कि एकाधिकारी बाजार मे ही होता है, अधिक ठीक है। प्रतियोगिता शून्य से लेकर अपरिमित हो सकती है, अर्थात् यह सम्भव है कि प्रतियोगिता बिल्कुल भी न हो और यह भी सम्भव है कि पूर्ण प्रतियोगिता हो।

(५) बाजार सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान का भी होना आवश्यक नही है। बाजार के वर्गीकरण मे हम देखेंगे कि ऐसे भी बाजार होते है कि जिनके विषय मे विक्रेता और ग्राहक दोनो का ज्ञान अपूर्ण होता है। प्रवैगिक दशा मे तो पूर्ण ज्ञान का होना असम्भव है किन्तु इसका अर्थ यह नही होता कि उस दशा में बाजार भी नहीं होता।

(६) एक बाजार में एक कीमत होने की प्रवृत्ति भी आवश्यक है। अधिक या कम कीमत के होने पर माँग और पूर्ति मे इस प्रकार परिवर्तन हो जाते हैं कि कीमत का परिवर्तन

---

1 "Each variety is really a separate commodity for which there is a distinct demand....two units do not really belong to the same commodity unless they are perfect substitutes."—**Benham** : *Economics*, p 24.

बहुत समय तक स्थिर नहीं रह सकता। आगे चलकर हम देखेंगे कि यद्यपि एकाधिकारी के लिए मूल्य विभेद (Price Discrimination) सम्भव होता है, परन्तु वह भी एक बाजार मे एक ही कीमत रख सकता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि—**आधुनिक अर्थशास्त्र में बाजार शब्द किसी ऐसी वस्तु को सूचित करता है जिसके विक्रेताओं और ग्राहकों के बीच इस प्रकार की प्रतियोगिता है उस वस्तु की कीमत सभी स्थानों पर समान हो जाने की प्रवृत्ति में हो।**[1]

प्रोफेसर मेहता का विचार—

बाजार के सम्बन्ध मे प्रोफेसर मेहता ने एक नया दृष्टिकोण बतलाया है। उनका कथन है कि, "बाजार शब्द का अभिप्राय उस दशा से है जिसमे एक वस्तु की मांग उस स्थान पर है, जहाँ कि वह बेचने के लिए प्रस्तुत की जाती है।"[2] इस प्रकार, जब केवल एक ही ग्राहक और एक ही बेचने वाला हो, तब भी, यदि ग्राहक के लिए बेचने वाले से खरीदना सम्भव हो, बाजार होता है। यह विचार 'बाजार' शब्द के साधारण अर्थ के भी अनुकूल है, क्योंकि बाजार शब्द बिकने वाली वस्तु को ही सूचित करता है। यहाँ पर पीगू और मेहता के विचारों मे अधिक समानता है। इस परिभाषा की विशेषता यह है कि इसमे बाजार के साथ क्षेत्र और प्रतियोगिता के विशेषण नहीं जोड़े गये हैं। प्रो० मेहता का कहना है कि विस्तृत और सकीर्ण बाजारो का विचार ठीक नहीं है, क्योकि ऐसे बाजारो का सम्बन्ध क्षेत्र से प्रतीत होता है। इसी प्रकार, पूर्ण और अपूर्ण बाजार मे प्रतियोगिता का होना आवश्यक नही है।

बाजार का वर्गीकरण (Classification of Markets)

आधुनिक अर्थशास्त्रियो के विचारानुसार बाजार का विभिन्न रीतियो से वर्गीकरण करना ठीक नही है, परन्तु अर्थशास्त्र मे बाजार के वर्गीकरण की एक प्रथा-सी चली आ रही है। यह वर्गीकरण निम्न रीतियों से किया जाता है :—

(1) समय के अनुसार—

समय के अनुसार वर्गीकरण करने मे हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि बाजार कितने समय तक रहता है। इस दृष्टि से बाजार को निम्नांकित दो प्रकार का बताया जाता है :—

(१) **अल्पकालीन बाजार**—यदि कीमत के समान रहने की प्रवृत्ति बहुत थोड़े समय तक रहे, तो बाजार अल्पकालीन होता है। कुछ वस्तुएँ इस प्रकार होती है कि उनकी मांग बहुत जल्दी-जल्दी बदलती रहती है, जिससे उनकी कीमत मे स्थिरता नही रहती। इसके अतिरिक्त, कुछ वस्तुएँ बहुत शीघ्र खराब होने वाली होती हैं और उनका मूल्य कुछ समय बाद तेजी से गिरने लगता है, क्योंकि उनके बेचने वाले को यह भय रहता है कि यदि बिक्री न हुई, तो भारी हानि होगी। दूध, ताजे फल, साग-सब्जी, अण्डे आदि इसी प्रकार की वस्तुएँ हैं। ऐसी वस्तुओं के बाजार बहुधा अल्पकालीन होते है।

(२) **दीर्घकालीन बाजार**—जिन वस्तुओं की मांग और पूर्ति मे स्थिरता रहती है उनकी कीमत मे भी अधिक लम्बे समय तक परिवर्तन नही होते। इसी प्रकार, जो वस्तुएँ बहुत दिनो तक सचित करके रखी जा सकती हैं (अर्थात् जो टिकाऊ होती है), उनकी कीमत के समान

---

1 "The term market refers to a commodity, the buyers and sellers of which are in such competition that its price tends to be the same every where"

2 The word market signifies a state in which a commodity has a demand at a place where it is offered for sale"—J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 90, Second Edition

रहने की प्रवृत्ति भी अधिक काल तक बनी रहती है। ऐसी वस्तुओं के बाजार भी दीर्घकालीन होते हैं। यहां पर अल्प और दीर्घकाल शब्दों का उपयोग उनके सच्चे आर्थिक अर्थों में किया जाता है। अल्पकाल में वस्तुओं की पूर्ति और मांग में कुछ परिवर्तन हो सकते हैं, किन्तु इनमें पूर्ण सन्तुलन सम्भव नहीं है। दीर्घकाल में मांग और पूर्ति को सन्तुलन के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है।

(II) स्थान के अनुसार—

स्थान के अनुसार बाजार तीन प्रकार के होते हैं, यथा —

(१) **स्थानीय बाजार**—कुछ वस्तुओं के बाजार की सीमा बहुत संकीर्ण होती है तथा कुछ वस्तुओं के बाजार बहुत विस्तृत होते हैं। जिन वस्तुओं की मांग स्थानीय होती है या जिनके ग्राहकों और विक्रेताओं के बीच की स्पर्धा छोटे से क्षेत्र तक सीमित होती है, उनके बाजार 'स्थानीय बाजार' कहलाते हैं।

(२) **राष्ट्रीय बाजार**—कुछ वस्तुओं की मांग सम्पूर्ण देश या राष्ट्र में होती है। ये वस्तुएं ऐसी होती है कि देश विशेष के लोग ही इनका उपयोग करते हैं, अर्थात् इनमें प्रतियोगिता का क्षेत्र देश या राष्ट्र तक ही सीमित होता है। ऐसी वस्तुओं का बाजार राष्ट्रीय बाजार कहलाता है। उदाहरणस्वरूप, साड़ियों और धोतियों का बाजार भारत का राष्ट्रीय बाजार है।

(३) **अन्तर्राष्ट्रीय बाजार**—जिन वस्तुओं की मांग संसार के प्रायः सभी देशों में होती है, उनका बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होता है। सोना, चांदी और गेहूं इसी प्रकार की वस्तुएं हैं। यह जानने के लिए कि बाजार का विस्तार कितना है, हमें यह देखना पड़ता है कि वस्तु विशेष की कीमत की समानता का क्षेत्र कितना विस्तृत है। जब यह क्षेत्र संसार भर में फैला होता है, तो प्रायः सभी देशों में उस वस्तु की कीमत समान ही रहती है। ऐसी दशा में वस्तु का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होता है।

(III) प्रतियोगिता के अनुसार—

प्रतियोगिता के अंश के अनुसार वर्गीकरण निम्न प्रकार है :—

(१) **एकाधिकारी बाजार**—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, स्पर्धा का अंश शून्य से लेकर अपरिमित तक होता है। जब किसी वस्तु के विक्रेताओं के बीच प्रतियोगिता बिल्कुल नहीं होती, तो उस दशा को एकाधिकार कहते हैं।

(२) **पूर्ण बाजार**—जब ग्राहकों और विक्रेताओं के मध्य प्रतियोगिता अपरिमित (अर्थात् पूर्ण) होती है, तो इस दशा में वस्तु का बाजार पूर्ण (Perfect) कहलाता है, बेनहम (Benham) का विचार है, "कोई बाजार 'पूर्ण' उस दशा में कहलाता है, जबकि सभी सम्भाव्य ग्राहकों और विक्रेताओं को उन कीमतों का, जिन पर सौदा हो रहा है, तुरन्त ही पता चल जाता है। प्रत्येक ग्राहक और विक्रेता को दूसरों के द्वारा दी जाने वाली अथवा मांगी हुई कीमत ज्ञात होती है। ऐसी दशा में वस्तु की कीमत, यातायात-व्यय और आयात-करों को निकाल कर, सारे बाजार में समान ही रहेगी।"[1]

[1] "A market is said to be perfect when all the potential sellers and buyers are promptly aware of the prices at which transactions take place and all the offers made by other sellers and buyers, and when any buyer can purchase from any seller and conversly. Under such conditions the price of a commodity will tend to be the same (after allowing for all costs of transport including import duties) all over the market."—Benham : *Economics*, p. 25.

(३) **अपूर्ण बाजार**—पूर्ण प्रतियोगिता एक कल्पना मात्र है। वह केवल सैद्धान्तिक जगत की वस्तु है। व्यावहारिक जीवन मे न तो पूर्ण एकाधिकार ही होता है और न पूर्ण प्रतियोगिता ही। हमारे चारो ओर के ससार मे अपूर्ण प्रतियोगिता ही होती है। बेनहम के अनुसार, **"बाजार अपूर्ण उस दशा में होता है, जबकि कुछ ग्राहकों अथवा विक्रेताओं अथवा दोनों को दूसरों के द्वारा मांगी अथवा दी हुई कीमतो का ज्ञान नहीं होता।"**[1] उन सब वस्तुओ का बाजार भी, जिनके ग्राहको और विक्रेताओ के बीच स्पर्धा होती है, अपूर्ण बाजार (Imperfect Market) होता है। अधिकाश बाजार इसी प्रकार के होते है।

(IV) व्यवहृत वस्तु के अनुसार—

बेची जाने वाली वस्तु के स्वभाव के अनुसार बाजार निम्न प्रकार के होते हैं :— प्रोड्यूस एक्सचेंज, स्टॉक एक्सचेंज आदि। **प्रोड्यूस एक्सचेंज** वह बाजार है जहाँ कृषि-उपज (जैसे—गेहूँ, कपास आदि) का क्रय-विक्रय किया जाता है। इसके विपरीत, **स्टॉक एक्सचेंज** वह बाजार है जहाँ कम्पनियो के अशो, ऋण-पत्रों आदि का क्रय-विक्रय होता है। दोनो ही प्रकार के बाजारो मे अनुबन्ध तात्कालिक या आगामी सुपुर्दगी के लिए किये जाते हैं।

(V) कार्य के अनुसार—

कार्य के आधार (on the basis of function) पर भी बाजारो का वर्गीकरण किया गया है, जो निम्न प्रकार हैं :—(१) **सामान्य या मिश्रित बाजार**, जिसमे विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ खरीदी या बेची जाती हैं। (२) **विशिष्ट बाजार**, जिसमे एक विशेष वस्तुओ का ही क्रय-विक्रय होता है। (३) **ग्रेडो द्वारा बिक्री वाले बाजार**, जैसे—बहुत से देशो मे गेहूँ को कई ग्रेडो (*श्रेणियों*) *मे बाँट दिया जाता है और ग्रेड को बताने से सौदा तय हो जाता है*, एव (४) **नमूनो द्वारा बिक्री वाले बाजार**, जैसे—ऊनी मिलें सैम्पल बुक्स बनाती हैं और ऊनी कपडो का थोक क्रय-विक्रय इसमे दिये गये नमूनो के आधार पर होता है।

बाजार का विस्तार
(Extent of Market)

आधुनिक युग मे बाजारो का विस्तृत बनना एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। श्रम-विभाजन विस्तृत बाजारो के बिना उन्नति नही कर सकता और औद्योगिक क्रान्ति की सफलता मे विस्तृत बाजारो का बहुत अधिक हाथ रहा है, किन्तु औद्योगिक क्रान्ति ने स्वय भी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी है कि बाजारो का विस्तार होता जा रहा है। रेल, तार आदि की उन्नति से औद्योगिक क्रान्ति और बाजारो के विकास दोनो को ही सहायता मिली है। बाजारो का विस्तार निम्न बातो पर निर्भर होता है :—

(I) देश में पाई जाने वाली बातें—

यदि देश मे अनुकूल परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, तो बाजारो के विस्तृत होने को प्रोत्साहन मिलता है। अनुकूल परिस्थितियों मे निम्न बातें सम्मिलित की जाती है :—

(१) **यातायात और सम्वादवाहन के साधन**—जब तक माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने की सस्ती एव पर्याप्त सुविधाएँ नही होंगी, बाजार छोटे ही रहेगें। यही कारण है कि रेल और डाक आदि साधनों के अभाव मे दूर के स्थानो मे वस्तुएँ बेचने का प्रश्न ही नही उठता।

---

1 "A market is imperfect when some buyers, or sellers, or both are not aware of the offers made by others."—*Ibid*, p. 26.

(२) देश में सुरक्षा व शान्ति—यदि देश की शासन-व्यवस्था ठीक नहीं है (अर्थात् सुरक्षा और शान्ति का प्रबन्ध ठीक नहीं है), तो माल के लाने और ले जाने में बड़ी कठिनाई होगी और बाजार का विस्तार नहीं हो सकेगा। प्राचीन काल में भारतवर्ष की व्यापारिक, औद्योगिक और आर्थिक उन्नति में एक बड़ी बाधा यही थी कि सुरक्षा और शान्ति के लिए समुचित व्यवस्था न थी। व्यापारियों को माल या धन एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में सदा यह भय बना रहता था कि वे कहीं रास्ते में ही न लूट लिये जायें।

(३) मुद्रा और साख प्रणाली—बाजार के विस्तार के लिए प्रायः यह आवश्यक होता है कि देश में बैंकिंग और साख सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध हों। एक स्थान से दूसरे स्थान को धन भेजने के लिए भी सस्ती और सुरक्षित सुविधाओं के विकास ने बाजार के सामान्य विकास में बहुत योग दिया है।

(४) सरकार की कर-नीति—वर्तमान युग में राज्य द्वारा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करने की उपयुक्तता को लगभग सभी विद्वान स्वीकार करते हैं। किन्तु सरकारी नीति के फलस्वरूप बाजार का विस्तार भी हो सकता है और इसका संकुचन भी। यदि ऊँचे आयात-कर अथवा निर्यात-कर लगाये जाते हैं, तो बाजारों का संकुचन होगा। ठीक इसी प्रकार, सभी प्रकार के 'व्यापार-प्रतिबन्ध' बाजार के संकुचन की प्रवृत्ति रखते हैं। इसके विपरीत, यदि सरकारी नीति उदार है, तो बाजारों का विस्तार होगा।

(५) श्रम-विभाजन की सीमा—एक पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि श्रम-विभाजन का आकार बाजार के विस्तार पर निर्भर होता है, परन्तु इसके विपरीत, यह भी सत्य है कि बाजार के विस्तार पर भी श्रम-विभाजन की सीमा का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जितना ही श्रम-विभाजन अधिक होगा, उतना ही उत्पादन बढ़ेगा और वस्तुओं की कीमतें घटेंगी। ऐसी दशा में, बाजार के विस्तार की सम्भावना स्वयं ही बढ़ जाती है।

(II) वस्तु सम्बन्धी विशेष दशाएँ—

बाह्य वातावरण के अतिरिक्त बाजार के विस्तार पर वस्तु सम्बन्धी गुणों का भी प्रभाव पड़ता है। यदि ये गुण अनुकूल हुए, तो वस्तु का बाजार विस्तृत होगा, और यदि प्रतिकूल हुए, तो बाजार संकुचित होगा। विस्तृत बाजार होने के लिए वस्तु में निम्न अनुकूल गुण होने चाहिए :—

(१) सर्वव्यापी माँग—केवल उसी वस्तु का बाजार विस्तृत हो सकता है, जिसकी सभी स्थानों पर तथा सभी मौसमों में माँग हो। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार उन्हीं वस्तुओं का हो सकता है, जिनका उपयोग सभी देशों में होता हो। मर्दानी धोतियों का उपयोग भारत के बाहर के देशों में लगभग न होने के बराबर है, इसलिए उनका बाजार अधिक से अधिक इसी देश में हो सकता है, परन्तु गेहूँ, सोना, चाँदी इत्यादि वस्तुएँ ऐसी हैं कि प्रायः सभी देशों में उनकी माँग होती है, इसलिए इन वस्तुओं के बाजार बहुत विस्तृत या अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं। इसी प्रकार, यदि किसी वस्तु की माँग वर्ष में केवल एक महीने में ही होती है, तो बाजार के विस्तार की सम्भावना कम होगी। इसके विपरीत, जिन वस्तुओं की माँग वर्ष भर बराबर बनी रहती है, उनका बाजार अधिक विस्तृत होता है। अभिप्राय यह है कि वस्तु विशेष की माँग का क्षेत्र जितना ही अधिक विशाल होगा और उसकी माँग का काल जितना ही अधिक लम्बा होगा उनका बाजार भी उतना ही अधिक विस्तृत होगा।

(२) वहनीयता—यदि कोई वस्तु ऐसी है कि उसे सरलता से तथा कम व्यय पर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सकता है, तो उसका बाजार विस्तृत हो जायगा। वहनीयता दो बातों पर निर्भर होती है :—(i) लघु-भारता, अर्थात् थोड़े बोझ में अधिक मूल्य

का होना और (ii) अविनाशिता या टिकाऊपन। सर्वव्यापी माँग होते हुए भी यदि वस्तु में वहनीयता का गुण नहीं है, तो उसका बाजार-विस्तृत नहीं हो सकता है। उदाहरणार्थ, कोयले की माँग संसार के सभी देशों में है, परन्तु कोयले का बाजार विश्वव्यापी नहीं है, क्योंकि कोयले को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में कोयले के मूल्य की तुलना में व्यय इतना अधिक हो जाता है कि इसको बेचकर बहुत लाभ की आशा नहीं रहती। यही बात ईंट, चूना, लकड़ी आदि के विषय में भी कही जा सकती है। इसी प्रकार, दूध, मक्खन, अण्डा आदि वस्तुओं का भी बाजार सीमित होता है, क्योंकि ये वस्तुएँ इतनी जल्दी खराब हो जाती हैं कि इनको दूर के स्थानों पर ले जाने में लाभ के स्थान पर हानि होती है। इसके विपरीत, सोना और चाँदी में थोड़े भार में अधिक मूल्य रहता है और साथ ही ये वस्तुएँ जल्दी खराब होकर मूल्यहीन भी नहीं होती हैं, अतः उनका बाजार बहुत विस्तृत होता है।

(३) **नमूने भेजने की सुविधा**—जब व्यापारी किसी दूर के स्थान से माल मँगाना चाहता है, तो उसे यह जानने की इच्छा होती है कि जो माल वह मँगाना चाहता है वह क्या ठीक अवस्था में है तथा क्या ठीक उसी प्रकार का है जैसी कि उसे आवश्यकता है? इसे जानने का एक उपाय तो यह है कि वह या तो स्वयं जाकर माल देखकर आदेश (Order) दे या अपने किसी प्रतिनिधि को भेजकर ऐसा करे, परन्तु इसमें व्यय बहुत अधिक हो सकता है, किन्तु जब वह माल ऐसा है कि इसके नमूने (Sample) भेजे जा सकते हैं, तो माल की दशा, गुण और प्रकृति का अनुमान नमूनों द्वारा ही लगाया जा सकता है और माल का स्वयं निरीक्षण करने का कष्ट और व्यय बचाया जा सकता है, अतः ऐसी वस्तुओं की मण्डी विस्तृत होना स्वाभाविक है।

(४) **वर्गीकरण की सुविधा**—बानगी अथवा नमूनों द्वारा वस्तु के विषय में अच्छा अनुमान लगाया जा सकता है, परन्तु इस कार्य में भी कुछ व्यय होता है और फिर माल सदा नमूने के अनुसार ही नहीं मिलता। यदि कोई वस्तु ऐसी है कि उसका वर्गीकरण (Grading) हो सकता है, तो उसके खरीदने में और भी अधिक आसानी होती है। यदि वर्गीकरण किसी विश्वसनीय अधिकारी द्वारा किया गया है, तो ग्राहक केवल वर्ग का नाम लिखकर ही माल मँगा सकता है। उदाहरण के लिए, हमारे देश में सरकार द्वारा नियुक्त कोयला वर्गीकरण समिति (Coal Grading Board) कोयले को, इसकी किस्म के अनुसार, सोफ्ट-कोक (Soft coke), हार्ड-कोक (Hard-coke), स्टीम-कोक (Steam-coke) आदि वर्गों में विभाजित कर देती है और यह व्यवस्था करती है कि कोयले के उत्पादक इसी वर्गीकरण के अनुसार माल रखें। अतः कोयले का ग्राहक केवल वर्ग का नाम देकर आवश्यकतानुसार कोयला मँगा सकता है। वर्गीकरण द्वारा निरीक्षण व्यय भी बच जाता है और वस्तु के गुण और किस्म के बारे में भी विश्वास किया जा सकता है। अतः जिन वस्तुओं का वर्गीकरण हो सकता है उनका बाजार अधिक विस्तृत होता है।

(५) **पर्याप्त पूर्ति**—वस्तु का बाजार विस्तृत होने के लिए यह भी आवश्यक है कि उसकी पूर्ति अधिक मात्रा में हो। यदि ऐसा नहीं है, तो उपभोक्ताओं को निराश होकर अन्य वस्तुओं का सेवन करना पड़ेगा। यही नहीं, कुछ समय पश्चात् उस वस्तु की माँग कम होने लगेगी और इस सीमा तक उसका बाजार संकुचित हो जायगा। उदाहरण के लिए, एक कलाकार के चित्रों की माँग का क्षेत्र प्रायः संकुचित होता है, क्योंकि उसकी पूर्ति अल्प मात्रा में होती है।

परीक्षा प्रश्न :

१. क्षेत्र के आधार पर बाजारों का वर्गीकरण कीजिये तथा बतलाइये कि ईंटों, हरी तरकारियों तथा बहुमूल्य धातुओं के बाजारों का क्या क्षेत्र होगा? सकारण उत्तर दीजिए।

२. बाजार (विपणि Market) की परिभाषा दीजिये। आधुनिक युग में बाजारों के विस्तृत होने के क्या कारण हैं?

३. पूर्ण-प्रतियोगिता बाजार की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? क्या ऐसे बाजार में कोई विक्रेता अपने व्यक्तिगत आचरण से बाजार-मूल्य को प्रभावित कर सकता है?

बाजार स्थितियाँ अथवा बाजार सम्बन्ध

(Market Situations or Market Relationship)

प्रारम्भिक—क्रेताओं और विक्रेताओं का प्रभाव एवं इसके कारण

बाजार पर सबसे अधिक प्रभाव क्रेताओं और विक्रेताओं का ही पड़ता है। इस कारण बाजार स्थिति का अध्ययन करने के लिए हम सर्वप्रथम इसी प्रभाव से आरम्भ करते हैं। क्रेताओं और विक्रेताओं का वस्तु की उपज पर जो प्रभाव पड़ता है वह निम्न कारणों पर आधारित होता है :—

(१) **वस्तु का स्वभाव**—कोई फर्म किसी वस्तु की कीमत निश्चित करने में किस अंश तक स्वतन्त्र होगी यह वस्तु के स्वभाव पर निर्भर होता है। जब उपजें सभी दृष्टियों से समान होती हैं, तो कोई भी फर्म अन्य फर्मों से स्वतन्त्र रूप में कीमत निश्चित नहीं कर सकती है क्योंकि ऐसी दशा में क्रेता एक ही वस्तु के लिए एक ही काल में अलग-अलग कीमतें देने को तैयार न होंगे। इसके विपरीत, यदि विभिन्न फर्मों की उपजों में वास्तविक अथवा कल्पित अन्तर है, अथवा, यदि विभिन्न फर्मों की उपजें एक दूसरी की पूर्ण स्थानापन्न नहीं हैं जिससे कि ग्राहक कुछ उपजों के लिए स्पष्ट तथा निश्चित अनुराग रखते हैं, तो विभिन्न फर्मों को अपनी उपजों की कीमतें निश्चित करने में अधिक स्वतन्त्रता होगी। जितने उपजों के बीच के अन्तर अधिक विशाल होंगे उतनी ही विक्रेताओं द्वारा अन्य फर्मों से स्वतन्त्र रूप में कीमत निश्चित करने की स्वतन्त्रता अधिक होगी।

(२) **विक्रेताओं की संख्या**—वस्तु की उपज की मात्रा निस्सन्देह ग्राहकों की संख्या पर निर्भर रहेगी। साधारणतया, यदि ग्राहकों की संख्या विशाल होगी, तो माँग की मात्रा अधिक होगी और, साथ ही ग्राहकों द्वारा संघ बनाने और मिलकर काम करने तथा अन्य ग्राहकों की प्रतिक्रिया ज्ञात करने की सम्भावना कम रहेगी। ऐसी दशा में साधारणतया विक्रेता के लिए अपनी उपज की कीमत और मात्रा निश्चित करने की स्वतन्त्रता अधिक होगी।

(३) **विक्रेताओं की संख्या**—बाजार में विक्रेताओं की संख्या यह निर्धारित करती है कि उपज की कितनी मात्रा बिक्री के लिए प्रस्तुत की जायेगी, बाजार में प्रतियोगिता का अंश क्या होगा, विक्रेताओं के बीच सहयोग की सम्भावना कितनी होगी तथा कीमत निश्चित करने में एक विक्रेता दूसरों पर किस अंश तक आश्रित है। यदि बाजार में वस्तु का केवल एक ही विक्रेता है, तो उसे एकाधिकार प्राप्त होगा। कोई भी उसका प्रतियोगी न होगा और माँग की लोच के प्रतिबन्धों की सीमाओं के भीतर उसे अपनी उपज की कीमत निश्चित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। यदि बाजार में विक्रेताओं की संख्या थोड़ी-सी है, तो उनके आपस में मिल जाने की सम्भावना अधिक होगी और वे अर्ध एकाधिकारी की स्थिति प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु यदि बाजार में विक्रेताओं की संख्या बहुत विशाल है, तो किसी एक विक्रेता के लिए उपज की कीमत तथा मात्रा निश्चित करने की सम्भावना बहुत ही कम होगी।

(४) विक्रेताओं के बीच तथा क्रेताओं के बीच पारस्परिक सहयोग की सम्भावना—*यह सम्भव है कि प्रतियोगिता के अंश को घटाने तथा एक विक्रेता द्वारा दूसरे से नीची कीमत* पर बेचने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए विक्रेता आपस में मिल जायें। किन्तु स्थिति यह है कि जितनी ही विक्रेताओं की संख्या कम होगी उतनी ही उनके पारस्परिक सहयोग की सम्भावना अधिक होगी, और जितनी ही उनकी संख्या अधिक होगी उतनी ही सहयोग की सम्भावना कम होगी। ठीक यही बात क्रेताओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जितनी ही ग्राहकों की संख्या अधिक होगी उतनी ही पारस्परिक सहयोग की सम्भावना कम होगी।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम विभिन्न बाजार स्थितियों के बीच भेद कर सकते हैं। एक छोर पर तो एकाधिकार होगा, जिसमें प्रतियोगिता का पूर्ण अभाव होता है, और, दूसरे छोर पर पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति होगी, जिस दशा में सारे बाजार में एक ही कीमत प्रचलित होती है। इन दोनों स्थितियों के बीच अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति होती है जिसमें कुछ अंश तक क्रेताओं तथा विक्रेताओं दोनों ही का कीमत पर नियन्त्रण रहता है। परन्तु बाजार स्थितियों के कुछ अन्य रूप भी हो सकते हैं। इन सब पर नीचे प्रकाश डाला गया है।

पूर्ण प्रतियोगिता
(Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ एवं इसके आवश्यक लक्षण—

श्रीमती जोन रोबिन्सन ने पूर्ण प्रतियोगिता की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है—"पूर्ण प्रतियोगिता उस दशा में होती है जबकि प्रत्येक उत्पादक के उत्पादन के लिए माँग पूर्णतः लोचदार हो। इसका अर्थ है कि प्रथमतः, विक्रेताओं की संख्या विशाल होती है, जिससे किसी *एक विक्रेता का उत्पादन वस्तु के कुल उत्पादन का एक बहुत ही छोटा-सा भाग होता है, और,* दूसरे, सभी ग्राहक, प्रतियोगी विक्रेताओं के मध्य चुनाव करने की दृष्टि से, समान होते हैं,जिससे बाजार पूर्ण होता है।"[1] इस प्रकार, पूर्ण प्रतियोगिता के लिए निम्न शर्तें होनी आवश्यक हैं :—

(१) **विक्रेताओं और क्रेताओं की विशाल संख्या**—बाजार में विक्रेताओं और क्रेताओं की संख्या बहुत अधिक होनी है। कुल पूर्ति में प्रत्येक विक्रेता का भाग इतना अल्प होता है कि वह अपने उत्पादन को घटा-बढ़ा कर व्यक्तिगत रूप से बाजार मूल्य को घटा-बढ़ा नहीं सकता। यही बात क्रेताओं के लिए भी है। प्रत्येक क्रेता कुल पूर्ति का बहुत ही मामूली भाग खरीदता है, जिससे यदि वह इसमें घटा-बढ़ी कर दे तो भी बाजार मूल्य को प्रभावित करने में असमर्थ रहेगा। यद्यपि विक्रेता (अथवा क्रेता) व्यक्तिगत रूप में अपना उत्पादन घटा बढ़ाकर बाजार के मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता तथापि वे सामूहिक रूप में ऐसा कर सकते हैं।

उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि किसी बाजार में १०,००० विक्रेताओं (या उत्पादक) हैं, *जिनकी कुल पूर्ति १,००,००० लाख इकाइयाँ है। प्रत्येक विक्रेता का योगदान १०-१५ इकाइयाँ*

---

[1] "Perfect Competition prevails when the demand for the output of each producer is perfectly elastic This entails, first, that the number of sellers is large so that output of any one seller is a negligibly small proportion of the total output of the commodity, and second, that buyers are all alike in respect of their choice between rival sellers so that the market is perfect."—**Mrs. Joan Robinson** : *The Economics of Imperfect Competition*, p. 18.

के मध्य है । अब यदि कोई उत्पादक या विक्रेता पहले की अपेक्षा दूना करने लगे (जैसे—१० के बजाय २० इकाइयाँ उत्पन्न करे), तो मूल्य अप्रभावित रहेगा । किन्तु सभी विक्रेता यदि अपना-अपना उत्पादन १० इकाइयों से बढा दें, तो कुल उत्पादन मे १,००,००० की वृद्धि हो जायेगी और ऐसी दशा मे मूल्य अवश्य प्रभावित होगा । अन्य शब्दो मे, मूल्य एक विक्रेता या उत्पादक के लिए निश्चित रहता है । वह अपने उत्पादन अथवा पूर्ति को कितना भी घटा-बढा ले, बाजार मूल्य वही रहेगा जो पहले था । इसी प्रकार, एक क्रेता अपनी खरीद की मात्रा को चाहे कई गुना करदे चाहे बहुत ही घटा दे, बाजार मूल्य अपरिवर्तित रहेगा । बाजार मूल्य पर तो प्रभाव तब पडेगा जबकि सभी क्रेता या विक्रेता सामूहिक कार्यवाही करें ।

(२) क्रेताओं और विक्रेताओं का स्वतन्त्र आचरण—विक्रेताओ मे आपस मे कोई गुप्त ठहराव या समझौता नही होता । प्रत्येक अपनी स्वेच्छा के अनुसार कार्य करता है । क्रेताओं मे भी कोई प्रगट अथवा गुप्त सन्धि नही होती । उनमे से प्रत्येक अन्य से स्वतन्त्र रूप मे कार्य करता है । चूँकि वे स्वतन्त्र रूप से आचरण करते हैं, इसलिए बाजार मे प्रचलित मूल्य को प्रभावित करने मे असमर्थ रहते हैं । जो मूल्य है उसी पर विक्रेता चाहे जितनी मात्रा बेच सकते हैं और क्रेता चाहे जितनी मात्रा खरीद सकते हैं ।

(३) वस्तु विभेद का नितान्त अभाव—प्रत्येक उत्पादक या विक्रेता जो वस्तु उत्पादन करता या बेचता है वह हर दृष्टि से एक रूप होनी चाहिए । अन्य शब्दो मे, प्रमापित वस्तु का ही क्रय-विक्रय किया जाना चाहिये । जब ऐसा होता है, तो वस्तु की सभी इकाइयाँ, चाहे वे किसी भी उत्पादक द्वारा उत्पन्न की जायें अथवा किसी भी विक्रेता द्वारा बेची जायें, एक-दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न होती हैं । इस दशा मे कोई भी उत्पादक या विक्रेता बाजार में प्रचलित कीमत से अधिक नही ले सकता । यदि उसने इसका प्रयत्न किया, तो उसके ग्राहक टूट कर दूसरो के पास चले जायेंगे ।

प्रमापित वस्तुओ के उत्पादन की दशा मे गैर-कीमत प्रतियोगिता के लिए कोई अवसर नही होता । इसका अर्थ यह है कि वस्तु के गुण व विज्ञापन के आधार पर कोई प्रतियोगिता नहीं होती है । इसी बात को यो भी कह सकते है कि विज्ञापन और प्रसार-व्यय (अर्थात् विक्रय लागतें) नही किये जाते । प्रत्येक विक्रेता जानता है कि वह कितना भी विज्ञापन करे, ग्राहक को अपनी वस्तु के प्रति विशेष रूप से आकर्षित नही कर सकेगा ।

(४) विक्रेताओ का प्रमापीकरण—पूर्ण प्रतियोगिता के लिए यह भी आवश्यक है कि विक्रेता-विक्रेता मे किसी भी प्रकार का (जैसे—व्यक्तित्व, ख्याति, विक्रय स्थान आदि की दृष्टि से) भेद नही होना चाहिये । जब ऐसा होता है, तो ग्राहक किस विक्रेता से वस्तु खरीदें इस बारे मे तटस्थ होते हैं । वे किसी भी विक्रेता को अन्य विक्रेताओ पर प्राथमिकता नही देते और किसी से भी वस्तु खरीद सकते हैं बशर्ते यह उन्हे प्रचलित मूल्य पर मिले ।

(५) फर्मों को प्रवेश और बहिर्गमन की स्वतन्त्रता—पूर्ण प्रतियोगिता की एक आवश्यक शर्त यह है कि उत्पादन या विक्रय करने वाली फर्मों को उद्योग मे प्रवेश करने अथवा उसे छोड़ने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये । ऐसी स्वतन्त्रता के परिणामस्वरूप कोई फर्म उद्योग में एकाधिकार स्थापित नहीं कर सकती है और फर्मों को केवल सामान्य लाभ (Normal profit) ही होता है । यदि सामान्य से अधिक लाभ हो रहा है, तो नई फर्में उद्योग मे प्रवेश करेंगी, जिससे पूर्ति बढ जायेगी और कीमत घट जायेगी, और इस प्रकार 'अधिक' लाभ मिलना रुक जायेगा । इसके विपरीत, यदि सामान्य से कम लाभ हो रहा है, तो कुछ फर्में उद्योग को छोड़ जायेंगी, जिससे पूर्ति घट जायेगी और कीमत बढ जायेगी, और इस प्रकार लाभ की न्यूनता भर जायेगी। (उल्लेखनीय है कि सामान्य लाभ मे उत्पादन लागत और केवल इतना ही लाभ सम्मिलित होता

है जो कि फर्म को उत्पादन-कार्य जारी रखने में सहायक हो)। स्पष्टतः दीर्घकाल में फर्मों को सामान्य लाभ ही मिलता है।

(६) बाजार के विषय में पूर्ण जानकारी होना—क्रेताओं और विक्रेताओं में घनिष्ठ सम्पर्क होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक क्रेता को यह मालूम हो कि कौन विक्रेता किसी कीमत पर विक्रय कर रहा है। इसी प्रकार, प्रत्येक विक्रेता यह जानता हो कि कौन क्रेता किस कीमत पर क्रय करने को तैयार है। क्रेता-क्रेता (और विक्रेता-विक्रेता) भी एक-दूसरे के क्रय (या विक्रय) के बारे में जानकारी रखते हों। जब ऐसी जानकारी होती है, तो कोई भी क्रेता (या विक्रेता) प्रचलित कीमत से विचलित न होगा और सारे बाजार में एक ही कीमत प्रचलित रहेगी।

(७) सभी प्रकार के प्रतिबन्धों से क्रेताओं और विक्रेताओं का स्वतन्त्र होना—ऐसी स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि क्रेताओं में पूर्ण गतिशीलता हो अर्थात् उनमें एक दूसरे के प्रति कोई लगाव या स्नेह नहीं होना चाहिए। उनकी दृष्टि में कीमत ही सब कुछ है। इस दशा में यह देखा जायेगा कि क्रेताओं की प्रवृत्ति सबसे कम कीमत पर बेचने वाली फर्म से खरीदने की और विक्रेताओं की प्रवृत्ति सबसे अधिक कीमत पर खरीदने वाले क्रेता को बेचने की होगी और इस प्रकार वस्तु की एक ही कीमत बाजार में रहेगी।

(८) *उत्पत्ति साधनों की पूर्ण गतिशीलता*—*पूर्ण प्रतियोगिता होने के लिये उत्पत्ति* साधनों का पूर्ण गतिशील होना आवश्यक है। वे सहज ही एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में आ-जा सकते हैं और सरकार की ओर से कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

(६) सभी उत्पादकों का एक-दूसरे से पर्याप्त निकट होना—सैद्धान्तिक दृष्टि से यह आवश्यक है कि परिवहन लागतें न हों (ताकि सम्पूर्ण बाजार में वस्तु की एक ही कीमत प्रचलित रहे) और ऐसा तब ही सम्भव है जबकि सभी उत्पादक एक-दूसरे के पर्याप्त समीप हों। मार्शल ने व्यावहारिक दृष्टि से यह बताया है कि यदि वस्तु की कीमत में परिवहन लागतों के बराबर तक अन्तर रहने पर भी बाजार पूर्ण प्रतियोगिता का बाजार कहा जायेगा।

जब किसी बाजार में उपर्युक्त दशायें विद्यमान होती हैं, तो पूर्ण प्रतियोगिता है और कोई भी क्रेता या विक्रेता अकेला ही अपने कार्य द्वारा कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता। वह प्रचलित कीमत को दिया हुआ मान लेता है और इसी के अनुसार अपना कार्य (खरीदने या बेचने का कार्य) समायोजित करता रहता है। अन्य शब्दों में उसकी अपनी कोई मूल्य नीति नहीं होती। वह प्रचलित मूल्य को ही ग्रहण कर लेता है। तकनीकी भाषा में यह कह सकते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में एक व्यक्तिगत विक्रेता के लिए उसकी वस्तु की माँग पूर्णतः लोचदार होती है।

पूर्ण प्रतियोगिता एवं विशुद्ध प्रतियोगिता—

प्रो० चेम्बरलिन (Chamberlin) ने विशुद्ध प्रतियोगिता और पूर्ण प्रतियोगिता में भेद किया है। उनके विचार में 'विशुद्ध प्रतियोगिता' वह है जिसमें एकाधिकारी तत्वों का समावेश नहीं होता। यह पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक सरल और कम विस्तृत विचार है। *कारण, उनके लिए इतनी अधिक बातों में पूर्णता की आवश्यकता नहीं पड़ती जितनी कि पूर्ण* प्रतियोगिता के लिए पड़ती है। विशुद्ध प्रतियोगिता के लिए केवल निम्न तीन दशायें होना आवश्यक है :—(i) वस्तु का प्रमापीकरण (Standardisation) हो, जिससे इसकी सभी इकाइयाँ प्रत्येक विक्रेता और ग्राहक के लिए पूर्ण रूप से समान हों और (इसलिये) तनिक दाम के परिवर्तन होते ही ग्राहक दूसरे बेचने वालों की ओर झुक पड़ें। (ii) वस्तु के बेचने वालों और खरीदने वालों की संख्या इतनी अधिक होनी चाहिए कि उनमें से किसी एक के व्यवहार का

कीमत पर कोई भी प्रभाव न पड़े। (iii) वस्तु की किस्म अथवा गुण और कीमतों के सम्बन्ध मे बेचने वालो मे कोई समझौता नही होना चाहिए।

किन्तु, प्रो० चेम्बरलिन के अनुसार, पूर्ण प्रतियोगिता के लिए उपर्युक्त तीन गुणो के अतिरिक्त निम्न बातो का होना भी आवश्यक है :—(i) विक्रेता और ग्राहक दोनो को वस्तु तथा उसकी माँग और पूर्ति के विषय मे पूर्ण ज्ञान। (ii) एक ऐसा सङ्गठित बाजार जिसमे वर्तमान तथा भविष्य की माँग और पूर्ति के आधार पर तुरन्त ही कीमतो मे परिवर्तन हो जायें। (iii) विक्रेताओं की सख्या बहुत अधिक हो। (iv) सब ग्राहक तथा विक्रेताओं को बाजार मे आने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो तथा पूँजी के स्थान अथवा उपयोग परिवर्तन पर कोई रुकावट न हो। (v) प्रत्येक विक्रेता को बाजार छोड़ने की पूरी स्वतन्त्रता हो और जो फर्म अथवा व्यवसायी टिके रहने मे असमर्थ हो उसे अपने को दिवालिया घोषित करने का पूर्ण अधिकार हो। दूसरे शब्दो मे, **पूर्ण प्रतियोगिता में "शुद्ध प्रतियोगिता" के साथ-साथ उत्पत्ति के साधनों की पूर्ण गतिशीलता (Mobility) भी होनी चाहिए।**

उल्लेखनीय है कि पूर्ण प्रतियोगिता और विशुद्ध प्रतियोगिता (जिसे कुछ अर्थशास्त्री परमाणुवादी प्रतियोगिता कहते हैं) मे कोई बुनियादी भिन्नता नही है। अन्तर केवल 'अंश' (Degree) का है, गुण (Kind) का नहीं। दोनो मे ही प्रत्येक क्रेता और विक्रेता कीमत को दिया हुआ मान लेता है अर्थात् वे कीमत को ग्रहण करने वाले हैं, निर्धारित करने वाले नही। क्रेता अपने क्रय और विक्रेता अपने विक्रय (अथवा उत्पादक अपने उत्पादन) की मात्रा को प्रचलित मूल्य के अनुसार समायोजित करते रहते हैं। अतः पूर्ण प्रतियोगिता के समान विशुद्ध प्रतियोगिता मे भी एक व्यक्तिगत उत्पादक की वस्तु के लिए माँग पूर्णतः लोचदार होती है। अंग्रेज अर्थशास्त्री 'पूर्ण प्रतियोगिता' शब्द प्रयोग करते हैं किन्तु अमेरिकन अर्थशास्त्री 'विशुद्ध प्रतियोगिता' शब्द का, क्योंकि इसके साथ कम मान्यतायें जुड़ी हुई हैं। यथार्थ में, पूर्ण प्रतियोगिता और विशुद्ध प्रतियोगिता दोनों ही काल्पनिक विचार हैं तथा वास्तविक जीवन मे नही देखे जाते।

पूर्ण प्रतियोगिता के विचार का अध्ययन क्यों ?

व्यावहारिक जीवन मे पूर्ण प्रतियोगिता का उदाहरण मिलना कठिन ही है, क्योंकि (i) प्रत्येक ग्राहक को प्रत्येक विक्रेता के दाम ज्ञात नही होते और (ii) इसी प्रकार वस्तुओं का प्रमापीकरण भी नही होता, जिस कारण एक ही वस्तु की विभिन्न इकाइयो मे थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य रहता है। इस प्रकार, पूर्ण प्रतियोगिता काल्पनिक है किन्तु काल्पनिक होने पर भी उसका अध्ययन करना लाभप्रद है, जैसा कि निम्नाकित विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा :—(१) वास्तविक जगत मे अपूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है, जिसमे अनेक जटिल स्थितियों का समावेश होता है। इन्हें समझने के लिए हम पूर्ण प्रतियोगिता के विवेचन से शुरुआत कर सकते हैं, जिसमे सरल स्थितियाँ होती हैं। बाद मे, क्रमश. नये तत्वो और अधिक जटिल स्थितियो को विवेचन मे सम्मिलित करके अपूर्ण प्रतियोगिता को समझा जा सकता है। (२) अनेक अर्थशास्त्रियो के मतानुसार पूर्ण प्रतियोगिता मॉडल एक आदर्श स्थिति को इङ्गित करता है, जिसके सन्दर्भ मे वास्तविक अर्थव्यवस्था के कार्यकरण का मूल्यांकन किया जा सकता है। (३) पूर्ण प्रतियोगिता के विवेचन से यह पता चलता है कि वास्तविक जगत मे प्रतियोगिता क्यो अपूर्ण होती है। जैसा कि हमने ऊपर बताया है, पूर्ण प्रतियोगिता मे व्यापारियो का केवल सामान्य लाभ ही मिल पाता है। अतः अधिक लाभ पाने के लिए वे प्रतियोगिता को कम से कम रखने का प्रयास करते हैं। (४) पूर्ण प्रतियोगिता मॉडल से तुलना द्वारा यह मालूम किया जा सकता है कि व्यावहारिक जगत मे विभिन्न स्थितियो में प्रतियोगिता कितनी अपूर्ण है। (५) वास्तविक जगत मे अपूर्ण

प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारी प्रतियोगिता देखी जाती है, जिसमें कुछ तत्त्व प्रतियोगिता के और कुछ एकाधिकार के सम्मिलित होते हैं। अतः वास्तविक स्थिति को समझने के लिये पूर्ण प्रतियोगिता मॉडल को समझना आवश्यक है, क्योंकि विश्लेषण यन्त्र पूर्ण प्रतियोगिता के सम्बन्ध में प्रयोग किये जाते हैं लगभग वही एकाधिकारी प्रतियोगिता के सम्बन्ध में प्रयुक्त होते हैं।

एकाधिकार
(Monopoly)

एकाधिकार में प्रतियोगिता शून्य होती है और एक ही फर्म का वस्तु की समस्त पूर्ति पर नियन्त्रण होता है। एकाधिकार के लिए निम्न शर्तें पूरी होनी चाहिए :—(अ) वस्तु का एक ही विक्रेता या उत्पादक हो; (ब) वस्तु के कोई अच्छे अथवा निकट स्थानापन्न न हों। तकनीकी भाषा में वस्तु के लिए माँग की आड़ी लोच शून्य हो; एवं (स) उद्योग में नये उत्पादकों के प्रवेश पर प्रभावशाली रुकावटें हों। जब ये तीनों दशायें होती हैं, तो एकाधिकार उपस्थित होता है और वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकारी का पूर्ण नियन्त्रण होता है। पूर्ति के पूर्ण नियन्त्रण के कारण ही वह मूल्य पर प्रभाव डाल सकता है। यह नहीं समझना चाहिए कि एकाधिकार में एक ही उत्पादक होता है। कई उत्पादक भी हो सकते हैं किन्तु वे मिलकर यदि वस्तु की पूर्ति पर नियन्त्रण रखते हैं, तो यह एकाधिकार की ही स्थिति होगी। इस प्रकार, **एकाधिकार का सार बाजार (या पूर्ति) नियन्त्रण है।**

उल्लेखनीय है कि एकाधिकार में, *विज्ञापन की आवश्यकता नहीं पड़ती है,* क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी विक्रेता अथवा उत्पादक नहीं होते और यदि कुछ विज्ञापन किया जाता है, तो वह जन सम्पर्क के उद्देश्य से। दूसरे, जहाँ एकाधिकारी प्रत्यक्ष प्रतियोगिता से मुक्त होता है (क्योंकि उद्योग में अन्य उत्पादक नहीं हैं), वहाँ उसे 'अ-प्रत्यक्ष' और 'सम्भावित' प्रतियोगिताओं का सामना करना पड़ता है, जो कभी-कभी बहुत तीव्र हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, एक बिजली कम्पनी को अपने क्षेत्र में किसी दूसरी बिजली कम्पनी की प्रतियोगिता का डर नहीं होता, क्योंकि सरकार के प्रतिबन्ध के कारण एक ही क्षेत्र में दो कम्पनियाँ नहीं हो सकती हैं। किन्तु मूल्य बढ़ाने पर उसे मिट्टी के तेल विक्रेताओं से प्रतियोगिता करनी पड़ सकती है। मिट्टी का तेल बिजली का अच्छा अथवा निकट स्थानापन्न नहीं है। इस पर भी वह उसके लिए अप्रत्यक्ष रूप से प्रतियोगी है। इसी प्रकार, एक ऐसे उद्योग में, जिसमें वर्तमान में अधिक लाभ नहीं है, एकाधिकारी प्रत्यक्ष प्रतियोगिता से मुक्त होता है। अब यदि उसमें अधिक लाभ होने लगे, तो अन्य उत्पादक भी प्रवेश कर सकते हैं (बशर्ते सरकारी प्रतिबन्ध न हो) और इस प्रकार एकाधिकारी को सम्भावित प्रतियोगिता होती है।

व्यवहार में शुद्ध एकाधिकार देखने को नहीं मिलता। यह उसी प्रकार काल्पनिक विचार है जिस प्रकार कि पूर्ण प्रतियोगिता का विचार, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई *स्थानापन्न अवश्य होता है जिससे एकाधिकारी को अप्रत्यक्ष प्रतियोगिता रहती है और साथ ही* प्रत्यक्ष सम्भावित प्रतियोगिता भी है।

अपूर्ण प्रतियोगिता
(Imperfect Competition)

वास्तविक जगत में न तो पूर्ण प्रतियोगिता होती है और न पूर्ण एकाधिकार वरन् इन दोनों के बीच की स्थितियाँ होती हैं जिन्हें श्रीमती जॉन रोबिन्सन ने अपूर्ण प्रतियोगिता कहा है। प्रो॰ चेम्बरलिन ने इन्हें 'एकाधिकारी प्रतियोगिता' की संज्ञा दी है। अपूर्ण प्रतियोगिता तब उपस्थित होती है जबकि पूर्ण प्रतियोगिता के लक्षणों में कोई अपूर्णता या अपूर्णतायें हों,

जैसे—बाजार में क्रेता और विक्रेताओं की संख्या अधिक न होना, या वस्तु विभेद होना आदि। तकनीकी भाषा में यह कह सकते हैं कि अपूर्ण प्रतियोगिता वह है जिसमें एक व्यक्तिगत फर्म की वस्तु के लिये माँग पूर्णतः लोचदार नहीं है. अथवा, जैसा कि प्रो० लर्नर ने बताया है, माँग रेखा गिरती हुई है।

प्रतियोगिता में माँग रेखा विभिन्न दरों से नीचे की ओर गिर सकती है, जिस कारण अपूर्ण प्रतियोगिता की कई स्थितियाँ देखने में आती हैं, जैसे—एकाधिकारी प्रतियोगिता (Monopolistic competition), अल्पाधिकार (Oligopoly) और द्वयाधिकार (Duopoly)। एकाधिकारी प्रतियोगिता अपूर्ण प्रतियोगिता की मुख्य स्थिति है। इसी से इसे ढीले रूप में प्रायः 'अपूर्ण प्रतियोगिता' के स्थान में प्रयोग कर दिया जाता है।

प्रो० मेहता के अनुसार—"विनिमय की प्रत्येक दशा अपूर्ण एकाधिकार की दशा है और अपूर्ण एकाधिकार दूसरे दृष्टिकोण से अपूर्ण प्रतियोगिता ही है। ऐसी प्रत्येक दशा में प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के तत्वों का मिश्रण होता है।"[1]

अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण—

जैसा कि ऊपर की विवेचना से स्पष्ट होता है, अपूर्ण प्रतियोगिता निम्न कारणों से उत्पन्न होती है —

(१) विक्रेताओं की सीमित संख्या—बेचने वालों की संख्या बहुत ही अधिक न हो, जिसके कारण किसी भी एक विक्रेता द्वारा प्रस्तुत की हुई पूर्ति का कुल पूर्ति पर प्रभाव पड़े बिना न रह सके।

(२) असंगठित बाजार—यदि वस्तु का बाजार संगठित न हो, वस्तु को विभिन्न स्थानों पर लाने-ले जाने में ऊँचा यातायात व्यय होता है अथवा सुस्ती या लापरवाही के कारण ग्राहक कम कीमत पर बेचने वाले विक्रेताओं के पास नहीं जाते, तो बाजार अपूर्ण रहेगा और वस्तु की कई कीमतें प्रचलित हो सकती हैं।

(३) मूल्य सम्बन्धी ज्ञान का अभाव—जबकि यह पता ही नहीं है कि वस्तु विशेष किस दाम पर किस दूकानदार के पास है, तो पूर्ण प्रतियोगिता हो ही नहीं सकती है।

(४) वस्तु की इकाइयों के अन्तर—जबकि वस्तु के प्रकार तथा गुण में वास्तविक अथवा कल्पित अन्तर हो, अर्थात् यदि सभी दूकानदार बिल्कुल एक जैसी ही वस्तु नहीं बेचते हैं अथवा ग्राहकों को यह भ्रम हो गया है कि विभिन्न विक्रेताओं द्वारा बेची हुई वस्तुएँ सब प्रकार समान नहीं हैं, तो प्रतियोगिता अपूर्ण ही होगी। जान-बूझकर या अनजान में ही प्रत्येक विक्रेता अपनी बिक्री की वस्तुओं में कुछ अन्तर रख देता है। विभिन्न पैकिटों तथा विभिन्न नामों से एक ही वस्तु को बेचकर बहुधा ग्राहकों की इस धारणा को प्रोत्साहन दे दिया जाता है कि वस्तु की विभिन्न इकाइयों में अन्तर हैं।

(५) कुछ ग्राहकों का विशेष विक्रेताओं को पसन्द करना—कुछ ग्राहक कुछ विशेष विक्रेताओं के लिये विशेष अनुराग रख सकते हैं अथवा वस्तुओं के कुछ विशेष ग्रेडों या किस्मों का खरीदना पसन्द कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप कुछ ग्राहक ऐसे होते हैं, जो अनेक कारणों से

---

1 "It has since been fully realised that every case of exchange is a case of what may be called partial monopoly And partial monopoly is, looked at from the other side, a case of imperfect competition There is a blending of both, competition element and monopoly element in each situation."
—J K Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 168.

कुछ बँधी हुई दुकानों से खरीदना ही पसन्द करते हैं अथवा किसी विशेष उत्पादक का माल ही लेना चाहते हैं।

अपूर्ण प्रतियोगिता की उपस्थिति के चिन्ह—

निम्न लक्षणों की उपस्थिति के आधार पर अपूर्ण प्रतियोगिता का होना माना जा सकता है :—(i) विक्रेताओं अथवा उत्पादकों द्वारा विज्ञापन, (ii) विभिन्न प्रकार के ट्रेड मार्कों (Trade Marks), लेबिलों (Labels) आदि का होना, (iii) विक्रेताओं द्वारा कीमतों की सूचियाँ निकालना, और (iv) एक ही बाजार में एक ही काल में विभिन्न कीमतों का होना।

अपूर्ण प्रतियोगिता के परिणाम—

अपूर्ण प्रतियोगिता की उपस्थिति कुछ विशेष दशाएँ उत्पन्न करती है :—(i) चूँकि विक्रेताओं की संख्या कम होती है; इसलिए किसी एक विक्रेता द्वारा उपज की मात्रा के घटाने-बढ़ाने का विक्रेताओं की कीमत अथवा माँग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। (ii) बाधाओं के कारण उत्पत्ति के साधनों में पूर्ण गतिशीलता नहीं होती है, जिससे इन साधनों की सीमान्त उत्पादकता सभी उद्योगों और स्थानों में समान नहीं रहती। (iii) विज्ञापन एक ऐसा जाल फैला देता है कि क्रेता की दृष्टि से वस्तु की किस्म तथा उसकी कीमत दोनों रहस्यमय हो जाते हैं। (iv) अपूर्ण प्रतियोगिता में कोई विक्रेता कीमत में थोड़ी-सी कमी करके अपने प्रतिद्वन्द्वियों के ग्राहकों को नहीं तोड़ सकता है। (v) ग्राहकों को साधारणतया वस्तु की किस्म के आधार पर अथवा विज्ञापन द्वारा ही आकर्षित किया जा सकता है।

एकाधिकारी प्रतियोगिता—

जैसा कि हमने ऊपर बताया है, एकाधिकारी प्रतियोगिता अपूर्ण प्रतियोगिता की एक प्रमुख किस्म है। इसका विचार प्रो० चेम्बरलिन ने प्रस्तुत किया है।

परिभाषा—एकाधिकारी प्रतियोगिता से आशय बाजार के उस रूप का है, जिसमें अनेक छोटी फर्में होती हैं और इनमें से प्रत्येक मिलती-जुलती थोड़ी भिन्नता वाली वस्तुयें बनती है। वस्तु विभेद के कारण 'एकाधिकारी तत्त्व' उत्पन्न होता है, अर्थात्, क्योंकि वस्तुओं में भिन्नता होती है इसलिए प्रत्येक उत्पादक एक लघु एकाधिकारी की भाँति होता है और एक सीमा तक अपनी वस्तु के मूल्य को प्रभावित कर सकता है। किन्तु साथ ही वस्तुएँ परस्पर मिलती-जुलती भी होती हैं, अर्थात्, एक दूसरे का निकट या अच्छा स्थानापन्न होती हैं (परन्तु प्रतियोगिता के समान पूर्णरूपेण स्थानापन्न नहीं होती)। इस कारण उत्पादकों में प्रतियोगिता होती है और एक उत्पादक के कीमत-उत्पादन-निर्णय अन्य उत्पादकों के इसी प्रकार के निर्णयों पर प्रभाव डालते हैं। ऐसी स्थिति को चेम्बरलिन ने 'एकाधिकारी प्रतियोगिता' कहा है, क्योंकि इसमें प्रतियोगिता और एकाधिकार दोनों के तत्त्व मिश्रित होते हैं।

विशेषतायें—एकाधिकारी प्रतियोगिता के निम्न लक्षण हैं :—(१) पूर्ण प्रतियोगिता के ही समान एकाधिकारी प्रतियोगिता में भी विक्रेताओं (अथवा उत्पादकों) की अधिक संख्या होती है। प्रत्येक उत्पादक कुल उत्पादन का एक मामूली भाग ही प्रस्तुत करता है।

(२) वे स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं अर्थात् उनमें कोई गुप्त संधि या ठहराव नहीं होता।

(३) जबकि पूर्ण प्रतियोगिता में वस्तु पूर्ण स्थानापन्न या एक-रूप होती है, एकाधिकारी प्रतियोगिता में विभिन्न उत्पादकों की वस्तुयें एक रूप नहीं होती हैं यद्यपि मिलती-जुलती (अर्थात् निकट या अच्छा स्थानापन्न) होती हैं। यदि एकाधिकारी प्रतियोगिता में से वस्तु-विभेद के लक्षण को निकाल दिया जाय, तो पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति आ जायेगी। अतः वस्तु-विभेद एकाधिकारी प्रतियोगिता का सबसे बुनियादी लक्षण है। वस्तु-विभेद उत्पन्न होने के

करने का कारण हैं, यथा वस्तु की भौतिक विशेषताओं (जैसे—गुण, ट्रेडमार्क, रंग) में अन्तर होना, वस्तु के विक्रय की दशाओं (जैसे—उधार सुविधा, नम्र आचरण) में अन्तर होना, एवं विज्ञापन एवं प्रचार के द्वारा क्रेताओं में वस्तु की श्रेष्ठता के विषय में विश्वास उत्पन्न करना।

(४) नई फर्में उद्योग में प्रवेश करने के लिए स्वतन्त्र हैं यद्यपि उतनी नहीं जितनी कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में होती हैं। इस अपेक्षाकृत कम स्वतन्त्रता का कारण यह है कि नई फर्म में वर्तमान फर्मों के ग्राहकों को तोड़ सकने की क्षमता होनी चाहिये और इस कार्य में उन्हें बहुत विज्ञापन करना पड़ता है, जिसके लिये बहुत पूँजी चाहिए। चूँकि नई फर्मों को प्रवेश की स्वतन्त्रता होती है, इसलिये एकाधिकारी प्रतियोगिता में भी दीर्घकाल में प्राय: केवल सामान्य लाभ ही मिलता है।

(५) चूँकि एकाधिकारी प्रतियोगिता में वस्तुयें पूर्णत: एक रूप नहीं होती हैं, इसलिये फर्मों में उग्र गैर-कीमत प्रतियोगिता होती है अर्थात् न केवल कीमत के आधार पर वरन् वस्तु के गुण, विक्रय की दशाओं और विज्ञान के आधार पर भी प्रतियोगिता होती है। उल्लेखनीय है कि गुण-प्रतियोगिता वस्तु के सम्बन्ध में हेरा-फेरी (Manipulation) करती है किन्तु विज्ञापन और विक्रय सवर्धन उपभोक्ताओं के सम्बन्ध में।

उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि एकाधिकारी प्रतियोगिता अपूर्ण प्रतियोगिता का न्यूनतम अपूर्ण रूप (The least imperfect form) है अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता के अधिक निकट है। एकाधिकार को, जो कि पूर्ण प्रतियोगिता से बहुत दूर होता है, अपूर्ण प्रतियोगिता का अधिकतम अपूर्ण रूप (The most imperfect form) है।

अल्पाधिकार (Oligopoly)—

अल्पाधिकार को अर्थशास्त्री एकाधिकारी कम निश्चित रूप से परिभाषित करते हैं, क्योंकि प्रथमत: इसमें बाजार ढाँचों का एक बहुत विस्तृत क्षेत्र सम्मिलित होता है और दूसरे अल्पाधिकारी उद्योग के व्यवहार के विषय में निश्चित रूप से भविष्य वाणी नहीं की जा सकती है। अल्पाधिकार वह बाजार-स्थिति है जिसमें थोड़े विक्रेताओं के मध्य प्रतियोगिता होती है। इस प्रकार, यह एकाधिकार से भिन्न है क्योंकि इसमें केवल एक ही विक्रेता या समूह होता है, पूर्ण प्रतियोगिता और एकाधिकारी प्रतियोगिता से भी भिन्न है, क्योंकि इन दोनों में ही विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है।

विशेषतायें—(१) विक्रेताओं का थोड़ा होना, जिसके तीन अभिप्राय हैं—प्रथमत:, थोड़े विक्रेता होने के कारण प्रत्येक विक्रेता कुल पूर्ति का एक बड़ा भाग प्रस्तुत करता है और चूँकि उसका पूर्ति के एक बड़े भाग पर नियन्त्रण होता है इसलिए वह वस्तु की कीमत को प्रभावित कर सकता है। दूसरे, विभिन्न विक्रेताओं के निर्णयों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है, जिस कारण उनमें पारस्परिक निर्भरता होती है। ऐसी निर्भरता पूर्ण प्रतियोगिता और एकाधिकार में नहीं पाई जाती है। प्रत्येक फर्म को निर्णय लेते समय अन्य फर्मों की प्रतिक्रिया को भी ध्यान में रखना पड़ता है। तीसरे, अन्य विक्रेताओं की प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यतायें की जा सकती हैं, जिनका साधारणीकरण (Generalisation) करना एक दुष्कर कार्य है। अत: अल्पाधिकारी उद्योग का आचरण कैसा होगा इस विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।

(२) लगभग एक रूप वस्तु या भेदित वस्तु होना, अर्थात्, अल्पाधिकारी या तो लगभग एक रूप वस्तु का उत्पादन कर सकते हैं, जिस दशा में उनको विशुद्ध अल्पाधिकारी (Pure oligopoly) कहा जाता है, अथवा भेदित वस्तु का उत्पादन करते हैं, जिस दशा में उनको

भेदित अल्पाधिकार (Differentiated oligopoly) कहते हैं। उल्लेखनीय है कि भेदित अल्पाधिकार एकाधिकारी प्रतियोगिता की ही एक विशेष स्थिति होती है। अन्तर केवल इतना है कि एकाधिकारी प्रतियोगिता में विक्रेताओं की संख्या अधिक होने से उन्हें इकट्ठे रूप में देखा जा सकता है किन्तु भेदित अल्पाधिकार में इनकी संख्या कम होने से उनकी-प्रतिक्रियाओं-को-सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है और वे अधिक महत्त्व भी रखती हैं।

(३) सीमित मूल्य नियन्त्रण, अर्थात् पारस्परिक निर्भरता के कारण अल्पाधिकारी का वस्तु के मूल्य पर नियन्त्रण सीमित होता है। उदाहरण के लिए, यदि अन्य कोई अल्पाधिकारी अपनी कीमत को घटा दे, तो प्रतियोगी फर्मों के ग्राहक वहाँ से हटकर इसके पास आ जायेंगे, जिससे इसकी बिक्री बढ जायेगी। अतः बदले की कार्यवाही के रूप में प्रतियोगी फर्में अपनी कीमतों को पहली फर्म की अपेक्षा अधिक घटा देंगी। इस प्रकार, एक कीमत-युद्ध सा छिड़ जायेगा, जो सभी फर्मों के लिए हानिप्रद है। यही कारण है कि विभिन्न अल्पाधिकारी फर्में शान्ति बनाये रखने का यत्न करती हैं, जिसके लिए विभिन्न तरीके अपनाये जा सकते हैं और इन तरीकों के आधार पर विभिन्न प्रकार के अल्पाधिकारी सगठन बन जाते हैं। जब सब फर्में मिलकर कार्य करती हैं (अर्थात् पारस्परिक समझौते के अधीन एक ही साथ कीमतें घटाती या बढ़ाती हैं), तो लगभग एकाधिकारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(४) फर्मों के प्रवेश और बहिर्गमन में कठिनाई होना, नई फर्मों के लिये प्रवेश एकाधिकार की दशा की भाँति असम्भव तो नहीं है परन्तु कठिन अवश्य होता है, क्योंकि उन्हें प्रारम्भ से ही अपनी स्थापना के लिये विशाल पूँजी विनियोग की आवश्यकता पड़ती है। कारण, अल्पाधिकारी फर्में संख्या में कम होने से प्राय. बडी होती हैं। फर्मों के लिये उद्योग को छोड़ना भी आसान नहीं होता, क्योंकि उनकी काफी पूँजी उद्योग में फंस चुकी होती है और जब तक अस्तित्व बनाये रखने के सभी तरीके समाप्त नहीं हो जाते वे उद्योग में ही बनी रहेंगी।

(५) अल्पाधिकारियों (विशेषतः भेदित अल्पाधिकारियों) द्वारा विज्ञापन और विक्रय सम्वर्धन पर बहुत धन व्यय किया जाना—जिस कारण सम्भावित प्रतियोगियों के प्रवेश को एक बडी सीमा तक रोका जा सकता है।

द्वि-अल्पाधिकार (Duopoly)—

द्वि-अल्पाधिकार अथवा द्वयधिकार वह बाजार स्थिति है जिसमें दो विक्रेता होते हैं और दोनों एक ही वस्तु का विक्रय करते हैं। वस्तु प्रायः एक रूप होती है, जिस कारण दोनों विक्रेताओं की वस्तुओं की एक ही कीमत होगी। एक-रूप-वस्तुओं के दो विक्रेताओं वाली स्थिति को शुद्ध 'अल्पाधिकार' (Pure Duopoly) कहते हैं। यदि वस्तुओं में थोड़ा अन्तर है, तो कीमत में भी थोड़ा अन्तर हो सकता है। विशुद्ध द्वि-अल्पाधिकार भी, शुद्ध एकाधिकार के समान, कम ही पाया जाता है। उल्लेखनीय है कि द्वयधिकार अल्पाधिकार का सरल मॉडल है। इसमें हम उन समस्याओं की भाँकी कर सकते हैं जो कि विशद रूप में अल्पाधिकार में पाई जाती हैं। अल्पाधिकार के समान द्वयधिकार में भी दोनों विक्रेताओं के मध्य पारस्परिक निर्भरता होती है। अत द्वि-अल्पाधिकारी का मूल्य पर सीमित नियन्त्रण होता है और प्राय समझौते की सम्भावना रहती है, *जिससे कीमत-स्थायित्व की प्रवृत्ति देखी जाती है। समझौते द्वारा वे वस्तु का मूल्य ऊँचा रखते* हैं, बाजार को आपस में बाँट लेते हैं तथा अधिक लाभ कमाते हैं। कुछ वस्तु विभेद वाले द्वयधिकार में प्रत्येक द्वि-अल्पाधिकारी का अपना बाजार होता है जिसमें उसकी स्थिति एकाधिकारी के सदृश होती है।

क्रेताओं की दृष्टि से बाजार-स्थितियाँ

ऊपर जिन बाजार स्थितियों का उल्लेख किया गया है वे सब विक्रेताओं से सम्बन्धित

हैं परन्तु बाजार-स्थितियों को क्रेताओं से भी सम्बन्धित किया जा सकता है, जैसे—जब क्रेताओं की संख्या पर्याप्त होती है, तो ऐसी दशा को क्रेता एकाधिकारी प्रतियोगिता (Monopsonistic Competition), जब क्रेताओं की संख्या बहुत अधिक हो, तो पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition), जब केवल एक क्रेता (और अनेक विक्रेता) होता है, तो क्रेता एकाधिकार (Monopsony), जब थोड़े क्रेता होते हैं, तो क्रेता अल्पाधिकार (Oligopsony) और जब केवल दो क्रेता होते हैं, तो द्वि-क्रेता अल्पाधिकार (Duopsony) कहते हैं।

पूर्ण प्रतियोगिता और अपूर्ण प्रतियोगिता का अन्तर

पूर्ण प्रतियोगिता और अपूर्ण प्रतियोगिता के मध्य निम्नांकित अन्तर हैं :—(१) पूर्ण प्रतियोगिता में क्रेताओं और विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है, किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में क्रेताओं की संख्या अपेक्षाकृत कम (एकाधिकारी प्रतियोगिता) थोड़ी (अल्पाधिकार) अथवा केवल दो (द्वि अल्पाधिकार) होती है। (२) पूर्ण प्रतियोगिता में वस्तु एक रूप होती है किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में सामान्यतः भेदित एकाधिकारी प्रतियोगिता में तो सदा भेदित किन्तु अल्पाधिकार एक रूप हो सकती है या भेदित। (३) पूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक विक्रेता कीमत को ग्रहण करने वाला (Price Taker) होता है, कीमत निर्धारित करने वाला (Price Maker) नहीं। अपूर्ण प्रतियोगिता में वह एक सीमा तक मूल्य को प्रभावित कर सकता है। अल्पाधिकार में पारस्परिक निर्भरता के कारण मूल्य को प्रभावित करने की शक्ति सीमित होती है। हाँ, समझौता होने की दशा में यह शक्ति बढ़ जाती है। (४) नई फर्मों का प्रवेश या पुरानी फर्मों का बहिर्गमन पूर्ण प्रतियोगिता में बहुत ही सुगम होता है किन्तु एकाधिकारी प्रतियोगिता में सुगम होता है यद्यपि बहुत सुगम नहीं और अल्पाधिकार में कठिन होता है यद्यपि एकाधिकार की भाँति असम्भव नहीं। (५) क्रेताओं और विक्रेताओं को बाजार-दशाओं का पूर्ण प्रतियोगिता में पूरा ज्ञान होता है किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में नहीं। (६) उत्पत्ति साधन पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत पूर्णतः गतिशील होते हैं (और इस कारण प्रत्येक साधन को सीमान्त उपज के बराबर पारितोषण मिलता है) लेकिन अपूर्ण प्रतियोगिता में बाधायें होती हैं। (७) जबकि पूर्ण प्रतियोगिता के अधीन प्रत्येक फर्म अनुकूलतम आकार प्राप्त करने की चेष्टा करती है, अपूर्ण प्रतियोगिता में ऐसा नहीं करती, क्योंकि अनुकूलतम आकार की प्राप्ति विस्तार द्वारा हो सकती है और विस्तार होने पर उपज बढ़ती है जिसे फिर कम कीमत पर बेचना पड़ेगा। (८) पूर्ण प्रतियोगिता में गैर-कीमत प्रतियोगिता के लिये कोई स्थान नहीं है लेकिन अपूर्ण प्रतियोगिता में है। (९) पूर्ण प्रतियोगिता काल्पनिक है किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता व्यावहारिक। (१०) जैसा कि हम अगले अध्यायों में दिखायेंगे, पूर्ण प्रतियोगिता में $AR = MR$ के होता है, किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में $MR < AR$।

परीक्षा प्रश्न :

१. विभिन्न बाजार परिस्थितियों का वर्गीकरण कीजिये और प्रत्येक की विशेषतायें संक्षेप में बताइये।
२. पूर्ण प्रतियोगिता एवं अपूर्ण प्रतियोगिता से क्या आशय है ? दोनों की तुलना कीजिये।
३. उन घटकों को इंगित कीजिये जोकि एक बाजार में स्वतन्त्र प्रतियोगिता के कार्यचालन में बाधा डालते हैं।
   [सहायक संकेत —सबसे पहिले तो पूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ बताइये और फिर उन कारणों को बताइये जिनसे अपूर्ण प्रतियोगिता उत्पन्न होती है।]

मूल्य के प्राचीन सिद्धान्त
(Older Theories of Value)

प्रारम्भिक—मूल्य अध्ययन का विकास

मूल्य का विचार मानव इतिहास में बहुत पुराना है। निश्चय है कि विनिमय के साथ-साथ मूल्य के विचार तथा मूल्य सम्बन्धी समस्याओं का भी अभ्युदय हुआ, किन्तु लगभग किसी भी प्राचीन लेखक ने मूल्य का समबद्ध तथा विस्तारपूर्वक अध्ययन नहीं किया है किन्तु एडम स्मिथ ने प्रथम बार मूल्य के निश्चित होने के विषय में अपने विचार रखे। स्मिथ के बाद प्रत्येक लेखक ने इस विषय में अपने विचार रखे जिससे हमारा मूल्य सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता ही गया। मूल्य के तीन सिद्धान्त विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए—(I) श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value), (II) उत्पादन व्यय सिद्धान्त (Cost of Production Theory), तथा (III) उपयोगिता सिद्धान्त (Utility Theory of Value)।

(I) मूल्य का श्रम-सिद्धान्त

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, श्रम-सिद्धान्त का प्रारम्भ स्मिथ से होता है, किन्तु इस सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना तथा लोकप्रियता का श्रेय रिकार्डो को है और एक प्रकार से यह सिद्धान्त उन्ही के नाम से सम्बन्धित किया जाता है। आगे चलकर प्रसिद्ध साम्यवादी लेखक कार्ल मार्क्स तथा उनके अनुयायियों ने इस सिद्धान्त मे कुछ सुधार करके एक बड़े अंश तक इसका रूप ही बदल दिया। यहाँ पर पहले हम एडम स्मिथ तथा रिकार्डो के विचारो का अध्ययन करेंगे। कार्ल मार्क्स के विचारो को बाद मे देखेंगे।

एडमस्मिथ का विचार—

एडम स्मिथ के मूल्य सम्बन्धी विचार निम्नलिखित हैं :—

(१) उपयोगी मूल्य एव विनिमय मूल्य में भेद—एडम स्मिथ प्रारम्भ मे उपयोगी मूल्य (Value-in-Use) तथा विनिमय मूल्य (Value in-Exchange) मे भेद करते है। उपयोग मूल्य मे उनका आशय उसी बात से है, जिसे आधुनिक अर्थशास्त्र में हम उपयोगिता का नाम देते हैं। विनिमय मूल्य "वस्तु की दूसरी वस्तुओं को खरीदने की शक्ति" को कहते हैं। यह मूल्य उपयोगी मूल्य से केवल भिन्न ही नहीं होता, वरन् उससे सम्बन्धित भी नहीं होता है।

(२) दो प्रकार की कीमतें—बाजार मूल्य एव प्राकृतिक मूल्य—आगे चलकर स्मिथ ने कीमत का अध्ययन किया है। उन्होंने कीमत को दो प्रकार का बताया है :—प्रथम, वह कीमत जो साधारण स्वाभाविक जीवन को चलाने के लिए बाजार मे खरीददारो तथा विक्रेताओं की सौदाकारी द्वारा निश्चित होती है और बहुधा तेजी से बदलती रहती है। इसका नाम स्मिथ ने "बाजार मूल्य" रखा। स्मरण रहे कि आधुनिक बाजार मूल्य का विचार स्मिथ के विचार से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। किन्तु स्मिथ का विचार है कि बाजार मूल्य के अतिरिक्त एक और

प्रकार का मूल्य भी दृष्टिगोचर होता है, जिसे स्मिथ ने वास्तविक (Real) अथवा प्राकृतिक (Natural) कीमत का नाम दिया है। यह वास्तव मे दीर्घकालीन मूल्य है।

(३) **श्रम ही वास्तविक मूल्य का कारण**—स्मिथ का कथन है कि, "प्रत्येक वस्तु की वास्तविक कीमत उस व्यय के बराबर होती है, जो उस मनुष्य को करना पड़ता है, जो वस्तु को प्राप्त करना चाहता है, यह वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न तथा कष्ट है।"[1] स्पष्टीकरण के उद्देश्य से स्मिथ आगे लिखते हैं कि प्रत्येक वस्तु का प्रारम्भिक मूल्य श्रम के रूप मे दिया जाता है। "केवल श्रम द्वारा ही ससार का समस्त धन आरम्भ मे खरीदा जाता है।"[2] इस प्रकार वास्तविक मूल्य का कारण श्रम है और इसकी माप वस्तु के उत्पन्न करने के श्रम-व्यय के बराबर होती है। "श्रम ही सभी वस्तुओ के विनिमय मूल्य की वास्तविक माप है।"[3]

रिकार्डो का विचार—

रिकार्डो का कहना है कि दीर्घकाल मे किसी वस्तु का मूल्य उसमे लगे हुए श्रम की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है।[4] अलग-अलग वस्तुओ को उत्पन्न करने मे श्रम की विभिन्न मात्रायें लगानी पडती हैं और इसी के अनुसार उनके मूल्यो मे अन्तर होता है। वस्तु का उपयोगी होना तो आवश्यक है, क्योकि बिना उपयोगिता के न तो वस्तु की मांग होगी और न मूल्य ही, परन्तु उपयोगिता मूल्य का न तो कारण है और न उसकी माप ही। ससार मे बहुत सारी वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जिनकी उपयोगिता बहुत ही अधिक होती है, जैसे—पानी, हवा, भोजन इत्यादि। किन्तु इन वस्तुओ का विनिमय मूल्य बहुत कम होता है, क्योकि इनके उपजाने मे बहुत ही कम श्रम का व्यय होता है। **अतः रिकार्डो का विचार है कि केवल श्रम ही मूल्य का कारण है**, अर्थात् किसी वस्तु मे मूल्य इसी कारण होता है कि उसके उत्पन्न करने मे श्रमिक व्यय होता है और किसी वस्तु मे स्थित मूल्य की माप उसे उत्पन्न करने मे व्यय किये हुए श्रम के बराबर होती है। जिन वस्तुओ के उत्पादन मे अधिक श्रम अथवा कुशल श्रम की आवश्यकता होती है, उनका मूल्य भी अधिक होता है। कई कारणो से रिकार्डो का विचार सन्तोषजनक नही है :—

(१) रिकार्डो इस बात को स्पष्ट नही करते कि श्रम से उनका अभिप्राय किस प्रकार के श्रम से है। साधारण अनुभव बताता है कि श्रम मे अनेक प्रकार की विभिन्नतायें होती हैं :—जैसे, कुशल और अकुशल श्रम मे अन्तर होता है। प्रत्येक श्रमिक एक निश्चित समय मे समान अथवा एक जैसा ही काम नही करता। काम मे मात्रा तथा गुण दोनो ही की दृष्टि से अन्तर होता है। अत जब तक यह नही बताया जायगा कि कौन से श्रमिक के श्रम द्वारा मूल्य की माप होती है, तब तक श्रम का सिद्धान्त अधूरा और अस्पष्ट ही रहेगा।

(२) उत्पत्ति मे श्रम के अतिरिक्त भूमि, पूंजी, साहस आदि भी सहायक होते हैं। यदि मूल्य श्रम द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है, तो फिर इन साधनो का उत्पत्ति से क्या सम्बन्ध है ? सम्भवत. यदि ये साधन मूल्य को उत्पन्न नही करते, तो इनका अपना भी मूल्य नही होना चाहिए।

(३) कुछ वस्तुयें ऐसी भी हैं, जिनके उत्पादन मे बहुत अधिक श्रम नही लगता,

---

1 **Adam Smith** *Wealth of Nations.*

2 *Ibid.*

3 "Labour, therefore, is the real measure of the exchange value of all commodities."—*Ibid*, Book 1, Chapter V.

4 "This (labour) is really the foundation of the exchangeable value of all things"—**Ricardo**. *Principles of Political Economy and Taxation*, Chapter I.

किन्तु फिर भी उनका मूल्य बहुत अधिक होता है, उदाहरणार्थ हीरे की कीमत का इसके उत्पादन पर व्यय किये हुए श्रम की मात्रा से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता।

मार्क्स के मूल्य सम्बन्धी विचार—

सुप्रसिद्ध साम्यवादी लेखक तथा वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) के जन्मदाता कार्ल मार्क्स मूल्य के श्रम सिद्धान्त के ही समर्थक हैं। सच तो यह है कि समाजवाद का आधार ही मूल्य का श्रम सिद्धान्त है। मार्क्स का विचार है कि केवल श्रम ही मूल्य का जन्मदाता है, इसलिए श्रमिक ही कुल उत्पन्न किये हुए मूल्य का अधिकारी है। परन्तु पूँजीवाद में पूँजी पर, जो उत्पत्ति का एक प्रमुख साधन बन जाता है, श्रमिक का अधिकार नहीं होता है। श्रमिक को अपना श्रम बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है और इसी कारण वह अपने श्रम द्वारा उत्पन्न किये हुए कुल मूल्य को प्राप्त नहीं कर पाता है। मूल्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग पूँजीपति की जेब में चला जाता है और इस प्रकार श्रमिक का शोषण होता है, क्योंकि उसे अपने श्रम का पूरा फल नहीं मिल पाता।

अपनी पुस्तक कैपीटल (Das Capital) में मार्क्स लिखते हैं—"वस्तुओं के विनिमय मूल्य को एक चीज के सन्दर्भ में व्यक्त करना सम्भव होना चाहिए जो कि उन सब में स्थित हो"...... । एक उपयोगी वस्तु का मूल्य केवल इसलिए होता है कि अमूर्त्त मानव श्रम उसमें विद्यमान होता है। तब फिर इस मूल्य के परिमाण को किस प्रकार नापा जा सकता है ? स्पष्ट है कि वह मूल्य उत्पन्न करने वाली चीज (अर्थात् श्रम) की मात्रा के अनुसार जोकि वस्तु में विद्यमान नापा जा सकता है। परन्तु श्रम की मात्रा की माप अवधि में होती है और श्रम-अवधि के मान सप्ताह, दिन और घण्टे होते हैं।"[1] इस सम्बन्ध में मार्क्स 'सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम, का विचार उपस्थित करते हैं। 'सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम' एक औसत प्रकार का श्रम है, जोकि एक अकुशल अथवा साधारण श्रमिक द्वारा सम्पन्न किया जाता है। 'अधिक कुशल श्रमिकों' अथवा 'बहुत ही अकुशल श्रमिकों के श्रम' को 'समाज के लिए आवश्यक श्रम' में परिवर्तित किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक कुशल श्रमिक उतने ही समय में अकुशल श्रमिकों से ६ गुना काम करता है तो उसका श्रम समाज के लिए आवश्यक श्रम की ६ इकाइयों के बराबर होगा।[2]

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि मार्क्स का स्पष्टीकरण रिकार्डो और एडम स्मिथ से बहुत अच्छा है। उनका कथन है कि "मूल्य केवल वस्तु के भीतर छिपी हुई श्रम-अवधि (Labour-time) को सूचित करता है। किसी भी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन में लगे

---

1 "The exchange value of commodities must be capable of being expressed in something common to them all.........A useful article has value only because human labour in the abstract has been embodied or materialised in it. How, then, is the magnitude of this value to be measured ? Plainly, by the quantity of the value creating substance, the labour contained in the article. The quantity of labour, however, if measured by duration, and labour-time, in its turn, finds its standard in weeks, days and hours "
—Karl Marx : *Das Capital*, Volume III, p. 773.

2 "We see then that which determines the magnitude of the value of any commodity is the amount of labour-time socially necessary for its production."—*Ibid*, Vol. I, Chapter I.

हुए श्रम की मात्रा और उसकी उत्पादकता पर निर्भर होता है।"[1] कार्ल मार्क्स इस बात से इन्कार नहीं करते कि वस्त्र के उत्पादन में श्रम के अतिरिक्त उत्पत्ति के अन्य साधन भी काम में आते हैं, परन्तु इस विषय में उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, जिनसे उनकी विद्वता तथा तीक्ष्ण बुद्धि का पता चलता है :—

(१) उनका कहना है कि उत्पत्ति के साधनों का मूल्य उत्पन्न की हुई वस्तु के मूल्य में सम्मिलित हो जाता है, किन्तु उत्पत्ति के साधन उपज को केवल उतना ही मूल्य प्रदान करते हैं, जितना कि वे उत्पादन क्रिया में व्यय कर देते हैं।[2]

(२) कच्चे माल, ईंधन इत्यादि का मूल्य उनके उत्पन्न करने के श्रम के रूप में प्रत्यक्ष रूप से उपज में चला जाता है, जबकि मशीनें तथा अन्य इसी प्रकार के साधन अपनी घिसावट या अवक्षयगता (Depreciation) के बराबर मूल्य उपज में परिवर्तित करते हैं।

(३) परन्तु भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी साधनों का मूल्य उनको उत्पन्न करने में लगाई हुई श्रम-अवधि के बराबर होता है[3] और इस प्रकार इनके द्वारा प्रदान किया हुआ मूल्य भी श्रम में ही नापा जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में भी कम से कम पूँजी को तो भूतकालीन श्रम का संचित रूप ही माना गया है और इस प्रकार श्रम और पूँजी में केवल इतना अन्तर रह जाता है कि एक वर्तमान श्रम है और दूसरा भूतकालीन। इस प्रकार, भूमि के अतिरिक्त उत्पत्ति के अन्य साधन मूल्य के श्रम-सिद्धान्त में कोई विशेष बाधा उपस्थित नहीं करते। उन सबका मूल्य श्रम में नापा जा सकता है।

(४) भूमि के विषय में मार्क्स का मत महत्त्वपूर्ण है। भूमि से मार्क्स का अभिप्राय उन सब उत्पत्ति के साधनों से है जो प्रकृति मनुष्य की सहायता के बिना ही प्रदान करती है :— पृथ्वी, हवा, पानी, पृथ्वी के भीतर के खनिज पदार्थ, जंगलों में मिलने वाली लकड़ी इत्यादि। ऐसी वस्तुएँ उपज को कुछ भी मूल्य प्रदान नहीं करती हैं।[4] इस प्रकार कुल मूल्य श्रम द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है।

मार्क्स और आधुनिक विचार—श्रीमती जोन रोबिन्सन का कथन है, "आधुनिक अर्थशास्त्री मार्क्स पर बिना ध्यान दिये ही बहुत सी दिशाओं में उन्हीं निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जो मार्क्स ने बहुत पहले ही खोज निकाले थे।"[5] इस बात को हम यों स्पष्ट कर सकते हैं—आधुनिक अर्थशास्त्र में भूमि को उत्पत्ति का साधन नहीं माना जाता है और इस प्रकार भूमि द्वारा उपज को कोई भी मूल्य प्रदान नहीं किया जाता। साथ ही, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि श्रम और पूँजी में केवल समय का ही अन्तर है, जिसे हम मौलिक नहीं कह सकते हैं। साहस को भी बहुत से लेखक एक विशेष प्रकार का मानसिक प्रयत्न ही कहते हैं और इस प्रकार जिन तीन साधनों द्वारा उपज को मूल्य प्रदान किया जाता है, अर्थात् श्रम, पूँजी और साहस, वे सब किसी न किसी रूप में श्रम ही हैं। चौथा साधन, जिसे भूमि कहते हैं, यथार्थ में उत्पादन में सहायक नहीं होता और इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्र एक दूसरी रीति से मार्क्स की पुष्टि ही करता है, उसका विरोध नहीं करता।

मार्क्स के सिद्धान्त की आलोचना—आधुनिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से मार्क्स के सिद्धान्त में अग्रिम त्रुटियाँ हैं :—

---

[1] Karl Marx : *Capital*, Vol I, Chapter I

[2] *Ibid* Volume I, p 180

[3] *Ibid*, p 185-86.

[4] *Ibid*, Volume I, p. 185-86

[5] Joan Robinson : *An Essay on Marxian Economics*, p 5

(१) मार्क्स का सिद्धान्त माँग और पूर्ति दोनों के महत्व का उल्लेख नहीं करता—वे उपयोगिता को कुछ भी महत्त्व नहीं देते हैं, जिसके कारण माँग और उसके नियमों की विवेचना न होने से मूल्य का सिद्धान्त अधूरा रह जाता है।

(२) मूल्य के निर्धारण की विधि के बारे में अस्पष्ट—मार्क्स के विषय मे एक बात बहुधा भुला दी जाती है। मार्क्स केवल यह बतलाते हैं कि मूल्य कितना होना चाहिए, वे यह नहीं बताते कि मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। आलोचकों का विचार है कि एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति मार्क्स को यह बताना चाहिए था कि मूल्य यथार्थ में किस प्रकार निर्धारित होता है।

(३) निष्कर्ष को प्रारम्भ में ही मान कर चलना—मार्क्स अपने मूल्य के सिद्धान्त मे ठीक उसी बात को मान लेते हैं, जिसे वे बाद मे सिद्ध करना चाहते हैं, अर्थात्, मूल्य के सिद्धान्त मे पहले ही परोक्ष रूप से इस बात को मान लिया गया है कि भूमि और पूँजी मे निजी सम्पत्ति का अन्त होना चाहिए। किन्तु इस विषय मे इतना कहना पर्याप्त होगा कि अर्थशास्त्र तथा उसके नियमों की विवेचना करने मे मार्क्स का उद्देश्य सैद्धान्तिक नहीं था, उनका समस्त झुकाव व्यावहारिकता की ओर था।

(II) उत्पादन-व्यय का मूल्य-सिद्धान्त

सिद्धान्त का कथन संक्षेप में—

कुछ लेखकों का मत है कि विनिमय का मूल्य वस्तु के उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार व्यय मे श्रम की लागत, कच्चे माल का दाम, पूँजी का ब्याज और घिसावट का व्यय तथा सामान्य लाभ सम्मिलित होते हैं। इन लोगों का कथन है कि यदि एक वस्तु का उत्पादन-व्यय दूसरी से दो गुना है, तो उसका मूल्य भी दूसरी वस्तु के मूल्य से दुगुना होना आवश्यक है, अन्यथा इस वस्तु के उत्पन्न करने मे कुछ भी लाभ नहीं होगा। प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन-व्यय का अनुपाती होता है।

यदि किसी वस्तु का मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक है, तो उसका उत्पादन विशेष रूप से लाभदायक होगा और ऐसी दशा मे प्रतिद्वन्द्वी उत्पादकों की प्रतियोगिता के कारण वस्तु के दाम नीचे गिरेंगे। वस्तु की अधिक मात्रा मे उत्पत्ति की जायगी, जिससे पूर्ति बहुत अधिक हो जाने के कारण मूल्य कम हो जायगा। इसके विपरीत, यदि मूल्य उत्पादन-व्यय से कम है, तो वस्तु का उत्पन्न करना लाभदायक न होगा, इसलिए पूर्ति की मात्रा कम हो जायगी, जिसके फलस्वरूप वस्तु का मूल्य ऊपर उठेगा और अन्त मे वह उत्पादन-व्यय के बराबर हो जायगा। इस प्रकार, दीर्घकालीन मूल्य मे उत्पादन-व्यय के बराबर हो जाने की प्रवृत्ति होती है।

ऐतिहासिक विवेचन—

(१) इस सिद्धान्त का उल्लेख सर्वप्रथम एडम स्मिथ ने किया था, परन्तु एडम स्मिथ के विचार मे मुख्यतया श्रम और कच्चे माल की लागत ही उत्पादन-व्यय म सम्मिलित होती है। (२) आगे चलकर सीनियर (Senior) ने एक और प्रकार की लागत को इस व्यय मे जोड़ दिया। सीनियर का विचार था कि त्याग (Abstinence) भी उत्पत्ति का एक साधन है, बिना इसके पूँजी का संचय नहीं हो सकता। साथ ही, त्याग का मूल्य भी होता है, जिसे हम ब्याज का नाम देते हैं। इस प्रकार, उत्पत्ति का तीसरा साधन पूँजी की लागत भी उत्पादन व्यय मे सम्मिलित हो जाती है। (३) बाद मे मिल ने जोखिम को भी उत्पत्ति का एक साधन मान लिया और उसके सम्बन्ध-पर लागत को उत्पादन-व्यय में जोड़ दिया। इस प्रकार उत्पादन व्यय मे उत्पत्ति के चारों साधनों की लागत को सम्मिलित किया जाता है। आर्थिक विचारों के इतिहास मे बहुत दिनों तक मिल का नाम बहुत ऊँचा रहा है। स्वयं मिल का विचार था कि

मूल्य के सिद्धान्त को उन्होंने उसकी अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया था। वे लिखते हैं—"सौभाग्य से अब मूल्य के नियमों में ऐसी कोई भी बात शेष नहीं रह गई है, जिसकी वर्तमान अथवा भविष्य में लेखकों को स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता पड़े, इस विषय का सिद्धान्त पूर्णतया सम्पूर्ण है।[1]

उत्पादन-व्यय सिद्धान्त की विशेषतायें—

(१) ध्यानपूर्वक देखने से पता चला है कि यह सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर सुधार है, क्योंकि मूल्य को भूमि, श्रम, पूँजी तथा साहस चारों साधनों की संयुक्त लागत के बराबर बनाया गया है।

(२) प्रारम्भ में इस सिद्धान्त में यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि किस प्रकार का उत्पादन-व्यय तथा कौन-सी फर्म का उत्पादन-व्यय मूल्य को निश्चित करता है। लगभग सभी प्राचीन लेखक पूर्ण प्रतियोगिता की दशा का अध्ययन करते हैं, जिससे किसी उद्योग विशेष में अनेक फर्म होती हैं और उनमें से प्रत्येक के उत्पादन-व्यय भिन्न-भिन्न होते हैं। साथ ही, किसी भी फर्म का उत्पादन-व्यय तीन प्रकार का हो सकता है, अर्थात् कुल, औसत और सीमान्त। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि मूल्य-निर्धारण में केवल सीमान्त व्यय ही महत्त्वपूर्ण होता है। प्रतिनिधि फर्म के विचार द्वारा इस बात का भी निर्णय हो जाता है कि मूल्य किस फर्म के उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होता है।

(३) अमेरिकन अर्थशास्त्री कैरे (Carey) तथा इटली के प्रसिद्ध लेखक फेरारा (Ferrara) ने यह बात भी स्पष्ट कर दी है कि किसी समय विशेष में किसी वस्तु का मूल्य उसके प्रारम्भिक उत्पादन-व्यय द्वारा नियत नहीं होता, वरन् उसके बिक्री के समय पुनरुत्पादन व्यय (Cost of reproduction) द्वारा निश्चित होता है। पुनरुत्पादन विधि तथा उत्पत्ति के साधनों के मूल्य में समय के अनुसार महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते रहते हैं, जिससे भविष्य का उत्पादन-व्यय बदलता रहता है। अतः भविष्य के मूल्य में, उत्पादन-व्यय के इस प्रकार बदलने के कारण कमी या वृद्धि होती रहती है।

आलोचनाएँ—

(१) **केवल पूर्ति पक्ष पर ही बल देना**—मूल्य का यह सिद्धान्त अपूर्ण है, क्योंकि यह हमें मूल्य सिद्धान्त की केवल एक ही दशा का ज्ञान देता है। मूल्य पर माँग और पूर्ति दोनों का समान अधिपतित्व होता है और उत्पादन व्यय केवल पूर्ति को ही प्रभावित करता है, माँग पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। वास्तव में उत्पादन-व्यय अकेले ही किसी वस्तु को मूल्य प्रदान नहीं कर सकता। मूल्य होने के लिए उपयोगिता का होना भी आवश्यक है। उदाहरण-स्वरूप, यदि एक विशाल मशीन चार लाख रुपये की लागत पर उत्पन्न की जाती है, किन्तु इसकी उपयोगिता कुछ भी नहीं है, तो इसका विनिमय का मूल्य भी कुछ नहीं होगा। क्ले (Clay) के अनुसार, "जिस देश में सदा उत्पादन-व्यय के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य निश्चित होगा, वह देश उद्योगपतियों के लिए स्वर्ग हो जायगा, क्योंकि उन्हें अपनी गलतियों के लिए कभी भी दण्ड नहीं मिलेगा। यदि हम उपयोगिता पर विचार नहीं करते हैं, तो हम अपनी समस्या को अधूरी छोड़ देते हैं।"[2]

---

[1] "Happily, there is nothing in the law of value which remains for the present or any future writer to clear up; the theory of the subject is complete"—J. S Mill

[2] Clay : *Economics for the General Reader*, p 268.

(२) अल्पकालीन मूल्य-निर्धारण के लिए बेकार—जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, अल्पकाल मे पूर्ति तथा उत्पादन-व्यय मूल्य-निर्धारण मे बहुत ही कम महत्त्व रखते हैं, अतः यह सिद्धान्त अल्पकालीन मूल्य के निर्धारण के लिए बेकार है।

(३) उत्पादन-व्यय और मूल्य की पारस्परिक निर्भरता—उत्पादन-व्यय तथा मूल्य का सम्बन्ध, 'कारण' तथा 'परिणाम' का सम्बन्ध नही है, वरन् दोनो मे परस्पर-निर्भरता का सम्बन्ध है। जिस प्रकार मूल्य पर उत्पादन-व्यय के घटने-बढने का प्रभाव पडता है, ठीक उसी प्रकार मूल्य के घटने-बढ़ने से भी उत्पादन-व्यय कम या अधिक हो जाता है। यदि माँग बढ जाने के कारण मूल्य बढ जाय तो दीर्घकाल मे पूर्ति भी बढ़ जायगी और पूर्ति के बढ जाने से उत्पत्ति ह्रास नियम के कार्यशील होने के कारण उत्पादन-व्यय भी बढ जायगा।

(४) पुनरुत्पादन-व्यय महत्त्वपूर्ण नहीं—पुनरुत्पादन-व्यय का मूल्य पर प्रत्यक्ष रूप से बहुत ही कम प्रभाव पडता है। केवल उसी दशा मे जबकि वस्तु के ग्राहक बिना किसी विशेष कष्ट के नई पूर्ति की प्रतीक्षा कर सकते हैं, पुनरुत्पादन-व्यय का मूल्य पर प्रभाव पडता है। मार्शल का निम्न कथन कितना सही है—"दुश्मनो द्वारा घेरे हुए शहर में खाने की वस्तुओ की कीमत तथा उनके पुनरुत्थान-व्यय मे कुछ भी सम्बन्ध नही हो सकता है, इसी प्रकार एक बुखार-ग्रस्त द्वीप मे कुनीन का भी हाल होगा……।"[1]

(III) मूल्य का उपयोगिता-सिद्धान्त

मूल्य-सिद्धान्त संक्षेप में—

इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता ही उसके मूल्य को निश्चित करती है। सिद्धान्त का मुख्य आधार यह है कि उपयोगिता ही मूल्य को जन्म देती है, क्योंकि मूल्य केवल उन्ही वस्तुओं का होता है जो हमारी आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। जो वस्तुयें हमारी किसी भी आवश्यकता को पूरा नही करती हैं, उनका हम मूल्य देने को भी तैयार नही होते। साथ ही, जैसे ही किसी वस्तु की उपयोगिता कम या अधिक होती है वैसे ही हम उसके लिए कम या अधिक मूल्य देने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिक उपयोगी वस्तुओं का मूल्य भी अधिक होता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त हमे यह बताता है कि उपयोगिता मूल्य का कारण तथा उसकी माप दोनो है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण—

उपयोगिता का विचार अर्थशास्त्र मे बहुत पुराना है, परन्तु इस दिशा मे इटेलियन अर्थशास्त्री कानडीलैक (Condillacs) ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। उपयोगिता विवेचन मे प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक बेन्थम (Bentham) का प्रभाव विशेष रूप से स्पष्ट है, परन्तु उपयोगिता सम्बन्धी अध्ययन मे आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियो (Austrian Economists) का कार्य विशेष रूप से सराहनीय है। गोसन (Gossen), मेनजर (Karl Menger) वीजर (Wieser) तथा बोहम-बावर्क (Bohm Bawerk) ने उपयोगिता को ही अपनी आर्थिक विवेचना का आधार बनाया। इङ्गलैंड मे जेवन्स (Jevons) तथा अमेरिका मे क्लॉर्क (J B. Clark) और पैटन (Petten) ने भी इस दिशा मे सराहनीय कार्य किया है।

जब हम यह कहते हैं कि मूल्य की माप उपयोगिता मे होती है, तो हमारे कथन मे एक प्रकार की अस्पष्टता रहती है, क्योंकि उपयोगिता कुल, औसत अथवा सीमान्त हो सकती है। इस सम्बन्ध मे गोसन तथा जेवन्स का विचार है कि मूल्य उपयोगिता के अन्तिम अंश

[1] **Marshall :** *Principles of Economics*, Book V, Chapter VII.

(Final Degree of Utility) द्वारा निश्चित किया जाता है। स्मरण रहे कि उपयोगिता के अन्तिम अंश से इन लोगों का वही अभिप्राय है, जो सीमान्त उपयोगिता से होता है और सीमान्त उपयोगिता उपभोग की अन्तिम इकाई से मिलने वाली उपयोगिता को सूचित करती है। उपभोक्ता वस्तु का मूल्य उससे मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता के अनुसार ही देने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार कीमत सीमान्त उपयोगिता की अनुपाती होती है।

आलोचनायें—

मूल्य का यह सिद्धान्त भी उत्पादन-व्यय के सिद्धान्त की भाँति अधूरा है। इसकी प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार है :—

(१) मूल्य माँग तथा पूर्ति दोनों के द्वारा निश्चित होता है। उपयोगिता केवल माँग को ही प्रभावित करती है और माँग की मात्रा साधारणतया सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित होती है। किन्तु केवल उपयोगिता के होने से ही किसी वस्तु को मूल्य प्राप्त नहीं हो जाता। उसकी पूर्ति की मात्रा सीमित होना आवश्यक है। बहुत उपयोगी वस्तु भी यदि असीमित मात्रा में उपलब्ध है, तो उसका कुछ भी मूल्य न होगा। इस सिद्धान्त में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह केवल माँग की विवेचना करता है और पूर्ति की समस्या पर कुछ भी ध्यान नहीं देता।

(२) अनुभव हमें बताता है कि मूल्य बहुधा उपयोगिता का अनुपाती नहीं होता। पानी, हवा इत्यादि वस्तुओं की उपयोगिता हीरे, सोने आदि से बहुत अधिक होती है परन्तु इनका मूल्य बहुत ही कम होता है, क्योंकि इनकी पूर्ति की मात्रा अधिक है।

(३) उपयोगिता तथा मूल्य में पारस्परिक निर्भरता—इस विषय में एक कठिनाई यह है कि जिस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि मूल्य सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर होता है ठीक उसी प्रकार हम यह भी कह सकते है कि स्वयं सीमान्त उपयोगिता भी मूल्य के द्वारा निश्चित होती है। मूल्य के घटने से वस्तु का उपयोग बढ़ जाता है, जिसके कारण उससे मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता भी घट जाती है। इस प्रकार, उपयोगिता को मूल्य का कारण कहा जाय या मूल्य को उपयोगिता का, इसका निर्णय कठिन होता है।

(४) एक ही वस्तु की उपयोगिता एक ही समय पर विभिन्न मनुष्यों के लिए तथा विभिन्न समयों पर एक ही मनुष्य के लिए अलग-अलग होती है। इस प्रकार यह कहना कठिन होता है कि किस मनुष्य को प्राप्त होने वाली तथा किस समय की उपयोगिता मूल्य की माप होती है।

(५) जैसा कि उपभोग खण्ड में देख चुके हैं, **उपयोगिता की कोई निश्चित माप सम्भव नहीं है** और इसलिए यदि मूल्य को उपयोगिता में मापते हैं, तो मूल्य भी अनिश्चित ही रहेगा।

परीक्षा प्रश्न :

१ "रिकार्डो और उसके अनुयायियों के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उत्पादन लागत द्वारा निर्धारित होता है किन्तु जेवन्स और उसके मतानुयायियों के अनुसार सीमान्त उपयोगिता के द्वारा।" इसमें से कौन-सा मत सही है ?

अथवा

किसी वस्तु के मूल्य-निर्धारण पर उपयोगिता और उत्पादन-व्यय के प्रभाव की विवेचना कीजिये।

[**सहायक संकेत :**—सर्वप्रथम रिकार्डो के इस दृष्टिकोण की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये कि मूल्य उत्पादन-लागत द्वारा निर्धारित होता है। तत्पश्चात् जेवन्स के सीमान्त-उपयोगिता-दृष्टिकोण की आलोचना सहित व्याख्या करनी चाहिए। अन्त में मार्शल के दृष्टिकोण को बताते हुए यह निष्कर्ष निकालिये कि वस्तु का मूल्य उपयोगिता (अर्थात् माँग) और उत्पादन व्यय (अर्थात् पूर्ति) दोनों के द्वारा निर्धारित होता है।]

२. मूल्य-निर्धारण के विभिन्न सिद्धान्तों को जाँचिये और यह बताइये कि इनमें से कौन-सा सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य है ?

५

मूल्य का सामान्य सिद्धान्त

(General Theory of Value)

प्रारम्भिक—

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विवेचन के लिए कुछ अवास्तविक एवं अव्यावहारिक कल्पनायें की हुई थीं, जिनमें से पूर्ण प्रतियोगिता की विद्यमानता एक है। पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य कैसे निर्धारित होता है इस विषय में उनमें बहुत मतभेद था। मुख्यतः दो विचारधारायें प्रचलित थीं—एडम स्मिथ-रिकार्डो दृष्टिकोण, जिसके अनुसार वस्तु का मूल्य उसकी उत्पादन-लागत पर निर्भर होता है, और जेवन्स-वालरस दृष्टिकोण, जिसके अनुसार वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता पर निर्भर करता है, उत्पादन-लागत पर नहीं। इस मतभेद को प्रो० मार्शल ने समाप्त किया, उन्होंने कहा कि दोनों विचारधारायें एक-पक्षीय हैं, क्योंकि वस्तु का मूल्य उत्पादन लागत (अर्थात् पूर्ति) और उपयोगिता (अर्थात् माँग) दोनों के द्वारा, संयुक्त रूप से निर्धारित होता है, इनमें से किसी एक ही के द्वारा नहीं। किन्तु स्मरण रहे कि प्रतियोगिता की दृष्टि से बाजार कई प्रकार का होता है—पूर्ण प्रतियोगिता वाला बाजार, अपूर्ण प्रतियोगिता वाला बाजार एवं एकाधिकार वाला बाजार। अलग-अलग बाजारों में मूल्य के निर्धारण की रीतियों की कुछ विशेषताएँ हैं। प्रस्तुत अध्याय में मूल्य-निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है।

मूल्य-निर्धारण का माँग-पूर्ति का सिद्धान्त

वस्तु विशेष की कीमत उस बिन्दु पर निश्चित होगी जहाँ पर कि उसकी माँग और पूर्ति दोनों बराबर या सन्तुलित हो जायें। इस प्रकार से निश्चित हुई कीमत को सन्तुलन या साम्य कीमत (Equilibrium Price) कहते हैं। अन्य शब्दों में, सन्तुलन कीमत वह है जिस पर कि वस्तु की मात्रा जो कि विक्रेता बेचने को इच्छुक है उस मात्रा के बराबर है जो कि क्रेता खरीदना चाहते हैं। यह वह मूल्य है जोकि बाजार को साफ कर देता है। नीचे हम यह दिखायेंगे कि माँग और पूर्ति की शक्तियाँ किस प्रकार प्रभावशील होकर कीमत को निर्धारित करती है।

माँग की शक्ति (माँग-कीमत)—

बाजार में प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस वस्तु की माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है। एक ओर तो वस्तुओं के खरीदने वाले होते हैं, जो अपनी आवश्यकता, क्रय-शक्ति, रुचि आदि के अनुसार वस्तु को खरीदते हैं एवं दूसरी ओर वस्तु के बेचने वाले, जो अपनी लागत के अनुसार वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्रायें बेचने के लिए प्रस्तुत करते हैं। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि माँग सदा कीमत से सम्बन्धित होती है। माँग की अनुसूचि (Demand Schedule) के देखने से हमें पता चल सकता है कि बाजार में किस कीमत पर कितनी माँग होगी। दूसरे शब्दों में, हमें यह पता चल जाता है कि किसी निश्चित मात्रा में वस्तु किन दामों पर खरीदी जाती है। माँग का नियम बताता है कि साधारणतया खरीदने वालों की संख्या ऊँचे दामों पर कम होती है और नीचे दामों पर अधिक। अधिक इकाइयाँ बेचने में लिए बहुधा यह आवश्यक होता

है कि दामों को कम किया जाय। **एक निश्चित माँग जिस कीमत पर होती है उस कीमत को हम "माँग कीमत" (Demand Price) कहते हैं।** माँग की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ माँग-कीमत साधारणतः घटती जाती है। कुछ वस्तुओं में इसके घटने की गति अधिक होती है और कुछ में कम। **वास्तव में, माँग की कीमत के घटने का वेग वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर होता है।** अधिक लोच की दशा में माँग की कीमत में अधिक तेजी के साथ परिवर्तन होते हैं।

पूर्ति की शक्ति—(पूर्ति-कीमत)

ठीक इसी प्रकार प्रत्येक इकाई के लिए एक "पूर्ति-कीमत" भी होती है। किसी वस्तु की पूर्ति-कीमत उस कीमत के बराबर होती है जिस पर बेचने वाला उस इकाई को बेचने के लिए तैयार होता है। निश्चय है कि प्रत्येक बेचने वाले का उत्पादन-व्यय समान नहीं होता, इसलिए वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राओं की पूर्ति-कीमत में अन्तर होता है। **पूर्ति का नियम** हमें बताता है कि ऊँचे दामों पर पूर्ति की मात्रा अधिक होती है और दामों के गिरने के साथ-साथ पूर्ति की मात्रा कम होती जाती है। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि पूर्ति की मात्रा घटने के साथ-साथ पूर्ति-मूल्य घटता जाता है। **पूर्ति की अनुसूचि** पर दृष्टि डालने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। अधिक पूर्ति के साथ-साथ कीमत किस तेजी से घटती है अथवा कम पूर्ति के साथ-साथ पूर्ति-मूल्य में किस प्रकार परिवर्तन होते हैं, यह **पूर्ति की लोच** (Elasticity of Supply) पर निर्भर है। जिन वस्तुओं की पूर्ति अधिक लोचदार होती है, उनके पूर्ति-मूल्य में शीघ्र तथा अधिक वेग से परिवर्तन होते हैं और इसके विपरीत, जिस वस्तु की पूर्ति बेलोच होती है उनके पूर्ति-मूल्य में कम परिवर्तन होते हैं।

मूल्य-निर्धारण माँग और पूर्ति के सन्तुलन द्वारा—(साम्य कीमत)

प्रत्येक ग्राहक साधारणतया इस बात का प्रयत्न करता है कि कम से कम कीमत पर वस्तु को खरीद ले। दूसरी ओर, प्रत्येक विक्रेता अपनी वस्तु की अधिक से अधिक कीमत प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार, खरीदने वालों और बेचने वालों में एक प्रकार की खींचातानी होती है। इस खींचा-तानी में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। ग्राहक खाली हाथ लौटना नहीं चाहता और विक्रेता यथासम्भव वस्तु को बेचना चाहता है। वस्तु की कीमत ग्राहकों और विक्रेताओं की इस खींचा तानी द्वारा निर्धारित होती है। संक्षेप में, **एक ओर तो माँग की शक्ति होती है और दूसरी ओर पूर्ति की। ये दोनों शक्तियाँ मूल्य को विपरीत दिशाओं में खींचती हैं और अन्त में मूल्य एक निश्चित बिन्दु पर आ टिकता है।**

वह दशा, जिसमें माँग और पूर्ति की शक्तियाँ एक-दूसरे के बल को इस प्रकार नष्ट कर देती हैं कि स्थिर या स्थैतिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है, '**साम्य की दशा**' कहलाती है। साम्य की दशा में माँग और पूर्ति की मात्रायें बराबर हो जाती हैं, अर्थात् जितनी किसी वस्तु की माँग होती है उतनी ही उसकी पूर्ति भी होती है। यह उसी दशा में सम्भव है, जबकि माँग और पूर्ति की कीमतें समान हों। ऐसी दशा में उस माँग की कीमत वाला कोई भी ग्राहक निराश नहीं लौटेगा और न ही उस पूर्ति के मूल्य पर बेचने वाले किसी विक्रेता के पास माल बिना बिके रहेगा।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

उदाहरण द्वारा यह बात भली प्रकार समझ में आ जायेगी। मान लीजिये कि विनि-

मय की जाने वाली वस्तु कपड़ा है, जिसकी माँग और पूर्ति की अनुसूचियाँ (अथवा सारणियाँ) निम्न प्रकार हैं—[1]

माँग एवं पूर्ति-अनुसूचियाँ

माँग की अनुसूचि		पूर्ति की अनुसूचि	
कीमत प्रति मीटर (रुपयों में)	माँग की मात्रा (मीटर में)	कीमत प्रति मीटर (रुपयों में)	पूर्ति की मात्रा (मीटर में)
०·७५	१५,०००	२·५०	१६,०००
१·००	१४,०००	२·२५	१५,०००
१·२५	१२,०००	२·००	१३,०००
१·५०	१०,०००	१·७५	१२,०००
१ ७५	७,०००	१·५०	१०,०००
२·००	४,०००	१·२६	७,०००
०·२५	३ ०००	१·००	४,०००
२·५०	१,०००	० ७५	२,०००

इन दोनों सारणियों को देखने से यह ज्ञात होता है कि साम्य की दशा में मूल्य या कीमत १·५० रुपया प्रति मीटर होगी। इस मूल्य पर ही माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है। ग्राहक इस कीमत पर १०,००० मीटर कपड़ा खरीदना चाहते हैं और विक्रेता भी १०,००० मीटर कपड़ा ही बेचना चाहते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि इस कीमत पर खरीदने वाला कोई भी ग्राहक निराश नहीं लौटेगा और इसी प्रकार इस कीमत पर बेचने वाले किसी भी विक्रेता का माल बिना बिके नहीं रहेगा, अर्थात्, बाजार 'साफ' हो जायेगा।

यदि मूल्य १·५० रुपये प्रति मीटर से अधिक होता है, अर्थात् मान लीजिए कि वह १·७५ रुपये प्रति मीटर है, तो ऐसी दशा में १२,००० मीटर कपड़ा बेचने के लिए प्रस्तुत किया जायेगा, परन्तु ग्राहक केवल ७,००० मीटर कपड़ा ही खरीदने को तैयार होंगे। अतः दूकानदारों के पास ५,००० मीटर कपड़ा बिना बिके रह जायगा, जो वे कभी नहीं चाहेंगे। अत. बेचने की उत्सुकता में वह कम दाम लेने को तैयार हो जायेंगे, जिससे कीमतें गिरेंगी और मूल्य स्थिर नहीं रहेगा।

इसके विपरीत, *यदि कीमत १·५० रुपया प्रति मीटर से कम अर्थात् १ २५ रुपया* प्रति मीटर है, तो इस कीमत पर माँग १२,००० मीटर कपड़े की होगी, जबकि केवल ७,००० मीटर कपड़ा बिकने को आयेगा। ऐसी दशा में कुछ ग्राहकों को निराश लौटाना पड़ेगा, जो कपड़े को प्राप्त करने के लिए अधिक दाम देने को तैयार हो जायेंगे। इस प्रकार दामों के बढ़ने की सम्भावना रहेगी और यह मूल्य भी स्थिर नहीं रहेगा। स्थिर मूल्य केवल १·५० रुपया प्रति मीटर ही होगा, क्योंकि इसी मूल्य पर माँग और पूर्ति की मात्रायें बराबर होती हैं। इसी मूल्य को साम्य कीमत (Equilibrium Price) और माँग और पूर्ति की मात्राओं को 'साम्य की मात्रायें' *(Equilibrium Amounts)* कहते हैं।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

उक्त सिद्धान्त को एक रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। माँग और पूर्ति की अनुसूचियों के आधार पर माँग और पूर्ति की वक्र रेखायें खींची जा सकती हैं। अब, जिस स्थान पर ये दोनों रेखायें एक-दूसरे को काटती हैं, उसी स्थान पर "साम्य-कीमत" का निर्धारण होगा, क्योंकि उसी स्थान पर वस्तु की माँग और पूर्ति बराबर होती है।

[1] यहाँ 'बाजार-माँग अनुसूचि' और 'बाजार पूर्ति-अनुसूचि' दी गई हैं, जो क्रमशः व्यक्तिगत माँग-अनुसूचियों और व्यक्तिगत पूर्ति-अनुसूचियों को जोड़ने से प्राप्त होती हैं।

निम्न रेखा-चित्र मे मूल्य के सिद्धान्त का चित्रण किया गया है। अ क रेखा पर वस्तु की इकाइयां नापी गई हैं और अ ख पर कीमतें।

इस चित्र मे माँग और पूर्ति की रेखायें प बिन्दु पर एक दूसरे को काटती है, अतः साम्य की दशा मे कपड़े की कीमत प म के बराबर होगी। इस कीमत पर कपड़े की अ म इकाइयो की माँग होती है, जबकि पूर्ति भी ठीक इतनी ही है।

चित्र—मूल्य का निर्धारण साम्य कीमत द्वारा

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या माँग और पूर्ति की रेखाओं का एक-दूसरे को काटना आवश्यक है। यदि हम माँग और पूर्ति की रेखाओं की प्रकृति और गुणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करे, तो इस प्रश्न का उत्तर सरल है। जैसा कि पिछले अध्याय मे भी बताया जा चुका है, माँग की रेखा (Demand Curve) बायीं ओर से दाहिनी ओर, ऊपर से नीचे की ओर गिरती हुई रेखा होती है, क्योंकि माँग का नियम हमे बताता है कि कीमत के गिरने के साथ-साथ माँग की मात्रा बढ़ती जाती है। ऊपर के चित्र से साफ-साफ दिखाई पड़ता है कि ट फ रेखा पर ट से फ की ओर चलते समय जैसे-जैसे कीमत कम होती जाती है, माँग की मात्रा बढ़ती जाती है। इसके विपरीत, पूर्ति की रेखा (Supply Curve) की दिशा मे माँग की रेखा के बिल्कुल उल्टी होती है। पूर्ति की रेखा बायीं ओर से दाहिनी ओर नीचे से ऊपर की ओर जाती है। पूर्ति का नियम है कि कीमत के बढ़ने के साथ-साथ पूर्ति की मात्रा बढ़ती चली जाती है। ल र रेखा इस बात की पुष्टि करती है। इस रेखा पर यदि हम ल से र की ओर जायें, तो कीमत की प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ पूर्ति की मात्रा भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि माँग और पूर्ति की रेखाओं की दिशा एक-दूसरे के विपरीत होती है। ऐसी रेखायें, जबकि वे एक ही सम (Plane) पर खींची जाती हैं, एक-दूसरे को अवश्य काटती है और जिस बिन्दु पर ये रेखायें एक-दूसरे को काटती हैं वही साम्य-कीमत निर्धारित करता है।

ऊपर दी हुई विवेचना से पता चलता है कि मूल्य का निर्धारण करने मे माँग और पूर्ति की शक्तियो का बड़ा महत्त्व है। इन शक्तियो की परस्पर खींच-तान से ही मूल्य का निर्धारण होता है और फिर यह मूल्य स्थिर उस दशा मे होता है, जबकि ये दोनों शक्तियां एक दूसरे के बल को पूर्णतया नष्ट करके साम्य की दशा उपस्थित करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कीमत 'माँग' और 'पूर्ति' द्वारा निश्चित होती है और साम्य की दशा मे यह उस बिन्दु पर निर्धारित होती है, जहाँ कि वस्तु की माँग और पूर्ति की मात्रायें बराबर हैं। यही संक्षेप मे मूल्य का सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त को "मूल्य का माँग और पूर्ति का सिद्धान्त" कहा जाता है।

साम्य कीमत में परिवर्तन

इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि 'साम्य कीमत' भी बदल सकती है। प्रत्येक वस्तु की माँग और पूर्ति मे परिवर्तन होते रहते है। माँग अनेक कारणो से घटती-बढ़ती है और ठीक इसी प्रकार पूर्ति भी सदैव स्थिर नही रहती है। फलत माँग और पूर्ति की रेखाओं के गुण और स्थान बदलते रहते हैं। इन परिवर्तनो के साथ ही साथ साम्य-कीमतो मे भी परिवर्तन होते रहते हैं। साम्य का मूल्य सदा स्थिर नही रहता। सच तो यह है कि बहुधा

पुराना साम्य भङ्ग होकर नया साम्य स्थापित रहता है। उल्लेखनीय है कि वास्तविक जीवन में प्रतियोगिता अपूर्ण होती है इसलिये 'पूर्ण सन्तुलन' की प्राप्ति नहीं हो पाती है। किन्तु जब कभी प्रतियोगिता यथेष्ठ होती है, तो बाजार कीमत साम्य कीमत के निकट होगी।

कीमत में कितना परिवर्तन होगा, यह मांग और पूर्ति के तुलनात्मक परिवर्तन (Relative Change) के वेग पर निर्भर रहता है तथा मांग और पूर्ति के बदलने का वेग उनकी 'लोच' पर आधारित होता है। यदि मांग और पूर्ति की लोच समान है, तो दोनों परिवर्तन होने पर भी मूल्य स्थिर रह सकता है। किन्तु, यदि मांग और पूर्ति की लोच में अन्तर है, जिस कारण दोनों में असमान परिवर्तन होते हैं, तो ऐसी दशा में निश्चय ही कीमत में भी परिवर्तन हो जायेंगे। उदाहरणस्वरूप, यदि मांग बढ़ती है और पूर्ति बेलोच है, तो वस्तु के दाम बढ़ जायेंगे, क्योंकि ऐसी दशा में मांग की रेखा ऊपर की ओर खिसक जायेगी जबकि पूर्ति की रेखा अपने स्थान पर बनी रहेगी। ठीक इसी प्रकार, जब पूर्ति के परिवर्तन की गति मांग के परिवर्तनों के वेग की अपेक्षा कम होती है, तो मांग बढ़ जाने पर कीमत बढ़ जाती है। इसके विपरीत, मांग के घटने की दशा में कीमत भी घट जाती है।[1]

मांग, पूर्ति और मूल्य का परस्पर सम्बन्ध

ऊपर के विवेचन से पता चलता है कि मांग और पूर्ति की आकर्षण-शक्तियों के परिवर्तन के फलस्वरूप मूल्य में भी परिवर्तन होता रहता है। परन्तु यह कह देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि स्वयं मूल्य का परिवर्तन भी मांग और पूर्ति पर अपना प्रभाव डालता है।

मांग और पूर्ति के नियमों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि मूल्य के बदलने के कारण मांग और पूर्ति दोनों ही बदला करते हैं। यदि किसी कारण कीमत बढ़ जाती है, तो मांग साधारणतया कम हो जाती है और इसके विपरीत, पूर्ति में बढ़ जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः इस बात का निर्णय करना कठिन होता है कि कीमत में जो परिवर्तन होते हैं, उनका कारण मांग और पूर्ति के परिवर्तन होते है, अथवा स्वयं मांग और पूर्ति के परिवर्तन मूल्य-परिवर्तन पर निर्भर होते हैं। कौन-सा कारण है तथा कौन-सा परिणाम, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

मांग, पूर्ति और कीमत तीनों में निकटतम् सम्बन्ध है। एक की दूसरे पर निर्भरता स्पष्ट है। अधिक से अधिक हम इतना कह सकते हैं कि ये तीनों परस्पर सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध को ध्यान में रखना आवश्यक है। इनमें से साधारणतया किसी भी एक का महत्व दूसरे से अधिक नहीं होता यद्यपि परिस्थिति-विशेष में किसी एक का प्रभाव बढ़ सकता है।

साम्य कीमत (अर्थात् कीमत) पर मांग और पूर्ति के परिवर्तनों का प्रभाव

मांग में परिवर्तनों का मूल्य पर प्रभाव—

मेयरस् ने मांग के प्रभावों का अध्ययन इस प्रकार किया है :—"यदि अन्य बातें *यथास्थित रहें, तो मांग की वृद्धि विनिमय की जाने वाली वस्तु की कीमत तथा मात्रा दोनों को* बढ़ाने की प्रवृत्ति रखती है और मांग की घटती विनिमय की कीमत और मात्रा दोनों को घटा देती है। मांग में एक निश्चित परिवर्तन होने की दशा में पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी,

---

[1] "The price may be tossed hither and thither like a shuttle-cock as one side or the other side gets the better in the higgling and bargaining of the market."—**Marshall**

अनुपाती परिवर्तन कीमत मे उतना ही कम और विनिमय मात्रा में उतना ही अधिक होगा। पूर्ति जितनी ही कम बेलोच होगी, कीमत का अनुपाती परिवर्तन उतना ही अधिक होगा। विनिमय मात्रा का अनुपाती परिवर्तन उतना ही कम होगा।"[1] इससे स्पष्ट है कि यदि पूर्ति पूर्णतया लोचदार है, तो ऐसी दशा मे मांग के बढ़ने पर कीमत मे वृद्धि नही होगी, केवल विनिमय की मात्रा बढ़ जायेगी। इसके विपरीत, यदि पूर्ति पूर्णतया बेलोच है, तो मांग के बढ़ने पर कीमत तो बढ जायेगी, किन्तु विनिमय की मात्रा यथास्थित रहेगी। इन दोनो बातो को मेयरस् ने दो रेखाचित्रो द्वारा स्पष्ट किया है, जो कि निम्न प्रकार है :—
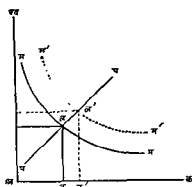
चित्र १—मांग के परिवर्तन (अधिक लोच वाली पूर्ति)　　　　चित्र २—मांग के परिवर्तन (कम लोच वाली पूर्ति)
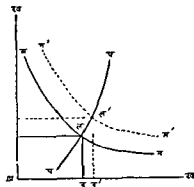
दोनो चित्रो मे प प पूर्ति की रेखा है। म म मांग की आरम्भिक रेखा है और म' म' बढ जाने की दशा मे मांग की रेखा है। दोनो ही दशाओ मे मांग मे समान परिवर्तन दिखाया गया है, परन्तु वस्तु की पूर्ति की लोच मे अन्तर है। दोनो मे कीमत का परिवर्तन ल र से ल' र' है और विनिमय की मात्रा का परिवर्तन अ र अ र'। निश्चय है कि पहले चित्र मे दूसरे चित्र की अपेक्षा कीमत का परिवर्तन कम है और मात्रा का परिवर्तन अधिक है।

पूर्ति के परिवर्तनों का मूल्य पर प्रभाव—

इसी प्रकार, मेयरस् ने पूर्ति के परिवर्तनो के प्रभाव का भी अध्ययन किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि "यदि अन्य बाते यथास्थित रहे, तो पूर्ति की एक दी हुई वृद्धि कीमत को घटाने और विनिमय की मात्रा को बढाने की प्रवृत्ति रखेगी। इसके विपरीत पूर्ति की कमी कीमत को बढाने तथा विनिमय की मात्रा को घटाने की प्रवृत्ति रखेगी। पूर्ति के एक निश्चित परिवर्तन के फलस्वरूप, जितनी ही मांग अधिक लोचदार होगी उतना ही कीमत का अनुपाती परिवर्तन कम होगा तथा विनिमय-मात्रा का अनुपाती परिवर्तन अधिक होगा। इसके विपरीत, मांग जितनी ही कम लोचदार होगी, कीमत का अनुपाती परिवर्तन उतना ही अधिक होगा तथा विनिमय-मात्रा

---

[1] "Other conditions remaining unchanged an increase in demand has the tendency to increase both price and quantity exchanged. With a given change in demand, the more elastic the supply, the less will be the proportionate change in price and greater the proportionate change in quantity exchanged. The less elastic the supply, the greater will be the proportionate change in price and less the proportionate change in quantity exchanged."—**Albert Meyers** : *Elements of Modern Economics*, p. 130.

का अनुपाती परिवर्तन उतना ही कम होगा।"[1] यदि माँग पूर्णतया लोचदार हो और पूर्ति बढ जाय, तो इससे कीमत नहीं गिरेगी, बल्कि विनिमय की मात्रा बढ जायेगी। इसके विपरीत, यदि माँग पूर्णतया बेलोच है, तो पूर्ति की वृद्धि के फलस्वरूप कीमत तो घट जायेगी, परन्तु विनिमय की मात्रा मे परिवर्तन नही होगा। निम्न दोनों रेखाचित्र इस स्थिति को स्पष्ट करते हैं :—
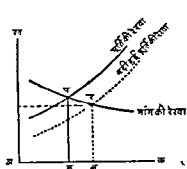
चित्र १—पूर्ति के परिवर्तन (लोचदार माँग) चित्र २—पूर्ति के परिवर्तन (बेलोच माँग)
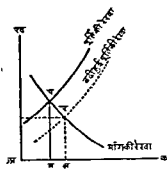
चित्र नं० १ मे लोचदार माँग की दशा मे पूर्ति की वृद्धि का प्रभाव दिखाया गया है और चित्र नं० २ में पूर्ति की उतनी ही वृद्धि का प्रभाव बेलोच माँग के सम्बन्ध में दिखाया गया है। निश्चिय है कि पहले चित्र मे दूसरे चित्र की अपेक्षा म स (विनिमय की मात्रा) की वृद्धि अधिक होती है और कीमत मे, जो प म से घट कर र स रह जाती है कम अश तक परिवर्तन होता है।

(३) उपरोक्त विवेचन के आधार पर मेयरस् ने माँग और पूर्ति दोनों के परिवर्तनों के सम्बन्ध मे निम्न सिद्धान्त निश्चित किये हैं[2] :—(i) यदि माँग और पूर्ति दोनों में एक ही दिशा मे परिवर्तन होते हैं, तो दोनो एक-दूसरे के प्रभाव को इस प्रकार नष्ट कर देंगे कि कीमत पर कोई प्रभाव न पडे, परन्तु विनिमय की मात्रा पर अधिक प्रभाव पडे। (ii) यदि माँग और पूर्ति दोनों मे एक ही दिशा मे परिवर्तन होते हैं, और एक मे दूसरे से अधिक परिवर्तन होते हैं तो जिसमे अधिक परिवर्तन होते हैं उसका प्रभाव भी अधिक पडेगा, परन्तु यहां भी कीमत पर प्रभाव कम रहेगा और विनिमय की मात्रा पर प्रभाव अधिक पडेगा। (iii) यदि माँग और पूर्ति मे प्रतिविरोधी दशाओं मे परिवर्तन होते हैं, तो परिणाम यह होगा कि दोनो एक-दूसरे के कीमत

---

1 Other conditions remaining unchanged, an increase in supply will have a tendency to decrease price and to increase quantity exchanged; a decrease in supply will have a tendency to increase price and to decrease quantity exchanged. Which a given change in supply, the more elastic the demand, the less will be the proportionate change in price and the greater the proportionate change in the quantity exchanged. The less elastic the demand, the greater will be the proportionate change in price and the less will be the proportionate change in the quantity exchanged —*Ibid*, p. 133.

2 Albert Meyers : *Elements of Modern Economics*, pp. 133-35

पर पड़ने वाले प्रभाव को बढ़ा देंगे और विनिमय की मात्रा पर पड़ने वाले प्रभाव को घटा देंगे। (iv) यदि माँग और पूर्ति दोनों में विपरीत दिशाओं में परिवर्तन होते हैं, परन्तु एक में दूसरे से अधिक अंश तक परिवर्तन होता है, तो जिसमें अधिक अंश तक परिवर्तन होता है उसी का प्रभाव भी अधिक पड़ेगा। किन्तु इस दशा में, कीमत पर अधिक प्रभाव पड़ेगा और विनिमय की मात्रा पर कम।

माँग को प्रभावित करने वाले कारक

यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि मूल्य के निर्धारित करने में माँग और पूर्ति दोनों का ही हाथ रहता है। अब हम देखेंगे कि माँग और पूर्ति स्वयं किन बातों पर निर्भर रहती है।

उपयोगिता (सीमान्त) का प्रभाव—

माँग पर वस्तु की उपयोगिता का प्रभाव पड़ता है। माँग उन्हीं वस्तुओं की होती है जो उपयोगी होती हैं, अर्थात् जो मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। साथ ही, जितनी ही किसी वस्तु की उपयोगिता अधिक होती है, उतनी ही साधारणतया उसकी माँग भी अधिक होती है। दूसरी ओर, यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि किसी वस्तु का मूल्य हम उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता के अनुसार ही देने को तैयार होते हैं। जिस वस्तु के उपभोग से हमें कम सन्तोष मिलने की आशा होती है अथवा जिस वस्तु के लिए हमारी आवश्यकता बहुत तीव्र नहीं होती है, उसके लिए हमारी माँग भी अधिक आग्रहपूर्ण नहीं होती और न ही ऐसी वस्तु के लिए हम बहुत ऊँची कीमत देने को तैयार होते हैं। इसलिए कुछ लोगों का कथन है कि कीमत सदा उपयोगिता के अनुपाती होती है।

परन्तु स्मरण रहे कि उपयोगिता तीन प्रकार की होती है—कुल, औसत और सीमान्त। कीमत पर उपयोगिता का जो प्रभाव पड़ता है, वह केवल सीमान्त उपयोगिता द्वारा ही उपस्थित किया जाता है। यह उपयोगिता उपभोग की अन्तिम इकाई द्वारा प्राप्त होती है। इसी का कीमत के निर्धारण में महत्व है। जब हम इस बात का निर्णय करते हैं कि वस्तु विशेष की आठवीं इकाई को खरीदें या नहीं, तो निश्चय ही हम आठवीं इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता से ही प्रभावित होते हैं और यह भी निश्चय है कि इस दशा में आठवीं इकाई ही उपभोग की अन्तिम इकाई होगी। इससे पता चलता है कि कीमत पर सीमान्त उपयोगिता का ही प्रभाव पड़ता है और वस्तु की प्रत्येक इकाई की कीमत उसकी सीमान्त उपयोगिता की अनुपाती होती है। ग्राहक एक और इकाई द्वारा प्राप्त उपयोगिता तथा मुद्रा के रूप में दी गई उपयोगिता की तुलना करता है और वस्तु को उसी मात्रा तक खरीदता है, जहाँ वस्तु से प्राप्त उपयोगिता बदले में दी जाने वाली मुद्रा की उपयोगिता के बराबर है। सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य देने की दशा में ग्राहक को उपयोगिता की हानि होती है। इस प्रकार, सीमान्त उपयोगिता कीमत की उच्चतम् सीमा निश्चित करती है।

माँग-रेखा के स्थान में उपयोगिता-रेखा का प्रयोग—

इसी आधार पर "माँग-वक्र रेखा" (Demand Curve) के स्थान पर "उपयोगिता-वक्र रेखा" (Utility Curve) का उपयोग किया जाता है। यथार्थ में "माँग-रेखा" तथा "उपयोगिता रेखा" के गुण, रूप तथा दिशा एक ही होते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बड़ी कठिनाई यह है कि उपयोगिता की सही माप सम्भव नहीं है। उपयोगिता तो एक मानसिक विचार मात्र है, जिसकी मुद्रा में माप नहीं हो सकती है। हम यह तो अनुमान लगा सकते हैं कि उपयोगिता कम मिली या अधिक, किन्तु यह अनुमान लगाना कठिन है कि उपयोगिता वास्तव में

कितनी है। उपयोगिता के उपयोग से कीमत के विवेचन में अनिश्चितता आ जाने का भय रहता है।

सौभाग्य से इस कठिनाई का एक हल सम्भव है। यह तो सत्य है कि सीधी रीति से हम उपयोगिता को नहीं नाप सकते हैं, परन्तु परोक्ष रीति से उसकी माप सम्भव है। एक उपभोक्ता वस्तु की किसी इकाई के लिए जितना मूल्य देने को तैयार हो जाता है, वही मूल्य उस इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का सूचक होता है। किसी इकाई के उपभोग से जितनी उपयोगिता प्राप्त होने की आशा होती है, उसी के अनुसार उसकी कीमत दी जाती है। इस कारण उपयोगिता की माप कीमत में की जा सकती है।

उपयोगिता-रेखाओं के स्थान में मांग-कीमत रेखाओं का प्रयोग—

निश्चय है कि अलग-अलग कीमतों पर एक वस्तु की इकाइयों की अलग-अलग मात्रायें खरीदी जाती हैं। जिस कीमत पर ग्राहक वस्तु की कोई विशेष इकाई खरीदने के लिए तैयार रहता है, उस कीमत को उस इकाई की "मांग-कीमत" कहते हैं। यह "मांग-कीमत" उपयोगिता की भांति औसत या सीमान्त हो सकती है। क्रय की अन्तिम इकाई की मांग-कीमत "सीमान्त मांग-कीमत" (Marginal Demand Price) कहलाती है। जितनी कुल इकाइयां खरीदी जाती हैं, उन सबके लिए दिये हुए कुल मूल्य की खरीदी हुई इकाइयों की संख्या से भाग देने पर "औसत-मांग-कीमत" (Average Demand Price) निकल आती है। इस प्रकार, हम "औसत उपयोगिता" और "सीमान्त उपयोगिता-वक्र रेखाओं" के स्थान पर 'औसत मांग-कीमत" तथा "सीमान्त मांग-कीमत की रेखाओं" का उपयोग कर सकते हैं और हमारी उपयोगिता की माप सम्बन्धी कठिनाई दूर हो जाती है। निम्न तालिका में ये दोनों प्रकार की "मांग-कीमतें" दिखाई गई हैं :—

मांग-कीमत तालिका

वस्तु की इकाई	कीमत जो ग्राहक देने को तैयार होता है रु०	औसत मांग-कीमत रु०	सीमान्त मांग-कीमत रु०
१	२०	२०	२०
२	१८	१९	१८
३	१६	१८	१६
४	१४	१७	१४
५	१२	१६	१२

मांग-कीमत और आगम (या बिक्री कीमत) का सम्बन्ध—

इस सम्बन्ध में एक और बात का जान लेना भी आवश्यक है। ग्राहक की दृष्टि से जो मांग-कीमत होती है, विक्रेता की दृष्टि से वह बिक्री कीमत हो जाती है। एक ही कीमत को जब हम ग्राहक से सम्बन्धित करते हैं, तो वह "मांग-कीमत" (Demand Price) प्रतीत होता है और उसी को विक्रेता से सम्बन्धित करके "बिक्री-कीमत" (Supply Price) का नाम दिया जा सकता है। प्रत्येक विक्रेता अनुभव से यह जानता है कि किसी भी वस्तु की अधिक इकाइयां बेचने के लिए उसे कीमत को कम करना पड़ता है, अर्थात् प्रत्येक अगली इकाई की बिक्री-कीमत पहली की अपेक्षा कम होती है। जिस प्रकार ग्राहक की मांग की सीमान्त-कीमत घटती चली जाती है, उसी प्रकार "सीमान्त बिक्री-कीमत" (Marginal Supply Price) भी घटती जाती है। अब, क्योंकि बिक्री कीमत तथा आगम (Revenue) दोनों एक ही विचार के दो भिन्न-भिन्न नाम हैं

इसलिए हम यह कह सकते हैं कि बिक्री की मात्रा के बढ़ने के साथ-साथ सीमान्त आगम (Marginal Revenue or MR) घटती चली जाती है।

उपयोगिता (या माँग कीमत) वक्र के स्थान में सीमान्त आगम वक्र का प्रयोग—

उक्त तालिका मे दी हुई "औसत माँग कीमत" "औसत आगम" (Average Revenue or AR) को भी सूचित करती है। यह आगम बिक्री से प्राप्त होने वाली कुल कीमत को बिक्री की मात्रा की इकाइयो की सख्या मे भाग देने से प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार, सीमान्त-माँग-कीमत "सीमान्त-आगम" (MR) का ही दूसरा नाम है। ऐसी दशा मे उपयोगिता (या माँग-कीमत) की वक्र रेखाओं के स्थान पर औसत तथा सीमान्त आगम की वक्र रेखाओं का उपयोग स्वतन्त्रता-पूर्वक किया जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्र मे मूल्य के सिद्धान्त मे हम ऐसा करते भी हैं।

पूर्ति को प्रभावित करने वाले कारक

पूर्ति पर उत्पादन-व्यय का प्रभाव—

माँग-कीमत की भाँति पूर्ति-कीमत भी होती है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, "पूर्ति-कीमत" उस कीमत को सूचित करती है, जिस पर एक विक्रेता वस्तु की इकाई विशेष को बेचने के लिये तैयार होता है। यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है कि पूर्ति के नियम के अनुसार अधिक दामो (अर्थात् ऊँची कीमत) पर पूर्ति की मात्रा अधिक होती है। दूसरे शब्दों मे, अगली इकाइयो को बेचने के लिए विक्रेता अधिक कीमत की आशा करता है। कारण, जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता जाता है, क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है, जिससे उत्पादन-व्यय बढ़ने लगता है। उत्पादन-व्यय के बढ़ जाने के कारण उत्पादक या विक्रेता अगली इकाइयो के लिए ऊँचा कीमत माँगता है। इससे सिद्ध होता है कि पूर्ति की मात्रा पर उत्पादन-व्यय का अधिक प्रभाव पड़ता है। साधारणतया जितना ही उत्पादन व्यय अधिक होता है उतनी ही पूर्ति की मात्रा कम रहने की सम्भावना रहती है। पूर्ति सदा ही उत्पादन व्यय पर निर्भर रहती है।

सीमान्त उत्पादन-व्यय का विशेष प्रभाव—

उत्पादन-व्यय तीन प्रकार का होता है—कुल व्यय, औसत व्यय तथा सीमान्त व्यय। जहाँ तक पूर्ति का सम्बन्ध है, वह सीमान्त उत्पादन-व्यय से ही प्रभावित होती है, क्योंकि वह व्यय उत्पत्ति की अन्तिम इकाई का उत्पादन-व्यय होता है और उत्पादक अधिक उत्पत्ति करने का निर्णय इसी पर दृष्टि डालने के उपरान्त करता है।

पूर्ति (या उत्पादन-व्यय) रेखाओं के स्थान में औसत तथा सीमान्त व्यय रेखाओं का प्रयोग—

उत्पादन-व्यय की वक्र रेखाओ के रूप और गुण तथा पूर्ति की रेखा के रूप और गुण एक जैसे ही होते हैं। इस कारण पूर्ति की रेखा के स्थान पर उत्पादन-व्यय की रेखाओं का उपयोग किया जा सकता है। मूल्य के सिद्धान्त की आगे की विवेचना मे ऐसा ही किया गया है और जिस प्रकार औसत और सीमान्त आगम की वक्र की रेखायें खींची जाती है, ठीक उसी प्रकार औसत उत्पादन-व्यय तथा सीमान्त उत्पादन-व्यय की भी वक्र रेखायें खींची जा सकती हैं, जो पूर्ति की रेखा का स्थान ले लेती हैं।

मूल्य के सिद्धान्त का नया रूप

ऊपर की गई माँग और पूर्ति की विवेचना के पश्चात् हमारे लिए यह सम्भव हो जाता है कि हम मूल्य का सिद्धान्त एक नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत कर सकें। इस नये दृष्टिकोण के अनुसार माँग के स्थान पर हम "आगम-वक्र रेखाओं" (Revenue curves) का और पूर्ति के स्थान पर "उत्पादन व्यय-वक्र रेखाओं" (Cost curves) का उपयोग करेंगे। दूसरे शब्दों मे,

मूल्य या कीमत के निर्धारित करने में आगम और उत्पादन-व्यय की दो शक्तियाँ विपरीत दिशाओं में अपना प्रभाव डालती हैं। सीमान्त आगम (MR) की प्रवृत्ति घटने की ओर होती है, जबकि सीमान्त उत्पादन-व्यय (MC) की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर। जहाँ पर ये दोनों शक्तियाँ एक-दूसरे के बल को नष्ट कर देती हैं, वहीं पर साम्य की दशा में कीमत का निर्धारण होता है।

तालिकाओं द्वारा स्पष्टीकरण—

अब हमें यह देखना है कि आगम और उत्पादन-व्यय की शक्तियों के सन्तुलन का क्या अर्थ होता है। औसत तथा सीमान्त आगम के अनुसार हम माँग की अनुसूचि का निर्माण कर सकते हैं और ठीक इसी प्रकार औसत और सीमान्त उत्पादन-व्यय के अनुसार पूर्ति की अनुसूचि (Supply Schedule) को बनाया जा सकता है। इन दोनों अनुसूचियों से हमें आगम और उत्पादन-व्यय के परिवर्तनों के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होगी और हम उस बिन्दु को खोज निकालेंगे, जहाँ पर दोनों की शक्तियों में सन्तुलन स्थापित होता है।

तालिका १

माँग की अनुसूचि

वस्तु की इकाइयाँ	कुल आगम (रु०)	औसत आगम (रु०)	सीमान्त आगम (रु०)
१	४०	४०	४०
२	७८	३९	३८
३	११४	३८	३६
४	१४८	३७	३४
५	१८०	३६	३२

तालिका २

पूर्ति की अनुसूचि

वस्तु की इकाइयाँ	कुल व्यय (रु०)	औसत व्यय (रु०)	सीमान्त व्यय (रु०)
१	३०	३०	३०
२	६४	३२	३४
३	१००	३३$\frac{1}{3}$	३६
४	१४०	३५	४०
५	१८५	३७	४५

सीमान्त आगम और सीमान्त उत्पादन-व्यय की समानता—

ऊपर की दोनों तालिकाओं को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि तीसरी इकाई को बेचने से विक्रेता को उतने ही दाम मिलते हैं, जितना कि उसके उत्पादन पर व्यय होता है। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि तीसरी इकाई की सीमान्त आगम उतनी ही है जितना कि उसका सीमान्त उत्पादन-व्यय है। साम्य की दशा में मूल्य का निर्धारण उसी बिन्दु द्वारा किया जाता है, जहाँ सीमान्त आगम तथा सीमान्त उत्पादन-व्यय बराबर होते हैं।

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

निम्न रेखाचित्र में आगम और उत्पादन-व्यय की रेखाओं की सहायता से इस बात को स्पष्ट किया गया है :—

ऊपर के चित्र में सीमान्त आगम और सीमान्त उत्पादन-व्यय की रेखायें ट बिन्दु पर एक-दूसरे को काटती हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि ट बिन्दु पर सीमान्त आगम और सीमान्त उत्पादन-व्यय बराबर हैं। मूल्य का निर्धारण ट बिन्दु द्वारा ही होता है। इस दशा में प म वस्तु की कीमत होगी[1] और जैसा कि स्पष्ट ही है, प म रेखा ट बिन्दु से होकर गुजरती है। जब अ म मात्रा की बिक्री होती है, तो अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली कीमत उस इकाई के उत्पादन-व्यय के बराबर होती है। इस प्रकार प म ही साम्य का मूल्य है, क्योंकि केवल इसी मूल्य में स्थिरता आ सकती है।

बहुत समय तक न तो कीमत इससे अधिक ही रह सकती है और न इससे कम ही। यदि कीमत इससे अधिक होती है तो उत्पत्ति की अन्तिम इकाई पर विक्रेता को लाभ होता है। अपने कुल लाभ को और अधिक करने के लिए वह बिक्री की मात्रा को बढ़ा देता है। पूर्ति के इस प्रकार बढ़ जाने से कीमत नीचे गिर जाती है। इसके विपरीत, यदि कीमत प म से कम होती है, तो उत्पत्ति की अन्तिम इकाई पर घाटा होता है और घाटे को कम करने के लिए विक्रेता उत्पत्ति की मात्रा को कम करने लगेगा। पूर्ति की मात्रा में इस प्रकार कमी होने से कीमत ऊपर चढ़ जाती है। इस प्रकार, प म से अधिक या कम मूल्य स्थिर नहीं रह सकता है। केवल प म मूल्य ही स्थिर हो सकता है, क्योंकि इस मूल्य पर अन्तिम इकाई को बेचने से न तो लाभ ही होता है और न हानि ही।

---

1 यथार्थ में कीमत सदैव औसत प्रकार की होती है (देखिये, 'कुल, औसत तथा सीमान्त आगम' अध्याय २)।

नीचे के चित्र से पता चलता है कि जब कीमत प म से अधिक अर्थात् ल र के बराबर होती है, तो उत्पत्ति की अन्तिम इकाई को बेचने पर म र के बराबर आय या आगम प्राप्त
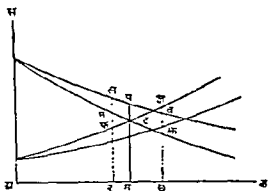
होती है, जबकि अन्तिम इकाई का उत्पादन-व्यय फ र के बराबर होता है। अतः अन्तिम इकाई पर म फ के बराबर लाभ होता है, जिस कारण उत्पादक द्वारा उत्पत्ति को बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है। इसके विपरीत, जब दाम प म से कम (अर्थात् ब छ के बराबर) होते हैं, तो अन्तिम इकाई से झ छ के बराबर आगम मिलती है, जबकि ज्ञ छ के बराबर उत्पादन-व्यय होता है। इससे पता चलता है कि इस इकाई पर ज्ञ झ के बराबर हानि होती है जिससे बचने के लिए उत्पत्ति की मात्रा को कम किया जाता है और इस प्रकार की कीमत अन्त में प म पर ही आकर रुकती है।

मूल्यों का विरोधाभास
(The Paradox of Value)

पानी और हीरे का उदाहरण—

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने उपयोगिता-विचार के द्वारा कीमतों की व्याख्या की थी। किन्तु ऐसा करते समय उन्हें एक परेशानी अनुभव हुई—जबकि अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में यह देखा गया कि उनकी कीमतें उपयोगिता के सापेक्षिक मात्राओं के अनुसार हैं, कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में ऐसा नहीं था। उदाहरण के लिये, हीरा मनुष्य-जीवन के लिए पानी की अपेक्षा कम उपयोगी होते हुए भी उसकी अपेक्षा बहुत अधिक कीमत रखता है। यह विरोधाभास प्राचीन अर्थशास्त्रियों की समझ में नहीं आया। किन्तु आधुनिक उपयोगिता सिद्धान्त (जिसका प्रतिपादन जेवन्स, मेन्जर और वालरस ने १८७० में किया) इस विरोधाभास को सुगमतापूर्वक हल कर देता है—पानी की पूर्ति और मांग-रेखायें इस प्रकार की होती हैं कि वे बहुत नीची कीमत पर काटती हैं, किन्तु हीरे की पूर्ति और मांग-रेखायें इस प्रकार की हैं कि वे ऊँची कीमत पर काटती हैं। इस समाधान की दो मुख्य बातें हैं—पूर्ति पक्ष और मांग-पक्ष।

(१) पूर्ति-पक्ष—हीरे अति दुर्लभ (Scarce) होते हैं। इनकी अतिरिक्त इकाइयाँ पाने में बहुत लागत-व्यय होता है। इसी कारण हीरों की कीमत ऊँची होती है। किन्तु, पानी की प्रचुरता होती है और उसकी अतिरिक्त इकाइयाँ पाने में लागत-व्यय कम होता है, जिस कारण उसकी कीमत बहुत नीची होती है।

(२) मांग-पक्ष—प्राचीन अर्थशास्त्रियों के भ्रम का एक कारण यह था कि वे कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता को पृथक् नहीं कर सके थे, अर्थात् यह नहीं समझ सके कि मूल्य केवल उपयोगिता के द्वारा नहीं वरन् सीमान्त उपयोगिता के द्वारा निर्धारित होता है।

हीरे सीमित होते हैं, जिस कारण उनकी सीमान्त उपयोगिता (अर्थात् कुछ अतिरिक्त इकाइयों की उपयोगिता) अधिक होती है और उनका मूल्य भी ऊँचा होता है किन्तु पानी की प्रचुरता होती है, जिस कारण उसकी सीमान्त उपयोगिता बहुत कम होती है और उसका मूल्य भी नीचा होता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मांग-पूर्ति रेखायें पानी की दशा में बहुत नीची कीमत पर और हीरो की दशा मे बहुत ऊँची कीमत पर क्यों काटती है। अब यदि परिस्थितियाँ असाधारण हो (जैसे—यदि एक रेगिस्तान मे हीरो के एक प्यासे मालिक को पानी की थोडी मात्रा रखने वाले व्यक्ति से सौदा करना पडे), तो पानी की सीमान्त उपयोगिता सामान्य परिस्थितियो की अपेक्षा कही अधिक होती है और इसलिए उसकी कीमत हीरो से कही अधिक होगी। सामान्य परिस्थितियो मे पानी की बहुलता और हीरो की दुर्लभता होनी है। अतः, यद्यपि पानी की कुल उपयोगिता हीरो की कुल उपयोगिता से बहुत अधिक हो सकती है तथापि पानी की प्रचुरता के कारण उसकी सीमान्त उपयोगिता बहुत कम होती है, किन्तु सीमितता के कारण हीरो की सीमान्त उपयोगिता बहुत कम होती है। चूँकि मूल्य सीमान्त उपयोगिता के द्वारा निर्धारित होता है। इसलिये अधिक सीमान्त उपयोगिता रखने वाले हीरे की कीमत कम सीमान्त उपयोगिता वाले पानी की कीमत की अपेक्षा बहुत अधिक होती है।

परीक्षा प्रश्न :

१. सन्तुलन-मूल्य से आप क्या समझते हैं ? पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाओं में यह कैसे निर्धारित होता है ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम यह बताइये कि प्राचीन अर्थशास्त्रियो (रिकार्डो और जेवन्स) मे मूल्य-निर्धारण के विषय में मतभेद था, जिसे मार्शल ने समाप्त किया और बताया कि वस्तु का मूल्य सीमान्त उपयोगिता (अर्थात् मांग) और उत्पादन-लागत (अर्थात् पूर्ति) दोनो के द्वारा तय होता है। तत्पश्चात् सतुलन-मूल्य का अर्थ बताइये और अन्त में मांग-शक्ति और पूर्ति-शक्ति दोनो की पूरी व्याख्या करते हुये चित्रो की सहायता से सतुलन-मूल्य के निर्धारण को स्पष्ट कीजिये।]

२. "सीमान्त वह केन्द्र बिन्दु है जहाँ मूल्य को निर्धारित करने वाली शक्तियो के प्रभाव को जानने के लिए हमे जाना पड़ता है।" इस कथन को समझाइये।

३. "मूल्य एक महाराज के पत्थर के समान दो किनारो के मध्य लटका होता है जिसकी एक भुजा मांग होती है और दूसरी पूर्ति।" व्याख्या कीजिये।

४. सतुलन-मूल्य का अर्थ बताइये। मांग और पूर्ति मे परिवर्तन किस प्रकार सतुलन-मूल्य को प्रभावित करते हैं ?

अथवा

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाओ के अन्तर्गत किसी वस्तु की कीमत पर मांग और पूर्ति के परिवर्तनो का जो प्रभाव पडता है उसका विवेचन कीजिये।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम सतुलन-मूल्य का अर्थ बताइये। तत्पश्चात् (अ) मांग मे परिवर्तनो का, (ब) पूर्ति मे परिवर्तनो का, और (स) मांग और पूर्ति मे साथ-साथ परिवर्तनो का, सन्तुलन-मूल्य पर प्रभाव को रेखाचित्रो द्वारा दर्शाइये।]

१. "यह सिद्धान्त कि सीमान्त उपयोगिता न कि कुल उपयोगिता वस्तु के मूल्य का अध्ययन करने में आवश्यक है मूल्यों के विरोधाभास की व्याख्या करता है।" स्पष्ट कीजिए।

अथवा

"पानी की पूर्ति और माँग-रेखायें इस प्रकार की होती हैं कि वे बहुत नीची कीमत पर काटती हैं किन्तु हीरों की पूर्ति और माँग-रेखायें इस प्रकार की होती है कि वे ऊँची कीमतों पर काटती हैं।" व्याख्या कीजिए।

[सहायक संकेत :—यहाँ पानी और हीरे के उदाहरण द्वारा मूल्य के विरोधाभास को स्पष्ट कीजिए अर्थात् यह बताइये कि हीरे की सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है, इसलिए उसका मूल्य ऊँचा होता है किन्तु पानी की सीमान्त उपयोगिता नीची होती है इसलिये उसका मूल्य नीचा होता है। रेखाचित्र भी दीजिये।]

६

मूल्य निर्धारण में समय-तत्व

(बाजार मूल्य एव सामान्य मूल्य)

(Time Element in the Determination of Value)

प्रारम्भिक—

जैसा कि हमने विगत अध्ययन मे बताया था, मूल्य वस्तु विशेष की मांग और पूर्ति की तुलनात्मक परिस्थितियो के द्वारा निर्धारित होता है, अतः मांग और पूर्ति के परिवर्तनो के कारण मूल्य मे भी परिवर्तन होने स्वाभाविक है। परन्तु मांग और पूर्ति मे परिवर्तनों का रूप समय के अनुसार अलग-अलग होता है।

समय तत्त्व का अर्थ

साधारणत. समय को हम अल्पकाल और दीर्घकाल मे विभाजित करते हैं। मार्शल ने समय को चार भागो मे बाटा था—अति-अल्पकाल, अल्पकाल, दीर्घकाल एव अति-दीर्घकाल। आधुनिक अर्थशास्त्री इनमे से केवल प्रथम तीन समयो को मान्यता देते हैं, क्योकि अति-दीर्घकाल का मूल्य निर्धारण की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नही है। किन्तु स्मरण रहे कि यह समय विभाजन किन्ही निश्चित अवधियो (जैसे ३ हफ्ते, ४ महीने या २ वर्ष) को नही बताता वरन् उस समयावधि को बताता है जो कि उत्पादन यन्त्र को मांग के परिवर्तनो की अनुसारिता मे बदलने के लिए आवश्यक है। सरल शब्दो मे, समय का विभाजन घडी के समय (Clock-time) या कलेण्डर समय (Calendar-time) पर आधारित नहीं है बल्कि क्रियात्मक समय (Operational time) पर आधारित होता है। यह भी स्मरणीय है कि एक स्थिति मे अल्पकाल दूसरी स्थिति के दीर्घकाल से अधिक हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि फलो के लिए मांग बढ जाय, तो नये बाग लगा कर पूर्ति को बढाने का यत्न किया जायेगा, जिसमे ८-१० वर्ष का समय लग जायेगा। इस बीच फलो की पूर्ति स्थिर रहेगी या अति सीमित मात्रा मे ही बढ सकेगी। अत. फलो के उत्पादन की दृष्टि से ८-१० वर्ष की समयावधि अल्पकाल है, किन्तु कारो के उत्पादन की दृष्टि से २ वर्ष की समयावधि अल्पकाल होगी, क्योकि इतने समय मे ही नये यन्त्र लगाकर कारो का उत्पादन बढाकर मांग के अनुरूप किया जा सकता है।

अति-अल्पकाल में मूल्य—

अति-अल्पकाल या तात्कालिक समय वह अवधि है जिसमे कि कुल पूर्ति लगभग स्थिर रहती है, अर्थात् जिसमे कि वस्तु का पहले से उत्पादन हो जाता है और समयान्तर इतना कम होता है, कि उत्पादन की दर को नही बदला जा सकता है। अतः ऐसी परिस्थिति मे, यदि वस्तु की मांग बढ़े, तो गोदामो मे पहले से रखे हुये स्टॉक में से निकाल कर ही वस्तु की पूर्ति को बहुत ही सीमित मात्रा मे बढाया जा सकेगा, और यदि वस्तु की पूर्ति घटे, तो वस्तु की कुछ पूर्ति को पुनः स्टॉक मे वापस किया जा सकेगा। इस प्रकार, अति-अल्पकाल मे पूर्ति विद्यमान स्टॉक तक सीमित होती है।

अति अल्पकाल में पूर्ति के स्थिर रहने के कारण मूल्य पर माँग का पूरा असर पड़ता है। साथ के चित्र में पूर्ति को खड़ी रेखा पू पू$_1$ के द्वारा दिखाया गया है। माँग रेखा म म पूर्ति-रेखा पू पू$_1$ को मू बिन्दु पर काटती है। अतः मूल्य मू पू$_1$ होगा। यदि माँग बढ़कर म$_1$ म$_1$ हो जाय, तो मूल्य बढ़ कर मू$_1$ पू$_1$ हो जायगा और माँग घट कर म$_2$ म$_2$ रह जाय, तो मूल्य भी घटकर मू$_2$ पू$_1$ के बराबर रह जायेगा। अति अल्पकाल के मूल्य को मार्शल ने बाजार-मूल्य कहा है। यह माँग-पूर्ति के अस्थाई साम्य द्वारा निश्चित होता है तथा माँग के परिवर्तन के अनुसार एक ही दिन में कई बार बदल सकता है।

चित्र—अति-अल्पकाल में मूल्य

अल्पकाल में मूल्य—

अल्पकाल वह समयावधि है जिसमें वस्तु की उत्पादित मात्रा को घटाया-बढ़ाया जा सकता है, किन्तु स्थिर प्लाण्ट की क्षमता को नहीं। इसमें विद्यमान प्लाण्ट को परिवर्तनशील साधनों जैसे कच्चे माल, श्रम इत्यादि का अधिक अथवा कम गहराई के साथ इस्तेमाल करके वस्तु का उत्पादन बढ़ाया अथवा घटाया जा सकता है। किन्तु प्लाण्ट क्षमता में वृद्धि अथवा कमी करना सम्भव नहीं है और न नई फर्में ही उद्योग में प्रवेश कर सकती हैं। चूँकि अल्पकाल में पूर्ति प्लाण्ट क्षमता से सीमित रहती है, इसलिये ऐसी समयावधि को 'स्थिर प्लाण्ट समयावधि' कहते हैं। इस काल के मूल्य को 'अल्पकालीन मूल्य' या 'अल्पकालीन सामान्य मूल्य' कहते हैं। इसके निर्धारण में भी माँग का प्रभाव ही मुख्य होता है, क्योंकि पूर्ति को विद्यमान प्लाण्टों का अधिक गहराई से प्रयोग करके एक सीमित मात्रा में ही बढ़ाया जा सकता है और उसे पूरी तरह से माँग के समकक्ष नहीं किया जा सकता। इस मूल्य पर पूर्ति का प्रभाव अति अल्पकालीन मूल्य की अपेक्षा कुछ अधिक होता है।

चित्र—अल्पकाल में मूल्य निर्धारण

उपरोक्त चित्र में अति-अल्पकाल पूर्ति को अ० अ० पू० रेखा द्वारा और अल्पकालीन पूर्ति को अ० पू० रेखा द्वारा दिखाया गया है चूँकि अति-अल्पकालीन पूर्ति स्थिर होती है इसलिए अ० अ० पू० एक खड़ी रेखा है और चूँकि अल्पकाल में पूर्ति को परिवर्तनशील साधनों के कम या अधिक गहरे प्रयोग द्वारा प्लाण्ट की क्षमता तक घटाया-बढ़ाया जा सकता है, इसलिए अ० पू० एक उठती हुई रेखा है। अ० अ० पू० रेखा मूल-माँग-रेखा म म को मू बिन्दु पर काटती है, इसलिए बाजार मूल्य मू पू$_1$ हुआ। चूँकि अ० पू रेखा भी म म को मू बिन्दु पर काटती है, इसलिए अल्पकालीन मूल्य भी पू० मू$_1$ ही है। इस मूल स्थिति से अब माँग के बढ़ने पर नई माँग-रेखा म$_1$ म$_1$ है जो अ० अ० पू० रेखा को मू$_1$ और अ० पू० रेखा को मू$_2$ पर काटती है, जिस कारण नया बाजार मूल्य मू$_1$ पू$_1$ और नया अल्पकालीन मूल्य मू$_2$ पू$_2$ के बराबर है। स्पष्ट है कि अल्पकालीन मूल्य मू$_2$ पू$_2$ नये बाजार मूल्य मू$_1$ पू$_1$ की अपेक्षा नीचा है, कारण, अल्पकाल में पूर्ति को थोड़ा बढ़ाया जा सकता है, किन्तु अति-अल्पकाल में पूर्ति लगभग स्थिर रहती है।
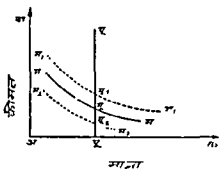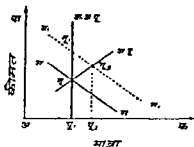
दीर्घकाल में मूल्य—

दीर्घकाल वह अवधि है जिसमे पूर्ति को विद्यमान प्लाण्टों की क्षमताओं को बढ़ा कर अथवा नई फर्मों के प्रवेश द्वारा बढाया जा सकता है अथवा उसे विद्यमान प्लाण्ट-क्षमताओं में कमी करके अथवा कुछ फर्मों के बहिर्गमन द्वारा घटाया जा सकता है। इस प्रकार, दीर्घकाल में पूर्ति को मांग के समकक्ष होने के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता है। दीर्घकाल को 'परिवर्तनशील प्लाण्ट समयावधि' और ऐसी अवधि के मूल्य को 'दीर्घकालीन मूल्य' या 'दीर्घकालीन सामान्य मूल्य' या केवल 'सामान्य मूल्य' कहते हैं। सामान्य मूल्य पर मांग का प्रभाव मुख्य नहीं रहता वरन् उस पर पूर्ति का भी पूरा-पूरा प्रभाव पड़ने लगता है।

निम्न चित्र मे म म मूल-मांग रेखा है। अ० अ० पू०, अ० पू० और द० पू० क्रमशः अति-अल्पकालीन, अल्पकालीन एव दीर्घकालीन पूर्ति रेखायें है। द० पू० रेखा अ० पू० रेखा के नीचे है, जिसका कारण यह था कि दीर्घकाल मे लागतें तुलनात्मक रूप से नीची होती हैं। प्रारम्भिक स्थिति मे जबकि मांग म म है, अति-अल्पकालीन, अल्पकालीन एव दीर्घकालीन तीनों ही मूल्य समान अर्थात् $मू_1$ $पू_1$ के बराबर है, क्योंकि मांग-रेखा तीनो प्रकार की पूर्ति रेखाओं को एक ही बिन्दु मू पर काटती है। किन्तु जब मांग बढ कर $म_1$ $म_1$ हो जाती है तो दीर्घकालीन मूल्य $म_3$ $पु_3$ के बराबर हो जायेगा। यह मूल्य नये अल्पकालीन मूल्य $मू_2$ $पू_2$ और नये बाजार-मूल्य $मू_1$ $पू_1$ की अपेक्षा कम है। मांगी जाने वाली और पूर्ति की जाने वाली सन्तुलन-मात्रा (Equilibrium output) दीर्घकाल मे अ $पू_3$ के बराबर है जो अल्पकाल की अ $पू_2$ और अति अल्पकाल की अ $पू_1$ मात्राओं से अधिक है। मार्शल का कहना है कि बाजार मूल्य मे सदा ही दीर्घकालीन मूल्य के बराबर होने की प्रवृत्ति रहती है।
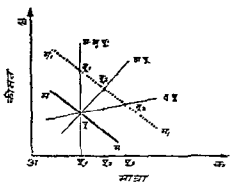
अति दीर्घकाल में मूल्य—

अति दीर्घकाल, चिरकाल या ऐतिहासिक दीर्घकाल बहुत ही लम्बा समय होता है। इसमे मांग और पूर्ति दोनो मे ही बुनियादी परिवर्तन हो जाते है, जैसे—मांग पक्ष की ओर जन-सख्या का आकार, लोगों की आदतो, स्वभाव इत्यादि और पूर्ति पक्ष की ओर पूंजीगत वस्तुओं की लागतो, कच्चे माल की पूर्ति, उत्पादन की रीतियों इत्यादि मे फेर-बदल हो जाते हैं। इन विस्तृत परिवर्तनो के कारण मूल्य मे जो परिवर्तन होता है उसे मार्शल ने 'मूल्य मे चिरकालीन परिवर्तन' (Secular changes in value) कहा है। अति दीर्घकाल के मूल्य को अध्ययन करना सम्भव नही है और न ही वह आवश्यक है, क्योकि जैसा कि कीन्स ने कहा है, दीर्घकाल मे तो हम सब मर जाते हैं।

बाजार-मूल्य
(Market Price)

बाजार-मूल्य किसे कहते हैं ?

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, समय के अनुसार मांग और पूर्ति के पारस्परिक समायोजन मे अन्तर होता है। अति-अल्पकाल मे तो यह समायोजन सम्भव ही नही है, क्योकि पूर्ति की मात्रा मे किसी भी प्रकार के परिवर्तन नही किये जा सकते। यदि मांग बढती हैं, तो इसके अनुसार पूर्ति नही बढ सकती है और यदि मांग घटती है, तो पूर्ति घटाई भी नही जा सकती।

पूर्ति की मात्रा लगभग यथास्थिर बनी रहती है। अति-अल्पकालीन मूल्य को ही हम अर्थशास्त्र में 'बाजार-मूल्य' कहते हैं। जैसा कि स्पष्ट है, यह मूल्य माँग पर विशेष रूप से निर्भर रहता है और क्योंकि माँग में बड़ी शीघ्रता तथा बड़ी तेजी से परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए यह मूल्य भी स्थिर नहीं रह पाता, वरन् जल्दी-जल्दी बदलता रहता है। यदि माँग थोड़ी अधिक हो जाती है, तो मूल्य बढ़ जाता है, और इसके विपरीत, यदि माँग में थोड़ी कमी आ जाती है तो मूल्य नीचे गिर जाता है, किन्तु पूर्ति का प्रभाव केवल निष्क्रिय होता है।

बाजार-मूल्य का निर्धारण—

इस प्रकार, हम देखते हैं कि बाजार मूल्य माँग और पूर्ति के अस्थाई साम्य के फलस्वरूप निश्चित होता है। 'अस्थायी साम्य'' से हमारा अभिप्राय उस साम्य या सन्तुलन से है, जो बहुत देर तक स्थिर नहीं रह सकता, वरन् थोड़े ही समय के पश्चात् भङ्ग हो जाता है और फिर माँग और पूर्ति का नया साम्य स्थापित होता है। इसी कारण बाजार मूल्य भी थोड़े-थोड़े समय में बदलता रहता है। कुछ दिशाओं में तो यह कुछ घण्टों तक भी स्थिर नहीं रह पाता, यद्यपि कभी कभी यह कुछ दिनों अथवा सप्ताहों के पश्चात् बदलता है। वस्तुयें निम्न प्रकार की होती हैं :—(अ) पुनरुत्पादनीय वस्तुयें (Reproducible commodities), जो शीघ्र नाशवान (Perishable) या शीघ्र नाश न होने वाली या टिकाऊ (Non-perishable or Durable) है एवं (ब) निरुत्पादनीय वस्तुयें (Non-reproducible goods), जैसे—कलात्मक तसवीरें या पुरानी पाण्डुलिपियाँ इत्यादि। बाजार मूल्य के अध्ययन के लिए शीघ्र नाशवान वस्तुओं (जैसे—ताजा फल अण्डे, ताजी सब्जियाँ इत्यादि) एवं निरुत्पादनीय वस्तुओं को एक साथ रखा जा सकता है, क्योंकि इन दोनों की ही पूर्ति स्थिर रहती है। ऐसी वस्तुओं के लिए पूर्ति की रेखा एक खड़ी रेखा होती है।

(1) नाशवान एवं निरुत्पादनीय वस्तुओं के बाजार-मूल्य का निर्धारण—

ये सब वस्तुयें ऐसी हैं कि इन की माँग में तो अकस्मात् ही परिवर्तन हो सकते हैं, परन्तु पूर्ति को अकस्मात् बढ़ाया नहीं जा सकता है। साथ ही साथ, इन वस्तुओं को, माँग की कमी की दशा में, भविष्य के लिए बचाकर भी नहीं रखा जा सकता, क्योंकि ये शीघ्र ही खराब हो जाती है। यदि किसी दिन एक छोटे नगर में कई बरातें आ जाती हैं या कोई बड़ा मेला आ जाता है, जिसे देखने के लिए दूर-दूर के लोग आते हैं, तो एकदम दूध की माँग बढ़ जावेगी, परन्तु दूध की मात्रा उतनी ही रहेगी, जितनी कि साधारणतया रहती थी। ऐसी दशा में, सब ग्राहकों को दूध नहीं मिल पायेगा, दूध के दाम ऊपर चढ़ जायेंगे और केवल उन्हीं क्रेताओं को दूध मिल सकेगा, जो ऊँचे दाम देने को तैयार होंगे। एक-दो दिन के बाद जब बरातों आदि का जोर कम हो जायगा, तो दाम फिर नीचे उतर आयेंगे। ठीक इसी प्रकार, नगर में कई बरातों के चले जाने या नगर में हड़ताल हो जाने के कारण माँग में अकस्मात् कमी हो सकती है और मूल्य नीचे गिर सकता है।

निम्न चित्र में निरुत्पादनीय और नाशवान वस्तुओं की पूर्ति को एक खड़ी रेखा पू मु प द्वारा दिखाया गया है। माँग रेखा म म इसे मू पर काटती है। अतः साम्य मूल्य मू प (या थ अ) के बराबर होगा और इस मूल्य पर बाजार साफ हो जायेगा। अब यदि माँग बढ़कर $म_1$ $म_1$ हो जाय, तो बाजार-मूल्य बढ़कर $मू_1$ प (या त अ) हो जायेगा, और इस मूल्य पर समस्त पूर्ति बिक जायेगी। दूसरी ओर, यदि माँग घट कर $म_2$ $म_2$ रह जाय, तो बाजार मूल्य भी घटेगा तथा $मू_2$ प (या द अ) के बराबर रह जायेगा। इस मूल्य पर भी समस्त बाजार-पूर्ति बिक जायेगी। अब यदि माँग और नीचे गिरे, तो मूल्य भी और नीचे गिरेगा। किन्तु जैसा कि चित्र से
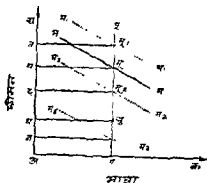
चित्र—निरुत्पादनीय एवं नाशवान वस्तुओं का बाजार-मूल्य

प्रगट है, एक सुरक्षित या निम्नतम मूल्य (Reserve or minimum price) होता है, जिससे कम पर उत्पादक या विक्रेता अपनी वस्तु को बेचने से मना कर देंगे। यह मूल्य चित्र में मु प (या ध अ) द्वारा सूचित किया गया है [यहाँ कल्पना कर ली गई है कि सभी विक्रेताओं के लिए एक ही सुरक्षित मूल्य है जबकि व्यवहार में अलग-अलग सुरक्षित मूल्य होते हैं।] जब माँग घटते हुए $म_3$ $म_3$ रह जाती है, तो मूल्य न अ के बराबर होता है जोकि सुरक्षित मूल्य ध अ से कम है। अतः इस पर विक्रेता अपनी वस्तु को नहीं बेचेंगे। यही कारण है कि मु के नीचे पूर्ति रेखा पू मु प को टूटा हुआ दिखाया गया है, जिससे यह सूचित होता है कि सुरक्षित मूल्य से कम मूल्य पर वस्तु की बेची जाने वाली मात्रा 'शून्य' होगी। सुरक्षित मूल्य नकदी के लिए विक्रेताओं की आग्रहपूर्णता, मूल्यों के सम्बन्ध में भावी आशा, भविष्य की लागतों और वस्तुओं के टिकाऊपन पर निर्भर होता है।

(II) टिकाऊ वस्तुओं के बाजार-मूल्य का निर्धारण—

टिकाऊ वस्तुओं की पूर्ति को कुछ परिवर्तित किया जा सकता है, लेकिन ऐसा परिवर्तन विद्यमान स्टॉक तक ही सम्भव है। अतः इन वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण में भी माँग का ही प्रभाव मुख्य होता है। पूर्ति अथवा लागत का प्रभाव बहुत ही कम पड़ता है। यहाँ पर भी एक निम्नतम मूल्य होता है, जिससे कम पर विक्रेता वस्तु को नहीं बेचेंगे और एक अधिकतम मूल्य होता है, जिसके मिलने पर वे अपने समस्त स्टॉक को बेच देंगे। अतः निम्नतम और अधिकतम मूल्यों के बीच पूर्ति रेखा बायें से दायें ऊपर की ओर चढ़ती हुई होगी और अधिकतम मूल्य के ऊपर एक खड़ी रेखा हो जायगी, क्योंकि पूर्ति को विद्यमान स्टॉक की अपेक्षा अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता है चाहे मूल्य कितना भी ऊँचा हो जाय।
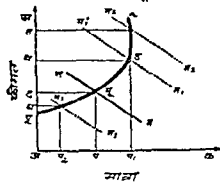
निम्न चित्र में पूर्ति की विभिन्न अवस्थाओं को पू उ पू द्वारा दिखाया गया है। माँग-रेखा म म इसे मू बिन्दु पर काटती है। अतः साम्य कीमत मू प (या द अ) के बराबर है, जिस पर विक्रेता कुल पूर्ति अ प₁ में से बाजार में अ प मात्रा को ही बेचेंगे और प प₁ को स्टॉक में रखे रहेंगे। यदि माँग बढ़कर म₁ म₁ हो जाय, तो मूल्य उ प₁ (या प अ) के बराबर होगा तथा इस पर पूरा स्टॉक अ प₁ बिक जायेगा। यदि माँग म₂ म₂ हो जाय, तो मूल्य बढ़कर त अ के बराबर हो जायेगा, किन्तु बेची जाने वाली मात्रा अ प₁ ही रहेगी, क्योंकि अति-अल्पकाल में अधिक वृद्धि सम्भव नहीं है। यदि माँग घटकर म₃ म₃ रह जाय, तो मूल्य प अ के बराबर होगा और इस पर पूरा स्टॉक नहीं बेचा जायेगा। केवल अ प₂ मात्रा ही बेची जायेगी। प₂ प₁ मात्रा को स्टॉक में रोक लिया जायेगा। यदि कीमत पू अ या इससे नीचे गिर जाय, तो विक्रेता कोई बिक्री नहीं करेंगे, अतः पू अ सुरक्षित या निम्नतम मूल्य है।

चित्र—टिकाऊ या शीघ्र नाश न होने वाली वस्तुओं का बाजार-मूल्य

स्वाभाविक या सामान्य मूल्य
(Natural or Normal Price)

सामान्य मूल्य दीर्घकालीन मूल्य होता है[1]—

अल्पकाल में तो पूर्ति की मात्रा को घटाना या बढ़ाना सम्भव नहीं होता, परन्तु दीर्घकाल में उत्पत्ति का प्रत्येक साधन अ-परिमाणिक होता है और साधनों के उपयोग बदले जा सकते हैं, जिसके फलस्वरूप माँग बढ़ने की दशा में वस्तु की पूर्ति भी बढ़ा दी जाती है और उत्पत्ति के अधिक साधन उस वस्तु के उत्पादन में लगा दिये जाते हैं। दीर्घकाल में माँग और पूर्ति के बीच पूर्ण समायोजन हो जाता है और पूर्ति भी माँग के घटने-बढ़ने के अनुसार घट-बढ़ जाती है। इस प्रकार, दीर्घकाल में साम्य बदल जाता है, परन्तु जो नया साम्य स्थापित होता है वह भी स्थायी होता है, अस्थायी नहीं। दीर्घकाल में जो मूल्य प्रचलित होता है उसे दीर्घकालीन मूल्य, दीर्घकालीन सामान्य मूल्य या केवल सामान्य मूल्य कहते हैं। [स्मरण रहे कि अल्पकाल में प्रचलित मूल्य को अल्पकालीन अथवा अल्पकालीन सामान्य मूल्य कहते हैं।]

स्मरण रहे कि दीर्घकालीन मूल्य काल्पनिक और अमूर्त होता है अर्थात् यह वास्तव में किसी विशेष समय पर प्रचलित नहीं होता या प्राप्त नहीं किया जा सकता। दीर्घकाल कल के सदृश्य कभी नहीं आता है, अर्थात् प्रावैगिक समाज में विघ्नकारक घटक स्थायी मूल्य समायोजन में लगातार बाधा डालते रहते हैं, जिस कारण सामान्य मूल्य कभी विद्यमान नहीं होने पाता है। जब तक इतना समय मिल पाये कि दीर्घकालीन साम्य (और इस तरह दीर्घकालीन मूल्य) स्थापित हो सके, उससे पहले ही प्रायः आधारभूत दशाओं में कुछ परिवर्तन हो जायेगा और

---

1 "Normal or natural value of a commodity is that which economic forces would tend to bring about in the long run. It is the average value which economic forces would bring about if the general conditions of life were stationary for a run of time long enough to enable them all to work out their full effects."—Marshall.

पहला सम्भावित सामान्य मूल्य एक गतिशील लक्ष्य (Moving target) है जिसकी ओर बाजार मूल्य निरन्तर जाने की प्रवृत्ति रखता है, किन्तु यथार्थ मे कभी पहुँचने नही पाता है ।

दीर्घकालीन मूल्य का निर्धारण—

बाजार-मूल्य के सम्बन्ध मे हमने देखा था कि अकस्मात् दूध की माँग बढ़ जाने पर पूर्ति मे कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ था । किन्तु, यह बढ़ी हुई माँग लम्बे काल तक चलती रहे (जैसे—मान लीजिये उस नगर मे बाहर से आकर बहुत से लोग बस जाते हैं या किसी स्वास्थ्य आन्दोलन के फलस्वरूप लोग अधिक दूध पीने लगते हैं), तो ऐसी दशा मे निश्चय ही कुछ समय बाद दूध की पूर्ति भी माँग के अनुसार ही बढ जायगी । लोग अधिक तथा अच्छे पशु पालने लगेंगे अथवा आस-पास के गाँव से अधिक दूध माँगने लगेंगे । दूध के नये-नये व्यवसायी उत्पन्न हो जायेंगे और दूध की पूर्ति इतनी बढ जायगी कि बढी हुई माँग से उसका पूर्ण समायोजन हो जाय । इस प्रकार, माँग और पूर्ति मे एक नया स्थायी साम्य स्थापित हो जायगा, जिसमें माँग और पूर्ति दोनों की मात्रायें पहले से अधिक होंगी । ठीक इसी प्रकार, यदि कुछ कारणों से दूध की माँग स्थायी रूप से कम हो जाती है, तो दूध की पूर्ति की मात्रा मे भी कमी हो जायगी । दूध के व्यवसायी तथा दूध देने वाले पशुओं की संख्या मे कमी हो जायगी और पूर्ति की मात्रा घट कर घटी हुई माँग के बराबर हो जायगी । इस प्रकार, फिर माँग और पूर्ति का नया स्थायी साम्य स्थापित हो जायगा । इससे सिद्ध होता है कि सामान्य मूल्य के परिवर्तनों पर माँग और पूर्ति दोनों का समान प्रभाव पड़ता है और मूल्य भी अधिक स्थायी होते है । इसमें परिवर्तन शीघ्रतापूर्वक तथा तेजी के साथ नहीं होते हैं, वरन् धीरे-धीरे ही होते हैं ।

साथ के चित्र मे दीर्घकालीन माँग-रेखा म म और अल्पकालीन पूर्ति-रेखा पू पू एक दूसरे को मू बिन्दु पर काटती हैं । अत. दीर्घकालीन साम्य मूल्य या सामान्य मूल्य मू प के बराबर है तथा माँग व पूर्ति की साम्य-मात्रायें (दोनों) अ प के बराबर हैं । चूँकि मू बिन्दु माँग-रेखा म म पर है, इसलिए मू प सीमान्त उपयोगिता को सूचित करता है । इसी प्रकार, सीमान्त लागत भी मू प के द्वारा सूचित होती है, क्योंकि मू बिन्दु पूर्ति रेखा पू पू पर भी है । इस प्रकार, सामान्य मूल्य सीमान्त लागत और सामान्य उपयोगिता की समता के द्वारा निर्धारित होता है, अर्थात् मूल्य=सीमान्त लागत=(MC)=सीमान्त उपयोगिता (MU) ।
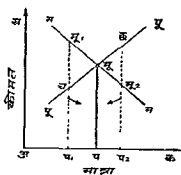
चित्र—दीर्घकालीन या सामान्य मूल्य का निर्धारण

पूर्ण प्रतियोगिता के अधीन दीर्घकाल मे मूल्य की प्रवृत्ति सामान्य मूल्य तक पहुँचने और वहाँ पर स्थिर रहने की होती है । जैसे—यदि मूल्य $मू_1$ $प_1$ है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि मूल्य वस्तु की सीमान्त लागत मू प से अधिक है । ऐसी दशा मे विक्रेता वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन करके अपने लाभ को बढा सकेंगे । जब उत्पादन (अर्थात् पूर्ति) को अ $प_1$ से अधिक बढ़ाया जायेगा, तो मूल्य गिरने लगेगा और अन्ततः मू प के बराबर हो जायेगा । इसके विपरीत, जब मूल्य $मू_1$ $प_1$ है, तो यह सीमान्त लागत छ $प_2$ से कम है, जिस कारण विक्रेताओं को हानि होगी और वे पूर्ति को घटायेंगे, ताकि उनकी हानि कम हो जाय । जैसे-जैसे पूर्ति को घटाया जायेगा, मूल्य बढ़ेगा और अन्ततः वह म प के बराबर हो जायेगा । इस प्रकार, सामान्य

मूल्य की दशा यह है कि एक ओर तो वह सीमान्त उपयोगिता के और दूसरी ओर सीमान्त लागत के बराबर होता है।

सामान्य मूल्य की दूसरी दशा यह है कि इसमे औसत लागत के बराबर रहने की भी प्रवृत्ति होती है। यदि वह औसत लागत से अधिक है, तो उत्पादकों को असाधारण लाभ होगा, जिससे प्रेरित होकर नई फर्में उद्योग में प्रवेश करेंगी और इस तरह उत्पादन बढने से मूल्य घट कर औसत लागत के बराबर हो जायेगा। इसके विपरीत, यदि सामान्य मूल्य औसत लागत से कम है तो उत्पादकों को हानि होगी, जिस कारण कुछ उत्पादक उद्योग से निकल जायेंगे और इस प्रकार उत्पादन अथवा पूर्ति के कम होने पर मूल्य बढ़ कर औसत लागत के बराबर हो जायेगा (स्मरण रहे कि औसत लागत में सामान्य लाभ सम्मिलित होता है)। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता मे दीर्घकालीन मूल्य की दो दशायें निम्न प्रकार हैं :—(अ) **Price=MC=MU** एवं (ब) **Price=AC**।

दीर्घकालीन मूल्य और उत्पत्ति नियम—

सामान्य मूल्य लागत से प्रभावित होता है (अर्थात् लागत के बराबर होता है) और लागत पर उत्पत्ति-नियमों का प्रभाव पडता है। नीचे विभिन्न उत्पत्ति के नियमो की दशा मे सामान्य मूल्य का निर्धारण दिखाया गया है :—
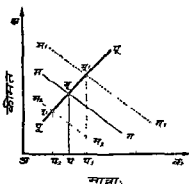
चित्र—सामान्य मूल्य
(लागत वृद्धि नियम)

(अ) उत्पत्ति ह्रास नियम (या लागत वृद्धि नियम)—साथ के चित्र मे पूर्ति रेखा पू पू बायें से दायें को ऊपर की ओर बढ़ रही है, जिससे उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता सूचित होती है। माँग-रेखा म म पूर्ति-रेखा को मू बिन्दु पर काटती है। अतः मू प मूल्य निर्धारित होगा। यदि माँग बढ़ कर $म_1$ $म_1$ हो जाय तो मूल्य बढ कर $मू_1$ $प_1$ हो जायेगा और यदि माँग घट कर $म_2$ $म_2$ रह जाय, तो मूल्य भी घट कर $म_2$ $प_2$ रह जायेगा।

(ब) उत्पत्ति वृद्धि नियम (या लागत ह्रास नियम)—इस दशा मे पूर्ति-रेखा पू पू बाये से दाये को नीचे गिरती हुई रेखा होती है। जैसा कि साथ के चित्र मे दिखाया गया है, माँग-रेखा म म इसे मू बिन्दु पर काटती है, जिससे मू प मूल्य निर्धारित होगा। यदि माँग बढ़कर $म_1$ $म_1$ हो जाय, तो मूल्य बढ़ने के बजाय घटता है और $मू_1$ $प_1$ के बराबर निर्धारित होता है। यदि माँग घटकर $म_2$ $म_2$ रह जाय, तो मूल्य घटेगा नही वरन् बढ़ेगा और $मू_2$ $प_2$ निर्धारित होगा।
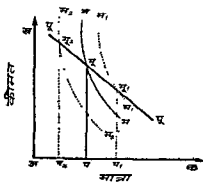
चित्र—सामान्य मूल्य (लागत ह्रास नियम)

चित्र—सामान्य मूल्य
(लागत स्थिरता नियम)

(स) उत्पत्ति स्थिरता नियम (या लागत स्थिरता नियम)—इस दशा मे पूर्ति-रेखा पू पू अ क अक्ष के समानान्तर चलती है, जिसका आशय है कि अतिरिक्त उत्पादन स्थिर लागतों पर किया जा रहा है। जैसा कि साथ के चित्र मे दिखाया गया है, मांग-रेखा म म पूर्ति-रेखा पू पू को मू बिन्दु पर काटती है। अतः मू प मूल्य निर्धारित होगा। अब यदि मांग बढ़ कर $म_1$ $म_1$ हो जाय, तो मूल्य बढ़ता नही वरन् स्थिर (अर्थात् $मू_1$ $प_1$ *या मू प के बराबर*) रहता है। इसके विपरीत, यदि मांग घट कर $म_2$ $म_2$ रह जाय, तब मूल्य घटता नही वरन् मू प के ही बराबर (अर्थात् स्थिर) रहता है।
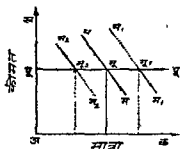
बाजार मूल्य के लक्षण

ऊपर की गई विवेचना से बाजार मूल्य के निम्न लक्षण स्पष्ट होते है :—(१) यह केवल अल्पकालीन मूल्य होता है। (२) यह मूल्य अस्थायी साम्य के फलस्वरूप निश्चित होता है और, चूंकि यह साम्य बड़ी शीघ्रतापूर्वक बदलता रहता है, इसलिये मूल्य कभी स्थिर नहीं रह पाता वरन् घटता-बढ़ता रहता है और इसमे परिवर्तन तीव्रता से होते हैं। (३) इस मूल्य के निश्चित करने मे मांग का कार्य प्रधान होता है। मूल्य के परिवर्तनो पर मांग का ही आधिपत्य होता है और इन परिवर्तनो की दिशा भी मांग के परिवर्तनो के अनुसार होती है। पूर्ति का कार्य *अस्थायी साम्य* को स्थापित करने मे केवल निष्क्रिय (Passive) ही होता है। (४) यद्यपि इस मूल्य मे शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन होते रहते हैं, फिर भी इन परिवर्तनो का क्रम निश्चित होता है। मूल्य कभी बढ़ता है और कभी घटता है, परन्तु बाजार-मूल्य की यह प्रवृत्ति विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है कि यह मूल्य बार-बार लौट कर सामान्य मूल्य के बराबर हो जाता है। यदि कुछ समय के लिये बाजार-मूल्य सामान्य मूल्य से अधिक हो जाता है, तो कुछ देर के बाद यह फिर सामान्य मूल्य के बराबर हो जाता है। इसी प्रकार, नीचे गिर कर भी वह मूल्य फिर ऊपर चढ जाता है और सामान्य मूल्य के बराबर हो जाता है।

निम्न चित्र मे बाजार मूल्य और *सामान्य मूल्य* के इस *पारस्परिक सम्बन्ध* को दिखाया गया है :—

इस चित्र में टेढ़ी-मेढ़ी रेखा बाजार-मूल्य की प्रवृत्ति को दिखाती है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, यह रेखा अनेक रूप बदल कर भी सामान्य मूल्य की रेखा से बार-बार आकर मिलती है।

चित्र—बाजार मूल्य और वास्तविक मूल्य का सम्बन्ध

अब प्रश्न यह उठता है कि *बाजार-मूल्य मे इस प्रकार की* प्रवृत्ति क्यो होती है ? इस प्रश्न का उत्तर समझने के लिए अल्प तथा दीर्घकाल के आपसी सम्बन्ध को समझ लेना आवश्यक है। स्मरण रहे कि दीर्घकाल यथार्थ मे बहुत से अल्पकालो का ही समूह

होता है। जिस प्रकार मिनट-मिनट जोड़ कर घण्टा बन जाता है अथवा दिन-दिन जोड कर महीना हो जाता है, ठीक उसी प्रकार कई अल्पकाल मिलकर एक दीर्घकाल बनाते हैं। दूसरी बात यह है कि समय की जो इकाई एक दृष्टिकोण से अल्पकाल को सूचित करती है, दूसरे दृष्टिकोण से दीर्घकाल को भी सूचित करती है। उदाहरण के लिए, यदि अल्पकाल की अवधि एक घण्टा है और दीर्घकाल की ४ घण्टे तो ६ बजे का समय ५ बजे के सम्बन्ध मे अल्पकाल होगा, किन्तु २ बजे के सम्बन्ध मे यही दीर्घकाल हो जायगा। निश्चय ही ५ बजे से सम्बन्धित अल्पकालीन मूल्य २ बजे से सम्बन्धित दीर्घकालीन अथवा सामान्य मूल्य के बराबर होगा। इस प्रकार बाजार-मूल्य बारम्बार सामान्य मूल्य के बराबर होता रहता है।

सामान्य मूल्य के लक्षण

ये निम्न प्रकार हैं :—(१) यह **दीर्घकालीन मूल्य** होता है। (२) **यह मूल्य स्थायी या साम्य के फलस्वरूप निश्चित** होता है। चूँकि इस साम्य मे शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन नही होते, इसलिए सामान्य मूल्य मे स्थिरता रहती है। यह मूल्य कम या अधिक तो हो जाता है, परन्तु इसके परिवर्तनो की गति धीमी तथा अकर्कश होती है। इस मूल्य में अकस्माती झटके (Sudden jerks) या प्रबन्ध उच्चावचन (Violent Fluctuation) नही होते। (३) इस मूल्य के निश्चित करने में **माँग और पूर्ति दोनो ही समान रूप में महत्त्वपूर्ण होते हैं**। पूर्ति का कार्य उतना ही सक्रिय होता है, जितना कि माँग का। किसी एक को अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता। मूल्य में जो भी परिवर्तन होते हैं वे माँग और पूर्ति दोनों के परिवर्तनों के फलस्वरूप होते हैं। (४) इस मूल्य के **उत्पादन-व्यय (सीमान्त और औसत दोनो) के बराबर रहने की प्रवृत्ति होती है**। अधिक समय तक यह उत्पादन-व्यय से कम या अधिक नही रह सकता है। (५) सामान्य मूल्य की रेखा बाजार मूल्य की रेखा का बिन्दु पथ (Locus) होती है। अभिप्राय यह है कि **बाजार-मूल्य सामान्य मूल्य के ऊपर-नीचे घूमता** रहता है और बार-बार लौटकर इसके बराबर होता रहता है।

बाजार-मूल्य के निर्धारण में पूर्णतया माँग का ही हाथ नही होता

यह तो हम देख चुके हैं कि बाजार-मूल्य मे जो परिवर्तन होते हैं, वे केवल माँग के ही घटने-बढने से होते है। अल्पकाल मे पूर्ति तो यथास्थिर ही रहती है, परन्तु क्या इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि बाजार मूल्य के निर्धारण मे पूर्ति का कुछ भी हाथ नही होता? क्या यह मूल्य केवल माँग द्वारा ही निश्चित होता है?

इसमे तो कोई सन्देह नही है कि बाजार-मूल्य के निश्चित करने में माँग तो सक्रिय होती है, परन्तु पूर्ति लगभग पूर्णतया निष्क्रिय रहती है। इसी सत्य को लेकर कुछ विद्वानो का विचार है कि यह मूल्य केवल माँग द्वारा ही निर्धारित होता है, किन्तु ऐसा कहना केवल एक भूल ही है। निष्क्रिय होते हुए भी पूर्ति के महत्त्व को नही भुलाया जा सकता। भूमि उत्पत्ति का एक निष्क्रिय साधन ही है, परन्तु साथ ही साथ यह उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण ही नही, वरन् मौलिक साधन है। ठीक इसी प्रकार, यद्यपि अल्पकाल मे पूर्ति निष्क्रिय होती है, परन्तु उसके बिना मूल्य का निर्धारण नही हो सकता।

मार्शल ने एक बडे सुन्दर उदाहरण के द्वारा पूर्ति के महत्त्व को समझाया है। उन्होने कहा है कि माँग और पूर्ति की तुलना कैंची के दोनों फलो से की जा सकती है। कैंची के एक फल को यदि हम इस प्रकार पकड लें कि वह हिल न सके और दूसरे फल को चलाते रहे, तो इस दशा मे जो कपडा कटेगा, उसके विषय मे यह कहना भूल होगी कि वह केवल एक ही फल के द्वारा कटा है। निश्चय है कि कपडा दोनों फलों की सामूहिक क्रिया से कटा है, यद्यपि इनमे से

एक फल सक्रिय था और दूसरा निष्क्रिय। ठीक इसी प्रकार, मूल्य मांग और पूर्ति दोनो ही के द्वारा निश्चित होता है, यद्यपि दोनो की क्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है।[1]

बाजार-मूल्य तथा सामान्य मूल्य का सम्बन्ध

बाजार-मूल्य पर अस्थायी तथा असाधारण कारणों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। वह अस्थायी साम्य द्वारा निश्चित होता है। परन्तु, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, **बाजार कीमत सामान्यतः स्वाभाविक या सामान्य कीमत के आस-पास ही रहती है,** आकस्मिक और अस्थाई कारको का प्रभाव धीरे-धीरे लोप हो जाता है और अन्त में केवल स्थाई कारणो का प्रभाव ही शेष रहता है। जिस प्रकार घड़ी का पेण्डुलम घूमता रहता है, किन्तु उसके ठहरने का एक केन्द्रीय स्थान होता है, उसी प्रकार बाजार मूल्य का केन्द्र स्वाभाविक मूल्य ही होता है। आकस्मिक कारण इसे इसके पथ से विचलित अवश्य कर देते हैं, परन्तु इसकी प्रवृत्ति सदा स्वाभाविक मूल्य पर लौट आने की ओर ही होती है।

परन्तु **इसका यह अभिप्राय नहीं हो जाता कि स्वाभाविक मूल्य बाजार मूल्य का औसत (Average) है।** जैसा कि पहले बताया जा चुका है, स्वाभाविक मूल्य कुछ दीर्घकालीन निश्चित कारणो द्वारा, स्थिर साम्य की दशा मे, निश्चित होता है। इसके विपरीत बाजार मूल्य पूर्णतया आकस्मिक तथा अस्थायी कारणों द्वारा निश्चित होता है और चूंकि इस प्रकार के कारण बहुत लम्बे समय तक कार्यशील नही रह सकते एव साधारण तथा असाधारण परिस्थितियो का अन्तर केवल समय से ही सम्बन्धित होता है (जिससे आज की असाधारण परिस्थिति कल साधारण बन सकती है), इसलिए अस्थायी तथा स्थायी साम्य के मूल्य मे समानता आ सकती है।

मूल्य के सिद्धान्त में समय का महत्त्व
(Importance of Time Element in Theory of Value)

मूल्य-निर्धारण उत्पादन-व्यय द्वारा या उपयोगिता द्वारा—

मूल्य-निर्धारण के विषय मे अनेक मत हैं[2] :—

(१) एडम स्मिथ और रिकार्डो (Ricardo) जैसे विद्वानों का मत है कि मूल्य उत्पादन-व्यय के द्वारा निश्चित होता है। इसका अर्थ यह नही होता कि वे मूल्य के निर्धारण मे मांग का कुछ भी महत्त्व नही समझते। उनका विचार है कि उपयोगिता ही मूल्य को जन्म देती है। यदि किसी वस्तु में मनुष्य की आवश्यकता पूरी करने का गुण नही है, तो उसका मूल्य भी नही होगा; परन्तु उनका विचार था कि उपयोगिता मूल्य का कारण तो होती है किन्तु उसकी माप नही होती है।

(२) इसके विपरीत, **जेवन्स (Jevons) तथा आस्ट्रियन मत पक्ष** (Austrian School of Thought) के अर्थशास्त्रियों का कहना है कि **उपयोगिता मूल्य का कारण तथा उसकी माप दोनों ही है।**

समय के सन्दर्भ में दोनों हो मत ठीक —

इन दोनो विचारधाराओ मे परस्पर इतना अन्तर है कि दोनों एक दूसरी की विरोधी प्रतीत होती हैं, परन्तु वास्तव मे ऐसी बात नही है। **यदि हम मूल्य के सिद्धान्त में समय के महत्त्व**

---

[1] "We might as reasonably dispute whether it is the upper or the under blade of a pair of scissors that cuts a piece of paper as whether value is determined by utility or cost of production."—**Marshall.**

[2] इन मतो के विस्तृत अध्ययन के लिए कृपया अध्याय ४ पढ़िये।

को समझ लें, तो हमे यह जान लेने में कठिनाई न होगी कि ये दोनों विचार सही हैं, यद्यपि दोनों पूर्ण सत्य को नहीं बताते हैं। बात केवल इतनी ही है कि एडम स्मिथ और रिकार्डो दीर्घकालीन दृष्टि से मूल्य-निर्धारण का अध्ययन करते हैं, जबकि जेवन्स तथा उनके अनुयायी अल्पकालीन मूल्य का विवेचन करते हैं। जैसा कि पहले हम बता चुके हैं, दीर्घकाल में उत्पादन-व्यय का अधिक महत्त्व होता है, जबकि अल्पकाल मे माँग अथवा उपयोगिता का, *यद्यपि मूल्य माँग और* पूर्ति दोनो ही के द्वारा निश्चित होता है, किसी एक के द्वारा नहीं।

मार्शल का समय-विश्लेषण—

मूल्य माँग और पूर्ति मे साम्य या सन्तुलन स्थापित हो जाने पर निश्चित होता है, परन्तु यह साम्य तुरन्त ही स्थापित नही हो जाता, वरन् इसमे समय लगता है। आरम्भ मे केवल अस्थाई अथवा अपूर्ण साम्य ही स्थापित होता है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, साम्य धीरे-धीरे स्थायी या पूर्ण होता जाता है। जिससे सिद्ध होता है कि साम्य का रूप तथा उसकी दशा समय पर निर्भर हैं। इसी कारण मार्शल ने मूल्य के सिद्धान्त में समय के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया है। **उनका कथन है कि मूल्य पर माँग और पूर्ति की शक्तियों का जो प्रभाव पड़ता है, उसमें समय के अनुसार अन्तर होता है। साधारणतया समय जितना ही कम होता है, उतना ही हमें मूल्य निर्धारण में माँग के प्रभाव पर अधिक ध्यान देना होता है और जितना ही समय अधिक होता जाता है, उतना ही उत्पादन-व्यय का महत्त्व बढ़ता जाता है।**[1] किसी समय विशेष का मूल्य, जिसे हम बाजार-मूल्य का नाम देते है (अर्थात् बहुत ही छोटे अल्पकाल का मूल्य), ऐसे कारणों से प्रभावित होता है जो आकस्मिक, अस्थाई तथा अल्पकालीन होते हैं और जो दृढ़तापूर्वक नही चलते रहते। परन्तु जैसे-जैसे अधिक समय बीतता जाता है, इन कारणों मे निश्चितता आती जाती है, इनका अस्थायीपन दूर हो जाता है और एक कारण दूसरे की परिवर्तनशीलता को धीरे-धीरे कम करता जाता है, जिसके फलस्वरूप लम्बे काल मे पूर्ति दृढ़ तथा स्थायी कारणो से ही प्रभावित होती है।

परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि दृढ और स्थाई कारण कभी बदलते ही न हो। बहुत लम्बे समय मे उत्पादन विधि, उत्पत्ति के पैमाने तथा उत्पादन व्यय मे भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं; जिससे स्थायी कारण भी बदल जाते है। बहुत लम्बे काल मे माँग मे भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो सकते हैं। माँग-आदतों, रीति-रिवाजो आर्थिक परिस्थितियो तथा फैशन पर निर्भर होती हैं, जो बहुत लम्बे काल मे स्वय ही बदल जाते हैं। इस प्रकार बहुत लम्बे दीर्घकाल मे माँग और पूर्ति दोनो ही बडे अश तक बदल जाते है, जिससे स्थाई साम्य भी बदल जाता है।

मूल्य के सिद्धान्त मे समय के अध्ययन का एक और भी महत्त्व है। एक उत्पादक के कुल व्यय को हम दो भागो मे बाँट सकते है :—प्रधान व्यय तथा अनुपूरक व्यय। इन दोनों के विषय में पहले ही विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। अल्पकाल में एक उत्पादक के लिए यह बहुधा सम्भव नही होता कि वह कुल उत्पादन व्यय को वसूल कर सके। ऐसी दशा मे वह केवल प्रधान व्यय तथा अनुपूरक व्यय के अश को पा लेने पर ही सन्तोष कर लेता है। परन्तु दीर्घकाल

---

1 "As a general rule, the shorter the period which we are considering, the greater must be the share of our attention which is given to the influence of demand on value; and the longer the period, the more important will be the influence of cost of production on value."—**Marshall** : *Principles of Economics*, pp. 349-50.

में उत्पत्ति के कुल व्यय का वसूल हो जाना आवश्यक होता है, अन्यथा उत्पादन में घाटा होता है और लम्बे समय तक हानि होने में व्यवसाय को बन्द कर देना ही अधिक उचित होता है। दीर्घकाल मे प्रधान तथा अनुपूरक व्यय के वर्गीकरण में भी अन्तर हो सकता है। अल्पकालीन अनुपूरक व्यय दीर्घकाल मे प्रधान व्यय बन सकता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. "साधारणत: विचाराधीन काल जितना ही छोटा होगा, मूल्य पर पड़ने वाले माँग के प्रभाव पर हमे उतना ही अधिक ध्यान देना पडेगा, और यह काल जितना ही लम्बा होगा, मूल्य पर उतना ही अधिक प्रभाव उत्पादन लागत का होगा"—मार्शल कीमत निर्धारण मे समय तत्त्व का महत्त्व दिखलाते हुये उपर्युक्त कथन की विवेचना कीजिए।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम मार्शल के समय-विभाजन को बताइये, जो घडी के समय पर नही वरन् क्रियात्मक समय पर आधारित है। तत्पश्चात् अति-अल्पकाल, अल्पकाल और दीर्घकाल मे मूल्य निर्धारण पर समय के प्रभाव की रेखा-चित्रो की सहायता से व्याख्या कीजिए। अन्त मे मार्शल के कथन से सहमति दिखलाइये।]

२. मूल्य-निर्धारण मे समय के महत्त्व की विवेचना करिये। क्या दीर्घकाल और अल्पकाल के मध्य कोई सुनिश्चित विभाजन-रेखा खीची जा सकती है ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम अति-अल्पकाल, अल्पकाल और दीर्घकाल मे मूल्य निर्धारण पर समय के प्रभाव की रेखा-चित्रो की सहायता से विवेचना कीजिए। तत्पश्चात् यह बताइये कि मार्शल का यह कहना ठीक ही है कि समय जितना लम्बा होगा मूल्य पर पूर्ति का प्रभाव उतना अधिक होगा। अन्त मे यह बताइये कि अति-अल्पकाल, अल्पकाल और दीर्घकाल के मध्य कोई सुनिश्चित विभाजन-रेखा खीचना सम्भव नही है, क्योकि यह विभाजन क्रियात्मक समय पर आधारित है, घड़ी के समय पर नही, जिससे एक स्थिति मे अल्पकाल दूसरी स्थिति के दीर्घकाल से अधिक लम्बा हो सकता है।]

३. निम्न की समीक्षा कीजिये —(अ) मूल्य के निर्धारण मे समय तत्त्व एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रखता है। (ब) सीमान्त वह बिन्दु है जिस पर न कि जिसके द्वारा मूल्य निर्धारित होता है।

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम मूल्य-निर्धारण पर समय-तत्त्व के प्रभाव को रेखा-चित्रो की सहायता से सक्षेप मे स्पष्ट कीजिए। तत्पश्चात् मूल्य-निर्धारण मे सीमा के महत्त्व की व्याख्या कीजिये।]

४. यदि किसी वस्तु के लिए माँग मे स्थायी रूप से वृद्धि हो जाती है, तो उसके मूल्य पर अति-अल्पकाल, अल्पकाल और दीर्घकाल मे क्या प्रभाव पडेगा ?

[सहायक संकेत :—माँग की वृद्धि के फलस्वरूप मूल्य मे वृद्धि दीर्घकाल की अपेक्षा अति-अल्पकाल और अल्पकाल मे अधिक होगी, क्योकि दीर्घकाल मे पूर्ति को माँग के अनुरूप समायोजित होनेके लिए पूर्ण अवसर मिल जाता है। मूल्य पर माँग की स्थायी वृद्धि के प्रभाव को रेखाचित्र देकर स्पष्ट कीजिये। दीर्घकाल के मूल्य पर माँग की वृद्धि के प्रभाव का विवेचन उत्पत्ति नियमो के सन्दर्भ मे करना चाहिए।]

५. पूर्ण प्रतिस्पर्धा में मूल्य का निर्धारण किस प्रकार होता है ? इसमें समय का महत्त्व बताइये।
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम रेखा-चित्र और उदाहरण द्वारा पूर्ण प्रतियोगिता के अधीन मूल्य-निर्धारण को बताइये अर्थात् यह बताइये कि मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होगा जहाँ कि माँग और पूर्ति-रेखायें एक दूसरे को काटती है। तत्पश्चात् मूल्य निर्धारण मे समय तत्व के प्रभाव को संक्षेप में किन्तु उपयुक्त रेखाचित्रो की सहायता से समझाइये।]

६. बाजार-मूल्य और सामान्य मूल्य की परिभाषा कीजिये। इनके भेद को बताइये और यह दिखाइये कि प्रत्येक कैसे निर्धारित होता है ?

अथवा

बाजार-मूल्य और सामान्य मूल्य के अन्तर को बताइये। इनको निर्धारित करने वाले प्रमुख प्रभावों को इंगित कीजिए।
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम बाजार-मूल्य और सामान्य मूल्य के अर्थों को बताइये और संक्षेप मे इनकी तुलना कीजिये। तत्पश्चात् रेखा-चित्रो की सहायता से बाजार मूल्य के निर्धारण को और अन्त में सामान्य मूल्य के निर्धारण को अति संक्षेप में समझाइये।].

७. सामान्य और बाजार-मूल्य के अन्तर को स्पष्ट कीजिये। क्या यह कथन सत्य है कि *सामान्य मूल्य वह मूल्य है जिसके इर्द-गिर्द बाजार-मूल्य चक्कर लगाता है ?*

अथवा

"बाजार-मूल्य समुद्र के उस सतह की भाँति है जो हवाओ और झोको के कारण स्थिर नही रहने पाता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम बाजार-मूल्य और सामान्य मूल्य के अर्थों को बताइये। तत्पश्चात् दोनो के अन्तरो को इंगित करते हुए तुलना कीजिये। अन्त मे चित्र की सहायता से यह स्पष्ट कीजिये कि बाजार-मूल्य सामान्य मूल्य मे चारों ओर चक्कर लगाता है अथवा बाजार मूल्य की प्रवृत्ति सदा सामान्य मूल्य की ओर लौटने की होती है।]

७

प्रतिनिधि फर्म
(Representative Firm)

प्रारम्भिक—प्रतिनिधि फर्म की पृष्ठ-भूमि

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे अनेक उत्पादक अथवा विक्रेता होते हैं और साथ ही साथ इन सबका उत्पादन-व्यय भी समान नही होता। अब, जब हम यह कहते हैं कि मूल्य का निर्धारण औसत और सीमान्त आगम और व्यय के समानता बिन्दु पर होता है, तो प्रश्न यह उठता है कि हम किस फर्म के उत्पादन व्यय तथा आगम की ओर सकेत कर रहे हैं, क्योंकि अनेक फर्में हैं। स्थैतिक साम्य की दशा मे आशय सीमान्त फर्म से होगा किन्तु प्रवैगिक दशा (Dynamic State) मे उत्तर देना कठिन है। प्रवैगिक दशा मे फर्में भिन्न-भिन्न पैमाने की होती हैं और नई तथा पुरानी सभी प्रकार की फर्म देखने मे आती हैं। अलग-अलग फर्म की आर्थिक विकास की स्थिति भी अलग-अलग होती है। कुछ फर्मों का विकास होता रहता है और कुछ का संकुचन। कुछ फर्म लाभ कमाती हैं और कुछ हानि उठाती हैं। ऐसी दशा मे तीन सम्भावनायें होती हैं: (i) कीमत या तो सीमान्त फर्म के उत्पादन व्यय के बराबर हो, (ii) या सबसे कुशल फर्म के, और (iii) या औसत फर्म के व्यय के, किन्तु इन तीनो में से कोई भी सम्भव नहीं हो सकता। कारण, यदि कीमत सीमान्त फर्म के उत्पादन व्यय के बराबर होगी, तो इसके स्पष्ट अर्थ यही होंगे कि अन्य प्रत्येक फर्म को लाभ होना होगा। इसी प्रकार, मूल्य सबसे कुशल फर्म के उत्पादन व्यय के बराबर भी नही हो सकता, क्योंकि ऐसी दशा मे अन्य सभी फर्मों को हानि होगी। साथ ही, चूंकि प्रवैगिक दशा मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए किसी औसत फर्म और उसके उत्पादन व्यय का पता नही लगाया जा सकता। तब फिर कौन-से फर्म के उत्पादन-व्यय द्वारा कीमत निर्धारित होती है?

मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार

मार्शल ने प्रश्न का उत्तर पूर्ण स्पष्टतापूर्वक दिया है। उनका कहना है कि **कीमत प्रतिनिधि फर्म (Representative Firm) के उत्पादन व्यय के बराबर होती है।**

प्रतिनिधि फर्म से आशय—

मार्शल के शब्दो मे, "प्रतिनिधि फर्म एक ऐसी फर्म होती है, जो पर्याप्त समय से उत्पादन कर रही है और जिसे यथेष्ठ सफलता मिल चुकी है, जिसका प्रबन्ध एक सामान्य योग्य व्यक्ति द्वारा किया जाता है और जिसे सामूहिक उत्पत्ति की आभ्यान्तरिक तथा बाह्य बचत सामान्य रूप से प्राप्त है। साथ ही उत्पादित वस्तुओं की किस्म, उनके बिक्री के लिए प्रस्तुत करने की दशा तथा आर्थिक वातावरण को भी ध्यान मे रखा जाता है।"[1] अन्य फर्मों का

---

[1] "....One which has had a fairly long life and fair success, which is managed by a person with fair ability, and which has normal access to the (Contd.)

विस्तार हो या सकुचन, प्रतिनिधि फर्म न तो अपनी उत्पत्ति बढ़ायेगी और न घटायेगी। इस प्रकार की फर्म का प्रबन्ध न तो बहुत ही योग्यता से होता है और न बहुत ही अयोग्यता से। यह न तो बहुत पुरानी होती है और न बिल्कुल नई। इसको बड़े पैमाने की उत्पत्ति की साधारण बचत प्राप्त होती है। यह उद्योग विशेष का प्रतिनिधित्व करती है और एक प्रकार से उद्योग विशेष की एक आदर्शभूत (Typical) फर्म होती है।

'प्रतिनिधि फर्म' के लक्षण—

इस सम्बन्ध में मार्शल ने जङ्गली वृक्षों के आधार पर अपने विचार की पुष्टि की है। किसी समय विशेष में जङ्गल मे सभी प्रकार के वृक्ष होते है—कुछ तो ऐसे होते हैं, जो अभी-अभी उग होते हैं, कुछ ऐसे होते है जो पुराने होकर सूखने लगते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें न तो हम बिल्कुल बच्चे ही कह सकते हैं और न पूर्णतया बूढ़े ही। ठीक इसी प्रकार, प्रत्येक उद्योग मे तीन प्रकार की फर्मे होती हैं :—(i) कुछ तो ऐसी होती हैं जो अभी शिशु अवस्था मे होती हैं और धीरे-धीरे बढ़ कर अधिक बचत प्राप्त करती रहती हैं। (ii) कुछ इतनी पुरानी होती हैं कि अपनी कार्यक्षमता को खो चुकी होती हैं और (iii) कुछ बीच की दशा मे होती है, जिन्हें सामान्य बचत तथा सामान्य कुशलता प्राप्त होती है। ऐसी फर्मों का अनुभव प्राप्त हो जाता है और वे अपनी ख्याति स्थापित कर लेती हैं। तीसरे वर्ग मे बहुत-सी फर्में हो सकती है, किन्तु वे सभी प्रतिनिधि फर्म नहीं होंगी। मार्शल के अनुसार, "प्रतिनिधि फर्म एक ऐसी फर्म है, **जो सभी दृष्टिकोणों से एक सामान्य या औसत फर्म होगी।" ऐसी फर्म के लक्षण निम्न प्रकार** होते हैं :—(१) यह एक ऐसी औसत फर्म होती है, जो इस बात को सूचित करती है कि उद्योग विशेष को बड़े पैमाने के उत्पादन की बचतें प्राप्त हैं। (२) इसका न विकास होता है और न सकुचन। (३) इसे न लाभ होता है और न हानि। (४) यह न बहुत नई होती है और न बहुत पुरानी। (५) ऐसी फर्म एक से अधिक हो सकती हैं।

प्रतिनिधि फर्म के विचार की आलोचना—

मार्शल की फर्म की अनेक आलोचनायें हुई हैं:—

(१) अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार एक कोरी कल्पना है। जिस प्रकार रिकार्डो और एडम स्मिथ का 'आर्थिक मनुष्य' (Economic Man) का विचार एक अमूर्त तथा कृत्रिम विचार था, उसी प्रकार प्रतिनिधि फर्म का भी व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी कोई फर्म सोची तो जा सकती है, परन्तु देखी नहीं जा सकती है।

(२) यह विचार केवल स्थिर दशा (Static State) से ही सम्बन्धित है, जबकि यथार्थ में संसार सदा प्रावैगिक दशा में ही रहता है, क्योंकि संसार मे प्रत्येक दिशा में परिवर्तन होते ही रहते है।

(३) वास्तविक जीवन मे प्रतिनिधि फर्म का किसी भी उद्योग मे पता लगाना असम्भव होता है।

(४) रोबिन्स के विचार मे प्रतिनिधि फर्म के विचार की आवश्यकता ही नहीं है।

---

economies external and internal, which belong to that aggregate volume of production, account being taken of the class of goods produced, the *conditions* of marketing them and the economic environments......."

—**Marshall**. *Principles of Economics*, p 311.

उनका कथन है, "हमारे लिए प्रतिनिधि फर्म या प्रतिनिधि उत्पादक की मान्यता की उतनी ही कम आवश्यकता है, जितनी किसी प्रतिनिधि भू-भाग, प्रतिनिधि मशीन अथवा प्रतिनिधि श्रमिक की।"[1]

(५) रोबिन्स का विचार है कि दीर्घकाल मे उत्पत्ति के सभी साधनो को सामान्य लाभ प्राप्त होना चाहिए अन्यथा साम्य मे स्थिरता नही आयेगी और इसलिए, दीर्घकाल मे प्रत्येक फर्म मार्शल की प्रतिनिधि फर्म ही होती है। जब दीर्घकाल मे सभी फर्में प्रतितिधि फर्म के समान होगी तब तक किसी एक फर्म को प्रतिनिधि का पद देने की आवश्यकता कहाँ ?

(६) कुछ आलोचको का यह भी विचार है कि दीर्घकाल मे प्रतियोगिता की दशा मे प्रत्येक फर्म को उद्योग विशेष मे बने रहने के लिए अपने जीवन के लिए सघर्ष करना पड़ता है, जिसके कारण उसे अपनी नीति तथा अपनी व्यवस्था का इस प्रकार सचालन करना पड़ता है कि उत्पादन व्यय कम से कम हो। स्पष्ट है कि ऐसी दशा मे कोई भी फर्म दूसरो का प्रतिनिधित्व नही कर सकती है।

(७) कुछ लेखको ने यह आलोचना भी की है कि मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार अपूर्ण तथा अस्पष्ट है। उदाहरणार्थ, रॉबर्टसन का विचार है कि मार्शल ने यह स्पष्ट नही किया है कि प्रतिनिधि फर्म उद्योग के विस्तार का प्रतिनिधित्व करती है या व्यय का। मार्शल की अपनी विवेचना मे कही तो विस्तार को अधिक महत्त्व दिया गया है और कही लागत को। परन्तु ध्यानपूर्वक देखने के पश्चात् रॉबर्टसन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मार्शल की प्रतिनिधि फर्म केवल उद्योग की सामान्य लागत का द्योतक है।[2] ठीक इसी प्रकार का विचार कालडोर (Kaldor) का भी है। उनका कहना है कि यह विचार हमे दीर्घकालीन पूर्ति की रेखा के वास्तविक रूप का ज्ञान दिलाता है और इस प्रकार यह विचार उत्पादन-व्यय से सम्बन्धित है।[3]

पीगू का साम्य फर्म

पीगू मार्शल के ही शिष्य हैं। उन्होने मार्शल के प्रतिनिधि फर्म की आलोचना की है। साधारणतया उनका विचार मार्शल से मिलता-जुलता है, परन्तु उन्होने मार्शल के विचार मे इस प्रकार का परिवर्तन करने का प्रयत्न किया है कि उसमे अधिक स्पष्टता आ जाय और इस प्रकार फर्म का पता भी लगाया जा सके। प्रतिनिधि फर्म के स्थान पर पीगू ने साम्य फर्म (Equilibrium Firm) का विचार रखा है।

साम्य फर्म से आशय—

पीगू का कथन है कि जब पूरा उद्योग साम्य की दशा मे है तब यह सम्भव है कि उसके अन्तर्गत सभी फर्में साम्य की दशा मे न हो, अर्थात् जबकि उद्योग विशेष मे न तो विस्तार ही होता है और न सकुचन ही, तब भी व्यक्तिगत रूप से कुछ फर्मों का विस्तार हो सकता है और कुछ का सकुचन। यह भी सम्भव है कि कोई खास फर्म साम्य की दशा मे हो, अर्थात् उसका

---

1 "There is no more need for us to assume a Representative Firm or a Representative Producer than there is for us to assume a representative piece of land, a representative machine or a representative worker" —**Lionel Robinson** : Article on '*Representative Firm*' in the Economic Journal, Sept. 1928, p. 393.

2 **Robertson** : Article on '*Increasing Returns and Representative Firm*', Economic Journal, March 1930, p 89

3 **Kaldor** : Article on '*The Equilibrium of the Firm*', Economic Journal, March 1934, p 73

न विस्तार होता हो और न सकुचन । ऐसी फर्म को साम्य फर्म कहते हैं । अन्य शब्दों में, "साम्य फर्म वह फर्म हो सकती है जो उस समय जबकि पूरा उद्योग साम्य की दशा में है (अर्थात् जबकि वह एक सामान्य कीमत ग के अन्तर्गत एक निश्चित पूर्ति की मात्रा क का उत्पादन करता है) व्यक्तिगत रूप से स्वयं भी साम्य में हो और एक निश्चित अ का उत्पादन करती हो ।"[1]

उदाहरण—पीगू का विचार है कि ऐसी फर्म सैद्धान्तिक भी हो सकती है और व्यावहारिक भी । साथ ही, ऐसी फर्म एक से अधिक भी हो सकती हैं । निम्न तालिका में ऐसी फर्म का उदाहरण दिया गया है :—

साम्य फर्म दिखाने वाली तालिका

फर्म का नाम	१९५३ में कुल उत्पत्ति	१९६४ में कुल उत्पत्ति
क	५०० इकाइयाँ	४०० इकाइयाँ
ख	५०० ,,	३०० ,,
ग	५० ,,	१५० ,,
घ	४०० ,,	४०० ,,
ङ	१५० ,,	१०० ,,
च	३०० ,,	५०० ,,
छ	२०० ,,	२५० ,,
कुल योग	२,१०० ,,	२,१०० ,,

इस तालिका को देखने से पता चलता है कि पूरा उद्योग साम्य की दशा में है, क्योंकि कुल उत्पत्ति यथास्थिर रहती है, किन्तु प्रत्येक फर्म साम्य की दशा में नहीं है, ख, ग तथा छ फर्मों का विकास हो रहा है, जबकि क, ङ तथा च का सकुचन, परन्तु घ फर्म इस दशा में भी साम्य की अवस्था में ही है । यही साम्य फर्म है ।

साम्य फर्म की आलोचना—

मार्शल और पीगू के विचारों की तुलना करने से पता चलता है कि दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । पीगू स्वयं भी इस बात को मानते हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि उनका उद्देश्य मार्शल के विचार का स्पष्टीकरण करना ही है । लगभग वही सब आलोचनायें, जो प्रतिनिधि फर्म के विषय में की जा सकती हैं; साम्य फर्म पर भी हो सकती हैं । साम्य फर्म का भी वास्तविक जीवन में उतना ही अस्तित्व है, जितना कि प्रतिनिधि फर्म का । पीगू स्वयं ही इस बात को मानते हैं, कि साम्य फर्म केवल कल्पित हो सकती है । यह आवश्यक नहीं है कि जब पूरा उद्योग साम्य की अवस्था में है, तो कोई विशेष फर्म भी इस अवस्था में हो ही । साथ ही, यह भी सम्भव है कि इस प्रकार की एक से अधिक फर्म हों ।[2] इस प्रकार साम्य फर्म का विचार प्रतिनिधि फर्म पर कोई विशेष सुधार नहीं है ।

---

[1] "It means that when there can be a firm which when the whole industry is in equilibrium, *i. e.* when at a general supply price *g* it produces a fixed quantity *k*, is itself in equilibrium producing *a* fixed quantity a "—**A. C Pigou** : *Economics of Welfare*, 4th edition, p 790.

[2] Thus, even when the conditions of demand are constant and output of an *industry as a whole is correspondingly constant*, the output of many

(Contd on next page)

अनुकूलतम फर्म अथवा आदर्श फर्म

अनुकूलतम् फर्म से आशय एवं इसकी विशेषतायें—

एक साहसी के दृष्टिकोण से अनुकूलतम् फर्म वह होती है, जिसका उत्पादन-व्यय लघुतम होता है। उत्पत्ति के नियमो के अध्याय मे हम यह देख चुके हैं कि जब उत्पत्ति के साधनो को आदर्श अनुपात मे उपयोग किया जाता है, तो उत्पादन व्यय न्यूनतम् होता है। इसमे अधिकाधिक कुशलता प्राप्त की जाती है और उत्पादन के पैमाने को थोड़ा या छोटा कर देने से प्रति इकाई उत्पादन व्यय मे वृद्धि हो जाती है। प्रतियोगिता की दशा में प्रत्येक फर्म अनुकूलतम आकार (Optimum Size) प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि प्रत्येक फर्म इसमे सफल ही हो जाती है। कोई फर्म इस उद्देश्य को पूरा कर सकेगी या नहीं, यह उसकी दक्षता तथा व्यवसाय की प्रकृति पर निर्भर होता है। अनुकूलतम उपज तभी उत्पन्न की जा सकती है, जबकि उत्पत्ति केवल उस बिन्दु तक की जाय जहां पर सीमान्त व्यय कीमत के बराबर हो। परन्तु जैसा कि हम उत्पत्ति के नियमों के सम्बन्ध में देख चुके है, विभिन्न कारणों से यह सदा सम्भव नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अनुकूलतम उपज यथास्थिर नहीं होती। उत्पादन विधि, आर्थिक साधनो तथा अन्य कारणों के अनुसार इसमे परिवर्तन होते रहते हैं।
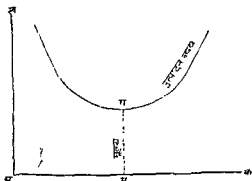
ऊपर के चित्र मे फर्म ग की उत्पादन रेखा दिखाई गई है। इस फर्म के लिए अनुकूलतम् उपज अ म होगी, क्योंकि यही पर औसत उत्पादन-व्यय लघुतम होगा और प्रतियोगिता में यही सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होगा।

प्रो० बाई के अनुसार, "अनुकूलतम् फर्म से आशय उस व्यावसायिक संगठन का है जो कि टेक्नॉलॉजी और उपज के लिए बाजार की दी हुई दशाओं मे, दीर्घकाल मे, न्यूनतम् औसत लागत पर वस्तु उत्पन्न कर सके।"[1]

---

individual firms will not be constant The industry as a whole will be in a state of equilibrium, the tendency to expand or contract on the part of the individual firm will cancel out, but it is certain that many individual firms will not themselves be in equilibrium and possibly that none will be."

—**Pigou** : *Economics of Welfare*, Appendix III

1 Optimum firm may be defined as "that organisation of business enterprise which, in given circumstances of technology and the market for its product, can produce its goods at the lowest average unit costs in the long run.—**Prof Buy.**

अनुकूलतम् आकार को प्रभावित करने वाले घटक—

अनुकूलतम् फर्म का आकार कितना बडा होगा, यह निम्नांकित घटकों पर निर्भर है :—(१) उन उद्योगों मे आकार बड़ा होगा जिनमे विशिष्टीकरण और श्रम विभाजन के लिए अधिक अवसर हो, महँगी मशीनें प्रयोग की जाती हो, अवशिष्ट पदार्थों का प्रयोग किया जाता हो किन्तु विपरीत दिशाओं मे छोटा होगा। (२) प्रबन्ध-कुशलता का स्तर जिन उद्योगों मे ऊँचा है उनमे अनुकूलतम् आकार बडा और जिन उद्योगों मे नीचा है उनमे छोटा होगा। (३) विस्तृत बाजार वाली वस्तु से सम्बन्धित उद्योग मे आकार बडा और सकुचित बाजार वाली वस्तु से सम्बन्धित उद्योग मे छोटा होगा। (४) अच्छी वित्त-सुविधाओं वाले उद्योगों मे आकार बडा और अन्य मे छोटा होता है।

इस प्रकार, अनुकूलतम् आकार उद्योग-उद्योग मे वहाँ प्रचलित परिस्थितियों के अनुसार होता है। एक ही उद्योग मे भी विभिन्न समयों पर बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलतम् आकार परिवर्तित होता रहता है।

एक उद्योग में सभी फर्में अनुकूलतम् आकार की क्यों नहीं ?

एक ही उद्योग मे सभी फर्में अनुकूलतम् आकार की नही होती है। इसके निम्न कारण हैं :—(i) सभी दशाओं मे अनुकूलतम् पैमाना सबसे लाभदायक होना आवश्यक नही है। उदाहरणार्थ, यदि बाजार बडा नही है, तो फर्म छोटे प्लान्ट का (जिसकी औसत लागत अनुकूलतम् आकार की अपेक्षा अधिक होगी) प्रयोग करेगी और तभी अधिक लाभ कमा सकेगी। (ii) कुछ फर्में उद्योग मे प्रभुत्व जमाने के लिये अनुकूलतम् से कही अधिक बडा आकार प्राप्त करती हैं। (iii) कुछ फर्में औद्योगिक साम्राज्य बनाने की दृष्टि से अनुकूलतम् से बडा आकार रखती है। नई-नई परिस्थितियाँ जब तब उत्पन्न होती रहती है और इनके साथ समायोजित होने मे फर्मों को कुछ समय लगता है, जिस बीच वे अनुकूलतम् आकार से छोटी रह जाती हैं।

अनुकूलतम् फर्म की व्यावहारिकता—

कुछ लेखकों का विचार है कि अनुकूलतम् फर्म का उदाहरण व्यावहारिक जीवन मे मिल जाता है और यही प्रतिनिधि फर्म का कार्य करती है, क्योंकि इसी फर्म पर दृष्टि डालकर *उद्योग विशेष की पूर्ण स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।*[1] इसमे तो कोई सन्देह नही है कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे अपने जीवित रहने के लिए प्रत्येक फर्म उत्पादन व्यय को कम करके अनुकूलतम् उपज उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है। परन्तु इसमे दो कठिनाइयाँ हैं :—(i) अनुकूलतम् उपज का पता लगाना कठिन होता है। (ii) यदि यह सम्भव हो सके, तो इस पर जमे रहना कठिन होता है, इसलिए ऐसी फर्म का महत्त्व भी मुख्यतया सैद्धान्तिक है।

क्या प्रतिनिधि फर्म का कोई व्यावहारिक महत्त्व है ?

प्रतिनिधि फर्म की बडी-बडी आलोचनायें की गई है। अधिकाश आधुनिक अर्थशास्त्री यह मानते है कि इस विचार का कुछ भी व्यावहारिक महत्त्व नही है। किन्तु हाल ही मे प्रोफेसर मेहता ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रवैगिक अवस्था म इस विचार का न केवल व्यावहारिक महत्त्व ही है, वरन् इस प्रकार की फर्म का वास्तव में पता भी लगाया जा सकता है।

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि अधिकांश आलोचनायें स्थैतिक अवस्था से

---

1 "The optimum firm, on the other hand, is a concrete possibility It is the unit of size which conscious direction and the forces of competition compel all firm to attempt to approach who wish to survive in the struggle for existence."—Briggs & Jordan ; *Text book of Economics*, p. 221.

सम्बन्धित हैं। प्रवैगिक अवस्था मे पूरे उद्योग मे विस्तार या संकुचन हो सकता है। यदि विस्तार की प्रवृत्ति अधिक प्रबल है, तो इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि वे शक्तियाँ, जो फर्मों को उद्योग विशेष मे खीचती है, उन शक्तियों की अपेक्षा अधिक बलवान हैं, जो फर्मों को उद्योग विशेष से निकल जाने के लिए प्रेरित करती हैं। निश्चय है कि प्रवैगिक दशा मे बहुत-सी नई फर्म उद्योग में प्रविष्ट होती रहती है और बहुत-सी पुरानी फर्म उद्योग को छोडती रहती हैं। साथ ही, कुछ फर्म अपना विस्तार करती रहती है और कुछ सकुचन। अब यदि उद्योग का विस्तार होता है, तो उद्योग में कोई ऐसी भी फर्म हो सकती है, जिसका स्वयं भी विस्तार हो रहा हो। इसी प्रकार, यदि उद्योग का सकुचन हो रहा है, तो कोई फर्म ऐसी भी हो सकती है, जिसका साथ-साथ सकुचन हो रहा हो। **ऐसी फर्म को, जो उद्योग की सामान्य प्रवृत्ति का द्योतक है, हम प्रतिनिधि फर्म कह सकते हैं।**[1]

जब इस प्रकार की प्रतिनिधि फर्म अपना विस्तार करती हुई होती है, तो नई फर्में उद्योग मे प्रवेश करती हैं और जब प्रतिनिधि फर्म का सकुचन होता है, तो नई फर्में उस उद्योग विशेष मे नही आती हैं, वरन् हो सकता है कि कुछ फर्म उद्योग को छोड दें। नई फर्मों के आने से उत्पत्ति बढती जाती है और पूर्ति के बढ जाने के कारण मूल्य गिरता है, जिससे अन्त में उद्योग के विस्तार की गति कम होते-होते रुक जाती है। प्रतिनिधि फर्म मे विस्तार की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है और मूल्य प्रतिनिधि फर्म के औसत व्यय के बराबर हो जाता है।

विपरीत दशा मे, जब उद्योग मे सकुचन होता है, तो पूर्ति घट जाने के कारण कीमत बढ जाती है, प्रतिनिधि फर्म की सकुचन-गति मे शिथिलता आ जाती है, अन्त मे यह सकुचन रुक जाता है और फिर मूल्य प्रतिनिधि फर्म के औसत व्यय के बराबर हो जाता है। इस प्रकार, **परिवर्तनों के होते हुए भी मूल्य प्रतिनिधि फर्म के औसत व्यय के बराबर रहता है, यद्यपि स्वयं प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन व्यय में परिवर्तन होते रह सकते हैं।**[2]

प्रोफेसर मेहता के विचार से यह सिद्ध होता है कि सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से प्रतिनिधि फर्म का महत्व है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन व्यय द्वारा ही मूल्य निर्धारित होता है, किन्तु साथ ही नई फर्में प्रतिनिधि फर्म को ध्यान मे रखकर ही उद्योग विशेष मे प्रवेश करने या न करने का और पुरानी फर्में उद्योग को छोडने या न छोडने का निश्चय करती है। व्यावहारिक जीवन मे, जिस फर्म को देखकर उद्योग मे आने अथवा उसे छोडने का फैसला होता है वही प्रतिनिधि फर्म होती है।

मार्शल, पीगू और मेहता के विचारों की समानता

प्रोफेसर मेहता और मार्शल के विचार मे बड़ी समानता है। मार्शल का कथन है कि प्रतिनिधि फर्म का वास्तविक अस्तित्व है और ऐसी फर्म को बाहरी और भीतरी औद्योगिक बचतों का सामान्य भाग प्राप्त होता है। ऐसी फर्म को हम अकस्मात् ही नहीं ढूंढ सकते, वरन् इसके लिए समस्त उद्योग की भली-भाँति जांच करनी पडती है।[3] ठीक इसी प्रकार का विचार पीगू का भी है। किन्तु **मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार उसके साम्य फर्म के विचार से थोड़ा**

---

[1] ...We understand by such a firm one that shows tendency to expand or contract with the industry in the same manner............—J K Mehta : *Advanced Economic Theory*, p 163

[2] "It is therefore, possible to say that the average cost of the representative firm determines the price."—*Ibid*, p. 162.

[3] Marshall : *Principles of Economics*, 8th edition, p. 318.

विस्तृत है, क्योंकि प्रतिनिधि फर्म सब प्रकार से एक औसत फर्म है। यह उस प्रकार की एक आदर्श फर्म है, जैसा कि प्रत्येक फर्म बनने की चेष्टा किया करती है।[1]

मार्शल का विचार व्यावहारिक जीवन में कहाँ तक सत्य है, इसका प्रमाण सर सिडनी चैपमैन (Sir Sydeny Chapman) और मिस्टर ऐशटन (Ashton) द्वारा किये गये वास्तविक व्यावसायिक विस्तार सम्बन्धी अध्ययन में मिलता है। इनका कहना है—साधारणतया बड़े उद्योगों अथवा उनकी शाखाओं में, कुछ निश्चित परिस्थितियों में, आदर्श अथवा प्रतिनिधि व्यावसायिक विस्तार का अभ्यास होता है'''''। जिस प्रकार एक मनुष्य का सामान्य विस्तार तथा रूप होता है, उसी प्रकार, किन्तु कम प्रत्यक्ष रूप में, व्यवसाय के भी सामान्य विस्तार तथा रूप होते हैं।[2]

परीक्षा प्रश्न :

१. मार्शल की प्रतिनिधि फर्म का रूप व्यक्त कीजिये। प्रतिनिधि फर्म उत्पादन-लागत किस प्रकार मूल्य निर्धारित करती है ?

२. अनुकूलतम् सार्थ (Optimum Firm) क्या है ? भिन्न उद्योगों में सार्थ की अनुकूलतम् परिमिति किन परिस्थितियों से निर्णीत होती है ?

---

[1] Pigou : *Economics of Welfare*, 4th edition, p. 790

[2] "Generally speaking, there would seem to exist in industry or branches of industry of adequate size, under given set of conditions, a typical or representative magnitude to which businesses tend to grow...As *there is* a normal size and form for a man, so but less markedly, are there normal sizes and firms of business"—*Statistical Journal*, 1914, p 512 *Quoted by* Pigou : *Economics of Welfare*, p 790.

८

विनिमय सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ आधारभूत विचार

(Some Fundamental Concepts in the Theory of Exchange)

मूल्य एवं कीमत
(Value and Price)

उपयोग मूल्य एवं विनिमय मूल्य—जैसा कि हमने अध्याय ४ में बताया था, प्राचीन लेखक मूल्य के दो भेद करते थे :—(i) उपयोग मूल्य (Value-in-use) और (ii) विनिमय मूल्य (Value-in exchange)। उपयोग मूल्य किसी वस्तु की आवश्यकता पूर्ति की शक्ति पर निर्भर होता है। जितनी ही कोई वस्तु मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति का अधिक सामर्थ्य रखती है, उतना ही उसका उपयोग-मूल्य अधिक माना जाता है। दूसरे शब्दों में, 'उपयोग-मूल्य' का वही अर्थ होता है, जो "उपयोगिता" शब्द का है। इसके विपरीत, विनिमय-मूल्य वस्तुओं और सेवाओं की उस मात्रा को सूचित करता है जो एक वस्तु विशेष के बदले में विनिमय द्वारा प्राप्त की जा सकती है, अर्थात् वह किसी वस्तु अथवा सेवा की विनिमय-शक्ति का माप होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक मीटर कपड़े के बदले में तीन किलो गेहूँ मिल सकता है, तो एक मीटर कपड़े का मूल्य ३ किलो गेहूँ होगा।

विनिमय मूल्य और कीमत—व्यावहारिक जीवन में लगभग सभी वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मुद्रा में नापा जाता है। अब यदि एक मीटर कपड़े का मूल्य एक रुपया है (जिसका अर्थ यह होता है कि एक मीटर कपड़े के बदले में एक रुपया विनिमय द्वारा प्राप्त होता है), तो मुद्रा में एक मीटर कपड़े के मूल्य की माप एक रुपये के बराबर होगी। **जब मूल्य मुद्रा में नापा जाता है, तो उसे 'कीमत' अथवा 'दाम' (Price) कहते हैं।** इससे ज्ञात होता है कि मूल्य और कीमत में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। मूल्य और कीमत दोनों शब्द प्रायः एक ही अर्थ में उपयोग किये जाते हैं। विनिमय के सिद्धान्त तथा विनिमय के नियमों की विवेचना में भी हम दोनों के बीच भेद नहीं करते और एक शब्द को दूसरे के स्थान पर स्वतन्त्रतापूर्वक काम में लाते हैं। यथार्थ में ऐसा करने से कोई हानि भी नहीं है। किन्तु ध्यान रहे कि (i) विनिमय मूल्य पर उपयोगिता का पर्याप्त प्रभाव होगा, क्योंकि विनिमय उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं का किया जाता है जो उपयोगी होती हैं, और (ii) विनिमय मूल्य किसी मण्डी अथवा बाजार से सम्बन्धित होता है, क्योंकि मण्डी से अलग इसका कोई अर्थ नहीं होता है।

उत्पादन व्यय
(Cost of Production)

अर्थशास्त्र में व्यय (Cost) शब्द का अर्थ कुछ विस्तृत होता है और बहुधा **व्यय और लागत में भेद** किया जाता है जो यह कि लागत की माप करते समय हम उद्योग के स्वामी का अपना पारितोषण (Remuneration) नहीं जोड़ते, किन्तु व्यय में जोड़ दिया जाता है।

उत्पादन व्यय एवं निर्माण व्यय में भेद—

उत्पादन व्यय और निर्माण व्यय (Cost of Manufacture) में भी अन्तर होता है।

'निर्माण' द्वारा केवल रूप-उपयोगिता का निर्माण किया जाता है, अर्थात् वस्तु के रूप में परिवर्तन करके उसकी उपयोगिता बढ़ा दी जाती है। किन्तु उत्पादन उपयोगिता की वृद्धि की क्रिया का नाम है, चाहे यह वृद्धि किसी भी प्रकार की गई हो। यह पहले बताया जा चुका है कि विनिमय द्वारा भी उपयोगिता में वृद्धि की जा सकती है, किन्तु इसे हम 'निर्माण' नहीं कह सकते। उत्पादन-व्यय में निर्माण व्यय के अतिरिक्त अन्य खर्चे भी सम्मिलित होते हैं, जैसे—विज्ञापन व्यय, इत्यादि। इस प्रकार 'उत्पादन-व्यय' में उत्पादन की सारी लागत सम्मिलित होती है।

उत्पादन-व्ययों का वर्गीकरण—

उत्पादन-व्ययों का वर्गीकरण कई रीतियों से किया जाता है, जोकि निम्नलिखित है :—

(I) मौद्रिक एवं वास्तविक व्यय—

मार्शल ने मौद्रिक व्यय (Money Cost) एवं वास्तविक व्यय (Real Cost) में भेद किया है।[1]

(१) **मौद्रिक व्यय**—मौद्रिक व्यय से अभिप्राय मुद्रा की उस कुल मात्रा से होता है, जो किसी वस्तु के उत्पादन करने में व्यय की जाती है। इस व्यय में निम्न प्रकार की लागत सम्मिलित होती है :—(i) कच्चे माल के खरीदने पर व्यय किया हुआ धन, (ii) श्रमिकों की मजदूरी, (iii) पूंजी पर दिया हुआ ब्याज, (iv) व्यवस्थापक का पारितोषण, (v) जोखिम उठाने का बदला, (vi) मरम्मत सम्बन्धी व्यय तथा ह्रास (Depreciation) सम्बन्धी खर्चे, (vii) बीमे का खर्च, और (viii) सरकारी कर। दूसरे शब्दों में, यह उत्पादन पर व्यय किये समस्त व्यय की मुद्रा में माप है।

(२) *वास्तविक व्यय—वास्तविक व्यय एक प्रकार का सामाजिक व्यय* (Social-Cost) है। यह उस कुल त्याग, अनुपयोगिता तथा कष्ट की माप है जो समाज को उत्पादन करने के अन्तर्गत सहन करने पड़ते है। इस व्यय में निम्न प्रकार के खर्चे सम्मिलित होते है :—(i) विभिन्न प्रकार के उन श्रमजीवियों का श्रम, जो कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उत्पादन क्रिया में भाग लेते है, और (ii) पूंजी का सचय करने से उत्पन्न होने वाला कष्ट अथवा प्रतीक्षा। यह तो सभी जानते है कि कुछ काम अधिक कठिन अथवा अधिक दुखदायी होते हैं, जबकि कुछ कामों के करने में उतने कष्ट का अनुभव नहीं होता। कुछ उत्पादन क्रियायें स्वभाव से ही ऐसी होती है कि उनके करने में अरुचि अधिक होती है और विशेष प्रयत्न करने पर ही कार्य के उत्साह को स्थिर रखा जा सकता है। इसी प्रकार, कुछ कार्यों के करने का श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है और भविष्य के लिए उनकी कार्य-शक्ति अथवा *कुशलता कम हो जाती है। ऐसी दशाओं में सामाजिक अथवा वास्तविक व्यय अधिक होता है।* इसके विपरीत, जिन कार्यों के करने में आनन्द मिलता है तथा स्वास्थ्य और अच्छा हो जाता है, उनमें सामाजिक व्यय बहुत कम होता है। **सामाजिक अथवा वास्तविक व्यय समाज को भुगतना पड़ता है और मुद्रा में इसकी माप करना कठिन होता है।**

(३) **अवसर व्यय** (Opportunity Cost)—आधुनिक अर्थशास्त्र में एक और व्यय का उल्लेख किया जाता है, जिसे अवसर व्यय कहते है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस व्यय को "हस्तान्तरण आय" (Transfer earnings) का नाम भी दिया है।[2] **अवसर व्यय मुद्रा की उस मात्रा द्वारा सूचित**

---

[1] Marshall : *Principles of Economics*, p. 334.

[2] Mrs Robinson : *Economics of Imperfect Competition*, p.132.

किया जाता है, जिसका एक व्यक्ति को, किसी कार्य को करते समय, परित्याग करना पड़ता है। निश्चय है कि प्रत्येक मनुष्य अपने समय और शक्ति को एक से अधिक कार्य में व्यय कर सकता है। एक कॉलिज का प्रोफेसर २ घण्टे समय गप्प मारने मे बिता सकता है अथवा इन दो घण्टो मे एक लेख भी लिख सकता है, जिसका मूल्य २० रुपये के बराबर है। अब यदि वह प्रोफेसर गप्प लगाने मे इस समय का उपयोग करता है, तो गप्प लगाने का अवसर व्यय एक लेख लिखने अथवा २० रुपए के बराबर हुआ।

(II) कुल व्यय, औसत व्यय और सीमान्त व्यय—

(१) कुल व्यय—कुल उत्पत्ति मे जो समस्त धन व्यय होता है, उसी को 'कुल व्यय' कहते हैं। मौद्रिक व्यय मे दिये हुए सभी प्रकार के खर्चे कुल उत्पादन-व्यय मे सम्मिलित कर लिए जाते हैं। दूसरे शब्दो मे, उत्पत्ति की सारी इकाइयो के सब खर्चों का जोड़ कुल व्यय के बराबर होता है। जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता जाता है, कुल व्यय भी बढ़ता चला जाता है।

(२) औसत व्यय—कुल उत्पादन-व्यय को उत्पत्ति की इकाइयो से भाग देने पर 'औसत व्यय' (Average cost) निकल आता है। मान लीजिए कि १,००० जोड़ी जूतो का उत्पादन किया जाता है और इस कार्य मे सब प्रकार के खर्चे को जोड़ कर ५,००० रुपये व्यय होता है। अन्य शब्दो में, १,००० जोडी जूतो का कुल उत्पादन-व्यय ५,००० रुपये है। ऐसी दशा मे एक जोडी जूते का औसत व्यय ५,००० ÷ १,००० = ५ रुपया हुआ।

स्मरण रहे कि उत्पादक के लिए उत्पत्ति की प्रत्येक इकाई पर होने वाला व्यय समान नही होता। कुछ समय तक उत्पत्ति मे उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है, जिसके अनुसार उत्पत्ति की प्रत्येक अगली इकाई के उत्पादन पर पहली इकाई की अपेक्षा कम व्यय होता है। फिर बहुधा कुछ समय तक स्थिर उत्पत्ति नियम दृष्टिगोचर होता है और अधिक उत्पत्ति करने पर भी अगली इकाई का उत्पादन-व्यय समान ही रहता है। अन्त मे उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है और प्रत्येक अगली इकाई का उत्पादन व्यय बढता जाता है। उत्पत्ति की प्रत्येक मात्रा से सम्बन्धित औसत व्यय निकाला जा सकता है। जब कुल व्यय उत्पत्ति की मात्रा की अपेक्षा अधिक वेग से बढता है, तो औसत व्यय भी बढ़ने लगता है, क्योकि ऐसी दशा मे प्रत्येक अगली इकाई के उत्पादन पर पहली इकाई से अधिक व्यय होता है।

(३) सीमान्त व्यय—विनिमय सिद्धान्त की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व सीमान्त व्यय का है। **उपज की अन्तिम इकाई को सीमान्त उपज कहते हैं। इस उपज के उत्पादन पर जो व्यय होता है, उसे हम 'सीमान्त व्यय'** (Marginal cost) **कहते हैं।** इस प्रकार सीमान्त व्यय उपज की अन्तिम इकाई के उत्पादन का व्यय होता है। दूसरी रीति से सीमान्त व्यय की परिभाषा इस प्रकार भी की जा सकती है कि यह एक अधिक या कम इकाई के उत्पादन की लागत है। जब हम मुद्रा मे सीमा-व्यय की माप करते है तो इसी रीति को अपनाते हैं।

मान लीजिए कि उत्पत्ति की १,००० इकाइयो की कुल व्यय ५,००० रुपया है। अब यदि १,००० से एक कम इकाई की उत्पत्ति की जाय, तो कुल व्यय ४,९९६ रुपया होता है। इससे पता चलता है कि एक इकाई कम के उत्पादन से कुल व्यय मे ४ रुपये की कमी पडती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि १,०००वी इकाई का व्यय ४ रुपया है। यही सीमान्त व्यय है। इसी प्रकार, एक हजार से एक अधिक इकाई के उत्पादन से कुल व्यय मे जो वृद्धि होगी, वह भी सीमान्त व्यय की माप कहलायेगी।

जब उत्पत्ति पर क्रमशः वृद्धि या ह्रास नियम लागू होते हैं, तो हम यह देखते हैं कि इनमे से पहली दशा में उत्पादन व्यय क्रमशः घटता चला जाता है, जबकि दूसरी दशा मे बराबर बढता जाता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह कमी अथवा वृद्धि सीमान्त व्यय मे ही

होती है, किसी अन्य प्रकार के व्यय में इसका होना आवश्यक नहीं है। अधिक उत्पादन के साथ-साथ कुल व्यय तो निरन्तर बढ़ता ही रहता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

निम्न तालिका में कुल व्यय, मध्यम अथवा औसत व्यय और सीमान्त व्यय के भेद को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है :—

तालिका १

उत्पत्ति ह्रास नियम

उत्पादन की इकाइयाँ	सीमान्त व्यय (रुपयों में)	औसत व्यय (रुपयों में)	कुल व्यय (रुपयों में)
१	११	१०	१०
२	१२	११	२२
३	१४	१२	३६
४	१६	१३	५२
५	१८	१४	७०

इस तालिका में उत्पत्ति ह्रास-नियम का उदाहरण लिया गया है। जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ाया जाता है, प्रत्येक अगली इकाई के उत्पादन पर उससे पहली इकाई की अपेक्षा अधिक व्यय होता है। कुल व्यय बराबर बढ़ता चला जाता है। सीमान्त व्यय और औसत व्यय भी बराबर बढ़ते जाते हैं, परन्तु सीमान्त व्यय औसत व्यय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता है।

चित्र—उत्पादन-व्यय वक्र
(उत्पादन ह्रास-नियम)
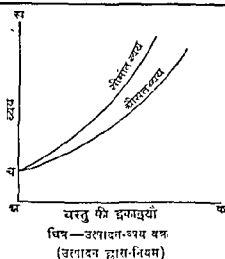
तालिका २

उत्पत्ति वृद्धि नियम

उत्पादन की इकाइयाँ	सीमान्त व्यय (रुपयों में)	औसत व्यय (रुपयों में)	कुल व्यय (रुपयों में)
१	१०	१०	१०
२	६	६·५	१६
३	८	६	२६
४	७	८·५	३४
५	६	८	४०

जब उत्पत्ति वृद्धि-नियम लागू होता है, तो सीमान्त व्यय घटता चला जाता है, औसत व्यय भी घटता जाता है, परन्तु कम वेग से, कुल व्यय बढता ही जाता है। उक्त तालिका मे ये तीनों प्रकार के व्यय उत्पत्ति वृद्धि नियम के अनुसार दिखाए गए हैं।

चित्र—उत्पादन-व्यय वक्र
(उत्पादन वृद्धि-नियम)
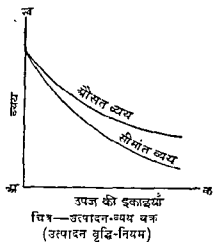
(III) प्रधान व्यय तथा अनुपूरक व्यय—

एक उत्पादक अथवा उपक्रमी या साहसी (Entrepreneur) की दृष्टि से व्यय का वर्गीकरण प्रधान और अनुपूरक व्यय मे भी किया जा सकता है। इन व्ययो को हम क्रमश: "अस्थिर" अथवा परिवर्तनशील तथा "स्थिर" (Variable and Fixed) अथवा "चल" एवं "अचल" (Circulating and Fixed) व्यय भी कहते हैं।

(१) प्रधान व्यय (Prime Cost)—कुछ व्यय इस प्रकार के होते है कि वे उत्पत्ति की मात्रा के साथ-साथ घटते-बढते रहते हैं और उनमे इस प्रकार जो परिवर्तन होता है, वह लगभग उत्पत्ति की मात्रा का अनुपाती होता है, जबकि कुछ प्रकार के व्यय ऐसे होते हैं कि वे स्थिर रहते हैं और उत्पादन की मात्राओ के परिवर्तन का उन पर कोई प्रभाव नही पडता। इनमे से पहले प्रकार का व्यय प्रधान व्यय (Prime Cost) कहलाता है।

उदाहरण के लिए, एक चीनी बनाने के कारखाने को लीजिए। चीनी बनाने के लिए गन्ने की आवश्यकता पडती है। इसके अतिरिक्त गन्ने के रस को पकाने के लिए कोयले या किसी दूसरे ईंधन की आवश्यकता होती है, मैले को साफ करने के लिए कुछ रासायनिक पदार्थ उपयोग मे लाये जाते है और साथ ही साथ रस निकालने, पकाने इत्यादि को मजदूर चाहिए। इन सभी कार्यों पर जो व्यय होता है, वह चीनी के उत्पादन की मात्रा के साथ-साथ बढता जाता है। अधिक चीनी बनाने के लिए अधिक गन्ने, अधिक ईंधन, अधिक मजदूर इत्यादि की आवश्यकता पडती है। इन सब वस्तुओ के व्यय को प्रधान व्यय कहते है। गणित की भाषा मे, **प्रधान व्यय वह व्यय है, जिसकी माप उस दशा में, जबकि उत्पादन की मात्रा शून्य के बराबर हो, शून्य (Zero) के बराबर होती है। इस व्यय के परिवर्तन उत्पादन की मात्रा के अनुकूल होते हैं, यद्यपि इनका अनुपाती होना आवश्यक नहीं है।**

(२) अनुपूरक व्यय (Supplementary Cost)—ये व्यय वे है जो कि उत्पादन की मात्रा के साथ-साथ घटते-बढ़ते नही हैं, वरन् स्थिर रहते हैं। उत्पादन को बढा देने पर भी इस व्यय मे परिवर्तन नही होते। एक कारखाने के मालिक को कच्चे माल और श्रमिकों के अतिरिक्त मशीनो, औजारो, कारखानो की बिल्डिंग, व्यवस्थापक के खर्च और मुनीम इत्यादि के रखने पर भी व्यय करना पडता है। इन सभी व्ययो की राशि निश्चित होती है, चाहे कम उत्पत्ति की जाय और चाहे अधिक। ये सभी व्यय अनुपूरक व्यय मे सम्मिलित किए जाते है। **गणित की भाषा मे अनुपूरक व्यय वही व्यय है जिसकी माप इस दशा में भी धनात्मक होती है,**

जबकि उत्पत्ति की मात्रा शून्य के बराबर हो। निर्माण उद्योगों में अनुपूरक व्यय बहुधा अधिक होता है, जिससे आरम्भ में उनका उत्पादन व्यय अधिक होता है। किन्तु जैसे-जैसे उत्पत्ति की मात्रा बढ़ती जाती है, अनुपूरक व्यय उत्पत्ति की अधिक इकाइयों पर फैलता जाता है। यही कारण है कि प्रारम्भिक अवस्था में उद्योग में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता देखा जाता है।

निम्न चित्र में उत्पादन-व्यय की वक्र-रेखा को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि यह वक्र कभी भी अ बिन्दु से आरम्भ नहीं होता, वरन् अ ख रेखा पर अ से थोड़े ऊपर से आरम्भ होता है। ऐसा इस कारण होता है कि जब उत्पादन शून्य के बराबर होता है तब भी अनुपूरक व्यय उपस्थित रहते हैं।

चित्रों में औसत व्यय तथा सीमान्त व्यय दोनों ही वक्र रेखायें च बिन्दु से आरम्भ होती हैं, जो इस बात को सूचित करती है कि जब उत्पत्ति की मात्रा शून्य (Zero) है तब भी अ च के बराबर व्यय होता है। साधारण ज्ञान से यह समझना कठिन होता है कि उत्पत्ति के न होते हुए भी व्यय कैसे हो जाता है, परन्तु अनुपूरक व्यय का ज्ञान होने पर इस प्रकार का भ्रम नहीं रहता, क्योंकि इस प्रकार का व्यय उत्पादन के आरम्भ से पहले ही करना पड़ता है। अ च ही अनुपूरक व्यय की माप है।
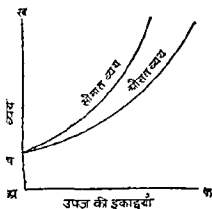
कुल, औसत तथा सीमान्त आगम
(*Total, Average and Marginal Revenue*)

(१) कुल आगम—

किसी वस्तु की कुल इकाइयों को बेचकर जो आय अथवा आगम (Revenue) प्राप्त होती है, उसी को मुद्रा में माप को हम कुल आगम (Total Revenue) कहते हैं। मान लीजिए कि एक दूकानदार कपड़े के ५०० थान बेचता है और इन थानों के मूल्यस्वरूप उसे १०,००० रुपया मिलता है, तो कपड़े की कुल आगम उस दूकानदार के लिए १०,००० रुपये होगी। इस प्रकार, कुल बिक्री मूल्य तथा कुल आगम का एक अर्थ होता है।

(२) औसत आगम—

जिस प्रकार कुल व्यय में उत्पत्ति की इकाइयों से भाग देने पर माध्य या औसत व्यय निकल आता है, उसी प्रकार कुल आगम को बिक्री की इकाइयों से भाग देने पर औसत आगम निकल आती है। ऊपर के उदाहरण में थान की औसत आगम १०,०००÷५००=२० रुपया है। यथार्थ में, औसत आगम और दाम या कीमत दोनों बराबर होते हैं। मुद्रा में मूल्य की माप "कीमत" कहलाती है। जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए हम दस रुपये देने को तैयार हैं, उसके मूल्य की मौद्रिक माप दस रुपये होगी और यही उस वस्तु की कीमत होगी। स्मरण रहे कि कीमत सदैव औसत प्रकार की होती है, अतः औसत आगम और कीमत दोनों बराबर होते हैं।

(३) सीमान्त आगम—

किसी वस्तु की एक अधिक या एक कम इकाई बेचने पर कुल आगम में जो वृद्धि (अथवा कमी) हो, उसे सीमांत आगम (Marginal Revenue) कहते हैं। सीमान्त आगम वस्तु

की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली कीमत के बराबर होती है। अनुभव बताता है कि अधिक इकाई को बेचने के लिए वस्तु के दामो को घटाना आवश्यक होता है। प्रत्येक अगली इकाई से पहली की अपेक्षा कम कीमतें अथवा आगम मिलती है। जिस इकाई पर आकर विक्रेता बिक्री बन्द कर देता है, उसकी बिक्री के फलस्वरूप प्राप्त मूल्य सीमान्त आगम कहलाता है। यदि कोई विक्रेता किसी वस्तु की २० इकाइयाँ बेचता है और २०वी इकाई १० रुपये में बिकती है, तो इस दशा मे सीमान्त आगम १० रुपये होगी।

निम्न तालिका कुल, औसत तथा सीमान्त आगम का सम्बन्ध दिखाती है :—

कुल, औसत और सीमान्त आगम (रुपयों में)

बिक्री की इकाइयाँ	कुल आगम	सीमान्त आगम	औसत आगम
१	२०	२०	२०
२	३८	१८	१९
३	५४	१६	१८
४	६८	१४	१७
५	८०	१२	१६
६	९०	१०	१५

यह तालिका स्पष्ट करती है कि (i) जैसे-जैसे बिक्री की मात्रा बढ़ती जाती है कुल आगम बढ़ती जाती है। परन्तु, क्योंकि अधिक बिक्री करने के लिये कीमत को घटाना आवश्यक है इस कारण कुल आगम मे घटती हुई दर पर वृद्धि होती है। (ii) अधिक बिक्री के साथ-साथ सीमान्त आगम घटती जाती है, क्योंकि प्रत्येक अगली इकाई उससे पहली इकाई से कम कीमत पर बेची जाती है। (iii) औसत आगम भी बिक्री बढ़ने के साथ-साथ घटती जाती है, परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि औसत आगम सीमान्त आगम की तुलना में कम तेजी के साथ घटती है।

उपरोक्त तालिका से हमें निम्न बातों का पता चलता है :—प्रथम, औसत और सीमान्त आगम की रेखायें साधारणतया ऊपर से नीचे की ओर जाती हुई रेखायें होती हैं, अर्थात् उनका रूप सीमान्त माँग की रेखा के सदृश होता है। दूसरे, साधारणतया सीमान्त आगम रेखा औसत आगम की रेखा से नीचे रहती है। तीसरे, दोनों ही रेखायें एक ही बिन्दु से आरम्भ होती हैं, क्योंकि प्रथम इकाई से प्राप्त औसत तथा सीमान्त आगम समान होती है। चूँकि सीमान्त आगम औसत आगम की तुलना मे अधिक तेजी के साथ घटती है इसलिए सीमान्त आगम की रेखा का ढाल औसत आगम की रेखा की तुलना मे अधिक होता है और यह औसत आगम की रेखा के नीचे रहती है। ऊपर का रेखाचित्र जो उपरोक्त तालिका के आधार पर खीचा गया है इन दोनों बातों को स्पष्ट करता है।

ख
औसत आगम
सीमान्त आगम
अ
क
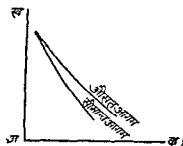
पूर्ति तथा इसका नियम
(Supply and the Law of Supply)

पूर्ति से आशय—

विनिमय की क्रिया दो पक्षों के मध्य होती है। एक पक्ष किसी वस्तु या सेवा को खरीदता है तथा दूसरा पक्ष उसे बेचता है। विनिमय उसी दशा में सम्भव होता है, जबकि

बेचने वालों और खरीदने वालो मे सम्पर्क बना रहे। किसी कीमत पर एक वस्तु की जितनी इकाइयाँ खरीदी जाती हैं, वे उस वस्तु की माँग को दिखाती हैं। माँग के नियम मे हम देख चुके हैं कि वस्तु की कीमतों के परिवर्तन के साथ-साथ माँग की मात्राएं भी बदलती रहती हैं। ठीक इसी प्रकार, एक निश्चित कीमत पर किसी वस्तु की जितनी इकाइयाँ बेची जाती हैं, वे उस वस्तु की पूर्ति को दिखाती हैं। माँग की भाँति पूर्ति भी कीमत से सम्बन्धित होती है और इसका भी बिना कीमत के कोई अर्थ नही होता है। हम सदैव यही कहते हैं कि अमुक कीमत पर पूर्ति इतनी है।

पूर्ति का नियम—

ऐसा देखने में आता है कि जब किसी वस्तु या सेवा की कीमत ऊँची चढ जाती है, तो बेचने वाले उसे पहले से अधिक मात्रा मे बेचने का प्रयत्न करते है। इसके विपरीत, जब दाम गिर जाते है, तो कम इकाइयाँ बेचने के लिए प्रस्तुत की जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि ऊँचे दामो पर विक्रेताओ तथा उत्पादको को अधिक लाभ होता है, जबकि नीची कीमतो पर बेचने से या तो लाभ कम होता है या होता ही नही है। एक ही वस्तु के सभी उत्पादकों का उत्पादन व्यय समान नही होता। कुछ उत्पादक अधिक कुशल होते हैं और कम लागत पर उत्पत्ति कर सकते है। ऐसे उत्पादक नीची कीमत पर बेच कर लाभ कमा लेते है, परन्तु जो उत्पादक इतने कुशल नही होते उन्हे नीची कीमतो पर बेचने मे हानि होती है। इसी कारण नीची कीमतों पर कम मात्राएं बेची जाती हैं और ऊँची कीमतो पर अधिक मात्रायें बिक्री के लिए आती है। इसी बात को हम दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कह सकते है कि ऊँची कीमत पर पूर्ति अधिक होती है और नीची कीमत पर कम। **पूर्ति मे कीमतों के परिवर्तनों के साथ-साथ बदलने की जो प्रवृत्ति है, उसी को अर्थशास्त्रियों ने पूर्ति के नियम (Law of Supply) का नाम दे दिया है।**

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

कीमतो मे परिवर्तन होने पर पूर्ति मे जो परिवर्तन होते हैं उनकी दिशा कीमत के परिवर्तन के अनुकूल होती है। यदि कीमत बढती है, तो पूर्ति भी बढती है और इसी प्रकार, यदि कीमत घटती है तो पूर्ति भी घट जाती है। किसी मण्डी अथवा बाजार में भिन्न-भिन्न कीमतो पर पूर्ति की मात्राएं कितनी होती है, इसकी यदि हम एक सूची बना ले तो इस सूची को **"पूर्ति की अनुसूचि"** (Supply Schedule) कहा जाता है। इस सूची को देखने से पूर्ति का नियम स्पष्ट हो जायेगा। निम्न तालिका मे चाय की पूर्ति की कल्पित अनुसूचि दिखाई गई है :—

पूर्ति तालिका

कीमत प्रति किलोग्राम (रुपयो में)	पूर्ति की मात्रा (किलोग्राम मे)
२	४००
३	५००
४	६००
५	८००
७	१,०००
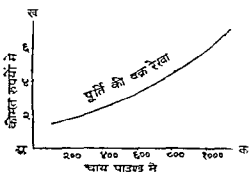
इस अनुसूचि के अनुसार पूर्ति के नियम की वक्र-रेखा जिस प्रकार होगी वह साथ के चित्र मे दिखाई गई है। इस रेखा की प्रकृति बायी ओर से दाहिनी ओर नीचे से ऊपर की ओर जाने की होती है, जिससे कीमत और पूर्ति दोनो का एक साथ बढना सिद्ध होता है।

अल्प तथा दीर्घकाल
(Short and LongPeriods)

अल्प एवं दीर्घकाल से आशय—

दाम अथवा कीमत मे परिवर्तन होने से माँग और पूर्ति दोनो मे ही परिवर्तन होते है। साधारणतया माँग पर कीमत के परिवर्तन का प्रभाव शीघ्र ही दृष्टिगोचर होने लगता है। किन्तु इसका पूर्ति पर जो प्रभाव पडता है; उसका अनुभव अपेक्षाकृत देर मे होता है। जब भी माँग मे परिवर्तन होते है, तब ही पूर्ति को माँग के अनुसार बदलना पडता है, जिसमे समय लगता है। इस प्रकार माग और पूर्ति का समायोजन (Adjustment) समय लेता है। पूर्ति अथवा प्रदाय के माँग के अनुसार बदलने मे जो समय लगता है, उसे ध्यान मे रखते हुए अर्थशास्त्रियो ने समय को दो भागो मे बाँटा है, जिनको अल्प और दीर्घकाल (Short and Long Period) कहते हैं :—

(१) अल्पकाल से हमारा अभिप्राय इतने कम समय से होता है, जिसमे पूर्ति या प्रदाय में लेशमात्र भी परिवर्तन कर देना सम्भव नहीं होता है। अल्पकाल मे माँग में तो परिवर्तन हो सकते हैं, परन्तु पूर्ति मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं होता है।

(२) दीर्घकाल उस समय-अवधि को कहते हैं जिसमे पूर्ति पूर्णतया माँग के अनुसार बदली जा सकती है। यदि माँग कम हो जाती है, तो पूर्ति भी घटा दी जायगी और यदि माँग बढ जाती है, तो पूर्ति भी बढाई जा सकती है।

कुछ लेखको ने एक तीसरे प्रकार का काल भी बताया है, जिसको आभास-दीर्घकाल (Quasi-Long Period) अथवा मध्यकाल (Intermediate Period) कहा जाता है। इस काल की परिभाषा इस प्रकार की जाती है कि यह उस समय अवधि को सूचित करता है, जिसमे माँग में परिवर्तन होने के साथ-साथ पूर्ति मे परिवर्तन तो हो सकते हैं, किन्तु ये परिवर्तन माँग के परिवर्तन के आनुपातिक नहीं होते, वरन् पूर्ति का परिवर्तन-अंश माँग के परिवर्तन-अंश से कम होता है। इससे माँग और पूर्ति मे केवल अपूर्ण अथवा आंशिक समायोजन ही हो पाता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

एक छोटे से उदाहरण द्वारा हम इसे अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए कि बाजार में चाय की कीमत ५ रुपये प्रति किलोग्राम से घटकर ४ रुपये प्रति किलोग्राम हो जाती है और इस दशा में चाय की माँग ३०० किलोग्राम के स्थान पर ५०० किलोग्राम हो जाती है। अल्पकाल मे कीमत परिवर्तन का चाय की पूर्ति पर कोई प्रभाव नही पडेगा। वह जितनी पहले थी, उतनी ही बनी रहेगी। किन्तु दीर्घकाल में पूर्ति मे इस प्रकार परिवर्तन हो जायेंगे कि पूर्ति का माँग से पूर्णतया समायोजन हो जाय, अर्थात् वह माँग के बराबर हो जाय। आभास दीर्घकाल मे इसी प्रकार
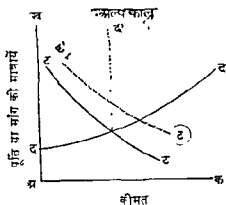
कीमत के घटने पर पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन तो अवश्य होगा, परन्तु ऐसा परिवर्तन नही होगा कि पूर्ति की मात्रा भी ५०० किलोग्राम के बराबर हो जाय। किन्तु दीर्घकाल मे पूर्ति अवश्य ही ५०० किलोग्राम अर्थात् माँग के बराबर हो जायेगी। इन चित्रों मे अल्प, दीर्घ और आभास दीर्घकाल मे पूर्ति का रूप दिखाया गया है। तीनो दशाओं में माँग बढती है और माँग का वक्र ऊपर को खिसक जाता है। *ट ट माँग का प्रारम्भिक वक्र है*, जो माँग बढ़ने के पश्चात् ट' ट' का रूप धारण कर लेता है। द द' पूर्ति का वक्र
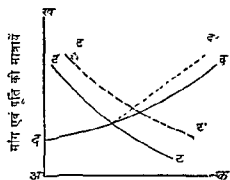
है, जो माँग परिवर्तन हो जाने के उपरान्त बिन्दुदार रेखा द द' का रूप धारण कर लेता है।

अल्पकाल में उत्पादन-व्यय की रेखायें
(Cost Curves in Short Period)

(I) कुल व्यय, कुल स्थिर व्यय तथा कुल परिवर्तनशील व्यय—

अल्पकाल में किसी भी फर्म का "कुल व्यय" उसके "कुल अनुपूरक व्यय" तथा 'कुल

प्रधान व्यय" का योग होता है। जहाँ तक "कुल अनुपूरक व्यय" का प्रश्न है वह तो उत्पादन की प्रत्येक मात्रा पर समान ही होता है, परन्तु "कुल प्रधान व्यय" जिसे "परिवर्तनशील व्यय" भी कहा जाता है, उत्पादन के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ता है। यही कारण है कि उत्पादन के साथ-साथ कुल व्यय भी बढ़ता जाता है।

जहाँ तक परिवर्तनशील व्यय का प्रश्न है इसके बढ़ने की दर बदलती रहती है। आरम्भ में, साधारणतया उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है, इसलिए कुल परिवर्तनशील व्यय कम तेजी के साथ बढ़ता है। किन्तु अन्त में, उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता के कारण यह तेजी के साथ बढ़ने लगता है। इसका अर्थ यह होता है कि कुछ दूरी तक कुल परिवर्तनशील व्यय की रेखा आरम्भिक बिन्दु (Origin) की ओर मुड़ी रहती है (Concave) और बाद में जाकर उल्टी ओर (Convex) मुड़ जाती है।
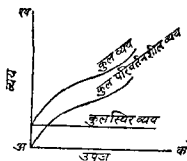
एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है। प्रत्येक बिन्दु पर कुल व्यय तथा कुल परिवर्तनशील व्यय का अन्तर कुल स्थिर व्यय अथवा कुल अनुपूरक व्यय के बराबर होता है। ऊपर के चित्र में कुल व्यय, कुल स्थिर व्यय तथा कुल परिवर्तनशील व्यय का सम्बन्ध दिखाया गया है।

(II) कुल औसत व्यय, कुल औसत परिवर्तनशील व्यय एवं कुल औसत स्थिर व्यय—

जहाँ तक 'कुल औसत व्यय' का प्रश्न है, किसी निश्चित उपज से सम्बन्धित 'कुल औसत व्यय 'कुल औसत स्थिर व्यय' तथा 'कुल औसत परिवर्तनशील व्यय' का योग होता है। चूँकि उपज की प्रत्येक मात्रा पर स्थिर व्यय समान ही होता है, इसलिये जैसे-जैसे उपज बढ़ती है वैसे-वैसे औसत स्थिर व्यय घटता जाता है, परन्तु यह घटते-घटते कभी भी शून्य पर नहीं पहुँचता है। इसका अर्थ यह होता है कि औसत उत्पादन-व्यय की रेखा दाहिनी ओर नीचे को जाती है, परन्तु यह कभी भी अ क अक्ष को नहीं काटेगी। निम्न तालिका में विभिन्न प्रकार के औसत व्ययों का सम्बन्ध दिखाया गया है :—

औसत व्यय

उपज की मात्रा	कुल स्थिर व्यय (रुपयों में)	कुल परिवर्तनशील व्यय (रुपयों में)	कुल व्यय (रुपयों में)	औसत स्थिर व्यय (रुपयों में)	औसत परिवर्तनशील व्यय (रुपयों में)	औसत कुल व्यय (रुपयों में)
१	२००	५०	२५०	२००	५०	२५०
२	२००	८०	२८०	१००	४०	१४०
३	२००	१००	३००	६६ ६	३३ ३	१००
४	२००	११०	३१०	५०	२७ ५	७७ ५
५	२००	११५	३१५	४०	२३	६३
६	२००	१२५	३२५	३३ ३	२१	५४ ३
७	२००	१४०	३४०	२८ ५	२०	४८ ५
८	२००	१८४	३८४	२५	२३	४८
९	२००	२७०	४७०	२२·२	३०	५२ २
१०	२००	३५०	५५०	२०·०	३५	५५

उपरोक्त तालिका स्पष्ट करती है कि साधारणतया औसत परिवर्तनशील व्यय की रेखा अंग्रेजी U प्रकार जैसी होती है। प्रारम्भ में यह रेखा दाहिनी ओर नीचे को जाती है, जब तक कि औसत परिवर्तनशील व्यय का निम्नतम् बिन्दु नहीं आ जाता है। इस बिन्दु के बाद यह रेखा ऊपर की ओर जाने लगती है।

ठीक ऐसा ही रूप कुल औसत व्यय की रेखा का भी होता है। क्योंकि औसत स्थिर व्यय तथा औसत परिवर्तनशील व्यय प्रारम्भ मे दोनों ही गिरते हैं, जिसके कारण औसत कुल व्यय भी गिरता है, परन्तु क्योंकि बाद मे औसत परिवर्तनशील व्यय बढ़ने लगता है इसलिए औसत कुल व्यय की रेखा भी ऊपर को जाने लगती है। यद्यपि औसत कुल व्यय की रेखा औसत परिवर्तनशील व्यय के न्यूनतम् हो जाने के कुछ समय पश्चात् ही ऊपर को जाना प्रारम्भ करती है।

(III) सीमान्त व्यय—

जब एक और इकाई का उत्पादन किया जाता है, तो केवल परिवर्तनशील व्यय में ही वृद्धि होती है। इस कारण किसी भी उपज की मात्रा से सम्बन्धित सीमान्त अल्पकालीन व्यय स्थिर व्यय के प्रभाव से विमुक्त होता है। परिवर्तनशील व्यय पर निर्भर होने के कारण सीमान्त व्यय की रेखा का रूप भी अंग्रेजी के U प्रकार के समान होता है जिसका यह अर्थ होता है कि कुछ दूरी तक सीमान्त व्यय गिरता है परन्तु फिर बढ़ने लगता है।

अल्पकाल में विभिन्न प्रकार के व्यय का सम्बन्ध—

अब हमारे लिए यह सम्भव है कि अल्पकाल में विभिन्न प्रकार के उत्पादन-व्यय का सम्बन्ध दिखा सकें। निम्न चित्र इस सम्बन्ध को दिखाता है :—
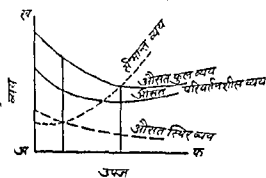
औसत स्थिर व्यय रेखा निरन्तर दाहिनी ओर नीचे को गिरती हुई रेखा है। औसत कुल व्यय, औसत परिवर्तनशील व्यय तथा सीमान्त व्यय तीनों की रेखायें U के आकार की हैं। सीमान्त व्यय की रेखा कुल औसत तथा परिवर्तनशील औसत व्यय दोनों ही के लिए सीमान्त रेखा है और दोनों को उनके सबसे नीचे बिन्दुओं पर काटती है। जब तक औसत परिवर्तनशील व्यय घट रहा है, तब तक सीमान्त व्यय की रेखा औसत परिवर्तनशील व्यय की रेखा के नीचे रहती है, परन्तु जैसे ही औसत परिवर्तनशील व्यय बढ़ने लगता है, वैसे ही सीमान्त व्यय की रेखा ऊपर चली जाती है। ठीक इसी प्रकार, जब तक कुल औसत व्यय घटता है, तब तक सीमान्त व्यय की रेखा औसत व्यय की रेखा से नीचे रहती है, परन्तु जैसे ही औसत व्यय बढ़ने लगता है, वैसे ही ऊपर चली जाती है।

दीर्घकाल में उत्पादन-व्यय की रेखायें
(Cost Curves in Long Period)

दीर्घकाल में समय पर्याप्त होता है जिस कारण उत्पादन-क्षमता का माँग से समायोजन किया जा सकता है और नये प्लाण्ट लगाये जा सकते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर कुछ पुराने प्लाण्ट (Plants) हटाये जा सकते हैं। इस काल मे स्थिर और परिवर्तनशील व्यय का अन्तर समाप्त हो जाता है और केवल दो प्रकार के उत्पादन-व्यय की रेखायें रह जाती हैं, अर्थात् औसत व्यय तथा सीमान्त व्यय।

औसत व्यय की रेखा—

अल्पकाल मे प्लान्ट का आकार निश्चित होता है और उसे न घटाया जा सकता है और न बढ़ाया जा सकता है। दीर्घकाल मे न केवल उत्पादन को घटाना-बढाना ही सम्भव होता है, परन्तु स्वय प्लान्ट मे भी परिवर्तन किये जा सकते हैं। एक निश्चित उपज प्राप्त करने के लिए उत्पादक विभिन्न प्लान्टो मे चुनाव करता है और उस प्लान्ट को चुनता है जो उस उपज को न्यूनतम् व्यय पर उत्पन्न करता है। उत्पादन के एक दिये हुए आकार की दृष्टि से अलग-अलग प्लाण्ट अधिक उपयुक्त होते है। यदि हम अलग-अलग प्लाण्टो की उत्पादन-व्यय रेखायें खीचें, तो इन उत्पादन व्यय रेखाओ के वे भाग, जो नीचे उत्पादन-व्यय को दिखाते हैं, दीर्घकालीन उत्पादन-व्यय की रेखा का निर्माण करते हैं। निम्न रेखाचित्र इसे स्पष्ट करता है :—
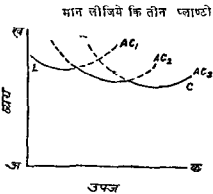
मान लीजिये कि तीन प्लाण्टो को लेते हैं जिनके औसत उत्पादन-व्यय की रेखाएं AC_1, AC_2 और AC_3 है। इन रेखाओ के वे भाग, जो बिन्दुदार नही हैं, उत्पत्ति की एक आकार सीमा (Range) की दृष्टि से न्यूनतम् उत्पादन-व्यय को दिखाते है। ये सब भाग मिलकर एक वक्र का निर्माण करते हैं, जिसे उत्पादन-व्यय का दीर्घकालीन वक्र कहा जा सकता है। साथ के चित्र मे वह सारा वक्र जो बिन्दुदार नही है, (L C) उत्पादन-व्यय का दीर्घकालीन (औसत) वक्र है।

यदि हम चाहे तो इस वक्र को इस प्रकार भी खीच सकते है कि यह ऊपर-नीचे जाने के स्थान पर एक नियमित रूप मे (Smooth) चलता है। उस दशा मे इस वक्र का रूप भी अँग्रेजी भाषा के U अक्षर जैसा होगा।

सीमान्त व्यय की रेखा—

दीर्घकालीन सीमान्त व्यय की रेखा अल्पकालीन सीमान्त व्यय की रेखा जैसी ही होती है। अन्तर केवल यह होता है कि अल्पकाल मे सीमान्त-व्यय कुल परिवर्तनशील व्यय के परिवर्तन को कुल उपज के परिवर्तन से भाग देकर प्राप्त होता है। दीर्घकाल मे स्थिर और परिवर्तनशील व्यय का अन्तर समाप्त हो जाता है। अत. दीर्घकाल मे सीमान्त व्यय मे वह परिवर्तन होता है जो उपज की मात्रा मे एक इकाई की वृद्धि करने से कुल उत्पादन-व्यय मे होता है। दीर्घकालीन औसत
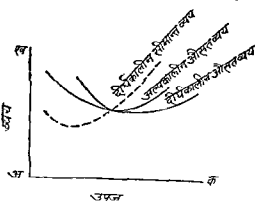
व्यय की रेखा की भाँति दीर्घकालीन सीमान्त व्यय की रेखा का रूप भी U अक्षर जैसा होता है। यदि दीर्घकालीन औसत व्यय घट रहा है तो सीमान्त व्यय की रेखा औसत व्यय की रेखा के नीचे होगी। परन्तु जैसे ही दीर्घकालीन व्यय बढने लगता है, वैसे ही सीमान्त व्यय की रेखा औसत व्यय की रेखा के ऊपर चली जाती है। इस प्रकार, सीमान्त व्यय की दीर्घकालीन रेखा भी दीर्घकालीन औसत व्यय की रेखा को उस बिन्दु पर काटती है, जिस पर औसत व्यय न्यूनतम् होता है (अर्थात् औसत व्यय की रेखा के सबसे नीचे बिन्दु पर)।

६

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य
(Value Under Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता—एक कल्पना

यदि हम उन मान्यताओं को ध्यानपूर्वक देखें जो कि पूर्ण प्रतियोगिता के लिये आवश्यक हैं, तो हमारा निष्कर्ष यही होगा कि वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता का होना सम्भव नहीं है। यह तो एक कोरी कल्पना मात्र है, क्योंकि—(१) वास्तविक जीवन में प्रायः ऐसा देखने में आता है कि **एक अकेला ग्राहक अथवा एक अकेला विक्रेता वस्तु की कीमत को बड़े अंश तक प्रभावित कर सकता है।** सेवाओं के बाजार में तो यह बात बड़ी ही स्पष्टता के साथ दृष्टिगोचर होती है। एक अकेला सेवायोजक (Employer) अपनी शर्तें रखने में बड़े अंश तक सफल हो जाता है। इसी प्रकार, बहुमूल्य वस्तुओं के उत्पादक अथवा विक्रेता की स्थिति भी एकाधिकारी सदृश्य होती है। (२) **वस्तु की विभिन्न इकाइयों के बीच भी अन्तर** रहते हैं। बहुत बार तो ये अन्तर वास्तविक होते हैं, परन्तु कभी-कभी कल्पित भी हो सकते हैं। विक्रेता प्रचार तथा विज्ञापन, किस्म के सूक्ष्म अन्तर, पैकिङ्ग डिजायन आदि द्वारा भी विभिन्न इकाइयों में अन्तर उत्पन्न कर देता है। (३) **ग्राहकों की मनोवृत्ति को प्रभावित किया जा सकता है।** (४) **ग्राहकों और विक्रेताओं को कीमत के विषय में भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता** और न ही वे बाजार की दशाओं से पूर्णतया परिचित होते हैं। बहुत बार तो वे आलस्य के कारण भी इन बातों से अपरिचित रहते है। परिणाम यह होता है कि कभी-कभी पूर्णतया एक जैसी वस्तुओं की भी कीमतें अलग-अलग रहती हैं। (५) **उपभोक्ताओं तथा विक्रेताओं के संघ** पूर्ण प्रतियोगिता को असम्भव बना देते हैं। (६) **स्वयं राज्य भी आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करता है।** विशेष परिस्थितियों में, जैसे युद्धकाल तथा सङ्कट काल में, सरकारी हस्तक्षेप बहुत व्यापक हो सकता है। (७) **श्रम-संघ** श्रम की निष्कंटक गतिशीलता में बाधक होते हैं। (८) **बहुत बार रूढ़ियाँ, प्रथाएँ तथा भावनाएँ भी विक्रेताओं और ग्राहकों के स्वतन्त्र चुनाव में बाधा डालती हैं।** ग्राहकों की कुछ ऐसी मनोवृत्ति होती है कि वे बहुधा बिना विचारे उन विक्रेताओं की ओर खिंचे चले जाते है जिनसे वह पहले से खरीदते आये है और दूसरो से कीमत पूछने का कष्ट भी नहीं करते। विक्रेता भी बँधे हुए ग्राहकों के प्रति अधिक उदार होता है।

उपरोक्त सभी कारक पूर्ण प्रतियोगिता की दशा को अवास्तविक बना देते हैं। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता का विचार एक सैद्धान्तिक वास्तविकता मात्र है। **यहाँ पर यह बताना भी असंगत न होगा कि पूर्ण प्रतियोगिता एक आदर्श दशा भी नहीं है। अर्थशास्त्र के अध्ययन में हम पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता को केवल इसलिए स्वीकार करते हैं कि इससे हमारा अध्ययन सरल हो जाता है।**

पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य-निर्धारण सम्बन्धी विशेष बातें

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में मूल्य का निर्धारण किस प्रकार होता है। विवेचना को सरल बनाने के उद्देश्य से कुछ जटिल परिस्थितियों को

यथास्थिर मान लेना आवश्यक है। साथ ही साथ यह भी निश्चय है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अध्ययन का महत्त्व प्राय. सैद्धान्तिक ही है, व्यावहारिक नहीं, क्योंकि वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता का उदाहरण मिलना कठिन है। पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है, इसे समझने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) कंठछेदी प्रतिस्पर्धा से मूल्य में निरन्तर कमी—

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में खरीदने वालों तथा बेचने वालों की संख्या बहुत अधिक होती है और विक्रेताओं में कण्ठछेदी स्पर्धा (Cut-throat competition) होता है, जिसका अर्थ यह है कि प्रत्येक विक्रेता कीमत को घटाकर सारे ग्राहकों को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करता है। अब, चूँकि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में प्रत्येक ग्राहक को वस्तु का दाम-सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान होता है (अर्थात्, प्रत्येक ग्राहक को प्रत्येक विक्रेता के दाम ज्ञात होते हैं) और स्वभाव से ही प्रत्येक ग्राहक कम से कम दामों पर वस्तु को खरीदना चाहता है, इसलिए जो विक्रेता दूसरों की अपेक्षा थोड़ी कम कीमत पर बेचने को तैयार होता है, उसी पर सारे ग्राहक टूट पड़ते हैं, अन्य विक्रेता अपना माल बेच ही नहीं सकते हैं। ऐसी दशा में किसी भी विक्रेता के पास ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करने का एक ही उपाय होता है—दामों को घटा देना। जैसे ही कोई विक्रेता दाम घटाता है, वैसे ही सब ग्राहक इस बात को जान लेते हैं और उसी विक्रेता से माल खरीदने के लिए दौड़ते हैं। प्रतिकार (Retaliation) के लिए, अथवा, बिक्री न होने से बाध्य होकर अन्य विक्रेताओं को भी दाम घटाने पड़ते हैं और इस प्रकार दूसरों से कम दामों पर बेचकर अधिक बिक्री करने के लोभ के कारण दाम घटाने (Price Cutting) का क्रम बराबर चलता रहता है। प्रत्येक विक्रेता दूसरे से थोड़े कम दामों पर वस्तु विशेष को बेचने का प्रयत्न करता है। उदाहरणस्वरूप, यदि प्रचलित दाम ४ रुपया प्रति इकाई है, तो कोई विक्रेता ३·६० रुपये प्रति इकाई बेचने का प्रयत्न करेगा। दूसरा ३·८०, तीसरा ३·७० और चौथा ३·५० रुपये इत्यादि। इस प्रकार दाम बराबर घटते चले जायेंगे।

(२) मूल्य घटने का क्रम लाभ लुप्त होने तक जारी करना—

अब प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार दाम घटाने का क्रम कब तक चलता रहेगा? यह निश्चय है कि दाम घटते-घटते शून्य तक नहीं पहुँच सकते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में विक्रेताओं अथवा उत्पादकों को कुछ भी लाभ नहीं मिलेगा, जबकि उत्पादन-व्यय के रूप में उन्हें उल्टा अपनी गाँठ से ही देना पड़ेगा। अत, कोई भी विक्रेता दाम तभी तक घटाता रह सकता है, जब तक कि उसे बिक्री से हानि न हो। दूसरे शब्दों में, दामों के बराबर घटने से विक्रेता के लाभ में कमी होती चली जाती है और यदि दाम घटाने का क्रम लम्बे काल तक चलता रहे, तो अन्त में लाभ का अन्त हो जाता है। निश्चय है कि लम्बे समय तक कोई भी विक्रेता हानि नहीं उठा सकता है। यदि दाम इतने नीचे गिर जायें कि उत्पादक अथवा विक्रेता को हानि ही होती रहे, तो वह उस व्यवसाय को छोड़ देगा। किन्तु जब तक थोड़ा भी लाभ शेष रहेगा, दाम घटाकर अधिक बिक्री करने की प्रवृत्ति कार्यशील होती रहेगी और इसलिए अन्त में दाम का घटाना केवल वहीं रुकेगा जहाँ लाभ पूर्णतया समाप्त हो जाता है।

(३) दाम घटते रहने का परिणाम—एक मूल्य का प्रचलन

दामों के इस प्रकार घटते रहने का महत्त्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में कीमत केवल एक ही होती है, अर्थात् सब विक्रेता एक ही दाम पर बेचते है और प्रत्येक ग्राहक एक ही दाम पर खरीदता है। दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में माँग की प्रवृत्ति बदल जाती है, जिससे वस्तु की थोड़ी और अधिक मात्राएँ भी एक ही दाम पर

बिकती है। हाँ, अल्पकाल में यह सम्भव हो सकता है कि एक विक्रेता दूसरे से कम दामों पर बेचे, परन्तु दीर्घकाल में तो सभी को एक ही दाम पर बेचना होता है।

यदि कोई विक्रेता (या कुछ विक्रेता) इससे थोड़े कम दामों पर बेचते हैं, तो सारे ग्राहक उन्हीं से खरीदने के लिए आते हैं। अब यदि उस विक्रेता (या उन विक्रेताओं) का वस्तु की पूर्ति की मात्रा के अधिकांश भाग पर नियन्त्रण है, तो तनिक भी ऊँचे दाम माँगने वालों की कुछ भी बिक्री नहीं हो सकेगी और उनको विवश होकर दामों को घटाकर वहीं लाना पड़ेगा, जहाँ पहले विक्रेता (अथवा विक्रेताओं) ने रखा है। इस प्रकार, अन्त में वही घटी हुई कीमत चालू कीमत बन जायगी। इसके विपरीत, यदि पहले विक्रेता (अथवा विक्रेताओं) का वस्तु की पूर्ति के बहुत ही थोड़े भाग पर अधिकार है, तो कम दामों पर बेचने के कारण शीघ्र ही उसका सारा भण्डार समाप्त हो जायगा और तत्पश्चात् अन्य विक्रेताओं द्वारा माँगी हुई कीमत ही बाजार में एकमात्र रह जायगी। इस प्रकार, दीर्घकाल में केवल एक ही कीमत रहेगी।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि अल्पकाल में भी यथार्थ में कीमत एक ही रहती है। यद्यपि विभिन्न विक्रेता अलग-अलग दाम माँगते है, तथापि एक समय विशेष में बिक्री केवल एक ही दाम पर होती है। इस प्रकार, वैसे तो अलग-अलग विक्रेता अलग-अलग दाम माँगते हैं, किन्तु क्रय केवल उन दामों पर होता है, जो सबसे कम होते हैं, अतः सप्रभाविक कीमत केवल एक ही होती है।

(४) माँग-रेखा का गुण—अक्ष रेखा के समानान्तर होना

कीमत की इस प्रवृत्ति से हमें पूर्ण प्रतियोगिता में माँग की रेखा का एक विशेष गुण ज्ञात होता है। इस दशा में माँग की रेखा अ क अक्ष के समानान्तर होती है अर्थात् माँग पूर्णतया लोचदार होती है और माँग की रेखा एक सरल रेखा होती है। निम्न चित्र इसे दिखाता है :—
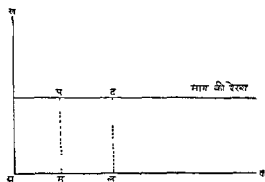
इस चित्र में हम देखते हैं कि प म और ट ल बराबर कीमतों को दिखाते हैं, परन्तु प म दामों से सम्बन्धित माँग की मात्रा केवल अ म है, जब कि ट ल से सम्बन्धित माँग की मात्रा अ ल है, जो इससे बहुत अधिक है। इस प्रकार कीमत के शून्य परिवर्तन के फलस्वरूप माँग में असीमित परिवर्तन हो जाते हैं। यहाँ माँग की लोच असीमित है। ऐसी दशा में माँग की रेखा का अ क के समानान्तर होना स्वाभाविक है। चित्र में माँग की रेखा का यही रूप दिखाया गया है।

(५) औसत आगम (AR) और सीमान्त आगम (MR) का बराबर होना—

जैसा कि ऊपर बताया गया है, पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्तिगत विक्रेता के लिए माँग पूर्णतया लोचदार होती है। इस बात का किसी फर्म की औसत और सीमान्त आगम रेखाओं की स्थिति और उनके रूप पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। चूँकि माँग पूर्णतया लोचदार होती है, इसलिए एक विक्रेता एक ही कीमत पर वस्तु की कितनी भी मात्रा बेच सकता है। मान लीजिये कि वस्तु की प्रति इकाई कीमत १० रुपया है, तो ऐसी दशा में विक्रेता विशेष की आगम अनुसूची (Revenue Schedule) इस प्रकार होगी :—

तालिका

वस्तु की इकाइयाँ	कीमत अथवा औसत आगम (रुपयों में)	कुल आगम (रुपयों में)	सीमान्त आगम (रुपयों में)
१	१०	१०	१०
२	१०	२०	१०
३	१०	३०	१०
४	१०	४०	१०
५	१०	५०	१०

चूँकि विक्रेता वस्तु की प्रत्येक इकाई को एक ही कीमत पर बेचता है, इसलिए औसत आगम कीमत के बराबर रहेगी और चूँकि बिक्री की प्रत्येक मात्रा के लिए कीमत समान ही है, इसलिए औसत आगम समान ही रहेगी, चाहे कितनी ही मात्रा क्यों न बेची जाय। इसके अतिरिक्त, बिक्री की प्रत्येक मात्रा पर औसत आगम सीमान्त आगम के बराबर होगी। गणित की भाषा में इसका अर्थ यह होता है कि औसत और सीमान्त आगम एक ही रेखा द्वारा सूचित होंगी और वह रेखा भी एक सरल रेखा होगी, जो कि अ क के समानान्तर होगी और अ क से कीमत के बराबर की दूरी पर होगी। निम्न चित्र में आगम रेखाएँ दिखाई गई है :—
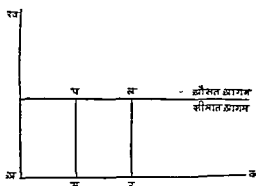
इस चित्र के अनुसार, जब बिक्री की मात्रा अ म है तो औसत और सीमान्त आगम दोनों प म के बराबर हैं और जब बिक्री की मात्रा अ र है, तो औसत और सीमान्त आगम स र के बराबर है। किन्तु प म और स र दोनों एक दूसरे के बराबर हैं, इसलिए औसत आगम/सीमान्त आगम की रेखा अ क के समानान्तर होगी।

एक अन्य रीति से भी इस बात को समझाया जा सकता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, माँग की रेखा के स्थान पर आगम रेखाओं का उपयोग किया जा सकता है और इन रेखाओं के रूप और गुण माँग की रेखा जैसे ही होते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता में आगम-रेखायें भी क्षितिज के समानान्तर (Horizontal) होती है। औसत आगम औसत कीमत का ही दूसरा नाम है, इसलिए उसकी रेखा का ठीक वही रूप होगा, जो माँग-रेखा का होता है, परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में औसत तथा सीमान्त आगम एक ही रेखा द्वारा सूचित किये जाते है अर्थात् दोनों की रेखायें अनुरूप होती हैं। कारण, दीर्घकाल में प्रत्येक दूकानदार की सीमान्त आगम तथा औसत आगम का समान होना आवश्यक है। यदि अन्तिम इकाई से प्राप्त आगम औसत आगम से कम है, तो यह लाभ दिखाता है और यदि इसके विपरीत है तो हानि को, परन्तु दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की दिशा में लाभ और हानि दोनों में से किसी का भी रहना असम्भव है, इसलिए इस दशा में औसत सीमान्त आगम बराबर ही रहेंगी।

(६) पूर्ण प्रतियोगिता में पूर्ति का लगभग स्थिर रहना—

पूर्ति तथा उत्पादन-व्यय का रूप पूर्ण प्रतियोगिता में भी उनके साधारण अथवा

सामान्य रूप में भिन्न नहीं होता। यदि हम एक प्रवैगिक दशा (Dynamic State) को ले, तो अल्पकाल में किसी भी फर्म के लिए यह सम्भव होता है कि वह या तो लाभ कमाये या हानि उठाये। इसका कारण स्पष्ट है और यह है कि अल्पकाल में माँग का महत्त्व बहुत होता है, क्योंकि पूर्ति में परिवर्तन कर देना सम्भव नहीं होता। फलत: माँग के घटने-बढने के अनुसार कीमत भी घटती-बढती है। यदि उत्पादक उत्पादन-व्यय से ऊँचे दामों पर बेचे, तो उसे लाभ होता है। परन्तु यदि वह उत्पादन-व्यय से भी नीचे दामों पर बेचने के लिए बाध्य हो तो उसे हानि होगी।

साधारणतया एक विक्रेता के उत्पादन-व्यय में तीन प्रकार के व्यय सम्मिलित होते है :—(अ) अनुपूरक उत्पादन व्यय, (ब) प्रधान उत्पादन व्यय, तथा (स) वस्तुओं को बिक्री के लिए प्रस्तुत करने का व्यय (Marketing Cost)। शीघ्र नाशवान वस्तुओं के दाम अल्पकाल में कभी-कभी इतने नीचे गिर जाते है कि विक्रेता को केवल बिक्री व्यय (Marketing Cost) ही प्राप्त हो सके। इसके विपरीत, जो वस्तुएँ शीघ्र खराब नहीं होती है उनमे हानि कम होती है। ऐसी वस्तुओं को बेचने के लिए तभी तक प्रस्तुत किया जाता है, जब तक कीमत के रूप में कम से कम बिक्री व्यय तथा प्रधान व्यय अवश्य वसूल हो जायें। यदि इतनी न्यूनतम् लागत वसूल न हो तो विक्रेता वस्तु का सचय कर लेगा और उसे बिक्री के लिए प्रस्तुत नहीं करेगा। इस प्रकार, अल्प-काल मे लाभ और हानि दोनो की ही सम्भावना हो सकती है। किन्तु हानि कितनी होगी, यह वस्तु विशेष के गुणों पर निर्भर रहता है। शीघ्र नाशवान वस्तुओं मे हानि की सम्भावना अधिक रहती है।

(७) दीर्घकालीन उत्पादन व्यय की रेखायें खींचना—

किसी भी वस्तु की अल्पकालीन उत्पादन व्यय की रेखायें सरलता से खीची जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम अल्पकाल की अवधि एक महीने की मानते है, तो महीने भर के प्रत्येक दिन के औसत व्यय के बिन्दुओ को ग्राफ कागज पर निश्चित करके हम प्रत्येक महीने के औसत उत्पादन व्यय की रेखा खींच सकते हैं।

यदि हमारी दीर्घकाल की अवधि एक वर्ष है, तो बारह महीनो के अल्पकालीन औसत उत्पादन व्यय की वक्र रेखायें हमारे सामने होंगी। इन रेखाओं के आधार पर वर्ष भर के औसत उत्पादन व्यय की वक्र रेखा आसानी से खीची जा सकती है। दीर्घकालीन औसत उत्पादन व्यय की रेखा अल्पकालीन उत्पादन व्यय की रेखाओ के सबसे नीचे बिन्दु के बिन्दुपथ (Locus) द्वारा सूचित की जाती है। यह बात निम्न रेखाचित्र मे दिखाई गई है :—
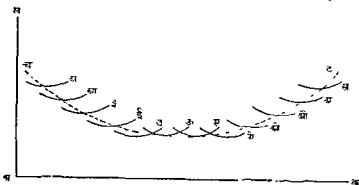
चित्र—औसत उत्पादन व्यय रेखा

इस चित्र मे च ट रेखा, जो बिन्दुदार (Dotted) रेखा है, दीर्घकालीन औसत उत्पादन व्यय की रेखा है। यह रेखा ग, गा इत्यादि वक्र रेखाओं के सबमे नीचे बिन्दुओं को मिलाती है। ठीक इसी प्रकार हम दीर्घकालीन सीमान्त उत्पादन व्यय की रेखा को भी खीच सकते हैं जिनमे कोई विशेष कठिनाई नही होती है, क्योंकि यह भी अल्पकालीन सीमान्त व्यय की रेखाओ के सबसे नीचे बिन्दुओं को मिलाकर खीची जा सकती है। अन्त मे दीर्घकालीन उत्पादन व्यय की रेखाओ का रूप निम्न चित्र मे दिखाये गये अनुसार होना है :—

ये रेखाये अल्प तथा दीर्घ दोनो ही कालो को दिखाती है और उत्पत्ति सम्बन्धी तीनों नियमो—क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि, स्थिरता तथा ह्रास नियमो—को दिखाती हैं। अल्पकाल मे अधिकतर वृद्धि नियम लागू होता है और औसत तथा सीमान्त व्यय घटते चले जाते है। फिर उत्पत्ति स्थिरता नियम कार्यशील होता है तथा ट ८ ट२ व्यय यथास्थिर रहता है और अन्त मे ह्रास नियम के अनुसार व्यय बढ़ता जाता है। इस चित्र मे उत्पादन व्यय की रेखा आरम्भ मे नीचे गिरती जाती है, फिर अ क के समानान्तर हो जाती है और अन्त मे ऊपर को चढती जाती है।
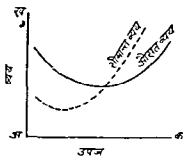
मूल्य का निर्धारण

एक पिछले अध्याय मे हमने मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त का विवेचन किया था। हमने यह देखा था कि मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होता है, जहाँ सीमान्त आगम तथा सीमान्त उत्पादन व्यय की वक्र रेखाये एक-दूसरी को काटती है। हमने यह भी देखा था कि दीर्घकाल मे केवल यह मूल्य ही स्थायी रह सकता है। यह सामान्य सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता पर भी लागू होता है। परन्तु जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता सम्बन्धी माँग और पूर्ति की विवेचना से स्पष्ट होता है, पूर्ण प्रतियोगिता की कुछ अपनी विशेषताये भी होती हैं जिनमे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दीर्घकाल मे लाभ और हानि का बिल्कुल अन्त हो जाता है। अत पूर्ण प्रतियोगिता का मूल्य दीर्घकाल मे इस प्रकार निर्धारित होगा कि सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय के समान रहते हुए भी उत्पादक अथवा विक्रेता को न तो लाभ ही हो और न हानि हो, यद्यपि अल्पकाल मे लाभ या हानि होना सम्भव है।

(I) अल्पकाल में कीमत का निर्धारण—

एक सामान्य दशा की भांति पूर्ण प्रतियोगिता मे भी अल्पकाल मे लाभ अथवा हानि हो सकती है। केवल इतनी विशेषता होती है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे औसत और सीमान्त आगम बराबर होता है। अन्य शब्दो मे, जैसा कि सामान्य दशा मे मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त (या मूल्य का सामान्य सिद्धान्त) बताता है, कीमत का निर्धारण इस प्रकार होता है कि सीमान्त उत्पादन व्यय तथा सीमान्त आगम दोनो बराबर हो। पूर्ण प्रतियोगिता मे भी अल्पकालीन दृष्टि से यही स्थिति (सीमान्त व्यय बराबर सीमान्त आगम) होगी, परन्तु क्योंकि औसत और सीमान्त आगम बराबर हैं, इसलिए सीमान्त व्यय, सीमान्त आगम और औसत आगम तीनो ही समान रहेंगे।

(१) लाभ की स्थिति—अग्र चित्र मे हमने यह दिखाया है कि अल्पकाल में विक्रेता (अथवा उत्पादक) लाभ कमाता है :—

चित्र—पूर्ण प्रतियोगिता के अधीन अल्पकाल मे मूल्य (लाभ की दशा)
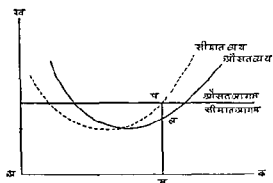
इस चित्र के अनुसार कीमत **प म** के बराबर होगी, क्योंकि प म औसत आगम, सीमान्त आगम और सीमान्त व्यय तीनो की समानता को दिखाती है। जब बिक्री की मात्रा **अ म** है, तो औसत व्यय **ल म** के बराबर है। किन्तु चूँकि औसत आगम **प म** है, इसलिए बिक्री की प्रत्येक इकाई पर औसत लाभ **प म**=**ल म**=**प ल** होगा और कुल लाभ **प ल**×**अ म** (अर्थात् कुल बिक्री और औसत लाभ का गुणनफल) होगा। इसी दशा मे लाभ अधिकतम् होगा। अतः अल्पकाल मे पूर्ण प्रतियोगिता मे भी लाभ हो सकता है, जो कण्ठछेदी प्रतियोगिता के कारण दीर्घकाल मे समाप्त हो जायेगा।

(२) हानि की स्थिति—परन्तु यह भी सम्भव है कि उसे लाभ के स्थान पर हानि हो। अल्पकाल मे हानि होते हुए भी उत्पादक फर्म उद्योग मे बनी रह सकती है। इस प्रकार की स्थिति को औसत परिवर्तनशील व्यय (Average Variable Cost) के विचार की सहायता से आसानी से दिखा सकते है। अल्पकाल की विशेषता यह है कि स्थिर व्यय तो होगा ही, चाहे उत्पादन शून्य के बराबर हो, किन्तु उत्पादन को बन्द करके परिवर्तनशील व्यय से बचा जा सकता है। अन्य शब्दो मे, उत्पादक स्थिर साधनो का उपयोग तो प्रत्येक दशा मे करेगा परन्तु परिवर्तनशील साधनो का उपयोग करना आवश्यक नही है। परिवर्तनशील साधन केवल उस दशा मे ही उपयोग किये जायेगे जब कि कम से कम इन परिवर्तनशील साधनो का व्यय कीमत मे से निकल आवे। अर्थात् अल्पकाल मे कीमत कुल औसत व्यय (कुल व्यय मे स्थिर तथा परिवर्तनशील दोनो प्रकार के व्यय सम्मिलित होते है) से नीचे हो सकती है परन्तु जब तक कीमत औसत परिवर्तनशील व्यय से ऊँची होगी, उत्पादक उतनी मात्रा अवश्य उत्पन्न करता रहेगा, जो उसके सीमान्त व्यय को उसकी सीमान्त आगम के बराबर कर दे। इस प्रकार, हानि की दशा मे नीची से नीची कीमत इतनी हो सकती है कि वह औसत परिवर्तनशील व्यय के बराबर हो। इस कारण कीमत कुल औसत व्यय से तो नीची हो सकती है, परन्तु औसत परिवर्तनशील व्यय से नीची नही। कारण, यदि कीमत इससे भी नीची चली जाये, तो उत्पादक उत्पादन करना ही बन्द कर देगा।

इस चित्र मे यह स्थिति दिखाई गई है। चित्र मे **प म** न्यूनतम कीमत है। **प** ऐसा बिन्दु है जिस पर सीमान्त आगम सीमान्त व्यय तथा औसत परिवर्तनशील व्यय की रेखायें एक दूसरी को काटती हैं। इस कीमत पर सीमान्त व्यय और सीमान्त आगम तो बराबर हैं ही परन्तु साथ ही साथ कीमत औसत परिवर्तनशील व्यय के भी बराबर है। इस स्थिति मे उत्पादक अपना औसत परिवर्तनशील व्यय तो पूरा का पूरा वसूल कर लेता है परन्तु स्थिर व्यय का कोई भी भाग वसूल नहीं हो पाता। यही उसकी अधिकतम् हानि होगी।

चित्र—पूर्ण प्रतियोगिता के अधीन अल्पकाल मे मूल्य (हानि)

(II) दीर्घकालीन कीमत का निर्धारण—

दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कोई भी फर्म लाभ प्राप्त नहीं कर सकती है। प्रत्येक विक्रेता अपनी बिक्री बढाने के लिए कीमत को घटाता जायेगा, जिससे धीरे-धीरे औसत लाभ घटता जायेगा और अन्त मे दीर्घकाल में ऐसी स्थिति आ जायेगी कि लाभ पूर्णतया समाप्त हो जाय। स्मरण रहे कि लाभ केवल उसी दशा में समाप्त होगा जबकि औसत व्यय औसत आगम के बराबर हो।

यहाँ पर यह प्रश्न भी उठ सकता है कि क्या कीमत इससे और नीचे नहीं गिर सकती है? यदि औसत आगम (अथवा कीमत) औसत व्यय से नीचे गिरती है, तो बिक्री की प्रत्येक इकाई पर हानि होने लगती है। जहाँ तक अल्पकाल का प्रश्न है, एक विक्रेता इस आशा पर कि आगे चल कर लाभ होगा, कुछ समय तक हानि भी उठा सकता है। परन्तु यह हानि यदि दीर्घकाल में भी बनी रहती है, तो फर्म अपने व्यवसाय को चालू नहीं रख सकेगी। दीर्घकाल में हानि होने का अर्थ व्यवसाय का बन्द होना होता है। अतः **दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता में हानि नहीं होगी और जैसा कि ऊपर बताया गया है लाभ भी नहीं होगा। कीमत इस प्रकार निश्चित होगी कि कुल आगम कुल व्यय के बराबर हो अथवा औसत आगम और व्यय के बराबर हो।**

उदाहरण—*यदि औसत आगम औसत व्यय से अधिक है*, तो उत्पादक या विक्रेता को लाभ होगा, क्योंकि ऐसी दशा में उत्पत्ति की प्रत्येक इकाई उससे अधिक दामों पर बिकेगी, जितनी कि उस पर औसत लागत पड़ती है। दूसरे शब्दों में, कुल व्यय से कुल आगम की अधिकता लाभ की सूचक है। उदाहरणस्वरूप, यदि १,००० इकाइयाँ बेची जाती हैं और दाम ११ रुपये प्रति इकाई हैं, तो कुल आगम ११,००० रुपये होगी। अब यदि औसत उत्पादन व्यय केवल १० रुपये प्रति इकाई है, तो कुल व्यय १०,००० रुपये होगा, जिसके फलस्वरूप १,००० रुपये का लाभ होगा। ठीक इसी प्रकार, यदि औसत आगम औसत व्यय से कम है, तो हानि होगी। अब क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में लम्बे काल में न तो लाभ होता है और न हानि, इसलिए औसत आगम औसत व्यय से कम या अधिक नहीं होती है। लाभ और हानि दोनों का अन्त उसी समय हो सकता है जबकि औसत आगम तथा औसत व्यय बराबर हों। इस प्रकार, पूर्ण प्रतियोगिता की एक विशेषता यह है कि इसमें औसत आगम और औसत व्यय बराबर होते हैं।

दीर्घकालीन मूल्य की विशेषतायें— माँग की विवेचना में हम यह पहले ही देख चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में औसत और सीमान्त आगम बराबर होते हैं और एक ही रेखा द्वारा दिखाये जाते हैं। यह भी हम देख चुके हैं कि स्थायी साम्य में सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय का बराबर होना आवश्यक है। इस प्रकार दीर्घकालीन मूल्य में पूर्ण प्रतियोगिता द्वारा निम्नलिखित विशेषताएँ उपस्थित की जाती हैं —

औसत व्यय =औसत आगम
औसत आगम =सीमान्त आगम
सीमान्त आगम=सीमान्त व्यय

दूसरे शब्दों में, पूर्ण प्रतियोगिता का दीर्घकालीन मूल्य निम्न दशा में सूचित होता है औसत आगम=औसत व्यय=सीमान्त आगम=सीमान्त व्यय। गणित की भाषा में इस बात को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यह मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होता है, जहाँ पर औसत आगम, सीमान्त आगम और औसत व्यय तथा सीमान्त व्यय चारों की वक्र रेखायें एक दूसरी को काटती हैं।

स्थैतिक दशा में मूल्य निर्धारण
[अनुरूप व्यय रेखायें]

उपरोक्त विवेचन इस मान्यता पर आधारित है कि सभी फर्मों की उत्पादन व्यय की रेखा एक जैसी (Identical) है। परन्तु ऐसा सदा आवश्यक नहीं है, क्योंकि स्थैतिक दशाओं में सभी फर्मों की उत्पादन व्यय रेखायें अनुरूप होती हैं, किन्तु प्रवैगिक दशाओं में ऐसा नहीं होता। स्थैतिक दशाओं में व्यय रेखाओं की अनुरूपता के निम्न कारण है :—(i) विभिन्न फर्मों के बीच उत्पत्ति के साधनों का अधिक उपयुक्त वितरण हो जायेगा, क्योंकि दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म के लिए साधनों की प्राप्ति का समान अवसर होता है और विभिन्न फर्मों के बीच साधनों की किस्म के अन्तर समाप्त हो जाते है। (ii) चूंकि प्रत्येक फर्म अनुकूलतम् आकार (अर्थात् न्यूनतम्-व्यय-आकार) प्राप्त करने का प्रयत्न करेगी, इसलिए सभी फर्मों द्वारा समान व्यय की प्रवृत्ति होगी। स्थिति इस प्रकार है कि यदि एक फर्म का औसत उत्पादन व्यय दूसरी से नीचा है तो या तो वह दूसरी फर्म को उद्योग से निकाल देगी या वह अपनी उपज का न्यूनतम् व्यय बिन्दु से आगे विस्तार कर लेगी जिससे कि अन्त में उसका औसत व्यय प्रतिद्वन्द्वी के औसत व्यय के बराबर हो जायेगा।

फर्म के साम्य की दोहरी शर्तें—दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म न्यूनतम् औसत व्यय अथवा अनुकूलतम् आकार प्राप्त करने का प्रयत्न करेगी। साम्य की स्थिति में प्रत्येक फर्म उपज की वह मात्रा उत्पन्न करेगी जो उसे अधिकतम् लाभ प्रदान करती है और यह अधिकतम् लाभ सामान्य लाभ के बराबर होता है। इसका अर्थ यह है कि औसत व्यय, जिसमें सामान्य लाभ भी सम्मिलित होता है, औसत आगम अथवा कीमत के बराबर होता है। यदि कीमत इस बिन्दु से थोड़ी कम या अधिक होती है, तो उद्योग में फर्मों की संख्या में वृद्धि अथवा कमी होगी। इस प्रकार, साम्य की दोहरी शर्त होती है—सीमान्त व्यय = सीमान्त आगम, तथा, औसत व्यय = औसत आगम। यह दोहरी शर्त उस दशा में पूरी होती है जबकि औसत आगम रेखा औसत व्यय रेखा को उसके निम्नतम् बिन्दु पर स्पर्श करे। अन्य किसी दशा में यह सम्भावना नहीं होगी। अगले रेखाचित्र की तीन आकृतियाँ इसे दिखाती है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—चित्र I औसत आगम रेखा अपनी पूरी लम्बाई में औसत व्यय रेखा के नीचे है, जिसका अर्थ यह होता है कि उपज की प्रत्येक मात्रा सामान्य से कम लाभ प्रदान करेगी। उदाहरणार्थ उपज की OM मात्रा के लिए कीमत सामान्य व्यय के तो
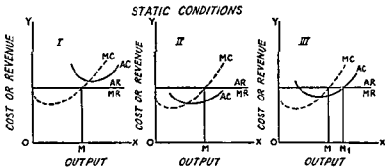
चित्र—स्थैतिक दशायें (अनुरूप व्यय रेखायें)

बराबर है परन्तु वह औसत व्यय से नीची है, जिस कारण फर्म को सामान्य से नीचा लाभ प्राप्त होता है। चित्र II में औसत आगम रेखा (AR) बराबर औसत व्यय रेखा (AC) से ऊपर

रहती है। इस दशा मे उपज की प्रत्येक मात्रा के लिए लाभ 'सामान्य से ऊँचा' रहेगा। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि फर्म साम्य की स्थिति मे नही होगी, क्योंकि OM उपज पर MC=कीमत =MR है, किन्तु उद्योग साम्य की स्थिति मे नही होगा, क्योंकि लाभो के सामान्य से अधिक होने के कारण नई फर्में उद्योग मे प्रवेश करने का प्रयत्न करेंगी। चित्र III मे औसत व्यय रेखा कुछ दूरी तक औसत आगम रेखा के नीचे रहती है और कुछ दूरी तक उसके ऊपर। यह भी उद्योग की दृष्टि से साम्य की स्थिति नही है। इस दशा मे प्रत्येक फर्म के लिए उपज की अनुकूलतम् मात्रा OM होगी, परन्तु इस उपज पर लाभ सामान्य से नीचा होगा जिस कारण कुछ फर्में उद्योग को छोडती हुई दिखाई देगी।

उद्योग के साम्य की तिहरी शर्तें—इस प्रकार, उद्योग का साम्य तभी प्राप्त होता है जबकि MC=MR और AC=AR है। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, उपज की सभी मात्राओ के लिए औसत तथा सीमान्त आगम आपस मे सदैव बराबर होते है। इस प्रकार, हमे तीन समीकरण प्राप्त है :—(१) सीमान्त व्यय=सीमान्त आगम (MC=MR), (२) औसत व्यय=औसत आगम (AC=AR) और (३) सीमान्त आगम=औसत आगम (MR=AR)। इन तीनो समीकरणो की सहायता से हम एक ऐसे समीकरण का निर्माण कर सकते हैं, जो पूर्ण प्रतियोगिता मे उद्योग के साम्य की दशा दे सके, अर्थात् औसत व्यय=औसत आगम=सीमान्त व्यय=सीमान्त आगम (AC=AR=MC=MR)।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—अब हम उद्योग के साम्य की स्थिति निर्धारित करेंगे। यह साथ के रेखा-चित्र मे दिखाई गई है। यह हम जानते है कि औसत और सीमान्त आगम दोनो एक ही सरल रेखा द्वारा दिखाये जाते हैं जो X-axis के समानान्तर होती है। हम यह भी देख चुके है कि औसत आगम रेखा (AR) औसत व्यय रेखा AC को इसके निम्नतम् बिन्दु पर स्पर्श करती है। अन्त मे, हम यह भी जानते हैं कि सीमान्त व्यय रेखा (MC) औसत व्यय रेखा (AC) के इसके निम्नतम् बिन्दु पर काटती है।[1] इन सब बातो से यही पता चलता है कि AC, MC, MR तथा AR चारो रेखाये एक दूसरी को AC रेखा के निम्नतम् बिन्दु पर काटेंगी, और उसी बिन्दु पर AR रेखा AC रेखा की स्पर्श रेखा होगी। उद्योग के साम्य की स्थिति OM उपज पर प्राप्त होती है, जिस पर (जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है) AC, AR, MC और MR चारो बराबर है। इस प्रकार, यदि सभी फर्मों की व्यय रेखाये अनुरूप हैं तो पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे, साम्य उस बिन्दु पर होगा जिस पर औसत तथा सीमान्त व्यय दोनो कीमत के बराबर हैं। इस दशा मे प्रत्येक फर्म अनुकूलतम् आकार फर्म होगी और न्यूनतम् औसत व्यय पर उत्पादन करेगी।
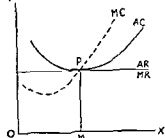
चित्र—उद्योग का साम्य

प्रवैगिक दशाये

[अलग-अलग व्यय रेखाये]

अब हम उस दशा को लेते हैं, जिसमे उद्योग की अलग-अलग फर्मों की व्यय रेखाएं

---

1 व्यय रेखायें दीर्घकाल को दिखाती हैं। वे आरम्भ मे वृद्धि और स्थिरता नियम को कार्यशील दिखाते हुए अन्त मे उत्पत्ति ह्रास नियम का बोध करती है।

अलग-अलग हैं। इस दशा मे कीमत निर्धारण हेतु हम एक महत्त्वपूर्ण विचार का उपयोग करेंगे अर्थात् सीमान्त फर्म विचार (Concept of Marginal Firm)।

सीमान्त फर्म एवं इसका अर्थ—

सीमान्त फर्म वह फर्म है जो कीमत घटने की दशा में उद्योग छोड़ने वाली सबसे पहली फर्म होती है। यह आवश्यक नही है कि यह फर्म सबसे अकुशल फर्म ही हो। यद्यपि इस अर्थ मे इसे अकुशलतम् फर्म कहा जा सकता है कि इसका औसत व्यय सबसे ऊँचा होता है। यदि ऐसी फर्म सबसे अकुशल फर्म है, तो यह सम्भव है कि इसका व्यय ऊँचा होने के कारण, जैसे ही कीमत घटती है, इसके लाभ सामान्य से नीचे गिर जाये अर्थात् इसे हानि होने लगे और यह उद्योग को छोड देने का निर्णय कर ले। परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यह आवश्यक नही है कि सीमान्त फर्म सबसे अकुशल फर्म हो। हो सकता है कि यह कुशलतम् फर्म हो, परन्तु फिर भी कीमत घटने की दशा मे यह उद्योग को छोड़ने का निर्णय इस कारण कर सकती है कि किसी अन्य उद्योग मे यह और भी अधिक लाभ कमा सकती है। दूसरे शब्दो मे, यह 'ऊँचे अवसर व्यय वाली फर्म' हो सकती है जिसके लिए किसी अन्य उद्योग मे अधिक लाभ कमाने की सम्भावना हो। कुछ अर्थशास्त्रियो का विचार यह भी है कि सीमान्त फर्म आवश्यक रूप मे 'अधिकतम् व्यय फर्म' होती है। यदि हम अवसर व्यय को भी फर्म के निहित व्यय के रूप मे सम्मिलित करले, तो फिर सीमान्त फर्म को अधिकतम् व्यय फर्म कहने मे कोई आपत्ति नही हो सकती है। फिर भी, उलझन को दूर करने के लिए यही आवश्यक है कि सीमान्त फर्म का अर्थ उसी फर्म से लिया जाये जो कीमत घटने की दशा मे उद्योग छोडने मे पहल करती है।

अन्तर्सीमान्त फर्म—

अलग-अलग व्यय रेखाओं का अर्थ यह होता है कि उपज की एक ही मात्रा के लिए एक फर्म का व्यय दूसरी से नीचा होता है। मान लीजिए कि सीमान्त फर्म को सामान्य लाभ के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्त नही होता है। इसका अर्थ है कि कुछ अन्य फर्मे, जिनका व्यय नीचा है, सामान्य से अधिक लाभ प्राप्त करेंगी। ऐसी फर्मों को हम 'अन्तर्सीमान्त फर्मे' (Intra-marginal Firms) कहेंगे।

साम्य की दशा—

अब हम फर्मों की अलग अलग व्यय रेखाओ की दशा मे सम्बन्धित साम्य दशा का अध्ययन करेंगे। साम्य की स्थिति मे कीमत सीमान्त फर्म के औसत और सीमान्त व्यय के बराबर होगी। सीमान्त व्यय का कीमत के बराबर होना आवश्यक है, अन्यथा फर्म अपनी उपज के आकार मे परिवर्तन करेगी। औसत व्यय का भी कीमत के बराबर होना आवश्यक है, अन्यथा सीमान्त फर्म या तो साम्य से अधिक लाभ कमायेगी जिस दशा मे नई फर्मे उद्योग मे आने लगेगी या सामान्य से कम लाभ कमायेगी जिस दशा मे अन्य फर्मे उद्योग को छोडने लगेगी। जैसा कि यहाँ स्पष्ट है अब हमारा अध्ययन प्रवैगिक दशाओ का अध्ययन होगा, न कि स्थैतिक दशाओ का जो कि पहले था। साम्य स्थिति मे सीमान्त फर्म केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त करेगी, परन्तु अन्तर्सीमान्त फर्मे सामान्य से अधिक लाभ कमायेंगी। यद्यपि सीमान्त तथा अन्तर्सीमान्त दोनो ही फर्मों के लिए सीमान्त व्यय सीमान्त आगम के बराबर होना चाहिए। इस स्थिति को आगे के रेखाचित्र मे दिखाया गया है।

अब चित्र से पता चलता है कि साम्य की स्थिति मे दोनो दशाओ मे कीमत PM है और उपज की मात्रा OM है। दोनो ही मे उपज पर सीमान्त व्यय, सीमान्त आगम अथवा कीमत के बराबर है। अन्तर यह है कि **सीमान्त फर्म में कीमत औसत व्यय के भी बराबर है किन्तु अन्तर्सीमान्त फर्म में औसत व्यय QM है, जो कीमत से कम है।** इस प्रकार, अन्तर्सीमान्त

फर्म लाभ कमा रही है, जिसकी औसत प्रति इकाई दर कीमत और औसत व्यय के अन्तर के बरा-

(अ) सीमान्त फर्म (ब) अन्तर्सीमान्त फर्म
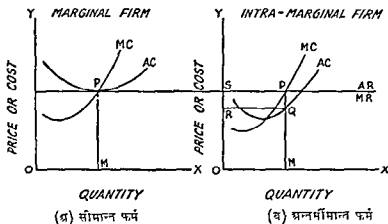
चित्र—फर्मों का साम्य

बर है, अर्थात PM—QM=PQ है। यह फर्म सामान्य लाभ के ऊपर कुल लाभ PQ×OM अथवा क्षेत्रफल PQRS के बराबर कमाती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि अन्तर्सीमान्त फर्म को उद्योग में बनाये रखने के लिए यह लाभ आवश्यक नहीं है। यदि कीमत घटती है, तो सीमान्त फर्म को हानि होने लगती है और वह उद्योग को छोड़ने को तैयार हो जाती है। किन्तु कीमत घटने से अन्तर्सीमान्त फर्म के केवल वे लाभ घटते हैं जो सीमान्त से ऊपर हैं। अन्तर्सीमान्त फर्म के सामान्य लाभ केवल एक प्रकार का आधिक्य है, जो प्रकृति में लगान सदृश हैं।

परीक्षा प्रश्न :

१. पूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ बतलाइये। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ?

२. पूर्ण प्रतियोगिता की विभिन्न विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

३. स्पष्ट कीजिए कि साम्य की अवस्था में सीमान्त लागत, सीमान्त आय के बराबर होती है।

४ पूर्ण प्रतियोगिता की शर्तें क्या हैं ? इसके अन्तर्गत मूल्य और उत्पत्ति की मात्रा किस प्रकार निर्धारित होती है ?

५. निम्न को समझाइये :—एकाधिकार तथा पूर्ण प्रतियोगिता की दोनों परिस्थितियों के लिए कीमत निर्धारित करने का आधार सीमान्त उत्पादन-व्यय तथा सीमान्त आय (Marginal revenue) की समता है।

१०

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य

(Value Under Monopoly)

एकाधिकार का अर्थ

साधारणतः एकाधिकार से हमारा अभिप्राय उस बाजार स्थिति से होता है जिसमें किसी वस्तु का बाजार मे केवल एक ही विक्रेता होता है जिसका वस्तु की पूर्ति पर पर्याप्त नियन्त्रण रहता है। आधुनिक अर्थशास्त्र मे अलग-अलग लेखकों ने एकाधिकार की अलग-अलग परिभाषाएँ की है। प्रमुख परिभाषायें इस प्रकार हैं :—

(१) **लरनर** (Lerner) : एक एकाधिकार कोई भी ऐसा विक्रेता है जिसकी उपज के लिए गिरती हुई माँग-रेखा हो। इस प्रकार, बेलोच बिक्री-रेखा एकाधिकार की उपस्थिति का चिन्ह है।"

(२) **ट्रिफिन** (Triffin) : जब एक विक्रेता की उपज अन्य सभी उपजों के बीच, जो बाजार मे बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाती है, माँग की प्रतिशत प्रतिस्थापन लोच (Cross elasticity) का अश शून्य के बराबर हो, तो इससे एकाधिकार की उपस्थिति का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दो मे, यदि किसी विक्रेता पर अपनी उपज के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपज की कीमत के परिवर्तन का कोई प्रभाव नही पड़ता है, तो वह एकाधिकारी होगा।

(३) **चैम्बरलिन** (Chamberlain) : पूर्ति पर विक्रेता का नियन्त्रण होना ही एक एकाधिकारिक बाजार-स्थिति के निर्माण के लिए पर्याप्त है।

(४) **सुमनेर** (Sumner) : शुद्ध एकाधिकार वह स्थिति है जिसमे माँग की लोच का अश शून्य के बराबर हो जबकि पूर्ण प्रतियोगिता मे यह अश अपरिमित होता है। [प्रो० चैम्बरलिन ने शुद्ध एकाधिकार (Pure Monopoly) तथा स्ट्रेफा (Straffa) ने पूर्ण एकाधिकार (Absolute Monopoly) का यह अर्थ लगाया है कि उसमे एक ही फर्म वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है।]

(५) **प्रोफेसर मेहता** : एकाधिकारी वह है जिसका कीमत पर पूर्ण नियन्त्रण हो।

शायद एक सरल परिभाषा यह होगी कि एकाधिकार एक ऐसी दशा है जिसमे वस्तु के कोई निकट स्थानापन्न नही है, पूर्ति पर एक अकेली फर्म का नियन्त्रण है और एकाधिकारी क्षेत्र मे अन्य फर्मो के प्रवेश पर प्रभावपूर्ण रुकावटे हो। ऐसी दशा मे पूर्ति को घटाने बढाने से वस्तु की कीमत प्रभावित होगी। उदाहरणार्थ यदि एकाधिकारी पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे वस्तु बेचना चाहता है, तो उसे कीमत घटानी होगी। यही कारण है कि पूर्ण प्रतियोगिता के असमान एकाधिकार मे माँग रेखा (अथवा औसत आगम रेखा A R) नीचे को गिरती हुई रेखा होती है। जैसा कि हमने एक पिछले अध्याय मे बताया था, जबकि पूर्ण प्रतियोगिता मे विक्रेता की अपनी कोई मूल्य नीति नही होती है, एकाधिकार मे एक मात्र विक्रेता अपनी मूल्य नीति रखता है।

एकाधिकारी की मान्यताएँ

एकाधिकारी की आधारभूत मान्यता निम्नांकित हैं :—

(१) **एकाधिकारी का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना**—एकाधिकार के अन्तर्गत वस्तु का केवल एक ही विक्रेता होता है और इस कारण यहाँ फर्म और उद्योग दोनो का एक ही अर्थ होता है। अत जब हम उद्योग के साम्य की बात करते है; तो हमारा अभिप्राय फर्म के साम्य से होता है। इस प्रकार चूँकि एक फर्म साम्य की दशा मे उस समय होती है जबकि वह अधिकतम लाभ कमा रही है, इसलिए एकाधिकारी उद्योग के साम्य के लिए भी वही दशा है। एकाधिकारी चाहे तो अपनी उपज की कीमत को बढा दे, परन्तु सम्भव है कि नये प्रतियोगी उत्पन्न हो जाने अथवा नये आविष्कारो के उपभोक्ताओ के विरोध अथवा सरकारी हस्तक्षेप के भय के कारण वह ऐसा न करे। अगले पृष्ठो मे हम एकाधिकारी कीमत के विवेचन मे उपरोक्त कारणों को कार्यहीन मान लेगे और इस मान्यता के आधार पर आगे बढेगे कि एकाधिकारी का उद्देश्य अपने लाभो को अधिकतम् करना मात्र है। यह हमारी पहली मान्यता होगी।

(२) **एकाधिकारी की उपज के लिए निकट स्थानापन्न न होना**—यह एकाधिकार की एक महत्वपूर्ण विशेषता है और आदर्श दशा तो वह होगी जिसमे एकाधिकार की उपज का कोई स्थानापन्न होगा ही नही। वैसे विस्तृत रूप मे तो यह मान्यता गलत प्रतीत होती है, क्योकि एक प्रकार से तो सभी वस्तुएँ एक दूसरे की स्थानापन्न हैं, क्योकि उनमे से प्रत्येक इस दशा मे एक दूसरे से प्रतियोगिता करती है कि उपभोक्ता की आय का अधिक बडा भाग अपने ऊपर व्यय करा सके। यदि हम 'स्थानापन्न' का यह अर्थ लगाते हैं तब तो हम एक शुद्ध एकाधिकार की कल्पना केवल उस दशा कर सकते हैं जबकि हम यह मान लें कि उपभोक्ता एक वस्तु पर अपनी आय का एक निश्चित भाग ही व्यय करता है, भले ही उस वस्तु अथवा अन्य वस्तुओं की कीमत मे परिवर्तन हो जाये। यदि बात ऐसी है, तो एकाधिकारी उपज की न्यूनतम् मात्रा उत्पन्न करके ही अधिकतम् लाभ कमा सकेगा, अर्थात् उसे प्रत्येक उपभोक्ता के लिए वस्तु की एक-एक इकाई उत्पन्न करनी चाहिए ताकि वह प्रत्येक उपभोक्ता से उसकी आय का वह अधिकतम् भाग प्राप्त कर सके, जिसे उपभोक्ता ने उस वस्तु पर व्यय के लिए नियत किया हुआ है। ऐसा एकाधिकार, यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्भव है, वास्तविक जीवन मे नही मिलेगा। इस कारण, हमारी मान्यता केवल यही रहेगी कि वस्तु का कोई 'निकट' स्थानापन्न (Close substitute) नही है। साथ ही साथ हम यह भी मानकर चलते हैं कि एकाधिकारी एक प्रमापीकृत वस्तु (Standardised commodity) का उत्पादन करता है जिस कारण सभी इकाइयाँ एक जैसी ही रहती है।

(३) **क्रेताओं की अधिक संख्या तथा उनमे प्रतियोगिता होना**—एकाधिकार मे उत्पादक या विक्रेता तो एक ही होता है जिससे विक्रय-प्रतियोगिता का प्रश्न ही नही उठता। किन्तु यह मान लिया जाता है कि क्रेताओ या उपभोक्ताओ मे प्रतियोगिता होती है और उनकी संख्या बहुत अधिक होती है, जिस कारण कोई एक क्रेता निजी रूप से वस्तु के मूल्य को प्रभावित नही कर सकता। एक क्रेता की दृष्टि से वस्तु की कीमत दी हुई होती है।

(४) **क्रेता या उपभोक्ता का विवेकपूर्ण होना**—प्रत्येक क्रेता विवेकपूर्ण ढङ्ग से आचरण करता है। वह वस्तु को अपने अनुराग-क्रम (Scale of preferences) के आधार पर खरीदता है, जिस कारण विभिन्न कीमतो पर उसके द्वारा माँगी जाने वाली मात्राओ का अनुमान लगाया जा सकता है, अर्थात् उसकी माँग-रेखा खीची जा सकती है और व्यक्तिगत माँग रेखाओं को जोडकर कुल माँग को ज्ञात किया जा सकता है

एकाधिकारी तथा पूर्ण प्रतियोगिता के बीच अन्तर

पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार दोनो मे उद्देश्य एक ही होता है अर्थात् अधिकतम्

लाभ प्राप्त करना। किन्तु पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के बीच महत्वपूर्ण अन्तर है, जोकि इस प्रकार है :—

(१) **कीमत पर प्रभाव**—पूर्ण प्रतियोगिता मे कोई भी एक विक्रेता वस्तु की कीमत पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नही डाल सकता है, अर्थात् उसकी अपनी कोई मूल्य नीति नही होती है अर्थात् वह कीमत को एक दिये हुए तथ्य के रूप मे स्वीकार कर लेता है और अपनी उपज की मात्रा मे इस दी हुई कीमत के अनुसार समायोजन करता है। इसके विपरीत, एकाधिकार मे फर्म और उद्योग मे कोई अन्तर नही होता है और फर्म द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली उपज की मात्रा का प्रत्येक परिवर्तन कीमत को प्रभावित करने की प्रवृत्ति रखता है। अन्य शब्दो मे एकाधिकारी की अपनी मूल्य नीति होती है। इस प्रकार प्रतियोगी विक्रेता तथा एकाधिकारी विक्रेता की स्थितियो मे महत्पूर्ण अन्तर है।

(२) **सीमान्त आगम और कीमत का सम्बन्ध**—प्रतियोगिता की दशा मे किसी भी एक फर्म की उपज समस्त उद्योग की उपज का एक बहुत छोटा-सा भाग होती है जिस कारण किसी एक फर्म की उपज की मात्राओ के परिवर्तन का कीमत पर कोई प्रभाव नही पडता और सीमान्त आगम कीमत के बराबर होती है, अर्थात् $MR = AR$। किन्तु एकाधिकारी अपने उद्योग मे एक मात्र उत्पादक होता है जिस कारण उसकी उपज की प्रत्येक वृद्धि कीमत को घटा देती है। इस कारण सीमान्त आगम कीमत से नीची होती है अर्थात् $MR < AR$।

(३) **पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा एकाधिकार में कीमत ऊँची रहना किन्तु उपज नीची रहना**—साधारणतया एकाधिकारी कीमत प्रतियोगी कीमत से ऊँची और एकाधिकारी उपज प्रतियोगी उपज से नीची होती है। इसका **एकमात्र अपवाद** शायद वह वस्तु होगी, जिसकी व्यय रेखा तेजी के साथ नीचे को गिरती है और जिसकी मांग अधिक लोचदार है। ऐसी दशाओ मे एकाधिकार के फलस्वरूप उत्पत्ति की बचते (Economies) इतनी विशाल होती है कि एकाधिकारी को नीची कीमतो पर बेचने से लाभ अधिक होता है।

(४) **उपज की वृद्धि के साथ आय का सम्बन्ध**—जबकि एक प्रतियोगी विक्रेता की आय उसकी उपज के अनुपात मे बढती जाती है, तब एकाधिकारी विक्रेता की आय उसकी उपज की मात्रा के बढने पर निरन्तर घटती हुई दर पर बढती है।

(५) **मांग की लोच**—जबकि एक प्रतियोगी विक्रेता की वस्तु के लिए मांग पूर्णतया लोचदार (Perfectly elastic) होती है, एकाधिकारी विक्रेता की वस्तु के लिए मांग कम या अधिक लोचदार (More or less elastic) तो हो सकती है, किन्तु पूर्णतया लोचदार नही। कीमत बढाने की दशा मे एक प्रतियोगी विक्रेता अपने सभी ग्राहको को खो देता है परन्तु हो सकता है कि एकाधिकारी द्वारा कीमत को बढ़ाये जाने पर भी उसका कोई भी ग्राहक न टूटे (और वह अपने सारे ग्राहकों को तो शायद कभी भी नही खोयेगा)। कारण एकाधिकारी के ग्राहको को छीनने वाला दूसरा कोई है ही नही।

(६) **औसत आगम रेखा का पूर्ण प्रतियोगिता में समानान्तर किन्तु एकाधिकार में ढालू होना**—पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म की विक्री-रेखा अथवा मांग-रेखा पूर्णतया लोचदार होती है। पूर्ण प्रतियोगिता कोई भी व्यक्तिगत फर्म समस्त उद्योग का एक तुच्छ भाग होती है और उसकी उपज के परिवर्तनो का कीमत पर कोई प्रभाव नही पडता है जिस कारण वह फर्म प्रचलित कीमतो पर वस्तु की अधिक अथवा कम मात्रा बेच सकती है। यही कारण है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे किसी भी व्यक्तिगत फर्म की औसत आगम रेखा एक ऐसी सरल रेखा होती है जो X-axis के समानान्तर हो। जहाँ तक एकाधिकारी का प्रश्न है, वह वस्तु का एकमात्र उत्पा-

दक होता है। उसकी उपज की मात्रा का प्रत्येक परिवर्तन कीमत में भी परिवर्तन कर देता है। इस कारण एकाधिकारी की औसत आगम रेखा एक नीचे की ओर गिरती हुई रेखा होती है।

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

ऊपर पूर्ण प्रतियोगी तथा एकाधिकारी दशाओं का जो अन्तर दिया गया है उसके आधार पर हम यह कह सकते है कि उपज के प्रत्येक आकार के लिए पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में सीमान्त आगम तथा औसत आगम (कीमत) दोनों बराबर होनी हैं और दोनों को एक ही रेखा द्वारा दिखाया जाता है जो X-axis के समानान्तर है।
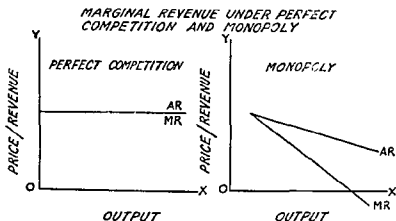
चित्र—पूर्ण प्रतियोगिता एवं एकाधिकार में सीमान्त आगम

किन्तु एकाधिकार के अन्तर्गत सीमान्त आगम औसत आगम (अथवा कीमत) से बहुत नीची होती है। इस कारण एकाधिकार के अन्तर्गत सीमान्त आगम रेखा (MR) औसत आगम रेखा (AR) से नीची रहती है।

एकाधिकार कैसे स्थापित होता है?

एकाधिकार के स्थापित होने के कई कारण होते हैं और इन कारणों के आधार पर ही एकाधिकारों का वर्गीकरण किया जाता है, जोकि निम्नलिखित हैं :—

(१) **कानूनी एकाधिकार**—कुछ एकाधिकार कानून द्वारा स्थापित होते हैं, जैसे—आगरा शहर की बिजली सप्लाई कम्पनी को कानूनी एकाधिकार प्राप्त है। उत्तर प्रदेश सरकार के नियमों के अनुसार आगरा शहर में कोई दूसरी बिजली कम्पनी नहीं खोली जा सकती है। कारण, यदि इस प्रकार की कई कम्पनियाँ हों, तो बिजली के तारों और बिजली के खम्भों का इतना जमघट हो जाय कि सड़कों और घरों की दशा बिगड़ जायेगी। *निःसंदेह आगरा बिजली* सप्लाई कम्पनी पर राज्य सरकार का नियन्त्रण है, किन्तु इस कम्पनी को एकाधिकारी अधिकार प्राप्त है और प्रतियोगिता केवल बिजली के स्थानापन्नों (जैसे—मिट्टी का तेल, तेल शक्ति इत्यादि) द्वारा ही प्रसारित की जाती है। ठीक इसी प्रकार लोक उपयोगी सेवाओं (जैसे—रेल, डाक, मोटर-सर्विस इत्यादि) में भी सरकार को एकाधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार के अधिकार एकस्व (Patents) के रूप में नये अधिकार-कर्त्ताओं को तथा प्रति-लिप्याधिकार (Copyright) के रूप में पुस्तक के लेखकों तथा प्रकाशकों को मिले हुए है।

(२) **प्राकृतिक एकाधिकार**—कुछ एकाधिकार प्राकृतिक कारणों से स्थापित होते है। इन्हें हम "नैसर्गिक एकाधिकार" (Natural Monopolies) भी कहते हैं। कुछ साधन

स्वभाव से ही ऐसे होते है कि बहुत कम मात्रा मे पाये जाते हैं। कुछ एकाधिकारी प्राकृतिक उपज के कुछ विशेष अङ्गों पर अधिकार प्राप्त कर लेते है। अमेरिका में कार्ल्सबाड (Carlsbad) कम्पनी का खनिज जल (Mineral Water) के सभी साधनो पर अधिकार है, इसी प्रकार, दक्षिणी अफ्रीका का हीरे और सोने की खानो पर एकाधिकार है। एक प्रसिद्ध अभिनेता या गायक के पास अपनी व्यक्तिगत सेवाओं का पूर्ण एकाधिकार होता है।

(३) **व्यवसाय का स्वभाव**—कुछ व्यवसाय स्वभाव से ही इस प्रकार के होते हैं कि उनमे आरम्भ मे ही बहुत पूँजी लगानी पडती है और जैसे-जैसे उत्पत्ति का पैमाना बढता जाता है, औसत लागत घटती जाती है। ऐसी दशा में एक तो व्यवसाय को अपनाने वालो की सख्या ही सीमित होती है और दूसरे नये व्यवसायी आरम्भ मे सारी हानियाँ उठाने के डर से व्यवसाय मे नही आते। यदि किसी वस्तु की कुल माँग बहुत कम है, जोकि वर्तमान फर्म या फर्मों द्वारा आसानी से पूरी की जा सकती है, तो नये उत्पादक इस व्यवसाय मे आते हुए डरेंगे, क्योकि अच्छा लाभ उठाने की आशाएँ कम होगी, अतः वर्तमान फर्मो को एकाधिकार प्राप्त हो जायगा।

(४) **औद्योगिक सङ्घ**—बहुत बार एकाधिकारी लाभ (Monopoly Profits) उठाने के प्रलोभन से भी एकाधिकार स्थापित किये जाते है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण औद्योगिक सङ्घों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। प्रतियोगिता को नष्ट करके अत्यधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से उत्पादक अथवा विक्रेता अपने सघ बना लेते है। प्रतियोगी गुटबन्दी करके उपभोक्ताओं का बहुधा शोषण किया करते है।

एकाधिकार के उद्देश्य

ऊपर की विवेचना के पश्चात् यह समझ लेना कठिन न होगा कि एकाधिकार की स्थापना किस उद्देश्य से की जाती है। प्रत्येक उत्पादक तथा विक्रेता अपने लाभ को अधिकतम् बनाने का प्रयत्न करता है और यह स्वाभाविक ही है। प्रतियोगिता की दशा मे ग्राहकों से मनमाने दाम नही वसूल किये जा सकते, क्योकि ऊँचे दाम रखने पर बिक्री नही होगी। हम देख चुके है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे दीर्घकाल मे औसत व्यय औसत आगम के बराबर होता है और कीमत सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होती है, जिसका अर्थ यह होता है कि सामान्य लाभ (जो कि उत्पादन व्यय मे सम्मिलित होता है) को छोडकर और कुछ भी लाभ नही होता। **एकाधिकार की स्थापना सामान्य लाभ से कुछ अधिक लाभ कमाने की इच्छा से की जाती है।** एकाधिकारी अपनी कीमत को औसत तथा सीमान्त व्यय से ऊपर रखने का प्रयत्न करता है। मूल्य और व्यय का अन्तर जितना ही अधिक समय तक रखा जा सकता है, उतना ही कुल लाभ अधिक होगा। एकाधिकारी वस्तु की कीमत अथवा पूर्ति की मात्रा को अपनी इच्छा के अनुसार इस प्रकार निश्चित करने का प्रयत्न करता है कि उसका कुल लाभ अधिकतम् हो जाय। इस सम्बन्ध मे मार्शल ने कहा है, "एकाधिकारी का प्रमुख उद्देश्य माँग और पूर्ति के बीच इस प्रकार का समायोजन करना नहीं है कि उस कीमत द्वारा, जिस पर वह वस्तु को बेचता है, उसका उत्पादन व्यय पूरा हो जाय, बल्कि इस प्रकार का समायोजन करना होता है कि उसे अधिक से अधिक शुद्ध आगम प्राप्त हो।"[1]

---

[1] The *Prima facie* interest of owner of a monopoly is clearly to adjust the supply to the demand not in such a way that the price at which he can sell his commodity can just cover its expenses of production but in such a way as to afford him the greatest possible Net Revenue."—Marshall.

एकाधिकार में मूल्य का निर्धारण

एकाधिकार मे मूल्य किस प्रकार निर्धारित होते है, इसका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने हेतु निम्नलिखित विशेष बातो पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) एकाधिकारी का अधिकार केवल मूल्य पर होता है या पूर्ति पर—

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, एकाधिकरी अधिकतम् कुल लाभ प्राप्त करना चाहता है, अत. एकाधिकार का मूल्य ऐसा होना चाहिए कि एकाधिकारी का यह उद्देश्य पूरा हो सके। यह तो स्पष्ट है कि **एकाधिकारी का मूल्य और पूर्ति दोनों पर एक साथ अधिकार नहीं होता।** वह या तो मूल्य को निश्चित कर सकता है (जिस दशा मे उस मूल्य पर होने वाली माँग के अनुसार पूर्ति की मात्रा निश्चित हो जायगी) या पूर्ति को निश्चित कर सकता है (जिस दशा मे माँग की शक्ति के अनुसार मूल्य का निर्धारण हो जायगा)। चूँकि माँग तथा माँग की लोच पर एकाधिकारी नियन्त्रण नहीं रख सकता, इसलिए मूल्य या पूर्ति मे से किसी एक को निश्चित कर देने के बाद दूसरी पर उसका कोई अधिकार नहीं रह सकता।

(२) मूल्य निर्धारित करना एकाधिकारी के लिए अधिक हितकर—

मूल्य और पूर्ति में से मूल्य का निश्चित करना एकाधिकारी के लिए अधिक हितकर होता है, क्योंकि पूर्ति की मात्रा निश्चित करने की दशा मे दो भय सदा बने रहते हैं :—(i) एक यह निश्चित नहीं रहता है कि माग की परिस्थितियों के बदल जाने की दशा मे कुल पूर्ति की खपत हो सकेगी या नहीं। (ii) माँग की लोच के बदल जाने के कारण यह सम्भव हो सकता है कि दाम इतने नीचे गिर जायें कि उत्पादन व्यय भी वसूल न हो। इस प्रकार, इस दशा मे अधिकतम लाभ प्राप्त करना निश्चित नहीं होता। अत एकाधिकारी बहुधा कीमत को ही निश्चित करता है **और फिर उस कीमत पर होने वाली माँग को देखकर** वह उत्पत्ति करता है।

(३) सबसे उपयुक्त मूल्य अधिकतम् लाभ देने वाला—

अब प्रश्न यह उठता है कि एकाधिकारी मूल्य को किस प्रकार निश्चित करता है। **एकाधिकारी की दृष्टि से ऐसा मूल्य उपयुक्त होगा, जिस पर उसका कुल लाभ अधिकतम हो जाय।** कुल लाभ मे हमारा अभिप्राय कुल इकाइयो की बिक्री पर प्राप्त होने वाले लाभ से होता है। [उत्पत्ति की एक इकाई पर होने वाले लाभ को अगर हम उत्पत्ति की इकाइयों की मात्रा से गुणा कर दें, तो कुल लाभ ज्ञात हो जायगा।]

(४) बहुत ऊँचे तथा बहुत नीचे दाम लाभदायक नहीं—

इसका अर्थ यह होता है कि ऊँचे दाम निश्चित कर देना ही सदा एकाधिकारी के लिये लाभदायक नहीं होता, क्योंकि ऊँचे दामो पर प्रति इकाई लाभ तो अधिक होता है, परन्तु यह सम्भव है कि ऐसे दामो पर माँग इतनी कम हो कि बहुत ही थोडी बिक्री हो सके। ऐसी दशा मे प्रति इकाई लाभ के ऊँचे होने हुए भी कुल लाभ का अधिक होना आवश्यक नहीं है। ठीक इसी प्रकार, दामों को बहुत नीचे रखने पर प्रति इकाई लाभ इतना कम हो सकता है कि कुल लाभ भी कम रहे। अत बहुत ऊँची अथवा बहुत नीची कीमत सदा लाभदायक नहीं होती है।

(५) माँग की लोच पर ध्यान देना जरूरी—

एकाधिकारी को वस्तु विशेष की माग की लोच का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना पड़ता है। जिन वस्तुओं की माँग प्राय बेलोच होती है, उनके लिये ऊँचे दाम निश्चित करना एकाधिकारी के लिये हितकर होता है, क्योंकि दामों के ऊँचा हो जाने पर भी ऐसी वस्तुओं की माग मे बहुत कमी नहीं आती। इसके विपरीत, जिन वस्तुओं की माग की लोच अधिक होता है, उनके दामों मे थोडी कमी हो जाने से माग बहुत बढ जाती है। ऐसी वस्तुओं के दाम कम करने मे

प्रति इकाई लाभ तो अवश्य घट जाता है, परन्तु बिक्री इतनी होती है कि कुल लाभ की मात्रा अधिक हो जाती है। इस प्रकार, **मूल्य के निश्चित करते समय एकाधिकारी के लिए माँग की लोच को ध्यानपूर्वक देखना बहुत आवश्यक होता है।** जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, माँग की लोच पर एकाधिकारी का लेश-मात्र भी अधिकार नहीं होता और इसी कारण उसे अधिक लाभ कमाने के लिये माँग की लोच के अनुसार कार्य करना पड़ता है।

(६) मूल्य निर्धारण की समस्या—पूर्ति का माँग से समायोजन करना

अभी हमने यह देखा कि माँग पर एकाधिकारी का अधिकार नहीं होता, किन्तु पूर्ति पर उसका पूर्ण अधिकार होता है और एकाधिकारी अधिकतम कुल लाभ प्राप्त करना चाहता है। अतः एकाधिकारी से मूल्य निर्धारण की समस्या इस प्रकार है कि वह पूर्ति का, जिस पर उसका पूर्ण अधिकार है, माँग से, जिस पर उसका बिल्कुल अधिकार नहीं है, इस प्रकार समायोजन कर दे कि कुल लाभ अधिकतम हो जाय।

(७) सीमान्त आगम सीमान्त व्यय के बराबर होनी चाहिए—

किस कीमत पर लाभ अधिकतम होगा, यह जानने के लिए हमे सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय के व्यवहार को देखना पड़ता है। जैसा कि एक पिछले अध्याय मे बताया जा चुका है, सीमान्त आगम से हमारा अभिप्राय एक अधिक इकाई को बेचने से प्राप्त होने वाली आय से है। दूसरे शब्दो मे, यह बिक्री की अन्तिम इकाई से मिलने वाली आगम के बराबर होती है। इसी प्रकार, सीमान्त व्यय उत्पत्ति की अन्तिम इकाई का उत्पादन व्यय होती है। जब तक सीमान्त आगम सीमान्त व्यय से अधिक होती है, तब तक उत्पत्ति की अन्तिम इकाई पर लाभ होना है और एक अधिक इकाई को उपजा कर तथा बेचकर एकाधिकारी अपने कुल लाभ मे वृद्धि कर सकता है।

परन्तु ध्यान रहे कि सीमान्त आगम की प्रवृत्ति बराबर घटते रहने की होती है, क्योंकि अधिक इकाइयाँ नीचे दामों पर ही बेची जा सकती हैं। इसके विपरीत, सीमान्त उत्पादन व्यय की दीर्घकालीन प्रवृत्ति बढ़ने की ओर होती है, क्योंकि दीर्घकाल मे उत्पत्ति पर ह्रास नियम लागू होना है। फलत प्रत्येक अगली इकाई से प्राप्त होने वाली आगम तथा उस पर किये हुये व्यय का अन्तर कम होता जाता है और अन्त मे यह अन्तर शून्य के बराबर हो सकता है, अर्थात् सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय बराबर हो जाते हैं। वह बात विशेष रूप से विचारणीय है कि जब तक सीमान्त आगम सीमान्त व्यय से थोड़ी भी अधिक रहती है, तब तक इकाई विशेष की बिक्री करने से कुल लाभ मे वृद्धि की जा सकती है, इसलिये अधिक उत्पत्ति करना ही एकाधिकारी के हित मे होता है। किन्तु जब सीमान्त आगम सीमान्त व्यय के बराबर हो जाती है, तो कुल लाभ मे वृद्धि करने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। यही पर कुल एकाधिकारी लाभ अधिकतम होता है, अतः **एकाधिकारी मूल्य को इस प्रकार निश्चित करता है कि सीमान्त आगम सीमान्त व्यय के बराबर हो जाय।**

यह समझने मे कठिनाई न होगी कि इससे नीचे कीमत निश्चित करना एकाधिकारी के लिए हितकर न होगा, क्योंकि उस दशा मे सीमान्त आगम सीमान्त उत्पादन व्यय से कम होगी और अन्तिम इकाई पर लाभ के स्थान पर हानि होगी। चूँकि इस इकाई से कुल लाभ बढ़ने के स्थान पर घटेगा, इसलिये दीर्घकाल मे इस इकाई का उत्पादन बन्द करना ही लाभदायक होगा। इस प्रकार अल्पकाल मे तो सीमान्त आगम सीमान्त व्यय से कम या अधिक हो सकती है, परन्तु दीर्घकालीन एकाधिकारी मूल्य इसी प्रकार निश्चित होगा कि सीमान्त आगम सीमान्त व्यय के बराबर हो, क्योंकि यदि सीमान्त आगम सीमान्त उत्पादन व्यय से अधिक है तो

और अधिक उत्पत्ति करके कुल लाभ मे वृद्धि की जा सकती है। नाइट के शब्दो मे, "अपने एकाधिकारी लाभ को अधिकतम् करने के लिये एकाधिकारी को अपनी उपज और विक्री शून्य इकाई से ऊपर उस समय तक बढाते रहना चाहिए जब तक कि एक और इकाई को बेचने से कुल आगम मे होने वाली वृद्धि कुल लागत मे होने वाली उस वृद्धि के बराबर न हो जाय जो एक और इकाई का उत्पादन करने से होती है।"[1]

तालिका द्वारा स्पष्टीकरण—

निम्न तालिका मे भी इसी सत्य को दिखाया गया है :—

तालिका १

आगम

मूल्य (रुपयो मे)	कुल माँग	कुल आगम (रुपयो मे)	सीमान्त आगम (रुपयो मे)
१३	१००	१,३००	१,३००
१२	२००	२,४००	१,१००
११	३००	३,३००	९००
१०	४००	४,०००	७००
९	५००	४,५००	५००
८	६००	४,८००	३००
७	७००	४,९००	१००
६	८००	४,८००	—१००

तालिका २

उत्पादन व्यय

मूल्य (रुपयो मे)	कुल माँग	कुल व्यय (रुपयो मे)	सीमान्त व्यय (रुपयो मे)
१	१००	१००	१००
२	२००	४००	३००
३	३००	९००	५००
४	४००	१,६००	७००
५	५००	२,५००	९००
६	६००	३,६००	१००
७	७००	४,९००	१,३००
८	८००	६,४००	१,५००

इन तालिकाओ को देखने से पता चलता है कि जब ४०० इकाइया उत्पन्न की जाती है, तो सीमान्त आगम सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होती है। ऐसी दशा म माँग का मूल्य १० रुपया प्रति इकाई होता है, अत यही कीमत एकाधिकारी के लिए सर्वाधिक लाभदायक

[1] "The Monopoly should keep increasing his output and sales beyond zero units, until, the addition to total revenue caused by adding one unit just equals the addition to the total cost caused by adding this unit."—B W Knight : *Economic Principles in Practice*, p 173.

होगी। इस दशा में कुल आगम ४,००० रु० होती है, जबकि कुल व्यय १,६०० रु० होता है। इस प्रकार कुल लाभ ४,००० – १,६०० = २,४०० रुपया होता है। यही अधिकतम् लाभ है। १० रुपये से कम या अधिक दाम निश्चित करने से कुल लाभ कम हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि दाम ९ रुपया प्रति इकाई रखा जाय, तो कुल आगम ४,५०० रुपया होती है और कुल व्यय २,५०० रु०, जिसके कारण कुल लाभ २,००० रु० का होता है। १२ रुपया प्रति इकाई मूल्य होने पर कुल लाभ २,४००—४०० = २,००० रुपये होगा। इस प्रकार १० रुपया प्रति इकाई मूल्य ही अनुकूलतम् मूल्य है। निम्न चित्र इसे दिखाता है।

चित्रों द्वारा स्पष्टीकरण—

निम्न चित्र में प म कीमत पर लाभ अधिकतम् होगा, क्योंकि जब अ म के बराबर पूर्ति होती है, तो सीमान्त आगम और सीमान्त व्यय बराबर होते हैं। ऐसी दशा में होने वाले लाभ की मात्रा अगले चित्र में दिखाई गई है।
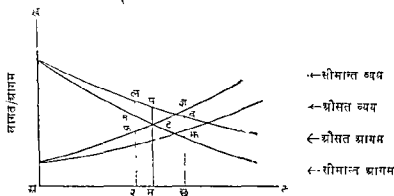
चित्र—एकाधिकार में मूल्य निर्धारण

निम्न चित्र में प भ औसत आगम तथा औसत व्यय का अन्तर है और इसे प फ से गुणा करके प फ ब भ के बराबर लाभ होता है, जो अधिकतम् है।
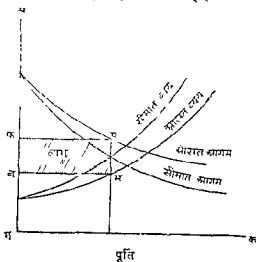
चित्र—एकाधिकारी लाभ

एकाधिकारी मूल्य पर उत्पत्ति के नियमों और माँग की लोच का प्रभाव

उत्पत्ति पर तीन प्रकार के नियम लागू होते है—या तो सीमान्त उत्पादन व्यय क्रमश: घटता चला जाता है या यथास्थिर रहता है और या बढता चला जाता है। पहली दशा मे वृद्धि, दूसरी मे स्थिरता तथा तीसरी दशा मे ह्रास नियम कार्यशील होता है। स्मरण रहे कि वृद्धि तथा स्थिरता नियमो की प्रवृत्ति केवल अल्पकालीन होती है और दीर्घकाल मे केवल ह्रास नियम ही दृष्टिगोचर होता है। **एकाधिकारी को दो बातो का विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ता है—प्रथम,** तो यह है कि उसके सीमान्त उत्पादन-व्यय का क्या व्यवहार है, अर्थात् कौन-सा उत्पत्ति का नियम लागू हो रहा है **और दूसरे,** वस्तु विशेष की माँग की लोच को, अर्थात् यह देखना पड़ता है कि माँग की लोच कितनी है ?

(१) यदि **उत्पत्ति वृद्धि नियम** कार्यशील है, अर्थात् सीमान्त उत्पादन व्यय घटता जाता है, तो उस दशा मे बडी मात्रा मे उत्पत्ति करके नीचे दामो पर बेचना एकाधिकारी के लिए लाभदायक होगा, विशेषकर जबकि वस्तु विशेष की माँग भी अधिक लोचदार है।

(२) यदि **उत्पत्ति स्थिरता नियम** कार्यशील है, तो उस दशा मे कम या अधिक उत्पत्ति करने का फैसला पूर्णतया माँग की लोच पर निर्भर होगा, क्योकि एक और इकाई उत्पन्न करने से भी पहली इकाई के बराबर लागत पडती है। यदि माँग बहुत ही लोचदार है, तो अधिक से अधिक उत्पत्ति करके सस्ते दामो पर बेचने से अधिक लाभ होता है। यदि माँग बेलोच है, तो दामो के घटाने से भी बिक्री मे कोई विशेष वृद्धि न होगी और दामो का ऊँचा रखना ही अधिक लाभदायक होगा।

(३) यदि क्रमगत. **उत्पत्ति ह्रास नियम** लागू होता है, तो उत्पत्ति को सीमित रखना ही लाभदायक होता है। यदि माँग बहुत ही बेलोच है, तो कीमत पर्याप्त ऊपर चली जायगी। किन्तु अधिक लोचदार माँग की दशा मे, दामो को थोडा नीचे ही रखना अच्छा होगा।

एकाधिकार में अल्पकालीन मूल्य का निर्धारण

एकाधिकार के अल्पकालीन साम्य की समस्या पूर्ण प्रतियोगिता के ही सदृश्य होती है। अल्पकाल मे एकाधिकारी अपने प्लाण्ट के आकार को नही बदल सकता है। यदि एकाधिकारी उपज की माँग बढती है (जिस कारण उसकी कीमत भी बढती है) तो एकाधिकारी कुछ अश तक उपज की मात्रा मे वृद्धि कर सकता है, परन्तु प्लाण्ट की क्षमता से अधिक नहीं। ऐसी दशा मे एकाधिकारी बहुत ऊँचे लाभ कमा रहा होगा।

इसके विपरीत, यदि वस्तु विशेष की माँग घटती है (जिस कारण उसकी कीमत भी घट जाती है), तो अपने प्लाण्ट की उत्पादन क्षमता के एक भाग को बेकार रखकर एकाधिकारी उत्पादन को घटा सकता है। ऐसी दशा मे लाभ बहुत नीचे गिर सकते है। यह भी सम्भव है कि उसे लाभ के स्थान पर हानि होने लगे। परन्तु वह उस समय तक अपने उत्पादन को जारी रखेगा जब तक उसे कम से कम न्यूनतम् औसत परिवर्तनशील व्यय प्राप्त होते रहें। यदि कीमत इतनी नीची हो जाती है कि न्यूनतम् औसत परिवर्तनशील व्यय भी वसूल नही होता, तो एकाधिकारी उत्पादन को बन्द कर देगा। इस प्रकार, एकाधिकारी जो अधिकतम् हानि उठा सकता है वह इतनी ही हो सकती है कि एकाधिकारी स्थिर व्यय का कोई भी भाग वसूल न कर सके। परन्तु एकाधिकार के अन्तर्गत पूर्ण साम्य इस अर्थ मे शायद ही कभी स्थापित होगा कि एकाधिकारी अपने प्लाण्ट की उत्पादन क्षमता के उपयोग को न बढाये और न घटाये।

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

निम्न चित्र मे अल्पकालीन एकाधिकारी कीमत और उपज का निर्धारण दिखाया गया है। इस चित्र मे ल सबसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। साम्य ल बिन्दु के ही सन्दर्भ मे प्राप्त होता है, क्योंकि इस बिन्दु पर सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय की रेखायें एक दूसरी को काटती है। म ल रेखा को ऊपर की ओर बढ़ाया गया है, जिससे कि वह औसत आगम की रेखा को प बिन्दु पर काटती है। तब कीमत प म होगी और इस कीमत से सम्बन्धित उपज अ म होगी। अ म उपज से सम्बन्धित औसत कुल व्यय र म है और ल म सीमान्त व्यय है। औसत परिवर्तनशील व्यय भी ल म है, जो न्यूनतम् औसत परिवर्तनशील व्यय है। औसत लाभ प्रति इकाई प र है, जो अ म उपज से सम्बन्धित औसत आगम तथा औसत कुल व्यय का अन्तर है। कुल लाभ प र य व के बराबर है।
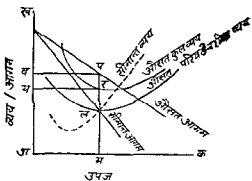
चित्र—अल्पकाल मे एकाधिकारी मूल्य

यह स्पष्ट है कि इस दशा मे एकाधिकारी के लिए प म ही सबसे उपयुक्त कीमत है। इस कीमत पर एकाधिकारी औसत परिवर्तनशील व्यय का न्यूनतम् प्राप्त कर लेता है और दी हुई दशाओ मे उसका कुल लाभ भी अधिकतम् होता है। यह दिखाया जा सकता है कि प म से ऊँची अथवा नीची कीमत एकाधिकारी के कुल लाभ को घटा देती है।

ऊपर के विवेचन मे अल्पकालीन एकाधिकारी की अधिक सम्भावित दशा दिखाई गई है। किन्तु यह आवश्यक नही है कि अल्पकाल मे एकाधिकारी सामान्य से अधिक लाभ प्राप्त करे। अल्पकाल मे तो यह भी सम्भावना रहती है कि एकाधिकारी को लाभ के स्थान पर उल्टी हानि हो। यह सम्भव है कि अल्पकालीन एकाधिकारी कीमत कुल औसत व्यय से नीची हो, जिस दशा मे हानि होगी। आवश्यक केवल इतना है कि कीमत न्यूनतम् औसत परिवर्तनशील व्यय से कम नही होनी चाहिए अन्यथा एकाधिकारी उत्पादन को बन्द कर देगा।

एकाधिकार मे दीर्घकालीन मूल्य का निर्धारण

दीर्घकाल मे एकाधिकारी माँग मे एक दीर्घकालीन परिवर्तन के प्रत्युत्तर मे अपने प्लाण्ट के आकार को बदल सकता है। यह विशेषता एक प्रतियोगी फर्म के साथ भी होती है। किन्तु एकाधिकार को विशुद्ध प्रतियोगिता से भिन्न बनाने वाली बात यह है कि चूँकि एकाधिकार मे नई फर्मों के प्रवेश की सम्भावना नही है इसलिए दीर्घकाल मे भी अतिरिक्त लाभ सम्भव होते हैं।

दूसरे, दीर्घकाल तक प्रतियोगी फर्म को अनुकूलतम् प्लाण्ट बनाना और अनुकूलतम् दर से चलाना पड़ता है, क्योंकि ऐसी दशा मे ही उसके अतिरिक्त लाभ समाप्त हो सकते है तथा दीर्घकालीन साम्य स्थापित हो सकता है। किन्तु एकाधिकारी अनुकूलतम् से अधिक या कम आकार वाला प्लाण्ट बना और अनुकूलतम् दर से अधिक या कम पर चला सकता है।

मूल्य विभेद अथवा विवेचनात्मक एकाधिकार
(Price Discrimination or Discriminating Monopoly)

मूल्य विभेद से आशय—

यह तो हमने देख ही लिया कि वस्तु को पूर्ति पर एकाधिकारी का पूर्ण अधिकार

होता है। इस कारण एकाधिकारी के लिए सभी ग्राहकों तथा सभी बाजारों से एक ही मूल्य लेना आवश्यक नहीं है। बहुत बार वह अलग-अलग ग्राहकों से अथवा अलग-अलग बाजारों से अलग-अलग मूल्य वसूल करता है। जब कोई एकाधिकारी एक ही वस्तु के कई मूल्य रखता है, तो इस दशा में "मूल्य विभेद" (Price Discrimination) होता है, और इस प्रकार के एकाधिकार को "विवेचनात्मक" या "भेद-पूर्ण एकाधिकार" कहते हैं। मूल्य-विभेद का अच्छा उदाहरण रेलवे में मिलता है, जहाँ अलग-अलग श्रेणियों के मुसाफिरों तथा अलग-अलग प्रकार के माल पर विभिन्न किराये वसूल किये जाते हैं। ठीक यही बात व्यक्तिगत सेवाओं के विषय में भी सत्य होती है। एक डाक्टर अथवा वकील एक से ही काम के लिए अपने गरीब और अमीर ग्राहकों से अलग-अलग फीस ले सकता है।

मूल्य-विभेद के रूप—

मूल्य-विभेद कई प्रकार का हो सकता है, परन्तु इसके निम्नलिखित रूप विशेष उल्लेखनीय हैं —

(१) व्यक्तिगत भेद-भाव (Personal Discrimination)—इस प्रकार के भेद-भाव के अन्तर्गत विभिन्न केताओं के लिए अलग-अलग मूल्य रखे जा सकते हैं। ऐसी दशा में ग्राहकों की माँग की तीव्रता के अनुसार कम या अधिक कीमत ली जाती है। जो ग्राहक खरीदने के लिए अधिक उत्सुक होते हैं, वे ऊँचे दाम देते हैं। किन्तु जिनकी आवश्यकता की तीव्रता कम होती है उन्हें कम दामों पर बेचा जाता है। बहुत से विक्रेता अमीर तथा फैशनेबुल ग्राहकों से एक ही वस्तु के गरीबों की अपेक्षा ऊँचे दाम लेते हैं। परन्तु इस प्रकार के भेद-भाव में दो कठिनाइयाँ होती हैं —(i) किसी ग्राहक विशेष की आवश्यकता की तीव्रता का अनुमान लगाना कठिन होता है और (ii) ऐसे भेद-पूर्ण व्यवहार से ग्राहकों में असन्तोष फैलता है। डाक्टर लोग इस प्रकार का भेद-भाव बहुत किया करते हैं।

(२) स्थानीय भेद-भाव (Local Discrimination)—इस प्रकार के भेद-भाव में अलग-अलग स्थानों के ग्राहकों से विभिन्न मूल्य लिये जाते हैं। ऐसे भेद-भाव का सबसे अच्छा उदाहरण राशि-पातन (Dumping) में मिलता है, जिसमें एक विदेशी एकाधिकारी अपने देश में माल महँगा बेचता है और विदेशी बाजार में प्रतिद्वन्द्वियों को समाप्त करने के लिये उसे बहुत कम दाम पर बेचा करता है।

(३) व्यावसायिक भेद-भाव—इसमें विभिन्न व्यवसायों अथवा उपयोगों से अलग-अलग मूल्य लिया जाता है।

पीगू का वर्गीकरण—पीगू ने विवेचनात्मक एकाधिकार का तीन अंशों में भेद किया है। उनका वर्गीकरण एकाधिकारी की विवेचनात्मक शक्ति (Discriminating Power) के अनुसार है। पहले अंश में, वस्तु की अलग-अलग इकाइयों के दाम इस प्रकार अलग-अलग रखे जाते हैं कि प्रत्येक इकाई का मूल्य उसकी माँग के मूल्य के बराबर होता है। इस प्रकार उपभोक्ता के पास कुछ भी उपभोक्ता की बचत नहीं मिलती। दूसरे अंश में, एकाधिकारी ग्राहकों को कई वर्गों अथवा श्रेणियों में इस प्रकार बाँटता है कि एक निश्चित माँग के मूल्य से अधिक दाम देने के लिये प्रस्तुत होने वाले सभी ग्राहकों से एक दाम लिये जाते हैं और इसी प्रकार इस माँग के मूल्य तथा दूसरी कम माँग के मूल्य के बीच वाले ग्राहकों से दूसरे दाम। उदाहरणस्वरूप, १५) प्रति इकाई की माँग के मूल्य से अधिक दाम देने को तैयार होने वाले सभी ग्राहकों से १५) प्रति इकाई के दाम लिये जायँगे, और १४) से अधिक किन्तु १५) से कम दाम वाले ग्राहकों से १४)। तीसरे अंश में, एकाधिकारी अपने ग्राहकों की बहुत-सी श्रेणियाँ बनाता है और प्रत्येक

श्रेणी के हर एक सदस्य से एक से दाम वसूल करता है।[1] पीगू का विचार है कि पहले दो प्रकार के मूल्य-विभेद का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है, परन्तु तीसरे प्रकार का भेद-भाव व्यावहारिक जीवन मे भी मिलता है।

मूल्य-विभेद कब सम्भव होता है ?

एकाधिकारी के लिये हर दशा मे यह सम्भव नही होता कि वह मूल्य-भेद कर सके। यदि एक ग्राहक को माल कम दामो पर बेचा जाय, तो यह सम्भव है कि वह थोडे से लाभ पर उसे अन्य ग्राहकों को बेच दे और इस प्रकार, एकाधिकारी का प्रतिद्वन्द्वी बनकर उसकी मूल्य-विभेद की नीति को असफल कर दे। यही नही, यदि दो व्यक्तियो या वर्गो की आवश्यकता की तीव्रता समान है, तो भी उनसे अलग-अलग दाम नही लिये जा सकते है। वास्तव मे **मूल्य-विभेद के सफल होने के लिए निम्नलिखित दो बातें आवश्यक हैं :—**

(१) सम्पर्क का अभाव—जिन दो व्यक्तियो अथवा बाजारो के बीच भेदभाव रखा जाता है, उनमे परस्पर सम्पर्क नही होना चाहिए। अभिप्राय यह है कि एक दूसरे को माल हस्तान्तरित करना असम्भव होना चाहिए, या तो कुछ ऐसे कारण हो जिनसे वस्तु का दोबारा विनिमय सम्भव ही न हो, या फिर दोबारा विनिमय न करने का (अर्थात् दूसरे बाजार मे भेजने का) कोई समझौता होना चाहिए। उदाहरण के लिए, व्यक्तिगत सेवाओ का दोबारा विनिमय सम्भव नही है, अतएव डाक्टर अथवा वकील मूल्य-विभेद मे सफल हो जाता है। भारतवर्ष मे रेल द्वारा कोयला ले जाने का भाडा कम है और गेहूँ ले जाने का अधिक, किन्तु भाडे के समझौते के कारण गेहूँ का व्यापारी कोयला नही ले जायगा, इसलिए रेल्वे की विवेचनात्मक नीति सफल हो जाती है।

(२) माँग की लोच मे अन्तर—जिन व्यक्तियो, वर्गों अथवा बाजारो के बीच भेद किया जाता है, उनकी माँग की लोच मे अन्तर होना चाहिए। यदि माँग की लोच बराबर है, तो मूल्य भी बराबर ही रहेगा। यदि एक वर्ग अथवा बाजार मे धनी लोग रहते है और दूसरे मे गरीब, तो अमीरो से गरीबो की अपेक्षा अधिक दाम वसूल कर लेना बहुधा सम्भव होता है। एक डाक्टर यदि गरीब से फीस कम लेता है और अमीर से अधिक, तो फीस के लालच मे प्रथम तो अमीर गरीब नही बन सकता और दूसरे, क्योंकि डाक्टर मरीज को स्वय देखता है, इसलिए उसकी आर्थिक दशा को जान लेता है।

पीगू के विचार मे मूल्य-विभेद के सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि किसी एक इकाई का माँग मूल्य (Demand Price) अन्य सभी वस्तुओं के बिक्री मूल्य (Sale Price) के प्रभाव से स्वतन्त्र हो, अर्थात, एक इकाई दूसरी इकाई का स्थान ग्रहण न कर सके।[2]

भेद-पूर्ण एकाधिकार मे मूल्य निर्धारण—

भेद-पूर्ण एकाधिकार साधारण एकाधिकार की ही एक दशा है। सच पूछिये तो कुल एकाधिकारी लाभ को अधिकतम् करने मे विवेचनात्मक एकाधिकारी ही अधिक सफल हो सकता है। मूल्य का जो सिद्धान्त साधारण एकाधिकार पर लागू होता है, वही भेद-पूर्ण एकाधिकार पर भी लागू होता है। अन्तर केवल इतना है कि विभेदात्मक एकाधिकार में माग-रेखाएँ तो एक से अधिक होती हैं, किन्तु व्यय रेखा केवल एक। जितने बाजारो अथवा वर्गो के बीच भेद किया जाता है उतनी ही माँग वक्र और उतने ही मूल्य भी होगे। साधारणतया अधिकतम् लाभ तो तभी प्राप्त होगा, जबकि कुल सीमान्त आगम (अर्थात् कुल बिक्री की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली आगम) कुल सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर हो, परन्तु इसके साथ ही साथ एकाधिकारी

---

[1] A. C. Pigou : *Economics of Welfare*, pp. 278-79, 4th edition.

[2] A. C. Pigou : *Economics of Welfare*, p. 273.

प्रत्येक बाजार अथवा वर्ग से सम्बन्धित सीमान्त आगम को भी सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर रखेगा।

निम्न रेखा-चित्र मे दो बाजारो १ और २ मे भेद-पूर्ण एकाधिकारी के व्यवहार को दिखाया गया है :—

चित्र—भेद-पूर्ण एकाधिकार मे मूल्य

इस चित्र मे बाजार १ और बाजार २ की अलग-अलग आगम-रेखाये (Revenue curves) दिखाई गई है और साथ मे दोनो बाजारो की सयुक्त औसत और सीमान्त आगम की रेखाओ को भी चित्रित किया गया है। सीमान्त व्यय की रेखा कुल सीमान्त आगम की रेखा को ट बिन्दु पर काटती है। यही कुल सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय बराबर है और कुल लाभ को अधिकतम् करने के लिए यही दशा अनुकूलतम् है। ट बिन्दु से अ क के समानान्तर बिन्दुदार रेखा खीची गई है, जो सीमान्त आगम (१) तथा (२) की वक्र रेखाओ को क्रमश ब और भ बिन्दुओ पर काटती है, जिसका अर्थ यह होता है कि बाजार १ मे ब बिन्दु पर सीमान्त आगम सीमान्त व्यय के बराबर है। इसी प्रकार, बाजार २ मे भ बिन्दु पर सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय बराबर है। मूल्य की रेखाओ का दोनो बाजारो मे ब और भ बिन्दुओ से गुजरना आवश्यक है, क्योकि केवल ऐसी ही दशा म प्रत्येक बाजार से पृथक्-पृथक् अधिकतम् लाभ प्राप्त किया जा सकता है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट होता है, बाजार १ मे मूल्य प म के बराबर होगा और बाजार २ मे र ल के बराबर। प म, र ल से अधिक है, इसलिये दोनो बाजारो मे भिन्न-भिन्न मूल्य है। बाजार १ मे अ म के बराबर बिक्री होती है और बाजार २ मे अ ल के बराबर, जबकि कुल बिक्री अ च के बराबर है। स्पष्ट है कि अ च=अ म+अ ल। इस प्रकार दोनो बाजारो के अलग-अलग दाम रखकर भी कुल लाभ को अधिकतम् किया जा सकता है।

बाजार १ मे मूल्य अधिक है और बाजार २ मे कम, इसका भी एक विशेष कारण है—दोनो बाजारो को आगम रेखाओ पर दृष्टि डालने पर पता लगता है कि बाजार २ मे माँग की लोच बाजार १ की अपेक्षा अधिक है, क्योकि बाजार १ मे आगम की रेखाये अधिक तेजी से नीचे को गिरती हैं। बाजार २ मे माँग अधिक लोचदार है। ऐसे बाजार मे दाम कम करने मे अधिक बिक्री हो जाने के कारण थोडा कम दाम ही अधिक लाभदायक होता है। अतः हम इस

निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विवेचनात्मक एकाधिकार में मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त इस प्रकार है :—

सीमान्त व्यय=कुल सीमान्त आगम=प्रत्येक बाजार का सीमान्त आगम

राशिपातन
(Dumping)

'राशिपातन' से आशय—

राशिपातन विवेचनात्मक एकाधिकार का ही एक विशेष रूप है। यह स्थानीय भेद-भाव का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। इसमें एक विदेशी एकाधिकारी, जिसे अपने देश में एकाधिकार प्राप्त होता है, विदेशों मे सस्ते दामो पर बेचता है, जबकि अपने देश मे दाम ऊँचे रखता है। कभी-कभी तो यहाँ तक भी देखने मे आया है कि विदेशों में औसत उत्पादन व्यय से भी नीचे दामो पर वस्तु को बेचा जाता है। विदेशों में उठाई हुई हानि को देश के भीतर अतिरिक्त लाभ द्वारा पूरा किया जाता है। देश और विदेश में मूल्य-भेद का मुख्य आधार माँग की लोच का अन्तर है। यदि स्थानापन्न तथा स्पर्धा के अभाव के कारण माँग की लोच बहुत कम है, तो वस्तु अधिक कीमत पर बेची जा सकती है। किन्तु, यदि विदेश में प्रतियोगी हैं या स्थानापन्न होने के कारण माँग की लोच अधिक है, तो वस्तु को कम दामों पर बेचना लाभदायक होता है।

राशिपातन के उद्देश्य—

राशिपातन के मुख्यत. चार उद्देश्य होते हैं :—(i) कभी-कभी उत्पत्ति माँग से अधिक हो जाती है और देश में बचे हुए माल को विदेशो मे सस्ते दामो पर बेच कर हानि को कम किया जा सकता है। (ii) बहुत बार विदेश में ग्राहक बनाने या माँग को जन्म अथवा प्रोत्साहन देने हेतु ऐसा किया जाता है। (iii) यदि उत्पत्ति 'वृद्धि नियम' के अनुकूल है, तो विदेशों मे सस्ते दामों पर बेचकर उत्पत्ति के पैमाने को बढ़ाया जाता है, जिससे उत्पादन व्यय कम हो जाता है। (iv) विदेशों मे प्रतियोगी उत्पादकों तथा नये स्थापित हुए उद्योग-धन्धों को कुचलने के लिए भी राशिपातन किया जाता है।

अन्तिम प्रकार का राशिपातन देश के लिए हानिकारक होता है, क्योंकि विदेशी व्यवसायी देश मे प्रतियोगिता को समाप्त करके और एकाधिकार स्थापित करके मनचाहे दाम वसूल करता है। अतः राशिपातन की दशा में आयात कर लगाना अथवा ऐसे माल के आने पर अन्य प्रतिबन्ध लगाना एक सर्वमान्य नियम है।

एकाधिकार[1] और उपभोक्ता

अधिकतर यह विश्वास किया जाता है कि एकाधिकार मे उपभोक्ता का शोषण होता है। निस्सन्देह एकाधिकार की स्थापना ही अधिकतम् लाभ कमाने के उद्देश्य से की जाती है। फलतः एकाधिकार मे दाम प्रतियोगिता की अपेक्षा ऊँचे होते है और इस प्रकार उपभोक्ता को बचत कम प्राप्त होती है, जिससे देश की आर्थिक सम्पन्नता मे कमी आ जाती है। एकाधिकार पूँजीवाद का एक भयङ्कर रूप है और पूँजीवाद की सभी बुराइयाँ यहाँ अपनी चरम सीमा पर मिलती हैं।

परन्तु कुछ दशाओं मे एकाधिकार उपभोक्ताओं की दृष्टि से भी लाभदायक होता है।

---

1 In connection with monopoly, Cournot uses the tetms Duopoly where there are two sellers intstead of one and Oligopoly where there are only a few sellers. For detailed analysis *see* Chamberlain : *The Theory of Monopolistic Competition*

ये दशायें निम्नलिखित हैं —(i) राशिपातन तथा विवेचनात्मक एकाधिकार मे बहुत बार गरीब वर्गों अथवा देशों को अमीरों की अपेक्षा सस्ते दामो पर वस्तुयें मिल जाती है। (ii) कुछ उद्योग ऐसे भी हैं, जो एकाधिकार के बिना सफल हो नहीं सकते और जिनका जनता तथा देश के आर्थिक जीवन में बडा महत्त्व है। रेल्वे तथा दूसरी सार्वजनिक सेवायें इसी प्रकार की होती है। परन्तु एकाधिकार के दोषों को दूर करने के लिए इन पर किसी न किसी प्रकार के सार्वजनिक नियन्त्रण का होना आवश्यक होता है।

एकाधिकारी-कीमत आवश्यक रूप मे ऊँची कीमत नहीं होती है

ऊपर हमने एकाधिकारी-कीमत का जो विवेचन किया है उससे पता चलता है कि एकाधिकारी-कीमत प्रत्येक दशा मे प्रतियोगी कीमत से ऊँची होना आवश्यक नहीं है। किन्तु अधिकांश दशाओं मे एकाधिकारी-कीमत प्रतियोगी-कीमत से ऊँची ही होती है, क्योंकि एकाधिकारी 'सामान्य' से अधिक लाभ कमाता है। अनेक ऐसे कारण हैं जो एकाधिकारी को ऊँची कीमत वसूल करने से रोक देते हैं। इनमे से कुछ कारण निम्न प्रकार हैं:—

(१) स्थानापन्नो का होना—यदि एकाधिकारी की उपज ऐसी है कि उनके पूर्ण अथवा निकटतम् स्थानापन्न मौजूद हैं, तो उस उपज की मांग अधिक लोचदार होगी और ऐसी दशा मे यह सम्भावना रहेगी कि वस्तु की कीमत मे थोड़ी-सी भी वृद्धि होने से मांग उसके स्थानापन्नों की ओर आकर्षित हो जाये, अत ऐसी दशा मे एकाधिकारी को वस्तु की नीची कीमत से ही सन्तोष करना पड़ेगा।

(२) सम्भावित प्रतियोगिता का भय—ऊँची कीमत साधारणतया उद्योग मे प्रतिद्वन्द्वियों के प्रवेश को प्रोत्साहित करती है। इस अध्याय मे हम पहले ही देख चुके हैं कि ऐसी दशा मे एकाधिकारी के लिये केवल दो मार्ग शेष रहते है—प्रथम, कीमत को ऊँची रखना और प्रतिद्वन्द्वियों को निमन्त्रित करना, और दूसरे, कीमत को नीची कर देना और प्रतिद्वन्द्वियों के लिए द्वार बन्द कर देना। वह साधारणतया दूसरा मार्ग ही चुनता है।

(३) ग्राहकों का विरोध अथवा विरोधी जनमत—यह सम्भव है कि ऊँची कीमत के कारण जनता रुष्ट हो जाये और ग्राहक मिलकर उसके माल का वह बहिष्कार करने लगे। ऐसी दशा मे व्यावसायिक प्रतिष्ठा नष्ट हो जायेगी, जिसे कोई भी बुद्धिमान विक्रेता पसन्द नहीं करेगा।

(४) सरकारी हस्तक्षेप का भय—यह सम्भावना भी रहती है कि यदि एकाधिकारी ऊँची कीमत रखे, तो सरकार एकाधिकारी के व्यवसाय को छीन ले। ऐसी दशा मे सरकार अधिक कर लगा सकती है अथवा मूल्य-नियन्त्रण की नीति अपना सकती है। यह निश्चित है कि इन दशाओं मे एकाधिकारी की हानि उस लाभ की तुलना मे अधिक होगी जो ऊँची कीमत के फलस्वरूप हुआ है। ऐसी दशा मे सरकार का विरोध मोल लेने की अपेक्षा एकाधिकारी द्वारा नीची कीमत लेना अधिक अच्छा रहेगा।

(५) उत्पादन व्यय घटने की आशा—एकाधिकारी यह भी सोच सकता है कि नीची कीमत रखने से मांग म वृद्धि होगी और इस प्रकार अधिक उपज नीचे औसत व्यय पर उत्पन्न की जा सकेगी। इस आशा पर कि दीर्घकाल मे उत्पादन व्यय मे अधिक कमी हो जायेगी, एकाधिकारी कीमत को नीची रख सकता है।

(६) जन-कल्याण का विचार—कुछ प्रकार के एकाधिकारो का सचालन जन-हित की दृष्टि से किया जाता है, जैसे—बिजली कम्पनी, रेल्वे तथा मोटर यातायात। ऐसे एकाधिकार जन-कल्याण को अधिकतम् करने के उद्देश्य से नीची कीमत निश्चित कर सकते हैं। कुछ व्यक्ति-

गत एकाधिकार भी अधिकतम् लाभ तथा अधिकतम् सामाजिक कल्याण के बीच समझौता कर सकते हैं। इन सभी दशाओं में कीमत थोड़ी नीची ही रखी जायगी।

(७) **अन्य उद्देश्य**—कभी-कभी वस्तु के पुराने स्टॉकों को समाप्त करने के उद्देश्य से कीमत नीची कर दी जाती है। इसी प्रकार, व्यावसायिक सद्भावना प्राप्त करने तथा विदेशी बाजार पर अधिकार जमाने के लिए भी कीमत घटाई जा सकती है। इसी प्रकार, प्रतिद्वन्द्वी को बाजार से निकाल देने के लिए भी कीमत घटाई जा सकती है। किन्तु इन सभी दशाओं में नीची कीमत थोड़े काल तक ही रहेगी।

सामान्य रूप में, एकाधिकारी कीमत प्रतियोगी कीमत से ऊँची ही रहेगी। ऊपर जो प्रतिबन्ध गिनाये गये हैं वे बहुत प्रभावशाली नहीं होंगे और कभी न कभी एकाधिकारी कीमत को ऊपर उठाने में अवश्य सफल हो जायेगा। जैसे ही उसे यह विश्वास हो जायगा कि कीमत बढ़ाने से उसे अपने ग्राहक अधिक मात्रा में खो देने का भय नहीं है, वैसे ही वह कीमत को बढ़ा देगा।

क्रेता एकाधिकार
(Monopoly)

एकाधिकार विक्रेता की ओर से ही सम्भव नहीं है, वरन् वह क्रेता की ओर से भी हो सकता है। यदि बाजार में वस्तु विशेष का केवल एक ही क्रेता हो और उसका कोई भी प्रतियोगी न हो, तो ऐसी दशा में क्रेता एकाधिकार स्थापित होता है। प्रो० मेहता के अनुसार क्रेता-एकाधिकारी वस्तु का एकमात्र खरीदने वाला होता है। रेखागणित की भाषा में क्रेता-एकाधिकारी वह व्यक्ति अथवा फर्म होता है जो उस वस्तु के लिए, जिसे वह खरीद रहा है, नीची कीमत दे सकता है, परन्तु इस कारण उसके लिए वस्तु की कम मात्रा खरीदना आवश्यक नहीं होता। उपभोक्ता सङ्गठन द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं। सरकार आयातों के खरीदने का एकाधिकार प्राप्त करके क्रेता-एकाधिकार स्थापित कर सकती है।

साधारण एकाधिकारी की भाँति क्रेता-एकाधिकारी का भी कीमत पर पूरा नियन्त्रण रहता है। कीमत घटने की दशा में भी विक्रेता ऐसे एकाधिकारी को वस्तु कम मात्रा में नहीं बेच पाता है, क्योंकि वस्तु विशेष का कोई अन्य क्रेता नहीं होता। एक एकाकी क्रेता की दृष्टि से बाजार कीमत दी हुई होती है। वह वस्तु की वही मात्रा खरीदता है जो उसकी सीमान्त उपयोगिता को कीमत से बराबर कर दे।

क्रेता-एकाधिकारी अपनी खरीद का इस प्रकार नियमन करता है कि सीमान्त व्यय सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाय, क्योंकि ऐसा क्रेता भी वस्तु की पूर्ति कीमत तो अवश्य चुकाता है। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा इससे भिन्न होती है। पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत (अथवा *औसत व्यय) सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है, क्योंकि प्रचलित बाजार कीमत पर* कोई भी क्रेता अपनी इच्छानुसार कितनी भी मात्रा खरीद सकता है। क्रेता-एकाधिकार के अन्तर्गत केवल उस दशा को छोड़कर, जिसमें उत्पादन पर स्थिरता नियम लागू होता है, अन्य सभी दशाओं में क्रेता के लिये वस्तु का सीमान्त व्यय सीमान्त इकाई की कीमत से कम या अधिक होता है। यदि उत्पत्ति का स्थिरता नियम कार्यशील है, तो औसत व्यय (अथवा कीमत) सीमान्त व्यय के बराबर होता है और इस कारण, क्रेता-एकाधिकार के अन्तर्गत भी वस्तु की उतनी ही मात्रा खरीदी जाती है जितनी कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में। परन्तु यदि उत्पादन पर उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू है, तो क्रेता-एकाधिकारी वस्तु को जितनी ही अधिक मात्रा में खरीदता है उसे उतनी ही कम ऊँची कीमत देनी होती है और इसके विपरीत, यदि उत्पत्ति ह्रास नियम

कार्यशील है, तो क्रेता-एकाधिकारी जितनी ही अधिक ऊँची मात्रा मे खरीदेगा उसे उतनी अधिक ऊँची कीमत चुकानी पड़ेगी। इनमें से पहली दशा मे क्रेता-एकाधिकारी पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना मे अधिक और दूसरी दशा में कम मात्रा में खरीदता है।

क्रेता-एकाधिकार के अन्तर्गत साम्य—

क्रेता-एकाधिकार का विवेचन भी ठीक उसी प्रकार किया जा सकता है जैसा कि एकाधिकार का विवेचन किया जाता है। परन्तु इनमे एक अन्तर है—एकाधिकार मे साम्य की दशा वह होती है जिसमें एकाधिकारी का कुल लाभ अधिकतम् होता है। किन्तु इसके विपरीत, क्रेता-एकाधिकारी अपनी उपभोक्ता की बचत को अधिकतम् करता है। उपभोक्ता की बचत उस दशा मे अधिकतम् होती है जबकि सीमान्त व्यय सीमान्त उपयोगिता के बराबर होता है। जिस बिन्दु पर सीमान्त व्यय सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाता है वही अनुकूलतम् क्रय (Optimum Purchase) को दिखाता है। यदि क्रेता-एकाधिकारी इससे कम या अधिक मात्रा मे खरीदे, तो उपभोक्ता की बचत कम हो जायेगी।
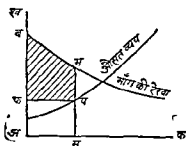
चित्र—क्रेता-एकाधिकार मे साम्य

इस चित्र मे यह स्थिति दिखाई गई है। यह चित्र इस आधार पर बनाया गया है कि उत्पादन पर उत्पत्ति ह्रास नियम लागू है। यदि क्रेता-एकाधिकारी प म कीमत पर खरीदता है, तो वह वस्तु की अ म मात्रा खरीदेगा। चित्र मे प फ ब भ क्षेत्र उपभोक्ता की बचत को दिखाता है। साम्य की दशा मे अ म खरीद की वह मात्रा है जिस पर उपभोक्ता की बचत क्रेता-एकाधिकारी के लिए अधिकतम् होती है।

क्रेता-एकाधिकार में मूल्य-विभेद—

एक एकाधिकारी की भाँति क्रेता-एकाधिकारी भी मूल्य-विभेद की नीति अपना सकता है, जिस दशा में वह अलग-अलग विक्रेताओं से अलग-अलग दामों पर खरीदता है। क्रेता-एकाधिकारी अपने पूर्ति के सूत्रो को इस प्रकार वर्गो मे बाँट सकता है कि प्रत्येक सूत्र का उत्पादन व्यय एक-समान हो और साथ ही वह उसकी कुल खरीद से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता के भी बराबर हो। जोन रोबिन्सन के शब्दो मे, "क्रेता-एकाधिकारी पूर्ति के प्रत्येक सूत्र से इस प्रकार खरीदेगा कि उसके लिए प्रत्येक सूत्र से खरीदी हुई मात्रा का सीमान्त व्यय एक दूसरे के बराबर हो और कुल खरीदी हुई मात्रा की सीमान्त उपयोगिता के भी बराबर हो। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे कि एक एकाधिकारी प्रत्येक अलग-अलग बाजार मे वस्तु को इतनी-इतनी बेचता है कि प्रत्येक बाजार से सीमान्त आगम समान मात्रा मे मिले और यह सीमान्त आगम उसकी कुल उपज के सीमान्त व्यय के बराबर हो। लाभ सहित मूल्य-विभेद की सम्भावना विभिन्न सूत्रों से प्राप्त पूर्ति की लोच के अन्तरो पर अर्थात् प्रत्येक विक्रेता वर्ग की औसत व्यय की रेखाओ की लोच पर निर्भर होगी।"[1]

मूल्य-विभेद किस अश तक किया जा सकेगा यह दो बातो पर निर्भर होता है—(i) विक्रताओं की सख्या और (ii) विभिन्न विक्रेताओ से सम्बन्धित पूर्ति की दशाएँ। क्रेता-एकाधिकारी उन सूत्रों से अधिक मात्रा मे खरीदेगा जिनकी पूर्ति की लोच अधिक है और उन सूत्रो से कम मात्रा मे खरीदेगा जिनकी पूर्ति की लोच कम है।

---

1 **Joan Robinson** : *Economics of Imperfect Competition*, p. 222.

यहाँ पर यह बताना अनुपयुक्त न होगा कि "एकाधिकार" में "क्रेता-एकाधिकार" भी निहित होता है। एक एकाधिकारी "उत्पत्ति-साधनों के क्रेता" के रूप में "क्रेता-एकाधिकारी" होता है, और वह इन साधनों के बीच, यदि वे अनुरूप नहीं हैं तथा यदि उनकी पूर्ति पूर्ण लोचदार नहीं है, मूल्य-विभेद भी कर सकता है।

द्विदिशायी एकाधिकार
(Bilateral Monopoly)

द्विदिशायी एकाधिकार वह दशा होती है जिसमें विक्रेता के एकाधिकार के साथ-साथ क्रेता का क्रेता-एकाधिकार भी होता है। अन्य शब्दों में यह स्थिति तब होती है जबकि किसी वस्तु का केवल एक ही विक्रेता होता है और केवल एक ही क्रेता होता है। वास्तविक जीवन में ऐसी दशा शायद ही कभी देखने को मिलती है। ऐसी दशा में कीमत का निर्धारण एक कठिन समस्या होती है। एक ओर एकाधिकारी तो उत्पादन और मूल्य को इस प्रकार निश्चित करने का प्रयत्न करेगा कि सीमान्त व्यय सीमान्त आगम के बराबर हो जाये, जिससे कि लाभ अधिकतम् हो, और दूसरी ओर क्रेता-एकाधिकारी खरीद और मूल्य को इस प्रकार निश्चित करना चाहेगा कि सीमान्त व्यय उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाये, जिससे कि उसे अधिकतम् उपभोक्ता की बचत प्राप्त हो जाये। वास्तव में कीमत इन दो के बीच कहीं पर निश्चित होगी और इसे निश्चित करने से माँग और व्यय के विषय में पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी। कीमत पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ेगा। जैसे—क्रेता और विक्रेता की सौदा करने की तुलनात्मक शक्ति, आर्थिक उद्देश्य, राज्य की नीति, इत्यादि। प्रत्येक दशा से सम्बन्धित कीमत पर विशेष परिस्थितियों का प्रभाव पड़ेगा।

-

परीक्षा प्रश्न :

१. एकाधिकार से क्या आशय है ? इसके अन्तर्गत मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ?
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम एकाधिकार के अर्थ, एकाधिकारी के उद्देश्य और इस तथ्य को स्पष्ट कीजिए कि एकाधिकारी कीमत और पूर्ति दोनों का एक-साथ नियन्त्रण नहीं कर सकता है। तत्पश्चात् सीमान्त विवेचन की रीति से एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य के निर्धारण पर प्रकाश डालिए और अन्त में पूर्ण प्रतियोगिता से भिन्नतायें बताइये।]

२. एकाधिकारी साम्य से आपका क्या अभिप्राय है ? एकाधिकारी दीर्घकाल में अपनी कीमतें किस प्रकार निर्धारित करता है ?
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम एकाधिकारी साम्य के अर्थ को बताइये। यह स्थिति वह है जिसमें परिवर्तन अनुपस्थित होते हैं। परिवर्तन अनुपस्थित होने की शर्त यह है कि कुल उत्पादन में परिवर्तन न हो और कुल उत्पादन में परिवर्तन तब नहीं होंगे जबकि एकाधिकारी को अधिकतम् लाभ हो रहा होगा। अधिकतम् लाभ तब प्राप्त होगा जबकि MC=MR। इस स्थिति को एक चित्र द्वारा दर्शाइये और अन्त में दीर्घकाल में एकाधिकारी मूल्य के निर्धारण की विशेषताओं को चित्र सहित समझाइये।]

३. "एकाधिकारी (विक्रेता) बिना ताज का बादशाह होता है।" यह बताते हुये कि एकाधिकारी किस प्रकार अपना अधिकतम् एकाधिकारी शुद्ध लाभ प्राप्त करता है, इस कथन की व्याख्या कीजिये ?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम यह स्पष्ट कीजिये कि जिस प्रकार से एक बादशाह उसी प्रकार से एक एकाधिकारी अपने-अपने क्षेत्र में शक्तिशाली होते हैं, क्योंकि एकाधिकारी अपने क्षेत्र में अकेला होता है, नये उत्पादकों के प्रवेश पर प्रभावशाली प्रतिबन्ध होते हैं और वस्तु का कोई निकट स्थानापन्न नहीं होता। इन परिस्थितियों में उसका पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। एक बादशाह की भांति उसके सिर पर ताज तो नहीं होता लेकिन वह बादशाह की भांति शक्तिशाली होता है। तत्पश्चात् यह बताइये कि उसकी शक्ति की कई सीमायें हैं और अन्त में सीमान्त विवेचन के द्वारा अल्पकाल और दीर्घकाल में रेखाचित्रों की सहायता से मूल्य निर्धारण को स्पष्ट कीजिये।]

४. "अतः कीमतों पर एकाधिकारियों का अधिकार वास्तविक अथवा सम्भावित प्रतिस्थानापन्न की प्रतिस्पर्धा, दूसरे शब्दों में, एकाधिकारी उत्पादन की माँग की लोच से सीमित होता है।" उपरोक्त कथन का तात्पर्य लिखिये और कीमत पर एकाधिकारी के अधिकार को सीमित रखने वाले अन्य कारणों का उल्लेख कीजिये।

५. मूल्य विभेद की परिभाषा दीजिये। मूल्य विभेद कब सम्भव, लाभदायक और सामाजिक दृष्टि से वाञ्छनीय होता है ?

६. एकाधिकार की विभिन्न किस्मों की व्याख्या कीजिये। वे कौन से तत्त्व हैं जो कि मूल्य बढ़ाने की एकाधिकारी शक्ति को सीमित करते हैं ?

७. निम्नलिखित को समझाइये :—
एकाधिकार में कीमत पूर्ण प्रतियोगिता की कीमत से सदा अधिक नहीं होती।

८. एकाधिकार तथा प्रतियोगिता उत्पादक दोनों का लक्ष्य अपने शुद्ध लाभ को अधिकतम् बनाना है। बताइये कि वे किस प्रकार अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं ?

९. एकाधिकार-गत स्थिति में क्या एक ग्राहक बाजार-मूल्य पर अपना प्रभाव डाल सकता है ? यदि नहीं तो एकाधिकार मूल्य-निर्धारण में उसका क्या हाथ होता है ?

११

अपूर्ण प्रतियोगिता का मूल्य

(Value Under Imperfect Competition)

प्रारम्भिक—

व्यावहारिक जीवन मे पूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार का उदाहरण मिलना कठिन है। न तो विक्रेताओ की सख्या अपरिमित ही होती है और न केवल एक ही। वास्तविक जीवन की स्थिति बहुधा इन दोनो के बीच की ही हुआ करती है। यह दशा है अपूर्ण प्रतियोगिता की।

अपूर्ण प्रतियोगिता की विशेषताएँ

(१) **एकाधिकारी परिस्थितियों की विद्यमानता**—कुछ लेखकों ने अपूर्ण प्रतियोगिता को "एकाधिकारी प्रतियोगिता" का भी नाम दिया है।[1] एकाधिकार मे एक ही विक्रेता होता है अथवा बहुत सारे विक्रेता एक संघ के अधीन काम करते है, किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में एक ही वस्तु के बहुत सारे विक्रेता होते हैं। इन अनेक विक्रेताओ के बीच स्पर्धा होती है, पर इसे हम कटछेदी प्रतिस्पर्धा नही कह सकते, क्योकि प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र सीमित होता है। इसका परिणाम यह होता है कि अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे भी एकाधिकारी परिस्थितियाँ विद्यमान होती हैं, परन्तु यह उतनी विस्तृत नही होती, जितनी कि पूर्ण एकाधिकार मे।

(२) **निश्चित सीमाओं के भीतर स्वतन्त्रता**—अपूर्ण प्रतियोगिता मे प्रत्येक विक्रेता पूर्ति और मूल्य को प्रभावित कर सकता है। यही नही, बहुत बार सारे ग्राहक वास्तविक अथवा कल्पित कारणो से उसकी उपज को दूसरो की उपज से अच्छा समझते है, इसलिए निश्चित सीमाओ के भीतर विक्रेता को अपनी उपज का मूल्य निश्चित कर देने की भी स्वतन्त्रता रहती है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता कभी-कभी क्रेताओ को भी प्राप्त हो सकती है। यह तब सम्भव होता है जबकि या तो क्रेताओ की सख्या कम हो या क्रेता किसी विशेष रीति से भुगतान करे। परन्तु वास्तविक जीवन मे एक क्रेता का व्यक्तिगत प्रभाव बहुत ही कम होता है और क्रेताओ मे सगठित रीति से मिलकर काम करने की प्रवृत्ति बहुत ही कम होती है। इस कारण अपूर्ण प्रतियोगिता मे विक्रेताओ को ग्राहको से अधिक स्वतन्त्रता उपलब्ध होती है।

(३) **बिक्री व्यय (Selling Cost)**—चूँकि अपूर्ण प्रतियोगिता मे प्रतियोगिता का अंश भी रहता है और प्रत्येक विक्रेता अपनी बिक्री को भी बढाना चाहता है, इसलिए उत्पादन व्यय के साथ-साथ एक दूसरे प्रकार का व्यय भी दृष्टिगोचर होता है, जिसे हम "बिक्री व्यय" (Selling Costs) का नाम देते हैं। प्रत्येक विक्रेता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तथा उन्हे अपने द्वारा निश्चित किए हुये दामों पर खरीदने को तैयार करने के लिए अपनी उत्पत्ति तथा उसके गुणो का विज्ञापन करना पड़ता है। उसे बताना होता है कि ग्राहको को उसकी उत्पन्न की हुई वस्तु ही क्यो खरीदनी चाहिए। यह काम विज्ञापन, मन लुभाने वाले पैकिंग

---

[1] See Chamberlain : *The Theory of Monopolistic Competition.*

(Attractive packing), एजेन्ट इत्यादि द्वारा किया जाता है। बहुत बार विक्रेता को अपने ग्राहकों को विशेष सुविधायें देनी पड़ती है। बहुत-सी कम्पनियाँ अपने डिब्बों मे इनाम के कूपन रख देती हैं। लिपटन चाय की कम्पनी एक निश्चित मात्रा में चाय के डिब्बों को खरीदने वालो को उपहार देती है। ऐसे समस्त व्यय को बिक्री व्यय मे ही सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार अपूर्ण प्रतियोगिता का कुल व्यय उत्पादन व्यय तथा बिक्री व्यय का योग होता है। उत्पादन व्यय के समान बिक्री व्यय मे भी बहुधा कुछ स्थिर व्यय होता है, जो प्रत्येक दशा मे करना ही होता है।

(४) सम्पूर्ण उद्योग के लिए माँग एव व्यय रेखायें खीचना कठिन—अपूर्ण प्रतियोगिता मे सम्पूर्ण उद्योग की माँग और व्यय रेखायें खीचना कठिन होता है। कारण, चूँकि विभिन्न उत्पादकों की उपजो मे अन्तर होते हैं, इसलिए व्यय की कोई एक रेखा नही हो सकती है। फलतः किसी वस्तु की माँग की कुल मात्रा का उल्लेख करने में भी कठिनाई होती है। एक अन्य कठिनाई यह है कि कीमत एक नही होती, बल्कि अलग-अलग विक्रेताओ और किस्मों की अलग-अलग कीमते होती हैं। यही कारण है कि आगम और व्यय की रेखाएँ केवल व्यक्तिगत फर्मों के लिए ही खीची जा सकती हैं।

(५) व्यक्तिगत फर्म की माँग-रेखा नीचे की ओर ढाल—चूँकि विक्रेताओ की संख्या कम होती है, इसलिए प्रत्येक विक्रेता की उपज की माँग अत्यधिक लोचदार होती है किन्तु पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति पूर्णतः लोचदार नही। अत एक विक्रेता अपनी कीमत को घटाकर अन्य विक्रेताओ के बहुत से ग्राहक आकर्षित कर सकता है और कीमत को बढ़ा कर अपने बहुत से ग्राहक खो सकता है। अतः माँग-रेखा अ क के समानान्तर नही हो सकती, बल्कि उसका ढाल नीचे की ओर होगा। यह रेखा धीरे-धीरे बायीं ओर से दाहिनी ओर नीचे को गिरती हुई रेखा होती है।

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे अधिक बिक्री करने के लिए एक विक्रेता को दाम घटाने की आवश्यकता नही पड़ती, क्योंकि दीर्घकाल मे माँग-रेखा क्षितिज के समानान्तर होती है। परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता मे ऐसा नही होता। यहाँ प्रत्येक अगली इकाई बेचने के लिए दाम घटाना पड़ता है। यह तो सभी जानते है कि जब अन्तिम इकाई के दाम घटते है, तो सभी इकाइयों के दाम घटाने पड़ेंगे। अतः, अधिक बिक्री करने के हेतु दाम घटाने से पहले विक्रेता यह अच्छी प्रकार से देख लेता है कि इस प्रकार दाम घटाने का उसके कुल लाभ पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

(६) पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति कोई सामान्य मूल्य नहीं—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति एकाधिकार से मिलती-जुलती है। प्रत्येक विक्रेता अपने निजी बाजार क्षेत्र मे लगभग एकाधिकारी ही होता है। उसका उद्देश्य भी अपने कुल लाभ को अधिकतम् करना होता है और यह हम देख चुके है कि कुल लाभ अधिकतम् उसी दशा मे होता है, जबकि मूल्य इस प्रकार निश्चित किया जाय कि सीमान्त आगम सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर हो। प्रत्येक विक्रेता की दीर्घकालीन प्रवृत्ति इसी दशा मे होती है, यद्यपि अल्पकाल मे वह थोड़े कम दाम भी ले सकता है, जिससे कि ग्राहक केवल उसकी ओर आकर्षित ही न हो, वरन् उससे सम्बन्धित (Attach) हो जायें। पूर्ण प्रतियोगिता मे सीमान्त आगम मूल्य के बराबर रहती है, परन्तु एकाधिकार मे वह मूल्य से कम रहती है। बिलकुल यही दशा अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी होती है, क्योंकि प्रत्येक विक्रेता यहाँ भी एक बड़ी सीमा तक एकाधिकारी होता है। मूल्य निर्धारण का जो रेखाचित्र हम एकाधिकार मे खीचते है वही अपूर्ण प्रतियोगिता मे खीचा जायगा, परन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिए कि अपूर्ण प्रतियोगिता मे पूर्ण

प्रतियोगिता की भाँति कोई सामान्य मूल्य नही होता। प्रत्येक विक्रेता की अपनी कीमत होती है और विभिन्न विक्रेताओं की अपनी कीमत होती है और विभिन्न विक्रेताओं द्वारा माँगी हुई कीमत मे विशाल अन्तर हो सकते हैं।

जैसा कि इस चित्र में दिखाया गया है एकाधिकार की भाँति अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी मूल्य इस प्रकार निर्धारित होता है कि सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय समान हों क्योकि उसी दशा में शुद्ध एकाधिकारी आगम अधिकतम् होती है। सीमान्त आगम तथा सीमान्त व्यय की रेखाएँ ट विन्दु पर एक दूसरी को काटती है और प म मूल्य-रेखा ट बिन्दु से गुजरती है। शुद्ध एकाधिकार आगम रेखांकित आयत सूचित करती है।

यह समझ लेने मे कठिनाई न होगी कि केवल प म मूल्य पर ही कुल लाभ अधिकतम् होगा, क्योकि (जैसा कि हम एकाधिकारी मूल्य के सम्बन्ध मे देख चुके हैं) प म से अधिक मूल्य होने की दशा मे अधिक बिक्री करके कुल लाभ मे वृद्धि कर लेने की सम्भावना रहती है, जिससे उत्पत्ति बढ़ती है और मूल्य नीचे गिरता है। इसके विपरीत प म से नीचे दाम होने की दशा मे हानि होती है, उत्पत्ति घटती है और दाम बढ़ते हैं।
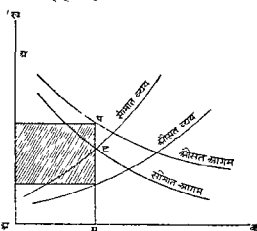
चित्र—अपूर्ण प्रतियोगिता मे मूल्य

अपूर्ण अथवा एकाधिकारी प्रतियोगिता में फर्म का सन्तुलन
(Equilibrium of the Firm under Monopolistic Competition)

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य—

अपूर्ण प्रतियोगिता में किसी भी व्यक्तिगत फर्म की माँग अथवा औसत आगम की रेखा बायीं ओर से दाहिनी ओर ऊपर से नीचे गिरती हुई रेखा होती है और सीमान्त आगम की रेखा सदैव औसत आगम की रेखा के नीचे होती है। एक उद्योग की विभिन्न फर्मों की उपजो मे अन्तर होने के कारण एक फर्म की उपज दूसरी फर्म की उपज का प्रतिस्थापन नही कर पाती है। प्रत्येक फर्म की उपज का अपना अलग ही स्थान होता है। यदि कोई फर्म अपनी बिक्री को बढ़ाना चाहती है, तो उसे या तो कीमत घटानी होगी या विज्ञापन आदि से अपनी उपज की माँग बढानी होगी।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ऐसी फर्म की कुल आगम उस बिन्दु पर अधिकतम् होती है जिस पर सीमान्त आगम सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर हो। विक्रेता की दृष्टि से यही सर्वोत्तम उपज है। इस दृष्टि से एकाधिकारी फर्म तथा अपूर्ण प्रतियोगिता की किसी फर्म के बीच अन्तर नही होता। इतना अवश्य है कि यहाँ पर भी हम यह मान कर चल रहे हैं कि प्रत्येक फर्म अपनी शुद्ध आगम को अधिकतम् करना चाहती है।

अल्पकालीन मूल्य—

अपूर्ण प्रतियोगिता में भी अल्पकालीन दशाएँ एकाधिकार तथा पूर्ण प्रतियोगिता की ही भाँति होती हैं। चूँकि अल्पकाल मे उत्पादन क्षमता बढ़ाई नही जा सकती है, और न घटाई जा सकती है, इस कारण अल्पकाल मे किसी फर्म के लिए तीन अलग-अलग सम्भावनाएँ हो सकती हैं :—

(१) फर्म का लाभ सामान्य लाभ से ऊँचा हो—यदि फर्म की वस्तु के लिए माँग बहुत है और उसके अधिक निकट स्थानापन्न भी है, तो ऊँची कीमत रख कर सामान्य से अधिक लाभ कमाया जा सकता है।

(२) फर्म का लाभ सामान्य लाभ के बराबर हो—यदि माँग कुछ दुर्बल है, तो फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त हो सकेगा।

(३) फर्म का लाभ सामान्य से नीचा हो अर्थात् उसे हानि हो—यह स्थिति तब उदय होती है जबकि माँग बहुत ही कमजोर हो। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार की भाँति, यहाँ भी फर्म की हानि उसके कुल स्थिर व्यय से अधिक नहीं हो सकती है, अन्यथा वह फर्म उत्पादन बन्द कर देगी।
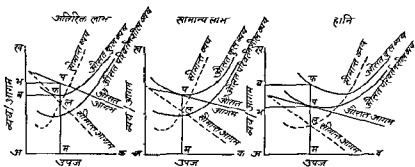
चित्र—अपूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकालीन मूल्य

तीनों चित्रों में कीमत प म है और वह उस बिन्दु द्वारा निश्चित होती है जिस पर कीमत आगम और सीमान्त व्यय की रेखाएँ एक दूसरी को काटती हैं। प्रत्येक चित्र में ल एक ऐसा ही बिन्दु है। प्रथम चित्र में औसत व्यय फ म है, जो औसत आगम (प म) से कम है, इसलिए अतिरिक्त लाभ प्राप्त होता है, जो प फ ब भ के बराबर है। दूसरे चित्र में औसत व्यय तथा औसत आगम समान है (अर्थात् प म के बराबर), इसलिए केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है। तीसरे चित्र में औसत आगम तो प म है परन्तु औसत व्यय फ म है, जो प म से ऊँचा है, इसलिए विक्रेता को प्रति इकाई फ म—प म अर्थात् फ प के बराबर हानि होती है और कुल हानि प फ ब भ है। परन्तु तीसरे चित्र में औसत परिवर्तनशील व्यय भी प म है, जो औसत आगम अथवा कीमत के बराबर है। इस प्रकार कीमत कम से कम औसत परिवर्तनशील व्यय के अवश्य बराबर है।

दीर्घकालीन मूल्य—

पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति अपूर्ण प्रतियोगिता में भी फर्में 'उद्योग' में स्वतन्त्रतापूर्वक प्रवेश कर सकती हैं और बिना रुकावट उद्योग से बाहर जा सकती हैं। ऐसी दशा में, यदि लाभ सामान्य से ऊपर है, तो नई फर्में उद्योग में प्रवेश करेंगी और यदि हानि है, तो कुछ फर्में उद्योग को छोड़ देंगी, इसका परिणाम यह होगा कि दीर्घकाल में लाभ न तो सामान्य से अधिक होगा और न

कम । इस कारण अपूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकालीन साम्य की दशा वह होगी, जिसमें एक ओर औसत आगम=औसत व्यय, और, दूसरी ओर सीमान्त आगम=सीमान्त व्यय। साथ का चित्र इस स्थिति को दिखाता है :—प्रथम शर्त ल बिन्दु पर पूरी हो जाती है, क्योंकि इस बिन्दु पर सीमान्त आगम और व्यय एक दूसरे के बराबर हैं। आगम शर्त प बिन्दु पर पूरी हो जाती है, क्योंकि इस बिन्दु पर औसत व्यय और औसत आगम बराबर है। इस कारण दीर्घकालीन साम्य का मूल्य प म होगा।
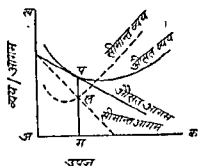
चित्र—अपूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकालीन मूल्य

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन साम्य का विश्लेषण करते हुए हमें निम्न दो बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

(१) पूर्ण प्रतियोगिता में औसत आगम रेखा (AR) एक पड़ी हुई रेखा होती है तथा औसत व्यय रेखा (AC) को न्यूनतम बिन्दु पर स्पर्श करती है, जिसका अर्थ यह हुआ कि फर्म को केवल सामान्य लाभ प्राप्त हो रहा है और वह वस्तु का न्यूनतम औसत लागत पर उत्पादन कर रही है। न्यूनतम औसत लागत पर की गई उत्पत्ति की मात्रा को 'अनुकूलतम मात्रा' कहते हैं। जबकि फर्म पूर्ण प्रतियोगिता में अनुकूलतम मात्रा की उत्पत्ति करती है, अपूर्ण प्रतियोगिता में 'अनुकूलतम से कम मात्रा' की। कारण, AR इस दशा में AC को न्यूनतम बिन्दु से पहले ही स्पर्श करती है (देखिये उपरोक्त चित्र)। अतः अपूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक फर्म के पास उपर्युक्त क्षमता होती है।

(२) हमने यह मान्यता की थी कि समूह की विभिन्न फर्मों की लागत दशायें समान हैं। किन्तु वास्तविक जीवन में इनमें थोड़ा अन्तर होता है। अतः दीर्घकाल में भी कुछ फर्मों को मामूली अतिरिक्त लाभ मिलना सम्भव है।

पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार में अन्तर

(१) स्पर्धा के आधार पर अन्तर— ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि पूर्ण प्रतियोगिता अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार में केवल अंश (degree) का ही अन्तर है। तीनों एक ही दशा के तीन विभिन्न रूप हैं। यदि स्पर्धा का अंश अपरिमित है, तो ऐसी दशा को हम पूर्ण प्रतियोगिता कहते हैं, यदि अपरिमित से कम है, तो अपूर्ण प्रतियोगिता है और यदि शून्य है, तो पूर्ण अथवा शुद्ध एकाधिकार है।

(२) प्रतियोगिता तथा एकाधिकार में बहुत बार विक्रेताओं की संख्या के अनुसार भी भेद किया जाता है। यदि एक ही विक्रेता है, तो एकाधिकार, यदि असंख्य विक्रेता हैं, तो पूर्ण प्रतियोगिता और यदि विक्रेता सीमित संख्या में हैं, तो अपूर्ण प्रतियोगिता है। इन तीनों में भेद करने की यही रीति अधिक प्रचलित है। परन्तु इस सम्बन्ध में कठिनाइयाँ हैं—(i) यह निर्णयपूर्वक कहना कठिन है कि एक विक्रेता से हमारा अभिप्राय क्या है ? प्रथम स्थान में प्रत्येक विक्रेता अकेला ही होता है। (ii) फिर एकाधिकारी का एक देश में अकेले होने का भी कुछ विशेष अर्थ नहीं होता, क्योंकि सम्भव है कि उसके विदेशी प्रतियोगी हों। (iii) सारे संसार

में एक ही विक्रेता नहीं हो सकता है, क्योंकि यह भी तो सम्भव है कि कई विक्रेता हो और उनमे से प्रत्येक को एकाधिकारी स्थिति प्राप्त हो। अत: हम यह नहीं कह सकते हैं कि एकाधिकार मे एक विक्रेता का एक होना आवश्यक है। ठीक इसी प्रकार विक्रेताओं की अनेकता से प्रतियोगिता का होना भी सिद्ध नही होता।

(३) **माँग की रेखा के आधार पर अन्तर**—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रतियोगिता के अंश के आधार पर पूर्ण एवं अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार की स्थितियों मे भेद करना अधिक उपयुक्त है किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि प्रतियोगिता के अंश का अनुमान कैसे लगाया जाय ? इसका एक ही उपाय है—माँग की रेखा के रूप का अध्ययन करना।

अर्थशास्त्र मे पूर्ण प्रतियोगिता की परिभाषा माँग की रेखा की क्षितिज के समानान्तर होने के आधार पर की जाती है। ऐसी रेखा यह सूचित करती है कि यदि कोई विक्रेता थोडी अधिक कीमत माँगता है तो उसकी बिक्री होगी ही नही, क्योंकि अन्य विक्रेता अपनी नीची कीमत के कारण सारे ग्राहको को अपनी ओर खीच लेते हैं। अपरिमित प्रतियोगिता का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है। इसके विपरीत अपूर्ण प्रतियोगिता मे माँग की रेखा एक गिरती हुई रेखा होती है। स्मरण रहे कि पूर्ण एकाधिकार मे अर्थात् जबकि प्रतियोगिता का अंश शून्य होता है, माँग की रेखा खडी रेखा (Vertical Line) होती है। इस प्रकार की रेखा इस बात को सूचित करती है कि दाम के घटने-बढने से माँग की मात्रा मे परिवर्तन नही होते हैं। उपरोक्त दोनो दशायें अन्तिम छोर की दशाये होती हैं।

इनके बीच की एक और भी दशा सम्भव हो सकती है, जिसमें प्रतियोगिता का अंश शून्य तथा अपरिमितता के बीच में कहीं होगा, ऐसी दशा मे माँग की रेखा ऊपर से नीचे को गिरती हुई होगी। वह न तो क्षितिज के समानान्तर होगी और न खड़ी रेखा ही। वास्तविक जीवन में पहली दो दशाओं का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही है। व्यावहारिक जीवन मे केवल तीसरी दशा ही विद्यमान होती है। शुद्ध एकाधिकार उतना ही दुर्लभ है, जितनी अपूर्ण प्रतियोगिता। प्रतियोगिता बहुधा एकाधिकारी होती है, इसलिए एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतियोगिता मे बहुत अधिक अन्तर नही होता।

दोनों मे केवल इतना ही अन्तर होता है कि एकाधिकार की दशा मे, यदि विक्रेता ऊँचे दाम माँगता है, तो वह अपने ग्राहकों को उसी वस्तु के दूसरे विक्रेताओं के पास नही खो देता है, क्योंकि दूसरे विक्रेता होते ही नही हैं, किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता मे उसके कुछ ग्राहक ऐसी दशा मे उसके पास से हटकर उसी वस्तु के दूसरे विक्रेताओं के पास चले जायेंगे। मूल्य घटाने की दशा में
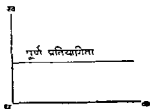
पूर्ण प्रतियोगिता

एकाधिकारी नये ग्राहक बना सकता है, क्योंकि कुछ लोग जो ऊँचे दामों पर वस्तु को खरीदने मे असमर्थ थे, अब खरीदने लगेंगे। अपूर्ण प्रतियोगिता मे पूर्णतया नये ग्राहक बनाने का प्रश्न ही नही उठता। दाम घटाकर केवल दूसरे विक्रेताओं के
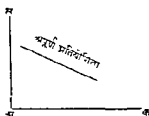
कुछ ग्राहकों को ही तोड़ा जा सकता है। सच पूछिये तो अपूर्ण प्रतियोगिता में किसी भी विक्रेता के ग्राहकों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—प्रथम, वे जो विभिन्न कारणों से विक्रेता विशेष से लगे (Attached) अथवा जुड़े रहते हैं और दूसरे, जो इस प्रकार सम्बन्धित नहीं होते। दूसरे प्रकार के ग्राहक दाम के घटने-बढ़ने पर एक विक्रेता से दूसरे के पास जाते हैं, पहले प्रकार के नहीं।

उपज-विभेद और फर्म का साम्य
(Product Variation and Equilibrium of the Firm)

अपूर्ण प्रतियोगिता में विक्रेता की बिक्री की मात्रा तीन बातों पर निर्भर होती है—कीमत, उपज की प्रकृति (किस्म) और विज्ञापन आदि। पिछले विवेचन में हमने फर्म की साम्य स्थिति का अध्ययन कीमत के आधार पर किया था और यह मान लिया था कि अन्य दो बातें यथा-स्थिर रहती हैं। *अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उपज के परिवर्तनों का फर्म के साम्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा।*

उपज-विभेद से आशय—

एक फर्म के लिए सम्भव है कि वह बाजार में प्रचलित कीमत को स्वीकार कर ले और फिर अपने कुल लाभ को अधिकतम् करने के लिए यह निर्णय करे कि वह उपज की कौन-सी किस्म उत्पन्न करेगी। यही उपज विभेद की समस्या है और इस दशा में विक्रेता के निर्णय का माँग और कीमत दोनों पर प्रभाव पड़ता है।

उपज की एक विशेष किस्म से ही अधिकतम् लाभ मिलना—

उपज विभेद के कारण एक विशेष स्थिति उत्पन्न होती है। प्रत्येक प्रकार की उपज की अपनी अलग माँग की अनुसूची तथा व्यय अथवा पूर्ति की अनुसूची होती है। उपज की अलग-अलग किस्मों के प्रति ग्राहकों के अलग अनुराग होते हैं और प्रत्येक किस्म के लिए प्रति इकाई उत्पादन व्यय भी बहुधा अलग-अलग होता है। किन्तु स्थिति यह है कि उपज की विभिन्न किस्मों में से साधारणतया एक ही किस्म ऐसी होती है जिससे एक दी हुई फर्म को अधिकतम् लाभ मिल सकता है। यह भी विचारणीय है कि कीमत, किस्म तथा कुल उपज एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं होते। किस्म का चुनाव कीमत और कुल उपज को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है किन्तु फिर भी हमारे लिए यह जानना सम्भव है कि कोई फर्म किस प्रकार यह निर्णय करेगी कि उपज की कौन-सी किस्म उसके लिए सबसे उपयुक्त है।

(I) उपज विभेद कीमत को यथास्थिर मानते हुये—

मान लीजिए कि फर्म के सम्मुख उपज की तीन किस्मों में से किसी एक के चुनने की समस्या है और ये तीन किस्में A, B और C हैं। इनसे सम्बन्धित औसत व्यय रेखायें क्रमशः $A C_1$, $A C_2$ और $A C_3$ हैं। मान लीजिए कि कीमत दी हुई है और इस दी हुई कीमत पर प्रत्येक किस्म की कुछ न कुछ मात्रा अवश्य बिक जाती है। अग्रिम चित्र में स्थिति को दिखाया गया है :—

चित्र में OP दी हुई कीमत है, जो यथास्थिर रहती है। $P_1 M_1$, $P_2 M_2$ और $P_3 M_3$ कीमतें भी O P के बराबर हैं। इस कीमत पर A B और C किस्मों की क्रमशः $O M_1$, $O M_2$ तथा OM_3 मात्रायें बिकती हैं और इन तीनों मात्राओं की कीमतें क्रमशः $P_1 M_1$, $P_2 M_2$ तथा $P_3 M_3$ है। $P_1 M_1$, $P_2 M_2$ तथा $P_3 M_3$ रेखायें $A C_1$, $A C_2$ तथा $A C_3$ को क्रमशः K_1, K_2 तथा K_3 बिन्दुओं पर काटती है। इस दशा में किस्म A पर प्रति इकाई लाभ $P_1 K_1$

चित्र—उपज विभेद (यथास्थिर कीमत की दशायें)
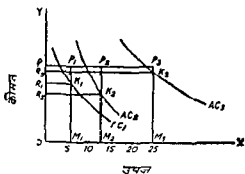
और कुल लाभ $P_1 K_1 R_1 P$ है, और B किस्म पर प्रति इकाई लाभ $P_2 K_2$ है और कुल लाभ $P_2 K_2 R_2 P$ है और C किस्म पर प्रति इकाई लाभ $P_3 K_3$ है तथा कुल लाभ $P_3 K_3 R_3 P$ हैं। इस चित्र में $O M_1$ ६ इकाई है, $O M_2$ १२ इकाई है और $O M_3$ २५ इकाई है। मान लीजिए कि $P_1 K_1$ ३·५० रुपये के बराबर है, $P_2 K_2$ ५·०० रुपये के बराबर है और $P_3 K_3$ १·५० रुपये के बराबर है। इस प्रकार, जब विक्रेता किस्म A का उत्पादन करता है, तो उसका कुल लाभ ६ × ३·५० = २१ रुपये होता है। किस्म B उत्पन्न करने पर उसका कुल लाभ १२ × ५ = ६० रुपये है और किस्म C उत्पन्न करने पर उसका कुल लाभ २५ × १·५० = ३७.५० रुपये है। इस प्रकार, किस्म B का उत्पादन उसे सबसे अधिक लाभ देता है और वह इसी किस्म को चुनेगा।

(II) उपज विभेद कीमत को अलग-अलग मानते हुये—

किन्तु उपरोक्त स्थिति अवास्तविक है, क्योंकि कीमत को यथास्थिर माना गया है जबकि वास्तव में कीमत, कुल उपज और उपज की किस्म एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। सही उपाय यह होगा कि प्रत्येक किस्म के लिए अलग-अलग व्यय और आगम की रेखाएँ खींची जायें और फिर यह देखा जाय कि लाभ किस दशा में अधिकतम् होता है। इस दशा में प्रत्येक किस्म की कीमत को अलग-अलग माना जायगा (और यही वास्तव में होता है)। निम्न चित्र इस स्थिति को दिखाता है। यहाँ भी किस्म B का उत्पादन ही सर्वाधिक लाभदायक है।
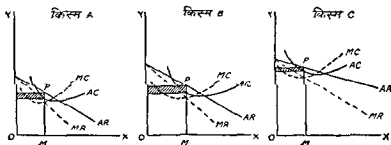
चित्र—उपज विभेद (अलग-अलग कीमतें)

प्रत्येक चित्र में रेखांकित क्षेत्र उस कुल लाभ को दिखाता है जो सामान्य लाभ से ऊपर है। यहाँ तीनों किस्मों की व्यय और आगम की रेखाएँ अलग-अलग हैं। यहाँ पर भी किस्म B का उत्पादन ही सर्वाधिक लाभ प्रदान करता है और विक्रेता उसे ही चुनेगा।

अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का आकार

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे फर्मों की संख्या तो बहुत होती है, किन्तु दीर्घकाल मे सामान्य लाभ को छोडकर और किसी प्रकार के लाभ न होने के कारण साम्य की अवस्था मे प्रत्येक फर्म मे अनुकूल अथवा कुशलतम् आकार के होने की प्रवृत्ति रहती है। कोई भी फर्म दाम गिरा करा कर और उत्पत्ति की लागत को घटाकर ग्राहकों को अपनी ओर खींच सकती है, अत: धीरे-धीरे अकुशल फर्में बाजार से निकलती जाती हैं। प्रवैगिक अवस्था मे भी प्रतिनिधि फर्म (Representative Firm) उद्योग की दशा की सूचक होती है और उसी का आकार उद्योग का सामान्य आकार होना है।

किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता मे कुशल तथा अकुशल फर्में एक साथ ही बाजार मे स्थित हो सकती हैं और बराबर चालू रह सकती हैं। कारण, कुशल फर्में अकुशल फर्म के जमे हुए ग्राहकों को नही तोड़ पाती है। इसका अर्थ यह होता है कि अपूर्ण प्रतियोगिता मे प्रत्येक फर्म के आकार का अनुकूलतम होना आवश्यक नही है। साथ ही यह भी सम्भव है कि फर्मों की कुल संख्या पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे बहुत अधिक हो जाय, क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता मे दीर्घकाल मे केवल कुशल फर्में ही जीवित रह सकती है, जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता में कुशल तथा अकुशल दोनों ही प्रकार की फर्में एक साथ जीवित रह सकती है। चूंकि कुछ कारणों से ग्राहक सभी फर्मों की उपज को समान नही समझते, इसलिए अकुशल फर्मों के दाम ऊँचे रहते हुए भी इनकी बिक्री होती रहती है। इस आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि, "अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे उत्पत्ति की अधिक कुशल अवस्था केवल तब प्राप्त की जा सकती है, जबकि उत्पत्ति की कुल मात्रा कम फर्मों द्वारा ही उत्पन्न की जाय।"[1] दूसरे शब्दो मे, "सीमित प्रतियोगिता" "अपूर्ण प्रतियोगिता" से अच्छी है।

अपूर्ण प्रतियोगिता में अपव्यय

कुछ लेखकों का मत है कि अपूर्ण प्रतियोगिता मे बड़ा अपव्यय (Waste) होता है। मीड ने अपव्यय के निम्नलिखित पाँच कारण बताये है:—(i) विज्ञापन इत्यादि देश के दृष्टिकोण से अपव्यय ही कहा जायेगा। (ii) कभी-कभी क्रय अनुराग विचारयुक्त (Rational) नही होता, जिससे व्यर्थ का यातायात होता है। उदाहरणार्थ, आगरे के माल के लिए मद्रास मे माँग हो सकती है और ठीक उसी प्रकार के मद्रास मे उत्पन्न किये हुए माल की माँग आगरे मे। ऐसी दशा मे निश्चित है कि माल को आगरे से मद्रास ले जाने तथा मद्रास से लाने का कुल व्यय व्यर्थ ही है। (iii) किसी उद्योग की प्रत्येक फर्म उस वस्तु के उत्पादन पर नही,रुक जाती, जिसमे उसे अधिकतम कुशलता प्राप्त होती है। इससे देश के आर्थिक साधनों का व्यर्थ ही अपव्यय होता है। (iv) अकुशल फर्मों द्वारा उत्पत्ति होने पर तथा वस्तु का प्रमापीकरण न होने से राष्ट्र को हानि होती है। (v) इसमे माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए बहुधा अनावश्यक रूप मे दुहरा यातायात होता है।

अल्पाधिकार तथा द्वि-अल्पाधिकार
(Oligopoly and Duopoly)

अल्पाधिकार एवं द्वि-अल्पाधिकार से आशय—

अल्पाधिकार की स्थिति वह स्थिति होती है जिसमे किसी वस्तु के कुछ थोड़े से ही

---

1 "Under conditions of imperfect competition, the most efficient conditions of production can be obtained only when the total quantity of output is produced by a small number of firms."—Mehta : *An Introduction to Economic Analysis and Policy*, American edition, p. 164.

विक्रेता होते है। एकाधिकार मे तो केवल एक ही विक्रेता होता है। पूर्ण प्रतियोगिता मे विक्रेताओ की सख्या बहुत बड़ी होती है और अपूर्ण प्रतियोगिता मे विक्रेताओ की संख्या सीमित होते हुए भी बडी होती है, परन्तु अल्पाधिकार मे विक्रेताओ की सख्या बहुत कम होती है। [ठीक इसी प्रकार, क्रेता अल्पाधिकार (Oligopsony) वह स्थिति होती है जिसमें ग्राहको की सख्या बहुत थोडी-सी होती है।]

द्वि-अल्पाधिकार वह स्थिति होती है जिसमे विक्रेताओ की सख्या दो होती है। एकाधिकार मे तो बाजार में वस्तु का केवल एक ही विक्रेता होता है, परन्तु द्वि-अल्पाधिकार मे एक ही साथ बाजार मे वस्तु के दो विक्रेता होते हैं। [ठीक इसी प्रकार, द्वि-क्रेता-अल्पाधिकार (Duopsony) मे वस्तु के क्रेताओ (अथवा ग्राहको) की सख्या दो होती है।] अब हमे यह देखना है कि इन विशिष्ट दशाओ मे कीमत का निर्धारण किस प्रकार होगा।

द्वि-अल्पाधिकार में मूल्य-निर्धारण—

द्वि-अल्पाधिकार मे दो अल्पाधिकारी होते हैं, जिनके सम्बन्ध में दो अलग-अलग प्रकार की स्थितियाँ हो सकती हैं :—(१) दोनो विक्रेता बिल्कुल एक-सी ही वस्तु को बेचे, तथा (२) दोनो के द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओ मे अन्तर हो अर्थात् दोनो के बीच उपज विभेद (Product Differentiation) हो। इन दोनों स्थितियों मे कीमत का निर्धारण अलग-अलग प्रकार होगा।

(१) उपज-विभेद की अनुपस्थिति में—यदि हम ऐसे द्वि-अल्पाधिकार को लेते हैं जिसमे उपज-विभेद नही है, तो दो प्रकार की सम्भावनाएं हो सकती हैं :—(१) या तो दोनों अल्पाधिकारी मिल कर काम करे, ताकि प्रतियोगिता न होने पाये, या (२) दोनो एक दूसरे से खुल के प्रतियोगिता करें।

जब वे मिलकर काम करते है, साधारणतया बाजार को आपस मे बांट लेते हैं तथा कीमत और उत्पादन की मात्रा के सम्बन्ध मे कोई समझौता कर लेते हैं। बाजार मे बँटवारे के कारण प्रत्येक एकाधिकारी अपने-अपने क्षेत्र मे एकाधिकारी बन जाता है। अत. कीमत का निर्धारण एकाधिकारी नियमो पर होता है।

यदि दोनो एक दूसरे से खुली प्रतियोगिता करते हैं, तो यह सम्भव है कि एक दूसरे से कम दामो पर बेचने को प्रयत्न करें। ऐसी दशा मे, यदि दोनो के व्यय की रेखा एक जैसी है तो, दीर्घकाल के लाभो को अधिकतम करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनो एक ही कीमत रखे जो ऐसी हो जैसी कि उस दशा मे होती जबकि बाजार मे एक ही अधिकारी होता। परन्तु यदि दोनो एक दूसरे से कम कीमत पर बेचने का प्रयत्न करते हैं, तो दीर्घकाल मे कीमत उस बिन्दु पर निश्चित होगी जहाँ प्रत्येक को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त हो (पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति)। यदि दोनो फर्मों के उत्पादन व्ययो मे अन्तर है, तो कम व्यय वाली फर्म दूसरी को बाजार से निकाल देगी और अन्त मे एकाधिकार स्थापित हो जायेगा।

द्वि-अल्पाधिकारियो के लिए अधिक अच्छा यही है कि एकाधिकारी कीमत निश्चित करे और बाजार को आपस मे बाँट ले। परन्तु साधारणतया द्वि-अल्पाधिकार मे दीर्घकालीन कीमत एकाधिकार तथा पूर्ण प्रतियोगिता के बीच कही रहती है।

(२) उपज-विभेद होने पर—यदि दोनो अल्पाधिकारियो की उपजो मे अन्तर है, तो प्रत्येक का अपना अलग-अलग बाजार होगा, पारस्परिक प्रतियोगिता का भय नहीं होगा और जिस फर्म की उपज अधिक उत्तम होगी वह अतिरिक्त लाभ कमायेगी।

अल्पाधिकार में मूल्य का निर्धारण—

अल्पाधिकार मे भी मूल्य निर्धारण की समस्या द्वि-अल्पाधिकार के सदृश्य होती है।

अन्तर केवल इतना होता है कि फर्मों की संख्या जितनी ही अधिक होगी उतने ही उनके सीमान्त व्यय के अन्तर विशाल होंगे और उतनी ही उनके आपस मे मिल जाने की सम्भावना कम होगी।

(१) यदि उपज-विभेद नहीं है, तो कीमत लगभग अनिर्धारणीय होगी, परन्तु सम्भावना यह होती है कि जितनी ही विक्रेताओं की संख्या होगी उतनी ही साधारणतया कीमत नीची होगी। यहाँ तक कि यदि संख्या बहुत अधिक हो जाये, तो कीमत पूर्ण प्रतियोगिता के स्तर पर पहुँच जायेगी।

(२) यदि विभिन्न फर्मों के बीच उपज-विभेद है, तो उनके बीच एकाधिकारी समझौतो की सम्भावना और भी कम होगी। ठीक इसी प्रकार, आपस मे प्रतियोगिता का भी कम अवकाश होगा। ऐसी दशा में या तो प्रत्येक विक्रेता एकाधिकारी होगा या आपसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण एकाधिकारी प्रतियोगिता की दशाये उत्पन्न हो जायेगी और इस दशा मे कीमत उसी प्रकार निश्चित होगी जिस प्रकार कि अपूर्ण प्रतियोगिता में निश्चित होती है।

अल्पाधिकार में कीमत की कुछ विशेषताये होती है, जिनका उल्लेख असंगत न होगा। ये विशेषताएँ निम्न हैं :—(i) कोई भी अल्पाधिकारी फर्म कीमत को नीची करके ग्राहकों को आकर्षित नहीं कर सकती है, क्योंकि प्रतियोगिता अपूर्ण होती है। (ii) अल्पाधिकारी कीमत मे स्थिरता अधिक होती है। माँग अथवा पूर्ति के परिवर्तनों का कीमत पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। (iii) व्यय के परिवर्तनो का भी कीमत अथवा उपज पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नही पड़ता है। "इस प्रकार, यह सम्भव है कि माँग तथा व्यय में बार-बार परिवर्तन होते रहें, परन्तु कीमत में या तो कोई परिवर्तन न हो अथवा बहुत ही कम परिवर्तन हो। हमारी अर्थ-व्यवस्था में कीमतों के कड़ेपन का एक कारण अल्पाधिकारो का पाया जाना ही है।"

परीक्षा प्रश्न :

१. 'अपूर्ण प्रतियोगिता' को समझाइये। अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तगत उत्पादित वस्तुओं की कीमत किन-किन बातो से निर्धारित होती है ?

२. अपूर्ण स्पर्धा तथा एकाधिकार का अन्तर समझाइये। एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य कैसे निर्धारित होता है ?

१२

परस्पर सम्बन्धित मूल्यों की समस्या

(Problem of Inter-related Values)

प्रस्तावना—

सरलता के लिये हमने अभी तक यह मानकर मूल्य निर्धारण का अध्ययन किया है कि उत्पादक एक बार एक ही वस्तु उत्पन्न करता है, अथवा एक उपभोक्ता एक बार एक ही वस्तु का उपभोग करता है, अर्थात्, जब वस्तु की मांग अथवा पूर्ति का दूसरी वस्तुओं की मांग और पूर्ति से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु वास्तविक जीवन में सदा ऐसा ही नहीं होता। बहुधा देखा जाता है कि किसी वस्तु विशेष की मांग हमारे उपयोग की अन्य अनेक वस्तुओं की मांग से सम्बन्धित होती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण उत्पत्ति के साधनों में मिलता है। 'श्रम' साधन की माग अन्य साधनों (जैसे—कच्चा माल, पूंजी आदि) की मांग पर आधारित होता है। ठीक इसी प्रकार, कुछ वस्तुओं की पूर्ति भी एकाकी रूप में न होकर संयुक्त रूप से होती है, अर्थात् एक वस्तु को उत्पन्न करने से दूसरी का उत्पन्न करना आवश्यक होता है। रुई और बिनौला इसी प्रकार की वस्तुयें हैं।

उक्त परस्पर सम्बन्धित वस्तुओं का मूल्य निर्धारण ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि साधारण वस्तुओं का। किन्तु फिर भी इनके मूल्य-निर्धारण में कुछ नई समस्यायें उपस्थित होती है। उपभोक्ता तथा उत्पादक की दृष्टि से वस्तुओं में साधारणतया चार प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं :—(I) संयुक्त मांग, (II) संयुक्त पूर्ति, (III) सम्मिलित अथवा प्रतिद्वन्द्वी मांग, और (IV) सम्मिलित अथवा प्रतिद्वन्द्वी पूर्ति। प्रस्तुत अध्याय में हम इस प्रकार के परस्पर सम्बन्धित मूल्य-निर्धारण का अलग-अलग तथा विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

'संयुक्त मांग' की वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण

'संयुक्त मांग' से आशय—

वस्तुओं की 'संयुक्त मांग' (Joint Demand) उस दशा में होती है, जबकि किसी एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो या दो से अधिक वस्तुओं की एक ही साथ मांग होती है। उदाहरणस्वरूप, मोटर कार पर चढ़ने की आवश्यकता पूरी करने के लिये कार और पैट्रोल दोनों की ही एक साथ आवश्यकता पड़ती है। ठीक इसी प्रकार, लिखने के लिए कलम, स्याही और कागज की एक ही साथ मांग होती है। किसी एक वस्तु (जैसे—कपड़े) का उत्पादन करने के लिए बहुत सारी वस्तुओं, (जैसे—रुई, मशीन, मजदूर आदि) की एक ही साथ आवश्यकता होती है। जिन वस्तुओं की मांग संयुक्त होती है, उन्हे 'पूरक वस्तुयें' (Complementary Goods) भी कहते हैं।

संयुक्त मांग एवं व्युत्पन्न मांग—

उत्पत्ति-साधनों के लिये मांग किसी अन्तिम वस्तु के उत्पादन हेतु (जैसे—मकानों के निर्माण के लिए श्रम, ईंट, चूना, सीमेंट इत्यादि) एक ही साथ होती है, जिस कारण इनके लिए मांग 'संयुक्त मांग' हुई, किन्तु साथ ही 'व्युत्पन्न मांग' (derived demand) भी होती है, क्योंकि

वह अप्रत्यक्ष रूप में (अर्थात् अन्तिम वस्तु—मकान—की प्रत्यक्ष मांग के कारण) उत्पन्न हुई है। ऐसी मांग को हम 'व्युत्पन्न संयुक्त मांग' (Derived Joint Demand) कहते हैं।

यद्यपि संयुक्त मांग प्रायः व्युत्पन्न मांग (या निकाली हुई मांग) से सम्बन्धित होती है तथापि इन दोनों में अनुगमन (Succession) और समसामयिकता (Simultaneity) की दृष्टि से अन्तर है। अन्य शब्दों में, जबकि व्युत्पन्न मांग उत्पादन की उत्तरोत्तर अवस्थाओं (Successive stages) को बताती है, संयुक्त मांग किसी एक विशेष अवस्था को।

संयुक्त मांग की वस्तुओं के सम्बन्ध में कठिनाई—

संयुक्त मांग वाली वस्तुओं की विशेषता यह है कि जबकि प्रत्येक का उत्पादन व्यय (औसत तथा सीमान्त) पृथक् पृथक् ज्ञात होता है, प्रत्येक की सीमान्त उपयोगिता अलग-अलग ज्ञात नहीं होती है। उदाहरणस्वरूप, यदि फाउण्टेनपेन और स्याही की संयुक्त मांग है, तो दोनों का अलग-अलग उत्पादन व्यय ज्ञात होने के आधार पर उनकी पूर्ति की रेखाओं को तो अलग-अलग खींचा जा सकता है, परन्तु दोनों की मांग की रेखा एक ही होगी। कितनी उपयोगिता कलम से मिलती है और कितनी स्याही से, इसका निर्णय थोड़ी कठिनाई से होता है।

पृथक् उपयोगिता ज्ञात करने का उपाय—

किन्तु, सीमान्त विवेचना (Marginal analysis) द्वारा यह निर्णय सरल हो जाता है। इसके लिये संयुक्त मांग की वस्तुओं के संयोगों में परिवर्तन करना पड़ता है। यदि हम पेन और स्याही के एक संयोग को लेते हैं, जिसकी कुल उपयोगिता हमें ज्ञात है, तो बाद में स्याही की मात्रा को यथास्थिर रखकर और पैन की मात्रा को एक इकाई से बढ़ाकर हम पैन की सीमान्त उपयोगिता का पता लगा सकते हैं। मान लीजिए कि ४ पैन और ६ स्याही की बोतलों की संयुक्त उपयोगिता ५० है, अब यदि ५ पैन ६ स्याही की बोतलों की संयुक्त उपयोगिता ६०,है, तो इसका अर्थ यह होता है कि एक पैन के बढ़ाने से कुल उपयोगिता में १० की वृद्धि हुई, अतः पैन की सीमान्त उपयोगिता १० है।

एक अन्य उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए कि १०० क्विण्टल कच्चे माल, ५० श्रमिक, ४ हजार रुपया पूँजी तथा साहस की एक निश्चित मात्रा के फलस्वरूप जो कुल उत्पत्ति होती है, उसका मूल्य ४ हजार रुपया है। अब, यदि हम और सभी चीजों को यथास्थिर रखकर श्रमिकों की संख्या को ५१ कर देते हैं और इसके फलस्वरूप कुल उपज बढ़ती है एवं ४,०२० रुपये में बिकती है, तो स्पष्ट है कि २० रुपये के बराबर वृद्धि ५१वें श्रमिक के कारण हुई है। अतः यहाँ पर श्रमिक की सीमान्त उपयोगिता की माप २० रुपये हुई। इस प्रकार संयुक्त मांग की वस्तुओं के अनुपात को बदल कर हम प्रत्येक की सीमान्त उपयोगिता जान सकते हैं।

इसके पश्चात् मूल्य निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए क्योंकि हमें प्रत्येक का उत्पादन व्यय (अथवा पूर्ति की वक्र रेखा) ज्ञात है और प्रत्येक की उपयोगिता (अथवा मांग की रेखायें) भी। साम्य की दशा में मूल्य का निर्धारण वहीं पर होता है जहाँ कि मांग और पूर्ति की रेखायें एक दूसरे को काटें।

संयुक्त वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में कठिनाई तब उदय होती है जबकि टेक्नीकल कारणों से संयुक्त मांग वाले उत्पत्ति-साधनों के संयोग के अनुपात को बदला न जा सकता हो। ऐसी दशा में साधनों की पृथक्-पृथक् सीमान्त उपयोगिता (अथवा सीमान्त उत्पादिता) ज्ञात न की जा सकेगी और इसलिए मांग रेखा को भी न खींचा जा सकेगा।

मार्शल का व्युत्पादित मांग का नियम—

मार्शल का विचार कि यद्यपि उत्पत्ति के साधनों के लिये मांग 'संयुक्त' होती है, तथापि जिस प्रमुख वस्तु के उत्पादन के लिए उत्पत्ति के साधनों की मांग की जाती है, उसकी मांग तो 'प्रत्यक्ष' है किन्तु साधनो की मांग 'परोक्ष' अथवा 'व्युत्पादित' (Derived Demand) होती है, क्योंकि इसे प्रमुख वस्तु की मांग निश्चित करती है।

मार्शल ने व्युत्पादित मांग की विवेचना करने में मकान बनाने के उद्योग का उदाहरण लिया है। मकानो की प्रत्यक्ष मांग के फलस्वरूप सब प्रकार के मकान-उद्योग सम्बन्धी मजदूरो, ईंट, पत्थर, लकड़ी इत्यादि के लिए संयुक्त मांग उत्पन्न होती है। इनमे से किसी एक की मांग (उदाहरणार्थ प्लास्टर करने वालों की मांग) व्युत्पादित होगी। मार्शल ने परोक्ष या व्युत्पादित मांग के नियम को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"किसी वस्तु के उत्पादन में उपयोग की जाने वाली किसी चीज के लिए जो दाम दिये जायेंगे वह (वस्तु की अलग-अलग मात्रा के अनुसार) उस मूल्य से, जिस पर कि उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य चीजें मिल सकती हैं, उस मूल्य के आधिक्य द्वारा, जिस पर कि उत्पादित वस्तु बेची जा सकती है, सूचित होते हैं।"[1] दूसरे शब्दो मे, अन्य चीजो को यथास्थिर रख कर किसी एक की मात्रा मे थोडी-सी वृद्धि कर देने से कुल आय मे जो वृद्धि होती है, वही उस चीज के मूल्य को सूचित करती है, जिसमे हमने वृद्धि की थी। अतः मार्शल के नियम तथा ऊपर दी हुई विवेचना मे कोई महत्वपूर्ण अन्तर नही है।

क्या एक साधन की कीमत बहुत ऊँची हो सकती है? इसके पश्चात् मार्शल ने उन दशाओं की विवेचना की है, जिनके अन्तर्गत उत्पत्ति के किसी एक साधन की पूर्ति सीमित हो जाने से उसकी कीमत बहुत ऊँची हो जाती है। ये दशायें निम्नलिखित हैं :—(१) ऐसा साधन पूर्णतया या अवश्य बेलोच होना चाहिए और उसके अच्छे स्थानापन्न नही होने चाहिए। (२) जिस वस्तु की उत्पत्ति के लिए साधन की आवश्यकता है उसकी मांग तीव्र तथा बेलोच होनी चाहिए, अर्थात् उसके भी अच्छे स्थानापन्न नही होने चाहिए। (३) उस साधन की कीमत वस्तु विशेष के कुल उत्पादन व्यय का एक बहुत छोटा भाग होनी चाहिए, ताकि उस साधन की कीमत मे वृद्धि होने पर भी कुल उत्पादन व्यय मे कोई महत्त्वपूर्ण वृद्धि न हो सके। (४) अन्य साधनो की मांग में थोडी भी कमी हो जाने से उनकी कीमत मे अधिक कमी होनी चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि साधन विशेष को अधिक पारितोषण मिलने की सुविधा तथा सम्भावना बढ जायेगी।[2]

हैंडरसन का मत—

उत्पत्ति के साधनो के विषय मे हैंडरसन का कथन है कि, "सीमान्त उपयोगिता तथा मूल्य का सम्बन्ध उत्पत्ति के साधनो में भी उसी प्रकार विद्यमान है जैसे कि अन्य वस्तुओं में।" भूमि का लगान, श्रम की मजदूरी और (हम यह भी जोड सकते हैं कि) पूँजी का लाभ उन सबकी प्रवृत्ति अपनी (व्युत्पादित) सीमान्त उपयोगिता अथवा शुद्ध सीमान्त उपज (Marginal

---

1 "The price that will be offered for anything used in producing a commodity is, for each separate amount of a commodity, limited by the excess of the price at which that amount of the commodity can find purchasers, over the sum of the price at which the corresponding supplies of other things needed for making it will be 'forthcoming"—Marshall · *Principles of Economics*, p 383.

2 *Ibid*, pp. 385-86.

Net Product) के बराबर रहने की होती है। आगे चलकर उन्होंने लिखा है—"हम उत्पत्ति-साधनों के विभिन्न संयोग ले सकते है और उन दशाओं की तुलना कर सकते हैं, जिनमें एक साधन की भिन्न मात्रायें उपयोग की जाती है, जबकि अन्य साधनों की मात्रायें बराबर रखी जाती हैं। परिवर्तनशील साधन की अधिक मात्रा उपयोग करने से जो अतिरिक्त उपज प्राप्त होती है, उसे उस साधन की सीमान्त उपयोगिता कहा जा सकता है। हम ऐसा कह सकते हैं कि इस साधन का उपयोग उस बिन्दु तक बढ़ाया जायेगा, जहाँ पर यह सीमान्त उपज उस कीमत के लगभग बराबर होगी जो कि उस साधन के लिए दी जानी चाहिए।"[1]

संयुक्त पूर्ति वाली वस्तु का मूल्य निर्धारण करना

संयुक्त पूर्ति से आशय—

कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं जिनकी उत्पत्ति एक साथ ही हो सकती है, अलग-अलग नहीं। मार्शल के अनुसार, "संयुक्त पूर्ति उन वस्तुओं की होती है, जो सरलतापूर्वक अलग-अलग उत्पन्न नहीं की जा सकती है तथा जिनकी उत्पत्ति का आदि स्रोत एक ही होना है।"[2] जैसे—भेड़ का गोश्त, खाल और ऊन, गेहूँ और भूसा, कोयला और कोयला की गैस, रुई और बिनोला इत्यादि। ऐसी वस्तुओं की प्रमुख विशेषता यह होती है कि दूसरी को उत्पन्न किये बिना एक की उत्पत्ति होती ही नहीं है और बहुधा यह देखने में आता है कि किसी एक को एक निश्चित मात्रा में उत्पन्न करने से दूसरी भी निश्चित मात्रा में उत्पन्न हो जाती है।

सीमान्त विवेचना के उपयोग की कठिनाई—

संयुक्त माँग तथा संयुक्त पूर्ति की दशाओं में एक बड़े अंश तक समानता है। जिस प्रकार संयुक्त माँग की दशा में उपयोगिता संयुक्त रूप से ज्ञात होती है, उसी प्रकार संयुक्त पूर्ति की दशा में संयुक्त उत्पादन व्यय ज्ञात होता है। सीमान्त विवेचना की सहायता से यहाँ भी हम संयुक्त पूर्ति की प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग सीमान्त उत्पादन व्यय निकाल सकते हैं। इस दिशा में एक कठिनाई है—यदि संयुक्त पूर्ति की अधिकांश वस्तुओं के उत्पादन सम्बन्धी पारस्परिक अनुपात को बदला जा सकता है, जिस कारण उन पर सीमान्त विवेचना लागू हो सकती है, परन्तु कुछ वस्तुयें ऐसी भी हैं कि जिनका पारस्परिक अनुपात हम उक्त प्रकार बदल नहीं सकते, जिससे उन पर सीमान्त विवेचना का उपयोग सम्भव नहीं होता, अतः संयुक्त पूर्ति के अन्तर्गत हम दोनों प्रकार की दशाओं का अध्ययन करेंगे।

अनुपात बदले जा सकने की दशा में मूल्य निर्धारण—

संयुक्त पूर्ति वाली प्रत्येक वस्तु के लिए माँग-मूल्य और माँग-रेखायें अलग-अलग ज्ञात होती है। किन्तु, यद्यपि संयुक्त उत्पादन व्यय का तो बोध होता है, तथापि प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग उत्पादन व्यय ज्ञात नहीं होता। यदि संयुक्त पूर्ति की वस्तुयें (उदाहरणस्वरूप, भेड़ का माँस और ऊन) ऐसी हैं कि उनके अनुपात को बदला जा सकता है, तो प्रत्येक का अलग-अलग सीमान्त उत्पादन व्यय सरलता से ज्ञात हो जायगा। मान लीजिए कि पहले 'अ' नसल की भेड़ों को लिया जाता है, जिसकी १ भेड़ से ८ इकाई गोश्त और ६ इकाई ऊन मिलती है। मान लीजिए कि इस भेड़ की कीमत १२ रुपये है। अब हम 'ब' नसल की भेड़ को लेते है, जिससे ७ इकाई गोश्त और ६ इकाई ऊन मिलती है तथा जिसकी कीमत १० रुपया है। अतः

---

[1] Henderson : *Supply and Demand*, p. 70

[2] "Commodities are in joint supply when they cannot easily be produced separately and owe their production to the same fundamental source."
—Marshall : *Principles of Economics*, p. 88.

१ इकाई गोश्त का सीमान्त व्यय २ रुपया होगा। ठीक इसी प्रकार हम एक इकाई ऊन का भी सीमान्त व्यय निकाल सकते है। इसके पश्चात् मूल्य निर्धारण की समस्या सरल होगी, क्योकि दोनो माँग और पूर्ति-रेखायें सरलता से खीची जा सकेंगी।

अनुपात बदले न जा सकने की दशा में मूल्य निर्धारण—

यदि अनुपात को नही बदला जा सकता है, तो समस्या का रूप दूसरा ही होगा। यहाँ पर सीमान्त विवेचना काम नही आ सकेगी। हम पहले ही बता चुके हैं कि लगभग सभी प्रकार की कपास मे से रुई और विनौले एक ही अनुपात मे निकलते है। यह सम्भव नही है कि दो अलग-अलग प्रकार की कपास लेकर रुई और विनौले का पृथक्-पृथक् उत्पादन व्यय निकाला जा सके। ऐसी दशा मे अलग अलग मूल्य किस प्रकार निश्चित होगा ?

(अ) **अल्पकालीन मूल्य**—ऐसी वस्तुओ के अल्पकालीन मूल्य के निर्धारण मे कोई विशेष कठिनाई नही होती। अल्पकाल मे माँग और पूर्ति की सामान्य दशा के द्वारा सयुक्त उपज का मूल्य निर्धारित होता है। अल्पकालीन मूल्य निर्धारण मे पूर्ति निष्क्रिय होती है, क्योकि वह स्थिर होती है। इसके विपरीत, माँग सक्रिय होती है और माँग की तीव्रता के अनुसार ही दाम निश्चित होते हैं—माँग के अधिक होने की दशा मे मूल्य अधिक होगा और कम होने की दशा मे कम। अल्पकाल मे माँग की स्थिति के अनुसार उत्पादक को लाभ भी हो सकता है और हानि भी। विक्रेता को बहुधा दो प्रकार का व्यय करना होता है—वस्तु के निर्माण का व्यय और वस्तु को बिक्री के लिए तैयार करने का व्यय। इसमे वस्तु को बाजार तक लाने का यातायात व्यय, इत्यादि सम्मिलित होते हैं। अल्पकाल मे माँग के बहुत गिर जाने के कारण मूल्य इतना घट सकता है कि उत्पादक को उत्पादन या निर्माण व्यय का कोई भी भाग न मिल सके, परन्तु उसे कम से कम बिक्री व्यय वसूल होना चाहिए, अन्यथा वह वस्तु को बाजार तक लाने का कष्ट नही करेगा। उपज को फेंक देना ही उसके हित मे होगा।

(ब) **दीर्घकालीन मूल्य**—दीर्घकालीन मूल्य-निर्धारण इतना सरल नही है। दीर्घकाल मे पूर्ति और माँग दोनो का ही समान महत्त्व होता है और मूल्य अन्त मे सीमान्त उत्पादन व्यय द्वारा निश्चित होता है। यहाँ मूल्य के निर्धारण मे कठिनाई होती है। रुई और बिनौले का अलग-अलग सीमान्त व्यय निश्चित नही हो सकता। इस सम्बन्ध मे कुछ मोटी-मोटी बाते इस प्रकार कही जा सकती है[1] —(१) रुई और बिनौला दोनो का कुल मूल्य दोनो के सयुक्त औसत व्यय के बराबर होना चाहिए। मूल्य इससे कम या अधिक नही हो सकता, क्योकि प्रतियोगिता में मूल्य औसत उत्पादन व्यय के बराबर होता है। रुई और बिनौले दोनो को बेचकर प्राप्त होने वाले मूल्य का कपास के उत्पादन व्यय के बराबर होना आवश्यक है। (२) किसी भी एक वस्तु का सामान्य मूल्य सयुक्त उत्पादन व्यय से अधिक नही हो सकता। अकेली रुई की कीमत कपास उत्पन्न करने और रुई निकालने के व्यय से अधिक नही होगी, क्योकि यदि हम यह भी मान ले कि बिनौले का कुछ भी मूल्य नही है और उसे फेंक ही दिया जाता है, तब भी केवल रुई बेचकर कुल कपास की लागत वसूल की जा सकती है। (३) सयुक्त उपज का कम से कम मूल्य उसे बिक्री के लिए तैयार करने के प्रत्यक्ष व्यय (Direct Cost of Processing) से कम नही होगा। अन्यथा जिस वस्तु से वह तैयार की जाती है, वह फेंक दी जायेगी। उदाहरणस्वरूप, यदि बिनौले के तेल से उतना भी मूल्य वसूल नही होता जितना कि बिनौले से तेल निकालने पर व्यय किया गया है, तो तेल निकाला ही नही जायगा।

---

1 *Fundamentals of Economics* edited by J. K. Mehta, pp. 397-98, 2nd edition.

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त उपज की कम से कम तथा अधिक से अधिक कीमत पता लगाई जा सकती है और वास्तविक मूल्य इन दोनों के बीच में किसी स्थान पर रहेगा।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

मार्शल ने सयुक्त उपज की वस्तुओं के मूल्य निर्धारण को रेखाचित्र द्वारा समझाया है, जिसमे उन्होने गोश्त और चमड़े के उदाहरण को लिया है, जबकि परिस्थिति इस प्रकार है कि गोश्त और चमड़े के अनुपात को बदला नहीं जा सकता। मार्शल की विवेचना को हम रुई और बिनौले पर भी लागू कर सकते हैं।

साथ के चित्र में प $प_1$ कपास की कुल उत्पादन व्यय की रेखा है। द $द_1$ रुई की माँग की रेखा है। हम यह मान लेते हैं कि रुई और बिनौले का अनुपात निश्चित है और बदला नहीं जा सकता। क ख अक्ष पर 'म' कोई एक बिन्दु है, म से म च रेखा अ ख के समानान्तर खींची गई है, जो द $द_1$ को च बिन्दु पर काटती है, फिर म च रेखा को ब बिन्दु तक बढ़ाया गया है। निश्चित है कि च म मूल्य पर रुई की अ म मात्रा की माँग होती है। मान लीजिए कि च ब बिनौले की अ म इकाइयों की माँग का मूल्य है। ड $ड_1$ रेखा ब का बिन्दु-पथ (Locus) है। स्वाभाविक है कि ब म कपास की अ म मात्रा का मूल्य होगा। इस प्रकार ड $ड_1$ संयुक्त माँग की रेखा है। ड $ड_1$ रेखा प $प_1$ रेखा को ल बिन्दु पर काटती है। ल से अ क पर ल र लम्बरूप खींचा गया है, जो द $द_1$ रेखा को ट बिन्दु पर काटता है। इस दिशा में कपास की अ र इकाइयाँ उत्पन्न की जाती हैं और ल र कीमत पर बिकती हैं। साम्य की दशा में ट र इस कपास से निकाली हुई रुई की कीमत होगी और ल ट उसी से निकाले हुए बिनौले की। इस प्रकार रुई और बिनौले की अलग-अलग कीमत निश्चित हो जाती है।[1]
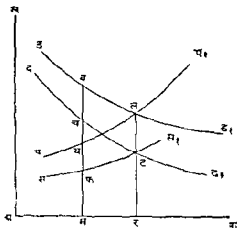
बिना थोड़े से गणित ज्ञान के मार्शल की विवेचना को समझना कठिन है। स $स_1$ रेखा स्पष्टीकरण के लिए खींची गई है। प $प_1$ और ब म एक दूसरी को य बिन्दु पर काटती है। य फ, च ब के बराबर है। ऐसी दशा में फ बिन्दु रुई की व्युत्पादित पूर्ति-रेखा (Derived Supply Curve) पर होगा। इस प्रकार स $स_1$ रुई की पूर्ति की रेखा होगी और जहाँ पर रुई की माँग और पूर्ति की रेखायें एक दूसरी को काटती हैं, वहीं पर मूल्य निश्चित होगा। इस प्रकार साम्य में रुई का मूल्य ट र ही होगा।

संयुक्त पूर्ति में एक वस्तु की माँग बढ़ने का प्रभाव—

सयुक्त उपज की एक वस्तु की माँग के बढ़ने का दूसरी वस्तु के मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है? उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि रुई की माँग बढ़ जाती है। ऐसी दशा में रुई के दाम चढ़ जायेंगे और यदि यह अवस्था कुछ समय तक बनी रहती है, तो रुई की उत्पत्ति भी

---

[1] Marshall : *Principles of Economics*, p. 389. Also Mathematical Note XVIII, p. 854.

बढ़ जायगी, परन्तु स्मरण रहे कि साथ ही साथ बिनौले की उत्पत्ति भी बढ़ जायगी। ऐसी दशा में तीन प्रकार की सम्भावनायें हो सकती हैं—(i) या तो बिनौले की माँग भी बढ़ जाय, (ii) या बिनौले की माँग वही बनी रहे, (iii) या बिनौले की माँग पहले से भी कम हो जाय। पहली दशा में सम्भव है कि बिनौले की बढ़ी हुई मात्रा की पहली ही कीमत पर खपत हो जाय, दूसरी दशा में पूर्ति के माँग से अधिक हो जाने के कारण बिनौले के दाम गिरेंगे, और तीसरी दशा में तो वे और भी तेजी से गिरेंगे।

सम्मिलित माँग की दशा में मूल्य निर्धारण

सम्मिलित माँग से आशय—

यदि किसी वस्तु के अनेक उपयोग हो सकते है, अर्थात् यदि उसकी माँग विभिन्न प्रकार के उपयोग के लिए होती है, तो ऐसी वस्तु की माँग को "सम्मिलित" अथवा "प्रतिद्वन्द्वी माँग" (Composite or Rival demand) कहते हैं। उदाहरणस्वरूप, लोहा मकान बनाने, औजार बनाने, पुल बनाने आदि अनेक कामों में आ सकता है। इसी प्रकार, कोयला रेल चलाने में, घर की रसोई तथा फैक्टरी की भट्ठी में काम आता है। एक मजदूर की माँग विभिन्न उद्देश्यों के लिए हो सकती है। विभिन्न उपयोग प्रतिद्वन्द्वी होते हैं। कभी-कभी तो सम्मिलित माँग की वस्तुओं को 'प्रतियोगी व्यय की वस्तुयें' (Competing Cost Goods) भी कहा जा सकता है।

मूल्य के निर्धारण की विधि—

ऐसी वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं होती है। प्रतिस्थापना नियम के अनुसार दीर्घकाल में प्रत्येक उपयोग में सीमान्त उपयोगिता बराबर होती है या लगभग बराबर होती है। यदि किसी एक उद्योग के लिए माँग अधिक हो जाती है, तो उस उपयोग में माँग बढ़ने के कारण दाम भी ऊँचे हो जाते है, जिसके फलस्वरूप वस्तु की अधिक मात्रायें इस उपयोग के लिए आने लगती हैं। अन्य उपयोगों में पूर्ति कम हो जाने के कारण दाम बढ़ जाते हैं। इस प्रकार, विभिन्न उपयोगों में वस्तु के वितरण की स्थिति बदल जाती है। अतः पता चलता है कि साम्य में वस्तु का मूल्य उसके प्रत्येक उपयोग की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होता है और यह उपयोगिता सभी उपयोगों में समान होती है।

सम्मिलित पूर्ति की दशा में मूल्य निर्धारण

प्रतिद्वन्द्वी पूर्ति से आशय—

जब किसी वस्तु की माँग विभिन्न साधनों द्वारा पूरी की जा सकती है तो उसकी पूर्ति को हम **'सम्मिलित पूर्ति'** (Composite or rival supply) कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जब किसी वस्तु के इस प्रकार के स्थानापन्न होते हैं कि वे वस्तु विशेष के स्थान पर उसकी आवश्यकता को पूरा कर सकें, तो वह वस्तु 'सम्मिलित पूर्ति' में होती है। कहवा, चाय के स्थान पर उपयोग में लाया जा सकता है। गेहूँ के स्थान पर चावल अथवा जौ या चने को काम में लाया जाता है। ठीक, इसी प्रकार, बिजली के स्थान पर मिट्टी के तेल का उपयोग किया जा सकता है। ऐसी वस्तुओं में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध होता है। यदि इनमें से किसी एक की पूर्ति बढ़ जाये (जिससे उसकी कीमत गिरे), तो उस वस्तु का उपयोग बढ़ जायेगा और इसके फलस्वरूप सम्मिलित पूर्ति की अन्य वस्तुओं की माँग घट जायगी और उनके भी दाम गिर जायेंगे। ऐसी वस्तुओं को ही हम प्रतियोगी वस्तुयें कहते हैं।

मूल्य निर्धारण की रीति—

जिन वस्तुओं की परस्पर प्रतिस्थापना हो जाती है, उनकी भी पूर्ति सम्मिलित होती है। यहाँ मूल्य की समस्या सरलतापूर्वक हल हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग उपयोगिता ज्ञात की जा सकती है और प्रत्येक का अलग-अलग उत्पादन व्यय भी ज्ञात

होता है। मूल्य वही पर निश्चित होता है जहाँ पर वह सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर हो। कि जो वस्तुयें एक दूसरे का स्थानापन्न हो सकती हैं वे या तो एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न (Perfect Substitutes) हो सकती हैं या अपूर्ण स्थानापन्न। पूर्ण स्थानापन्न होने की दशा में प्रत्येक सम्मिलित पूर्ति की वस्तु की सीमान्त उपयोगिता समान होगी और प्रत्येक का सीमान्त उत्पादन व्यय सीमान्त उपयोगिता के बराबर होगा। किन्तु यदि ये वस्तुयें परस्पर पूर्ण स्थानापन्न नहीं हैं, तो सबकी सीमान्त उपयोगितायें समान नहीं होगी। ऐसी दशा में सबके मूल्य समान नहीं होंगे। परन्तु ऐसी सभी वस्तुओं के मूल्यों में एक ही साथ तथा एक ही दिशा के परिवर्तन होने की प्रवृत्ति पाई जायेगी।

रल्वे में संयुक्त व्यय—

रेल्वे उद्योग संयुक्त पूर्ति का एक महत्त्वपूर्ण किन्तु विशेष प्रकार का उदाहरण है। हम देखते हैं कि रेलें यात्रियों को भी ले जाती हैं और माल को भी। फिर यात्रियों को कई श्रेणियों में बाँटा जाता है। इसी प्रकार, गाड़ियाँ भी कई प्रकार की होती है, कुछ तेज और कुछ कम तेज इत्यादि। बहुधा विभिन्न प्रकार की रेल्वे सेवाओं की संयुक्त उत्पत्ति होती है, किन्तु प्रत्येक के व्यय का अलग-अलग पता नहीं लगाया जा सकता। कारण, रेलों में अनुपूरक व्यय (जैसे—जमीन खरीदने, पटरी डालने, स्टेशन बनाने इत्यादि का व्यय) बहुत होता है। अब एक बार डाली हुई पटरी पर हम सवारी गाड़ी और मालगाड़ी एक साथ चला सकते हैं, परन्तु यह कहना कठिन होगा कि इस प्रकार के कुल व्यय का कितना हिस्सा सवारियाँ ले जाने से सम्बन्धित है और कितना माल ढोने से ?

साधारणतया रेलों का किराया निश्चित करने के दो सिद्धान्त होते हैं :—(I) सेवा के व्यय का सिद्धान्त (Cost of Service Principle) और (II) सेवा का मूल्य सिद्धान्त (Value of Service Principle)।

पहले सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सेवा का मूल्य उतना ही रखा जाता है, जितना कि उस पर व्यय होता है। किन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, प्रत्येक दशा का अलग व्यय निश्चित करना कठिन होता है, इसलिए कुछ दशाओं को छोड़ कर रेल का किराया इस आधार पर निश्चित नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए, यदि कुछ गाड़ियों में कोई विशेष सुविधा दी जाये (जैसे—तेज रफ्तार की), तो भाड़े में अवश्य ही अतिरिक्त सेवा पर किये हुए व्यय के अनुसार अन्तर होता है।

किन्तु रेल्वे उद्योग में प्रत्येक सेवा के लिए अलग-अलग व्यय ज्ञात न होने के कारण रेल भाड़ा सेवा के मूल्य के सिद्धान्त पर नियत किया जाता है। यहाँ पर नियम यह है कि "यातायात कितना सहन कर सकता है" (What the traffic can bear) ? किसी सेवा विशेष या लाइन विशेष से जितना किराया वसूल किया जा सके, उसी के अनुसार भाड़ा रखा जाता है।

दुर्लभ वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण

संसार में बहुत-सी वस्तुएँ इस प्रकार की हैं कि उनको प्रत्युत्पन्न (Reproduce) नहीं किया जा सकता। ऐसी वस्तुएँ विरल अथवा अप्राप्य होती हैं। साधारणतया यदि किसी वस्तु की माँग बढ़ती है, तो दीर्घकाल में अधिक उत्पत्ति हो जाने के कारण पूर्ति भी बढ़ जाती है। परन्तु दुर्लभ वस्तुओं की विशेषता यह है कि उनकी पूर्ति कभी नहीं बढ़ती। पुराने चित्रकारों के बनाये हुए चित्र, पुरानी पुस्तकें तथा हस्तलिपियाँ इत्यादि इसी प्रकार की वस्तुएँ हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी वस्तुओं का मूल्य किस प्रकार निश्चित होता है? ऐसी वस्तुओं के प्रत्युत्पादन व्यय का तो पता लग नहीं सकता। अतः इन वस्तुओं का मूल्य प्रायः माँग की तीव्रता पर निर्भर होता है। पूर्ति यथास्थिर रहती है और इसलिए मूल्य की दशा अल्पकालीन मूल्य के समान होती है।

परीक्षा प्रश्न :

१. संयुक्त एवं मिश्रित पूर्ति में भेद कीजिये। संयुक्त पूर्ति के अन्तर्गत मूल्य कैसे निर्धारित होता है ?

२. संयुक्त माँग वाली वस्तुओं का मूल्य कैसे निर्धारित होता है ? एक संयुक्त माँग वाली वस्तु अपने साथ की अन्य वस्तुओं की तुलना में ऊँचा मूल्य कब प्राप्त कर सकती है ?

१३

परिकल्पना, सट्टा या फाटका
(Speculation)

प्रारम्भिक—सट्टा और जुआ में भेद

साधारण बोल-चाल में सट्टा और जुआ बहुधा एक ही अर्थ में उपयोग किये जाते हैं। एक अंश तक दोनों में समानता भी है। जैसे—दोनों में ही अनिश्चितता के आधार पर कार्य किया जाता है और लाभ और हानि दोनों की समान सम्भावना रहती है। जितना ही अनिश्चितता का अनुमान सही होता है, उतनी ही लाभ की सम्भावना अधिक रहती है और यदि इस प्रकार का अनुमान गलत होता है, तो हानि होती है। सम्भावना सिद्धान्त (Theory of Probability) जिस अंश तक जुए पर उसी अंश तक सट्टे पर भी लागू होता है।

किन्तु दोनों में कुछ महत्वपूर्ण भेद भी हैं—(१) जब कि जुआ किसी भी प्रकार की अनिश्चितता के विषय में हो सकता है, सट्टा केवल भविष्य की आर्थिक अनिश्चितता पर आधारित होता है। (२) जबकि जुआ लगभग सदा ही हानिकारक होता है, सट्टे के कुछ आर्थिक और सामाजिक लाभ भी हैं। लगभग सभी प्रकार का जुआ सामाजिक दृष्टि से अनुचित होता है और इसमे कोई सन्देह नहीं है कि कुछ प्रकार का सट्टा भी हानिकारक ही है,'परन्तु सभी देशों ने विशेष प्रकार के सट्टे को उचित तथा वैध बताया है।

सट्टे का अर्थ

सट्टे मे वे सभी कार्य सम्मिलित किये जाते हैं, जो मनुष्य भविष्य में होने वाली आर्थिक घटनाओं के विषय मे सोच-विचारकर करते हैं। ये घटनायें बहुधा खरीदने और बेचने से सम्बन्धित होती हैं और इसलिये सट्टे का विनिमय से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि भविष्य में किसी वस्तु के दामों के ऊपर चढ़ने की आशा हो, तो कुछ लोग अभी से उस वस्तु को खरीदकर सचय करने का प्रयत्न करने लगते हैं, जिससे भविष्य मे उसे ऊँचे दामो पर बेचकर लाभ कमाया जा सके। ठीक इसी प्रकार, यदि ऐसा अनुमान है कि भविष्य मे दाम गिरेंगे, तो वे लोग जिनके पास वस्तु विशेष का स्टॉक है अभी से उसे बेचने लगते हैं, चाहे उन्हें दामों को थोड़ा कम ही क्यों न करना पड़े। ऐसा भविष्य मे अधिक हानि से बचने के लिए किया जाता है।

स्मरण रहे कि दोनों दशाओं में भविष्य का जो अनुमान लगाया जाता है उसका पूर्णतया या कभी-कभी एक अंश तक भी सही होना आवश्यक नहीं है और इस प्रकार उपरोक्त खरीददारी अथवा बिक्री से लाभ के स्थान पर हानि भी हो सकती है। अत. वे मनुष्य जो किसी वस्तु को इस दृष्टि से खरीदते या बेचते हैं कि इसकी वर्तमान तथा भविष्य की कीमत के अन्तर के फलस्वरूप लाभ उठा सकें, उस वस्तु की कीमत मे 'सट्टा' करते हैं। सट्टा आर्थिक अर्थ मे केवल कीमतों तक ही सीमित रहता है। प्राय. एक सटोरिया न तो वस्तु का आदान-प्रदान करता है और न वह उसकी उत्पत्ति ही करता है। वह तो केवल जोखिम का व्यापारी है। इस प्रकार सट्टे मे वस्तु का सौदा वर्तमान में ही किया जाता है, किन्तु उसका निबटारा भविष्य में पहले से निर्धारित की हुई तिथि पर किया जाता है।

संसार में कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुओं (जैसे—सोना, चाँदी, गेहूँ, कपास, कच्चे माल आदि) की कीमतों में सट्टा सदा ही होता रहता है। इसी प्रकार, सट्टा बाजार (Stock Exchange) में कम्पनियों के अंशों (Shares), ऋण-पत्रों (Securities) तथा राज्यों के सार्वजनिक ऋणों की कीमतों में सट्टा होता रहता है।

सट्टे के रूप

सट्टे को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) शुद्ध सट्टा (Pure Speculation) और (२) अशुद्ध सट्टा। दूसरी प्रकार के सट्टे में वस्तु की वास्तव में खरीद और बिक्री होती है अर्थात् गेहूँ की कीमतों में सट्टा करने वाला मनुष्य यथार्थ में ही गेहूँ को खरीदता है या बेचता है। किन्तु शुद्ध सट्टे में खरीदारी और बिक्री केवल नाम की होती है और केवल अधिकार (Title) का ही परिवर्तन होता है। क्रेता अथवा विक्रेता वस्तु विशेष की शकल भी नहीं देखता। उदाहरणस्वरूप, यदि एक मनुष्य आज सट्टे बाजार में १,००० क्विण्टल गेहूँ ६० रुपये क्विण्टल पर खरीदे और ६ महीने के पश्चात् वह इस स्टॉक को ६२ रुपये क्विण्टल के दाम पर दूसरे के हाथ बेच दे, तो इस दशा में उसका सम्बन्ध केवल २,००० रुपये के लाभ से है, क्योंकि गेहूँ या १,००० क्विण्टल का कल्पित स्टॉक उसके नाम से किसी अन्य के नाम पर, जिसने उसे खरीदा है, परिवर्तित हो जायगा।

सटोरियों के प्रकार

हम सट्टा करने वालों को दो वर्गों में बाँट सकते हैं :—

(१) व्यावसायिक सटोरिये (Professional Speculators)—व्यावसायिक सट्टा करने वाले निपुण तथा अनुभवी व्यवसायी होते हैं, जो सट्टे को अपना एक व्यवसाय बना लेते हैं। इन लोगों को बाजार और उसकी प्रवृत्तियों का ज्ञान होता है। अनुभव के कारण भविष्य के विषय में इनका अनुमान एक बड़े अंश तक सही होता है। वे माँग तथा पूर्ति की परिस्थितियों को भली-भाँति समझते हैं तथा अपनी खरीदारी और बिक्री को अधिक सही अनुमानों के आधार पर निश्चित करते हैं। जितना ही सट्टा करने वाला अधिक दूरदर्शी तथा अनुभवी होगा उतनी ही उसको लाभ की सम्भावना भी अधिक होगी।

(२) अनिपुण सटोरिये (Amateur Speculators)—ये अधिकतर साधारण जनता के आदमी होते हैं, जिनका बाजार सम्बन्धी ज्ञान अपूर्ण तथा अशुद्ध होता है। इन लोगों के लाभ और हानि पर भाग्य अथवा मौके (Chance) का ही मुख्य प्रभाव होता है। इनका कार्य जुआरियों का सा है और इनके लाभ भी अनिश्चित होते हैं।

सट्टा बाजार का सङ्गठन
(The Organisation of Speculation Market)

(१) सट्टा बाजार का अलग स्थान—सट्टा करने वाले प्राय किसी बड़ी इमारत में एकत्रित हो जाते हैं। स्टॉक एक्सचेंज (Stock Exchange) भी एक विशेष प्रकार का सट्टा बाजार होता है, जहाँ पर अंशों, ऋण-पत्रों आदि में सट्टा किया जाता है। स्टॉक एक्सचेंज की भाँति बुलियन एक्सचेन्ज (Bullion Exchange) भी होते हैं, जहाँ सोना-चाँदी की कीमतों में सट्टा होता है। अन्य वस्तुओं (जैसे कपास, गेहूँ आदि) के सट्टे बाजार को हम प्रोड्यूस एक्सचेन्ज (Produce Exchange) अथवा ग्रेन चैम्बर (Grain Chamber) कहते हैं।

(२) दो प्रकार के व्यवसायी—ऐसे बाजार में दो प्रकार के व्यवसायी होते हैं—प्रथम जिन्हें हम सट्टेबाज या आढ़तिया (Jobbers) कहते हैं और दूसरे, जो दलाल (Brokers) होते हैं। सट्टे का काम आढ़तिया द्वारा किया जाता है। दलाल तो बीच का व्यवसायी होता है।

सकता है अथवा भविष्य में। ऐसे प्रसंविदे जिनमें वस्तु भविष्य में किसी निश्चित समय पर दी जानी है, वायदे के सौदे (Futures) कहलाते हैं। इसके विपरीत, यदि तत्काल ही वस्तु का देना आवश्यक होता है, तो ऐसे सौदे तत्स्थान (Spot) कहलाते हैं। इस प्रकार, कपास या गेहूँ का सौदा वायदे का भी हो सकता है और तत्स्थान भी।

(६) हलका बिक्री सौदा तथा लम्बा खरीद का सौदा—जब कोई सट्टेबाज यह सोचता है कि निकट भविष्य में वस्तुओं के दाम गिरेंगे, तो वह हलका बिक्री का सौदा (Sell Short) करेगा, जिसका अर्थ यह होता है कि वह भविष्य में उस वस्तु को देने का वायदा करेगा, जो इस समय उसके पास नहीं है। वह इस विश्वास पर लाभ कमाने की आशा रखेगा कि भविष्य में वह वस्तु को उस मूल्य से कम दामों पर प्राप्त कर सकेगा, जिस पर उसने उसे बेचने का वायदा किया है और इस प्रकार अपने वायदे को पूरा कर देगा। बहुत बार ऐसे सट्टेबाज भविष्य में वस्तु को निश्चित मूल्य पर देने के साथ-साथ एक कवरिंग ठेका (Covering Contract) अथवा हैज रक्षण ठेका (Hedging Contract) कर लेता है। ऐसी दशा में वह किसी दूसरे व्यवसायी से भविष्य में माल बेचने का वायदा खरीद लेता है और इस खरीद के मूल्य को बिक्री के मूल्य से कम रखता है, जिससे उसे लाभ हो सके। निश्चित समय पर वह अपना वायदा इस दूसरे व्यवसायी से माल लेकर पूरा कर देता है।

इसके विपरीत, यदि सट्टेबाज की यह धारणा है कि वर्तमान मूल्य नीचा है और भविष्य में मूल्य ऊपर चढ़ेगा, तो वह लम्बा खरीद का सौदा (Buy Long) करेगा। भविष्य के लिये जितने भी माल की आवश्यकता है उसे अभी खरीद लेगा और समय आने पर उसे ऊँचे दामों पर बेचेगा। बहुत बार सट्टेबाज कुछ ऊँचे दामों पर वायदे का माल तत्काल भी दे देता है। क्योंकि इसमें उसे लाभ होता है। इस प्रकार की बिक्री को 'वसूली बिक्री' (Realising or Liquidating Sale) कहते हैं।

वायदे के सौदे के खरीदारों में से कुछ तो उत्पादक लोग होते हैं, जो वस्तु को कच्चे माल के रूप में उद्योग में उपयोग के लिये खरीदते हैं और कुछ लोग केवल सट्टेबाजी ही करते हैं। इनका उद्देश्य वस्तुओं अथवा कम्पनियों के अंशों आदि की खरीद और बिक्री की कीमतों के अन्तर में लाभ उठाना होता है। ऐसे लोगों के कारण सट्टा बाजार में आधुनिक युग में एक ऐसी प्रथा बन गई है, जिसके अन्तर्गत समय-समय पर समझौते होते रहते हैं और मूल्य के अन्तरों (Differences) में व्यवसाय किया जाने लगा है। जब माल के देने का समय आता है, तो माल की माँग नहीं की जाती, केवल मूल्य का अन्तर ही माँगा जाता है।

सट्टे का आर्थिक महत्त्व

सट्टे के लाभ—

आर्थिक जीवन में सट्टे के अनेक लाभ होते हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) माँग और पूर्ति के बीच साम्य—सट्टे का सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह माँग और पूर्ति के बीच साम्य स्थापित कर देता है, जिस कारण वस्तु के मूल्य में तीव्र परिवर्तन नहीं हो पाते। यदि भविष्य में मूल्य बढ़ने की आशा है, तो सट्टेबाज अभी से माल खरीदने लगते हैं। इस प्रकार माँग अभी से बढ़ जाती है और साथ-साथ मूल्य भी बढ़ने लगता है। मूल्य की वृद्धि, जिसे भविष्य में होना चाहिए था, धीरे-धीरे अभी से होने लगती है। ठीक इसी प्रकार, दाम भविष्य में घटने की सम्भावना पर सट्टेबाज अभी से बेचने लगते हैं। इससे पूर्ति की मात्रा बढ़ जाने के कारण अभी से दाम गिरने लगते हैं। इस प्रकार, सट्टेबाज दामों को एकदम तेजी से घटने या बढ़ने से रोक सकते हैं। यही नहीं, भविष्य में वर्तमान मूल्य पर बेचने का वायदा

देकर या इस प्रकार का वायदा किसी व्यवसायी से लेकर भी सट्टेबाज भविष्य में मूल्य को घटने-बढ़ने से रोकते है। उनकी क्रियाओं के फलस्वरूप मूल्य-स्तर में स्थिरता बनी रहती है। निपुण सट्टेबाज भावी मांग, पूर्ति तथा कीमतो के परिवर्तन का अनुमान लगाते हैं और वर्तमान मांग एवं पूर्ति को भावी मांग और पूर्ति के परिवर्तनों के अनुसार अभी से बदलने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने से समाज को भी सट्टा करने वालो से बहुत लाभ होता है।

कुल मिलाकर सट्टे के कारण कीमतो के उच्चावचनों की सीमाओं का सकुचन हो जाता है जैसा कि रेखाचित्र मे दिखाया गया है :—

सामान्य दशा मे कीमतें a विन्दु तक बढ सकती हैं, परन्तु सट्टे के कारण, जिसका प्रभाव बिन्दुदार रेखा द्वारा दिखाया गया है, वे केवल a' विन्दु तक ही बढ कर रह जाती हैं। ठीक इसी प्रकार, सट्टे के बिना कीमतें b विन्दु तक गिर सकती हैं, परन्तु सट्टा कार्यवाहियो के कारण वे b' बिन्दु से नीचे नही गिर पाती हैं। ठीक इसी प्रकार, बाद मे फिर जब कीमतें बढने लगती हैं, तो सट्टे के कारण वे c' बिन्दु से ऊपर नही जा पाती हैं, यद्यपि सट्टे के बिना वे c बिन्दु तक जा सकती थी। इस प्रकार सट्टे के कारण कीमतो की उच्चावचनो की सीमाएँ सकुचित हो जाती है।
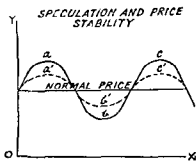
चित्र—सट्टा और कीमत-स्थायित्व

(२) उपभोक्ताओं को लाभ—स्थिर कीमतें उपभोक्ताओं की दृष्टि से बहुत अच्छी होती हैं। ऐसी दशा मे मांग और पूर्ति मे साम्य रहता है और उपभोग स अधिकतम् सन्तोष प्राप्त होता है। कीमतो के तीव्र परिवर्तन इस बात को सूचित करते है कि मांग और पूर्ति मे साम्य स्थापित नही हो रहा है। जब दाम तेजी से बदलते रहते हैं, तो उपभोक्ता को पारिवारिक बजट बनाने मे कठिनाई होती है। वह व्यय की कार्यवाहक योजना नहीं बना सकता, क्योंकि आय और व्यय का अनुमान पूर्णतया सही नही होता।

(३) आर्थिक जीवन में निश्चितता—स्थिर कीमतें आर्थिक जीवन मे निश्चितता लाती हैं। अनिश्चितता सदा ही बुरी होती है। यदि कीमतो के जल्दी-जल्दी बदलने की आशंका न रहे, तो उत्पत्ति, रोजगार इत्यादि के विषय मे सही अनुमान लगाये जा सकते हैं।

(४) जनता को मितव्ययिता की चेतावनी—सट्टेबाज अपनी क्रियाओं के द्वारा जनता का ध्यान भविष्य मे वस्तु की पूर्ति की कमी की ओर आकर्षित कर देते हैं और इस प्रकार जनता को पहले से चेतावनी दे देते हैं। इसका एक परिणाम यह होता है कि वस्तु का अपव्यय नही होता। जनता ऐसी वस्तु के उपभोग मे अधिक मितव्ययिता स काम लेती है। अब यदि वह वस्तु ऐसी है कि इसका देश के उपभोग मे महत्त्वपूर्ण स्थान है (जैसे—खाद्य पदार्थ), तो देश को बडा भारी लाभ होगा।

(५) उत्पादकों को जोखिम से मुक्ति—सट्टे से उद्योगपतियो तथा उत्पादको को भी बडा लाभ होता है। सट्टेबाज कच्चे मालो की कीमतो के परिवर्तनो को कम कर देते हैं, जिससे उत्पादक के व्यवसाय की अनिश्चितता दूर हो जाती है और हानि का भय कम हो जाता है। उत्पादक बहुधा तैयार माल को निश्चित मूल्य पर भविष्य मे बेचने का वायदा करता है, परन्तु हो सकता है कि सुपुर्दगी का समय आने पर कच्चे माल के दाम बढ़ जायें। ऐसी दशा मे उत्पादक को हानि होती है। इससे बचने के लिये उत्पादक किसी सट्टेबाज से भविष्य मे वर्तमान कीमतों

पर कच्चा माल देने का वायदा ले लेता है, अर्थात् वह वायदा करते समय एक हैजिंग अनुबंध अथवा रक्षण ठेका (Hedging Contract) कर लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादक को स्वयं कच्चे मालों की कीमत के परिवर्तन से सम्बन्धित जोखिम नहीं उठानी पड़ती और यह काम उसके लिए सट्टेबाज करता है। इस प्रकार, उत्पादक का अपना लाभ निश्चित रहता है, क्योंकि कच्चे माल की कीमतों के ऊपर चढ़ जाने की जोखिम सट्टेबाज के कन्धों पर पड़ती है। स्मरण रहे कि भविष्य में यह भी सम्भव है कि कच्चे माल की कीमत बढ़ने के स्थान पर घट जाये। ऐसी दशा में उत्पादक और सट्टेबाज दोनों ही लाभ कमाते हैं। तात्पर्य यह है कि सट्टे के कारण उत्पादक को केवल उत्पादन सम्बन्धी जोखिम उठानी पड़ती है वह अन्य जोखिमों से बच जाता है।

(६) **भावी उत्पादन के स्वरूप को निश्चित करने में सहायता**—सट्टे द्वारा भविष्य के उत्पादन में सहायता मिलती है। सट्टा बाजार का रुख देखकर ही बहुधा इस बात का निर्णय किया जाता है कि भविष्य के लिए कौन-सी वस्तु का और कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाय। एक किसान अथवा औद्योगिक उत्पादक के लिए उसी वस्तु का उत्पादन अधिक लाभदायक होगा है, जिसके, दामों के भविष्य में चढ़ जाने की सम्भावना है, अर्थात् जिसकी माँग भविष्य में अधिक होगी। यदि कपास का भावी बाजार ऊपर जा रहा है और चीनी का नीचे, तो किसान के लिये गन्ने के स्थान पर कपास उत्पन्न करना ही अधिक हितकारी होगा।

(७) **पूँजी के उचित विनियोग को प्रोत्साहन**—स्टॉक एक्सचेंज में अच्छी कम्पनियों के हिस्सों के दाम ऊँचे रहते हैं, अर्थात् जिन कम्पनियों के भविष्य में लाभ कमाने की सम्भावना होती है, उनके अंशों के दाम तथा ऋण-पत्रों के वायदे के भाव ऊपर चढ़ जाते हैं। इसके विपरीत, जिन कम्पनियों में प्रबन्ध की त्रुटियाँ अथवा अन्य कारणों से घाटे की सम्भावना है उनके अंशों के दाम गिर जाते हैं। उद्योगों में रुपया लगाने वाले व्यक्तियों के लिए स्टॉक एक्सचेंज के भावों का रुख बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। रुपया सदा ऐसे उद्योगों में लगाया जाता है, जिनमें लाभ की आशा अधिक है।

साथ ही, स्टॉक एक्सचेंज के द्वारा अंश और ऋण-पत्रों का सरलतापूर्वक हस्तान्तरण हो जाता है, अर्थात् एक व्यक्ति एक कम्पनी के अंश बेच कर दूसरी के अंश खरीद सकता है या नकद रुपया पा सकता है। इससे कम्पनियों पर विश्वास बना रहता है और उन्हें यथेष्ट धन मिलता जाता है।

सट्टे के दोष—

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सट्टे के अनेक लाभ होते हैं, किन्तु यथार्थ में सट्टा भी एक प्रकार का जुआ ही है। इससे उत्पत्ति की वृद्धि नहीं होती है। यदि किसी एक व्यक्ति को लाभ होता है, तो साथ-साथ दूसरे को हानि होती है। कभी-कभी अनुचित सट्टेबाजी भी की जाती है, जिससे लाभ के स्थान पर उल्टी हानि होती है। अर्थ यह है कि सट्टे का अनुचित उपयोग हो सकता है और बहुधा किया भी जाता है। सट्टे की प्रमुख बुराइयाँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) **कीमतों की अस्थिरता**—जब सट्टे द्वारा कीमतों के परिवर्तन कम हो जाते हैं, तो सट्टे से लाभ होता है, परन्तु बहुत बार सटोरिये मूल्य परिवर्तन को कम करने के स्थान पर उल्टा बढ़ा देते हैं। सट्टेबाज नकली तेजी अथवा मन्दी (Artificial bulls or bears) उत्पन्न कर देते हैं और इस प्रकार वे लोगों को धोखा देकर स्वयं तो लाभ कमा लेते हैं, परन्तु दूसरे सटोरियों तथा जनता को भारी हानि पहुँचाते हैं।

(२) **कीमतों में अकारण उच्चावचन**—जब अनिपुण अथवा अनुभवरहित लोग

सट्टा करते हैं, तो उनके सट्टे तथा जुए में कोई अन्तर नहीं होता और इस प्रकार के सट्टे में जुए की सभी हानियाँ उपस्थित होती है। ये लोग झूठी अफवाहों तथा गलत अनुमानों के आधार पर सट्टा लगाते हैं और कीमतों में अकारण ही तीव्र उच्चावचन उत्पन्न कर देते हैं।

(३) **धोखेबाजी**—जब निपुण और अनुभवी सट्टेबाज ईमानदारी तथा होशियारी के साथ भावी दामों का अनुमान लगाकर काम नहीं करते, वरन् अपनी जेबें भरने का प्रयत्न करते हैं, तो सट्टा समाज के लिए अभिशाप बन जाता है। ऐसी दशा में वस्तु की पूर्ति को छिपाने (Cornering) का प्रयत्न किया जाता है। यह दिखाकर कि पूर्ति की कमी है, दामों को ऊपर चढ़ा दिया जाता है और फिर इस छिपाई हुई पूर्ति को ऊँचे दामों पर बेचकर अनुचित लाभ कमाया जाता है। ऐसे लोग समाज का भारी अनहित करते है।

(४) **जुआरी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन**—सट्टा जनता में जुआ खेलने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है। यह प्रवृत्ति दीर्घकालीन दृष्टि से हानिकारक होती है, किन्तु इसके फलस्वरूप वास्तविक उत्पादकों के स्थान पर ऐसे लोगों की संख्या बढ़ जाती है, जो जुआ खेलकर (अर्थात् अनार्थिक कार्य करके) जीविका चलाते हैं।

इस प्रकार, अनुचित सट्टा हानिकारक होता है। जुआरी सटोरियों में भेड़चाल होती है। वे जैसा दूसरों को करते देखते हैं, वैसा ही स्वयं भी बिना अधिक सोचे समझे करने लगते हैं। यहाँ पर सट्टे की आर्थिक उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार जुआरी सट्टा समाज के लिए हानिकारक होता है। इस सम्बन्ध में लार्ड कीन्ज ने ठीक ही लिखा है, "उपक्रम की नियमित धारा की सतह पर बुलबुलों के रूप में सटोरिये सम्भव है कि कोई हानि न पहुँचायें, परन्तु जब सारा उपक्रम ही सट्टे के भवर का बुलबुला बन जाता है, तो स्थिति बहुत भयंकर हो जाती है। जब देश में पूँजी का विकास सटोरियों की कार्यवाहियों का एक उपोत्पाद मात्र रह जाता है, तो यह निश्चय है कि विकास समुचित रूप में नहीं हो सकेगा।"[1]

सट्टा बाजार के विकास के लिए अनुकूल दशाएँ

भविष्य प्राय सदा ही अनिश्चित होता है और अनिश्चितता ही सट्टे को जन्म देती तथा प्रोत्साहित करती है। निश्चय ही जितनी ही किसी वस्तु की कीमतों में अनिश्चितता अधिक होगी, उतनी ही उसमें सट्टा करने की प्रवृत्ति भी अधिक बलवान होगी। सट्टे की वृद्धि के लिये वस्तु में निम्न प्रकार के गुण होने आवश्यक है :—

(१) **शीघ्र नाश न होने का गुण**—वस्तु शीघ्रनाशी नहीं होनी चाहिए क्योंकि ऐसी ही दशा में उसे भविष्य में मूल्य बढ़ने के समय तक उठा कर रखा जा सकता है। दूध, ताजा फल, सब्जी आदि के मूल्य के भविष्य में घटने-बढ़ने की सम्भावना होते हुए भी उनमें सट्टा नहीं हो सकता है, क्योंकि इन वस्तुओं का भविष्य के लिये संचय करके नहीं रखा जा सकता।

(२) **प्रमापित वस्तुयें**—जो वस्तुयें आसानी से पहचानी जा सकती हैं, वे सट्टे के लिये अधिक उपयुक्त होती हैं। गेहूँ और कपास इसी प्रकार की वस्तुयें हैं। रेशे की लम्बाई तथा किस्म के अनुसार कपास का सरलता से वर्गीकरण किया जा सकता है। मिस्री, अमेरिकन और

1 "Speculators may do no harm as bubbles on a steady stream of enterprise But the position is serious when enterprise becomes a bubble on the whirlpool of speculation. When the capital development of a country becomes the by-product of the activity of a casino, the job is likely to be ill done."—J M. keynes *The General Theory of Employment Interest and Money.*

भारतीय छोटे रेशे की कपास को अलग-अलग पहचाना जा सकता है। ठीक इसी प्रकार, गेहूँ की भी किस्मबन्दी सम्भव है। ऐसी वस्तुये सट्टे के लिये अधिक ठीक होती हैं। विभिन्न कम्पनियों के अंश तथा ऋण-पत्र भी इसी कारण सट्टे के लिये उपयुक्त वस्तुये है। सोने, चाँदी आदि के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

(३) उत्पत्ति या पूर्ति की अनिश्चितता—कुछ वस्तु ऐसी होती हैं कि उनकी माँग लगभग वर्ष भर सतत् अथवा स्थिर रहती है, परन्तु उनकी उत्पत्ति मौसमी होती है। ऐसी वस्तुओं की भिन्न-भिन्न समय की पूर्ति मे बडा अन्तर होता है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष मे गेहूँ की फसल मार्च-अप्रैल मे तैयार होती है, जबकि गेहूँ के लिये माँग साल भर रहती है। अतः मार्च-अप्रैल मे गेहूँ की पूर्ति माँग से बहुत अधिक किन्तु जनवरी-फरवरी मे बहुत कम होती है। कपास के विषय मे भी यही बात है। यही कारण है कि इन दोनो वस्तुओं की अलग-अलग महीनों की कीमतो मे बहुत अन्तर होता है और इनमे अधिक सट्टा होता है।

जब आर्थिक परिस्थितियाँ ही अनिश्चित होती हैं, अर्थात् आर्थिक दशाओं मे विशेष कारणों के उथल-पुथल होती रहती है तो लगभग सभी प्रकार के सट्टे को प्रोत्साहन मिलता है। इस बात का अच्छा उदाहरण हमे द्वितीय महायुद्ध के काल मे मिला। लडाई की अनिश्चितता के साथ-साथ भारी आर्थिक अनिश्चिततायें भी थी, जिस कारण सट्टे का बाजार गरम हो गया।

सट्टे पर नियन्त्रण
(Control of Speculation)

सट्टे की बुराइयों को दूर करने के लिए यह प्रश्न उठता है कि क्या सट्टे बाजार पर सरकार द्वारा नियन्त्रण लगाया जाना चाहिये? आधुनिक युग में लगभग सभी देशो की सरकारे इस बात पर सहमत हैं कि अनुचित सट्टे को रोकना चाहिए, परन्तु इस सम्बन्ध मे कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ है—(१) सट्टे को रोकने के लिए जो कानून बनाये जाते है अथवा जिन दूसरे तरीकों को अपनाया जाता है वे बहुधा अधूरे होते है। इनमे कुछ त्रुटियाँ ऐसी हैं कि जिनके कारण पूर्ण रूप से उद्देश्य की पूर्ति नही हो पाती है। (२) कानूनो मे ढील-पोल (Loopholes) निकाल कर या दूसरे प्रकार के सट्टे की रीतियो को अपनाकर सट्टे के काम को जारी रखा जाता है। (३) गुण के रूप मे जो सट्टा होता है, उसका बन्द हो जाना ही देश और समाज के लिए अच्छा है, परन्तु कठिनाई यह है कि उचित और अनुचित सट्टे मे भेद करना कठिन होता है, इसलिये नियन्त्रण के सही उपाय कठिन है।

प्रो० टॉजिग (Taussig) ने स्टॉक एक्सचेन्ज के सम्बन्ध में निम्न प्रकार के सुझाव दिये है—[1] (i) एक्सचेंज द्वारा बनाये हुये नियमों मे उचित परिवर्तन करना, (ii) स्टाक के व्यवसाय के सम्बन्ध मे सूचनाओं का देना, (iii) पूरे उद्योग पर नियन्त्रण लगाना (परन्तु स्मरण रहे कि इससे सट्टा तो अवश्य रुक जायेगा, किन्तु औद्योगिक उन्नति मे बाधा पड जायगी); और (iv) उद्योग के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाकर सट्टे के विरुद्ध बलशाली जनमत तैयार करना।

कुछ दूसरे उपाय इस प्रकार हो सकते है—(अ) नियमित समय पर तथा नियमित ढङ्ग से उत्पत्ति करके कीमतो के परिवर्तनो को कम किया जा सकता है, जिससे *सट्टे का आधार* ही समाप्त हो जायगा। (ब) जैसा कि लरनर (Lerner) ने सुझाव दिया है, अनुचित सट्टे को बन्द करने के लिये उसका प्रतिद्वन्द्वी सट्टा (Counter Speculation) खडा कर देना चाहिये।[2] यह कार्य तब हो सकता है, जबकि सरकारी सूत्रो के द्वारा उचित मूल्य की सूची बनाई जाय और जनता को उचित मूल्य का ज्ञान दिया जाय।

---

[1] Taussig : *Principles of Economics*

[2] Lerner : *The Economics of Control*, p 96.

पूर्ण सट्टा
(Perfect Speculation)

पूर्ण सट्टे से अभिप्राय सट्टा बाजार की उस स्थिति से है जिसमें सभी सटोरिये पूर्ण अनुभवी और बुद्धिमान होते हैं। वे अपने अनुभव और बुद्धि-कौशल के द्वारा मूल्य सम्बन्धी परिवर्तनों का सही-सही अनुमान लगा लेते हैं और तदनुसार कार्यवाही करते हैं। परिणामतः मूल्यों में स्थिरता आ जाती है और परिवर्तनों के लिये गुंजाइश नहीं रहती है। जब मूल्य-परिवर्तन ही न होंगे, तो फिर सट्टे के लिये अवसर कहाँ रह सकता है। इसीलिये कहा जाता है कि पूर्ण सट्टा स्वयं अपना विनाश कर लेता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. सट्टे का क्या अर्थ है ? सट्टे के लाभों तथा हानियों की विशद् विवेचना कीजिये। इसके दोषों को आप कैसे दूर करेंगे ?

२. 'तेजी वाला' (Bulls) तथा 'मन्दीवाला' (Bears) का अन्तर स्पष्ट कीजिए। उनके कार्यों का समाज के आर्थिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या कीजिये।

३ कीमत परिवर्तन पर सट्टे के प्रभावों की व्याख्या कीजिये। क्या सट्टे पर राज्य का नियन्त्रण उचित है ? भारतीय उदाहरणों द्वारा समझाइये।

पांचवां भाग

वितरण

[DISTRIBUTION]

५

वितरण और इसकी समस्यायें

(Distribution and its Problem)

वितरण किसे कहते हैं ?

उत्पादन के लिए उत्पत्ति के सभी साधनों का सहयोग आवश्यक होता है। कोई भी साधन अकेले में कुछ भी उत्पादन नहीं कर सकता। साधारण से साधारण वस्तु की भी उत्पत्ति कम से कम दो साधनों के मिल कर कार्य किये बिना नहीं हो सकती है, अतः साधनों के इस सहयोग के फलस्वरूप जो कुछ उपज उत्पन्न होती है। उसमें से प्रत्येक साधन को हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक किसान गेहूँ उत्पन्न करना चाहता है तो उसे खेत, बीज आदि के रूप में भूमि, बैल, हल तथा अन्य ओजारों के रूप में पूँजी, अपने स्वयं अथवा वेतनभोगी श्रमिकों के रूप में श्रम और उत्पत्ति की जोखिम उठाने के लिए साहस की आवश्यकता पड़ती है। स्मरण रहे कि उत्पत्ति का कोई साधन बिना पारितोषण की आशा के उत्पत्ति के कार्य में सहयोग नहीं देता। यदि उसे हिस्सा नहीं मिले, तो वह कार्य भी नहीं करेगा। वितरण में हम इसी बात का अध्ययन करते हैं कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के हिस्से किस प्रकार निर्धारित होते हैं।

प्रो० चैपमैन के अनुसार "वितरण-अर्थशास्त्र समाज द्वारा उत्पादित धन के उन विभिन्न उत्पत्ति-साधनों अथवा इनके मालिकों के बीच बँटवारे से सम्बन्धित है, जिन्होंने इस उत्पत्ति के निर्माण में हिस्सा लिया है।"[1] सेलिगमैन का कथन है कि, "वह सभी धन, जिसे किसी समाज में उत्पन्न किया जाता है, अन्त में कुछ रीतियों अथवा आय सूत्रों के द्वारा व्यक्तियों के पास पहुँच जाता है। उत्पादित धन के इस प्रकार व्यक्तियों तक पहुँचाने की क्रिया को ही वितरण कहते हैं।"[2]

वितरण की समस्या विनिमय सिद्धान्त का ही एक विशेष रूप

वितरण के नियमों से हमारा अभिप्राय उन नियमों से होता है। जिनके अनुसार कुल उत्पत्ति में से विभिन्न साधनों के हिस्से निर्धारित किये जाते हैं और प्रत्येक साधन को इसलिए हिस्सा देना आवश्यक होता है कि कुल उपज सभी साधनों के सामूहिक प्रयत्न का फल होती है। प्रत्येक साधन का हिस्सा एक प्रकार से उस साधन की कीमत होती है। इस कारण वितरण की समस्या वास्तव में मूल्य के निर्धारण की ही समस्या है। विनिमय और वितरण में केवल इतना अन्तर होता है कि विनिमय में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य निश्चित किया जाता है, परन्तु

---

1 "The economics of Distribution accounts for the sharing of the wealth produced by a community among the agents (factors or the owners of the agents) which have been active in its porduction."—Chapman : *Outlines of Political Economy, p. 278.*

2 "All wealth that is created finds its way to final disposition of the individual through certain channels or sources of income. This process is called Distribution."—Seligman : *Principles of Economics, p. 356.*

वितरण में उत्पत्ति-साधनों का। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वस्तुओं और उत्पत्ति के साधनों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं होता। जब हम किसी वस्तु का उपभोग के लिए उपयोग करते हैं, तो उसे वस्तु कहा जाता है। परन्तु जब उसी का उपयोग उत्पत्ति करने में किया जाता है, तो वह उत्पत्ति का साधन बन जाती है। उदाहरण के लिए, जब गेहूँ का उपयोग बीज के रूप में किया जाता है, तो वह उत्पत्ति का साधन होता है, यद्यपि वह एक उपयोग की वस्तु भी है। अतएव वितरण की समस्या विनिमय के सिद्धान्त का ही एक विशेष रूप है।

वितरण की समस्या आर्थिक जीवन के विकास की प्रत्येक अवस्था में किसी न किसी रूप में हमारे सामने रही है। परन्तु, जैसे-जैसे आर्थिक जीवन की जटिलता बढ़ती गई है, इस समस्या का महत्त्व भी बढ़ता गया है। आधुनिक उत्पादन प्रणाली श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण पर आधारित है, जिससे इस बात का पता लगाना बहुत ही कठिन है कि कुल उत्पत्ति में किसी एक साधन की देन कितनी है। इस कारण आज के संसार में वितरण और उसके सिद्धान्तों का अध्ययन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वितरण दो प्रकार का हो सकता है :—

(१) वैयक्तिक वितरण (Personal Distribution)—वैयक्तिक वितरण में हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा अथवा उसकी आय कैसे निश्चित होती है। इस अध्ययन से यह पता चल जाता है कि देश के भीतर आय के वितरण का क्या स्वरूप है और विभिन्न व्यक्तियों की आय में कितनी असमानतायें हैं।

(२) कार्यात्मक वितरण (Functional Distribution)—कार्यात्मक अथवा वर्गीय वितरण में व्यक्ति के स्थान पर वर्ग की आय का अध्ययन किया जाता है, उदाहरणस्वरूप—भूमिपति, श्रमिक, पूँजीपति अथवा साहसी वर्ग की आय का अध्ययन। आर्थिक सिद्धान्तों के अध्ययन में हम व्यक्तिगत वितरण के स्थान पर कार्यात्मक वितरण के अध्ययन को ही अधिक महत्त्व देते हैं।

वितरण के पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता

बहुत बार यह कहा जाता है कि एक उत्पत्ति-साधन का पारितोषण उस साधन की कीमत है और चूँकि वस्तु तथा उत्पत्ति-साधन के बीच कोई आधारभूत अन्तर नहीं होता, इसलिए उत्पत्ति-साधन की कीमत भी ठीक उसी प्रकार निश्चित होगी जिस प्रकार किसी वस्तु की कीमत। ऐसी दशा में वितरण के लिये किसी पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। "मूल्य का सामान्य सिद्धान्त" (General Theory of Value) ही वितरण का भी सिद्धान्त होगा।

मार्शल का विचार—

इसके उत्तर में, मार्शल का कथन है कि स्वतन्त्र मनुष्यों को मशीन, घोड़े अथवा दास की भाँति उसके काम को ध्यान में रखकर नहीं पाला जाता। अत: मनुष्य की कीमत उसके उत्पादन व्यय, घिसावट आदि के बराबर नहीं हो सकती है। सत्य तो यह है कि दोनों माँग और पूर्ति की दृष्टि से एक वस्तु और एक उत्पत्ति-साधन के बीच अन्तर होते हैं, जो कि निम्नलिखित हैं :—

(१) जबकि एक वस्तु की माँग प्रत्यक्ष (Direct) होती है, उत्पत्ति-साधन की माँग परोक्ष अथवा व्युत्पादित (Indirect or derived), क्योंकि यह माँग उस वस्तु की माँग से उत्पन्न होती है जिसके उत्पादन के लिए साधन का उपयोग किया जाता है। अतः वस्तु की माँग का विवेचन इसकी सीमान्त उपयोगिता के आधार पर किया जाता है किन्तु साधन की माँग का विवेचन उसकी सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) के आधार पर।

(२) पूर्ति की दिशा में तो दोनों के बीच और भी विशाल अन्तर होते हैं। एक उत्पत्ति-साधन (जैसे-श्रम) के सीमान्त उत्पादन व्यय का लगभग कुछ भी अर्थ नहीं होता है। अतः ऐसा

कहना सम्भव नहीं है कि साधन की कीमत दीर्घकाल में उसके उत्पादन व्यय के बराबर होती है, क्योंकि यहाँ तो सीमान्त उत्पादन व्यय ज्ञात ही नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, वस्तु की अपेक्षा साधन की पूर्ति में मांग के परिवर्तनों के अनुसार कमी अथवा वृद्धि करने में अधिक समय लगता है। इस कारण मूल्य का सिद्धान्त उत्पत्ति-साधन की कीमत-निर्धारण में बहुत उपयोगी नहीं हो सकता है।

बोल्डिंग का विचार—

इसके विपरीत, बोल्डिंग का विचार है कि कार्यात्मक वितरण मूल्य सिद्धान्त का ही एक भाग है, क्योंकि मजदूरी अथवा लगान को सेवा अथवा सम्पत्ति की कीमत ही कहा जा सकता है। उत्पत्ति के साधनों की सेवाओं का ठीक उसी प्रकार विनिमय होता है जैसे कि एक वस्तु का। इस कारण मूल्य के सिद्धान्त तथा वितरण के सिद्धान्त में पर्याप्त समानता है और वितरण का सिद्धान्त अधिक से अधिक मूल्य सिद्धान्त की एक विशेष दशा (A Special Case of The Theory of Value) है।

वितरण किस चीज का होता है ?
(What is Distributed)

यह तो स्पष्ट है कि सभी उत्पत्ति-साधन मिलकर जितनी कुल उत्पत्ति करते हैं उससे अधिक का वितरण नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक कुल उपज की मात्रा को ही सभी साधनों में बाँटा जा सकता है, परन्तु क्या कुल उपज बाँट दी जाती है? इसके लिये हम एक किसान का उदाहरण लेते हैं, जिसकी कुल उपज १०० क्वण्टल गेहूँ है और जिसके मूल्य के रूप में उसे ५,००० रुपये प्राप्त होते हैं। अब यदि किसान को १५० रुपये कर के रूप में देने पड़ते हैं, तो ये १५० रुपये कुल उपज के मूल्य में से निकल जायेंगे। किन्तु कर के अतिरिक्त किसान को कुछ अन्य बातों का भी ध्यान रखना पड़ता है—खेती के औज़ार, जो किसान के काम में आ रहे हैं, धीरे-धीरे घिसते रहते हैं, जिस कारण कुछ समय बाद उनको बदलने की आवश्यकता पड़ती है। इन औजारों को कार्य में लाने से घिसावट के कारण जो मूल्य नष्ट होता है तथा इनकी मरम्मत पर जो खर्च होता है वह तो अलग रहा। किसान को धीरे-धीरे एक ऐसा भी कोष बनाना पड़ता है जिसमें से वर्तमान औजारों के बेकार हो जाने पर नये औजार खरीदे जा सकें। ठीक इसी प्रकार कुछ वर्षों के बाद बैल भी बूढ़े हो जाते हैं और उन्हें भी बदलना पड़ता है। किसान को हर वर्ष बीजों की आवश्यकता पड़ती है। इस वर्ष जो उपज हुई है उसके लिये उपयोग किया हुआ बीज पहली फसल में से रखा गया था। इस वर्ष की फसल में से भी आगे के लिये बीज रखा जायगा अन्यथा खेती का कार्य रुक जायगा।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि किसान उपयोग किये किये उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में अपनी कुल उपज नहीं बाँटेगा वरन् पहले इसमें से ऊपर गिनाये हुए खर्चों को निकाल लेगा और शेष को उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में बाँट देगा। इस प्रकार शेष रहने वाली आय किसान की "शुद्ध आय" (Net Income) कहलाती है, जबकि समस्त आय को अ-शुद्ध या सकल आय (Gross Income) कहा जाता है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के हिस्से शुद्ध आय में से ही निर्धारित होते हैं।

वितरण का प्रतिष्ठित सिद्धान्त
(The Classical Theory of Distribution)

वितरण किस प्रकार होता है, अर्थात् वितरण का सामान्य सिद्धान्त क्या है? इस पर प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अपने विचार रखे हैं। एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस तथा अन्य प्राचीन

अर्थशास्त्रियो ने इस सम्बन्ध मे जो सिद्धान्त बनाया है उसे हम "प्रतिष्ठित सिद्धान्त" (Classical Theroy) कहते हैं।

प्रमुख बातें—

इस सिद्धान्त की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) भूमि का पुरस्कार—इन अर्थशास्त्रियों का विचार है कि जब वस्तु की किसी मात्रा मे उत्पत्ति हो जाती है, तो इसमे से सबसे पहले उत्पत्ति के साधन भूमि (Land) को इसका हिस्सा मिलता है। भूमिपति का हिस्सा एक प्रकार का आधिक्य है, जो विभिन्न खेतो की उर्वरता मे अन्तर होने के फलस्वरूप दृष्टिगोचर होता है। यदि प्रत्येक खेत मे समान ही उपज प्राप्त हो, तो आधिक्य का प्रश्न ही नहीं उठेगा और इस दशा मे लगान शून्य के बराबर होगा। रिकार्डो के अनुसार, यह आधिक्य एक खेत को उसकी अधिक उपयुक्त स्थिति के कारण भी प्राप्त हो सकता है। आधिक भाषा म इसे "स्थिति लगान" कहा जाता है।

(२) श्रम का पुरस्कार—श्रम का हिस्सा श्रमिक के जीवन-निर्वाह योग्य वेतन के बराबर होगा। दीर्घकाल मे श्रम को केवल इतना ही हिस्सा मिलेगा, जोकि श्रमिको को जीवित रखने के लिए पर्याप्त हो। यदि वतन इससे अधिक है, तो श्रमिक निश्चिन्त हो जायेंगे और अधिक बच्चे उत्पन्न करेंगे, जिसके फलस्वरूप श्रम की पूर्ति बढ जायेगी और मजदूरी कम हो जायेगी। मजदूरी का यह घटने का क्रम उस समय तक बराबर चलता रहेगा जब वह घटते हुये जीवन-रक्षा स्तर (Subsistence level) पर न आ जाये। इसके विपरीत, यदि श्रमिक को जीवन-रक्षा से भी कम मजदूरी मिलती है, तो बहुत से श्रमिक मर जायेंगे और इस प्रकार, श्रम की पूर्ति घटने के कारण मजदूरी में वृद्धि होगी, जिससे वह अन्त में फिर जीवन-रक्षा स्तर पर पहुँच जायेगी। सम्भव है कि आरम्भ में उत्पादन को यह अनुमान न हो कि जीवन-रक्षा मजदूरी कितनी है, परन्तु धीरे-धीरे वह इसका पता लगा लेता है।

मजदूरी के सम्बन्ध मे रिकार्डो और मिल ने एक और भी सिद्धान्त का निर्माण किया है, जिसे **मजदूरी-कोष सिद्धान्त** (Wage-fund Theory) कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वर्ष कुल उत्पादन मे से उत्पादक अपनी इच्छा के अनुसार (बिना किसी आधार के) एक कोष अलग रख देता है, जिसे "मजदूरी कोष" कहा जाता है। समस्त श्रमिकों का कुल हिस्सा मिलकर इस मजदूरी कोष के बराबर होता है, परन्तु कोष के निर्धारण मे किसी नियम का पालन नही किया जाता और वह पूर्णतया उत्पादन की स्वेच्छा पर निर्भर होता है।

(३) पूँजी एवं साहस का पुरस्कार—अत जो शेष बचे वह उत्पादक को लाभ (Profit) के रूप मे प्राप्त होता है। स्मरणीय है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री ब्याज और लाभ मे भेद नहीं करते थे। उन्होंने इन दोनो के लिए "लाभ" शब्द का ही उपयोग किया। कारण, उनके समय मे पूँजी का उपयोग तथा इसका महत्त्व बहुत ही कम था। कुल उपज म से लगान और मजदूरी निकाल देने के पश्चात् लाभ के निकालने मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए, क्योंकि कुल उपज में से लगान और मजदूरी निकाल देने के बाद केवल लाभ ही बच रहता है।

आलोचना—

वितरण का प्रतिष्ठित सिद्धान्त आधुनिक दृष्टि से बडा अधूरा तथा अवैज्ञानिक प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त के प्रमुख दोष निम्न हैं :—

(१) लगान "सीमान्त भूमि" द्वारा नियत होता है, जबकि मजदूरी "जीवन-स्तर" द्वारा और पूँजीपति को केवल इन दोनो के बाद बचा-बचाया हिस्सा (residual share) ही मिलता

है। इस प्रकार, लगान, मजदूरी और लाभ तीनों के निर्धारण के नियम पूर्णतया भिन्न हैं। यथार्थ में विभिन्न साधनों में कोई मौलिक भेद नहीं होता है और इसीलिए प्रत्येक का हिस्सा एक ही सिद्धान्त के द्वारा निश्चित होना चाहिए। यदि तीन आदमी एक साथ मिलकर किसी काम को करते हैं, तो क्या यह उचित होगा कि एक को काम के घण्टों के आधार पर वेतन दिया जाये, दूसरे को काम की मात्रा और तीसरे को काम की किस्म के अनुसार ?

(२) लगान यदि आधिक्य है, तो वह सबसे बाद में मिलना चाहिए, न कि सबसे पहले। ठीक इसी प्रकार यह आधार भी ठीक नहीं है कि पहले एक मजदूरी कोष निश्चित किया जाय और अन्त में प्रत्येक श्रमिक को उसका हिस्सा दिया जाय। सही रीति तो यह होगी कि प्रत्येक श्रमिक का पृथक पृथक हिस्सा पहले निश्चित किया जाय और इन सबका योग मजदूरी कोष को निश्चित करे।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त
(The Marginal productivity Theory)

सिद्धान्त की प्रमुख बातें—

इस सिद्धान्त के अनुसार वितरण की प्रणाली यह है कि दीर्घकाल में उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को कुल उपज में से जो हिस्सा मिलता है वह उस साधन की सीमान्त उपज के बराबर होता है। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता होती है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक उत्पत्ति-साधन की सीमान्त उत्पादकता का भी पता लगाया जा सकता है। किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता से हमारा अभिप्राय कुल उत्पत्ति में की गई उस वृद्धि से है जो उस साधन की अन्तिम या सीमान्त इकाई के उपयोग द्वारा होती है। निश्चय ही प्रत्येक उत्पादक किसी साधन का उपयोग एक निश्चित सीमा तक ही करता है। सीमान्त इकाई वह इकाई होती है जिसके आगे उत्पादक साधन की और अधिक मात्रा उपयोग करना उचित नहीं समझता। अन्तिम दशा में किसी साधन को जो पारितोषण मिलता है वह उस उपज के मूल्य के बराबर होगा, जो इस साधन की सीमान्त इकाई के उपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होती है।

किसी भी साधन की सीमान्त उत्पादकता निकालने के लिए हम बहुधा ऐसा करते हैं कि अन्य साधनों की मात्रा को यथास्थिर रखते हुए साधन विशेष की मात्रा को एक इकाई से बढ़ा या घटा देते हैं। ऐसा करने से कुल उत्पादन में थोड़ी वृद्धि या कमी हो जाती है, जो साधन विशेष की सीमान्त उत्पादकता को सूचित करती है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि हम ५० इकाई भूमि, १०० श्रमिक, १० इकाई पूंजी तथा ५ इकाई साहस का उपयोग करते हैं, जिससे हमें १,००० इकाई कुल उत्पत्ति मिलती है। अब यदि भूमि, पूंजी और साहस की मात्राएं ज्यों की त्यों रहें किन्तु श्रम की मात्रा बढ़ाकर १०१ कर दी जाय और यदि इससे १,००५ इकाई कुल उपज प्राप्त हो, तो निश्चय है कि श्रम की १०१ वीं इकाई के उपयोग के कारण कुल उपज में ५ इकाई की वृद्धि होती है। यही श्रम की "सीमान्त उपज" होगी। यदि दाम ५ रुपया प्रति इकाई है, तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता की मुद्रा में माप २५ रुपया होगी। इसी प्रकार, अन्य उत्पत्ति-साधनों की भी सीमान्त उत्पादकता ज्ञात की जा सकती है। सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार श्रम का दीर्घकालीन पारितोषण २५ रुपया ही होगा, इससे कम या अधिक नहीं।

स्पष्ट है कि यदि श्रमिक को २५ रु० से अधिक देना पड़े, तो उत्पादक को हानि होगी और वह श्रमिकों के उपयोग को कम करने का प्रयत्न करेगा। इससे श्रमिक की मांग कम हो जायगी और मजदूरी भी कम हो जायगी। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि

मजदूरी घटकर २५ रुपया (अर्थात् श्रम की सीमान्त उत्पादकता) के बराबर न हो जाये। इसके विपरीत, यदि श्रम को उसकी सीमान्त उपज के मूल्य से कम मजदूरी मिले, तो श्रमिक ऐसे व्यवसाय को छोड़ने का प्रयत्न करेगा, जिससे श्रम की पूर्ति कम हो जायगी, मजदूरी बढ़ेगी तथा उस समय तक बढ़ती रहेगी जब तक कि वह सीमान्त उत्पादकता के बराबर न हो जाय। ठीक इसी प्रकार, जब श्रमिक को उसकी सीमान्त उपज की कीमत से कम मजदूरी दी जाती है, तो उत्पादक को लाभ होता है। ऐसी दशा में, वह अधिक श्रमिक रखना चाहेगा, श्रमिक की माँग बढ़ने से मजदूरी भी बढ़ेगी और लाभ की सम्भावना तभी जाकर समाप्त होगी जबकि मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत के बराबर हो जाये।

इस प्रकार, थोड़े समय तक तो श्रमिक का पारितोषण सीमान्त उत्पादकता से कम या अधिक हो सकता है, पर अन्त में वह सीमान्त उत्पादकता के बराबर ही होगा। श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनों का पारितोषण भी उसी प्रकार निश्चित होगा।

प्रतियोगिता तथा प्रतिस्थापन नियम के अनुसार अन्त में किसी भी साधन की सीमान्त उत्पादकता प्रत्येक उपयोग में बराबर होगी। इसका कारण यह है कि उत्पादक उस साधन के स्थान पर, जिसका पारितोषण इसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक है, ऐसे साधन का उपयोग करने का प्रयत्न करेगा जिसे इससे कम देना पड़े। इसके विपरीत, प्रत्येक साधन में ऐसे उपयोग या व्यवसाय में जाने की प्रवृत्ति होती है जहाँ उसे अधिक पारितोषण प्राप्त होता है। इस प्रकार, व्यक्तिगत उद्योगों में विभिन्न साधनों की माँग और पूर्ति की स्थिति में परिवर्तन होते-होते अन्त में सभी व्यवसायों के साधन की सीमान्त उत्पादकता समान हो जाती है।

सिद्धान्त की मान्यताएँ—

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त कुछ विशेष दशाओं में ही सही होता है। इस नियम की प्रमुख मान्यताएँ निम्न प्रकार हैं :—(१) साधन की सभी इकाइयाँ सब प्रकार से समान हैं। यदि ऐसा नहीं है वरन् इकाइयों में अन्तर है, तो प्रत्येक इकाई का पारितोषण अलग-अलग होगा। (२) उत्पत्ति के पारिभाषिक गुणक (Technical co-efficients of Production) बदले जा सकते हैं। यदि विभिन्न साधनों के बीच परस्पर प्रतिस्थापन नहीं हो सकता, तो यह सिद्धान्त लागू नहीं होगा। जब भूमि के स्थान पर पूँजी अथवा पूँजी के स्थान पर किसी भी अन्य तक दूसरे साधन का उपयोग नहीं हो सकता है, तो सीमान्त उपज का पता भी नहीं लगाया जा सकता है। साधारणतया उद्योगों में उत्पत्ति के पारिभाषिक गुणक परिवर्तनीय होते हैं, परन्तु कुछ दशाएँ ऐसी भी होती हैं जहाँ ऐसा नहीं होता। वह सीमान्त उत्पादकता विवेचना सम्भव नहीं होती है। (३) उत्पत्ति-साधन को किन्हीं भी अंशों में विभाजित करना सम्भव है। यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो किसी भी साधन के उपयोग को उस विन्दु तक, जहाँ उसकी लागत उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाय, नहीं बढ़ाया जा सकता। (४) उत्पत्ति साधनों में प्रादेशिक तथा व्यावसायिक दोनों प्रकार की गतिशीलता है, क्योंकि तब ही अधिक पारितोषण की सम्भावना पर वे स्थान या व्यवसाय को बदल सकेंगे। (५) व्यवसायों तथा साधनों में परस्पर पूर्ण प्रतियोगिता होनी चाहिए। (६) सेवायोजक प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता को वास्तव में नाप सकता है। (७) अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार है क्योंकि यदि कुछ साधनों को रोजगार प्राप्त नहीं है, तो वे अपनी सेवाएँ किसी भी कीमत पर बेचने को तैयार हो जायेंगे। (८) प्रत्येक सेवायोजक अपने लाभ को अधिकतम् करना चाहता है और इसी प्रकार प्रत्येक साधन में भी अपने पारितोषण को अधिकतम् करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। दोनों का व्यवहार इस प्रवृत्ति पर आधारित होता है। (९) प्रत्येक साधन में ऐसी समायोजनक्षमता होती है कि वह अपने को किसी भी उपयोग के अनुकूल ढाल सके।

आलोचनाएं —

इस सिद्धान्त की बहुत आलोचना हुई है। प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं :—

(१) यद्यपि यह सिद्धान्त इस दृष्टि से सन्तोषजनक है कि सभी सिद्धान्तों का पारितोषिक एक ही नियम के अनुसार निश्चित होता है, तथापि इसमें केवल माँग की विवेचना द्वारा ही साधन का मूल्य निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। यथार्थ में उत्पत्ति-साधनों तथा वस्तुओं में कोई भी मौलिक अन्तर नहीं है और इस कारण मूल्य का सामान्य सिद्धान्त (अर्थात् माँग और पूर्ति का सिद्धान्त) साधनों के मूल्य निर्धारण पर भी लागू होना चाहिए।

(२) प्रोफेसर कारवर (Carver) का कथन है कि प्रत्येक उत्पत्ति विभिन्न साधनों का ऐसा समिश्रण होती है जिसे अलग-अलग नहीं किया जा सकता, फिर किसी एक साधन की उत्पादकता कैसे निकाली जा सकती है। [परन्तु इस आलोचना में सीमान्त उत्पादकता नियम के समझने में थोड़ी भूल की गई है। एक साधन के बढ़ा देने से कुल उत्पत्ति में जो वृद्धि होती है उसके विषय में कोई भी यह नहीं कहता है कि वह केवल उस साधन की बढ़ी हुई मात्रा के कारण हुई है, वरन् उसे केवल उस साधन के नाम लगा (Impute) दिया जाता है। इस प्रकार इस आधार पर हम सिद्धान्त को गलत नहीं कह सकते हैं।]

(३) वीजर तथा हाबसन का मत है कि यदि किसी एक साधन की इकाई को उत्पत्ति में से निकाल लिया जाता है तो समस्त व्यवसाय इस प्रकार अस्त-व्यस्त हो जाता है कि कुल उत्पत्ति में जो हानि होती है वह उस साधन की सीमान्त उत्पादकता से कहीं अधिक होती है। [किन्तु स्मरण रहे कि यदि साधनों को बहुत थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बढ़ाया या घटाया जाय और उत्पत्ति का पैमाना बहुत छोटा न हो, तो यह आलोचना सही नहीं होगी।]

(४) वीजर के अनुसार किसी एक साधन की एक इकाई के उत्पत्ति से निकालने पर कुल उत्पत्ति में जो कमी आती है, अर्थात् जो साधन विशेष की सीमान्त उत्पादकता होती है उसे यदि प्रत्येक साधन की इकाइयों की मात्रा से गुणा करके जोड़ा जाय तो यह योग कुल उपज से अधिक होगा। इसके विपरीत, विक्सटीड का कथन है कि योग कुल उपज से कम रहेगा, क्योंकि सीमान्त उत्पादकता सदा घटते हुए अनुपात में बढ़ती है।[1] [परन्तु जैसा कि प्रोफेसर ए० के० दास गुप्ता ने दिखाया है, वीजर और विक्सटीड दोनों के मत गलत हैं और यह योग न तो कुल उपज से कम होता है और न अधिक।]

(५) पाँचवीं कठिनाई सीमान्त उपज की शुद्ध नाप से सम्बन्धित है। इस विषय में श्रीमती जोन रोबिन्सन, पीगू तथा हिक्स तीनों सहमत हैं। उत्पत्ति के पैमाने के बड़ा-छोटा होने के अनुसार किसी फर्म विशेष में एक साधन की सीमान्त उत्पादकता की माप बड़ी कठिन होती है, क्योंकि उसमें भिन्नता रहती है और सब उद्योगों में तथा समस्त उद्योग में सीमान्त उत्पादकता के समान होने का प्रश्न ही नहीं उठता।[2]

(६) यह सिद्धान्त सभी दशाओं में लागू नहीं होता। यदि विभिन्न साधनों का परस्पर प्रतिस्थापन नहीं हो सकता, अर्थात् यदि उत्पत्ति के पारिभाषिक गुणक अपरिवर्तनीय हैं, तो सीमान्त उपज नहीं निकाली जा सकती है और यह सिद्धान्त असफल रहता है। उदाहरणस्वरूप, नीचे की दशा में सीमान्त उपज नहीं मालूम की जा सकती है—

४ टाइपिस्ट + ४ टाइपराइटर + १५० कागज + साहस = १५० पत्र
५ ,, + ४ ,, + १५० ,, + ,, = १५० पत्र

---

1 Wicksteed : *Commonsences of Political Economy.*
2 Joan Robinson : *Economics of Imperfect Competition*, p. 327, also J. K. Hicks : *Theory of Wages*, the Appendix, and Pigou : *Economics of Walfare*,

इस दशा में पाँचवें टाइपिस्ट के लगा देने से भी टाइप किये हुये पत्रों की मात्रा नहीं बढ़ती इसलिए टाइपिस्ट की सीमान्त उत्पादकता का पता नहीं लगाया जा सकता है।

(७) यह सिद्धान्त दीर्घकालीन है। इसमें साधन के अल्पकालीन पारितोषण को निश्चित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अल्पकाल में किसी भी साधन का पारितोषण उसकी सीमान्त उपज की कीमत से कम या अधिक हो सकता है।

सारांश यह है कि सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त प्रवैगिक संसार में उत्पत्ति के साधनों के हिस्से निर्धारित करने के लिए अनुपयुक्त है। यह सामाजिक (Sociological) कारकों पर (जैसे श्रम-संघ, सामाजिक प्रतिष्ठा इत्यादि) विचार नहीं कर पाता है और इस प्रश्न का सही उत्तर नहीं दे पाता है कि प्रवैगिक अर्थ-व्यवस्था में मजदूरी, ब्याज तथा लाभ का निर्धारण किस प्रकार होता है।

सीमान्त उत्पादकता कटौती का विचार
(The Concept of Discounted Marginal Productivity)

टाउजिग ने एक नया विचार प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि किसी साधन (श्रम) का पारितोषण (अथवा उसकी कीमत) उसकी सीमान्त उपज के पूरे मूल्य के बराबर नहीं हो सकता है वरन् उसे सीमान्त उपज बट्टा (Discount) काट कर मिलती है।

बट्टा क्या है ?

"बट्टा एक अग्रिम को दर्शाता है। उत्पादन में समय लगता है। जिन मशीनों और सामानों का उत्पादन क्रिया में उपयोग होता है वे श्रमिकों द्वारा निर्मित किये जाते हैं, परन्तु उपभोग की वस्तुओं (consumers goods) के, जोकि वास्तविक मजदूरी का निर्माण करते हैं, बाहर आने में समय लगता है। इसके लिए प्रतीक्षा आवश्यक है। आधुनिक युग की निजी-सम्पत्ति-व्यवस्था के अन्तर्गत धन के वितरण में विशाल असमानताएँ हैं और श्रमिकों में से अधिकांश के पास इस लम्बी समय अवधि में अपना जीवन निर्वाह करने के लिए कुछ भी नहीं होता है। कोई अन्य व्यक्ति, जिसके पास अतिरिक्त साधन है, अपने इस आधिक्य में श्रमिकों का पारितोषण अग्रिम के रूप में दे देता है। पूँजीपतियों का कार्य श्रमिकों को एक के बाद दूसरा अग्रिम देने से सम्बन्धित होता है और उनका लाभ इस कारण होता है कि वे श्रमिकों को उपभोग की वस्तुओं के सन्दर्भ में उससे कहीं कम देते हैं जितना कि श्रमिक आगे चलकर उत्पन्न करेंगे। इस प्रकार, पूँजीवादी सेवायोजक श्रम की उपज में से बट्टा काट लेता है।"[1]

बट्टा काटना क्यों आवश्यक है ?

अतः श्रमिक की मजदूरी ज्ञात करने के लिए श्रम की सीमान्त उपज में से बट्टा अथवा कटौती को काट देना आवश्यक होगा। "उत्पत्ति का वह साधन, जिसका लगभग प्रत्येक रोजगार में श्रम के साथ सहयोग आवश्यक है, चल पूँजी (Circulating Capital) है। इस चल पूँजी की मात्रा, मजदूरी की मात्रा, तथा उस समय अवधि के गुणनफल के बराबर होती है जो श्रमिक की मजदूरी के भुगतान के समय तथा उपज की बिक्री के समय के बीच में व्यतीत होती है। यदि हम यह मान लें कि यह समय अवधि (उत्पादन की समय अवधि) दी हुई (given) और यथास्थिति (constant) है, परन्तु श्रम का अनुपात चल पूँजी के अतिरिक्त अन्य उत्पत्ति-साधनों से स्वतन्त्र रूप में परिवर्तनशील है तो, भले ही इन अन्य साधनों की मात्रा को भी यथास्थिति मान लिया

[1] F. W. Taussig: *Principles of Economics*, Vol. II, p. 62

जाये (जब की श्रम की मात्रा में थोड़ा-सा परिवर्तन किया जाता है) चल पूँजी की मात्रा को यथा-स्थिर नहीं रखा जा सकता है, क्योंकि श्रम की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ चल पूँजी की मात्रा में भी थोड़ी-सी वृद्धि अवश्य करनी होगी। अतः बिक्री कीमत और उत्पादन व्यय की समानता को बनाये रखने के लिए अतिरिक्त चल पूँजी का व्यय सीमान्त उपज में से घटना आवश्यक होगा अर्थात् उक्त प्रकार से मालूम की गई सीमान्त उपज में से बट्टा काटना आवश्यक होगा।"[1]

बट्टा काटना आवश्यक नहीं है ?

जब एक बार हम यह मान लेते हैं कि श्रमिक को उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार मजदूरी मिलती है और उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली प्रचलित है, तो यह तर्कसङ्गत ही है कि सीमान्त उपज में से बट्टा काटा जाये। किन्तु उत्पादन की समय अवधि भी बदलती रहती है। हिक्स ने ठीक ही कहा है कि 'ऐसा कोई भी कारण नहीं है कि हम साधारणतया क्यों न यह मानें कि उत्पादन अवधि की लम्बाई घट-बढ़ सकती है; और जब एक बार हम यह मान लेते हैं, तो हमें ऊपर बताई हुई सच्ची सीमान्त उपज प्राप्त हो जाती है। यदि चल पूँजी की एक निश्चित मात्रा के साथ श्रम का अधिक मात्रा में उपयोग किया जाये, तो इससे साधारणतया उत्पादन की समय अवधि घट जायेगी; परन्तु ऐसी दशा में श्रम की अतिरिक्त मात्रा द्वारा उपज की जो अतिरिक्त मात्रा उत्पन्न की जायेगी वह एक सच्ची सीमान्त उपज होगी जो, साम्य की दशा में, बिना किसी प्रकार का बट्टा कटे मजदूरी के बराबर होनी चाहिए।" इससे पता चलता है कि सच्ची सीमान्त उत्पादकता का पता लगाने हेतु कटौती के लिए कोई व्यवस्था करना आवश्यक नहीं है।

वितरण का माँग और पूर्ति का सिद्धान्त

आधुनिक युग में अर्थशास्त्रियों का एक शक्तिशाली विचार-सम्प्रदाय ऐसा भी है जो यह समझता है कि वितरण की समस्या ठीक वही है जो कीमत निर्धारण की समस्या है। विभिन्न उत्पादक सेवाओं का पारितोषण केवल उनकी कीमत है जो उन्हें उत्पादक कार्यों में उपयोग करने के बदले चुकाई जाती है। यह भी कहा जाता है कि एक वस्तु तथा एक उत्पादक-सेवा के बीच कोई आधारभूत भेद नहीं होता। किसी भी उत्पत्ति-साधन की कीमत वस्तु की कीमत की भाँति उसकी माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होनी चाहिए। सावधानी केवल इतनी रहेगी कि उत्पत्ति के साधन के सन्दर्भ में उनकी माँग और पूर्ति का विशेष अर्थ लिया जायेगा। एक कठिनाई यह अवश्य है कि अलग-अलग साधनों की माँग और पूर्ति की दशाएँ अलग-अलग होती हैं और शायद यही कारण है कि लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ के अलग-अलग सिद्धान्त देखने को मिलते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी सामान्य एकाकी सिद्धान्त (general single principle) का निर्माण नहीं हो सकता है। अवश्य ही इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियम बनाये जा सकते हैं।

पूर्ति सम्बन्धी नियम—

एक वस्तु के विषय में हम यह कह सकते हैं कि उसकी पूर्ति उसके उत्पादन व्यय पर निर्भर होती है। उत्पत्ति के साधन के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है किन्तु एक अन्तर के साथ। एक उत्पत्ति-साधन के सम्बन्ध में उत्पादन व्यय का अर्थ न तो मौद्रिक व्यय से होता है और न वास्तविक व्यय से। इसका अभिप्राय केवल 'हस्तान्तरण व्यय' (transfer cost) अथवा 'अवसर व्यय' (opportunity cost) से होता है। अवसर व्यय वह कमाई होती है जो कि साधन अन्यत्र प्राप्त कर सकता है।

---

[1] J. R. Hicks : *The Theory of Wages*, p. 16 (foot-note).

उत्पत्ति-साधनों के स्वामियों को उत्पत्ति के साधनों के उपयोग की अनुमति देने के लिए मौद्रिक भुगतान करने पड़ते हैं। एक ऐसे भुगतान को साधन की पूर्ति-कीमत कहा जा सकता है। पारिभाषिक भाषा में किसी साधन की पूर्ति-कीमत वह न्यूनतम् कीमत है, जो साधन को आवश्यक मात्रा में प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है। चूंकि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को अनेक उपयोग में लाया जा सकता है, इसलिए उसका स्वामी साधन के विभिन्न उपयोगों से प्राप्त होने वाले पारितोषणों की तुलना करता है और साधन को उस उपयोग में लगाता है जिससे उसे अधिकतम् पारितोषण मिलता है। इस प्रकार, साधन की पूर्ति-कीमत रोजगार के उन विभिन्न वैकल्पिक अवसरों पर (जिनमें साधन की पूर्ति बिल्कुल भी न करने का विकल्प भी सम्मिलित है) निर्भर होती है, जो साधन विशेष को प्राप्त हैं। किन्तु साम्य की दशा में किसी भी साधन की कीमत उसकी पूर्ति उपलब्ध करने की सीमान्त अनुपयोगिता के बराबर अवश्य होनी चाहिए।

मांग सम्बन्धी नियम—

यह पहले बताया जा चुका है कि उत्पत्ति के किसी भी साधन की मांग व्युत्पादित (derived) होती है, क्योंकि एक उत्पत्ति-साधन स्वयं अपने लिए नहीं मांगा जाता वरन् इसलिए मांगा जाता है कि उसकी सहायता से वस्तुएं और सेवाएं उत्पन्न की जा सकती हैं। इस कारण, किसी भी साधन की मांग-कीमत इसकी उत्पादकता (अथवा अधिक निश्चित भाषा में सीमान्त उत्पादकता) पर निर्भर होती है। हम पहले ही देख चुके हैं कि किसी भी साधन की सीमान्त उत्पादकता कुल उपज की वह वृद्धि होती है जो उस साधन की मात्रा में एक इकाई की वृद्धि करने से, जबकि अन्य साधकों की मात्रा यथास्थित रहे, उत्पन्न होती है। कोई भी सेवायोजक किसी भी साधन की और अधिक इकाइयाँ उस समय तक उपयोग करता है जब तक कि उसके लिए साधन की सीमान्त उत्पादकता साधन के व्यय से भी अधिक रहे। जिस बिन्दु पर सीमान्त उपज साधन की कीमत के बराबर होती है, वही कुल उपज की अधिकतम् मात्रा को निश्चित करता है। किसी भी दशा में सेवायोजक साधन के लिये उसकी सीमान्त उपज की कीमत से ऊँची-कीमत नहीं देगा।

साधन की साम्य कीमत—

वितरण की मांग और पूर्ति सिद्धान्त यह बताता है कि एक उत्पादक सेवा की कीमत (पारितोषण), पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, एक ओर तो उसकी सीमान्त उत्पादकता पर और दूसरी ओर साधन की पूर्ति उपलब्ध करने के हस्तान्तरण व्यय पर निर्भर होती है। साम्य की दशाओं के अन्तर्गत, साधन की कीमत उस बिन्दु पर निश्चित होती है जिस पर साधन की सीमान्त उत्पादकता उसके हस्तान्तरण व्यय के बराबर होती है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की भाँति वितरण का मांग और पूर्ति सिद्धान्त भी अनेक मान्यताओं पर आधारित है। तीन प्रमुख मान्यताएं निम्न प्रकार हैं —(१) उत्पत्ति के साधन की सभी इकाइयाँ अनुरूप (homogeneous) और एक दूसरी की पूर्ण स्थानापन्न (perfect substitute) होनी चाहिए। (२) उत्पत्ति का प्रत्येक साधन पूर्णतया विभाजीय (divisible) होना चाहिए, ताकि उसकी बहुत छोटी छोटी इकाइयों का उपयोग किया जा सके। (३) परिवर्तनशील अनुपातों का नियम (law of variable proportions) सामान्यरूप से कार्यशील होना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न :

१ "व्यावसायिक बोलचाल में उपभोक्ता का वस्तुओं को थोक और फुटकर वितरण ही वितरण कहलाता है, परन्तु आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार वितरण एक दूसरा ही अर्थ रखता है।" विवेचना कीजिए।

२. किसी साधन का मूल्य एक ओर तो उसकी सीमान्त उत्पादकता और दूसरी ओर साधक के त्याग द्वारा निर्धारित होता है, इस सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

३. नोट लिखिए—व्यक्तिगत वितरण और कार्यात्मक वितरण।

४. सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त को बतलाइये और समझाइये।

५. "वितरण', की परिभाषा दीजिए। "राष्ट्रीय आय के न्यायोचित वितरण की समस्या सामाजिक न्याय की समस्या है"—व्याख्या कीजिए तथा बतलाइये कि क्या भारत में योजनाओं के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में हुई वृद्धि का न्यायोचित वितरण हुआ है? स्थिति के सुधार हेतु उपाय समझाइये।

———

२

लगान और इसके सिद्धान्त

(Rent and Theories of Rent)

प्रारम्भिक—

साधारण बोल-चाल में लगान का लगभग वही अर्थ होता है जो किराये का होता है। किसी दूसरे की वस्तु को उपयोग करने के लिए जो भाड़ा या किराया दिया होता है उसे ही हम साधारण बोल-चाल में लगान कहते हैं। एक किसान जब जमींदार से खेती करने के लिए जमीन लेता है, तो उस जमीन के उपयोग के लिए वह जो कुछ दे, उसे जमीन का लगान कहते हैं। इसी प्रकार, हम किराये के मकान में रहते हैं, तो मकान के मालिक को किराये के रूप में जो रकम दी जाती है, उसे भी बहुधा लगान ही कहा जाता है।

'लगान' से आशय

परन्तु अर्थशास्त्र में इस शब्द का अर्थ साधारण बोल-चाल से थोड़ा भिन्न होता है। यहाँ लगान से हमारा अभिप्राय उस पारितोषण अथवा बदले से है जो भूमि के स्वामी को उन सेवाओं के बदले में, जो भूमि उत्पत्ति में उपस्थित करती है, मिलता है। सीनियर के अनुसार, लगान वह "अतिरिक्त उपज है जो किसी प्राकृतिक साधन के उपयोग से उत्पन्न होती है।" ठीक इसी प्रकार, मार्शल ने लगान को "प्रकृति के स्वतन्त्र उपहारों से प्राप्त आय" कहा है।

आधुनिक अर्थशास्त्री लगान के विचार को और आगे बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक साधन में भूमि-पक्ष (Land-aspect) होता है और उपयुक्त दशाओं में प्रत्येक साधन लगान प्राप्त कर सकता है। केरनक्रास का विचार है कि भूमि की पूर्ति-कीमत शून्य' होती है, क्योंकि भूमि का कोई वैकल्पिक उपयोग नहीं होता। 'इस प्रकार आर्थिक अर्थ में भूमि की समस्त कमाई, इसकी 'पूर्ति कीमत' पर आधिक्य के रूप में होता है हस्तान्तरण व्यय अथवा पूर्ति कीमत पर कमाई का जो आधिक्य हो, वह लगान कहलाता है।"[1] बोल्डिंग के अनुसार; "आर्थिक लगान वह भुगतान है जो कि एक साम्यावस्था वाले उद्योग में किसी उत्पत्ति-साधन को उस भुगतान के अतिरिक्त, जो साधन को इसके वर्तमान उपयोग में बनाये रखने के लिए आवश्यक है, मिलता है।"[2] ठीक ऐसा ही विचार जॉन रोबिन्सन का है, "लगान के विचार का सार एक ऐसे आधिक्य

---

[1] "The entire earnings of land, in the economic sense, therefore, form a surplus above its supply price ... and excess of earnings over transfer cost or supply price is called rent"—Cairncross *Introduction to Economics*, p 296

[2] "Economic rent may be defined as any payment to a factor of production, in an industry in equilibrium, which is in excess on the minimum amount necessary to keep that factor in its present occupation"—Boulding : *Economic Analysis*, pp 211-12.

की कल्पना है जो एक उत्पत्ति-साधन के एक विशेष भाग को उस न्यूनतम भुगतान के अतिरिक्त, जो उसे कार्य करने हेतु प्रेरित करने के लिए देना आवश्यक है, मिलता है।"[1]

सकल और शुद्ध लगान

लगान का वर्गीकरण साधारणतया निम्न प्रकार से किया जाता है—सकल लगान (Gross Rent) और शुद्ध या आर्थिक लगान (Net, Pure or Economic Rent)।

सकल लगान—

सकल लगान का ठीक वही अर्थ है जो कि लगान शब्द का साधारण बोल-चाल में होता है। एक किसान जो लगान देता है वह सकल लगान ही होता है। इस प्रकार के लगान में निम्न प्रकार के तत्व सम्मिलित होते हैं—(i) भूमि के उपयोग के लिए दी जाने वाली राशि, (ii) उस राशि का ब्याज जो भूमि की उन्नति अथवा सुधार पर व्यय की गई है, (iii) भूमिपति का देख-रेख के लिए पारिश्रमिक, और (iv) भूमिपति को उस खतरे या जोखिम के उठाने के कारण, जो भूमि की उन्नति करते समय उपस्थित होती है, मिलने वाला मुआविजा।

आर्थिक लगान—

उक्त चारों में से केवल पहली राशि ही आर्थिक लगान में सम्मिलित होती है। इस प्रकार, आर्थिक लगान सकल लगान का ही एक भाग होता है अथवा हम यह कह सकते हैं कि सकल लगान में आर्थिक लगान के अतिरिक्त और अन्य तत्व भी सम्मिलित होते हैं। अभिप्राय यह है कि सकल लगान की मात्रा शुद्ध या आर्थिक लगान से अधिक होती है।

ठेका लगान—

ठेका लगान (Contract Rent) और आर्थिक लगान में भी भेद है। ठेके के लगान से हमारा अभिप्राय उस लगान से होता है जो दो पक्षों के बीच वायदे के रूप में निश्चित होता है। जब कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को अपनी कोई वस्तु किराये पर उपयोग के लिए देता है, तो साथ में यह भी तय कर लेता है कि वह किराया अथवा लगान किस हिसाब से लेगा। इस प्रकार से तय किया हुआ लगान 'ठेके का लगान'—कहलाता है। इसमें निम्न विशेषताएँ होती हैं—प्रथम, इसकी दर दोनों पक्षों की सौदा करने की शक्ति पर निर्भर होती है। दूसरे, इसमें निश्चित करने में वस्तु विशेष की माँग और पूर्ति का वही महत्त्व होता है जो किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण में होता है। यदि पूर्ति माँग से अधिक है तो लगान की दर बहुत नीची हो सकती है और विपरीत दशा में, वह बहुत ऊँची होगी। तीसरे, इस प्रकार के लगान का आर्थिक लगान से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु मूल्य या कीमत से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।

लगान के सिद्धान्त

लगान की विवेचना अर्थशास्त्र में सर्वप्रथम प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों ने की थी। इनका विचार था कि सब उद्योगों में केवल कृषि ही एक उत्पादक व्यवसाय है। कृषि पर प्रकृति की विशेष कृपा है। निर्माण, व्यापार तथा अन्य उद्योगों में लगे हुए मनुष्य जो उत्पादन करते हैं उनका मूल्य केवल उस व्यय के बराबर होता है जो उत्पादन के अन्तर्गत किया जाता है, अर्थात्, इन उद्योगों में लगे हुए उत्पत्ति-साधन केवल अपने व्यय के बराबर मूल्य का ही निर्माण करते हैं, अधिक नहीं।

[1] "The essence of the conception of rent is the conception of a surplus earned by a particular part of a factor of production over and above the minimum earnings necessary to induce it to do its work."—Joan Robinson: *Economics of Imperfect Competition*, p. 102.

परन्तु कृषि उद्योग मे मनुष्य को प्रकृति का भी सहयोग प्राप्त होता है, जिसके फलस्वरूप इसमे उपज का मूल्य उपयोग किये हुए साधनो के मूल्य से अधिक होता है। यह आधिक्य प्रकृति का उपहार स्वरूप होता है। किसी आधिक्य या अतिरेक को हम लगान कहते हैं। इस प्रकार उनका मत था कि लगान एक प्रकार का आधिक्य है, जो मनुष्य को प्रकृति की विशेष कृपा के कारण प्राप्त होता है। यह उसी दशा मे प्राप्त होता है जब प्रकृति, जो स्वभाव से ही उदार है, मनुष्य के कार्य में सहायक होती है।

संक्षेप मे, लगान प्रकृति की विशेष देन है, जो भूमि के उपयोग से प्राप्त होती है। भूमिपति को कुल उपज मे जो हिस्सा मिलता है वह इसी आधिक्य के बराबर होता है। इन अर्थशास्त्रियों का विचार था कि देश की सरकार को कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कर का बोझ केवल इसी आधिक्य पर पडे, इसलिए कर सदा भूमिपतियों पर ही लगने चाहिए, अन्य किसी वर्ग पर नही।

रिकार्डो का लगान सिद्धान्त

(The Ricardian Theory of Rent)

लगान क्यों उदय होता है ?

रिकार्डो प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियो के इस मत से पूर्णतया सहमत थे कि लगान एक प्रकार का आधिक्य है। परन्तु उनके विचार म लगान का मूल कारण दूसरा ही था। उनका कथन है कि प्रकृति उदार नहीं है। वह बडी कृपण है और मनुष्य के साथ सौतेली माँ का-सा व्यवहार करती है। प्रकृति का स्वाभाविक गुण सकीर्णता (Limitedness) है। भूमि, जो रिकार्डो के अनुसार प्रकृति का बिना मूल्य का उपहार है, स्वभाव से ही मात्रा और गुणो मे सीमित है। लगान की समस्या इसी सीमितता के कारण उत्पन्न होती है। भूमि की उर्वरता तथा अन्य गुणों मे अन्तर होता है। अधिक उपजाऊ खेतो की मात्रा के सीमित होने के कारण मनुष्य को कम उपजाऊ भूमि पर खेती करने के लिए बाध्य होना पडता है। फलत. अधिक उपजाऊ खेतो पर एक प्रकार का अधिक्य दृष्टिगोचर होता है, जिसे हम उन खेतो का लगान कह सकते हैं। इस प्रकार लगान प्रकृति की उदारता के कारण नही, बल्कि उसकी कृपणता अथवा सकीर्णता के कारण उत्पन्न होता है।

लगान क्या है ?

रिकार्डो ने लगान की परिभाषा इस प्रकार की है, 'लगान भूमि की उपज का वह भाग है जो भूमि की मूल और अविनाशी शक्तियो के उपयोग के लिए भूमि के स्वामी को दिया जाता है।"[1] आगे चलकर वे लिखते हैं—"बहुधा लगान पूँजी के ब्याज के अर्थ मे समझा जाता है और साधारण भाषा मे यह शब्द उन वस्तुओं के अर्थ मे उपयोग किया जाता है जो किसान अपनी भूमि के स्वामी को देता है।" आर्थिक लगान उत्पादन व्यय के ऊपर एक अधिक्य है जो इस कारण उत्पन्न होता है कि खेत के एक टुकडे को सीमान्त खेत पर कुछ विशेषक लाभ (Differential Advantages) प्राप्त होते हैं। कुल उपज म से खेती करने की लागत (अर्थात् श्रम, पूँजी और साहस के पारितोषण) को निकाल देने के पश्चात् जो शुद्ध आधिक्य बचे वही लगान होती है।

इस प्रकार, लगान उपज का वह भाग है जो इस प्रकार के मूल और अविनाशी साधन के स्वामी को मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लगान को हम "पारितोषण" नही कह

---

[1] "Rent is that portion of the porduce of earth which is paid to the landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil."—David Ricardo : *Principles of Political Economy and Taxation*

सकते, क्योंकि भूमि के स्वामी को किसी प्रकार का त्याग नहीं करना पड़ता है। यदि भूमि के एक टुकड़े को खेती करने योग्य बनाने में समय और शक्ति का व्यय होता है, तो उसके स्वामी को जो कुछ मिलेगा उसका एक अंश वेतन अथवा मजदूरी होगा और शेष लगान। अतः सच्चे अर्थ में लगान किसी प्रकार के त्याग का पारितोषण नहीं हो सकता।

(अ) लगान कैसे नापा जाता है ? (विस्तृत खेती)—लगान के निर्धारण तथा उसकी माप के हेतु रिकार्डो एक ऐसे नये उपनिवेश का उदाहरण लेते हैं जिसमें नई आबादी आरम्भ होती है। मान लीजिए कि बसने वालों का पहला जत्था इस उपनिवेश में जाकर बसता है और वहाँ खेती का कार्य आरम्भ करता है। स्वभाव से ही प्रत्येक मनुष्य कम से कम कष्ट उठाकर तथा कम से कम परिश्रम करके अधिक से अधिक लाभ उठाने तथा अधिक से अधिक उत्पत्ति करने का प्रयत्न करता है, इसलिए इस जत्थे के लोग सर्वप्रथम ऐसी भूमि पर खेती आरम्भ करेंगे जो सबसे अधिक उपजाऊ हो, ताकि थोड़े ही परिश्रम से पर्याप्त उपज प्राप्त की जा सके। सुविधा के लिए सबसे अधिक उपजाऊ भूमि को हम प्रथम श्रेणी की भूमि का नाम दे सकते हैं। मान लीजिए कि इस प्रकार की भूमि के एक एकड़ के टुकड़े पर ५० क्विन्टल गेहूँ उपजाया जा सकता है।

अब यदि उपनिवेश की जनसंख्या बढ़े और बाहर से बसने वालों के नये जत्थे आकर बसने लगें, तो धीरे-धीरे प्रथम श्रेणी की भूमि में शेष टुकड़ों पर भी खेती होने लगेगी। यदि जन-संख्या के बढ़ने का यह क्रम अधिक समय तक चलता रहे, तो अन्त में प्रथम श्रेणी की भूमि के सब टुकड़े समाप्त हो जायेंगे क्योंकि इस प्रकार की भूमि की मात्रा प्राकृतिक कारणों से सीमित है। स्मरण रहे कि अभी तक लगान का प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि भूमि के जिन टुकड़ों पर खेती की जाती है उन सबका उपजाऊपन समान है और किसी एक टुकड़े को दूसरे पर कोई भी विशेषक लाभ प्राप्त नहीं है।

परन्तु यदि जन-संख्या इतनी बढ़ जाती है कि प्रथम श्रेणी की भूमि की उपज उसके लिए पर्याप्त नहीं है, तो अन्त में उससे नीची अथवा उससे कम उपजाऊ भूमि पर भी खेती होने लगेगी। इस प्रकार की भूमि को हम दूसरी श्रेणी की भूमि कह सकते हैं। इस भूमि के एक टुकड़े पर हमारी मान्यता के अनुसार प्रथम श्रेणी की भूमि के एक एकड़ के टुकड़े से कम उपज होगी। मान लीजिए कि दूसरी श्रेणी की एक एकड़ भूमि से ४० क्विन्टल गेहूँ की उपज प्राप्त होती है। इस दशा में, दो प्रकार के खेतों पर खेती हो रही है, जिनमें से एक को दूसरे पर उर्वरता का विशेषक लाभ प्राप्त है। अतः प्रथम श्रेणी की भूमि के प्रत्येक टुकड़े पर दूसरी श्रेणी की भूमि के टुकड़े की अपेक्षा एक आधिक्य या अतिरेक दृष्टिगोचर होगा, जिसे हम प्रथम श्रेणी के टुकड़े का लगान कह सकते हैं। हमारे उदाहरण के अनुसार, प्रथम श्रेणी के एक एकड़ टुकड़े का लगान ५०—४०=१० क्विन्टल गेहूँ होगा।

यदि जन-संख्या आगे भी बराबर बढ़ती रहे और बसने वालों के नये जत्थे उपनिवेश में आकर बसते जायें तो कुछ समय पश्चात् दूसरी श्रेणी की भूमि भी समाप्त हो जायगी। तब यदि उपज की मात्रा कुल आबादी के लिए पर्याप्त न हो तो उससे भी कम उपजाऊ भूमि पर खेती की जायगी। इस प्रकार की भूमि को हम तीसरी श्रेणी की भूमि कह सकते हैं। मान लीजिये कि इसके एक एकड़ के टुकड़े पर ३० क्विन्टल गेहूँ की उपज होती है। इस दशा में दूसरी श्रेणी की भूमि के प्रत्येक टुकड़े को भी विशेषक लाभ प्राप्त हो जायेंगे और उस पर भी आधिक्य दृष्टिगोचर होगा। ऊपर के उदाहरण के अनुसार दूसरी श्रेणी के एक एकड़ के टुकड़े का लगान ४०—३०=१० क्विन्टल होगा। साथ ही प्रथम श्रेणी के एक एकड़ का लगान बढ़कर

५० — ३० = २० क्विन्टल हो जायगा। स्मरण रहे कि रिकार्डो के अनुसार तीसरी श्रेणी की भूमि पर कोई लगान नही होगा। जिस भूमि पर खेती रुक जाती है (अर्थात् खेती की जाने वाली अन्तिम श्रेणी की भूमि), उसे हम सीमान्त भूमि (Marginal Land) कहते हैं और सीमान्त भूमि लगान रहित भूमि (No-rent Land) होती है क्योंकि इस भूमि को विशेषक लाभ प्राप्त नही होते।

इसी प्रकार यदि चौथी श्रेणी की भूमि पर भी खेती करने की आवश्यकता पड़े, तो चौथी भूमि सीमान्त भूमि हो जायगी और उस पर लगान नही होगा, जब कि तीसरी श्रेणी की भूमि पर लगान उत्पन्न हो जायगा और पहली और दूसरी श्रेणी की भूमि पर लगान की मात्रा बढ़ जायगी। यदि चौथी श्रेणी की भूमि के एक एकड़ पर १० क्विन्टल गेहूँ पैदा होता है, तो तीसरी श्रेणी के एक एकड़ का लगान ३० —२० = १० क्विन्टल होगा दूसरी श्रेणी के एकड़ का लगान ४० — २० = २० क्विन्टल और प्रथम श्रेणी के एक एकड़ का लगान ५० — २० = ३० क्विन्टल होगा।
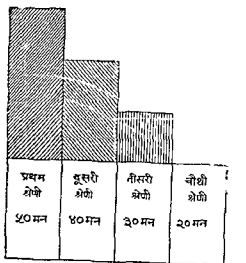
इस प्रकार, किसी भूमि विशेष का लगान उसकी उपज में से सीमान्त भूमि की उपज को घटाकर ज्ञात किया जा सकता है। अग्रिम चित्र से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। इस चित्र में चारों प्रकार की भूमि के एक-एक एकड़ की उपज दिखाई गई है और प्रत्येक का अलग-अलग लगान भी।

इस चित्र में प्रत्येक प्रकार के खेत का लगान रेखाङ्कित क्षेत्रफल द्वारा सूचित होता है। चौथा खेत सीमान्त खेत है और उस पर कुछ भी लगान नही है। सीमान्त खेत की उपज से अधिक किसी खेत पर जितनी उपज होती है वही उस खेत का लगान कहलाती है।

लगान की मुद्रा में माप—ऊपर के उदाहरण में हमने लगान की माप उपज में की थी, परन्तु लगान की माप बहुधा मुद्रा में की जाती है। मुद्रा में माप करते समय कोई विशेष समस्या उत्पन्न नही होती। मुद्रा में लगान की माप खेत से प्राप्त होने वाली उपज के मूल्य तथा उत्पादन व्यय के अन्तर के बराबर होती है। ऊपर के उदाहरण में, मान लीजिए कि एक एकड़ भूमि पर खेती करने की कुल लागत ३०० रुपया है, जिसका अर्थ यह होगा कि किसी भी खेत पर केवल उसी दशा में खेती की जायगी जबकि उसके मिलने वाली उपज के मूल्य के फलस्वरूप कम से कम ३०० रुपये प्राप्त हो सकें। यदि खेती करने की लागत भी वसूल नही होगी, तो खेती की ही नही जायगी।

पहली दशा में जब केवल प्रथम श्रेणी की भूमि पर खेती होती है, तो एक एकड़ भूमि की उपज (अर्थात ५० क्विन्टल गेहूँ) का ३०० रुपये में बिकना आवश्यक है। उस दशा में गेहूँ का दाम ६ रुपया प्रति क्विन्टल होगा। अब यदि जन-संख्या बढ़ती है तो निश्चय ही गेहूँ की माँग भी बढ़ेगी और गेहूँ के दाम ऊपर चढ़ जायेंगे। दूसरी श्रेणी की भूमि पर उस समय तक

खेती नहीं की जायगी जब तक उसकी उपज के मूल्य के रूप में ३०० रुपये वसूल नहीं होंगे। इस प्रकार, दूसरी श्रेणी के खेत पर तभी खेती होगी जब गेहूँ का दाम ३००÷४०=७.५० रु० प्रति क्विन्टल हो जायगा। ऐसी दशा में प्रथम श्रेणी की एक एकड़ भूमि की उपज ३७५ रुपये में बिकेगी और इस प्रकार उस पर ३७५—३००=७५ रुपया लगान होगा।

तीसरी श्रेणी के खेतों पर खेती तभी होगी, जब गेहूँ के दाम इतने बढ़ें जायें कि उसकी उपज (अर्थात् ३० क्विन्टल गेहूँ) ३०० रु० में बिक सके, क्योंकि एक एकड़ भूमि से खेती करने के व्यय का वसूल होना आवश्यक है। मान लीजिये कि दाम १० रुपये प्रति क्विन्टल हो जाते हैं। ऐसी दशा में दूसरी श्रेणी के खेत पर लगान उदय हो जायेगा, जिसकी माप ४०×१०—३००=१०० रुपया होगी। पहले खेत का लगान बढ़कर ५०×१०—३००=२०० रुपया हो जायगा। इसी प्रकार, चौथे खेत पर खेती होने के लिए दामों का (३००÷२०)=१५ रुपया प्रति क्विन्टल होना जरूरी है। ऐसी दशा में तीसरी खेती पर भी लगान होगा, जिसकी मुद्रा में माप ३०×१५—३०० =१५० रुपया होगी। दूसरे खेत पर ४०×१५—३००=३०० रुपया और पहले खेत पर ५० ×१५—३००=४५० रुपया लगान होगा। यही लगान को मुद्रा में नापने की रीति है।

(ब) स्थिति और लगान—कुछ लोगों ने रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त की इस दृष्टि से आलोचना की है कि रिकार्डो ने उपनिवेश में खेती करने का जो क्रम बताया है वह सही नहीं है। उनका कहना है कि सर्वप्रथम सबसे अधिक उपजाऊ भूमि पर खेती नहीं की जाती, वरन् मनुष्य की आबादी या बस्ती के आस-पास की भूमि पर पहले खेती होती है और जैसे-जैसे कृषि की उपज की माँग बढ़ती जाती है, बस्ती से दूर और अधिक दूर की भूमि पर भी होने लगती है। तात्पर्य यह है कि कृषि का क्रम उपजाऊपन द्वारा निश्चित नहीं होता, है। वरन् स्थिति या मानव आबादी की समीपता द्वारा निश्चित होता है। इस प्रकार भूमि के किसी टुकड़े को, जो विशेषक लाभ प्राप्त होता है उसका कारण उसकी लाभपूर्ण स्थिति (अर्थात् बाजार की निकटता) है और यही कारण लगान को उत्पन्न करता है।

इस विषय में रिकार्डो की जो आलोचना की गई है वह एक प्रकार से अज्ञानता पर आधारित है। यद्यपि रिकार्डो ने उपजाऊपन पर जोर दिया है, परन्तु वह स्थिति के महत्व को समझते थे। रिकार्डो ने लिखा है—"सबसे अधिक उपजाऊ तथा सबसे अधिक लाभपूर्ण स्थिति वाले खेतों पर ही सबसे पहले खेती होगी। यदि सभी खेत समान रूप से उपजाऊ हों, तो लगान न होगा, जब तक कि किसी खेत की स्थिति का लाभ प्राप्त न हो।" इस प्रकार, रिकार्डो के अनुसार विशेषक लाभ उर्वरता तथा स्थिति दोनों ही कारणों से उत्पन्न हो सकता है।

जो खेत बाजार या मण्डी से अधिक निकट होते हैं उन पर समान उर्वरता वाले ऐसे खेतों की अपेक्षा जो बाजार से दूर हैं, उत्पादन तथा अन्य व्यय कम होते हैं। कारण, दूर के खेतों तक हल, बैल, औजार, श्रमिक आदि लाने और ले जाने का व्यय अधिक होता है। साथ ही, वहाँ से उपज को मण्डी में लाने का यातायात व्यय भी अधिक होता है, अतः निकट के खेतों को आधिक्य प्राप्त होता है और उन पर लगान होता है। उदाहरणस्वरूप यदि एक एकड़ दूरी की भूमि पर कुल व्यय ३४५) रुपये पड़ता है, जबकि निकट की भूमि पर केवल ३००) रुपये, तो निकट की भूमि का लगान ४५) रुपये होगा, क्योंकि इतना ही इस भूमि को व्यय में विशेषक लाभ (Differential gain) प्राप्त है।

(स) गहन खेती और लगान—रिकार्डो का उपरोक्त उदाहरण विस्तृत खेती (Extensivle Cultivation) से सम्बन्धित है। किन्तु, जैसा कि सभी जानते हैं, खेती गहन (Intensive) भी हो सकती है। विस्तृत खेती में तो अधिक उपज उत्पन्न करने के लिए और अधिक भूमि पर खेती

की जाती है, अर्थात् खेती की सीमा को बढाया जाता है। परन्तु गहन खेती मे, भूमि के टुकड़े पर और अधिक श्रम और पूँजी को मात्राएँ (Doses) लगाकर अधिक उपज प्राप्त की जाती है। उत्पत्ति ह्रास नियम मे हम यह देख चुके है कि दीर्घकाल मे श्रम और पूँजी की अगली मात्राओ के फलस्वरूप निरन्तर क्रमशः घटती हुई उपज प्राप्त होती है। इसका अर्थ यह होता है कि श्रम और पूँजी का पहली मात्राओ पर एक प्रकार का आधिक्य दृष्टिगोचर होने लगता है, जिसे हम रिकार्डो के विचार मे थोडा विस्तार करके "श्रम और पूँजी की पहली मात्राओं का लगान" कह सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि श्रम और पूंजी की पहली मात्रा से ५० इकाई उपज मिलती है और दूसरी से केवल ४०, तो पहली मात्रा के लगान की माप १० इकाई उपज होगी।

चित्र—गहरी खेती मे लगान
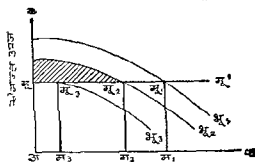
मान लीजिए कि त, थ, द, भूमि की तीन श्रेणियाँ घटती हुई उर्वरता के क्रम मे है। भू1, भू2, एवं भू3 इन भूमियो की श्रम एव पूँजी की इकाइयों की 'सीमान्त आगम उपज' हैं। मू, मू' श्रम और पूँजी की प्रति इकाई कीमत है। उपरोक्त चित्र से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक भूमि पर एक 'सीमान्त इकाई' (marginal dose) है, जहाँ उत्पादन-लागत उपज के बिक्री धन के बराबर होती है। एस बिन्दु भू1 और भू2 पर क्रमश. मू1 और मू2 है। समस्त पूर्व-इकाइयाँ अधि सीमान्त (Intra-marginal) है तथा लगान पाती है। अब हम भूमि की विभिन्न श्रेणियो की उपज की तुलना कर सकते हैं। अन्तिम भूमि अर्थात् भू3 पर उत्पादन-लागत विक्रय धन के बराबर होती है, यह सीमान्त भूमि है। इस पर श्रम व पूंजी की केवल एक इकाई प्रयोग की गई है। चूँकि इसी इकाई पर लागतें विक्रय धन के बराबर हो जाती हैं, इसलिए कृषि आगे नहीं बढ़ाई जाती है। किन्तु अन्य दो भूमियाँ श्रेष्ठ है और इसलिए श्रम एव भूमि की समान इकाइयाँ (similar doses) उन पर लगान उत्पन्न करती हैं, जिसे रेखांकित भाग द्वारा सूचित किया गया है।

ह्रास नियम और लगान—

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त उत्पत्ति के ह्रास नियम पर आधारित है। चाहे हम विस्तृत खेती को लें या गहन खेती, प्रत्येक दशा मे दीर्घकाल में उत्पत्ति ह्रास नियम अवश्य ही लागू होता है। इसी नियम के कारण आरम्भ मे खेती का गई भूमि अथवा आरम्भ मे उपयोग की हुई श्रम और पूँजी की मात्राओं पर एक "आधिक्य" (Surplus) दिखाई पड़ता है, जिसे रिकार्डो ने लगान का नाम दिया है।

लगान और मूल्य (Rent and Price)—

अपने लगान के सिद्धान्त के आधार पर रिकार्डो अन्त मे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लगान कीमत मे सम्मिलित नहीं होता, अर्थात् मूल्य के निर्धारण मे लगान का कुछ भी हाथ नहीं होता। मूल्य या कीमत जिन कारणों अथवा तथ्यों से नियत होती है वे लगान के प्रभाव से पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं। मूल्य सीमान्त भूमि की उपज तथा उत्पादन व्यय द्वारा निश्चित होता है। यदि उत्पादन व्यय २०० रुपया है और सीमान्त भूमि की उपज २० क्विन्टल है, तो मूल्य १५ रुपया प्रति क्विन्टल होगा। सीमान्त भूमि "लगान रहित भूमि (No Rent land) होती है और

परिभाषाओं के सम्बन्ध मे एक और भी कठिनाई है जो यह कि आधुनिक अर्थशास्त्री भूमि को उत्पत्ति-साधन मानने को ही तैयार नही हैं।

योग्यता का लगान (Rent of Ability)—

रिकार्डो के अनुसार लगान एक आधिक्य है। परन्तु, यदि लगान आधिक्य है तो क्या हम हर प्रकार के आधिक्य को लगान कह सकते हैं? रिकार्डो ने प्रकृति के बिना मूल्य या स्वतन्त्र उपहारो को भूमि कहा है, चाहे ये उपहार किसी भी रूप म विद्यमान हो और इन्ही उपहारों को लगान मिलता है। प्रकृति के स्वतन्त्र उपहारो मे, अर्थ को थोडा विस्तृत करके, हम मनुष्य या कम से कम मनुष्य के एक पक्ष (Aspect) को भी सम्मिलित कर सकते हैं। जब वाकर ने योग्यता के लगान का उल्लेख किया तो निस्सन्देह उनके मन मे यही विचार था। यह निश्चय है कि यदि हम योग्यता को भूमि नही मानते, तो योग्यता के लगान का प्रश्न ही नही उठता। इससे शायद हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक प्रकार के आधिक्य को लगान कहा जा सकता है।

[मार्शल ने भूमि के लगान के अतिरिक्त और भी दो प्रकार के लगान का उल्लेख किया है। एक तो, योग्यता लगान और दूसरा आभास लगान (Quasi-rent)। आरम्भ मे तो मार्शल ने उपभोक्ता की बचत को भी "उपभोक्ता का लगान' ही कहा था।]

एक उत्पादक की आय अन्य बातो के अतिरिक्त उसकी कार्य-कुशलता पर भी निर्भर होती है। यह कार्य-कुशलता मार्शल के अनुसार अनेक बातो पर आधारित होती है, जैसे—संयोग अवसर, अच्छा आरम्भ, विशेष प्रशिक्षण, कड़ा परिश्रम और दुर्लभ प्राकृतिक गुण। उत्पादक की आय के विभिन्न अश इनमे से किसी न किसी कारण के साथ सम्बन्धित किये जा सकते है, किन्तु कुछ ऐसी भी दशाएँ हो सकती है जहाँ इस आय का अधिकाश भाग विशेष योग्यता के कारण उत्पन्न होता हो। मनुष्य की आय का केवल वही भाग जो उस मनुष्य को प्राप्त प्राकृतिक गुणों के कारण उत्पन्न होता है, **"योग्यता का लगान"** कहलाता है। प्रशिक्षण अथवा ट्रेनिंग के द्वारा जो भी योग्यता प्राप्त की जाती है उसे हम प्रकृति का बिना मूल्य का उपहार नही कह सकते, क्योकि उस पर तो मनुष्य को व्यय करना पडता है। इस प्रकार की योग्यता अधिक से अधिक एक प्रकार की पूँजी होती है। अतः मार्शल ने कहा है—"जो आय एक मनुष्य को उसकी दुर्लभ प्राकृतिक योग्यता के कारण प्राप्त होता है, योग्यता का लगान कहो जा सकती है।" यहाँ पर मार्शल ने दुर्लभता तथा प्राकृतिक दो बातो पर जोर दिया है। लगान सदा दुर्लभता अथवा सीमितता की दशा मे होता है। यदि कोई वस्तु अपरिमित मात्रा म उपलब्ध है, तो उस पर लगान नही होगा। साथ ही, योग्यता "प्राकृतिक" (Natural or Inborn) होनी चाहिए, क्योकि योग्यता प्राप्त (Acquired) भी की जा सकती है।

योग्यता-लगान के दो विशेष महत्त्व है—(१) यह विचार हमारा ध्यान इस सत्य की ओर आकर्षित करता है कि मनुष्य मे भी भूमि पक्ष" (Land aspect) होता है। इस प्रकार *केवल भूमिपति को ही लगान नहीं मिलता, वरन् एक व्यवसायी, श्रमिक अथवा साहसी को भी* आधिक्य प्राप्त हो सकता है। (२) इसी विचार की सहायता मे हम इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि कुछ व्यवसायो मे ऊँची आय होते हुए भी उत्पत्ति के साधनो का प्रवाह उधर क्यो नही होता। उत्तर यह है कि सम्भवतः इन व्यवसायो मे ऊँची आय का कारण योग्यता-लगान अधिक होता है और यथार्थ मे उत्पत्ति के साधनों का पारितोषण बहुत ही कम होता है।

रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त की आलोचनाएँ—

रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त की बड़ी कड़ी तथा विविध आलोचना हुई है। यथार्थ मे अर्थशास्त्र के इतिहास मे लगभग किसी भी लेखक और उसके सिद्धान्तों को इतनी कड़ी आलोचनाओं

सभी ने स्वीकार किया है।[1] रिकार्डो ने लगान को अनोपार्जित आय कहा है। यह सिद्धान्त समाजवादियों के लिए विशेष आकर्षण रखता है। जमींदारी उन्मूलन इसी सिद्धान्त का प्रत्यक्ष फल है। रिकार्डो ने लगान का कारण भूमि की परिमाणवाचक और गुणवाचक सीमितता बताया है। आधुनिक अर्थशास्त्री भी लगान को पूर्ति की लोचहीनता और साधनों की दुर्लभता से सबन्धित करते हैं। वास्तव में दोनों में कोई भी अन्तर नहीं है।

आधुनिक अर्थशास्त्र और रिकार्डो का सिद्धान्त—

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का रिकार्डो की भूमि सम्बन्धी परिभाषा तथा उसके विशेषक गुणों से भारी मतभेद है। उनका विचार है कि भूमि में भी कोई ऐसा गुण विद्यमान नहीं है, जो कि अन्य साधनों में न मिलता हो। अतः भूमि की विशेषता के आधार पर उसके पारितोषण (अर्थात् लगान) के लिए किसी अलग सिद्धान्त का बनाना उचित नहीं है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, भूमि के जो विशेष गुण रिकार्डो के अनुसार भूमि में पाये जाते हैं वे सभी साधनों में होते हैं और यदि इन गुणों के कारण भूमि पर लगान उत्पन्न होता है, तो सभी उत्पत्ति के साधनों पर लगान होना चाहिए।

(I) सर्वप्रथम, रिकार्डो की भूमि सम्बन्धी परिभाषा को ही लीजिए—रिकार्डो के अनुसार भूमि प्रकृति का बिना मूल्य का उपहार है, अर्थात् उसके लिये मनुष्य को कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता है। निस्सन्देह प्राकृतिक झरना, जङ्गलों में खड़े हुए पेड़, जङ्गली जानवर तथा इस प्रकार की दूसरी वस्तुयें मनुष्य के उद्योग के बिना ही इस संसार में हैं। परन्तु जब मनुष्य उन्हें उपभोग या उत्पत्ति के लिये उपयोग करता है, तो वे उसे बिना मूल्य के नहीं मिलतो हैं। झरने तक पहुँचने तथा उसको देखकर तृप्ति पाने में व्यय होता है। यदि और कुछ नहीं तो "अवसर व्यय" तो अवश्य ही होगा। जङ्गल के पेड़ का उपभोग करने अथवा उस उत्पत्ति के साधन के रूप में उपयोग करने में भी व्यय होता है और फिर क्या धूप, वर्षा इत्यादि हर समय तथा हर मनुष्य को बिना व्यय के मिलती है? क्या एक बन्द कैदी अथवा खान में काम करने वाले श्रमिक को इनके पाने के लिए व्यय नहीं करना पड़ता? क्या पनडुब्बी नाव के यात्रियों को हवा बिना मूल्य ही मिल जाती है? इन उदाहरणों से यह पता चलता है कि प्रकृति के उपहार सदा बिना मूल्य नहीं होते। वास्तविकता यह है कि बिना मूल्य के उपहार हैं ही नहीं और रिकार्डो के बताये हुये अर्थ में भूमि नाम की वस्तु का अस्तित्त्व ही नहीं है।

(II) अब रिकार्डो द्वारा बताये हुये भूमि के विशेष गुणों को लीजिए—रिकार्डो का विचार है कि चूंकि भूमि प्रकृति का उपहार है जबकि अन्य साधन मनुष्यकृत हैं, इसलिए भूमि में कुछ ऐसे विशेष गुण पाये जाते हैं जो अन्य साधनों में विद्यमान नहीं है। भूमि के इन्हीं विशेष गुणों के कारण रिकार्डो भूमि के पारितोषण के निर्धारण के लिए एक अलग सिद्धान्त बनाते हैं। रिकार्डो के अनुसार भूमि के भिन्नक गुण (Distinguishing features) निम्नलिखित हैं—

(१) भूमि की मात्रा का परिमाणात्मक दृष्टि से सीमित होना—जितनी भूमि की मात्रा प्रकृति ने दी है, उसे मनुष्य न तो कम कर सकता है और न बढ़ा ही सकता है। इसके विपरीत, उत्पत्ति के अन्य साधनों पर मनुष्य का एकाधिकार होता है, वह उनकी मात्रा को बढ़ा भी सकता है और घटा भी सकता है।

---

[1] "The classical theory of rent has by no means lost its vitality and instructiveness. The Ricardo—Marshall doctrine of rent at least brings out clearly certain points which are of great importance from the point of view of policy."

किन्तु यथार्थ में, सीमित होना केवल भूमि का ही गुण नहीं है, वरन् प्रत्येक साधन स्वभाव से ही सीमित मात्रा में मिलता है। उदाहरणार्थ, जीव-विज्ञान हमें बताता है कि सब प्रकार के श्रम की मात्रा भी निश्चित है और इसे मनुष्य द्वारा घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। जैसे-जैसे जन-संख्या बढ़ती रहती है, प्रति मनुष्य कार्य-शक्ति घटती जाती है और इस प्रकार कुल श्रम-शक्ति लगभग समान रहती है। मनुष्य इसमें कमी या वृद्धि नहीं कर सकता। इसी प्रकार, समय विशेष में साहस और पूँजी की मात्रा भी निश्चित होती है। साथ ही भूमि की मात्रा भी पूर्ण रूप से अपरिवर्तनीय नहीं होती। उदाहरणार्थ, हॉलैण्ड में समुद्र के पानी को निकाल कर भूमि (पृथ्वी) की मात्रा में वृद्धि कर ली गई थी। ठीक इसी प्रकार, एटम बम द्वारा एक द्वीप या भूमि के किसी भाग को उड़ाकर उसकी मात्रा में कमी भी की जा सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि इस दिशा में भूमि और अन्य साधनों में कोई भी अन्तर नहीं है। जब मकान की दूसरी मंजिल बनाई जाती है, तब भी एक प्रकार से भूमि की मात्रा में वृद्धि ही होती है।

(२) गुणात्मक दृष्टि से भूमि का सीमित होना—यदि उत्तम श्रेणी की भूमि पर्याप्त मात्रा में हो, तो लगान का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि यह गुण भी उत्पत्ति के सभी साधनों में विद्यमान है। निपुण अथवा दक्ष श्रम उतना ही सीमित है जितनी अच्छी भूमि। किसी विशेष प्रकार की पूँजी अथवा साहस भी असीमित मात्रा में नहीं मिलता। फिर भूमि और अन्य साधनों में क्या अन्तर है? यदि इन गुणों के कारण भूमि पर लगान होता है, तो श्रम, पूँजी आदि पर लगान क्यों नहीं होता? वास्तव में गहन खेती में हम देख चुके हैं कि श्रम और पूँजी पर भी लगान होता है तथा आभास-लगान तो श्रम और पूँजी पर उत्पन्न होता ही है।

इस प्रकार रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त सही नहीं है। वह वास्तव में लगान की व्याख्या नहीं करता। ब्रिग्स एवं जोर्डन के शब्दों में, 'मूलतया रिकार्डो का सिद्धान्त केवल इस सत्य को बताता है कि अच्छी वस्तु के दाम सदैव अधिक होंगे। अधिक उपजाऊ एक एकड़ का मूल्य कम उपजाऊ एकड़ से अवश्य ही अधिक होगा, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। यही बात मजदूरी के विषय में भी सत्य होगी।'[1] विक्सैल के शब्दों में, 'लगान और मजदूरी की सदा समानान्तर दशायें होती हैं। लगान को एक विशेष श्रेणी में रखने का कोई औचित्य नहीं है; भूमि के प्रत्येक एकड़ को ठीक उसी प्रकार समझना चाहिए जैसे कि एक श्रमिक को……….।'[2]

दुर्लभता लगान
(Scarcity Rent)

रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार लगान सीमान्त अथवा लगान रहित भूमि तथा भूमि विशेष की उपज के अन्तर के बराबर होता है। रिकार्डो का विचार है कि लगान रहित भूमि का वास्तविक अस्तित्व है। इस प्रकार का खेत या तो देश में ही विद्यमान होगा या किसी ऐसे विदेश में होगा जिससे देश का व्यापार होता है।

---

1 "All that Ricardian theory of rent amounts to is the truism that the better article will always command the higher price. A more fertile acre will be worth more than a less fertile one simply because they are different things. The same truism applies to wages."—Briggs and Jordan : *Text-book of Economics*, p. 565.

2 "In this way rent and wages are always parallel cases. There is no justification for placing rent in a special category : every acre of land should be treated at per with a labourer."—Wicksell : Lectures *Politcal Economy*, p. 132.

किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि कभी-कभी ऐसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जबकि देश में लगान रहित भूमि हो ही नहीं और सभी खेतों पर लगान हो। उदाहरणस्वरूप, हमने देखा था कि एक एकड़ भूमि पर खेती करने का व्यय ३०० रु० था और चौथी श्रेणी की भूमि के एक एकड़ के टुकड़े पर २० क्विन्टल उपज थी। यहाँ चौथी श्रेणी की भूमि लगान रहित भूमि थी, क्योंकि कीमत के १५ रुपया प्रति क्विन्टल होने के कारण इस भूमि की उपज को बेचकर केवल उत्पादन व्यय ही वसूल होता था। परन्तु यदि देश में किसी कारण गेहूँ की माँग बढ़ती है, जिसके कारण गेहूं का मूल्य बढ़कर १७) रुपये क्विन्टल हो जाता है, तो चौथी श्रेणी की भूमि पर भी उत्पादन व्यय के ऊपर एक आधिक्य दिखाई पड़ेगा, जिसे रिकार्डो के अनुसार उस भूमि का लगान कहना चाहिए। यदि चौथी श्रेणी से भी कम उपजाऊ भूमि देश में शेष है, तो उस पर भी खेती होने लगेगी और हो सकता है कि यही भूमि लगान रहित भूमि बन जाय। परन्तु यदि चौथी श्रेणी से कम उपजाऊ और भूमि है ही नहीं, तो उस दशा में कोई भी भूमि लगान रहित नहीं होगी। प्रत्येक प्रकार की भूमि पर यहाँ तक कि सीमान्त भूमि पर भी लगान होगा। इस प्रकार के लगान को हम 'दुर्लभता-लगान' कहते हैं।

स्मरण रहे कि चौथी श्रेणी की भूमि का कुल लगान इसी प्रकार का होगा। अन्य श्रेणियों की भूमि पर जो कुल लगान होगा उसका एक अंश तो आर्थिक लगान (उस खेत तथा सीमान्त खेत की उपज के अन्तर के बराबर) होगा और दूसरा अंश दुर्लभता लगान होगा। इस प्रकार का लगान लगान-रहित भूमि पर आधिक्य नहीं होता, क्योंकि लगान-रहित भूमि तो होती ही नहीं है। इसका मूल कारण दुर्लभता होती है। चूंकि भूमि दुर्लभ है और खेती करने के लिए पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है, इसीलिए इस प्रकार का लगान उत्पन्न होता है।

आभास-लगान
(Quasi-rent)

आभास-लगान का विचार अर्थशास्त्र को मार्शल की देन है। इस प्रकार का लगान वह आधिक्य होता है जो भूमि के अतिरिक्त अन्य उत्पत्ति साधनों को प्राप्त होता है। संकुचित अर्थ में, आभास-लगान मशीनों तथा इस प्रकार के दूसरे यन्त्रों की आय का अंश होता है। जब कुछ उत्पत्ति-साधनों की माँग अकस्मात् बढ़ जाती है, तो जो आय विशेष उन्हें माँग की आकस्मिक वृद्धि के कारण प्राप्त हो उसे ही "आभास-लगान" कहते हैं। थोड़े ही समय में साधनों की पूर्ति को एक दम बढ़ाया नहीं जा सकता, इसलिए जो साधन पहले से ही लगे हुए हैं उनकी आय में अकस्मात् ही बहुत वृद्धि हो जायगी। निश्चय है कि इस प्रकार की अतिरिक्त आय थोड़े ही काल तक रहती है, क्योंकि लम्बे समय में तो भूमि के अतिरिक्त अन्य साधनों की पूर्ति भी बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार, जबकि लगान भूमि पर होता है, तब आभास-लगान उन दूसरे उत्पत्ति-साधनों को अल्पकाल में प्राप्त होता है, जिनकी पूर्ति केवल दीर्घकाल में बढ़ाई जा सकती है, अल्पकाल में नहीं। प्रो० सिल्वरमैन के अनुसार, "उत्पत्ति के उन साधनों की अतिरिक्त आय जिनकी पूर्ति दीर्घकाल में तो बढ़ाई जा सकती है परन्तु अल्पकाल में यथास्थिर रहती है, आभास अथवा अर्द्धलगान कहलाती है।"[1]

उदाहरण—मार्शल ने इस विचार का चित्रण एक बड़े सुन्दर उदाहरण द्वारा किया है। उन्होंने इस विषय में मछली पकड़ने के उद्योग को लिया है। यदि मछली की माँग में अकस्मात्

---

[1] "The additional payment for those agents of production the supply of which, though alterable in a long-period, is fixed in a short-period, is technically known as Quasi-rent."—*Silverman.*

ही वृद्धि हो जाय, तो मछली के दाम एक दम ऊँचे चढ़ जायेंगे। पूर्ति को बढ़ाने के लिए मछुवाये अपने कार्य करने के घन्टों को बढ़ा देंगे और साथ ही पुरानी नावों और जालों में, जिनका इस कारण उपयोग नहीं हो रहा था कि वे बेकार हो गये थे, मरम्मत आदि करके अधिक मछली पकड़ने का प्रयत्न करेंगे। इसके फलस्वरूप मछुवाओं को जो अतिरेक आय मिलेगी वही आभास लगान होगा। निश्चय है कि यदि मछली की माग की वृद्धि लम्बे समय तक चलती है, तो नई नाव, नये जाल, तथा नये मछुवाये आ जायेंगे और अतिरेक आय समाप्त हो जायेगी। किन्तु थोड़े समय तक यह अतिरेक आय बनी रहेगी। ठीक इसी प्रकार का आधिक्य किसी विशेष प्रकार की योग्यता या निपुणता के अस्थाई अभाव के कारण उत्पन्न हो सकता है।

लगान, आभास लगान और ब्याज—यहाँ पर यह बताना आवश्यक प्रतीत होता है कि लगान, आभास-लगान तथा ब्याज में अन्तर बहुत ही कम है। किसी साधन की कुल आय को हम आभास-लगान नहीं कह सकते वरन् कुल आय का एक अंश आभास-लगान होता है। मार्शल ने लिखा है—"जिसे हम स्वतन्त्र (free) चल (floating) पूँजी का अथवा पूँजी के नये विनियोग का ब्याज कहते है वह यथार्थ में एक प्रकार का आभास-लगान ही है, जो पुराने विनियोगों पर मिलता है। चल पूँजी तथा उस पूँजी में, जो उत्पत्ति की किसी विशेष शाखा में सदा के लिए लगाई जाती है, कोई पूर्णतया स्पष्ट अन्तर नहीं होता। इसी प्रकार, नये और पुराने विनियोगों में भेद करना भी कठिन है, क्योंकि एक-दूसरे में मिल जाता है।"[1] इन सबकी ही पूर्ति सीमित होती है। परन्तु चूँकि भूमि की पूर्ति बड़े अंश तक सीमित होती है, इसलिए उसे अर्थशास्त्रियों ने एक अलग वर्ग में रख दिया है। यथार्थ में इस प्रकार में भेद करने का कोई मौलिक आधार नहीं है।

ऋणात्मक एवं धनात्मक आभास लगान—किसी साधन की अस्थाई दुर्लभता के कारण उसकी आय में जो कुल वृद्धि होती है उसे साधारणतया आभास अथवा अर्द्ध लगान कहा जाता है। इस सम्बन्ध में श्री फ्लक्स (Flux) का विचार है कि किसी साधन की अस्थाई दुर्लभता के कारण उसकी आय में जो वृद्धि हो उस समस्त को आभास-लगान में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। हमें देखना यह चाहिए कि सामान्य परिस्थितियों में एक साधन को कितनी आय प्राप्त होती है। केवल मान्य-आय से ऊपर की अतिरिक्त आय को ही आभास-लगान कहना उचित होगा। उनका विचार है कि आभास-लगान धनात्मक और ऋणात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है। यदि आय औसत (Normal) से कम है, तो आभास-लगान ऋणात्मक होगा और आय औसत से अधिक है, तो आभास-लगान धनात्मक होगा।

उक्त विचार सैद्धान्तिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, परन्तु अधिकांश अर्थशास्त्री आय की सारी की सारी वृद्धि को ही आभास-लगान में सम्मिलित करते हैं और फ्लक्स के विचार को महत्त्व नहीं देते। उसके विचार में आभास-लगान एक विशेष प्रकार का साधारण मजदूरी है। मार्शल ने ठीक ही कहा है कि लगान का अंश उत्पत्ति के सभी साधनों के पारितोषण में पाया जाता है। भूमि का लगान तो इसका उदाहरण मात्र है।

आधुनिक अर्थशास्त्र में भी आभास-लगान का विचार पाया जाता है, परन्तु यहाँ आभास-लगान का अर्थ, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, उस लगान से होता है जो आभास-दीर्घकाल (Quasi-long period) से सम्बन्धित होता है। आधुनिक लगान सिद्धान्त रिकार्डो के सिद्धान्त से तो पूर्णतया भिन्न है। किन्तु मार्शल का विचार आधुनिक विचार से एक बड़े अंश तक मिलता है।

---

[1] Marshall : *Principles of Economics*, p. 412.

लगान का आधुनिक सिद्धान्त

सर्वप्रथम वीज़र (Wieser) ने उत्पत्ति के साधनों को दो भागों में बाँटा—परिमाणिक (Specific) तथा अपरिमाणिक (Non.Specific)। पहली प्रकार के साधन वे हैं जिनका उपयोग नहीं बदला जा सकता। ये साधन जहाँ और जिस कार्य में लगे रहते हैं उसे नहीं छोड़ सकते। दूसरी प्रकार के साधनों के उपयोगों को बदला जा सकता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि पहली प्रकार के साधनों में लेशमात्र भी गतिशीलता नहीं होती, जबकि दूसरी प्रकार के साधन पूर्णतया गतिशील होते हैं। वीज़र के इसी वर्गीकरण को लेकर प्रोफेसर मेहता तथा श्रीमती जोन रोबिन्सन ने आधुनिक लगान के सिद्धान्त की नींव डाली है। इन लोगों का मत है कि केवल परिमाणित साधनों को ही लगान प्राप्त होता है और लगान परिमाणिकता के कारण उत्पन्न होता है।[1] अब देखना यह है कि परिमाणिक साधन कौन से हैं।

परिमाणिकता केवल अल्पकाल में सभी साधनों के लिए—

प्रत्येक वस्तु के एक से अधिक उपयोग सम्भव हैं। संसार में शायद कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसका उपयोग बदला नहीं जा सकता है। किन्तु यदि हम समय के अनुसार विवेचना करें, तो हमें ज्ञात होगा कि अल्पकाल में उत्पत्ति का प्रत्येक साधन परिमाणिक ही होता है। मूल्य के सिद्धान्त में हम देख चुके हैं कि अल्पकाल में पूर्ति की मात्रा घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती है। कारण, यह समय इतना कम होता है कि उत्पत्ति के साधनों का उपयोग नहीं बदला जा सकता। यदि माँग बढ़ती है, तो उत्पत्ति के साधनों को नवीन उत्पत्ति करके या दूसरे उपयोगों से हटा कर वस्तु विशेष के उत्पादन में नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार, माँग घटने की दशा में भी साधनों को उस वस्तु के उत्पादन से नहीं हटाया जा सकता, जिसकी माँग घट गई है। अल्पाव-दीर्घकाल में, कुछ साधनों के उपयोग तो पूर्णतया बदले जा सकते हैं और कुछ के केवल एक अंश तक। साथ ही कुछ साधन पूर्णतया अपरिमाणिक होते हैं। यही कारण है कि इस काल में माँग के अनुसार पूर्ति में परिवर्तन तो होते हैं, परन्तु पूर्णरूप से नहीं। दीर्घकाल में भी साधन अपरिमाणिक होते हैं और इसी कारण पूर्ति में यथेष्ठ परिवर्तन सम्भव होते हैं। इससे पता चलता है कि परिमाणिकता केवल अल्पकालीन है और क्योंकि परिमाणिकता ही लगान को जन्म देती है, इसलिए लगान भी केवल अल्पकाल में ही होता है।

परिमाणिकता द्वारा ही लगान का जन्म—

आधुनिक अर्थशास्त्री इस विषय में सहमत हैं कि कोई भी उत्पत्ति का साधन, जिसमें परिमाणिकता का गुण हो, लगान प्राप्त कर सकता है। यहाँ तक कि एक मनुष्य को भी लगान मिल सकता है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि हमारे पास एक बूढ़ा नौकर है, जिसे हमारे यहाँ नौकरी करते ६० साल हो गए हैं और उसे हम २० रुपये महीना वेतन देते हैं। यह नौकर इतना बूढ़ा हो गया है कि उसे दूसरा कोई नौकर नहीं रखेगा परन्तु हम उसे नहीं हटाते और २० रुपया महीना देते रहते हैं। यहाँ पर २० रुपये उसका लगान हैं, जो इस कारण उत्पन्न होता है कि वह अपना उपयोग नहीं बदलता। उसका वेतन तो शून्य के बराबर है, क्योंकि नौकरी के रूप में उसे दूसरों से कुछ भी नहीं मिलेगा।

ठीक इसी प्रकार, पूँजी पर लगान हो सकता है। मान लीजिए एक दूकान का किराया १०० रु० महीना हमसे लिया जा रहा है। ठीक वैसी ही दूकान दूसरे मुहल्ले में ७० रु० महीना में मिलती है, परन्तु हम ख्याति Goodwill) अथवा अन्य किसी कारण से पहली दूकान को नहीं

---

[1] Mrs Joan Robinson . *Economics of Imperfect Competition* and J. K. Mehta : *Advanced Economic Theory*

छोड़ने और १०० रु० महीना देते रहते हैं। यहाँ पर ७० रुपया महीना दूकान का किराया होगा और ३० रुपया उस पर लगान, अतः श्रम तथा पूँजी पर भी लगान हो सकता है।

लगान की माप

लगान की माप वास्तव में प्राप्त होने वाले 'कुल पारितोषण' तथा 'अवसर पारितोषण' (Opportunity earning) या 'हस्तान्तरण आय (अर्थात् वह पारितोषण जो अन्य उपयोग में मिल सकता है। के अन्तर के बराबर होती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह भी सम्भव है कि लगान शून्य अथवा ऋणात्मक (Zero or nagative) हो।

श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार, "एक उद्योग की दृष्टि से, एक साधन विशेष की किसी एक इकाई की लागत उस पारितोषण द्वारा निर्धारित होती है जो वह किसी अन्य उद्योग में प्राप्त कर सकती है।.....................साधन की इकाई विशेष को किसी उद्योग मे बनाये रखने के लिए जो कीमत चुकाई जाती है उसे उसकी "अवसर कमाई" अथवा "अवसर कीमत" कहते है।"[1]

ठीक इसी प्रकार का विचार बेनहम ने भी प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि कोई उत्पत्ति साधन किसी दूसरे उपयोग में मुद्रा की जितनी मात्रा कमा सकता है वही उसकी अवसर कमाई होती है। आगे चलकर उन्होंने लिखा है, 'किसी साधन को अवसर कमाई के ऊपर जो कुछ भी प्राप्त हो वह साधारणतया लगान के स्वभाव का ही होता है।"[2]

इसी से मिलता-जुलता विचार प्रो० बोल्डिंग का भी है। उनके अनुसार, "आर्थिक लगान की परिभाषा उस भुगतान के रूप में दी जा सकती है जो एक साम्य-अवस्था वाले उद्योग में एक उत्पत्ति-साधन की इकाई विशेष को, उस साधन को इसके वर्तमान व्यवसाय में बनाए रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम् भुगतान राशि पर आधिक्य के रूप में, दिया जाता है।"[3]

इस प्रकार, उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार लगान बहुधा अल्पकाल में ही होता है। आभास-दीर्घकाल में होने वाले लगान को आभास-लगान (Quasi-rent) कहा जाता है। लगान उत्पत्ति के किसी भी साधन को प्राप्त हो सकता है और यह "अवसर पारितोषण" पर एक प्रकार का आधिक्य है।

आधुनिक सिद्धान्त तथा रिकार्डो के सिद्धान्त में समानता—

आधुनिक सिद्धान्त तथा रिकार्डो के सिद्धान्त में बहुत कुछ समानता है—(i) दोनों में ही लगान को एक प्रकार का आधिक्य माना है, यद्यपि दोनों में इस आधिक्य के कारण पूर्णतया भिन्न दिए गये हैं। (ii) आधुनिक अर्थशास्त्री रिकार्डो के इस मत में भी सहमत हैं कि लगान मूल्य में सम्मिलित नहीं होता। उनका कहना है कि मूल्य से रिकार्डो का अभिप्राय सामान्य या दीर्घकालीन मूल्य से था, क्योंकि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अल्पकाल का तो अध्ययन ही नहीं किया है।

---

[1] "The cost of any unit of a factor, from the point of view of one industry is, therefore, determined by the reward which the unit can earn in some other industry.................The price that is necessary to retain a given unit of a factor in a certain industry may be called its transfer earning or transfer price."—Mrs. Joan Robinson : *The Economics of Imperfect Competitions*, p. 104.

[2] "In general, the excess of what any unit gets over its transfer earning is of the nature of rent."—Benham : *Economics*, p. 323.

[3] "Economic Rent may be defined as any payment to a unit of a factor of production, in an industry in equilibrium, which is in excess of the minimum amount necessary to keep that factor in its present occupation."—Boulding : *Economic Analysis*, p. 230.

आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार दीर्घकाल मे लगान होता ही नही, इसलिए वास्तव मे दीर्घकालीन मूल्य का लगान से कोई सम्बन्ध नही होता।

यहाँ पर एक छोटा-सा प्रश्न और भी उठता है—क्या परम्परा मे चलते आये इस विचार को छोड दिया जाय कि लगान भूमि का पारितोषण है और केवल उसी को प्राप्त होता है, अथवा क्या भूमि की परिभाषा मे कुछ परिवर्तन करने से काम चल सकता है ? इस समस्या को हम इस प्रकार सुलझा सकते है कि भूमि शब्द की पुरानी परिभाषा को बदल दें। यदि हम भूमि को उत्पत्ति का वह साधन कहे जो परिमाणिक है तो फिर लगान को भूमि का पारितोषण कहने मे भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आधुनिक अर्थशास्त्री लगान को उत्पादक का अतिरेक (Producer's Surplus) मानते हैं जो निम्न दो कारणों से प्राप्त हो सकता है—

(अ) पूर्ति की लोचहीनता के कारण—यदि किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार है अर्थात् वह आवश्यक मात्रा म उपलब्ध है, तो लगान का प्रश्न नहीं उठेगा, क्योकि ऐसी दशा मे उत्पादक का अतिरेक नही होगा। केवल उसी दशा मे साधन को लगान प्राप्त हो सकता है जबकि उसकी पूर्ति बेलोच हो।

(ब) परिमाणिकता—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है परिमाणिकता आधिक्य उत्पन्न करती है और लगान को जन्म देती है।

इस प्रकार, आर्थिक अर्थ मे लगान एक ऐसा आधिक्य है जो ऐसे परिमाणिक साधन को प्राप्त होता है जिसकी पूर्ति निश्चित है। यह अवसर व्यय अथवा हस्तान्तरण आय पर आधारित होता है और एक उपयोग से दूसरे उपयोग मे हस्तान्तरण की सीमा पर उत्पन्न होता है।

हस्तान्तरण आय
(Transfer Earnings

आधुनिक अर्थशास्त्री किसी उत्पत्ति साधन द्वारा, किसी उद्योग अथवा उपयोग में प्राप्त किये हुए आधिक्य को, उसकी हस्तान्तरण आय क आधार पर नापते हैं। 'हस्तान्तरण आय" वह आय होती है जो उत्पत्ति का कोई साधन किसी ऐसे अन्य वैकल्पिक उपयोग (Alternate use) से प्राप्त कर सकता है जिसमे पारितोषण सर्वोत्तम है। वास्तव मे हस्तान्तरण आय के विचार का लगान के सिद्धान्त मे बहुत महत्व है। जोन रोबिन्सन के शब्दों मे, हस्तान्तरण आय "वह कीमत है जो उत्पत्ति के साधन की किसी दी हुई इकाई को किसी विशेष उद्योग म बनाये रखने के लिए आवश्यक होती है।" किसी एक उद्योग अथवा उपयोग की दृष्टि स लगान वह भुगतान होता है जो उत्पत्ति के साधन को हस्तान्तरण आय से ऊपर दिया जाता है।

मान लीजिए कि हम एक एकड भूमि को लेते हैं, जिस पर गन्ने की खेती की जा रही है और एक एकड़ से १२५ रुपये आय की प्राप्त की जाती है। इस एक एकड भूमि को चावल, गेहूँ इत्यादि अन्य उपजें उत्पन्न करने के लिए भी उपयोग किया जा सकता है। मान लीजिए कि गन्ने के पश्चात् इस भूमि का सबसे अधिक लाभदायक उपयोग चावल उपजाने के लिए किया जाना है और चावल की खेती करके इससे १०० रुपये की आय प्राप्त की जा सकती है। ऐसी दशा में, भूमि के इस एक एकड की हस्तान्तरण आय १०० रुपये होगी इसका अर्थ यह होना है कि गन्ने की खेती करने से इस पर भूमि हस्तान्तरण आय के ऊपर १२५—१००=२५ रुपये की अतिरिक्त आय प्राप्त होती है। स्पष्टतः गन्ने की खेती की दृष्टि से इस एक एकड भूमि का लगान २५ रुपये होगा।

इस सम्बन्ध मे यह बताना भी आवश्यक है कि यदि उत्पत्ति का कोई साधन ऐसा है कि उसकी हस्तान्तरण आय शून्य है, तो उस साधन की सारी की सारी कीमत अथवा आय लगान

होगी। भूमि के सम्बन्ध में एक विशेषता ध्यान देने योग्य है। चूँकि भूमि के वैकल्पिक उपयोग हो सकते हैं, इसलिए किसी एक उद्योग की दृष्टि से भूमि की हस्तान्तरण आय हो सकती है। परन्तु समस्त अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से भूमि का कोई वैकल्पिक उपयोग नहीं होता जिस कारण समस्त अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से भूमि की हस्तान्तरण आय शून्य होती है। फलतः समस्त अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से भूमि की कुल कमाई लगान होती है।

लगान और आर्थिक उन्नति—

रिकार्डो अपनी पुस्तक के अन्तिम भाग में लगान पर कृषि सुधारों के प्रभाव का अध्ययन करते हैं और आर्थिक उन्नति तथा लगान के आपसी सम्बन्ध को बताते हैं। आर्थिक उन्नति या सुधार तीन प्रकार के हो सकते हैं:—

(१) कृषि की रीतियों में सुधार—खेती करने की रीतियों में सुधार कई प्रकार से हो सकता है, जैसे—मशीनों तथा अच्छे औजारों का उपयोग, अच्छे बीजों, वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग इत्यादि। इस प्रकार का सुधार सभी प्रकार की उपजाऊ या कम उपजाऊ भूमियों पर किया जा सकता है। यदि सभी प्रकार की भूमि पर सुधार किया जाता है, तो कुल उपज में अधिक वृद्धि होगी, इस दशा में, यदि माँग यथास्थिर रहे तो कीमतें नीचे गिर जायेंगी, जिस कारण फिर कम उपजाऊ खेतों पर खेती होना बन्द हो जायगा, क्योंकि अच्छी किस्म के खेतों की उपज में इतनी वृद्धि हो जाती है कि माँग पूरी हो सके। ऐसी दशा में खेती की सीमा के कम हो जाने के कारण लगान घट जायगा। हाँ, यदि उपज के अनुसार माँग भी बढ़े तो, लगान भी बढ़ जायगा। कारण, समाज सुधारों के फलस्वरूप अच्छी भूमि पर निम्न श्रेणी की भूमि की अपेक्षा उपज की वृद्धि अधिक तेजी से होगी, जिससे अच्छी तथा सीमान्त भूमि की उपज का अन्तर और भी अधिक हो जायगा तथा लगान बढ़ जायगा। इसके विपरीत, यदि केवल हीन भूमि पर ही सुधार किया जाय, तो सीमान्त भूमि की उपज बढ़ जाने के कारण लगान कम हो जायगा।

(२) यातायात का विकास—यातायात का विकास हो जाने से बाजार से दूर के खेतों का उत्पादन व्यय कम हो जायगा। इससे बाजार के निकट के खेतों के विशेष लाभ में कमी आ जायगी और उनका लगान कम हो जायगा। साथ ही, बाहर के देशों से सस्ता माल आने लगेगा, इससे भी लगान कम हो जायगा, क्योंकि कृषि की सीमा का संकुचन होगा और नीची श्रेणी की भूमि पर खेती बन्द हो जायगी।

(३) जन-संख्या की वृद्धि—जन संख्या में वृद्धि हो जाने से कृषि उपज के लिये माँग बढ़ जायगी। इससे दाम ऊपर चढ़ेंगे और विस्तृत तथा गहन दोनों ही प्रकार की खेती की सीमायें बढ़ जायेंगी और इसके फलस्वरूप लगान में भी वृद्धि होगी।

परीक्षा प्रश्न :

१. लगान की परिभाषा दीजिये और समझाइये कि कृषि भूमि पर लगान किस प्रकार निर्धारित होता है?

अथवा

लगान के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये और यह दिखाइये कि कृषि भूमि का लगान किस प्रकार निर्धारित होता है?

[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम लगान के अर्थ को रिकार्डो और आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार बताइये। तत्पश्चात् रिकार्डो के लगान सिद्धान्त के अनुसार कृषि भूमि के लगान का निर्धारण संक्षेप में और रेखा चित्रों की सहायता से समझाइये। अन्त में इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुये आधुनिक दृष्टिकोण को संक्षेप में इंगित कीजिये।]

२. "लगान विशिष्टता के लिये भुगतान है"—इस कथन का विवेचन कीजिये।
[सहायक संकेत :—इस प्रश्न के उत्तर में विद्यार्थियों को चाहिये कि लगान के आधुनिक सिद्धान्त की पूर्ण विवेचना दें।]

३. आर्थिक लगान को समझाइये और यह बताइये कि लगान मूल्य को प्रभावित नहीं करता वरन् स्वयं मूल्य से प्रभावित होता है।
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम प्रतिष्ठित और आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतों को देकर आर्थिक लगान के अर्थ को स्पष्ट कीजिये। तत्पश्चात् लगान और कीमत के सम्बन्ध की विवेचना, रिकार्डो के सिद्धान्त और आधुनिक सिद्धान्त दोनों के अनुसार कीजिये।]

४. रिकार्डो के लगान सिद्धान्त को समझाइये। इसके बारे में आधुनिक अर्थशास्त्रियों का क्या मत है ?

५. 'व्यावसायिक प्रायः तर्क देते हैं कि उनको वस्तुओं का अधिक मूल्य इसलिए लेना पड़ता है कि उनको अधिक लगान देना पड़ता है।" क्या आप इससे सहमत हैं ? तर्क प्रस्तुत कीजिये।

६. लगान की प्रकृति का विश्लेषण कीजिए और लगान व आर्थिक प्रगति का सम्बन्ध बताइए।

७. क्या अधिशेष (Rent) भूमि की उपजाऊ शक्ति के लिए दिया जाता है ?

८. भाटक का आधुनिक सिद्धान्त लिखिए। यह रिकार्डो के सिध्दान्त से किस प्रकार भिन्न है ?

९. 'भूमि' 'और पूँजी' का भेद स्पष्ट कीजिए और यह दिखलाइये कि भूमि का पारितोषिक किस प्रकार निर्धारित होता है।"

१०. "लगान मूल्य मे प्रवेश नही करता है।" इस सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।'

११. निम्न कथन की समीक्षा कीजिए—"लगान दुर्लभता की कीमत है।"

१२. उपयुक्त उदाहरणों की सहायता से अन्तर स्पष्ट कीजिए।
आर्थिक लगान एवं अनुबन्ध (इकरारी) लगान।

१३ स्पष्ट कीजिए कि किस प्रकार लगान (अ) उपज के मूल्य में सम्मिलित होता है, (ब) उत्पत्ति ह्रास नियम का परिणाम है, (स) जनसंख्या की वृद्धि के साथ बढ़ता है, एवं (द) उपज के मूल्य को निश्चय नही करता है ?

१४. विस्तृत खेती के अन्तर्गत लगान किस प्रकार निर्धारित होता है ? क्या लगान ऐसे देश मे उत्पन्न हो सकता है जहाँ सब भूमियाँ समान रूप से उपजाऊ हों ?
[सहायक संकेत :—सर्वप्रथम रिकार्डो के लगान सिद्धान्त के अनुसार विस्तृत खेती मे लगान के निर्धारण को चित्र और उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिए। तत्पश्चात् यह बताइये कि भूमियों के समान रूप से उपजाऊ होने पर भी लगान दो स्थितियों मे उदय हो सकता है— (i) गहरी खेती मे, और (ii) भूमि की दुर्लभता होने पर।]

३

मजदूरी और मजदूरी के सिद्धान्त

(Wages and the Theories of Wages)

मजदूरी का अर्थशास्त्रीय-अर्थ विस्तृत एवं संकुचित

अर्थशास्त्र में "मजदूरी" शब्द विस्तृत और संकुचित दोनों ही अर्थ में प्रयोग किया गया है।

(१) संकुचित अर्थ—बेनहम और जाइड दोनों ने इसे संकुचित अर्थ में लिया है और केवल प्रसंविदित मौद्रिक भुगतान (Contracted Monetary Payment) का नाम दिया है।[1] यदि हम इस विचारधारा को ग्रहण करते हैं, तो श्रमिकों का वह पारितोषण, जो वस्तुओं और सेवाओं के रूप में दिया जाता है तथा ऐसे स्वतन्त्र श्रमिकों का पारितोषण, जो अपना स्वयं का व्यवसाय करते हैं, मजदूरी में सम्मिलित नहीं किया जायगा।[2]

(२) विस्तृत अर्थ—आधुनिक अर्थशास्त्र में इस शब्द के अधिक व्यापक अर्थ लगाये जाते हैं और उसमें निम्नों तीनों प्रकार के श्रमिकों की सेवाओं का पारितोषण सम्मिलित किया जाता है—(i) वे श्रमिक जो अपना शारीरिक अथवा मानसिक श्रम बेचते हैं। (ii) स्वतन्त्र कर्मचारी जैसे—वकील, डाक्टर आदि जो अपनी सेवाओं का शुल्क लेते हैं और (iii) व्यवसायी और प्रबन्धक, जो स्वयं अपने कारोबार की देखभाल करते हैं।

इस सम्बन्ध में स्ट्रेटोफ (P. H. Streightoff) की परिभाषा सबसे उपयुक्त है। उसके अनुसार, "उस श्रम के पारिश्रमिक को, जो उपयोगिता का सृजन करता है, मजदूरी कहते हैं।" यह श्रम शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसी प्रकार, मजदूरी मुद्रा के अतिरिक्त वस्तुओं और सेवाओं के रूप में भी दी जा सकती है और प्रति घण्टा, प्रति दिन, प्रति सप्ताह, प्रति मास अथवा प्रति वर्ष के आधार पर दी जा सकती है।

मजदूरी एवं वेतन—

कुछ अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी (Wages) और वेतन (Salary) में भी भेद किया है, परन्तु इस भेद का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। बहुधा निम्न श्रेणी के श्रमिकों के पारिश्रमिक को, जो प्रति दिन, प्रति सप्ताह अथवा प्रति मास मिलता है, "मजदूरी" कहा जाता है। "वेतन" अधिकार सफेदपोश श्रमिकों या ऊँची श्रेणी के कर्मचारियों का पारिश्रमिक होता है, जैसे किसी सरकारी अधिकारी का वेतन। साधारण बोलचाल में वेतन शब्द अधिक सम्मान का सूचक होता है। चूँकि अर्थशास्त्र में मजदूरी शब्द को अधिक व्यापक अर्थ में लिया गया है, इसलिए यह भेद मान्य नहीं है। उसमें वेतन को भी मजदूरी में ही सम्मिलित किया जाता है और सभी प्रकार के कर्मचारियों का पारिश्रमिक मजदूरी कहलाता है।

---

1 "A wage may be defined as a sum of money paid under contract by an employer to a worker for services rendered."—Benham

2 "The word wages should be applied not to mean the price of every kind of labour, but to the price of labour hired and employed by an entrepreneur." —Gide.

नकद (मौद्रिक) और असल (वास्तविक) मजदूरी
(Nominal and Real Wages)

किसी भी श्रमिक की मजदूरी को दो प्रकार नापा जाता है—प्रथम, मुद्रा मे और दूसरे, वस्तुओं तथा सेवाओं मे ।

नकद मजदूरी—

साधारणतया आधुनिक काल मे मुद्रा ही के रूप मे मजदूरी दी जाती है। अधिकांश श्रमिक भी इसी रूप मे मजदूरी को स्वीकार करना अच्छा समझते हैं। बात यह है कि मुद्रा के बदल मे आवश्यकतानुसार कोई भी वस्तु या सेवा खरीदी जा सकती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि श्रमिक को मौद्रिक मजदूरी के अतिरिक्त कुछ वस्तुएँ और सेवाएं भी उसके पारिश्रमिक के रूप मे दी जाती हैं। मुद्रा के रूप मे एक श्रमिक को जितनी मजदूरी मिलती है वह उसकी "मौद्रिक", "नकद" अथवा "नाममात्र मजदूरी" कहलाती है।

वास्तविक मजदूरी—

स्मरण रहे कि मुद्रा की प्राप्ति स्वयं अपना उद्देश्य नही हो सकती है। मुद्रा तो आवश्यक वस्तुएँ और सेवाएं खरीदने का एक साधन मात्र है। यही कारण है कि मौद्रिक मजदूरी तय करते समय श्रमिक बहुधा यह देख लिया करता है कि इस मजदूरी के बदले मे प्रचलित कीमतों को देखते हुए उसे कितनी मात्रा मे वस्तुएँ और सेवाएं मिल सकेंगी। मुद्रा के रूप में मिलने वाली राशि के बदले मे एक श्रमिक को जितनी वस्तुएँ और सेवाएं प्राप्त होती हैं, वे सब मिल-कर उसकी "असली" या "वास्तविक मजदूरी" को सूचित करती हैं। ऐसी मजदूरी मे उन वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा को भी सम्मिलित कर लिया जाता है, जो मौद्रिक मजदूरी के अतिरिक्त मिल जाती हैं, जैसे—बिना किराये का मकान, कम कीमत पर राशन आदि।

वास्तविक मजदूरी

कभी-कभी हमारा उद्देश्य यह जानकारी प्राप्त करना होता है कि मजदूरी की एक निश्चित कमी या वृद्धि का श्रमिकों की आर्थिक स्थिति अथवा आर्थिक सम्पन्नता पर क्या प्रभाव पड़ता है। ऐसी दशा मे असल मजदूरी का अध्ययन आवश्यक होता है, क्योंकि केवल असल मज-दूरी के परिवर्तनों द्वारा ही आर्थिक स्थिति के परिवर्तनों का पता लगाया जा सकता है। यदि मौद्रिक मजदूरी बढती है तो इसका यह अर्थ नही होता कि श्रमिकों की सम्पन्नता भी बढ गई है, क्योंकि हो सकता है कि मजदूरी से भी अधिक तेजी के साथ कीमतों के बढ़ जाने के कारण वास्त-विक मजदूरी घट गई हो। ठीक इसी प्रकार, मौद्रिक मजदूरी की कमी सदा ही आर्थिक सम्पन्नता की कमी का सूचक नही होती है। श्रमिकों का जीवन-स्तर उनका वास्तविक मजदूरी पर ही निर्भर होता है, इसलिए वास्तविक मजदूरी का अध्ययन श्रम-कल्याण तथा श्रम-सन्तुष्टि के अध्ययन के लिए आवश्यक है। जिन दशो म मजदूरी म जीवन-निर्वाह व्यय के आधार पर परिवर्तन करने की प्रथा है, वहां तो यह अध्ययन और भी आवश्यक है।

असल मजदूरी की प्रमुख परिभाषाएँ—

जहाँ तक असल मजदूरी की परिभाषा का प्रश्न है, साधारणतया इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह वस्तुओं और सेवाओं के उस समूह द्वारा सूचित होती है, जो कुल मौद्रिक आय के बदले मे किसी श्रमिक को प्राप्त होता है, परन्तु इसमें उन वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा तथा उन सुविधाओं को भी जोड़ लिया जाता है जो मौद्रिक मजदूरी के अतिरिक्त प्राप्त होते हैं। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) एडम स्मिथ (Adam Smith) का विचार है कि, "श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी मे आवश्यकताओं तथा जीवनोपयोगी सुविधाओ की वह मात्रा सम्मिलित है जो श्रम के बदले मे दी जाती है। श्रमिक की नाम-मात्र मजदूरी मे केवल मुद्रा की मात्रा सम्मिलित होती है। एक श्रमिक अपनी वास्तविक मजदूरी के ही अनुपात मे अमीर अथवा गरीब या अच्छी अथवा कम मजदूरी पाने वाला होता है, न कि नाम-मात्र मजदूरी के अनुपात मे।"[1]

(२) मार्शल (Marshall) ने एडम स्मिथ की परिभाषा मे थोड़े सुधार का सुझाव दिया है। उन्होंने कहा है कि, "वास्तविक मजदूरी मे केवल उन्ही सुविधाओं को सम्मिलित नही करना चाहिए जो सेवायोजक द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे दी जाती है, बल्कि उन लाभों को भी सम्मिलित करना चाहिए कि जो व्यवसाय विशेष से सम्बन्धित होते हैं और जिनके लिए सेवायोजक को कोई अलग व्यय नही करना पड़ता।"[2]

(३) प्रो० टामस (Thomas) के अनुसार, "वास्तविक मजदूरी श्रमिक के कार्य से सम्बन्धित शुद्ध लाभो का संकेत करती है, अर्थात् उन आवश्यक, आराम और विलास की वस्तुओ को बताती है जोकि श्रमिक को उसकी सेवाओ के बदले मे मिलती है।"[3]

वास्तविक मजदूरी की उपरोक्त तीनो परिभाषाये व्यापक हैं, क्योकि इनमे वास्तविक मजदूरी के विस्तृत अर्थ लगाये गये है। कुछ लेखक ऐसे भी हैं जिन्होने इन शब्दों को संकुचित अर्थ मे उपयोग किया है। उदाहरणस्वरूप, प्रो० सैलिगमैन के अनुसार, "मौद्रिक मजदूरी का अर्थ उस मजदूरी से होता है जो मुद्रा के रूप मे दी जाती है, वास्तविक मजदूरी उन वस्तुओं को बताती है जो मौद्रिक मजदूरी के बदले मे खरीदी जा सकती हैं।"[4] इस परिभाषा के अनुसार मौद्रिक मजदूरी के बदले मे खरीदी हुई वस्तुओ और सेवाओ को ही वास्तविक मजदूरी मे सम्मिलित किया जावेगा, अन्य सुविधाओ को नही।

आधुनिक विचारधारा विस्तृत अर्थ के पक्ष मे है और इसलिए मार्शल का दृष्टिकोण अधिक मान्य है।

वास्तविक मजदूरी किन बातों पर निर्भर होती है ?

ऐसी मजदूरी मुख्यतया निम्न बातो पर निर्भर होती है :—

(१) मौद्रिक मजदूरी की मात्रा—यदि अन्य बातो मे किसी प्रकार का परिवर्तन न हो, तो जितनी ही किसी श्रमिक की मौद्रिक मजदूरी अधिक होगी उतनी ही उसकी असल मजदूरी भी अधिक रहेगी। असल मजदूरी को बढाने या घटाने का एक बड़ा सरल उपाय यही है कि नकद मजदूरी मे वृद्धि या कमी कर दी जाय।

---

1 "The real wages of labour may be said to consist in the quantity of necessaries and conveniences of life that are given for it (labour); its nominal wages *in the quantity of money. The labourer is rich or poor; is well or ill-rewarded* in proportion to the real, not the nominal wages of his labour."
—**Adam Smith**

2 "The rewards that are given for it must not be taken to apply only to the necessaries and conveniences that are directly provided by the purchaser of labour or its products; for, account must be taken also of advantages which are attached to the occupation and which require no special outlay on his part "—**Marshall**

3 "Real wages refer to the net advantage of the worker's occupation, *i e*, the amount of the necessaries, comforts, and luxuries of life which the worker can command in return for his services."—**Thomas.**

4 "Money wages are actual wages paid in money, real wages are actual commodities that money wages can buy."—**Seligman.**

(२) **मुद्रा की क्रय-शक्ति**—मुद्रा की क्रय-शक्ति (अर्थात् उसकी वस्तुयें और सेवायें खरीदने की शक्ति) के सम्बन्ध मे हमे यह देखना पडता है कि सामान्य कीमत-स्तर कितना ऊँचा या नीचा है। जितनी ही कीमतें ऊँची होगी, उतनी ही मुद्रा की क्रय-शक्ति कम होगी और अन्य बातों के समान रहते हुये असल मजदूरी भी उतनी ही कम होगी। बहुत बार मौद्रिक मजदूरी के बढ़ जाने पर भी असल मजदूरी घट जाती है, क्योंकि कीमतें मजदूरी की अपेक्षा और भी अधिक तेजी के साथ बढती हैं। दूसरे महायुद्ध के काल में भारत मे ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी।

(३) **सहायक अथवा गौण कमाई**—किसी श्रमिक की असल मजदूरी इस बात पर भी निर्भर होती है कि नियमित मजदूरी के अतिरिक्त उसे मुद्रा अथवा वस्तुओ और सेवाओ के रूप मे दूसरी कितनी आय प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, रेल्वे कर्मचारियो को मुफ्त मकान और सस्ते दामो पर राशन मिलता है, घरेलू नौकरो को वेतन के अतिरिक्त भोजन और कपड़ा मिलता है और इसी प्रकार कॉलिज के प्रोफेसर को नियमित वेतन के अतिरिक्त परीक्षा तथा पुस्तकों से आय प्राप्त होती है। इन सभी दशाओ मे असल मजदूरी अधिक होती है। जिन व्यवसायो में इस प्रकार की सम्भावना नही होती है वहाँ असल मजदूरी कम रहती है। यही नही, असल मजदूरी इस बात पर भी निर्भर होती है कि श्रमिक के अतिरिक्त उसके परिवार के दूसरे सदस्यो के लिए कमाई करने का कितना अवसर रहता है।

(४) **सहायक सुविधायें**—बहुत से व्यवसायो मे मजदूरो को कुछ विशेष सुविधायें दी जाती हैं, जैसे—सवेतन ओवर-टाइम (Over-time) का अवसर, छुट्टी, चिकित्सा सुविधायें आदि। ऐसे व्यवसायो मे असल मजदूरी ऊँची रहती है।

(५) **काम सीखने का समय और लागत**—कुछ कार्य ऐसे होते हैं कि उन्हे करने से पहले सीखने पर अधिक समय और धन का व्यय करना पडता है। ऐसे कामों मे असल मजदूरी उन कामों की तुलना मे कम होती है जिनमे सीखने पर इतना समय और धन व्यय नही होता।

(६) **व्यापारिक व्यय**—बहुत से व्यवसाय ऐसे होते हैं कि उनमे अधिक व्यापारिक अथवा व्यवसाय सम्बन्धी व्यय करना होता है। उदाहरणार्थ, एक डाक्टर के लिए कम्पाउण्डर रखना, औजार खरीदना आदि आवश्यक होता है। अत. असल मजदूरी निर्धारित करते समय नकद मजदूरी मे से इस प्रकार के व्यय को निकाल देना आवश्यक है।

(७ **कार्य का स्वभाव**—असल मजदूरी का अनुमान लगाते समय यह देखना भी जरूरी है कि काम किस प्रकार का है। बहुत से काम खतरनाक होते है, जैसे—हवाई जहाज के चालक का काम।

(८) **कार्य की दशायें**—यदि काम करने के घण्टे कम है, मालिक का व्यवहार अच्छा है तथा कारखाने के बाहर और भीतर की दशायें अच्छी हैं, तो श्रमिको की असल मजदूरी अधिक होगी, अन्यथा कम।

(९) **भावी उन्नति की आशा**—जिन व्यवसायो मे भविष्य मे उन्नति की आशा अधिक होती है, वहाँ श्रमिक को मानसिक सन्तोष अधिक मिलता है और उसकी मौद्रिक आय कम होते हुए भी असल मजदूरी अधिक होती है। यदि भविष्य उज्ज्वल नही है, तो असल मजदूरी कम रहेगी।

(१०) **रोजगार की स्थिरता**—यदि श्रमिक का रोजगार स्थायी है, तो उसकी असल मजदूरी उस श्रमिक से अधिक होगी जिसका रोजगार अस्थायी है। सामयिक (Seasonal) रोजगारो में अथवा ऐसे कामो मे (जैसे—मकान बनाने वाले श्रमिकों का काम) जहाँ श्रमिक को थोड़े काल के लिए रोजगार मिलता है; असल मजदूरी कम रहती है।

(११) **कार्य के प्रति समाज का सम्मान**—जिन व्यवसायो को (जैसे—मैला ढोने का काम) समाज घृणा की दृष्टि से देखता है उनमे असल मजदूरी कम ही रहती है।

इस प्रकार, असल मजदूरी का पता लगाते समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता है और बहुत-सी बातों को ध्यान में रखना पड़ता है। श्रम-सुधार अथवा श्रम-कल्याण की कोई भी योजना उस समय तक सफल नहीं हो सकती है जब तक कि श्रमिकों की असल मजदूरी को बढ़ाकर उनका जीवन-स्तर ऊपर न उठाया जाये।

समयानुसार मजदूरी और कार्यानुसार मजदूरी
(Time and Piece Wages)

मजदूरी का वर्गीकरण कभी-कभी समयानुसार मजदूरी और कार्यानुसार मजदूरी में भी किया जाता है। समयानुसार मजदूरी काम की अवधि के अनुसार होती है और एक ही काम करने वाले श्रमिकों को एक ही दर पर मजदूरी दी जाती है, यद्यपि उनकी कुशलता में अन्तर हो सकता है। ऐसी मजदूरी प्रति घण्टा, प्रति सप्ताह अथवा प्रति मास के आधार पर दी जाती है। लगभग सभी वेतनभोगी कर्मचारियों की मजदूरी इसी प्रकार की होती है। इस प्रकार की मजदूरी में श्रमिकों द्वारा की हुई काम की मात्रा से मजदूरी का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। हाँ, सेवायोजक काम का न्यूनतम् मान निश्चित कर सकता है। इसके विपरीत, कार्यानुसार मजदूरी में श्रमिक की मजदूरी का उसके द्वारा किये जाने वाली काम की मात्रा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। प्रत्येक श्रमिक को उसके द्वारा किये हुए काम की मात्रा के अनुसार मजदूरी दी जाती है। सेवायोजक केवल गुणात्मक मान ही निर्धारित करता है और इस बात पर अनुरोध करता है कि काम खराब न होने पाये।

समयानुसार मजदूरी प्रणाली के लाभ—

संसार में समयानुसार मजदूरी देने की प्रथा बहुत लोकप्रिय है और ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यह प्रथा बराबर बढ रही है। श्रम-संघों की ओर से भी बहुधा इस बात पर जोर दिया जाता है कि श्रमिकों को समयानुसार ही मजदूरी दी जाय। इस प्रकार की मजदूरी प्रणाली के प्रमुख गुण निम्न प्रकार है—

(१) रोजगार की स्थिरता—यदि किसी कारणवश मालिक काम को बन्द भी कर देता है, तो भी मजदूर की नौकरी नहीं छूटती है। काम के आरम्भ होते ही वह फिर काम पर लौट आता है। श्रमिक के बीमार हो जाने की दशा में भी उसका रोजगार बना रहता है।

(२) श्रमिक के स्वास्थ्य की रक्षा—मजदूरी के लिए अत्यधिक तेजी से काम करने और बहुत लम्बे समय तक काम करने का प्रलोभन नहीं होता है। वह औसत तेजी के साथ एक निश्चित अवधि तक ही काम करता है। इससे औद्योगिक थकान कम रहती है और श्रमिक के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

(३) स्वयं मालिक की दृष्टि से भी यह प्रणाली बहुधा उपयुक्त होती है। कारण, श्रमिक अधिक सावधानी से काम करते है, जिससे एक ओर तो काम अच्छा होता है और दूसरी ओर माल का अपव्यय और मशीनों तथा औजारों की टूट-फूट कम होती है। मजदूरी बाँटने में भी मालिक को कम कठिनाई होती है।

(४) कलापूर्ण और बारीकी का काम—जिन व्यवसायों में अधिक कलापूर्ण और बारीक काम होता है वहाँ यह प्रणाली अधिक उपयुक्त होती है क्योंकि ऐसे कार्यों को जल्दी-जल्दी सोचने से काम अच्छा नहीं हो सकता है।

(५) बहुत से काम (जैसे—डाक्टर का काम) ऐसे होते है जहाँ काम को ठीक-ठीक नाप लेना कठिन होता है, **क्योंकि काम का प्रमापीकरण** (Standardisation) नहीं हो सकता।

(६) मजदूर और मालिक को निश्चिन्तता—यह प्रणाली सतोष और निश्चिन्तता को उत्पन्न करती है। श्रमिक रोजगार के बारे में निश्चित हो जाता है। मालिक को भी श्रमिकों को

बार-बार ढूंढने की आवश्यकता नही रहती है और काम एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार बराबर ठीक चलता रहता है।

प्रणाली के दोष—

गुणो के साथ-साथ इस प्रणाली मे बहुत से दोष भी हैं। इन दोषों के कारण इस प्रणाली के स्थान पर बहुत बार कार्यानुसार प्रणाली ग्रहण की जाती है और बहुत बार समयानुसार तथा कार्यानुसार मजदूरी प्रणाली दोनो का एक ही साथ उपयोग किया जाता है। प्रमुख अवगुण निम्न प्रकार हैः—

(१) यह प्रणाली **कार्यक्षमता के बढ़ाने को प्रोत्साहन नहीं देती है।** प्रत्येक श्रमिक जानता है कि चाहे वह काम अत्यधिक तेजी के साथ करे या साधारण गति से, उसे एक पूर्व निश्चित मजदूरी ही मिलेगी। अतः वह अपनी कार्यक्षमता को बढाने का उतना प्रयत्न नही करता, जितना कि कार्यानुसार मजदूरी प्रणाली मे किया जाता है। परिणाम यह होता है कि काम में शिथिलता आती है, आविष्कार को प्रोत्साहन कम मिलता है और स्वयं श्रमिक के लिए भी भावी उन्नति की आशा कम ही जाती है।

(२) इस प्रणाली मे **निरीक्षण की अधिक आवश्यकता पड़ती है।** मालिक को बराबर सतर्क और सावधान रहना पड़ता है, जिससे मालिक की कठिनाई भी बढ जाती है और व्यवसाय के व्यय भी।

(३) इस प्रणाली मे मालिक के लिए यह जानना कठिन होता है कि कोई एक श्रमिक दूसरों की तुलना मे कितना अधिक कुशल है। **सभी को एक ही लाठी से हांका जाता है** और कुशल तथा अकुशल श्रमिकों को बराबर की मजदूरी मिलती है।

(४) इस प्रणाली मे **श्रमिकों और मालिकों के बीच मन-मुटाव की सम्भावना अधिक रहती है।** मालिक सदा श्रमिकों के काम की आलोचना करता है और इस आधार पर मजदूरी न बढाने का अनुरोध करता है कि श्रमिकों की कुशलता कम है। इसके विपरीत, श्रमिक मजदूरी बढाने पर बल देते हैं।

कार्यानुसार मजदूरी के गुण—

आधुनिक जगत मे इस प्रणाली का महत्त्व घटता जा रहा है। स्वतन्त्र रूप मे इस प्रणाली का उपयोग अब कम ही रह गया है, परन्तु समयानुसार मजदूरी के सहायक के रूप मे इसका उपयोग अब भी होता है, विशेषकर उन उद्योगों म जहां श्रमिकों की कार्यक्षमता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस प्रणाली के प्रमुख गुण निम्न प्रकार हैं —

(१) **कार्यक्षमता की वृद्धि**—इस प्रणाली म श्रमिक के लिए अपनी कार्यक्षमता मे वृद्धि करने का प्रोत्साहन बहुत रहता है। श्रमिक काम करने के सरल, वैज्ञानिक और शीघ्रगामी उपायों को ढूंढ निकालता है। इससे श्रमिकों और उत्पादकों के साथ ही साथ सारे देश और मानव-समाज का भला होता है।

(२) **न्यायशीलता**—प्रत्येक श्रमिक को उसकी कार्य-क्षमता और उसके द्वारा किए जाने वाले काम की मात्रा के अनुसार मजदूरी दी जाती है। इससे उन श्रमिकों के प्रति न्याय होता है जिनकी क्षमता अधिक है।

(३) **आय की वृद्धि**—इस प्रणाली मे श्रमिक को अधिक तेजी के साथ तथा लम्बे समय तक काम करके अधिक आय प्राप्त करने का अवसर मिलता है।

(४) **निरीक्षण-व्यय की कमी**—इस प्रणाली मे निरीक्षण व्यय बहुत कम होता है, जिसके कारण सारे उद्योग का उत्पादन व्यय कम रहता है।

(५) मन-मुटाव की कमी—इस प्रणाली में श्रमिकों और मिल-मालिकों के सम्बन्ध अधिक अच्छे रहते हैं क्योंकि कोई श्रमिक जितना काम करता है उसको नापकर निश्चित दर पर भुगतान कर दिया जाता है। स्वयं श्रमिक भी कार्य की दशाओं और दूसरी सुविधाओं के विषय में कोई विशेष चिन्ता नहीं करता है।

प्रणाली के दोष—

लाभों के साथ इस प्रणाली में कुछ गम्भीर दोष भी हैं, जिनके कारण इसका उपयोग सीमित ही रहा है और आधुनिक युग में बराबर घटता जा रहा है। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रणाली में औद्योगिक थकान बहुत होती है। श्रमिक बहुधा अपनी शक्ति से बाहर काम करता है जिसका उसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(२) गुणात्मक दृष्टि से काम घटिया होना है। तेजी के साथ काम करने के लालच में श्रमिक बहुधा इस बात पर कम ध्यान देता है कि काम कितना अच्छा हो रहा है। बारीकी और हुनर का काम तो इस प्रणाली के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त है।

(३) यह प्रणाली श्रमिकों में मेल और सहयोग की भावना के स्थान पर प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या उत्पन्न करती है। इसका श्रमिक की संगठन शक्ति और सामूहिक सौदा करने (Collective Bargaining) की शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है और श्रम-संघों में निर्बलता आती है।

(४) इस प्रणाली में रोजगार में स्थिरता नहीं आ पाती है। श्रमिक को सदा यह भय बना रहता है कि कहीं उसका रोजगार न छूट जाय। इसके अतिरिक्त, श्रमिक को बीमारी और छुट्टी के काल में कुछ नहीं मिल पाता।

(५) इस प्रणाली में बहुधा यही देखने में आता है कि जैसे-जैसे श्रमिक अधिक परिश्रम करके अपनी आय को बढ़ाता है, वैसे-वैसे मालिक मजदूरी की दर घटाता जाता है। परिणाम यह होता है कि श्रमिक का शोषण होता है।

(६) इस प्रणाली के फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ने का भय रहता है, क्योंकि लम्बे समय तक तथा अधिक तेजी के साथ काम करने के कारण श्रमिकों की माँग कम हो जाती है।

(७) इस प्रणाली में आकस्मिक घटनाओं के विरुद्ध मजदूर की किसी भी प्रकार की रक्षा नहीं होती है।

(८) कुछ लेखकों का तो यहाँ तक कहना है कि इस प्रणाली का अन्त में राष्ट्रीय लाभांश पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

कौन-सी प्रणाली श्रेष्ठ है ?

इस बात का निर्णय कठिन है कि इन दोनों प्रणालियों में से कौन सी अधिक उपयुक्त है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, आधुनिक औद्योगिक सङ्गठन में अधिक चलन समयानुसार मजदूरी का है। कार्यानुसार मजदूरी का विरोध साधारणतया संगठित श्रम की ओर से किया जाता है। परन्तु प्रो० पीगू ने पता लगाया है कि अब यह स्थिति बदलती जा रही है। वास्तविकता यह है कि दोनों प्रकार की मजदूरियाँ अलग-अलग उद्योगों के लिए उपयुक्त हैं। जिन उद्योगों में काम का प्रमापीकरण नहीं हो पाता, बारीकी और हुनर की आवश्यकता पड़ती है अथवा व्यक्तिगत रुचियों का ध्यान रखा जाता है, वहाँ समयानुसार मजदूरी अधिक उपयुक्त होती है और अन्य उद्योगों में कार्यानुसार मजदूरी। प्रो० पीगू कार्यानुसार मजदूरी के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि यदि मजदूर मिलकर सामूहिक मजदूरी की दर तय कर लें, तो ऐसी मजदूरी के अधिकांश दोष दूर किये जा सकते हैं। उनका विचार है कि दीर्घकालीन दृष्टि से इस प्रणाली का श्रमिकों के स्वास्थ्य

पर भी कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि क्रमशः श्रमिक तेजी के साथ काम करने के आदी हो जाते हैं।[1]

"आदर्श कार्यानुसार मजदूरी" अधिक उपयुक्त—

अधिक अच्छा यह होगा कि समयानुसार मजदूरी की एक न्यूनतम् दर निश्चित कर दी जाय और फिर इसके बाद कार्यानुसार मजदूरी दी जाय। ऐसी प्रणाली मे दोनों ही प्रणालियों के अधिकांश गुण बने रहेंगे। इस काम के लिए 'प्रमाप' या 'आदर्श कार्यानुसार मजदूरी' अधिक उपयुक्त होगी। ऐसी प्रणाली मे यह पता लगाया जाता है कि प्रथम श्रेणी का श्रमिक एक निश्चित समय मे कुछ निश्चित कार्य-दशाओं मे कितना काम करता है। इस काम को प्रमाप या आदर्श कार्य (Standard Task) मान लिया जाता है। मजदूरी की दर उन श्रमिको के लिए, जो आदर्श या प्रमाप कार्य करते हैं, ऊँची होती है किन्तु शेष के लिए नीची।

कार्यानुसार मजदूरी और कार्यक्षमतानुसार मजदूरी
(Task Wages and Efficiency Wages)

मजदूरी को कभी-कभी कार्यानुसार मजदूरी और कार्यक्षमतानुसार मजदूरी मे भी विभाजित किया जाता है। प्रथम प्रकार की मजदूरी प्रमाप या आदर्श मजदूरी की भाँति होती है और साधारणतया वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत पाई जाती है। इसमे एक प्रथम श्रेणी के श्रमिक द्वारा एक निश्चित समय अवधि मे किये जाने वाले काम का ध्यान मे रख कर कार्यमान निर्धारित किया जाता है और मजदूरी की दृष्टि से श्रमिको का इस आधार पर वर्गीकरण किया जाता है कि कितने श्रमिक आदर्श कार्य के बराबर काम करते हैं और कितने इससे कम? आदर्श या प्रमाप कार्य करने वाले श्रमिको को दूसरे श्रमिको की तुलना मे अधिक मजदूरी मिलती है।

कार्यक्षमतानुसार मजदूरी मे प्रत्येक श्रमिक की कार्यक्षमता का पता लगाया जाता है और उसी के अनुसार उसे मजदूरी दी जाती है। वास्तव मे इस प्रकार की मजदूरी कार्यानुसार मजदूरी का ही रूप है। प्रो० मार्शल का कहना है कि दीर्घकाल मे ऐसी मजदूरी के एक क्षेत्र मे समान रहने की ही प्रवृत्ति रहती है।

श्रम की विशेषताएँ और इनका मजदूरी पर प्रभाव

मजदूरी के निर्धारण मे मार्शल ने निम्न विशेषताओं को ध्यान मे रखने पर बल दिया है—

(१) श्रम को श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता—जो व्यक्ति श्रम का उपयोग करना चाहता है उसे श्रमिक को भी बुलाना पड़ता है। भूमि, पूंजी तथा साहस को उनके स्वामियों से पूर्णतया अलग किया जा सकता है, परन्तु श्रम को नहीं। इसके कई महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं, जैसे—(i) श्रम की गतिशीलता कम होती है अर्थात् श्रमिक के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान अथवा एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे जाना अन्य साधनों की तुलना मे अधिक कठिन होता है। इसी का यह परिणाम है कि विभिन्न स्थानो पर तथा विभिन्न व्यवसायों मे मजदूरियो मे अन्तर बना रहता है, क्योंकि एक स्थान अथवा व्यवसाय मे ऊँची मजदूरी होने हुए भी गतिशीलता के अभाव के कारण श्रमिक वहाँ नहीं जाते। (ii) श्रम का मूल्य, अर्थात् मजदूरी कम से कम इतनी अवश्य रहनी चाहिए कि श्रमिक जीवित रह सके। श्रमिक के समाप्त होते ही श्रम स्वयं ही समाप्त हो जायगा। यही कारण है कि यद्यपि अन्य साधनों की कीमत की कोई न्यूनतम् सीमा नहीं होती, किन्तु मजदूरी की एक न्यूनतम सीमा अवश्य रहती है। (iii) श्रम मनुष्य का परिश्रम होता है, इसलिए श्रमिक को एक

---

[1] Pigou : *Economics of Welfare*, p. 487.

साधारण वस्तु की भाँति उपयोग नहीं किया जा सकता। उत्पादक के लिए श्रम-कल्याण की योजनाओं को कार्यशील करना बहुधा आवश्यक होता है।

(२) **श्रम एक अति शीघ्र नाशवान वस्तु है**—श्रम की यह विशेषता भी महत्त्वपूर्ण है। श्रम का नाश शीघ्र हो जाता है। अन्य उत्पत्ति-साधनों की भाँति श्रम को जमाकरके रख लेना सम्भव नहीं होता। यदि हम एक दिन कार्य नहीं करते है, तो दूसरे दिन दूना कार्य नहीं कर सकेंगे। आज कार्य न करने का परिणाम यह होता है कि हमारा आज का श्रम नष्ट हो गया। इस प्रकार, खोये हुए श्रम को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि श्रमिक अपने श्रम को बेचने के लिए उत्सुक रहता है। उसके लिए प्रतीक्षा करना सम्भव नहीं होता। इसका मजदूरी पर बुरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इससे श्रमिक की सौदा-शक्ति कम हो जाती है।

(३) **श्रमिक अपना श्रम बेचता है, परन्तु स्वयं अपना स्वामी रहता है**—जबकि अन्य उत्पत्ति-साधनों का स्वामित्व विक्रय पर बदला जा सकता है, तब श्रमिक अपने श्रम को बेचकर भी स्वयं अपना स्वामी बना रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिक के पालन-पोषण और शिक्षण पर जितना व्यय होता है वह सारा का सारा सदा के लिए उसी मे लगकर रह जाता है और केवल धीरे-धीरे ही फल देता है।

(४) **श्रम की पूर्ति में परिवर्तन धीरे-धीरे होते हैं**—उत्पत्ति के दूसरे साधनों की तुलना मे श्रम की पूर्ति अधिक बेलोच होती है। श्रम की माँग के बढ़ जाने की दशा म श्रम की पूर्ति अकस्मात् नहीं बढ़ाई जा सकती है। इसमे बहुधा लम्बा समय लगता है, क्योंकि श्रम की पूर्ति जन-संख्या के आकार और श्रम की कार्य-कुशलता पर निर्भर होती है और इन दोनों को बढ़ाने म बहुत समय लगता है। इसी प्रकार, श्रम की माँग घट जाने पर श्रम की पूर्ति को शीघ्र ही घटा देना सम्भव नहीं होता। इसके अतिरिक्त, किसी विशेष प्रकार के श्रम को तैयार करने के लिए भी प्रशिक्षण आदि पर अधिक समय एवं धन लगाना पड़ता है। परिणामतः श्रम की माँग की लोच के अनुपात मे उसकी पूर्ति की लोच कम रहने के कारण मजदूरी की दरों म अल्पकालीन परिवर्तन अधिक होते हैं। पूर्ति की लोच का अभाव माँग और पूर्ति का सन्तुलन नहीं होने देता।

(५) **श्रमिकों की सौदा-शक्ति सेवायोजक की तुलना मे कम होती है**—इसके कई कारण हैं, जैसे—(i) श्रमिकों की सख्या मिल-मालिकों की सख्या स बहुत अधिक होती है और अधिक व्यक्तियों का आपस मे मिलकर सङ्गठन कर लेना कठिन होता है। (ii) श्रमिक प्रायः निर्धन होते हैं और पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे पूंजीपति पर आश्रित होते हैं। (iii) श्रमिकों मे अशिक्षा और अज्ञान अधिक होता है और वे रूढ़िवादी भी अधिक होते हैं। (iv) श्रमिकों मे प्रायः आपसी फूट और डाह बनी रहती है और सेवायोजक इस डाह को बढ़ाकर उनकी सौदा-शक्ति को घटा सकता है। (v) जबकि जन-संख्या मे बराबर वृद्धि होती रहती है—जिससे श्रम की पूर्ति बराबर बढ़ती जाती है, रोजगार का विस्तार पूंजीवादी प्रणाली मे उतनी तेजी के साथ नहीं हो पाता। इसी विषमता का परिणाम यह है कि मजदूरी की दरों मे गिरने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

(६) **श्रम उत्पत्ति का सक्रिय साधन है**—वैसे तो उत्पादन के लिए सभी उत्पत्ति-साधनों की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु इन सबमे श्रम सबसे सक्रिय साधन है। श्रम के बिना उत्पत्ति के अन्य साधन बेकार ही रहते हैं। पुराने अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन क्रिया मे भूमि की तुलना माता और श्रम की पिता से की है। इसका परिणाम यह होता है कि कोई भी सेवायोजक बिना श्रमिकों के काम नहीं चला सकता है। श्रमिक जब मजदूरी बढ़ाने के लिए हड़ताल करते है, तो बहुधा सफलता का मूल कारण यही होता है कि श्रमिक के बिना काम नहीं चल सकता है।

(७) **श्रमिक को कार्य करने पर बाध्य नहीं किया जा सकता है**—श्रमिक द्वारा कार्य करना या न करना उसकी अपनी स्वेच्छा पर निर्भर होता है। उसे कार्य करने पर बाध्य नहीं किया

जा सकता है। पुराने काल की दास-प्रथा में तो कार्य छोड़ने की स्वतन्त्रता न थी, परन्तु अब ऐसी बात नही है।

मजदूरी के सिद्धान्त

मजदूरी के सिद्धान्तो का अध्ययन एडम स्मिथ से आरम्भ होता है और एडम स्मिथ के शिष्यों ने इस अध्ययन को आगे बढाने का प्रयत्न किया है। तब से अब तक मजदूरी के अनेक सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है। पुराने अर्थशास्त्रियो ने मजदूरी का अध्ययन केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से किया था, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इसमे व्यावहारिकता लाने का भी प्रयत्न करते हैं। मजदूरी के सिद्धान्तों का हम उनके ऐतिहासिक क्रम मे अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे। प्रमुख सिद्धान्त नीचे समझाये गये हैं।

(I) मजदूरी का जीवन रक्षा सिद्धान्त
(The Subsistence Theory of Wages)

इस सिद्धान्त का निर्माण सर्वप्रथम फ्रास के प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों ने किया था। उन्होने यह देखा था कि फ्रांस मे मजदूरी लम्बे समय से जीवन-रक्षा-स्तर पर ही बनी रही थी, इसलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि प्रकृति स्वयं मजदूरी को जीवन-रक्षा-स्तर पर ले जाती है। आगे चलकर रिकार्डो ने माल्थस के जन-संख्या के सिद्धान्त के आधार पर इस सिद्धान्त का समर्थन किया। रिकार्डो के पश्चात् समाजवादी अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त के आधार पर पूँजीवाद की कडी आलोचना की। लसाले (Lassalle) ने इसे 'लोह सिद्धान्त' (Iron Law of Wages) का नाम दिया और कार्ल मार्क्स ने इसे अपने शोषण सिद्धान्त का आधार बनाया।

मजदूरी के जीवन-रक्षा सिद्धान्त की प्रमुख बातें—

इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी श्रमिकों के जीवन-रक्षा-व्यय के बराबर होती है। मजदूरी की दर ऐसी होगी जिससे कि श्रमिक को जीवित रहने के लिए पर्याप्त मिलता रहे। दीर्घकाल में मजदूरी की प्रवृत्ति यह होगी कि वह जीवन-रक्षा व्ययो से न तो अधिक होगी और न कम। जैसा कि माल्थस ने कहा था, यदि श्रमिकों को जीवन-रक्षा-स्तर से ऊँची मजदूरी दी जाती है, तो उनकी आर्थिक सम्पन्नता बढ़ेगी और वे अधिक बच्चे पैदा करेंगे। इससे जन-संख्या के बढ़ने के कारण श्रम की पूर्ति बढ जायेगी और मजदूरी घटने लगेगी। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि मजदूरी गिर कर जीवन-रक्षा के न्यूनतम् स्तर पर नहीं आ जायेगी। इसके विपरीत, यदि श्रमिक को जीवन-रक्षा-स्तर से नीची मजदूरी मिलती है, तो भर-पेट भोजन न मिलने के कारण बहुत से श्रमिक मर जायेंगे। इसके अतिरिक्त आर्थिक कष्टों के बढ जाने के कारण श्रमिक सन्तान भी कम पैदा करेंगे। इस प्रकार श्रम की पूर्ति घट जायगी, जिससे मजदूरी मे वृद्धि होगी। वृद्धि का यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक मजदूरी बढकर फिर जीवन-रक्षा-स्तर पर नहीं आ जायगी।

इस प्रकार दीर्घकालीन मजदूरी केवल इतनी होती है कि श्रमिक के शरीर मे प्राण बने रहें। वह इससे कम या अधिक नही हो सकती है। यह नियम इतनी कठोरता के साथ लागू होता है कि इसे 'लोह नियम, का नाम दे दिया गया है। इस प्रकार जो मजदूरी निश्चित होती है उसी को प्राकृतिक मजदूरी (Natural Wages) कहा जाता है।

मजदूरी के जीवन-रक्षा-सिद्धान्त की आलोचना—

यह स्पष्ट है कि मजदूरी का यह सिद्धान्त माल्थस के जन-संख्या के सिद्धान्त पर आधारित है और इसलिये उसकी सत्यता भी एक बड़े अंश तक उपरोक्त सिद्धान्त पर ही निर्भर है। सिद्धान्त के सबसे बड़े समर्थक रिकार्डो रहे है, परन्तु स्वयं रिकार्डो ने स्वीकार किया है कि मजदूरी

जीवन-रक्षा-स्तर से ऊँची उठ सकती है। जैसाकि लमार्श ने बतलाया है, रिकार्डो यह भली-भाँति जानते थे कि मजदूरी की कोई भी प्राकृतिक दर नहीं होती है और मजदूरी स्थानीय दशाओं और प्रचलित रीति-रिवाज आदि द्वारा निर्धारित होती है। यही नहीं, रिकार्डो जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के महत्व को भी समझते थे। कुछ भी हो, मजदूरी का जीवन-रक्षा सिद्धान्त सही प्रतीत नहीं होता। इसकी प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार है :—

(१) **गलत तर्क पर आधारित**—यह तर्क गलत है कि मजदूरी बढने के साथ-साथ जन-संख्या भी बढ़ेगी। संसार के लगभग सभी देशों का अनुभव इसके विपरीत ही है। यूरोप के देशों में मजदूरी और आय के बढने के फलस्वरूप जन-संख्या के बढने के स्थान पर जीवन-स्तर ऊँचा उठा है, जिसके कारण जन-संख्या उल्टी घट गई है।

(२) **कार्यक्षमता के महत्त्व की उपेक्षा**—इस सिद्धान्त में जीवन-स्तर और कार्यक्षमता की रक्षा के महत्व को भुला दिया गया है। श्रम की पूर्ति के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि श्रमिक जीवित रहे, बल्कि यह भी आवश्यक है कि श्रमिक की कार्यशक्ति बनी रहे। अतः इस दृष्टि से मजदूरी न्यूनतम् जीवन-रक्षा-व्ययों के स्तर से ऊपर रहनी चाहिए।

(३) **विभिन्न व्यवसायों तथा स्थानों में मजदूरी की दरें अलग-अलग होने का स्पष्टीकरण नहीं**—मजदूरी का प्राकृतिक नियम यह नहीं बताता है कि संसार भर में विभिन्न श्रमिकों की मजदूरी की दर में अन्तर क्यों होते है, जबकि जीवन-रक्षा-व्यय प्रायः सभी स्थानों पर लगभग समान ही रहते हैं। इसी प्रकार, विभिन्न व्यवसायों और कालों में भी मजदूरी की दरों में अन्तर नहीं होने चाहिए किन्तु वास्तविक जीवन में मजदूरी के अन्तर बहुत व्यापक तथा स्पष्ट होते हैं। इससे तो यही पता चलता है कि मजदूरी पर प्राकृतिक नियमों की अपेक्षा परिस्थितियों का ही प्रभाव अधिक पड़ता है।

(४) **मांग-पक्ष की अवहेलना**—यह सिद्धान्त अधूरा है, क्योंकि इसमें केवल श्रम की पूर्ति पर विचार किया गया है। निस्सन्देह जीवन-रक्षा-व्यय एक बड़े अंश तक श्रम की पूर्ति को निश्चित करता है, परन्तु श्रम की मांग पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। श्रम की मांग तो श्रम की उत्पादकता पर निर्भर होती है, क्योंकि मजदूरी की समस्या श्रम के मूल्य निर्धारण की समस्या है, अतः केवल पूर्ति की विवेचना से काम नहीं चलेगा।

(५) **आविष्कार आदि के प्रभावों को समझाने में असमर्थ**—यह सिद्धान्त यह समझाने में असमर्थ रहता है कि आविष्कारों, उत्पादन की रीतियों में सुधार और श्रम-संघों की कार्यवाहियों के कारण मजदूरी की दरों में परिवर्तन क्यों हो जाते हैं।

(६) **निम्नतम् दर को ही वास्तविक दर मान लेना**—यह सिद्धान्त मजदूरी की निम्नतम् दर को ही उसकी वास्तविक दर मान लेता है। शायद यह कहना अधिक सही होगा कि मजदूरी की निम्नतम् दर जीवन-रक्षा-स्तर से नीचे नहीं गिर सकती है, क्योंकि वैसा होने पर श्रम की पूर्ति घटकर शून्य पर पहुँच जायगी।

(II) मजदूरी का जीवन-स्तर-सिद्धान्त
(The Standard of Living Theory of Wages)

ऐतिहासिक दृष्टि से इस सिद्धान्त का निर्माण बहुत बाद में हुआ है। परन्तु क्योंकि यह सिद्धान्त उपरोक्त सिद्धान्त पर सुधार के रूप में प्रतिपादित किया गया है, इसलिए इसका अध्ययन जीवन-रक्षा-सिद्धान्त के साथ ही साथ कर लेना अधिक उपयुक्त है।

जीवन-स्तर सिद्धान्त क्या है ?

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मजदूरी जीवन-रक्षा-स्तर के स्थान पर जीवन-स्तर द्वारा निर्धारित होती है। इसका अभिप्राय यह है कि मजदूरी जीवन-रक्षा-स्तर से ऊँची रहती है,

क्योकि श्रमिक की कार्य-क्षमता की रक्षा भी आवश्यक है, जिससे कि वह वास्तविक अर्थ मे उत्पत्ति मे अपना सहयोग दे सके। इस सिद्धान्त के अनुसार श्रमिकों की मजदूरी मे उस स्थान पर तय होने की प्रवृत्ति रहती है जहां पर कि श्रमिको के लिए अपना जीवन-स्तर बनाये रखना सम्भव हो सके। इस प्रकार, किसी भी श्रमिक वर्ग की मजदूरी उसके रहन-सहन के दर्जे द्वारा निर्धारित होती है। निश्चय है कि इस प्रकार की मजदूरी सभी श्रमिकों के लिए समान नही हो सकती है और साथ ही ऐसी मजदूरी का श्रमिको की कार्यक्षमता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक मार्शल हैं।

यहाँ जीवन स्तर का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। मार्शल के अनुसार श्रमिक के किसी वर्ग का जीवन-स्तर आवश्यक, आरामदायक और विलास की वस्तुओं के उस समूह द्वारा सूचित होता है, जिसके उपभोग की उस वर्ग को आदत पड जाती है अथवा जिसका वह वर्ग अभ्यस्त हो जाता है। चूँकि श्रमिक की कार्यक्षमता एक बड़े अश तक उसके जीवन-स्तर पर निर्भर होती है, इसलिए जीवन-स्तर को बनाये रखना कार्यक्षमता की रक्षा के लिए आवश्यक है।

जीवन-स्तर-सिद्धान्त की आलोचना—

गुण—निस्सन्देह यह सिद्धान्त मजदूरी के जीवन-रक्षा-सिद्धान्त पर एक भारी सुधार है और मजदूरी की दर पर जीवन-स्तर का प्रभाव कई प्रकार से पड़ता है, जैसे:—(i) यदि श्रमिकों का एक निश्चित जीवन-स्तर है, तो वे दृढतापूर्वक उसी के अनुसार उपयुक्त मजदूरी की मांग करेंगे। (ii) जीवन-स्तर का प्रत्येक परिवर्तन कार्यक्षमता म भी परिवर्तन कर देता है, जिसका श्रमिक की उत्पादकता पर अवश्य प्रभाव पडता है और श्रमिक की उत्पादकता की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी मजदूरी पर भी अपना प्रभाव डालती है। ये दोनो बातें इस सिद्धान्त के गुणों को दिखाती हैं।

दोष—परन्तु सिद्धान्त की आलोचना के रूप म यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यथार्थ मे मजदूरी और जीवन-स्तर में इतना प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है जितना कि इस सिद्धान्त मे दर्शाया गया है। सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएं निम्न प्रकार है —(१) **यह निश्चित कठिन करना है कि जीवन-स्तर मजदूरी द्वारा निर्धारित होता है अथवा मजदूरी जीवन-स्तर के द्वारा।** अनुभव बताता है कि श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय मजदूरी मे वृद्धि करना है। बिना मजदूरी को बढाये ऊँचे जीवन-स्तर की कल्पना भी नही की जा सकती है। (२) **जीवन-स्तर मजदूरी को प्रभावित करने वाली अनेक बातो मे से केवल एक है।** यदि यह मान भी लिया जाय कि ऊँचा जीवन-स्तर श्रमिक की कार्यक्षमता और सौदा-शक्ति को बढा कर मजदूरी मे वृद्धि सम्भव बना देता है, तो यह समझना भूल होगी कि मजदूरी पर केवल जीवन-स्तर का ही प्रभाव पडता है। अन्य अनेक बातें भी मजदूरी की दर को प्रभावित करती हैं। इनका विवेचन इसी अध्याय मे आगे किया गया है। (३) **जीवन-स्तर का प्रभाव भी साधारणतया श्रम की पूर्ति पर ही पड़ता है**, क्योंकि गुणात्मक दृष्टि से श्रम की पूर्ति श्रमिक की कार्य-क्षमता पर निर्भर होती है। (४) **श्रम की मांग पर जीवन-स्तर का प्रभाव बड़ा परोक्ष और अस्पष्ट ही होता है**, अतः यह सिद्धान्त भी मुख्यतया श्रम की पूर्ति की ही विवेचना करता है। फिर भी इस सिद्धान्त के पक्ष मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसम सत्यता का कुछ अश अवश्य है।

(III) मजदूरी-निधि अथवा मजदूरी-कोष सिद्धान्त

(The Wage Fund Theory)

ब्रिटिश अर्थशास्त्री लम्बे काल तक इस सिद्धान्त के पक्षपाती रहे हैं। इसका निर्माण सबसे पहले **एडम स्मिथ** ने किया था। बाद को **माल्थस** और **रिकार्डो** ने भी इसका समर्थन किया।

चूँकि इस सिद्धान्त को अन्तिम रूप मिल ने दिया, इसलिये इसे बहुधा मिल ही के नाम से सम्बन्धित किया जाता है।

मजदूरी-कोष सिद्धान्त की विशेषताएँ—

मिल का कहना है कि मजदूरी उस कोष अथवा निधि पर निर्भर होती है जो कि एक नियोक्ता अथवा सेवायोजक स्वेच्छा से श्रमिकों को देने के लिए अलग रख देता है। अपनी इच्छा के अनुसार सेवायोजक यह निर्णय कर लेता है कि वह अपनी बचाई हुई पूँजी का, जिसे उसने अपनी भूतकालीन आय में से बचाया है, कौन-सा भाग मजदूरी पर व्यय करेगा। इस प्रकार बचाई हुई पूँजी की जो मात्रा मजदूरी के लिए अलग रख दी जाती है, उसे **"मजदूरी कोष"** कहते है। कुल मजदूरी इसी कोष में से दी जाती है और प्रत्येक श्रमिक को श्रमिकों की सख्या के अनुपात में मजदूरी मिलती है।

इस प्रकार, इस सिद्धान्त के अनुसार, मजदूरी की दर दो बातो पर निर्भर होती है—(i) मजदूरी-कोष की मात्रा और (ii) जन-सख्या का आकार। इसमें से प्रथम का निर्धारण पूँजीपति की स्वेच्छा पर निर्भर होता है और दूसरी का प्राकृतिक कारणों पर, जो साधारणतया मनुष्य के अधिकार-क्षेत्र से बाहर होते है। अत. मजदूरी बढाने के दो उपाय हो सकते हैं—या तो मजदूरी-कोष की मात्रा बढाई जाय, अर्थात् पूँजीपति अपनी पूँजी का अधिक भाग मजदूरी-कोष में रखे या जन-सख्या को कम किया जाय, जिससे कि मजदूरी-कोष में से हिस्सा पाने वालों की सख्या घट जाय।

मजदूरी सिद्धान्त की आलोचना—

सच तो यह है कि इस सिद्धान्त को एक 'सिद्धान्त' कहना ही गलत है, क्योकि, (i) इसमें यह नहीं बताया गया है कि मजदूरी-कोष का निर्धारण किस आधार पर किया जाता है। यदि मजदूरी-कोष सेवायोजक की स्वेच्छा पर निर्भर है, तो फिर उसका कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं हो सकता। (ii) ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इस सिद्धान्त में **श्रम को मांग की विवेचना** बडे ही भोंडे ढग से की गई है। मजदूरी-कोष का आकार परोक्ष रूप में श्रम की मांग का सूचक होता है। चालू पूँजी का जो भाग मजदूरो में बाँटने के लिये रख दिया जाता है उसी के अनुसार श्रमिको की मांग रहती है। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त भी अधूरा है। कोई भी सिद्धान्त जो श्रम की मांग और पूर्ति दोनो ही की विवेचना न करे, मजदूरी का निर्धारण कर ही नही सकता। (iii) इस सिद्धान्त में एक उल्टा तरीका अपनाया गया है। मजदूरी-कोष मजदूरी की दर निर्धारण नहीं करता, बल्कि स्वय मजदूरी-कोष विभिन्न मजदूरियों के योग के बराबर होता है। (iv) यह सिद्धान्त मजदूरी पर प्रतियोगिता के प्रभाव को स्पष्ट नहीं करता। एक निश्चित समय में मजदूरी-कोष और जन-संख्या निश्चित होते है, इसलिए मजदूरी की दर में परिवर्तन नहीं होने चाहिए, परन्तु वास्तविक जीवन में इस प्रकार के परिवर्तन बराबर होते रहते हैं। (v) यह सिद्धान्त यह नहीं बताता है कि मजदूरी-कोष का निर्धारण कैसे होता है। (vi) अनुभव बताता है कि बहुधा ऊँची मजदूरियों का कारण मजदूरी-कोष अधिक होना नहीं है बल्कि श्रमिकों की बढ़ी हुई कार्य-कुशलता है। (vii) यह सिद्धान्त श्रम की मांग (मजदूरी-कोष) को यथास्थिर मानकर मजदूरी को केवल श्रम की पूर्ति पर आश्रित बना देता है।

(IV) अवशिष्ट अधिकारी सिद्धान्त

(Residual Claiment Theory)

इस सिद्धान्त को अमेरिकन अर्थशास्त्री वाकर के नाम से सम्बन्धित किया जाता है।

अवशिष्ट अधिकारी सिद्धान्त क्या है ?

वाकर का विचार है कि लगान, ब्याज और लाभ स्वतन्त्र रूप मे निश्चित होते हैं और इनके निर्धारण का उद्योग से कोई सम्बन्ध नही होता, परन्तु मजदूरी निर्धारण पर कोई निश्चित नियम लागू नही होता। कुल उपज की कीमत मे से लगान, ब्याज और लाभ को निकाल कर जो शेष रहे वही श्रमिको को मिलना है। इस प्रकार मजदूरी अवशिष्ट (Residue) मे से दी जाती है।[1] इसी कारण, वाकर के सिद्धान्त का नाम मजदूरी का अवशिष्ट अधिकारी सिद्धान्त पड़ा।

वाकर के अनुसार मजदूरी केवल उसी दशा मे बढ सकती है जबकि श्रमिकों की कार्यक्षमता मे वृद्धि हो जाने के कारण कुल उत्पत्ति बढ़े, परन्तु लगान, ब्याज, लाभ और इस प्रकार के दूसरे दायित्वो की मात्रा निश्चित रहती है। वाकर ने इस सत्य को स्वीकार किया है कि अधिक परिश्रम करने के फलस्वरूप श्रमिको की मजदूरी बढ़ सकती है। वाकर से ही मिलता-जुलता मत जेवन्स का भी है, परन्तु दोनों के विचारो मे थोड़ा अन्तर है। वाकर के अनुसार, कुल उत्पत्ति की कीमत मे से लगान, ब्याज और लाभ को देकर जो कुछ बचता है वह सबका सब श्रमिकों को मिलता है।[2] इसके विपरीत, जेवन्स के अनुसार कुल उपज मे से लगान, कर और पूंजी का ब्याज निकालने के बाद मजदूरी शेष रह जाती है।[3]

अवशिष्ट अधिकारी सिद्धान्त की आलोचना—

पिछले सिद्धान्तो की भाँति यह सिद्धान्त भी अधूरा है। इस सिद्धान्त की आलोचनाएँ निम्न प्रकार है :—(१) इस सिद्धान्त मे श्रम की मांग और पूर्ति के प्रभाव को बिल्कुल भुला दिया गया है। श्रमिको को तो बचा-खुचा ही मिलेगा, चाहे उनकी मांग और पूर्ति की दशाएँ कैसी भी क्यो न हो। वास्तविकता यह है कि अन्य वस्तुओं के मूल्य की भांति श्रम का मूल्य (अथवा मजदूरी) भी श्रम की मांग और पूर्ति पर निर्भर होता है। (२) इस सिद्धान्त मे श्रम-संघों और सामूहिक सौदा करने के महत्व को भी स्वीकार नहीं किया गया है। मजदूरी तो अवशेष है। श्रम-संघ इस अवशेष को नही बढा सकते, क्योकि लगान, ब्याज आदि के निर्धारण पर उनका किसी प्रकार का अधिकार नही होता है। इस प्रकार श्रम-संघो का निर्माण बेकार है, परन्तु व्यावहारिक अनुभव इसके विपरीत है। (३) प्रत्येक व्यवसाय में अवशेष का अधिकारी साहसी अथवा उत्पादक होता है, श्रमिक नहीं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने साहसी को ही अवशिष्ट अधिकारी बतलाया है और यह ठीक भी है। (४) इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी का कोई निश्चित नियम नहीं है। किन्तु तथ्य यह है कि सभी उत्पत्ति-साधन स्वभाव म एक जैसे होते हैं। अत भूमि, पूंजी और साहस के मूल्य-निर्धारण के सिद्धान्त श्रम के मूल्य-निर्धारण पर भी लागू होने चाहिए। (५) वाकर का यह कथन भी गलत है कि लगान, ब्याज और लाभ उद्योग में स्वतन्त्र रूप से निर्धारित होते हैं। वास्तविक जीवन मे इन तीनों का ही उद्योग से गहरा सम्बन्ध है।

---

1 'Rent, interest and profits are fixed by economic considerations qeite independent of the Industry……when from the total product we deduct the combined shares of land, capital and enterpreneur, that which is left as a residue, would go to the labourers as wages"—Walker

2 "Wages are equal to the whole product minus rent, interest & profits" —Walker.

3 "The wages of working men are ultimately coincident with what he produces, after the deduction of rent, taxes and the interest on capital" —Stanley Jevons.

(V) मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त
(The Marginal Productivity Theory of Wages)

इस सिद्धान्त का थोड़ा-सा अध्ययन एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यह सिद्धान्त वितरण का एक ऐसा सिद्धान्त है जो उत्पत्ति के सभी साधनों का मूल्य निर्धारित करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का दीर्घकालीन पारितोषण उसकी सीमान्त उपज की कीमत के बराबर होता है यद्यपि अल्पकाल में यह इससे कम या अधिक हो सकता है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की प्रमुख बातें—

यदि पारितोषण सीमान्त उपज की कीमत से अधिक है, तो सेवायोजक कुछ श्रमिकों को काम से हटाएगा। इससे श्रम की माँग घटेगी और मजदूरी नीचे गिरेगी। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा, जब तक मजदूरी घटते-घटते सीमान्त उपज के बराबर न हो जाय। कारण, जब मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत से अधिक होती है, तो सीमान्त श्रमिक को उसके द्वारा की गई उत्पत्ति से अधिक मूल्य दिया जाता है, जिससे उत्पादक को हानि होती है और यह हानि श्रमिक को काम से हटाकर दूर की जा सकती है। उत्पादक की ऐसी हानि उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत से ऊँची रहेगी, इसलिए ऐसे समय तक श्रम की माँग बराबर घटती रहेगी और इसके कारण मजदूरी भी नीचे गिरती रहेगी।

इसके विपरीत, यदि मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत से कम है, तो सीमान्त श्रमिक को काम पर लगाने से उत्पादन को लाभ होगा। वह अधिक श्रमिकों को काम पर लगा कर अपने कुल लाभों को बढ़ा सकता है। इसके फलस्वरूप श्रमिक की माँग में वृद्धि होगी और मजदूरियाँ ऊपर उठेंगी। यह स्थिति उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि मजदूरी बढ़कर सीमान्त उपज की कीमत के बराबर न हो जाय, क्योंकि केवल उसी दशा में श्रमिकों की संख्या बढ़ाकर कुल लाभ में वृद्धि करने की सम्भावना समाप्त होगी।

अतः यद्यपि कुछ काल के लिए मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत से कम या अधिक हो सकती है, परन्तु साम्य की दशा में वह उसके बराबर ही होगी। इस सिद्धान्त के अनुसरण हेतु सीमान्त उपज का पता लगाना आवश्यक है। इसके लिए उत्पत्ति के अन्य साधनों की मात्रा को यथास्थिर रखकर किसी एक साधन की मात्रा को एक इकाई से घटाया-बढ़ाया जाता है। परिणाम-स्वरूप, कुल उपज की मात्रा में जो कमी या वृद्धि हो वही सीमान्त उपज कहलाती है। बाजार भाव पर सीमान्त उपज की कीमत निकाली जा सकती है। यही कीमत उस साधन के पारितोषण को निर्धारित करती है जिसकी मात्रा में हमने परिवर्तन किया था। उदाहरणस्वरूप, यदि भूमि, पूँजी और साहस की निश्चित मात्राओं के साथ श्रम की १० इकाइयाँ उपयोग करने पर ५० इकाई उत्पत्ति प्राप्त होती है और ११ इकाइयाँ उपयोग करने पर कुल उपज ५४ इकाई होती है, तो श्रम की सीमान्त उपज ४ इकाई उत्पत्ति के बराबर होगी और यही दीर्घकालीन मजदूरी की दर को निश्चित करेगी।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के गुण-दोष—

इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें उत्पत्ति के सभी साधनों के पारितोषण को एक ही रीति से निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। वैसे भी सीमान्त विवेचन आधुनिक आर्थिक विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण आधार है। सिद्धान्त इस कारण भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि सेवायोजक की दृष्टि से श्रम की माँग अथवा किसी अन्य उत्पत्ति-साधन की माँग साधन-विशेष की उत्पादकता पर निर्भर होती है।

किन्तु यह सिद्धान्त भी निम्न कारणों से अधूरा है—(i) सीमान्त उत्पादकता श्रम की माँग को निश्चित करती है, परन्तु श्रम की पूर्ति पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अतः इस

सिद्धान्त मे केवल श्रम की माँग की विवेचना करके मजदूरी को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। पूर्ति की विवेचना छोड़ दी गई, जो ठीक नहीं है। (ii) यह सिद्धान्त सभी दशाओं में लागू नहीं होता क्योंकि यदि विभिन्न उत्पत्ति साधनों के बीच प्रतिस्थापन नहीं हो सकता है, तो सीमान्त उपज का पता नहीं लगाया जा सकता है। (iii) यदि सीमान्त उत्पादकता ही मजदूरी को निर्धारित करती है तो फिर श्रम-संघ बेकार ही होंगे, क्योंकि सीमान्त उत्पादकता को बढ़ाए बिना मजदूरी नहीं बढ़ाई जा सकती है। किन्तु वास्तविक जीवन म हम यह देखते है कि श्रम-संघ श्रमिकों की सौदा-शक्ति को बढ़ा कर मजदूरी म वृद्धि करा देते है। (iv) यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता पर आधारित है, जबकि वास्तविक जीवन मे केवल अपूर्ण प्रतियोगिता ही पाई जाती है। (v) यह दीर्घकालीन सिद्धान्त है। (vi) जैसा कि टाउजिग ने कहा है, मजदूरी एक प्रकार का अग्रिम भुगतान होती है। चूँकि उत्पत्ति को बेच कर कीमत प्राप्त करने से पहले ही उत्पादक मजदूरी चुका देता है, इसलिए इनमे से कुछ प्रकार को कटौती हो जाती है।

(VI) मजदूरी का सीमान्त बट्टा उपज सिद्धान्त

(Discounted Marginal Product Theory of Wages)

यह सिद्धान्त सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पर आधारित है, परन्तु टाउजिग ने उपरोक्त सिद्धान्त म कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया है।

सीमान्त बट्टा उपज सिद्धान्त की प्रमुख बातें—

उसका कहना है कि मजदूरी का चुकाना उसी दिन आवश्यक हो जाता है जिस दिन कि उत्पत्ति का कार्य आरम्भ किया जाता है। परन्तु उत्पत्ति मे समय लगता है। उपज के तैयार हो जाने पर भी उत्पादक को उसकी कीमत तुरन्त नहीं मिल जाती वरन् इसे बेचने में समय लगता है। इस प्रकार सेवायोजक ने जिस श्रमिक की मजदूरी आज चुकाई है उसकी उपज की कीमत उसे कई महीने बाद प्राप्त होती है। फलतः मजदूरी एक प्रकार से अग्रिम के रूप में होती है। स्पष्टतः मजदूरी चुकाने और उपज को बेचकर कीमत प्राप्त कर लेने के बीच के काल के लिए सेवायोजक को उस पूँजी पर, जो उसने मजदूरी के रूप में उपयोग की है, ब्याज की हानि होती है। वह ब्याज की राशि मजदूरी में से काट ली जाती है।

इस प्रकार, मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत मे से इस काल का ब्याज काट कर दी जाती है। अन्य शब्दों में, श्रमिक को उसकी सीमान्त उपज की कुल कीमत प्राप्त नहीं होती, वरन् उसमे से बट्टा लिया जाता है। इसी कारण टाउजिग ने मजदूरी को 'सीमान्त बट्टा उपज' कहा है। उनके ही शब्दो मे, "मजदूरी के सामान्य सिद्धान्त को सरल और स्पष्ट शब्दों मे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि मजदूरी श्रम की बट्टा की हुई सीमान्त उपज द्वारा निर्धारित होती है।"[1] वे यह मानते हैं कि जो कुल उत्पत्ति होती है वह सम्मिलित उपज होती है, जिसम उत्पत्ति के सभी साधनों का हिस्सा रहता है। उनका विचार है कि मजदूरी के विषय मे बट्टे का लगाना आवश्यक है।

सीमान्त बट्टा उपज सिद्धान्त की आलोचना—

इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं:—(i) यदि सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त गलत है, तो इस सिद्धान्त को भी सही मान लेना सम्भव नहीं है। (ii) यह बात समझ मे नहीं आती कि केवल मजदूरी ही बट्टा काटकर क्यो दी जाती है। उत्पत्ति के लगभग सभी साधनों

1 "The simplest and the clearest mode of stating the theory of general wages is to say that the wages are determined by the Discounted Marginal product of Labour."—Taussig. *Principles of Economics*, p. 24.

को अग्रिम के रूप मे भुगतान दिया जाता है। अत: सभी साधनो के पारितोषण मे से बट्टा काटना चाहिए न कि केवल मजदूरी मे से। (iii) बट्टे के रूप मे जो कुछ काट लिया जाता है वह भी किसी न किसी साधन को अवश्य मिलता होगा, तो क्या टाउजिग के इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज-दर बढ़ जायेगी ? टाउजिग ऐसा स्वीकार नही करते है।

(VII) मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त
(The Modern Theory of Wages)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि आधुनिक अर्थशास्त्री वितरण की समस्या को मूल्य निर्धारण की ही एक विशेष दशा समझते है। उत्पत्ति के साधनों और साधारण वस्तुओ मे लगभग कुछ भी अन्तर नहीं होता। उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का पारिश्रमिक अथवा पारितोषण यथार्थ में उसकी कीमत होती है, इसलिए प्रत्येक साधन का पारितोषण भी मांग और पूर्ति के सिद्धान्त द्वारा निश्चित होना चाहिए। साम्य की दशा में मजदूरी उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ श्रम के लिए मांग उसकी पूर्ति के बराबर होगी।

(१) **श्रम के लिए मांग** (Demand for Labour)—श्रम के लिए मांग एक व्युत्पादित मांग (Derived Demand) होती है। यह उन वस्तुओ की मांग से निकलती है, जिनका उत्पादन करने मे वह सहायक बनती है। किसी उत्पाद के लिए मांग जितनी अधिक होगी, उसे बनाने में श्रम के लिए उत्पादक द्वारा उतनी ही अधिक मांग की जायगी। अतः एक वस्तु के लिए मांग मे यदि वृद्धि की सम्भावना हो तो इस वस्तु को बनाने वाले श्रम के लिए मांग बढ़ जायेगी। श्रम के लिए मांग की लोच इसकी उत्पत्ति के लिए मांग की लोच पर निर्भर होती है। यदि श्रमिकों की मजदूरी कुल लागत का एक मामूली अनुपात है तो श्रम के लिए मांग, सामान्यतः बेलोच होगी। इसके विपरीत, जिस वस्तु को श्रम बनाता है यदि उसके लिये मांग लोचदार है या सस्ते स्थानापन्न उपलब्ध हैं तो श्रम के लिये मांग लोचदार होगी।

श्रम के लिए मांग सहयोग देने वाले साधनो की कीमतो पर निर्भर होती है। मान लीजिये भारत मे मशीनें महगी है। ऐसी दशा म मशीनो के स्थान में श्रम को प्रमुखता दी जायेगी। फलत: श्रम क लिए मांग बढ़ेगी।

समस्त सम्बद्ध घटको (जैसे—उत्पादों के लिये मांग, तकनीकी दशायें, सहयोग देने वाले साधनों की कीमतें आदि) को विचार मे लेते हुए सेवायोजक एक मौलिक घटक (अर्थात् सीमान्त उत्पादकता) से प्रभावित होता है। जिस प्रकार स वस्तुओं के लिये मांग-कीमत (Demand Price) होती है, उसी प्रकार से श्रम के लिये भी मांग-कीमत होती है। एक आधुनिक समाज से जो परिस्थितियां प्रायः प्रचलित हैं उनके अन्तर्गत श्रम के लिये मांग सेवायोजक से, जोकि श्रम एवं अन्य उत्पत्ति-साधनों को अपने व्यवसाय द्वारा लाभ उठाने के उद्देश्य से नियुक्त करता है, आती है, अतः श्रम की मांग-कीमत वह मजदूरी है जोकि एक सेवायोजक उस विशेष प्रकार के श्रम के लिये देने को तत्पर है। मान लीजिए कि वह एक-एक करके श्रमिक नियुक्त करता है। एक सीमा के बाद क्रमागत ह्रास नियम लागू हो जायेगा। तब प्रत्येक अतिरिक्त श्रमिक एक घटती हुई दर से कुल शुद्ध उत्पत्ति मे वृद्धि करेगा। स्वभावत: सेवायोजक उस बिन्दु पर अतिरिक्त श्रमिक भरती करना बन्द कर देगा जहाँ एक श्रमिक को रखने की लागत उसके द्वारा कुल शुद्ध उत्पत्ति मे की गई वृद्धि के बराबर (या कुछ कम) हो जाय। इस प्रकार, एक ऐसे श्रमिक को (अर्थात् सीमान्त श्रमिक को) जो मजदूरी दी जायेगी वह इस अतिरिक्त वृद्धि (=सीमान्त उत्पादकता) के मूल्य के बराबर होगी। किन्तु चूंकि सभी श्रमिक एक ही श्रेणी के होते हैं, इसलिए जो मजदूरी सीमान्त श्रमिक को दी जाती है वह सभी श्रमिकों को दी जायेगी।

वास्तव में, एक विशेष सेवायोजक के लिए, पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, मजदूरी बाजार-शक्तियों द्वारा पहले ही निश्चित कर दी जाती है। वह कम या अधिक श्रम प्रयोग कर मजदूरी को प्रभावित नहीं कर सकता। वह उतने ही श्रमिक रखेगा जिनकी सीमान्त उत्पादकता बाजार में प्रचलित मजदूरी के बराबर रहे।
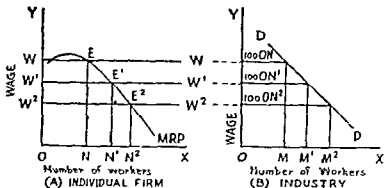
चित्र—श्रम के लिए माँग[1]

हमने यह माना है कि उद्योग में १०० फर्में हैं। OW मजदूरी पर व्यक्तिगत फर्म की माँग ON है, किन्तु इसी मजदूरी पर सम्पूर्ण उद्योग की माँग OM है जो कि 100 ON के बराबर है (क्योंकि उद्योग में फर्मों की संख्या १०० है)। इसी प्रकार, OW^1 पर व्यक्तिगत फर्म की माँग ON^1 और सम्पूर्ण उद्योग की माँग $OM^1=(100\ ON^1)$ तथा OW^2 पर व्यक्तिगत फर्म की माँग ON^2 एवं सम्पूर्ण फर्म की माँग $OM^2=(100\ ON^2)$ है।

उपरोक्त चित्र में यह देखेंगे कि माँग वक्र DD दाँये हाथ की ओर नीचे ढालू है। कारण, MRP वक्र (जिसका Lateral Summation DD द्वारा व्यक्त किया गया है) भी उसी दिशा में ढालू है। इसका अर्थ है कि श्रम की इकाइयों में वृद्धि करने पर सीमान्त उत्पादकता कम होती जाती है।

उल्लेखनीय है कि बाजार में मजदूरी का निर्धारण व्यक्तिगत फर्म की माँग द्वारा नहीं होता वरन् कुल उद्योग की माँग द्वारा होता है। व्यक्तिगत फर्म को बाजार दर स्वीकार करनी पड़ती है और तद्नुसार ही अपने कार्यकलाप समायोजित करने पड़ते हैं।

(२) श्रम की पूर्ति—श्रम की पूर्ति से आशय एक विशेष प्रकार का श्रम देने वाले श्रमिकों की संख्या से है, जो स्वयं को रोजगार के लिये विभिन्न मजदूरी-दरों पर प्रस्तुत करते हैं। श्रम की पूर्ति पर एक फर्म, एक उद्योग एवं सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से विचार किया जा सकता है।

एक फर्म के लिये श्रम की पूर्ति पूर्णतः लोचदार होती है, क्योंकि चालू मजदूरी दर पर वह जितने चाहे उतने श्रमिक नियुक्त कर सकती है। उसकी अपनी माँग कुल श्रम-पूर्ति का एक नगण्य अनुपात होती है। किन्तु सम्पूर्ण उद्योग के लिए श्रम की पूर्ति असीमित लोचदार नहीं होती। अतः यदि वह अधिक श्रम चाहता है, तो कुछ ऊँची मजदूरी देकर अन्य उद्योगों से आकर्षित कर सकता है। वह विद्यमान श्रम-शक्ति से ओवर टाइम भी कार्य ले सकता है। इसका अर्थ होगा पूर्ति बढ़ना। उद्योग के लिए श्रम की पूर्ति वास्तव में 'पूर्ति नियम' का अनुसरण करती है—ऊँची मजदूरी अधिक पूर्ति, नीची मजदूरी कम पूर्ति। अतः एक उद्योग के लिये पूर्ति वक्र बायीं

[1] It can be seen that Y-axis in both curves are drawn to the same scale, but X-axis are drawn on different scales. The total demand curve is derived by the lateral summation of the marginal revenue productivity of all the firms.

से दायी ओर ऊपर को दिशा मे उठता हुआ होता है। पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए श्रम की पूर्ति आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशाओं या मध्यागन घटकों, जैसे—कार्य के प्रति महिलाओं का दृष्टिकोण, कार्य करने की आयु, स्कूल एवं कालिज आयु एव विद्यार्थियों के लिये अशकालीन रोजगार की सम्भावनाओं, जनसख्या का आकार एव इसकी रचना, सेवस वितरण, विवाह के प्रति दृष्टिकोण, परिवार का आकार, संतति निरोध, चिकित्सा और सफाई के प्रमाप आदि।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत श्रम की एक दो हुई पूर्ति विभिन्न रोजगारों मे इस तरह से वितरित हो जाती है कि सभी रोजगारों मे सीमान्त उत्पादकता समान रहे। किन्तु जब श्रम एक रोजगार से दूसरे रोजगार मे जाने के लिए स्वतन्त्र नही तो विभिन्न रोजगारों मे सीमान्त उत्पादकता विभिन्न होगी तथा एक ही प्रकार के श्रम के लिये मजदूरियाँ भी विभिन्न हो जायेंगी।

श्रम की पूर्ति तब घट सकती है जबकि वे कुछ समय के लिए काम करने से इन्कार कर दें। ऐसा तब होता है जबकि वे श्रमिक संघों मे सगठित हो जाते हैं। सेवायोजक द्वारा प्रस्तुत की गई मजदूरी को वे अस्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि सम्भव है कि वह मजदूरी उनके जीवन-स्तर की रक्षा के लिये पर्याप्त न हो। किन्तु जैसा कि हम देखेंगे, ऊँची मजदूरियाँ तब ही दी जाती हैं जबकि ऊँची सीमान्त उत्पादकता केवल ऊँची मजदूरी को उचित ठहराये। इस प्रकार, नीची सीमान्त उत्पादकता वाले श्रमिक केवल अपने जीवन-स्तर के ही आधार पर ऊँची मजदूरी की माँग नही कर सकते। किन्तु दीर्घकाल में, सीमान्त उत्पादकता, मजदूरी एव जीवन-स्तर तीनों एक-दूसरे से समायोजित हो जाते हैं।

कुल पर, यदि सम्भाव्य श्रमिकों की संख्या दी हुई है तो श्रम की पूर्ति को हम मजदूरी को प्रचलित दरों पर, श्रम-इकाइयों की अनुसूचि के रूप मे परिभाषित कर सकते हैं। यह दो घटकों पर निर्भर है :—(अ) उन श्रमिकों की सख्या पर, जो कि विभिन्न मजदूरियों पर काम करने के लिये इच्छा और सामर्थ्य रखते हैं, तथा (ब) कार्यशील घटों पर, जो कि प्रत्येक श्रमिक विभिन्न मजदूरियों पर देने को तैयार है।

यदि श्रमिकों मे प्रतीक्षा-शक्ति नही है और कार्य का एक मात्र विकल्प भूखा रहना है, तो श्रम की पूर्ति सामान्यतः पूर्णतः बेलोच होगी। इसका अर्थ यह है कि मजदूरी गिराई जा सकती है। अल्प अवधि मे मजदूरियों की कमी श्रम की पूर्ति मे कोई घटत नही लावेगी। किन्तु यदि मजदूरियाँ बहुत नीचे गिर गई है, तो सेवायोजकों की पारस्परिक प्रतियोगिता इन्हें ऊँचा उठा देगी। दीर्घ अवधि मे भी श्रम की पूर्ति बहुत लोचदार नही होती है।

जब श्रमिकों का जीवन-स्तर नीचा होता है, तो वे अल्प आय से अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करना चाहते हैं और जब उन्होंने ऐसा कर लिया हो, तो वे कार्य के बजाय अवकाश पसन्द करते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी मजदूरियों मे वृद्धि श्रम-पूर्ति मे सकुचन उत्पन्न कर देती है। यह बात इस चित्र में दिखाई गई है।
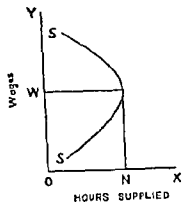
यहाँ श्रमिक कुछ समय तक मजदूरी बढ़ने पर लम्बे घण्टों तक कार्य करने को तैयार होता है। किन्तु OW से अधिक मजदूरी मिलने पर वह अपने कार्यशील घण्टे बढ़ाने के बजाय घटा देता है। तब ही तो SS वक्र पीछे की ओर ढालू हो जाता है।

(३) माँग एवं पूर्ति का साम्य— वास्तविक मजदूरी का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है जहाँ के लिए माँग इसकी पूर्ति के बराबर हो जाय।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण—

चित्र (A) मे हमने एक उद्योग की दशा ली है। SS उद्योग के लिए श्रम का पूर्ति वक्र है, DD मांग वक्र है और ये एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं, अतः मजदूरी=OW =(EN)।
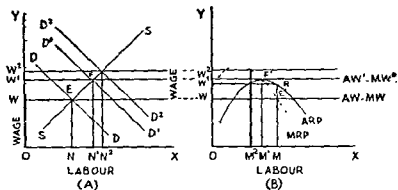
चित्र—पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी-निर्धारण

चित्र (B) एक फर्म का उदाहरण प्रस्तुत करता है। फर्म को उद्योग द्वारा नियत बाजार मजदूरी OW स्वीकार करनी पड़ती है। चित्र (A) मे OW स्तर से एक सीधी रेखा चित्र (B) की ओर खींची गई है और फर्म की दशा सूचित करती है। यह बढ़ाई हुई रेखा WW फर्म के सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र (Marginal Revenue Productivity Curve, MRP) को चित्र (B) मे E^1 पर काटती है। किन्तु इस स्तर पर औसत आगम उत्पादकता (ARP) >MRP है, जो कि OW मजदूरी से अधिक है। अतः सभी फर्में (उदाहरण के लिए चुनी गई फर्म सब फर्मों की प्रतिनिधि है) इस मजदूरी स्तर पर असाधारण लाभ कमा रही हैं। इससे उद्योग म नई फर्में प्रवेश करेंगी, श्रम के लिए माग बढ़ेगी और मजदूरी स्तर ऊँचा हो जायेगा। अन्ततः असाधारण लाभ दीर्घकाल मे प्रतियोगिता द्वारा खत्म हो जायेंगे। नया माँग वक्र D^1D^1 चित्र (A) म पूर्ति वक्र SS को F पर काटता है। इस स्थिति मे मजदूरी स्तर OW^1 होगा, जो मूल मजदूरी स्तर OW से ऊँचा है। यही वह ढग है। जिसमे माँग और पूर्ति के मिलन द्वारा मजदूरी का निर्धारण होता है। हम यह देखते हैं कि जब मजदूरी OW है तो फर्म E^1 पर साम्यावस्था मे है और जब मजदूरी बढ़ कर OW^1 हो जाती है, तो साम्य-स्थिति F^1 पर है। इस बिन्दु पर औसत आगम उत्पादकता (ARP) और सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) बराबर हैं और औसत मजदूरी OW^1 इन दोनो के बराबर है।

यह भी हो सकता है कि असाधारण लाभ बहुत-सी फर्मों को आकर्षित कर ले। यदि ऐसा हुआ तो माँग D^2D^2 तक बढ़ सकती है। ऐसी दशा म मजदूरी स्तर OW^2 होगा। यहाँ औसत आगम उत्पादकता (ARP) मजदूरी OW^2 से कम है, अर्थात् फर्म नुकसान उठाने लगी है। परिणाम यह होगा कि कुछ फर्म उद्योग को छोड देंगी तथा मजदूरी स्तर OW^1 तक लौट आवेगा। जब मजदूरी OW^1 है तो फर्म F^1 पर साम्यावस्था म होगी। यहां MRP=ARP=Wage।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि दीर्घकाल मे, प्रतियोगी दशाओ मे, मजदूरी श्रम की सीमान्त और औसत दोनों ही उत्पादकताओ के बराबर होती है। यदि सीमान्त उत्पादकता औसत उत्पादकता से अधिक हो, तो श्रमिकों की सख्या को बढ़ाना उस समय तक लाभदायक रहेगा जब तक कि सीमान्त उत्पादकता घटते हुए औसत उत्पादकता के स्तर पर न आ जाय। इसके विपरीत, जब

सीमान्त उत्पादकता औसत उत्पादकता से कम है, तो श्रमिकों की संख्या में तब तक कमी की जाती रहेगी जब तक कि सीमान्त उत्पादकता बढ़ते हुए औसत उत्पादकता के बराबर न आ जाय। इस प्रकार सीमान्त उत्पादकता एवं औसत उत्पादकता के बराबर रहने की प्रवृत्ति होती है। चूँकि मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है, इसलिए वह औसत उत्पादकता के बराबर भी होती है।

अपूर्ण प्रतियोगिता में मजदूरी का निर्धारण—

वास्तविक जगत में श्रम का बाजार अपूर्ण होता है, क्योंकि अनेक छोटे-बड़े सेवायोजक एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप में श्रमिकों को काम पर लगाते हैं। कुछ श्रम बाजार तो ऐसे होते हैं कि सेवायोजक की सौदा करने की शक्ति अधिक होती है। यहाँ मजदूरी के निर्धारण की दशा क्रेता-एकाधिकार के सदृश्य होती है। परन्तु अधिकांश श्रम बाजारों में एक ओर तो श्रम-संघ होते हैं जो श्रम की पूर्ति पर नियन्त्रण रखते हैं और दूसरी ओर, सेवायोजकों के संघ होते हैं, जो श्रम की माँग पर नियन्त्रण रखकर क्रेता-एकाधिकार की दशायें उत्पन्न कर देते हैं। मजदूरी की दर इन दोनों संघों के द्वारा सौदाबाजी करके निश्चित की जाती है। यहाँ मजदूरी एकाधिकारी, क्रेता-एकाधिकारी अथवा द्विदिशायी एकाधिकार के आधार पर निश्चित होती है।

सेवायोजक मजदूरी पर कितना प्रभाव डाल सकता है, यह निम्न दो बातों पर निर्भर होता है—प्रथम, श्रमिकों में गतिशीलता कितनी है और दूसरे, यदि सेवायोजक एक से अधिक हैं, तो उनमें किस अंश तक प्रतियोगिता है। मजदूरी की ऊँची और नीची सीमायें निम्न प्रकार होंगी—यदि सेवायोजक एक ही है और श्रम की गतिशीलता शून्य है तो मजदूरी बहुत नीची होगी, इतनी नीची कि श्रमिक केवल भूखा मरने के स्थान पर रोजगार में लगे रहना ही पसन्द करे। इसके विपरीत, यदि सेवायोजकों में प्रतियोगिता है और श्रम की गतिशीलता का अंश ऊँचा है, तो मजदूरी प्रतियोगी स्तर तक पहुँच जायेगी। वास्तव में मजदूरी इन दो सीमाओं के बीच में कहीं निश्चित होगी और उसका स्थान विभिन्न शक्तियों के तुलनात्मक बल पर निर्भर होगा।

यदि श्रम बाजार की अपूर्णता इस कारण है कि सेवायोजक संघ और श्रम-संघ सौदेबाजी करते हैं, तो मजदूरी इस सौदेबाजी के द्वारा ही निश्चित की जायेगी। सेवायोजक साधारणतया नीची से नीची मजदूरी देने का प्रयत्न करेगा और श्रम-संघ ऊँची से ऊँची मजदूरी प्राप्त करना चाहेगा। मजदूरी का वास्तविक स्तर इस बात पर निर्भर होगा कि इन दोनों की तुलनात्मक सौदा करने की शक्ति किस प्रकार है। यदि सेवायोजक अधिक शक्तिशाली है, तो मजदूरी नीची रहेगी और यदि श्रम-संघ अधिक शक्तिशाली है, तो मजदूरी ऊँची हो जायगी।

निम्न चित्र में अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी का निर्धारण दिखाया गया है। मजदूरी सीमान्त आगम उपज (Marginal Revenue Product) से नीची ही रहती है। इसका कारण यह है कि अपूर्ण प्रतियोगिता में किसी फर्म की श्रम की पूर्ति रेखा ऊपर को उठती हुई रेखा होती है, जो यह दिखाती है कि फर्म श्रम को अधिक मात्रा में प्राप्त कर सकती है। यही कारण है कि सीमान्त व्यय और सीमान्त आगम उपज की समानता ऊँचे स्तर पर ही प्राप्त होती है।
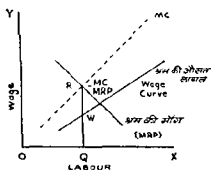
Y, MC, श्रम की औसत लागत, R, MC MRP, Wage Curve, Wage, W, श्रम की माँग (MRP), O, Q, X, LABOUR

चित्र - श्रम का शोषण

चित्र में OQ कार्य में लगाए हुए श्रमिकों की संख्या को दिखाता है और प्रति श्रमिक मजदूरी

की दर WO है। सेवायोजक R बिन्दु पर श्रमिकों को काम पर लगाने से रोक देगा, क्योंकि इस बिन्दु पर श्रमिक पर सीमान्त व्यय सीमान्त-आगम-उपज के बराबर है। परन्तु यहाँ पर औसत मजदूरी W बिन्दु पर है, जिससे यह पता चलता है कि प्रति श्रमिक-शोषण RW है। यह निश्चित है कि जब मजदूरी सीमान्त आगम उपज से कम होगी, तो श्रमिक का शोषण होगा। [सीमान्त आगम उपज से हमारा अभिप्राय धनिक की सीमान्त उत्पादकता की कीमत से है।]

अपूर्ण प्रतियोगिता में मजदूरी के निर्धारण की सही स्थिति मजदूरी की औसत और सीमान्त दरों तथा श्रम की औसत और सीमान्त आगम उपज (ARP and MRP) के सन्दर्भ में दिखाई जा सकती है। वास्तविकता यह है कि जब श्रम का बाजार अपूर्ण होता है, तो औसत और सीमान्त मजदूरी की रेखाएँ एक ही नहीं होती हैं। अत: साम्य की स्थिति वह होती है जिसमें औसत मजदूरी, औसत आगम, उपज तथा सीमान्त मजदूरी सीमान्त आगम उपज के बराबर होती है, जैसा कि आगामी चित्र में दिखाया गया है।

चित्र में AW और MW क्रमश: औसत और सीमान्त मजदूरी रेखाएँ हैं और ARP तथा MRP औसत और सीमान्त आगम उपज रेखाएँ। जब श्रमिकों की संख्या MO है, तो औसत मजदूरी और औसत आगम उपज दोनों PM होते है और सीमान्त मजदूरी तथा सीमान्त आगम दोनों QM के बराबर होते हैं। साम्य दशा में श्रम की औसत उपज अधिकतम से कम है। इस दशा में PM ही साम्य मजदूरी दर है। यह मजदूरी दर दिखाती है कि यद्यपि सीमान्त श्रमिक की उपज में देन QM है तथापि उसकी मजदूरी केवल PM है। QM तथा PM का अन्तर श्रमिक के शोषण को दिखाते हैं जो अपूर्ण प्रतियोगिता में स्वाभाविक है।
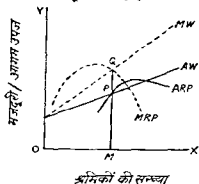
केन्ज का रोजगार-सिद्धान्त मजदूरी के इस मांग और पूर्ति के सिद्धान्तों को सन्देहपूर्ण बना देता है। केन्ज का सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि श्रम की माँग एक अंश तक आय के स्तर पर निर्भर होती है और आय-स्तर एक अंश तक रोजगार पर निर्भर है और उपरोक्त सिद्धान्त में भी रोजगार का निर्धारण श्रम की माँग और पूर्ति सिद्धान्त के आधार पर स्वीकार किया गया है। ऐसी दशा में, मजदूरी निर्धारण का उन विभिन्न परिवर्तनशीलताओं से, जो कि रोजगार और आय के स्तर निश्चित करती हैं, पृथक् नहीं किया जा सकता है।[1]

क्या मजदूरी की कोई सामान्य दर हो सकती है ?

यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि क्या मजदूरी की कोई सामान्य दर सम्भव है ? सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसा सम्भव है। यदि पूर्ण स्पर्धा की दशाएँ हैं, सेवायोजक तथा श्रमिकों के बीच पूर्ण प्रतियोगिता है और श्रम की व्यावसायिक एवं प्रादेशिक गतिशीलता भी पूर्ण है, तो सभी स्थानों तथा व्यवसायों के एक ही प्रकार के काम के लिए मजदूरी की दर भी एक-सी होती है। परन्तु वास्तविक जीवन में न तो प्रतियोगिता ही पूर्ण है और न प्रदेशिक और व्यावसायिक गतिशीलता ही। इसका परिणाम यह होता है कि मजदूरी की सामान्य दर का विचार एक सैद्धान्तिक विचार मात्र ही रह जाता है। अपूर्ण प्रतियोगिता का प्रभाव यह होता है कि एक ही स्थान तथा एक ही व्यवसाय में मजदूरी की दरें अलग-अलग बनी रहती हैं और गतिशीलता के अभाव के कारण

[1] Ellis : *Survey of Contemporary Economics.*

विभिन्न व्यवसायों तथा विभिन्न स्थानो मे मजदूरी की दरो के अन्तर बने रहते हैं। वास्तव में मजदूरी के निर्धारण की समस्या अपूर्ण प्रतियोगिता मे श्रम के मूल्य निर्धारण की समस्या है।

विभिन्न व्यवसायों में मजदूरी की दरों के अन्तर के कारण—

सभी व्यवसायों मे श्रमिक को समान मजदूरी नही मिलती है। कुछ उद्योगो और व्यवसायो मे दूसरो की तुलना मे मजदूरी ऊँची रहती है और कुछ में नीची। मजदूरी की ऐसी विभिन्नता के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) श्रम की उत्पादन-शक्ति का अन्तर—सभी व्यवसायों में श्रम की उत्पादन शक्ति समान नही होती है। संगठन को कुशलता, कार्य की दशाएँ आदि अनेक कारणो से विभिन्न व्यवसायो मे श्रम की उत्पादन-शक्ति अलग-अलग रहती है। जिन व्यवसायो मे श्रम की उत्पादन-शक्ति अधिक होती है वहाँ मजदूरी की दर भी ऊँची रहती है।

(२) प्रशिक्षण व्यय का अन्तर—सभी व्यवसायो मे काम सीखने का व्यय समान नही होता। स्वभाव से ही कुछ उद्योगो मे काम सीखने का व्यय अधिक रहता है। ऐसे व्यवसायो मे श्रम की पूर्ति बहुधा सीमित ही रहती है और मजदूरी की दर ऊँची रहती है।

(३) श्रम की गतिशीलता का अभाव—एक व्यवसाय से दूसरे को श्रम की गतिशीलता स्वतन्त्र नही होती है। बहुधा एक श्रमिक एक प्रकार के काम को छोड़कर दूसरे मे जाना कम ही पसन्द करता है, अतः विभिन्न व्यवसायों मे मजदूरी का अलग-अलग दरें बनी रहती हैं।

(४) कार्य की प्रकृति—कार्य स्थायी हो सकता है अथवा अस्थायी। वह सामयिक (Seasonal) भी हो सकता है। यह निश्चित है कि अस्थायी और सामयिक उद्योगो मे श्रमिक अधिक मजदूरी पर अनुरोध करेंगे, क्योंकि उन्हे अधिक दिनो तक बेकार बैठना पड़ेगा।

(५) जोखिम का अश और उत्तरदायित्व—कुछ उद्योग खतरनाक होते हैं। इसी प्रकार, कुछ उद्योगों या कार्यों मे उत्तरदायित्व अधिक रहता है। जिन उद्योगो मे जोखिम अथवा उत्तरदायित्व अधिक होता है, उनमे मजदूरी की दर भी बहुधा ऊँची ही रहती है।

(६) व्यवसाय की समाज में प्रतिष्ठा—मजदूरी की दर इस बात पर भी निर्भर होती है कि समाज व्यवसाय को किस दृष्टि से देखता है। सम्मानित व्यवसाय मे मजदूरी की दर बहुधा ऊँची रहती है।

एक ही व्यवसाय में मजदूरी की भिन्नता के कारण—

मजदूरी मे विभिन्न व्यवसायो के बीच तो अन्तर होते ही हैं, परन्तु एक ही व्यवसायो मे भी अलग-अलग श्रमिको की मजदूरी मे अन्तर हो सकते हैं। इस भिन्नता के मुख्य कारण निम्न प्रकार है :—(i) कुछ श्रमिक दूसरो की तुलना मे अधिक कुशल होते हैं। कुशल श्रमिक को अकुशल श्रमिक से अधिक मजदूरी मिलना स्वाभाविक ही है। (ii) स्थायी और अस्थायी एवं निपुण तथा अनिपुण श्रमिकों के लिये मजदूरी की दरें अलग-अलग होती है। (iii) पुराने तथा लम्बे काल से कार्य करने वाले श्रमिको को साधारणतया ऊँची मजदूरी दी जाती है। (iv) कुछ श्रमिक अधिक समय (Overtime) कार्य करके दूसरो से अधिक मजदूरी पा सकते है। (v) कभी-कभी स्वयं सेवायोजक भी विभिन्न श्रमिको के बीच भेद-भाव कर सकता है। (vi) श्रमिको की गतिशीलता की कमी के कारण भी मजदूरी की दरो मे अन्तर हो सकते है।

स्त्रियों की मजदूरी पुरुषों की तुलना में कम क्यों होती है ?

पूँजीवादी देशो में यह एक सामान्य अनुभव है कि पुरुषो की तुलना मे स्त्रियों की मजदूरी की दरें नीची रहती हैं। इसके अनेक कारण बताए जाते हैं। प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) कहा जाता है कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा कार्यक्षमता कम होती है। इससे उनकी उत्पादन शक्ति कम होती है और उन्हें मजदूरी भी कम प्राप्त होती है। इस तर्क के सम्बन्ध में हम केवल इतना कह सकते हैं कि यह कोरा भ्रम है कि स्त्रियों में काम करने अथवा शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम करने की शक्ति कम होती है, क्योंकि वैज्ञानिक अनुभव इस बात की पुष्टि नहीं करता।

(२) अधिकांश दशाओं में स्त्रियाँ किसी कार्य को स्थायी रूप में ग्रहण नहीं करती हैं। वे कुछ समय तक ही काम करना पसन्द करती हैं। आधी से भी अधिक स्त्रियाँ विवाह के पश्चात् काम छोड़ देती हैं। अस्थायी श्रम सदा ही कम मजदूरी पाता है। सेवायोजक भी ऐसा अनुभव करता है कि स्त्रियों के प्रशिक्षण आदि पर व्यय करना लाभदायक नहीं है, क्योंकि कार्य सीखने के बाद भी यह आवश्यक नहीं है कि वे काम करें ही।

(३) स्त्रियों के लिए व्यवसाय भी गिने-चुने होते हैं। ये कार्य साधारणतया अनिपुण होते हैं और इनमें मजदूरी की दर नीची ही रहती है। इसके अतिरिक्त व्यवसायों के सीमित रहने के कारण ऐसे श्रम की माँग भी सीमित रहती है।

(४) अधिकांश स्त्रियाँ साधारणतया अपनी नौकरी को आय में कुछ थोड़ी वृद्धि कर लेने अथवा शौक को पूरा करने का साधन समझती हैं और इस विषय में बहुत चिंतित नहीं रहती हैं कि उन्हें कितनी मजदूरी मिलती है?

(५) पुरुषों की भाँति स्त्री श्रम का संगठन कम होता है। स्त्री श्रम-संघ बहुत कम हैं, इसलिए मजदूरी नीची रहती है।

(६) स्त्रियों पर अनेक सामाजिक प्रतिबन्ध हैं। बहुत से काम उनके लिए वर्जित होते हैं। रात के काम पर उनको नहीं रखा जाता है। उन्हें अपेक्षित छुट्टी और दूसरी सुविधाएँ भी अधिक दी जाती हैं, इसलिए मजदूरी कम रहती है।

उक्त सभी कारणों से स्त्रियों की मजदूरी कम रहती है परन्तु अब धीरे-धीरे यह स्थिति बदलती जा रही है। पश्चिम के देशों में स्त्री श्रम संघ शक्तिशाली होते जा रहे हैं। धीरे-धीरे सामाजिक प्रतिबन्ध भी दूर हो रहे हैं। आर्थिक परिस्थितियों में कुछ इस प्रकार के परिवर्तन होते जा रहे हैं कि स्त्रियों को स्थायी रोजगार की आवश्यकता पड़ने लगी है। परिणाम यह हुआ है कि धीरे-धीरे स्त्रियों की मजदूरी भी बढ़ रही है। समाजवादी देशों में तो स्त्री और पुरुष में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता है। इन देशों का यह अनुभव है कि किसी काम में स्त्रियाँ पुरुषों से पीछे नहीं हैं। वैसे भी यह समझना भूल होगी कि सभी उद्योगों और व्यवसायों में स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में कम मजदूरी मिलती है। कुछ व्यवसाय (जैसे सूती वस्त्र उद्योग) स्वभाव से ही ऐसे हैं कि स्त्रियों के लिए अधिक उपयुक्त हैं और वहाँ स्त्रियों को पुरुषों से कहीं अधिक मजदूरी मिलती है।

परीक्षा प्रश्न :

१. मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का विवेचन करिए। क्या यह कहना सही है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी श्रम की सीमान्त एवं औसत दोनों ही प्रकार की उत्पादकता के बराबर होती है?

२. असल और नाममात्र मजदूरी के भेद को स्पष्ट कीजिए। वास्तविक मजदूरी को निर्धारित करने वाली बातें कौन-कौन-सी हैं?

३. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी दीजिए :—
मजदूरी का लौह नियम।

४. निम्नलिखित तथ्य कहाँ तक सही हैं?
(क) समय मजदूरी, कार्य मात्रा मजदूरी (Piece wages) से अच्छी है।
(ख) न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना कठिन है।

४

श्रम समस्याएँ
(Labour Problems)

श्रमिक-संघ
(Trade Unions)

श्रम-संघों की परिभाषा एवं आवश्यकता—

श्रम-संघों की आवश्यकता मुख्यतः इस कारण पड़ती है कि व्यक्तिगत रूप में किसी भी श्रमिक की सौदा करने की शक्ति बहुत कम होती है। श्रमिक की तुलना में सेवायोजक की सौदा करने की शक्ति बहुत अधिक होती है, क्योंकि एक ओर तो उत्पत्ति के साधनों और रोजगार पर उसका नियन्त्रण रहता है और दूसरी ओर, सेवायोजकों की संख्या सीमित रहने के कारण उनमें पारस्परिक सहयोग अधिक अंश तक हो सकता है। मार्शल ने ठीक ही कहा है कि, "हमें याद रखना चाहिए कि जो व्यक्ति दूसरे एक हजार व्यक्तियों को काम पर लगाता है वह स्वयं ही श्रम-बाजार में खरीदारों की एक हजार इकाइयों का ठोस संचय होता है।"[1] इसके विपरीत, श्रमिक के सामने यह समस्या रहती है कि या तो वह कार्य करे और या भूखा मरे। यही कारण है कि श्रमिक को कम मजदूरी मिलती है। कम मजदूरी के कारण श्रमिक की कार्यक्षमता घट जाती है और आगे चलकर कार्यक्षमता की कमी सेवायोजक के लिए कम मजदूरी देने का एक महत्वपूर्ण तर्क बन जाती है। अतः औद्योगिक विकास की प्रगति के साथ ही साथ श्रमिकों ने यह अनुभव किया कि यदि श्रम-संघों द्वारा वे अपनी सौदा करने की शक्ति को नहीं बढ़ायेंगे, तो उनका शोषण होता रहेगा।

आज के औद्योगिक जगत में श्रम-संघ ऐसी संस्थाएँ हैं जो श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए लड़ने का कार्य करती हैं। उद्देश्य यह होता है कि समुचित मजदूरी, कार्य की अच्छी दशाएँ और उद्योग के नियन्त्रण में हिस्सा प्राप्त किया जाय। इसके अतिरिक्त ये श्रम संघ आपसी चन्दे से ऐसे कोषों का भी निर्माण करते हैं जिनमें से सदस्यों को बीमारी, दुर्घटना तथा सामाजिक कल्याण हेतु सहायता दी जा सके। श्रम-संघ की एक बड़ी सरल परिभाषा वैब्स (Webbs) ने दी है। उनके अनुसार, "श्रम-संघ श्रमिकों का रोजगार की दशाओं को बनाये रखने तथा सुधारने के लिए एक लगातार संघ है।"[2]

---

[1] "For, it must be remembered that a man who employs a thousand others is in himself an absolutely rigid combination to the extent of one thousand units among buyers in the labour market"—Marshall.

[2] "A trade union is a continuous association of wage-earners for the purpose of maintaining or improving the conditions of their employment"—Sydney and Beatrice Webb : *History of British Trade Union Movement.*

श्रम-संघों के कार्य—

श्रम-संघों के कार्यों को हम तीन भागों में बांट सकते हैं :—(I) लड़ाई के काम (Fighting or militant functions), (II) प्रतिनिधित्व कार्य (Representative functions) और (III) कल्याण कार्य (Welfare functions)।

(I) लड़ाई के कार्य—श्रम-संघों के निर्माण का प्रमुख उद्देश्य श्रमिकों के हितों की रक्षा करना होता है, इसलिए इन संघों को मालिकों से बराबर टक्कर लेनी पड़ती है, ताकि श्रमिकों के लिए अच्छी मजदूरी और अच्छी दशाएँ प्राप्त की जा सकें। आधुनिक औद्योगिक जगत में श्रमिकों एवं मिल-मालिकों के बीच बराबर संघर्ष चलता रहता है, जब कभी भी श्रमिकों के साथ किसी भी प्रकार का अनुचित व्यवहार किया जाता है, तो श्रम-संघ श्रमिकों की ओर से लड़ता है। संगठित श्रम सामूहिक रूप से मालिक का मुकाबला करता है।

श्रम संघों का निर्माण सामूहिक सौदा करने के आधार पर किया जाता है। श्रम-संघ लड़ने की अनेक रीतियाँ अपनाता है। सामूहिक रूप में मिल-मालिक से अनुचित कार्यवाही के लिए उत्तर माँगा जाता है, वैधानिक कार्यवाही की जाती है और, यदि अन्य उपाय सफल नहीं होते हैं, तो सामूहिक रूप से काम बन्द कर देने की धमकी दी जाती है। श्रम-संघों का सबसे बड़ा हथियार हड़तालें हैं; जिसमें श्रमिक मिलकर सामूहिक रूप से काम बन्द कर देते हैं। हड़ताल के साथ-साथ बहुधा द्वाररोक (Picketing) भी की जाती है, ताकि श्रम-संघ का आदेश न मानने वाले श्रमिकों को कार्य पर जाने से रोक दिया जाय। हड़ताल साधारणतया शान्तिमय रीति से की जाती है, परन्तु कुछ दशाओं में यह हिंसात्मक भी हो सकती है, जिसमें मिल-मालिक और उसके पिट्ठुओं पर आक्रमण किया जाता है और कुछ दशाओं में मशीनों की तोड़-फोड़ भी की जाती है। आजकल हड़ताल का एक अति उग्र रूप 'घेराव' प्रचलित होता जा रहा है, जिसकी भारतीय नेताओं ने तीव्र निन्दा की है। हड़तालों के भी अनेक रूप हो सकते हैं और विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग प्रकार की हड़तालें की जाती हैं।

(II) प्रतिनिधित्व कार्य—श्रम-संघ श्रमिकों के प्रतिनिधि का भी कार्य करते हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, श्रमिकों की ओर से मालिक से सभी प्रकार की बात-चीत श्रम-संघ के अधिकारी करते हैं। श्रम-संघ ही श्रमिकों की ओर से उन मुकद्दमों की पैरवी करता है जो औद्योगिक न्यायालयों में चलते हैं। इसके अतिरिक्त, विभिन्न समितियों और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ सम्मेलन (International Labour Conference) में भी श्रमिकों की ओर से श्रम-संघ ही प्रतिनिधि भेजते हैं।

(III) कल्याणकारी कार्य—इन कार्यों का विकास थोड़े ही काल से हुआ है और भारत जैसे पिछड़े हुए देशों में इनका अभी तक भी कम ही महत्त्व है। इन कार्यों में उन सबको सम्मिलित किया जाता है जो श्रम-संघ श्रमिकों के सामाजिक, आर्थिक, मानसिक, शारीरिक और सांस्कृतिक उत्थान के लिए करते हैं। इन कार्यों में वृद्धावस्था उत्तर-वेतन की व्यवस्था से लेकर श्रमिकों के लिए व्यायाम आदि का प्रबन्ध करना तक सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार के प्रमुख कार्यों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है :—स्कूलों, प्रयोगशालाओं, व्यायामशालाओं, नाटकगृहों, वाचनालयों, पुस्तकालयों आदि का प्रबन्ध करना, श्रमिकों का बीमारी, बेरोजगारी और दुर्घटनाओं के विरुद्ध बीमा करना और सभी प्रकार के कल्याण को उन्नत करना।

श्रम-संघों का मजदूरी पर प्रभाव—

यह प्रश्न विवादग्रस्त है कि क्या श्रम-संघ स्थायी रूप से मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं। श्रम-संघों के नेताओं का विचार है कि श्रम-संघ ऐसा सदा ही करा सकते हैं और विगत वर्षों में मजदूरियों के बढ़ने का प्रमुख कारण भी यही है।

इसके विपरीत, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का कथन है कि मजदूरी तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होती है। यदि श्रम-संघ सीमान्त उपज की कीमत से अधिक मजदूरी श्रमिकों को दिलाते हैं, तो इससे उत्पादक को घाटा होगा और वह इस घाटे को श्रम की माँग घटाकर पूरा करने का प्रयत्न करेगा। इससे मजदूरियाँ अपने आप नीचे गिरेंगी और बेरोजगारी भी फैलेगी। यदि श्रमिकों को उनकी सीमान्त उपज की कीमत से कम मजदूरी दी जाती है तो यह स्थिति भी लम्बे काल तक बनी न रह सकेगी। उत्पादक के लिए श्रमिकों को अधिक संख्या में काम पर लगाकर कुल लाभ को बढ़ाने की सम्भावना रहेगी। इस प्रकार मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत के बराबर रहेगी, उससे न तो कम रह सकती है और न अधिक। इस प्रकार, उनका कहना था कि श्रम-संघ मजदूरी के सम्बन्ध में कोई भी स्थायी सुधार नहीं कर सकते हैं।

उपरोक्त तर्क में सत्यता प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है, जिस कारण श्रमिकों को अपनी सीमान्त उपज की कुल कीमत प्राप्त कर लेने में कठिनाई नहीं होती है। वास्तविक जीवन में तो अपूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है और श्रमिकों को उनकी सीमान्त उपज की पूरी कीमत नहीं मिल पाती है। सत्य यह है कि निम्नलिखित तीन कारणों से श्रम-संघ मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं :— (१) यह सिद्धान्त ही गलत है कि मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत के बराबर होती है। मजदूरी श्रमिक और मिल-मालिक की पारस्परिक सौदा करने की शक्ति पर निर्भर होती है और श्रम-संघ श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति को बढ़ा कर मजदूरी को बढ़ा सकते हैं। (२) यदि मान भी लिया जाय कि मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत के बराबर है, तो भी, अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण, श्रमिक सीमान्त उपज की कुल कीमत प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। श्रम-संघ श्रमिक को उसकी सीमान्त उपज की कुल कीमत दिलाने का प्रयत्न करते हैं और उसके मिल-मालिक द्वारा किए जाने वाले शोषण को घटा कर मजदूरी को बढ़ा देते हैं। वे मजदूरी को सीमान्त उत्पादकता स्तर तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। (३) यह समझना भी भूल होगी कि श्रम-संघों का श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। श्रम-संघों के कार्यों में अनेक प्रकार के कल्याणकारी कार्य सम्मिलित हैं। अच्छी मजदूरी, अच्छी कार्य की दशाएँ और कल्याणकारी कार्यों द्वारा श्रम-संघ श्रमिकों की कार्यक्षमता को बढ़ा कर उनकी सीमान्त उत्पादकता को भी बढ़ा देते हैं। इस प्रकार सीमान्त उत्पादकता की वृद्धि स्वयं मजदूरी को बढ़ा देगी। इसके अतिरिक्त, किसी विशेष प्रकार के श्रम की पूर्ति को सीमित करके भी श्रम-संघ उसकी सीमान्त उत्पादकता बढ़ा सकता है।

श्रम-संघों के लाभ और हानियाँ—

निस्सन्देह श्रम-संघों ने श्रमिकों के लिए अनेक हितकारी कार्य किये हैं। श्रम सम्बन्धी मामलों में आधुनिक युग में जो भी प्रगति हुई है उसका भी सबसे महत्त्वपूर्ण कारण श्रम-संघ आन्दोलन की प्रगति है। श्रम-संघों के प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं :—(१) शक्तिशाली श्रम-सङ्गठन औद्योगिक शान्ति में सहायक होता है। सामूहिक रूप में जो शर्तें तय की जाती है, उनको श्रमिकों और मिल-मालिकों दोनों ही के द्वारा अधिक अंश तक माना जाता है, जिससे झगड़े की सम्भावना कम होती है। (२) श्रम-सङ्घ मजदूरी के मान निश्चित करते हैं, जिस कारण अकुशल और शक्तिहीन उत्पादक बाजार से निकल जाते हैं। (३) श्रम-सङ्घ अपने कल्याणकारी कार्यों द्वारा श्रमिक की कार्य-कुशलता को बढ़ाकर श्रमिक और समाज दोनों को ही लाभ पहुँचाते हैं। (४) श्रम-सङ्घ श्रमिकों में पारस्परिक प्रेम सद्भावना और मिल-जुल कर काम करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। (५) श्रम-सङ्घों ने मजदूरी को बढ़ाकर मशीनों के आविष्कार को प्रोत्साहित किया है और इस प्रकार औद्योगिक और नैतिक उन्नति को आगे बढ़ाया है।

इन लाभों के साथ-साथ श्रम-संघ आन्दोलन की कुछ दोषपूर्ण प्रवृत्तियाँ भी दृष्टिगोचर हुई हैं। बहुत बार श्रम-संघ अनुत्तरदायित्व से काम करके श्रमिक और समाज दोनों का अनहित करते हैं। श्रम-संघों के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—(१) मजदूरों की प्रमाणित दरों पर अनुरोध करके इस आन्दोलन ने केवल उच्च श्रेणी के श्रमिकों की ही मजदूरी में समानता उत्पन्न की है किन्तु निम्न श्रेणी के श्रमिक घाटे में रहे हैं। (२) श्रम-संघों ने संयुक्तिकरण और वैज्ञानिक प्रबन्ध का विरोध करके शिल्पिक प्रगति में बाधा डाली है। (३) श्रम-संघ बहुत धीरे-धीरे काम करने की सलाह देते हैं। इसका अन्त में स्वयं श्रमिकों पर ही बुरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इससे राष्ट्रीय लाभांश और रोजगार में कमी आ जाती है। (४) बहुत बार श्रम-संघ अपनी शक्ति का प्रभुत्व दिखाने के लिए अकारण हड़तालें कराते हैं। इससे स्वयं श्रमिकों, उत्पादकों और अन्त में सारे समाज को हानि होती है। (५) बहुत बार कुछ प्रकार के श्रम की पूर्ति को सीमित करके संघों द्वारा श्रम की कृत्रिम कमी उत्पन्न करने का भी प्रयत्न किया जाता है।

न्यूनतम मजदूरी
(Minimum Wages)

न्यूनतम् मजदूरी की आवश्यकता—

आजकल संसार में यह लगभग सभी स्वीकार करते हैं कि श्रमिकों को उचित मजदूरी साधारणतया नहीं मिल पाती है। कुछ व्यवसायों तथा कुछ क्षेत्रों में श्रम की पूर्ति बहुत अधिक होने के कारण मजदूरी के अधिक नीचे गिर जाने की सम्भावना रहती है। इस नीची मजदूरी के अनेक दुष्परिणाम होते हैं। इससे देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन की शान्ति भङ्ग हो जाती है और औद्योगिक विवाद बढ़ जाते हैं। इन कारणों से स्वयं देश की सरकार का जीवन सङ्कट में पड़ सकता है।

इन सब बुराइयों को दूर करने के लिए सरकार बहुत बार कुछ व्यवसायों में या देश के भीतर सभी व्यवसायों में न्यूनतम् मजदूरी निश्चित कर देती है। इस प्रकार, निर्धारित मजदूरी का देना कानूनी तौर पर अनिवार्य होता है, परन्तु निश्चित की हुई मजदूरी से अधिक मजदूरी देने पर किसी प्रकार की बाधा नहीं होती है। उदाहरण के लिए, अधिकांश राज्यों में कॉलिजों के अध्यापकों का आरम्भिक वेतन सरकार द्वारा निश्चित है। इसी प्रकार, बहुत बार निजी उद्योगों में भी कम से कम मजदूरी किसी लोक सत्ता द्वारा निश्चित की जा सकती है।

न्यूनतम् मजदूरी की समस्या के दो रूप—

न्यूनतम् मजदूरी की समस्या के दो अलग-अलग रूप हो सकते हैं :—प्रथम, जबकि इस प्रकार की मजदूरी किसी विशेष उद्योग अथवा विशेष उद्योगों के लिए निश्चित की जाती है और दूसरे, जबकि सारे देश के लिए एक राष्ट्रीय न्यूनतम् मजदूरी निश्चित कर दी जाती है। इन दोनों नीतियों के अलग-अलग परिणाम होते हैं। स्वयं उस दशा में भी, जबकि केवल उद्योग विशेष में न्यूनतम् मजदूरी निश्चित की जाती है, अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग ही परिणाम होते हैं।

(अ) विशेष उद्योगों में ही न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के प्रभाव—न्यूनतम् मजदूरी के निश्चित करने का उद्देश्य यह होता है कि मजदूरों की दरें प्रतियोगी दरों (Competitive Rates) से ऊँची रखी जायें। ऐसी दशा में दो प्रभाव होंगे—या तो ऊँची मजदूरी का सारा भार सेवायोजकों के ऊपर पड़े और या उसका कुछ भार तो सेवायोजक पर पड़े और (यदि उत्पादक वस्तु की कीमत बढ़ाकर बोझ को उपभोक्ताओं पर टाल सके तो) कुछ उपभोक्ताओं पर। यदि भार उत्पादक पर पड़ता है, तो उत्पादक के लाभ कम हो जायेंगे और वह श्रम की माँग को घटाने का

प्रयत्न करेगा। इसके विपरीत, यदि वस्तु की ऊंची कीमत के रूप में ऊंची मजदूरी का भार उपभोक्ताओं पर पड़ता है, तो वस्तु की मांग घटेगी और अन्त में स्वयं श्रम की भी मांग घटेगी। दोनों ही दशाओं में बेरोजगारी की सम्भावना बढ़ जायगी और अन्त में श्रमिकों को लाभ के स्थान पर उलटी हानि हो सकती है। उत्पादक के लाभों के घटने का एक परिणाम यह भी हो सकता है कि उद्योग विशेष में पूंजी कम अंश तक आकर्षित हो और इससे उद्योग विशेष की प्रगति में अवश्य बाधा पड़ेगी। साथ ही, ऊंची मजदूरी के फलस्वरूप श्रमिकों के स्थान पर मशीनों का अधिक उपयोग होने की सम्भावना बढ़ेगी और इन दोनों कारणों से भी बेरोजगारी बढ़ेगा। यही कारण है कि न्यूनतम् मजदूरी का निर्धारण बहुधा बेरोजगारी को प्रोत्साहन देता है, किन्तु निम्न दशाओं में न्यूनतम् मजदूरी बेरोजगारी को नहीं बढ़ायेगी :—

(१) यदि मजदूरी कुल उत्पादन व्यय का एक छोटा सा ही भाग है, तो उत्पादक कीमतों में थोड़ी सी ही वृद्धि करके अपनी हानि को पूरा कर सकता है। ऐसी दशा में श्रमिकों की मांग में कोई विशेष कमी न होगी।

(२) यदि वस्तु विशेष की मांग लगभग बेलोच है और उत्पादक को एकाधिकार प्राप्त है, तो भी बेरोजगारी के बढ़ने की सम्भावना कम रहेगी।

(३) यदि न्यूनतम् मजदूरी प्रतियोगी स्तर से नीचे है, तो रोजगार को और अधिक प्रोत्साहन मिलेगा तथा मजदूरी के और ऊपर उठने की सम्भावना उत्पन्न हो जायगी।

(४) यदि उन उद्योगों में, जहां न्यूनतम् मजदूरी निश्चित की गई है, असाधारण लाभ थे, तो न्यूनतम् मजदूरी निश्चित कर देने से लाभ घटकर सामान्य स्तर पर आ जायेंगे। ऐसी दशा में रोजगार के घटने की सम्भावना बहुत ही कम होगी।

(ब) देश भर के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारण के प्रभाव—अब हम उस स्थिति का अध्ययन करेंगे जिसमें कि देश भर के लिए एक न्यूनतम् राष्ट्रीय मजदूरी निश्चित कर दी जाती है। देश के भीतर किसी भी उद्योग में इस प्रकार निर्धारित मजदूरी से कम मजदूरी नहीं दी जा सकती है। ऐसी न्यूनतम् मजदूरी के परिणाम अधिक गम्भीर होते हैं, मुख्यतया उस दशा में जबकि मजदूरी को प्रतियोगी स्तर के ऊपर निश्चित किया जाय :—

(१) ऐसी दशा में एक उद्योग से श्रमिकों के दूसरे उद्योग में चले जाने का तो प्रश्न ही समाप्त हो जाता है।

(२) सरकार न्यूनतम् राष्ट्रीय मजदूरी निश्चित करते समय बहुधा इस बात को भी ध्यान में रखती है कि मजदूरी के फलस्वरूप देश में सामान्य कीमत-स्तर ऊँचा न उठ जाय। इस कारण न्यूनतम् मजदूरी को कीमतों की प्रत्येक वृद्धि के साथ बढ़ा दिया जाता है।

(३) ऐसी दशा में, यदि एक श्रमिक को किसी एक उद्योग में हटा दिया जाता है, तो उसे दूसरे उद्योग में रोजगार नहीं मिलता। एक श्रमिक एक बार बेरोजगार होने के पश्चात् उस समय तक बेरोजगार ही बना रहेगा जब तक कि वह अपनी कार्यक्षमता को नहीं बढ़ा लेगा।

(४) इस दशा में उत्पादकों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की कीमतें बढ़ा कर ऊँची मजदूरी के भार को उपभोक्ताओं पर भी टाला जा सकता है, क्योंकि कीमतों की प्रत्येक वृद्धि से मजदूरी भी बढ़ जायगी।

(५) साथ ही लाभों को पुराने स्तर पर बनाये रखना सम्भव न हो सकेगा और श्रमिकों के स्थान पर मशीनों के उपयोग की सम्भावना बढ़ जायगी। परिणाम यह होगा कि व्यावसायिक क्रियाओं का संकुचन होगा और चारों ओर बेरोजगारी फैलेगी।

(६) इसके अतिरिक्त, पूंजी का संचय और विनियोग भी हतोत्साहित होंगे।

(७) साथ ही, बेरोजगार लोगों को सरकारी कोषों में से सहायता दी जायगी। इससे करारोपण में वृद्धि होगी तथा उद्योग और व्यवसायों पर करों का भार अधिक हो जायगा। इसके कारण बेरोजगारी और भी बढ़ेगी।

उपरोक्त कारणों से ऐसी नीति समुचित विचार के पश्चात् ही अपनाई जाती है। न्यूनतम् राष्ट्रीय मजदूरी के दोषों को देखकर ऐसा समझ लेना भूल होगी कि यह नीति सदा ही बुरी होती है। कुछ दशाओं में यह बहुत लाभदायक हो सकती है, विशेषतया निम्न दशाओं में:— (i) जिन उद्योगों में बहुत अधिक पूँजी लगी है और विशिष्ट यन्त्रों का उपयोग होता है, वहाँ उत्पादक लाचार होता है और ऊँची मजदूरी अपने लाभ कम करके चुकाता है। ऐसे उद्योगों में न्यूनतम् मजदूरी निर्धारण के फलस्वरूप बेरोजगारी नहीं बढ़ेगी। (ii) यह सम्भावना सदा ही रहती है कि श्रमिक अपनी बढ़ी हुई मजदूरी को इस प्रकार व्यय करें कि उनकी कार्यक्षमता बढ़ जाय। इससे उनकी सीमान्त उत्पादकता बढ़ेगी और वे स्वयं ही ऊँची मजदूरी के अधिकारी हो जायेंगे। ऐसी दशा में न तो उत्पादक के लाभ ही कम होंगे और न बेरोजगारी ही बढ़ेगी। (iii) यह सम्भव है कि उत्पादक श्रमिकों को अनुचित रूप में कम मजदूरी दे रहा हो। ऐसी दशा में न्यूनतम् मजदूरी न्यायशील होगी। (iv) जिन देशों में सरकार वृत्तिहीनता के निवारण की व्यवस्था करती है वहाँ श्रमिकों के कष्ट उठाने का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो ऐसी मजदूरी केवल सामाजिक और आर्थिक न्याय का साधन होती है।

न्यूनतम् मजदूरी के निश्चय का औचित्य—

न्यूनतम् मजदूरी का निश्चय करना कई दृष्टिकोणों से उपयुक्त होता है :—(i) इससे श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर उनकी कार्य-क्षमता बढ़ाई जा सकती है। (ii) इससे मिल-मालिकों द्वारा श्रमिकों का अनुचित और अन्यायपूर्ण शोषण रोका जा सकता है। (iii) यह नीति अकुशल उत्पादकों को, जो न्यूनतम् मजदूरी नहीं दे सकते हैं, बाजार से निकाल देगी। iv) इससे औद्योगिक प्रबन्ध का मान ऊँचा उठेगा।

न्यूनतम् मजदूरी के लाभ—

आधुनिक युग में न्यूनतम् मजदूरी निश्चित करने की प्रथा बहुत बढ़ गई है। आर्थिक न्यायशीलता के आधार पर इसे अच्छा बनाया जाता है। इस अवस्था के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—(१) श्रमिकों का जीवन-स्तर निश्चित हो जाता है। मजदूरी की नीची से नीची सीमा के निर्धारित हो जाने के कारण जीवन-स्तर की भी न्यूनतम् सीमा निश्चित हो जाती है। (२) साधारणतया मजदूरी बढ़ जाती है, जिसके कारण कार्यकुशलता अपने आप ही बढ़ जाती है। (३) अकुशल उत्पादक, जो केवल श्रमिकों के शोषण पर ही जीवित रहते हैं, धीरे-धीरे बाजार से लुप्त हो जाते हैं। राष्ट्र की आर्थिक कुशलता की दृष्टि से यह अच्छा ही होता है। (४) मजदूर सन्तुष्ट रहता है, जिससे औद्योगिक विवाद कम हो जाते हैं और काम भी अधिक अच्छा होता है।

न्यूनतम् मजदूरी की हानियाँ—

न्यूनतम् मजदूरी निश्चित करने से निम्न हानियाँ भी हैं :—(१) जब कुछ ही व्यवसायों में न्यूनतम् मजदूरी निश्चित की जाती है तो उत्पत्ति के साधनों का दूसरे व्यवसायों से उन व्यवसायों को हस्तान्तरण होने लगता है और बेरोजगारी के बढ़ने का भी भय उत्पन्न हो जाता है. इसलिए केवल ऐसे ही उद्योगों में न्यूनतम् मजदूरी ठीक रहेगी, जिनमें वर्तमान मजदूरी बहुत नीची है। (२) न्यूनतम् मजदूरी अधिकतम् मजदूरी बनने की प्रवृत्ति रखती है। सेवायोजक निश्चित से कम मजदूरी तो दे ही नहीं सकता, परन्तु वह इससे अधिक भी यथासम्भव नहीं देगा। इसका अन्त में

श्रमिकों की कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। (३) व्यावहारिक जीवन में न्यूनतम् मजदूरी की दर को निश्चित करना भी कठिन होता है। यदि प्रतियोगी दरों से ऊँची दर रखी जाती है, तो बेरोजगारी फैलने का भय रहता है और यदि दर कम रखी जाती है, तो वह व्यर्थ होती है। (४) न्यूनतम् मजदूरी की दर को लागू करना कठिन होता है। जिन क्षेत्रों और व्यवसायों में श्रम की पूर्ति अधिक होती है वहाँ मालिक के लिए न्यूनतम् मजदूरी केवल कागज पर ही रहती है। वास्तविक जीवन में इससे बचने के लिए मिल-मालिक कम वेतन देकर अधिक पर हस्ताक्षर करा लेते हैं।

ऊँची मजदूरी की मितव्ययिता
(The Economy of High Wages)

बहुत बार मिल-मालिकों की ओर से यह तर्क रखा जाता है कि ऊँची मजदूरी से उद्योग को हानि होती है और मजदूरों में शिथिलता आ जाती है। कुछ दशाओं में इससे श्रमिकों में गैर-हाजिर होने की भी प्रवृत्ति बढ़ जाती है। किन्तु इन आधारों पर श्रमिकों को कम मजदूरी देना उचित नहीं हो सकता है। हम ध्यान रखना चाहिये कि कुछ मजदूर दूसरों की तुलना में अधिक कुशल होते हैं और इससे वे अधिक मजदूरी पाते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि वे मिल-मालिक को महँगे पड़ते हैं। इस बात का पता लगाने के लिये कि कोई मजदूर महँगा है या सस्ता, हमें श्रमिक की कार्य-कुशलता पर भी ध्यान देना चाहिए। यदि एक मजदूर एक निश्चित समय में दूसरे से दुगुना काम करता है किन्तु केवल डेढ़ गुनी मजदूरी पाता है, तो उसकी मजदूरी अधिक होने हुए भी वह सस्ता होता है। इसके विपरीत, यदि आधी मजदूरी पाने वाला श्रमिक केवल एक-तिहाई काम करता है, तो नीची मजदूरी होते हुए भी वह महँगा रहता है। यही कारण है कि बहुधा यह कहा जाता है कि भारतीय श्रमिक कम मजदूरी पाते हुए भी महँगे हैं। साधारणतया अधिक मजदूरी पाने वाले श्रमिक कम मजदूरी पाने वाले श्रमिक से सस्ता पड़ता है।

इसके साथ-साथ, ऊँची मजदूरी की समस्या पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार हो सकता है। ऊँची मजदूरी पाने वाले श्रमिक का जीवन-स्तर भी ऊँचा रहता है, जिससे उसकी कार्यकुशलता अधिक होती है और वह अधिक काम करने लगता है। श्रमिक की काम करने की शक्ति, उसका स्वास्थ्य और उसका मानसिक विकास, ये सब भी बड़े अंश तक श्रमिक की मजदूरी पर निर्भर होते हैं। यही नहीं, बल्कि यह भी देखने में आता है कि अधिक मजदूरी पाने वाला श्रमिक अधिक सन्तुष्ट रहता है, अधिक लगन के साथ काम करता है और अपने उत्तरदायित्व को अधिक अच्छी भाँति समझता है। ऊँची मजदूरी की दशा में मालिक और श्रमिक के बीच आपसी मन-मुटाव की भी कम सम्भावना रहती है। इन्हीं सब कारणों से यह कहा जाता है कि ऊँची मजदूरी पाने वाला श्रमिक साधारणतया महँगा नहीं होता।

औद्योगिक विवाद
(Industrial Disputes)

संसार में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का विकास औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् हुआ। इस प्रणाली के विकास ने समाज को दो ऐसे वर्गों में विभाजित कर दिया जिनमें से प्रत्येक के हित एक-दूसरे के प्रतिविरोधी बने हुए हैं। समाज में एक ओर तो पूँजीपति रहे, जिनका उत्पत्ति के साधनों और पूँजी द्वारा रोजगार पर पूरा-पूरा अधिकार स्थापित हुआ। दूसरी ओर, श्रमिक हैं, जिनके पास पूँजी के अभाव के कारण उत्पत्ति के साधन नहीं हैं और जिन्हें अपनी जीविका चलाने के लिए अपने श्रम को बेचना पड़ता है। पूँजीपतियों का हित इसी में है कि श्रमिकों को कम से कम मजदूरी दें और अधिक से अधिक लाभ कमायें। इसके विपरीत, श्रमिकों का हित इस बात में

यह कहावत ठीक ही है कि रोक-थाम उपचार से अच्छी है। इसी आधार पर कुछ उपाय ऐसे किए जाते हैं कि झगड़े न होने पाएँ। ये उपाय निम्नलिखित हैं :—

(१) **कार्य-समितियाँ** (Works Committees)—इस प्रकार की समितियों के निर्माण का महत्त्व सर्वप्रथम इंगलैण्ड में अनुभव किया गया था। इनकी सहायता से व्यवसाय के नियन्त्रण में श्रमिकों का सहयोग प्राप्त किया जाता है। इंगलैण्ड में ऐसी समितियों का निर्माण सन् १६१७ को **व्हिटले समिति** (Whitley Committee) की सिफारिशों के आधार पर किया गया था। ऐसी समितियाँ प्रत्येक फर्म में अलग-अलग बनाई जाती हैं तथा इनमें श्रमिकों और सेवायोजकों के समान प्रतिनिधि रहते हैं। कभी-कभी कार्य-समितियों में केवल श्रमिक के प्रतिनिधि रहते हैं। यद्यपि उन्हें प्रबन्ध के साथ बातचीत कराने का अधिकार होता है। मण्डल आधार पर भी ऐसी समितियाँ बनाई जाती हैं, जिनमें मिल-मालिकों और श्रम-संघों के प्रतिनिधि रहते हैं।

ऐसी समितियाँ उद्योग में शान्ति और सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न करती है। जैसे ही कोई शिकायत उत्पन्न होती है, वैसे ही कार्य-समिति श्रमिक तथा प्रबन्धक के दृष्टिकोणों को सुनती है और तुरन्त ही मामले को निबटाने का प्रयत्न करती है। पारस्परिक बातचीत से ही अधिकांश मामले सुलझ जाते हैं। इसके अतिरिक्त, श्रमिकों और प्रबन्ध का सम्पर्क बना रहने के कारण भी मन-मुटाव की सम्भावना घट जाती है।

(२) **लाभ-बाँट योजना** (Profit-sharing Scheme)—औद्योगिक विवादों को रोकने के लिए यह उपाय भी बहुधा किया जाता है। इसमें श्रमिकों को उद्योग के लाभों में से हिस्सा दिया जाता है। भारत में इस योजना के अन्तर्गत कुछ उद्योगों में अतिरिक्त लाभों का ५०% कुछ निश्चित नियमों के आधार पर श्रमिकों में बाँट दिया जाता है। इस योजना के द्वारा श्रमिक उद्योगों की सम्पन्नता में रुचि लेने लगते हैं। वे जानते हैं कि यदि लाभ बढ़ता है, तो उनके हिस्से में भी वृद्धि होगी। फलतः कितने ही आवश्यक झगड़े पैदा ही नहीं हो पाते हैं।

(३) **श्रमिकों की साझेदारी** (Labour Co-partnership)—यह प्रणाली लाभ-बाँट योजना का ही एक विस्तृत रूप है। लाभ-बाँट योजना में श्रमिकों को व्यवसाय के प्रबन्ध में हिस्सा नहीं दिया जाता है, परन्तु इस प्रणाली में श्रमिक फर्म के प्रबन्ध में भी कुछ अंश तक हिस्सा लेते हैं। इसके लिए या तो श्रमिकों को फर्म के अंश खरीदने का प्रोत्साहन दिया जाता है अथवा उन्हें प्रबन्ध-मण्डल में संचालक नियुक्त करने का अधिकार दिया जाता है। आधार यह है कि श्रमिक ऐसा अनुभव करने लगें कि व्यवसाय उनका अपना ही है। इससे औद्योगिक विवाद के लिए कम ही अवकाश रह जाता है।

औद्योगिक झगड़ों को निबटाने की रीतियाँ—

उपरोक्त अध्ययन में हमने उन उपायों को देखा था जिनके द्वारा झगड़ों को रोका जा सकता है, परन्तु कोई भी उपाय पूर्णतया सफल नहीं होता है। झगड़े तो होते रहते हैं। झगड़ा हो जाने की दशा में उसके निबटाने की आवश्यकता पड़ती है। साधारणतया इसके लिए चार संस्थायें होती हैं :—

(1) **समझौता समितियाँ**—यह एक प्रकार की ऐसी औद्योगिक नीति है, जिसमें एक तीसरा पक्ष किसी दबाव का उपयोग किये बिना श्रमिकों और मिल-मालिकों को समझाकर आपसी समझौता कराने का प्रयत्न करता है। समझौता कराने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिए कि उसे दोनों ही पक्षों का विश्वास प्राप्त हो। ऐसे व्यक्ति का प्रमुख कार्य दोनों पक्षों के दृष्टिकोणों के अन्तर को कम करना होता है। वह केवल सलाह देता है, निर्णय नहीं देता। परन्तु उसकी सलाह बहुधा ऐसी होती है कि उसे न मानने वाला पक्ष अन्त में पश्चाताप करता है। इस प्रणाली का

सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि दोनों पक्ष स्वय ही झगड़े के कारणों और पारस्परिक मन-मुटाव को दूर करने का प्रयत्न करते है। समझौता कराने वाला अधिकारी झगड़े की सूचना मिलते ही तुरन्त पहुँचता है और दोनो को समझा-बुझा कर मामले को निबटाने की चेष्टा करता है।

(II) मध्यस्थ-कार्य—समझौता और मध्यस्थ कार्य मे थोड़ा-सा अन्तर होता है। दोनों मे एक तीसरा व्यक्ति झगड़े को आपसी बातचीत द्वारा निबटाने का प्रयत्न करता है। मध्यस्थ को हम एक विश्वसनीय सलाहकार कह सकते हैं। उसका उद्देश्य यह होता है कि अपने प्रयत्न से दोनों दलो को मिलाये और आपसी वार्तो से मामले को तय करे। परन्तु एक मध्यस्थ अपनी ओर से सुझाव रख सकता है और इस दिशा मे वह समझौता कराने वाले से थोड़ा भिन्न होता है यद्यपि उसके सुझावो को मानना अनिवार्य नहीं होता है।

(III) पंच-निर्णय—पंच-निर्णय एक प्रकार की कानूनी कार्यवाही है। इसमे दोनो दल मामले को पंच-निर्णय पर छोड़ देते हैं और बहुधा पंचो के फैसले के अनुसार काम करते हैं। पंच-निर्णय के कई रूप हो सकते हैं। कुछ दशाओ मे झगड़े को पंच-निर्णय के लिए छोड़ना आवश्यक होता है और कुछ मे नही। इसी प्रकार, कभी-कभी तो निर्णय का स्वीकार करना अनिवार्य होता है और कभी-कभी ऐच्छिक। जब मामले को पंच-निर्णय के लिए देना तथा फैसले का मानना दोनों अनिवार्य होते है, तो पंच-निर्णय "अनिवार्य-पंच निर्णय" (Compulsory Arbitration) कहलाता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि पंच-निर्णय मे सदा ही निर्णय दिया जाता है।

(IV) औद्योगिक न्यायालय—आधुनिक युग मे औद्योगिक झगड़ो के निबटारे के लिए लगभग सभी देशो मे औद्योगिक न्यायालय खोले जाते हैं। इन न्यायालयों के फैसलों को मानना अनिवार्य होता है और ये बहुधा साधारण न्यायालयो की भाँति कार्य करते हैं।

परीक्षा प्रश्न :

१. सरकार कुछ चुने हुए उद्योगो मे अथवा राष्ट्रीय आधार पर, न्यूनतम् वेतन तथा महंगाई भत्ता किन सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित कर सकती है ? सिद्धान्तो तथा उनके दोषो की व्याख्या कीजिए।

२. श्रम-संघों के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए। श्रम-संघ किन दशाओ मे भृत्ति मे वृद्धि करा सकते हैं ?

३. "श्रम के सम्बन्ध मे माँग और पूर्ति की सामान्य शक्तियाँ सदैव स्वतन्त्रतापूर्वक काम नही कर पाती"—स्पष्ट तथा समझाइये तथा मजदूरी निर्धारित करने मे श्रम-संघ आन्दोलन के प्रभाव की विवेचना कीजिए।

———

५

ब्याज और इसके सिद्धान्त
(Interest and the Theories of Interest)

प्रारम्भिक—

उत्पत्ति का तीसरा साधन पूँजी है। इस अध्याय मे हम साधन के पारितोषण तथा उससे सम्बन्धित समस्याओ और सिद्धान्तो का अध्ययन करेंगे।

ब्याज की परिभाषा

साधारणत. कुल उत्पत्ति मे से उत्पत्ति के साधन "पूँजी" को जो हिस्सा मिलता है उसे हम अर्थशास्त्र मे "ब्याज" कहते है। परन्तु ब्याज शब्द का अर्थ यथार्थ म इतना सरल नही है जितना कि प्रतीत होता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस शब्द को कई अर्थो मे उपयोग किया है, यद्यपि इन सब अर्थों मे, जैसा कि इनके अध्ययन के पश्चात् स्पष्ट हो जायगा, कोई मौलिक भेद नही है। कुछ विद्वान इस शब्द को थोडे विस्तृत अर्थ मे उपयोग करते हैं और कुछ सकुचित अर्थ मे। आशय लगभग एक सा ही रहता है। ठीक यही बात हम ब्याज के विभिन्न सिद्धान्तो के विषय मे भी कह सकते हैं। इन सब मे विभिन्नता के साथ-साथ एक प्रकार की समानता है और ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त इतना व्यापक है कि पुराने सभी सिद्धान्त उसके भीतर समा जाते है।

ब्याज का अर्थशास्त्रीय अर्थ—

अर्थशास्त्र मे ब्याज उस धन या कीमत को कहते है, जो पूँजी का उपयोग करने के लिए दी जाती है. स्मरण रहे कि पूँजी का उपयोग उत्पादक होता है, अर्थात् जब हम पूँजी को उत्पादन के कार्य मे उपयोग करते है, तो प्राप्त होने वाली कुल उपज उस दशा की अपेक्षा अधिक होती है, जबकि बिना पूँजी की सहायता के ही उत्पत्ति की जाती है। इस प्रकार पूँजी का उपयोग उत्पत्ति को बढाता है। पूँजी की सेवाओं के उपयोग के लिए, जो पारितोषण मिलता है वही ब्याज कहलाता है।

(१) प्रो० मेयरस के अनुसार, "ब्याज उस कीमत को कहते हैं, जो उधार देने योग्य कोषो के प्रयोग के लिए दी जाती है।"[1] इस प्रकार का कोष या तो उपभोग की वस्तुयें खरीदने के लिए प्रयोग किया जा सकता है या उत्पादन-कार्य के लिए पूँजी के रूप मे। यहाँ हमारा सम्बन्ध दूसरी श्रेणी के प्रयोग से ही है, यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहा है कि पहले प्रयोग का दूसरे पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

द्रव्य के रूप मे पूँजी की माँग इस कारण की जाती है कि वह अपने स्वामी को उत्पत्ति के साधनो को खरीदने की शक्ति प्रदान करती है। इस शक्ति को या तो हम लगान और मजदूरी देने के लिए उपयोग करके उत्पत्ति के मूल साधन भूमि और श्रम को खरीदने के काम मे ला सकते हैं

---

[1] "Interest is the price paid for the use of the loanable funds."
—Albert L. Meyers : *Elements of Modern Economics*, p. 199

या इसके द्वारा माध्यम वस्तुओं (Inter-mediate goods), जैसे—कच्चा माल, आधा तैयार माल, मकान और मशीन जिनमें भूमि और श्रम की भूतकालीन सेवाएँ समाविष्ट हैं, खरीद सकते है। इसी प्रकार की वस्तुओं को हम पूँजी की वस्तुएँ कहते हैं।

(२) विक्सेल का विचार है कि पूँजी में प्राकृतिक शक्तियों (भूमि) और प्रत्यक्ष मानव श्रम के अतिरिक्त उत्पत्ति के सभी सहायक (साधन) सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार, पूँजी में औजार, मशीनें, मवेशी, कच्चा तथा आधा तैयार माल तथा वे सब वस्तुएँ और सेवाएँ सम्मिलित होती हैं, जो काम के अन्तर्गत श्रमिकों का पोषण करने के लिए आवश्यक होती हैं।[1] ऐसी सभी प्रकार की पूँजी की सेवाओं के उपयोग के लिए जो पारितोषण अथवा पारिश्रमिक दिया जाता है वह ब्याज कहलाता है।

(३) प्रो० सैलिगमैन के अनुसार 'ब्याज पूँजी कोष का पारितोषण है।"[2]

(४) प्रो० कारवर के अनुसार, "ब्याज वह आय है जो पूँजी के स्वामी को प्राप्त होती है।"[3]

(५) केरनक्रास के अनुसार, "ब्याज पूँजी को किराये पर लेने की कीमत है। अधिक संक्षेप में, यह ऋण की कीमत है। यह कीमत साधारणतया ऋण के मूलधन पर गणना की गई एक वार्षिक दर के रूप में व्यक्त की जाती है।"[4]

सकल और शुद्ध ब्याज
(Gross and Net Interest)

जब कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य से रुपया उधार लेता है, तो बहुधा यह तय किया जाता है कि मूलधन के अतिरिक्त उधार लेने वाला उधार देने वाले को कुछ और अधिक राशि देगा। उदाहरणस्वरूप, यदि हम डाकखाने से एक सौ रुपये के राष्ट्रीय बचत पत्र (National Saving Certificate) खरीदते हैं, तो १२ वर्ष के पश्चात् हम १७५ रुपये मिलते हैं अर्थात् ७५ रुपये अधिक मिलते हैं। यही ७५ रुपये ब्याज कहलाते है। साधारण बोल-चाल में ब्याज का यही अर्थ होता है, परन्तु इस प्रकार ब्याज की विवेचना करने में पता चलेगा कि यह ब्याज आर्थिक अर्थ में ब्याज नहीं हो सकता। इस प्रकार के ब्याज को हम अर्थशास्त्र में "सकल" या "कुल" (Gross) ब्याज कहते हैं, जबकि वास्तविक ब्याज "शुद्ध" अथवा 'आर्थिक (Net, Pure of Economic) ब्याज कहलाता है।

सकल ब्याज के अङ्ग—

शुद्ध ब्याज सकल ब्याज का ही एक अङ्ग होता है, परन्तु सकल ब्याज में और भी बहुत से तथ्य (मुख्यतया निम्न) सम्मिलित होते हैं जो कि निम्न प्रकार हैं —

(१) **पूँजी की सेवाओं के उपयोग का पारितोषण या प्रतिफल (अर्थात् शुद्ध ब्याज)—** जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पूँजी का उपयोग करने से उत्पत्ति में वृद्धि होती है और इस बढ़ी हुई उत्पत्ति में से पूँजी के स्वामी को हिस्सा मिलता है।

---

[1] **Knut Wicksell** *Lectures on Political Economy*, p 144-145.

[2] "Interest is the return from the fund of Capital."—**Seligman**

[3] "Interest is the income which goes to the owner of Capital"
—**Carver** *Principles of Political Economy*, p. 418.

[4] "Interest is the price paid for the hire of loan More briefly, it is the price of loan. This price is usally expressed as an annual. rate calculated on the principal of the loan"—**Cairncross** : *Introduction to Economics*, p. 338.

(२) जोखिम का प्रतिफल (Insurance against risk)—जो मनुष्य रुपया उधार देता है उसे थोड़ा डर अवश्य रहता है। सम्भव है कि उधार लेने वाला दिवालिया हो जाये अथवा अन्य किसी कारण से रुपया डूब जाये। यह भी सम्भव है कि उधार लेने वाले व्यवसायी को घाटा हो और वह समय पर पूरा रुपया न दे सके। हो सकता है कि ऋणदाता अपना मूलधन भी खो बैठे। अतः जोखिम के अनुसार कुछ रुपया क्षति-पूर्ति के रूप मे लिया जाता है, जो सकल ब्याज में सम्मिलित हो जाता है। यही कारण है कि जब सरकार अथवा किसी अच्छे व्यवसायी को रुपया उधार दिया जाता है, तो ब्याज कम लिया जाता है, परन्तु जब सटोरिये को उधार दिया जाता है, तो जोखिम के अधिक होने के कारण ब्याज की दर भी ऊँची होती है। ऋण के बदले मे जेवर, मकान, इत्यादि रखने की प्रथा भी इसी कारण है।

(३) ऋण प्राप्ति की असुविधा—ऋण का रुपया वापस मिलने मे अनेक असुविधाएँ होती हैं। ऋणी समय पर रुपया नही देता, बार-बार तगाजा करना पड़ता है थोड़ा-थोडा रुपया मिलता है, कभी-कभी कचहरी में मुकद्दमा चलाकर रुपया वसूल किया जाता है। इन कठिनाइयो के उठाने के बदले मे भी ऋणदाताओं को कुछ न कुछ अवश्य मिलना चाहिए।

(४) ऋणदाता की मजदूरी तथा ऋण की व्यवस्था का व्यय—ऋण का हिसाब रखा जाता है, ऋण पत्र लिखा जाता है, ब्याज तथा ऋणी द्वारा जमा की हुई राशियो का हिसाब-किताब किया जाता है। नोटिस आदि देने पड़ते हैं, रसीदें दी जाती हैं तथा कचहरियों मे जाना पड़ता है। ये काम या तो ऋणदाता स्वयं करता है या इसके लिए वह वेतन भोगी मुनीम रखता है। दोनों ही दशाओं मे मजदूरी के रूप मे ऋणदाता को कुछ मिलना आवश्यक है और यह सारा व्यय ऋणी से ब्याज के रूप में लिया जाता है।

सकल और शुद्ध ब्याज में अन्तर—

सकल और शुद्ध ब्याज के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए नीचे हम कुछ अर्थशास्त्रियों के मत प्रस्तुत करते है :—

(१) चैपमैन के अनुसार, सकल ब्याज मे निम्न को सम्मिलित किया जाता है : "पूँजी के ऋण के लिए भुगतान ......, हानि की जोखिम के लिए भुगतान, जो कि (क) व्यक्तिगत जोखिम अथवा (ख) व्यावसायिक जोखिम हो सकती है विनियोग की असुविधाओं के लिए भुगतान और विनियोग की देख-भाल करने के कार्य और चिन्ता के लिए भुगतान।"[1] इसके विपरीत "शुद्ध ब्याज वह भुगतान है जो पूँजी के ऋण के लिए दिया जाता है, जबकि न तो कोई जोखिम होती है, बचत करने की असुविधा के अतिरिक्त कोई अन्य असुविधा उठानी पड़ती है तथा ऋणदाता को कोई परिश्रम भी नही करना पड़ता। इस प्रकार के भुगतान को शुद्ध अथवा आर्थिक ब्याज कहते हैं।"[2]

(२) मार्शल ने कहा है कि अर्थशास्त्र मे हम जिस ब्याज का अध्ययन करते हैं अथवा जब हम यह कहते हैं कि ब्याज केवल पूँजी का पारिश्रमिक अथवा प्रतीक्षा का पारितोषण है तो वह

---

1 "......payment for the loan of capital ...... payment to cover risks of loss, which may be : (a) personal risks or (b) business risks, payment for the work and worry involved in watching the investment."—Chapmen : *Outline of Political Economy*, p. 279.

2 "Net Interest is a payment for the loan of Capital, when no risk, no inconvenience (apart from that involved in saving) and no work is entailed on the lender."—*Ibid*, pp. 289-290.

शुद्ध ब्याज होता है। परन्तु साधारणतया जिसे ब्याज कहा जाता है उसमें ऐसे ब्याज के अतिरिक्त और बहुत से तत्त्व सम्मिलित होते हैं। इसे हम सकल ब्याज कह सकते है।"[1]

ब्याज लेने का औचित्य
(The Justification for Interest)

ब्याज लेने की निन्दा—

यह विषय आरम्भ से ही विवादग्रस्त रहा है कि क्या ब्याज का लेना उचित है। लगभग सभी धर्मों में ब्याज की निन्दा की गई है। इस्लाम धर्म में शरियत के अनुसार ब्याज लेना एक धार्मिक पाप है। यहूदी या ईसाई धर्म भी इसके पक्ष में नहीं है। हिन्दू धर्म यद्यपि ब्याज लेना पाप तो नहीं बताता, परन्तु मनुस्मृति के अनुसार यह वांछनीय नहीं है और ब्याज का न लेना ही अधिक अच्छा है।

पुराने यूनानी लेखकों में अफलातून और अरस्तु दोनों ने ही बड़े शब्दों में इसकी निन्दा की है। अरस्तु का कहना है कि द्रव्य पूर्णतया अनुत्पादक है और इसलिए वह द्रव्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः जो लोग ब्याज लेते हैं वे दूसरों की कमाई को छीनकर उनका शोषण करते हैं। ब्याज लेने को अनुचित समझने का विचार एक अंश तक अभी भी प्रचलित है। परन्तु वर्तमान युग में इसका विरोध करने वालों की संख्या कम रह गई है और मानव समाज ने ब्याज लेने की प्रथा को लगभग स्वीकार ही कर लिया है। बैंकिंग प्रथा तथा औद्योगिक विकास के साथ-साथ ब्याज की वांछनीयता बढ़ती गई है।

ब्याज के औचित्य का सम्बन्ध ऋण-उद्देश्य से—

अब हमें यह देखना है कि प्राचीन लेखकों ने ब्याज की निन्दा क्यों की है? इसे ठीक प्रकार से समझने के लिए दो प्रकार के ऋणों में भेद करना आवश्यक है—एक तो उपभोक्ता द्वारा लिया हुआ ऋण और दूसरा उत्पादक द्वारा लिया हुआ ऋण। पहले को हम उपभोक्ता ऋण" और दूसरे को "उत्पादन ऋण" कह सकते हैं। अन्य शब्दों में, उधार लेने के दो उद्देश्य हो सकते है :— प्रथम, वह मनुष्य, जिसके पास अपनी और अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त आय नहीं है या जिसे अचानक कुछ ऐसी आवश्यकतायें आ पड़ती है जिनके लिए उसने पहले ही प्रबन्ध नहीं कर रखा है उधार ले सकता है। स्पष्ट है कि यह उधार उपयोग के लिये लिया जायगा। दूसरे, यह भी सम्भव है कि ऋण की रकम किसी व्यापार अथवा व्यवसाय में लगा दी जाय, जिससे अधिक उत्पत्ति होकर आय में वृद्धि हो। निश्चय ही यहा पर ऋण की राशि पूँजी के रूप में उपयोग की जा रही है और इस उपयोग द्वारा आय में वृद्धि हो जायेगी।

प्राचीन काल में ऋण बहुधा उपभोग के लिए उपयोग किया जाता था और ऐसी आवश्यकता के समय लिया जाता था जबकि किसी कारणवश उधार लेने वाला अपनी स्वयं की कमाई से अपना काम नहीं चला सकता था। उदाहरणस्वरूप यदि कोई व्यक्ति बीमार हो जाता था या किसी दैवी आपत्ति के कारण अकस्मात् ही निर्धन हो जाता था, तो वह अपने पड़ौसियों अथवा सम्बन्धियों से सहायता के रूप में ऋण लेता था और धीरे-धीरे इसे अपनी भविष्य की कमाई में से चुकाने का प्रयत्न करता था। निश्चय ही ऐसी दशा में ब्याज का मांगना अन्याय था और एक प्रकार से एक

[1] "The interest of which we speak (in Economics) when we say that interest is the earning of capital simply, or the reward of waiting simply is 'Net Interest', but what commonly passes by the name of interest includes elements beside this and may be called Gross Interest."
—Marshall

दुखी भाई की विवशता में लाभ उठाना था। यही कारण है कि ब्याज लेने वालों की निन्दा की जाती थी। श्रम और भूमि ही प्राचीन काल में उत्पत्ति के मुख्य साधन थे। पूँजी के उपयोग की प्रथा नहीं के बराबर थी और ऋण की राशि को उत्पादन कार्य में लगाकर लाभ उठाने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

परन्तु धीरे-धीरे उत्पादन में पूँजी का महत्त्व बढ़ता गया और ऋण का उत्पादक उपयोग होने लगा। औद्योगिक क्रान्ति ने तो संसार की काया पलट ही कर दी। मशीनों का उपयोग पूँजी के बिना सम्भव नहीं है। ऋण को पूँजी के रूप में उत्पादन की क्षमता बढ़ाई जाने लगी और ऋण के उपयोग से ऋण लेने वाले को लाभ होने लगा। वास्तव में आधुनिक युग में अधिकतर ऋण उत्पादन के हेतु लिए जाते हैं। उनके उपयोग के फलस्वरूप उत्पत्ति और लाभ में वृद्धि होती है। ये ऋण एक दुखी भाई की सहायता के रूप में नहीं होते, वरन् आय का साधन होते हैं। अतः ब्याज के विरुद्ध पुराने आक्षेप वर्तमान युग में सराहनीय हो जाते हैं। यदि ऋणदाता उस बढ़ी हुई उत्पत्ति में से, जो ऋणी को ऋण के उपयोग के फलस्वरूप प्राप्त हुई है, हिस्सा माँगे, तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता है। यही कारण है कि आजकल ब्याज लेना न केवल उचित ही समझा जाता है, वरन् आधुनिक आर्थिक प्रणाली का एक अनिवार्य तथा आवश्यक अङ्ग माना जाता है।

ब्याज की वाञ्छनीयता ऋण के उत्पादक उपयोग से ही सम्बन्धित है। दूसरों के रुपयों को उत्पादन कार्य में लगाकर लाभ उठाना आधुनिक व्यवसाय की प्रत्येक शाखा में पाया जाता है। उपभोग सम्बन्धी ऋणों का विशेष महत्त्व नहीं रह गया है और दोनों प्रकार के ऋणों में भेद करना भी बहुधा सम्भव नहीं होता है।

ब्याज के सिद्धान्त
(The Theories of Interest)

ब्याज का विचार बहुत पुराने समय से चला आता है, परन्तु ब्याज के सिद्धान्तों का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। एडम स्मिथ तथा रिकार्डो के समय तक भी ब्याज का कोई निश्चय सिद्धान्त नहीं बन पाया था। उपरोक्त दोनों विद्वानों ने ब्याज और लाभ में कोई भेद नहीं किया और दोनों की सामूहिक रूप में विवेचना (जो अधूरी ही थी) करने का प्रयत्न किया। पुराने लेखकों ने ब्याज और उसके सिद्धान्तों के अध्ययन को एक तुच्छ तथा घृणित विषय समझ कर छोड़ दिया था।

(I) सीनियर का ब्याज का त्याग-सिद्धान्त

ऐतिहासिक दृष्टि से सीनियर (Senior) का ब्याज का सिद्धान्त सबसे पुराना है। यह सिद्धान्त ब्याज के निग्रह अथवा त्याग सिद्धान्त (Abstinence Theory of Interest) के नाम से प्रसिद्ध है। सीनियर का कथन है कि ब्याज पूँजी का पारितोषण है, परन्तु देखना है कि पूँजी किस प्रकार उपलब्ध होती है।

पूँजी का संचय बचत द्वारा होता है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, पूँजी बचत का वह भाग है जो भविष्य में उत्पादन कार्य में लगाया जाता है। बिना बचत के पूँजी नहीं मिल सकती और बचत करना कोई सरल कार्य नहीं है। किसी मनुष्य को जो आय प्राप्त होती है उससे वह अपनी आवश्यकताएँ पूरी करना चाहता है। किन्तु बचत करने के लिए यह आवश्यक है कि आय के भाग को आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय न किया जाय। इस प्रकार, बचत करने वाले को अपनी आवश्यकताओं पर व्यय को कम करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अन्य शब्दों में, बचत करने के लिए उपभोग का त्याग करना पड़ता है, जो दुखदायी होता है। यही कारण है कि प्रत्येक बचत करने वाला बचत करने के लिए उसी समय तैयार होता है जबकि उसे किसी न किसी लाभ की आशा हो।

इस प्रकार, ब्याज वह पारितोषण है जो बचत करने वाले को उस त्याग के बदले के रूप में मिलता है जो उसने अपनी आय का उपभोग न करके किया है।

आलोचना—

सीनियर के सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की गई हैं :—(i) कहा जाता है कि बचत करना सदा दुखदायी नहीं होता। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि निर्धन वर्ग को बचत करने में असुविधा होती है, पर इसे 'त्याग' कहना उचित न होगा। (ii) इसके विपरीत, बहुत से धनी लोग बिना किसी असुविधा के बचत कर सकते हैं। (iii) कुछ लोगों की आय तो इतनी अधिक हो सकती है कि वे बिना बचत किये रह ही नहीं सकते हैं। उनको बचत करने की अपेक्षा उपभोग करना अधिक दुखदायी प्रतीत होता है।

(II) मार्शल का प्रतीक्षा सिद्धान्त

ब्याज क्या है ?

मार्शल का विचार है कि 'त्याग' शब्द का उपयोग ठीक नहीं है। उन्होंने प्रतीक्षा शब्द का उपयोग करने की सिफारिश की है। बचत करने में त्याग करना आवश्यक नहीं है, परन्तु प्रतीक्षा करना आवश्यक है। आय के जिस भाग की बचत की जाती है उसके विषय में यह कहना भूल होगी कि उसका उपभोग नहीं किया जाता। वास्तव में पूँजी का भी उपभोग होता है, परन्तु कुछ समय पश्चात्। इस प्रकार, बचत में हम वर्तमान उपभोग के स्थान में भविष्य में उपभोग करना स्वीकार करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, आय के जिस भाग की बचत की जाती है उसके उपभोग की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। प्रतीक्षा करना भी कोई सरल कार्य नहीं है। अधिकांश मनुष्य प्रतीक्षा करना नहीं चाहते हैं। उनसे ऐसा कराने के लिए किसी प्रलोभन की आवश्यकता पड़ती है और ब्याज ही वह प्रलोभन है।[1] इस प्रकार, **ब्याज प्रतीक्षा (Waiting) का पारितोषण है और ब्याज की दर का इतना होना आवश्यक है कि जिससे यथेष्ठ पूँजी प्राप्त होने योग्य बचत हो सके।**

ब्याज क्यों दिया जाता है ?

मार्शल का विचार है कि प्रतीक्षा को उत्पत्ति का एक पृथक साधन कहा जा सकता है। आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली में सभी ओर प्रतीक्षा करनी पड़ती है। एक किसान खेत को जोतता है, बीज और खाद इत्यादि का उपयोग करता है, परन्तु फल के लिए फसल के तैयार होने के समय तक प्रतीक्षा करता है। ठीक इसी प्रकार, एक निर्माणकर्त्ता भी उद्योग को चालू करते ही लाभ नहीं उठा सकता, क्योंकि उपज के तैयार होने तथा बिकने में समय लगता है। जितनी ही उत्पत्ति की रीति अधिक परोक्ष होती है उतनी ही प्रतीक्षा की समस्या अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं है कि कुछ लोग प्रलोभन के बिना भी बचत कर सकते हैं और साथ ही कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो बचत करने के लिए उल्टा अपनी गाँठ से देने के लिए तैयार हो जाएँ। परन्तु इस प्रकार की बचत से पूँजी की समस्त माँग पूरी नहीं हो सकती, इसलिए, ब्याज का प्रलोभन साधारणतया आवश्यक होता है।

इस सम्बन्ध में डा० रिचार्डस ने भी मार्शल का समर्थन किया है। डा० रिचार्डस का

---

[1] "The sacrifice of present for the sake of future has been called abstinence by economists.... Since, however, the term is liable to be misunderstood we may with advantage avoid its use, and say that the accumulation of wealth is generally the result of postponement of enjoyment or of a waiting for it."—Marshall *Principles of Economics*, pp. 232-233.

विचार है कि यद्यपि लोग बचत अनेक कारणों से करते है, परन्तु ब्याज का मुख्य कारण यही है कि बचत करने वाले को उपभोग के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। ब्याज मुख्यतया प्रतीक्षा का ही पारितोषण है।[1]

ब्याज का निर्धारण कैसे ?

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि प्रतीक्षा को उत्पत्ति का साधन मान लिया जाय और इसी के पारितोषण को ब्याज कहा जाय, जो फिर पारितोषण किस प्रकार निर्धारित होगा। स्पष्ट है कि ब्याज उस पुरस्कार अथवा पारितोषण के बराबर होगा जो बचत की सीमान्त वृद्धि (Marginal increment of saving) के लिए आवश्यक हो। पूँजी की आवश्यक पूर्ति के लिए कुछ व्यक्तियों को ब्याज का लालच देना आवश्यक होता है। ब्याज की दर ऐसी होनी चाहिए कि सीमान्त बचत करने वाला व्यक्ति बचत करने को तैयार हो जाय। पूँजी की एक निश्चित मात्रा प्राप्त करने के लिए सीमान्त बचत करने वाले को जितना प्रलोभन देना आवश्यक है वही ब्याज की दर निर्धारित करता है।

आलोचनाएँ—

ब्याज का यह सिद्धान्त अधूरा है, क्योंकि (i) अन्य वस्तुओं की भाँति पूँजी भी एक वस्तु है और ब्याज इसका मूल्य है। किसी भी वस्तु का मूल्य माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है। 'त्याग' अथवा 'प्रतीक्षा' द्वारा केवल पूर्ति की ही विवेचना होती है, माँग की नहीं। बचत द्वारा पूँजी प्राप्त होती है और बचत त्याग तथा प्रतीक्षा द्वारा निर्धारित होती है। परन्तु पूँजी की माँग तथा इसके कारणों की विवेचना मार्शल अथवा सीनियर द्वारा नहीं की गई है। इसी कारण ब्याज के ये सिद्धान्त अपूर्ण हैं। (ii) जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, इन सिद्धान्तों में पूर्ति की भी सम्पूर्ण विवेचना नहीं की जाती है। त्याग और प्रतीक्षा के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हैं जो पूर्ति को प्रभावित करते है। (iii) मार्शल ने तो प्रतीक्षा को उत्पत्ति का साधन मान कर एक नई कठिनाई उत्पन्न कर दी है।

(III) ब्याज का उत्पादकता सिद्धान्त
(The productivity Theory)

ब्याज क्यों दिया जाता है ?

इस सिद्धान्त के अनुसार पूँजी उत्पत्ति के अन्य साधनों की भाँति एक उत्पादक साधन है। जब पूँजी की सहायता के बिना उत्पत्ति की जाती है, तो उत्पादन बहुत ही कम होता है, परन्तु पूँजी का उपयोग करने से इसमें बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है। उदाहरणस्वरूप, एक शिकारी बन्दूक तथा अन्य साधनों की सहायता से जितना शिकार कर सकता है उतना बिना उनकी सहायता के नहीं। जाल द्वारा हाथ की अपेक्षा अधिक मछलियाँ पकड़ी जा सकती हैं और जाल तथा नाव दोनों के उपयोग से और भी अधिक। इस प्रकार पूँजी का उपयोग उत्पादक है और इसलिए इसे उधार लेने वाले ब्याज देने को तैयार हो जाते हैं। ब्याज-दर का पूँजी की उत्पादकता से घनिष्ठ तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।

ब्याज का निर्धारण कैसे ?

अब यह प्रश्न उठता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज-दर कैसे निश्चित होती है। पूँजी की कौन-सी उत्पादकता द्वारा ब्याज का निर्धारण होता है ? इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि अन्य साधनों की भाँति पूँजी की भी सीमान्त उत्पादकता का पता लगाया जा सकता है। अन्य

---

[1] "Interest is, however, primarily a reward for waiting."
—Dr Richards : *Groudwork of Economics*, p. 115.

साधनों की मात्राएँ यथास्थिर रखकर यदि हम पूँजी की मात्रा एक इकाई से बढ़ा दें, तो कुल उत्पत्ति में पूँजी की सीमान्त उपज के बराबर ही वृद्धि होगी। इसी सीमान्त उपज का मूल्य ब्याज की दर को निश्चित करता है। लम्बे काल में, जैसा कि हम सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त में देख चुके हैं, पूँजी का पारितोषण इस मूल्य से कम या अधिक नहीं हो सकता है।

आलोचनाएँ—

परन्तु सीनियर तथा मार्शल के सिद्धान्तों की भाँति ब्याज का यह सिद्धान्त भी अधूरा तथा अपूर्ण है :—

(१) यद्यपि यह सिद्धान्त ब्याज के कारण तथा ब्याज-दर के निर्धारण दोनों की विवेचना करता है, परन्तु यह विवेचना एक-विदायी है। यदि ऋणी ब्याज इसलिए देता है कि ऋण उत्पादक होता है, तो उन ऋणों पर ब्याज क्यों दिया जाता है, जो उत्पादन के विपरीत उपभोग हेतु लिए जाते हैं ? ऐसे ऋणों पर तो ब्याज नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे तो उत्पादक नहीं होते।

(२) यदि सीमान्त उपज के मूल्य द्वारा ब्याज-दर निश्चित होती है, तो सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की वे सारी आलोचनाएँ, जिनका अध्ययन एक पहले अध्याय में किया जा चुका है, यहाँ पर भी लागू होती हैं।

(३) यह सिद्धान्त ब्याज की दर का केवल **पूँजी की माँग** की दृष्टि से अध्ययन करता है। पूँजी की माँग उसकी उत्पादन-शक्ति पर निर्भर होती है। यदि उत्पादकता अधिक है, तो माँग भी अधिक होगी, और यदि उत्पादकता कम है, तो माँग भी कम ही होगी। अन्तिम विवेचना में माँग पूँजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निश्चित होती है। पूँजी की पूर्ति की विवेचना इस सिद्धान्त में नहीं की जाती है।

(४) **पूँजी की उत्पादकता स्वयं भी ब्याज-दर पर निर्भर** रहती है। यदि ब्याज-दर ऊँची होती है, तो साधारणतया पूँजी की माग कम होती है, जिसके फलस्वरूप पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार इस बात का निर्णय कठिन है कि ब्याज-दर सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर है या सीमान्त उत्पादकता ब्याज दर पर।

(५) इस सिद्धान्त में एक **चक्राकार तर्क** (Circular Reasoning) भी विद्यमान है। पूँजी के सभी साधनों तथा औजारों और मशीनों का मूल्य ब्याज की दर मान कर ही निश्चित किया जाता है। मान लीजिए कि हम एक १०,००० रुपये की मशीन का उपयोग करते हैं, जिसके कारण हमें १,००० रुपये की वार्षिक आय होती है। इस आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि ब्याज-दर १० रुपया सैकड़ा होगी। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यदि ब्याज की वार्षिक दर १०) रुपया सैकड़ा हो, तो इस मशीन का मूल्य १०,००० रुपया होना चाहिए। दूसरे शब्दों में मशीन का मूल्य ब्याज-दर के ज्ञान बिना नहीं निकाला जा सकता। अतः पूँजी का मूल्य निकालने से पहले ही ब्याज की दर ज्ञात होनी चाहिए, जबकि यह सिद्धान्त ऐसा समझता है कि पहले पूँजी की कीमत ज्ञात की जाती है और बाद को ब्याज की दर।

(IV) ब्याज का पारितोषिक सिद्धान्त
(The Agio Theory of Interest)

इस सिद्धान्त का निर्माण सर्वप्रथम जॉन रई (John Rae) नामक अर्थशास्त्री ने किया था। बाद को प्रसिद्ध ऑस्ट्रियन अर्थशास्त्री **प्रोफेसर बोम बावर्क** (Bohm Bawerk) ने इस सिद्धान्त को अपनाया और आजकल यह उन्हीं के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

ब्याज देने का कारण—

बोम बावर्क का कथन है कि ब्याज का मुख्य कारण यह है कि मनुष्य के लिए वर्तमान और भविष्य का महत्त्व समान नहीं होता। वह वर्तमान आवश्यकता पूर्ति में भविष्य की आवश्यकता

पूर्ति की अपेक्षा अधिक गुण का अनुभव करता है। इसी कारण, वर्तमान वस्तुओं के मूल्य में, भविष्य की उस जैसी ही वस्तुओं की अपेक्षा, एक पारितोषण या प्रव्याजि (Agio or Premium) रहता है, जो ब्याज-दर को निश्चित करता है।[1] उनका कहना है कि वर्तमान वस्तुओं की कीमत भविष्य की उसी मात्रा, गुण और कीमत वाली वस्तुओं की अपेक्षा थोड़ी अधिक रहती है, क्योंकि लोग कुछ कारणों से भविष्य के उपभोग की अपेक्षा वर्तमान उपभोग को अधिक पसन्द करते है। ये कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) भविष्य धुँधला दिखाई पड़ता है और अनिश्चित जान पड़ता है, जिसके कारण मनुष्य भविष्य के सुख को वर्तमान सुख की अपेक्षा कम समझता है।

(२) भविष्य की आवश्यकताओं की अपेक्षा **वर्तमान आवश्यकताएँ अधिक तीव्रतापूर्वक अनुभव** की जाती है। यही कारण है कि वर्तमान आवश्यकताएँ पूरी करने वाली वस्तुओं की मांग भविष्य की आवश्यकताएँ पूरी करने वाली वस्तुओं की अपेक्षा अधिक आग्रहपूर्वक होती है। अतः वर्तमान वस्तुओं की मांग अधिक होती है और उनका अभाव अधिक तेजी के साथ अनुभव होता है।

(३) वर्तमान वस्तुओं को भावी वस्तुओं पर **एक विशेष तकनीकी श्रेष्ठता** (Technical Superiority) प्राप्त होती है। कारण, जैसे-जैसे उत्पत्ति में अधिक समय लगता है और उत्पादन रीति भी और अधिक घुमावदार होती चली जाती है, भविष्य की वस्तुओं पर वर्तमान वस्तुओं की श्रेष्ठता भी बढ़ती जाती है, क्योंकि इस प्रकार की रीतियों के उपयोग में अधिक मात्रा में उत्पत्ति होने लगती है।

उपरोक्त कारणों से एक मनुष्य वर्तमान के १००) का मूल्य भविष्य के १००) रुपये के मूल्य से अधिक समझता है। यदि इस समय की १००) रुपये वार्षिक आय भविष्य की ११०) रुपये वार्षिक आय के बराबर है तो इस समय १००) रुपये वार्षिक आय देकर भविष्य की दर ११०) रुपये वार्षिक की आशा की जायगी। कहने का अभिप्राय यह है कि ब्याज की दर १०) रुपया सैकड़ा होगी, क्योंकि इसी अंश तक वर्तमान को भविष्य पर अनुराग अथवा वरीयता (Preference) प्राप्त है।

(V) फिशर का समय वरीयता सिद्धान्त
(Time preference Theory of Interest)

फिशर (Fisher) ने बोम बावर्क की विवेचना में थोड़ा सुधार करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि बोम बावर्क ने वर्तमान को पसन्द करने के जो तीन कारण बताये है उनमें से पहले दो तो ठीक हैं, परन्तु तीसरा गलत है, क्योंकि इसे मान लेने से हमें परोक्ष-रूप से ब्याज के उत्पादकता सिद्धान्त को मान लेना पड़ता है। साथ ही, उन्होंने यह भी बताया है कि भविष्य की अनिश्चितता के कारण वर्तमान को पसन्द नहीं किया जाता है। वास्तव में समान रूप से निश्चित भावी संतोष की अपेक्षा लोग फिर भी वर्तमान संतोष को ही पसन्द करते हैं।

ब्याज का कारण—

मुख्य बात यह है कि लोगों में समय वरीयता (Time Preference) होती है। वे अपनी आय को तुरन्त व्यय करने के लिए अधिक इच्छुक या आतुर (Impatient) होते हैं। यह आतुरता कितनी अधिक होगी, यह निम्न बातों पर निर्भर है :—(i) आय की मात्रा, (ii) आय का समय-वितरण (Time Distribution) अर्थात् इस बात पर कि आय की प्राप्ति कितने समय पर फैली

[1] Bohm Bawerk : *The Positive Theory of Interest.*

हुई है, (iii) आय किस प्रकार प्राप्त होती है, (iv) आय को भविष्य म उपयोग करने की निश्चितता और (v) व्यक्ति विशेष की मनोवृत्ति। जिन व्यक्तियो की आय अधिक होती है उनके लिए वर्तमान आवश्यकताओ को पूरा करने की सुविधा अधिक होती है। इसके विपरीत, निर्धन लोग भविष्य को वर्तमान की अपेक्षा बहुत कम महत्त्व देते है। अमीरो मे गरीबो की अपेक्षा समय वरीयता कम होती है।

फिशर का विचार है कि ब्याज का कारण समय वरीयता द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है। ब्याज इसलिए दिया जाता है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आय को तुरन्त व्यय करने के लिए व्याकुल या आतुर रहता है। परन्तु यदि सारी आय वर्तमान मे ही व्यय कर दी जाय, तो बचत नही हो सकती और न ही पूँजी एकत्रित हो सकती है। अत तुरन्त व्यय करने की आतुरता को रोकना पडता है और इस आतुरता को रोकने के लिए ही ब्याज का प्रलोभन दिया जाता है। समय विशेष मे ब्याज-दर इतनी होनी चाहिए कि पर्याप्त मात्रा मे बचत की जा सके, अर्थात्, व्यय-आतुरता इस अश तक रोकी जा सके कि पूँजी की माँग के अनुसार बचत हो सके।

ब्याज का निर्धारण कैसे ?

जबकि बोम बावर्क के अनुसार ब्याज-दर पारितोषिक अथवा ब्याज-दर (Premium Rate) द्वारा निश्चित होती है, तब फिशर के अनुसार यह समय वरीयता के अश पर निर्भर होती है और एक प्रकार की बट्टा दर होती है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक मनुष्य १०० रुपये से प्राप्त होने वाले वर्तमान गुण को एक साल बाद केवल ९२ रुपये के बराबर समझता है, तो वह वर्तमान को भविष्य मे ८ रुपया अधिक आँकता है, अथवा, भविष्य को वर्तमान से ८ रुपया कम आँकता है। ऐसी दशा मे वह १०० रुपये एक साल तक के लिए उधार देने को तभी तैयार होगा, जबकि साल भर पीछे उसे बदले मे १०८ रुपये मिलने की आशा होगी। यदि ऐसा नही किया जाय, तो उसे उधार देने म हानि होगी और वह बचत करने के स्थान पर वर्तमान उपभोग को ही अधिक पसन्द करेगा। आठ रुपया अधिक मिल जाने से वर्तमान और भावी सन्तोष मे समानता आ जाती है। अत. ब्याज-दर मनुष्य की व्यय करने की आतुरता पर निर्भर होती है। समय-अनुराग की माप यह आतुरता ही है। व्यय-आतुरता जितनी अधिक होगी उतना ही समय-अनुराग भी अधिक होगा और उतनी ही ब्याज-दर भी ऊँची होगी, और, जितना ही समय अनुराग कम होगा उतनी ही ब्याज दर भी नीची होगी।

इस प्रकार, ब्याज-दर वह दर है जो वर्तमान सन्तोष को भविष्य के लिए स्थगित करा देती है। अन्तिम दशा में वह समय-अनुराग-दर के बराबर होती है। यदि बाजार म ब्याज-दर किसी व्यक्ति की समय-अनुराग-दर से ऊँची है, तो वह व्यक्ति बचत करेगा और रुपया उधार देकर लाभ कमायेगा। इसके विपरीत, यदि बाजार मे ब्याज-दर किसी व्यक्ति की समय-अनुराग-दर से नीची है, तो वह व्यक्ति रुपया उधार लेकर अपनी वर्तमान की आग्रहपूर्ण आवश्यकताओ को पूरा करेगा, क्योंकि यही उसके लिए लाभदायक होगा। कोई व्यक्ति उसी समय तक रुपया उधार देता है या उधार लेता है जब तक ब्याज-दर उसकी समय-अनुराग-दर के बराबर न हो जाय। इस प्रकार, साम्य की अवस्था म ब्याज की दर समय अनुराग की दर के बराबर होती है।

समय वरीयता सिद्धान्त की मान्यताएँ—

फिशर के अनुसार यह सिद्धान्त कई मान्यताओ पर आधारित है :—(i) द्रव्य की क्रय-शक्ति मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होना चाहिए। यदि भविष्य मे द्रव्य की क्रय-शक्ति बढ जाय तो एक व्यक्ति भविष्य मे ८० रुपये को भी वर्तमान के १०० रुपये से अधिक समझ सकता है। इस दशा मे यह सिद्धान्त लागू न होगा। (ii) पूँजी के स्वामी की परिस्थितियो मे कोई परिवर्तन नही होना चाहिए। यदि एक व्यक्ति भविष्य मे सादा और संयमी जीवन व्यतीत करना चाहता है,

तो हो सकता है कि वर्तमान के १०० रुपये का महत्त्व उसके लिए भविष्य में सौ रुपये से भी अधिक हो जाय ।

यद्यपि फिशर ने बोम बावर्क के सिद्धान्त को सुधारने का प्रयत्न किया है तथापि **बोम बावर्क के सिद्धान्त का महत्त्व** कम नहीं हुआ है और यह निम्न दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है :—(i) ब्याज के उत्पादकता सिद्धान्त में यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि उपभोग हेतु लिए हुए ऋणों पर ब्याज क्यों दिया जाता है, परन्तु यह सिद्धान्त सभी प्रकार के ऋणों पर दिये जाने वाले ब्याज की व्याख्या करता है। उपभोग के लिए जो ऋण लिए जाते है उन पर इसलिए ब्याज दिया जाता है कि वर्तमान उपभोग भविष्य की तुलना में अधिक महत्त्व रखता है। (ii) यह सिद्धान्त इस बात को भी समझता है कि जब कोई व्यवसायी अपनी बचत को अपने कारोबार में लगाता है तब भी उसे ब्याज मिलना चाहिए, क्योंकि वह भी बचत के वर्तमान उपभोग को भविष्य के लिए स्थगित करता है।

आलोचनाएँ -

अन्य सिद्धान्तों की भाँति प्रब्याजि और समय वरीयता-सिद्धान्त भी अपूर्ण है :—(i) यह सिद्धान्त भी ब्याज-दर का **पूंजी की पूर्ति से सम्बन्ध स्थापित** करता है, क्योंकि समय-वरीयता तथा भविष्य निरादर की तीव्रता के अनुसार ही बचत (अर्थात् पूंजी) की पूर्ति निश्चित होती है। (ii) पूंजी की पूर्ति समय वरीयता पर ही पूर्णतया निर्भर नहीं होती, वरन् त्याग, प्रतीक्षा और समय-वरीयता के अतिरिक्त **पूंजी की पूर्ति भी बहुत-सी बातों पर निर्भर** होती है। (iii) बोम बावर्क का सिद्धान्त **उत्पादकता सिद्धान्त के बहुत समीप** पहुँच जाता है। ब्याज की समस्या इसलिए उत्पन्न होती है कि भविष्य में अधिक उत्पादकता प्राप्त की जा सकती है। "मूलतया बोम बावर्क का ब्याज का सिद्धान्त एक सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त ही था, यद्यपि यह बात बहुधा भुला दी जाती है ... ...।"[1] (iv) फिशर का सिद्धान्त दो ऐसी **मान्यताओं पर आधारित** है जो स्वभाव से ही अवास्तविक है। एक ओर तो, फिशर यह मान लेते हैं कि वर्तमान तथा भविष्य के बीच मुद्रा की क्रय-शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता, और, दूसरी ओर, ऐसा मान लेते है कि कालान्तर में बचत करने वालों की स्थिति तथा चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं होता। (v) यह सिद्धान्त ऐसा समझता है कि ब्याज-दर किसी व्यक्ति को उसके समय अनुराग की दर के अनुपात में बचत करने को प्रोत्साहित करती है परन्तु **विभिन्न व्यक्तियों का समय-अनुराग अलग-अलग** होता है और विभिन्न कालों में एक व्यक्ति के समय-अनुराग में भी अन्तर हो सकते है।

(VI) ब्याज का प्रतिष्ठित या वास्तविक सिद्धान्त
(Classical or Real Theory of Interest)

ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त' 'वास्तविक सिद्धान्त' भी कहलाता है क्योंकि यह ब्याज-दर के निर्धारण को वास्तविक घटकों, जैसे—उत्पादकता एवं मितव्ययिता (अर्थात् पूंजी वस्तुओं की उत्पादकता एवं वस्तुओं की बचत) के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, ब्याज-दर प्रतीक्षा, त्याग या समय-वरीयता (time preference) के लिए एक भुगतान है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों में यह मतभेद तो है कि बचत प्रतीक्षा के कारण है या त्याग के

---

[1] "Fundamentally, Bohm Bawerk's theory of interest was a marginal productivity theory, though this fact is usually been neglected because at different times he places different emphasis on the various stands of his thought."—Briggs and Joardan : *Text-Book of Economics*, pp. 462-466.

कारण अथवा समय-वरीयता के कारण, किन्तु वे सभी यह मानते है कि 'ब्याज-दर' बचत के लिए भुगतान है। इस सिद्धान्त के अनुसार, ब्याज-दर पूंजी-वस्तुओं (capital goods) में विनियोग करने के लिए बचतो का माग एव बचतो की पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। नीचे हमने इन माँग एवं पूर्ति पक्षो पर अलग अलग प्रकाश डाला है।

(१) माँग पक्ष--

पूंजी वस्तुओ के लिए माँग उन फर्मों द्वारा प्रस्तुत की जाती है जो कि विनियोग करने की इच्छुक है अर्थात् नई पूंजी-वस्तुएँ खरीदना या बनाना चाहती है। पूंजी-वस्तुओ के लिए माग इस कारण की जाती है कि इनका प्रयोग उपभोक्ता-वस्तुएँ उत्पन्न करने म किया जा सकता है, अथवा उत्पत्ति के अन्य साधनो की भाँति उनकी भी एक आगम-उत्पादकता (revenue productivity) होती है। अत, एक दी हुई श्रेणी की पूंजी सम्पत्ति (उदाहरणार्थ मशीन) के लिए एक सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र (MRP curve) खीचा जा सकता है कि उस मशीन के स्टॉक मे विभिन्न स्तरो पर की गई एक अतिरिक्त मशीन की वृद्धि के फलस्वरूप कुछ आगम मे होने वाली वृद्धि को दिखायेगा।

यद्यपि अन्य उत्पत्ति साधनो की भाँति पूंजी की भी सीमान्त आगम उत्पादकता होती है, यह अन्य साधनो की सीमान्त आगम उत्पादकता की अपेक्षा अधिक जटिल होती है। कारण, पूंजी का जीवन बहुत वर्षो का होता है, अर्थात् एक पूंजी-सम्पत्ति अनेक वर्षों तक आय देती रहती है। अत, उपक्रमियों को भविष्य की अनिश्चितताओ को विचार मे लेना पडता है तथा मेण्टीनेन्स और परिचालन व्ययो के लिए अलाउन्स देना पडता है। अन्य शब्दो मे, उन्हे पूंजी की सीमान्त इकाई की शुद्ध सम्भाव्य आय (net expected return) मालूम करनी पडती है। यह आय पूंजी सम्पत्ति की लागत के प्रतिशत के रूप मे दिखाई जाती है। एक विशेष प्रकार की पूंजी-सम्पत्ति जितनी अधिक होगी, उतना ही कम द्रव्य उपक्रमी उस प्रकार की एक अतिरिक्त सम्पत्ति (मशीन) के क्रय द्वारा कमाने की आशा करेगा अत पूंजी का सीमान्त-आगम-उत्पादकता-वक्र (MRP) नीचे की ओर ढालू होता है।

पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म के लिए यह लाभदायक होता है कि वह किसी साधन को उस बिन्दु तक खरीदे जहाँ उसकी कीमत उसकी सीमान्त आगम उत्पादकता के बराबर हो जाय। ब्याज दर स्पष्टत: उस बचत की कीमत होती है, जिसकी आवश्यकता पूंजी वस्तुएँ खरीदने के लिए है। अत, उपक्रमी पूंजी-वस्तुओ के लिए माँग (अथवा यो कहे कि पूंजी-वस्तुएँ खरीदने के लिए बचत की माँग) उस बिन्दु तक करेगा जहाँ पर पूंजी वस्तुओं की शुद्ध-सम्भाव्य-आय-दर 'ब्याज-दर' के बराबर हो जाये। चूंकि सीमान्त-आगम-उत्पादकता वक्र नीचे की ओर ढालू होता है इसलिए ब्याज-दर गिरने पर अधिक पूंजी वस्तुएँ माँगी जायेंगी और इसलिए इनकी खरीद के लिए अधिक द्रव्य की आवश्यकता होगी। पूंजी वस्तुओ के लिए माग ब्याज दर मे उत्तरोत्तर कमी के साथ जिस प्रकार से बढती है उसे चित्र अ मे दिखाया गया है।

जब ब्याज-दर Or है, तब माँगी हुई पूंजी की मात्रा OM है। इसका कारण यह है कि

चित्र—(अ) सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र

केवल इसी मात्रा पर पूँजी की घटती हुई शुद्ध आय दर प्रचलित ब्याज-दर Or के बराबर होती है। अब यदि ब्याज-दर Or से घटकर Or_1 रह जाय, तो मांगी हुई पूँजी की मात्रा OM से बढ़ कर OM_1 हो जायेगी, क्योंकि इस मात्रा पर घटती हुई शुद्ध आय दर नई ब्याज दर (Or_1) के बराबर होती है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि पूँजी का सीमान्त-आगम-उत्पादकता-वक्र पूँजी के लिए माँग दिखाता है। वह यह भी दिखाता है कि पूँजी के लिए माँग (अथवा यों कहे कि पूँजी वस्तुयें खरीदने के लिए बचतों की माग) दाहिनी ओर नीचे की दिशा में ढालू है। यही दशा व्यक्तिगत फर्मों, व्यक्तिगत उद्योगों एवं सम्पूर्ण समाज के लिए भी सत्य है। इस प्रकार, हमारा यह निष्कर्ष है कि ब्याज-दर कम होने पर पृथक-पृथक पूँजी वस्तुओं के लिए (एवं सामान्य रूप से सभी पूँजी-वस्तुओं के लिए) माँग में वृद्धि हो जायेगी।

(२) पूर्ति पक्ष—
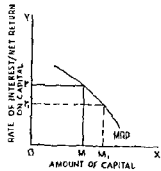
प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार पूँजी-वस्तुयें खरीदने हेतु जो मुद्रा प्रयोग की जाती है वह उन लोगों द्वारा उपलब्ध की जाती है जो कि अपनी चालू आय से बचत करते हैं। वे अपनी आय के एक भाग के उपभोग को स्थगित करके, उत्पत्ति के लिए आवश्यक प्रसाधन सुलभ (release) करते हैं। बचत में भावी उपभोग के लिए प्रतीक्षा करने का तत्व निहित होता है। किन्तु लोग वर्तमान उपभोग को भावी उपभोग पर प्राथमिकता देते हैं। अतः यदि उन्हें द्रव्य बचाने हेतु तथा बचाये हुए धन को उपक्रमियों को ऋण देने हेतु प्रेरित करना है, तो पुरस्कार स्वरूप शुद्ध ब्याज देना होगा। अन्य शब्दों में, उनकी समय-वरीयता पर विजय पाने के लिए उन्हें ब्याज के रूप में प्रेरणा देनी आवश्यक है। अधिक बचत के लिए, अधिक उपभोग का स्थगन करना पड़ेगा और इसलिए इसकी क्षतिपूर्ति के लिए वे अधिक ब्याज-दर चाहेंगे। अतः लोगों को अधिक बचत करने की प्रेरणा देने हेतु ऊँची ब्याज-दर देनी होगी। यही नहीं, ऊँची ब्याज दर इस कारण से भी देनी होगी कि जिन लोगों की समय-वरीयता-दरें ऊँची हैं, वे वर्तमान उपभोग के पक्ष में अधिक होते हैं जिससे बचत करने के लिए उन्हें अधिक प्रेरणा (ऊँची ब्याज-दर के रूप में) की आवश्यकता पड़ती है, अतः पूँजी का पूर्ति वक्र दाहिनी दिशा में ऊपर की ओर ढालू होता है।

(३) माँग एवं पूर्ति का साम्य—

ब्याज-दर पूँजी के लिये माँग (अर्थात् विनियोग) एवं पूँजी की पूर्ति (अर्थात् बचत) के कटन-बिन्दु पर निर्धारित होती है। जिस ब्याज-दर पर पूँजी के लिए माँग (अथवा पूँजी वस्तुओं में विनियोग करने हेतु बचतों के लिए माग) और बचतों की पूर्ति साम्यावस्था में होगी वही बाजार में प्रचलित हो जाती है। ब्याज दर विनियोग के लिए माँग एवं बचतों की पूर्ति द्वारा जिस तरीके से निर्धारित होती है वह (चित्र ब) में दिखाई गई है।

चित्र—(ब) व्याज दर का निर्धारण
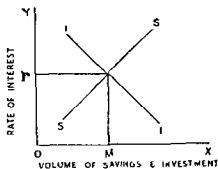
इस चित्र मे SS बचतो का पूर्ति-वक्र और II पूँजी वस्तुओं मे विनियोग हेतु बचतो का माँग वक्र है। (II को 'विनियोग के लिए माँग वक्र' या केवल विनियोग-माँग-वक्र भी कह सकते हैं।) विनियोग के लिए माँग और बचतो की पूर्ति दोनो ही Or ब्याज दर पर, जहाँ कि वक्र एक दूसरे को काटते है, साम्यावस्था मे हैं। अत Or ब्याज की साम्य दर है जो कि बाजार मे प्रचलित हो जायगी। इस साम्यावस्था मे द्रव्य की OM मात्रा बचाई, उधार व विनियोग की जावेगी। यदि माँग और पूर्ति सम्बन्धी दशाओं मे कोई परिवर्तन होता है तो वक्रतदनुसार खिसक जायेंगे तथा साम्य दर भी बदल जावेगी।

आलोचनायें—

ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की कटु आलोचना हुई है। प्रमुख आलोचनायें निम्न लिखित हैं—

(१) प्रतिष्ठित सिद्धान्त **इस मान्यता पर आधारित है कि प्रसाधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त है।** ऐसी दशा मे यदि हम एक वस्तु का उत्पादन बढाना चाहे तो हम किसी अन्य वस्तु के उत्पादन मे से कुछ प्रसाधन हटाने पडेंगे। उदाहरणार्थ, यदि विनियोग बढाने हों, तो उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन मे से प्रसाधन हटाने पड़ेंगे। अत यही कारण है कि लोगो को अपना उपभोग स्थगित करने हेतु (अथवा अपनी बचतों के भावी उपभोग की प्रतीक्षा करने हेतु) प्रेरित करने के लिए ब्याज के रूप मे प्रलोभन देना पडता है। इसका मतलब तो यह हुआ कि यदि किसी देश मे किसी समय पर एक व्यापक पैमाने पर निष्क्रिय साधन पडे हो, तो लोगो को उपभोग से विरति (abstain) रहने के लिए कोई पुरस्कार देने की आवश्यकता नही होगी। जब ऐसा है, तो फिर ब्याज क्यो दिया जाता है ? इसके स्पष्टीकरण के लिये (प्रतीक्षा या समय-वरीयता के अलावा) किसी नये सिद्धान्त की रचना करनी पड़ेगी।

(२) प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार अधिक विनियोग (अर्थात् पूँजी वस्तुओं का उत्पादन) तब ही हो सकता है जबकि उपभोग मे कटौती की जाये, अर्थात्—उपभोग म अधिक कटौती→ अधिक बचतें→ अधिक विनियोग। किन्तु यह सब जानते है कि उपभोक्ता वस्तुओं **के लिए माँग में कमी आने से पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रेरणा घटने की सम्भावना है,** और यदि ऐसा हुआ, तो विनियोग भी प्रतिकूल रूप मे (Adversely) प्रभावित होंगे।

(३) प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने पूर्ण रोजगार की कल्पना ग्रहण करके **आय-स्तर के परिवर्तनों को उपेक्षा कर दी है।** चूँकि उन्होने आय-स्तर के परिवर्तनों की उपेक्षा की थी, इसलिए वे ब्याज-दर को ही एक ऐसा घटक समझने की भूलकर बैठे जो कि विनियोग और बचत मे समानता स्थापित करती है। किन्तु जैसा कि कीन्स ने बताया है बचत और विनियोग मे समानता आय-स्तर के परिवर्तनो द्वारा स्थापित होती है, न कि ब्याज दर के परिवर्तनो द्वारा।

(४) प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार बचत-वक्र मे कोई खिसक हुए बिना ही विनियोग माँग वक्र मे परिवर्तन हो सकता है। किन्तु, जैसा कि कीन्स ने बताया है विनियोग मे कमी आय को घटाती है और घटी हुई आय मे से कम बचत की जाती है तथा इस प्रकार बचत वक्र भी परिवर्तित हो जाता है, अत प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने **बचतों पर विनियोग के परिवर्तनों के प्रभावों की उपेक्षा** कर दी है।

(५) जैसा कि कीन्स ने बताया है, प्रतिष्ठित सिद्धान्त अनिर्धारित (indeterminate) है। बचत-वक्र की स्थिति आय स्तर पर निर्भर है (अर्थात् बचत-वक्र की स्थिति आय-स्तर के साथ बदलेगी) अतः विभिन्न आय-स्तरों पर विभिन्न-बचत वक्र होंगे। किन्तु जब तक आय-स्तर का पता न हो तब तक हम यह नहीं कह सकते कि ब्याज-दर क्या होगी और आय-स्तर क्या होगा। यह हम ब्याज-दर को जाने बिना मालूम नहीं कर सकते (क्योंकि नीची ब्याज-दर का मतलब है अधिक विनियोग और इसलिए ऊँची वास्तविक आय) इस प्रकार प्रतिष्ठित सिद्धान्त कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाता है।

(VII) उधारयोग्य कोष-सिद्धान्त अथवा नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त
(Loanable Funds Theory or Neo-classical Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज उधारयोग्य कोषों के प्रयोग के लिए दी गई कीमत है। इसके निर्माता विक्सेल है। प्रतिष्ठित एवं कीन्स के ब्याज सिद्धान्तों की भाँति यह भी एक माँग-पूर्ति सिद्धान्त है और इस बात पर बल देता है कि ब्याज-दर साख-बाजार में उधार योग्य कोषों की माँग और पूर्ति के मध्य साम्य द्वारा निर्धारित होती है।

(१) माँग पक्ष—

ऋण योग्य कोषों के लिए माँग तीन क्षेत्रों से आती है :—(अ) विनियोग, (ब) उपभोग, एवं (स) संचय।

(अ) विनियोग—उधार योग्य कोषों के लिए अधिकांश माँग व्यावसायिक फर्मों से आती है। व्यवसायीगण उस बिन्दु तक उधार-योग्य कोषों के लिए माँग करेंगे, जहा पर पूँजीवस्तु की शुद्ध सम्भाव्य आय-दर ब्याज-दर के बराबर हो जाय। ब्याज-दर के परिवर्तन विनियोग-माँग को प्रभावित करते है। अन्य शब्दों में, विनियोग सम्बन्धी माँग ब्याज-लोच वाली (interest-elastic) होती है। ऊँची ब्याज-दर पर विनियोग-माँग कम और नीची ब्याज-दर पर विनियोग-माँग अधिक होगी। यही कारण है कि विनियोग-माँग-वक्र (I) दाहिनी ओर नीचे की दिशा में ढालू होता है।

चित्र—ब्याज-दर का निर्धारण
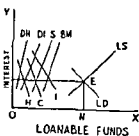
(ब) उपभोग—उपभोग के लिए उधार योग्य कोष की माँग व्यक्तियों या गृहस्थियों द्वारा प्रस्तुत की जाती है। वे ऐसी माँग तब करते है जब वे अपनी चालू आयु और नगद प्रसाधनों से अधिक खरीद करना चाहते है। 'नीची ब्याज-दर उपभोग ऋणों में कुछ वृद्धि प्रोत्साहित करेगी। उपभोग-माँग-वक्र (C) ब्याज लोचदार है तथा नीचे की दिशा में दाहिनी ओर ढालू होता है।

(स) संचय—संचय से अभिप्राय यह है कि लोग अपनी बचत को निष्क्रिय नगदी कोष के रूप में अपने पास रखना चाहते है। यह उल्लेखनीय है कि ऐसे ही लोग उधार-योग्य कोष की सप्लाई भी करते हैं। संचय माँग-वक्र (H) भी ब्याज-लोचदार है तथा नीचे की दिशा में दाहिनी ओर ढालू होता है।

I, C, H वक्रों के lateral summation द्वारा उधार योग्य कोषों का कुल माँग-वक्र (LD) प्राप्त हो जाता है जो कि नीचे की दिशा में दाहिनी ओर ढालू होता होता है। यह 'ब्याज-लोचदार' है।

(२) पूर्ति पक्ष—

उधार योग्य कोषों की पूर्ति निम्न क्षेत्रों से होती है :—(अ) बचत, (ब) वि-संचय, (स) बैंक-साख, एवं (द) अ-विनियोग।

(अ) बचत (Savings)—व्यक्तियों एवं परिवारों की बचत उधार योग्य कोषों का एक महत्वपूर्ण स्रोत होती है। बचत पर दो तरह से विचार किया जा सकता है :—(i) Ex-ante savings एवं (ii) Post-ante savings। दोनों ही दशाओं में बचाई हुई राशि ब्याज दर के साथ घटती-बढ़ती है। व्यक्तियों की भाँति व्यावसायिक फर्में भी बचत करती है। उनकी बचत अतिरिक्त लाभ के रूप में होती है। ऐसी बचतें एक अंश तक ब्याज की चालू दर से प्रभावित होती हैं। चूँकि ऐसी बचतें प्रायः संस्था में ही विनियोग कर ली जाती हैं, इसलिए उनमें से अधिकांश साख बाजार में प्रवेश नहीं करती हैं। बचत वक्र (S) ऊपर की दिशा में दाहिनी ओर ढालू होता है।

(ब) वि-संचय (Dishoardings)—पिछली अवधि में व्यक्तियों द्वारा जोड़ा हुआ कुछ द्रव्य चालू अवधि में उधार योग्य-कोष के रूप में उपलब्ध हो सकता है। यदि ब्याज दर ऊँची है तो पिछले संचय में से अधिक राशि उधार देने को बाहर निकाली जायेगी और यदि वह नीची है, तो कम राशि निकाली जायेगी। वि-संचय-वक्र (DH) को चित्र में ऊपर की दिशा में दाहिनी ओर ढालू दिखाया गया है।

(स) बैंक साख (Bank Credit)—साख मुद्रा का सृजन करके बैंक व्यवसायियों को ऋण देते हैं। वे ऋण देने में कमी करके मुद्रा-राशि को घटा भी सकते हैं। एक अवधि में बैंक द्वारा सृजन की गई साख-मुद्रा उधार योग्य कोषों की पूर्ति को बहुत बढ़ा देती है। बैंक साख का पूर्ति वक्र (BM) कुछ अंश तक ब्याज-लोचदार होता है। यदि अन्य बातें समान रहे, तो बैंक नीची ब्याज-दर की अपेक्षा ऊँची ब्याज दर पर अधिक ऋण देंगे।

(द) अ-विनियोग (Disinvestment)—अ-विनियोग विनियोग का उल्टा है। जब संरचनात्मक परिवर्तनों के कारण विद्यमान मशीनों के स्टॉक को घिसने दिया जाता है और उन्हें प्रतिस्थापित नहीं किया जाता, तो उत्पाद की बिक्री से प्राप्त आगम का एक भाग पूँजी प्रतिस्थापन में लगाने के बजाय बाजार में उधार योग्य कोषों के रूप में प्रवेश कर लेता है। ऊँची ब्याज-दर अ-विनियोग को प्रोत्साहित करती है। जब ब्याज-दर ऊँची हो, तो यह सम्भव है कि चालू पूँजी का कुछ भाग इस ब्याज-दर के अनुरूप सीमान्त-आगम-उत्पाद उत्पन्न न कर सके। ऐसी दशा में फर्म इस पूँजी को घिस जाने देगी तथा घिसाई कोष का प्रयोग इसका प्रतिस्थापन करने के बजाय साख बाजार में ऋण देने में करेगी। इस प्रकार, अ-विनियोग उधार योग्य कोषों की पूर्ति में वृद्धि करते हैं। इन्हें चित्र में DI वक्र द्वारा दिखाया गया है।

उपरोक्त चारों वक्रों (D, DM, DI और BM) के lateral summation द्वारा कुल पूर्ति वक्र (LS) प्राप्त हो जायेगा, जो ऊपर की दिशा में दाहिनी ओर ढालू होता है। ऊँची ब्याज दरों पर कुल 'उधार योग्य-कोष-पूर्ति' अधिक और नीची ब्याज दरों पर यह कम होगी।

(३) ऋण योग्य कोषों के कुल माँग एवं कुल पूर्ति में साम्य—

ब्याज-दर ऋण योग्य कोषों के लिए कुल माँग एवं इनकी कुल पूर्ति के साम्य द्वारा निर्धारित होगी। (देखिये पिछला चित्र)। इस चित्र में LS कुल पूर्ति वक्र और LD कुल माँग वक्र एक दूसरे को Or (=NE) ब्याज दर पर काटते हैं। इस दर पर कुल पूर्ति कुल माग के बराबर है। अतः यही साम्य दर बाजार में स्थापित हो जायेगी।

आलोचनात्मक समीक्षा—

यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त की तुलना में अधिक व्यापक है क्योंकि इसमें लोगों की

बचतों के अतिरिक्त उनके आसंचन तथा बैंकों द्वारा निर्मित मुद्रा पर भी ध्यान दिया गया है जिन्हें प्रतिष्ठित सिद्धान्त में कोई स्थान प्राप्त न था। फिर भी इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) इस सिद्धान्त में साम्य क्रिया में बचतों पर ब्याज-दर का प्रभाव बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिया गया है। कुछ बचतें ऐसी भी हैं जो अनिच्छा से ही हो जाती हैं और जिन पर ब्याज दर का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

(२) यह सिद्धान्त भी प्रतिष्ठित सिद्धान्त की भाँति मान लेता है कि समाज की आय यथास्थिर रहती है और उस पर विनियोगों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। सत्य यह है कि ब्याज की ऊँची दरें विनियोगों को हतोत्साहित करती है जिससे आगे चलकर स्वयं आय भी घट जाती है।

(३) हेन्सन (Hansen) का विचार है कि यहाँ भी ब्याज अनिर्धारणीय (Indeterminate) ही है। "उधारयोग्य कोष सिद्धान्त के अनुसार ब्याज-दर उधार-योग्य कोषों की माँग और पूर्ति की रेखाओं द्वारा उस बिन्दु पर निश्चित होती है जहाँ कि ये रेखायें एक दूसरे को काटती हैं। किन्तु उधारयोग्य कोषों की पूर्ति में बचत तथा उधारयोग्य कोषों की वह शुद्ध वृद्धि सम्मिलित होती है जो नई मुद्रा के सृजन में से तथा क्रियाहीन (Passive) शेषों के आसंचन को तोड़ने से हुई है। अब, क्योंकि बचतें 'व्यय-योग्य-आय' के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है; इसलिए 'उधार-योग्य-कोषों की कुल पूर्ति' में भी आय के परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तन होते हैं। अतः यह सिद्धान्त भी अनिर्धारणीय है।"[1]

(VIII) केन्ज का द्रवता अनुराग सिद्धान्त
(The Liquidity Preference Theory of Keynes)

ब्याज क्या है ?

लॉर्ड केन्ज ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The General Theory of Employment, Interest and Money में ब्याज के एक नये सिद्धान्त का निर्माण किया है। उनका कथन है कि जब एक उपभोग वस्तु को पूँजी-वस्तु के रूप में उपयोग किया जाता है अथवा जब किसी उपभोग-वस्तु को काम में लाने के अधिकार को एक पूँजी-वस्तु प्राप्त करने के अधिकार में बदल लिया जाता है, तो ऐसी दशा में केवल होता है कि वर्तमान तृप्ति को भावी तृप्ति में परिवर्तित कर लिया जाता है। किन्तु जब हम मुद्रा को लेते हैं, तो इसके वर्तमान और भावी उपयोग आसंचन (Hoarding) तथा उधार देने (Loaning) का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार ब्याज को आसंचन न करने के पारितोषिक के रूप में समझा जा सकता है। अन्य शब्दों में, केन्ज के अनुसार, ब्याज द्रवता (Liquidity) के परित्याग करने का पारितोषिक मात्र है।

ब्याज क्यों दी जाती है ?

केन्ज का विचार है कि स्वभाव से प्रत्येक मनुष्य अपनी आय को नगद रकम (Cash or

---

[1] "According to Loanable funds analysis the rate of interest is determined by the intersection of the demand schedule for loanable funds with the supply schedule. Now the supply schedule of loanable funds is compounded of savings plus net additions of loanable funds from new money and the dishoarding of idle balances But, since the saving portion of the schedule varies with the level of disposable income, it follows that the total supply schedule of loanable funds also varies with income. This theory is also indeterminate."—Hansen : *A Guide to Keynes*, p. 143.

Liquid Money) के रूप में रखना पसन्द करता है। कारण, आय का यह उपयोग होता है कि उससे आवश्यकता के अनुसार तुरन्त ही वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदी जा सकें। इस काम के लिए द्रवता (अर्थात् नकद राशि) अत्यन्त सुविधाजनक तथा उपयुक्त है, क्योंकि नकद द्रव्य तुरन्त ही वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त कराता है। इस प्रकार, जो द्रव्य रखा जाता है वह आसंचन है। परन्तु जब हम रुपया दूसरों को उधार देते हैं, तो द्रवता हमारे पास से चली जाती है। इसमें सन्देह नहीं है कि उधार दी हुई राशि का स्वामित्व अभी भी हमारे ही पास रहता है, परन्तु वह राशि हमारे पास इस रूप अर्थात् नकदी में नहीं रहती है कि उसे तुरन्त वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने के लिये उपयोग किया जा सके। जो रकम अ-द्रव (Non-liquid) रूप में हमारे पास रहती है वह नकदी की भाँति सुविधाजनक नहीं है। यही कारण है कि जब तक कि किसी लाभ अथवा लोभ की आशा न हो कोई भी द्रवता का परित्याग नहीं करना चाहता। यह लोभ ब्याज के रूप में उपस्थित किया जाता है, अतः ब्याज का मूल कारण "द्रवता अनुराग" है। "ब्याज एक निश्चित काल के लिए द्रवता का परित्याग करने का पारितोषिक है।"[1] साथ ही, ब्याज-दर इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि लोग द्रवता का उस अंश तक परित्याग कर दें कि उधार की माँग के अनुसार द्रव्य पर्याप्त मात्रा में मिल सके।

ब्याज-दर का निर्धारण—

केन्ज के सिद्धान्त के अनुसार ब्याज-दर बचत की पूर्ति और माँग द्वारा निश्चित नहीं की जाती है। समस्त द्रव्य, जो आय के रूप में प्राप्त होता है, उधार नहीं दिया जाता। वास्तव में बचत का एक भाग ही ऋण के रूप में दिया जाता है, शेष केवल आसंचित कर लिया जाता है। इस प्रकार, ब्याज-दर द्रव्य की उस पूर्ति के द्वारा निश्चित होती है जो आसंचित करके नहीं रखी जाती है। अतः यह उपभोग न करने की अपेक्षा आसंचन न करने का मूल्य है। जितना द्रव्य आसंचित कर लिया जाता है उसमें तो केवल आसंचन या द्रवता अनुराग की सन्तुष्टि होती है। अब, क्योंकि उधार देने योग्य द्रव्य की मात्रा या पूर्ति द्रवता-अनुराग द्वारा निश्चित होती है, इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि द्रवता अनुराग ही ब्याज-दर को निर्धारित करता है।

द्रवता अनुराग के कारण—

इस प्रश्न का उठना ही आवश्यक है कि लोग अपनी आय को नकदी के रूप में रखना क्यों पसन्द करते है, जबकि वे उधार देकर ब्याज का लाभ उठा सकते है? ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि द्रवता-अनुराग के निम्न कारण होते हैं—(१) नकद द्रव्य तुरन्त वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त कर लेने के उद्देश्य से रखा जाता है। आय एक निश्चित समय पर होती है, जबकि व्यय प्रतिदिन ही होता रहता है। केन्ज के शब्दों में, "नकदी की आवश्यकता आय प्राप्त होने तथा व्यय करने के बीच के समय को पार करने के लिये पड़ती है।" (२) प्रत्येक व्यवसायी को कुछ न कुछ नकदी हर समय इसलिए रखनी पड़ती है कि नकदी की बहुधा माँग होती है। (३) हर मनुष्य को आकस्मिक घटनाओं को पूरा करने के लिये भी नकद द्रव्य रखना पड़ता है। (४) विनियोग के लिए पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त करने के लिये लोग थोड़ा-थोड़ा धन जोड़ते रहते हैं। इसी प्रकार, एक विनियोग की बिक्री से प्राप्त धन का उस समय तक आसंचन होता है जब तक इस धन को दूसरे विनियोग में नहीं लगाया जाता। (५) कुछ लोग सट्टेबाजी के लिये भी रुपया रखते है।

ध्यान रहे कि पहले चार कार्यों के लिये जो नकद की व्यवस्था की जाती है उस पर

---

[1] "Interest is the reward for parting with liquidity for specified period."—J. M. Keynes *General Theory of Employment, Interest and Money*, p. 167.

ब्याज-दर का लगभग कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है, परन्तु पाँचवे प्रकार के नकदी के संचय पर इसका प्रभाव बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि जब ब्याज-दर ऊँची होती है, तो द्रवता अनुराग कम हो जाता है। *ब्याज की दर ऐसी होगी कि* वह नकदी की माँग को उसकी पूर्ति के बराबर कर दें।

द्रवता अनुराग के ये पाँच उद्देश्य क्रमशः आय उद्देश्य, व्यवसाय उद्देश्य, आकस्मिक उद्देश्य, **वित्तीय उद्देश्य तथा सट्टा उद्देश्य है।** केन्ज का विचार है कि प्रथम चार उद्देश्यों के लिये नकदी की माँग के आय स्तर पर निर्भर होती है परन्तु सट्टा उद्देश्य के लिये नकदी की माँग ब्याज-दर पर निर्भर होती है। यदि मुद्रा की कुल माँग **M** है, प्रथम चार उद्देश्यों के लिये मुद्रा की माँग को M_1 कहा जाता है तथा सट्टा उद्देश्य के लिये मुद्रा की माँग M_2 है, तो $M = M_1 + M_2$। केन्ज के अनुसार M_1 पर ब्याज-दर का प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि वह आय स्तर पर निर्भर होता है किन्तु M_2 सीधे-सीधे ब्याज-दर पर निर्भर होता है।

केन्ज की उपरोक्त मान्यताएँ लगभग सही है। साधारणतया, यदि लोग सावधानी से काम लें और प्रथम चार उद्देश्यों के लिये ठीक उतनी ही मुद्रा का आमचन करें जितनी की कि उन्हें आवश्यकता पड़ने की सम्भावना हो, तो वे ब्याज-दरों के घटने-बढ़ने के कारण अधिक या कम आमचन नहीं करेंगे। *इस कारण यह कहना उचित ही होगा कि इन उद्देश्यों के लिये जमा की गई नकदी की मात्रा* ब्याज-दरों के प्रभाव से मुक्त या ब्याज बेलोच (interest inelastic) होती है। अतः सट्टा उद्देश्य से उत्पन्न द्रवता अनुराग ही विभिन्न ब्याज-दरों पर मुद्रा की माँग और पूर्ति के परिवर्तन निश्चित करता है।

निम्न रेखा-चित्र में मुद्रा की पूर्ति **MM′** रेखा द्वारा दिखाई गई है और सरलता के लिए हमने यह मान लिया है कि मुद्रा की मात्रा यथास्थिर है यद्यपि इसका यथास्थिर रहना आवश्यक नहीं है क्योंकि बैंकों की कार्यवाही और ब्याज-दरों के परिवर्तन इसके घटने बढ़ने की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। मुद्रा की कुल मात्रा *M* में से (*मान लीजिये कि वह २,००० करोड़ रुपया है*) जो बैंक प्रणाली द्वारा उत्पन्न की गई है, M_1 (अर्थात् १,४०० करोड़ रुपया) प्रथम चार उद्देश्यों की पूर्ति के लिये रखी गई है। ऐसी दशा में सट्टा उद्देश्य के लिये मुद्रा की पूर्ति *अर्थात्* M_2 (*६०० करोड़ रुपया*) *होगी।* चित्र में **MM′** रेखा मुद्रा की इसी पूर्ति को दिखाती है। सट्टा उद्देश्य को संतुष्ट करने के लिये मुद्रा की माँग **LP** रेखा द्वारा दी जाती है जो द्रवता अनुराग की वक्र रेखा है। ***LP*** रेखा यह दिखाती है कि यदि सट्टा उद्देश्य से लोगों की नकदी का संचय करने की आदत दी हुई है, तो ब्याज-दर की प्रत्येक वृद्धि द्रवता

सट्टा उद्देश्य के लिए मुद्रा की मात्रा

अनुराग को घटाती है और ब्याज-दर की प्रत्येक कमी द्रवता अनुराग को बढ़ाती है (क्योंकि **LP** रेखा बायीं ओर से दाहिनी ओर नीचे को गिरती हुई रेखा है)। रेखाचित्र में दर्शायी स्थिति के अनुसार ब्याज-दर **KM** है, क्योंकि इसी पर ब्याज-दर नकदी की पूर्ति तथा द्रवता-अनुराग (अर्थात् नगदी की माँग) में समानता लाती है। यदि मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहे, परन्तु समाज का द्रवता-अनुराग बढ़ जाये, तो द्रवता अनुराग रेखा **LP′** का रूप धारण कर लेगा और इस दशा में ब्याज-दर **TM** होगी जिस पर नकदी की पूर्ति (**OM**) उसकी माँग के बराबर है। इस प्रकार, द्रवता-अनुराग का परिवर्तन ब्याज-दर में परिवर्तन कर देता है।

यह सिद्ध करना भी कठिन नहीं है कि यदि द्रवता-अनुराग यथास्थिर रहे, परन्तु मुद्रा की
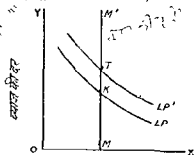
मात्रा मे परिवर्तन हो जायें, तब भी ब्याज-दर में परिवर्तन हो जायेंगे। यह स्थिति निम्न रेखाचित्र मे दिखाई गई है। चित्र मे LP द्रवता अनुराग वक्र है जो यथास्थित है। सट्टा उद्देश्य के लिये मुद्रा की मात्रा आरम्भ मे OM है जिसके आधार पर ब्याज-दर KM है। यदि मुद्रा-मात्रा बढ़कर K'M' हो जाती है और द्रवता-अनुराग रेखा LP ही है, तो ब्याज-दर घट कर K'M' हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जब मुद्रा की मात्रा घटकर OM' हो जाती है, तो ब्याज-दर बढ़कर K"M" हो जाती है। अत मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन भी ब्याज दरों मे परिवर्तन कर सकते है।
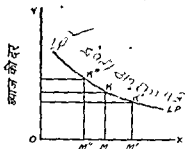
सट्टा उद्देश्य के लिए मुद्रा की मात्रा

यही स्थिति का पता लगाने के लिये हमें एक साथ द्रवता-अनुराग तथा मुद्रा-मात्रा दोनो के परिवर्तनो पर एक ही साथ विचार करना होगा। वास्तव मे, केन्ज का द्रवता-अनुराग सिद्धान्त अत्यधिक जटिल है क्योंकि उपरोक्त सारा विवेचन इस मान्यता पर आधारित है कि आय यथास्थिर रहती है। परन्तु व्यवहार मे उसमे भी परिवर्तन सम्भव होते हैं। इन परिवर्तनों पर विचार करने से सिद्धान्त और भी जटिल हो जाता है। परन्तु इन सब परिवर्तनो का सिद्धान्त की आधार-भूत सत्यता पर प्रभाव नही पड़ता है। मूलतया केन्ज के सिद्धान्त का आधार यही है कि ब्याज-दर द्रवता-अनुराग से सम्बन्धित है। ब्याज-दर द्रवता-अनुराग तथा मुद्रा-मात्रा पर आधारित होती है और, यदि हम आय को यथास्थिर मान लेते है तो, मुद्रा की मांग सट्टा उद्देश्य मे "मुद्रा की मांग" होगी। इस मान्यता के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जितना ही द्रवता-अनुराग अधिक होगा ब्याज-दर उतनी ही ऊँची होगी, और जितना ही द्रवता-अनुराग कम होगा ब्याज-दर उतनी नीची होगी।

आलोचनाएँ—

इस सिद्धान्त की श्रेष्ठता दिखाने के लिए केन्ज ने ब्याज के अन्य सिद्धान्तो की आलोचना की है। उनके विचार मे, उनका सिद्धान्त ब्याज की व्याख्या केवल द्रव्यिक दृष्टि से करता है, जबकि दूसरो ने उसकी व्याख्या मनोवैज्ञानिक अथवा उत्पादन की दृष्टि से की है, जो ठीक नहीं है। निश्चय ही केन्ज का ब्याज का सिद्धान्त उनके द्रव्य के मूल्य के सिद्धान्त पर आधारित है। साथ ही, केन्ज के अनुसार ब्याज बचत का पारितोषक नही है, क्योंकि बचत तो आमचित भी रखी जा सकती है, जिस दशा मे ब्याज नही मिलती है। इसी प्रकार, ब्याज-दर पूँजी की मांग और बचत मे समानता लाने का काम भी नही करती है। इसके विपरीत, बहुधा ऐसा होता है कि अधिक बचत से विनियोगो को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे अन्त मे लोगो की आय बढ़ती है और उनकी बचत करने की शक्ति मे भी वृद्धि होती है अतः बचत पर ब्याज दर की अपेक्षा आय के परिवर्तनो का प्रभाव अधिक पड़ता है।

परन्तु केन्ज के सिद्धान्त मे भी कई महत्वपूर्ण दोष हैं —

(१) सब कुछ होते हुए भी यह सिद्धान्त अधूरा है। यहाँ भी केवल पूर्ति की दिशा से ब्याज दर का अध्ययन किया गया है। केन्ज का यह कहना तो ठीक है कि पूँजी का सचय केवल बचत पर निर्भर नहीं होता, परन्तु फिर भी बचत तथा द्रवता अनुराग दोनो मिल कर केवल पूँजी की पूर्ति को ही निश्चय करते हैं, उनका पूँजी की मांग पर प्रभाव नही पड़ता। इसके अतिरिक्त, पूँजी पर केवल द्रवता-अनुराग का ही प्रभाव नही पड़ता, वरन् त्याग, प्रतीक्षा तथा समय-वरीयता का भी प्रभाव पड़ता है। ब्याज-दर पर पूँजी की मांग के प्रभाव का समुचित अध्ययन न करके केन्ज ने वास्तव मे बड़ी भूल की है।

(२) ऐसा प्रतीत होता है कि केन्ज ने पुराने अर्थशास्त्रियों के बचत शब्द को भली-भाँति नहीं समझा है। आसंचित धन को तो पूँजी कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि यह तो केवल उपभोग-वस्तु है। उसको तो प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकता पूर्ति के लिए उपयोग किया जाता है। ऐसे धन में वर्तमान सन्तोष के त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार, यथार्थ में बचत के मूल्य तथा आसंचन न करने के मूल्य के अर्थ में कुछ भी अन्तर नहीं है।

(३) केन्ज के अनुसार ब्याज का भुगतान केवल उसी दशा में किया जाता है जबकि ऋणी तथा ऋणदाता दोनों पृथक-पृथक व्यक्ति होवे है, यह भी सम्भव है कि एक ही व्यक्ति एक ही साथ दोनों ही हों। ऐसी दशा में ब्याज पूँजी की कमाई (Earning) के रूप में प्रकट होता है। आसंचित हुआ धन ठीक उसी प्रकार ब्याज कमाता है जिस प्रकार से उधार दिया हुआ धन।[1]

प्रतिष्ठित सिद्धान्त से भिन्नता—

केन्ज ने अपने सिद्धान्त और प्रतिष्ठित सिद्धान्त के बीच भेद बताया है :—(१) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार ब्याज-दर साख की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। किन्तु केन्ज के अनुसार यह द्रव्य की माँग और पूर्ति के द्वारा निर्धारित होती है। इस सम्बन्ध में राबर्टसन और ओहलिन, दोनों का विचार है (और यह सही भी है) कि दोनों सिद्धान्त यथार्थ में एक ही है। द्रव्य की माँग द्रवता की माग पर निर्भर होती है, जबकि साख की माँग क्रय-शक्ति पर और इन दोनों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है (२) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुख्य बात पूँजी की सीमान्त उत्पादकता है और इसी के साथ ब्याज-दर का समायोजन होता है। केन्ज के अनुसार मुख्य बात पूँजी की सीमान्त कुशलता है और इसी से ब्याज-दरों का समायोजन होता है। यह भेद भी कृत्रिम है, क्योंकि यहाँ केवल शब्दों का ही हेर-फेर है।

केन्ज के सिद्धान्त की सबसे बड़ी आलोचना यह है कि अन्य सिद्धान्तों की भाँति यह भी अनिर्धारणीय है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज-दर ज्ञात करने के लिए हमें सट्टा उद्देश्य के लिए मुद्रा की उपलब्ध मात्रा का पता लगाना चाहिये। परन्तु, यदि पहले से ही ब्याज-दर ज्ञात नहीं है, तो इस मात्रा का पता नहीं लगाया जा सकता। अत. सिद्धान्त अनिर्धारणीय होता है। अच्छी बात यही है कि केन्ज के सिद्धान्त मे वे सब तत्त्व विद्यमान है जिनके आधार पर ब्याज का निर्धारणीय सिद्धान्त बनाया जा सकता है हिक्स और हैन्सन ने ऐसा किया भी है।

आधुनिक या समन्वित ब्याज सिद्धान्त

अभी तक के समस्त अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि कोई भी एक सिद्धान्त ब्याज-दर की व्याख्या के लिए पर्याप्त नहीं है। परन्तु, यदि ऐसा है, तो क्या हम किसी प्रकार भी ब्याज दर का निर्धारण नहीं कर सकते है ? आधुनिक अर्थशास्त्रियों (हिक्स, हेन्सन इत्यादि) के अनुसार ब्याज-दर के निर्धारण की व्याख्या हेतु प्रतिष्ठित या नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त और केन्ज के सिद्धान्त का समन्वय करना आवश्यक है। हैन्सन के शब्दों मे "ब्याज का एक निर्धारणीय सिद्धान्त निम्न पर आधारित होगा :—(१) विनियोग-माँग-वक्र, (२) बचत-वक्र (अथवा इसका विलोम उपभोग वक्र), (३) द्रवता-अनुराग-वक्र और (४) मुद्रा का परिमाण। यदि हम केन्ज के सिद्धान्त को व्यापक रूप मे लेते हैं, तो उसमे ये सभी सम्मिलित है। इस अर्थ मे, नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रिय के विपरीत, केन्ज के पास एक निर्धारणीय सिद्धान्त था। परन्तु केन्ज ने इन सभी तथ्यों को व्यापक रूप मे कभी एक साथ प्रस्तुत नहीं किया और इस आधार पर उन्होंने ब्याज के एकीकृत

---

1 "The amount of hoarded money that is meant to satisfy the preference of the person for liquidity earns interest as much as the amount that is actually lent."—J. K. mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 224.

सिद्धान्त का निर्माण नहीं किया। वे विशेष रूप से यह नहीं बता पाये कि द्रवता-अनुराग तथा मुद्रा की मात्रा दोनों मिलकर हमारे लिए ब्याज दर का तो नहीं, परन्तु LM रेखा का (LM रेखा वह रेखा है जो हमें यह बताती है कि यदि मुद्रा का परिमाण ज्ञात और निश्चित है तथा आय के विभिन्न स्तरों से सम्बधित द्रवता का अनुराग बना दिये हुए हैं, तो ब्याज की विभिन्न दरें क्या होंगी) पता अवश्य लगा लेते हैं। यह कार्य आगे चलकर (Hicks) ने किया। उन्होंने केन्ज की विधियों का उपयोग करके एक ऐसा तरीका प्रस्तुत किया है जिससे सम्पूर्ण चित्र पर ही ध्यान रहता है, अर्थात् उन्होंने यह दिखाया कि उत्पादकता, बचत (Thrift) द्रवता-अनुराग तथा मुद्रा की बचत ये सभी ब्याज के एक व्यापक तथा निर्धारणीय सिद्धान्त के आवश्यक तत्त्व हैं।

ब्याज दर में परिवर्तन

ब्याज-दर में होने वाले परिवर्तनों के कारणों को सुगमतापूर्वक समझाया जा सकता है। ये परिवर्तन पूँजी की माँग और पूर्ति के परिवर्तनों द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। यदि पूँजी की माँग बढ़ती है, तो ब्याज की दर साधारणतया ऊपर उठ जाती है और यदि पूँजी की माँग घटती है, तो ब्याज की सामान्य दर कम हो जाती है। पूर्ति के सीमित हो जाने से ब्याज बढ़ती है, और यदि कुछ कारणों से पूर्ति बढ़ती है, तो ब्याज-दर कम हो जाती है।

अल्पकाल—अल्पकाल में पूँजी की पूर्ति प्राय: यथास्थिर होती है। अत: ब्याज-दर पर पूँजी की माँग के परिवर्तनों का ही प्रभाव प्रधान रहता है। यदि नये आविष्कारों के कारण पूँजी के उपयोग की नई सम्भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं अथवा भविष्य में अधिक अच्छे व्यापार या व्यवसाय की आशा की जाती है, तो ब्याज-दर ऊपर चली जाती है। ठीक इसी प्रकार, यदि आर्थिक भविष्य का अनुमान निराशाजनक है, तो ब्याज-दर गिर जायगी।

अल्पकाल में पूँजी की पूर्ति का भी ब्याज-दर पर प्रभाव पड़ सकता है। दैवी प्रकोपों, आर्थिक सङ्कटों अथवा अन्य कारणों से बचत और पूँजी की पूर्ति में कमी आ सकती है और इस प्रकार ब्याज-दर बढ़ सकती है। इसी प्रकार, अच्छी फसलें ब्याज दर को गिरा सकती हैं।

अल्पकालीन ब्याज-दर पर राजनैतिक कारणों का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। अनिश्चितता अथवा रक्षाहीनता ब्याज-दर को बढ़ा देती है।

दीर्घकाल—दीर्घकाल में भी अल्पकालीन कारणों का प्रभाव शेष रहता है, क्योंकि अल्पकालीन कोष दीर्घकालीन कोषों में परिवर्तित होते रहते हैं। परन्तु दीर्घकालीन ब्याज की दर पर दीर्घकालीन कारणों का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। ऐसे कारण जन-संख्या तथा बचत करने की आदतों के परिवर्तनों द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। साधारणतया जन-संख्या के बढ़ने से उत्पत्ति तथा पूँजी की माँग बढ़ जाने के कारण ब्याज की दर भी बढ़ जाती है। यदि लोग कालान्तर में पहले की अपेक्षा अधिक दूरदर्शी हो जाते हैं, तो बचत तथा पूँजी की पूर्ति की वृद्धि के कारण ब्याज-दर में कमी हो जाती है। ठीक इसी प्रकार, भविष्य की अनिश्चितता का भी ब्याज-दर पर प्रभाव पड़ता है। यह अनिश्चितता पूँजी की पूर्ति को घटाकर ब्याज-दर को बढ़ा देती है।

दीर्घकालीन दर से अल्पकालीन दर का सम्बन्ध—साधारणतया दीर्घकालीन ब्याज-दर अल्पकालीन ब्याज दर से ऊँची रहती है। दीर्घकाल में जोखिम का अंश अधिक होता है और ब्याज का एक भाग इस जोखिम के बदले के रूप में होता है। परन्तु कुछ दशाओं में दीर्घकाल की ब्याज दर अल्पकालीन दर से भी कम हो सकती है, विशेषकर यदि जनता को भावी स्थिरता पर विश्वास हो। जिस प्रकार अल्पकालीन मूल्य में दीर्घकालीन मूल्य की अपेक्षा उतार-चढ़ाव अधिक होते हैं ठीक उसी प्रकार अल्पकालीन ब्याज-दर दीर्घकालीन दर की अपेक्षा अधिक तेजी तथा [illegible]ा से बदलती रहती है।

ब्याज-दर सम्बन्धी अन्तरों के प्रमुख कारण—

(१) विभिन्न स्थानों, देशो और उद्योगो के बीच पूँजी की गतिशीलता अपूर्ण होती है। कुछ स्थानों अथवा उद्योगों मे ब्याज-दर अधिक होते हुए भी पूँजी दूसरे स्थानो अथवा उद्योगो से हटाकर वहाँ नही ले जाई जाती है।

(२) साहूकार या ऋणदाता को उधार देने मे कुछ न कुछ जोखिम अवश्य उठानी पडती है, अतः उधार लेने वाले से जमानत ली जाती है। जो लोग अच्छी जमानत नही द सकते या जिनकी साख अथवा आर्थिक स्थिति विश्वसनीय नही होती है, उनसे अधिक ब्याज लिया जाता है। इसके विपरीत, प्रसिद्ध फर्म और व्यवसायी कम ब्याज पर ऋण पा जाते है।

(३) ऋण अलग-अलग समयावधियों के लिए लिये जाते हैं— कुछ लम्बे समय के लिए होते है और कुछ थोड़े समय के लिए। लम्बे समय के ऋणो पर ब्याज-दर अधिकतर ऊँची होती है, क्योंकि प्रतीक्षा और समय वरीयता तथा द्रवता-पसन्दगी के त्याग की अवधि लम्बी होती है।

(४) अधिकाश लोग अपनी पूँजी को दूर के स्थान की अपेक्षा निकट के स्थानो में लगाना अधिक अच्छा समझते हैं। इस कारण दूर के स्थानो पर, जहाँ पूँजी का अपेक्षतन अभाव है, ब्याज-दर ऊँची रह सकती है।

(५) पूँजी की उत्पादकता भी सभी उद्योगो मे समान नही होती है। यदि उत्पादक पूँजी के उपयोग द्वारा अधिक लाभ उठाता है, तो वह ऊँची ब्याज देने को तैयार हो जाता है। निस्सन्देह पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अन्त मे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता सभी उद्योगों और स्थानो पर समान हो जायगी और ब्याज दर के अन्तर समाप्त हो जायेगे, परन्तु वास्तविक जीवन मे पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव इस स्थिति को आने ही नही देता है।

ब्याज की दर की भिन्नता के कारणो की व्याख्या से एक बात यह स्पष्ट हो जाती है कि ब्याज-दरो मे अन्तरों के कारण अधिकतर उधार देने से सम्बन्धित जोखिम तथा असुविधाओ से उत्पन्न होते है और पूँजी के बाजार का अपूर्ण होना ही उनका मुख्य कारण है। बाजार विशेष मे शुद्ध ब्याज-दर सदा एक ही रहती है।

आर्थिक उन्नति और ब्याज-दर

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि ब्याज-दर और आर्थिक उन्नति म क्या सम्बन्ध है ?

(१) **मांग**—भविष्य के विषय मे यह आशा की जा सकती है कि शिल्प, वैज्ञानिक उन्नति, उत्पत्ति की मात्रा तथा उसके रूप, आय, जीवन-स्तर, उपभोग-स्तर इत्यादि मे उन्नति तथा सुधार होंगे। इन सबके फलस्वरूप उत्पत्ति की माँग मे वृद्धि होगी, जिसके लिए उत्पादन का बढाना आवश्यक हो जायगा। उत्पत्ति की वृद्धि निश्चय ही पूँजी की माँग को बढायेगी, जिस कारण ब्याज-दर को ऊँचा जाना चाहिए। अत. माँग की वृद्धि की दृष्टि से ब्याज-दरो की भविष्य मे ऊपर जाने की आशा की जा सकती है।

(२) **पूर्ति**—परन्तु ध्यान रहे कि ब्याज-दर पर पूँजी की माँग के अतिरिक्त पूँजी की पूर्ति का भी गहरा प्रभाव पडता है। आय के बढने के साथ-साथ भविष्य मे समाज की बचत करने की क्षमता भी बढ जायगी। उत्पत्ति अथवा आय और उपभोग का अन्तर बढ जायगा, जिससे अधिक पूँजी के संचय की सम्भावना उत्पन्न हो जायेगी। साथ ही शिक्षा, सुरक्षा तथा सम्पन्नता के कारण बचत करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा और बैंको, बीमा कम्पनियों तथा उद्योग-धन्धों के विकास के कारण बचत करने की सुविधायें बढ जायेगी। इन सब कारणो का सामूहिक परिणाम यह होगा कि पूँजी की पूर्ति मे अत्यधिक वृद्धि होगी।

(३) **सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण कार्य**—परन्तु इस सम्बन्ध मे हमें यह भी याद रखना चाहिए कि भविष्य म कुछ ऐसी दशाएं भी उत्पन्न होने की सम्भावना है, जो बचत को हतोत्साहित

करे। बुढ़ापे की पेन्शन, बेरोजगारी का बीमा, सरकारी नि:शुल्क चिकित्सा, नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था आदि कारण बचत करने की प्रवृत्ति को कम करते है। फिर भी इन कारणों के होते हुये भी भविष्य मे पूँजी की वृद्धि की अत्यधिक आशा की जा सकती है और इस कारण ब्याज-दर के गिरने की आशा है।

(४) आविष्कारो का प्रभाव—भाग्य से आधुनिक उत्पादन प्रणाली मे एक ऐसी प्रवृत्ति कार्यशील है, जो भविष्य मे पूँजी की माँग को बहुत कम कर सकती है। आधुनिक आविष्कार केवल श्रम की बचत ही नही करते है, वरन् पूँजी की भी बचत करते है। प्रतिदिन ही ऐसी नई-नई मशीनों का आविष्कार होता रहता है, जो द्रव्य-पूँजी की माँग को कम कर देती हैं। उदाहरण-स्वरूप, यदि कल एक ऐसी मशीन बनी थी, जो १०,०००रुपय की कीमत की है और २०० इकाई प्रतिदिन उत्पादन करती है, तो आज एक ऐसी बनेगी जो१८,००० रुपय की हो परन्तु ४०० इकाई प्रतिदिन उत्पादन करे। निश्चय है कि इस दशा मे प्रति इकाई उत्पादन के पीछे पूँजी की माँग घटती जाती है।

(५) जन-संख्या—पश्चिमी देशो म जन-सख्या या तो गिरने या स्थिर रहने की प्रवृत्ति रखती है जो भविष्य मे उत्पत्ति वृद्धि (एव इसलिए पूँजी की माँग) का रोकने का सूचक है।

अत. शायद यह कहना अनुचित न होगा कि भविष्य मे पूँजी की पूर्ति, माग की अपेक्षा, अधिक तेजी से बढने की सम्भावना है और यही कारण है कि भविष्य मे ब्याज की दर के गिरने की आशा की जाती है।

क्या ब्याज-दर शून्य के बराबर हो सकती है ?

अब यह देखना है कि इस प्रकार गिरते-गिरते क्या भविष्य म ब्याज की दर शून्य के बराबर हो सकती है ? इस प्रश्न का अध्ययन सर्वप्रथम मिल ने किया था। उनका विचार था कि भविष्य मे ब्याज की दर अवश्य गिरेगी, परन्तु वह शून्य के बराबर कभी भी नही होगी। इसके विपरीत, कुछ अर्थशास्त्री ऐसे भी हैं, जिनके विचार म ब्याज दर शून्य के बराबर हो सकती है। इस सम्बन्ध मे शुम्पीटर (Schumpeter) का विचार है कि स्थैतिक अवस्था (Static state) अथवा प्रगति-हीन समाज मे ब्याज-दर शून्य पर आ जायगी, क्योंकि यहाँ लाभ का पूर्णतया लोप हो जाता है।[1]

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि उक्त विचार सही नहीं है। माँग की दृष्टि से इस अवस्था का अर्थ यह होता है कि पूँजी की सीमान्त उपज शून्य के बराबर हो जाय अर्थात् अधिक पूँजी लगाकर भी उत्पत्ति को बढाने की सम्भावना न रहे और मानव समाज की उत्पादन शक्ति अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाय। यह तभी सम्भव है जबकि मनुष्य की सारी आवश्यकताएँ पूरी हो जायें, जो असम्भव हैं, क्योंकि यदि, वर्तमान आवश्यकताएं सन्तुष्ट भी हो जाती है, तो प्रति-दिन ही और नई आवश्यकताएँ उत्पन्न होती रहती हैं। साथ ही शिल्प-वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ उत्पत्ति प्रणाली अधिक घुमावदार (Round-about) होती जाती है जिससे पूँजी का महत्त्व तथा इसकी सीमान्त उत्पादकता घटने के स्थान पर बढती हो जाती है। अत पूँजी की सीमान्त उपज शून्य से ऊपर ही रहेगी।

इसी प्रकार, पूँजी की पूर्ति की दृष्टि से भी ब्याज-दर शून्य नहीं हो सकती। ऐसी ब्याज-दर का अभिप्राय यह होगा कि हम बिना ब्याज की आशा या प्रलोभन के भी बचत करते रहेंगे और ऋण देते जायेंगे। दूसरे शब्दो मे, बचत सम्बन्धी त्याग प्रतीक्षा, समय-वरीयता तथा द्रवता अनुराग समाप्त हो जायेगी। ये सब बातें मनुष्य की मनोवृत्ति तथा कार्यव्यापारता मे इतना

---

[1] Robbins : *On Some Ambiguity in the Concep ion of Statıorary Equilibrium, Economic Journal* of June, 1930.

महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं कि इनका अन्त सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि ब्याज-दर गिरने से ये प्रवृत्ति अधिक बलवान होने लगती है। रोबिन्सन ने ठीक ही कहा है कि "संस्थाओं तथा मनोविज्ञान से सम्बन्धित कुछ ऐसे प्रभाव सदा ही विद्यमान रहते है, जो ब्याज-दर को शून्य से बहुत ऊपर ही रोक देते हैं।"[1] इस प्रकार ब्याज-दर के शून्य पर आ जाने की सम्भावना नही है।

समाजवाद और ब्याज

कार्ल मार्क्स तथा अन्य समाजवादी लेखक ब्याज के औचित्य पर आक्षेप करते है। वे यथार्थ मे मूल्य के श्रम सिद्धान्त के समर्थक हैं। मूल्य का निर्धारण उत्पादन मे लगी हुई श्रम की मात्रा से होता है। उनका कहना है कि कुल उत्पत्ति श्रम के फलस्वरूप ही होती है और इसी का उस पर अधिकार होना चाहिए। परन्तु पूँजीवाद मे पूँजीपति श्रमिक को केवल उसकी जीवन-रक्षा योग्य ही मजदूरी देता है और शेष आय को स्वयं हड़प कर जाता है। इस प्रकार, ब्याज श्रमिको का शोषण है और एक प्रकार की चोरी या ठगी है। स्मरण रहे कि ब्याज व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private property) व्यवस्था का ही एक अग है और समाजवाद मे ऐसी सम्पत्ति के न रहने के कारण ब्याज का अस्तित्व ही मिट जाता है।

समाजवाद मे ब्याज को आय की दृष्टि मे नही देखा जाता, वरन् केवल हिसाब किताब रखने की दृष्टि मे देखा जाता है। समाजवादी सरकार विभिन्न उद्योगों मे पूँजी लगाने से पूर्व लाभ का मान निश्चित कर लेती है। सभी उद्योगों मे समान लाभ नही होता। यदि सरकार यह निश्चय कर लेती है कि जिन उद्योगों मे १०% से कम लाभ होगा, उनमे पूँजी नही लगाई जायगी तो ऐसे आदर्श लाभ की दर को एक प्रकार से उद्योगो मे लगाई हुई पूँजी की ब्याज-दर ही कहा जा सकता है। समाजवादी देशो मे ब्याज-दर एक प्रकार की "छननी है, जिसमे से उत्पत्ति की योजनाएँ छानी जाती है और केवल उन्ही को ग्रहण किया जाता है, जिनमे भविष्य मे अधिक लाभ की आशा की जाती है।"[2] इसी प्रकार, उत्पादन और उपभोग की वस्तुओ का अनुपात निश्चित करते समय भी समाजवादी सरकार को ब्याज-दर की शरण लेनी पड़ती है। जो मजदूर उत्पादक वस्तुओ के निर्माण मे लगाये जाते है उनका पालन-पोषण उस समय तक, जब तक कि ये उत्पादक-वस्तुएँ उपभोग की वस्तुयें नही बनाने लगती हैं, अन्य मजदूरो की उपभोग-वस्तुओं मे से प्रति सैकड़ा कटौती काटकर ही किया जाता है।

ब्याज और लगान में अन्तर

आधुनिक अर्थशास्त्र मे, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भूमि को उत्पत्ति का एक साधन नही माना गया है। भूमि की आधुनिक तथा प्राचीन परिभाषाओ के अन्तर को हम देख चुके है। अनेक वस्तुयें (जैसे—नहरें, खेती योग्य भूमि इत्यादि) जिन्हे प्राचीन अर्थशास्त्री भूमि कहते थे, आजकल पूँजी ही समझी जाती हैं। लगान उत्पत्ति के किसी भी साधन से प्राप्त हो सकता है, बशर्ते उसमे विशिष्टता अथवा पारिमाणिकता का गुण हो। ब्याज पूँजी का पारितोषण है, जबकि पूँजी का लगान इस पारितोषण अथवा ब्याज के ऊपर एक आधिक्य है। ब्याज के निर्धारण तथा परिवर्तनो पर जिन कारणों का प्रभाव पड़ता है वे उनसे पूर्णतया भिन्न हैं, जिनसे लगान प्रभावित होता है। लगान कीमत मे सम्मिलित नही होता, जबकि ब्याज कीमत अथवा उत्पादन व्यय का एक अनिवार्य अङ्ग है। अन्त मे, ब्याज अल्पकाल मे भी हो सकता है और दीर्घकाल मे भी, जबकि लगान केवल अल्पकाल तथा आभास-दीर्घकाल मे ही होता है। ब्याज लगान की भाँति एक आधिक्य नही है और केवल पूँजी को ही प्राप्त होता है।

---

[1] *Ibid.*

[2] Handerson : *Supply and Demand*, p. 130.

परीक्षा प्रश्न :

१ व्याज का क्या अभिप्राय है और यह कैसे निधारित होता है ?
[सहायक संकेत—सर्वप्रथम व्याज का अर्थ बताइये। तत्पश्चात् व्याज के निर्धारण के दो प्रमुख सिद्धान्तो उधार-योग्य कोष सिद्धान्त एवं द्रवता पसन्दगी सिद्धान्त को सक्षेप मे लिखिये और उनकी आलोचना दीजिये। अन्त मे यह निष्कर्ष निकालिये कि आधुनिक अर्थशास्त्री व्याज दर के निर्धारण की सन्तोषजनक व्याख्या करने के लिये इन दोनो सिद्धान्तो के समन्वय पर बल देते है।]

२. व्याज के तरलता पसन्दगी सिद्धान्तो की व्याख्या कीजिये।

अथवा

"व्याज की दर द्रव्य की कीमत है और द्रव्य की माँग पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है।' विवेचन कीजिय।
[सहायक संकेत—केन्ज के अनुसार, व्याज द्रव्य की (अर्थात् द्रव्य के उस भाग को जिसे तरल रूप मे रखा जाता है) माग और पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है। उनके अनुसार व्याज एक मौद्रिक घटना है। अत केन्ज अपने व्याज के सिद्धान्त को व्याज का मौद्रिक सिद्धान्त कहना पसन्द करते है। उनका व्याज सिद्धान्त द्रवता पसन्दगी सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। यहाँ इस सिद्धान्त की पूर्णरूपेण आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।]

३. "व्याज शुद्ध प्रतीक्षा का पुरस्कार है। यह एक निश्चित समयावधि के लिये पूँजी के प्रयोग की कीमत है और इसलिये व्याज-दर पूँजी की माँग और पूर्ति के द्वारा निर्धारित होती है।" बताइये कि व्याज-दर कैसे निर्धारित होगी ?
[सहायक संकेत व्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना सहित पूर्ण विवेचन कीजिये और निष्कर्ष के रूप मे आधुनिक मत दीजिये।]

४. व्याज का निर्धारण बचतों की माँग-पूर्ति के द्वारा होता है या द्रव्य की माँग-पूर्ति के द्वारा ? अपने उत्तर को चित्रो द्वारा स्पष्ट कीजिये।

५. व्याज पर आर्थिक प्रगति का प्रभाव बताइए। क्या व्याज-दर कभी शून्य हो सकती है ? समाजवादी राज्य मे व्याज का क्या स्थान होगा ?

६

लाभ और उसके सिद्धान्त

(Profit and The Theories of Profit)

लाभ किसे कहते हैं ?

जोखिम उठाना कोई रुचिकर कार्य नहीं होता है। कोई भी मनुष्य अनिश्चितता नहीं चाहता, अत साहसी बिना किसी प्रलोभन के जोखिम नहीं उठायेगा। लाभ जोखिम उठाने का पारितोषिक है। प्रो० मेहता के अनुसार, "अनिश्चितता के कारण इस प्रवैगिक संसार में उत्पादन कार्यों में एक चौथी श्रेणी का त्याग उत्पन्न हो जाता है। यह श्रेणी जोखिम उठाना अथवा अनिश्चितता सहन करना है। लाभ इसी का पुरस्कार होता है।"[1]

प्रतिदिन की बोल-चाल में लाभ शब्द बड़े विस्तृत तथा अनिश्चित अर्थ में उपयोग होता है। जन साधारण का 'लाभ' से अभिप्राय कुल उत्पत्ति के मूल्य तथा इसके कुल उत्पादन व्यय के अन्तर से होता है। जितनी राशि कुल उपज को बेचकर प्राप्त होती है तथा उत्पत्ति करने में जितनी कुल लागत होती है इन दानो के अन्तर को ही लाभ का नाम दिया जाता है। परन्तु आर्थिक भाषा में इस प्रकार के लाभ को सकल लाभ कहा जाता है, जबकि "शुद्ध" या "आर्थिक लाभ" इसका केवल एक भाग ही होता है जो कि साहसी को जोखिम उठाने के बदले में मिलता है।

लाभ के अध्ययन में विशेष कठिनाई

लगान, मजदूरी और ब्याज की अपेक्षा लाभ का अध्ययन अधिक कठिन है। यह कठिनाई दो कारणों से उत्पन्न होती है—(i) साहस तथा अन्य साधनों में एक मौलिक भेद है। प्रत्येक साधन का स्वामी एक विक्रेता होता है, जबकि साहसी इन सबका क्रेता। तब फिर साहसी की सेवाओं को कौन खरीदता है ? इस प्रश्न का उत्तर शायद यह हो सकता है कि सभी साधनों की सेवाएँ अन्त में समाज द्वारा खरीदी जाती है। अन्तर केवल इतना है कि अन्य सभी साधनों की सेवाओं का मूल्य साहसी द्वारा निश्चित होता है, जबकि साहसी की सेवाओं का मूल्य विभिन्न साहसियों की आपसी प्रतियोगिता के द्वारा। (ii) साहसी को जो कुल पारितोषिक प्राप्त होता है, उन सबको हम साहस की सेवाओं का मूल्य नहीं कह सकते क्योंकि उसमें साहस के मूल्य के अतिरिक्त साहसी के श्रम का मूल्य भी सम्मिलित रहता है।

सकल लाभ तथा शुद्ध लाभ

(Gross Profit and Net Profit)

समस्त उत्पत्ति के कुल मूल्य में से कुल उत्पादन-व्यय को निकाल देने पर जो कुछ शेष

---

1 "This element of uncertainty introduces a fourth category of sacrifice in the productive activities of men in a dynamic world This category is risk-taking or uncertainty-bearing It is remunerated by profits" —J K Mehta : *Advanced Economic Theory*, p. 282.

रहे, उसे हम सकल लाभ कहते है। साधारण बोल-चाल में लोग लाभ शब्द को इसी अर्थ मे उपयोग करते है। ऐसा लाभ साहसी की कुल कमाई को सूचित करता है। यह केवल जोखिम उठाने का ही बदला नहीं है किन्तु शुद्ध लाभ साहसी की केवल जोखिम उठाने सम्बन्धी सेवाओं का ही मूल्य होता है। इस प्रकार सकल लाभ मे निम्न प्रकार के पारितोषिक सम्मिलित होते हैं :—

(१) शुद्ध लाभ—जोखिम उठाने का बदला होता है।

(२) साहसी की अपनी निजी भूमि का लगान—प्रायः साहसी अपनी निजी भूमि को भी उत्पादन मे लगा देता है। अब क्योंकि स्वय ही उस भूमि का स्वामी होता है, इसलिये ऐसी भूमि का लगान अलग से नही लेता है।

(३) व्यवसाय में लगाई हुई साहसी की अपनी पूँजी का ब्याज—जब साहसी अपनी निजी पूँजी को अपने व्यवसाय म लगाता है तो वह इसका ब्याज भी अलग से नही लेता, यद्यपि इसी पूँजी को उधार देने की दशा मे उसे ब्याज अवश्य मिलता है। यह ब्याज भी सकल लाभ में सम्मिलित होता है।

(४) प्रबन्धक अथवा निरीक्षक के रूप में साहसी की मजदूरी—साहसी व्यवसाय का प्रबन्ध तथा उसकी देखभाल का भी काम करता है और इस कार्य के लिए उसे मजदूरी मिलनी आवश्यक है।

(५) साहसी की योग्यता का लगान (Rent of Ability)—कोई-कोई साहसी विशेष योग्यता रखता है और भूमिपतियो, श्रमिको, पूँजीपतियो कच्चे माल के उत्पादकों तथा यातायात कम्पनियों से लाभ पूर्ण सौदे करके विशेष बचत कर लेता है।

(६) एकाधिकारीलाभ—साहसी बाजार की अपूर्णता से लाभ उठाकर विशेष कमाई कर सकता है।

(७) आकस्मिक लाभ—ये लाभ विशेष परिस्थितियो, अवसर तथा भाग्य पर निर्भर होते हैं। उदाहरणस्वरूप, अकस्मात् ही लड़ाई के आरम्भ होने अथवा बाढ आ जाने के कारण बिना आशा ही लाभ प्राप्त हो सकता है, जो केवल संयोग से ही उत्पन्न हो जाता है।

लाभ के सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने लाभ म विभिन्न वस्तुओं को सम्मिलित किया है। मार्शल तथा अन्य अँग्रेजी आर्थिक लेखक लाभ मे जोखिम उठाने के पारितोषिक के अतिरिक्त व्यवसायी की अपनी पूँजी के ब्याज और प्रबन्ध के पारितोषण को भी सम्मिलित करते हैं। परन्तु वाकर (Walker) तथा अन्य बहुत से विद्वान साहसी की शुद्ध कमाई को ही लाभ कहते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र मे भी यही मत अपनाया गया है कि लाभ केवल साहसी द्वारा जोखिम उठाने का ही प्रतिफल है। जैसे—टामस के अनुसार, "शुद्ध लाभ केवल जोखिम उठाने का ही पारितोषिक है। साहसी का आवश्यक कार्य (जोखिम उठाना) ऐसा है जो केवल वही कर सकता है।"[1] उसे उत्पन्न होने वाली वस्तु की भावी माँग का अनुमान लगाना पड़ता है जो सरल नही है।

लाभ का वर्गीकरण
(Classification of Profits)

लाभ को अर्थशास्त्र मे कई प्रकार से वर्गीकृत किया गया है, परन्तु निम्न वर्गीकरण अधिक महत्वपूर्ण है—

---

1 "Pure profits are only the remuneration for risk taking The essential function of the entrepreneur (risk-taking) is such that he alone can perform it."—Thomas · *Elements of Economics*, p. 293.

(I) सामान्य लाभ और अतिरिक्त लाभ—

इन दोनों प्रकार के लाभों के बीच अलग-अलग अर्थशास्त्रियों ने अलग-अलग प्रकार से भेद किया है।

(१) नाइट का दृष्टिकोण—प्रो० नाइट के अनुसार जोखिम दो प्रकार की होती है—(i) ज्ञात अथवा निश्चित जोखिम और (ii) अज्ञात अथवा अनिश्चित जोखिम। प्रथम प्रकार की जोखिम ऐसी होती है कि उसके सम्बन्ध में बड़े अंश तक पहले से ही अनुमान लगाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में ऐसी जोखिम वह है, जिसके विरुद्ध बीमा कराया जा सकता है। इसके विपरीत, अज्ञात अथवा अनिश्चित जोखिम वह है, जिसके विषय में पहले से कुछ भी नहीं जाना जा सकता। उदाहरणस्वरूप, एक माली, जो जुलाई के महीने में बाग लगाता है, यह जानता है कि दिसम्बर और जनवरी के महीनों में कोहरा (Frost) पड़ेगा, जो छोटे-छोटे पौधों को गला देगा। इस जोखिम के विरुद्ध वह पहले से ही उपचार करता है। साधारणतया जाड़ा आरम्भ होते ही छोटे-छोटे पौधों को ऊपर से ढक दिया जाता है। इस प्रकार के जोखिम के विरुद्ध पहले से ही व्यवस्था कर दी जाती है और इस प्रकार जो लागत पड़ती है, उसे उत्पादन-व्यय में सम्मिलित कर लिया जाता है। ऐसी जोखिम के पारितोषण को हम "सामान्य लाभ" कह सकते हैं।

इसके विपरीत, बाग लगाने वाले व्यक्ति के लिए यह अनुमान लगाना कठिन होता है कि ओला अथवा बाढ़ से उसका सारा बाग नष्ट हो सकता है। इस प्रकार की जोखिम भी प्रत्येक व्यवसाय में रहती है। यही अज्ञात अथवा अनिश्चित जोखिम है। ऐसी जोखिम के पारितोषण को "अतिरिक्त लाभ" कहा जाता है। इस आधार पर इन दोनों प्रकार के लाभों में निम्न प्रकार भेद किया जा सकता है :—(i) सामान्य लाभ ज्ञात या निश्चित खतरों के उठाने का प्रतिफल है जबकि अतिरिक्त लाभ अज्ञात और अनिश्चित खतरों के उठाने का प्रतिफल होता है। (ii) सामान्य लाभ उत्पादन व्यय में सम्मिलित होता है, जबकि अतिरिक्त लाभ व्यय में सम्मिलित नहीं होता। (iii) सामान्य लाभ में स्थिरता रहती है और उसको पहले से ही माप की जा सकती है। अतिरिक्त लाभ में तेजी के साथ परिवर्तन होते रहते हैं और उसकी कोई भी सामान्य दर नहीं होती है। (iv) सामान्य लाभ सदा ही धनात्मक होता है, किन्तु अतिरिक्त लाभ धनात्मक अथवा ऋणात्मक हो सकता है।

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में, जबकि कीमत इस प्रकार निर्धारित होती है कि लाभ समाप्त हो जाते हैं और कीमत उत्पादन व्यय के बराबर होती है, तो भी सामान्य लाभ अवश्य रहते हैं, क्योंकि सामान्य लाभों को पहले से ही औसत उत्पादन व्यय में जोड़ लिया जाता है।

(२) मार्शल का दृष्टिकोण—यह निश्चय है कि प्रत्येक व्यवसायी लाभ की ही आशा पर व्यवसाय करता है, परन्तु अल्पकाल में कोई व्यक्ति थोड़े से लाभ, बिना लाभ अथवा घाटे पर भी व्यवसाय कर सकता है। दीर्घकाल में लाभों का होना आवश्यक है, अन्यथा व्यवसाय बन्द कर दिया जावेगा। सामान्य लाभ वह लाभ है जिसकी आशा पर व्यवसायी अपने व्यवसाय में बना रहता है। यह दीर्घकालीन लाभ होता है। ऐसा लाभ सीमान्त व्यवसायी (Marginal producer) को भी प्राप्त होता है। मार्शल का विचार है कि किसी वस्तु का दीर्घकालीन मूल्य बाजार में प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन व्यय द्वारा निर्धारित होता है और इस उत्पादन व्यय में सामान्य लाभ भी सम्मिलित होता है।

(३) जोन रोबिन्सन का दृष्टिकोण—जोन रोबिन्सन के अनुसार सामान्य लाभ उस लाभ को कहते हैं, जिसके प्राप्त होने पर कोई नई फर्म व्यवसाय में आकर्षित नहीं होती है और पुरानी फर्म व्यवसाय को बन्द नहीं करती है। यदि वास्तविक लाभ इससे अधिक है, तो नई फर्में

विपरीत, 'अतिरिक्त लाभ' लगान की भाँति एक प्रकार का आधिक्य है, जो सीमान्त साहसी के उत्पादन व्यय से ऊपर होता है। कीमत तो सीमान्त उत्पादक के उत्पादन व्यय द्वारा निश्चित होती है। अतिरिक्त लाभ कीमत को प्रभावित नही कर सकता है। नई फर्मों को व्यवसाय में आकर्षित करने के लिए यह आवश्यक है कि सामान्य लाभ के साथ-साथ अतिरिक्त लाभ भी हो।

(II) प्रतिवर्ष लाभ और क्रय-राशि पर लाभ—

'प्रति वर्ष लाभ' से हमारा अभिप्राय कुल लगाई हुई पूँजी की वार्षिक लाभ- दर से होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यवसाय में १०,००० रुपए की कुल पूँजी लगाई गई है और एक साल में इस पूँजी पर सब प्रकार की लागत काटकर १,००० रुपय का शुद्ध लाभ होता है, तो लाभ की वार्षिक दर १०% होगी।

'क्रय-राशि पर लाभ' से हमारा अभिप्राय उस लाभ से होता है जो पूँजी के प्रत्येक फेर (Turnover) पर प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि बहुत-सी दशाओं में व्यवसाय में लगाई हुई पूँजी एक साल में कई बार फिर सकती है। रुपया उधार देने के व्यवसाय में तो बहुधा होता ही रहता है कि रुपया लौट-लौटकर आता रहता है और फिर आगे उधार दे दिया जाता है। यदि रुपये का इस प्रकार फेर न बँधे, तो व्यवसायी के लिए व्यवसाय चलाना ही कठिन हो जाय। छोटे-छोटे फुटकर व्यापारी, जिनके पास पूँजी की कमी होती है, कम लाभ पर भी वस्तुएँ बेच देते हैं। इसमें उनका उद्देश्य यह होता है कि रुपये का फेर बना रहे। इस प्रकार फेर बने रहने से पूँजी की एक निश्चित मात्रा पर बार-बार लाभ प्राप्त होता है, जिसे हम 'क्रय राशि पर लाभ' (Profit on the Turnover) कहते हैं। यद्यपि इस लाभ की दर बहुत नीची होती है, परन्तु पूँजी का फेर इतनी जल्दी-जल्दी होता रहता है कि लाभ की वार्षिक दर ऊँची हो जाती है।

उदाहरणस्वरूप, यदि १,००० रुपये की पूँजी लगाई गई है, जिसकी एक वर्ष में १५ बार फेर होती है और प्रत्येक फेर पर लाभ २% होता है, तो ऐसी दशा में क्रय-राशि पर २% लाभ होगा, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक फेर पर लाभ की दर समान ही रहे। ऐसी दशा में साल भर में १,००० रुपये की कुल पूँजी पर २×१०×१५=३०० रुपय का लाभ होगा और लाभ की वार्षिक दर ३०% होगी।

साधारणतया छोटे व्यवसायों और फुटकर व्यापारों में पूँजी का फेर जल्दी- जल्दी होता है। थोक व्यापार और बड़े व्यवसायों में पूँजी का फेर इतनी जल्दी-जल्दी नहीं होता है।

(III) एकाधिकार लाभ और आकस्मिक लाभ—

एकाधिकारी लाभ से हमारा अभिप्राय उस लाभ से होता है, जो एक व्यवसाय को उसकी विशेष स्थिति के कारण उत्पन्न होता है। हो सकता है कि कुछ प्राकृतिक अथवा अन्य कारणों से व्यवसायी का बाजार में कोई दूसरा प्रतियोगी न हो। ऐसी दशा में व्यवसायी के लिए अपने माल को ऊँची कीमत पर बेचकर विशेष लाभ कमाने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार का अतिरिक्त लाभ उत्पादक की एकाधिकारी स्थिति के कारण उत्पन्न होता है। यह उस लाभ के अतिरिक्त होता है जो कि उत्पादक को प्रतियोगिता की दशा में प्राप्त होता है। ऐसे लाभ को हम "एकाधिकारी लाभ" कहते हैं।

'आकस्मिक लाभ' (Windfall Profit) वह है जो संयोग से अथवा शुभअवसर के कारण उत्पन्न होता है और इसके निर्धारण पर किसी भी प्रकार के आर्थिक नियम लागू नहीं होते। उदाहरण के लिए, अकस्मात ही लड़ाई छिड़ जाने के कारण अथवा किसी दैवी प्रकोप के कारण माल के रखे हुए स्टॉक की कीमत में वृद्धि हो जाने से आकस्मिक लाभ प्राप्त हो सकता है।

लाभ के सिद्धान्त
(The Theories of Profits)

लगान, मजदूरी अथवा ब्याज की अपेक्षा लाभ का विषय अधिक विवादग्रस्त है। अभी तक भी अर्थशास्त्री लाभ के सिद्धान्त के विषय में एक मत नहीं है। कोई लाभ को एक विशेष प्रकार का लगान बताता है और कोई मजदूरी। जोखिम उठाने के महत्त्व को तो आधुनिक युग में सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु जोखिम और लाभ के सम्बन्ध को बहुधा ठीक-ठीक नहीं समझा जाता है। लाभ के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों को नीचे समझाया गया है।

(I) लाभ का लगान सिद्धान्त
(The Rent Theory of Profits)

लाभ का यह सिद्धान्त सर्वप्रथम अमेरिकन अर्थशास्त्री वाकर ने प्रतिपादित किया था। उन्होंने ही सबसे पहले पूँजीपति तथा साहसी के बीच भेद किया। वाकर का मत है कि पूँजीपति का कार्य पूँजी की पूर्ति करना है किन्तु साहसी के लिए पूँजीपति होना आवश्यक नहीं है। वह अपनी कुछ भी पूँजी लगाये बिना ही व्यवसाय को आरम्भ कर सकता है।

लाभ क्या है ?—वाकर के विचार में "लाभ" योग्यता का लगान है। जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की भूमि का उपजाऊपन अलग-अलग होता है, उसी प्रकार विभिन्न साहसियों की व्यावसायिक योग्यता में भी अन्तर होते हैं। बहुत से साहसी अधिक अकुशल होते हैं और व्यवसाय में केवल इसलिए बने रहते हैं कि उनके उत्पादन की माँग होती है, अन्यथा वे कुछ भी लाभ नहीं कमाते, केवल उत्पादन व्यय को ही प्राप्त कर पाते हैं। परन्तु कुछ साहसी इनसे कुशल होते हैं और कुछ और भी कुशल। जिस प्रकार भूमि के कुछ टुकड़ों को अधिक उपजाऊपन अथवा अच्छी स्थिति के कारण दूसरे टुकड़ों पर कुछ विशेष लाभ प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार अधिक योग्यता के कारण कुछ साहसियों को भी दूसरों की अपेक्षा विशेष लाभ प्राप्त होते हैं। लगान की भाँति लाभ भी यह पारितोषिक है, जो उत्तम साहसियों को हीन साहसियों के पारितोषिक से ऊपर उनकी विशेष योग्यता के कारण मिलता है।[1] जिस प्रकार लगान-रहित भूमि होती है, ठीक उसी प्रकार लाभ-रहित साहसी (no-profit entrepreneur) भी होते हैं जो (सीमान्त साहसी) दामों के थोड़ा-सा कम होते ही व्यवसाय छोड़ देते हैं। इस प्रकार लाभ को हम 'योग्यता का लगान' कह सकते हैं।

वाकर के अनुसार लगान की भाँति लाभ भी उत्पादन व्यय में सम्मिलित नहीं होता। स्मरण रहे कि लाभ-रहित साहसी को भी कुछ न कुछ आय होती है, जो उसको उसकी प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत की हुई सेवाओं के फलस्वरूप मिलती है, परन्तु यह प्रबन्ध की मजदूरी होती है, लाभ नहीं। ऐसी मजदूरी को उत्पादन व्यय में सम्मिलित किया जाता है।

आलोचनाएँ—लाभ का यह सिद्धान्त सही नहीं है। इसके निम्न प्रमुख दोष हैं:—(१) जैसा कि स्पष्ट है, यह रिकार्डो के लगान सिद्धान्त पर आधारित है, जो स्वयं ठीक नहीं है। साथ ही, जिस प्रकार की कमाई को वाकर ने लाभ कहा है, उसे हम मार्शल के शब्दों में योग्यता का

---

1 "Profit is the Rent of Ability. Just as there is no-rent land whose produce just covers the price so there is no-profit firm or entrepreneur whose income just covers the cost of production, and just as rent of a price of land is a surplus above the no rent land and does not enter into price so profit of a firm is a surplus above the no-profit firm."—Francis L. Walker.

लगान कह सकते है जो एक प्रकार का लगान ही होता है और केवल साहसी को ही नहीं वरन् विशेष योग्यता रखने वाले उत्पत्ति के किसी भी साधन को प्राप्त हो सकता है।

(२) लाभ का यह सिद्धान्त कुछ **मौलिक प्रश्नों पर प्रकाश नहीं** डालता। ऐसा प्रतीत होता है कि वाकर ने लाभ की प्रकृति को ही नहीं समझा है लाभ को जोखिम उठाने का पारितोषिक कहा जाता है, जबकि साहसी की विशेष योग्यता जोखिम उठाने से सम्बन्धित नहीं होती, वरन् जोखिम को दूर करने से सम्बन्धित होती है। इस प्रकार लाभ को जोखिम को हटाने की योग्यता के विपरीत जोखिम उठाने की योग्यता का पुरस्कार माना गया है, जो ठीक नहीं है।

(३) व्यवसाय मे **कुछ लोगों को लाभ होते हैं तो कुछ को हानियाँ** भी होती है, जो विभिन्न कारणो से उपस्थित होती है। यदि हम कुछ लाभ में से कुछ हानि की मात्रा को निकाल दें तो शायद कुछ भी शेष न रहे, परन्तु वाकर ऐसा नहीं समझते।

(४) सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों के साधारण अंशधारी **बिना किसी विशेष योग्यता के लाभ** कमाते हैं, जो इस सिद्धान्त के अनुसार नहीं होना चाहिए।

(५) इस सिद्धान्त के द्वारा लाभ के **आकार की भी विवेचना** नहीं होती है। वाकर के अनुसार अच्छे साहसियों की संख्या का सीमित होना ही लाभ का कारण है, परन्तु यह सीमितता क्यों और किस प्रकार उत्पन्न होती है, इस पर इस सिद्धान्त में विचार नहीं किया गया है।

(६) यह कहना भूल है कि **लाभ उत्पादन-व्यय में सम्मिलित** नहीं होता अल्पकाल में तो यह सम्भव है कि उत्पादन व्यय (एवं इसलिए कीमत) में सम्मिलित नहीं हो। किन्तु दीर्घकाल में यह उत्पादन व्यय (एवं इसलिए कीमत) में सम्मिलित होता है। फिर सामान्य लाभ तो उत्पादन व्यय का एक आवश्यक अङ्ग ही है। अतः, वाकर का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

(II) लाभ का मजदूरी सिद्धान्त
(The Wage Theory of Profit)

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि लाभ को मजदूरी के रूप मे समझना ही सबसे अधिक उपयुक्त है। टॉजिग के अनुसार लाभ एक **"विशेष प्रकार की मजदूरी"** है। व्यवसाय की आय बहुत अनियमित और अनिश्चित होती है, क्योंकि वह उत्पादन की कुल लागत देने के पश्चात् बचती है परन्तु यह आय संयोगवश प्राप्त नहीं होती है। इसका कारण कुछ विशेष प्रकार के गुणों (जैसे—कुशलता, संगठन की योग्यता, दूरदर्शिता इत्यादि) का उपयोग होना है और इन गुणों का उपयोग एक प्रकार का 'श्रम' है, जिसे हम अधिक से अधिक मानसिक श्रम कह सकते हैं। टॉजिग के अनुसार लाभ इसी विशेष प्रकार के मानसिक श्रम की मजदूरी है। यह श्रम लगभग उसी प्रकार का होता है जैसा कि एक वकील, डाक्टर या अध्यापक का श्रम।[1]

आलोचनाएँ—इस सिद्धान्त में अच्छाई यह है कि यह लाभ की प्रकृति को समझता है और लाभ को उचित सिद्ध करता है। परन्तु टॉजिग ने लाभ और मजदूरी के साधारण भेद को भुला दिया है। अनेक कारणों से मजदूरी अनियमित, अनिश्चित तथा शून्य से कम नहीं हो सकती है, जबकि लाभ में ये तीनों गुण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं —

(१) उत्पादक अथवा साहसी का प्रमुख कार्य जोखिम या अनिश्चितता उठाना है और

---

1 "Profit are not due to mere chance, they are the outcome of the exercise of special ability; a sort of mental labour not much different from the labour of lawyer and jndges."

—Taussing : *Principles of Economic*, Vol II p 273.

लाभ इसी का पारितोषिण है। एक श्रमिक, चाहे वह मानसिक कार्य करे या शारीरिक, जोखिम उठाने के लिए मजदूरी नहीं पाता। इसमें तो सन्देह नहीं है कि श्रमिक को भी अपना रोजगार खो देने और आय के कम हो जाने का भी भय रहता है, परन्तु श्रमिक का पारितोषिक इस भय का फल नहीं होता, वरन् उसके परिश्रम का फल होता है।

(२) मजदूरी की अपेक्षा लाभ में सयोग या अच्छे भाग्य से प्राप्त होने वाला अंश अधिक प्रधान होता है। वास्तविक अर्थ में मजदूरी को कमाई हुई आय कहा जा सकता है परन्तु लाभ सदा ऐसा नहीं होता।

(३) अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में लाभ के बढ़ने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि एकाधिकारी लाभ भी उसमें सम्मिलित हो जाते हैं। परन्तु, यदि श्रम बाजार में स्पर्धा का अभाव है, तो मजदूरी कम हो जाती है।

(४) सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों की आय की विवेचना से तो लाभ और मजदूरी का भेद और भी स्पष्ट हो जाता है। ऐसी कम्पनियों में प्रबन्ध की आय, जो मजदूरी होती है, और साधारण अंशधारियों के पारितोषण भिन्न-भिन्न होते हैं। साधारण अंशधारी व्यवसाय की जोखिम उठाने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कार्य नहीं करते।

(III) लाभ का जोखिम-सहन सिद्धान्त
(The Risk-bearing Theory of Profit)

साधारणतया अधिकांश लोग खतरों को उठाना पसन्द नहीं करते। जोखिम उठाना अरुचिकर होता है, इसीलिए साहसी व्यवसाय को आरम्भ करने में हिचकिचाता है। प्रत्येक व्यवसाय में एक प्रकार का सट्टा या जुआ होता है, और, जब तक साहसी को लाभ की आशा नहीं होती, वह व्यवसाय आरम्भ नहीं करता। लाभ का प्रलोभन व्यवसाय आरम्भ करने के लिए अति आवश्यक है। जितनी अधिक जोखिम होगी है, उतना ही अधिक लाभ का प्रलोभन भी होना चाहिए। जो लोग जोखिम उठाते हैं वे साधारणतया पूँजी के ब्याज के अतिरिक्त और भी पारितोषण की आशा करते हैं। इस प्रकार लाभ को जोखिम उठाने की अरुचि का पुरस्कार समझना चाहिए। लाभ का यह सिद्धान्त हॉले (Hawley) द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उनका यह भी कहना है कि लाभ की मात्रा इतनी होनी चाहिए कि व्यवसाय आरम्भ करने की आवश्यकता के अनुसार पूरे अंश तक जोखिम उठाने की अरुचि का समाधान हो सके।

आलोचनाएँ—(१) इस बात से तो लगभग कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि लाभ जोखिम उठाने के कारण प्राप्त होता है, यद्यपि इस सम्बन्ध में कारवर (Carver) का यह मत कि लाभ खतरा उठाने में उत्पन्न नहीं होता, वरन् सुयोग्य व्यवसायी खतरा कम करके लाभ उठाते हैं,[1] सारहीन नहीं है। परन्तु यह समझना भूल होगी कि लाभ खतरे के अनुपात में होता है। यथार्थ में लाभ और खतरे के अंश के बीच कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं है। हम इतना फिर भी कह सकते हैं कि शुद्ध लाभ एक प्रकार में ऐसे खतरों के उठाने से सम्बन्धित है, जो व्यवसायी उत्पत्ति के साधनों के नये संयोग (Combination) बनाने तथा भावी माँग का अनुमान लगाने में सहन करता है। (२) इस सम्बन्ध में नाइट (F H. Knight) की यह विवेचना महत्त्वपूर्ण है कि खतरे दो प्रकार के होते हैं और लाभ केवल एक प्रकार के खतरे अर्थात् अनिश्चित खतरे उठाने में ही मिलता है।

---

1 **Carver** · *Distribution of Wealth*, p. 274

(IV) अनिश्चितता-सहन सिद्धान्त
(The Theory of Uncertainty-bearing)

दो प्रकार के खतरे—**प्रोफेसर नाइट** के अनुसार, अनिश्चितता-सहन (Uncertainty bearing) और जोखिम उठाने (Risk-taking) में भेद किया जा सकता है। उत्पत्ति तथा व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाले खतरे दो प्रकार के होते हैं —

(१) निश्चित अथवा जाने हुए खतरे— इनका पहले से ही अनुमान लगाया जा सकता है और इनके लिए आरम्भ में ही व्यवस्था की जा सकती है। ऐसे खतरों की संख्या तथा गहनता नापी जा सकती है। उदाहरण के लिए, किसी समाज में दुर्घटनाओं के द्वारा मृत्यु दर का पता लगाया जा सकता है और तदनुसार प्रीमियम की दर बांधी जा सकती है। एक किसान जब वर्षा ऋतु में बाग में छोटे-छोटे पौधे लगाता है, तो इस बात को भली-भाँति जानता है कि सर्दी के मौसम में कोहरा और पाला पड़ेगा और वह पहले से जाड़ों में इन पौधों की सुरक्षा का प्रबन्ध कर लेता है। इस प्रकार के सभी खतरे ज्ञात होते हैं और इसके लिए जो व्यवस्था की जाती है, वह भी पहले से ही ज्ञात होती है। प्रत्येक उत्पादक इस व्यवस्था को अपने उत्पादन व्यय का एक आवश्यक अङ्ग समझता है, इसलिए उसकी लागत उत्पादन-व्यय में सम्मिलित होती है।

(२) अनिश्चित तथा अज्ञात खतरे—परन्तु अनिश्चितता इससे भिन्न है। नाइट के अनुसार अनिश्चितता 'अनियमित आय की आशा'' है। इसका तात्पर्य ऐसे खतरों से है जिनकी व्यापकता नापी नहीं जा सकती है और उनके लिए पहले से व्यवस्था नहीं की जा सकती है। बाग लगाते समय किसान ने यह तो सोच लिया है कि जाड़ों में पाला पड़ेगा, परन्तु यह भी सम्भव है कि अक्टूबर में बाढ़ आ जाने के कारण बाग नष्ट हो जाय। इस खतरे को अज्ञात खतरा ही कहा जा सकता है।

लाभ क्या है ? अनिश्चितता या अज्ञात खतरों को उठाने के लिए मिलने वाला पारितोषण ही है। इन अज्ञात खतरों को नाइट ने अनिश्चितता का नाम दिया है, जबकि ज्ञात खतरे को खतरा या जोखिम कहा जा सकता है।[1]

लाभ का निर्धारण कैसे ? नाइट का विचार है कि अनिश्चितता उठाना भी उत्पत्ति का एक साधन है और साथ ही, अन्य साधनों की भाँति इसकी माँग कीमत भी होती है। माँग का कारण यह है कि अनिश्चितता उठाना एक उत्पादक-कार्य है। इसी प्रकार अनिश्चितता-सहन का पूर्ति-मूल्य भी होता है। जब तक लाभ की आशा नहीं होगी, कोई भी अनिश्चितता सहने को तैयार न होगा। यह पूर्ति-मूल्य निम्नांकित कई बातों पर निर्भर होता है —

(१) साहसी का चरित्र और मनोवृत्ति—कुछ लोग स्वभाव से ही सुरक्षा के पक्षपाती होते हैं और कुछ लोग जुआरी प्रकृति के, जो कि थोड़ी-सी ही आशा पर खिंचे चले आते हैं।

(२) पूँजी लगाने वालों के कुल साधनों की मात्रा—साधारणतया एक व्यक्ति, जिसने व्यवसाय को चलाने का पक्का निश्चय कर लिया है, अधिक अनिश्चितता उठा सकता है।

(३) अनिश्चितता की पूर्ति का मूल्य इस बात पर निर्भर होता है कि साहसी अपने **कुल साधनों का कौन-सा भाग खतरे में डालने को** तैयार हो जाता है। यदि पूँजी के बड़े भाग के लगाने का प्रश्न उठता है, तो अधिक लाभ की आशा की जायगी। यदि कुल पूँजी का छोटा सा भाग ही लगाना है, तो साहसी थोड़े लाभ पर ही तैयार हो जायगा।

साम्य में लाभ इतना होना चाहिए कि अनिश्चितता-सहन की पूर्ति इसकी माँग के बराबर हो जाय। इस सम्बन्ध में याद रखना चाहिए कि अनिश्चितता सहन और पूँजी दोनों सामूहिक

---

[1] **F. H. Knight** : *Uncertainty and profit.*

रूप में पारितोषण पाते हैं। बिना अनिश्चितता उठाये कोई भी साहसी केवल पूँजी के द्वारा लाभ नहीं कमा सकता। इसी प्रकार पूँजी के बिना अनिश्चितता उठाने का भी कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि खतरा, पूँजी के सम्बन्ध में तथा पूँजी के ऊपर ही उठाया जाता है।

आलोचनाएँ—नाइट के इस सिद्धान्त की निम्नांकित आलोचनायें की जा सकती हैं :—

(१) अनिश्चितता उठाने को उत्पत्ति का एक अलग साधन नहीं माना जा सकता। यदि कुछ श्रमिक हीन परिस्थितियों में काम करके अधिक मजदूरी पाते हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं हो जाता कि हीन परिस्थितियाँ ही ऊँची मजदूरी का कारण है ठीक इसी प्रकार, यदि एक उत्पादक अनिश्चित परिस्थितियों में काम करके लाभ कमाता है, तो लाभ का अनिश्चितता से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता है। अनिश्चितता तो उत्पादक के कार्य की विशेषता मात्र है, जिसका प्रभाव यह होता है कि पूँजी का मूल्य बढ़ जाता है। अनिश्चितता को उत्पत्ति का साधन तभी कहा जा सकता है, जबकि हम वास्तविक उत्पादन-व्यय (Real Cost of production) के सिद्धान्त को अपनायें, जिसके अन्तर्गत हर प्रकार की लागत को कष्ट अथवा अनुपयोगिता में नापा जाता है, परन्तु अपनी अधिक निर्मलता में हम प्रत्येक लागत को कष्ट के स्थान पर द्रव्य में ही नापते हैं।

(२) केवल अनिश्चितता द्वारा ही साहसी वर्ग की पूर्ति प्रभावित नहीं होती है। प्रतिकूल सामाजिक वातावरण, राज्य के कठोर नियम, पूँजी का अभाव, ज्ञान का अभाव, अवसरहीनता आदि अनेक कारण हैं, जो साहसी वर्ग की पूर्ति को सीमित कर देते हैं।

(३) केवल अनिश्चितता को सहन करना साहसी का कार्य नहीं है। उसे और भी बहुत से काम करने होते हैं, जैसे—सौदा करना, साधनों के कार्य को सम्बद्ध करना इत्यादि। लाभ इन सब कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त होता है।

(४) नाइट के सिद्धान्त के अनुसार, लाभ एक प्रकार की आकस्मिक कमाई (Windfall Gain) है, जो बहुत अनिश्चित तथा पूर्णतया अज्ञात है। यह बहुत बार शून्य हो सकता है और शून्य से भी नीचे घट सकता है।

(V) लाभ का प्रावैगिक या गतिशीलता का सिद्धान्त
(The Dynamic Theory of Profits)

लाभ क्या है ? प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री क्लार्क (J. B. Clark) का मत है कि लाभ का सम्बन्ध केवल प्रावैगिक दशा (Dynamic State) से ही है। स्थैतिक अवस्था (Static economy) में जनसंख्या, पूँजी की मात्रा, मानव आवश्यकतायें और उनके गुण, उत्पादन प्रणालियाँ, व्यावसायिक संगठन, व्यापारिक प्रथायें इत्यादि स्थिर रहते हैं और इसलिए, प्रतियोगिता के कारण अन्त में लाभ का अन्त हो जाता है। क्लार्क के अनुसार, लाभ बिक्री के मूल्य और व्यय के अन्तर के बराबर होता है। यह यथार्थ में व्यय पर आधिक्य होता है। परन्तु जब कटाछंटी प्रतियोगिता बिना किसी प्रतिबन्ध के होती रहती है, तो प्रत्येक विक्रेता दाम घटा कर और अधिक बिक्री करके लाभ कमाने का प्रयत्न करता है। अब क्योंकि इस अवस्था में ग्राहकों को कीमतों के परिवर्तनों का पूर्ण ज्ञान होता है, इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता की दशा उत्पन्न हो जाती है और लाभ का अन्त हो जाता है। साथ ही गतिहीन दशा में न कोई जोखिम होती है और न कोई अनिश्चितता इसलिये लाभ का प्रश्न ही नहीं उठता।

लाभ क्यों होता है ? परन्तु हम स्थैतिक अवस्था में नहीं हैं। हमारा समाज प्रावैगिक है। दिन प्रतिदिन ही इस समाज में परिवर्तन होते रहते हैं। इस गतिशील समाज में साहसी का कार्य प्रबन्ध अथवा जोखिम उठाने से सम्बन्धित नहीं होता है। उसका कार्य पथ प्रदर्शक का होता है तथा वह नई-नई उत्पादन रीतियों को ग्रहण करके आर्थिक और औद्योगिक संगठन के रूप

बदलता रहता है। एक चतुर और अनुभवी साहसी नये आविष्कारों को अपनाकर अथवा बिक्री या विज्ञान की नई रीतियों द्वारा अपनी लागत कम करता है या बिक्री को बढ़ाता है और इस प्रकार लाभ कमाता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कुछ समय पश्चात् दूसरे उत्पादक भी इन नई रीतियों को अपना लेते हैं और प्रतियोगी बन जाते हैं, जिसके फलस्वरूप लाभ फिर लुप्त होने लगता है। परन्तु इस परिवर्तनशील संसार में एक चतुर साहसी के लिये सुधार करने के असीमित अवसर रहते हैं। उत्पादन और बिक्री-विधि में नये परिवर्तनों की सम्भावना सदा ही बनी रहती है और इसलिए लाभ कमाने का अवसर भी बना रहता है। स्पष्ट है कि यह अवसर केवल इसलिए रहता है कि संसार प्रावैगिक अवस्था में है। यदि स्थैतिक दशा हो, तो साहसी को केवल प्रबन्धक की मजदूरी मिल सकेगी। उसे लाभ नहीं होगा।[1]

आलोचनाएँ—नाइट और टॉजिग ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है जो कि निम्न प्रकार है —

(१) नाइट का कहना है कि आर्थिक संगठन के परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जो नियमित, ज्ञात अथवा निश्चित होते हैं। इनके लिए ज्ञान खतरों की भाँति पहले से ही व्यवस्था कर ली जाती है और इसलिये वे लाभ उत्पन्न नहीं करते हैं। परन्तु दूसरे परिवर्तन वे हैं जो कि अनिश्चित होते हैं और जिनके लिये कोई प्रबन्ध नहीं हो पाता। ये दूसरे प्रकार के परिवर्तन ही लाभ का कारण होते हैं। इस प्रकार लाभ अनिश्चितता के द्वारा ही उत्पन्न होता है।[2]

(२) टॉजिग का विचार है कि क्लार्क ने लाभ और प्रबन्धक की आय के बीच जो भेद किया है वह बनावटी है और वास्तविक नहीं कहा जा सकता। 'पुराने स्थायी व्यवसायों में भी प्रबन्ध सम्बन्धी दैनिक समस्याओं के सुलझाने में निर्णय शक्ति और कुशलता की आवश्यकता होती है। आधुनिक प्रगतिशील तथा शीघ्र-परिवर्तनीय काल में भी इन गुणों में लाभपूर्ण उपयोग की सम्भावना शेष रहती है।"[3] अन्य शब्दों में, स्थैतिक स्थिति में भी कुछ खतरे, जिन्हें व्यक्तिगत खतरे (Personal Risks) कहते हैं (जैसे—उत्पादक की असावधानी, मजदूरों की काम टालने की प्रवृत्ति, इत्यादि), अवश्य रहते हैं, जिससे लाभ पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता है।

(VI) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त
(The Marginal Productivity Theory)

इस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक अध्ययन हम पहले कर चुके हैं। इसके अनुसार उत्पत्ति के साधन (साहस) का पारितोषण, इसकी सीमान्त-उत्पादकता के द्वारा नियत होता है और दीर्घकाल में उसकी सीमान्त उपज के मूल्य के बराबर रहता है। लाभ का मुख्य कारण साहस की उत्पादकता (अथवा उत्पादन शक्ति) है।

इस प्रकार, जितनी ही साहस की सीमान्त उत्पादकता अधिक होगी, उतना ही लाभ अधिक होगा। साधारणतया आधुनिक उत्पादन प्रणालियों में विशेष प्रकार की योग्यता के साहसियों की कमी रहती है, इसलिए लाभ ऊँचे रहते हैं। अनिश्चितता की मात्रा जितनी अधिक होती है उतना

---

1 **J. B. Clark** : *Essentials of Economic Theory*

2 "It is not dynamic change, nor change as such which causes profits but the divergence of actual conditions from these which have been expected and on the basis of which business arrangements have been made."—**F. H. Knight.**

3 **Taussig** : *Principles of Economics*, **Vol. II**, p 120.

ही उसके लिये साहसियों की कमी होती है और उतना ही उसमें लाभ भी अधिक रहता है। इस सिद्धान्त को साहस और अन्य उत्पत्ति साधनों पर लागू करने में केवल एक ही अन्तर रहता है—प्रतियोगिता शक्ति दूसरे साधनों पर परोक्ष रूप में सेवायोजक के द्वारा लागू होती है, किन्तु साहस स्वयं सेवायोजक प्रस्तुत करता है।

आलोचनाएँ—सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनाओं का हमने पहले भी अध्ययन किया है। प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार है—(i) प्रत्येक दशा में सीमान्त उपज की कीमत का पता लगा लेना सम्भव नहीं होता। (ii) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त केवल साहस की मांग की दृष्टि से ही लाभ की विवेचना करता है, साहस की पूर्ति पर विचार नहीं करता। (iii) साहस की सीमान्त उत्पादकता का पता लगा लेना विशेष कठिन होता है। साहस की एक इकाई को उत्पादन कार्य में से निकाल देने का परिणाम यह होता है कि सारा का सारा उत्पादन-कार्य अस्त-व्यस्त हो जाता है और इस प्रकार निकाली हुई सीमान्त उपज साहस की वास्तविक देन को सूचित नहीं करेगी।

(VII) लाभ का समाजवादी सिद्धान्त
(The Socialist Theory of Profits)

लाभ के सिद्धान्त को महान समाजवादी लेखक कार्ल मार्क्स के नाम से सम्बन्धित किया जा सकता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार मूल्य का एक मात्र कारण श्रम है, इसलिए जितनी भी कुल उत्पत्ति होती है वह सारी की सारी श्रमिक को मिलनी चाहिए। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में कुल कीमत (श्रम की कुल कमाई) का केवल एक भाग ही श्रमिक को प्राप्त होता है, शेष पूँजीपति को "लाभ" के रूप में मिलता है। इस प्रकार, श्रमिक कुछ समय तो अपनी मजदूरी उत्पन्न करने के लिए काम करता है परन्तु अधिकांश समय तक वह ऐसे मूल्य का उत्पादन करता है जिसे पूँजीपति हड़प लेगा। ऐसे मूल्य को मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus Value) कहा है। लाभ इसी अतिरिक्त मूल्य में से उत्पन्न होता है। **इस प्रकार, लाभ एक प्रकार की हड़प या कानूनी डाका है।** यह पूँजीपति द्वारा श्रमिक के शोषण के अंश को दिखाता है। जो कुछ भी उत्पादक को लाभ के रूप में मिलता है वह शोषण है। पूँजीपति का हित इसी में होता है कि अतिरिक्त मूल्य की मात्रा को बढ़ा कर श्रमिकों का और अधिक शोषण करे तथा लाभों को और बढ़ाये।

आलोचनायें—यह सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित है, जिसके अनुसार केवल श्रम ही मूल्य का सृजन करता है। वास्तव में यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि—(i) लाभ को लूट कहने का अर्थ है साहसी के महत्त्व को स्वीकार न करना। (ii) इस सिद्धान्त का अर्थ यह होगा कि योग्य साहसी ऊँचे लाभ नहीं कमा सकता। ऊँचे लाभ तो तभी कमाये जा सकते हैं जबकि श्रम का और अधिक शोषण किया जाय। (iii) आधुनिक समाजवादी देशों में भी लाभ रहता है। कम से कम हिसाब रखने और विभिन्न उद्योगों की तुलनात्मक स्थिति का पता लगाने के लिए लाभ की दर अवश्य निकाली जाती है।

(VIII) लाभ का मांग और पूर्ति का सिद्धान्त
(The Demand and Supply Theory of Profit)

लाभ निर्धारण का यह सिद्धान्त सबसे नया है। अन्य वस्तुओं का मूल्य जिस सिद्धान्त द्वारा निश्चित होता है वही साहस का मूल्य-निर्धारण भी करता है। उत्पत्ति के साधनों तथा साधारण वस्तुओं में भेद न करने की प्रवृत्ति आधुनिक अर्थशास्त्र का एक सर्वमान्य नियम है। अतः मूल्य का सामान्य सिद्धान्त, अर्थात् मांग और पूर्ति का सिद्धान्त, साहस के मूल्य अथवा लाभ निर्धारण के लिए भी उपयोग किया जाता है।

अन्य वस्तुओं की भांति साहस के लिये भी मांग होती है, जो उत्पत्ति के आकार तथा

साहस की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है। इसी प्रकार, साहस की पूर्ति भी होती है, जो जन-संख्या के चरित्र, उसकी मनोवृत्ति, व्यवसाय की अनिश्चितता आदि अनेक कारणों पर निर्भर होती है। जिस स्थान पर साहस की माँग और पूर्ति बराबर होते हैं, साम्य में, चाहे वह स्थायी हो या प्रवैगिक, वहीं पर लाभ की दर निश्चित होती है। इस सिद्धान्त को भली-भाँति समझने के लिये साहस की माँग और पूर्ति को भली-भाँति समझ लेना आवश्यक होगा।

(१) **साहस की माँग** मुख्यतया साहस की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है। जितना ही साहस अधिक उत्पादक होगा उतनी ही उसकी माँग भी अधिक होगी। इसके अतिरिक्त देश में साहस की माग निम्न बातों पर निर्भर होती है—(i) देश में औद्योगिक विकास की स्थिति, (ii) देश में उत्पत्ति के पैमाने का विस्तार और (iii) देश में उद्योगों की प्रकृति। औद्योगिक विकास जितना आगे बढ़ता है, और उत्पत्ति के पैमाने का जितना ही विस्तार होता है उतनी ही साहस की माँग अधिक होती है। इसी प्रकार, कुछ उद्योगों में दूसरों की तुलना में जोखिम का अंश अधिक रहता है।

(२) **साहस की पूर्ति** भी अनेक बातों पर निर्भर होती है। प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं—(i) **देश में औद्योगिक विकास की स्थिति**—जितना ही किसी देश के निवासियों को औद्योगिक क्षेत्र में लम्बा अनुभव होगा उतनी ही साहस की पूर्ति भी अधिक होगी। (ii) **जन-संख्या का आकार**—यदि किसी देश में जन-संख्या अधिक है तो साहस की पूर्ति भी अधिक होगी। (iii) एक **धनी देश** में साहस की पूर्ति अधिक होती है क्योंकि धनवान व्यक्ति में जोखिम उठाने की क्षमता अधिक होती है। (iv) **देश के आय के वितरण की दशा**—जिस देश में कुछ व्यक्ति बहुत अमीर होते हैं और अधिकांश व्यक्ति गरीब होते हैं, अर्थात् जिस देश में आय के वितरण की असमानतायें अधिक होती हैं वहाँ साहस की पूर्ति अधिक होती है। (v) **जन-संख्या का चरित्र** भी साहस की पूर्ति को निश्चित करता है। कुछ देशों के लोग स्वभाव से ही अधिक साहसी होते हैं। (vi) **व्यवसाय में जोखिम का अंश**—साधारणतया जिन व्यवसायों में जोखिम का अंश कम होता है वहाँ साहस की पूर्ति अधिक होती है।

साहस की माँग और पूर्ति की विवेचना के पश्चात् लाभ के निर्धारण की समस्या सरल होती है। **साम्य की दशा में लाभ की दर उस बिन्दु पर निश्चित होती है। जहाँ साहस की माँग और पूर्ति बराबर होते हैं।** यह बात आगे के रेखा-चित्र से स्पष्ट है।
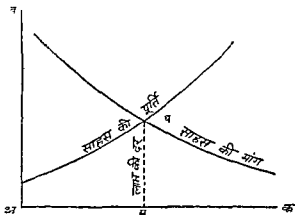
आलोचना—इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि साहस को एक साधारण वस्तु या सेवा की भाँति समझा गया है, जिसकी कीमत (लाभ) ठीक उसी प्रकार निर्धारित होती है जैसे किसी

दूसरी वस्तु अथवा सेवा की कीमत। किन्तु इस सम्बन्ध मे यह जानना आवश्यक है कि साहस और साधारण सेवा मे अन्तर होता है—साहस किसी शारीरिक या मानसिक कार्य को सूचित नही करता है, यह तो खतरे या अनिश्चितता को सहन करने की क्षमता को दिखाता है।

लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों पर एक दृष्टि

लाभ के जिन अनेक सिद्धान्तों का हमने अध्ययन किया है उनके आधार पर हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते है कि लाभ का कोई भी सिद्धान्त लाभ का स्पष्टीकरण नही कर पाता है। सभी सिद्धान्त एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित हैं कि उन्हे मिलाकर उपयोग किया जा सकता है। लाभ का, नई विधियो, प्रवैगिक परिवर्तनो, अनिश्चितता तथा जोखिम उठाना सभी के साथ निकटतम् सम्बन्ध है। नई विधियाँ ही प्रवैगिक परिवर्तनो को उत्पन्न करती हैं और आर्थिक उन्नति को सम्पन्न करती हैं। आर्थिक उन्नति का प्रमुख कारण यही है कि कुछ लोगो ने जोखिम उठाई है और नई विधियों की खोज की है। यह निश्चित है कि नई विधियो के आविष्कार के पीछे केवल एक ही उद्देश्य रहा है जो है लाभ प्राप्त करना। इस प्रकार नये आविष्कारों की प्रेरणा लाभ है।

यहाँ यह बताना भी उपयुक्त होगा कि सभी प्रवैगिक परिवर्तनो तथा सभी नई विधियों मे अनिश्चितता अवश्य रहती है। इस कारण अनिश्चितता, जोखिम, प्रवैगिक परिवर्तन तथा आविष्कार इन सबका पारस्परिक सम्बन्ध बहुत घना है। प्रत्येक आविष्कार अनिश्चित होता है और अनिश्चितता जोखिम की समस्या उत्पन्न करती है। उपरोक्त विवेचन से लाभ की प्रकृति के विषय मे यदि किसी बात का पता चलता है, तो वह यही है कि लाभ सदा अनिश्चित होता है और उसका कोई सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। यद्यपि यह तो हो सकता है कि कुछ फर्मे अथवा कुछ उद्योग कभी-कभी लाभ का कोई अनुमान लगा लें परन्तु सामान्य रूप मे लाभ का लगभग कोई भी पूर्व-अनुमान नही लगाया जा सकता है। अनेक बार यह देखने को मिलता है कि सब कुछ ठीक होते हुए भी कोई ऐसा अकस्मात् कारण उत्पन्न हो जाता है कि लाभ हानि मे बदल जाता है। यही कारण है कि अनिश्चितता लाभ का एक आवश्यक लक्षण है।

क्या लाभ की कोई सामान्य दर होती है ?

इस सम्बन्ध मे यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि ब्याज और मजदूरी की भाँति लाभ की सामान्य दर नहीं हो सकती है, यद्यपि लाभ-दर समान होने की सम्भावना है। वास्तव मे लाभ की दर समान होना या न होना प्रचलित दशाओ पर निर्भर होता है। उदाहरणार्थ, यह सम्भव है कि साम्य की दशाओ मे देख-रेख करने की मजदूरी (wages of superintendence) के रूप मे लाभ सभी स्थानो पर तथा सभी उद्योगो मे समान हो जायें, और विशुद्ध लाभो का लोप हो जाय। एक ऐसे समाज मे, जिसमे परिवर्तन तो उपस्थित है किन्तु अनिश्चितता का अभाव है, लाभो मे सामान्य स्तर के तुल्य होने की प्रवृत्ति देखी जायेगी। परन्तु इस दशा मे भी योग्यता के लगान के रूप मे मिलने वाले लाभ की दरों मे अन्तर रहेगा। कुल पर हम यह कह सकते हैं कि यदि उद्योग का स्वभाव नैत्यक हो तथा प्रतियोगिता असीमित हो तो दीर्घकाल मे लाभो की प्रवृत्ति समान स्तर पर रहने की होगी। अल्पकाल मे तो इसकी दरो मे भारी असमानता का होना आवश्यक है।

परन्तु वास्तव मे हम गतिशील संसार मे रहते हैं, जिसमे सभी कुछ बदलता रहता है और अनिश्चितता सदा ही बनी रहती है। ऐसी दशा मे लाभ की दरो मे समानता की प्रवृत्ति दीर्घकाल मे भी नही होती है। इसमे भी लाभ की दरो मे विशाल अन्तर बने रहेंगे, क्योंकि अनिश्चित वातावरण मे साहसी वर्ग की पूर्ति सीमित ही रहती है।

लाभ की वांछनीयता का औचित्य

सभी समाजवादी लेखकों ने लाभ की बड़ी आलोचना की है। मार्क्स के अनुसार लाभ एक चोरी है, क्योंकि यह वह अतिरिक्त मूल्य है जो मजदूरों से छीना गया है। अधिक लाभ मजदूरों के अधिक शोषण के अतिरिक्त और कुछ भी सूचित नहीं करता है। बात यह है कि कुल मूल्य श्रमिकों द्वारा उत्पन्न किया जाता है परन्तु यह सब श्रमिकों को नहीं मिल पाता है, वरन् पूँजीपति उसमें से बहुत-सा भाग स्वयं हड़प जाता है, जिसे हम लाभ कहते है। ऐसी दशा में लाभ को उचित नहीं कहा जा सकता है।

जन-साधारण भी लाभ का घृणा तथा शंका की दृष्टि से देखता है क्योंकि लाभ में ऐसी आय भी समाविष्ट होती है जिसे नैतिकता के किसी भी आदर्श से उचित नहीं कहा जा सकता। कुछ व्यवसायी एकाधिकार स्थापित करके तथा औद्योगिक संघ बनाकर जनता का शोषण करते है और लाभ कमाते है। स्टाक एक्सचेंज से लाभ कमाना एक प्रकार का जुआ खेलना ही होता है। मजदूरों की निर्धनता, असहाय अवस्था तथा उनके संगठन की कमजोरी से लाभ उठाकर उनका शोषण करने से कोई भी पूँजीपति नहीं चूकता। अनेक अनुसूचित उपायों तथा बेईमानियों से लाभ में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जाता है। धोखा देना और झूठ बोलना आज कल के व्यवसाय में व्यावसायिक नीति समझा जाता है।

परन्तु स्मरण रहे कि उपरोक्त दोष दो कारणों से उत्पन्न होते हैं :—(i) प्रतियोगिता का अभाव और (ii) व्यावसायिक चरित्र-हीनता। इन दोनों दिशाओं में सुधार करके इन दोषों को एक अंश तक अवश्य दूर किया जा सकता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति अर्थ-व्यवस्था में लाभ का होना आवश्यक है क्योंकि पूँजीवाद लाभ के उद्देश्य पर ही आधारित है। जिस प्रकार प्रतीक्षा करने के लिए ब्याज का मिलना आवश्यक है उसी प्रकार अनिश्चितता सहन के लिये भी लाभ मिलना चाहिये। साहसी की सेवायें उपयोगी और उत्पादक होती हैं और इन्हें प्राप्त किये बिना समाज का काम नहीं चल सकता (परन्तु, यदि निजी सम्पत्ति का ही अन्त हो जाय तो फिर लाभ का अन्त स्वयं हो जायगा)। आधुनिक औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की सुरक्षा तथा संरक्षण के लिये चार महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है :-

(१) लाभ एक फर्म को भविष्य में व्यवसाय में बने रहने के व्यय से, जो बदली, पुरानेपन, मुख्य जोखिम तथा अनिश्चितता सम्बन्धी जोखिमों में उदय होते है, अवगत करा देता है।

(२) यह व्यक्तिगत उत्पादक को इस दिशा में प्रेरित करता है कि अपने चालू व्यय को पूरा करता रहे।

(३) सामाजिक दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि जीवित रहने वाली फर्में असफल फर्मों की हानि को समाज के लिए पूरा करें। ड्रकर (Drucker) के शब्दों में "जिस प्रकार उन कुओं से, जिनमें तेल निकलता है उन नल तथा श्रम का व्यय भी वसूल होना चाहिए, जो उन कुओं पर लगाया गया है जिनमें कि तेल नहीं निकला, इसी प्रकार जीवित रहने वाली कम्पनी को उस कम्पनी की आर्थिक हानि का पूरा करना चाहिए जो उसकी प्रतियोगिता में मिट गई हैं।" पूरे समाज की दृष्टि से अन्य कोई भी दृष्टिकोण नहीं हो सकता है।

(४) लाभ को सामाजिक भार सहन करने का कार्य भी करना चाहिए। सफल औद्योगिक उपक्रमों को इस योग्य होना चाहिये कि वे समाज सेवाओं तथा सामाजिक सुरक्षा का भार सहन कर सकें।

इस प्रकार, जैसा कि ड्रकर ने कहा है, लाभ का महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि उन आर्थिक साधनों का संरक्षण करे जो आर्थिक प्रणाली के पास हैं। इन साधनों का संरक्षण करना किसी भी

उपक्रम का अपने तथा समाज के लिए प्रथम उत्तरदायित्व है। यदि इसमें असफल रहे, तो वह न केवल अपने जीवित रहने की शक्ति का निर्बल करता है बल्कि सारे समाज को भी धनहीन बना देता है। परन्तु, इसके अतिरिक्त, लाभ का कार्य यह भी है कि वह अर्थ-व्यवस्था की प्रगति सम्भव बनाये अन्त मे, हम यही कह सकते है कि लाभ की दर केवल इस बात का सूचक है कि समाज के साधनों को किन दशाओं में क्रियाशील होना चाहिये, जिससे कि समाज के साधनों का विभिन्न उपयोगों में सर्वोत्तम वितरण हो सके। चूँकि आवश्यकता की तुलना मे साधनो की कमी की समस्या जैसी पूँजीवाद मे है वैसी समाजवाद में भी पाई जाती है इसलिए दोनों ही में लाभ के इस कार्य मे कोई अन्तर नही होगा।

लाभ और ब्याज

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि लाभ और ब्याज में क्या सम्बन्ध है। पुराने अर्थशास्त्रियो ने, जिनमें एडम स्मिथ और रिकार्डो भी सम्मिलित है, लाभ और ब्याज में भेद नही किया है और दोनों को पूँजी का ही पारितोषक माना है। अब भी ब्याज तथा लाभ दोनों की दरें पूँजी के अनुपात मे ही निश्चित होती हैं, इसलिए दोनों मे समानता दृष्टिगोचर होती है। परन्तु अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिये दोनो का अन्तर स्पष्ट होना चाहिए। पूँजी और साहस दोनो उत्पत्ति के अलग-अलग साधन है और इसलिये दोनों के पारितोषक भिन्न-भिन्न होते है। प्राचीन काल मे जोखिम उठाने के कार्य को बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया था, क्योंकि उत्पत्ति छोटे पैमाने पर होती थी तथा प्रतियोगिता की सीमायें इतनी विस्तृत नही थी जितनी आविष्कारो और यातायात के विकास ने आधुनिक युग मे कर दी है।

परीक्षा प्रश्न :

१. लाभ के मुख्य सिद्धान्तो का विवेचन करिये।

२. लाभ क्या है ? सामान्य एवं अतिरिक्त लाभ मे भेद कीजिये, क्या लाभ मूल्य के निर्धारण में शामिल होता है ?

३ मिश्रित लाभ के भेदों की व्याख्या कीजिये तथा समझाइये कि मिश्रित लाभ उद्योग के *उत्पादन का शेष भाग होता है।*

४. 'सामान्य' तथा 'अधिक' लाभ का अन्तर समझाइये। क्या आप इससे सहमत है कि "लाभ मजदूरी घटने के साथ बढता है तथा मजदूरी अधिक होने से कम हो जाता है ?" सकारण उत्तर दीजिये।

५. लाभ क्या होता है ? लाभ के कार्यों का उल्लेख कीजिये। क्या लाभ मे समानता की ओर प्रवृत्ति होती है ?

६. लाभ की परिभाषा दीजिये तथा उसकी प्रकृति समझाइये। कीमत के एक अंग के रूप मे लाभ का औचित्य आप कैसे ठहरावेंगे ? आप अपने तर्क भारत के निजी व सरकारी क्षेत्र के उद्योगों के सन्दर्भ मे प्रस्तुत करें।

७ साहसोद्योगी की परिभाषा दीजिये और बतलाइये कि किस प्रकार कहा जा सकता है कि लाभ साहसोद्योगी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होता है ?

८. लाभ के संघटक अंगो का विश्लेषण करके समझाइये कि प्रत्येक अंग का निर्धारण कैसे होता है ?
९. लाभ क्यो उत्पन्न होते हैं ? स्थिर तथा गतिशील दशाओ के अन्तर्गत लाभ की धारणा की विवेचना कीजिये।
१०. लाभ की प्रकृति की विवेचना कीजिये और बताइये कि लाभ का कैसे निर्धारण होता है ?
११. नाइट (Night) के लाभ सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।
१२. निम्नलिखित तथ्य कहाँ तक सही है ?—सामान्य लाभ शून्य नही हो सकता।
१३. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी दीजिये —अतिरिक्त लाभ।

७

राष्ट्रीय लाभांश
(National Dividend)

प्रारम्भिक—राष्ट्रीय लाभांश के अध्ययन का महत्व—

वितरण के क्षेत्र में राष्ट्रीय आय के विचार का बहुत महत्व है। इस महत्व के दो मुख्य कारण हैं :—प्रथम, वितरण की किसी भी समस्या का अध्ययन करने से पहले यह जानना आवश्यक होता है कि वितरण होता किसका है, अतः अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय लाभांश का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। दूसरे, किसी भी देश के सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण पर राष्ट्रीय लाभांश का प्रभाव इतना अधिक पड़ता है कि इसके अध्ययन को छोड़ देना अनुचित होगा। जैसा कि पीगू ने कहा है : "साधारणतया आर्थिक कारण देश के आर्थिक कल्याण पर प्रत्यक्ष रूप में प्रभाव नहीं डालते है, जिसे अर्थशास्त्रियों ने 'राष्ट्रीय लाभांश' अथवा 'राष्ट्रीय आय' का नाम दिया है।"[1] आगे के पृष्ठों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि राष्ट्रीय लाभांश के आकार (size), उसकी रचना (Composition) तथा उसके वितरण की विधि (mode of distribution) सभी का समाज के कल्याण और इसकी सम्पन्नता पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

राष्ट्रीय लाभांश की परिभाषा

मार्शल द्वारा दी गई राष्ट्रीय लाभांश की परिभाषा—

मार्शल ने अपनी पुस्तक Principles of Economics में राष्ट्रीय लाभांश की एक विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की है जो इस प्रकार है : "किसी देश का श्रम और पूंजी उसके प्राकृतिक साधनों के साथ मिलकर, प्रतिवर्ष वस्तुओं का एक शुद्ध योग (Net Aggregate) उत्पन्न करते है, जिसमें भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार की वस्तुएँ तथा सभी प्रकार की सेवाएँ सम्मिलित होती हैं। 'शुद्ध' शब्द का उपयोग यह संकेत देने के लिए आवश्यक है कि कच्चे मालों तथा अर्ध-निर्मित वस्तुओं के उपयोग के लिए तथा उस प्लान्ट की घिसावट तथा क्षरण के लिए भी, जिसका उत्पादन में उपयोग होता है, व्यवस्था करनी चाहिये। अर्थात् शुद्ध अथवा सच्ची राष्ट्रीय आय निकालने से पहले ऐसे सभी प्रकार के व्ययों को कुल उपज में से घटाना आवश्यक होगा और इसमें विदेशी विनियोगों से प्राप्त शुद्ध आय को जोड़ना होगा। यही देश की सच्ची शुद्ध वार्षिक आय अथवा आगम अथवा राष्ट्रीय लाभांश है।"[2]

राष्ट्रीय आय की गणना के सम्बन्ध में मार्शल ने आगे लिखा है : "किन्तु यहाँ पर यही

---

[1] "Generally speaking economic causes act upon the economic welfare of any country, not directly, but through the making and using of that objective counter-part of economic welfare which economists call the national dividend or national income."

—A. C Pigou : *Economics of Welfare*, p. 31.

[2] Marshall : *Principles of Economics* p. 434.

अच्छा है कि गणना की साधारण विधि का उपयोग किया जावे और किसी भी ऐसी वस्तु को राष्ट्रीय लाभांश में न गिने जिसे व्यक्ति की आय में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार, जब तक हम कुछ और नहीं कहते हैं, एक व्यक्ति जो सेवाएँ अपने लिए अपने परिवार के सदस्यों अथवा मित्रों के लिए निःशुल्क उपलब्ध करता है और व्यक्तिगत सामानों के उपयोग से अथवा ऐसी सार्वजनिक सम्पत्ति के उपयोग से, जिस पर कोई शुल्क नहीं है जो लाभ उठाता है, इन सबको राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित नहीं किया जायेगा····।"[1]

आलोचना—मार्शल की राष्ट्रीय लाभांश की परिभाषा पर्याप्त अंश तक व्यापक तथा तर्कपूर्ण प्रतीत होती है। मार्शल का विचार है कि राष्ट्रीय लाभांश में उन सभी वस्तुओं की कीमत सम्मिलित की जाती है जिनका एक निश्चित काल (सामान्यतया एक वर्ष) में उत्पादन हुआ है। कीमतों के इस योग में से कुछ कीमतों को घटाना अथवा जोड़ना आवश्यक है। जिससे कि पूँजी यथास्थिर (intact) बनी रहे। सिद्धान्त की दृष्टि से, मार्शल का विचार पूर्णतया उपयुक्त प्रतीत होता है परन्तु जब हम इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाना चाहते हैं तो कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। प्रमुख कठिनाइयाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) गणना सम्बन्धी कठिनाई—पहली कठिनाई तो गणना की कठिनाई है जो निम्न कारणों से उदय होती है —(i) देश में वस्तुओं और सेवाओं की संख्या इतनी विशाल होती है कि उनका कीमतों का योग ज्ञात करना एक कठिन कार्य होता है। (ii) एक ही वस्तु की भी अनेक किस्में होती हैं और सही गणना के लिए प्रत्येक किस्म को अलग-अलग लेना आवश्यक होता है। (iii) अनेक वस्तुएँ और सेवाएँ ऐसी होती हैं जिनका उनके आरम्भिक उत्पादकों द्वारा ही प्रत्यक्ष उपभोग कर लिया जाता है उनका न तो विनिमय होता है और न उनकी कीमत ही निकाली जाती है। (iv) कुछ सेवाएँ ऐसी भी होती हैं जिनकी कोई भी भौतिक माप असम्भव होती है जैसे—एक देश-प्रेमी द्वारा देश के लिए किया गया। त्याग सम्भव है कि एक समाजवादी देश में जहाँ सभी उत्पत्ति साधनों पर सरकार का अधिकार होता है, हम सभी वस्तुओं और सेवाओं की कोई सही सूची बना सकें, परन्तु अनुभव बताता है कि समाजवादी देशों की सरकार के पास भी सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें ज्ञात करने के आवश्यक साधन नहीं होते। स्वतन्त्र तथा प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था वाले देश में तो यह समस्या और भी कठिन होती है।

(२) दोहरी गणना की सम्भावना—दूसरी कठिनाई एक ही कीमत को दो बार गिन लेने की सम्भावना है, जिससे बचना कठिन-सा है। उदाहरणार्थ, कृषि उद्योग कच्चे मालों को उत्पन्न करता है और हम इनकी कीमत की गणना करके उसे राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित कर लेते हैं। परन्तु इन कच्चे मालों का उपयोग निर्माण उद्योगों द्वारा किया जाता है और जब हम निर्माण उद्योगों के तैयार मालों की कीमत को राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित करते हैं तो (क्योंकि निर्माण उद्योग के तैयार माल की कीमत में कच्चे माल की कीमत भी सम्मिलित है) इस प्रकार हम वास्तव में कच्चे माल की कीमत को दो बार गिन लेते हैं। कठिनाई इस कारण और भी बढ़ जाती है कि एक उद्योग का तैयार माल भी किसी अन्य उद्योग में कच्चे माल के रूप में उपयोग किया जा सकता है। अनुभव बताता है कि अत्यधिक सावधानी रखने से कठिनाई को बहुत अंश तक दूर किया जा सकता है, परन्तु इसे पूर्णतया दूर कर देना सम्भव नहीं होता क्योंकि वह तो सारी अर्थ-व्यवस्था पर छाई रहती है।

पीगू द्वारा दी गई परिभाषा—

पीगू का कहना है कि सौभाग्यवश अर्थशास्त्र को मुद्रा का मापदण्ड प्राप्त है, जिसका

---

1 *Ibid*, p. 434.

उपयोग राष्ट्रीय लाभांश की माप के लिए किया जा सकता है । तदनुसार उन्होंने लिखा कि, "जिस प्रकार आर्थिक कल्याण कुल कल्याण का वह भाग है जिसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति-से-मुद्रा के माप से सम्बन्धित किया जा सकता है, उसी प्रकार राष्ट्रीय लाभांश समाज की भौतिक आय का जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित है, वह भाग है जो मुद्रा में नापा जा सकता है ।"[1]

अपने विचार की व्याख्या करते हुए पीगू ने आगे लिखा है कि, "यह पूर्णयता स्पष्ट है कि अन्तिम रूप में राष्ट्रीय लाभांश बहुत सारी भौतिक सेवाओं का, जिनमें से कुछ तो वस्तुओं में निहित होती हैं और कुछ प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत की जाती हैं, समूह होता है । इन सभी चीजों को सुविधापूर्वक वस्तुएँ (goods)—चाहे वे तुरन्त नाशवान हो अथवा टिकाऊ हो—सेवाएँ कहा जा सकता है । किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि एक सेवा को, जिसे प्यानो (Piano) अथवा रोटी के टुकड़े के रूप में, जिसके निर्माण में वह सहायक हुई थी, पहले गिना जा चुका है, दोबारा फिर सेवा के रूप में न गिना जाये ।"[2]

किन्तु पीगू स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि उन्होंने राष्ट्रीय लाभांश की जो परिभाषा दी है उसमें यह ज्ञात नहीं होता कि वास्तव में वस्तुओं और सेवाओं के किस प्रवाह को राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित करना चाहिए । इस समस्या के निवारण के लिए पीगू ने सुझाव दिया है कि, "केवल वही वस्तुएँ और सेवाएँ (दोबारा गिनती को छोड़ते हुए) राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित की जानी चाहिए जो वास्तव में मुद्रा में बेची जाती हैं । ऐसा करने से हम मुद्रा के माप-दण्ड को उपयोग करने की सर्वोत्तम स्थिति में रहेंगे ।"[3]

आलोचना—(१) मार्शल की तुलना में अधिक संकुचित—यदि हम पीगू के राष्ट्रीय लाभांश के विचार को ध्यानपूर्वक देखें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका राष्ट्रीय लाभांश का विचार मार्शल की तुलना में अधिक संकुचित है । पीगू किसी वर्ष के राष्ट्रीय लाभांश में न केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित करते हैं जिनका वर्ष विशेष में न केवल उत्पादन ही हुआ है बल्कि जिनकी मुद्रा में भी माप हो सकती है । पीगू का विचार निश्चित भी है और व्यावहारिक भी । यद्यपि मार्शल की परिभाषा के आधार पर राष्ट्रीय लाभांश की माप असम्भव हो सकती है, परन्तु पीगू की परिभाषा के आधार पर उसे निश्चित रूप में मापा जा सकता है । किन्तु प्रश्न फिर भी यह अवश्य रहता है कि क्या यह उचित है कि राष्ट्रीय लाभांश में केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित किया जाय जिन्हें मुद्रा के बदले बेचा जाता है ? वस्तुओं और सेवाओं का एक विशाल समूह ऐसा होता है जिसका विनिमय नहीं होता । क्या यह उचित है कि इस समूह को हम राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित न करें जबकि इसका समाज के कल्याण तथा उसकी सम्पन्नता पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है ?

(२) दृष्टिकोण में आन्तरिक विरोध—पीगू स्वयं यह मानते हैं कि उनके दृष्टिकोण में आन्तरिक विरोध है । यथा—"........इस प्रकार, कुछ वे सेवाएँ जो राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित नहीं की जा रही हैं उनसे जो सम्मिलित की गई हैं निकटतम् सम्बन्ध रखती हैं । बेची गई वस्तुएँ

---

1 "Just as economic welfare is that part of total welfare which can be brought directly or indirectly into relation with a money measure, so the national dividend is that part of the objective income of the community, including, of course, income derived from abroad, which can be measured in money."—**A C Pigou** : *Economics of Welfare*, p. 31.

2 *Ibid. p. 31.*

3 *Ibid. p. 32.*

तथा सेवाएँ उनसे किसी आधारभूत रूप से भिन्न नही हैं जो बेची नही गई है और बहुधा एक बेची जाने वाली सेवा बिना बेची जाने वाली तथा बिना बेची जाने वाली सेवा बेची जाने वाली सेवा बनती रहती है।"[1]

(३) **राष्ट्रीय लाभांश में अचानक घट-बढ़ होना**—इस दृष्टिकोण से सम्बन्धित सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यदि हम राष्ट्रीय लाभांश मे केवल उन वस्तुओ और सेवाओं को सम्मिलित करते है जिनकी मुद्रा में माप होती है, तो यह सम्भव है कि किसी वर्ष विशेष में वस्तुओं और सेवाओ के उत्पादन म अत्यधिक वृद्धि हो जाने पर भी उस वर्ष का राष्ट्रीय लाभांश या तो यथास्थिर रहे या घट जाये। कारण, उत्पादन की वृद्धि उन वस्तुओ और सेवाओ मे हो सकती है जिनका विनिमय नही किया जाता और यदि, साथ ही साथ, कुछ ऐसी वस्तुए और सेवायें जो पहले बेची जा रही थी अब उन वस्तुओं और सेवाओ की सूची मे हस्तान्तरित हो जाती है जो बेची नही जाती है, तो राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा घट भी सकती है। पीगू ने स्वय अपने दृष्टिकोण की असगति (inconsistency) के उदाहरण इस प्रकार दिये है :—

(i) "..... ..यदि किसान अपने खेत की उपज को बेचता है और अपने परिवार के लिए बाजार से भोजन खरीदता है, तो उपज की एक विशाल मात्रा राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित हो जाती है जो उस दशा में इस प्रकार सम्मिलित नही होगी जबकि किसान अपने गोस्त तथा सब्जी का एक भाग अपने ही पास रख ले और उसका स्वय उपभोग करे।"

(ii) "......अवैतनिक सगठन कर्ताओ गिरजाघर के कर्मचारियो एवं रविवासरीय पाठशालाओ मे पढाने वाले अध्यापकों द्वारा किया हुआ परोपकारी कार्य, निस्वार्थ वैज्ञानिको का अनुसन्धान, निठल्ले वर्गों मे अनेक लोगो का राजनैतिक कार्य, जो अभी राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित नही होगा (अथवा, जब इन सेवाओ के लिए नाम मात्र का भुगतान मिलता है तब राष्ट्रीय लाभांश मे नाम मात्र मूल्य सम्मिलित होगा) जिनके लिये यदि ये लोग वेतन लेना स्वीकार कर लें; तो वे (सेवायें) राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित की जायेंगी।"

(iii) "... स्त्रियों द्वारा सम्पन्न की गई सेवाएँ राष्ट्रीय लाभांश में केवल तभी सम्मिलित होती है जब उनके बदले मे मजदूरी ली जाती है चाहे ये सेवायें फैक्ट्री मे की गई है चाहे घर पर। परन्तु वे उस समय राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित नही होती है जबकि उन्हे माताओ अथवा पत्नियों द्वारा अपने परिवार के लिए नि.शुल्क उपलब्ध किया जाता है। इस प्रकार, यदि एक आदमी अपना घर देखने वाली अथवा अपना खाना बनाने वाली स्त्री से विवाह कर लेता है, तो उसके इस कार्य से राष्ट्रीय लाभांश घटता है।"

(४) **वस्तु विनिमय वाले देशों के सम्बन्ध में कठिनाई**—पीगू के दृष्टिकोण को ग्रहण करने मे उन देशों मे तो और भी अधिक कठिनाई होती है जहां वस्तु- विनिमय प्रणाली का अधिक प्रचलन है तथा अधिकांश मजदूरियां वस्तुओ और सेवाओ मे चुकाई जाती है। यदि किसी देश मे मुद्रा का चलन नही है, तो पीगू की परिभाषा के आधार पर राष्ट्रीय लाभांश की माप शून्य के बराबर होगी। पीगू की परिभाषा का लाभपूर्ण उपयोग अत्यधिक विकसित देशो के लिए ही है जहाँ उत्पादन और उपभोग दोनो विनिमय के माध्यम से होते है। पीगू ने मौद्रिक माप पर अनुरोध करके इस विचार के क्षेत्र को बहुत सकुचित कर दिया है। यद्यपि यह तो सही है कि यदि पीगू का

[1] *Ibid*, p. 32.

दृष्टिकोण ग्रहण किया जाता है तो राष्ट्रीय लाभांश की माप निश्चित रहेगी, परन्तु क्या इस प्रकार की माप यथार्थिक होगी, विशेषतया उन देशों मे जहाँ वस्तु-विनिमय का प्रचलन अधिक है ? पीगू का दृष्टिकोण सुविधाजनक तो हो सकता है, परन्तु यह न तो तर्क पूर्ण है और न यथार्थवादी।

फिशर द्वारा दी गई परिभाषा—

यह स्पष्ट है कि मार्शल और पीगू दोनो ने राष्ट्रीय लाभांश पर उत्पादन की दृष्टि से विचार किया है। इसके विपरीत फिशर (Fisher) ने राष्ट्रीय लाभांश का एक नया ही दृष्टिकोण ग्रहण किया है। उन्होने राष्ट्रीय लाभांश को उपभोग की दृष्टि से देखा है। फिशर का विचार है कि राष्ट्रीय लाभांश अथवा आय मे केवल वे सेवाएँ सम्मिलित होती हैं जो अन्तिम उपभोक्ताओं को प्राप्त होती है चाहे वे उन्हे उनके भौतिक वातावरण से प्राप्त हो चाहे मानवीय वातावरण से। वह टिकाऊ वस्तुओं के, जो कई वर्ष तक निरन्तर उपयोग मे बनी रहती है, केवल उस भाग को वर्ष के लाभांश मे शामिल करते है जिसका वर्ष विशेष में उपभोग होता है। अत. सच्चा राष्ट्रीय लाभांश वार्षिक शुद्ध उपज का वह भाग है जिसका वर्ष विशेष मे प्रत्यक्ष उपभोग होता है। उनके अपने ही शब्दो मे, "इस प्रकार, इस वर्ष मेरे लिए जो प्यानो अथवा ओवरकोट (Overcoat) बनाया गया है वह इस वर्ष की आय का एक भाग नही है वरन् पूँजी मे एक वृद्धि है। केवल वे सेवाएँ आय है जो इन वस्तुओं ने मुझे इस वर्ष मे प्रदान की हैं।"[1]

मार्शल, फिशर और पीगू के दृष्टिकोणों का अन्तर—मार्शल, पीगू तथा फिशर के दृष्टिकोणो का अन्तर एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि सन् १९६९ के वर्ष मे एक २५,००० रुपये की कीमत की मशीन का उत्पादन हुआ है। मार्शल और पीगू दोनो के अनुसार यह सारी कीमत सन् १९६९ के राष्ट्रीय लाभांश मे सम्मिलित होगी और सन् १९७० के लाभांश मे इसका कोई भी भाग सम्मिलित नही होगा। इसी प्रकार सन् १९६८ अथवा इससे पूर्व के वर्षो मे जिस मूल्य का उत्पादन हुआ है उसका कोई भी भाग सन् १९६९ के राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित नही किया जायेगा। किन्तु यह सम्भव है कि जो मशीन सन् १९६९ मे बनाई गई है वह २० वर्ष चले और यह सम्भव है कि यद्यपि इस मशीन का उत्पादन सन् १९६९ मे होता है, परन्तु उस वर्ष मे उसका बिल्कुल उपयोग न हो या केवल ६ महीने ही उपयोग हो। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि जो मशीन सन् १९६८ अथवा और पहले के वर्षो मे बनाई गई थी उसका सन् १९६९ मे ठीक उसी प्रकार उपयोग किया गया हो जैसे सन् १९६९ में उत्पन्न की गई मशीन का सन् १९७० मे होगा। फिशर के अनुसार, मशीन की कीमत का केवल वही भाग सन् १९६९ के राष्ट्रीय लाभांश मे सम्मिलित होगा जिसका उस वर्ष मे उपयोग किया गया है। यदि मशीन का सन् १९६९ मे बिल्कुल उपयोग नही होता है, तो उसकी कीमत का कोई भी भाग सन् १९६९ के लाभांश मे सम्मिलित नही किया जायेगा। यदि मशीन २० वर्ष चलेगी और सन् १९६९ मे केवल ६ महीने उपयोग की गई है, तो उसकी कीमत का केवल १/४० भाग सन् १९६९ के लाभांश मे सम्मिलित किया जायेगा। साथ ही साथ, पहले उत्पन्न की हुई मशीनो की कीमत का वह भाग, जो सन् १९६९ मे उपयोग किया गया है, इस वर्ष के लाभांश मे सम्मिलित होगा और सन् १९६९ मे निर्मित मशीन

1. "National Dividend, or Income consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environment. Thus a piano or an overcoat made for me this year is not a part of this years' income, but an addition to capital. Only the services rendered to me during this year by these things are income."—Fisher : *The Nature of Capital and Income*, p 104.

की कीमत का वह भाग, जिसका उस वर्ष मे उपयोग किया जायेगा, सन् १९७० के लाभाश मे सम्मिलित होगा।

फिशर के दृष्टिकोण का मूल्यांकन—इस दृष्टिकोण के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है।

(१) आर्थिक कल्याण प्रभाव की दृष्टि से उपयोगी—यदि हम राष्ट्रीय लाभाश का अध्ययन मुख्यतया इस दृष्टि से करते हैं कि उसका आर्थिक कल्याण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, तो निश्चय ही फिशर का दृष्टिकोण अधिक उचित है, कारण, किसी व्यक्ति अथवा समाज के कल्याण पर प्रत्यक्ष प्रभाव उपभोग का होता है उत्पत्ति का नही। उत्पत्ति तो उपभोग के माध्यम से कल्याण पर केवल परोक्ष प्रभाव डाल सकती है। वैसे भी, यद्यपि दीर्घकालीन दृष्टि से किसी देश का उपभोग उत्पत्ति के बराबर होता है परन्तु अल्पकाल मे उपभोग और उत्पत्ति के बीच विशाल अन्तर हो सकते हैं।

(२) इस गलत धारणा का निवारण कि उत्पादन-वृद्धि आवश्यक रूप से कल्याण वृद्धि की सूचक—फिशर का दृष्टिकोण इस गलत धारणा को, जो कि मार्शल और पीगू की देन है, दूर कर देता है कि उत्पादन की वृद्धि आवश्यक रूप मे कल्याण-वृद्धि की और उत्पादन की कमी आवश्यक रूप मे कल्याण घटने की सूचक होती है। गणित की दृष्टि से भी फिशर का विचार आकर्षण रखता है।

(३) स्पष्टता होते हुए भी बहुत लाभदायक नहीं—परन्तु फिशर ने राष्ट्रीय लाभाश वाक्य का उपयोग उससे भिन्न अर्थ म किया है जिसमे उसे साधारणतया समझा जाता है, जिस कारण तार्किक स्पष्टता के होते हुए भी विचार बहुत लाभदायक नही रह जाता है।

(४) व्यावहारिक कठिनाइयाँ—व्यावहारिक दृष्टि से फिशर का दृष्टिकोण ग्रहण करने मे कई कठिनाइयाँ हैं, जैसे :—(i) सबसे बडी कठिनाई यह है कि यद्यपि वर्ष भर के कुल उत्पादन की कीमत ज्ञात करना कठिन है परन्तु वर्ष भर के कुल उपयोग की कीमत ज्ञात करना और भी कठिन है। कारण, उत्पादन की तुलना मे उपभोग अधिक बिखरा हुआ होता है। उदाहरणार्थ, एक छोटे से किसान की थोडी-सी उपज का उपभोग भी हजारो व्यक्तियो द्वारा किया जा सकता है। यही कारण है की उपभोग की गणना उत्पत्ति की गणना से भी कई गुनी अधिक कठिन होती है। (ii) यहाँ पर एक ही आय को एक से अधिक बार गिन लेने का भय इतना अधिक है कि यह सम्भावना दूर नही की जा सकती है। (iii) इसके अतिरिक्त, वर्ष विशेष के राष्ट्रीय लाभाश का पता लगाने के लिए पिछले वर्षों मे उत्पादित विभिन्न वस्तुओ के उन भागो की कीमत ज्ञात करनी होती है जिनका वर्ष विशेष मे उपभोग हुआ है, जिससे कठिनाई और भी बढ जाती है। (iv) टिकाऊ वस्तुओ का इस प्रकार निरन्तर हस्तान्तरण हो सकता है कि अन्त मे अन्तिम स्वामी का आरम्भिक स्वामी से कोई सम्बन्ध शेष न रहे। बहुत-सी दशाओ मे शायद यह ज्ञात भी न किया जा सके कि निर्माण कब हुआ था। इसके अतिरिक्त, कालान्तर मे टिकाऊ वस्तुओ की कीमत मे भी परिवर्तन हो सकते हैं, जिस दशा मे वर्ष विशेष मे उपयोग किये हुए भाग की सही कीमत ज्ञात करना और भी कठिन होगा। निस्सदेह कठिनाइयाँ इतनी विशाल हैं कि फिशर का दृष्टिकोण अव्यावहारिक हो जाता है।

विभिन्न परिभाषाओं की तुलनात्मक उपयुक्तता—

राष्ट्रीय लाभांश की कौन-सी परिभाषा सबसे अच्छी है इस प्रश्न का उत्तर केवल इस सन्द मे ही दिया जा सकता है कि राष्ट्रीय लाभाश के विचार का उपयोग हम किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर रहे हैं।

फिशर की परिभाषा का औचित्य—यदि हमारा उद्देश्य यह है कि विभिन्न वर्षो से स म्बित समाज के आर्थिक कल्याण की तुलना करें और इसके लिए हम एक भौतिक सूचक (objec

index) को ढूँढना चाहते है, तो सब व्यावहारिक कठिनाइयों के रहते हुए भी फिशर का दृष्टि-कोण सर्वोत्तम रहेगा। ठीक, इसी प्रकार, यदि हम यह जानने का प्रयत्न कर रहे है कि एक समय अवधि में कोई देश युद्ध के संचालन के लिए कितनी व्यवस्था कर सकता है, तो भी फिशर का दृष्टिकोण ही अधिक लाभदायक रहेगा, क्योंकि यहाँ पर हम यह जानना चाहते है कि वह कितनी मात्रा है जो, इस बात की चिन्ता किये बिना कि पूँजी के स्टॉक की वृद्धि होती है अथवा उसका ह्रास, भींच (squeeze) कर निकाली जा सकती है तथा उपभोग की जा सकती है।[1]

पीगू और मार्शल की परिभाषाओं की उपयुक्तता—किन्तु यदि हम साधारण शान्तिकालीन स्थिति को लेते हैं और इस काल से सम्बन्धित आर्थिक कल्याण को प्रभावित करने वाले कारणों पर विचार करते है, तो राष्ट्रीय लाभांश के बारे मे मार्शल और पीगू के दृष्टिकोण को ग्रहण करना अधिक उपयुक्त होगा। ऐसी दशाओं मे हमे उद्योग की उत्पादन-क्षमता पर पड़ने वाले पूँजी-क्षरण (capital depletion) के दीर्घकालीन प्रभाव का भी अध्ययन करना पड़ेगा और यह भी देखना पड़ेगा कि इस क्षरण द्वारा हमारी आवश्यकता तृप्ति किस अंश तक प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित होती है। पीगू ने ठीक ही कहा है कि "....... आर्थिक कारणो तथा आर्थिक कल्याण का सम्बन्ध कुल उपभोग द्वारा स्थापित किया जाता है, न कि तुरन्त उपभोग द्वारा। इसलिए मार्शल द्वारा दी गई राष्ट्रीय लाभांश की परिभाषा फिशर की तुलना मे कुल मिलाकर अधिक लाभदायक है।"[2] यदि पूँजी की मात्रा बढती है, तो इससे भविष्य मे अधिक उपभोग सम्भव हो जाता है, और, इसके विपरीत, यदि पूँजी की मात्रा घटती है, तो इससे भविष्य मे उपभोग के घटने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। जिस चीज को फिशर ने 'राष्ट्रीय आय' (National Income) कहा है उसे पीगू के अनुसार 'उपभोग-वस्तुओ की राष्ट्रीय आय' अथवा संक्षेप मे 'उपभोग आय' (Consumption Income) कहना अधिक उपयुक्त होगा।

आधुनिक अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय आय का विचार

किसी देश की कुल उत्पत्ति का मूल्यांकन करने तथा उसे सूचित करने की अनेक रीतियाँ हैं। इस कारण आर्थिक साहित्य मे राष्ट्रीय आय के अनेक विचार प्रचलित हैं। इनमे से दो प्रमुख विचारो—सकल राष्ट्रीय उपज और विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की हम व्याख्या करने का प्रयत्न करेंगे।

(I) सकल राष्ट्रीय उपज (The Gross National Product or GNP)—

एक वर्ष मे जितनी वस्तुओ और सेवाओं का किसी देश मे उत्पादन होता है उनके कुल मौद्रिक मूल्य को 'सकल राष्ट्रीय उपज' (GNP) कहा जाता है। इसे हम गणितीय चिन्हों द्वारा व्यक्त कर सकते है। मान लीजिए कि किसी देश मे गेहूँ की X, चावल की Y, कोयले की Z ··· इकाइयाँ उत्पन्न की जाती हैं और उस एक वर्ष मे उनकी कीमतें क्रमश: A, B, C,.... प्रति इकाई हैं। ऐसी दशा मे वर्ष विशेष की शुद्ध सकल उपज (GNP) $=AX+BY+CZ+\ldots\ldots$ इत्यादि (इस श्रेणी मे देश मे वर्ष विशेष मे उत्पन्न सभी वस्तुये और सेवाये सम्मिलित होंगी)। मान लीजिए कि उपज की मात्राओ और उनकी कीमतो का अध्ययन सन् १९६९ से सम्बन्धित है, तो उपरोक्त मात्राओ का जोड़ **'सन् १९६९ की बाजार कीमतों पर सकल राष्ट्रीय उपज'**

---

1 **Gilbert and Jassi**: *Readings in the Theory of Income Distribution* pp. 47-48.

2 "... ....it is through total consumption and not through immediate consumption, that economic welfare and economic causes are linked together. Consequently, Marshall's definition of the national dividend, is likely, on the whole, to prove more useful than in the other (Fisher's definition)"—A C. Pigou : *Economics of Welfare*, p. 30.

कहलायेगा। ठीक इसी प्रकार, हम सन १९६८ की सकल राष्ट्रीय उपज सन् १९६८ की बाजार कीमतों पर ज्ञात कर सकते है। यहाँ तक कि हम सन् १९६८ की बाजार कीमतो पर सन् १९६६ की सकल राष्ट्रीय उपज भी ज्ञात कर सकते हैं और इसी प्रकार किसी भी वर्ष की बाजार-कीमतों पर किसी भी वर्ष की सकल राष्ट्रीय उपज ज्ञात की जा सकती है। तुलना के उद्देश्य से हम किसी एक दिये हुए वर्ष की बाजार कीमतों के आधार पर बहुत से वर्षों की सकल राष्ट्रीय उपज का पता लगा सकते हैं। निर्देशांको (Index Numbers) की सहायता से हम एक वर्ष विशेष की बाजार कीमतो पर ज्ञात की गई किसी भी वर्ष की सकल राष्ट्रीय उपज की किसी अन्य वर्ष की बाजार कीमतो पर सकल राष्ट्रीय उपज मे बदल सकते है।

बाजार कीमतों के अतिरिक्त सकल राष्ट्रीय उपज साधन कीमतों (Factor prices) पर भी ज्ञात की जा सकती है। उपज के बाजार मूल्य मे सरकार को चुकाये हुए परोक्ष कर भी सम्मिलित होते है। उदाहरणस्वरूप यदि एक किलोग्राम चाय का उत्पादन व्यय ८ रुपया है और उस पर ३ रुपया प्रति किलोग्राम उत्पादन कर है तो चाय की बाजार कीमत ११ रुपये प्रति किलोग्राम होगी। इससे हमे निम्न लाभदायक समीकरण प्राप्त होता है बाजार कीमत पर सकल राष्ट्रीय उपज=कुल उत्पादन व्यय+परोक्ष कर। सकल राष्ट्रीय उपज का कुल उत्पादन व्यय ज्ञात करने के लिए हमे बाजार कीमत पर सकल राष्ट्रीय उपज मे से परोक्ष करो को घटाना होगा। इससे एक दूसरा समीकरण प्राप्त होता है कुल उत्पादन व्यय=बाजार की कीमतों पर सकल राष्ट्रीय उपज—परोक्ष कर। बाजार कीमतो पर सकल राष्ट्रीय उपज तथा परोक्ष करों का अन्तर **'साधन कीमतो पर सकल राष्ट्रीय उपज'** कहलाता है। यह कुल उत्पादन व्यय अथवा सकल राष्ट्रीय उपज को उत्पन्न करने वाले साधनो को दिए हुए पारितोषण के बराबर होती है।

(II) शुद्ध राष्ट्रीय उपज (The Net National Product or NNP)—

उत्पादन कार्य मे हम पूँजीगत माल का भी उपयोग करते है जिसमे घिसावट और टूट-फूट होती रहती है और जो धीरे-धीरे पुराना पड़ता जाता है। दोनो ही दशाओ मे इन सामानों को बदलने की आवश्यकता पड़ती है। स्पष्ट है कि सकल राष्ट्रीय उपज के एक भाग का उपयोग इन सामानो को बदलने के लिए किया जायेगा और यह भाग न तो उपभोग के लिए उपलब्ध होगा और न विनियोग के लिए। यदि हम सकल राष्ट्रीय उपज में से इस बदले के व्यय को निकाल दें, तो शेष शुद्ध राष्ट्रीय उपज (NNP) कहलायेगी। बदली के लिए की गई कटौती को क्षरण (Depreciation) कहा जाता है और इस प्रकार शुद्ध राष्ट्रीय उपज=सकल राष्ट्रीय उपज क्षरण (NNP=GNP—Depreciation)। सकल राष्ट्रीय उपज की भांति शुद्ध राष्ट्रीय उपज की गणना भी या तो बाजार कीमतो पर की जा सकती है या साधन कीमतों पर। बहुधा ऐसा कहा जाता है कि सकल राष्ट्रीय उपज की तुलना मे शुद्ध राष्ट्रीय उपज का विचार अधिक लाभदायक है। बहुत से लेखको ने शुद्ध राष्ट्रीय उपज को राष्ट्रीय आय का ही पर्यायवाची कहा है। किन्तु शुद्ध राष्ट्रीय उपज की गणना मे सावधानी की आवश्यकता है। विशेष रूप से निम्न दो बातो को ध्यान मे रखना आवश्यक है:—

(१) देश का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—जहाँ तक देश के निर्यातो का प्रश्न है, वे देश की आय का ही एक भाग होते हैं, क्योकि उनकी कीमत विदेशी चुकाते हैं। किन्तु देश के आयातो की कीमत देशवासी चुकाते है, जिस कारण देश की आय मे से उनकी कीमत घटाना आवश्यक होगा। अच्छा यह होगा कि देश के निर्यातो की कीमत मे से आयातो की कीमत घटा दी जाये और शेष को, यदि वह धनात्मक है, तो राष्ट्रीय आय मे जोड दिया जाये और यदि वह ऋणात्मक है, तो राष्ट्रीय आय मे से घटा दिया जाये। सेवाओ के निर्यात-आयात (अदृश्य आयात-निर्यात) के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही किया जाना चाहिए और यही नीति विदेशी ऋणो के ब्याज तथा विदेशी विनियोगो के

लाभों के विषय में अपनाई जानी चाहिए। इस प्रकार, देश की शुद्ध राष्ट्रीय आय की गणना के लिए देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शुद्ध शेष (Net Balance) को गिनना चाहिए।

(२) **देश की सरकार द्वारा करारोपण तथा व्यय**—सरकारी उपक्रमों द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुएँ और सेवाएँ (यदि वे वस्तुएँ हैं और तुरन्त उपयोग के लिए उपलब्ध हैं) सकल तथा शुद्ध राष्ट्रीय उपज में जोड़ी जानी चाहिए। यदि ये वस्तुएँ कच्चे मालों या अर्ध निर्मित मालों के रूप में हैं, तो इन्हें सम्मिलित करना चाहिए, क्योंकि उनकी कीमत अपने आप ही तैयार मालों की कीमत में जुड़ जायेगी। किन्तु सरकार अपने कर्मचारियों के वेतन पर जो कुछ व्यय करती है उसे सकल तथा शुद्ध दोनों प्रकार की राष्ट्रीय उपज में सम्मिलित किया जायेगा, क्योंकि सरकारी कर्मचारियों के वेतन उन सेवाओं का ही एक भाग होते हैं जो वर्ष भर में देश में उत्पन्न की गई हैं।

अधिकांश सरकारी गणनाओं में शुद्ध राष्ट्रीय उपज (NNP) को ही राष्ट्रीय आय के समान मान लिया जाता है, किन्तु बहुत से देश तथा बहुत से अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय को सकल राष्ट्रीय उपज (GNP) के अर्थ में लेते हैं।

कुज्नेस (Kuznets) के अनुसार, राष्ट्रीय 'आय देश का सारांश तथा मूल्यांकन है, यह कोई विवेचनात्मक तथ्य नहीं है।" उन्होंने आगे कहा है कि "राष्ट्रीय आय देश की आर्थिक क्रिया की अन्तिम उपज है जो आर्थिक शक्तियों के सामूहिक कार्यवाहन को दिखाती है और जिसके द्वारा प्रचलित आर्थिक संगठन का उसके प्रतिफल के रूप में मूल्यांकन किया जाता है।"[1]

अपनी प्रथम रिपोर्ट में **भारतीय राष्ट्रीय आय समिति** (National Income Committee of India) ने राष्ट्रीय आय की निम्न परिभाषा की है: "एक राष्ट्रीय-आय-अनुमान वस्तुओं और सेवाओं की उस मात्रा का माप है कि एक निश्चित काल में उत्पन्न की जाती है जबकि हम किसी भी वस्तु अथवा सेवा को एक से अधिक बार न गिनें।" एक अन्य स्थान पर इसी समिति ने कहा है कि "राष्ट्रीय-आय-अनुमान अथवा किसी देश की अर्थ व्यवस्था की कुल शुद्ध उपज की माप है। यद्यपि अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण अन्तर हो सकते हैं, परन्तु परिमाणात्मक माप के लिए सभी आर्थिक क्रियाओं का मूल्यांकन एक यथास्थिर आधार पर किया जाता है। यह माप हमें बताता है कि विभिन्न साधनों ने कितना उत्पादन, कितना वितरण और कितना उपभोग किया है, और वे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित होते हैं जिसमें न कुछ छोड़ा जाता है और न कुछ दोबारा गिना जाता है।"[2]

संयुक्त राष्ट्रीय संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तिका "National Income Statistics of Various countries" में राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में कई बातें बताई गई हैं कि राष्ट्रीय आय की कल्पना निम्नलिखित रूपों में की जा सकती है :—

(१) **शुद्ध राष्ट्रीय उपज** (NNP) अर्थात् आर्थिक क्रिया की सभी शाखाओं में एक विशेष अवधि के भीतर उत्पन्न की गई वस्तुओं और सेवाओं के शुद्ध उत्पादन की कीमत तथा उसी अवधि में विदेशों में प्राप्त शुद्ध आय के जोड़ के रूप में।

(२) **वितरक हिस्सों के योग**, अर्थात् एक निश्चित काल में उत्पत्ति के साधनों को प्राप्त होने वाले भुगतानों अर्थात् मजदूरी, वेतन, लाभ, ब्याज, लगान आदि के जोड़ के रूप में होने हैं, और

---

1 Kuznets : *Readings in the Theory of Income Distribution*, p. 3.

2 National Income Committee of India : *First Report* (April 1959), p. 9.

(३) शुद्ध राष्ट्रीय व्यय अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं के अन्तिम उपभोग पर किये गये व्ययों तथा शुद्ध देशी और विदेशी विनियोगों के जोड़ के रूप में।''[1]

भारतीय राष्ट्रीय आय समिति ने राष्ट्रीय आय के निम्न चार अङ्ग बनाये हैं :—(अ) कृषि जिसमें पशुपालन वन उद्योग तथा मत्स्य उद्योग भी सम्मिलित हैं। (ब) खनिज, निर्माण तथा हस्तकला उद्योग, जिसमें खनिज और फैक्ट्री कार्यालय तथा छोटे उद्योग सम्मिलित हैं। (स) वाणिज्य सचार एव परिवहन जिसमें सचार (डाक तार तथा टेलीफोन) रेलें, सगठित बैंकिंग और बीमा तथा अन्य वाणिज्य और परिवहन भी सम्मिलित है (देशी बैंकरों की सेवाओं को जोड़ते हुए)। (द) अन्य सेवायें, जिनमें व्यवसाय, उदार कलायें सरकारी नौकरी, घरेलू नौकरी तथा गृह सम्पत्ति भी सम्मिलित हैं।

राष्ट्रीय आय की गणना
(The Calculation of National Income)

राष्ट्रीय आय को नापने की तीन विधियाँ हैं —

(1) वस्तु सेवा प्रणाली—

इस प्रणाली में देश में एक वर्ष में उत्पन्न वस्तुओं और सेवाओं का शुद्ध मूल्य ज्ञात किया जाता है और फिर उसे जोड़ लिया जाता है। इस प्रकार जो योग प्राप्त होता है उसे अन्तिम उपज योग (Final Ptoducts Total) कहा जाता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के मूल्यों को प्राप्त करने के लिए हम देश के उत्पादन और व्यापार के आँकड़ों को ले सकते हैं आधुनिक युग में इस प्रकार के आँकड़े लगभग सभी देश एकत्रित करते हैं। किन्तु अन्तिम उपज योग की गणना करते समय निम्न सावधानियाँ आवश्यक होती हैं —

(१) हमें केवल उस अन्तिम उपज को लेना चाहिए जो उपभोग के लिए तुरन्त उपलब्ध है। इसमें कच्चे मालों, अर्ध-निर्मित वस्तुओं तथा बीच के सामानों (Intermediate goods) का मूल्य नहीं जोड़ना चाहिये, क्योंकि यह मूल्य तो अन्तिम उपजों की कीमत में सम्मिलित होता है। ऐसा करने से एक ही मूल्य को दो बार गिन लेने की सम्भावना नहीं रहेगी। एक उदाहरण से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जायेगी। मान लीजिए कि एक ऐसी फर्म है, जो वर्ष में ५०,००० रुपये की कीमत का फर्नीचर तैयार करती है। मान लीजिये कि वह इसके लिए ४०,००० रुपये की कीमत की लकड़ी तथा अन्य कच्चे माल उपयोग करती है। ऐसी दशा में फर्म की उपज का शुद्ध मूल्य ५०,०००—४०,०००=१०,००० रुपये होगा और इसी मूल्य को राष्ट्रीय आय के आँकड़ों में जोड़ा जायगा। जहाँ तक कच्चे मालों के मूल्य का प्रश्न है उनमें से प्रत्येक किसी न किसी उद्योग की अन्तिम उपज होगा और उसका मूल्य उन उद्योगों की अन्तिम उपज के मूल्य के रूप में राष्ट्रीय आय में सम्मिलित हो जायेगा। इस प्रकार, राष्ट्रीय आय की गणना में प्रत्येक उद्योग की अन्तिम उपज का केवल शुद्ध मूल्य ही लेना चाहिए, क्योंकि, यदि हम सकल मूल्य को लेते हैं, तो एक ही कच्चे माल का मूल्य दो बार गिन लिया जायेगा। किसी फर्म की उपज का शुद्ध मूल्य=उस फर्म की उपज का कुल-मूल्य – फर्म द्वारा उपयोग किये हुए सामानों का मूल्य। इसे हम 'फर्म द्वारा जोड़ा हुआ मूल्य' (value added by the firm) भी कह सकते हैं।

(२) इस प्रणाली से राष्ट्रीय आय की गणना करने में उन नये पूँजी आदेयों का मूल्य भी सम्मिलित होगा जो काल विशेष में उत्पन्न हुए हैं। यद्यपि इन आदेयों (Assets) का उपयोग

---

1 United Nations : *National Income Statistics of Various Countries* (1938—48), p. 8.

आगे के वर्षो मे भी होगा, तथापि, क्योंकि ये आदेय बिक्री साध्य है इसलिये इनके मूल्य को सम्मिलित करना आवश्यक है।

(३) **आन्तरिक उपज की कीमत मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का शुद्ध शेष भी जोड़ा जाना चाहिए।** इस प्रकार की शेष धनात्मक अथवा ऋणात्मक हो सकती है, जो इस पर निर्भर है कि आयातो का मूल्य अधिक है अथवा निर्यातो का।

(४) **घिसावट तथा व्यय प्लांट और मशीनों को बदलने** का व्यय घटाया जाना चाहिए।

(II) प्राप्त आय गणना प्रणाली—

इस प्रणाली द्वारा राष्ट्रीय आय ज्ञात करने के लिए हम व्यक्तियो तथा व्यावसायिक फर्मो को वर्ष भर मे प्राप्त आय का योग ज्ञात करते है। यहाँ पर भी एक ही आय को दो बार नही गिनना चाहिये। इस प्रकार प्राप्त शुद्ध आयो का योग साधन भुगतान योग (Factor Payments Total) कहलाता है। इसके लिए दो प्रकार के आँकड़े प्राप्त किये जाते है :—(अ) ऊँची आय-वर्ग के लोगो की आय के आँकड़े, जो आय-कर विभाग से प्राप्त हो जाते है और (ब) निम्न आय वर्गों की आय के आंकड़े, जो जन-गणना रिपोर्टों तथा व्यावसायिक वर्गों की आय के अध्ययन की विशेष रिपोर्टों से प्राप्त किये जाते है।

यदि हम प्राप्त आय के योग (अर्थात् साधन भुगतान योग) मे केवल उन आयों को सम्मिलित करें जो कि उपज का उत्पादन करके प्राप्त की जाती है, तो यह योग शुद्ध उपज के मौद्रिक मूल्य (अन्तिम उपज योग) के बराबर होगा, कारण स्पष्ट ही है। चूँकि किसी उपज का कुल मूल्य=कुल लगान+कुल मजदूरी+कुल ब्याज+कुल लाभ=उत्पत्ति के साधनो को कुल भुगतान, इसलिये हम यह कह सकते है कि राष्ट्रीय उपज का कुल मूल्य=उत्पत्ति के साधनो का कुल आय।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, साधन-भुगतान-योग ज्ञात करने के लिये आवश्यक आँकड़े सरकारी रिपोर्टों, जनगणना रिपोर्टों, आय-कर-विवरणों तथा फर्मों और व्यवसायो की रिपोर्टों से प्राप्त किये जा सकते हैं। ये सूचनाएँ निम्न से सम्बन्धित होती है :—(क) सभी कर्मचारियो द्वारा प्राप्त मजदूरियो और भत्तो तथा ऐसे व्यक्तियो की कमाई जो स्वयं अपने ही व्यवसाय में कार्य करते हैं, (ख) सभी व्यवसायो, उद्योगो और उपक्रमो की शुद्ध आय, (ग) सभी प्रकार के ऋणो पर शुद्ध ब्याज तथा (घ) शुद्ध लगान और अधिकार शुल्क (Royalties)।

सावधानियाँ—सही योग निकालने तथा एक ही तथ्य को दो बार गिनने की सम्भावना रोकने के लिये व्यवहार मे कुछ प्रकार की सावधानियाँ आवश्यक होती है जिनमे से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार है :—

(१) **किसी दशा में हस्तान्तरण भुगतानों को आय में सम्मिलित नहीं करना चाहिए।** उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति अपनी कार अथवा अपने मकान को बेचता है तो उसके द्वारा प्राप्त आय केवल *हस्तान्तरण भुगतान है जिससे राष्ट्रीय आय मे कोई भी वृद्धि नही होती है।* ठीक इसी प्रकार वह आय भी, जो किसी प्रकार का उत्पादन किए बिना प्राप्त की गई है (जैसे भीख अथवा दान से आय निवारण भुगतान वृत्तिहीनता निवारण भुगतान, वृद्धावस्था उत्तर-वेतन आदि) राष्ट्रीय आय मे नही जोडी जानी चाहिए। राष्ट्रीय आय मे केवल उसी भुगतान को सम्मिलित करना चाहिए जो किसी वस्तु अथवा सेवा के उत्पादन मे सम्बन्धित हो। इसका स्वरूप उत्पत्ति के साधन **द्वारा उत्पादन में योग देने के लिए व्यय-भुगतान'** होना चाहिये।

(२) **जो उत्पत्ति साधन सेवायोजक द्वारा अपने पास ही लगाये जाते हैं, उनकी कीमत ऐसे साधनों की बाजार कीमत पर निकाल कर राष्ट्रीय आय में जोड़नी चाहिए,** क्योंकि यह

निश्चय है कि ये साधन किसी वस्तु के उत्पादन व्यय में सम्मिलित होते हैं, इसलिए इनकी कीमत भी राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं होनी चाहिए।

(३) चूँकि ऐसे साधनों की जिनके लिए मौद्रिक भुगतान नहीं किये जाते हैं, कीमत मुद्रा में ज्ञात नहीं की जा सकती है उन्हें सुविधा तथा माप की निश्चितता दोनों की ही दृष्टि से राष्ट्रीय आय में नहीं जोड़ना चाहिए।

(४) अवितरित तथा लाभांशों की कीमत भी राष्ट्रीय आय में जोड़ी जानी चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के भुगतान भी माल विशेष में उत्पादित आय का ही एक अंग होते हैं।

(III) उपभोग बचत प्रणाली—

इस प्रणाली को कभी-कभी 'उपभोग विनियोग प्रणाली' भी कहा जाता है। इस प्रणाली की मान्यता यह है कि कुल आय या तो उपभोग पर व्यय होनी है या बचत पर, और इसलिये समाज की कुल आय = समाज का कुल उपभोग व्यय + समाज की कुल बचत। किसी काल विशेष में कुल उपभोग की कीमत तथा कुल बचत कीमत दोनों मिलकर समाज की उस काल की कुल आय के बराबर होते हैं। इस प्रणाली को उपभोग-विनियोग प्रणाली इस कारण कहा जाता है कि अन्तिम दशा में बचत = विनियोग।

तीनों प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन—

विभिन्न प्रणालियों की पूरकता—उपभोग-बचत-प्रणाली के प्रयोग में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां हैं क्योंकि उपभोग-व्यय के आँकड़े कठिनाई से प्राप्त होते हैं किन्तु अन्य दो प्रणालियों से सम्बन्धित आँकड़े अधिक आसानी से प्राप्त हो जाते हैं। इसी कारण इन प्रणालियों का उपभोग अधिक प्रचलित है। किन्तु चाहे हम किसी भी प्रणाली का उपभोग क्यों न करें, यदि हम उसका उपयोग सावधानीपूर्वक करते हैं तो परिणाम एक-सा ही रहता है। सच तो यह है कि एक प्रणाली द्वारा प्राप्त अनुमानों की जाँच दूसरी प्रणाली की सहायता से की जा सकती है। उदाहरणार्थ, जब हमें उपभोग व्यय तथा बचत अथवा विनियोग व्यय आँकड़े भी स्वतन्त्र रूप में प्राप्त हो, तो उनमें हम अन्य दो प्रणालियों के निष्कर्षों की जाँच कर सकते हैं। किन्तु आँकड़े साधारणतया इस प्रकार उपलब्ध नहीं होते हैं और अधिकांश दशाओं में हमें ऐसे आँकड़े उत्पादन तथा आय के आँकड़ों से ही प्राप्त (deduce) करने पड़ते हैं।

वास्तव में राष्ट्रीय आय पर विचार करने की दो रीतियां हैं। राष्ट्रीय आय की कल्पना किसी देश में, किसी काल में (अ) या तो वस्तुओं और सेवाओं के प्रवाह के रूप में की जा सकती है या (ब) आय अथवा उत्पत्ति के साधनों के भुगतानों के प्रवाह के रूप में प्रथम दृष्टिकोण के आधार पर राष्ट्रीय आय की गणना को कभी-कभी उत्पादन गणना प्रणाली (Census of Production Method) कहा जाता है, जबकि दूसरे दृष्टिकोण से सम्बन्धित प्रणाली आय गणना प्रणाली (Census of Incomes Method) कहलाती है। दोनों ही प्रणालियों से, यदि उपयोग में सावधानी रखी जाती है, समान निष्कर्ष ही प्राप्त होता है। आजकल प्रचलित व्यवहार यह है कि दोनों ही प्रणालियों से, एक ही साथ उपयोग किया जाता है। अर्थ-व्यवस्था के कुछ अंगों (जैसे खनिज तथा कृषि) में, जहाँ उपज का मूल्य ज्ञात करना सरल किन्तु उत्पत्ति के साधनों की आय का अनुमान लगाना कठिन होता है राष्ट्रीय आय की उत्पादन गणना प्रणाली सहायता से ली जाती है। किन्तु अर्थ-व्यवस्था के उन अंगों (जैसे व्यवसाय) में, जिनके साधनों की आय की गणना अधिक सरल होती है, उपज की कीमत साधनों की आय के आधार पर ज्ञात की जाती है।

राष्ट्रीय आय की गणना में कठिनाइयां—

उपरोक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट ही होता है कि राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना कठिन होता है। इन कठिनाइयों को निम्न दो बड़े वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(I) वैचारिक

प्रत्येक का अलग-अलग अध्ययन अधिक उपयुक्त होगा। इस दृष्टि से हम निम्न प्रकार का अध्ययन करेंगे—

(I) राष्ट्रीय लाभांश के आकार के परिवर्तन और आर्थिक कल्याण—

समस्या यह है कि यदि राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा मे परिवर्तन होता है, तो इसका आर्थिक कल्याण पर क्या प्रभाव पडेगा ? आर्थिक कल्याण की कमी अथवा वृद्धि लाभाश की मात्रा की कमी अथवा वृद्धि द्वारा ही होती है और इसी कारण दोनो के पारस्परिक अध्ययन का महत्त्व अधिक है ।

राष्ट्रीय लाभांशों की वृद्धि से आर्थिक कल्याण में वृद्धि किस प्रकार ? पीगू के अनुसार, यदि गरीबों को प्राप्त होने वाले लाभाश मे कोई कमी नही आती है, तो राष्ट्रीय लाभाश की वृद्धि, यदि ऐसी वृद्धि अकेले मे बिना किसी अन्य प्रकार का परिवर्तन घटित होती है आर्थिक कल्याण को भी अवश्य बढायेगी ।[1] यहाँ पर पीगू का विचार है कि साधारणतया राष्ट्रीय लाभाश की वृद्धि आर्थिक कल्याण मे भी वृद्धि कर देती है बशर्ते एक ओर तो लाभाश मे से गरीबो को मिलने वाले भाग मे कमी न हो और दूसरी ओर अन्य बातों (जैसे—रुचियों, उपभोग, वितरण आदि की स्थिति) मे परिवर्तन न हो। यदि राष्ट्रीय लाभाश की वृद्धि इस प्रकार होती है कि धनिको के प्रयोग मे आने वाली वस्तुओ की मात्रा तो बढ जाती है किन्तु गरीबो के उपयोग मे आने वाली वस्तुओं की मात्रा घट जाती है, तो इस वृद्धि का आर्थिक कल्याण पर शुद्ध प्रभाव हानिकारक ही पडेगा। इस प्रकार, आर्थिक कल्याण की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय लाभाश मे से गरीबो को मिलने वाले भाग मे कमी न आये। **किन्तु निम्नलिखित दशाओ में गरीबो का भाग कम न होने पर भी आर्थिक कल्याण में वृद्धि न होगी :—**

(१) यह सम्भव है कि राष्ट्रीय लाभांश की वृद्धि ऐसे कारणो से हो, जो आर्थिक कल्याण मे कमी उत्पन्न करते हों। उदाहरणस्वरूप, यह सम्भव है कि लाभांश की वृद्धि कार्य के घण्टे बढा कर की गई हो, जिससे आर्थिक कल्याण स्वयं ही घट जायेगा।

(२) लाभांश की वृद्धि के फलस्वरूप उपभोग मे (और इस प्रकार रुचियो मे) परिवर्तन अनुकूल दिशा मे होना चाहिए, तब ही आर्थिक कल्याण बढ़ेगा अन्यथा नही। रुचियो के परिवर्तन लाभांश की मात्रा के साथ-साथ ही सम्पन्न हो जाते हैं। किन्तु किसी वस्तु के प्रति रुचि बढने का सामान्य प्रभाव यह होता है कि किसी अन्य वस्तु के प्रति रुचि कम हो जाय। उदाहरणस्वरूप, ऊनी कपडो के लिए रुचि बढने का परिणाम यह हो सकता है कि सूती कपड़ो के लिए रुचि घट जाय। नई रुचियों के लिए जो व्यवस्था की जाती है उससे यदि पुरानी रुचियो की व्यवस्था की तुलना मे अधिक संतोष मिलता है, तो लाभाश मे नई मदो के सम्मिलित हो जाने का परिणाम अधिक कल्याण मे वृद्धि होगा।

(३) दीर्घकाल मे यह सम्भव है कि जब नई रुचियो मे स्थिरता आ जाये, तो उनसे प्राप्त होने वाला अतिरिक्त सन्तोष भी समाप्त हो जाये। दशाओ के बदलने ही लोगो की रुचियों, आदतो और आशाओ मे भी परिवर्तन हो जायेंगे।

(४) जब आर्थिक कल्याण का स्तर पहले से ही बहुत ऊँचा है, तो राष्ट्रीय लाभांश मे हुई वृद्धि से आर्थिक कल्याण मे कुछ भी वृद्धि न होगी। परन्तु यह वास्तव मे केवल सैद्धान्तिक संभावना

---

1 "It is evident that provided the dividend accruing to the poor is not diminished increases in the size of the national dividend, if they occur in isolation without anything else whatever happening, must involve increases in economic welfare."—A. C. Pigou : *Economics of Walfare*, p. 82.

है। व्यावहारिक स्थिति यह है कि अधिकांश देशों में राष्ट्रीय आय इतनी ऊँची नहीं है, जिस कारण इसके बटने में आर्थिक कल्याण में कुछ न कुछ वृद्धि अवश्य हो जाती है।

(५) यह सम्भव है कि लाभांश की वृद्धि लोगों द्वारा अपेक्षाकृत अधिक कार्य करने के फलस्वरूप हुई हो और इस प्रकार लाभांश को उत्पन्न करने से सम्बन्धित असन्तोष उसके उपयोग से प्राप्त सन्तोष से अधिक हो। परन्तु प्रत्येक दशा में अधिक कार्य करने का यह अर्थ सन्तोष की अपेक्षा असन्तोष अधिक होना नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि यह अतिरिक्त कार्य नये आविष्कारों से किया जाता है (जिससे रोजगार की अधिक लाभदायक सुविधाएँ उत्पन्न होती हैं) अथवा यदि अतिरिक्त कार्य के लिए अतिरिक्त पुरस्कार दिया जाता है अथवा यदि अतिरिक्त कार्य इस कारण से सम्भव हुआ है कि सेवायोजकों और श्रमिकों के मध्य झगड़े कम हो गए हैं, तो असन्तोष के अधिक होने की सम्भावना नहीं रहती है। किन्तु यह सम्भव है कि अतिरिक्त कार्य इनसे अतिरिक्त अन्य प्रकार लिया जाय। उदाहरणार्थ, यदि नियम द्वारा काम के घण्टे बढ़ा दिये जाते हैं, तो इससे राष्ट्रीय लाभांश का आकार तो बढ़ जायेगा परन्तु साथ ही आर्थिक कल्याण घट जायेगा।

ये ऐसे अपवाद हैं कि वास्तविक जीवन में इनका महत्त्व बहुत ही कम होता है। साधारणतया जो कारण राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि करते हैं वे साथ ही साथ आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि करते हैं।

(II) राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन और आर्थिक कल्याण—

राष्ट्रीय लाभांश के वितरण के परिवर्तन का अर्थ यह होता है कि धनिकों तथा गरीबों की तुलनात्मक आयों में परिवर्तन हो जाय। यदि आय का धनिकों से गरीबों को हस्तान्तरण हो जाय, तो उस अनुपात में भी, जिसमें विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति की जाती है, परिवर्तन हो जायेगा। उदाहरणस्वरूप, मदिरा के स्थान पर अधिक रोटी का उपभोग होने लगेगा। इस प्रकार, जब आय का वितरण गरीबों के पक्ष में होता है तो इसका अर्थ यह होता है कि गरीबों को अपनी आवश्यक वस्तुएँ अधिक मात्रा में प्राप्त होने लगी हैं और इसके विपरीत, धनिकों को उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ कम मात्रा में मिलने लगी हैं।

निर्धनों के पक्ष में वितरण होने की रीतियाँ—राष्ट्रीय लाभांश का वितरण निर्धनों के पक्ष में निम्न प्रकार से हो सकता है —(१) धनिकों से गरीबों को क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण हो सकता है। (२) ऐसा तब भी हो सकता है जबकि उन वस्तुओं के उत्पादन की विधियों में जिनका उपभोग साधारणतया गरीबों द्वारा किया जाता है, सुधार हो जाय तथा ऐसी वस्तुओं की उत्पादन विधियों में, जिनका उपभोग साधारणतया धनी लोग करते हैं, बिगाड़ हो जाय। (३) यह भी हो सकता है कि राज्य द्वारा धनिकों को उन वस्तुओं के लिए अपनी माँग घटाने पर बाध्य किया जाय जो गरीबों के लिए अधिक महत्वपूर्ण है और इस प्रकार माँग के घटने से इन वस्तुओं की कीमत में कमी आ जाय।

किन्तु राष्ट्रीय लाभांश में गरीबों का हिस्सा बढ़ाने का सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय यह है कि क्रय-शक्ति अथवा उत्पादक साधनों का धनिकों से गरीबों को हस्तान्तरण कर दिया जाय।

राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन होने का प्रभाव—किसी निश्चित काल में एक व्यक्ति का आर्थिक कल्याण आय की उस मात्रा पर निर्भर होता है जिसका वह उपभोग करता है, न कि उस मात्रा पर जो उसे प्राप्त होती है। कोई व्यक्ति जितना ही अधिक धनी होता है उतना ही वह अपनी आय के कम प्रतिशत का उपभोग करता है। यदि एक धनी व्यक्ति की कुल आय निर्धन व्यक्ति की कुल आय का २० गुना है तो शायद उसकी उपभोग की हुई आय निर्धन व्यक्ति की उपभोग की हुई आय का ५-१० गुनी ही होगी।

किन्तु जैसा कि पीगू ने कहा है, "यह निश्चय है कि अपेक्षतन धनी व्यक्ति से अपेक्षतन

निर्धन व्यक्ति को आय का हस्तान्तरण, यदि दोनों का स्वभाव एक-सा है, कुल आर्थिक कल्याण को बढ़ा देगा, क्योंकि इनके कारण कम आग्रहपूर्ण आवश्यकताओं के स्थान पर अधिक आग्रहपूर्ण आवश्यकतायें सन्तुष्ट होने लगती है। ..... कोई भी कारण जो निर्धन व्यक्तियों को प्राप्त होने वाले वास्तविक आय के निरपेक्ष भाग को बढ़ा देता है, बशर्ते कुल राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा में किसी भी दृष्टि से कमी न आवे, वह साधारणतया आर्थिक कल्याण में वृद्धि करेगा।"[1] धनिकों से निर्धनों को साधनों के हस्तान्तरण के फलस्वरूप धनिकों को आर्थिक कल्याण की जो हानि होती है वह आर्थिक कल्याण के उस लाभ में कम रहती है जो कि निर्धनों को प्राप्त होता है। क्रमगत उपयोगिता ह्रास नियम की सहायता से यह बात भली-भाँति समझाई जा सकती है।

साधारणतया तो उपरोक्त कथन सही है, परन्तु निम्न दशाओं में यह सही नहीं है—(१) यदि धनी और निर्धन दोनों अलग-अलग जातियों के लोग हैं जिस कारण धनी एक निश्चित आय से सदा ही निर्धनों की तुलना में अधिक सन्तोष प्राप्त कर सकते हैं। ( ) यदि अपने प्रशिक्षण तथा पालन-पोषण के कारण धनी एक निश्चित आय से निर्धन को तुलना में अधिक सन्तोष प्राप्त कर सकता है।

(III) राष्ट्रीय लाभांश की रचना के परिवर्तन और आर्थिक कल्याण—

उपभोग अथवा उपयोग की दृष्टि से राष्ट्रीय लाभांश की विभिन्न मदों को दो बड़े भागों में बाँटा जा सकता है—(१) वे मदें, जिनकी उपभोग के लिये सीधी आवश्यकता होती है, जैसे—(क) आवश्यक, आरामदायक अथवा विलास की वस्तुयें (ख) निजी रूप से प्रदान की गई सेवायें और (ग) सरकार द्वारा उपभोक्ताओं को प्रदान की गई सेवायें, तथा (२) वे वस्तुएँ, जिनकी आवश्यकता परोक्ष उपभोग के लिए होती है। इन दूसरे प्रकार की वस्तुओं में पूँजीगत माल, उद्योगों और व्यवसायों द्वारा प्रतिपादित सेवायें, कच्चे माल, सामान आदि सम्मिलित होते हैं। ऐसी वस्तुएँ और सेवायें या तो उत्पादन में सहायक होती है या राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की रक्षा करती है।

रचना के परिवर्तन से आशय—राष्ट्रीय लाभांश की रचना के परिवर्तन के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं—(अ) राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित होने वाले शीर्षक बदल सकते हैं, अर्थात् लाभांश में कुछ नये शीर्षक जोड़े जा सकते हैं और उनमें से कुछ पुराने शीर्षक निकल सकते हैं; (ब) विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के बीच का अनुपात बदल सकता है, अर्थात् कुछ मदों की अपेक्षा कुछ अन्य मदों की मात्रा में कमी या वृद्धि हो सकती है और (स) उपरोक्त दोनों सम्भावनायें एक ही साथ घटित हो सकती है।

परिवर्तन लाने वाले कारण—इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दीर्घकालीन दृष्टि से राष्ट्रीय लाभांशों की रचना सदा एक-सी नहीं रहती है। वास्तव में, इस प्रवैगिक जगत में, अल्पकाल में भी लाभांश-रचना अपरिवर्तित नहीं रह पाती है। इसके कई कारण हैं, यथा (१) व्यावसायिक जगत में तेजी और मन्दी के काल निरन्तर आते रहते हैं। जैसे-जैसे हम तेजी की *अवस्था से मन्दी की ओर जाते हैं, अर्थ-व्यवस्था में पूँजीगत माल और उपभोग की वस्तुओं के बीच*

---

1 "Nevertheless, it is evident that any transference of income from a relatively richman to a relatively poor man of similar temperament, since it enables more intense wants to be satisfied at the expense of less intense wants must increase the aggregate satisfaction . Any cause which increase the absolute share of real income in the hands of the poor, provided it does not lead to a contraction in the size of the national dividend from any point of view, will, in general increase economic welfare." —*Ibid*, p. 89.

के अनुपात मे तेजी से परिवर्तन होते जाते हैं। तेजी के काल मे पूँजीगत माल उत्पन्न करने वाले उद्योगो का बहुत अधिक विस्तार होता है जबकि मन्दी के काल में इनका उत्पादन तेजी से घटता है। (२) रुचियों और आदतों के परिवर्तन के कारण भी विभिन्न प्रकार की वस्तुओ के उत्पादन का अनुपात बदलता रहता है। (३) ठीक इसी प्रकार आयों के आकार के परिवर्तन भी राष्ट्रीय लाभाश की रचना म परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं। (४) उस काल मे, जबकि देश रक्षा की तैयारी करता है अथवा युद्ध मे व्यस्त होता है, इस रचना में और भी बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। (५) इसी प्रकार देश की सरकार आर्थिक नियोजन द्वारा भी इस रचना मे परिवर्तन कर देती है।

आर्थिक कल्याण पर प्रभाव- आरम्भ म ही हम ये कह सकते है कि आर्थिक कल्याण इस बात पर निर्भर नही होता कि कुल उपभोग कितना हुआ है बल्कि इस बात पर निर्भर है कि प्रत्यक्ष उपभोग कितना हुआ है। इस आधार पर हम यह कह सकते है कि यदि कुछ कारण ऐसे हैं जो लाभाश की रचना को इस प्रकार प्रभावित करते है कि अ-उपभाग वस्तुओं (non-consumption goods) की तुलना मे उपभोग की वस्तुओं (consumption goods) की मात्रा अधिक बढ जाती है, तो वे कारण इसी अनुपात मे आर्थिक कल्याण म भी वृद्धि कर देंगे। यही बात उस काल मे भी होती है जबकि युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था मे बदलते समय सैनिक सामानो के अनुपात मे नागरिक भोग की वस्तुओ का उत्पादन बढता है। इसके विपरीत, जिन कालो मे पूँजीगत माल अथवा सैनिक सामानों का अनुपात बढता है उनम आर्थिक कल्याण घट जाता है। ठीक इसी प्रकार यदि देश म आवश्यक और आरामदायक वस्तुओ के स्थान पर विलास की वस्तुओ का अनुपात बढ़े, तो आर्थिक कल्याण की हानि होती है क्योकि एक औसत व्यक्ति का आर्थिक कल्याण घट जाता है। इसके विपरीत, यदि अन्य बातें यथास्थिर रहती हैं परन्तु देश मे आवश्यक वस्तुएँ विलास और आराम की वस्तुओ की तुलना म अधिक तेजी से बढ़ती हैं, तो आर्थिक कल्याण की उन्नति होती है।

किन्तु यहाँ पर हमे अल्पकालीन और दीर्घकालीन परिणामों के बीच भेद करना चाहिए। यद्यपि यह सही है जब सैनिक सामानो के स्थान पर नागरिक उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन होता है, तो आर्थिक कल्याण बढता है, परन्तु यह भी सम्भव है कि इससे राष्ट्रीय सुरक्षा को हानि हो, देश दास बन जाय और अन्त मे आर्थिक कल्याण को भारी धक्का लगे। ऐसी दशा मे आर्थिक कल्याण का अल्पकालीन लाभ इसकी दीर्घकालीन हानि द्वारा नष्ट कर दिया जायगा। ठीक इसी प्रकार उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन का अनुपात बढाने से अल्पकाल मे तो आर्थिक कल्याण उन्नत होता है, परन्तु दीर्घकाल म यह उल्टा उसकी हानि का कारण बनता है, क्योकि दीर्घकाल मे पूँजीगत माल का अधिक उत्पादन देश का सम्पन्नता का कारण बनता है। वास्तव मे बहुत-सी दशाओं मे वर्तमान की हानि भविष्य के अत्यधिक लाभ का कारण बन सकती है।

आकार, स्वभाव एवं रचना के परिवर्तनों के बारे में महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष--

ऊपर हमने जिन तीन बातो का अध्ययन किया है उन्हे सक्षेप मे निम्न प्रकार रखा जा सकता है :—(१) राष्ट्रीय लाभाश के आकार की प्रत्येक वृद्धि (यदि वह श्रमिकों पर अधिक दबाव डाल कर प्राप्त नही की गई है) आर्थिक कल्याण और इनके द्वारा कुल कल्याण मे वृद्धि करती है। (२) राष्ट्रीय लाभाश की रचना का प्रत्येक परिवर्तन, जिसके द्वारा आराम तथा विलास की वस्तुओं के स्थान पर आवश्यक वस्तुओ की मात्रा तथा पूँजीगत माल की तुलना मे उपभोग की मात्रा बढती है आर्थिक कल्याण और कुल कल्याण को बढाता है बशर्ते देश की सुरक्षा तथा आगे की पीढियो के कल्याण पर कोई बुरा प्रभाव पडे। (३) राष्ट्रीय लाभाश के वितरण मे कोई भी ऐसा परिवर्तन, जिसमे वितरण मे से धनिकों की तुलना मे निर्धनो को मिलने वाला भाग बढता है

(Conceptnal) कठिनाइयाँ तथा (II) सांख्यकिक (Statistical) कठिनाइयाँ (अथवा सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक कठिनाइयाँ)।

(I) **वैचारिक कठिनाइयाँ**—वैचारिक कठिनाइया कुजेन्स (Kuznets) के अनुसार निम्न प्रकार हैं :—(१) राष्ट्रीय आय के सन्दर्भ में 'राष्ट्र' की परिभाषा की कठिनाई, (२) गणना की उचित विधि चुनाव की कठिनाई, (३) आर्थिक क्रिया की उस चरण को निर्धारण करने की कठिनाई, जिस पर राष्ट्रीय आय की गणना की जायेगी, और (४) राष्ट्रीय आय में सम्मिलित करने के लिए वस्तुओं और सेवाओं के चुनाव में कठिनाई।

राष्ट्रीय आय की विभिन्न गणना के प्रणालियों के आधार पर हम यह कह सकते है कि इनमें से प्रथम कठिनाई तो पूर्णतया दूर हो चुकी है। राष्ट्रीय आय में हम देश में उत्पादित आय के अतिरिक्त वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात द्वारा विदेशों से प्राप्त आय को सम्मिलित करते है। इस सम्बन्ध में 'राष्ट्र' के विचार को अधिक व्यापक अर्थ में लिया जाता है और इसे किसी देश की भौगोलिक सीमाओं तक ही सीमिति नहीं रखा जाता। **गणना विधि की समस्या** का भी लगभग निवारण हो चुका है, क्योंकि आधुनिक अनुभव यह है कि सभी गणना प्रणालियों को एक ही साथ सामूहिक रूप में उपयोग किया जा सकता है और यदि किसी एक प्रणाली के लिए आवश्यक आँकड़े स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध नहीं होते हैं तो वे दूसरी प्रणाली की सहायता से प्राप्त किये जा सकते हैं। जहाँ तक **आर्थिक क्रिया के चरण** का प्रश्न है अब हमारे लिए यह सम्भव है कि हम किसी भी उत्पत्ति, वितरण तथा उपभोग तीनों में से किसी भी चरण का उपयोग कर सकते है। चरण का चुनाव इस बात पर निर्भर होगा कि राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकडे किस उद्देश्य के लिए उपयोग किये जायेंगे। देश की उत्पादन क्षमता सम्भावना ज्ञात करने के लिए उत्पादन-चरण सर्वोत्तम होगा, आयों का रूप निश्चित करने के लिए वितरण-चरण उपयुक्त रहेगा और कल्याण स्तरों को निर्धारित करने के लिए उपभोग-चरण सबसे अच्छा रहेगा।

फिर भी अभी हम वस्तुओं और सेवाओं के चुनाव से सम्बन्धित सैद्धांतिक कठिनाई का निवारण नहीं कर पाये हैं। साधारणतया मुद्रा को सामूहिक माप की इकाई के रूप में उपयोग किया जा सकता है। परन्तु फिर उन वस्तुओं और सेवाओं का क्या होगा जिनकी कीमत मुद्रा में नहीं नापी जाती है। पीगू के अनुसार तो ऐसी वस्तुओं और सेवाओं को राष्ट्रीय लाभांश में नहीं जोडा जायेगा, परन्तु यह निश्चय है कि ऐसा करने से कम से कम एक पिछड़े हुए देश के राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा में तो बहुत अन्तर बढ जायेगा।

(II) **व्यावहारिक कठिनाइयाँ**—प्रमुख व्यावहारिक कठिनाइयाँ तीन हैं—(१) साधारणतया **सांख्यकिक आँकड़ों का अभाव** रहता है। यह कठिनाई पिछड़े तथा कम उन्नत देशों में तो बहुत अधिक है यद्यपि ये देश भी धीरे-धीरे इस कमी को दूर कर रहे है। (२) व्यवहार में **दोबारा गिनने की सम्भावना** को दूर कर देना कठिन होता है चाहे यह गणना आयों की हो अथवा उपजों के मूल्यों की। (३) **हस्तांतरिक भुगतानों की समस्या** एक और व्यावहारिक कठिनाई उपस्थित करती है। बहुत बार प्राप्त आय तथा हस्तान्तरित आय के बीच भेद करना सम्भव होता है।

राष्ट्रीय-आय-विवेचना की उपयोगिता

राष्ट्रीय आय के आँकडे को **"अर्थव्यवस्था का लेखा"** (Account of Economy) और **"सामाजिक लेखा"** (Social Accounts) भी कहा जा सकता है। "ये लेखे एक प्रकार से आर्थिक व्यवहारों का हिसाब-किताब रखने की दोहरी प्रविष्टि प्रणाली (double entry system of book-keeping) का कार्य करते हैं जिनकी सहायता से राष्ट्र की अर्थव्यवस्था का, जो

विभिन्न भागों से बनी होती है, सम्पूर्ण अध्ययन किया जा सकता है।"[1] सामाजिक लेखे बहुत उपयोगी होते हैं, क्योंकि ये हमें यह समझने में सहायता देते हैं कि जटिल विचारों (जैसे—राष्ट्रीय योग आय, उपज तथा व्यय) का निर्माण सरल भागों (जैसे—विशेष वर्गों की आय, विशेष उद्योगों की उपज तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय) की सहायता से कैसे कर लिया जाता है। विभिन्न संघटक भाग (constituent elements) सुनिश्चित तरीकों में सम्बन्धित होते हैं और प्रत्येक विशेष 'योग' की अन्य विशेष भागों की एवं 'राष्ट्रीय' योग की भी शुद्धता की जाँच के लिए प्रयोग किया जा सकता है। नीचे वे प्रमुख दशाएँ दर्शायी गई हैं जिनमें राष्ट्रीय आय के आँकड़े समाज के आर्थिक जीवन के लिए लाभदायक होते हैं —

(१) **राष्ट्रीय आय के अनुमान हमारे सम्मुख राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के एक सही और व्यापक चित्र प्रस्तुत करते हैं।** यह भी बताते हैं कि देश में विभिन्न क्षेत्रों, वर्गों तथा व्यक्तियों के बीच आय का वितरण किस प्रकार होता है। लियनटीफ (Leontief) ने जिस इनपुट-आउटपुट विवेचन प्रणाली (Input-Output Analysis) द्वारा उद्योगों का विवेचन किया है वह राष्ट्रीय आय के ही आकड़ों पर आधारित होती है।

(२) **देश में मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन के दबाव को नापने के लिए भी राष्ट्रीय आय के आँकड़े लाभदायक होते हैं।** बहुधा ऐसा कहा जाता है कि इन दबावों का कारण यह होता है कि उपलब्ध उत्पादन तथा सम्भावित व्यय के बीच अन्तर रहता है। स्फीतिक तथा विस्फीतिक दबाव केवल राष्ट्रीय-आय के अनुमानों में सम्मिलित कुछ उपयोगों (sub-totals) की असंगतियों (Inconsistencies) के कारण उत्पन्न होते हैं।

(३) **ये अनुमान राज्य को आर्थिक नीति के निर्माण में सहायता देते हैं।** मुख्यतया इनके आधार पर ऐसे प्रशुल्क उपाय निश्चित किये जा सकते हैं कि अर्थ-व्यवस्था की परिमाण-वाचक त्रुटियाँ (quantitative absurdities) दूर की जा सकें। अनुमानों का उपयोग अर्थ-व्यवस्था की निहित असंगतियों (inconsistencies) का पता लगाने के लिए भी किया जा सकता है।

(४) **राष्ट्रीय आय अनुमानों की सहायता से वर्षों और महीनों पहले से ही व्यावसायिक क्रियाओं की प्रवृत्तियों के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है,** क्योंकि इन अनुमानों की सहायता से आय, उपज, व्यय आदि के परिवर्तनों का विवेचन तथा उनकी तुलना की जा सकती है और उनकी दीर्घकालीन प्रवृत्तियाँ ज्ञात की जा सकती हैं। व्यवसायों को भी इस कारण सहायता मिलती है कि वे इनके आधार पर अपनी भावी नीति निश्चित करते हैं। इन अनुमानों को ध्यान में रख कर व्यवसायी अपनी उत्पादन तथा कीमत नीतियों में यथासमय तथा आवश्यक परिवर्तन करते रहते हैं। इन आँकड़ों का महत्त्व व्यवसायों के दीर्घकालीन नियोजन, विनियोग नीति तथा प्लाण्ट के विस्तार की दृष्टि से तो और भी अधिक होता है।

(५) **युद्धकाल में तो राष्ट्रीय आय के उपज अंगों का अध्ययन बहुत ही लाभदायक होता है।** इस अध्ययन से देश की उत्पादन क्षमता उसकी युद्ध का भार सहन कर लेने की क्षमता भी ज्ञात हो जाती है।

(६) बहुत बार समस्या यह होती है कि **संघ सरकार की विभिन्न इकाइयों (राज्यों) के बीच वित्तीय साधनों का बँटवारा किस प्रकार किया जावे,** अथवा देश के विभिन्न राजनैतिक क्षेत्रों के बीच उनका किस प्रकार वितरण हो। यहाँ पर भी राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अनुमान ही

---

[1] "These accounts form a double entry system of recording economic transactions in terms of which the economy of a nation can be studied as a whole made up of parts"—Burdett *Economic Journal*, 154.

मार्ग दर्शन का कार्य करते है। ये अनुमान स्पष्ट कर देते है कि कमियाँ कहाँ-कहाँ हैं और किन क्षेत्रो को अधिक आगम प्रदान कर देने से उत्पादन तथा जीवन-स्तर के सुधार की सम्भावना अधिक रहेगी।

(७) **राष्ट्रीय आय के अनुमान देश के कर-आधार का आभास प्रदान करते हैं।** राष्ट्रीय आय देश की करदान क्षमता को निर्धारित करती है और यह बताती है कि सरकार विभिन्न प्रकार के करो से कितनी अधिकतम आय प्राप्त कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय भार का विभिन्न देशो के बीच बाँटने के लिए भी राष्ट्रीय आय का अनुमान ही पथ-प्रदर्शक हो सकता है।

(८) **आर्थिक नियोजन के लिए तो राष्ट्रीय आय का अनुमान अनिवार्य है।** किसी भी देश की आर्थिक योजनाओ के लिए यह आवश्यक है कि देश के वर्तमान साधनों का सही अनुमान ज्ञात हो और यह भी ज्ञान हो कि कमियाँ किन दिशाओ मे है। साथ ही इन्ही आँकड़ो द्वारा यह जाना जा सकता है कि नियोजन की प्रगति-दर कितनी है। देश मे पूँजी निर्माण तथा विनियोग की प्रगति का अनुमान भी इन्हो की सहायता से लगाया जा सकता है।

(९) **कम विकसित देशों की समस्याओ के अध्ययन में भी राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का अध्ययन लाभदायक है,** क्योकि राष्ट्रीय आय मे कुल राष्ट्रीय आय के आँकड़ो के साथ साथ अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो और भागो से उत्पन्न होने वाली आय के अनुमान भी रहते है। इन अनुमानो के आधार पर कम उन्नत देशो के विकास के लिए उपयुक्त वित्तीय तथा मौद्रिक सुझाव दिये जा सकते है।

(१०) **इन आँकड़ों के द्वारा हम विभिन्न देशों की आर्थिक प्रगति तथा उनके आर्थिक कल्याण स्तरो की तुलना कर सकते हैं** और यह भी जान सकते है कि एक देश मे विभिन्न कालो मे प्रगति और कल्याण की क्या-क्या स्थिति रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें, मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें इन अनुमानो के आधार पर ही अपनी-अपनी नीतियाँ निश्चित करते है और यह निश्चित करते हैं कि विभिन्न सदस्य देशो के बीच सहायता का बँटवारा कैसे किया जायेगा।

राष्ट्रीय आय विवेचन की परिसीमायें—

राष्ट्रीय आय के अनुमानो के आधार पर निष्कर्ष बनाते समय निम्न अन्य बातो को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है :—

(१) **वैज्ञानिक दृष्टि से विभिन्न देशो की राष्ट्रीय आय के आँकड़ो की एक दूसरे से तुलना करना ठीक न हो**—विभिन्न देशो के आर्थिक कलेवर एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हो सकते हैं। विभिन्न देशो मे उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ और उनके अनुराग भी अलग-अलग होते हैं। इसके अतिरिक्त अलग-अलग देशो मे कीमत-स्तर तथा राष्ट्रीय लाभांश की बनावट भी अलग-अलग होते हैं। एक बडी कठिनाई यह भी है कि अलग-अलग देश अपनी-अपनी राष्ट्रीय आय की गणना अलग-अलग ढंगो से करते हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटिश और अमेरिकन सरकारें, सरकारी व्यय के प्रति अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाती है।

(२) **उत्पादन के वास्तविक व्ययों की सूचना देने में समर्थ नहीं**—राष्ट्रीय आय की गणना मुद्रा मे की जाती है किन्तु ऐसे अनुमान उत्पादन हेतु किये जाने वाले विभिन्न प्रयत्नो, त्यागों एव अवकाशो (अथवा वास्तविक व्ययो), को नहा दिखा सकते हैं। राष्ट्रीय आय प्राकृतिक सुविधाओ मे प्राप्त लाभ भी नही दर्शाती है और इस लाभ की मात्रा मे एक से दूसरे देश मे अन्तर होते हैं।

(३) **केवल तुलनात्मक महत्व**—जहाँ तक राष्ट्रीय आय के योगो का प्रश्न है, उनका स्वय मे कोई अर्थ नही होता है। इन योगो की उपयोगिता केवल उस दशा मे होती है जबकि हमे

कीमत-स्तर, उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं की प्रकृति तथा लोगों की आवश्यकताओं का भी ज्ञान हो। विभिन्न योगों का उपयोग केवल तुलना की ही दृष्टि से किया जा सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय के योगों का केवल तुलनात्मक महत्त्व है।

राष्ट्रीय लाभांश का आकार

विभिन्न देशों के राष्ट्रीय लाभांश की मात्राओं में विशाल अन्तर होते हैं। यथार्थ में, किसी देश का राष्ट्रीय लाभांश अनेक बातों पर निर्भर होता है। अधिक महत्त्वपूर्ण कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) **देश के प्राकृतिक साधन**—किसी भी देश के राष्ट्रीय लाभांश के आरम्भिक तथा आवश्यक तत्त्व देश को प्रकृति द्वारा दिये जाते है। इन्हें हम देश के 'प्राकृतिक साधन' कह सकते हैं। जिन देशों का अच्छी और उपजाऊ भूमि, अच्छी कोयले, लोहे और अन्य धातुओं की खानें, प्राकृतिक जल और शक्ति साधन इत्यादि प्रचुर मात्रा में प्राप्त है, उनकी राष्ट्रीय आय के ऊँची होने की सम्भावना भी अधिक होती है। उन देशों के राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा कम रहती है जिनके पास प्राकृतिक साधन कम होते हैं, किन्तु प्राकृतिक साधन केवल उत्पादन की सम्भावना को ही निश्चित करते है, वास्तविक उत्पादन इस बात पर निर्भर होता है कि साधनों का किस अंश तक उपयोग किया जा रहा है।

(२) **देश के लोगों की संख्या और उनके गुण**—उत्पत्ति का सबसे आवश्यक और सबसे सक्रिय साधन श्रम है। किसी देश में श्रम की पूर्ति मात्रा की दृष्टि से वहाँ की जन-संख्या के आकार पर और गुण की दृष्टि से श्रम की कार्यकुशलता पर निर्भर होती है। जन-संख्या के सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय हम यह पहले ही देख चुके है कि प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से किसी देश में न्यून-जन-संख्या (Under-Population) उतनी ही बुरी है जितनी कि अति-जन-संख्या (Over-Population)। समुचित श्रम-शक्ति के अभाव मे देश के प्राकृतिक साधन भी बेकार पड़े रह सकते हैं। इसके विपरीत, यदि जन संख्या विशाल है, तो राष्ट्रीय लाभांश में से हिस्सा बाँटने वालों की संख्या विशाल होगी, जिस कारण प्रति व्यक्ति हिस्सा स्वयं ही छोटा रह जायेगा।

(३) **पूँजी का संचय और उपयोग**—उत्पादन की कुशलता तथा इसके अत्यधिक विस्तार के लिये नवीनतम् मशीनों, प्लान्टों तथा साधनों का उपयोग आवश्यक है। यदि किसी देश में पूँजी के निर्माण की गति ऊँची है तो वहाँ आर्थिक विकास की दर भी ऊँची होगी। अधिकांश कम उन्नत देशों के आर्थिक साधन तो विशाल हैं, परन्तु पूँजी की कमी के कारण वे अपने उन साधनों को भली भाँति उपयोग करने म असमर्थ हैं।

(४) **संगठन की कुशलता**—आधुनिक युग म उत्पादन तथा उसका संगठन और प्रबन्ध टेक्नीकल समस्या बन गये हैं। यदि प्रबन्ध कुशल है, तो इससे न केवल आर्थिक संगठन बिना विरोध तथा बाधा के चलता रहेगा बल्कि सभी साधनों का भी सर्वोत्तम उपयोग हो सकेगा।

(५) **देश का सामाजिक और राजनैतिक संगठन**—किसी समाज का सामाजिक संगठन (जैसे भारत की जाति-प्रथा) आर्थिक प्रगति को या तो प्रोत्साहित कर सकता है या उसके मार्ग में बाधक बन सकता है। देश म उत्पादन की कुशलता बड़े अंश तक देश के राजनैतिक कलेवर पर भी निर्भर होती है।

राष्ट्रीय लाभांश के परिवर्तन और आर्थिक कल्याण

राष्ट्रीय लाभांश तथा आर्थिक कल्याण के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। राष्ट्रीय लाभांश मे गुण अथवा मात्रा की दृष्टि से जो भी परिवर्तन होता है उसके फलस्वरूप आर्थिक कल्याण में भी परिवर्तन हो जाते हैं। किन्तु राष्ट्रीय लाभांश के परिवर्तन कई प्रकार के होते हैं और इनमें से

(यदि लाभांश के आकार तथा उसकी रचना पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है) लोगों के आर्थिक कल्याण और इसके द्वारा कुल कल्याण में वृद्धि करने की सम्भावना रखता है।

राष्ट्रीय लाभांश का स्थायित्व और आर्थिक कल्याण

राष्ट्रीय लाभांश उत्पादकों, उपभोक्ताओं, व्यक्तिगत उद्योगपतियों, व्यवसायियों तथा सार्वजनिक अधिकारियों के जटिल आर्थिक निर्णयों का परिणाम होता है। वस्तुओं और सेवाओं का प्रवाह तथा मानवीय आवश्यकताओं के सन्तोष के लिए मौद्रिक आय उत्पादकों के निर्णयों पर निर्भर होती है। इस प्रकार के निर्णय लाभ-उद्देश्य (Profit Motive) पर निर्भर होते हैं। साधारणतया जितनी ही लाभ की सम्भावना अधिक होती है, उत्पादन तथा विनियोग के लिए प्रेरणा भी उतनी ही अधिक होती है। किन्तु स्वयं उत्पादकों का निर्णय एक अंश तक लोगों द्वारा उपभोग और बचत करने के निर्णय पर निर्भर होता है।

राष्ट्रीय लाभांश में उथल-पुथल क्यों :—(१) जब लोगों की बचत निजी उद्योग के विनियोग के बराबर होती है, तो आर्थिक प्रणाली निर्बाध चलती रहती है। परन्तु जब बचत निजी उत्पादकों के विनियोग से अधिक हो जाती है, तो अति-उत्पादन दृष्टिगोचर होता है, जिस कारण कीमतों, उत्पादन, तथा रोजगार का पतन होता है। आर्थिक प्रणाली में यह मन्दी की अवस्था कहलाती है। इसके विपरीत, जब समाज उपभोग अधिक करता है और बचत कम होती है, तो विनियोग उत्पादन और रोजगार बढ़ते हैं और तेजी की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार, पूँजीवादी समाज में अर्थव्यवस्था में **तेजी और मन्दी की अवस्थायें** आती रहती हैं और व्यापार चक्र (Business Cycles) उपस्थित होते रहते हैं।

(२) **युद्धकाल तथा युद्धोत्तर काल** में भी उत्पादन, विनियोग, रोजगार आदि के स्तर में विशाल उथल-पुथल होती रहती है। युद्धकाल में आर्थिक क्रिया का अत्यधिक विस्तार होता है किन्तु युद्धोत्तर काल में अत्यधिक संकुचन।

(३) **करों, उत्पादन व्यय तथा बचत सम्बन्धी सरकारी** निर्णय भी राष्ट्रीय लाभांश के स्थायित्व को प्रभावित करते हैं। जब सरकार अपने व्यय को घटाने का निर्णय करती है, तो सरकारी कर्मचारियों की आय घटती है, माँग घटती है और फलस्वरूप पूर्ति भी घटती है। इसके विपरीत, जब सरकार अधिक व्यय करने का फैसला करती है, तो रोजगार और आय तथा फलस्वरूप माँग और पूर्ति बढ़ते हैं।

(४) सरकारी व्यय का कितना प्रभाव पड़ता है यह इस बात पर निर्भर होता है कि **कुल राष्ट्रीय व्यय में सरकारी व्यय का कितना महत्त्व है।** बहुत बार निजी व्यय के घटने से उत्पन्न होने वाली मन्दी सरकारी व्यय की वृद्धि से उत्पन्न होने वाली तेजी से दूर हो जाती है। मन्दी के दुर प्रभाव को दूर करने के लिए सरकार राहत (relief) तथा लोक कार्यों पर अधिक व्यय करने लगती है जिस काल में निजी उद्योग अधिक विनियोग करते हैं, सरकार अपने व्यय को घटाकर भविष्य के लिए बचत करने लगती है। इस प्रकार, सरकार यह प्रयत्न करती है कि विभिन्न वर्षों में उत्पादकों, उपभोक्ताओं तथा सरकारी व्यय का सामूहिक योग समान ही रहे।

राष्ट्रीय लाभांश के परिवर्तनों के परिणाम—

इस प्रकार जब विभिन्न वर्षों में कुल व्यय लगभग यथास्थिर रहता है, तो राष्ट्रीय लाभांश में स्थायित्व आ जाता है। इसके विपरीत, जब कुल व्यय में परिवर्तन होते रहते हैं, तो राष्ट्रीय लाभांश भी बदलता रहता है। राष्ट्रीय लाभांश का स्थायित्व आर्थिक कल्याण की उन्नति करता है, क्योंकि सभी व्यक्तियों के पास दीर्घकालीन दृष्टि से व्यय के लिए प्रत्येक वर्ष में समान ही आय रहती है। इसके विपरीत, जब लाभांश की मात्रा में अधिक परिवर्तन होते रहते हैं, तो आर्थिक कल्याण घटता है क्योंकि जिन कालों में आय अधिक होती है लोग अपव्यय करते हैं और जिन

वालों में आय कम होती है तथा बेकारी बढ़ी हुई होती है लोग कम व्यय करते हैं। इसी कारण पीगू ने कहा है कि "जो भी कारण सम्पूर्ण समाज के कुल उपभोग को कम परिवर्तनीय (variable) बनाता है वह साधारणतया, आर्थिक कल्याण को बढ़ाता है बशर्ते राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा न घटे तथा लाभांश का वितरण निर्धनों के प्रतिकूल न हो।"

यहाँ पर एक बात और उल्लेखनीय है। राष्ट्रीय लाभांश के सभी अंगों में समान परिवर्तनशीलता का होना आवश्यक नहीं है। यदि लाभांश के उस भाग की परिवर्तनशीलता अधिक है जो निर्धनों को प्राप्त होता है, और उस भाग की परिवर्तनशीलता कम है जो धनिकों को प्राप्त होता है, तो इससे आर्थिक कल्याण को अधिक हानि होती है। इसके विपरीत प्रकार की परिवर्तनशीलता की दशा में हानि कम होती है क्योंकि उपयोगिता ह्रास नियम की कार्यशीलता के कारण परिवर्तन का प्रभाव धनिकों पर निर्धनों की तुलना में कम पड़ता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. राष्ट्रीय आय की परिभाषा कीजिये और इसे मापने के किसी एक तरीके का वर्णन करें।
२. "किसी देश के श्रम और पूँजी द्वारा देश में प्राकृतिक साधनों की सहायता से वर्ष भर की वस्तुओं का एक शुद्ध समूह उत्पन्न होता है, जिसमें मूर्त और अमूर्त वस्तुएँ तथा सब प्रकार की सेवाएँ शामिल होती हैं।" इस कथन की व्याख्या में राष्ट्रीय लाभांश के विचार को समझाइये। इसका माप किस प्रकार करते हैं ?
३. राष्ट्रीय आय के आकार और वितरण के परिवर्तन आर्थिक कल्याण को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ?
४. राष्ट्रीय लाभांश के विचार की व्याख्या कीजिए और अर्थशास्त्र में इसके महत्व को बताइये।
५. किसी देश की राष्ट्रीय आय को मापने की कौन-कौन-सी रीतियाँ हैं ? राष्ट्रीय आय की गणना की प्रक्रिया में कठिनाइयों को बताइये।

१

आर्थिक क्षेत्र में राज्य की भूमिका

(Role of State in Economic Life)

प्रारम्भिक—

राज्य एक राजनैतिक संगठन है और इसका अन्तिम लक्ष्य है मानवीय कल्याण में वृद्धि करना। अतः यह आवश्यक है कि वह अपने नागरिकों के आर्थिक क्रियाकलापों की चिन्ता करे, क्योंकि ये क्रियायें मानवीय कल्याण के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कोई भी राज्य आर्थिक क्रियाओं की उपेक्षा करते हुये अपने अंतिम लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः कुछ लोगों का यह कथन ठीक नहीं है कि अर्थशास्त्र 'राजनीति की दासी' है। सत्य तो यह है कि राजनीति स्वयं ही 'अर्थशास्त्र की दासी' है। राजनीति का स्वरूप इस प्रकार से गढ़ा जाना चाहिए कि आर्थिक उद्देश्य—लोगों का कल्याण— पूरा होता चले। अब यह सब ही स्वीकार करते हैं कि सामान्य कल्याण की संवृद्धि के लिए आर्थिक क्षेत्र में राज्य के नियन्त्रण और हस्तक्षेप की नितान्त आवश्यकता है। राज्य को चाहिए कि आर्थिक क्रियाकलापों को नियमित करे ताकि उनका व्यवस्थित विकास हो। उसे समाज के संसाधनों का अनुकूलतम विकास भी सुनिश्चित करना चाहिए। अब राज्य को एक 'पुलिस राज्य' नहीं समझा जाता, वरन् सामान्य कल्याण को बढ़ाने वाली एजेन्सी माना जाता है।

अराजकतावादियों और साम्यवादियों का विचार-भेद

अराजकतावादी (Anarchists) सरकार में विश्वास नहीं करते। उनकी तो यह धारणा है कि एक अवस्था ऐसी आयेगी जब सरकार समाप्त हो जायेगी और समाज अपना नियमन स्वयं ही करने लगेगा। इसके दूसरे छोर पर साम्यवादी लोग (Communists) हैं जो यह विश्वास करते हैं कि सरकार समाप्त होना तो दूर वह आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति का एक सजीव और शक्तिशाली साधन बनेगी। ये लोग चाहते हैं कि राज्य का व्यक्ति की छोटी-छोटी बातों पर भी नियन्त्रण रहे। किन्तु व्यक्तिवादी राज्य को एक 'बुराई' मानते हैं। उनकी धारणा है कि यदि आर्थिक क्रियाकलाप निर्बाध चलने दिये जायें, तो मानवीय कल्याण की अधिक सिद्धि हो सकती है। इंग्लैंड में एडम स्मिथ ने आर्थिक उदारतावाद का सिद्धान्त सामने रखा। इस सम्प्रदाय के अनुसार राज्य के कार्य न्यूनातिन्यून होने चाहिए। किन्तु अब व्यक्तिवाद को दोनों प्रकार से— एक राजनैतिक सिद्धान्त एवं एक राज्य-क्रिया के मार्गदर्शक के रूप में अस्वीकृत किया जा चुका है। इसके आधार तो बहुत पहले ही खण्डित किये जा चुके थे। अब कोई भी यह विश्वास नहीं करता कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्व-हित को समझता है अथवा इसे प्राप्त करने की क्षमता रखता है। निर्बाधावाद के कट्टर समर्थक जे० एस० मिल को भी राज्य के हस्तक्षेप के लिये कुछ क्षेत्र नियत करने पड़े थे।

समूहवादी एवं समाजवादी (Collectivists and Socialists) बिल्कुल विपरीत छोर पर हैं। वह व्यक्ति के बजाय समाज के हितों पर बल देते हैं। सरकार को एक आवश्यक बुराई समझना तो दूर वह तो इसे एक अति उपयोगी और वाञ्छनीय संस्था मानते हैं तथा इसे लगभग

असीमित अधिकार देने के पक्ष मे है। यदि सरकार का हस्तक्षेप सामाजिक कल्याण को बढ़ाने में सहायक बनता है तो वे उसे उचित ठहराते हैं।

आधुनिक युग मे जन-साधारण का झुकाव समाजवाद या समूहवाद की दिशा में बढ़ रहा है। आज के राजनैतिक नेता सरकार द्वारा आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप करने के अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाते। सरकार की क्रिया का औचित्य इस बात से देखते हैं कि क्या वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे समाज के हित को बढ़ाने वाली है। लियोन डुग्यि (Leon Duguit) ने अपनी पुस्तक Law in the Modern State मे लिखा है कि "समाज के सहज सचालन के लिये जो भी आवश्यक हो वही एक लोक-सेवा है।" (Whatever is essential to the smooth running of society is a public service)

कालान्तर मे सरकारें, घटनाओं के दबाव से अधिकाधिक कार्य ग्रहण करने पर विवश हो गई हैं। अत राज्य के कार्यों का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता और विविधीकृत होता गया है। प्रथम विश्व युद्ध ने निर्बाधावादी सिद्धान्त पर प्रबल प्रहार किया। तत्पश्चात् तीसा की महान् मन्दी ने सभी देशों मे सरकारों को आर्थिक नीतियाँ निश्चित करने के लिये प्रेरित किया। जब अमेरिकी सरकार ने जो नई नीति (New Deal) घोषित की, वह आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू को स्पर्श करती थी। द्वितीय महायुद्ध के बाद राज्य विश्व मे आर्थिक जीवन के एक महान् नियमनकर्त्ता के रूप मे सामने आया। राज्य का नियन्त्रण एव नियमन आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे विस्तृत हो गया है। वह हमे एक नागरिक के रूप मे ही नहीं वरन् उत्पादक और उपभोक्ता के रूप मे भी प्रभावित करता है। चेज़ (Chase) के अनुसार, "समूहवाद हमारे सिर पर सवार हो गया है।" ७०% यूरोपवासी राज्य-नियन्त्रित उपक्रम की छाया मे रह रहे हैं तथा केवल यह प्रश्न शेष रहा है कि व्यवसायी लोग शासक बनेंगे या शासन करने वाले व्यवसायी?

आधुनिक अर्थशास्त्री को अब राज्य-क्रिया की सीमाओं के बारे मे समस्या नही रह गई है। अब सरकारी तन्त्र का समाज के ससाधनो के अनुकूलतम वितरण तथा सम्पत्ति के विद्यमान वितरण के सुधार मे स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया जाने लगा है।

राज्य के हस्तक्षेप का क्षेत्र

अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि सेना, जहाजी बेडा और पुलिस की व्यवस्था करने के अतिरिक्त राज्य के कुछ अन्य कार्य भी हैं तथा अब जिस सुरक्षा की आवश्यकता है वह पहले की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। माना जाने लगा है कि सारे समाज को एकजुट होकर बलवान के शासन के बजाय न्याय के शासन को लागू करना चाहिये। जो लोग आर्थिक रूप से दुर्बल है उन्हे आर्थिक रूप से शक्तिशाली लोगों से बचाना चाहिये, धनियों द्वारा निर्धनों का शोषण रोकना चाहिये तथा निर्धनता और बीमारी की बुराइयों तथा सामाजिक एव राजनैतिक व्यवस्था पर इनके जो दुष्प्रभाव पडते है उनसे लडना चाहिये।[1] आर्थिक मामलों मे राज्य का हस्तक्षेप निम्नाकित मामलो मे उचित ठहराया जाता है :—

1 "It came to be recognised that the State has duties other than the provision of an army, a navy and police and that defence of quite a different kind was necessary. The community as a whole must unite to enforce right against might, to protect the economically weak against the economically strong, to prevent the exploitation of the poor by the rich and to fight the evils of poverty and disease with their destructive effects upon the social and political order."—**Thomas, W. E.** : *Elements of Economics*, p. 599.

(१) एकाधिकारी स्वभाव का व्यवसाय—जब व्यवसाय एकाधिकारी स्वभाव का है, तो एकाधिकारी द्वारा उपभोक्ताओं के शोषण की बडी आशंका रहती है। अतः सरकार का कर्त्तव्य हो जाता है कि इस शोषण एवं एकाधिकारिक शक्ति के दुरुपयोग को रोके। इस हेतु उसे एकाधिकारी के क्रियाकलापों पर गहरी निगाह रखनी होगी तथा आवश्यकता पडने पर एकाधिकृत उत्पाद का मूल्य तक निर्धारित करना पडेगा।

(२) प्राइवेट उपक्रम के लिये आकर्षण न रखने वाले व्यवसाय—स्कूल, अस्पताल, सडक आदि पर विनियोग करने मे किसी लाभ की आशा नहीं है, जिस कारण प्राइवेट उपक्रमी उनमे दिलचस्पी नहीं लेते। अतः समाज को चाहिये कि इन्हे अपने सामूहिक हाथों मे ले ले।

(३) आर्थिक रूप से दुर्बल व्यक्तियों को संरक्षण—कारखाना-श्रमिक आर्थिक रूप से बहुत दुर्बल होते है तथा सर्वशक्तिमान सेवायोजको द्वारा उनका बहुत शोषण किया जाता है। अतः इनको उपयुक्त सनियम बना कर सरक्षण देना बहुत जरूरी है।

(४) सामाजिक एकाधिकार या लोकोपयोगी सेवाएँ—इन सेवाओं मे रेलवे, डाक व तार सेवा, जल-आपूर्ति और विद्युत व गैस सप्लाई की गिनती की जाती है। इनमे प्रतिस्पर्धा होना अमितव्ययितापूर्ण एवं अवांछनीय है। अतः सरकार अथवा स्थानीय सरकारें इन पर अपना नियन्त्रण रखती हैं।

(५) उपभोक्ताओं की रक्षा—एक औसत उपभोक्ता मे इतना विवेक नहीं होता कि सप्लाई की जाने वाली वस्तु के गुण के बारे मे सही राय बना सके। अत. वह अपने हितो की रक्षा करने मे असमर्थ रहता है। फलतः सरकार को चाहिए कि 'मिलावट विरोधी कानून' बना कर उसकी सहायता करे।

(६) राजनैतिक एवं आर्थिक कारण—कभी-कभी राजनैतिक एव सामाजिक कारण यह आवश्यक करते है कि सरकार नियन्त्रण और नियमन करे। उदाहरणार्थ, यदि करैन्सी नोटों के निर्गमन का अधिकार प्राइवेट एजेन्सियो को दिया गया, तो बडी अव्यवस्था फैलने का खतरा है। अतः आर्थिक तन्त्र को सुव्यवस्थित रखने के लिये सभी देशों मे सरकारें करैन्सी का नियमन करती हैं। अस्त्र-शस्त्रो के निर्माण के बारे मे भी ऐसा ही है। यदि इसे प्राइवेट उपक्रमियों पर छोड दिया जाय, तो देश की शान्ति व सुरक्षा खतरे मे पड़ सकती है।

(७) देश में छाई हुई बेकारी और मुद्रा प्रसार—अब यह व्यापक रूप से माना जाने लगा है कि प्राइवेट-उपक्रम-व्यवस्था प्रसाधनो के पूर्ण नियोजन के लिये अपने आप ही प्रावधान नहीं कर देगी तथा आर्थिक क्रिया का स्तर घटता बढता रहता है। कभी तो सप्रभाविक माँग की कमी के कारण बेकारी उत्पन्न हो जाती है और कभी सप्रभाविक माँग इतनी अधिक हो जाती है कि मुद्रा प्रसार जोर पकड लेता है। अतः सरकार को ऐसे उतार-चढावों पर नियन्त्रण रखना चाहिये। मन्दी के काल मे वह उपयुक्त राजकोषीय, मौद्रिक एवं अन्य नीतियां अपना कर सप्रभाविक माँग के स्तर को ऊँचा उठाने मे सहायक होती है और मुद्रा-प्रसार की अवधि मे इसे घटाने का यत्न करती है।

आधुनिक राज्य के कार्य—

एक आधुनिक राज्य के विभिन्न कार्यकलापो को निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है :—

(१) रक्षा-कार्य (Protective Functions)—ये कार्य आन्तरिक रक्षा तथा देश को विदेशी आक्रमणों से बचाने से सम्बन्धित होते है। इनके लिये सेना, पुलिस, न्यायालयों, जेलों इत्यादि पर व्यय किया जाता है। इन सबको हम सरकार के मुख्य या अनिवार्य कार्य (Primary or compulsory functions) कह सकते है। कुछ लोग इन्हें 'अनुत्पादक कार्य'

(Unproductive functions) कहते हैं, जो सही नही है। नि:सदेह इस प्रकार के कार्य सकीर्ण आर्थिक भाव मे कोई भौतिक या मूर्त्त लाभ प्रदान नही करते, किन्तु एक व्यापक भाव मे रक्षा-कार्यों को उत्पादक मान सकते हैं, क्योंकि इनके सम्पन्न होने पर ही आर्थिक व सामाजिक जीवन सगठित और नियमित रूप मे चल सकता है।

(२) प्रशासनिक कार्य (Administrative functions)—प्रत्येक सरकार प्रशासनिक अधिकारियो और एजेन्सियो का दल रखती है, जिनका कर्तव्य विभिन्न विभागों का प्रशासन चलाना है। प्रशासनिक कार्य सरकार के नैत्यक कार्य के सचालन से सम्बन्धित हैं।

(३) सामाजिक कार्य—इस शीर्षक के अधीन निर्धन, रोगी और बेकार लोगो को राहत देने जैसे कार्य सम्मिलित किये जाते हैं। अब सामाजिक बीमा (स्वास्थ्य एव रोजगार बीमे सहित) और वृद्धावस्था पेंशन देना सभी सभ्य सरकारो का बहुत ही आवश्यक कार्य बन गया है। इसके अतिरिक्त, आधुनिक सरकारें अजायबघर, सार्वजनिक पार्क, पुस्तकालय, शिक्षा, डाक्टरी सहायता, अच्छी आवास सुविधायें आदि भी प्रदान करती हैं। ये कार्य ऐसे हैं जो लाभ के सकीर्ण अर्थ मे 'लाभप्रद' नही हैं किन्तु व्यापक अर्थ मे बहुत ही लाभदायक और उत्पादक माने जाते हैं क्योंकि यह राष्ट्र के प्राकृतिक और मानवीय प्रसाधनो का विकास करने मे सहायक हैं।

(४) आर्थिक एवं वाणिज्यिक कार्य—अर्थशास्त्र मे हम राज्य के इन्ही कार्यों से विशेष रूप मे सम्बन्धित हैं। ये कार्य उद्योग व व्यापार मे राज्य के क्रियाकलापों से सरोकार रखते हैं। इनमे व्यवसाय को सुविधायें देना, उसे प्रोत्साहित, नियमित एव नियन्त्रित करना शामिल है। आर्थिक क्षेत्र मे राज्य के आधुनिक कार्य निम्न प्रकार है —

(अ) राष्ट्रीय प्रसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करना—सरकार जनता के आर्थिक कल्याण की सरक्षिका है। इस नाते उसे यह देखना पडता है कि राष्ट्र के मानवीय एव प्राकृतिक प्रसाधनों का सर्वोत्तम ढग से उपयोग किया जाय। आर्थिक प्रयत्न मे कोई बर्बादी, कोई रिसाव या कोई दिशा-भ्रम नही होना चाहिये। नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओ मे यह कार्य नियोजन सत्ता द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

(ब) आर्थिक समानता की स्थापना—सभी पूँजीवादी देशों मे आय और सम्पत्ति सम्बन्धी भारी असमानतायें विद्यमान हैं एव आर्थिक शक्ति गिने-चुने हाथो मे केन्द्रित हो गई है। परिणामस्वरूप जनता दुखी और निराश है। अत अब सभी विवेकशील सरकारें इन असमानताओ को दूर करने के लिये प्रयत्नशील है, जिससे आर्थिक कल्याण का आधार विस्तृत हो जाय और सभी को प्रगति के लिये समान अवसर मिलें। केवल राजनैतिक समानता से लोग सतुष्ट नही होंगे, क्योंकि आर्थिक समानता के अभाव मे वह एक उपहास मात्र है।

(स) सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था—प्राय सभी आधुनिक सरकारो ने भय और आवश्यकता को लोगो मे से मार भगाने के लिये दूरगामी और महत्त्वाकाक्षी सामाजिक सुरक्षा स्कीमे प्रचलित की हैं। प्रत्येक नागरिक को जीवन की विभिन्न आकस्मिकताओ पर विजय पाने मे पूर्ण वित्तीय सहायता का आश्वासन दिया जाता है। एक नागरिक का जन्म होने भर की देर है, राज्य उसकी समस्त आवश्यकताओ को पूरा करने की जिम्मेदारी अपने सबल कन्धो पर उठा लेता है।

(द) आर्थिक प्रगति में तेजी लाना—यह कार्य सरकारो के लिये अपेक्षाकृत नया है। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि देश का आर्थिक विकास व्यक्तिगत नागरिको पर, जोकि राष्ट्र के बजाय अपने निज के लाभ के लिये अधिक चिन्तित रहते हैं, नहीं छोड़ा

जा सकता । आज जो देश आर्थिक रूप से पिछड गये हैं वे प्राय: वह देश हैं जिनमें सरकारो ने निष्क्रियता का मार्ग पकड़ा था । हाल के वर्षों मे वहाँ भी सरकारो ने आर्थिक विकास के कार्य पर ध्यान देना शुरू कर दिया है ।

परीक्षा प्रश्न :

१. "जो कुछ समाज के सहज संचालन के लिये आवश्यक है, वह एक लोक सेवा है," इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ? आर्थिक मामलो मे राज्य का हस्तक्षेप किन दशाओं में उचित है ?
२. एक आधुनिक राज्य के कार्यों पर संक्षेप में प्रकाश डालिये । आजकल आर्थिक क्षेत्र मे कौन-कौन से नये कार्य सरकारें सम्पन्न करने लगी हैं ?

२

राजस्व की परिभाषा एवं इसका महत्व

(Definition and Importance of Public Finance)

प्रारम्भिक—

विभिन्न विद्वानों ने राजस्व का अर्थ विभिन्न प्रकार से लगाया है। उनकी परिभाषाओं के शब्द तो भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उन सबका आधार एक ही है। सभी ने राजस्व को सरकार की आय के विभिन्न साधनों एवं इस आय के व्यय का अध्ययन बताया है। 'सरकार' का आशय केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय सरकारों से है।

राजस्व की परिभाषा
(Definition of Public Finance)

राजस्व की प्रमुख परिभाषायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) डाल्टन—"राजस्व लोक अधिकारियों की आय एवं व्यय का अध्ययन कराता है और बताता है कि इनमें से एक का दूसरे के साथ किस प्रकार समायोजन होता है।"[1]

(२) शिराज—राजस्व में "उन सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है जिनके अनुसार लोक-अधिकारी आय को एकत्र और व्यय करते हैं।"[2]

(३) बैस्टेबल—"सरकार द्वारा साधनों की प्राप्ति और उनका व्यय एक ऐसे अध्ययन का विषय है जिसे अंग्रेजी भाषा में पब्लिक फाइनेन्स (राजस्व) कहा जाता है।"[3]

(४) हार्ले लीस्ट लुट्ज—"राजस्व में उन साधनों की प्राप्ति, सरक्षण और व्यय का वर्णन किया गया है, जिनकी सार्वजनिक सरकारी कार्यों के चलाने के लिए आवश्यकता पड़ती है।"[4]

(५) श्रीमती हिक्स—"राजस्व का मुख्य आशय उन तरीकों की जांच से है जिनके द्वारा सरकार जनता को अत्यधिक सन्तोष प्रदान करती है और उसकी भलाई के लिए आवश्यक धन एकत्रित करती है।"[5]

---

[1] "Public Finance deals with the income and expenditure of public authorities and with the manner in which the one is adjusted with the other."
—Dalton

[2] "The study of the principles underlying the spending and raising of funds by Public Authorities."—Shirras

[3] "The supply and the application of state resources constitute the subject-matter of a study which is best entitled Public Finance."—Bastable

[4] "Public Finance deals with the provision, custody and disbursement of the resources needed for the conduct of public or government functions."—Harley Leist Lutz

[5] "The main content of Public Finance consists of the examination and appraisal of the methods by which Government bodies provide for the collective satisfaction of wants and secure the necessary funds to carry on their purposes."—Mrs. Hicks.

(६) आर्मिटेज स्मिथ—"राजकीय व्यय और राजकीय आय के स्वभाव और सिद्धान्तों के अन्वेषण को राजस्व कहा जाता है।"[1]

(७) प्लेहन—"राजस्व में ऐसे भौतिक साधनों की प्राप्ति और प्रयोग से सम्बन्धित राजनीतिज्ञों के कर्त्तव्यों का वर्णन है जो कि राज्य द्वारा समुचित कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक हैं।"[2]

(८) प्रो० आदम्स—"राजस्व विज्ञान राजकीय व्यय और आय सम्बन्धी अनुसन्धान है।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि राजस्व सरकार की आय और व्यय का अध्ययन है। कुछ लेखकों ने राजस्व को लोक सत्ताओं (Public authorities) की आय और व्यय का अध्ययन बताया है और कुछ ने इसे केवल सरकार के आय और व्यय का ही अध्ययन माना है। प्रथम विचारधारा वाले लेखकों ने राजस्व की परिभाषा विस्तृत रूप में की है, क्योंकि लोक सत्ताओं के अन्तर्गत केन्द्रीय, प्रान्तीय व स्थानीय सरकारों के अतिरिक्त अर्द्ध-सरकारी संस्थायें, स्कूल एवं सार्वजनिक कम्पनियाँ आदि भी सम्मिलित हैं। किन्तु वर्तमान काल में राजस्व का अर्थ इतना विस्तृत नहीं लगाया जाता है। आजकल राजस्व के अन्तर्गत केवल केन्द्रीय, प्रान्तीय व स्थानीय सरकारों के आय व व्यय से सम्बन्धित कार्यों का अध्ययन किया जाता है। साथ ही, सरकार के आय और व्यय से सम्बन्धित राज-प्रशासन का भी इसके अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।

राजस्व के अङ्ग

सुविधा की दृष्टि से राजस्व को निम्नलिखित चार विभागों में विभाजित किया गया है, परन्तु वास्तव में इन चारों में घनिष्ट सम्बन्ध है।

(१) सरकारी व्यय (Public Expenditure)—प्रत्येक सरकार अपने शासन को सुदृढ बनाने के लिए एवं प्रजा की भलाई के लिये कई प्रकार के व्यय करती है। उसे प्रत्येक वर्ष यह तय करना पड़ता है कि किन-किन मदों पर कितनी-कितनी राशि व्यय की जाय और इन व्ययों के क्या रूप होने चाहिए। इन सब बातों का अध्ययन सरकारी व्यय के अन्तर्गत आता है।

(२) सरकारी आय (Public Revenue)—प्रत्येक सरकार विभिन्न व्ययों की राशि को निश्चित करने के पश्चात् इन व्ययों के लिए आय के साधन ढूंढती है। अतः राजस्व के इस खण्ड में यह अध्ययन किया जाता है कि किस साधन से कितनी राशि प्राप्त की जाय व किस प्रकार की जाय और इसका भार वास्तव में किसे उठाना चाहिए आदि। आय-प्राप्ति के कई साधन हो सकते हैं, परन्तु इनमें मुख्य करारोपण है।

(३) लोक ऋण (Public Debt)—बहुधा सरकार को अपने कर्त्तव्यों के निष्पादन के लिए देशवासियों एवं विदेशियों से भी ऋण लेने पड़ते हैं। इन ऋणों की समस्या महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रत्येक सरकार को यह निश्चित करना पड़ता है कि कितना ऋण लिया जाय, किस

---

[1] "The investigation into the nature and principles of state expenditure and state revenue is called Public Finance."—**Armitage Smith.**

[2] "The science which deals with the activities of the statesmen in obtaining and applying the material means necessary for fulfilling the proper functions of the state."—**Plehn.**

[3] 'The science of Public Finance is an investigation of public expenditure and public revenue."—**Prof. Adams.**

प्रकार लिया जाय, भुगतान की शर्तें क्या रखी जायें और ब्याज-दर क्या हो, आदि। लोक ऋण के अध्ययन के अन्तर्गत उपरोक्त सभी समस्याओं का समावेश होता है।

(४) वित्तीय शासन (Financial Administration)—प्रत्येक सरकार आय, व्यय एव लोक-ऋणों का प्रबन्ध करने के लिए एक अलग विभाग रखती है। इस विभाग का कार्य प्रति वर्ष बजट बनाना एव आय, व्यय और ऋणों के लेखों का अंकेक्षण करना है।

लोक और निजी अर्थ-प्रबन्धन का भेद
(Distinction between Public and Private Finance)

जिस प्रकार सरकार अपनी आय और व्यय का हिसाब रखती है उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय और व्यय का हिसाब रखता है। सरकार के आय और व्यय के अध्ययन को 'राजस्व' और व्यक्तियों के आय और व्यय के अध्ययन को 'व्यक्तिगत वित्त प्रबन्ध' कहते हैं। इन दोनों के प्रमुख अन्तरों को इस प्रकार समझाया गया है :—

(१) **आय-व्यय का समायोजन**—प्रत्येक सरकार पहले अपने व्यय का हिसाब लगाती है और व्यय की राशि मालूम हो जाने के पश्चात् इसके लिए आय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, परन्तु व्यक्ति ठीक इसका उल्टा करता है। वह अपना व्यय अपनी आय के अनुसार ही करता है। व्यक्ति के बारे में यह कहावत चरितार्थ होती है कि 'तेते पाँव पसारिये जेती लाँबी सौर' (Cut your coat according to your cloth)। इस अन्तर को सूक्ष्म में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—सरकार पहले व्यय का ध्यान करती है और आय का बाद में, जबकि व्यक्ति पहले आय के बारे में सोचता है और व्यय का ध्यान बाद में करता है।

[यदि ध्यानपूर्वक गहराई से देखा जाय तो प्रकट हो जायगा कि सरकार की तरह व्यक्ति भी पहले व्यय के बारे में सोचता है। शादी और अन्य उत्सवों पर होने वाले व्ययों का हिसाब पहले बनाया जाता है और उसी के अनुसार आय एकत्रित की जाती है। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति नौकरी स्वीकार करने से पहले यह भली-भाँति देख लेता है कि उसके परिवार पर होने वाला व्यय उसको मिलने वाले वेतन से पूरा होगा, या नहीं। इससे प्रकट होता है कि व्यक्तिगत वित्तीय प्रबन्ध और राजस्व में कोई अन्तर नहीं है।]

(२) **उद्देश्यों में अन्तर**—बहुधा प्रत्येक व्यक्ति व्यय करते समय यह ध्यान में रखता है कि उसका व्यय उसकी आय से कम हो, परन्तु सरकार लगभग सदैव आय से अधिक व्यय करती है, क्योंकि उसका उद्देश्य प्रजा की भलाई करना है।

[ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि व्यक्ति भी आवश्यकता के अनुसार खर्च करते हैं और जब उनकी आमदनी उनके व्ययों को पूरा करने के लिए अपर्याप्त होती है तो वे इसका प्रबन्ध इधर-उधर से करने का प्रयत्न करते हैं। उनका भी मुख्य उद्देश्य अपनी भलाई करना है।]

(३) **गोपनीयता**—सरकार अपने आय-व्यय के आँकड़ों को प्रति वर्ष प्रकाशित करती है और इस बात का प्रयत्न करती है कि इसकी सूचना अधिक से अधिक व्यक्तियों को मिल सके। इसके विपरीत, प्रत्येक व्यक्ति इस बात का प्रयत्न करता है कि उसके आय और व्यय की सूचना अन्य व्यक्तियों को न मिले, क्योंकि ऐसा होने पर चोर और डाकुओं का डर बढ़ जायगा। इसके अतिरिक्त वह अपनी साख बनाये रखने के लिए अपनी आर्थिक स्थिति को गुप्त रखना चाहता है, क्योंकि 'भरम भारी पिटारा खाली' वाली कहावत ठीक है।

[सरकार अपने व्यय को प्रजा की सूचना के लिए छपवाती है, परन्तु वास्तव में प्रजा के ही द्वारा सरकार बनती है, अतः प्रजा और सरकार को एक ही मानना चाहिये। इस तर्क से यह स्पष्ट है कि सरकार अपने बजट को अपने ही घर वालों को दिखलाती है। इसी प्रकार

व्यक्ति की आर्थिक स्थिति से उसके घर वाले परिचित होते ही हैं। अतः दृष्टिकोण से दोनों में कोई अन्तर नहीं है।]

(४) अवधि में अन्तर—सरकार अपने आय व्यय का बजट एक वर्ष के लिए बनाती है, परन्तु व्यक्ति के आय-व्यय के हिसाब की कोई अवधि निश्चित नहीं है।

[जिस प्रकार सरकार एक वर्ष के लिए अपने आय-व्यय का बजट तैयार करती है उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक दशा के अनुसार एक दिन या एक सप्ताह या एक माह का आय-व्यय का हिसाब लिखित न सही पर मौखिक फिर भी रखता है। इस दृष्टिकोण से अवधि का अन्तर भी न के बराबर है।]

(५) ऋण लेने में अन्तर—सरकार आवश्यकता पड़ने पर देश और विदेश दोनों से ऋण ले सकती है, परन्तु व्यक्ति केवल अपने मित्रों एवं परिचित व्यक्तियों से ही ऋण लेता है। इसे 'आन्तरिक ऋण' कहा जाता है। वह 'बाह्य ऋण' नहीं ले सकता।

[यह अन्तर भी बहुत प्रभावशाली नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार व्यक्ति बाहरी लोगों से उस समय तक ऋण नहीं ले सकता जब तक कि बाहरी लोगों में उसकी आर्थिक दशा के प्रति विश्वास न हो, उसी प्रकार एक सरकार भी अन्य देशों से तब तक ऋण प्राप्त नहीं कर सकती जब तक कि उसकी आर्थिक स्थिति में उन देशों को विश्वास न हो। सरकार का अपने देशवासियों से ऋण लेना अपने कुटुम्बियों और स्वजनों से ऋण लेने के बराबर है।]

(६) ऋण के भुगतान में अन्तर—कभी-कभी सरकार ऋण भुगतान करने से इन्कार कर देती है और ऐसा करने पर उसके ऊपर कोई उचित आवश्यक कार्यवाही नहीं की जा सकती। यद्यपि ऐसा बहुत ही कम होता है (जैसे—एक सरकार हटने के बाद यदि दूसरी सरकार आये तो दूसरी सरकार पहली सरकार के लिए हुए ऋणों का भुगतान करने से मना कर सकती है) तथापि एक व्यक्ति दूसरों के लिए हुए ऋणों का भुगतान करने से मना नहीं कर सकता। यदि ऐसा वह करे, तो उस पर आवश्यक कार्यवाही की जा सकती है।

[यह अन्तर भी महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि एक सरकार देशवासियों के ऋण को भुगतान करने से मना भी कर सकती है, क्योंकि वे सब व्यक्ति एक ही कुटुम्ब के हैं, परन्तु एक सरकार दूसरे देश के ऋण को देने से मना नहीं कर सकती और यदि ऐसा करे तो उस पर उचित कार्यवाही की जाती है। इस दृष्टिकोण से व्यक्तिगत वित्तीय प्रबन्ध और राजस्व में कोई अन्तर नहीं है।]

(७) सङ्कट काल में—सङ्कट काल में जब आवश्यकतानुसार सरकार को कहीं से भी आय प्राप्त नहीं होती है तो वह स्वयं नोट छापकर अपने व्यय का प्रबन्ध कर सकती है, परन्तु एक व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर अपने 'I. O. Us.' को विधि ग्राह्य मुद्रा (Legal Tender) नहीं बना सकता।

[सरकार द्वारा छापे हुए नोट केवल देश में ही चलते हैं, अर्थात् उन्हीं लोगों में चलेंगे जो सरकार के क्षेत्र में हैं और जिन्होंने सरकार को बनाया है, परन्तु ये नोट पड़ोसी देशों में नहीं चल सकते। इस दृष्टिकोण से राजस्व व्यक्तिगत वित्तीय प्रबन्ध के ही समान है, क्योंकि इसमें किसी व्यक्ति द्वारा निर्गमित किया हुआ I. O. U. उसके घर वालों द्वारा तो स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु पड़ोसियों द्वारा नहीं।]

(८) लोचदार—राजस्व अधिक लोचदार होता है, किन्तु व्यक्तिगत वित्तीय प्रबन्ध इतना लोचदार नहीं होता।

[वास्तव में यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह प्रकट होगा कि जितनी लोच सरकारी

आय-व्यय मे है उसी अनुपात मे लोच व्यक्तिगत वित्तीय प्रबन्ध में भी होती है। निस्सन्देह दोनों की राशि भिन्न-भिन्न होती हैं, किन्तु जहाँ तक प्रतिशत का प्रश्न है, दोनो समान हैं।]

(९) **बलात् ऋण प्राप्त करना**—सरकार प्रजा से आवश्यकता पडने पर बलात् ऋण ले सकती है, परन्तु एक व्यक्ति आवश्यकता पडने पर बलात् ऋण नही ले सकता है।

[जिस प्रकार एक व्यक्ति बलात् ऋण नही ले सकता, ठीक उसी प्रकार सरकार भी दूसरे देशो से बलात् ऋण नही ले सकती है। सरकार का अपने देशवासियो से ऋण लेना अपने घर वालो से ऋण लेना है और इस प्रकार एक व्यक्ति भी अपने घर वालो से बलात् ऋण ले सकता है। अत ये दोनो समान है।]

(१०) **सुरक्षा पर व्यय करना**—सरकार अपने व्यय की एक बड़ी राशि सुरक्षा पर व्यय करती है, परन्तु एक व्यक्ति अपने व्यय का जो भाग सुरक्षा पर खर्च करता है, वह न के बराबर है।

[वास्तव मे यदि सरकार व व्यक्तियो द्वारा सुरक्षा पर किये गये व्ययो का अनुपात कुल व्ययो से निकाला जाय, तो शायद इतना अन्तर नही निकलेगा।]

(११) **सम-सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त**—प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यय इस प्रकार करता है *जिससे कि भिन्न-भिन्न वस्तुओ से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर हो।* सरकार के लिए इस प्रकार की सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करना वस्तुत. सम्भव नही है।

[वास्तव मे जिस प्रकार मनुष्य भिन्न-भिन्न वस्तुओ पर होने वाले व्ययो से सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने का यत्न करता है। ठीक उसी प्रकार वित्त मन्त्री भी बजट बनाते समय इस बात का प्रयत्न करते है कि प्रत्येक व्यय से मिलने वाली सम-सीमान्त उपयोगिता बराबर हो।]

(१२) **भविष्य के लिये व्यवस्था**—प्रत्येक सरकार ऐसी योजनाओ पर व्यय करने पर सकोच नही करती है, जिनके फल दस-बीस वर्षों के बाद प्राप्त होंगे, क्योकि सरकार अमर होती है; परन्तु व्यक्ति मरणशील है, इसलिए वह दीर्घकालीन योजनाओ पर व्यय नहीं करता है।

[सामर्थ्य के अनुसार यदि सरकार व व्यक्तियो द्वारा किये जाने वाले व्ययो की तुलना की जाय तो यह अन्तर भी कुछ सीमा तक समाप्त हो जाता है।]

(१३) **बजट का पास होना**—सरकार द्वारा व्यय का बजट निश्चित करने की परिपाटी मे तथा व्यक्तियो द्वारा व्यय के बजट को निश्चित करने की परिपाटी मे बहुत अन्तर है। सरकारी बजट दोनो सदनो मे बहुत बहस करने पर ही निश्चित किया जाता है, परन्तु व्यक्तिगत बजट पर इस प्रकार की कोई बहस नही होती है। व्यक्तिगत बजट तो व्यक्ति की ही योग्यतानुसार निश्चित होता है।

[जिस प्रकार सरकारी बजट दोनो सदनो मे बहस होने के पश्चात् ही तय किया जाता है उसी प्रकार व्यक्तिगत बजट भी व्यक्ति के घर वालो के बीच पर्याप्त बहस और सलाह-मशविरा करने के पश्चात् तय किया जाता है। अतः इन दोनो मे भी कोई विशेष महत्त्वपूर्ण अन्तर नही है।]

ऊपर दिए हुए विवरण से स्पष्ट है कि राजस्व और व्यक्तिगत वित्तीय प्रबन्ध मे बहुत अन्तर नही है।

अधिकतम् सामाजिक लाभ का सिद्धान्त
(Theory of Maximum Social Advantage)

सरकार का कर्त्तव्य है प्रजा की अधिक से अधिक भलाई करना, अधिक कर लगा कर प्रजा को लूटना नही। यही कारण है कि प्रत्येक सरकार अपनी आय प्राप्त करते

समय और भिन्न-भिन्न मदों पर व्यय करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखती है कि उसके कार्यकलापों से प्रजा को अधिक लाभ प्राप्त हो।

प्रत्येक मनुष्य अपना धन व्यय करते समय इस बात पर विशेष ध्यान देता है कि विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार व्यय किया जाय कि प्रत्येक वस्तु पर व्यय किए जाने वाले धन की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर हो। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति सम-सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार ही कार्य करता है, क्योंकि ऐसा करने से ही उसे अधिकतम् उपयोगिता प्राप्त होती है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक सरकार को भी चाहिए कि वह सम-सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार ही काम करे, जिससे कि प्रजा को अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके।

सरकार करों द्वारा या ऋण लेकर प्रजा से धन प्राप्त करती है। इन करों के देने मे प्रजा को त्याग करना पड़ता है या दुख उठाना पड़ता है। सरकार इस प्रकार प्राप्त की हुई राशि को ऐसे विभिन्न कार्यों पर व्यय करती है, जिससे प्रजा को लाभ हो। यदि यह लाभ कर देने मे प्रजा द्वारा किये गये त्याग से अधिक होता है, तो ऐसे कार्यों को 'कल्याणकारी कार्य' कहा जाता है।

उपयोगिता और अनुपयोगिता—

प्रत्येक सरकार जब कभी किसी पुराने कर के सम्बन्ध में कुछ परिवर्तन करती है या नया कर लगाती है तब उसके लिए यह विचार करना आवश्यक है कि इन करो को लगाने से प्रजा को कितनी उपयोगिता प्राप्त होगी और करो से प्राप्त धन को व्यय करने से कितनी उपयोगिता मिलेगी। सरकार उस बिन्दु तक कर मे वृद्धि करती रह सकती है जब तक कि प्रजा द्वारा सहन की जाने वाली अनुपयोगिता सरकार के व्ययों से प्राप्त उपयोगिता के बराबर न हो जाय। 'अधिकतम् सामाजिक कल्याण' का सिद्धान्त इन्ही उपयोगिताओं पर आधारित है।

प्रत्येक सरकार को इस प्रकार कर लगाने चाहिए कि समाज पर इसका कम से कम भार पड़े और उसे अपने व्यय इस प्रकार करने चाहिए कि समाज को उनसे अधिक से अधिक लाभ मिले। कम से कम त्याग के बदले में अधिक से अधिक लाभ मिलना ही 'अधिकतम् सामाजिक कल्याण' का सिद्धान्त है। जो सरकार इस सिद्धान्त का पालन नही करती वह सरकार प्रजा की दृष्टि मे गिर जाती है। इसके विपरीत जो सरकार इस सिद्धान्त का पालन करती है, उसे प्रजा का पूर्ण सहयोग सदैव मिलता है।

सीमान्त त्याग और सीमान्त लाभ—

जैसे-जैसे सरकार कर बढ़ाती जाती है, प्रजा का त्याग भी बढ़ता जाता है, और, जैसे-जैसे सरकार अपने व्यय को बढ़ाती जाती है, प्रजा का लाभ बढ़ता जाता है। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार प्रत्येक बढ़ी हुई व्यय की इकाई से पिछली इकाई की तुलना मे कम उपयोगिता प्राप्त होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कर बढ़ाने से त्याग बढ़ता है। परन्तु व्यय करने से लाभ घटता है, इसीलिए प्रत्येक सरकार इस बात का प्रयत्न करती है कि सीमान्त त्याग और लाभ बराबर हो, जिससे समाज को अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके।

सिद्धान्त की कठिनाइयाँ—

डाक्टर डाल्टन का विचार है कि यह सिद्धान्त बहुत ही स्पष्ट और साधारण है, परन्तु इसका व्यावहारिक प्रयोग बहुधा बहुत ही कठिन है।[1] वास्तव मे इस सिद्धान्त मे कुछ

[1] The principle is obvious, simple and far reaching though its practical application is often very difficult."—Dalton

ऐसी बातों का समावेश किया गया है जिनके कारण इसकी व्यावहारिकता बहुत ही कम हो गई है । इसकी निम्न मुख्य कठिनाइयाँ हैं :—(१) कर देने से जो अनुपयोगिता प्रजा को प्राप्त होती है उसे नापना कठिन है । (२) सरकारी व्ययो से प्रजा को जो उपयोगिता प्राप्त होती है उसे भी ठीक प्रकार से नही नापा जा सकता । (३) सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार के कर लगाये जाते हैं। इनमे से प्रत्येक कर का भार कितना पडता है, यह आसानी से ज्ञात नही किया जा सकता है ।

जब ऊपर दी हुई तीनो बातो का ज्ञान ही प्राप्त नही हो सकता है तो इस सिद्धान्त का कोई महत्त्व नही रहता । यह सिद्धान्त वास्तव मे सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त अनुपयोगिता पर ही आधारित है और जब इनका नापना कठिन है तो यह कैसे पता लगाया जा सकता है कि जनता को अधिक लाभ होता है ?

कठिनाइयों में समाधान—

श्री डाल्टन ने कठिनाइयो को दूर करने के लिये कुछ ऐसे सकेत बताये हैं जिनके द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि सरकार की आय-व्यय की नीति अधिकतम् सामाजिक कल्याण का पालन कर रही है या नही । ये उपाय निम्न प्रकार हैं :—(१) यदि सरकारी आय-व्यय नीति से देश का उत्पादन बढता है और अधिक से अधिक पैदावार कम से कम व्यय के द्वारा प्राप्त होती है, तो स्पष्ट है कि सरकार की इस नीति से प्रजा को लाभ हो रहा है । (२) यदि सरकार की आर्थिक नीति देश मे बेकारी की समस्या को हल करने मे सहायक हुई है तो उसे प्रजा के लिए हितकारी माना जायगा । (३) यदि सरकारी व्यय-नीति से देश मे सुरक्षा एव शान्ति रखने मे सहायता मिलती है और विदेशो के आक्रमणो से देश को बचाने का पूरा प्रबन्ध किया जाता हो, तो इस नीति को हितकारी नीति कहा जायगा । (४) यदि सरकार प्रजा से कर इस प्रकार वसूल करती है कि प्रजा पर कर का भार न्यूनतम् पडता है, तो यह नीति अच्छी मानी जायगी। (५) यदि सरकार अपनी आय-व्यय नीति के द्वारा धनवानों और गरीबो के बीच धन की असमानताओ को कम करती है तो यह नीति कल्याणकारी मानी जायगी ।

सक्षेप मे, सरकार को अपनी आय-व्यय नीति इस प्रकार बनानी चाहिए जिससे समाज को लाभ हो, प्रजा सुखी हो, उत्पादन बढ़े, बेकारी कम हो एव अन्य विभिन्न प्रकार की देश मे उन्नति हो । ऐसी नीति को 'अधिकतम् सामाजिक कल्याणकारी नीति' कहा जायगा ।

राजस्व का महत्त्व

(१) **आर्थिक क्रियाओ का सुचारु रूप से संचालन**—प्रत्येक सरकार की आय और व्यय नीति पर ही उस देश का उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण बहुत बड़ी सीमा तक निर्भर रहता है । इससे राजस्व का महत्त्व प्रकट होता है ।

(२) **धन के वितरण मे सहायता**—भारत सरकार का उद्देश्य देश को समाजवाद की ओर ले जाना है, अर्थात् अन्य कार्यों के साथ-साथ देश के धन के वितरण की असमानताओं को दूर करना है । राजस्व नीति इन असमानताओं को दूर करने मे बहुत सहायक होती है । सरकार ने धन-कर, व्यय-कर और सम्पदा-कर आदि लगाये हैं । इन सभी करो के भिन्न-भिन्न उद्देश्य होते हुए भी समाज के धन वितरण की असमानताओं को दूर करना उनका मुख्य उद्देश्य है ।

(३) **सरकार को अपने कर्त्तव्यो के निष्पादन में सहायता**—सरकार अपने कर्त्तव्यो को तभी भली-भांति पूरा कर सकती है जबकि उसकी आय और व्यय की नीति उचित हो । जनता उसी सरकार मे अधिक विश्वास करती है जो अपने कर्त्तव्यो को भली-भांति निभाती रहे । विल्सन ने राजस्व के महत्त्व पर निम्न प्रकार प्रकाश डाला है—"अच्छे राजस्व के बिना सुदृढ शासन नही चलाया जा सकता……।" आजकल सरकारो के कर्त्तव्य बढ़ते जा रहे हैं ।

सरकार का काम केवल देश की रक्षा ही नहीं है, वरन् देश की हर प्रकार की उन्नति करना है और यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि सरकार की आय और व्यय की नीति इस प्रकार की हो जिसमें सरकार अपना शासन प्रबन्ध उचित रीति से चला सके तथा साथ ही साथ प्रजा को कम से कम असुविधाओं का सामना करना पड़े। वास्तव में सरकार की सफलता व देश में सुख व शान्ति का रहना सबसे अधिक राजस्व पर निर्भर है।

(४) नियोजन में सुविधा—संसार के लगभग सभी पिछड़े देश अपनी आर्थिक उन्नति कर रहे हैं। भारत अपनी चतुर्थ पंच-वर्षीय योजना की तैयारी कर रहा है। इन सब योजनाओं को सफलीभूत बनाने के लिये राजस्व एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(५) विदेशों से ऋण—प्राचीन काल में राजस्व का इतना महत्त्व नहीं था जितना कि वर्तमान काल में है। आजकल हमारा देश बहुत-सी मशीनें एवं अन्य प्रकार का माल मँगाने के लिए विदेशों से अनुबंध कर रहा है। भारत सरकार ने अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए विदेशों से ऋण ले रखे हैं और नये ऋण लेने के प्रयत्न जारी हैं। ऐसी दशा में, जबकि देश आर्थिक मामलों में विदेशों से सम्बन्धित हो गया है, राजस्व की जरा-सी भूल देश के लिए बहुत बड़ा अहित कर सकती है।

ऊपर दिये हुए विवरण से यह स्पष्ट है कि देश का उत्पादन, उपभोग, सुख, शान्ति व रहन-सहन आदि सब राजस्व पर निर्भर हैं।

राजस्व का क्षेत्र

प्राचीन काल में राजस्व अर्थशास्त्र का एक भाग माना जाता था। परन्तु आजकल इसका इतना महत्त्व बढ़ गया है कि यह स्वयं एक विज्ञान एवं कला दोनों ही माना जाता है। इस विषय के अन्तर्गत हम सरकार की उन्हीं क्रियाओं को पढ़ते हैं जो कि सरकारी आय और व्यय से सम्बन्धित होती हैं। वे क्रियायें, जो कि सरकारी आय-व्यय से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नहीं हैं, इसके क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आती हैं। राजस्व के निम्न अङ्ग इसके क्षेत्र में आते हैं :— **(१) लोक व्यय**—इसमें उन विभिन्न क्रियाओं का वर्णन किया जाता है कि जिन पर सरकार धन व्यय करती है अर्थात् इस विभाग में व्यय से सम्बन्धित विभिन्न योजनाओं, नीतियों तथा अन्य क्रियाओं का वर्णन किया जाता है। **(२) लोक आय**—इसके अन्तर्गत सरकार के विभिन्न आय-साधनों का वर्णन किया जाता है, अर्थात् किस साधन से कितनी आय प्राप्त की जाय तथा किस प्रकार प्राप्त की जाय, इसके क्षेत्र में आता है। इसमें मुख्यत: करारोपण एवं इससे सम्बन्धित बातों का ही ध्यान रखा जाता है। **(३) लोक ऋण**—सरकार अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए देशवासियों तथा विदेशियों से ऋण लेती है। इन ऋणों को लेने तथा भुगतान करने से सम्बन्धित मामले इसके अन्तर्गत आते हैं। **(४) वित्तीय प्रशासन**—इस विभाग का कार्य सरकार की आय, व्यय एवं लोक ऋणों का प्रबन्ध करना है। सूक्ष्म में, राजस्व के क्षेत्र में आय का प्राप्त करना, विभिन्न शीर्षकों पर इसे व्यय करना तथा समय-समय पर ऋण आदि की व्यवस्था करना सम्मिलित है।

राजस्व का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

स्वयं डाल्टन ने इस बात को माना है कि राजस्व अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र की सीमा पर स्थित है। वर्तमान काल में राजस्व केवल अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र से ही नहीं वरन् अन्य शास्त्रों से भी सम्बन्धित है। इसका भिन्न-भिन्न शास्त्रों से सम्बन्ध नीचे दिखाया गया है —

(१) राजस्व और अर्थशास्त्र—दोनों ही विज्ञान और कला हैं। पहले राजस्व अर्थशास्त्र का अंग माना जाता था, परन्तु आजकल इसका अध्ययन अलग किया जाता है। इसका

यह अर्थ नहीं है कि पहले इन दोनों मे से एक दूसरे से सम्बन्ध या और अग्र नहीं है। यथार्थ मे, दोनों ही शास्त्र लगभग समान सिद्धान्तों पर आधारित हैं। बिना अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को समझे हुए राजस्व के सिद्धान्तो को नही समझा जा सकता है और राजस्व की सहायता के बिना अर्थशास्त्र का अध्ययन अधूरा है। बेस्टेबिल ने भी कहा है कि अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना राजस्व के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है।

(२) **राजस्व और राजनीति शास्त्र**—जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, स्वयं डाल्टन ने राजस्व का सम्बन्ध राजनीति शास्त्र के साथ बताया है। सरकार को प्रत्येक कर लगाने से पहले यह भली-भांति विचार करना पडता है कि इसका राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार प्रत्येक व्यय करने के पहले भी सरकार सोचती है। राजनीति का विद्वान राजनीति मे तब तक सफलता प्राप्त नही कर सकता जब तक कि सरकार की आय और व्यय की क्रियाओं का उसे अच्छा ज्ञान न हो। जिस प्रकार राजस्व का ज्ञान राजनीति के लिए आवश्यक है उसी प्रकार राजनीति का ज्ञान राजस्व के लिए आवश्यक है।

(३) **राजस्व और इतिहास**—इतिहास के द्वारा प्राचीन काल की घटनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। राजस्व का विद्यार्थी इन प्राचीन घटनाओं के आधार पर अपनी भविष्य की योजनायें बना सकता है। वह यह ज्ञान कर सकता है कि कुछ समय पहले सरकार की आय व व्यय की क्रियाओं का जनता पर क्या प्रभाव पड़ा था ? इसी आधार पर आगे की योजनायें बनाई जा सकती हैं।

भिन्न-भिन्न देशो के इतिहासो को पढने से वहा के राजस्व का ज्ञान प्राप्त होता है, जो कि वर्तमान राजस्व नीति निर्धारण करने मे बहुत सहायता पहुँचाता है। इससे प्रकट होता है कि राजस्व का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ठीक इसी प्रकार इतिहास भी राजस्व से सम्बन्धित है, क्योंकि इतिहास मे हम जिन घटनाओं को पढते हैं वे लगभग सभी राजस्व से अप्रत्यक्ष रूप मे सम्बन्धित हैं।

(४) **राजस्व और सांख्यिकी**—सांख्यिकी के अन्तर्गत उन संख्याओं का अध्ययन किया जाता है, जो किसी सूचना से सम्बन्ध रखती हैं। प्रत्येक सरकार अपनी आय और व्यय के आँकड़े एकत्रित करके बजट सम्पन्न करती है। यदि अक हटा लिये जायें तो सरकार को अपनी आय और व्यय नीति लाने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, यह सोचा ही नही जा सकता है। प्रत्येक सरकार को कर भार एवं व्यय से मिलने वाली उपयोगिता आदि के अकों की आवश्यकता पडती है। ये अक सांख्यिकी विभाग द्वारा दिये जाते हैं। इसलिये यह स्पष्ट है कि राजस्व और सांख्यिकी का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

परीक्षा प्रश्न :

१. "लोक वित्त और व्यक्तिगत वित्त एक दूसरे से आय और व्यय दोनो ही दृष्टियों से भिन्नता रखते हैं।" इस कथन का विवेचन करिये।
२. "राजस्व को अधिकतम् सामाजिक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए।" विवेचन करिये।
३. राजस्व का क्षेत्र सक्षेप मे बताइये और अर्थशास्त्र एव राजस्व के मध्य सम्बन्ध का भी विवेचन करिये।

लोक व्यय
(Public Expenditure)

प्रारम्भिक—राज्य के कार्य

सभी आधुनिक आर्थिक विद्वानों ने आजकल यह स्वीकार कर लिया है कि सामाजिक कल्याण हेतु राज्य को देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने की पूरी स्वतन्त्रता तथा पूर्ण अधिकार होना चाहिए। सन् १९२९ के महान अवसाद के पश्चात् तो इस विचार-धारा को अन्तर्राष्ट्रीय लोकप्रियता मिली है। इस लोकप्रियता पर पूँजीवाद के घोर संघर्षों तथा समाजवाद के सफल प्रयोगों का भारी प्रभाव पड़ा है। आधुनिक अर्थशास्त्री राज्य के कार्यक्षेत्र में विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करने तथा आन्तरिक शान्ति बनाये रखने तक ही सीमित नहीं रखते, वरन् उत्पादन का बढ़ाना, आय के वितरण में समानता लाना और सामाजिक सुरक्षा तथा सामाजिक कल्याण सम्पन्न करना राज्य के आवश्यक कार्य गिने जाते हैं। इन सब कार्यों के लिए भारी मात्रा में व्यय किया जाता है। आधुनिक युग में किसी भी सरकार की कुशलता और उपयुक्तता मुख्यतः इसी प्रकार के कार्य की प्रचुरता पर निर्भर होती है। शिक्षा, स्वास्थ्य, लोक मनोरंजन, वृत्तिहीनता का निवारण, सामाजिक सुरक्षा आदि कार्य इसी में सम्मिलित हैं।

लोक व्यय सम्बन्धी सिद्धान्त
(Principles of Public Expenditure)

सरकार को अपना व्यय निर्धारित करते समय कुछ निश्चित नियमों को ध्यान में रखना पड़ता है। कुछ महत्वपूर्ण नियमों का वर्णन नीचे किया गया है :—

(१) अधिकतम् सामाजिक लाभ का सिद्धान्त (Principle of Maximum Social Advantage)—सरकारी व्यय किसी एक व्यक्ति या जाति विशेष के लाभ के लिए नहीं होना चाहिए, वरन् उसे जन-साधारण का अधिकतम् कल्याण करना चाहिए। प्रत्येक व्यय करते समय यह भली-भाँति सोचना चाहिए कि इस व्यय से जनता को अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो। ऐसा करने से प्रजा का सरकार में विश्वास बढ़ता है और वह सदैव सरकार का सहयोग करने के लिए तैयार रहती है। यही कारण है कि जब कभी सरकारी द्वारा कोई ऐसा व्यय हो जाता है कि सर्व-साधारण की भलाई न करके कुछ निश्चित लोगों को ही लाभ पहुँचता है तब प्रजा द्वारा सरकार का विरोध किया जाता है। अतः प्रत्येक सरकारी व्यय का उद्देश्य प्रजा को अत्यधिक लाभ पहुँचाना होना चाहिए।

(२) मितव्ययिता का सिद्धान्त (Principle of Economy)—जहाँ व्यय करते समय सरकार का ध्यान प्रजा को अधिकतम् लाभ पहुँचाने का होता है वहाँ उसे वह भी ध्यान करना पड़ता है कि उसके व्यय में फिजूलखर्ची न हो यह जानने के लिए कि यह व्यय प्रजा के लिए हानिकारक न हो और प्रजा को उत्पादन क्रियाओं पर बचत करने की इच्छाओं पर उल्टा प्रभाव न डाले सरकार प्रत्येक व्यय को नापती है। यदि प्रत्येक व्यय पूर्णतया सोच-समझ कर इस प्रकार

से किया जाय कि इसमें अपव्ययिता की तनिक भी झलक न हो और व्यय प्रजा के हित के लिए पूर्णतया आवश्यक हो, तो यह कहा जायेगा कि सरकार के इस व्यय में मितव्ययिता के सिद्धान्त का पालन किया गया है।

(३) **स्वीकृति का सिद्धान्त** (Principle of Sanction)—कोई भी राजकीय व्यय, बिना उचित आज्ञा व अधिकार प्राप्त किये, नहीं करना चाहिए। केवल वे ही व्यय 'मान्य' व्यय माने जाते हैं जो पूर्णतया अधिकृत होते हैं। अनाधिकृत व्यय करने से राजस्व में अनेक गड़बड़ियाँ पैदा हो जाती हैं और सरकार अपने कर्त्तव्यों का सुचारु रूप से पालन नहीं कर सकती है। यही कारण है कि व्यय का यह सिद्धान्त बनाया गया है कि कोई भी व्यय बिना पूर्व स्वीकृति के नहीं करना चाहिए। व्यय को स्वीकृति देने के साथ-साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि व्यय उन्हीं वस्तुओं पर किया जाय जिनके लिये कि स्वीकृति दी गई है और जिस प्रकार को जितनी राशि व्यय करने का साधारणतया अधिकार दिया जाता है, कहीं उससे अधिक करने की स्वीकृति तो नहीं दे दी गई है। अंकेक्षक (Auditor) का यह कर्त्तव्य है कि व्ययों की जाँच करते समय यह अवश्य देखें कि प्रत्येक व्यय स्वीकृति के बाद ही किया गया है और जहाँ कहीं इस सिद्धान्त का उल्लघन हुआ हो वहाँ इसकी विशेष जाँच करे।

(४) **लोच का सिद्धान्त** (Principle of Elasticity)—यदि सरकारी व्यय विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार घटाया या बढ़ाया जा सकता है तो कहा जायगा कि इसमें लोच है। प्रत्येक सरकार अपने व्यय को लोचदार बनाने का प्रयत्न करती है, क्योंकि यदि आवश्यकतानुसार व्यय कम नहीं किया जा सकेगा तो यह व्यय अपव्यय कहलायेगा। व्यय को बढ़ाने एवं घटाने का कार्य धीरे-धीरे और सावधानीपूर्वक करना चाहिए, क्योंकि इससे सम्बन्धित बहुत-सी जटिल समस्यायें रहती हैं।

(५) **आधिक्य का सिद्धान्त** (Principle of Surplus)—व्यय करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वह इतना अधिक न हो जाय कि सरकार की आय व्यय की अपेक्षा कम रहे। बहुत-सी सरकारें घाटे का बजट बनाने का प्रयत्न करती हैं अर्थात् उनके बजटों में व्यय अधिक और आय कम दिखाई जाती है। ऐसा करना सदैव उचित नहीं है। प्रत्येक सरकार को यह प्रयत्न करना चाहिए कि उसके बजट में आय और व्यय लगभग बराबर हो, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की भाँति सरकार को भी सन्तुलित बजट के सिद्धान्त को अपनाना चाहिए।

(६) **उत्पादन का सिद्धान्त** (Principle of Production)—प्रत्येक सरकार को व्यय करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके व्यय से देश के उत्पादन में वृद्धि हो एवं लोगों की उत्पादन की ओर रुचि बढ़े। ऐसा होने से देश समृद्धिशाली बनेगा। इसके विपरीत यदि सरकारी व्यय लोगों की उत्पादन शक्तियों को धक्का पहुँचाये, तो वह अच्छा नहीं कहा जायेगा।

(७) **समान वितरण का सिद्धान्त** (Principle of Equitable Distribution)—देश में धन का वितरण समान न होने के कारण धनवान एवं निर्धनों में बहुत बड़ा अन्तर पैदा हो गया है। आजकल, जबकि देश समाजवाद की ओर जा रहा है, सरकार अपनी प्रत्येक क्रिया में इस बात का प्रयत्न करती है कि जनता में धन की असमानतायें कम हों। यही कारण है कि सरकार अपना प्रत्येक व्यय इस प्रकार सोच-समझकर कर सकती है कि वह वितरण की विषमता को दूर करे।

(८) **व्यय की निश्चितता** (Principle of Certainty)—यदि एक विशेष शीर्षक पर व्यय सरकार किसी वर्ष करती है और किसी वर्ष नहीं करती, तो इससे जनता में सरकारी

व्यय के बारे में अनिश्चितता रहती है। यह अनिश्चितता देश की उन्नति के लिए घातक है। अतः प्रत्येक सरकार को चाहिए कि वह अपने व्यय के सम्बन्ध में निश्चित कदम उठाये।

प्राइवेट और पब्लिक व्यय में अन्तर

(१) प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय के अनुसार ही व्यय करता है, परन्तु सरकार अपनी आय का ध्यान न रख के देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर अपना व्यय करती है। (२) प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यय केवल अपनी और अपने कुटुम्ब की भलाई के लिए ही करता है, परन्तु सरकार अपना व्यय अपनी प्रजा की भलाई के लिए ही करती है। (३) प्रत्येक व्यक्ति के व्यय का प्रभाव उस पर या उसके परिवार पर पड़ता है, परन्तु सरकारी व्यय का प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है। (४) व्यक्ति जब चाहे अपने व्यय को कम कर सकता है या बन्द कर सकता है, परन्तु सरकार के लिए ऐसा करना आसान नहीं है, क्योंकि सरकारी व्यय का सम्बन्ध देश की तमाम समस्याओं से होता है। (५) अपने व्यय से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का अनुमान प्रत्येक व्यक्ति आसानी से लगा सकता है, परन्तु सरकारी व्यय से प्रजा को मिलने वाली उपयोगिता का अनुमान उतनी आसानी से नहीं लगाया जा सकता। (६) मनुष्य अपना व्यय करने के लिए स्वतन्त्र है। उस पर व्यय करने के लिए कोई दबाव नहीं डाल सकता, परन्तु सरकार पर व्यय करने के लिए दबाव डाला जा सकता है। जनतन्त्र में प्रजा सरकार पर कुछ निश्चित व्यय करने के लिए दबाव डाल सकती है। (७) प्रत्येक व्यक्ति व्यय करते समय मितव्ययिता का पूरा ध्यान रखता है, परन्तु सरकार मितव्ययिता का इतना ध्यान नहीं रखती। (८) सरकार दीर्घकालीन योजनाओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक व्यय करती है, क्योंकि वह अमर है, परन्तु व्यक्ति मरणशील होने के कारण ऐसी योजनाओं पर बहुत कम व्यय करते हैं जो कि दीर्घकालीन हों।

लोक-व्यय का वर्गीकरण

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने लोक-व्ययों के विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण किये हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(I) **राज्य की आय के आधार पर**—निकलसन ने सरकारी व्यय का वर्गीकरण इस आधार पर किया है कि राज्य को इस व्यय से कितनी आय प्राप्त होती है। यह वर्गीकरण इस प्रकार है :—(अ) **वे सरकारी व्यय, जिनसे प्रत्यक्ष रूप से सरकार को कोई आय प्राप्त नहीं होती,** जैसे—देश को शिक्षित बनाने के लिए किया हुआ व्यय। इस व्यय से सरकार को यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में कोई आय प्राप्त नहीं होती है, परन्तु परोक्ष रूप में हो सकती है। (ब) **वे सरकारी व्यय, जिनके बदले में सरकार को कोई आय प्राप्त नहीं होती,** जैसे—बेकारों, अपाहिजों और गरीबों की सहायता के लिए एवं युद्ध में किये गये व्यय। (स) **ये सरकारी व्यय, जिनसे सरकार को** *लगातार पर्याप्त आय प्राप्त होती है, जैसे—रेल, सड़क तथा डाकखानों पर किये गये व्यय।* (द) **वे व्यय, जिनसे सरकार को थोड़ी आय प्राप्त** होती है, जैसे—सिंचाई की सुविधा देने पर प्रजा से मिलने वाली सिंचाई की राशि।

आलोचना—वास्तव में सरकार का ऐसा कोई भी व्यय नहीं है जिससे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में अल्पकाल में या दीर्घकाल में आय प्राप्त न हो। अतः निकलसन का यह वर्गीकरण अस्पष्ट है।

(II) **समाज को होने वाले लाभ के आधार पर**—समाज को प्राप्त होने वाले लाभ के आधार पर सरकार द्वारा किये जाने वाले व्ययों का वर्गीकरण करने वाले अर्थशास्त्रियों में **कोन** (Cohn) तथा प्लेहन (Plehn) नामक अर्थशास्त्री प्रमुख हैं। इनके द्वारा दिया गया वर्गीकरण

इस प्रकार है :—(अ) ऐसे व्यय, जिनसे समाज के कुछ व्यक्तियों या वर्गों को विशेष लाभ प्राप्त हो, जैसे—वृद्धावस्था के लिये दी हुई पेन्शन, बेरोजगारों को दी हुई आर्थिक सहायता आदि। (ब) ऐसे व्यय, जो कि पुलिस, फौज आदि पर किये जाते हैं, समाज के लगभग सभी व्यक्तियों को समान लाभ पहुँचाते हैं, अतः इन्हें समाज को समान लाभ पहुँचाने वाले व्यय कहा जायगा। (स) ऐसे व्यय, जिनसे समाज के सभी व्यक्तियों को लाभ मिलता है, परन्तु साथ ही, कुछ व्यक्तियों को विशेष लाभ प्राप्त होता है, जैसे—वे व्यय जो न्यायालयों पर किये जाते हैं। (द) सरकार के कुछ व्यय ऐसे भी हैं जो केवल उन्हीं व्यक्तियों को लाभ पहुँचायेंगे, जोकि उसका मूल्य दें, जैसे—रेल, डाक एवं तार पर किये हुए व्यय।

आलोचना—व्ययों का यह वर्गीकरण भी बहुत अच्छा नहीं है, क्योंकि इसके विभिन्न विभाग आपस में एक-दूसरे से मिलते-जुलते (Overlap) हैं।

(III) राज्य के आधार पर—एडमस् ने सरकार के कार्यों के आधार पर व्ययों को इस प्रकार बाँटा है :—(अ) वे व्यय जो देश के व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिए किये जाते हैं। जैसे—यातायात, बिजली आदि पर किये हुए व्यय। (ब) ऐसे व्यय, जिनसे देश की रक्षा होती है एवं देश में शान्ति का वातावरण रहता है, जैसे—फौज और पुलिस पर किया हुआ व्यय। (स) ऐसे व्यय, जिनसे देश की विभिन्न दशाओं में उन्नति होती है, जैसे—मनोरंजन, शिक्षा आदि पर किया जाने वाला व्यय। इन व्ययों से देश का विकास करने में बड़ी सहायता मिलती है।

आलोचना—एडमस् के इस वर्गीकरण की बहुत आलोचना की गई है, क्योंकि इनका वर्गीकरण भी आपस में एक-दूसरे से मिलता है। किस व्यय को "संरक्षण व्यय" कहा जाय और किसको "विकास व्यय" यह बड़ा कठिन है, क्योंकि वास्तव में एक ही प्रकार का व्यय संरक्षण एवं विकास दोनों के ही लिए प्रयोग किया जा सकता है।

(IV) उत्पादकता के आधार पर—प्रो० रोबिन्सन ने सरकारी व्यय का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :—(अ) **उत्पादक व्यय**, जो देश का उत्पादन बढ़ाने में सहायता करते हैं। (ब) **अनुत्पादक व्यय**, जिनसे देश के उत्पादन को प्रत्यक्ष रूप से कोई लाभ नहीं है, जैसे—युद्ध सम्बन्धी व्यय।

आलोचना—यह वर्गीकरण भी उचित नहीं है, क्योंकि कोई भी ऐसा सरकारी व्यय नहीं, जो किसी न किसी रूप में उत्पादन में मदद न करे। इसके अतिरिक्त, यह जानना बहुत कठिन है कि कौन-सा व्यय उत्पादक है और कौन-सा अनुत्पादक। यही कारण है कि रोबिन्सन के इस वर्गीकरण की आलोचना की गई है।

(V) स्वरूप के आधार पर—यह वर्गीकरण इस प्रकार है :—(अ) **केन्द्रीय व्यय**, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा किये जाते हैं। (ब) **प्रान्तीय व्यय**, जो कि प्रान्तीय सरकारों द्वारा किये जाते हैं। (स) **स्थानीय सरकार के व्यय**, जो स्थानीय सरकारों (जैसे—म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि) द्वारा किये जाते हैं।

आलोचना—बहुत से कार्य ऐसे हैं जिनमें यह ज्ञात करना कठिन हो जाता है कि इनमें कौन-सा भाग केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाय, कौन-सा प्रान्तीय सरकार अथवा स्थानीय सरकार द्वारा। जैसे—सड़कों का निर्माण एवं शिक्षा-प्रसार।

(VI) सुरक्षा तथा उन्नति के आधार पर—**डा० डाल्टन** का वर्गीकरण इस प्रकार है :—(अ) **सामाजिक सुरक्षा**—प्रत्येक सरकार बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करने के लिये एवं देश के अन्दर सुख और शान्ति स्थापित करने के लिए फौज और पुलिस पर जो व्यय करती

है वे सामाजिक सुरक्षा, के व्यय कहे जाते हैं। (ब) सामाजिक उन्नति—वे व्यय, जो शिक्षा, सिंचाई, चिकित्सा, यातायात आदि पर किये जाते है, सामाजिक उन्नति के व्यय कहे जाते है।

आलोचना—यह वर्गीकरण भी सर्वमान्य वर्गीकरण नही है, क्योंकि सरकार के बहुत से व्ययो को इन दोनों में से किसी के भी अन्तर्गत ले जाया जा सकता है।

(VII) हस्तान्तरण के आधार पर—प्रो० पीगू (Pigou) का यह वर्गीकरण इस प्रकार है :—(अ) **हस्तान्तरित होने वाला व्यय**—सरकार के वे व्यय, जो उत्पत्ति-साधनों पर इस प्रकार किये जाते है कि इन साधनो का प्रयोग सरकार एवं प्रजा दोनों ही के द्वारा किया जा सके, 'हस्तान्तरित होने वाले व्यय' कहलाते हैं। (ब) **हस्तान्तरित न होने वाले व्यय**—सरकार के ऐसे व्यय, जिनके द्वारा उत्पत्ति-साधन सरकार के काम आ सकने है और समाज इन साधनो को प्रयोग न कर सके, 'हस्तान्तरित न होने वाले व्यय' कहे जायेगे।

आलोचना—यह वर्गीकरण भी उचित नही है, क्योकि बहुत से व्यय ऐसे है जिनमे यह ज्ञात करना कठिन है कि हस्तान्तरित होने वाले एवं हस्तान्तरित न होने वाले व्यय कौन से है।

(VIII) अनिवार्यता के आधार पर—प्रो० मिल का वर्गीकरण इस प्रकार है :—(अ) **अनिवार्य व्यय**, जो ऐसे कार्यों पर किये जायें जिनका करना सरकार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। (ब) **ऐच्छिक व्यय**, जो ऐसे कार्यों पर किये जाते हैं, जिन्हें करना या न करना सरकार की इच्छा पर निर्भर है।

आलोचना—यह वर्गीकरण भी सन्तोषजनक नही है, क्योंकि सरकार के अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यों मे भेद करना अत्यन्त कठिन है।

(IX) प्राथमिकता के आधार पर—प्रो० शिराज का यह वर्गीकरण इस प्रकार है :—(अ) **मुख्य व्यय**, जो सुरक्षा और शान्ति-स्थापना के लिए किये जाते हैं। इनका करना सरकार का मुख्य कर्तव्य है। (ब) **सहायक व्यय**, जो समाज की उन्नति हेतु सरकार द्वारा किये जाते हैं।

आलोचना—इस वर्गीकरण को भी उचित नही माना गया है, क्योंकि इसमें व्ययो का बँटवारा व्यावहारिक नही है।

(X) स्थिरता के आधार पर—प्रो० जे० के० मेहता का वर्गीकरण इस प्रकार है :—(अ) **स्थिर व्यय**, जनता द्वारा व्यय से सम्बन्धित कार्यों का चाहे जितना प्रयोग किया जाय, परन्तु व्ययो की लागत बढ़ती नही है, ऐसे व्ययो को स्थिर व्यय कहते हैं, जैसे—सुरक्षा पर किये जाने वाले व्यय। (ब) **अस्थिर व्यय**—कुछ लोक सेवायें इस प्रकार की भी है कि जिनका प्रयोग बढ़ाने से उन पर सरकार द्वारा किया जाने वाला व्यय भी बढ़ता है, ऐसी सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय अस्थिर व्यय कहलाता है, जैसे—शिक्षा पर व्यय। यह भी कह सकते है कि सरकार द्वारा किये जाने वाले वे व्यय, जो कि जनता को सरकारी कार्यों से मिलने वाली उपयोगिता के साथ बढ़ते रहते हैं, अस्थिर व्यय कहलाते है।

आलोचना—इनका वर्गीकरण संतोषजनक प्रतीत नही होता, क्योंकि स्थिर और अस्थिर व्ययों का अन्तर साधारणतः समझ मे नहीं आता।

(XI) आवश्यकता के आधार पर—रोशर का यह वर्गीकरण इस प्रकार है : (अ) **आवश्यक व्यय**, जिन्हे प्रत्येक सरकार को हर दशा मे करना पड़ता है। (ब) **लाभदायक व्यय**, जिनसे जनता को लाभ तो होता है, परन्तु जिनका करना सरकार की इच्छा पर निर्भर है (परन्तु बहुधा सरकार इन्हे करती है)। (स) **अनावश्यक व्यय**, जिन्हें करना और न करना सरकार के लिये बराबर है, क्योंकि जनता को व्ययो से मिलने वाली उपयोगिता पर ये व्यय कोई प्रभाव नही डालते।

आलोचना—इस वर्गीकरण के अनुसार यह जानना कठिन है कि किस व्यय को आवश्यक माना जाय और किसको लाभदायक अथवा किसको अनावश्यक।

लगभग प्रत्येक वर्गीकरण में 'दोबारगी' (Duplication) का दोष है। इससे यह प्रतीत होता है कि इन व्ययों का कोई निश्चित तथा पूर्णतया पृथक् करने वाला वर्गीकरण नहीं किया जा सकता।

लोक-व्यय का समाज पर प्रभाव
(Social Effect of Public Expenditure)

लोक-व्यय का समाज की आर्थिक क्रियाओं पर बहुत प्रभाव पड़ता है। कुछ लोगों की धारणा है कि सरकार द्वारा युद्ध पर किया गया व्यय अनुत्पादक है और इसका देश की आर्थिक क्रियाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु ऐसी बात नहीं है। सरकार युद्ध शौक पूरा करने के लिए नहीं लड़ती है, वरन् देश को गुलामी से बचाने एवं देश के अन्दर होने वाली आर्थिक क्रियाओं पर बुरे बाहरी प्रभाव को रोकने हेतु युद्ध किया जाता है। यदि युद्ध न किया जाय और विदेशी सत्ता के हस्तक्षेप को न रोका जाये, तो देश की आर्थिक क्रियाओं का सुचारु रूप से चलना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव हो जायगा। इससे स्पष्ट है कि युद्ध पर किया गया व्यय अनुत्पादक या अपव्यय नहीं, बल्कि एक आवश्यक व्यय है।

आर्थिक क्रियाओं का आशय मुख्यत: देश की उत्पादन एवं वितरण क्रियाओं से है, क्योंकि एक देश की आर्थिक उन्नति वास्तव में उस देश के उत्पादन एवं वितरण पर मुख्यतः निर्भर होती है। अतः नीचे लोक-व्यय का प्रभाव उत्पादन एवं वितरण दोनों पर ही दिखाया गया है।

(I) लोक-व्यय का उत्पादन पर प्रभाव—

प्राय: लोक-व्यय का उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव को निम्नलिखित तीन दृष्टियों से आंका जा सकता है :—

(१) कार्यक्षमता और उसकी बचत करने की शक्ति पर प्रभाव—जनता की कार्य-क्षमता तब ही बढ़ती है, जबकि उसे कार्य करने की आवश्यक सुविधायें प्रदान की जायें। शिक्षा, चिकित्सालय, आदि पर सरकार द्वारा किये गये व्यय ऐसे हैं जिनसे लोगों को अपने कार्य में काफी सहायता मिलती है। अतः ये सभी व्यय लोगों की कार्यक्षमता बढ़ाते हैं। कार्यक्षमता बढ़ने से उनके आय-अर्जन की शक्ति बढ़ती है, और, जब आय अधिक होगी, तो बचत करने की शक्ति स्वत: बढ़ जायेगी।

(२) कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव—जनता में कार्य करने की चाहे जितनी शक्ति हो, परन्तु जब तक कार्य करने की इच्छा न होगी तब तक उसका कार्य करने में मन नहीं लगेगा। सरकार को इस प्रकार व्यय करना चाहिए कि जनता के कार्य करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव न पड़े। यदि सरकार वृद्धावस्था के लिये पेन्शन, बेकारी के समय में भत्ता आदि देने का आश्वासन देती है, तो इस प्रकार के व्यय से जनता के काम करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अत: सरकार को इस प्रकार व्यय करना चाहिये जिससे लोगों में कार्य करने की इच्छा बढ़े। यदि ऐसा होगा, तो देश का उत्पादन बढ़ेगा।

(३) उत्पत्ति-साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव—देश का उत्पादन बढ़ाने के लिये आवश्यक है कि उत्पादन के विभिन्न साधनों का भिन्न-भिन्न उद्योगों में स्वतन्त्रतापूर्वक स्थानान्तरण हो सके। यदि सरकारी व्यय इस प्रकार का है जो इन साधनों की गतिशीलता को प्रोत्साहित करता है, तो ऐसा व्यय उत्पादन को बढ़ाने वाला कहा जायगा।

यदि सरकार उद्योगों की उन्नति के लिए नई-नई योजनाएँ बनाती है, तो ये व्यय भी उत्पादक-व्यय माने जाते हैं।

(II) लोक-व्यय का वितरण पर प्रभाव—

समाज की उन्नति करने के लिये आजकल यह आवश्यक समझा जाता है कि देश को समाजवाद की ओर अग्रसर किया जाय। समाजवाद में धनवान और निर्धन में अन्तर कम करने का प्रयत्न किया जाता है, अर्थात्, धन की असमानताओं को कम किया जाता है। ऐसा करने के लिए सरकार अमीरो पर कर लगाती है और अमीरो से प्राप्त हुई आय को इस प्रकार व्यय करती है कि गरीबो को अधिक लाभ प्राप्त हो। इस विधि के द्वारा देश मे धन के समान वितरण की व्यवस्था की जाती है।

जो सरकारी व्यय धन के वितरण की असमानताओ को दूर करते हैं वे ऐच्छिक कहे जाते है और प्रजा इनका स्वागत करती है।

(III) लोक-व्यय के अन्य प्रभाव—

लोक-व्यय का 'श्रम' पर भी प्रभाव पडता है। जिस समय निजी उद्योगों एव व्यापारो मे मन्दी के कारण काम कम होता है और बहुत से श्रमिक बेकार हो जाते हैं (श्रमिकों के बेकार होने का अर्थ है कि देश की राष्ट्रीय आय का कम होना और आर्थिक क्रियाओ का ढीला होना) तो ऐसे समय पर यदि सरकार सडकें बनाने व रेल बनाने का कार्य शुरू करे, तो श्रमिको को काम भी मिलेगा और देश की उन्नति भी होगी। सरकार द्वारा ऐसा व्यय वास्तव मे उस व्यय से अच्छा है, जो बेरोजगारों को कोरी आर्थिक मदद के रूप मे दिया जाता है।

सरकारी व्यय पर ही वास्तव में देश का उत्पादन, वितरण व श्रम-समस्या निर्भर है। जितना ही इन्हें सुचारु रूप से चलाने का प्रयत्न किया जायेगा, उतना ही देश की आर्थिक दशा को लाभ होगा।

विगत वर्षों में लोक-व्यय की वृद्धि के कारण

वर्तमान युग मे लोक-व्यय मे भारी वृद्धि हुई है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यय ससार के सभी देशो मे बराबर बढ रहा है। निस्सन्देह, यदि किसी देश के अब से ६० वर्ष पूर्व के लोक-व्यय की वर्तमान व्यय से तुलना की जाय तो उसमे आश्चर्यजनक वृद्धि दृष्टिगोचर होगी। लोक-व्यय की इस विशाल वृद्धि के प्रमुख कारण निम्न प्रकार है :—

(१) राज्यों के क्षेत्रफल तथा जन-संख्या का विस्तार—लगभग सभी राज्यो का क्षेत्रफल बढा है, जिसका फल यह हुआ है कि अधिक बडे प्रदेश के लिए अधिक व्यय की व्यवस्था आवश्यक हो गई है। भूतकालीन राज्य आधुनिक राज्यों की तुलना मे साधारणतया बहुत छोटे-छोटे होते थे। क्षेत्रफल बढने के साथ-साथ जन-सख्या की वृद्धि तो और भी अधिक तेजी के साथ हुई है। प्रत्येक देश को करोडो मनुष्यो के लिए राजकीय सेवाएँ उपलब्ध करनी पडती हैं, जिससे सरकारी व्यय बढ जाता है। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा जाता है कि जैसे-जैसे किसी देश की जन-सख्या बढती जाती है प्रति व्यक्ति व्यय की मात्रा बढती है।

(२) कीमत-स्तर का निरन्तर ऊपर उठना—विगत वर्षों मे ससार भर मे कीमतें बराबर ऊपर बढ़ती गई हैं। ऊँची कीमतो के कारण उन सेवाओ के व्यय मे भी, जो राज्य द्वारा सम्पन्न की जाती हैं, वृद्धि हुई है।

(३) राष्ट्रीय आय और जीवन-स्तर की उन्नति—विगत वर्षों मे ससार के सभी देशो मे कृषि तथा उद्योग-धन्धो की उन्नति हुई है, प्राकृतिक और मानव-साधनो का विदोहन अधिक अश तक किया गया है और सभी देशो ने आर्थिक विकास की किसी विचारयुक्त नीति को अपनाया

है। इस आर्थिक उत्पादन के साथ-साथ राष्ट्रीय आय मे भी वृद्धि हुई है और मानव-समाज का जीवन-स्तर ऊँचा उठता गया है। समाज की करदान क्षमता बढ़ी है और लोक आगम मे भी उसी के अनुसार वृद्धि हुई है। लोक आगम के बढने से राज्य के पास अधिक धन आ गया है और उसकी व्ययक्षमता बढ गई है। पूँजी-व्यय की मात्रा सभी देशो मे बराबर बढ़ रही है।

(४) **युद्ध और युद्ध की रोकथाम**—आधुनिक युग में विश्वव्यापी युद्ध बराबर होते आये हैं। कुछ देशों ने देशों को जीतने के लिये भारी सैनिक तैयारी की है। अन्य देशो ने अपनी रक्षा के लिए भारी व्यय किया है। जिन देशों ने तटस्थ नीति अपनाई है उन्हें भी अपनी सैनिक-शक्ति दृढ रखने के लिए भारी व्यय करना पड़ा है, ताकि कोई उन पर आक्रमण न कर दे। वैसे भी आधुनिक युद्ध बहुत महँगे होते हैं। हाल के वर्षों में शीत युद्ध के कारण लोक-व्यय मे भारी वृद्धि हुई है।

(५) **दोषपूर्ण नागरिक एवं वित्तीय शासन**—कहा जाता है कि विगत वर्षों में ससार के लगभग सभी देशो मे लोक-व्यय पर नियन्त्रण ढीला रहा है, सेवाओ की दोबारगी (Duplication) और अपव्यय को प्रोत्साहन मिला है, शासन सम्बन्धी जटिलता बढती गई है, नागरिक शासन का बराबर विस्तार होता गया है, और वेतन और कर्मचारियों की सख्या दोनों मे वृद्धि हुई है। इन सब बातो के फलस्वरूप लोक-व्यय मे भी बराबर वृद्धि होती गई है।

(६) **प्रजातन्त्रवाद का विकास**—अन्य शासन-प्रणालियो की तुलना मे प्रजातन्त्रीय राज्य मे व्यय अधिक होता है। इसमे अनेक राजनीतिक दल होते हैं, जिनमे से प्रत्येक सार्वजनिक व्यय के द्वारा मतदाताओं को लाभ पहुँचाने तथा प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। प्रजातन्त्रीय राज्य में शिक्षा, स्वास्थ्य-सेवाओ और सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता बढ जाती है और सरकार को अपना व्यय बढाने पर बाध्य होना पड़ता है।

(७) **राज्य को आर्थिक और सामाजिक कल्याण का साधन मानना**—भूतकाल में राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत ही सीमित रखा जाता था। तब ससार "निर्बाधावादी नीति" का पुजारी था, परन्तु अब राज्य को आर्थिक और सामाजिक कल्याण का साधन माना जाता है। सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है और आर्थिक तथा सामाजिक त्रुटियां लोक-व्यय द्वारा दूर की जा सकती हैं। इस कारण अब यह विचार बल पकड़ रहा है कि जन-साधारण के सरक्षक के रूप मे राज्य के पास वित्तीय साधन विस्तृत होने चाहिए और लोक-व्यय इतना अधिक होना चाहिए कि राष्ट्रीय जीवन के अग मे उसका प्रभाव दिखाई पड़े।

लोक-व्ययों की सीमा

लोक-व्यय की सीमा क्या होनी चाहिए, अर्थात्, राष्ट्रीय आय का अधिक से अधिक कितना प्रतिशत लोक-व्यय के रूप मे व्यय होना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। बात यह है कि इस प्रकार की सीमा समाज की आवश्यकता और इच्छा पर निर्भर होती है। यह इस बात पर भी निर्भर होती है कि देश के आर्थिक विकास की क्या अवस्था है, जन-सख्या कैसी और कितनी है, राज्य के प्रति जनता का कितना विश्वास है और समाज की करदान क्षमता कितनी है? ब्रिचलर का कथन है कि "कुछ व्यक्तियों के दृष्टिकोण से लोक-व्यय की प्रत्येक तुलनात्मक वृद्धि एक अभिशाप है, कुछ के दृष्टिकोण से यह प्रसन्नता की बात है और कुछ इसके प्रति उदासीन हैं। सरकारी व्यय की समुचित सीमा के रूप में राष्ट्रीय आय के किसी निश्चित प्रतिशत का नाम लेना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसी सीमा तुलनात्मक परिस्थितियों पर निर्भर होती है।"

परीक्षा प्रश्न :

१. सार्वजनिक व्यय के प्रमुख सिद्धान्तों को समझाइये। किस तरह सार्वजनिक व्यय किसी देश के आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है ?

२. एक आधुनिक राज्य में सार्वजनिक या लोक-व्यय के क्या उद्देश्य होते है ? भारत मे सन् १९४७ से सार्वजनिक व्यय मे जो भारी वृद्धि हुई है उसके कारणो पर प्रकाश डालिये।

३. (अ) आप सार्वजनिक व्ययो का वर्गीकरण किस प्रकार करेंगे ? (ब) "नागरिक प्रशासन पर व्यय मुख्यत: प्राइवेट सम्पत्ति की संस्था की विद्यमानता का परिणाम है।" समीक्षा करिये।

४. सार्वजनिक और व्यक्तिगत व्यय में क्या अन्तर है तथा सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये ?

४

लोक आगम
(Public Revenue)

प्रारम्भिक—लोक आगम का अर्थ

"आगम" का अभिप्राय सरकार को प्राप्त होने वाली आय से होता है। आधुनिक युग में इसकी माप मुद्रा में की जाती है। आगम एक प्रकार के प्रवाह की ओर संकेत करती है, जिसमें निरन्तरता हो। यद्यपि बहुत बार सरकार को आकस्मिक आय भी प्राप्त हो सकती है, परन्तु करारोपण के दृष्टिकोण से उसे आगम में सम्मिलित नहीं किया जाता। केवल निश्चित तथा नियमित आय ही 'आगम' में सम्मिलित की जाती है।

लोक आगम का वर्गीकरण
(Classification of Public Revenue)

लोक आगम के वर्गीकरण की निम्नलिखित रीतियाँ प्रचलित हैं :—

(I) सेलिगमैन द्वारा दिया गया वर्गीकरण—

सैलिगमैन (Seligmen) के अनुसार लोक आगम को तीन बड़े-बड़े शीर्षकों में बाँटा जाता है :—नि शुल्क, प्रसंविदक और अनिवार्य।

(१) **निःशुल्क आगम** (Gratuitous Revenue)—नि शुल्क आगम में वे सब उपहार तथा चन्दे शामिल होते हैं जो सरकार को जनता से बिना माँगे तथा बिना जोर डाले ही प्राप्त हो जाते हैं। देना या न देना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होता है। ऐसे आगम का महत्त्व आधुनिक युग में नाममात्र ही रह गया है।

(२) **प्रसंविदक आगम** (Contractual Revenue)—आधुनिक युग में सभी सरकारें अनेक वाणिज्यिक सेवायें सम्पन्न करती हैं, जैसे—रेल, डाक-तार विभाग एवं विभिन्न प्रकार के उद्योग। इन व्यवसायों से प्राप्त आय प्रसंविदक आगम कहलाती है। सैलिगमैन ने इसे 'कीमत' (Price) का नाम दिया है। यह आगम केवल उन्हीं व्यक्तियों से वसूल की जाती है जो सम्बन्धित सेवाओं का उपभोग करते हैं।

(३) **अनिवार्य आगम** (Compulsory Revenue)—अन्तिम प्रकार की आगम सरकारी सम्पत्ति, जुर्मानों तथा करों से प्राप्त होती है। एक लोक सत्ता होने के नाते राज्य नागरिकों से कोई भी सम्पत्ति, वस्तु अथवा सेवा माँग सकता है और उसके बदले में मुआवजा (Compensation) देना भी आवश्यक नहीं होता। यह अनिवार्य आगम है।

(II) बेस्टेबिल द्वारा दिया गया वर्गीकरण—

एक अन्य अर्थशास्त्री बेस्टेबिल (Bastable) ने लोक आगम को निम्न दो प्रकार का बताया है —(१) वह आगम, जो राज्य को एक महान् प्रमण्डल (Corporation) की भाँति वस्तुओं और सेवाओं को उपलब्ध करने के कारण प्राप्त होती है एवं (२) वह आगम, जो राज्य अपनी सत्ता के कारण समाज की आय में से ले लेता है।

(III) डाल्टन द्वारा किया गया वर्गीकरण—

डाल्टन ने लोक आगम का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है :—

(१) **कर** (Taxes)—यह एक अनिवार्य देन होती है, जिसके दाता को इससे प्राप्त होने वाले लाभ से कोई सम्बन्ध नही होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी क्षेत्र में छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए कर लगाया जाता है, तो उस कर से कोई व्यक्ति इस आधार पर नही बच सकता है कि उसके पास शिक्षा प्राप्त करने योग्य बच्चे नही है।

(२) **उपहार** (Tribute) तथा क्षतिपूर्ति (Indemnity) जो युद्ध अथवा अन्य कारणो से हर्जानो के रूप मे उत्पन्न होते है।

(३) **बलात् ऋण** (Forced Loans)—पुराने काल मे राजा लोग ऐसे ऋण बहुधा लिया करते थे। अब भी ये विशेष परिस्थितियो मे लिये जाते है। दूसरे महायुद्ध के काल मे भारत ने भी ऐसे ऋण लिये थे। भारत मे अनिवार्य जमा योजना इसका एक अच्छा ताजा उदाहरण है।

(४) न्यायालय द्वारा अपराधो पर लगाये गए द्रव्यिक जुर्माने।

(५) सार्वजनिक सम्पत्ति अथवा सरकारी व्यवसायो आदि से प्राप्त आय।

(६) उन सरकारी उपक्रमो से प्राप्त आय, जिनमे सरकार अपनी एकाधिकारी शक्ति के कारण कीमते ऊँची करके विशेष लाभ प्राप्त करती है।

(७) शुल्क (Fees), जो सरकार को उसकी अनिवार्य सेवाओ के बदले मे प्राप्त होते हैं। ऐसी सेवाएँ सम्पन्न करना शासक के नाते अनिवार्य होता है, व्यवसाय के दृष्टिकोण से नही। कोर्ट फीस (Court Fee), पञ्जीयन शुल्क आदि इसके अच्छे उदाहरण है।

(८) स्वेच्छा से दिये हुए लोक ऋणों से प्राप्त आय।

(९) ऐसे उपक्रमो से प्राप्त आय जो साधारण व्यावसायिक दृष्टिकोण से चलाये जाते हैं और जिनमे सरकार अपनी एकाधिकारी शक्ति का उपयोग नही करती है। कभी-कभी इस प्रकार की आगम को कीमत अथवा दर भी कहा जाता है। भारत मे रेल का भाडा, सरकारी लारियो का भाडा इसके अच्छे उदाहरण है।

(१०) **विशेष अभिनिर्धारणो** (Special Assessment) **से प्राप्त आय**—ऐसी आय मे कर, शुल्क तथा कीमत तीनो ही के गुण पाये जाते हैं। किसी क्षेत्र के लिये विशेष सुविधायें उपलब्ध करने के लिये सरकार विशेष दायित्व लगा सकती है, जिनका देना क्षेत्र विशेष के निवासियो के लिए अनिवार्य होता है, जैसे—किसी सार्वजनिक बगीचे के निर्माण हेतु कर।

(११) छापेखानो के उपयोग से प्राप्त लाभ, जबकि सरकार इन छापेखानो को आय-प्राप्ति हेतु कागज के नोट छापने के लिये काम मे लाती है।

(१२) स्वेच्छा से दिये हुए उपहार (*Voluntary Gifts*)।

इस प्रकार लोक-आगम का अनेक रीतियो से वर्गीकरण किया जाता है, परन्तु सरकारी आगम के विभिन्न साधनों के बीच कोई पूर्णतया स्पष्ट और निश्चित भेद नही है। विभिन्न साधनो के बीच निश्चित सीमाओ के अभाव की चर्चा करते हुए डाल्टन ने अन्त मे लिखा है—"इसमें सन्देह नही कि लोक-आय के साधनो का वर्गीकरण किया जा सकता है, परन्तु अधिकाश दशाओ मे उनके बीच का भेद स्पष्ट नही होता और इसलिये दूसरे वर्गीकरण की भाँति यहाँ भी वर्गीकरण की अपेक्षा वर्गीकरण की खोज अधिक ज्ञानदायक है।"[1]

---

[1] **Dalton** : *Principles of Public Finance*, p 31.

लोक-आगम का महत्त्व
(Importance of Public Revenue)

जिस प्रकार उत्पत्ति का अन्तिम उद्देश्य उपभोग होता है, उसी प्रकार लोक-आगम भी लोक-व्यय को सम्पन्न करने का एक साधन मात्र है। अन्य शब्दों में, सरकार के लिये आगम प्राप्त करना इसलिए आवश्यक है कि वह अपने व्यय को पूरा कर सके। आगम प्राप्त करने के लिये जनता से रुपया वसूल किया जाता है, जो जनता के लिये अरुचिकर होता है। जनता को त्याग करना पड़ता है और यह त्याग जनता केवल इसी कारण बिना विरोध चुपचाप सहन कर लेती है कि उसे विश्वास होता है कि सरकार लोक-व्यय द्वारा उसे लाभ पहुँचायेगी। वास्तव में लोक-आगम के बिना भी काम नहीं चल सकता। कारण, सब लोग सङ्गठित होकर राज्य का निर्माण करते हैं और जब कुछ सेवायें व्यक्तियों की ओर से राज्य द्वारा सम्पन्न की जाती हैं, तो लोक-आगम और इससे सम्बन्धित त्याग आवश्यक ही होता है। इससे व्यक्तियों के व्यय का एक अंश बच जाता है और उन्हें और अधिक आय उत्पन्न करने का भी अवसर मिलता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. सरकारी आगम के प्रमुख स्रोत बताइये। वह सीमा भी अंकित कीजिये, जिससे अधिक अपनी आय को बढ़ाने के लिए सरकार तत्पर न होगी।

२. राष्ट्रीय आगम के प्रमुख स्रोत क्या हैं ? किसी समाज में उत्पादन और वितरण पर करारोपण (Taxation) और ऋण-याचना (Borrowing) के जो प्रभाव पड़ते हैं उनकी तुलना करिये।

५

करारोपण
(Taxation)

प्रारम्भिक—

आधुनिक जगत मे राज्यों की आय का सबसे बडा साधन करारोपण ही है। करो का महत्त्व आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ बराबर बढ रहा है। अधिकाश पुराने अर्थशास्त्री केवल एक ही प्रकार का कर (जो केवल भूमिपतियों पर लगाया जाय) लगाना उचित समभते थे। उस काल में राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता था और इस प्रकार सरकारी आय की आवश्यकता एक ही कर से पूरी हो जाती थी। किन्तु आधुनिक काल मे राज्यो द्वारा आय की माँग इतनी बढ गई है कि वे कर लगाने के लिये निरन्तर नई-नई मदों की खोज मे रहते हैं। साथ ही साथ, कुशलता और उत्पादन के दृष्टिकोण से भी करों को वैज्ञानिक रीति से लगाया जाता है और करारोपण के लिए कुछ समुचित सिद्धान्त ढूंढ लिये जाते हैं विभिन्न प्रकार के करों को इस प्रकार मिश्रित किया जाता है कि आर्थिक और सामाजिक उत्थान की उपयुक्त दशायें उत्पन्न हो जायें और करारोपण से उत्पन्न हानि कम से कम रहे।

करारोपण के सिद्धान्त
(The Principles of Taxation)

करारोपण का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'न्यूनतम् सामूहिक त्याग सिद्धान्त' (Principle of Least Aggregate Sacrifice) है। सभी जानते है कि कर देते समय जनता को त्याग करना पड़ता है। कर देने से आय घटती है, जिस कारण उपभोग में कमी आ सकती है। इस प्रकार करदाता को त्याग करना पडता है। व्यक्तिगत त्याग के आधार पर हम सामूहिक सामाजिक त्याग की मात्रा का भी पता लगा सकते है। सरकार के लिये सबसे अच्छा यही होगा कि वह विभिन्न व्यक्तियो की करदान योग्यता ध्यान मे रखते हुए सामूहिक सामाजिक त्याग का इस प्रकार वितरण करे कि सामूहिक त्याग कम से कम रहे। इस सिद्धान्त की सन्तुष्टि के लिये बहुधा सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक उपाय ढूँढे जाते हैं। प्रगामी कर प्रणाली एक ऐसी ही युक्ति है।

एडम स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्त—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो मे सर्वप्रथम एडम स्मिथ ने करों की प्रकृति तथा उनके प्रभाव का अध्ययन किया था तथा करारोपण के चार सिद्धान्त बनाये, जो आगे चलकर एडम स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हुये। ये सिद्धान्त निम्न प्रकार है :—

(१) **समानता अथवा न्यायशीलता का सिद्धान्त** (The Principle of Equality of Equity)—इस सिद्धान्त को कभी-कभी "शोधन-क्षमता सिद्धान्त" (Ability to pay Principle) भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण इस प्रकार होना चाहिये कि सभी कर-

दाताओं पर कर का भार एक समान रूप मे पड़े । ऐसा तभी सम्भव होगा जबकि प्रत्येक करदाता से उसकी शोधनक्षमता के अनुसार कर लिया जाय । इस दृष्टिकोण से एक प्रगामी कर-प्रणाली, जिसके अन्तर्गत धनी व्यक्तियों पर ऊँची दर से कर लगाया जाता है, अधिक उपयुक्त होगी । शोधन-क्षमता की कोई निश्चित माप तो सम्भव नही है, परन्तु यह क्षमता साधारणतया आय की अनुपाती (Proportional) होती है ।

(२) **निश्चितता का सिद्धान्त** (The Principle of Certainty)—निश्चितता का अभिप्राय स्पष्टता से है । एडम स्मिथ इस बात पर जोर देते हैं कि करों के सम्बन्ध मे प्रत्येक बात स्पष्ट होनी चाहिए । करदाता के दृष्टिकोण से यह वाछनीय है कि कर की मात्रा, उसके चुकाने का समय, चुकाने की विधि तथा चुकाने का स्थान पूर्णतया स्पष्ट रहे और इनका कर-दाता को पूरा-पूरा ज्ञान कराया जाय । इससे करदाता को भारी सुविधा होगी, उसके कष्ट मे कमी होगी और उसे कर के सम्बन्ध मे आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनावश्यक व्यय नही करना पड़ेगा । इसके अतिरिक्त पारिवारिक बजट बनाने मे भी उसे सुविधा रहेगी । इसके विपरीत, अनिश्चितता की दशा मे करदाता कर से बचने का प्रयत्न करेगा, जिससे कर-शासन मे भ्रष्टाचार फैलने की सम्भावना उत्पन्न हो जायगी । सरकार के दृष्टिकोण से भी निश्चितता बहुत लाभप्रद होगी, क्योंकि इससे उसे वास्तविक तथा व्यावहारिक बजट बनाने मे सुविधा मिलेगी और वह आय-व्यय मे समुचित समायोजन (Adjustment) रख सकेगी । यही नहीं, निश्चितता का गुण करारोपण से उत्पन्न असन्तोष को भी कम कर देता है ।

(३) **सुविधा का सिद्धान्त** (The Principle of Convenience)—यह सिद्धान्त हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करता है कि करों के सम्बन्ध मे करदाता को कर देने के अतिरिक्त अन्य सभी कष्टों से बचाने का प्रयत्न किया जाय । करों की वसूली मे करदाता की सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय । कर देने का समय तथा कर चुकाने की रीति इस प्रकार निर्धारित की जाय कि उनके सम्बन्ध मे करदाता को कोई कष्ट न हो । एक किसान से उपज के रूप मे फसल के तैयार हो जाने पर कर वसूल करना इस सिद्धान्त के अनुसार उपयुक्त होगा । इसी प्रकार, एक वेतनभोगी व्यक्ति से उस समय कर वसूल करना उचित होगा, जबकि उसे वेतन मिलता है । बहुत बार किश्तों (Instalments) में कर वसूल करना करदाता के दृष्टिकोण से अधिक सुविधाजनक होता है ।

(४) **मितव्ययिता का सिद्धान्त** (The Principle of Economy)—एडम स्मिथ ने इस बात पर भी विशेष जोर दिया है कि करों का एकत्रण-व्यय कम से कम होना चाहिये । मितव्ययिता का एक दूसरा अर्थ यह भी होता है कि कर की मात्रा को निर्धारित करने तथा उसके भुगतान की तैयारी पर करदाता को कम से कम व्यय करना पड़े । यदि करदाता को विस्तृत लेखे रखने पड़ते है और कर सम्बन्धी अधिकारियों से सौदा करने के लिये विशेषज्ञों की सलाह की आवश्यकता पड़ती है, तो इससे करारोपण का भार बढ़ जायगा ।

स्मिथ के सिद्धान्तों की आलोचना—

एडम स्मिथ के करारोपण के चारों सिद्धान्तों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि प्रथम सिद्धान्त को छोड़ कर अन्य सभी व्यावहारिक नियम मात्र है । वे हमें यही बताते हैं कि सरकार को कर लगाने मे किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए । किन्तु न्यायशीलता का सिद्धान्त सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह कर नीति का आधार निश्चित करता है । अतः सही अर्थ मे इसी को कर नीति का सिद्धान्त कहा जा सकता है ।

परन्तु यह सिद्धान्त भी दोषरहित नही है, क्योंकि (1) यह नैतिकता पर आधारित है और समुचित आर्थिक आधार पर अवलम्बित नही है । इसमे कर-नीति की न्यायशीलता अथवा

इसके औचित्य का तो पूरा विचार किया गया है, परन्तु आर्थिक परिस्थितियों का नहीं। (ii) यह करदान-क्षमता की कोई निश्चित मांग नहीं बताता, जिससे व्यावहारिक जीवन मे बड़ी कठिनाई होती है। निस्सन्देह समान आय तथा समान कुटुम्ब वाले दो व्यक्तियों की करदान-क्षमता सदा समान नहीं होती है और आय की एकसी मात्रा का परित्याग करने मे व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक भिन्नता के कारण अलग-अलग व्यक्तियों को अलग-अलग त्याग करना पड़ता है।

करारोपण के अन्य सिद्धान्त—

एडम स्मिथ के बाद के लेखकों ने इस बात पर जोर दिया है कि एडम स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्त अधूरे हैं। एक अच्छी कर-प्रणाली इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ अन्य सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए। ये सिद्धान्त इस प्रकार है :—

(१) उत्पादकता का सिद्धान्त (Principle of Productivity)—सकुचित अर्थ में इसका आशय यह है कि कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जिससे कि राज्य को पर्याप्त आय हो। विस्तृत अर्थ मे अभिप्राय यह होता है कि राजकीय आगम का वर्तमान के अतिरिक्त भविष्य के लिये भी प्रवाह बना रहे। प्रत्येक कर करदाता और समाज की आय को कम करता है, जिससे व्यक्तियों का जीवन-स्तर नीचे गिरता है और कार्य-कुशलता अथवा उत्पादन-शक्ति घटती है। *इसके अतिरिक्त व्यक्ति की बचत शक्ति कम हो जाती है, पूँजी-निर्माण मे शिथिलता आती है* और उत्पादन के घटने की सम्भावना पैदा हो जाती है। इसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि भविष्य मे करो की उत्पादकता भी घट जाती है। अतएव यह आवश्यक है कि कर-प्रणाली का उत्पादन की कुशलता और पूँजी के सचय पर कोई हानिकारिक प्रभाव न पड़े।

(२) लोच का सिद्धान्त (Principle of Elasticity)—कर-प्रणाली मे लोच का भारी महत्त्व है। दूसरे शब्दो मे, आवश्यकता पड़ने पर करो की उपज (Yield) को घटाना-बढ़ाना सम्भव होना चाहिये और यह कमी अथवा वृद्धि बिना किसी विशेष कष्ट के हो। भारत मे आय-कर लोचदार करो का अच्छा उदाहरण है।

(३) लचीलेपन का सिद्धान्त (Principle of Flexibility)—'लोच' और 'लचीलेपन' मे अन्तर होता है। जबकि 'लोच' विस्तार और सकुचन के गुण को सूचित करती है, *'लचीलापन' परिवर्तन की सम्भावना को। इसका अर्थ यह होता है कि एक अच्छी कर-प्रणाली* वही है जिसमे बिना किसी विशेष कष्ट अथवा उथल-पुथल के आवश्यक परिवर्तन किये जा सके अर्थात् परिवर्तन सरलतापूर्वक हो जाये और किसी प्रकार का असन्तोष पैदा न करे। करो की दरो के घटाने और बढ़ाने के परिणाम कम से कम कष्टदायक होने चाहिये।

(४) विविधता का सिद्धान्त (Principle of Diversity)—कर-प्रणाली मे विविधता से *अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जिसे राज्य से कुछ भी आय प्राप्त होती है, अपनी क्षमता* के अनुसार राज्य को कुछ न कुछ दे। इसके लिये देश मे बहु सख्या मे अनेक प्रकार के कर होने चाहिये, जिससे कि देश के प्रत्येक निवासी से, चाहे वह धनवान हो अथवा निर्धन, किसी न किसी प्रकार का कर लिया जा सके। परन्तु विविधता का अर्थ यह नहीं होता कि अनावश्यक ही करो की सख्या को बढ़ाया जाय। ऐसा करने से तो अपव्यय का भय रहता है।

***(५) सरलता का सिद्धान्त* (Principle of Simplicity)**—*सरलता का होना भी* एक अच्छी कर-प्रणाली की विशेषता है। कर-प्रणाली के सरल होने पर एक साधारण नागरिक भी उसे समझने मे समर्थ होगा। इसके विपरीत, यदि कर-प्रणाली जटिल है, तो उसे समझना कठिन होगा, जिससे एक ओर तो करदाता असन्तुष्ट रहेंगे, और दूसरी ओर, कर-अपवचन (Tax Evasion) की सम्भावना अधिक रहेगी।

(६) वांछनीयता का सिद्धान्त (Principle of Expediency or Desirability)—

इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह होता है कि प्रत्येक कर किसी न किसी आधार पर लगाया जाय, जिससे कि करदाताओं के लिये उसकी वांछनीयता सिद्ध की जा सके। नवीन करों का जनता बहुधा विरोध करती है, इसलिये पुराना कर थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ लगाना बहुत अच्छा होता है। इससे करदाताओं को मानसिक कष्ट नहीं होता और उनमें व्यर्थ की उत्तेजना भी नहीं फैलती।

(७) पर्याप्तता का सिद्धान्त (Principle of Sufficiency)—इस सिद्धान्त का आशय यह है कि जो भी कर लगाया जाय वह उपज के दृष्टिकोण से पर्याप्त होना चाहिये। इस दृष्टिकोण से कुछ बड़े-बड़े उत्पादन-करों का लगाना बहुसंख्या में छोटे-छोटे अनुत्पादक करों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होता है क्योंकि इससे एकत्रण-व्यय तथा अपवचन दोनों ही कम होंगे।

यह निश्चय है कि किसी भी एक कर-प्रणाली में पूर्ववर्णित सभी गुण नहीं पाये जाते हैं। प्राय कोई भी कर ऐसा नहीं होता जिस पर उपरोक्त सभी सिद्धान्त लागू हो सकें। यदि एक कर में विभिन्न सिद्धान्तों के बीच विरोध पाया जाय, तो ऐसी दशा में कम महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर जोर देने की नीति अपनानी चाहिये।

करों का वर्गीकरण
(Classification of Taxes)

करों के भार तथा इनके महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए करों का वर्गीकरण करना आवश्यक है। प्रमुख वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं —

(I) वैयक्तिक तथा अवैयक्तिक कर—

जब किसी व्यक्ति पर, उसके व्यवसाय, कारोबार, आर्थिक स्थिति अथवा सम्पत्ति को ध्यान में रखे बिना ही कर लगा दिया जाता है, तो ऐसा कर वैयक्तिक कर (Personal Tax) कहलाता है। इसके विपरीत, जब किसी वस्तु पर, बिना यह सोचे कि उसका स्वामी कौन है, कर लगाया जाता है, तो उसे अवैयक्तिक कर (Impersonal Tax) कहते हैं।

एक अन्य दृष्टिकोण से, वैयक्तिक कर वह कर है जो एक व्यक्ति के गुणों के आधार पर लगाया जाता है, जैसे—"व्यक्ति-कर" (Poll Tax)। ऐसा कर केवल व्यक्तियों पर लगाया जाता है और इसकी दर में व्यक्तियों की लम्बाई, मोटाई आदि गुणों के अनुसार अन्तर होता है। इसके विपरीत, जब कोई कर व्यक्ति की आर्थिक स्थिति के आधार पर लगाया जाता है और करदाता के व्यक्तिगत गुणों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, तो उसे अवैयक्तिक कर कहा जाता है।

(II) 'आय पर कर' और 'सम्पत्ति पर कर'—

कर या तो सम्पत्ति की कीमत के अनुसार लगाया जा सकता है अथवा उससे प्राप्त होने वाली आय के अनुसार। प्रथम दशा में वह सम्पत्ति के मूल्य के प्रतिशत के रूप में होता और दूसरी दशा में सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय के प्रतिशत के रूप में। यदि सम्पत्ति पर लगाया जाता है तो उसकी दर नीची रहती है, परन्तु जब आय पर कर लगता है तो उसकी दर ऊँची होती है। अलग-अलग परिस्थितियों में करदाता पर दोनों प्रकार के करों का अलग-अलग प्रभाव पड़ता है, परन्तु साधारणतया यह समझा जाता है कि सम्पत्ति पर लगाया गया कर बचत और पूँजी के निर्माण को हतोत्साहित करता है। हमारे देश में 'मृत्यु कर' इसी प्रकार का कर है। आय पर लगाया जाने वाला कर (जैसे—भारत में पूँजी लाभ कर) इसलिये उपयुक्त समझा जाता है कि वह उस लाभ में से दिया जाता है जो सम्पत्ति के उपयोग द्वारा उत्पन्न होता है।

(III) अनुपाती, प्रगामी, प्रतिगामी और अधोगामी कर—

(१) **अनुपाती-कर** (Proportional Tax)—अनुपाती कर वह होता है जो प्रत्येक आय पर एक ही अनुपात या प्रतिशत मे लगाया जाता है । उदाहरणस्वरूप, यदि सभी करदाता अपनी आय का दो प्रतिशत कर के रूप मे दे अथवा यदि प्रत्येक करदाता को आय पर प्रति रुपया १ पैसा कर के रूप मे देना पडे, तो ऐसा कर 'अनुपाती' कहलायेगा ।

आरम्भ में अर्थशास्त्रियो ने इस प्रकार के कर को बहुत उचित बताया था, क्योंकि यह आय के वितरण की दशा मे परिवर्तन नही करता है । विभिन्न व्यक्तियो और वर्गों की आय का पारस्परिक अनुपात कर देने के पश्चात् भी ज्यो का त्यो बना रहता है । आधुनिक युग मे *इस प्रकार का कर अच्छा नही समझा जाता है। यथार्थ मे यह कर इस गलत विचार* पर आधारित है कि आय के समान प्रतिशत की उपयोगिता सभी व्यक्तियो के लिए समान होती है । परन्तु यह विचार सही नही है, क्योंकि आय की मात्रा के अनुसार विभिन्न व्यक्तियो के लिये द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता कम या अधिक होती है । जैसे—एक धनी व्यक्ति के लिए उसकी आय के १०% भाग की सीमान्त उपयोगिता एक निर्धन व्यक्ति के लिये उसकी आय के १०% भाग की सीमान्त उपयोगिता से कम होती है । यही कारण है कि अनुपाती कर निर्धन व्यक्तियो के लिए अधिक कष्टदायक होता है ।

(२) **प्रगामी कर** (Progressive Tax)—यदि कर की दर आय की मात्रा के अनुसार बढ़े, तो उसे प्रगामी कर कहेगे । इसका सिद्धान्त यह है कि "अधिक आय अधिक कर की दर" । हमारे देश मे आय-कर इसी प्रकार का है और आधुनिक युग मे सबसे अधिक लोकप्रिय है । कारण, यह समानता या न्यायशीलता के अनुकूल है ।

(३) **प्रतिगामी-कर** (*Regressive Tax*)—*जिस कर का भार धनी वर्ग की अपेक्षा* गरीबो पर अधिक पडे, उसे **प्रतिगामी-कर** कहते है । वह प्रगामी-कर से बिल्कुल विपरीत होता है । उदाहरणस्वरूप, यदि आय-कर इस प्रकार लगाया जाय कि अधिक आय के साथ कर की दर घटती जाय, तो कर प्रतिगामी हो जायगा । कोई भी सभ्य सरकार आय पर इस प्रकार का कर नही लगाती, क्योंकि यह पूर्णतया न्याय-विरुद्ध है । भारत मे नमक-कर इसी श्रेणी मे समझा जाता था, क्योंकि गरीबो को इसका भार बहुत प्रतीत होता है, जबकि अमीरो को इसका लगभग कुछ भी भार नही मालूम देता ।

(४) **अधोगामी-कर** (Degressive Tax)—जिस कर के फलस्वरूप अधिक आय वाले वर्गों को उतना त्याग नही करना पड़ता जितना कि उनको करना चाहिए अथवा जबकि उन पर डाला हुआ कर-भार अपेक्षतन कम है, उसे अधोगामी कर कहते है ।

(IV) प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर—

प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष करों मे वर्गीकरण करने के दो आधार निम्नलिखित है :—

(अ) **कराघात और करापात की दृष्टि से**—कर का आरम्भिक भार जिस व्यक्ति पर पडता है वह "कराघात" सहन करता है । परन्तु बहुत बार जो व्यक्ति आरम्भ मे कर देता है वह इसके भार को दूसरो के कन्धो पर डाल सकता है । इस प्रकार, अन्तिम दशा मे, कर किसी दूसरे व्यक्ति अथवा दूसरे व्यक्तियों द्वारा चुकाया जाता है । कर के अन्तिम भार को हम "करापात" कहते हैं । जो व्यक्ति आरम्भ मे कर देता है वह यदि इसके भार का विवर्तन (Shifting) न कर सके, तो ऐसी दशा मे "कराघात" और "करापात" दोनो एक ही व्यक्ति पर पड़ते है ।

ऐसे करो को, जिनके भार का विवर्तन सम्भव नही होता, "**प्रत्यक्ष-कर**" कहा जाता है । इसके विपरीत, यदि कर का विवर्तन सम्भव है, तो कराघात एक व्यक्ति पर पड़ता है और

करापात दूसरे व्यक्ति पर। ऐसे कर को, जिसका भार दूसरे के कन्धों पर टाला जा सकता है अथवा जिसे प्रारम्भिक करदाता दूसरों से वसूल कर सकता है "परोक्ष-कर" कहा जाता है। साधारणतया आय-कर, मृत्यु-कर, आदि प्रत्यक्ष कर होते है और बिक्री कर, मनोरंजन कर, उत्पादन-कर आदि परोक्ष कर होते है।

कर विवर्तन पर दो दृष्टिकोणो से विचार किया जा सकता है। बहुत बार शासक जान-बूझकर ऐसा कर लगाते है कि उसका अन्तिम भार भी उसी व्यक्ति पर पडे जो प्रारम्भ में उसका भुगतान करता है, परन्तु बाजार और समाज की परिस्थितियों के कारण वह व्यक्ति कर का विवर्तन करने मे सफल हो सकता है। ऐसी दशा मे शासकों के दृष्टिकोण से तो वह कर प्रत्यक्ष होता है, परन्तु करदाता के दृष्टिकोण से परोक्ष। ठीक इसी प्रकार, कुछ कर इसलिये लगाये जाते है कि उनका विवर्तन हो जाय, परन्तु परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती है कि करदाता ऐसा करने मे असफल रहे। ऐसी दशा मे शासकों के दृष्टिकोण से तो यह कर परोक्ष होगा, परन्तु करदाता के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष। अत. विभिन्न दृष्टिकोणों से एक ही कर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हो सकता है।

*(ब) **अवस्था की दृष्टि से**—इस वर्गीकरण मे यह देखा जाता है कि वस्तु विशेष* पर, इसके उत्पादन से लेकर अन्तिम उपभोग तक, किस अवस्था में कर लगाया जाता है? इस दृष्टिकोण से कर निम्न प्रकार के होते हैं :—(१) **उत्पादन कर**—यह कर उत्पादित वस्तुओं की मात्रा अथवा कीमत पर लगाया जाता है और इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि माल की वास्तव मे बिक्री होती है या नहीं। उपभोक्ताओं तक पहुँचने से पहले ही माल नष्ट हो सकता है, परन्तु ऐसे माल पर तो कर पहले ही ले लिया जाता है। (२) **बिक्री कर (Sales Tax)**—यह कर उस अवस्था में लगाया जाता है जिसमें कि वस्तुयें व्यापारियों अथवा मध्यजनों के हाथ मे होती हैं। व्यापारी साधारणतया कर की रकम उपभोक्ताओं से वसूल कर लेते हैं, यद्यपि यह भी सम्भव है कि कुछ दशाओं मे वे ऐसा न कर सकें। (३) **उपभोग कर (Consumption Tax)**—यह कर उस समय लगाया जाता है जबकि वस्तुयें उपभोक्ताओं के पास पहुँच चुकी हों (जैसे—हमारे देश मे बिजली)। कहा जाता है कि इस कर का बचत पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यह कर प्रकृति मे प्रतिगामी (Regressive) होता है, क्योंकि धनी और निर्धन सभी से समान दर मे कर वसूल किया जाता है।

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों की तुलना

इन दोनों प्रकार के करो मे से कौनसा अधिक अच्छा है इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है।

प्रत्यक्ष करों के गुण-दोष—

गुण—प्रत्यक्ष कर के कई लाभ होते हैं, यथा—(i) इस कर को देते समय करदाता उसके भार का अनुभव करता है, जिस कारण उसे करारोपण के कष्ट का पूरा-पूरा अनुभव होता है। अत वह इस बात मे बडी दिलचस्पी लेता है कि सरकार कर से प्राप्त राशि को किस प्रकार से व्यय करती है और सरकार की **राजस्व नीति की विवेचनात्मक आलोचना** करता है। प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था मे इस प्रकार की आलोचना से राजस्व की कुशलता बढ़ती है। (ii) प्रत्यक्ष करो मे प्रगामी (Progressive) दरो को लागू करके करारोपण नीति मे न्यायशीलता उत्पन्न की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप, आय-कर की छोटी दरें छोटी आय वाले व्यक्तियों के लिए नीची तथा बडी आय वाले व्यक्तियों के लिए ऊँची रखी जा सकती है। (iii) प्रत्यक्ष करों का एकत्रण व्यय कम होता है और इनके अपवचन की सम्भावना कम रहती है। इस प्रकार ये कर मित-

व्ययिता के सिद्धान्त के अधिक अनुकूल होते हैं। (iv) इन करो मे सरलता, लोच तथा उत्पादकता के गुण भी पाये जाते है।

दोष—प्रत्यक्ष करो के निम्न दोष भी है :—(i) इन करो की दरो को बढाना बहुधा उत्तेजना व असन्तोष उत्पन्न करता है और करदाता इन्हे अधिक पसन्द नही करते। इसी दोष का परिणाम यह होता है कि सङ्कटकाल मे ऐसे कर सरकारी आय को बेलोच बना देते है और लोच की कमी के कारण सरकार तथा राष्ट्रीय हितो को भारी हानि पहुँच सकती है। (ii) ऐसे कर विविधता के सिद्धान्त के विरुद्ध होते है, क्योकि उनकी सख्या सीमित होती है तथा देश की उत्पादक-शक्ति पर इनका बुरा प्रभाव पड सकता है। (iii) इन करो द्वारा समाज के सभी वर्गों, विशेष रूप से कम आय वाले वर्गों से कर वसूल करना सम्भव नहीं होता। (iv) व्यावहारिक अनुभव बताता है कि किसी भी सरकार के लिए केवल प्रत्यक्ष करों द्वारा आवश्यक आय प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

परोक्ष करों के गुण-दोष—

गुण—परोक्ष करो मे भी कुछ महत्त्वपूर्ण गुण होते है, जैसे—(i) परोक्ष करारोपण बहुत बार करदाता को ज्ञात भी नही हो पाता है। दिन प्रति दिन हम कपड़ा, चीनी, दियासलाई आदि खरीदने मे सरकार को कर देते हैं, परन्तु हममे से कितने व्यक्ति इस बात का अनुभव करते है। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे करो के कारण, चाहे इनकी दरों मे वृद्धि ही क्यो न कर दी जाये, उत्तेजना कम फैलती है। (ii) व्यावहारिक अनुभव यही बताता है कि किसी भी देश की सरकार अपने व्यय को पूरा करने के लिए केवल प्रत्यक्ष करों पर निर्भर नहीं रह सकती है, वरन उसे अपनी आय बढ़ाने के लिये परोक्ष करों की भी सहायता लेनी पडती है। (iii) ऐसे करो के द्वारा समाज के प्रत्येक वर्ग तथा प्रत्येक वर्ग के हर व्यक्ति से किसी न किसी रूप मे कर वसूल किया जा सकता है।

दोष—उपर्युक्त लाभो के साथ ही साथ परोक्ष करो के निम्न दोष भी होते है—(i) साधारणतया ऐसे कर न्यायशीलता के विरुद्ध होते हैं, क्योकि इनका भार निर्धन और धनवान सभी व्यक्तियो पर समान रूप से पडता है और कभी-कभी तो निर्धन वर्गो को अधिक भार सहन करना पडता है। (ii) इन करो के अपवंचन का भय अधिक रहता है, जो अन्य कारणों के साथ मिलकर एकत्रण व्यय को बढा देता है। (iii) सरकार बहुधा अपव्ययी नीति बिना विरोध के अपना सकती है। (iv) ऐसे कर सरकार की राजस्व नीति के प्रति जनता मे समुचित रुचि उत्पन्न नही कर पाते है ऊपर ऐसी स्थिति प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली की कुशलता के लिये अच्छी नही है।

निष्कर्ष—दोनो परस्पर पूरक है

दोनो प्रकार के करो के गुण-दोषो को देखने के पश्चात् निष्कर्ष यही निकलता है कि इनमे से कोई भी कर पूर्णतया सन्तोषजनक नही है। किंचित् इसी कारण ससार के सभी देशो मे दोनो प्रकार के कर लगाने की प्रथा है।

एक तथा अनेक कर प्रणाली
(Single Versus Multiple Tax System)

आरम्भ से ही कर प्रणाली को सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है और इसी उद्देश्य से एक-कर प्रणाली पर जोर दिया गया है। निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियो का विचार था कि सरकार को न्याय-सिद्धान्त के आधार पर केवल एक ही वस्तु पर कर लगाना चाहिए।

एक-कर प्रणाली के विभिन्न रूप एवं इनके गुण-दोष—

(१) केवल लगान पर कर—एक-कर प्रणाली के समर्थकों का विचार है कि ऐसी नीति से संसार में सम्पत्ति का अधिक उचित वितरण किया जा सकता है। परन्तु, इस विषय में यह कहा जा सकता है कि यदि केवल लगान पर कर लगाया जाय, तो (i) एक आधुनिक सरकार के व्यय को पूरा करने के लिए पर्याप्त आय प्राप्त नहीं होगी, (ii) इसे न्यायपूर्ण भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस कर-प्रणाली के अन्तर्गत एक प्रकार की सम्पत्ति वालों को ही कर देने के लिए बाध्य किया जाता है, दूसरों पर कुछ भी कर नहीं लगाया जाता, जिसका परिणाम यह होता है कि भूमिपति भूमि के स्थान पर कोई अन्य सम्पत्ति खरीद कर 'कर' से बचने का प्रयत्न करते हैं। (iii) भूमि से प्राप्त आय के बारे में यह निर्णय करना कठिन है कि इसमें से कितनी आय अनुत्पादित है और कितनी आय भूमिपति की दूरदर्शिता, योग्यता अथवा विशेष परिश्रम के कारण उत्पन्न हुई है। फलतः ऐसा कर कुछ दशाओं में सुधार तथा योग्यता के उपयोग को हतोत्साहित कर सकता है। (iv) इस प्रणाली में बहुत-सी शासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं और राज्य की आय पर भूमि की कीमतों के परिवर्तनों का भी भारी प्रभाव पड़ता है।

(२) केवल आय पर कर—वर्तमान काल के बहुत से समाजवादी लेखकों ने केवल आय पर कर लगाने का सुझाव दिया है। उनका विचार है कि यदि केवल आय को ही करारोपण का आधार माना जाय, तो एक-कर प्रणाली के दोष उसमें नहीं रहेंगे। सभी प्रकार की आय पर कर लगा कर तथा प्रगामी रीति को अपना कर करारोपण में न्यायशीलता उत्पन्न की जा सकती है और कर के भार का समुचित वितरण किया जा सकता है। यह रीति अच्छी तो है, परन्तु ऐसी कर प्रणाली पर भी निम्नलिखित आक्षेप किये जा सकते हैं :—(i) इस कर के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को असुविधा होगी क्योंकि सभी को कर देना पड़ेगा। (ii) ऐसे कर को एकत्रित करने पर बहुत व्यय करना पड़ेगा, क्योंकि अनेक छोटी-छोटी आयों से कर वसूल किया जायगा। (iii) एक ही प्रकार का कर होने के कारण कर से बच जाने की सम्भावना बढ़ जायगी और इसे रोकने के लिए जो नियम बनाये जायेंगे वे कर की असुविधा को बढ़ा देंगे। (iv) ऐसे करों से शासन सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। (v) यदि केवल आय को ही कर-नीति का आधार बनाया जाता है, तो उत्तराधिकारी के रूप में मिली हुई सम्पत्ति कर से बच जाती है, जो किसी दृष्टिकोण से भी न्यायपूर्ण नहीं है। (vi) ऐसी कर-प्रणाली आय की मात्रा को कम करके बचत को हतोत्साहित करेगी, जिसका व्यापार तथा उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

इस प्रकार, पूँजी अथवा सम्पत्ति को आधार बनाकर भी एक-कर प्रणाली को सफल नहीं बनाया जा सकता है।

बहु-कर प्रणाली के गुण-दोष—

व्यावहारिक जीवन में बहु-कर प्रणाली ही अधिक सफल हो सकती है, क्योंकि (i) उसमें कर-अपवचन (Tax-evasion) को बड़े अंश तक रोका जा सकता है। (ii) कर-नीति भेद-रहित बनाई जा सकती है। (iii) राज्य की आवश्यकता के अनुसार आय प्राप्त हो सकती है, और (iv) यह भी सम्भव है कि इस प्रकार का कर दूसरे प्रकार के करके उत्पन्न होने वाले दोषों को नष्ट करके कर-नीति के औचित्य को बढ़ा दे। यही कारण है कि एक-कर प्रणाली कोरी कल्पना ही रही है, उसका केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही है और संसार के प्रत्येक देश में बहु-कर प्रणाली ही प्रचलित है।

करारोपण के उद्देश्य
(Objectives of Taxation)

करारोपण के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार गिनवाये जा सकते है :—

(१) सरकार द्वारा आय प्राप्त करना—लम्बे काल से यही धारणा चली आ रही है कि करारोपण का प्रमुख उद्देश्य सरकार द्वारा आय प्राप्त करना होता है। इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि सरकार की कर-नीति पर अन्य बातों का प्रभाव नहीं पडता। अभिप्राय केवल इतना है कि करों की वृद्धि तथा करारोपण का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार आय प्राप्ति की आवश्यकता है।

(२) आर्थिक जीवन का नियन्त्रण—करारोपण का दूसरा उद्देश्य नियन्त्रण हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, आयात करों का, यद्यपि वे बहुत बार यथेष्ठ आय प्रदान करते हैं, प्रमुख उद्देश्य आयात-नियन्त्रण होना है।

(३) आय का समुचित वितरण—करारोपण का तीसरा उद्देश्य देश मे आय के वितरण का नियन्त्रण करना भी है। करारोपण के द्वारा कुछ व्यक्तियों अथवा वर्गों की आय में दूसरे व्यक्तियों अथवा वर्गों की आय की अपेक्षा वृद्धि या कमी की जा सकती है और इस प्रकार देश के आय-वितरण की असमानतायें दूर की जा सकती हैं।

इस सम्बन्ध में **लरनर (Lerner)** का विचार महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार करारोपण किसी भी उद्देश्य से किया जाय, परन्तु इसका परिणाम यही होना चाहिए कि राष्ट्रीय आय का एक पर्याप्त स्तर बना रहे। सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि जनता के हितों को हानि न पहुँचे, चाहे इसके लिए सरकार को अपने हितों की अवहेलना ही क्यों न करनी पडे। कर केवल इसीलिए नहीं लगाये जाने चाहिए कि सरकार को अधिक धन की आवश्यकता है। यथार्थ मे किसी भी आर्थिक व्यवसाय पर केवल उसी दशा मे कर लगाना चाहिए, जबकि उसे हतोत्साहित करना उचित समझा जाय। व्यक्तिगत करदाताओं पर केवल उसी अंश तक कर लगाना चाहिए जिस अंश तक उन्हें निर्धन बनाना आवश्यक अथवा उचित हो। आवश्यकता के बिना कर लगाना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

एक अच्छी कर प्रणाली के गुण
(Characteristics of a good Tax System)

एक अच्छी प्रणाली के प्रमुख गुण निम्न प्रकार हैं :—

(१) कम भार—करों का भार समाज पर कम से कम पड़ना चाहिए। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है, जबकि समाज के विभिन्न वर्गों पर कर-भार का उचित वितरण किया जाय और प्रत्येक व्यक्ति से उसकी करदान क्षमता के अनुसार ही कर लिया जाय। एक अच्छी कर प्रणाली मे त्याग के न्यायपूर्ण वितरण हेतु अनेक प्रकार के करों का होना आवश्यक है।

(२) उत्पादकता—जैसा कि विदित है, करारोपण का प्रमुख उद्देश्य आय प्राप्त करना होता है। जो प्रणाली इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती है उसकी वांछनीयता सन्देहपूर्ण ही होगी। पर्याप्तता एक आवश्यक गुण है, परन्तु साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि भविष्य के लिए भी आय का प्रवाह बना रहे। अत: एक ऐसी कर प्रणाली, जो राष्ट्रीय साधनों के विनाश अथवा उत्पादन शक्ति के ह्रास द्वारा भावी आय प्राप्ति की सम्भावना को कम करती है, उपयुक्त नहीं हो सकती है।

(३) लोच—एक अच्छी कर प्रणाली वह होगी, जिसमें आवश्यकतानुसार करों की उपज अथवा उनसे प्राप्त आय को सरलतापूर्वक घटाया-बढ़ाया जा सके। विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए ऐसी ही प्रणाली उपयुक्त होती है। यदि संकट-काल में

ऐसा नही हो सकता है, तो देश के लिए घोर कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, युद्धकाल मे सरकार के लिए आय की आवश्यकता अत्यधिक होती है। लोच उत्पन्न करने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—प्रथम, कर प्रणाली में आय के शीर्षक विस्तृत हों, और, दूसरे, साधारण परिस्थितियो मे इन साधनों का पूर्ण अंश तक विदोहन न किया जाय, जिससे कि सङ्कटकाल के लिए आय वृद्धि की सम्भावना शेष रह सके।

(४) सुविधा—करदाताओ की सुविधाओ पर भी ध्यान देना आवश्यक है। करदाताओ को अकारण अथवा बिना समुचित आवश्यकता के कोई कष्ट न दिया जाय। इस हेतु कर प्रणाली का निश्चितता तथा मितव्ययिता के सिद्धान्तो के अनुकूल होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, कर प्रणाली सरल हो और कर अपवचन की सम्भावना कम से कम रहे।

(५) सामाजिक लाभ—डाल्टन का विचार है कि वह कर प्रणाली सर्वोत्तम है जो अधिकतम् सामाजिक लाभ सिद्धान्त के अनुसार हो और देश की आर्थिक स्थिति पर कोई हानिकारक प्रभाव न डाले। उनके शब्दो मे :—"करारोपण की सबसे अच्छी प्रणाली वही है, जिसके बुरे आर्थिक प्रभाव कम से कम अथवा सर्वोत्तम होते हैं।"

उपरोक्त सभी बातों को देखने से पता चलता है कि एक अच्छी कर-प्रणाली वह है जो करारोपण के विभिन्न सिद्धान्तों के अनुकूल हो। किन्तु सम्भव है कि कोई कर किसी एक सिद्धान्त के तो अनुकूल हो, परन्तु दूसरे सिद्धान्त का विरोधी। ऐसी दशा में जो प्रणाली अधिक सख्या में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को संतुष्ट करे, वही सबसे उपयुक्त है।

परीक्षा प्रश्न :

१. करारोपण के सिद्धान्तो को पूरी तरह से समझाइये और यह भी बताइए कि इन सिद्धान्तो के अनुसार कौन-कौन से महत्त्वपूर्ण कर लगाये गये हैं ? भारतीय उदाहरण दीजिये।
२. करारोपण मे न्याय सिद्धान्त की जिन विभिन्न ढङ्गो से व्याख्या की गई है उनकी समीक्षा कीजिए और गुणो की दृष्टि से तुलना करिये।
३. प्रगतिशील एव आनुपातिक करारोपण मे आप किसे पसन्द करेंगे और क्यों ?
४. प्रत्यक्ष और परोक्ष करो मे क्या अन्तर है ? उनके लाभो तथा हानियो का उल्लेख कीजिए। इनमे से कौन-सा आपके विचार मे अच्छा है और क्यों ?

करदान क्षमता तथा कर-भार
(Taxable Capacity & Incidence of Taxes)

करदान क्षमता
(Taxable Capacity)

करदान क्षमता की परिभाषा—

अर्थशास्त्रियों ने करदेय क्षमता की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है।

(१) **फिन्डले शिराज के** अनुसार, "करदेय क्षमता का आशय उस आधिक्य से है जो कुल उत्पादन में से न्यूनतम उपभोग को कम करने के बाद बचे।

(२) **डाक्टर डाल्टन** ने इस परिभाषा की आलोचना करते हुए इसे बेकार बताया है और करदेय क्षमता के दो भाग किये हैं :—(i) **सापेक्ष करदेय क्षमता** (Relative Taxable Capacity)—इसका आशय किन्हीं दो समुदायों की करदेय क्षमता के पारस्परिक अनुपात से है। यदि एक देश के अन्दर एक समुदाय में कर देने की क्षमता दूसरे के मुकाबले में अधिक हो, तो इन दोनों समुदायों में करदेय क्षमता का अनुपात निकाला जायेगा। यही अनुपात 'सापेक्ष करदेय क्षमता' कहा जाता है। (ii) **पूर्ण करदेय क्षमता** (Absolute Taxable Capacity)—जब किसी समुदाय के व्यक्ति बिना किसी दुख का अनुभव किए और बिना किसी अनुचित दबाव के एक निश्चित कर देते हैं, तो यह उनकी पूर्ण करदेय क्षमता कही जायेगी।

(३) **सर जोशियो स्टाम्प** ने करदेय क्षमता की परिभाषा इस प्रकार की है—"यह ऐसी अधिक से अधिक राशि है जिसे समाज के व्यक्ति राज्य के व्ययों को पूरा करने के लिए जीवन को बिना दुखी किए हुए और बिना आर्थिक सङ्गठन में गड़बड़ी किए हुए दे सकते हैं।

करदान क्षमता के अध्ययन का महत्त्व—

कर के सम्बन्ध में करदान क्षमता का अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। करदान क्षमता का वास्तविक अर्थ मनुष्य की कर देने की शक्ति से है। एक व्यक्ति कितना अधिक से अधिक कर दे सकता है, वही उसकी करदेय क्षमता कही जायगी। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस सीमा को निर्धारित करते समय कर देने से जनता को मिलने वाले कष्टों का प्रमुख ध्यान रखना चाहिये। एक व्यक्ति की अपनी आवश्यक आवश्यकताओं के पूरा होने के बाद जो कुछ उसके पास बचे वह सब कर के रूप में लिया जा सकता है। यह उसकी अत्यधिक करदेय *क्षमता कही जाएगी यदि इससे अधिक कर लिया गया तो जनता में भुखमरी फैल जायगी। अतः* सरकार सदैव इस बात का ध्यान रखती है कि कर उसी हद तक लगाया जाय जिससे जनता कष्टों का अनुभव न करे।

करदान क्षमता को प्रभावित करने वाली बातें—

जो सरकारें करदेय क्षमता का जितना अधिक अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं उनकी कर-निर्धारण नीति उतनी ही सन्तोषजनक होती है। करदेय क्षमता प्रायः अग्रिम बातों पर निर्भर होती है :—

(१) देश में धन का वितरण—किसी देश में जितनी अधिक समानता के साथ धन का वितरण किया जायगा, उस देश की करदेय क्षमता भी उतनी ही कम होगी। इसके विपरीत, देश में धन का जितना अधिक असमान वितरण होगा, उसकी करदेय क्षमता भी उतनी ही अधिक होगी।

(२) आय की स्थिरता—जिस देश के लोगों की आय निरन्तर घटती जाती है, वहाँ के लोगों की करदेय क्षमता कम होती है और यदि किसी वर्ष आय में वृद्धि भी हो जाय, तो लोग पूरा कर देने में सकोच करेंगे, क्योंकि एक बार अधिक कर देने पर उसकी राशि को (आय घटने पर) कम कराना कठिन होता है। इसके विपरीत जिस देश में लोगों की आय स्थिर होती है उनकी करदेय क्षमता अधिक होती है।

(३) मुद्रा-प्रसार—जिस देश में मुद्रा-प्रसार होता है वहाँ के उत्पादकों एव व्यवसायियों की करदेय क्षमता बढ़ती है, परन्तु उपभोक्ताओं की करदेय क्षमता घटती है, क्योंकि मुद्रा का क्रय मूल्य गिर जाने से उन्हें अपने जीवन-निर्वाह पर अधिक व्यय करना पड़ता है और उनके बचाने की शक्ति कम हो जाती है।

(४) देश की औद्योगिक उन्नति—जिस देश में उद्योग उन्नति पर हैं वहाँ की करदेय क्षमता अधिक होगी।

(५) जन-सख्या—यह एक मोटा सिद्धान्त है कि किसी देश की जन-सख्या जितनी अधिक होगी उसकी करदेय क्षमता उतनी ही अधिक होगी। परन्तु यह भी आवश्यक है कि जन-संख्या की वृद्धि के साथ उस देश की आर्थिक उन्नति भी हो।

(६) करदाता की मनोवृत्ति—एक देश के देशवासियों में जितना ही अधिक देश-प्रेम होगा उनमें उतनी ही अधिक करदेय क्षमता होगी।

(७) लोक व्यय का उद्देश्य—यदि प्रजा को यह मालूम हो जाये कि सरकार कर के धन को शिक्षा, उत्पादन व देश की उन्नति करने वाले अन्य साधनों पर व्यय करेगी, तो उसकी करदेय क्षमता बढ जायगी। इसके विपरीत, यदि कर युद्ध करने के लिये लिया जा रहा है, तो करदेय क्षमता कम होगी।

(८) कर पद्धति—जो सरकारें प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष दोनों कर लगाती हैं उन्हें अधिक आय प्राप्त होती है और उस देश के देशवासियों की करदेय क्षमता भी अधिक होती है।

(९) जनता का जीवन-स्तर—जिस देश में जनता का जीवन-स्तर ऊँचा होता है वहाँ की करदेय क्षमता अधिक होती है।

(१०) विदेशी हमला—जब देश पर कोई बाहरी शक्ति हमला करती है उस समय देशवासी सब भेदभाव छोड़कर सरकार की सहायता करने के लिए तैयार हो जाते हैं। ऐसे समय उनकी करदेय क्षमता बढ जाती है।

करदान-क्षमता की माप—

साधारणतया ऐसा समझा जाता है कि करदान क्षमता राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय लाभाश पर निर्भर होती है, इसीलिए राष्ट्रीय लाभाश को नाप कर ही करदान क्षमता का पता लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में फिण्डले शिराज ने कहा है—"हम वर्ष विशेष में उत्पन्न की गई कुल वस्तुओं और सेवाओं को उनके बाजार मूल्य पर लेते हैं और इस प्रकार जो योग प्राप्त होता है, उसमें से देश की वस्तुओं (कच्चे मालों तथा पूँजी की वस्तुओं) के उस भाग के मूल्य को घटा देते हैं, जिसका कुल उत्पादन के अन्तर्गत व्यय हो चुका है। जो शेष रहे वही उस वर्ष की राष्ट्रीय आय है।"[1]

[1] **Findlay Shirras** : *The Science of Public Finance*, p. 237.

इस सम्बन्ध मे राष्ट्रीय आय को नापने की दो रीतियाँ प्रचलित हैं—प्रथम, आय योगकरण प्रणाली (Aggregating of Income Method) और दूसरे, उत्पत्ति-गणना-प्रणाली (Census of Production Method)। इङ्गलैण्ड ने इन दोनो प्रणालियो का एक साथ उपयोग किया है और दोनो ही से एक से परिणाम प्राप्त हुये हैं। भारत मे राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) ने राष्ट्रीय आय का पता लगाया है।

कर-भार
(Burden of Taxes)

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि कर लगाने के पश्चात् क्या होता है ? इस सम्बन्ध मे कर-भार (Incidence of Taxes) तथा करो के प्रभाव का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। 'कर-भार' से हमारा अभिप्राय यह जानने से होता है कि कर का भार किसके ऊपर पड़ता है ? करो के प्रभाव के सम्बन्ध मे हम यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि कर के कारण अन्त मे कैसी आर्थिक दशाएं उत्पन्न होती है। यह पता लगाने के लिए कि कर का भुगतान कौन करता है, तीन बातो का अध्ययन किया जाता है :—कराघात (Impact), कर विवर्तन (Shifting of a Tax) तथा करापात (Incidence of the Tax)।

कराघात की समस्या—

इनमे से कराघात की समस्या तो सरल है, क्योंकि कराघात अथवा कर का प्रारम्भिक भार उस व्यक्ति पर पड़ता है जिस पर नियमानुसार आरम्भ मे कर लगाया जाता है। उदाहरणस्वरूप, व्यक्तिगत आय-कर का कराघात उस व्यक्ति पर पडता है जो व्यक्ति इसे चुकाता है। इसी प्रकार, उत्पादन कर का कराघात उत्पादक पर होता है, यद्यपि बाद मे वह बहुधा कर की राशि को दूसरो से वसूल कर लेता है।

कर-विवर्तन की समस्या —

कर-विवर्तन से हमारा अभिप्राय किसी अन्य व्यक्ति को कर चुकाने के लिये बाध्य करने की क्रिया से होता है। एक कर्मचारी, जो आय-कर देता है, वेतन बढवा कर इसका बोझ सेवायोजक पर डाल सकता है और सेवायोजक स्वय भी उसे ऊँची कीमतो के रूप मे इसे उपभोक्ताओ से वसूल कर सकता है। इस प्रकार अन्तिम करदाता तक पहुँचने मे एक कर का कई बार विवर्तन हो सकता है। साथ ही, यह सम्भव है कि किसी कर का पूर्णतया विवर्तन हो जाय, आंशिक विवर्तन हो अथवा कुछ भी विवर्तन न हो सके।

कभी तो विवर्तन **अग्रगामी** (Forward) होता है और कभी **प्रतिगामी** (Backward) यदि एक निर्माता अपनी उपज के दामो को बढाता है, ताकि कर की राशि उसके ग्राहको से वसूल हो जाय, तो वह कर का आगे की ओर विवर्तन करता है (केवल एक विक्रेता ही ऐसा कर सकता है)। इसके विपरीत, यदि एक निर्माता कर का विवर्तन इस प्रकार करे कि मजदूरियाँ तथा कच्चे मालो की कीमत मे कमी हो जाती है, तो यह 'पीछे की ओर विवर्तन' है (केवल एक ग्राहक ही ऐसा कर सकता है)। इस दशा मे कर भार उन व्यक्तियो पर पडता है जो कि करारोपित वस्तु के निर्माण के लिए आवश्यक कच्चे माल अथवा सेवाएं उपलब्ध करते है।

कर विवर्तन के लिए कीमतो की वृद्धि सदा आवश्यक नही होती है। कीमतों को समान ही रखते हुए डिब्बे अथवा बोतल के भीतर वस्तु की मात्रा मे, अथवा करारोपित वस्तु के गुण मे अथवा गुण और मात्रा दोनो मे ही कमी की जा सकती है। कर विवर्तन अनेक बातो पर निर्भर होता है। प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं :—

(१) **वस्तु की कीमत से कर का अनुपात**—यदि वस्तु की कीमत के अनुपात मे कर की मात्रा बहुत कम है, तो उसका उपभोक्ताओ पर विवर्तन करना सुविधाजनक न होगा और करा-

पात स्वय उत्पादन सहन न करेगा। जैसे—यदि दियासलाई पर चौथाई पैसा फी डिब्बा की दर पर कर लगा दिया जाता है, तो उसका ग्राहकों पर विवर्तन करना व्यापारी के लिए अधिक सुविधाजनक न होगा जिस कारण इसे स्वय ही अपने लाभ मे से चुकाना अधिक पसन्द करेगा।

(२) कर का रूप—यथा-मूल्य कर तथा परिमाण-कर के प्रभाव अलग-अलग पड़ते है। यथा-मूल्य कर की अपेक्षा परिमाण-कर का अधिक सरलता के साथ और अधिक अश तक विवर्तन किया जा सकता है। विवर्तन तो दोनों ही प्रकार के करो मे सम्भव होता है, परन्तु यथा-मूल्य कर मे कठिनाई यह होती है कि यदि उसके कारण कीमत बढती है, तो कर की दर भी बढ जाती है और इस प्रकार माँग के गिरने की भारी सम्भावना पैदा हो जाती है। ऐसी दशा में विक्रेता अथवा निर्माण-कर्त्ता बिक्री कम करके लाभ घटाने की अपेक्षा कर स्वय चुकाना अधिक पसन्द कर सकता है।

(३) स्थानापन्न वस्तु—जिस वस्तु के स्थानापन्न होते हैं उस पर लगाये गये करो का सरलतापूर्वक विवर्तन नही हो सकता है, क्योंकि करारोपित वस्तु के दाम बढने अथवा उसमे गुणात्मक कमी होने से स्थानापन्नों की लोकप्रियता बढ जाती है। परिणाम यह होता है कि करारोपित वस्तु की माँग बडी तेजी के साथ घटने लगती है, जिसका विक्रेता के लाभों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(४) कर शासकों के उद्देश्य—कर शासक बहुत से कर इस उद्देश्य से तथा इसी प्रकार लगाते हैं कि उनका विवर्तन न हो सके, जैसे—आय-कर।

(५) माँग और पूर्ति की लोच—जिन वस्तुओं की माँग बहुत लोचदार होती है, उन पर कर लगाने से कीमत मे जो वृद्धि होती है, उसके कारण माँग तेजी के साथ घट सकती है। ऐसी दशा मे बिक्री की कमी को रोकने के लिए विक्रेता दाम बढ़ाकर विवर्तन करना अनुपयुक्त समझते हैं। इसके विपरीत, जिन वस्तुओं की पूर्ति बहुधा लोचदार होती है, उनके लिए कर-विवर्तन की सम्भावना अधिक रहती है। उत्पादक पूर्ति को कम करके कीमत बढ़ा सकता है और इस प्रकार कर विवर्तन हो सकता है। इसके विपरीत, जिन वस्तुओं की माँग बेलोच है उनकी कीमत के बढने से माँग मे विशेष कमी नही आती, इसलिए कर विवर्तन सरल होता है। ठीक इसी प्रकार, जिन वस्तुओं की पूर्ति बेलोच होती है उनकी कीमत के बढने की सम्भावना कम रहती है। ऐसी वस्तुओं पर लगाये हुए करो का विवर्तन कठिन होता है।

करापात की समस्या—

करापात का अभिप्राय करो के अन्तिम भार से होता है। कर-विवर्तन द्वारा किसी कर का भार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर टाला जा सकता है, परन्तु अन्त मे यह भार किसी ऐसे व्यक्ति पर जा सकता है, जो इसे आगे नही टाल सकता है। करापात उसी व्यक्ति पर पड़ता है, जो कर का और आगे विवर्तन नहीं कर सकता है। यहाँ विवर्तन क्रिया का अन्त हो जाता है। इसी कारण करापात का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। इससे हमे पता चल जाता है कि अन्तिम दशा मे कर किसके द्वारा चुकाया जाता है। प्रमुख करो की करापात समस्या निम्न प्रकार है :—

(१) आय-कर (Income Tax)—आगम के दृष्टिकोण से लगभग सभी देशों की कर प्रणाली मे आय-कर का बहुत अधिक महत्त्व होता है। यह साधारणतः एक प्रत्यक्ष कर होता है और इसके भार का विवर्तन सम्भव नहीं होता। आय की सर्वमान्य परिभाषा तो नहीं की जा सकती है, परन्तु व्यावहारिक जीवन मे वेतन, उत्तर-वेतन, मजदूरी, व्यावसायिक आय आदि सभी पर लगाया हुआ कर आय-कर कहलाता है। भारतवर्ष मे आय-कर कई रूपों मे लगाया जाता है, जैसे—आय-कर, अति-कर (Super Tax), अतिरिक्त लाभ-कर (Excess Profits

Tax), पूँजी लाभ-कर (Capital Gains Tax), कृषि आय-कर (Agricultural Income Tax) तथा प्रमण्डल-कर (Corporation Tax)।

वेतन तथा मजदूरी पर जो कर लगाया जाता है, उसका विवर्तन साधारणतया बिल्कुल नहीं हो सकता, क्योंकि मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार दी जाती है। यदि कर सेवायोजक द्वारा दिया जाता है, तो इससे सीमान्त उत्पादकता नहीं बढ़ सकती है। केवल उसी दशा में, जबकि मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से कम है, श्रमिक कर-भार का सेवायोजक पर विवर्तन कर सकता है।

ठीक इसी प्रकार व्यावसायिक आय-कर का भी हस्तान्तरण सम्भव नहीं होता। व्यवसायी बहुधा ऐसा समझते हैं कि इस कर को वे वस्तुओं की कीमत बढ़ाकर वसूल कर सकते हैं, परन्तु यह विचार सही नहीं है। व्यावसायिक वर्ग अपनी इच्छा के अनुसार कीमतों में वृद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि कीमत तो माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित की जाती है और उस पर माँग की लोच का भारी प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त कीमतें बढ़ने से व्यवसायी की आय भी बढ़ती है और इस प्रकार कर भी बढ़ता जाता है। अतः केवल उसी दशा में, जबकि माँग बेलोच है, कुछ अंश तक विवर्तन सम्भव हो सकता है। इसी प्रकार, अन्य रूपों में लगाये हुए आय-कर का भी विवर्तन कठिन होता है।

(२) **निरकाम्य-कर** (Customs Duties)—ऐसे कर आयात और निर्यात पर लगाये जाते हैं। ये परोक्ष कर होते हैं, क्योंकि वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। इन करों का विवर्तन अधिकांश दशाओं में सम्भव होता है। आयात करों द्वारा कीमतें बढ़ती हैं, जिसके कारण कर की राशि दूसरों से वसूल कर लेने की सम्भावना रहती है। परन्तु इस सम्बन्ध में करारोपण के दृष्टिकोण से करारोपित वस्तु की माँग की लोच का भारी महत्त्व है। यदि माँग बहुत लोचदार है, तो कीमतें बढ़ाना लाभदायक नहीं होता, क्योंकि इससे माँग बहुत घट सकती है। ऐसी दशा में विदेशी निर्यातकर्त्ता अथवा देशी आयातकर्त्ता कर-भार को स्वयं ही सहन करता है। यदि माँग बेलोच है, तो कर-भार उपभोक्ता पर पड़ता है। निर्यात-कर के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात है। यदि विदेशों में करारोपित वस्तु की माँग लोचदार है, तो कर-भार निर्यात व्यापारी पर पड़ेगा, जो उसे कुछ दशाओं में उत्पादकों पर हस्तान्तरित कर सकता है। यदि विदेशी माँग बेलोच है, तो विदेशी उपभोक्ता इसका ऊँची कीमतों के रूप में भुगतान करेंगे। बहुत बार यह भी सम्भव है कि आंशिक भार उपभोक्ताओं पर पड़े और आंशिक भार उत्पादकों अथवा व्यापारियों पर। ऐसा उसी दशा में सम्भव होता है जबकि माँग-लोच इस प्रकार हो कि कीमत में कर की मात्रा के बराबर वृद्धि करना तो सम्भव न हो, परन्तु कुछ अंश तक ऐसी वृद्धि की जा सकती हो।

(३) **बिक्री-कर** (Sales-tax)—यह भी एक परोक्ष कर है और इसी कारण इसका भी विवर्तन सम्भव होता है। इस कर का प्रारम्भिक भार तो व्यापारी पर पड़ता है, परन्तु वह कीमत बढ़ा कर उसे उपभोक्ताओं से वसूल कर सकता है। हाँ, यदि वस्तु की कीमत को देखते हुए कर की राशि इतनी कम है कि उसे सुविधा के साथ वसूल नहीं किया जा सकता, तो व्यापारी दाम बढ़ाने के स्थान पर कर को स्वयं ही चुकाना अधिक पसन्द करेगा। इसी प्रकार, यदि माँग की लोच बहुत है, जिसके कारण कीमत बढ़ाने से बिक्री बहुत कम हो जाने का भय है, तो व्यापारी स्वयं ही कर देना अधिक लाभदायक समझ सकता है। अन्य दशाओं में उपभोक्ताओं से कर वसूल किया जा सकता है। कुछ दशाओं में कर को पीछे की ओर हस्तान्तरित करना भी सम्भव होता है। व्यापारी कीमत को यथास्थिर रख कर (यदि उसके लिए ऐसा

सम्भव है) थोक व्यापारी अथवा उत्पादक को कम कीमत पर बेचने के लिए बाध्य कर सकता है। ऐसी दशा मे पीछे की ओर विवर्तन हो जायगा। कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर बिक्री-कर का विवर्तन असम्भव होता है और साधारणतया करापात उपभोक्ताओ पर पड़ता है।

(४) मृत्यु-कर (Death Duties)—यह कर मृत व्यक्तियो द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर या तो उसके उत्तराधिकारियो मे बँटने से पहले लगाया जाता है, जिस दशा मे इसे जायदाद कर (Estate Duty) कहा जाता है अथवा उत्तराधिकारियो को प्राप्त होने वाली सम्पत्ति की कीमत पर लगाया जा सकता है, जिस दशा मे वह रिक्थ-कर (Inheritance Tax) कहलाता है। १५ अक्टूबर सन् १९५३ से भारत मे यह कर प्रथम रूप मे लगाया गया है। यह भी एक प्रत्यक्ष कर है और इसे चाहे जिस रूप मे भी लगाया जाय, इसका भार उत्तराधिकारियो पर ही पड़ता है। इसका कर के विवर्तन से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नही होता है।

(५) भूमि-कर (Taxes on Land)—लगभग सभी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री, निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियो की भाँति भूमि के आर्थिक लगान पर कर लगाने के समर्थक थे। उनका विचार था कि ऐसा कर प्राकृतिक लाभ पर निर्भर होता है और उस आधिक्य अथवा बचत में से दिया जाता है जो भूमि के मालिक को भूमि के विशेषक गुणों के कारण प्राप्त होती है। ऐसा कर केवल भूमिपति पर पड़ता है। आर्थिक लगान कीमत का निर्धारण नहीं करता, वह तो स्वयं कीमत द्वारा निर्धारित होता है। इस कारण लगान पर कर लग जाने अथवा कर की दर बढ़ जाने से कीमत के बढ़ने की सम्भावना उत्पन्न नही होती है, अतः कर का विवर्तन नही हो पाता है।

परन्तु भूमि पर और भी रीतियो से कर लगाया जाता है। जैसे, भूमि मे लगाई हुई पूँजी पर कर तथा भूमि की उपज पर कर। भूमि मे लगाई हुई पूँजी पर जो कर लगाया जाता है, उसका सरलतापूर्वक विवर्तन हो जाता है। यदि भूमिपति सुधार हेतु पूँजी नही लगाता है, तो भूमि की उत्पादन शक्ति गिर जाती है और किसान को हानि होती है। अतः भूमिपति जोतने वालो को यह कर देने के लिए बाध्य कर सकता है। जब भूमि की उपज के अनुसार कर लगाया जाता है, तो विवर्तन पर उपज की माँग-लोच का भारी प्रभाव पड़ता है। कर लग जाने से वस्तु की कीमत बढ़ती है। अतः, यदि उसकी माँग-लोच बहुत है, तो उत्पादन घटेगा, और इसलिए कर का भार भूमिपतियो पर पड़ेगा। यदि माँग बेलोच है, तो कीमत के बढ़ने पर भी माँग तथा उत्पादन मे विशेष कमी नही होगी, जिस कारण कर का भार उपभोक्ताओ पर पड़ेगा। इस प्रकार, करापात प्रथम दशा मे भूमिपतियो अथवा किसानो पर पड़ता है परन्तु दूसरी दशा मे उपभोक्ताओ पर।

(६) गृह-कर (House tax)—गृह-कर लगाने की दो विधियाँ हैं। वह या तो गृह सम्पत्ति की कीमत के अनुसार लगाया जाता है अथवा इस सम्पत्ति से प्राप्त आय (किराये) के अनुसार। इस कर का भार साधारणत. गृह-स्वामी (House Owner) पर पड़ता है, परन्तु गृह-स्वामी सदा ही इसे किराया बढ़ाकर किरायेदारो पर टालना चाहता है। मकानो के लिए माँग की लोच बहुत ही कम होती है। मकानो की पूर्ति के घटते ही मकान मालिक किराये को ऊपर चढ़ा सकते है और इस प्रकार इस कर को किरायेदारो पर डाल सकते है। परन्तु, यदि मकानो की कमी नही है, अथवा, किरायो पर सरकारी नियन्त्रण है, तो विवर्तन सम्भव न हो सकेगा। प्राय. ऊँचे गृह-करो का मकान-निर्माण पर बुरा प्रभाव पड़ता है, जिससे मकानो की पूर्ति मे कमी पड़ती है और इनके किराये इतने चढ़ सकते है कि सारा का सारा कर किरायेदार ही दें। कुछ दशाओं मे कर का भार गृह-स्वामी तथा किरायेदार दोनो पर ही पड सकता है। यह उस दशा

मे सम्भव होता है जबकि मालिक किराये को बढा तो सकता है, परन्तु कर की पूरी मात्रा के अनुसार नही।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कराघात उस व्यक्ति पर पडता है जो प्रारम्भ मे कर को देता है, परन्तु वह इसका विवर्तन कर सकता है। विवर्तन का अन्तिम परिणाम करापात होता है, अर्थात् जो व्यक्ति विवर्तन नही कर सकता, वह स्वय ही करापात को सहन करता है। कर विवर्तन बहुधा कीमत की वृद्धि के रूप में प्रकट होता है, परन्तु कीमत की वृद्धि सदा ही कर विवर्तन अथवा करापात का सूचक नही होती क्योकि कीमत में कुछ ऐसे कारणों द्वारा भी वृद्धि हो सकती है, जिनका कर विवर्तन तथा करापात से कोई सम्बन्ध न हो। करापात अनेक बातों पर निर्भर होता है, जिनमें से प्रमुख बातें इस प्रकार हैं :—(i) कर की प्रकृति, मात्रा, रूप, गुण, अकेलापन। (ii) वस्तु अथवा व्यक्ति, जिस पर कर लगाया जाता है। (iii) करारोपित वस्तु की माँग और पूर्ति की लोच तथा उत्पत्ति के नियम जिनके अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है। (iv) उत्पत्ति की दशायें—प्रतियोगी अथवा एकाधिकारी। (v) वह अवस्था जिस पर कर लगाया जाता है—अर्थात् उत्पत्ति पर, मूल्य पर अथवा लाभ पर।

उपरोक्त बाते यह निश्चित करती है कि कर का विवर्तन हो सकेगा या नही अथवा उसका कराघात और करापात एक ही स्थान पर पडेगा अथवा अलग-अलग।

परीक्षा प्रश्न :

१. किसी कर के प्रभावो (Effect) और करापात (Incidence) मे स्पष्ट रूप से भेद कीजिये। सक्षेप मे उन घटको को बताइये जो कि करापात को शासित करते है।
२. करापात से क्या आशय है? आयात-कर, निर्यात-कर, उत्पादन-कर एव आय-कर के करापात का विवेचन कीजिए।
३. करापात और कर विवर्तन मे भेद समझाइये।
४. करदान क्षमता की धारणा का पूर्ण विवेचन कीजिए। इस सम्बन्ध मे उन घटको को समझाइये जो किसी राष्ट्र की करदान क्षमता को निर्धारित करते है।

७

करारोपण का उत्पत्ति और वितरण पर प्रभाव

(Effect of Taxation on Production and Distribution)

प्रारम्भिक—

करापात के अतिरिक्त कर के और भी बहुत से आर्थिक परिणाम होते हैं। डाल्टन के अनुसार, इन परिणामों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है[1] :—उत्पत्ति पर प्रभाव, वितरण पर प्रभाव, और अन्य परिणाम।

उत्पत्ति पर करारोपण का प्रभाव

उत्पत्ति पर होने वाले प्रभाव का भी निम्न तीन शीर्षकों में विचार किया जा सकता है —

(I) कार्य-शक्ति तथा बचत-शक्ति पर प्रभाव—

(१) यदि कम आय वाले आय वर्ग पर कर लगाया जाता है, तो उसकी शुद्ध आय कम हो जाती है और इस कारण उसका विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग घट जाता है, जीवन-स्तर नीचा हो जाता है और अन्त में कार्य-क्षमता अथवा कार्य-शक्ति भी कम हो जाती है। कार्य-कुशलता का ह्रास कार्य-क्षमता को भी कम कर देता है।

(२) यदि जीवन-रक्षक, कुशलता-रक्षक अथवा रूढ़ आवश्यकता की वस्तुओं पर कर लगाया जाता है, तो इसका भी यही प्रभाव होगा कि कार्य करने वाले की कार्य-कुशलता कम होकर उसकी कार्य-शक्ति घट जायगी। यही कारण है कि कम आय वाले वर्गों को बहुधा कर से मुक्त कर दिया जाता है।

(३) यदि किसी ऐसी वस्तु पर कर लगाया जाता है, जिसके उपभोग से शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्य को हानि होती है (जैसे—शराब, भांग आदि पर), तो ऐसी दशा में कार्य-कुशलता तथा कार्य-क्षमता के बढ़ जाने की आशा रहती है।

(४) लोगों की कार्य-क्षमता पर बुरा प्रभाव डालने से बचाने के लिए ऐसी वस्तुओं पर कर लगाने का सुझाव दिया जा सकता है, जिनके उपभोग से कार्य-कुशलता में वृद्धि नहीं होती तथा जिनके लिए श्रमिकों की माँग लोचदार है, क्योंकि ऐसा करने से करारोपित वस्तु के स्थान पर अन्य वस्तुओं का उपभोग बढ़ेगा और कार्य-कुशलता में वृद्धि होगी। परन्तु ऐसा कर स्वयं अपने उद्देश्य को समाप्त कर देगा, क्योंकि इनमें राज्य को अधिक आय प्राप्त नहीं हो सकेगी। वास्तविकता यह है कि ऐसे थोड़े से ही श्रमिक होंगे जिनकी कार्य-कुशलता पर कर का बुरा प्रभाव न पड़ता हो।

(५) लगभग सभी प्रकार के करों का बचत-क्षमता पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। कर देने के पश्चात् आय की मात्रा घट जाती है और आय का वह भाग जिसकी बचत की जाती थी, सरकार कर के रूप में ले लेती है, जिससे बचत-क्षमता कम हो जाती है। परन्तु जब कर

[1] Dalton : *Principles of Public Finance*, p 81

बहुत ही निर्धन लोगों पर, जिनके पास बचत करने योग्य शेष ही नही रहता, लगाया जाता है, तो वह चाहे आय पर हो या उपभोग पर, उसका बचत-शक्ति पर कोई प्रभाव नही पड़ता, क्योंकि यहाँ लोगों मे बचत-क्षमता होती ही नहीं।

(II) कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव—

यदि हम यह जानना चाहते है कि किसी वर्ग की कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर कर का अच्छा प्रभाव पडा है या बुरा, तो सर्वप्रथम तो हमे वर्ग-विशेष के लिये आय की माँग की लोच का अध्ययन करना होगा।

(१) यदि आय की माँग बेलोच है, तो कर के भुगतान द्वारा आय की प्रत्येक कमी उस वर्ग को अधिक परिश्रम तथा उद्योग करने के लिए उत्साहित करेगी, क्योंकि वर्ग-विशेष के लोग किसी न किसी भाँति अपने उपभोग मे हो जाने वाली कमी को पूरा करने का प्रयत्न करेंगे।

(२) यदि आय की माँग बहुत ही लोचदार है, तो वह अधिक परिश्रम करने से पहले अनेक बार सोचेगा। यह भी सम्भव है कि उसका अधिक परिश्रम करने का उत्साह कर द्वारा समाप्त कर दिया जाय।

(३) यदि कर अकस्मात् ही लगाया जाता है, जबकि देने वाले को उसकी तनिक भी आशा न थी अथवा भविष्य मे कर के बने रहने की आशा नही है, तो करदाताओं की काम करने की इच्छा पर उसका कोई विशेष बुरा प्रभाव नही पडेगा।

(४) प्राय: लोग भविष्य को कम महत्त्व देते हैं। अत: वह इस बात पर कम ध्यान देते है कि कर के रूप मे चुकाये गये धन से भविष्य मे उन्हे लाभ होगा और इसलिये किसी भी नये कर का साधारणतया यही प्रभाव पडता है कि लोगों की बचत करने की इच्छा शिथिल हो जाती है। यह प्रभाव दो प्रकार से पडता है :—प्रथम, लोग यह सोचते हैं कि कर के द्वारा उनकी वर्तमान आय घट जायगी और इस प्रकार वे पहले की भाँति बचा नही सकेंगे। दूसरे, वे यह भी सोचते है कि यदि वे बचाये हुए धन को किसी विनियोग मे लगाये तो उससे जो आय प्राप्त होगी उस पर फिर दोबारा कर देना पडेगा। दोनों ही दशाओं मे बचत की इच्छा सुस्त पड जाती है।

(५) यदि भविष्य के लिए धन की आवश्यकता बहुत ही आग्रहपूर्ण है, तो कर लगने से बचत की इच्छा मे कमी नही पडेगी, और आय की कमी को पूरा करने के लिए, लोग अधिक उत्साह के साथ कार्य करने लगेंगे।

(III) साधनों का पुनर्वितरण—

करारोपण बहुत बार उद्योगो तथा व्यवसायों के बीच साधनो का नवीन वितरण अथवा पुनर्वितरण कर देता है। यदि किसी उपज पर कर लगाया जाता है, तो वस्तु विशेष के प्रति इकाई उत्पादन व्यय में वृद्धि हो जाती है और वस्तु का बाजार मूल्य बढ जाता है। इस दशा मे (यदि अन्य बातें यथास्थिर रहे, तो) वस्तु की माँग कम हो जायगी, जिस कारण उसका उत्पादन भी घटेगा और उत्पादन मे लगे हुए कुछ साधन बेकार हो जायेंगे, जिनको फिर अन्य उत्पादन-शाखाओं मे जाना पडेगा। कुछ दशाओं मे, जबकि उत्पादक लोग कर का भार स्वयं उठाते है और उसे उपभोक्ताओं पर नही डालते, किसी न किसी कारण सीमान्त उत्पादकों को हानि होने लगती है, उन्हे व्यवसाय छोडने पर बाध्य होना पडता है और वे अपने साधन किसी अन्य उत्पादन-कार्य मे लगाने का प्रयत्न करते है। परन्तु एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में साधनों की गतिशीलता इतनी सरल तथा बिना रोक नहीं होती है। बहुत सारी पूँजी इस प्रकार के मकानो तथा मशीनों मे लगी रहती है कि जिनको किसी दूसरे उपयोग मे नहीं लगाया जा सकता है।

इसी प्रकार, यदि किसी एक स्थान अथवा क्षेत्र में उत्पादन कर लगाया जाता है, जबकि दूसरे स्थानों तथा क्षेत्रों मे उत्पादन कर-मुक्त है, तो उत्पादकों मे करारोपित क्षेत्रों से हटकर कर-मुक्त क्षेत्रो मे चले जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायगी, विशेष रूप से यदि बहुत से स्वतन्त्र प्रदेश पास-पास ही स्थित हैं। परन्तु, यदि दशायें विपरीत है और यदि जिस प्रदेश में कर लगाया जाता है वह या तो बहुत बड़ा है या दूसरे प्रदेशो की तुलना मे उसे बहुत से लाभ प्राप्त हैं, तो उत्पादकों मे कर से बचने हेतु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेशो मे जाने की प्रवृत्ति नही होगी।

वितरण पर करारोपण का प्रभाव

जिस प्रकार एक अच्छी कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि उसमे उत्पादन न घटे तथा बचत के सचय में कमी न पड़े, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि कर-नीति का धन अथवा आय के वितरण पर बुरा प्रभाव न पड़े।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पुरानी विचारधारा के कुछ अर्थशास्त्रियों के विश्वास के अनुसार राजस्व का उद्देश्य केवल यह है कि राज्य के लिए आय के साधन प्राप्त किये जायें। अत उन दिनों वही कर-प्रणाली सबसे अच्छी समझी जाती थी, जिसके अन्तर्गत कर देने के पश्चात् भी विभिन्न करदाताओं की तुलनात्मक आर्थिक अवस्था वैसे ही रहे जैसी कि कर देने से पहले थी।

परन्तु, बाद के अर्थशास्त्रियों ने, जिनमे प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर (Wagner) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, यह बताया कि राजस्व का कार्य केवल राज्य के लिए साधन एकत्रित करने तक सीमित नहीं है, राज्य को चाहिये कि वह अपनी राजकोषीय नीति अन्य सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों को ध्यान मे रखकर बनाये, जिससे देश मे धन का वितरण यथासम्भव समान रहे और समाज मे बेकारी (Unemployment) का या तो अन्त हो जाय या वह न्यूनतम् सीमा तक घट जाय। धन का अधिक समान वितरण निश्चय ही देश के लोगो के सामूहिक कल्याण मे वृद्धि करता है। अत. यदि किसी देश में कर-प्रणाली इस प्रकार की है कि उसके अन्तर्गत धन के वितरण की असमानतायें बढ़ती हैं, तो वह निश्चित रूप से हानिकारक होगी। पीगू (Pigou) का मत है कि "यदि राष्ट्रीय लाभाश की मात्रा मे कमी न आये, तो धन के वितरण मे प्रत्येक ऐसा सुधार, जिससे इस लाभाश मे से गरीब वर्गों को मिलने वाले भाग मे वृद्धि होती है, सामूहिक सामाजिक कल्याण को बढा देगा।"

प्रतिगामी-कर प्रणाली निस्सन्देह आय के वितरण की असमानता को बढा देती है, इसलिए उसे सामाजिक कल्याण की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, एक अनुपाती कर, अथवा, ऐसा कर जो कुछ ही अश तक प्रगामी है, अधिकाश दशाओं मे सामूहिक सामाजिक कल्याण मे कमी कर देगा। केवल वही कर-प्रणाली, जो बड़े अश तक प्रगामी होती है, धन के वितरण मे समानता ला सकती है। केवल इसी दशा मे सामाजिक सामूहिक त्याग न्यूनतम् होता है। यही कारण है कि ऐसे करों का लगाना कल्याण के दृष्टिकोण से सबसे उचित समझा जाता है।

किसी भी देश की कर-प्रणाली मे बहुत सारे कर सम्मिलित होते हैं, जिनमे से कुछ तो सभी व्यक्तियों पर एक ही दर मे लगाये जाते है, कुछ अनुपाती होते हैं परन्तु उनमे से कुछ का बड़े अश तक प्रगामी होना आवश्यक है, जिससे कि सम्पूर्ण कर-प्रणाली की प्रवृत्ति प्रगामिता की ओर हो। उदाहरण के लिए उत्तर-प्रदेश राज्य की सरकार एक तो कृषि-आय कर लगाती है जो एक प्रगामी कर है, दूसरे, वह बिक्री-कर, उत्पादन कर इत्यादि लगाती है, जो अनुपाती कर हैं, और तीसरे, इसी राज्य मे बिजली कर, बिजली के उपभोग की प्रत्येक इकाई पर एक

ही मात्रा में लिया जाता है। इस प्रकार, प्रत्येक राज्य सब प्रकार के करों का समुचित तथा लाभपूर्ण मिश्रण करने का प्रयत्न करता है।

[स्मरण रहे कि केवल प्रत्यक्ष कर ही, जैसे—आय-कर, प्रमण्डल कर (Corporation Tax) इत्यादि, साधारणतया बडे अंश तक प्रगामी बनाये जा सकते हैं। किन्तु निरश्राम्य-कर तथा उत्पादन-कर जैसे परोक्ष करो को प्रगामी बनाना सरल नही है। उपभोग पर लगाए हुए लगभग सभी कर साधारणतया अनुपाती होते हैं, क्योंकि वे उपभोक्ताओं के विभिन्न वर्गों में भेद नही करते। अतः यह सम्भव नही है कि एक ही वस्तु पर एक धनी उपभोक्ता से तो कर अधिक लिया जाय किन्तु गरीब से कम।]

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से, कभी-कभी संरक्षण प्रशुल्क (Protective Tariff) भी धन के वितरण को समुचित बनाने में सहायक हो सकता है। यह निम्न दो रीतियों मे सम्भव है —

(१) उन वस्तुओ पर आयात कर लगाकर आय के वितरण मे समानता लाई जा सकती है, जो ऐसे देशी उद्योगो की उपज से, जिनमें मजदूरियों की दर दूसरे उद्योगो की अपेक्षा ऊँची है, प्रतियोगिता करती है। इन करो का परिणाम यह होता है कि वे ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहित करते है जिनमे मजदूरियाँ अधिक हैं और इस प्रकार श्रम तथा अन्य उत्पत्ति साधनो को कम मजदूरी वाले उद्योगो से अधिक मजदूरी वाले उद्योगो मे गतिशील कर देते है।

(२) ऐसी वस्तुओ पर आयात कर लगा कर भी, जिनका उपभोग प्रायः धनी वर्गों मे ही किया जाता है, इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। कर लग जाने पर इन वस्तुओ के स्थानापन्न अधिक लोकप्रिय हो जाते हैं, जो समाज के अधिकांश लोगों के लिए अधिक लाभदायक होते है।

परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस नीति का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है। व्यावहारिक जीवन मे इससे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। कारण, करारोपण का प्रभाव अनेक दिशाओ मे पडता है और इसके फलस्वरूप बहुत-सी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो कभी-कभी एक-दूसरे की विरोधी भी होती है। यही कारण है कि यह नीति व्यावहारिक जीवन मे बहुधा सफल नही हो पाई है।

करारोपण के अन्य प्रभाव
(Other Effects of Taxation)

(I) एकत्रण व्यय—

करारोपण के अन्य प्रभावो के सम्बन्ध मे कर एकत्रित करने के व्यय का अध्ययन भी आवश्यक प्रतीत होता है। वही कर-प्रणाली अच्छी समझी जाती है जो मितव्ययी हो, अर्थात् जो करदाताओ द्वारा दिये हुये धन का अधिकतम भाग राजकीय कोष मे पहुंचाने मे सफल होती है। सरकार के दृष्टिकोण से, जबकि उसका उद्देश्य करो के द्वारा एक निश्चित आय प्राप्त करना है, वह कर प्रणाली, जिसमे भारी सख्या मे ऐसे कर सम्मिलित हो जिनमे कि कर-दाताओ को धन की छोटी-छोटी मात्रायें देनी पडें, अधिक महँगी पडती है। इसके विपरीत, ऐसी कर-प्रणाली मे एकत्रित करने का व्यय कम होगा, जिसमे करो की मात्रा तो थोडी हो, परन्तु उनमे से प्रत्येक राज्य को बहु-मात्रा मे आय प्रदान करता हो। इसी प्रकार, यदि एक कर बहुत सारे व्यक्तियो पर लगाया जाता है, यद्यपि उसकी प्रति व्यक्ति दर बहुत कम है, शासन के दृष्टि-कोण से ऐसे कर की अपेक्षा अधिक महँगा होगा जो ऊँची दर पर थोडे से ही व्यक्तियों पर कर लगाया जाता है और राज्य को बराबर ही आय प्रदान करता है। साराश यह है कि मित-व्ययिता के दृष्टिकोण से ऐसी कर-प्रणाली अधिक अच्छी है, जिसमे करो की सख्या सीमित हो।

(II) कर-प्रणाली की सरलता—

यदि कर-प्रणाली जटिल है और यदि आय की विस्तृत सूची बनाने के लिए नियमों

के विशेष ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है अथवा लेखों की सत्यता सिद्ध करने के लिए बहुत से पत्रों को भेजना पड़ता है, तो इससे करदाताओं को केवल परेशानी ही नहीं होती वरन् उनको विशेषज्ञों की सम्मति प्राप्त करने तथा कर-अधिकारियों के सामने अपने दृष्टिकोण रखने पर भी बहुत व्यय करना पड़ता है। ऐसी दशा में एकत्रित करने का व्यय परोक्ष रूप में बढ़ जाता है। अत: यह आवश्यक है कि कर-प्रणाली इतनी सरल तथा स्पष्ट हो कि करदाता बिना किसी विशेष परेशानी तथा व्यय के अपने दायित्व का भुगतान कर सके।

(III) रोजगार—

कुछ लोगों का विश्वास है कि करारोपण अवश्य ही बेकारी को बढ़ाता है अथवा रोजगार में कमी करता है। उनका तर्क है कि यदि कर न दिये गये होते, तो उस धन की बचत होती जो जनता कर के रूप में देती है और इस बचत को या तो वर्तमान उद्योगों तथा व्यवसायों में लगाया जाता या इससे नये उपक्रम खोले जाते। दोनों ही दशाओं में लोगों को अधिक रोजगार मिलता।

किन्तु उपर्युक्त धारणा सही नहीं है। निस्सन्देह ऐसे करों के फलस्वरूप, जिनकी मात्रा बहुत अधिक होती है अथवा जो आकस्मिक होते हैं, कभी कभी बेकारी बढ़ जाती है, क्योंकि इससे अकस्मात् ही भारी संख्या में श्रमिकों का रोजगार छूटने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। किन्तु इस सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं :—

(१) राज्य भी अपनी प्राप्त आय को खर्च करता है और जो क्रय-शक्ति कर के रूप में लोगों से ले ली जाती है वह राजकीय व्यय के रूप में फिर लोगों को लौटा दी जाती है और इसके फलस्वरूप रोजगार में उसी प्रकार वृद्धि होती है जैसी कि उस दशा में जबकि यह क्रय-शक्ति व्यक्तिगत हाथों में बनी रहती।

(२) सम्भव है कि व्यक्तिगत व्यवसायी बचत तो करते, परन्तु इस बचत का ग्रासचन (Hoarding) करके रोजगार में कमी कर देते।

(३) व्यक्तिगत व्यवसायी ऐसे उद्योगों में भी रुपया नहीं लगाते जो कम लाभ देते हैं या जिनमें जोखिम अधिक है या जो बहुत लम्बी अवधि के बाद फलदायक होते हैं या जिनमें इतनी अधिक पूँजी की आवश्यकता हो कि व्यक्तिगत साहस उसे उपलब्ध न कर सके। राज्य ऐसे उपक्रमों की स्थापना करके नये और विस्तृत रोजगार के मार्ग खोल सकता है।

उत्तम कर-प्रणाली वह है जिसमें विभिन्न प्रभावों का सन्तुलन हो जाय

यदि हमें किसी कर-प्रणाली के विषय में यह निर्णय देना है कि वह अच्छी है या बुरी अथवा दो कर-प्रणालियों की तुलना करनी है, तो हमें उपरोक्त प्रभावों के बीच 'सन्तुलन' करना होता है और अधिकतम् सामाजिक लाभ अथवा न्यूनतम् सामूहिक त्याग को देखना पड़ता है। साथ ही, यह कहना भी असङ्गत न होगा कि राज्य की माँग विभिन्न करदाताओं के प्रति यथासम्भव न्यायपूर्ण होनी चाहिए। अधिकतम् सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुसार कर-प्रणाली मितव्ययी भी होनी चाहिए। बहुत बार ऐसा देखने में आता है कि न्यायशीलता तथा मितव्ययिता दोनों एक ही साथ प्राप्त नहीं की जा सकती हैं। ऐसी दशा में हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि लम्बे काल तक दोनों को साथ-साथ न चलाया जा सके और इस बात की आवश्यकता पड़े कि दोनों में से किसी एक को चुना जाय तो उस दशा में मितव्ययिता को न्यायशीलता की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ लगाना भूल होगी कि न्यायशीलता आवश्यक नहीं है। तात्पर्य केवल इतना है कि दोनों के बीच विरोध की दशा में मितव्ययिता को न्यायशीलता से ऊँचा स्थान मिलना चाहिए।

८

मृत्यु-कर
(Death Duties)

प्रारम्भिक—

सरल शब्दों में, मृत्यु-कर वह है जो किसी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसकी छोड़ी हुई सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगाया जाता है। इस प्रकार, यह कर मरने वाले के उत्तराधिकारियों से वसूल किया जाता है। वर्तमान युग में मृत्यु-कर ने एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।

मृत्यु-कर के दो भेद
(Two Types of Death Duties)

इस कर के बहुधा निम्न दो रूप होते हैं और व्यावहारिक जीवन में इन दोनों रूपों का अलग-अलग प्रभाव पड़ता है :—(अ) भू-सम्पत्ति कर (Estate Duty) के रूप में, जिस दशा में इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि मृत व्यक्ति का उत्तराधिकारी कौन है, उसका मृत व्यक्ति से क्या सम्बन्ध है और उसकी करदान सम्बन्धी स्थिति किस प्रकार है। यह कर मृत व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई कुल सम्पत्ति, चाहे वह चल हो या अचल, पर उत्तराधिकारियों में बाँटने से पहले ही, वसूल कर लिया जाता है। (ब) रिक्थ-कर (Inheritance Tax) के रूप में, जिस दशा में कर जब मृत व्यक्ति की कुल सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों में बँट जाती है तो उत्तराधिकारियों से वसूल किया जाता है।

भू-सम्पत्ति-कर बनाम रिक्थ-कर—

इस प्रकार, भू-सम्पत्ति कर मृत व्यक्ति की समस्त सम्पत्ति पर एक साथ लगाया जाता है, परन्तु रिक्थ-कर विभिन्न उत्तराधिकारियों को प्राप्त होने वाले हिस्सों पर अलग-अलग लगाया जाता है। इङ्गलैण्ड में ये दोनों ही प्रकार के मृत्यु-कर एक ही साथ लगाये जाते हैं। जर्मनी में उत्तराधिकारियों पर कर लगाते समय उसकी निजी सम्पत्ति को भी ध्यान में रखा जाता है। भारत में मृत्यु-कर भू-सम्पत्ति कर के रूप में लगाया गया है।

शासन के दृष्टिकोण से भू-सम्पत्ति कर रिक्थ-कर की अपेक्षा अधिक सरल तथा मितव्ययितापूर्ण होता है। यह बहुधा अधिक उत्पादक भी होता है क्योंकि इस कर में हिस्सों का मूल्य निर्धारण करने तथा उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में अन्य बातों की खोज करने की आवश्यकता नहीं पड़ती और कर की दरें भी सुगमता से निश्चित की जा सकती हैं। इसके विपरीत, रिक्थ-करों में करदाता की करदान-क्षमता को भारी महत्व दिया जाता है, जिसका निर्धारण एक जटिल समस्या है। परन्तु अर्थशास्त्रियों का विचार है कि रिक्थ-कर भू-सम्पत्ति कर पर एक सुधार है, क्योंकि यह न्यायपूर्णतया के दृष्टिकोण से अधिक अच्छा होता है और उसका भार प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी करदान-क्षमता के अनुसार पड़ता है।

मृत्यु-कर के पक्ष में तर्क

मृत्यु-करों के पक्ष में प्राय: निम्न तर्क रखे जाते हैं :—

(१) रिक्थ सम्पत्ति अनुत्पादित आय है—उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली आय उत्तराधिकारी के दृष्टिकोण से 'अनुत्पादित आय' है। क्योंकि उत्तराधिकारी ने समाज के प्रति अथवा मृत व्यक्ति के प्रति उस सम्पत्ति के निमित्त कुछ भी सेवा प्रस्तुत नहीं की है। अतः मृत्यु-कर को उचित कहा जा सकता है। वह उत्तराधिकारी के लिए कुछ भी कष्ट उपस्थित नहीं करता।

(२) आय का पुनर्वितरण—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का एक भारी दोष यह है कि उसमें आय का विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों के बीच बड़ा असमान वितरण होता है। इस असमानता का एक बड़ा कारण पूँजीवादी देशों की रिक्थ-प्रथा ही है। जो लोग साम्यवादी अथवा समाजवादी विचारधारा के पक्ष में हैं वे तो समाज की इस त्रुटि को दूर करने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा रिक्थ-प्रणाली को भङ्ग कर देने का सुझाव रखते हैं। परन्तु, जो लोग पूँजीवादी संस्था में सुधार करने के पक्ष में हैं वे मृत्यु-करों को इस प्रकार के सुधार का एक महत्त्वपूर्ण साधन समझते हैं। संचित व्यक्तिगत सम्पत्ति का एक भाग इन करों के द्वारा सरकार प्राप्त कर लेती है और प्राप्त धन का उपयोग समाज के निर्धन वर्गों को लाभ पहुँचाने में करती है।

(३) पूँजीवाद में व्यापार-चक्र पर रोक—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का भारी दोष यह है कि इस अवस्था में व्यापार-चक्र लागू होते हैं। व्यापार-चक्रों का प्रमुख कारण यह है कि धन के वितरण की असमानता के कारण गरीब वर्गों के उपभोग में कमी आ जाती है। अतः धन के वितरण की असमानता जितनी ही कम होगी व्यापार-चक्र द्वारा उत्पन्न पीड़ा भी उतनी ही कम होगी और मृत्यु-कर इस प्रकार की असमानता काफी अंश तक कम कर सकते हैं, बशर्ते उन्हें एक बड़े अंश तक प्रगामी रखा जाय।

(४) अच्छे कर—मृत्यु-कर लगाना तथा उनकी दरें निश्चित करना सरल होता है और एक बार लग जाने के पश्चात् उनका अपवचन भी कठिन है। ऐसे कर उन प्रतिभूतियों तथा वेतनों से प्राप्त आय पर भी, जो साधारणतया कर-मुक्त हैं, लगाये जा सकते हैं। यही नहीं, वह सम्पत्ति अथवा आय भी कर से नहीं बच सकती, जिसे मृत व्यक्ति ने छिपा कर रखा था।

मृत्यु-कर के विरोध में तर्क

मृत्यु-कर के विरुद्ध प्रमुख तर्क निम्न प्रकार हैं :—

(१) ये कर देश में पूँजी के संचय को हतोत्साहित करते हैं। परिणाम यह होता है कि आगे चल कर देश की उत्पादन-शक्ति कम हो जाती है और उसके आर्थिक विकास तथा सम्पन्नता के वेग में शिथिलता आ जाती है। एक आलोचक ने यहाँ तक कहा है—"हम अपने बीज के अनाज को बेच रहे हैं और जब बोने का मौसम आयगा तो हमारे पास कुछ भी नहीं बचेगा।"[1] [इस सम्बन्ध में यह कह देना असंगत न होगा कि जहाँ तक मृत व्यक्ति का सम्बन्ध है, उसकी सम्पत्ति पर लगाये गये करों का उसकी इच्छा-शक्ति पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, जो आय उत्तराधिकारियों को मृत्यु-कर के न होने की दशा में मिलती उसमें कमी अवश्य आ जाती है। किन्तु यह निर्णय कठिन है कि ऐसी कमी का उसकी इच्छा-शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ेगा।]

(२) मृत्यु-कर पूँजी को समाप्त कर देते हैं। यह तर्क विशेष रूप से बड़े-बड़े उद्योग-पतियों की ओर से प्रस्तुत किया जाता है। मृत्यु-कर देने के पश्चात् उद्योग में लगाई हुई पूँजी

---

1 Henry Higgs : *Death Duties or Life Duties*, Quarterly Review, Vol. CCLV, 1920, p. 108.

मे कमी आ जाती है। [इसके विरुद्ध हम यह कह सकते हैं कि कर के फलस्वरूप सरकार को जो आय प्राप्त होती है उसे वह पूँजी के रूप मे उपयोग कर सकती है। इङ्गलैंड के अनुभव से तो यही सिद्ध होता है कि इन करों ने पूँजी के निर्माण मे बाधा नही डाली है।]

(३) **मृत्यु-कर स्वयं अपने आधार को समाप्त कर देते हैं।** कहा जाता है कि मृत्यु-करों की उत्पादकता विशालकाय सम्पत्तियों पर निर्भर होती है, जबकि ये कर स्वयं बड़ी सम्पत्ति को नष्ट कर देते हैं। [परन्तु अनुभव बताता है कि ब्रिटेन मे, जहाँ ये कर बड़े लम्बे काल से लगते चले आ रहे हैं, ऐसा कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता है।]

(४) **मृत्यु-कर बड़ी बड़ी उत्पादन इकाइयों को तोड़ देते हैं।** उनके द्वारा पूँजी की मात्रा मे तो कमी आती ही है। साथ ही, उत्तराधिकारी उत्पादन-व्यवस्था के आकार को कम करने के लिए भी बाध्य हो जाते हैं। [अनुभव इस तर्क की भी पुष्टि नहीं करता।]

(५) **मृत्यु-कर परोपकार को हतोत्साहित करते हैं।** [इसमे सन्देह नही कि व्यक्तिगत परोपकार पूँजीवाद के अन्तर्गत एक लाभपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति करता है, परन्तु देखना यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का कौन-सा भाग परोपकार पर व्यय किया जाता है। वैसे भी हर प्रकार के परोपकार को हर दशा में उचित नही कहा जा सकता, क्योंकि बहुत बार वह सामाजिक वर्गों की आर्थिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता को समाप्त करके निहित हित (Vested interest) उत्पन्न कर देता है।]

मृत्यु-करों के प्रभाव

हम मृत्यु-करों के प्रभाव का निम्न चार शीर्षकों मे अध्ययन करते है :—

(१) **बचत पर प्रभाव**—बहुधा ऐसा कहा जा सकता है कि मृत्यु-कर व्यय-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देकर बचत को कम कर देते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं :—(i) लगभग सभी देशों मे एक न्यूनतम सीमा तक सम्पत्ति को कर-मुक्त रखा जाता है। उसके पश्चात् नीची दरों पर कर लगाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रथम तो निम्न वर्गों तथा मध्यम वर्गों की बचत-शक्ति पर कर का प्रभाव पड़ता ही नही और यदि पड़ता है तो बहुत कम। (ii) अधिकांश बचत धनी वर्गों द्वारा की जाती है और मृत्यु-कर इस वर्ग की बचत शक्ति को निःसन्देह कम कर देता है। (iii) मृत्यु-कर पूँजी मे से चुकाया जाता है और इस प्रकार यह पूँजी को कम कर देता है। परन्तु, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सरकार भी कर से प्राप्त आय को पूँजी के रूप मे उपयोग कर सकती है और फिर इस बात की कोई गारण्टी नही है कि उत्तराधिकारी प्राप्त सम्पत्ति का पूँजी के ही रूप मे उपयोग करेगा।

(२) **बचाने की इच्छा पर प्रभाव**—कहा जाता है कि मृत्यु-कर का बचत करने वाले की मनोवृत्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है और इस कारण उसकी बचत करने की इच्छा मे कमी हो जाती है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें, तो पता चलता है कि आय-कर का मृत्यु-कर की अपेक्षा बचत करने की इच्छा पर अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है। कारण, आय-कर तुरन्त देना पड़ता है, जबकि मृत्यु-कर दूर भविष्य मे और वह भी स्वयं सम्पत्ति उपार्जन करने वाले के द्वारा नहीं। बचाने वाला अपने जीवन-काल मे सम्पत्ति का अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग कर सकता है, इसलिए उसकी बचाने की इच्छा पर भारी प्रभाव नही पड़ता। कर तो बचाने वाले के उत्तराधिकारी चुकाते हैं, इसलिए उनका बचाने वाले की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ना आवश्यक नही है।

साथ ही, इस बात की सम्भावना है कि मृत्यु-कर देने की आकांक्षा मे व्यक्ति विशेष पहले से अधिक परिश्रम करने के लिए उत्साहित हो और उत्तराधिकारी भी अधिक तन्मयता के साथ बचत करे। दोनों ही दशाओं मे बचत की इच्छा उत्साहित ही होगी। इस सम्बन्ध मे हमें

यह भी जानना चाहिए कि रिक्थ सम्पत्ति बहुत बार अप्रत्याशित (Windfall) आय के रूप में मिलती है। जब तक यह नहीं मिल जाती है, उत्तराधिकारी उसके विषय में निश्चित नहीं रहता और इस कारण यह समझ लेना भूल होगी कि उसकी आशा में वह पहले से ही काम छोड़ देगा और हाथ पर हाथ रख कर बैठ जायगा।

(३) **उत्पादकता पर प्रभाव**—जो बात बचत के सम्बन्ध में कही गई है वह यहाँ भी लागू होती है। इङ्गलैंड आदि देशों का अनुभव है कि इस कर के होते हुए भी उत्पादकता निरन्तर बढ़ती ही गई है और देश का आर्थिक विकास आगे बढ़ा है। साधारणतया आय की कमी का उत्पादकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है, परन्तु मृत्यु-कर उत्तराधिकारी को पहले से प्राप्त होने वाली आय में कोई कमी नहीं करता है।

(४) **उत्पादन की इच्छा पर प्रभाव**—मृत्यु-करों का उत्पादन की इच्छा पर भी कोई बुरा प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता। बात यह है कि मृत्यु-कर उस अतिरिक्त आय में से दिया जाता है जो उत्तराधिकारी को अकस्मात् मिल गई है।

भारतीय भू-सम्पत्ति कर एक्ट
(Indian Estate Duties Act)

एक्ट की प्रमुख बातें—

भारत में यह एक्ट १५ अक्टूबर सन् १९५३ से लागू किया गया और इसे भू-सम्पत्ति एक्ट सन् १९५३ (Estate Duties Act, 1953) का नाम दिया गया। एक्ट की प्रमुख व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) भू-सम्पत्ति कर मृत व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई कुल सम्पत्ति की मूल कीमत पर लगाया जायगा। मृत व्यक्ति की सम्पत्ति में चल और अचल, कृषक और अकृषक, आदेश और अधिकार सभी प्रकार की सम्पत्ति को सम्मिलित किया गया है।

(२) कर सम्पत्ति की शुद्ध कीमत पर लगाया जायगा। मृत व्यक्ति के कुछ प्रकार के ऋणों, दायित्वों तथा दाह-संस्कार सम्बन्धी खर्चों को सम्पत्ति की कीमत से निकाल दिया जाता है। सम्पत्ति का मूल्य आकते समय बाजार-भाव पर ही कीमतें निर्धारित की जायेंगी।

(३) यह कर उन सभी व्यक्तियों द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर लगाया जाता है, जिनकी मृत्यु १५ अक्टूबर सन् १९५३ के पश्चात् होती है। ऐसे व्यक्तियों में पुरुष, स्त्री, नाबालिग, वयस्क और पागलों को भी सम्मिलित किया गया है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यह कर केवल मनुष्य द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर लगाया जाता है, कम्पनी, फर्म अथवा प्रमण्डल द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर नहीं। सम्मिलित परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु पर केवल उस सदस्य के हिस्से की सम्पत्ति पर कर लगाया जायगा। एक्ट में इन बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है कि मृत व्यक्ति की सम्पत्ति का कितने उत्तराधिकारियों में विभाजन होता है।

(४) कर के चुकाने का उत्तरदायित्व मृत व्यक्ति के सभी उत्तराधिकारियों पर है।

(५) छूट के लिये कुछ न्यूनतम सीमा निर्धारित की गई है एवं कर की दरें प्रगामी हैं अर्थात्, आय की वृद्धि के साथ कर ऊँचे प्रतिशत से लगाया जाता है।

(६) एक्ट में 'सम्पत्ति' शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में ही किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मृत व्यक्ति की छोड़ी हुई सारी सम्पत्ति को 'सम्पत्ति' के क्षेत्र में सम्मिलित किया गया है।

(७) सम्पत्ति की शुद्ध कीमत निकालने के लिए मृत व्यक्ति की सम्पत्ति में से कुछ प्रकार के खर्चों को निकाल दिया जाता है, परन्तु इस प्रकार के खर्चों की अधिकतम सीमायें निश्चित कर दी गई हैं।

(८) कुछ राज्यों में स्थित कृषि-भूमि कर से विमुक्त होगी, परन्तु करारोपण के उद्देश्य से ऐसी सम्पत्ति को भी कुल सम्पत्ति में सम्मिलित कर लिया जाता है।

(९) निम्न प्रकार की सम्पत्ति को कर से पूर्णतया विमुक्त किया गया है :—(i) वह समस्त प्रचल पूँजी जो विदेशों अथवा जम्मू और काश्मीर राज्य में स्थित है। (ii) सभी प्रकार की ऐसी चल पूँजी जो विदेशों में लगाई गई है। (iii) वह सम्पत्ति जिस पर मृत व्यक्ति का अधिकार केवल ट्रस्टी (Trustee) के रूप में था। (iv) ऐसी पुस्तकें जिन्हें मृत व्यक्ति ने बेचने के उद्देश्य से संग्रह नहीं किया था। (v) घरेलू सामान तथा औजार, एक अधिकतम कीमत तक। (vi) पहनने के कपड़े और उनसे सम्बन्धित गहने और हीरे। (vii) चित्र, हस्तलिपि तथा अन्य प्रकार के व्यक्तिगत संचय। (viii) कोई भी ऐसा संचय जो शौक के उद्देश्य से किया गया है। (ix) ऐसी सम्पत्ति जिस पर तीन महीने के भीतर पहले ही मृत्यु-कर दिया जा चुका है, परन्तु दूसरी मृत्यु के कारण फिर कर वाजिब हो जाता है। (x) वह सम्पत्ति जिस पर हिन्दू विधवा का सीमित अधिकार है। (xi) निश्चित राशि तक समस्त दान तथा उपहार जो मृत-व्यक्ति द्वारा दिये गये हैं। (xii) ऐसी सम्पत्ति जिस पर उपहार कर (Gift Tax) के अन्तर्गत पहले ही कर दिया जा चुका है।

एक्ट पर आलोचनात्मक दृष्टि—

भारत का भू-सम्पत्ति का विधान ब्रिटिश नियमों के आधार पर बनाया गया है। अनुभव द्वारा ब्रिटिश सरकार ने समय-समय पर अपने नियमों में बराबर संशोधन किये हैं, जिसका फल यह हुआ कि ब्रिटेन का वर्तमान विधान बहुत जटिल एवं पेचीदा है। भारत सरकार ने भी ब्रिटिश सरकार के अनुभव से लाभ उठाने के लिए एक्ट में अपवंचन के विरुद्ध समुचित व्यवस्थायें की हैं और इस कारण भारतीय भू-सम्पत्ति कर एक्ट में भी काफी जटिलता आ गई है। एक्ट की न तो भाषा ही सरल है और न उसकी व्यवस्थाओं को साधारण व्यक्ति सरलतापूर्वक समझ ही सकता है। शायद इतनी जटिलता की आवश्यकता न थी। ब्रिटिश नियमों का अनुकरण करके हमने एक्ट में अनेक अनावश्यक वस्तुएँ सम्मिलित कर ली हैं।

बहुत-सी व्यवस्थाएँ तो ऐसी हैं कि उनका देश के व्यावहारिक जीवन में लगभग कुछ भी महत्व नहीं है। इन सम्बन्धों में की गई व्यवस्थाओं को देखने से तो केवल यही पता चलता है कि भविष्य में मुकद्दमेबाजी को रोकने के विषय में भारत सरकार आवश्यकता से अधिक सावधान रही है।

एक्ट में कोई आधारभूत दोष दृष्टिगोचर नहीं होता। इसमें निम्न अच्छाइयाँ हैं —(i) छूट की सीमा काफी ऊँची रखी गई है और बचत के प्रोत्साहन के लिए भी समुचित व्यवस्था की गई है। (ii) कम आय वर्ग पर इस कर का लगभग कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। (iii) श्रमिकों पर तथा प्रगामी दर पर कर लगाकर न्यायशीलता के सिद्धान्त की सन्तुष्टि की गई है। (iv) दूसरे देशों के अनुभव से ऐसा प्रतीत होता है कि यह कर पूँजी के निर्माण पर भी कोई बुरा प्रभाव नहीं डालेगा। वैसे भी सरकार ने यह निश्चय किया है कि इस कर से प्राप्त राशि का उपयोग पूँजी के रूप में किया जायगा। (v) कर अपवंचन के विरुद्ध समुचित व्यवस्थायें की गई हैं और (vi) कर के एकत्रित करने पर भी व्यय बहुत नहीं होगा।

व्यावहारिक जीवन में कर के प्रशासन में कुछ न कुछ कठिनाइयाँ अवश्य रहेंगी। सबसे बड़ी कठिनाई सम्पत्ति के मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में है।

परीक्षा प्रश्न :

१. भारत में मृत्यु-करों के गुण-दोषों का विवेचन करिये। भारत में जायदाद-कर किस सीमा तक एक अच्छा मृत्यु-कर कहा जा सकता है?

९

लोक ऋण
(Public Debt)

प्रारम्भिक—लोक ऋण का अर्थ

राज्य द्वारा आय प्राप्त करने की रीतियों मे ऋण प्राप्त करना भी एक उपाय है। उधार लेना कभी-कभी "असाधारण अर्थ-प्रबन्ध" (Extra-ordinary Finance) कहा जाता है। यह आय-साधन अन्य साधनों से कुछ भिन्न होता है। लोक ऋण पर बहुत काल तक ब्याज दिया जाता है और मूलधन को लौटाने के लिए शोधन-व्यवस्था करनी पड़ती है। अतः राजस्व के विद्वानों का मत है कि साधारण परिस्थितियों मे सरकार को अपने व्ययों की पूर्ति साधारण आगम के साधनों द्वारा ही करनी चाहिये।

लोक ऋण का महत्त्व

(१) व्यवहार मे सरकारें साधारण तथा असाधारण दोनों ही परिस्थितियों के लिए ऋण लेती हैं। **आर्थिक नियोजन हेतु ऋणों का लेना सभी सरकारें उचित समझती हैं।**

(२) **करारोपण की सीमा होती है,** जिसके परे उसे ले जाने से जन-विश्वास खो देने का भारी भय रहता है। एक विदेशी सरकार तो इस विषय में और भी सतर्क रहती है। ऐसी दशा मे लोक ऋण आवश्यक होते हैं।

(३) सरकार के व्यय की बहुत-सी मदें ऐसी होती हैं जिनका लाभ वर्तमान पीढ़ियों की अपेक्षा आगे की पीढ़ियों को ही अधिक होता है। जबकि करारोपण का समस्त भार वर्तमान पीढ़ी पर पड़ता है, **लोक ऋणों के भार का कुछ अंश भावी पीढ़ियों पर** भी डाला जा सकता है, क्योंकि ऋणों का शोधन भावी लोक आगम से किया जाता है।

(४) यह सम्भव है कि ऋणों से प्राप्त रकम को उत्पादन कार्यों मे लगाकर शोधन हेतु पर्याप्त आय प्राप्त की जा सके। ऐसी दशा मे **ऋण स्वयं अपने शोधन की व्यवस्था कर देता है।**

(५) जब किसी ऐसे उद्देश्य के लिये धन की आवश्यकता हो जिससे किसी विशेष सामाजिक वर्ग को ही लाभ पहुँचे, तो करारोपण की अपेक्षा लोक ऋण के द्वारा धन प्राप्त करना ही अधिक अच्छा है, विशेषकर यदि व्यय उत्पादक हैं और लाभ पाने वाले इसका बदला दे सकते हैं।

(६) प्राकृतिक आपत्तियों के संकट को दूर करने अथवा उनकी भावी सम्भावना को रोकने के लिए भी ऋण लेना उपयुक्त हो सकता है।

(७) वर्तमान जगत मे समाजवादी विचारधारा का जोर है, जिसके अन्तर्गत देश मे बेकार पड़े हुए आर्थिक साधनों का शोषण, उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण अथवा सरकारी उपक्रम के अन्तर्गत नये उद्योगों का निर्माण करने के लिए लोक ऋणों की वाञ्छनीयता स्वीकार की जाती है।

व्यक्तिगत ऋण और लोक ऋण

जिस प्रकार राजकीय अर्थ-प्रबन्ध तथा व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्ध मे भारी अन्तर है, ठीक उसी प्रकार लोक-ऋण तथा व्यक्तिगत ऋण मे भी भेद होता है। प्रमुख भेद निम्न प्रकार हैं :—

(१) बाध्यता—सरकार एक ऐसी ऋणी होती है जो ऋण-दाताओं को ऋण देने के लिए बाध्य भी कर सकती है, परन्तु व्यक्तिगत ऋणी के लिये ऐसा करना सम्भव नही होता।

(२) समय-सीमा—सरकार सदा जीवित रहने वाली ऋणी होती है, इसलिये वह स्थायी ऋण ले सकती है और ऋण को चुकाने का स्थायी सौदा कर सकती है। सरकारी ऋणो पर समय-सीमा लगाना आवश्यक नही है। किन्तु व्यक्तिगत ऋणी का जीवन स्थायी नही होता, जिस कारण व्यक्तिगत ऋणों पर साधारणतया ३ से लेकर १२ साल तक की समय-सीमा लागू होती है।

(३) क्षेत्र—लोक ऋण देश के भीतर से भी लिये जा सकते हैं और विदेशों से भी। परन्तु व्यक्तिगत ऋण साधारणतया देश के भीतर से ही लिये जाते है, क्योंकि सरकार की तुलना मे व्यक्तियों की साख विदेशों में बहुत कम होती है।

(४) वैयक्तिक ऋण—सरकार बाहरी व्यक्तियों से ऋण लेने के अतिरिक्त स्वयं अपने आप से अपने प्रतिज्ञा-पत्र (I. O. U's) निकाल कर भी ऋण ले सकती है। एक व्यक्ति स्वयं अपने आपसे ऋण नही ले सकता, क्योंकि वह सरकार की भाँति नोट नही छाप सकता है।

(५) उपयोग—लोक ऋणों का उपयोग जन-साधारण (जिसमे ऋणदाता भी सम्मिलित होते हैं) के लाभार्थ किया जाता है, परन्तु कोई भी व्यक्तिगत ऋणी ऋण-राशि का उपयोग ऋणदाता के लाभार्थ नही करता है।

(६) शोधन—लोक ऋण के शोधन के लिए करारोपण का उपाय किया जाता है और इस प्रकार ऋणदाता को भी करदाता के रूप मे ऋण का एक भाग चुकाना पडता है। किन्तु व्यक्तिगत ऋण मे ऐसा नही होता।

(७) शर्तें—सरकार की साख अधिक होने के कारण लोक ऋणों के व्याज की दरें और शोधन सम्बन्धी शर्तें व्यक्तिगत ऋणो की अपेक्षा अधिक सरल होती है।

(८) मात्रा एवं प्रतिभूति—व्यक्तिगत ऋण छोटी मात्रा मे होता है और ऋणी कोई अच्छी प्रतिभूति देता है। लोक ऋणों के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही है। वह विशाल राशियों में होते हैं तथा उनकी प्रतिभूति प्रायः सरकार का वचन मात्र होती है।

(९) उद्देश्य—अधिकांश लोक ऋण उत्पादक कार्यों के लिये ही लिये जाते हैं, किन्तु व्यक्तिगत ऋण उत्पादक और अनुत्पादक दोनों ही उद्देश्यो के लिए।

लोक ऋण तथा करारोपण में भेद

लोक ऋण और करारोपण मे कई मौलिक भेद हैं, जो निम्न प्रकार है :—

(१) दायित्व—लोक ऋणों के सम्बन्ध मे सरकार का यह दायित्व होता है कि भविष्य मे मूलधन और ब्याज का भुगतान करे, परन्तु करो के सम्बन्ध में ऐसा दायित्व नही होता।

(२) उद्देश्य—लोक ऋण साधारणतया असाधारण अर्थ-प्रबन्ध से सम्बन्धित होते हैं, परन्तु करो द्वारा सरकार अपने दिन-प्रतिदिन के व्यय के लिये धन प्राप्त करती है।

(३) नियमितता—कर सरकारी आय का नियमित साधन है, परन्तु ऋण अनियमित साधन।

(४) भार—लोक ऋणों द्वारा भावी पीढ़ियों को जो लाभ पहुँचाया जाता है उसका बदला भावी पीढ़ियों से भी वसूल किया जा सकता है। करारोपण मे यह बात नहीं होती, क्योंकि उसका भार केवल वर्तमान पीढ़ियों पर ही पडता है।

लोक ऋण का वर्गीकरण

लोक ऋणों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जाता है :—

(I) **अवधि के अनुसार वर्गीकरण**—ये ऋण दो प्रकार के होते हैं :—(१) **दीर्घकालीन ऋण** (Funded Debts) जिनका भुगतान या तो सरकार करती नहीं है और यदि करती भी है तो बहुत समय के बाद। ऐसे ऋण अधिकतर अकाल या अन्य इसी प्रकार की सामाजिक आपत्तियों का सामना करने के हेतु लिए जाते हैं। (२) **अल्पकालीन ऋण** (Unfunded Debts), जो बहुत थोड़े समय हेतु लिए जाते है और सरकार इनका भुगतान वर्ष के अन्दर ही कर देनी है। इन ऋणों पर सरकार की ख्याति बहुत हद तक निर्भर रहती है।

(II) **उत्पत्ति के अनुसार वर्गीकरण**—ये ऋण दो प्रकार के होते हैं :—(१) **उत्पादक ऋण** (Productive Debts)—जब सरकार कोई ऋण किसी उद्योग की उन्नति के लिए या किसी योजना में लगाने के लिए लेती है तो ऐसे ऋण को उत्पादक ऋण कहा जाता है। (२) **अनुत्पादक ऋण** (Unproductive Debts)—वे ऋण, जिन्हें सरकार युद्ध में व्यय करने या अन्य अनुत्पादक कार्यों को सम्पन्न करने हेतु लेती है, अनुत्पादक ऋण कहे जाते हैं। [यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो सरकार द्वारा लिया हुआ कोई ऋण अनुत्पादक नहीं होता, क्योंकि युद्ध-व्यय भी एक आवश्यक व्यय है, जिसके द्वारा देश के उत्पादन के साधनों को नष्ट होने से बचाया जा सकता है। सरकार का प्रत्येक व्यय देश के लिए प्रत्यक्ष व परोक्ष किसी भी रूप में हितकर ही होता है।]

(III) **स्थान के अनुसार वर्गीकरण**—ये ऋण दो प्रकार के होते हैं :—(१) **आन्तरिक ऋण** (Internal Debts)—जब सरकार अपने ही देशवासियों से कोई ऋण लेती है तो इस ऋण को आन्तरिक ऋण कहा जाता है। (२) **बाह्य ऋण** (External Debts)—जब एक देश की सरकार दूसरे देश की सरकार से या दूसरे देश के निवासियों से ऋण लेती है तो ऐसे ऋण को बाह्य ऋण कहते है।

(IV) **सम्पत्ति के अनुसार वर्गीकरण**—ये ऋण दो प्रकार के होते हैं :—(१) ऐसे ऋण जिनके भुगतान के लिए सरकार एक निश्चित सम्पत्ति रख लेती है, और इसके ब्याज से ऋण का भुगतान करने का विचार होता है। (२) ऐसे ऋण जिनके भुगतान के लिए सरकार अलग से कोई प्रबन्ध नहीं करती है और न कोई सम्पत्ति ही रखी जाती है। ऐसे ऋणों का भुगतान प्रायः सरकार अपनी कर-आय में से देती है।

(V) **भुगतान के अनुसार वर्गीकरण**—इस वर्गीकरण के अनुसार ऋण निम्न दो प्रकार के हो सकते हैं :—(१) **भुगतान वाले ऋण** (Redeemable Debts)—इन ऋणों का भुगतान सरकार अवश्य करती है और ऐसा करने के लिए उचित प्रबन्ध भी करती है। (२) **भुगतान करने वाले ऋण** (Irredeemable Debts)—इन ऋणों का भुगतान करना या न करना सरकार की इच्छा पर ही निर्भर है। परन्तु वह इनका ब्याज बराबर देती रहती है।

(VI) **लोक स्वीकृति के अनुसार वर्गीकरण**—ये ऋण भी दो प्रकार के होते हैं —(१) **अपनी इच्छा से दिया हुआ ऋण** (Voluntary Debts)—जब सरकार को ऋण प्रजा स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छा से देती है तो ऐसे ऋण को 'इच्छा से दिया हुआ ऋण' कहते हैं। (२) **अनिवार्य ऋण** (Compulsory Debts)—जो ऋण सरकार जनता से जोर या दबाव डालकर लेती है उन्हें 'अनिवार्य ऋण' कहा जाता है। आजकल जनतन्त्रवाद का समय है, अतः इस प्रकार ऋण प्रायः नहीं लिये जाते हैं।

लोक ऋण के प्रभाव
(Effects of Public Debts)

किसी भी ऋण का प्रभाव उसके स्वभाव पर निर्भर होता है और इस प्रकार है :—

(१) उत्पादक एवं अनुत्पादक ऋणों के प्रभाव—(अ) उत्पादक ऋण के प्रभाव दोनो ही दिशाओ मे होते है—एक ओर तो वह उत्पादकता मे वृद्धि कर सकता है अथवा वितरण मे सुधार कर सकता है, (विशेष रूप से उस समय जब ऋण के धन को राज्य द्वारा व्यय किया जाय) तथा, दूसरी ओर, जब ऋण का ब्याज दिया जाता है, अथवा, मूलधन चुकाया जाता है, तो इसका समाज पर भार पड़ता है। (ब) रक्षण-ऋण का वैसे तो भार पड़ता है, परन्तु परोक्ष रीति से वह समाज के आर्थिक जीवन को स्थिरता तथा कल्याण मे वृद्धि करता है; (स) अनुत्पादक अथवा मृत-भार ऋण, कुछ विशेष दशाओ को छोड कर, लगभग सदा ही समाज के ऊपर एक भार होता है।

(२) आन्तरिक एवं बाह्य ऋणों के प्रभाव—(अ) आन्तरिक ऋण के प्रभाव अधिकतर बहुत बुरे नही होते, क्योंकि इनके द्वारा क्रय-शक्ति का व्यक्तियो से राज्य को हस्तान्तरण होता है और प्रायः क्रय-शक्ति को राज्य फिर लोक उद्देश्यो पर व्यय कर देता है। इस प्रकार क्रय-शक्ति का परोक्ष रूप मे व्यक्तियों मे हस्तान्तरण ही होता है। इसी प्रकार, जब ऐसे ऋण को चुकाया जाता है, तो इसमे भी केवल क्रय-शक्ति का करदाताओ से ऋणदाताओ को हस्तान्तरण होता है और कुछ दशाओ मे तो करदाता तथा ऋणदाता एक ही व्यक्ति होता है, इसलिए इस हस्तान्तरण का कोई प्रभाव नही पडता। (ब) इसके विपरीत, बाह्य ऋण का प्रभाव भिन्न होता है। जब ऋण लिया जाता है तो ऋण की रकम या वस्तुओ और सेवाओ के रूप मे उनका मूल्य देश मे आता है, जो स्थायी रूप से देश की उत्पादकता अथवा सामाजिक कल्याण को बढ़ा सकते हैं। जब ये ऋण चुकाये जाते है, तो ऋण की मात्रा के बराबर साधन जनता से एकत्रित करके सदा के लिए देश से बाहर भेज दिये जाते है। जिस अंश तक लोगों की क्रय-शक्ति इन ऋणो के देने मे कम होती है, उनका आर्थिक कल्याण कम होता है।

(३) कार्य करने और बचत करने की इच्छा पर प्रभाव—यदि देश का आर्थिक विकास उत्पादक यन्त्रों तथा औद्योगिक ज्ञान की कमी के कारण आवश्यक तेजी से नही हो रहा है और इस कमी को पूरा करने के लिए विदेशो से ऋण लिया जाता है तो इससे लोगो की काम करने तथा बचत करने की क्षमता तथा इच्छा दोनो की ही वृद्धि होगी। यदि लोगो की आय-मांग लोचदार है, तो जब राज्य ऋणो के ब्याज अथवा मूलधन को चुकाने के लिए लोगो पर कर लगाता है, तो इससे लोगो की काम करने तथा बचत करने की शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कारण, उनकी आय की मॉग पूर्णत बेलोच नही है। यदि लोगो की आय-मांग बेलोच है, तो करारोपण के फलस्वरूप लोगों की काम करने तथा बचत करने की इच्छा घटने के स्थान पर बढ सकती है।

(४) मृत-भार-ऋण—मृत-भार-ऋण लोगो पर अत्यधिक भार डालते हैं, क्योंकि उनके बदले मे कोई लाभ प्राप्त नहीं होता। ऐसे ऋण साधारणतया विशेष परिस्थितियों मे लिये जाते है, जैसे—युद्धकाल मे वस्तुओ और सेवाओ की कीमतें ऊँची होती हैं और ऋण प्राप्त करने के लिए राज्य को अधिक ब्याज देना पड़ता है, जिससे इन करों का भार और भी अधिक बढ जाता है। युद्ध समाप्त होने पर कीमतें गिर जाती हैं और साधारणतया ब्याज-दर भी गिर जाती है, परन्तु युद्धकाल मे लिए गये ऋणो पर अब भी पहले जितना ही ब्याज देना पड़ता है। इस कारण इन ऋणों का भार और भी अधिक प्रतीत होने लगता है।

लोक-ऋणों का शोधन

लोक-ऋण की वापसी की बहुत-सी विधियाँ है, जिन्हे नीचे समझाया गया है :—

(१) आधिक्य से भुगतान—जब सरकार के व्यय कम और उसकी आय अधिक होती है, तो जितनी आय व्यय से अधिक हो, उसे आधिक्य (Surplus) कहते हैं। इसी आधिक्य

की सहायता से सरकार बाजार मे अपने ऋण-पत्रो को क्रय करती है। ऋणों के भुगतान की यह विधि आजकल प्रचलित नही है, क्योंकि अब सरकारो के बजट प्राय: घाटे के होते हैं।

(२) **सिंकिंग फण्ड की सहायता से भुगतान करने की विधि**—सरकार ऋण का भुगतान करने के लिए प्रति वर्ष कुछ रकम एक कोष (Sinking Fund) मे डालती रहती है। यह राशि चक्रवृद्धि ब्याज पर बढ़ायी जाती है। जब ऋण-भुगतान का समय आता है तब इसी कोष से ऋण का भुगतान कर दिया जाता है।

(३) **ऋण का परिवर्तन**—कभी-कभी सरकार ऐसे ऋणो को भी नही चुका पाती है जिन्हे चुकाना उसके लिए आवश्यक होता है। ऐसी परिस्थिति मे सरकार प्रजा से नया ऋण लेती है और इस प्रकार ऋण ली हुई राशि से पहले ऋण का भुगतान कर देती है। अथवा, कभी-कभी एक ऋण के भुगतान की अवधि आने पर सरकार उस ऋण को अधिक ब्याज का लालच देकर दूसरे ऋण मे परिवर्तित कर देती है। जैसे—४% १०-वर्षीय बॉण्ड को भुगतान का समय आने पर ५% ५-वर्षीय बॉण्ड मे बदल देना।

(४) **एक विशेष कर द्वारा ऋण का भुगतान**—कभी-कभी सरकार धनवान व्यक्तियों पर एक विशेष प्रकार का कर (Special levy) केवल इसलिये लगाती है कि उससे प्राप्त हुई रकम से ऋण का भुगतान किया जाय।

(५) **किश्तो द्वारा ऋणों का भुगतान**—कभी-कभी सरकार अपने ऋणो को कुछ निश्चित समयान्तर से मूलधन एव ब्याज दोनो का किश्तो मे भुगतान करती है। इस प्रकार का भुगतान सरकार को खलता नही है। इस विधि के अनुसार बडे-बडे ऋण सुगमता से भुगता दिए जाते हैं।

(६) **नकद राशि देकर ऋण का भुगतान**—कभी-कभी सरकार ऋण की अवधि पूरी होने पर ऋण की कुल रकम का एकदम नकद भुगतान कर देती है।

कभी-कभी सरकार ऋण-भुगतान का समय आने पर ऋण चुकाने से इन्कार कर देती है। किन्तु इस प्रकार ऋण के भुगतान का इन्कार करने से प्रजा मे भारी असन्तोष फैलता है।

परीक्षा प्रश्न :

१. सार्वजनिक ऋण क्या हैं ? ये किस प्रकार प्राप्त किये और चुकाये जाते हैं ?
२. सार्वजनिक ऋण की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए। किसी देश के आर्थिक जीवन पर सार्वजनिक ऋण के प्रभावो का विवेचन करिये।
३. सार्वजनिक ऋण के विभिन्न स्वरूप क्या हैं ? विदेशो से ऋण लेने के क्या परिणाम होते हैं ?

१०

वित्तीय शासन

(Financial Administration)

प्रारम्भिक—वित्तीय शासन का अभिप्राय और क्षेत्र

कर वसूल करना तथा वसूल हुई राशि का प्रबन्ध एवं वितरण करना 'वित्तीय शासन' के अन्तर्गत आता है। वित्तीय शासन-व्यवस्था को भली-भांति समझने के लिए निम्न कार्यों का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि ये सभी कार्य राजस्व के हैं :—(१) बजट बनाना एवं पास करवाना, (२) कर लगाने एवं वसूल करने से सम्बन्धित प्रबन्ध, (३) वसूल की हुई राशि का प्रबन्ध, (४) व्यय सम्बन्धी प्रबन्ध, (५) लोक-ऋणों के लेने एवं भुगतान करने से सम्बन्धित प्रबन्ध, (६) सरकार की अन्य आर्थिक समस्याओं का प्रबन्ध, (७) आय, व्यय एवं ऋणों से सम्बन्धित लेखों का प्रकेक्षण आदि।

वित्तीय शासन के सिद्धान्त

वित्तीय शासन के विस्तृत अध्ययन से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उन सामान्य नियमों का अध्ययन कर लिया जाय जिन पर समुचित वित्तीय शासन निर्भर होता है। इन नियमों को 'वित्तीय शासन का सिद्धान्त' कहा जा सकता है। ये निम्न प्रकार हैं :—

(१) सङ्गठन की एकता का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि वित्तीय शासन पर केन्द्रीयकृत नियन्त्रण रहना चाहिए। परन्तु शासन के केन्द्रीयकरण का अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक कार्य उच्चतम अधिकारी द्वारा किया जाय। इसका अभिप्राय केवल यह है कि विभिन्न अधिकारियों के कार्यों के बीच समन्वय (Co-ordination) रहे और प्रत्येक अधिकारी पर नियन्त्रण रहे।

(२) धारा-सभा की इच्छानुसार कार्य-संचालन का सिद्धान्त—प्रजातन्त्रीय शासन की सरलता के लिए यह आवश्यक है कि सभी वित्तीय मामलों में धारा-सभा की इच्छानुसार कार्य किया जाय। कार्यकारिणी को अपना कार्य-क्षेत्र धारा-सभा द्वारा निर्धारित धन के एकत्रण तथा उसके आदेशानुसार धन के व्यय तक ही सीमित रखना चाहिए।

(३) सरलता और नियमितता का सिद्धान्त—वित्तीय शासन में सरलता, शीघ्रता तथा नियमितता के गुण होने चाहिए। सरलता की आवश्यकता अपव्यय को रोकने तथा जन-साधारण को वित्तीय शासन का कार्यवाहन समझाने के लिए है। किसी भी सरकारी विभाग में शीघ्रता के महत्व को नहीं भुलाया जा सकता। कुशलता के लिए नियमितता आवश्यक है।

(४) सप्रभाविक नियन्त्रण का सिद्धान्त—यह अति आवश्यक है कि वित्तीय शासन की प्रत्येक अवस्था पर सप्रभाविक नियन्त्रण रहे। इस प्रकार का नियन्त्रण कार्यकारिणी तथा धारा-सभा दोनों की ही ओर से होना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि नियन्त्रण में जटिलता नहीं होनी चाहिए, अन्यथा यह अकुशल रहेगा। फ्रान्स तथा अमेरिका में नियन्त्रण के ढीला होने के कारण अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

बजट की परिभाषा

यद्यपि बजट शब्द का उपयोग काफी लम्बे काल से होता चला आ रहा है, परन्तु इसकी परिभाषा के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियों का एक मत नही है। सबसे अच्छी परिभाषा बिलोहबी ने दी है। उनके अनुसार—"बजट एक ही साथ एक रिपोर्ट, एक अनुमान तथा एक प्रस्ताव होता है। यह वह साधन है जिसके द्वारा वित्तीय शासन की सभी शाखाओं के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, एक की दूसरी से तुलना की जाती है और सबके बीच समन्वय स्थापित किया जाता है।" व्यावहारिक जीवन के लिए किंचित् हम ऐसा कह सकते हैं कि बजट लोक-आय और लोक-व्यय का सभी दृष्टिकोणों से समुचित विवरण होना है, जिसका सम्बन्ध एक निश्चित समय-अवधि (साधारणतया एक वर्ष) से होना है।

बजट-निर्माण

(१) **प्रारम्भिक अनुमान**—बजट का तैयार करना मुख्यतया कार्यकारिणी सरकार का कर्त्तव्य होता है। विभिन्न विभागों के अध्यक्षों को पहले से ही सूचित कर दिया जाता है कि वे आने वाले आर्थिक वर्ष के लिए अपने विभाग से सम्बन्धित आय और व्यय के अनुमान बनाएँ। देश के शासन को बहुत से राज्यों मे बाँटा जाता है और फिर प्रत्येक को खण्डों एव जिलों मे विभाजित किया जाता है। जिले का अध्यक्ष एक कलक्टर अथवा मजिस्ट्रेट होता है, जो राज्य की ओर से आगम को एकत्रित करता और अपने जिले म राजकीय व्यय का प्रतिपादन करता है। अगस्त या सितम्बर के महीने मे उससे उसके जिले के आय और व्यय के अनुमान बनाने के लिए कहा जाता है। ये अनुमान अलग-अलग शीर्षकों मे एक निश्चित रीति से तैयार किए जाते हैं और विभिन्न विभागों के अध्यक्षों को भेज दिए जाते है।

(२) **विभाग का सामूहिक अनुमान**—प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष इन अनुमानो का ध्यानपूर्वक अध्ययन करता है तथा पूरे विभाग के लिए एक सामूहिक अनुमान बनाता है। यदि कोई अध्यक्ष देखता है कि व्यय स्वीकृत मात्रा से बढ गया है या बढने वाला है तो वह विशेष विवरण (Remark) के खाने मे स्पष्टीकरण देता है और अधिक अनुदान के लिए प्रार्थना करता है। यदि कुछ बचत है तो वह अपने विवरण के साथ इसे सरकार को सौंप देता है। इन अनुमानो की तीन प्रतियाँ तैयार की जाती हैं। इनमे से एक प्रति वित्त विभाग को और दूसरी प्रति महा-नियन्त्रक तथा अङ्केक्षक (Controller and Auditor General) को भेजी जाती है एव तीसरी प्रति सन्दर्भ (Reference) के लिए रख ली जाती है।

(३) **अनुमानो की जाँच एव महा-अनुमान**—अर्थ-सचिव (Finance Secretary) विभिन्न विभागो के अनुमानो के आधार पर अपना आर्थिक बजट बनाता है। इसी बीच मे महा अङ्केक्षक (Auditor General) विभागों से प्राप्त विभिन्न अनुमानो की जाँच करता है और उनको अपने विवरण तथा आलोचनाओं के साथ वित्त-सचिव के पास भेज देता है। महा अङ्केक्षक (Auditor General) के विवरणों को ध्यान मे रखते हुए वित्त-सचिव अपने प्रलेख मे आवश्यक परिवर्तन करता है। तत्पश्चात् यह प्रलेख कार्यकारिणी के सम्मुख रखा जाता है और वहाँ स्वीकार हो जाने के पश्चात् इसे स्वीकृति के लिए धारा-सभा के सामने प्रस्तुत किया जाता है।

(४) **बजट-भाषण**—बजट को प्रस्तुत करते समय वित्त-मन्त्री अपना भाषण देता है, जिसे बजट-भाषण कहा जाता है। वित्त-मन्त्री के भाषण का बड़ा महत्त्व होता है। अपने भाषण मे वित्त-मन्त्री सामान्य रूप से ससार की आर्थिक, वित्तीय तथा राजनैतिक घटनाओं का विवेचन करता है।

(५) **बजट पर विचार-विमर्श**—बजट पर सामान्य विचार के उपरान्त जैसे-जैसे

विभिन्न विभागों के मन्त्री अपने विभागों के लिए अनुदान की मांग रखते हैं, व्यय की प्रत्येक मद पर पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है। अपनी मांग रखते समय प्रत्येक विभाग का मन्त्री एक भाषण देता है, जिसकी प्रकृति साधारणतया राजनैतिक होती है। वह चालू वर्ष में उसके विभाग द्वारा किये गये कार्यों की विवेचना करता है और अगले वर्ष के लिए अपनी कार्य-योजना प्रस्तुत करता है। सभा के सदस्य, जिनका इस विषय से सम्बन्ध होता है या जो उनमें रुचि रखते हैं, एक-एक करके खड़े होते हैं और सराहना अथवा आलोचना की दृष्टि से अपने भाषण देते हैं। वे बताते हैं कि इन योजनाओं के प्रति उन्हें क्या आपत्तियाँ हैं और साथ ही वे विभाग के कार्यों में परिवर्तन तथा सुधार के सुझाव भी देते हैं। कभी-कभी मांगों के सम्बन्ध में 'छेद प्रस्ताव' (Cut Proposals) रखे जाते हैं। छेद प्रस्ताव कई दृष्टिकोणों से रखे जाते हैं :—प्रथम, मितव्ययिता प्राप्त करने के लिए, दूसरे, अनुमानों से सम्बन्धित किसी विशेष बात के सम्बन्ध में सन्तोष प्राप्त करने के लिए, और तीसरे, सरकार से सूचना प्राप्त करने के लिए।

(६) **मतदान**—अनुदानों पर मतदान के लिए निश्चित संख्या में दिन रखे जाते हैं। किसी एक मांग के तर्क-वितर्क के लिए एक अधिकतम समय निश्चित किया जाता है और जैसे ही यह अवधि समाप्त होती है, सभा का प्रवक्ता आगे के तर्क-वितर्क को समाप्त कर देता है और मांग पर मत मांगा जाता है। इसी प्रकार, जब सभी अनुदानों के लिए निश्चित की हुई कुल अवधि समाप्त हो जाती है, तो प्रवक्ता आगे के कुल तर्क-वितर्क को रोक सकता है और शेष सभी मांगें तब बिना तर्क-वितर्क के ही स्वीकार अथवा अस्वीकार कर दी जायेंगी।

(७) **राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृति**—जब मांगों पर मतदान समाप्त हो जाता है तो संविधान के अनुसार, बजट पर राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल (राज्यों में) की स्वीकृति लेना आवश्यक होता है। राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल बजट पर हस्ताक्षर करके स्वीकृति देता है। उन्हें यह भी अधिकार होता है कि कुछ ऐसी मदों को, जिनको धारा-सभा ने अस्वीकार कर दिया है, पुन: अस्वीकृति दे दें, बशर्ते वे ऐसा समझें कि विशेष परिस्थितियों के कारण उन मदों पर व्यय आवश्यक है। कुछ दशाओं में राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल बजट को फिर से विचार करने के लिए धारा-सभा को लौटा सकता है। ऐसी दशा में बजट पर पुनः विचार आवश्यक होता है।

(८) **कार्यान्वयन**—स्वीकृति के पश्चात् इस विधेयक के लागू करने की समस्या उठती है, आगम वसूल की जाती है तथा व्यय किया जाता है। 'केन्द्रीय आगम परिषद्' (Central Board of Revenue) आगम के एकत्रित करने का कार्य करती है। यह कार्य विभिन्न आगम एकत्रित करने वाले विभागों के द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अधिकारियों तथा विभिन्न सूत्रों द्वारा एकत्रित की हुई कर तथा अन्य दातव्य राशि बिना किसी काट के सरकारी कोषागार में अथवा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया में जमा की जाती है। इन अधिकारियों को प्राप्त आगम में से एकत्रण-व्यय काट लेने का अधिकार नहीं है। एकत्रण व्यय के लिए बजट में पृथक् मांग की जाती है और उसे 'आगम पर प्रत्यक्ष मांग' (Direct Demands on Revenue) के रूप में दिखाया जाता है।

वित्तीय नियन्त्रण

वित्तीय नियन्त्रण (Financial Control) निम्न सूत्रों द्वारा उपलब्ध किया जाता है :—

(१) **स्थायी वित्त समिति**—लोकसभा प्रतिवर्ष सभा के कुछ ऐसे सदस्यों को चुनकर, जिन्हें आर्थिक विषयों में विशेष दक्षता है, एक समिति बनाती है, जिसे 'स्थायी वित्त समिति' कहा जाता है। वित्तमन्त्री इस समिति का सभापति होता है। जब वित्त विभाग वार्षिक

आर्थिक विवरण तैयार कर लेता है तो उसे इस समिति के सामने विचार के लिए रखा जाता है। समिति नये व्यय तथा करो से सम्बन्धित नये प्रस्तावों की जांच करती है और मितव्ययिता तथा राष्ट्रीय अर्थ-प्रबन्धन की कुशलता के हेतु सुधार के सुझाव देती है। समिति को यह अधिकार होता है कि वह बजट प्रस्तावो के सम्बन्ध मे वित्त विभाग तथा अन्य किसी भी विभाग से और सूचनायें प्राप्त करे। वैसे तो यह समिति केवल मत ही दे सकती है, निर्णय नहीं, परन्तु इसके सुझाव साधारणतया वित्तमन्त्री स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार धारासभा बजट की तैयारी पर भी विस्तृत नियन्त्रण रखती है।

(२) अंकेक्षण विभाग (The Audit Department)—लेखो का अकेक्षण बडे उत्तरदायित्व का काम है, इसलिए यह काम योग्य तथा विश्वसनीय अधिकारियो के जिम्मे करना चाहिए, जो कि कार्यकारिणी सरकार के अधीन न हो और न इनका उन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण ही हो। लेखा कार्यकारिणी द्वारा तैयार किया जाता है, इसलिए उसके अकेक्षक कार्यकारिणी के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त होने चाहिए। अकेक्षक के द्वारा जो अशुद्धियाँ तथा नियम-विरोधी बातें अकेक्षण मे मिलती हैं उनकी सूची बनाई जाती है और जो आक्षेप किये जाते हैं उनके लिये सम्बद्ध विभागों के अधिकारियो को उत्तर और स्पष्टीकरण देना होता है। अन्त मे, अकेक्षक आडिट रिपोर्ट तैयार करते हैं और उसे महा अकेक्षक (Auditor General) के पास भेज देते है। अकेक्षण रिपोर्ट को प्रकाशित किया जाता है, ताकि जन-साधारण उसे जान सके।

(३) लोक लेखा समिति (The Public Accounts Committee)—लोकसभा की प्रत्येक बैठक के आरम्भ मे ही एक लोक लेखा समिति बना दी जाती है, जिसका कार्य महा अकेक्षक की रिपोर्ट की जांच करना है। यह समिति लेखा विनियोग (Appropriation of Accounts) तथा उन अन्य विषयो को, जो वित्त-विभाग जांच के लिए भेजता है, जाँच करती है। राज्यो मे भी इसी प्रकार की समितियाँ बनाई जाती हैं। इसमे १० के लगभग सदस्य होते हैं और वित्तमन्त्री साधारणतया इसका अध्यक्ष होता है। सहायता तथा सलाह देने के लिए भारतीय सघ मे महा अकेक्षक तथा राज्यो मे महा लेखापाल इन समितियों की बैठको मे भाग लेते हैं। समितियो का कर्त्तव्य यह देखना होता है कि खर्च अनुदानो से अधिक न हो और ऐसे कार्यों पर धन व्यय न किया जाए जिनकी लोकसभा ने अनुमति नहीं दी है। साथ ही, प्रत्येक व्यय समुचित सत्ता की अनुमति से किया जाये। ऐसी समितियो का कार्य-क्षेत्र व्यय की उन मदो तक ही सीमित होता है जिन पर मत (Vote) लिया जाता है। परन्तु अलिखित नियमों (Conventions) के अनुसार वे व्यय की 'मत' न लिए जाने वाली मदो की जाँच करती है। समितियो को वित्त-विभाग तथा अन्य विभागो के अधिकारियो को बुलाने तथा उनसे पूछ-ताछ करने का भी अधिकार होता है। समिति का प्रमुख उद्देश्य अकेक्षण-रिपोर्ट की जाँच करना तथा यह देखना होता है कि इस रिपोर्ट मे बताई हुई अशुद्धियो तथा कमियो को भली प्रकार दूर किया गया है या नही।

जब लेखों की जांच समाप्त हो जाती है तो इस समिति के सुझाव एक रिपोर्ट के रूप मे धारा-सभा के सम्मुख रख दिये जाते हैं। धारा-सभा उस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए साधारणतया एक दिन नियुक्त करती है। रिपोर्ट के सम्बन्ध मे जो तर्क-वितर्क होते हैं उनको काफी महत्त्व दिया जाता है और जनता भी उनमे काफी रुचि रखती है। वास्तविकता यह है कि सरकारी व्यय की समुचित जाँच का यही उपयुक्त उपाय है।

इस प्रकार, लोक लेखा समितियाँ एक लाभपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति करती हैं, क्योकि वे सार्वजनिक लेखों पर नियन्त्रण रखती हैं तथा इस बात का प्रयत्न करती हैं कि लोक धन के व्यय मे यथासम्भव मितव्ययिता बरती जाये। भारत मे लोक लेखा समितियो के कार्य का एक

महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ है कि एक ओर तो व्यय में मितव्ययिता आ गई है और दूसरी ओर अनुमानित और वास्तविक आय अथवा व्यय के बीच का अन्तर बहुत कम रह गया है।

भारतीय वित्तीय व्यवस्था के मूल दोष

(१) **बची हुई राशि को खर्च करने की जल्दबाजी**—प्रत्येक विभाग को वर्ष में व्यय करने के लिए एक निश्चित राशि दी जाती है, और, यदि वे विभाग इस राशि को वर्ष में व्यय नहीं कर पाते, तो उस बची हुई राशि पर उस विभाग का कोई अधिकार नहीं रहता। यदि वर्ष समाप्त होने तक कोई राशि बच जाती है तो प्रत्येक विभाग इसे उल्टा-सीधा व्यय करने लगता है और इसे वर्ष के अन्त तक समाप्त कर देता है। यदि बची हुई राशि के डूबने का डर हटा दिया जाय तो यह जल्दबाजी से किया हुआ अनावश्यक व्यय कम हो जाय।

(२) **सख्त नियन्त्रण का अभाव**—विभिन्न विभागों पर कोई ऐसा सख्त नियन्त्रण नहीं है जिसके अनुसार यह विभाग बजट के अनुसार उसे मिली हुई आय से अधिक व्यय न करे। वास्तव में इस पर आडीटर जनरल का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए।

(३) **बहस के साथ मतदान आवश्यक**—सगठित कोष (Consolidated Fund) के कुछ व्ययों पर लोकसभा में केवल बहस हो सकती है, परन्तु मतदान नहीं हो सकता। यह प्रथा बहुत अधिक न्यायपूर्ण प्रतीत नहीं होती है। या तो इस पर बहस भी नहीं होनी चाहिए या यदि बहस हो, तो मतदान भी होना चाहिए।

(४) **हिसाब तथा अंकेक्षण कार्यों का पृथक्करण**—कम्प्ट्रोलर जनरल के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार के हिसाब के लेखे एवं इन लेखों का अंकेक्षण दोनों ही कार्य आते हैं, परन्तु वास्तव में अंकेक्षण का कार्य करने वाले अफसर के अन्तर्गत हिसाब के लेखे नहीं रखे जाने चाहिए।

(५) **आडिट-रिपोर्टों का प्रकाशन**—सरकारी लेखों के अंकेक्षण की रिपोर्ट लोक-सभा में पेश होती है और राष्ट्रपति के सामने भी रखी जाती है परन्तु जनता में इसका प्रकाशन नहीं होता है। चूँकि जनता सरकार को करों द्वारा एवं ऋणों के रूप में आय-प्रदान करती है; अतः वह जानना चाहती है कि सरकार के आय एवं व्यय के लेखे कहाँ तक सत्य हैं। इसलिए इस रिपोर्ट को जनता की सूचना के लिए अखबारों में छपाना चाहिए।

(६) **बजट पर मतदान**—बजट पर राज्य सभा में केवल बहस होती है, परन्तु मतदान नहीं होता। यह प्रथा भी उचित नहीं है। वहाँ भी मतदान होना चाहिए और तभी इसके बाद ही बजट को पास हुआ मानना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न :

१. बजट से आप क्या समझते हैं ? वित्तीय प्रशासन में इसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
२. टिप्पणी लिखिए—भारत में एकाउन्टेन्ट जनरल।

११

भारतीय अर्थ-प्रबन्ध की वर्तमान स्थिति

(The Present Position of Indian Finance)

प्रारम्भिक—

भारत को स्वतन्त्रता मिल जाने तथा देश के विभाजन का भी भारत सरकार की वित्त नीति पर कोई विशेष प्रभाव नही पडा और पुरानी व्यवस्था लगभग ज्यो की त्यो बनी रही। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश की विधान सभा (Constituent Assembly) ने श्री एन० आर० सरकार की अध्यक्षता में यह जाँच करने के लिए कि क्या सन् १९३५ के नियम मे किसी प्रकार के सुधार करने की आवश्यकता थी, एक विशेषज्ञ समिति बनाई। इस समिति ने भारत मे संघीय वित्त की समस्या तथा नीति का बहुत ही अच्छा विश्लेषण किया, जो आगे दिया गया है।

"भारत मे संघीय सरकार की स्थापना धीरे-धीरे अधिकारो के प्राप्त होने से हुई है। अन्य संघो की भाँति भारतीय संघ स्वतन्त्र राज्यो के पारस्परिक समझौते द्वारा स्थापित नही हुआ है, इसलिए हमारे लिए यही ठीक है कि हम सभी प्राप्त साधनो को केन्द्र तथा राज्यो के बीच उनके कार्यों के अनुसार विभाजित करे, जिससे कि केवल न्यायपूर्ण व्यवस्था को नही, बल्कि शासन की भी सुविधाओ को प्राप्त किया जा सके। हमें यह भी देखना है कि वर्तमान स्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन न होने पाये और यद्यपि हमें सङ्घ की सभी इकाइयो के प्रति एक जैसा ही व्यवहार करना चाहिये, तथापि कमजोर इकाइयो को इतनी वित्तीय सहायता दे देनी चाहिए कि वे सेवाओं का कम से कम एक न्यूनतम मान स्थापित कर सकें, परन्तु साधारणतया युद्ध अथवा आन्तरिक उपद्रवो के काल को छोडकर केन्द्रीय सरकार का व्यय बडे अश तक स्थिर ही रहना चाहिए। इसके विपरीत, प्रान्तो की आवश्यकतायें असीमित हैं, विशेषत. मानव-कल्याण सेवाओ तथा सामान्य विकास के सम्बन्ध मे। यदि वे सेवायें, जिन पर मानव-कल्याण तथा देश की उत्पादन शक्ति इतनी अधिक निर्भर है, समुचित रूप में आयोजित तथा कार्यवाहित की जानी है, तो यह आवश्यक है कि प्रान्तो को पर्याप्त साधन प्रदान किये जाये, जिससे कि उन्हें केन्द्र की दया अथवा उसकी सुविधा पर न निर्भर रहना पडे। इस कारण प्रान्तो की यथासम्भव अधिकतम् स्वतन्त्र आर्थिक साधन मिलने चाहिए। परन्तु, केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्ध के साम्य को भग किये बिना प्रान्तो को कुछ विषय प्रदान करके, प्रान्तीय आगम को बढा सकना व्यावहारिक नही है। इस कारण हम विभाजित शीर्षको (Divided Heads) को नही हटा सकते है। किन्तु हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि केवल थोडे से ही विभाजित शीर्षक रखे जायें, जो समुचित रूप में सन्तुलित हो और अधिक आय प्रदान कर सके तथा ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि इन शीर्षको मे से केन्द्र तथा प्रान्तो के हिस्से बिना किसी सघर्ष तथा पारस्परिक हस्तक्षेप के स्वय ही एक दूसरे से समायोजित (Adjust) किये जा सके।"

विशेषज्ञ समिति का सबसे महत्त्वपूर्ण सुझाव यह था कि निरकाम्य करो की शुद्ध उपज का कुल भाग केन्द्र के ही पास रहना चाहिये। इन करो के अतिरिक्त निर्यात करो, आदेयो की पूँजी, मूल्य के करो, कम्पनियो की पूँजी पर लगाये हुए करो तथा रेल्वे यातायात पर लगाये

हुए करों की कुल उपज भी केन्द्र के पास रहनी चाहिये। जूट निर्यात करों के विषय में समिति ने सिफारिश की थी कि दस साल के लिये अथवा उस समय तक के लिये, जब तक कि जूट निर्यात कर समाप्त नही किया जाता है, पश्चिमी बङ्गाल, असम, बिहार तथा उड़ीसा राज्यों को मुआवजे के रूप मे केन्द्र द्वारा क्रमशः १०० लाख, १५ लाख, १७ लाख तथा ३ लाख रुपये के अनुदान दिये जाने चाहिये। विभाजित शीर्षकों मे से तम्बाकू के उत्पादन कर का ५० प्रतिशत राज्य सरकारो में बाँटने का सुझाव दिया गया। आय-कर मे से समिति ने ६० प्रतिशत शुद्ध उपज को बाँटने का सुझाव दिया, जिनमें से २५ प्रतिशत को जनसंख्या, ३० प्रतिशत को एकत्रण के स्थान तथा ५ प्रतिशत को विशेष कठिनाइयों के आधार पर बाँटने का सुझाव दिया गया। मृत्यु-करो के सम्बन्ध मे यह प्रस्ताव रखा गया कि कर से प्राप्त रकम का एक भाग वास्तविक सम्पत्ति के आधार पर बँटना चाहिए, शेष का ७५ प्रतिशत मृत व्यक्ति में निवास स्थान के आधार पर तथा २५ प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर।

विधान सभा ने विशेषज्ञ समिति को सिफारिशे स्वीकार नही की और समस्त प्रश्न की जाँच करने के लिये वित्त आयोग (Finance Commission) की व्यवस्था की गई।

प्रथम वित्त आयोग

भारत के सविधान की धारा २८० (१) में राष्ट्रपति द्वारा वित्त आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है, जिसके अनुसार २२ नवम्बर सन् १६५१ को राष्ट्रपति ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता मे सबसे पहला वित्त आयोग नियुक्त किया।

नियत किये गये सिद्धान्त—

आयोग ने सिफारिश की थी कि आय-कर को प्राप्त होने वाली शुद्ध आय में से राज्य सरकारो का हिस्सा बढ़ा देना चाहिए और साथ ही केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल किये हुये कुछ उत्पादन करो मे से भी राज्य सरकारो को हिस्सा मिलना चाहिए। राज्य सरकारों को सहायता देने के विषय मे आयोग ने अपनी सिफारिशें निम्न तीन सिद्धान्तो पर आधारित की थी :—(i) केन्द्र तथा राज्यों के बीच साधनों का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि केन्द्रीय सरकार अपने रक्षा, आर्थिक उन्नति तथा अन्य कार्यों को सफलतापूर्वक चला सके, (ii) साधनों के वितरण तथा अनुदानो के निर्धारण मे सभी राज्यों के विषय में एक से ही सिद्धान्तो को अपनाना चाहिए, और (iii) वितरण की योजना का उद्देश्य यह होना चाहिए कि विभिन्न राज्यों के बीच वर्तमान असमानताएँ दूर हो जाये।

प्रथम वित्त आयोग के सुझाव—

सभी बातो को भली-भाँति जाँच करने के पश्चात् वित्त आयोग ने निम्न सुझाव दिए :—

(१) आय-कर का विभाजन—आयोग ने सिफारिश की थी कि आय-कर से प्राप्त शुद्ध उपज का राज्यो मे बाँटा जाने वाला भाग ५० प्रतिशत से बढाकर ५५ प्रतिशत कर देना चाहिए। आयोग ने कुछ राज्यो की ओर से दिए गये इस सुझाव को स्वीकार नही किया कि राज्य सरकारो का हिस्सा और अधिक रहना चाहिए, क्योंकि आयोग का विचार था कि राज्यों के आर्थिक विलय के पश्चात् भाग पाने वाले राज्यो की सख्या बढ गई है खण्ड 'क' राज्यो के लिए आयोग ने सिफारिश की थी कि उनका हिस्सा १ प्रतिशत से बढाकर २½ प्रतिशत कर दिया जाय। सभी राज्यो के सम्बन्ध मे एक ही नीति का पालन करने के लिए आयोग ने यह भी सिफारिश की थी कि बम्बई, बिहार, मध्य-प्रदेश तथा पश्चिमी बगाल को जो अतिरिक्त सहायक अनुदान पहले से मिलते रहे हैं, उन्हे १ अप्रैल सन् १६५२ से बन्द कर दिया जाय।

(२) उत्पादन करों की आय में से हिस्सा—आयोग ने राज्य सरकारों की इस माँग को स्वीकार किया कि उत्पादन करों से केन्द्रीय सरकार को जो आय प्राप्त होती है उसका एक भाग राज्य सरकारो मे बाँट दिया जाय। बात यह थी कि पिछले कुछ वर्षों में इन करो से प्राप्त आय मे काफी वृद्धि हो गई। सन् १९३७-३८ में इन करो से केवल ७.६६ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे, परन्तु सन् १९५१-५२ मे ८४ करोड रुपये प्राप्त हुए। वित्त आयोग ने सिफारिश की कि तम्बाकू, दियासलाई, वनस्पति उपज आदि वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उत्पादन कर की शुद्ध आय ४० प्रतिशत राज्यो मे बाँटी जानी चाहिए। इस बँटवारे का आधार प्रत्येक राज्य की जनसख्या रखी गई।

(३) जूट निर्यात कर के सम्बन्ध में मुआविजा—देशमुख निर्णय के आधार पर राज्यो के लिये जूट निर्यात कर के मुआवजे के रूप मे जो रकम दी जाती थी, कुछ राज्य उससे सन्तुष्ट न थे। उन्होने इस रकम को बढाने की माँग रक्खी। वित्त आयोग ने बताया कि मुआवजे की रकम का जूट निर्यात कर से प्राप्त होने वाली रकम से सविधान के अनुसार कोई सम्बन्ध नही था। मुआवजे की रकम केवल अनुदान के रूप मे थी। आयोग ने सुझाव दिया इन चारो राज्यो को सहायक योगदान निम्न प्रकार मिलने चाहिये :—पश्चिमी बङ्गाल १·५० करोड रु०, बिहार ७५ लाख रु०, असम ७५ लाख रु० एव उडीसा १५ लाख रु०।

(४) संघनित निधि में से अनुदान—भारत के सविधान की धारा २८० मे यह व्यवस्था की गई है कि भारत सरकार की सघनित निधि (Consolidated Fund) मे से राज्यों को सहायक अनुदान (Grants-in-aid) दिये जायेंगे। ऐसे अनुदान सघीय अर्थ-व्यवस्था मे साधारणतया आवश्यक होते हैं, क्योकि इनका एक महान् उद्देश्य यह है कि विभिन्न राज्यो मे समाज सेवा कार्यों का एक न्यूनतम् स्तर अवश्य स्थापित हो सके और विकसित तथा अविकसित राज्यो के बीच के भेद को एक अश तक समाप्त कर दिया जाय। वित्त आयोग ने बताया कि कुछ राज्यो को अनुदानो की आवश्यकता नही है। किन्तु कुछ कारणों से कुछ राज्यो के लिए अनुदानो की सिफारिश की गई। वित्त आयोजन का विचार था कि विभाजन के कारण पजाब तथा पश्चिमी बगाल के लिए भारी अनुदानों की आवश्यकता है। असम को भी इसी आधार पर अनुदान प्रदान करने की सिफारिश की गई। उडीसा को पिछड़ा हुआ राज्य होने के कारण सहायता दी गई और सौराष्ट्र के विस्तार मे कम आय होने के कारण। अन्य दो राज्यो को इस आधार पर सहायता देने की सिफारिश की गई कि आर्थिक विलय के पश्चात् उनकी आय के महत्वपूर्ण सूत्र समाप्त हो गये थे।

(५) प्रारम्भिक शिक्षा के लिए अनुदान—वित्त आयोग ने प्रारम्भिक शिक्षा के विकास को भारी महत्त्व दिया और आशा की थी कि सविधान के आदेश के अनुसार प्रत्येक राज्य से ६ से ११ वर्ष की आयु के बच्चो के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगा। इसके लिए चार वर्ष के लिए कुछ कम उन्नत राज्यो को शिक्षा सम्बन्धी अनुदान देने की सिफारिश की गई।

(६) अन्य सुझाव—वित्त आयोग ने दो छोटे-छोटे सुझाव और भी दिये। एक सुझाव एक ऐसी सस्था के निर्माण के सम्बन्ध मे था जो राज्यो की अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन करेगी और राष्ट्रपति के कार्यालय का ही एक अग होगी। इसका उद्देश्य यह था कि भावी वित्त आयोगो को राज्यो के अर्थ प्रबन्ध के विषय मे प्रारम्भ मे ही काफी सूचना प्राप्त हो सके। दूसरा सुझाव आय-कर सम्बन्धी आँकड़ो में सुधार करने के सम्बन्ध मे था।

प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों का मूल्यांकन—

वित्त आयोग की सिफारिशो का राज्यो की वित्त स्थिति पर जो प्रभाव पड़ा उसका विवेचन नीचे किया गया है :—

(१) केन्द्रीय अनुदानो तथा राज्यो की आय मे वृद्धि हुई। पिछले वर्षों की तुलना मे केन्द्रीय सरकार से राज्यो को प्राप्त होने वाली रकम लगभग ६६ करोड से बढकर ८६ करोड रुपये हो गई। (२) केन्द्रीय उत्पादन करों से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय मे से राज्यो मे हिस्से बाँटे गये जिसका परिणाम यह हुआ कि राज्यो की आय पहले की अपेक्षा अब कुछ बढ गई और अधिक सन्तुलित हो गई। (३) जहाँ तक अलग-अलग राज्यो की स्थिति का सम्बन्ध है, बम्बई सरकार को केन्द्र से प्राप्त होने वाली रकम मे लगभग ३ प्रतिशत की कमी हो गई। सबसे अधिक वृद्धि आसम ५६% तथा उडीसा ८६% के हिस्सों मे हुई। खण्ड 'ख' के राज्यो मे से भी सभी के हिस्सो मे वृद्धि हुई, परन्तु राजस्थान, पटियाला सघ और मध्य-भारत के हिस्सो मे वृद्धि बहुत अधिक थी। मैसूर तथा त्रिवाकुर कोचीन के हिस्सो की वृद्धि अपेक्षतन कम रही।

सभी राज्य वित्त आयोग की सिफारिशों से सन्तुष्ट नही हुए, क्योकि आयोग ने राज्य सरकारो की कुछ माँगें स्वीकार नही की थी। अधिकांश राज्य उत्पादन करो मे से अधिक हिस्सा चाहते थे। बम्बई और पश्चिमी बगाल राज्यो का विचार था कि उनके साथ अन्याय हुआ है, क्योकि आयोग ने वितरण की योजना मे इस बात का बहुत महत्त्व नही दिया कि विभाजकीय कर से प्राप्त राशि का कौन-सा भाग राज्य विशेष से प्राप्त होता है।

कुछ आलोचको का कहना था कि आयोग ने वितरण का आधार ही गलत बनाया। अच्छा यह था कि विभिन्न राज्यो की बजट स्थिति के स्थान प उनकी वित्तीय आवश्यकताओ पर ध्यान देकर वितरण प्रणाली बनाई जाती।

फिर भी सब कुछ देखने के पश्चात् यही कहा जा सकता है कि तत्कालीन स्थिति के दृष्टिकोण से आयोग की सिफारिशें उपयुक्त थी।

द्वितीय वित्त के आयोग

दूसरे वित्त आयोग ने, जिसके अध्यक्ष श्री के० सन्थानम थे, १४ नवम्बर सन् १९५७ को अपनी रिपोर्ट लोक सभा के सम्मुख प्रस्तुत की। सरकार ने आयोग की सिफारिशो को मान लिया और इस सम्बन्ध मे आवश्यक नियम भी बनाये। आयोग ने निम्न सुझाव रखे थे :—

(१) **आय-कर की शुद्ध-उपज में से राज्यों का हिस्सा** ५५% से बढाकर ६०% कर दिया जाय। अलग-अलग राज्यों का हिस्सा ९०% राज्य की जन-सख्या पर और १०% राज्य से एकत्रित कर की मात्रा पर निर्भर रहे। (स्मरण रहे कि प्रथम आयोग ने आय कर की शुद्ध उपज के ५५% को ८०% जन-सख्या और २०% एकत्रण के आधार पर विभाजित करने का सुझाव दिया था)।

(२) पहले की भाँति दियासलाई, वनस्पति उपज तथा तम्बाकू के **उत्पादन करों की** शुद्ध आय का ४०% राज्यों मे प्रत्येक जन-सख्या के अधार पर बाँटना चाहिए। इसके अतिरिक्त आयोग ने ८ और वस्तुओ से प्राप्त उत्पादन कर की शुद्ध उपज के २५% को राज्यों मे जन-सख्या के आधार पर बाँटने का सुझाव दिया। ये ८ वस्तुएँ कहवा (Coffee), चाय, चीनी, कागज, आवश्यक वनस्पति तेल आदि थी।

(३) **जूट कर अनुदान के सम्बन्ध में** आयोग की सिफारिश यह थी कि ३१ मार्च सन् १९६० तक आसम को ७५ लाख रुपये और उडीसा को १५ लाख प्रति वर्ष पहले की भाँति मिलना चाहिए। बिहार के कुछ भाग के पश्चिमी बंगाल मे चले जाने के कारण आयोग ने बिहार के हिस्से मे २·६६ लाख रुपये की कमी और पश्चिमी बगाल के हिस्से मे इतनी ही वृद्धि

की थी। इस प्रकार बिहार को ७२·३१ लाख रुपये तथा पश्चिमी बंगाल को १५१·६६ लाख रुपया देने का सुझाव दिया गया।

(४) दूसरे आयोग ने पहले आयोग की भाँति किसी **विशेष उद्देश्य के लिए अनुदानों की सिफारिश नहीं** की। परन्तु उसने १४ राज्यों में से ११ के लिए सामान्य उद्देश्य वाले अनुदानों की सिफारिश की थी।

(५) **सम्पदा कर** की सम्पूर्ण आय (जिस आय को छोड़कर जो कि केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों से प्राप्त होती है) राज्यों में बांट दी जाय। केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों के हिस्से के रूप में केन्द्रीय सरकार १% आय अपने पास रखे और शेष में से राज्यों को, प्रत्येक राज्य की जन-संख्या तथा उससे प्राप्त आय के आधार पर, हिस्से दिये जायें।

(६) **रेल के भाड़ों के कर** में से केन्द्रीय सरकार ¾% केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों के निमित्त अपने पास रखे और शेष को राज्यों में बांटे। प्रत्येक राज्य का हिस्सा उस राज्य में स्थित रेल की लाइनों की लम्बाई पर निर्भर होना चाहिए।

(७) मिल के कपड़े, चीनी तथा तम्बाकू के **बिक्री करों** से राज्यों को प्राप्त होने वाली आय का अनुमान आयोग ने ३२·५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष रखा था। आयोग ने सिफारिश की थी कि इन करों के स्थान पर जो उत्पादन-कर लगाया जाय उसका १% तो केन्द्रीय सरकार को केन्द्रीय-प्रशासित क्षेत्रों के हिस्से के रूप में रख लेना चाहिए, १½% जम्मू और काश्मीर राज्य को मिलना चाहिए और शेष अन्य राज्यों में बांट देना चाहिए। प्रत्येक राज्य का हिस्सा आंशिक रूप से उसकी जन-संख्या और आंशिक रूप में उसके इन वस्तुओं के उपभोग पर निर्भर होना चाहिए।

(८) केन्द्रीय राज्यों को दिये गये **ऋणों के बारे में** आयोग ने सिफारिश की थी कि बिना ब्याज के ऋणों के सम्बन्ध में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। बेघर के लोगों को फिर से बसाने के लिए दिये गये ऋणों के बारे में राज्यों का भुगतान उस राशि के बराबर रहे जो उन्हें वसूल हो। अन्य प्रकार के ऋणों का दो वर्गों में सघनन (Consolidation) कर दिया गया। पहले वर्ग पर ब्याज की दर ३% और दूसरे वर्ग पर २½% रखी गई।

आयोग का विचार था कि उपरोक्त सिफारिशों के फलस्वरूप केन्द्रीय आगम में से प्रत्येक वर्ष राज्यों को लगभग १४० करोड़ रुपये का हस्तान्तरण होगा, जबकि पहले ५ वर्षों में ऐसे हस्तान्तरण की आधिक दर ९३ करोड़ रुपये रही थी। आयोग ने आगम के हस्तान्तरण बढ़ाने का यह सुझाव इसलिए दिया था कि राज्यों को पंचवर्षीय योजना से सम्बन्धित लक्ष्यों को पूरा करने में कठिनाई न हो। आयोग का विचार था कि यदि राज्य, आगम का आवश्यक विस्तार कर लें और केन्द्र से भी निर्धारित सहायता मिलती रहे तो राज्यों को उन कार्यक्रमों की पूर्ति करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए जिनकी वित्तीय-व्यवस्था राज्य आगम में से की गई है। ऋण सघनन के फलस्वरूप भी राज्यों को लगभग ५ करोड़ रुपये का निवारण मिला।

दूसरे आयोग के सुझावों का मूल्यांकन—

(१) **राज्यों को केन्द्र से धन देने की एकीकृत योजना**—दूसरे वित्त आयोग के राज्यों को केन्द्र की ओर से धन देने की एक एकीकृत (Integrated) योजना का प्रस्ताव रखा था। इसमें **निम्न दो उद्देश्यों** के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया था—प्रथम, राज्य सरकारों की वित्तीय आवश्यकताओं को भली-भाँति ध्यान में रखा जाय और उनके सन्तुलित विकास के मार्ग में कठिनाइयाँ न आने दी जायें, और दूसरे, केन्द्रीय सरकार के विशाल उत्तरदायित्वों को भी दृष्टिगत रखा जाय, विशेषतया प्रतिरक्षा और विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को। आयोग ने इस बात का प्रयत्न किया था कि केन्द्रीय सरकारों की वित्तीय स्थिति में विशेष कमजोरी लाये बिना राज्यों की

वित्त-व्यवस्था दृढ़ की जाय। आयोग ने यह पता लगाने का प्रयत्न भी किया था कि सङ्घ द्वारा राज्यों को धन हस्तान्तरित करने की क्षमता कितनी है। आयोग की सिफारिशों के अनुसार सघ सरकार द्वारा राज्यो को हस्तान्तरण की जाने वाली धनराशि १४० करोड रुपया प्रतिवर्ष हो गई थी, जबकि प्रथम वित्त-आयोग की सिफारिशो के अनुसार यह राशि केवल ९३ करोड़ रुपया थी। आयोग के एक सुझाव को छोडकर, जो केन्द्र से राज्यों को ऋण के सम्बन्ध मे था, शेष सभी सुझाव सरकार ने स्वीकार कर लिए। भारत सरकार इस बात से सहमत नही हुई कि राज्यों द्वारा ऋण को चुकाने की अवधि स्थगित कर दी जाय। भारत सरकार का विचार था कि ऐसा करने से सभी ऋणों की (यहाँ तक कि उन ऋणों की भी जो १५ वर्ष की अवधि में चुकाये जाने थे) परिपक्वता अवधि बढ़ जायगी।

(२) राज्यवित्त के सिद्धान्तों पर अधिक ध्यान—दो दिशाओं मे दूसरे आयोग ने प्रथम आयोग की तुलना में राज्य-वित्त के सिद्धान्तों पर अधिक ध्यान दिया—(अ) इसने आय के वितरण के सम्बन्ध मे आय प्राप्ति के उद्गम (Origin) की तुलना में राज्यों की वित्तीय आवश्यकता को अधिक महत्त्व दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि किसी भी राज्य को प्राप्त होने वाला हिस्सा इस बात से अधिक प्रभावित हुआ कि उस राज्य की वित्तीय माँग कितनी है और इस बात से कम प्रभावित हुआ कि उस राज्य से वितरण की जाने वाली आय का कौन-सा भाग प्राप्त हुआ है। समुचित राजस्व नीति ऐसी ही होनी भी चाहिये थी। (ब) दूसरे आयोग ने करों की राशि के वितरण मे प्रथम आयोग की तुलना में राज्य विशेष की जन-संख्या पर अधिक बल दिया। इसका उद्देश्य यह रहा कि केन्द्रीय आय के हस्तान्तरण द्वारा,सभी राज्यो में जन-साधारण के जीवन-स्तरों तथा सुविधा-स्तरो में समानता लाई जाय। सन्तुलित विकास, राष्ट्रीय न्याय तथा पिछड़ेपन दूर करने की दृष्टि से ऐसा उचित ही था। केन्द्रीय ऋणों का एकीकरण करके भी आयोग ने जटिलता को दूर किया।

(३) सभी राज्य आयोग के सुझावों से सन्तुष्टि नहीं—अधिकांश राज्य सघ आगम मे से अधिक हिस्सा चाहते थे। बम्बई और पश्चिमी बङ्गाल राज्यों ने सुझावों के सम्बन्ध मे घोर असन्तोष व्यक्त किया। ये दोनों राज्य औद्योगिक दृष्टि से अधिक विकसित राज्य है। इनका विचार था कि इनको अनुपात मे अधिक सहायता मिलनी चाहिए, क्योकि ये केन्द्रीय सरकार को अधिक कर देते हैं। इन राज्यो का विचार था कि बँटवारे मे वित्तीय आवश्यकता, जन-सख्या का आकार तथा क्षेत्रफल पर अधिक बल देकर आयोग ने इनके साथ अन्याय किया है।

(४) योजना आयोग और वित्त आयोग के मध्य समन्वय न होना—आयोग के सम्मुख एक कठिनाई यह भी रही कि योजना आयोग के कार्यों के साथ वित्त आयोग का समन्वय नही हुआ था। योजना आयोग ने राज्यो को जो सहायता देने का वचन दिया उसमे वित्त आयोग किसी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकता था। वित्त आयोग कुल सहायता का छोटा-सा भाग ही निश्चित कर सकता था जिससे केन्द्र और राज्य सरकारो के पारस्परिक द्वितीय सम्बन्धों मे विशेष अन्तर पड़ने की सम्भावना नही थी। वास्तव मे दोनों आयोगो को सामूहिक आधार पर काम करना चाहिए था।

तृतीय वित्त आयोग
(The Third Finance Commission)

तीसरे वित्त आयोग की नियुक्ति एवं इसके सन्दर्भ-विषय—

तीसरे वित्त आयोग का निर्माण राष्ट्रपति ने २ दिसम्बर सन् १९६० को किया था। आयोग को निम्न विषयों में सुझाव देने का आदेश दिया गया था :—(१) सङ्घ सरकार तथा राज्यों के बीच करों से प्राप्त शुद्ध आय का वितरण किस प्रकार किया जाय ? (२) किन सिद्धान्तो

के आधार पर केन्द्रीय सरकार राज्यों को अनुदान (Grants-in-aid) दे ? (३) तीसरी पंच-वर्षीय योजना सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ राज्यों को संविधान की धारा २७५ के अनुसार कितनी तथा किस प्रकार सहायता दी जाय तथा राज्य अपनी आय के वर्तमान साधनों से अधिक आय प्राप्त करने के लिए क्या करे ? (४) संविधान की धारा २६६ के अन्तर्गत भू-सम्पदा की आय का राज्यों में जो बँटवारा होता है उसके वितरण के सम्बन्ध में (यदि आवश्यक हो) परिवर्तन का सुझाव देना। (५) संविधान की धारा २६६ के अन्तर्गत रेल भाड़ा कर से प्राप्त आय का राज्यों के बीच जो वितरण किया जाता है, उससे सम्बन्धित सिद्धान्तों में परिवर्तन के सुझाव देना। (६) निम्न वस्तुओं पर जो अतिरिक्त उत्पादन कर लगाये गये हैं, उनकी शुद्ध उपज को राज्यों में किस प्रकार बाँटा जाय : (क) सूती कपडे, (ख) रेयोन अथवा नकली रेशमी कपडे, (ग) ऊनी कपडे, चीनी तथा (घ) तम्बाकू। [स्मरण रहे कि ये अतिरिक्त उत्पादन कर उन बिक्री करों के स्थान पर लगाये गये है जो पहले राज्यों द्वारा लगाये जाते थे।]

कमीशन की सिफारिशें एवं उन पर किया गया कार्य—

केन्द्रीय सरकार ने तृतीय वित्त आयोग की समस्त एकमत सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। फलत. राज्यों को १ अप्रैल सन् १९६२ से प्रारम्भ होने वाले वित्तीय वर्ष में ३५ करोड़ अतिरिक्त धन मिला, क्योंकि आय-कर मे उनका भाग ६०% से बढ़ाकर ६६⅔% कर दिया गया था। उत्पादन करों में राज्यों का भाग २५% से घटाकर २०% कर दिया गया। पहले, आय-कर का ९०% राज्यों में जन-संख्या के आधार पर बाँटा जाता था और केवल १०% संग्रह के आधार पर विभाजित होता था। अब कमीशन की सिफारिशों के अनुसार जन-संख्या के आधार पर ८०% तथा संग्रह के आधार पर २०% बाँटा जाने लगा।

राज्यों को अभी तक निम्न वस्तुओं पर संघीय उत्पादन करों का २५% मिलता था—दियासलाई, तम्बाकू, चीनी, वनस्पति उत्पादन, कहवा, चाय, कागज और वनस्पति आवश्यक तेल। कमीशन ने उत्पादन करों में राज्य का भाग २५% से घटाकर २०% करने के साथ साथ वस्तुओं की संख्या ८ से बढ़ाकर ३५ कर दी। प्रत्येक राज्य का भाग निश्चित करते समय कमीशन ने जन-संख्या को वितरण का एक प्रमुख घटक माना तथा राज्यों की सापेक्षिक वित्त क्षमता को विकास के स्तर अनुसूचित जातियों के प्रतिशत को भी विचार में लिया। संक्षेप में, आयोग की सिफारिशों का सार निम्न प्रकार था :—

(१) निगम कर के अतिरिक्त आय कर की प्राप्तियों में से राज्यों का हिस्सा बढ़ाकर ६०% से ६६% कर दिया गया। विभिन्न राज्यों के हिस्से निश्चित करते समय ८०% भाग सन् १९६१ की जनगणना के आधार पर राज्य की जन-संख्या और शेष २०% विभिन्न राज्यों द्वारा *आय कर के सापेक्षिक संग्रहों के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की गई।*

(२) संघ उत्पादन करों की प्राप्तियों में से राज्यों का हिस्सा २५% से घटाकर २०% कर दिया गया। जिन वस्तुओं के उत्पादन करों से प्राप्त राशि को राज्यों में बाँटा जाता था उनमें पहले की तुलना में २७ नई वस्तुओं की वृद्धि कर दी गई। विभिन्न राज्यों के हिस्से निश्चित करने के सम्बन्ध में आयोग ने राज्यों की सापेक्षिक जन-संख्या, वित्तीय कमजोरियों तथा राज्यों में बसने वाली पिछडी, परिगणित तथा अछूत जातियों की संख्या को ध्यान में रखा।

(३) सन् १९५७ से भारत सरकार ने **मिलों के बने कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर राज्य बिक्री कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन कर** लगाया था। द्वितीय वित्त आयोग ने सिफारिश की थी कि इन उत्पादन करों का १½% जम्मू और कश्मीर राज्य को दिया जाय। १०% *केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों के लिये रखा जाय और शेष सापेक्षिक उपयोग और जन-संख्या* (Relative

Consumption and Population) के आधार पर अन्य राज्यों के बीच बाँट दिया जाय। कुछ छोटे से समायोजनों के साथ यही सुझाव तीसरे आयोग ने भी किया। इस काल मे रेशमी कपडे पर भी अतिरिक्त उत्पादन कर लगा दिया गया। जम्मू और कश्मीर का हिस्सा बढ़ाकर १$\frac{1}{2}$% कर दिया गया। इस प्रकार वितरित की जाने वाली कुल राशि का अनुमान ३२·५४ करोड रुपये था।

इस राशि के पश्चात् जो आय शेष रहे उसे अशतः सापेक्षिक जनसंख्या और अशत. १९५७-५८ मे बिक्री कर से प्राप्त होने वाली आय के आधार पर विभिन्न राज्यो मे बाँटना तय हुआ।

(४) सम्पदा कर के बँटवारे के आधार मे कोई परिवर्तन नही किया गया, किन्तु सन् १९६१ की जनसख्या के आधार पर वितरण योजना में कुछ संशोधन किये गये। इस कर से प्राप्त समस्त आय सापेक्षिक जन-संख्या के आधार पर वितरित की गई।

सुझावों का प्रभाव—

उक्त सिफारिश के आधार पर विभिन्न राज्यो मे केन्द्र द्वारा प्राप्त आय का विभाजन निम्न प्रकार किया गया था :—

राज्य	आय कर का भाग (६६$\frac{2}{3}$%)	उत्पादन करो का भाग (२२%)	अनुदान (लाख रु०)	सचार साधनो के लिए विशेष अनुदान (लाख रु०)	एस्टेट ड्यूटी का भाग (९९%)	रेल भाड़ पर कर के बदले अनुदान (लाख रु०)	अतिरिक्त उत्पादन कर (लाख रु०)	शेष अतिरिक्त उत्पादन कर (लाख रु०)
आन्ध्र	७·७१	८·२३	—	५०	८·३४	१·११	२३५·२४	७ ७५
असम	२·४४	४ ७३	९००	७५	२·७५	०·३४	८५ ०८	२·५०
बिहार	९·३३	११·५६	५२५	७५	१०·७८	०·१७	१३०·१६	१०·००
गुजरात	४·७८	६·४५	—	१००	४·७८	०·९८	३२३·४५	५·४०
जम्मू और कश्मीर	०·७०	२·०२	४२५	५०	०·८३	—	९५·०८	४·२५
केरल	३·५५	५·४६	१५०	७५	३·९२	०·२३	१५५·१७	७·००
म० प्र०	६ ४१	८ ४६	५५०	१७५	७ ५१	१·०४	२८५·३४	९·००
मद्रास	८·१३	६·०८	१२५	—	७·८०	०·८१	६३७·७७	१०·६०
महाराष्ट्र	१३ ४१	५·७३	३००	—	९·१६	१·३५	१००·१०	५ २५
मैसूर	५·१३	५·८२	६२५	५०	५·४६	० ५६	८५·१०	४ ५०
उडीसा	३·४४	७·०७	१,१५०	१७५	४ ०८	०·२२	१७५·१९	४·२५
पंजाब	४·४९	६·७१	—	—	४ ७१	१·०१	९०·१०	४ ००
राजस्थान	३·९७	५·९३	४५०	७५	०·६७	०·८५	५७५·८१	१५·४०
उ० प्र०	१४·४२	१०·६८	—	—	१७ १०	२ ३४	२८० ४१	९·००
प० बङ्गाल	१२ ०६	५·०७	—	—	८·११	० ७९	—	—
			१,२००	९००		१२ ५०	३,२५४ ००	- -

(५) १ अप्रैल सन् १९६१ से रेल भाड़ा कर हटा लेने से राज्यों को होने वाली कुल हानि का अनुमान १२·५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष था । यह सुझाव दिया गया कि संघ सरकार सभी राज्यो को इतनी राशि की सहायता दे । १४ राज्य इसके अधिकारी थे ।

(६) सहायक अनुदानों के सम्बन्ध में स्थिति यह थी कि संघ सरकार अब तक ११ राज्यों को ३९·५ करोड रुपए के वार्षिक अनुदान देती थी जिनमें असम, बिहार, जम्मू और कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, मैसूर, उडीसा, पजाब, राजस्थान, पश्चिमी बङ्गाल और महाराष्ट्र हिस्से पाते थे । तीसरे आयोग ने इनमे से महाराष्ट्र को छोड़ कर अन्य १० राज्यों को हिस्से देने का सुझाव दिया । विभिन्न राज्यों के हिस्से निम्न प्रकार रखे गये :—आन्ध्र ८ करोड रुपये, असम ५.०५ करोड रुपये, गुजरात ४·२५ करोड रुपये, जम्मू और कश्मीर १·५० करोड रुपये, केरल ५.५० करोड रुपये, मध्य प्रदेश १·२५ करोड रुपये, मद्रास ३ करोड़ रुपये, मैसूर ६·२५ करोड रुपये, उडीसा ११·५० करोड रुपये और राजस्थान ४·५० करोड रुपये । इसके अतिरिक्त, ५८·२५ करोड रुपये राज्यो की योजनाओ को पूरा करने हेतु देने का सुझाव रखा गया ।

(७) सड़क परिवहन के विकास के लिए राज्य सरकारों को विशेष अनुदान की सिफारिश की गई । तीसरी योजना काल मे सडक विकास के लिए ३१४ करोड़ रुपए के व्यय की व्यवस्था थी । ऐसा अनुभव किया गया कि केन्द्रीय सहायता के बिना कुछ राज्य इस दिशा मे पर्याप्त प्रगति नहीं कर सकेंगे । अतः आयोग ने इसके लिए आन्ध्र, असम, बिहार, गुजरात, जम्मू और काश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, मैसूर, उड़ीसा और राजस्थान इन दस राज्यो के लिए कुल मिलाकर ९ करोड रु० वार्षिक अनुदानो का सुझाव दिया ।

तृतीय वित्त आयोग की सिफारिशों का महत्व—

दूसरे वित्त आयोग की भाँति तीसरे वित्त आयोग के सम्मुख भी समस्या यह थी कि एक ओर तो राज्य सरकारो के बढते हुए व्यय के लिए उनके वित्तीय साधनों को दृढ़ किया जाय और दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार के लिए भी समुचित आय की व्यवस्था होनी चाहिये । राज्यो को आय का हस्तान्तरण ऐसा होना चाहिए था कि ये दोनो उद्देश्य एक ही साथ पूरे हो सकें । आयोग की सिफारिशो से स्पष्ट है कि सन् १९६२-६३ मे राज्यो को पूर्वापेक्षित ३५ करोड़ रुपया अधिक प्राप्त हुआ एव अगले वर्षो मे तो और भी अधिक प्राप्ति हुई ।

आयोग ने राज्यों की बढती हुई वित्तीय आवश्यकताओ को अनेक रीतियों से पूरा करने का प्रयत्न किया । मुख्यतया आयोग ने रेल-भाडा कर की समाप्ति के कारण राज्यो को होने वाली हानि को पूरा करने के लिये केन्द्र द्वारा समतोलन करने, अचल सम्पत्ति पर सम्पदा कर से प्राप्त समस्त राशि को सन् १९६१ की जन-गणना के आधार पर विभिन्न राज्यो के बीच बाँटने और आय-कर के विभाज्य भाग को ६० प्रतिशत से बढ़ाकर ६६⅔ प्रतिशत करने का सुझाव दिया ।

राज्य की आय मे वृद्धि करते समय आयोग ने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तो को व्यावहारिक महत्व देने का भी प्रयत्न किया । आयोग ने इस बात का भी प्रयत्न किया है कि विभिन्न राज्यो की शिकायतें दूर हो जायें और प्रत्येक राज्य को आर्थिक जीवन मे आवश्यक योगदान देने का अवसर मिले । दूसरे आयोग की तुलना मे तीसरे आयोग ने विभिन्न राज्यो के सापेक्षिक सग्रहो (Relative Collections) को कुछ अधिक महत्व देकर महाराष्ट्र और पश्चिमी बङ्गाल को इस माँग को भी पूरा करने का प्रयत्न किया कि व्यापार और उद्योग की वर्तमान स्थिति को बनाये रखने के लिए उन्हें अधिक बड़ा हिस्सा दिया जाये । आय-कर की प्राप्ति मे से राज्यो का हिस्सा बढ जाने का परिणाम यह हुआ कि राज्यो को सन् १९६२-६३ में ही इस मद से लगभग ८ करोड रुपया अधिक प्राप्त हो गया था । कुल मिलाकर आयोग के सुझावो के फलस्वरूप

राज्यों की आय में पर्याप्त वृद्धि हुई परन्तु फलस्वरूप संघ सरकार की वित्तीय स्थिति बिगड़ी नहीं जो एक अच्छा लक्षण था।

संघ उत्पादन-करों से प्राप्त आय में से आयोग ने राज्यों का हिस्सा २५ प्रतिशत से घटाकर २०% कर देने का सुझाव दिया, परन्तु इसके कारण राज्यों को प्राप्त होने वाली आय घटने के स्थान पर उल्टी पर्याप्त मात्रा में बढ़ी, क्योंकि तीसरे आयोग ने ८ वस्तुओं के स्थान पर ३५ वस्तुओं के संघ उत्पादन करों की प्राप्ति को राज्य सरकारों में बाँटने का प्रस्ताव रखा था। वैसे भी इस शीर्षक से भारत सरकार की आय में इतनी तेजी के साथ वृद्धि हो रही थी कि राज्यों को प्राप्त होने वाले हिस्से का बढ़ना आवश्यक ही था।

आयोग की सिफारिशों का एक महत्त्वपूर्ण भाग सहायक अनुदानों से सम्बन्धित था। ऐसे अनुदानों से सम्बन्धित सिद्धान्तों में आयोग ने विभिन्न राज्यों की विषमताओं तथा उनकी जन-संख्या में पिछड़े हुए व्यक्तियों के अनुपात को विशेष महत्त्व दिया जिसके कारण उत्तर-प्रदेश, महाराष्ट्र, मद्रास और पश्चिमी बंगाल को अपेक्षाकृत कम अनुदान मिले और उड़ीसा राज्य को अधिक सहायता मिली। सड़क परिवहन के विकास के लिए अनुदान का सुझाव देकर आयोग ने समस्या के मार्मिक स्थल पर आघात करने का प्रयत्न किया।

आयोग का विचार यह था कि आय की कमी के कारण राज्य सरकारें ग्रामीण क्षेत्रों से भू-आगम, सिंचाई-कर, विकास-कर उन्नति-कर आदि के रूप में अधिक धन प्राप्त करने की चेष्टा करती थी, किन्तु केन्द्रीय सहायता द्वारा यह प्रवृत्ति रोकी जा सकती थी, क्योंकि ऐसी आवश्यकता ही समाप्त हो जायेगी। आयोग का यह भी अनुमान था कि विगत वर्षों में राज्यों के अनुत्पादक व्यय में वृद्धि हुई, जिस कारण सरकारी व्यय के नियन्त्रण की आवश्यकता बढ़ गई। आयोग का विचार था कि राज्यों के अनुत्पादक व्यय को समाप्त करके स्वाभाविक रूप में उनकी आय में पहले की अपेक्षा वृद्धि की जा सकती है।

कर आगम का राज्यों को हस्तान्तरण—

निम्न तालिका केन्द्रीय सरकार द्वारा विभिन्न वर्षों में राज्यों को हस्तान्तरित कर-आगम दिखाती है :—

(करोड़ रु० में)

शीर्षक	आय-कर	संघीय उत्पादन	बिक्री कर के बदले में अतिरिक्त उत्पादन कर	रेलों के यात्री भाड़े पर कर	भू-सम्पदा कर	कुल
प्रथम योजनावधि	२७८·२	४६·१	—	—	२·४	३२६·७
द्वितीय योजनावधि	३४७ ७	१५२·६	१२८·३	४२·६[1]	१२ ७	७११·१
तृतीय योजनावधि						
१९६१-६२	९३·९	४१ १	३९·५	—	३ ६	१७८·४
१९६२-६३	९५·३	७९·०	४५·९	—	३·९	२२४·१
१९६३-६४	११६·३	९२ ४	४३·६	—	४·२	२५९·५
१९६४-६५	१२३·८	८६·२	४१·१	—	६·८	२५७·९
१९६५-६६ बजट	१२२·९	९४·९	४६·०	—	७·२	२८१·०

[1] १ अप्रैल सन् १९६० से रेल भाड़ा कर समाप्त कर दिया गया है और इसे भाड़े में मिला दिया गया है।

चतुर्थ वित्त आयोग
(The Fourth Finance Commission)

आयोग की सिफारिशें—

चतुर्थ वित्त आयोग की रिपोर्ट १० सितम्बर १९६५ को प्रकाशित हुई थी। नीचे इसकी प्रमुख बातों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है :—

(१) आय-कर में राज्यों का हिस्सा—अभी तक राज्यों को आय कर से प्राप्त होने वाले राजस्व का (जिसमें निगम कर शामिल नहीं है) ६६⅔%* भाग बाँटा जा रहा था और राज्य के हिस्से का हिसाब लगाते हुए ८०% भाग उस राज्य की आबादी के हिसाब से और २०% उसकी आय-कर की उगाही के हिसाब से निकाला जाता था। किन्तु अब नये वित्त आयोग ने यह हिस्सा तो ६६⅔% से बढ़ाकर ७५% कर दिया है, किन्तु उसका हिसाब लगाने का तरीका वही रखा है। इसके अलावा नागालैंड को इन करों से होने वाली आय का १% भाग दिया जाता है।

(२) केन्द्रीय उत्पादन-कर में हिस्सा—नागालैंड के अतिरिक्त अन्य राज्यों को अभी तक ३५ *जिन्सों के उत्पादन कर से प्राप्त आमदनी का २०% भाग दिया जाता था* और इस कुल आमदनी का १% नागालैण्ड को दिया जाता रहा था। उत्पादन-करों की आय के इस बँटवारे में हर राज्य के हिस्से का हिसाब मुख्यत. उनकी आबादी के हिसाब से लगाया जाता था और वित्तीय दृष्टि से उनके पिछड़ेपन को भी ध्यान में रखा जाता था। परन्तु अब चौथे वित्त आयोग ने उन सभी वस्तुओं के उत्पादन-कर की आय के २०% भाग के बँटवारे की सिफारिश की है। जिन पर उत्पादन-कर लगता है, उनके हिस्से का हिसाब लगाने की विधि भी आयोग ने बदल दी है। अब उसके ८०% का हिसाब आबादी के हिसाब से और २०% का हिसाब उनके सापेक्ष पिछड़ेपन के हिसाब से लगाया जायगा।

(३) सहायतानुदान—आयोग ने राज्यों को दी जाने वाली सहायता-अनुदान की राशि भी ६४ करोड़ रु० से बढ़ाकर १४० करोड़ रु० कर दी है। अभी तक १२ राज्यों को ६३·७५ करोड़ रु० के वार्षिक सहायतानुदान मिलते रहे हैं जिनका विवरण इस प्रकार है— *आन्ध्र-प्रदेश ९.५ करोड़, असम ६ करोड़, बिहार ७५ लाख, गुजरात ५·२५ करोड़, जम्मू-*कश्मीर २ करोड़, केरल ६·२५ करोड़, मध्य-प्रदेश ३ करोड़, मद्रास ३ करोड़, मैसूर ६·७५ करोड़, *नागालैंड २·७५ करोड़, उड़ीसा १३·२५ करोड़ और राजस्थान ५·२५ करोड़ रु०।*

चौथे वित्त आयोग ने अपनी सिफारिश में दस राज्यों को १२१·८९ करोड़ रुपये के सहायतानुदान देने की सिफारिश की, जो इस प्रकार है : आन्ध्र ७·२२ करोड़, असम १६·५२ करोड़, जम्मू-कश्मीर ६·५७ करोड़, केरल २०·८२ करोड़, मध्य-प्रदेश २·७० करोड़, मद्रास ६·८४ करोड़, मैसूर १८·२४ करोड़ रु०, नागालैण्ड ७·०७ करोड़ रु०, उड़ीसा २९·१८ करोड़ रु०, राजस्थान ६·७३ करोड़ रु०। इसके अलावा आन्ध्र को ६·२९ करोड़, मैसूर को २·५८ करोड़ और उत्तर प्रदेश को ९·८५ करोड़ रुपये (इन राज्यों के सरकारी कर्मचारियों के भत्ते में वृद्धि के लिए) अतिरिक्त सहायतानुदान के रूप में और भी दिया जायगा।

विभिन्न केन्द्रीय करों में राज्यों का हिस्सा

राज्य का नाम	आय-कर का हिस्सा	केन्द्रीय उत्पादन-कर का हिस्सा	अनुच्छेद २७५ (४) के अन्तर्गत सहायता-अनुदान (वास्तविक भाग)	सम्पत्ति-कर का भाग	रेल-भाड़े के स्थान पर अनुदान	अतिरिक्त उत्पादन कर: आश्वस्त आय	अतिरिक्त उत्पादन कर: शेष रकम का वितरण
कुल में राज्यों का हिस्सा	७५%	२०%		९८%			९७·५४ । प्रतिशत
वितरण	प्र० श०	प्र० श०	रकम लाखों में	प्र० श०	प्र० श०	रकम लाखों में	प्र० श०
आन्ध्र प्रदेश	७·३७	७·७७	१३५१	८ ३४	९·०५	२३८·२४	७ ४२
असम	२·४४	३·३२	१६५२	२·७५	२·७९	८५ ०८	१ ९८
बिहार	९ ०४	१०·०३		१० ७६	९ ९९	१३० १६	६·१७
गुजरात	५·२९	४ ८०		४ ७८	७·११	२२३·४८	७ ४३
जम्मू-कश्मीर	० ७३	२ २६	६५७	० ८३	—	—	—
केरल	३ ५९	४ १६	२०८२	३·९१	१ ८५	९८ ०८	५ ६५
मध्य-प्रदेश	६·४७	७ ४०	२७०	७ ५०	९ ८५	१५५ १७	४ ६२
मद्रास	८·३४	७·१८	६८४	७ ८०	५ ८१	२८५·३४	११ १३
महाराष्ट्र	१४·२८	८·२३	—	९·१६	८·९८	६३७ ७७	१९ ८७
मैसूर	५·१४	५ ४१	२०८२	५·४६	३·९८	१०० १०	५ २१
नागालैंड	०·०७	२·२१	७०७	०·०९	० ०१	—	—
उड़ीसा	३ ४०	४ ८२	२९१८	४ ०७	२ १२	८५ १०	२ ५८
पंजाब	४ ३६	४·८६	—	४·७०	७·४३	१५५ १९	५ ०१
राजस्थान	३·९७	५·०६	६७३	४·६७	६ ४०	९० १०	३ १७
उत्तर-प्रदेश	१४·६०	१४ ९८	९८५	१७ ०८	१८·२३	५७१ ८१	७ ८३
पश्चिमी बंगाल	१०·९१	७ ५१	—	८·०९	६ ४०	२८० ४०	११·९३
			१४०६१			३२५४·००	.

आयोग ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट किया है कि आंध्र, मैसूर और उत्तर-प्रदेश ने अपने राज्य कर्मचारियों के वेतन व महँगाई भत्तों में वृद्धि की घोषणा जुलाई, १९६५ में की, इसलिए इस विलम्बित घोषणा के परिणामों को आयोग के सहायतानुदान के मूल अनुमानों में शामिल करना सम्भव नहीं था। अतः उसने अपने एक सदस्य प्रो० डी० जी० कर्वे को इन राज्यों के इन अतिरिक्त खर्चों का आयोग की अपनी कसौटी के अनुसार हिसाब लगाने का काम सौंपा और इन्होंने इन अतिरिक्त सहायता अनुदानों का अनुमान लगाया। उत्तर-प्रदेश के अतिरिक्त सहायता-नुदान का हिसाब इस बात को दृष्टि में रख कर लगाया गया था कि राज्य की चौथी योजना में अन्य प्रकार से १७ ०२ करोड़ रुपये बचत होगी।

(४) **सम्पत्ति-कर का भाग**—कृषि-भूमि को छोड़ कर शेष सम्पत्ति पर सम्पदा-शुल्क (मृत्यु-कर) के रूप में होने वाली कुल आमदनी का (केन्द्रशासित क्षेत्रों में होने वाली आमदनी को

छोड़कर) राज्यों में बाँटा जाने वाला हिस्सा १ प्रतिशत से बढ़ाकर २ प्रतिशत कर दिया गया है, परन्तु इसके बँटवारे के सिद्धान्त में कोई परिवर्तन नही सुझाया गया।

(५) **रेल-भाड़े के स्थान पर अनुदान**—राज्यो को रेल किराये के टैक्स में से उनके हिस्से के बदले में दिया जाने वाला अनुदान अब भी क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त पर उसी तरह आधारित रहेगा, जैसे इस टैक्स के हटाये जाने से पहले था। बँटवारे के प्रतिशत हिस्सों की सिफारिश कर दी गई है।

(६) **अतिरिक्त उत्पादन-करो में राज्यों का हिस्सा**—राज्यों के बिक्री-कर हटाकर इनके स्थान पर उत्पादन-शुल्क मे जो वृद्धि की गई है, उससे प्राप्त अतिरिक्त आमदनी राज्यों को ही दी जायगी। राज्यो को यह भी गारण्टी दी गई है कि १९५६-५७ मे इन जिन्सों (कपड़ा, तम्बाकू और चीनी) पर बिक्री-कर से जो आमदनी उन्हे होती थी, वह उन्हे अवश्य मिलेगी। आयोग ने इसमे से १% केन्द्रशासित प्रदेशो के लिए, १½% जम्मू-कश्मीर के लिए और ५ प्रतिशत नागालैण्ड के लिए रखा है। यह गारण्टीशुदा रकम ३८·५४ करोड रु० है। इस रकम से ज्यादा जो भी अतिरिक्त आमदनी इन वस्तुओ के उत्पादन कर से होगी, उसे जम्मू-कश्मीर व नागालैण्ड को छोड कर शेष राज्यो मे उनकी बिक्री-कर वसूली के अनुपात से बाँट दिया जायगा।

(७) **अन्य**—आयोग ने राज्यो के सार्वजनिक ऋणो तथा राज्यों के केन्द्र के प्रति ऋणों के सम्बन्ध मे भी आम सिफारिशें की हैं। बहुमत से स्वीकृत रिपोर्ट में सिफारिश की गई है कि राज्यों द्वारा जनता से जो ऋण लिया जाता है, इसके चुकाये जाने सम्बन्धी योजना के सिद्धान्तों का निर्धारण करने के लिए एक प्रतिनिधि विशेषज्ञ दल द्वारा शीघ्र ही जाँच कराई जाय।

आयोग ने विभिन्न राज्यो के राजस्व आय और योजना-भिन्न राजस्व-व्यय का विवरण दिया है। यह विवरण सन् १९६६-६७ से १९७०-७१ तक के ५ वर्षों के लिए है। इस विवरण मे मूल-योजना-भिन्न राजस्व का अन्तर २४९२६ ६६ करोड रुपयों पर कूता है। २१६०·९९ करोड़ रुपयो तक की रकम केन्द्रीय करो तथा शुल्कों से पूरी कर ली जाएगी। इसमें वह अनुदान भी शामिल होगा जो रेलवे किराये पर टैक्सों के बदले मे राज्यों को दिया जाता है। यह टैक्स ६२·५० करोड़ रुपये हैं। इसके अतिरिक्त १० राज्यों को दिए जाने वाले सहायता अनुदानो की रकम ६०९·४५ करोड़ रुपये शामिल है। इसके फलस्वरूप ६ राज्यों मे ३७३ ७३ करोड़ रुपयो का अधिशेष रहेगा। इसका ब्योरा इस प्रकार है —बिहार ८९·२५ करोड, गुजरात ८ करोड़, महाराष्ट्र २१५·६६ करोड, पजाब २६ ८३ करोड, उत्तर-प्रदेश १७·०२ करोड और पश्चिमी बगाल १३·९७ करोड।

आयोग की सिफारिशो के, जो सरकार द्वारा स्वीकार कर ली गई है, अनुसार केन्द्र से राज्यों को जो राशि दी जाएगी, वह चौथी योजना के दौरान मे अतिरिक्त ७८० करोड रुपयों *तक होगी।*

आयोग ने सिफारिश की थी कि सविधान के अनुच्छेद २७५ के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा इस बँटवारे के बारे में अन्तिम आदेश जारी किए जाने से पूर्व यदि कोई राज्य अपनी कोई अतिरिक्त आवश्यकता बताये तो उस पर भी उक्त अनुच्छेद के अन्तर्गत विचार कर लिया जाए, परन्तु सरकार ने यह स्वीकार नही किया, क्योंकि वह इस आदेश को देर तक लटकाये नहीं रखना चाहती, इसलिए इन अतिरिक्त आवश्यकताओं को बाद मे योजना के मापनों और केन्द्रीय सहायता का हिसाब लगाते हुए ध्यान मे रख लिया जाएगा।

अध्यक्ष तथा सदस्यो में से एक ने केन्द्र एव राज्यो तथा वित्त आयोग और आयोजन आयोग के मध्य के सम्बन्ध मे आम प्रश्नों की भी चर्चा की थी। इस सम्बन्ध मे सरकार ने ऐसा

महसूस किया था कि इन प्रश्नों के मामले में तत्काल निर्णय लिए जाने की कोई आवश्यकता नहीं है और उन पर तभी विचार किया जाए जबकि आयोग की रिपोर्ट के मामले मे आवश्यक कार्यवाही सम्पन्न हो जाय। अध्यक्ष ने अपनी टिप्पणी मे कहा था कि **"मेरे ख्याल में वह वक्त आ गया है, जबकि केन्द्र व राज्य के बीच के वित्तीय सम्बन्धों की समीक्षा की जानी चाहिए—खासतौर से आयोजन आयोग की स्थापना को दृष्टि में रखते हुए। यह समीक्षा एक ऐसे विशेष आयोग द्वारा की जानी चाहिए, जो विगत में उठी अनेक समस्याओं तथा भविष्य में उठने वाली समस्याओं के बारे में जानकारी रखता हो।"** उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि आयोजन-आयोग सरकार से स्वतन्त्र एक कानूनी सस्था बना दी जानी चाहिए। इसके अलावा सविधान मे सघ-कर वित्त-आयोग तथा आयोजन-आयोग के कार्यों के बारे मे स्पष्ट रूप से व्याख्या कर देनी चाहिए।

पाँचवां वित्त-आयोग

लगातार विकास योजना के क्रियान्वयन के बाद भी आज प्रत्येक राज्य आत्मनिर्भर एव स्वावलम्बी होने के बजाय ऋणग्रस्तता एव परावलम्बन मे जकडा हुआ है। १९६१ मे राज्यो पर कुल ऋण २,७३७ करोड़ रु० था जो १९६९ मे ७,०३२ करोड रु० हो जायेगा। आन्तरिक साधनो के दोहन के मामले मे भी राज्य लगभग चरम सीमा पर पहुँच गये हैं। उनकी आय १९६१ मे १,०७३·५ करोड़ रु० से बढकर १९६९ मे २,६०४·६ करोड़ रु० तक पहुँच गई। इस पर भी राज्यो के बजट मे गम्भीर असतुलन की स्थिति है। १९६५-६६ की तुलना से १९६६-६७ मे प्रशसनीय सुधार हुआ किन्तु १९६७-६८ और १९६८-६९ मे स्थिति उसी अनुपात मे बिगड गई। लगातार असतुलन और घाटे की वित्त-व्यवस्था की खाई को पाटने के लिये राज्य अभी तक रिजर्व बैंक से ओवरड्राफ्ट लेते रहे है। पाँचवे वित्त आयोग को, जिसकी नियुक्ति श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता मे हुई है, इस समस्या के समाधान का भार सौंपा गया। आयोग ने अपनी अन्तरिम रिपोर्ट (१९६८) मे निम्न सुझाव दिये हैं :—

(१) राज्यो द्वारा रिजर्व बैंक से अपनी निर्धारित रकम से अधिक रुपया ओवरड्राफ्ट द्वारा निकालने की प्रथा अति निन्दनीय और अनुचित है तथा इस पर प्रतिबन्ध लगाये जाने चाहिये।

(२) राज्यो को अनुशासन मे रहना चाहिये और अपने साधनो के अनुसार ही खर्च करना चाहिये, तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था नही अपनानी चाहिये।

(३) राज्यो को अपनी योजनायें अपने आन्तरिक साधनो और केन्द्रीय सहायता के अनुरूप बनानी चाहिये।

(४) अनुत्पादक व्यय और प्रशासकीय व्यय मे कमी करके राज्यो को अपने बजट को सतुलित बनाना चाहिये।

(५) सविधान के परिच्छेद २७५ के अन्तर्गत राज्यो को केन्द्र ने १९६८-६९ मे ५८१·३५ करोड़ रु० की सहायता दी थी, जिसे वित्त आयोग ने १९६९-७० के लिये बढाकर ६७२·२८ करोड़ रु० कर दिया है।

(६) सम्पदा-शुल्क, आय-कर तथा केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क के वितरण की व्यवस्था अपरिवर्तित रखी गई है।

(७) यात्री भाडे के बदले में जो अनुदान दिया जाता है। उसके सिद्धान्त मे कोई परिवर्तन नही किया गया है किन्तु राज्य मे रेलवे लाइन की लम्बाई के आधार पर प्राप्त आय मे राज्य के हिस्सो मे थोडा हेर-फेर किया गया है एवं इसके लिये १९६६-६७ की आमदनी को आधार माना गया है।

(८) अधिकतर पिछडे हुए राज्य आय-कर के बँटवारे की साझी राशि बढाने के पक्ष

मे नही हैं क्योकि इससे पिछड़े राज्यों के बजाय समृद्ध राज्यो को अधिक लाभ होना है। अत. चौथे वित्त आयोग का '८०% जन-संख्या के आधार पर और २०% कुल राशि के एकत्रीकरण के आधार पर वितरण' का सिद्धान्त इस आयोग को भी मान्य है।

आयोग ने राज्यो के करो एव शुल्को की रकमो के हिस्से बढा दिये है तथा १९६९-७० के लिये राज्यो को कुल १७६·८१ करोड रु० के अनुदान देना निश्चित किया है।

इस प्रकार पाँचवे वित्त आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया है कि राज्यो को अब तक जो राशि दी जाती रही थी कम थी तथा उन्हे अधिक राशि देना अनिवार्य है। अत: १९६९-७० के लिये दी गई राशि गत वर्ष की अपेक्षा अधिक है। यथार्थ मे राज्यो को आर्थिक सकट से मुक्ति दिलाने के लिए अधिकाधिक धन दिया जाना चाहिए ताकि वे आत्मनिर्भर बन सकें और उन्हें ओवर-ड्राफ्ट आदि लेने को विवश न होना पडे। इस दृष्टि से कुछ सुझाव निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं :—(i) राज्यो को दिये जाने वाले करों के अश मे वृद्धि की जाय; (ii) केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क के वर्तमान अशदान २०% को बढाकर ७५% किया जाय, (iii) राज्यो को निगम-कर और तटकर मे से भी हिस्सा दिया जाय, (iv) राज्यो को अनुदान अभी तक पहले वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार ही दिया जा रहा है, जिसमे यथोचित वृद्धि करनी चाहिये, एव (v) राज्यों को अपने प्रशासकीय और अनुत्पादक व्ययो को घटाने पर बाध्य किया जाय।

उपसंहार—चौथे आम चुनाव के पश्चात् देश के कई राज्यो मे विरोधी दलों ने सरकारें बनाई हैं और उनके राजनैतिक व आर्थिक कार्यक्रम केन्द्र मे सत्तारूढ दल से भिन्न है। अत राज्यों और केन्द्र के मध्य विशेष सौहार्द बनाये रखने के लिये विशेष प्रयत्न करने होंगे। आशा है कि पाँचवाँ वित्त आयोग अपनी अन्तिम रिपोर्ट मे इस दशा मे स्थायी समाधान प्रस्तुत कर सकेगा।

करारोपण जाँच आयोग

इस आयोग की नियुक्ति सन् १९५३ मे डा० जान मथाई की अध्यक्षता मे की गई थी। आयोग की रिपोर्ट सन् १९५५ मे प्रकाशित हुई थी। उसने पता लगाया कि हमारी सघीय शासन-प्रणाली मे राज्य सरकारो का वित्तीय दृष्टिकोण से भारी महत्त्व है। उसका विचार था कि पिछले २०-३० वर्षों मे कर-आगम मे कोई विशेष वास्तविक वृद्धि नही हुई है, यद्यपि करारोपण द्वारा आय के वितरण की स्थिति मे परिवर्तन अवश्य हुआ है। सघीय सरकार की तुलना मे राज्य और स्थानीय सरकारो की आय कम तेजी के साथ बढ़ी है। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् राज्य सरकारो की आय मे लोच की प्रवृत्ति अधिक बलशाली हो गई है। आयोग ने यह भी पता लगाया कि इस समय केन्द्र तथा राज्य सरकारो के बीच का पुराना वित्तीय द्वेष समाप्त हो चुका है और दोनो एक-दूसरे के अनुपूरक के रूप मे कार्य करने लगे है। आयोग की प्रमुख सिफारिशें निम्न प्रकार थी .—(i) प्रत्यक्ष करो को अधिक प्रगामी तथा विस्तृत बनाया जाय जिससे उनका आधार अधिक न्यायपूर्ण हो सके। (ii) अच्छी कर प्रणाली वह होगी जिसमे विनियोग के स्थान पर उपभोग मे कमी करने की प्रवृत्ति हो, परन्तु उपभोग की यह कमी निर्धन वर्गों की अपेक्षा धनी वर्गों मे अधिक होनी चाहिए। (iii) वर्तमान दशा मे आवश्यक वस्तुओ पर से कर हटाना उपयुक्त न होगा। (iv) करदान-क्षमता इस बात पर निर्भर होती है कि अतिरिक्त करो से प्राप्त उपज का किस प्रकार व्यय किया जाता है। (v) वर्तमान कर प्रणाली देश के करारोपण साधनों का पूर्ण उपयोग नही कर पाई है। (vi) करों की उपज को बढ़ाने के लिए प्रत्यक्ष करो मे परोक्ष करो की अपेक्षा अधिक वृद्धि करने की आवश्यकता पड़ेगी। (vii) एक अखिल भारतीय करारोपण परिषद् (Taxation Council) की स्थापना होनी चाहिए, जिससे कि विभिन्न राज्यो और सघ के बीच कर-नीति और कर-शासन का समन्वय (Co-ordination) स्थापित हो सके। (viii) भारतीय लोक-व्यय की हितकारी प्रवृत्ति तो बढ रही है, परन्तु इसमे मितव्ययिता तथा कुशलता की

वृद्धि इतनी स्पष्ट नही दिखाई पड़ती है। (ix) विकास योजनाओं के अर्थ-प्रबन्ध के लिए तथा हीनार्थ प्रबन्धन की आवश्यकता को कम करने के लिए करारोपण तथा लोक-ऋणों का विस्तार अति आवश्यक है। (x) भारत में राजस्व नीति के फलस्वरूप आय के वितरण की असमानताओं को उस समय तक कम करना सम्भव नही है जब तक लोक-आगम और लोक-व्यय का राष्ट्रीय आय में अनुपात इतना कम रहेगा जितना कि इस समय है।

उपसंहार--केन्द्र और राज्यों में सार्वजनिक व्यय तथा कर ढांचे का अध्ययन करने के लिये एक जांच आयोग की नियुक्ति का सुझाव दिया गया है। यह सुझाव चार्टर्ड अकाउण्टेंट संस्थान परिषद् ने सरकार के समक्ष रखा है। सुझाव दिया गया है कि इस आयोग में विशेषज्ञ रखे जायें और इसे पर्याप्त अधिकार दिये जायें, आयोग को सरकार के साधनों तथा देश की अर्थ-व्यवस्था का भी अध्ययन करना चाहिए। साथ ही उसे आवश्यक सुझाव भी देने चाहिए, जो आगामी वर्षों में क्रियान्वित हो सकें। ये सुझाव परिषद् द्वारा हाल में वित्त मन्त्रालय को भेजे गये एक स्मरण-पत्र में दिये गये है।

परिषद् के अनुसार सार्वजनिक व्यय का ढांचा ऐसा बन गया है कि उसका सही तथा आलोचनात्मक सर्वेक्षण जरूरी हो गया है। परिषद् के अनुसार देश की योजनाओं को देखते हुए इनके लिये साधनों की व्यवस्था करने के साथ ही यह भी जरूरी है कि सार्वजनिक व्यय तथा कर-व्यवस्था के सारे ढांचे पर पुनर्विचार किया जाय।

स्मरण रहे कि इससे पहले देश की कर-व्यवस्था की विस्तृत जाँच-पड़ताल जाँच आयोग द्वारा १९५४ में की गई थी, तब से अर्थ-व्यवस्था में सुधार के लिए उल्लेखनीय प्रयास किये जा चुके है, कई कर लागू किये गये और १९२२ के आय-कर कानून की जगह १९६१ का आय-कर कानून लागू हुआ। परिषद् के अनुसार कर जांच आयोग की रिपोर्ट के बाद कई विभिन्न कदम उठाये जाने के बाद भी कार्यक्रम और कार्य में समन्वय नही रहा। केन्द्रीय सरकार के कर गैर कृषि क्षेत्र पर ही लागू हुए और राज्यों ने अपने क्षेत्र में कर निर्धारण के सम्बन्ध में कर जाँच आयोग द्वारा दिये गये सुझावों को पूरी तरह क्रियान्वित नही किया। राज्य सरकारें विभिन्न साधनों के लिए केन्द्र पर ही आश्रित रही और केन्द्र की बकाया धनराशि को वापस करने के बजाय हर मौके पर अधिक धनराशि की मांग करती रही।

परिषद् ने सरकार से कहा है कि वह कर तथा अर्थव्यवस्था के सर्वेक्षण के लिए अपनी सेवाये प्रस्तुत करने को तैयार है।

परीक्षा प्रश्न :

१. हमारे देश में राजकीय आय के साधन केन्द्रीय व राज्य सरकारों के बीच किस प्रकार विभाजित है ? क्या यह विभाजन सन्तोषप्रद है ?
२ आधुनिक वर्षों में भारतीय कर-प्रणाली में जो प्रमुख परिवर्तन किये गये हैं उनका संक्षिप्त विवेचन करिये।
३. चतुर्थ वित्त आयोगों की सिफारिशों पर प्रकाश डालिए।
४. केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के बीच वर्तमान वित्तीय सम्बन्धों का उल्लेख कीजिये।

१२

भारत में संघीय अर्थ-प्रबन्ध की मुख्य प्रवृत्तियाँ

(The Main Trends of Federal Finance in India)

प्रारम्भिक—

अध्ययन की सुविधा के लिए भारत सरकार के अर्थ-प्रबन्ध को दो भागों में बाँटा जा सकता है— लोक-व्यय और लोक-आगम।

भारत में लोक-व्यय

भारत मे लोक-व्यय का अध्ययन स्पष्ट रूप मे यह दिखाता है कि २०वी शताब्दी में यह निरन्तर बढता जा रहा है। दूसरे महायुद्ध के काल मे तो व्यय का बढना स्वाभाविक ही था, परन्तु युद्धोत्तर काल मे भी इसमे बराबर वृद्धि हुई है। व्यय के इस प्रकार बढ़ते रहने के अनेक कारण हैं। प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—(i) भारत और चीन व पाकिस्तान के बीच खिचाव बराबर बना हुआ है। इसके अतिरिक्त, संसार की राजनीतिक स्थिति की अनिश्चितता ने भारत सरकार को रक्षा आदि पर अधिक व्यय के लिए बाध्य किया है। (ii) मुद्रा-स्फीति के कारण बढ़ती हुई कीमतों ने व्यय को बढ़ाया है। (iii) आन्तरिक उपद्रवों (जैसे—काश्मीर तथा हैदराबाद की पुलिस कार्यवाहियों) के कारण भी व्यय बढा। (iv) देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् दूतावासों तथा विदेशों के वाणिज्यिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने पर काफी व्यय होने लगा है। (v) पाकिस्तान से आने वाले लोगों के पुनर्वास ने व्यय मे वृद्धि की है। (vi) खाद्यान्न को सस्ते दामों पर बेचने के लिए भारत सरकार ने जो आर्थिक सहायता (Subsidy) दी है; उसके कारण भी व्यय बढा है। (vii) देश मे सामाजिक सुरक्षा और राष्ट्रीय निर्माण सेवाओं का विकास बराबर उन्नति करता गया है। (viii) देश मे पंच-वर्षीय योजनाएँ लागू की गई हैं। आर्थिक नियोजन की नीति ने विकास व्यय मे भारी वृद्धि की है। (ix) सन् १९६२ मे चीन के और १९६५ मे पाकिस्तान के आक्रमण ने हमारे लिए यह आवश्यक बना दिया है कि रक्षा-व्यय मे अत्यधिक वृद्धि की जाय।

(१) रक्षा-व्यय—

भारत के लोक-व्यय मे रक्षा-व्यय का आरम्भ से ही ऊँचा स्थान रहा है। २०वी शताब्दी मे इस व्यय की मात्रा तथा इसका कुल व्यय से प्रतिशत दोनों निरन्तर बढते गये हैं। १९०० मे रक्षा पर केवल २४.६ करोड़ रुपये का व्यय किया जाता था। दूसरे महायुद्ध के काल मे यह एक बार ३९५.४९ करोड रुपये तक पहुँच गया था। सन् १९६२-६३ के बजट मे आरम्भ मे रक्षा पर २८२.९२ करोड रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई थी। यह व्यय ऊँचा ही था और पाकिस्तान की विरोधी नीति के कारण सरकार इस व्यय मे और अधिक कमी नही कर पा रही थी, किन्तु अक्टूबर सन् १९६२ मे चीनी आक्रमण के कारण व्यय मे वृद्धि आवश्यक हो गई। हाल मे पाकिस्तान के आक्रमण के पश्चात् रक्षा-व्यय मे वृद्धि करना और भी आवश्यक हो गया है।

अनुभव से पता चला है कि हमारी सैनिक तैयारी बहुत पीछे है और हमें तेजी के साथ

आगे बढ़ना है। इसमें तो सन्देह नही है कि इस बुरे काल मे अनेक मित्र देशो ने हमारी सहायता की है, परन्तु स्वयं देशवासियो के लिए रक्षा-व्यय मे भारी योग देने की आवश्यकता है और उन्होने दिया भी है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि पाकिस्तान पुन: अपनी खोई हुई सैनिक शक्ति को सुदृढ़ करने मे व्यस्त है। ऊँचे रक्षा व्यय का परिणाम यह होता है कि राष्ट्रीय निर्माण सेवाओं तथा सामाजिक सुरक्षा सेवाओ के लिए धन कम बचता है, किन्तु जब तक ससार की राजनीतिक दशा अनिश्चित रहेगी और पाकिस्तान व चीन के साथ खिचाव बना रहेगा, हम अपने रक्षा-व्यय को कम नही कर सकते है।

महँगाई भत्ता और सामान बदलने मे अधिक व्यय के कारण १९६९-७० के बजट अनुमानो के अनुसार रक्षा-व्यय ९८५.७८ करोड रु० रखा गया। इस तरह १९६७-६८ के मुकाबिले ९० करोड़ और १९६८-६९ के मुकाबले मे ४२ करोड रु० की वृद्धि हुई है। इन अनुमानो मे पेंशन तथा पूँजी की मद में वृद्धि भी सम्मिलित है। सीमावर्ती सड़कों के लिए व्यवस्था रखी गयी है। हमारे रक्षा-परिव्यय की लागत के अनुरूप परिणाम पाने में काफी सुधार हुआ है और अन्य उपायो पर विचार किया जा रहा है। हाल में कीमतो की अत्यधिक वृद्धि होने के कारण रक्षा-व्यय मे भी कुछ वृद्धि होना अनिवार्य था। किन्तु सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन के प्रतिशत अनुपात मे रक्षा-व्यय पहले ही, १९६३-६४ के ४.४ प्रतिशत से घटकर १९६७-६८ के अनुमान के अनुसार ३.२ प्रतिशत पर आ गया है।

(२) आगम पर प्रत्यक्ष माँग—

आगम पर प्रत्यक्ष माँग का अभिप्राय उस व्यय से होता है जो विभिन्न प्रकार के करो के एकत्रण पर किया जाता है। सन् १९५३-५४ मे इस प्रकार का व्यय कुल कर आगम का ७% हुआ और १९६९-७० मे लगभग १.७ प्रतिशत रह गया। किन्तु कुल राशि के रूप मे इस व्यय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। १९६४-६५ मे यह २६.३० करोड रु० से बढ कर १९६५-६६ मे २९.६४ करोड़ रु०, १९६६-६७ मे ३२.२० करोड रु०, १९६७-६८ मे ३५.२० करोड रु०, १९६८-६९ (संशोधित) मे ४०.११ करोड़ रु० और १९६९-७० (बजट अनुमान) ४४.५९ करोड रु० हो गया। इस वृद्धि के दो मुख्य कारण है :—एक ओर तो स्वयं कर-आगम मे वृद्धि हुई है और दूसरी ओर बहुत से नये कर लगाये गये हैं, जिन पर आरम्भ में एकत्रण व्यय का प्रतिशत ऊँचा रहता है। विशुद्ध राजस्व की दृष्टि से इस व्यय का बढना अच्छा नही माना जाता है क्योकि इससे राजस्व प्रणाली की मितव्ययिता समाप्त हो जाती है। भारत सरकार की राजस्व नीति की एक महत्त्वपूर्ण आलोचना इस व्यय की वृद्धि है, परन्तु इस सम्बन्ध मे यह कहना प्रसंगत न होगा कि वृद्धि अधिक नही है विशेषतया जबकि भारत सरकार ने अनेक नये कर लगाये हैं। सत्य यह है कि करारोपण आय के विस्तार के साथ प्रतिशत रूप मे इस व्यय का घटना स्वाभाविक ही था। फिर भी भारत सरकार के लिये इसमे कमी करना ही एक उपयुक्त नीति होगी।

(३) ऋण-सेवाओं पर व्यय—

ऋण-सेवाओ पर व्यय काफी होता है। सरकार को साधारण लोक ऋण, निश्चित-कालीन ऋण तथा अन्य ऋणों पर ब्याज देना पडता है और ऋण को कम करने तथा ऋण से बचने पर भी व्यय करना पड़ता है। १९४२-४३ मे इस शीर्षक का शुद्ध व्यय केवल ९.९७ करोड़ रुपया था। १९५०-५१ मे ३७.३६ करोड रुपये से ऋण-सेवा-व्यय बढ़कर १९५५-५६ मे ४३.१४ करोड़ रुपये, १९६०-६१ में ७७.०९ करोड रु०, १९६८-६९ मे ५२७.६९ करोड रु० हो गये। १९६९-७० के बजट मे इनके लिये ५६८.८२ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी।

विगत वर्षों मे व्यय निरन्तर बढ रहा है। इस व्यय के बढ़ने का प्रमुख कारण दूसरे महायुद्ध के काल मे लिये हुए लोक-ऋण हैं। राष्ट्रीय सरकार आर्थिक विकास योजनाओं को सफल बनाने के लिये और भी अधिक मात्रा मे ऋण ले रही है। भविष्य में इस व्यय के और भी बढने की आशा है। इस व्यय के बढ़ने को बुरा नही कहा जा सकता है, क्योंकि यह तो एक प्रकार से वह कीमत है जो भारत सरकार और करदाता देश के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए चुका रहे हैं।

(४) नागरिक शासन—

व्यय का एक महत्त्वपूर्ण शीर्षक नागरिक शासन है। इस प्रकार का व्यय १९४२-४३ मे केवल १६ ७६ करोड रुपया था। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् इसमे भारी वृद्धि हुई है। भारत मे नागरिक शासन पर व्यय अधिक ऊँचा है और ऐसा प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् इस प्रकार के व्यय की वृद्धि को रोकने का कोई प्रयत्न भी नही किया गया है। सेवाओं की दोवारगी और अनावश्यक व्यय पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नही है। करारोपण जाँच आयोग के मतानुसार इस दिशा मे मितव्ययिता तथा अपव्यय को मिटाने की भारी आवश्यकता है। १९५०-५१ मे यह व्यय २१ २६ करोड रु०, १९५५-५६ मे ३३ ३७ करोड रु०, १९६०-६१ मे ५८ ६६ करोड रु० और १९६५-६६ मे ८२ २१ करोड रु० हुआ। १९६९ ७० मे १६४·८३ करोड रु० (बजट) था।

उपरोक्त आंकडो से यह स्पष्ट है कि कुल व्यय के प्रतिशत के रूप में यह व्यय क्रमशः बढ रहा है। साधारण अनुभव भी यही बताता है कि वैज्ञानिक सेवाओं का विस्तार अधिक तेजी से किया जा रहा है, परन्तु हमे यह नही भूलना चाहिये कि इस व्यय के बढने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि भारत सरकार के कर्मचारियो के वेतनो और भत्तो मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—प्रथम, सरकार सभी स्तर के कर्मचारियों के वेतन-क्रम मे वृद्धि करती जा रही है और दूसरे, बढती हुई महँगाई के कारण वेतन और भत्तो मे वृद्धि आवश्यक हो गई है। आलोचना केवल यह है कि प्रशासकीय सेवाओ की कुशलता मे वृद्धि नही हुई है और सरकार इन सेवाओं के अनावश्यक विकास तथा उनकी दोवारगी को रोकने में असमर्थ रही है। प्रशासकीय सुधार आयोग ने इस दिशा मे मितव्ययिता पर विशेष बल दिया है।

(५) सामाजिक एवं विकास सेवायें—

इस शीर्षक मे निम्न का समावेश है—सिचाई एव बहुमुखी नदी योजनायें, बन्दरगाह प्रकाशगृह, विज्ञान, शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, ग्रामीण विकास, पशु सम्पत्ति, सहकारिता, उद्योग, हवाई सेवा प्रसारण, नागरिक निर्माण, विद्युत, सामुदायिक विकास, श्रम एव नियोजन आदि। स्वतन्त्रता के पश्चात् इस व्यय में निरन्तर वृद्धि होती गई है, जो सामाजिक और कल्याणकारी प्रगति की सूचक है। १९५०-५१ मे इस शीर्षक पर व्यय केवल ३९·५० करोड रु० था, किन्तु १९६९-७० के बजट में २७२ ३३ करोड रु० की व्यवस्था थी (बहुमुखी नदी योजनाओ के लिए व्यय ३७·९३ करोड रु० अलग से है)।

(६) मुद्रा और टकसाल का व्यय—

मुद्रा और टकसाल का व्यय भी महत्त्वपूर्ण नही है। बात यह है कि यह सरकार की आय का शीर्षक भी है, परन्तु आय को सकल (Gross) रूप में दिखाया जाता है, अर्थात्, आय और व्यय दोनो की कुल मात्रायें अलग-अलग दिखाई जाती हैं। १९६३-६४ के बजट मे इस मद पर कुल आय ५७ ३७ करोड रुपया और इस पर किये गये व्यय की मात्रा १६ ७६ करोड रुपया थी। इस प्रकार, १९६४-६५ के बजट मे इस मद से कुल ५२·११ करोड रु० की प्राप्ति का और १५·६३ करोड रुपये के खर्च का अनुमान था। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि सामान्यतया इस

और ग्र-कर-ग्रागम । दोनो प्रकार की ग्रागम के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि ग्राय के दृष्टिकोण से कर ग्रागम का महत्त्व बराबर बढ़ रहा है।

(I) कर-ग्रागम—

विभिन्न वर्षों मे कर-ग्रागम कुल-ग्रागम का ८०% से लेकर ६२% तक रही है, यद्यपि इसमें कभी-कभी परिवर्तन होते रहे हैं।

(१) निरकाम्य कर (Customs)—ये कर देश मे ग्रायात ग्रौर निर्यात की जाने वाली वस्तुग्रो पर लगाये जाते हैं। स्पष्टतः इनसे प्राप्त ग्राय देश के ग्रायात-निर्यात व्यापार के परिमाण, मूल्य एव सरक्षण की ग्रावश्यकतानुसार परिवर्तित होती रहती हैं। भूतकाल में ये कर केन्द्रीय सरकार की कर-ग्रागम (Tax Revenue) के प्रमुख साधन रहे हैं। इनसे प्राप्त ग्राय १६४२-४३ मे २५ करोड से बढकर १६५०-५१ मे १५७ १५ करोड, १६६०-६१ में १७०·०३ करोड रु० ग्रौर १६६५-६६ मे ५३८ ६७ करोड रु० हो गई। इसकी वृद्धि का सबसे पहला कारण तो यह है कि विदेशी व्यापार पर ग्रनेक प्रतिबन्ध लगाये गये। दूसरे, लड़ाई के उपरान्त व्यापार की मात्रा मे भी काफी वृद्धि हुई। तीसरे, ग्रौद्योगिक विकास के लिए व्यापार प्रतिबन्ध की सामान्य नीति ग्रपनाई गई। १६६८-६६ मे निरकाम्य करो से ग्राय प्राप्त ४४५ करोड़ रु० हो गई ग्रौर १६६६-७० के लिए बजट-ग्रनुमान ४३५ करोड रु० का है।

(२) ग्राय-कर (Income-Tax)—इस समय भारत सरकार की ग्राय के महत्त्वपूर्ण साधनो मे ग्राय-कर भी एक है। कालान्तर मे इस सूत्र से प्राप्त ग्राय बराबर बढ़ती गई है। १६४२-४३ मे इससे केवल ७५ करोड रुपये की ग्राय प्राप्त हुई थी, जो १६५०-५१ मे १३३ करोड रुपये, १६६०-६१ मे १६७ ३८ करोड रु०, १६६८-६६ मे ३३८ करोड रु० तक पहुँच गई। १६६८-६६ मे वित्त ग्रायोग की सिफारिशो के ग्राधार पर राज्यो को दिया गया ग्राय-कर का भाग १६४·५१ करोड रु० था। १६६६ ७० के लिए ग्राय-कर से केन्द्रीय सरकार को ३६२·३० करोड़ रु० प्राप्त होने का ग्रनुमान है। १६६३-६४, १६६७-६८, १६६८-६६ ग्रौर ग्रब १६७०-७१ के बजट में ग्राय-कर सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये।

उत्पादकता के दृष्टिकोण से निरकाम्य ग्रौर उत्पादन करो के पश्चात् इसी का नम्बर ग्राता है, यद्यपि यदि प्रमण्डल कर को भी सम्मिलित कर दिया जाय तो इसका स्थान सबसे ऊँचा रहता है। ग्रभी हाल मे सभी ग्राय-स्तरों के लिए कर की दरो मे कमी कर दी गई है। व्यक्तियो के लिए छूट की सीमा १६७०-७१ के बजट मे ५,००० रु० रखी गई है। ग्रनिवार्य बचत प्रणाली मे भी परिवर्तन किया गया है। स्मरण रहे कि इस कर से प्राप्त शुद्ध ग्राय का ७५% सङ्घ सरकार राज्य सरकारो मे बाँट देती है।

भारतीय ग्राय-कर की प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—(i) यह कर केवल शुद्ध ग्राय पर लगाया जाता है, ग्रर्थात् ग्राय मे से उसके उत्पन्न करने का व्यय घटा दिया जाता है। (ii) कर केवल ग्राय के नियमित प्रवाह पर ही लगाया जाता है। ग्राकस्मिक तथा ग्रनियमित ग्राय को ग्राय मे नही जोडा जाता है। (iii) कर भारतवासियो को ही देना पडता है। विदेशी ग्रपनी ग्राय के केवल उस भाग पर कर देते हैं जो भारत मे उत्पन्न की गई है। (iv) कर के लिये छूट की सीमा (१६७०-७१ के बजट मे) ५,००० रुपया रखी गई है।[1] इससे कम वार्षिक ग्राय कर-मुक्त होती है। कर एक मुक्त प्रगामी कर है, जिसकी दर ग्राय की प्रत्येक वृद्धि के साथ बढती जाती है। दरो के निर्धारण मे परत प्रणाली (Slab System) को ग्रपनाया गया है।

---

[1] विभिन्न परिस्थितियो मे, जैसे—एकाकी व्यक्ति, विवाहित, सयुक्त परिवार, बच्चों की सख्या ग्रादि पर भी यह निर्भर करती है या इसमे ग्रन्तर हो सकता है।

उत्पादन करो के लगाने के दो प्रमुख उद्देश्य होते है—प्रथम, सरकार के लिए आय प्राप्त करना और दूसरे, देश मे उत्पादन के नियन्त्रण द्वारा उपभोग पर नियन्त्रण रखना। भारत मे इस कर का इन दोनो ही उद्देश्यो की पूर्ति के लिए उपभोग किया जाता है, परन्तु आय प्राप्त करने का उद्देश्य अधिक महत्वपूर्ण रहता है। यही कारण है कि इस कर के परोक्ष और कुछ अंश तक अन्यायपूर्ण होते हुए भी सङ्घ उत्पादन करो का निरन्तर विस्तार होता जा रहा है। लगभग प्रत्येक अगले बजट मे कुछ नई वस्तुओ पर उत्पादन कर लगा दिये जाते हैं। इन करो के पक्ष म अनेक तर्क दिये जाते हैं—(i) ये कर परोक्ष कर हैं इसलिए अधिक असन्तोष उत्पन्न नही करते। (ii) ये कर करारोपित वस्तुओ की कीमतो की वृद्धि के रूप मे छोटी छोटी किश्तो मे चुकाये जाते हैं इसलिए सुविधाजनक होते हैं। (iii) इन करो को विलास की वस्तुओ तथा कम महत्वपूर्ण वस्तुओ पर लगाकर अथवा ऐसे करो की दरें ऊँची रख कर कुछ अंश तक न्यायशीलता भी प्राप्त की जा सकती है। (iv) इनसे हानिकारक वस्तुओ के उत्पादन और उपभोग को रोका जा सकता है। अन्त मे ये कर उत्पादक है क्योकि इनसे भारत सरकार की आय का विशाल भाग प्राप्त होता है।

किन्तु, इन करो के विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है —(i) ये कर अन्यायपूर्ण हैं क्योकि इनका समाज के निर्धन वर्गों पर अधिक भार पडता है। इन करो मे प्रगामी दरें भी लागू नही की जा सकती हैं। (ii) ये कर देश मे उत्पादन को हतोत्साहित करते हैं, इसलिए इनका उत्पादन और रोजगार पर बुरा प्रभाव पडता है। इस प्रकार ये आर्थिक विकास मे बाधक होते हैं। (iii) ये कर मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्ति रखते है क्योकि इनसे करारोपित वस्तुओ की कीमतें बढती हैं। (iv) इन करो मे लोच और लचक दोनो का अभाव होता है। दरो की वृद्धि से करारोपित वस्तुओ की कीमतें बढती हैं और उनकी मांग घटती है जिससे कर से प्राप्त आय के बढने के स्थान पर उल्टी घटने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। (v) इस प्रकार के कर जनता मे प्रजातन्त्रीय भावना और जागरूकता उत्पन्न नही करते हैं।

(४) निगम कर (Corporation Tax)—यह कर इसके वर्तमान रूप मे सन् १६३६ से चालू है। सभी भारतीय कम्पनियो को व्यक्तियों की भांति अपनी आय पर निर्धारित दरो मे कर देना पडता है। प्रमण्डल कर कम्पनी के सचालको को कुल शुद्ध लाभ मे से किसी प्रकार का लाभांश बांटे बिना सर्वप्रथम देना होता है। यह आय १६६८-६६ मे ३२२ करोड़ रु० थी। सन् १६६६-७० के बजट म इस शीर्षक से आय का अनुमान ३२६ २० करोड रुपया था।

(५) धन पर कर (The Wealth Tax)—इस कर का प्रस्ताव प्रथम बार सन् १६५७-५८ के बजट मे रखा गया था और यह कर अप्रैल सन् १६५७ से लागू है। इस कर को व्यक्तियो, सम्मिलित परिवारो तथा कम्पनियों सभी की पूंजी पर लगाया गया है। उपरोक्त तीनो वर्गों के लिए छूट की अलग अलग सीमाएँ रखी गई है। प्रत्येक बजट मे इस कर सम्बन्धी छूट की मात्रा मे प्राय. परिवर्तन हो जाता है।

निम्न प्रकार की सम्पत्ति को कर-मुक्त रखा गया है —(i) कृषि सम्पत्ति, (ii) धन अथवा दान देने वाले ट्रस्टो की सम्पत्ति, (iii) कला की वस्तुएँ, (iv) प्राचीन सग्रह, यदि वे बेचने के लिए जमा नही किए हैं, (v) बीमा पॉलिसी तथा स्वीकृत प्रावधान कोष (Provident Fund) मे जमा धन, (vi) व्यक्तिगत फर्नीचर, कार, यदि उनकी कीमत २५,००० रुपये से ऊपर नही है, (vii) पुस्तकें, हस्तलिपि आदि, यदि वे बेचने के उद्देश्य से जमा नही की गई हैं, (viii) भारत मे रहने वाले विदेशी नागरिकों का वह धन जो विदेशो मे स्थित है, इत्यादि।

इस कर को वित्तमन्त्री ने अनेक कारणो से उचित बताया था :—(i) यह कर आय

के छिपाने की सम्भावना घटाकर अपवंचन को कम करेगा, (ii) आय के वितरण की असमानताओं को कम करेगा, और (iii) देश को समाजवाद की ओर ले जाएगा, किन्तु व्यवहार में कर ने सरकार को थोड़ी-सी आय प्रदान करने के अतिरिक्त कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया है। १९६९-७० में इस शीर्षक से आय १२ करोड़ रु० होने का अनुमान है।

(६) व्यय पर कर (Expenditure Tax)—इस कर का प्रस्ताव १९५७-५८ के बजट में रखा गया था, परन्तु इसे अप्रैल सन् १९५८ में लागू किया गया। यह कर संसार के किसी दूसरे देश में नहीं है और हमारे देश में इसे प्रो० कालडोर (Nicholas Kaldor) की सिफारिश पर लगाया गया था। वित्तमन्त्री ने यह स्वीकार किया था कि यदि कर समुचित रीति से लगाया गया तो यह फिजूलखर्ची को रोककर बचत को प्रोत्साहन देगा। यह कर केवल उन व्यक्तियों तथा सम्मिलित परिवारों पर (कम्पनियों का व्यय कर-मुक्त रहेगा) लगाया गया जिनकी आय आय-कर के लिए ६०,००० रु० से कम नहीं है। व्यक्ति केवल उसी दशा में कर देने के योग्य समझा जाता था जबकि गत वर्ष की उसकी आय सभी प्रकार के आय-कर को निकाल कर ३६,००० रुपये से ऊपर हो। अनुमान था कि देश में लगभग ४,५०० व्यक्ति और १,५०० सम्मिलित हिन्दू परिवार इसकी सीमा में आयेंगे। छूट की सीमा परिवार के आकार पर निर्भर रखी गई थी। व्यक्ति तथा पत्नी के २४,००० रुपये तक प्रत्येक बच्चे के लिए ५,००० रुपये के व्यय पर कर की छूट दी गई थी। व्यय पर प्रगामी दरों में कर लगाया गया और व्यय की प्रत्येक वृद्धि के साथ कर की दर बढ़ाई गई।

इस कर का उद्देश्य कर-पद्धति में समानता लाना और हर प्रकार के कर अपवंचन को पकड़ना था। जो लोग आय-कर नहीं देते है वे भी धन का व्यय तो करते ही हैं। यदि धन व्यापार में लगाया जाता है, तो धन पर कर दिया जायगा और यदि व्यय किया जाता है तो व्यय पर कर दिया जायगा। इस प्रकार कर से बचने की सम्भावना कम रहेगी। इस कर से आय १९६०-६१ में ९० लाख रुपये, किन्तु १९६३-६४ में केवल १२ लाख रुपया हुई। १९६५-६६ में यह ७५ लाख रुपया थी। १९६६-६७ के बजट में इस कर को समाप्त कर दिया गया, क्योंकि इससे आय तो थोड़ी होती थी, किन्तु असुविधा बहुत होती थी। १९६९-७० में इस शीर्षक से केवल १ लाख रु० की आय बकाया है।

(७) उपहार-कर (The Tax on Gifts)—इस कर का सुझाव १९५८-५९ के बजट में दिया गया था और यह १ अप्रैल सन् १९५८ से लागू हुआ है। यह कर भी प्रो० कालडोर की सिफारिशों के आधार पर लगाया गया है, यद्यपि उनसे पहले करारोपण जाँच आयोग ने भी इसकी सिफारिश की थी। उपहार-कर करारोपण वर्ष से पहले वर्ष में दिये गये उपहार की कीमत पर लगाया जाता है। यह कर केवल उसी दशा में लागू होता है जबकि उपहार की कीमत ५,००० रुपये से ऊपर है और ५,००० रुपये से ऊपर की पहली परत (Slab) पर कर की दर ४ प्रतिशत रखी गई है। दर के निर्धारण के लिए उपहार की बाजार कीमत को लिया जाता है। कर के चुकाने का प्रथम उत्तरदायित्व उपहार देने वाले पर है, किन्तु प्राप्त करने वाला भी चुकाने के लिए उत्तरदायी रखा गया है।

कर का प्रमुख उद्देश्य अन्य प्रत्यक्ष करों से सम्बन्धित अपवंचन को रोकना है। कर व्यक्तियों, हिन्दू सम्मिलित परिवारों, कम्पनियों, फर्मों तथा संघों सभी को देना होगा, परन्तु सरकारी कम्पनियाँ और प्रमण्डल इस कर से विमुक्त होंगे। कुछ प्रकार के उपहारों के सम्बन्ध में कर से छूट दी गई है। निम्न प्रकार के उपहारों पर कर नहीं लगेगा :—(i) विदेशों में अचल सम्पत्ति, यदि उपहारदाता भारत का नागरिक नहीं है, (ii) बचत प्रमाण-पत्रों के उपहार, (iii) सरकार को दिये हुये उपहार, (iv) परोपकारी संस्थाओं का दान, (v) दान हेतु दिया हुआ उपहार,

यदि उसकी कीमत १,००० रुपये से ऊपर नहीं है, (vi) स्त्री आश्रितों को उपहार (१०,००० रुपये तक), (vii) पत्नी, सन्तान तथा आश्रितों को बीमा पॉलिसी तथा वार्षिकी का उपहार (१०,००० रुपये तक), (viii) रिक्थ-पत्र (Will) द्वारा उपहार, (ix) पत्नी को उपहार, यदि ऐसे उपहारों की कीमत १ लाख से ऊपर नहीं है। १९६४-६५ में इस मद से आय ३१० लाख रुपया हुई, किन्तु १९६५-६६ में केवल २०० लाख रुपया रह गई।

१९६६-६७ के बजट में दान-कर की दरें परिवर्तित कर दी गई। छूट की सीमा को ५,००० रु० से बढ़ाकर १०,००० रु० कर दिया गया है। १९७०-७१ के बजट में छूट की सीमा ५००० रु० कर दी गई है। १९६९-७० में १.७० करोड़ रु० ही आय होने की आशा है।

मृत्यु-कर और अफीम-कर आय के छोटे-छोटे साधन हैं। मृत्यु-कर १९५३ से लगाया जा रहा है। अफीम-कर भूतकाल में काफी आय प्रदान करता था, परन्तु इधर भारत सरकार की नीति अफीम उत्पादन को घटाने की रही है।

(II) अ-कर आगम (Non-tax Revenue)—

अ-कर आगम भारत सरकार के वाणिज्य उपक्रमों तथा विविध कार्यों द्वारा उत्पन्न होती है। इस आगम के प्रमुख शीर्षक निम्न प्रकार है :—ब्याज, नागरिक शासन, मुद्रा और टकसाल, नागरिक कार्य, डाक-तार विभाग, रेलें तथा आय के अन्य साधन।

(१) ब्याज से आय (Debt Services)—ब्याज से हमारा अभिप्राय उस आय से होता है जो सरकार द्वारा व्यक्तियों, कम्पनियों तथा संस्थाओं को दिये ऋणों से प्राप्त होती है। इस प्रकार के ऋण आर्थिक सहायता के दृष्टिकोण से बहुधा आवश्यक समझे जाते हैं। १९६९-७० में ५४० करोड़ रु० की आय होने का अनुमान है। यह १९६७-६८ में ४७५.३८ करोड़ रु० हुई थी।

(२) प्रशासनिक सेवायें—कुछ प्रकार की प्रशासनिक सेवाओं के लिए केन्द्रीय सरकार पारिश्रमिक प्राप्त करती है, जिसे प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत आय के रूप में दिखाया जाता है। इस शीर्षक का व्यय अलहदा दिखाया जाता है। इसी से यहाँ यह आय के रूप में दृष्टिगोचर होती है। १९६९-७० में इससे ९.७६ करोड़ रु० की आय होने की आशा है।

(३) सामाजिक एवं विकास सेवायें—पिछले कुछ वर्षों से प्रशासनिक सेवाओं तथा सामाजिक व विकास सेवाओं से प्राप्त हुई आय पृथक्-पृथक् दिखाई जाने लगी है। १९६८-६९ में इस शीर्षक से आय ३०.४७ करोड़ रु० थी और १९६९-७० में ३०.१७ करोड़ रु० की आय अनुमानित है। प्रशासनिक सेवाओं की भाँति इस शीर्षक का व्यय भी पृथक् से दिखाया जाता है, जो आय की अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

(४) मुद्रा और टकसाल—मुद्रा और टकसाल आय का एक नियमित तथा महत्त्वपूर्ण शीर्षक है। इस शीर्षक में उस आय को दिखाया जाता है जो मुद्रण (Coinage) तथा कागजी नोट को छापने से उत्पन्न होती है। इस शीर्षक के व्यय को पृथक् से दिखाया जाता है।

(५) सार्वजनिक निर्माण (Public Works)—इस शीर्षक के अन्तर्गत वह आय होती है, जो सरकार को केन्द्रीय लोक कार्य विभाग (Central P. W. D.) से प्राप्त होती है, यह वास्तव में एक व्यय का शीर्षक है। इसमें आय नाम-मात्र को ही प्राप्त होती है। १९६९-७० में इससे ७.५१ करोड़ रु० की आय होने का अनुमान है।

(६) डाक तथा तार—डाक-तार विभाग से प्राप्त केवल शुद्ध आय को ही बजट में दिखाया जाता है। यह विभाग अपने व्यय को उस आय में से पूरा करता है जो इसे जनता से प्राप्त होती है। जो कुछ आधिक्य बच रहता है और यह बहुधा कम ही होता है, वह सामान्य आगम में दे दिया जाता है। विगत वर्षों में विभाग के विस्तार के कारण व्यय बहुत बढ़ गया है।

१९६७-६८ के लिये विभाग के बजट में २२ करोड़ रु० के घाटे का अनुमान था। परिणामतः यह विभाग न केवल सामान्य राजस्व मे दिये जाने वाले अपने लाभांश की अदायगी नही कर सका, बल्कि इस वर्ष अपने कार्य-चालन व्यय की पूर्ति भी नही कर सका। अतः पिछले वर्षों की भाँति १९७०-७१ के बजट में भी डाक-दरों में वृद्धि की गई है।

(७) रेलें—रेलो की आय को भी शुद्ध (Net) रूप मे दिखाया जाता है। रेलवे-बजट पृथक् तैयार किया जाता है। रेलो की सकल आय मे से सभी प्रकार के व्यय को काटकर जो आधिक्य बच रहता है उसे सामान्य आगम में सम्मिलित कर दिया जाता है। रेलो के विस्तार के साथ ही साथ यह बढती गई है।

(८) आगम के अन्य शीर्षकों मे सरकारी भूमि और मकानो का लगान, जगलो से आय, पजीयन का अनुज्ञापन शुल्क, मोटर गाडियो के अनुज्ञापन शुल्क आदि सम्मिलित हैं।

भारत सरकार का सार्वजनिक ऋण एवं कुल दायित्व
(Public Debt and Total Liabilities)

सार्वजनिक ऋण—

भारत सरकार का बकाया सार्वजनिक ऋण १९५०-५१ के अन्त में २,०५४ करोड़ रु०, १९६५-६६ के अन्त मे ८,००९ करोड रु० और १९६८-६९ के अन्त में १२७३० करोड रु० था। १९६९-७० के लिये बजट-अनुमान १३८२३·९२ करोड रु० का था। सार्वजनिक ऋण को दो शीर्षको मे विभक्त किया जा सकता है :—(अ) भारत मे लिया गया ऋण, और (ब) विदेशों में लिया गया ऋण।

(१) **भारत मे लिया गया ऋण** (Debt raised in India)—इस शीर्षक के ऋण को दो उपशीर्षको—स्थायी एवं परिवर्तनशील ऋणो मे विभक्त किया जा सकता है।

स्थायी ऋणों (Permanent Debts) मे निम्न का समावेश है—चालू ऋण, इनामी बाड, १५ वर्षीय एन्युटी सर्टिफिकेट्स एव भुगतान होने की प्रगति मे ऋण। कुल स्थायी ऋण १९५०-५१ मे १,४४४·९५ करोड रु० से बढकर १९६५-६६ मे ३४९६·१३ करोड रु० हो गया। १९६९-७० के लिये बजट अनुमान ४०३०·३८ करोड़ रु० है, जिसमे चालू ऋण (Current Loans) ३९८५·२२ करोड़ रु०, प्राइज बाड १·७१ करोड़ रु०, १५ वर्ष-एन्युटी सर्टिफिकेट्स २·८१ करोड़ रु० तथा भुगतान की प्रगति मे ऋण ४०·६४ करोड रु० थे।

अस्थाई या परिवर्तनशील ऋण (Floating Debts) मे निम्न का समावेश है—ट्रेजरी बिल्स, विशिष्ट अस्थायी ऋण, ट्रेजरी डिपाजिट रिसीट आदि। कुल अस्थायी ऋण १९५०-५१ में ५७७·३५ करोड़ रु० था, किन्तु १९६०-६१ मे १,३८० ४७ करोड रु० और १९६५-६६ मे १९५२·५२ करोड़ रु० हो गया। १९६९-७० के लिये बजट-अनुमान ३२२३·७४ करोड़ रु० था जिसमे ट्रेजरी बिल्स २५३४·४१ करोड़ रु० और विशेष अस्थायी ऋण ६८९·३३ करोड़ रु० है।

भारत मे लिया गया कुल (स्थायी+अस्थायी) ऋण १९५०-५१ मे २,०२२·३० करोड़ रु० से बढकर १९६०-६१ मे ३,९७८·०० करोड़ रु० और १९६५-६६ मे ५,४१८·६५ करोड रु० हो गया। १९६९-७० के लिये (बजट) अनुमान ७२५४ १२ करोड रु० था।

(२) **विदेशों से ऋण** (Debt raised outside India)—विकास कार्यों के लिए, खाद्यान्न एव रक्षा प्रसाधनों के लिए भारत को विदेशो से भी पर्याप्त ऋण लेने पडे हैं जिनकी मात्रा निरन्तर बढ़ती गई है। यह ऋण विदेशी सरकारो से और अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं से प्राप्त हुआ है। १९५०-५१ के अन्त मे विदेशी ऋण ३२·०३ करोड़ रु० मात्र थे, जो १९५५-

५६ के अन्त मे ११३·६४ करोड रु०, १६६०-६१ के अन्त मे ७६०·६६ करोड़ रु०, १६६५-६६ के अन्त मे २५६०·६२ करोड रु० हो गये। १६६६-७० के लिए वजट अनुमान ६५६६·५० करोड़ रु० था।

सन् १६६६-७० में विदेशी ऋरण विभिन्न स्त्रोतो से (Budgeted) इस प्रकार अनुमानित था :—

		(करोड रु०)
सुरक्षा सर्टिफिकेट्स		०·०६
इङ्गलैंड		६२०·८१
अमेरिका :		
अमेरिका से ऋरण	१६१५·३८	
अमेरिकी आयात-निर्यात बैंक	१०३·११	
P. L. 480	१४६२·१७	
करेंन्सी क्रेडिट	१७५·००	३६८५·६६
रूस		३७२·३४
कनाडा		८५·८०
फैडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी		३७७·४७
जापान		२१३·६४
स्विटरजरलैंड		१८·२४
जैकोस्लावेकिया		५१·८४
यूगोस्लाविया		१२·५५
पोलैण्ड		१०·७१
आस्ट्रिया		१२·५५
नीदरलैण्ड्स		२८·८४
डेन्मार्क		७·६५
रोडेशिया		०·०६
न्यूजीलैंड		० ०३
स्वीडन		७ ७६
कुवैत		१७·८६
इटली		१ ४७
वहरीन		५·२६
फ्रान्स		३१·५१
वेल्जियम		२·७३
कातार		८·४३
ग्री[illegible]		०·०४
बल्गेरिया		०·०४
विश्व बैंक		२६५ ३६
अन्तर्राष्ट्रीय		६३८ ८५
नये क्रेडिट्स		८१ ८२
		६५६६ ५०

कुल दायित्व—

इस शीर्षक में हम सार्वजनिक ऋणों के साथ ही साथ लघु बचत योजनाओं के अधीन प्राप्त धन, अन्य अनिधिबद्ध ऋण, रिजर्व फण्ड एवं डिपाजिट्स सम्मिलित करते हैं।

(१) सार्वजनिक ऋण—इसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। यह कुल (देश + विदेश) १३८२३·६२ करोड़ रु० है।

(२) लघु बचत योजनायें (Small Savings Schemes)—इसमें डाकखाने के बचत बैंकों के डिपाजिट्स, पोस्ट ऑफिस सर्टिफिकेट्स, संचयी सावधि जमायें, ट्रेजरी बचत जमायें और डिफेंस डिपाजिट सर्टिफिकेट्स तथा अन्य लघु बचत सर्टिफिकेट्स सम्मिलित हैं। इनकी राशि १९५०-५१ में ३३६·८७ करोड़ रु० थी किन्तु १९५५-५६, १९६०-६१ और १९६५-६६ के अन्त में क्रमशः ५७६·०८ करोड़ रु०, ९६६·९९ करोड़ रु० और १५३८·२१ करोड़ रु० हो गई। १९६९-७० के लिए बजट अनुमान २०३९·३५ करोड़ रु० था।

(३) अनिधिबद्ध ऋण (*Other Unfunded Debt*)—इसमें प्रॉवीडेन्ट फण्ड्स, अमेरिकी सरकार के सम्यक् डिपाजिटों का विनियोग (Investment of deposits of U. S. Govt. counterpart funds), अनिवार्य जमा योजना के डिपाजिट्स, आय कर एन्यूटी डिपाजिट्स एवं अन्य मदें सम्मिलित हैं। इनकी कुल राशि १९५०-५१ के अन्त में १११·१५ करोड़ रु० से बढ़कर १९५५-५६, १९६०-६१ और १९६५-६६ के अन्त में क्रमशः १८२·६८ करोड़ रु०, ५५१·३७ करोड़ रु० और १२२४·५६ करोड़ रुपया हो गई तथा १९६९-७० के लिए बजट अनुमान १५४८·५३ करोड़ रु० का था।

(४) सुरक्षित कोष एवं जमायें (Reserve Funds and Deposits)—इसमें निम्न मदों का समावेश है—रिजर्व फण्ड्स एवं अन्य जमा खाते जिस पर ब्याज दिया जाता है तथा बिना ब्याज वाले स्थानीय कोषों की जमा, नागरिक डिपाजिट्स, अन्य डिपाजिट्स, संकटकालीन जोखिम बीमा फण्ड (माल एवं कारखाने) तथा अन्य खाते। इस शीर्षक के अधीन दायित्वों की राशि १९५०-५१ में ३६३·०५ करोड़ रु० थी, किन्तु १९५५-५६, १९६०-६१ और १९६५-६६ के अन्त में क्रमशः ३०१·६३ करोड़ रु०, २८३·९२ करोड़ रु० और ५६०·०५ करोड़ रु० हो गई। १९६९-७० के लिए बजट अनुमान ७५३·२८ करोड़ रु० था।

१९६९-७० (बजट अनुमान) में दायित्वों की राशि १८१६४·७८ करोड़ रु० थी, जबकि १९५०-५१ में यह केवल २,८६५·४० करोड़ रु० ही थी, अर्थात् भारत का सार्वजनिक दायित्व १८ वर्षों में लगभग ७ गुना हो गया है। पाकिस्तान की ओर हमारे ३०० करोड़ रु० निकलते चले आ रहे हैं, जो उसने अभी तक नहीं दिये हैं। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार का शुद्ध दायित्व १९६९-७० में १७८६४·७८ करोड़ रु० रहता है। इसमें आधिक्य पूंजी व्यय (Excess of capital outlay and loans over liabilities) जोड़ दिया जाय, जोकि १९६९-७० में ३११·९३ करोड़ रु० है तो भारत सरकार पर १८१७६·७ करोड़ रु० का पूर्ण और अन्तिम दायित्व है।

करारोपण व्यवस्था को युक्त संगत बनाने की आवश्यकता

कर आमदनी का अनुपात—

हर विपक्षी राजनीतिक दल किसी भी प्रकार का कर बढ़ाने का विरोध कर रहा है लेकिन सत्ताधारी दल का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह हर अतिरिक्त कर वृद्धि का औचित्य सिद्ध करे, विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जब कि अब तक जुटाए गए ससाधनों का उत्तम ढंग से उपयोग नहीं किया गया है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को १९६८-६९ में कुल मिला कर ३७०१ करोड़ रुपये की कर आमदनी हुई थी जो बढ़कर १९६९-७० में ३९९० करोड़

रुपये तक हो गई है। राष्ट्रीय आय की तुलना मे कर आमदनी का अनुपात १९६५-६६ मे १४·२ प्रतिशत था जो घटकर १९६७-६८ मे १२·४ प्रतिशत हो गया था लेकिन अब १९६८-६९ मे बढ़ कर १२·८ प्रतिशत हो गया है और १९६९-७० मे लगभग १३ प्रतिशत तक बढ जाने की आशा है। विकासशील देशो मे कर देय क्षमता के बारे मे प्रकाशित विश्व बैंक की एक रिपोर्ट मे लार्ड क्युलिन के १८९३ मे लिखे गये लेखो से एक उद्धरण दिया गया है कि 'कुशल प्रशासन वाले देश मे नागरिको की कुल आय के अनुपात मे कर ५ प्रतिशत से अधिक नही होने चाहिए, तो भी कुल आय के ५ से ७ प्रतिशत भाग तक कर आसानी से लगाए जा सकते हैं और उन्हे सरलता से समर्थन भी मिल सकता है। परन्तु १० प्रतिशत से ज्यादा लगाए गए कर भारी बोझा बन जाते हैं और दुख दायी तथा मनमाने उपायो का सहारा लिए बिना इस सीमा से अधिक कर लगाना सम्भव नही है। इसके बाद अगर करो को १५ या १६ प्रतिशत तक बढा दिया जाए तो उससे समाज को निश्चय ही भारी क्षति पहुँचती है, पूँजी तथा लोग करो की पकड से बाहर भागने लगते है और करो का वसूल करना लगभग असम्भव-सा हो जाता है। यदि कर सम्बन्धी नीति का उद्देश्य उत्पादनशील शक्तियो को तेजी से बढावा दना हो, तो उसके लिए करारोपण एक निश्चित सीमा से अधिक नही बढाया जाना चाहिए।

प्राय· होता यह है कि आर्थिक आधारों के बजाय राजनीतिक आधारो को प्राथमिकता दे दी जाती है। जहाँ तक कर देय क्षमता की सीमा निर्धारण करने का सम्बन्ध है, यह निश्चित है कि एक बार भी इस सीमा से अधिक कर लगाने से देश की आर्थिक व्यवस्था को वास्तविक अर्थों मे हानि पहुँचती है। जब समाज द्वारा कर रूप मे दिए गए अन्तिम रुपए की सामाजिक उपयोगिता की तुलना में कर राजस्व से खर्च किए गये अन्तिम रुपए की सीमान्त सामाजिक उपयोगिता बहुत कम हो जाती है तो कर नीति अर्थ-व्यवस्था के विकास मे बाधक बन जाती है।

आय-कर की वसूली में कमजोरियाँ—

दुनियां मे भारत एक ऐसा देश है जहां आयकर की वसूली मे सबसे अधिक कठिनाइयां आती हैं और शायद वसूली भी सबसे कम होने पाती है। इस कमजोरी को दूर करने के लिए गत एक-दो वर्षो मे अनेक प्रयत्न किए गए लेकिन सफलता नही मिल सकी। क्यो सफलता नही मिलती है, इस पर गम्भीरता के साथ विचार किया जाना चाहिए, ऐसा करते समय साधारण आय के व्यक्तियो को भी बुलाया जाना चाहिए और अंग्रेजी नही जानने वाले दो-चार व्यक्तियो को बुलाना चाहिए। तब मालूम होगा कि आय-कर वसूली की व्यवस्था मे क्या कमियां है। चूँकि आय-कर भरने के फार्म बहुत पेचीदे होते है, इसलिए आय-कर देने की क्षमता रखने वाले भी फार्म नही भरते है और सरकार छोटे दूकानदारो व अन्य धन्धा करने वालों के आयकर से वंचित रहती है। दो तीन वर्ष पहले आय-कर के फार्म ७-८ पृष्ठ के होते थे जो अब ४-५ पृष्ठ के कर दिए गए हैं लेकिन फिर भी वे फार्म इतने पेचीदे हैं कि उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों के लिए भी उन्हे भरना लगभग असम्भव है। आप अमरीका, जापान, फ्रांस, और चीनिया तक के आय-कर के फार्म को देखिए वे कितने सरल और स्पष्ट होते हैं। अमरीका का फार्म केवल एक ही पृष्ठ का होता है और उसे भरने मे न तो कोई कठिनाई है और न ही समय लगता है।

दूसरी कमजोरी यह है कि ये फार्म जब तक केवल अंग्रेजी मे ही छपते है जिसका परिणाम यह होता है कि अंग्रेजी नही जानने वाले छोटे दूकानदार जैसे गोश्त बेचने वाले, पान बेचने वाले, परचून वाले, हलवाई आदि लोग फार्म भरने का कष्ट ही नही करते और जब कोई आय-कर अधिकारी ऐसे दूकानदारों के पास पहुँच जाता है तब वह आय कर अधिकारी को किसी तरह खुश कर भेज देते हैं और सरकार को आय-कर नही मिलता। इसलिए आवश्यकता इस

बात यो है कि संविधान में स्वीकृत सभी चौदह भाषाओं में आय कर फार्म छपवाए जाएँ और उनकी भाषा सरल और स्पष्ट हो। यदि ऐसा हो जाय तो आय-कर देने वालों की संख्या बहुत कम परिश्रम के बहुत बढ़ जायगी। इसके अलावा यदि किसी व्यक्ति की आय में एक-दो सौ रुपए का फर्क भी हो तो करदाता को कष्ट नहीं दिया जाना चाहिए।

आमतौर पर ऐसा समझा जाता है कि सरकार आय-कर की बहुत कम वसूली कर पाती है। इसमें कमजोरी को दूर करने के लिए कानूनी विशेषज्ञों के अतिरिक्त व्यापारियों, उत्पादकों तथा साधारण लोगों से भी अवश्य सलाह ली जानी चाहिए। ऐसा अनुमान है कि यदि वसूली-व्यवस्था को सरल बनाया गया तो आय-कर की वसूली में प्रति वर्ष कम से कम पचास करोड़ रुपए की वृद्धि हो सकती है।

आय बढ़ाने का सबसे बड़ा साधन—

आय में वृद्धि करने के लिए अंग्रेजी शासन के जमाने से आ रहे करों में वृद्धि के घिसे-पिटे तरीकों को हमारी सरकार जितनी जल्दी बदल सके उतना अच्छा होगा। स्वतन्त्र भारत ऐसा कुशल व व्यावहारिक वित्तमन्त्री देखना चाहता है जो घाटे को पूरा करने के लिए करों में वृद्धि का सहारा न लेकर आधुनिक उपाय ढूँढ निकाले। देश में छोटे, मध्यम व बड़े उद्योगों के विकास के लिए हर तरह का प्रोत्साहन दे और उनके नाजायज तरीकों को रोकने के लिए कड़ा से कड़ा कदम उठाए। हर उत्पादक को बेईमान समझकर कोई भी कार्य करना न तो सरकार के लिए उचित है और न ही देश के लिए। जब तक कोई उत्पादक बेईमान प्रमाणित न हो जाय तब तक ईमानदार समझ कर ही उसके साथ व्यवहार करना चाहिए। उद्योगों के विकास पर ही देश का विकास निर्भर करता है और साथ ही बढ़ती हुई बेरोजगारी में कमी की जा सकती है।

गत १५ वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र में तीन अरब रुपए लगाए जा चुके हैं और चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक सम्भवतः यह रकम और भी बहुत बढ़ जाएगी। अभी सार्वजनिक क्षेत्रों से एक प्रतिशत भी शुद्ध लाभ नहीं हो रहा है जबकि व्यावसायिक आधार पर इनके संचालन करने से कम से कम दस प्रतिशत शुद्ध लाभ मिलना चाहिए। इस तरह से इन सरकारी कारखानों व कम्पनियों से दस प्रतिशत के हिसाब से तीन अरब तीस करोड़ रुपए का लाभ होना चाहिए। यह मान भी लिया जाए कि हर कारखाना या हर कम्पनी से हमेशा उतना लाभ नहीं हो सकता तथा कुछ बुनियादी कारखानों से उतना लाभ नहीं हो सकता तो भी दो या ढाई करोड़ रुपए तक का लाभ प्रति वर्ष होना चाहिए। यदि इतना ऐसा वातावरण पैदा होगा कि सार्वजनिक क्षेत्र में तेजी के साथ अधिक कारखाने व कम्पनियाँ खोली जाएँ जिनसे देश में उत्पादन में वृद्धि होगी और सरकारी आय में भी वृद्धि होगी और जनता हर साल नए करों के बोझ से मुक्त हो जायगी या जनता पर हर साल करों का बोझ कम लगेगा।

सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानों व कम्पनियों में जितनी चोरियाँ होती हैं उन्हें रोकने से ही कई करोड़ की सरकारी आय में वृद्धि हो जाएगी इसी तरह इनमें आवश्यकता से तीन या चार गुना कर्मचारी भर्ती किए जाते हैं। फिर खासतौर से उच्च अधिकारियों पर अनावश्यक खर्च बहुत होता है। इस तरह से इन कम्पनियों व कारखानों की कई अन्य कमजोरियाँ हैं जिन्हें दूर कर करने के लिए विशेष प्रयत्न किया जाना चाहिए।

चौथी योजना में कहा गया है कि इस काल में केन्द्रीय सरकार को अपनी आय में १,८०० करोड़ रुपए की वृद्धि चौथी योजना के लिए करनी चाहिए। गत वर्ष लगाए गए नये करों से पाँच वर्षों में केन्द्रीय सरकार की आय में ७५० करोड़ रुपए की वृद्धि होगी।

भूतलिंगम रिपोर्ट के सुझाव—

कर-व्यवस्था को युक्ति-संगत और सरल बनाने के सम्बन्ध मे वित्त-मंत्रालय के भूतपूर्व सचिव श्री एस० भूतलिंगम ने अपनी रिपोर्ट (१९६८) में निम्नांकित प्रमुख सुझाव दिये थे :—

(१) कराधान सरल बनाने की कोई भी प्रक्रिया तभी लागू की जा सकेगी जब नीति मे कुछ विशिष्ट परिवर्तन किया जाय। अन्धाधुंध ढंग से परिवर्तन से लाभ के बदले हानि होगी। राष्ट्रीय आय का आधा हिस्सा किसान पैदा करते हैं किन्तु संविधान में संशोधन किये बिना वे कर-व्यवस्था मे शामिल नही किये जा सकते।

(२) उन्होंने समस्त देशी कम्पनियों के लिए (चाहे कम्पनी अधि-नियन्त्रित हो या न हो किन्तु प्रशासनिक कारणों से देशी और विदेशी कम्पनियो मे फर्क रखना आवश्यक है) लाभ-कर की समान दर अपनाने तथा लाभांश कर और प्रतिकर समाप्त करने की सिफारिश की है। लाभांश-कर बजट मे खत्म किया जा चुका है। उन्होंने विकास छूट की समाप्ति की भी सिफारिश की है। लाभांश कर उन उद्योगों पर लागू करने मे क्या लाभ है, जिनके विस्तार से कोई विशेष लाभ नही होता। इस कर से विकास के लिए अधिक धन मिलता है, यह साबित नही होता, इसे हटा देना चाहिए। अति-कर की समाप्ति की भी सिफारिश की गयी है। कर के आधार को जहां तक सम्भव हो सके दीर्घकाल तक स्थिति रखना जरूरी है। हिसाब लगाने की प्रक्रिया को भी और अधिक सरल बनाना जरूरी है। गैर-वाजिब तथा फालतू खर्च को मंजूर नही किया जाना चाहिए। लाभ का हिसाब लगाते समय सभी लागतों के लिए छूट दी जानी चाहिए, चाहे वे तत्काल की हों अथवा नहीं।

(३) रिपोर्ट मे पूँजी व्यय की परिशोधन-व्यवस्था की सिफारिश के अलावा कहा गया है कि कम्पनियो के लिए कर के आधार के रूप मे पूँजी पर कर लगाना चाहिए तथा उनके लाभों पर कर की दर कम की जानी चाहिये। साथ ही लाभो का वितरण नही करने पर कम्पनियो पर अतिरिक्त कर लगाया जाना उचित होगा। सहकारी समितियो पर कराधान के विषय मे रिपोर्ट मे मानक-दर के अनुसार २५ हजार रुपये से अधिक लाभ पर कर लगाने की सिफारिश की गई।

(४) उत्पादन-शुल्कों की वर्तमान व्यवस्था चाय, कहवा, अनिर्मित तम्बाकू, चीनी, खनिज तेल व उसके उत्पादन, सूती कपडा, रेयन, सिगरेट, दियासलाई, लोहा और इस्पात, मोटर गाडियाँ, टायर व ट्यूब, सीमेंट तथा कागज पर लागू रखने की सिफारिश की गई। बाकी सब वर्तमान उत्पादन शुल्को को कम से कम पांच साल के दौरान खत्मकर उनकी जगह सभी उत्पादनो पर आम उत्पादन शुल्क (१०%) लागू किया जाना चाहिए। जिन वस्तुओं पर कभी भी कोई उत्पादन शुल्क नही लगा उन पर तुरन्त आम उत्पादन शुल्क लागू कर देना चाहिए। आम उत्पादन शुल्क से एकदम शुरू से ही ११५ करोड़ रुपये का राजस्व मिलने लगेगा। इसका आधार उत्पादन का मूल्य होगा।

(५) कर विकास के लिए साधन जुटाने का मुख्य जरिया है, किन्तु उसका अनुचित विस्तार उचित नही है। साथ ही बचत की वृद्धि का भी प्रयास किया जाना चाहिए। कर-नीति हर क्षेत्र मे आर्थिक नीति से मिली-जुली होनी चाहिए। बहुत छोटे करों को खानों पर कर लगाना सम्भव नहीं होगा।

(६) रिपोर्ट के अनुसार सीमा-शुल्क के क्षेत्र मे घड़ियाँ, जवाहरात, पेय शराबों और सुगन्धित द्रव्यों जैसी विलासिता की कुछ वस्तुओं को छोड कर बाकी वस्तुओं के लिए शुल्क की केवल तीन या चार ही दरें जरूरी हैं। सीमा शुल्कों की दरें भी तय कर देनी चाहिए। इसके झगडे सीमित हो जायेंगे। अब औद्योगिक उत्पादनो पर सामान्य उत्पादन शुल्क की एक जैसी दर

लगेगी । इसलिए उसी किस्म की वस्तुओं के आयात के सम्बन्ध मे आयात शुल्कों की सामान्य सूची तय कर देनी चाहिए । सीमा शुल्क की प्रति अदायगी के प्रशासन से काफी अधिक असन्तोष फैल रहा है । इसे सरल तथा सुविधाजनक बनाना होगा ।

(७) व्यक्तिगत आय पर छूट की सीमा चार हजार से बढा कर साढ़े सात हजार की जाय तथा हिन्दू अविभाजित परिवार की छूट की सीमा दस हजार से १०० हजार रुपया हो । इससे सात-आठ करोड रुपये की हानि होगी । साढ़े सात हजार रुपये से दस हजार रुपये तक की आय पर साढ़े सात प्रतिशत की दर की सिफारिश की गई । दस हजार से अधिक तथा १५ हजार रुपये तक की आय पर ७५० रुपया और उसके साथ १० हजार से अधिक रकम पर १० प्रतिशत के हिसाब से कर देना होगा ।

(८) कम्पनियों की सभी तरह की पूँजी पर चाहे मुनाफा हो या न हो एक प्रतिशत की दर से कर लगाया जाय । निगमो के लाभ पर कर मे १० प्रतिशत की कमी की जाय । उनके लाभ पर ४५ प्रतिशत की दर से कर वसूल किया जाय ।

(९) *सम्पत्ति-कर स्थायी तौर पर जारी रखने की सिफारिश की और सुझाव दिया* कि किसी व्यक्ति के मरने के बाद उसके परिवार के लोगों को जो कुछ मिलता है, उस पर कर लिया जाय जो कुछ मृत व्यक्ति छोड जाता है, उसे कर का आधार न बनाया जाय । दान-कर के क्षेत्र मे कर उस व्यक्ति से वसूल किया जाय, जिसे दान मिलता है ।

परीक्षा प्रश्न :

१. भारत मे सार्वजनिक व्यय की वर्तमान प्रवृत्तियो का उल्लेख कीजिये । भारतीय सार्वजनिक व्यय के बारे मे साधारणतया कौन से आरोप लगाये जाते हैं ?

२. भारतीय सङ्घ सरकार की आय का संक्षिप्त वर्णन कीजिए । इनमे कुछ पिछले वर्षों में हुए मुख्य परिवर्तन बताइये ।

3. Analyse the main sources of revenue and heads of expenditure of the Central Government in India.

४. भारत सरकार की आय के प्रमुख साधनो को बताइये । क्या आप इससे सहमत हैं कि परोक्ष करो पर अत्यधिक बल नही देना चाहिए ? कारण सहित उत्तर दीजिए ।

१३

केन्द्रीय सरकार का बजट (१९७०-७१)

(Budget of the Central Government, 1970-71)

भूमिका—

प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने २८ फरवरी को संसद में १९७०-७१ का जो बजट पेश किया उसमें उन्होंने विकास कार्यों पर अधिक व्यय करने, समृद्ध वर्ग पर कर-भार बढ़ाने तथा कमजोर वर्गों को राहत देने का प्रस्ताव करके उसे समाजवादी रंग दे दिया है।

नये बजट की पृष्ठ-भूमि

प्रधानमन्त्री ने अपने बजट भाषण में कहा कि —

(१) "यह सर्वमान्य है कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिरता तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उत्पादन-शक्ति का विकास न हो और राष्ट्रीय आय न बढ़े। यह भी सच है कि इस विकास और आय की वृद्धि को सदा बनाये नहीं रखा जा सकता जब तक कि समाज के कमजोर वर्गों की भलाई का उचित ध्यान न रखा जाये। अतः **इस प्रकार की नीतियाँ निर्धारित करना आवश्यक है, जिनमें विकास की आवश्यकता के साथ साथ जरूरतमन्दों और गरीबों की भलाई का भी ध्यान रखा गया हो।** ऐसे उपाय करने होंगे जो जन-कल्याण के साथ-साथ उत्पादन शक्तियों को भी तीव्र गति दें। जब-जब विकास और समभाव की आवश्यकताओं के बीच परस्पर जीवन्त सम्बन्ध टूटेगा तब तब गतिहीनता और अस्थिरता उत्पन्न होगी। इस गतिहीनता और अस्थिरता दोनों से बचने की आवश्यकता है। **बेरोजगारों के लिए पर्याप्त रोजगार** *के अवसरों की व्यवस्था करना विकास कार्यक्रम का एक अभिन्न अङ्ग है,* क्योंकि उपलब्ध साधनों का पूरा उपयोग न होने से हमारा काम नहीं चल सकता। **बागानी खेती के इलाकों के विकास की ओर अधिक** *ध्यान देने से न केवल ग्रामीण श्रेणियों में विषमताएँ दूर होंगी, अपितु यह कृषि के उत्पादन में लगातार वृद्धि करने के कार्यक्रम का एक अत्यावश्यक अंग है।* **आय उद्यमों और नये उद्यमकर्त्ताओं को प्रोत्साहन देने से** प्रतिभावान उद्यमकर्त्ता और प्रबन्धक उत्पन्न होंगे। शहरी सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व और शहरी जमीन की कीमतों पर कुछ रोक लगाये बिना **आवास और अन्य सुविधाओं का पर्याप्त विकास नहीं कर सकते।"**

(२) **"इस समय देश की आर्थिक स्थिति ऐसी है कि उसमें विकास को तेज करने के लिए पहले से अधिक जोरदार कोशिश करने की गुंजाइश और आवश्यकता है।** चौथी योजना के पहले वर्ष १९६९-७० में कुल मिलाकर ५ से ५½ प्रतिशत की दर से विकास होने की पूर्ण सम्भावना है। भारतीय कृषि का आधुनिकीकरण करने का कार्यक्रम भली-भाँति चल रहा है और इससे औद्योगिक उत्पादन में भी काफी प्रगति हुई है। हमारी विदेशी मुद्रा की राशि में भी वांछित वृद्धि हुई है और पिछले दो वर्षों में मूल्यों का सामान्य स्तर अपेक्षाकृत स्थिर रहा है। *कृषि, छोटे उद्योगों और निर्माण कार्यों में पिछले कुछ समय से काफी गैर-सरकारी पूँजी लगाई जा रही है।"*

(३) "आयोजना के लिए काफी अधिक परिव्यय की व्यवस्था करने के अलावा

१९७०-७१ के बजट में अनेक ऐसी योजनाओं के लिए विशेष व्यवस्था की गई है, जिनका उद्देश्य सामाजिक कल्याण के साथ-साथ भावी विकास की सम्भाव्यता को भी बढ़ाना है। उन्होंने कहा कि "सामाजिक न्याय और स्थिरता के साथ विकास की समस्याओं के प्रति इस ठोस एवं रचनात्मक दृष्टिकोण से ही हमने अभी हाल के महीनों मे अपनी आर्थिक नीति को एक नया बल और प्राथमिकता सहित महत्व प्रदान किया है। बैंको के जिस राष्ट्रीयकरण को इस सभा में और देश भर मे प्रबल समर्थन मिला है, उसकी बुनियाद जल्दी ही मजबूत हो जायेगी। आशा है, एकाधिकार अधिनियम और औद्योगिक लाइसेन्स नीति जाँच समिति की सिफारिशों पर सरकार द्वारा लिये गये निर्णय आर्थिक शक्ति को चन्द हाथो मे इकट्ठी होने से रोकेंगे और छोटे तथा नये उद्यमकर्त्ताओं को प्रोत्साहन देंगे। इसके साथ ही प्रतिष्ठित औद्योगिक कम्पनियाँ मूल (कठोर) क्षेत्र मे अपना काम कर सकेंगी और ऐसे उद्योग चलायेंगी जो निर्यात करने वाली वस्तुएं तैयार करते हैं। यह भी निर्णय किया गया है कि सरकार और वित्तीय संस्थाओं को चाहिए कि वे चुने हुए और पिछड़े इलाकों में औद्योगिक विकास के कार्य करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लें। चौथी योजना मे अब कुछ परिवर्तन किया जा रहा है जिससे सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से अत्यावश्यक जरूरतो को पूरा करने का विशेष ध्यान रखा जायेगा। इनमे से कुछ जरूरतें हैं— बारानी खेती के लिए उपयुक्त तकनीकें निकालना, भूमिहीन मजदूर के लिए रोजगार के अधिक अवसर प्रदान करना, पीने के पानी की पर्याप्त व्यवस्था करना और हमारे घने बसे हुए अनेक महानगरीय क्षेत्रो के वातावरण मे सुधार करना।"

(४) "संशोधित अनुमानो के अनुसार, अब १९६९-७० में केन्द्र स्तर पर २९० करोड़ रुपये का घाटा रहने का अनुमान है जो कि बजट अनुमानों मे २५४ करोड़ रुपये आंका गया था। केन्द्रीय करो और शुल्कों मे राज्य सरकारों के हिस्से के रूप मे दी जाने वाली रकम मे बजट अनुमानो की तुलना मे १०४ करोड़ रुपये की वृद्धि हो गई है। यह वृद्धि अधिकतर वित्त आयोग के फैसले के परिणामस्वरूप हुई है। राज्यों को उनके आयोजनागत कार्यक्रमो को पूरा करने के लिए सहायता देने के उद्देश्य से, आयोजना-भिन्न सहायता के रूप में २७५ करोड़ रुपये की काफी बडी व्यवस्था करनी पड़ी। आयात मे लगातार गिरावट आने के फलस्वरूप, आयात शुल्क की वसूली और विदेशी सहायता की प्राप्ति, बजट अनुमानो के अनुसार होने की सम्भावना नही है। दूसरी ओर, आय-कर और कर-भिन्न राजस्व तथा बाजार-ऋण के रूप मे जो रकमें प्राप्त होंगी वे अनुमानित रकम से अधिक होंगी।"

(५) "कई राज्यो के पास अब भी पर्याप्त साधन नहीं हैं और इससे उनको आयोजनागत लाभप्रद कार्यक्रम चालू करने मे कठिनाई हो रही है, इसलिए इन राज्यो की विशेष सहायता के लिए पहले से ही व्यवस्था कर देना समझदारी होगी। अतः कुछ राज्यों के साधनो की कमी को पूरा करने के लिए अगले वर्ष के बजट में १७५ करोड रुपए की व्यवस्था करने का प्रस्ताव है। राज्यों को दी जाने वाली आयोजनागत सहायता के रूप मे इस वर्ष ६१५ करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई थी। अगले वर्ष के लिए इस व्यवस्था को बढाकर ६३५ करोड़ रुपए किया जा रहा है। यदि राज्य सरकारें अतिरिक्त साधन जुटा सकेंगी और आयोजन-भिन्न खर्च पर पूरी निगरानी रख सकेंगी तो सम्भवत वे इस वर्ष के लगभग ९५० करोड रुपए के अपने आयोजना परिव्यय को अगले वर्ष लगभग ११५० करोड़ रुपये तक बढाकर उसमें २० प्रतिशत की वृद्धि कर सकेंगी।

केन्द्र-प्रायोजित योजनाओं के खर्च सहित केन्द्रीय आयोजना-परिव्यय को जो इस वर्ष १,२२१ करोड रुपए था, अगले वर्ष १,४११ करोड़ रुपये तक बढाने का विचार है। इस प्रकार इसमें

१५ प्रतिशत वृद्धि हो जायेगी । अगले वर्ष केन्द्र की आयोजना में कृषि और तत्सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिए ३६ करोड़ रुपये अधिक, परिवहन और संचार के लिए ८४ करोड़ रुपये अधिक, बिजली के लिए ३१ करोड़ रुपये अधिक और परिवार नियोजन सहित सामाजिक सेवाओं के लिए २८ करोड़ रुपये अधिक की व्यवस्था की गई है । संघीय राज्य क्षेत्रों के आयोजना परिव्यय को भी ६६ करोड़ रुपये से बढ़ाकर ७६ करोड़ रुपये किया जा रहा है ।"

(६) "केन्द्र राज्यों और संघीय राज्य-क्षेत्रों के आयोजना-परिव्यय को एक साथ मिलाकर देखा जाए तो पता चलेगा कि उसमें १९७०-७१ में, १९६९-७० के २२३९ करोड़ रुपये के मुकाबले, २,६३७ करोड़ रुपये का अनुमान किया गया है । *अर्थात् उसमें ४०० करोड़ रुपये की वृद्धि हो जाएगी । यह वृद्धि विकास की गति को बढ़ाने के अब जोरदार प्रयत्न करने के लिए की जा रही है ।* बजट में आयोजना परिव्यय के लिए की गई व्यवस्था के अलावा, उद्योग और कृषि-क्षेत्र को सहायता देने के लिए, अगले वर्ष वित्तीय संस्थाओं में भी पहले से अधिक साधन जुटाये जायेंगे । आशा है, आयोजना परिव्यय में पर्याप्त वृद्धि हो जाने से और संस्थागत वित्त की पहले से अधिक व्यवस्था किए जाने से आगामी वर्ष में रोजगार के अवसर भी पहले से अधिक बढ़ जायेंगे ।

आयोजनागत व्यवस्था और संस्थागत वित्त की सहायता के ग्रामीण विकास के जिन कार्यक्रमों पर विशेष बल दिया जाएगा उनको संक्षेप में एक ज्ञापन में प्रस्तुत किया गया है । इस ज्ञापन में कुछ ऐसी नई योजनाओं की भी रूपरेखा दी गई है जिनमें विकास के साथ साथ समाज के सबसे अधिक जरूरतमन्द वर्गों के कल्याण का भी पहले से अधिक ध्यान रखा गया है । *संक्षेप में —(i) छोटे किसानों की भलाई के लिए विशेष योजनायें ४५ जिलों में चालू की जा रही हैं और बारानी खेती की तकनीकों पर चल रहे अनुसन्धान कार्य में तेजी लाई जा रही है ।* (ii) कुछ चुने हुए ग्रामीण क्षेत्रों में, विशेषकर प्रायः अकाल-पीड़ित रहने वाले क्षेत्रों में निर्माण कार्यक्रमों के लिए अगले वर्ष के बजट में २५ करोड़ रुपये की व्यवस्था की जा रही है । यह रकम आयोजना से बाहर होगी और वर्ष के दौरान सूखे से राहत देने के लिए निर्धारित रकम का एक हिस्सा होगी (iii) एक नगर विकास निगम स्थापित किया जा रहा है जिसकी अभिदत्त शेयर-पूँजी १० करोड़ रुपया होगी । निगम अपनी शेयर-पूँजी की अनुपूर्ति के लिए बाजार से भी ऋण लेगा और गन्दी बस्तियों को हटाने, आवास-व्यवस्था करने तथा शहरी जमीन के विकास आदि के कार्यों के लिए वित्त की व्यवस्था करने के वास्ते एक आवर्तक निधि (रिवॉल्विंग फण्ड) स्थापित करेगा । (iv) पीने के पानी की व्यवस्था के लिए चौथी आयोजना में काफी बड़ी राशि रखी गई है । *मैंने मुख्यमन्त्रियों को लिखा है कि इस रकम का अधिकांश भाग, बड़े नगरों में पहले से मौजूद सुविधाओं को सुधारने की बजाय, उन क्षेत्रों में पानी की व्यवस्था करने पर खर्च किया जाए जहाँ यह मूल आवश्यकता आसानी से पूरी नहीं होती ।* (v) जो औद्योगिक कर्मचारी, अपने वेतन के ८ प्रतिशत की दर से कर्मचारी भविष्य निधि में अंशदान करते हैं उनको अधिक व्यापक रूप से लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से यह प्रस्ताव किया गया है कि नियोजकों (एम्प्लॉयर्स) और कर्मचारियों के अंशदान के एक भाग के साथ सरकार का अंशदान मिलाकर एक अलग निधि स्थापित की जाए जिसमें से कर्मचारी की मृत्यु हो जाने की सूरत में, परिवार-पेंशन और एकमुश्त रकम की भी अदायगी की जाएगी । (vi) केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों की पेंशन और परिवार-पेंशन की न्यूनतम राशि को बढ़ाकर ४० रुपया प्रति मास करने का प्रस्ताव है । *यह निर्णय उन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के मामले में लागू होगा जो इस समय पेंशन ले रहे हैं और जो भविष्य में पेंशन पाने के हकदार होंगे ।* औद्योगिक कर्मचारियों की जिस योजना का कुछ ऊपर उल्लेख किया गया है उसमें भी प्रति मास ४० रुपये की न्यूनतम परिवार पेंशन की व्यवस्था की गई है ।

(vii) बच्चों को स्कूलों में भोजन देने आदि की जो योजनाएँ इस समय चल रही हैं उनकी अनुपूर्ति करने की दिशा में एक विशेष कार्यक्रम के साथ प्रारम्भिक कदम उठाया जा रहा है जिसके अन्तर्गत ३ वर्ष तक की आयु के बच्चों की पोषण-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा किया जाएगा। आदिम जातीय विकास खंडों और शहरों के गन्दे मोहल्लों में रहने वाले बच्चों के लिए बजट में ४ करोड़ रुपये की व्यवस्था की जा रही है। इस प्रयोजन के लिए अतिरिक्त साधन जुटाने के लिए विशेष रूप से बनाई गई योजनाओं की सहायता से इस कार्यक्रम को समय-समय पर बढ़ाया जाएगा।

(७) "करों की वर्तमान दरों के अनुसार राजस्व की राशि जो इस वर्ष ३५८७ करोड़ रुपए थी, बढ़कर अगले वर्ष ३८६७ करोड़ रुपये हो जाने की सम्भावना है। राज्यों को सविधिक राशियों का अन्तरण (स्टेच्यूटरी ट्रांसफर) करने के बाद केन्द्र लिए उपलब्ध राजस्व की प्राप्तियाँ २९६५ करोड़ रुपये से बढ़कर ३१६७ करोड़ रुपये हो जाएगी। राजस्व-व्यय में भी अगले वर्ष १७६ करोड़ रुपये की वृद्धि होने का अनुमान है। इसमें से ६४ करोड़ रुपये का खर्च आयोजनागत योजनाओं पर और १०८ करोड़ रुपये का खर्च आयोजन-भिन्न मदों पर होगा। आयोजन भिन्न कुल व्यय को कम से कम करने का प्रयत्न किया गया है फिर भी उसमें ४ प्रतिशत की वृद्धि होगी।"

"सरकारी क्षेत्र के उद्योगों के विकास के लिए उपलब्ध आन्तरिक साधन जो इस वर्ष १६० करोड़ रुपये के थे, अगले वर्ष बढ़कर २०२ करोड़ रुपये के हो जायेंगे। अनुमान है कि अगले वर्ष १६२ करोड़ रुपये के बाजार ऋण मिल जायेंगे, इस वर्ष इन ऋणों की राशि १४१ करोड़ रु० थी। पी० एल० ४८० और अन्य खाद्य सहायता के अन्तर्गत प्राप्त होने वाली रकम, जिनमें राजस्व खाते की कुछ प्राप्तियाँ भी शामिल हैं। इस वर्ष की २३९ करोड़ रु० की राशि के मुकाबले, १९७०-७१ में घट कर १६१ करोड़ रु० हो जाने की सम्भावना है। अन्य मदों के अन्तर्गत प्राप्त होने वाली सहायता की रकम बहुत कुछ इस वर्ष जितनी ही रहेगी। आयोजना के लिए और आयोजना के बाहर राज्यों को विशेष सहायता देने के लिए की गई व्यवस्था समेत अन्य मदों को हिसाब में लेने के बाद पूंजी-खाते में ३८५ करोड़ रुपये का घाटा रहेगा। राजस्व खाते में १५ करोड़ रुपये का मामूली अधिशेष रहने की आशा है।"

(८) ग्रामीण क्षेत्रों में खुशहाली बढ़ रही है, इसलिए और आगे विकास करने के लिए ग्रामीण बचतों को जुटा कर काम में लाना बहुत जरूरी हो गया है। बचत जुटाने की ऐसी योजनायें अधिक आकर्षक होंगी जो किसी विशेष प्रयोजन के लिए हों। अन्त राज्य-प्रायोजित संस्थाओं द्वारा जारी किये जाने वाले ऋण-पत्रों (डिबेंचर्स) की एक आदर्श योजना तैयार की गई है और आशा है कि इस योजना के अनुसार जारी किये गये ग्रामीण ऋण-पत्र ग्रामीण बचतों को व्यवस्थित रूप से जुटाने के लिए एक अतिरिक्त माध्यम बन सकेंगे। बैंकों की शाखाओं को गांवों में खोलने से भी यही प्रयोजन सिद्ध होगा। आज भी हमारे डाकघर ऐसे बहुत से स्थानों में चल रहे हैं जहाँ निकट भविष्य में बैंक खुलने की सम्भावना नहीं है। अतः डाकघरों को भी अधिक बचत जुटाने के काम में लगाने की जरूरत है। इस समय हमारी छोटी बचत योजनायें जिनमें डाकघर बचत बैंक खाते भी शामिल हैं, करों में कई प्रकार की रियायतों के साथ बचत करने की सुविधायें प्रदान करती हैं। किन्तु, कर सम्बन्धी इन रियायतों में ग्रामीण जनता या कम आय वाले वर्गों के लोगों को कोई खास दिलचस्पी नहीं है क्योंकि इन लोगों को अधिकतर आयकर नहीं देना पड़ता। इन वर्गों के लिए तो बचत कर सम्बन्धी रियायतों के साथ ब्याज की नीची दर की बजाय ब्याज की ऊँची दरें अधिक आकर्षक होंगी। इसलिए बचत-पत्रों, आवर्ती जमा और सावधि जमा की ऐसी नई योजना चालू करने का विचार है जिन पर कर की विशेष रियायतें न होकर ब्याज की दरें पहले से कुछ ऊँची होंगी। कर मुक्ति की वर्तमान सुविधायें भी ब्याज की थोड़ी-सी ऊँची दरों के साथ चालू रहेंगी। सामान्य भविष्य निधि और सार्वजनिक भविष्य निधि के अभिदानों पर ब्याज की दर में भी कुछ वृद्धि की जायेगी। हमारे कर सम्बन्धी ढाँचे में कुछ परिवर्तनों का उल्लेख करने के लिए मुझे बाद में मौका मिलेगा। ये परिवर्तन अधिक बचतों को बढ़ावा देने के उद्देश्य से किये जा रहे हैं।

राजस्व बजट (१९७०-७१)

(करोड रु०)

रेवेन्यू प्राप्तियाँ	१९६८-६९	१९६९ ७० (संशोधित)	१९७० ७१ (ब० अ०)
१ आय और व्यय पर कर	४८३ ८	४२६ ८	४३०·८
२ सम्पत्ति एवं पूँजी लेन-देन पर कर	२१ ६	२३ ३	२७ ०
३ वस्तुओं और सेवाओं पर कर	१,५१३ ५	१,६६० ४	१,८३४ १
४ कुल आय कर (I+II+III)	२,०१८·६	२,११० ५	२,३६१ ६
५. प्रशासनिक प्राप्तियाँ	५७ ६	६७ ५	८०·०
६. सार्वजनिक उपक्रम (१+२+३+४) (शुद्ध अंशदान)	१०५·१	११३ ८	११८ ८
१. रेलवे	२८ ४	२६ २	२८ ८
२. डाक व तार	२ ६	२ ६	३ २
३. करैंसी व टकसाल (शुद्ध)	६१ १	६७ ६	७२·१
४ अन्य (ब्याज सहित)	१३ ०	१३ ८	१३.६
७. अन्य आय	५८७ ३	६४६ ८	६७५ ८
८. कुल आगम (४+५+६+७)	२७६८ ६	२६३८ ६	३२६५·७

रेवेन्यू भुगतान	१९६८ ६९	१९६९-७० (संशोधित)	१९७०-७१ (ब० अ०)
१. करों का संग्रह	३८ ७	४३ ६	४८ ५
२ नागरिक प्रशासन	१५३ ५	१७७ ३	१८६·७
३ सुरक्षा सेवायें (शुद्ध)	६२६ १	६७६·२	१०१७·८
४ ऋण सेवायें	५२८ ०	५६८ ६	५६७·५
५ पेंशन भोगी पर्श आदि	१२ २	१३ १	१४·६
६. असाधारण व्यय	११ ६	५ ८	६·६
७ विविध	१८१ ०	२२५ १	२०१ ७
८. सामाजिक एवं विकास व्यय	२८४ ८	३२६ ४	३६७ ६
९ केन्द्र एवं राज्यों के मध्य अंशदान व समायोजन	५४६ ७	६०२ ८	६४६ ६
१० अन्य व्यय	४ ३	४ २	४ ७
११. कुल व्यय	२६८७ ६	२९४९·५	३१२६·२
+ आधिक्य — घाटा	+८१·०	—१०·६	+१३६·५

पूँजी बजट

(करोड़ रु०)

पूँजी खाते के भुगतान

	(1)	(2)	(3)
आयोजना व्यय	४७८·६०	४८६·२४	५२४·३५
रक्षा सम्बन्धी व्यय	१२४·२२	१३५·४२	१३३·६७
रेलों का पूँजी परिव्यय	१३२·६०	१२४·८६	१५०·००
डाक-तार पूँजी परिव्यय	३४·१६	३५·९६	३५·००
ऋण और अग्रिम			
१. राज्य और संघीय राज्य क्षेत्र	७९३·७४	१०५७·९७	८७८·२५
२. अन्य	४५६·६०	४२४·२३	४६७·१९
जोड़	२०१९·९२	२२५४·६८	२१८८·४६
	२९०·०४	२७९·१३	३६४·७५
	२४३·६८	२९०·११	—३५०·००
			+१२४·७५*
			—२२५·००

पूँजी खाते की प्राप्तियाँ

	(1)	(2)	(3)
बाजार ऋण (वास्तविक)	१०६·००	१४१·३१	१६१·७०
विदेशी सहायता (वास्तविक) (पी० एल० ४८० के भिन्न)	४६७·४०	४००·४६	३९९·७८
पी० एल० ४८० सहायता △	२१५·११	२०५·९३	१३२·००
ऋण परिशोध	७४५·००	८८०·००	८२५·००
अन्य प्राप्तियाँ	१९६·३७	३४७·८१	३०४·९९
जोड़	१७२९·८८	१९७५·५१	१८२३·७०

* बजट प्रस्तावों का प्रभाव।

△ इसके अतिरिक्त पी० एल० ४८० और अन्य खाद्य सहायता के रूप में राजस्व खाते में ३३ करोड़ रुपये संशोधित अनुमान में और बजट अनुमान में २९ करोड़ रुपए शामिल होंगे।

१९७०-७१ के बजट के कर-प्रस्ताव

नये वर्ष के बजट मे अतिरिक्त कराधान के प्रस्तावित उपायो से कुल मिलाकर लगभग १७० करोड रु० का राजस्व प्राप्त होगा, जिसमे से १२५ करोड रु० केन्द्र के लिए और ४५ करोड रु० राज्यो के लिए होगे। अगले वर्ष केन्द्र के बजट मे २२५ करोड रु० का घाटा रहेगा जबकि चालू वर्ष १९६९-७० मे (सशोधित अनुमानानुसार) २९० करोड रु० का घाटा रहा है। श्रीमती गाधी ने कहा कि यदि विकास के अवसरो का लाभ उठाना है, तो इस प्रयोजन के लिये साधन जुटाने मे कोई कसर नही रखनी होगी अन्यथा आगामी वर्षों मे और भारी बोझ उठाना पडेगा। नये कर-प्रस्तावो का साराश नीचे प्रस्तुत किया गया है .—

(1) प्रत्यक्ष कर—

(१) ४० हजार रु० से अधिक की निजी आय पर आय-कर की दर मे उत्तरोत्तर वृद्धि होगी और २ लाख रु० से अधिक आय के उच्चतम स्तर पर वह ८५ प्र० श० रहेगी। इस समय यह दर २½ लाख रु० तक ७० प्रतिशत और २½ लाख रु० से अधिक पर ७५ प्र० श० है। मूल आय-कर पर १० प्र० श० अधि-भार जोडकर २ लाख रु० से अधिक के आय-स्तर पर अधिकतम दर ९३·५ प्रतिशत हो जायेगी जो इस समय २½ लाख रु० से अधिक के स्तर पर ८२·५ प्रतिशत है। इस समय आय-कर पर छूट की सीमा आश्रितो की सख्या के अनुसार ४,००० रु० से ४,८०० रु० तक है। अब आश्रितो की सख्या से सम्बद्ध छूट-सीमा समाप्त की जा रही है। इसके बजाय सभी व्यक्तियो को, चाहे वे विवाहित हो या बच्चे वाले हो, ५००० रु० की समान छूट-सीमा मिलेगी। इससे हिसाब-किताब मे भी सरलता होगी। साइकिलो और मोटर-साइकिलो तथा सार्वजनिक सवारी आदि से काम पर जाने वाले कर्मचारियो की आय-कर के लिए ५ रु० मासिक के स्थान पर २० रु० मासिक की छूट मिलने लगेगी। इसी प्रकार मोटर-कारो से दफ्तर जाने वाले कर्मचारियो को २०० रु० मासिक की छूट मिलेगी, चाहे इनका वेतन कितना ही हो।

(२) साधारण सम्पत्ति की वर्तमान दरें (न्यूनतम ०·५% और अधिकतम ३%) बढाकर १ से ५% तक कर दी जायेगी। एक लाख रुपए तक के मूल्य के एक रिहायशी मकान पर सम्पत्ति कर नही लिया जायगा चाहे ऐसा मकान किसी भी शहर मे क्यो न हो। ५ लाख रुपये से ऊपर के मूल्य की शहरी जमीनो और इमारतो पर ५ प्रतिशत की दर से, १० लाख रु० से ऊपर के मूल्य की शहरी सम्पत्ति पर ७ प्रतिशत की दर से एक कर लगाने का प्रस्ताव है और इसमे शहर की आबादी के आधार पर कोई भेद-भाव नही किया जाएगा। इसके लिए शहरी क्षेत्र की परिभाषा की सीमा भी बढाई जा रही है।

(३) शहरी क्षेत्रो मे स्थित कृषि भूमि के हस्तान्तरण या बिक्री होने वाले पूँजीगत लाभो पर कर लगाया जायगा, जिससे कम्पनियाँ आदि करो की चोरी न कर सकें। निजी न्यास (ट्रस्ट) बनाकर करो की जो चोरी की जाती है, उसे भी रोकने के उपाय बजट मे किए गए है।

(४) दान-कर (गिफ्ट टैक्स) की दरो मे परिवर्तन किया जा रहा है और अब दान के लिए छूट की रकम १० हजार रु० वार्षिक से घटाकर ५ हजार रु० हो जाएगी।

(५) यूनिट ट्रस्ट, भारतीय कम्पनियो अल्प बचत योजनाओ, डाक-घर जमा खाता तथा बचत खातो, केन्द्रीय और राज्य सरकारो की प्रतिभूतियो (सिक्यूरिटीज), ग्रामीण ऋण-पत्रो, बैंकों, सहकारी बैंको, भूमि-बन्धक या भूमि-विकास बैंको और नई अल्प बचत योजनाओ से प्राप्त ३ हजार रु० तक की आय पर आय-कर नही लगेगा। इसके अलावा अल्प बचत योजनाओ और डाकघर बचत खाते के सम्बन्ध मे प्राप्त कर सम्बन्धी विशेष रियायतें जारी रहेगी।

(II) अप्रत्यक्ष कर—

(१) चाय पर से निर्यात शुल्क पूरी तरह हटा दिया जायगा। जूट का निर्यात शुल्क ५०० रु० प्रति मीट्रिक टन किया जा रहा है।

(२) टाइपराइटर, मशीनो, कम्प्यूटर आदि कार्यालय की मशीनो, धातु के पात्र, स्पार्किंग प्लग, स्टेनलैस स्टील के ब्लेड, स्लाटेड एँगल, लोहे की तिजोरियो और सेफ डिपाजिट वालो पर १० प्रतिशत मूल्यानुसार उत्पादन शुल्क लगाने का प्रस्ताव है। बिक्री के लिए वस्तुएँ रखने के काम मे आने वाले धातु पात्रो (मेटल कण्टेनर) पर भी उत्पादन शुल्क लगाने का प्रस्ताव है।

(३) व्हिस्की, ब्रांडी, जिन और अंगूरी शराब (वाइन) पर शुल्क बढाने का प्रस्ताव है।

(४) आयात प्रतिस्थापन (इम्पोर्ट सबस्टीट्यूशन) को बढावा देने के लिए मशीनरी पर आयात शुल्क २७१ प्रतिशत मूल्यानुसार से बढाकर ३५ प्रतिशत मूल्यानुसार किया जा रहा है। मोटर-गाडियो के पुर्जो, औषधीय रसायनो और बिना बिजली के यन्त्रो, उपकरणो और औजारो पर लगे आयात शुल्क मे १० प्रतिशत मूल्यानुसार वृद्धि होगी। कुछ प्रकार के प्लास्टिक सामान और नाइक्रोम तथा अन्य प्रकार के बिजली के प्रतिरोधी (रेजिस्टैंस) तारो पर शुल्क ६० प्रतिशत बढाकर १०० प्रतिशत मूल्यानुसार कर दिया जायगा।

(५) वनस्पति रसो, कृत्रिम सिरपो और शर्बतो, निर्जलित मटरे माल्टेड खाद्य पदार्थों, तुरत (इस्टेण्ट) काफी, तुरत चाय, जैली क्रिस्टलो, कस्टर्ड और आइसक्रीम पाउडरो, बिस्कुटो, कोको पाउडर, पेय चाकलेट, पास्चुरीकृत मक्खन, चीज, एयोटेड जलो, ग्लूकोज और डेक्ट्रोज पर भी अब १० प्रतिशत मूल्यानुसार शुल्क लगाया जाएगा। तैयार और परिरक्षित (प्रीजर्व्ड) खाद्य पदार्थों मे से बच्चो के खाद्य पदार्थ (बेबी फुडस्) और ब्राड वाला देशी घी पूरी तरह से कर-मुक्त रहेगे।

(६) चमकदार टाइलो और सेनीटरी सामान पर लगे शुल्क को क्रमश. १० प्रतिशत और १५ प्रतिशत से बढा कर २५ प्रतिशत कर दिया जाएगा। कमरा वातानुकूलको (रूम एयरकण्डीशनर) पर लगे शुल्क को ४० प्रतिशत से बढ़ाकर ५३⅓ प्रतिशत कर दिया जाएगा और १६५ लिटर से अधिक की क्षमता वाले बडे रैफ्रिजिरेटर के सम्बन्ध मे भी ऐसी ही वृद्धि की जा रही है। रेफ्रिजरेटर, वातानुकूल सयन्त्रों और मशीनो के पुर्जों पर लगने वाला शुल्क भी ५३⅓ प्रतिशत से बढाकर ६६⅔ प्रतिशत किया जा रहा है।

(७) टैलीविजन सैटो को दी गई छूट वापस ली जा रही है और उन पर मूल्यानुसार २० प्रतिशत शुल्क लगाने का प्रस्ताव है। इन उपायो से राजस्व मे २·२४ करोड़ रु० का लाभ होगा।

एल्युमिनियम के मामले मे इस समय मात्रानुसार शुल्क (स्पेसिफिक् ड्यूटी) लगते है, उनके बदले अब मूल्यानुसार शुल्क लगाए जा रहे हैं। इस परिवर्तन से ४·१० करोड़ रु० का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा।

(८) दो डेनियर या उससे कम के पोलिएस्टर धागे पर लगे बुनियादी उत्पादन-शुल्क को २१ रु० प्रति किलोग्राम से बढ़ा कर २५ रु० प्रति किलोग्राम करने का और विशेष उत्पादन-शुल्क मे भी तदनुसार वृद्धि करने का प्रस्ताव है। नकली रेशम के कपडो, जिनमे रेयन, नायलोन, टेरीलीन, टेरीकोट और टेरीवूल के कपडे शामिल हैं, पर इस समय ७८ पैसे प्रति वर्ग मीटर के हिसाब से साकेतिक (नोमिनल) शुल्क लगता है। उसके स्थान पर ३ प्रतिशत से १० प्रतिशत तक मूल्यानुसार शुल्क लगाया जा रहा है।

(९) मोटर स्प्रिट पर लगे शुल्क मे १० पैसे प्रति लिटर, बढ़िया किरोसीन पर

लगे शुल्क मे २ पैसे प्रति लिटर और मिट्टी के तेल पर लगे शुल्क मे २ पैसे प्रति लिटर की वृद्धि करने का प्रस्ताव है।

(१०) सिगरेटो पर, मूल्य खण्डो (वेल्यू स्लैब) के आधार पर ३ प्रतिशत से २२ प्रतिशत तक मूल्यानुसार शुल्क वृद्धि की जा रही है। सस्ती किस्म की सिगरेटो का मूल्य १० सिगरेट के प्रत्येक पैकेट पर केवल एक या दो पैसे बढ़ेगा। इस उपाय से १३.५० करोड रु० का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा।

(११) निर्यात को बढावा देने के लिए चाय पर उत्पादन शुल्क बढ़ाया जा रहा है। प्रथम क्षेत्र (जोन) मे उत्पन्न खुली चाय पर लगे शुल्क मे कोई वृद्धि नही होगी और द्वितीय क्षेत्र मे उत्पन्न चाय पर केवल १० पैसे प्रति किलो की वृद्धि होगी। अन्य क्षेत्रो मे यह वृद्धि प्रति किलो ४५ पैसे से १ रु० तक की भिन्न-भिन्न दरो से होगी। निर्यात पर रिबेट देने के बाद ७.८७ करोड रु० का अतिरिक्त राजस्व मिलेगा।

(१२) खुले बाजार की चीनी पर इस समय लग रहे २३ प्रतिशत मूल्यानुसार शुल्क को बढ़ा कर ३७½ प्रतिशत मूल्यानुसार करने का प्रस्ताव है। कन्ट्रोल की चीनी के मामले मे, जिसकी मात्रा कुल चीनी की मात्रा का ७० प्रतिशत होती है, २३ प्रतिशत की वर्तमान शुल्क दर को थोडा सा बढा कर २५ प्रतिशत कर दिया जाएगा। खाडसारी के शुल्क की दरो को १२½ प्रतिशत से बढा कर १७½ प्रतिशत किया जा रहा है। अनुमान है कि चीनी से लगभग २८.५० करोड रु० का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा।

(१३) टीन की प्लेटो पर लगे शुल्क की साविधिक (स्टेट्यूटरी) दर ३७५ रु० प्रति मीटर टन से बढ़ा कर ४०० रुपए प्रति मीटर टन की जा रही है।

(१४) पार्सल, रजिस्ट्री फीस, वी० पी० वस्तुओ के प्रेषण, मनीआर्डर शुल्क, तार-मनीआर्डरो के अनुपूरक शुल्क और पुस्तक पैटर्न और नमूना पैकिटो के सम्बन्ध मे डाक-शुल्क की दरें कुछ बढ़ाई जा रही हैं। फोनोग्राम और बधाई-तार भेजने का शुल्क भी कुछ बढ रहा है।

एक तिमाही मे पहली ७५० टेलीफोन-कालो से ऊपर की कालो पर शुल्क १५ पैसे प्रति काल की बजाय २० पैसे प्रति काल किया जा रहा है। पोस्टकार्डों और अन्तर्देशीय पत्र-कार्डों जैसी चीजो की कीमत में कोई परिवर्तन नही किया जा रहा है। मनीआर्डरो के मामले मे भी १०० रु० तक कोई वृद्धि नही की जा रही है।

बजट प्रतिक्रियायें

बजट पर जन साधारण की प्रतिक्रिया—

मध्यम वर्ग को प्रधानमन्त्री द्वारा दी गई रियायतो की अपेक्षा बजट प्रस्तावो के सम्भावित प्रभावो की चिन्ता अधिक सता रही है। चीनी, मिट्टी के तेल और सिगरेट पर जो कर बढ़ाया गया है उसका लोग विरोध कर रहे हैं। केन्द्रीय सरकार के एक कर्मचारी ने जल्दी मे अनुमान लगाकर कहा कि उसे प्रति मास २५ से ५० रु० तक अधिक व्यय करना होगा। उसने कहा कि यह साधारण आदमियो का बजट नही है। एक युवक ने कहा कि टेरेलीन के कपड़े अधिक महंगे हो जाएंगे जबकि टेरेलीन ऐश-आराम की चीज नही है। कुछ लोग खर्चे बढ़ने की चिन्ता कर रहे हैं। एक महिला ने इस बात पर सन्तोष प्रकट किया कि महिला प्रधानमन्त्री ने शृंगार की वस्तुओ को छोड दिया है। एक व्यक्ति ने कहा कि चाय का दाम बढ जायगा तो एक चाय के छोटे दूकानदार ने कहा कि कौन इतनी महगी चाय पियेगा मुझे तो किसी और धन्धे मे लगना होगा।

राजनैतिक नेताओं की प्रतिक्रियायें—

"पहली बार समाजवादी दिशा मे प्रगति का बजट बनाया गया है।" इन शब्दो मे

अनेक नेताओं ने बजट पर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट की। किन्तु अनेक नेताओं ने आलोचना भी की। इनका सार नीचे दिया गया है :—

सत्तारूढ़ कांग्रेस—(१) नई कांग्रेस के अध्यक्ष श्री जगजीवन राम ने कहा कि केन्द्रीय सरकार ने जो बजट पेश किया है, वह इस बात का सबूत है कि सरकार समाजवाद की दिशा में आगे बढ़ रही है। (२) **श्री अर्जुन अरोड़ा** : एक सही दिशा में कदम है हालांकि कर-आय वालो को राहत देने के लिए और भी कदम उठाए जा सकते थे। (३) **श्री के० आर० गणेश** : आज की स्थिति मे बोझ उन पर डालने का साहसपूर्ण कदम है जो उसे उठा सकते हैं। (४) **श्री चन्द्रशेखर** : बजट बदलते समय के साथ आगे बढ़ने के हमारे सकल्प की अभिव्यक्ति है। और प्रधानमन्त्री हमारी बधाई की पात्र है और इस साहस के लिए उनकी प्रशंसा की जानी चाहिए। (५) **चौधरी रणधीरसिंह** : सही अर्थों मे पहली बार समाजवादी बजट आया है। शराब और सिगरेट पीने वालो पर कर बढ़ाने मे प्रसन्न हूँ। (६) **श्री मोहन धारिया** : देश के आर्थिक इतिहास का समाजवादी अध्याय शुरू हुआ है।

विपक्ष कांग्रेस पुरानी—(१) विपक्ष के उपनेता श्री गुरुपद स्वामी ने बहस शुरू करते हुए बताया कि सूखी खेती और बच्चो के लिए पौष्टिक आहार जैसे तथाकथित समाजवादी कार्यक्रम नए नही हैं, बल्कि वर्तमान कार्यक्रमो के तारतम्य है। उन्होने कहा कि प्रधानमन्त्री ने चोर दरवाजे से अपने बजट मे गरीब और मध्यम वर्ग के लोगो के कन्धो पर भार डाला है। श्री स्वामी ने कहा कि यह अचम्भे की बात है कि प्रधानमन्त्री जो पिछले कुछ महीनो से बार-बार समाजवाद की बातें कर रही हैं, ने देश मे बढ़ती हुई असमानताओं को रोकने के लिए प्रत्यक्ष करो का इस्तैमाल नही किया। इसलिए इस बजट को एक प्रगतिशील बजट कहना झूठ बोलना है और उसे समाजवादी बजट बताना एक बड़ा झूठ है। उन्होने आरोप लगाया कि सरकार साधनों को कुव्यवस्था और गलत ढंग से उपयोग कर रही है। कर्ज की स्थिति हर वर्ष बिगड़ती जा रही है और उन्हें सूचना तो यह भी मिली है कि कर्ज देने वाले कुछ देशो से भारत ने कुछ समय के लिए कर्ज की अदायगी से मुक्ति के लिए अनुरोध किया है।

(२) **श्री आर० टी० पार्थसारथी** (विपक्ष कांग्रेस) ने बजट को कड़ुआ बताया और कहा कि यह बजट समाजवादी गोलियों को पूँजीवादी पानी मे घोल कर मिक्सचर बनाने की तरह है। उन्होने पूछा कि बजट मे समाजवाद कहाँ है ? इसमे आम जनता पर प्रहार किया गया है। कम्पनी-कर के ढांचे मे कोई परिवर्तन नही किया गया है। उन्होने सम्पत्ति-कर मे वृद्धि का स्वागत तो किया लेकिन कहा कि चाय, किरासिन, चीनी, खाडसारी और अन्य आवश्यक सामानों पर नया शुल्क लगाने का कोई औचित्य नही है। उन्होने यह भी कहा कि आय-कर मे छूट की सीमा ६,००० रुपए तक कम से कम होनी चाहिए। श्री पार्थसारथी ने चेतावनी दी कि इस बजट से निकट भविष्य मे रुपए का पुनः अवमूल्यन करना पड़ सकता है और मूल्यों मे १५ प्र० श० तक वृद्धि हो जाएगी।

(३) **श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा** ने कहा कि जब हम लोगो ने श्रीमती इन्दिरा गाधी को प्रधानमन्त्री चुना तब हम लोगो ने कभी नही सोचा था कि वह हमारे देश को रूस और साम्यवादियो के सुपुर्द कर देगी। विरोधी दलो मे प्रधानमन्त्री के समर्थक उनके शासक काग्रेस के वक्ताओं से भी अधिक वफादार है। उन्होने कहा कि केन्द्रीय सरकार का घाटा २२५ करोड़ रुपए से अधिक होगा। राज्यो का तीन सौ करोड रु० का घाटा है। इनके कारण वस्तुओं के मूल्यों मे वृद्धि होना स्वाभाविक है।

स्वतन्त्र पार्टी—श्री मसानी ने कर-प्रस्तावो को आर्थिक विकास के लिए न केवल हानि-

कर बताया बल्कि दुनियाँ के कुछ देशों का उदाहरण देकर बताया कि कम कर रहने से करों की वसूली अधिक होती है जबकि अधिक कर होने से वसूली बहुत कम रह जाती है। उन्होने कहा कि दो लाख रु० से अधिक आय वालो को अभी ईमानदारी के साथ एक रुपया पैंतीस पैसा कर के रूप में देना पडता है जबकि नये कर प्रस्तावो के अनुसार एक रुपया कमाने के लिये उन्हे सरकार को पन्द्रह रुपये देने होगे। इसका परिणाम यह होगा कि लोग और भी कम कर देगे और काला धन बढ़ेगा। स्वतन्त्र दल के सदस्य ने कहा कि नये कर प्रस्तावो के अनुसार चालीस हजार रुपये तक की वार्षिक आय वालो को कम कर देना होगा। यह सीमा निर्धारित करने का कारण यह है कि केन्द्रीय मन्त्रियो का वेतन लगभग इतना ही होता है (चालीस हजार रुए से कम होता है)। *अपने मन्त्रियो से कम कर लेने के लिए केन्द्रीय सरकार ने यह सीमा* निर्धारित की है। उन्होने कहा कि अर्थ-विशेषज्ञ श्री पालकीवाला ने अनुमान लगाया है कि हर मन्त्री को सभी सुविधायें देने के लिए सरकार का साढ़े सत्तरह हजार रुपया मासिक खर्च होता है। *यदि इस पर भी मन्त्रियो को कर देना पडे तो उन्हे दो लाख रुपए से अधिक वार्षिक आय* पर कर देना पडेगा। तब एक रुपया कमाने के लिए पन्द्रह रुपया कर देना होगा। श्री मसानी ने कहा कि नये कर लगाये बिना भी खर्च पूरा किया जा सकता है। उन्होने कहा कि यदि करो *की वर्तमान दरे कम कर दी जाये तो १७० करोड से, जितना कि नया कर लगाया गया है,* अधिक धन करो की वसूली से एकत्र हो जायेगा। केन्द्र और राज्य सरकारें कुल मिलाकर अभी करो के रूप मे ८,००० करोड रुपये एकत्र करती है, यदि करो की दरो में कमी कर दी जाय *तो केन्द्र और राज्य सरकारे दोनो को कर की वसूली से बहुत अधिक धन मिलेगा, तब सब लोग* खुशी से कर देगे। उन्होने दूसरा सुझाव यह दिया कि सार्वजनिक क्षेत्रो के कारखानो व कम्पनियो के सचालन मे सुधार कर सरकार अपनी आय मे बहुत वृद्धि कर सकती है। उन्होने कहा *कि निजी कम्पनियाँ अपनी पूँजी मे अभी ग्यारह प्रतिशत का शुद्ध लाभ कमाती हैं, यदि सरकारी* कम्पनियाँ व कारखाने पांच प्रतिशत भी लाभ कमाने लगे तो इनसे ही एक अरब पचहत्तर करोड़ रुपये की आय मे वृद्धि हो सकती है, तब १७० करोड रुपये का नया कर नही लगाना होगा।

जनसङ्घ—जनसङ्घ के मुख्य सचेतक श्री श्रीचन्द गोयल : बजट व्यावहारिक नही है और आम नागरिक की आशाओ के अनुरूप भी नही है।

प्रसोपा—श्री सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी : भारी करो से बचा जा सकता था। आम नागरिक की जरूरतो को पूरा करने के लिए प्रयत्न किया गया है।

कम्युनिस्ट—श्री हीरेन मुखर्जी : *बुरी शुरुआत नही है।* चाय, चीनी और सिगरेट पर कर से बचा जा सकता था।

भाक्राद—श्री प्रकाशवीर शास्त्री : बढ़ते हुए मूल्य की समस्या का समाधान नही है।

ससोपा—श्री गौड़ मुराहरि : बजट मीठा नही है। शहरी सम्पत्ति के बारे मे प्रस्तावो का स्वागत है।

द्रमुक—श्री अम्बझगन . प्रत्यक्ष करो मे तो समाजवादी लक्ष्य की ओर कदम है। अप्रत्यक्ष करो, विशेष रूप से चीनी और मिट्टी के तेल पर करो से आम जनता पर भार पडेगा।

बजट पर व्यापारियों की प्रतिक्रियायें—

प्रधानमन्त्री द्वारा पेश बजट की देश के औद्योगिक व व्यापारिक क्षेत्रो मे मिश्रित प्रतिक्रिया हुई है। आलोचना के साथ-साथ स्वागत भी हुआ है। प्रमुख प्रतिक्रियाये निम्नांकित हैं :—

(१) भारतीय व्यापार-मण्डल के अध्यक्ष ने बजट का स्वागत करते हुए कहा कि बजट की एक उत्साहवर्द्धक विशेषता देश में पूँजी बाजार बढाने का यत्न करना है। शेयरो, जिनमे यूनिट ट्रस्ट भी है, के लाभाश से प्राप्त आय व आय-कर सीमा मे दी गई छूटे प्रसन्नता बढाती है। उन्होने आगामी वर्ष अर्थ-व्यवस्था के लिए शुभ बताया, क्योंकि चाय व जूट को दी गई सुविधाओं से विदेशी व्यापार बढेगा, जिसका स्वस्थ प्रभाव आन्तरिक व्यापार पर पडेगा।

(२) कलकत्ता शेयर बाजार के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री भुँझनूवाला ने कहा कि इस बजट से हमारी अर्थ-व्यवस्था के ३ बडे उद्योगो—पूँजी बाजार का पुनर्निर्माण, आयात का स्वदेशी विकल्प व निर्यात मे वृद्धि की पूर्ति हो जायेगी। प्रधानमन्त्री ने लाभाश की आय व आय-कर सीमा मे छूट देकर बडा ही व्यावहारिक दृष्टि का परिचय दिया है। १७० करोड के अतिरिक्त ऊपरी तौर पर ज्यादा लगते है, पर सरकार को किसी तरह चौथी योजना के क्रियान्वयन के लिए ससाधन तो जुटाने ही होगे। कुल मिलाकर मेरी धारणा है कि प्रधानमन्त्री श्रीमती गाधी ने इस बजट मे बहुत साहस व सावधानी का परिचय दिया है। इसका शुभ प्रभाव हमारी अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण पर निश्चय ही पडेगा।

(३) मर्चेन्ट्स चेम्बर ऑफ कॉमर्स के अध्यक्ष श्री कोठारी ने कहा कि इच्छित आर्थिक विकास के लिए यह सहायक नही लगता।

(४) बम्बई शेयर बाजार के अध्यक्ष श्री धीरजलाल मगनलाल ने कम आय वालो की हालत सुधारने के लिए रखे गये प्रस्तावो की प्रशसा की। उन्होने कहा कि इस बजट से बचत व निवेश को काफी उत्साह मिलेगा।

(५) अखिल भारतीय निर्माता सङ्घ के अध्यक्ष श्री प्राणलाल पटेल ने चाय पर निर्यात कर समाप्त करने और छूट का निर्यात-कर घटाने का स्वागत किया। पर वे सोडा एश, कास्टिक सोडा व कुछ अन्य कच्चे माल पर लगे अतिरिक्त कर के विरुद्ध थे।

(६) रेशम व कृत्रिम रेशे मिल सङ्घ के प्रधान श्री सुरेन्द्र मेहता ने सिंथेटिक रेशे और फैब्रिक्स करो में वृद्धि करने की आलोचना की।

(७) भारतीय व्यापार-मण्डल बम्बई ने कहा कि इससे ऊँची आय वालो के लिए बचत व निवेश की सम्भावनायें बहुत घट गई हैं। मण्डल ने आय-कर मे ५ हजार के बजाय ७½ हजार रु० तक छूट देने की माँग की। मण्डल ने सामान्य व्यक्तियो के लिए प्रस्तावित समाज-कल्याण योजनाओ का स्वागत किया।

(८) मैसूर वाणिज्य-उद्योग-मण्डल के अध्यक्ष ने कहा कि केन्द्रीय बजट-प्रस्ताव अर्थ-व्यवस्था मे सहायक होने के बजाय विकास मे बाधक बनेंगे और बेरोजगारी की समस्या बढ़ेगी। प्रस्तावो से कीमते बढ़ेंगी। सामान्य जन के पास कुछ नही बचेगा।

(९) कलकत्ता में भारतीय चीनी मिल सङ्घ के अध्यक्ष श्री बी० एच० डालमिया ने चीनी पर उत्पादन कर बढाने पर असन्तोष प्रकट किया।

(१०) बंगाल राष्ट्रीय वाणिज्य उद्योग-मण्डल के उपाध्यक्ष श्री बी० एन० घोष ने कहा कि निजी क्षेत्र को कोई राहत नही दी गई।

(११) ओरियण्टल चैम्बर ऑफ कॉमर्स के अध्यक्ष श्री ताहिर ने बजट का यथार्थवादी बताते हुए उसका स्वागत किया।

(१२) अ० भा० वाणिज्य उद्योग-मण्डल महासङ्घ के अध्यक्ष श्री रामनाथ पोद्दार ने कहा कि निजी करो, सम्पत्ति-कर तथा विभिन्न चीजो पर उत्पादन-करो मे वृद्धि का समाज के हर वर्ग पर प्रभाव पड़ेगा। दफ्तरी सामान व रेफ्रीजरेटरो पर कर से कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पडेगा।

(१३) उत्तर भारत शेयर-होल्डर सङ्घ के अध्यक्ष श्री प्रेम राय ने सम्भवत. बजट को सन्तोषजनक व सहायक बताया और कहा कि कम्पनियों को प्रत्यक्ष अतिरिक्त कर से मुक्त रखा गया है।

(१४) अ० भा० उद्योग सङ्घ के अध्यक्ष श्री हरीश महेन्द्रा ने अधिक सामाजिक न्याय की दिशा में तथा समाज के कमजोर वर्गों की कल्याण-वृद्धि के प्रधानमन्त्री के प्रयास की सराहना की।

(१५) द० भारत वाणिज्य-मण्डल के अध्यक्ष ने आय-कर छूट सीमा बढाने का स्वागत किया और कहा कि निजी क्षेत्र को अतिरिक्त करों से मुक्त रखा गया है। किन्तु चीनी की कीमतें बढाने से सामान्य जन को बहुत कष्ट होगा।

(१६) हिन्दुस्तान चैम्बर ऑफ कॉमर्स के उपाध्यक्ष श्री के० पी० शाह ने कहा कि दिनो-दिन आवश्यकता की चीजों पर कर से रहन-सहन का खर्च बढ जायेगा और सामान्य जन का कष्ट बढ़ेगा।

(१७) मद्रास स्टॉक एक्सचेंज के अध्यक्ष श्री गोपालन ने कहा कि ४०,००० रु० से ऊपर की आय पर भारी कर का उच्च आय वर्ग की बचतों पर बुरा प्रभाव पडेगा।

(१८) आंध्र वाणिज्य-मण्डल के अध्यक्ष श्री रसिकलाल मेहता ने कहा कि सम्पत्ति-कर और शहरी सम्पत्ति पर कर से लोगों की कठिनाइयाँ बढ जायेंगी। लोगों को कर देने के लिए सम्पत्ति बेचनी पड सकती है।

(१९) अ० भा० निर्माता सङ्घ व आन्ध्र प्रदेश राजकीय बोर्ड के अवैतनिक सचिव श्री मांगीलाल सुराणा ने बजट को बुद्धिमत्तापूर्ण बताया।

(२०) उत्कल वाणिज्य-मण्डल के अध्यक्ष श्री सुकुमार सेन ने शहरी सम्पत्ति व निर्माण पर कर को जल्दबाजी बताया और कहा कि उसकी सीमा और ऊँची रखी जानी चाहिए थी। उन्होंने निर्यात-कर समाप्त करने का स्वागत किया।

(२१) गुजरात वाणिज्य-उद्योग-मण्डल ने बजट की कुछ बातों का स्वागत किया तथा कुछ को जन सामान्य पर अतिरिक्त बोझा बताया। यूनिट ट्रस्ट तथा कम्पनियों के लाभांश की छूट की सीमा बढाने का स्वागत किया गया। छूट व चाय पर निर्यात कर समाप्त करने की सराहना की गई। चीनी, चाय आदि पर कर-वृद्धि की आलोचना की गई है।

(२२) बम्बई से अ० भा० आयातकर्त्ता सङ्घ के अध्यक्ष ने बजट-प्रस्तावों को निराशाजनक बताया।

(२३) नेशनल अलाइंस ऑफ एम्प्लॉयर्स के अध्यक्ष श्री चन्द्रकांत देसाई ने इसे सन्तुलित बजट बताया। उन्होंने कहा कि प्रगतिशील और उत्पादन वृद्धि का लक्ष्य रखने वाला बजट रखने के लिए प्रधानमन्त्री को बधाई दी जानी चाहिए। इससे देश की अर्थ व्यवस्था मजबूत होगी। डिविडेण्ट आय व आय-कर छूट की सीमाएँ बढाने से मध्यम वर्ग के लोग बचत करेंगे। इनमें उन्हीं लोगों पर कर-भार बढ़ेगा जो दे सकते हैं। फिर भी कुछ वस्तुओं पर उत्पादन-कर घटाना चाहिए।

बजट का मूल्यांकन—सन्तुलित एवं शुभकल्पी

पहले यह सम्भावना प्रकट की जा रही थी कि नई कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में जो उग्र समाजवादी नीतियाँ निर्धारित की गई थी, वे इस बार के बजट में प्रतिबिम्बित होंगी, परन्तु श्रीमती गांधी के नये कर प्रस्तावों को देखते हुए वह शंका निर्मूल हो गई प्रतीत होती है। पिछले एक वर्ष में देश की मानसिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। इस परिवर्तन की पृष्ठभूमि में सरकार की आर्थिक नीतियों और आर्थिक कार्य-

क्रमो मे परिवर्तन होना स्वाभाविक था। श्रीमती गाधी के बजट मे इन परिवर्तनो के तकाजो और आवश्यकताओ को किस हद तक ध्यान मे रखा गया है, यही सबसे बड़ी देखने की बात है। प्रधानमन्त्री ने अपने बजट-भाषण मे आर्थिक वृद्धि और जरूरतमन्द तथा गरीब वर्ग का कल्याण—दोनो की अनिवार्य आवश्यकताओ को दृष्टि मे रख कर नीतियों के निर्धारण पर बल दिया है। इसीलिए उन्होने उग्र या चरमवादी मार्ग न अपना कर मध्य मार्ग अपनाया है।

प्रधानमन्त्री ने अगले वर्ष के बजट मे योजना-व्यय मे ४०० करोड रु० की वृद्धि की है और रोजगार के अवसरो मे वृद्धि के साथ-साथ विकास और जन-कल्याण की दिशा मे कुछ नये कदम उठाने का सकल्प व्यक्त किया है। ४५ जिलो मे छोटे किसानों के लिए विशेष योजनाएँ और बारानी खेती की टेक्नीको के लिए अनुसन्धान मे त्वरित गति, आम तौर पर दुर्भिक्षग्रस्त रहने वाले क्षेत्रो मे २५ करोड रुपये के ग्रामीण कार्यो की योजना, गन्दी बस्तियो के खात्मे और गृह-निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए १० करोड रु० की पूँजी से शहरी विकास निगम की स्थापना, गाँवो मे पेयजल की उपलब्धि के कार्यक्रम, औद्योगिक श्रमिको के लिए पारिवारिक पेंशन की व्यवस्था, बच्चो के पोषण मे वृद्धि के लिए उन्हें पोषक आहार देने और आदिवासी विकास-खण्डो मे बाल-कल्याण की योजनाएँ आदि इस बात के प्रमाण है कि प्रधानमन्त्री का जन-कल्याण की ऐसी योजनाओ को क्रियान्वित करने का सकल्प है, जो साधारण जन के हित को स्पर्श करती है। यो, ऐसी योजनाएँ और सकल्प पहले भी प्रस्तुत किये जाते रहे हैं, परन्तु उपर्युक्त उपक्रम और कार्यकलाप के अभाव मे वे बजर धरती पर डाले गये बीज की तरह निरर्थक साबित हुए। इसलिए यह अभी देखना है कि प्रधानमन्त्री के सकल्प शासन की कर्मचेतना और कर्मस्फूर्ति से किस हद तक मूर्त्तरूप धारण करते है। प्रधानमन्त्री के हाथो मे आर्थिक योजनाएँ बनाने और आर्थिक सकल्प करने का ही कर्त्तृत्व नही है, उन्हे कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व भी प्रशासन के कर्णधार की हैसियत से उनका ही है।

जहाँ तक नये करों का सम्बन्ध है, प्रधानमन्त्री कौशल के साथ सन्तुलन करते हुए चली हैं। प्रत्यक्ष करो मे उन्होने अल्प आय समूह को राहत दी है और मध्यम तथा उच्च आय-वर्गो के करो मे भी वृद्धि नही की है। इस राहत का सभी करदाता स्वागत करेंगे। औद्योगिक क्षेत्र मे पूँजी-निवेश के लिए अनुकूल वातावरण पैदा करने की जो माँग एक अर्से से की जाती रही है उसकी ओर भी रचनात्मक दृष्टि से प्रधानमन्त्री ने ध्यान दिया है। यूनिट ट्रस्ट, भारतीय कम्पनियो और अल्प बचत योजनाओ आदि से होने वाली आय की कर-मुक्त सीमा बढ़ाने और कम्पनी कर मे कोई नई वृद्धि न की जाने से निश्चय ही पूँजी-निवेश के लिए अनुकूल वातावरण तैयार होगा।

परन्तु अप्रत्यक्ष करो का असर निश्चय ही उच्च आय वर्ग को ही नहीं, समाज के हरेक तबके को प्रभावित करेगा। जिन वस्तुओ पर कर-वृद्धि के प्रस्ताव है उनमे गरीब व्यक्ति के उपभोग की वस्तुएँ भी है और मध्य वर्ग तथा उच्च वर्ग के उपभोग की भी। इस तरह कोई भी वर्ग इस कर-वृद्धि से उत्पन्न महँगाई के भार से बच नही सकेगा। जिन कच्ची सामग्रियो पर उत्पादन शुल्क बढाया गया है, उनके महँगी होने से ही उत्पादन-व्यय नही बढ़ेगा बल्कि महँगाई के कारण वेतनो और मजदूरियो मे वृद्धि की माँग भी उसे बढाने मे निमित्त बनेगी। इस तरह महँगाई के दुश्चक्र का सामना हमारी अर्थ-व्यवस्था और समाज को करना पडेगा।

बजट मे चाय और पटसन के सामान पर निर्यात शुल्क हटा कर निर्यात को बढ़ावा देने और कुछ वस्तुओ पर आयात शुल्क बढाकर देश के भीतर ही उनके निर्माण को प्रोत्साहन देने की दिशा मे प्रयत्न किया गया है। किन्तु इस प्रयोजन के लिए उतना ही अभीष्ट और पर्याप्त नही है। आवश्यकता इस बात की थी कि निर्यात सम्बन्धी सभी शुल्क हटा लिए जाते और

उत्पादन शुल्को मे कुछ और राहत देकर तथा उसके द्वारा वस्तुओ का उत्पादन व्यय घटा कर निर्यात वृद्धि के लिए और अधिक अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा की जाती, क्योकि आज उत्पादन व्यय की अधिकता और महँगी होने के कारण ही भारत की कितनी ही वस्तुयें विश्व के बाजारो मे प्रतिस्पर्धा मे टिक नही पाती और हमारे निर्यात को वाछनीय प्रोत्साहन नही मिलता। इसलिए इन बाधाओ का निवारण अत्यावश्यक है।

उद्योगो को कम्पनी करो मे वृद्धि से मुक्ति देकर जहाँ प्रधानमन्त्री ने औद्योगिक विकास के लिए एक स्तुत्य प्रयास किया है, वहाँ सरकार को उत्पादन वृद्धि के लिए अनुकूल वातावरण बनाने की दिशा मे भी ठोस कदम उठाना चाहिए। आज कितने ही उद्योगो में श्रमिक अशान्ति के कारण उत्पादन वृद्धि में बाधा पड रही है। दूसरी ओर रेयन, टेरीलीन, नायलोन जैसे उद्योगो का, जो न केवल रुई के आयात पर हमारी निर्भरता को कम करते है, बल्कि देश को अपने क्षेत्र में आत्म-निर्भर भी बना सकते है, औद्योगिक विकास मन्त्रालय की अदूरदर्शितापूर्ण नीतियो के कारण, विकास और विस्तार अवरुद्ध होता है। इसलिए यह जरूरी है कि सरकार अपनी श्रम और अर्थ सम्बन्धी सभी नीतियो पर पुनर्विचार कर उन्हे उत्पादन-वृद्धि प्रेरक बनाये। प्रधानमन्त्री से इस सम्बन्ध में सबल रचनात्मक नेतृत्व की अपेक्षा करना उचित ही होगा।

वित्तमन्त्री के रूप में प्रधानमन्त्री के सामने और भी कितनी ही चुनौतियाँ हैं। राज्यो के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना, उन्हे वित्तीय सयम और अनुशासन में रखना, सरकारी क्षेत्र के व्यावसायिक सस्थाओ को प्रबन्ध और वित्तीय दृष्टि से कुशल और लाभकारी बनाकर जनता का गलग्रह बनने से रोकना, योजना-भिन्न और अनुत्पादक व्यय को बन्द करना— ये सभी ऐसी दिशाये हैं जिनकी ओर यदि प्रधानमन्त्री सक्रिय ध्यान दें तो उनका बजट मे मध्यम मार्ग अपनाने का अभिनन्दनीय प्रयास और भी निखर जायेगा।

१४

भारत में राज्य वित्त-प्रबन्ध

(State Finances in India)

प्रारम्भिक—

सुविधा के लिए राज्य अर्थ-प्रबन्ध का अध्ययन दो मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है—राज्यो का व्यय और राज्यो की आगम।

राज्यो का व्यय

व्ययों का वर्गीकरण—

राज्यो के व्ययो को दो भागो मे बांटा जा सकता है :—(अ) **प्रारम्भिक कार्यों पर व्यय**,—इसमे राज्य के नागरिक शासन का व्यय, पुलिस व्यय, न्यायालयो और कारावासो का व्यय और ऋणों से सम्बन्धित व्यय सम्मिलित है। इन कार्यों के व्यय का 'आगम पर प्रत्यक्ष मांग,' 'सुरक्षा सेवाएँ' तथा 'ऋण दायित्वो' मे विभाजन किया जा सकता है।

(ब) **गोण कार्यों पर व्यय**—इसमे शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सिचाई इत्यादि सम्मिलित है। इस प्रकार की सेवाओ को 'राष्ट्रीय निर्माण सेवाओ' का सामूहिक नाम दिया जा सकता है। सन् १९१९ के सुधार नियमो के फलस्वरूप आगम खाते पर राज्यो का सामूहिक व्यय बढता ही गया है। सन् १९५०-५१ से यह व्यय बहुत ही तेजी से बढा है। नये संविधान के लागू होने तथा वित्त आयोग की सिफारिशो के फलस्वरूप राज्य अर्थ-प्रबन्ध मे भारी लोच उत्पन्न हो गई है।

राज्यों के व्यय की नवीन प्रवृत्तियाँ—

भारतीय राज्यो के व्यय मे हुई अभूतपूर्व वृद्धि का सबसे प्रधान कारण पब्लिक सैक्टर का विस्तार होना है। नीचे राज्यों के सार्वजनिक व्यय की नवीनतम् प्रवृत्तियो पर प्रकाश डाला गया है :—

(१) **राज्यो में सार्वजनिक व्यय की अपार वृद्धि**—राज्यो के सार्वजनिक व्यय मे स्वतन्त्रता के पश्चात् अपार वृद्धि हुई है। वर्ष १९५१-५२ मे समस्त राज्यो का सार्वजनिक व्यय कुल मिलाकर ३९२·६३ करोड रु० था जो १९६०-६१ मे ९८७·३७ करोड रु० और १९६५-६६ के अन्त में १८९२ करोड रु० हो गया। १९६९-७० के लिये बजट अनुमान २९९३·०२ करोड़ रु० था। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय में लगभग ७½ गुनी वृद्धि हो गई।

अलग-अलग राज्यो की दृष्टि से, यह देखेगे कि, अधिक पिछड़े हुए राज्यो (उडीसा, राजस्थान, जम्मू व कश्मीर और मैसूर) के व्यय मे वृद्धि सर्वाधिक हुई है। सार्वजनिक व्यय की वृद्धि और आकार का अनुमान प्रति व्यक्ति व्यय सम्बन्धी आंकडो से भी लगाया जा सकता है। काश्मीर को छोडकर (जिस पर कि विशेष ध्यान दिया जा रहा है) सब राज्यो मे पजाब का प्रति व्यक्ति व्यय सर्वाधिक है। इसके बाद आसाम और मैसूर का नम्बर है। बिहार व उत्तर प्रदेश इस क्रम मे सबसे नीचे हैं।

(२) **राज्यों के व्यय की तुलना में इनकी आय**—१६५१-५२ मे समस्त राज्यों की आय ३६६·४ करोड़ रु० थी जो १६६०-६१ मे १०११·८१ करोड़ रु० और १६६५-६६ मे १,८५० करोड़ रु० हो गई। १६६६-७० मे आय २,७०० करोड़ रु० होने का अनुमान था। इस प्रकार व्यय के साथ-साथ आय मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई है।

राज्यो के प्रति व्यक्ति व्यय पर इनकी प्रति व्यक्ति आय की तुलना मे, विचार करने से यह पता चलता है कि राज्य अपनी क्षमता के अनुसार व्यय कर रहे हैं या नहीं। १६५७-५८ की अपेक्षा १६६४-६५ मे राज्यो के प्रति व्यक्ति व्यय मे हुई तीव्र वृद्धि (७६·४१%) की तुलना मे प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि (५२·४८%) बहुत कम है। प्रति व्यक्ति आय के प्रतिशत के रूप में प्रति व्यक्ति व्यय १६५७-५८ मे ८·४६ से बढ़कर १६६०-६१ मे ६·२६ और १६६४-६५ मे ११·६६ हो गया।

(३) **व्यय तथा आय दोनो ही प्रगतिशील देशो की तुलना मे पिछड़े हुये**—विश्व के समृद्ध औद्योगिक राष्ट्रों मे प्रति व्यक्ति व्यय २५० रु० से ३५० रु० तक है। भारत मे सार्वजनिक व्यय की प्रति व्यक्ति निरपेक्ष मात्रा इसकी तुलना मे स्पष्टत. बहुत ही कम है। उदाहरणार्थ १६६२-६३ मे जापान की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय १,५०० रु० थी जबकि उसने सरकार द्वारा प्रदान की गई सेवाओ मे प्रति व्यक्ति व्यय ३५० रु० किया। दूसरी ओर, भारत की राष्ट्रीय आय १६६२-६३ मे ३३६·४० रु० थी और सरकारो (राज्यो एव केन्द्र) ने प्रति व्यक्ति ८५ रु० व्यय किये।

(४) **विकास व्यय मे सबसे अधिक वृद्धि**—राज्यो का विकास-व्यय (पूँजीगत + रेवेन्यू) १६५१-५२ मे २६६·५० करोड़ रु० से बढ़कर १६६६-७० मे २०८७ करोड़ रु० हुआ, अर्थात् छः गुने से अधिक हो गया। इसके विपरीत, अविकास व्यय (पूँजीगत + रेवेन्यू) इन्ही वर्षों मे क्रमशः २२३·७० और १,३७६ करोड़ रु० था, अर्थात् छह गुना बढ़ा। कुल व्यय के अनुपात में विकास व्यय १६५१-५२ मे ५७% और १६६६-७० मे ६०% थे किन्तु अविकास व्यय ४३% और ४०%। इस प्रकार विकास व्ययो का अनुपात निरन्तर बढ़ रहा है। कुल व्यय की भाँति ही विकास व्यय सबसे अधिक राजस्थान, उडीसा, मैसूर, केरल एव जम्मू-काश्मीर मे किया गया है। पजाब, हरियाना और बिहार विकास-व्यय मे पिछड़े हुए हैं।

(५) **प्रशासन व्यय मे वृद्धि कुल व्यय एवं विकास व्यय की अपेक्षा कम दर से**—प्रशासन व्यय कुल व्यय व विकास व्यय की अपेक्षा आधी दर से कुछ कम पर ही बढ़े। कुछ राज्यो (जैसे पजाब व केरल) मे प्रशासन व्ययो की वृद्धि दर तेज रही है। आसाम, उत्तर प्रदेश और उडीसा भी इस दिशा मे तेजी से बढ़े। अन्य राज्यो के प्रशासन व्यय की वृद्धि दर ५०% से अधिक नही है।

प्रति व्यक्ति प्रशासन व्ययो मे भी वृद्धि की प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्तु यह वृद्धि कुल व्यय व विकास व्यय की वृद्धि की तुलना मे कम है। केरल का प्रति व्यक्ति प्रशासन व्यय सब राज्यो मे सबसे कम है।

लगभग सभी राज्यो मे प्रशासन व्ययो की प्रवृत्ति घटने की दिशा मे है। इसका कारण राज्यो द्वारा यह सामान्य नीति अपनाना है कि गैर-विकास व्ययो को, राष्ट्रीय आपात-कालीन स्थिति के सन्दर्भ मे, कम से कम किया जाय। प्रमुख कारण विकास व्ययो मे वृद्धि होना भी है। इसमे गैर-विकास व्ययो के लिये उपलब्ध राशि स्वाभाविक रूप से कम हो जाती है।

(६) **ऋण सेवा व्ययों का बढ़ता हुआ अनुपात**—ऋण सेवा व्ययो के उल्लेख बिना राज्यो के व्यय का विवेचन अपूर्ण रहेगा। इस शीर्षक पर सब राज्यो द्वारा व्यय १६५१-५२ मे ८·४६ करोड़ रु० से बढ़कर १६६६-७० मे ३७०·६६ करोड़ रु० हो जाने का अनुमान है अर्थात्,

१८ वर्षीय अवधि मे ४४ गुना बढ़ गया। उड़ीसा व राजस्थान मे वृद्धि सर्वाधिक, मद्रास व उत्तर-प्रदेश मे कम तथा अन्य सब राज्यो मे कुल राज्यो के सामान्य प्रतिशत की अपेक्षा भी कम हुई। ऋण-व्ययों का कुल व्यय से अनुपात भी १९५१-५२ मे २.१% से बढ़कर १९६९-७० मे १०% हो गया।

(७) **सरकारी सेवाओं की आय लोच**—भारतीय राज्यो के सार्वजनिक व्ययो मे जो वृद्धि १९५१-५२ से १९६९-७० तक १८ वर्षीय अवधि मे हुई है वह न केवल राज्य सरकारो के परम्परागत कार्यो मे वृद्धि का परिणाम है वरन् पब्लिक सैक्टर के विस्तार के फलस्वरूप नये दायित्व ग्रहण करने के कारण भी है। जर्मनी के एक प्रसिद्ध प्रशुल्क-विशेषज्ञ **श्री एडोल्फ वैगनर** (Adolf Wagner) ने बताया है कि सरकारें अनिवार्य रूप से विशाल आकार धारण करती जाती है, अत. अर्थ-व्यवस्था मे सामूहिक सैक्टर भी आकार और महत्व मे बढता जाता है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि सरकारी सेवाएं आय लोच (Income Elasticity) रखती है, अर्थात्, जैसे-जैसे वास्तविक आय बढ़ती है, लोग अधिकाधिक निरपेक्ष मात्रा मे सरकारी सेवाओं की माँग करते है। जब वास्तविक आय अनिवार्य आवश्यकताओं (भोजन व वस्त्र) के स्तर से अधिक बढ जाती है तब सरकारी सेवाये (शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, सुरक्षा, कल्याण सेवायें) अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं और फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय आय की अपेक्षा अधिक अनुपात से बढने लगता है। भारत मे आजकल यही स्थिति देखने मे आ रही है।

प्रादेशिक सरकारों की आय और व्यय की मुख्य मदे

प्रादेशिक सरकारों के द्वारा भी शासन सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के खर्चो को पूरा करने के लिए विभिन्न स्रोतो से आमदनी प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। वास्तव मे देश के विभिन्न प्रकार के कार्यो को सुविधाजनक चलाने के लिए वित्तीय प्रणालियो को तीन हिस्सो मे बाँटा गया है—केन्द्रीय वित्त, प्रादेशिक वित्त, और स्थानीय वित्त। यह तीनों एक-दूसरे से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। केन्द्रीय वित्त के बारे मे विशद् रूप से अध्ययन करने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि प्रान्तीय सरकार की आय और व्यय की मदो तथा अन्य विशेषताओ के बारे मे पूरी तरह से तथा विश्लेषणात्मक रूप में अध्ययन किया जाये।

प्रादेशिक सरकार के आय के स्रोत—

प्रादेशिक सरकारो के जो मुख्य आय के स्रोत हैं, उन्हे निम्नलिखित पाँच भागो मे विभाजित किया जा सकता है :—(i) प्रादेशिक सरकारो द्वारा लगाये गये कर और शुल्क। (ii) नागरिक प्रशासन तथा अन्य विविध कार्यों से उपलब्ध किया गया धन। (iii) प्रान्त मे जो सरकारी उद्योग, व्यवसाय आदि है उनसे प्राप्त आमदनी। (iv) राज्य सरकारों की आयो का प्राय: केन्द्र सरकार द्वारा प्रान्तो से एकत्रित करो का भाग या हिस्सा (जैसे—विभिन्न राज्यों को दिये गये आय-कर का प्रतिशत भाग आदि)। (v) केन्द्रीय सरकार की ओर से प्रादेशिक सरकारों को दिये गये अनुदान। इसकी विशेषता यह होती है कि यह मात्रा प्रति वर्ष बदलती रहती है और वर्ष के किसी भी भाग मे एकाएक आवश्यकता पड़ने पर भी इस शीर्षक के अन्तर्गत राज्य सरकारो को केन्द्रीय सरकार से अनुदान या सहायता प्राप्त हो सकती है। राज्य सरकारो की आय के मुख्य साधनों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) **मालगुजारी और कृषि-आय पर कर**—राज्य सरकारो की आमदनी के मुख्य साधनों के रूप मे मालगुजारी के और कृषि की आय पर लगाये जाने वाले कर मुख्य समझे जाते हैं। जब तक देश मे जमीदारी प्रथा विद्यमान थी तब तक यह मालगुजारी मुख्य रूप से राज्य सरकारों को जमीदारो के माध्यम से प्राप्त होती थी और उस समय यह रकम उतनी

अधिक नहीं थी जितनी अब है। अब किसानों से मालगुजारी तथा कृषि सम्बन्धी अन्य आय के कर प्रत्यक्ष रूप से प्रान्तीय सरकारों द्वारा एकत्रित किये जाते हैं।

(२) बिक्री-कर से प्राप्त आमदनी—राज्य सरकारों की आमदनी का एक मुख्य स्रोत बिक्री-कर है। सभी राज्यों में विभिन्न वस्तुओं पर सामान्यतया यह बिक्री-कर एकसूत्रीय (Single Point) तथा बहुसूत्रीय (Multiple Point) होता है। जो कुछ भी हो बिक्री-कर से प्राप्त आमदनी प्रान्तीय सरकार की आमदनी समझी जाती है। इस कर की प्रमुखता यह है कि इसका स्वरूप परोक्ष होता है और सरकार को जब कभी भी अधिक आमदनी की आवश्यकता का अनुभव होता है तो वह इस स्रोत से पूरा करती है।

(३) मनोरंजन कर— मनोरंजन कर, जैसा कि इसके नाम से विदित है, उन क्षेत्रों एवं परिस्थितियों पर लागू होता है जहाँ मनोरंजन के द्वारा धन प्राप्त किया जाता है। जैसे, सिनेमाघरों, थियेटरों आदि से। इसके अन्तर्गत एक प्रगतिशील पद्धति अपनाई जाती है, जिसका उद्देश्य राज्य के लिये अधिकतम् आमदनी प्राप्त करने का होता है—किन्तु इस रूप में कि विभिन्न व्यक्तियों और समुदायों पर इसका अत्यधिक कुप्रभाव न पड़े। सामान्यतः, जैसे-जैसे टिकट की दरों में वृद्धि होती जाती है, मनोरंजन कर की दरों में भी वैसी ही वृद्धि होती है।

(४) वनों से प्राप्त आमदनी—प्रायः सभी प्रान्तों में विभिन्न आकार और प्रकार के वन विद्यमान हैं। इन वनों से जो कुछ भी आमदनी प्राप्त होती है विभिन्न मदों के अन्तर्गत वह सभी प्रान्तीय सरकार की आय समझी जाती है। वन सम्बन्धी नीति, वनों का प्रसारण और वनों का संरक्षण प्रायः इस उद्देश्य से किया जाता है कि इनके द्वारा राज्य सरकारों को अधिक आमदनी प्राप्त हो सके।

(५) राज्य वितरण व्यवस्था से प्राप्त आय—कुछ राज्यों में विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के वितरण की व्यवस्था प्रान्तीय सरकार द्वारा होती है। साधारणतया यह कार्य सरकार द्वारा लाभ कमाने के उद्देश्य से नहीं किया जाता है बल्कि वितरण की कठिनाइयों से उत्पन्न परिस्थिति को दूर करने के लिये तथा नागरिकों को अधिक सुविधायें प्रदान करने के लिए ही इस नीति को अपनाया जाता है। फिर भी, यदि इससे आय प्राप्त हो जाती है, तो वह प्रान्तीय सरकार की आय समझी जाती है।

(६) आबकारी सम्बन्धी आय—प्रान्तीय सरकार को आबकारी सम्बन्धी आमदनी भी प्राप्त होती है। आबकारी विभाग के अन्तर्गत कुछ विषय केन्द्रीय सरकार के होते हैं और बाकी कुछ प्रान्तीय सरकारों के। जैसे, शराब पर जो कर लगता है या उसकी वितरण-व्यवस्था से भी जो आय प्राप्त होती है वह राज्य सरकार की होगी। इसी प्रकार, अन्य बहुत-सी वस्तुओं और सेवाओं पर जो कर लगता है वह प्रान्तीय सरकार की आय समझी जाती है। राज्य सरकारों को इस मद के अन्तर्गत काफी आमदनी प्राप्त हो जाती है।

(७) केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये तथा उगाहे जाने वाले कर—इसके अतिरिक्त कुछ कर ऐसे होते हैं जिनसे प्राप्त आमदनी राज्य सरकार की होती है, किन्तु उन करों के बारे में निर्धारण, उनका लगाना और उन्हें उगाहने का पूरा कार्य केन्द्रीय सरकार द्वारा होता है। जैसे, कृषि-भूमि को छोड़ कर अन्य कर, सम्पत्ति के सम्बन्ध में 'आस्ति कर', रेल मार्ग, समुद्र मार्ग अथवा वायु मार्ग द्वारा लाई-ले जाने वाली वस्तुओं और यात्रियों पर 'सीमान्त कर' आदि।

(८) केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये गये किन्तु राज्य सरकारों द्वारा एकत्र किये गये कर—इस प्रकार, कुछ कर ऐसे हैं जो केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं, परन्तु उनका एकत्रीकरण राज्य सरकारों द्वारा ही होता है तथा उनसे जो आय प्राप्त होती है वह भी राज्य सर-

कार की ही आय समझी जाती है, जैसे, स्टाम्प शुल्क, औषधि तथा शृंगार सम्बन्धी सामग्रियों पर उत्पादन कर आदि।

प्रान्तीय सरकारों के मुख्य व्यय—

प्रान्तीय सरकार को अपने सभी कार्यो को सुचारु रूप से चलाने के लिए विभिन्न क्षेत्रो मे काफी खर्चा करना पडता है। इन खर्चो मे से निम्नलिखित मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) **प्रशासन सम्बन्धी व्यय**—प्रान्तीय सरकारो की जो सबसे बडी खर्चे की मद है वह प्रशासन सम्बन्धी है। विभिन्न क्षेत्रो मे और विभिन्न प्रकार के शासन सम्बन्धी कार्यों को ठीक ढङ्ग मे चलाने के लिए अफसर और अन्य व्यक्तियो की नियुक्ति करनी पडती है, ऑफिस आदि का प्रबन्ध करना पडता है और इसी प्रकार अन्य आवश्यकताओ की सन्तुष्टि करनी पडती है। परिणामस्वरूप राज्य सरकारो को एक बडी रकम राज्य के शासन और प्रशासन के ऊपर खर्च करनी पडती हैं। पिछली दशाब्दी मे इस मद के ऊपर किये गये खर्चे के विषय मे यदि विशेष रूप से अध्ययन करे तो हमे यह ज्ञात होगा कि इस खर्चे की मात्रा मे दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। नये नये विभागो की स्थापना और पुराने विभाग के विकास के सम्बन्ध मे जिसकी आवश्यकता दिनो-दिन बढ रही है, अधिक खर्च करना निहायत जरूरी है। इसके फलस्वरूप इस मद मे खर्चे की रकम बढती ही जा रही है।

(२) **शिक्षा तथा प्रशिक्षण सम्बन्धी व्यय**—राज्य सरकारो को अपने राज्यो मे शिक्षा और प्रशिक्षण की बहुत-सी सुविधाएँ प्रदान करनी होती हैं। इन कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए और शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओ मे वृद्धि करने के लिए यह अनिवार्य समझा जाता है कि इस खाते मे पर्याप्त धन खर्च किया जाये। जनसंख्या मे वृद्धि, ११ वर्ष तक के बच्चो के लिये अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध, शिक्षा का विकास और उच्च शिक्षा तथा प्रशिक्षण की आवश्यकताओ ने इस मद पर अधिक खर्च करना अनिवार्य कर दिया है।

इसमे कोई सन्देह नही कि यदि पिछले १८ वर्षों मे इस मद पर किये गये व्यय की समस्त मात्रा पर दृष्टि डालें तो यह ज्ञात हो जायेगा कि इस दिशा मे समस्त व्यय की मात्रा मे अवश्य वृद्धि हुई है। किन्तु वास्तविक आवश्यकता या खर्चे की जरूरत के सम्बन्ध मे विश्लेषणात्मक रूप मे अध्ययन किया जाये, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि आवश्यकता की तुलना में यह अत्यन्त कम है। उन्नत तथा अन्य विकासशील देशो मे शिक्षा पर जिस अनुपात मे खर्च किया जाता है उसकी तुलना मे हमारे देश मे—विशेषकर राज्यो मे खर्च का परिमाण अत्यन्त कम है।

(३) **कृषि-सुधार तथा तत्सम्बन्धी मदों पर व्यय**—कृषि विकास, कृषि को उन्नत बनाना और कृषि कार्य से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्धित विषयो मे सुधार लाने के लिये यह आवश्यक हो गया है कि इस मद पर अधिकता से खर्च किया जाये। भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रीढ कृषि है। इस कारण सभी को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि जब तक कृषि और कृषि से सम्बन्धित अन्य तथ्यो का विकास और प्रसारण सन्तुलित रूप से न होगा तब तक प्रति व्यक्ति आय मे या राष्ट्रीय आय मे वृद्धि प्राप्त करना प्राय. असम्भव है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि सभी राज्यो द्वारा इस बात का भरसक प्रयास किया जाये कि कृषि के क्षेत्र मे सभी प्रकार की सुविधायें तथा उन्नति के पथ अपनाये जायें।

(४) **विभिन्न प्रकार के करों को उगाहने सम्बन्धी व्यय**—किसी भी सरकार की ओर से जो कर लगाये जाते हैं उनसे आमदनी स्वत: ही प्राप्त नही हो जाती। वास्तव मे उन्हे प्राप्त करने के लिये प्रयास और खर्चा किया जाना जरूरी होता है। क्षेत्र और करो के विषय मे यह आवश्यक हो जाता है कि इसे उगाहने का प्रबन्ध पूरी तरह से किया जाये। इस प्रयास को शक्तिशाली बनाने के लिये राज्य सरकारो को पर्याप्त मात्रा मे धन व्यय करना पड़ता है जिसका सहज

परिणाम यह होता है कि अत्यधिक सन्तुलित रूप से इस मद पर खर्च किया जाये तो भी इससे प्राप्त ग्रामदनी की शुद्ध मात्रा मे अत्यन्त कमी आ जाती है।

(५) स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यय—सामान्यतः राज्य के नागरिको के स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रयासो को तीव्र और प्रगतिशील बनाने के लिये यह आवश्यक समझा जाता है कि सुविधाओ का विकास द्रुतगति तथा सन्तुलित रूप से हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अस्पताल खोलना, चिकित्साशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन सस्थाओ का खोला जाना और उनका विकास परमावश्यक समझा जाता है। इसी प्रकार, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रो मे दवाघरो का खोला जाना, दवाई और डाक्टरो की व्यवस्था करना, प्रसूति व्यवस्था, बच्चों के स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करना तथा विभिन्न प्रकार के रोगो की रोक-थाम और उनकी मात्रा मे कमी करने के उद्देश्य से *प्रयास आदि सभी प्रान्तीय सरकारो के व्यय के साधन समझे जाते हैं।*

(६) राज्य के अन्तर्गत कल्याणमूलक कार्यों पर व्यय—सभी राज्य सरकारों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य कल्याणमूलक कार्यों को सुचारु रूप से चलाना और उनमे विस्तार करना है। विशेषकर, *आजकल जबकि नागरिक इस ओर बहुत ही अधिक जानकार हो गये है*, इसलिए इस मद पर किये जाने वाले खर्चे की मात्रा मे दिन-प्रतिदिन वृद्धि ही होती जा रही है। कोई भी लोकतन्त्रीय सरकार इन कार्यों की उपेक्षा नही कर सकती

(७) आवास सम्बन्धी व्यय—राज्य सरकारो को अपने प्रान्त मे विभिन्न वर्ग के मनुष्यो के लिये आवास की व्यवस्था करनी होती है। विशेष रूप से दरिद्र वर्ग के लिये आवास की व्यवस्था करना आवश्यक समझा जाता है। जैसे-जैसे राज्यो का औद्योगीकरण बढता जा रहा है *और जनसख्या का दबाव बढता जा रहा है*, वैसे-वैसे *आवास सम्बन्धी खर्चों की मात्रा मे वृद्धि* होती जा रही है। इसी प्रकार, गन्दी बस्तियों को समाप्त कर देना भी आवश्यक समझा जाता है। इन सभी कारणो से अब सभी राज्य सरकारें इस समस्या को दूर करने के लिये प्रयासशील है।

इस प्रकार, *हम यह पाते हैं कि राज्य सरकारो की आय और व्यय की मदो मे क्रमश* वृद्धि होती जा रही है। प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अब इतने अधिक कर लगाये जाते हैं, जिनके बारे मे पहले किसी को कल्पना भी नही हो सकती थी। किन्तु उसी अनुपात मे राज्य सरकारो के व्यय मे भी वृद्धि हो गई है। राज्य सरकारो को अब बहुत से कार्य भी करने पडते हैं, जो पहले उन्हे नही करने पडते थे। सडकों का निर्माण, नहरो की व्यवस्था, वनो का प्रबन्ध, आवास और अन्य कल्याण-मूलक कार्य ऐसे हैं जिन पर पहले इतना अधिक व्यय नही करना पडता था।

राज्य सरकारो को अब स्थानीय अधिकारियो को भी अधिक सहायता प्रदान करनी पडती है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन सस्थाओ को जितना अधिक खर्च करना पडता है, उसकी तुलना मे उनकी आमदनी काफी कम है। उसे पूरा करने के लिए राज्य सरकारो से सहायता प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है।

इसी प्रकार, अब ग्रामीणो को अधिक सुविधा प्रदान करने के लिये एव उनकी स्थिति मे उन्नति लाने के *लिये उन क्षेत्रों मे अधिक धन व्यय करने की आवश्यकता होती है।* इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए भी यह आवश्यक समझा जाता है कि राज्य सरकारो की आमदनी में वृद्धि हो।

वित्तीय आयोग ने अब यह स्पष्ट कर दिया है कि देश के आर्थिक उत्थान और सन्तुलित विकास के लिये सभी राज्यों के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपने साधनो मे वृद्धि कर सकें और केन्द्रीय सरकार पर कम आश्रित रहें। *अन्यथा*, आर्थिक उत्थान और राजस्व सम्बन्धी सभी क्षेत्रो मे पूर्ण सन्तुलन *सम्भव नहीं होगा।* केन्द्रीय सरकार की ओर से अब जो अनुदान और

अन्य मदों के अन्तर्गत हिस्सा राज्य सरकारो को प्रदान किया जाता है, वह भी अब प्रतिशत के रूप मे तथा आवश्यकतानुसार राज्य को दिया जाता है।

इन सभी बातों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य-वित्त-व्यवस्था मे अब अभूतपूर्व सुधार हो गये है।

निम्न तालिका राज्यो की आगम की सामूहिक स्थिति दिखाती है :—

राज्यों की आगम (करोड रु० में)

शीर्षक	१९५१-५२	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६९-७०
१. कर आगम	२८१	६२५	१११७ ७५	१६६७ ८१
२. अ-कर आगम	११५	३८७	७३२·४६	१००२ ०४
३. कुल आगम	३९६	१,०१२	१८५०·२१	२६६९·८५

यह तालिका इस बात को स्पष्ट करती है कि इन १८ वर्षों में राज्यो की सामूहिक आय ६ गुने से भी अधिक हो गई है, साधारणतया 'अ-कर-आगम' 'कर-आगम' की तुलना मे अधिक बढी है। अ-कर आगम की वृद्धि ८ गुनी है, जबकि कर आगम की वृद्धि ७ गुनी से कुछ कम ही है।

उक्त तालिका स्पष्ट करती है कि लगभग सभी राज्यो की आय का आधे से अधिक करो से प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार, कुल व्यय का आधे से अधिक विकास-व्यय है।

राज्य-बजटों की प्रमुख बातें

(१) घाटे का बजट—राज्यों के बजटो का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि आय मे वृद्धि होने पर भी प्रायः राज्य सरकारो को काफी बडे आकार के घाटे उठाने पडेंगे। इस विचित्र प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी प्रमुख घटक व्यय मे वृद्धि होना है और व्यय वृद्धि योजना-परिव्ययो की वृद्धि एव सरकारी कर्मचारियों व अध्यापकों को दी गई सुविधाओ (Reliefs) के कारण है।

(२) प्रसाधनो को गतिशील बनाने की दिशा में न्यून प्रगति—कीमतें निरन्तर बढते रहने और अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा प्रसारिक दबाव बढने के सन्दर्भ मे राज्य सरकारो को अतिरिक्त कर लगाकर, जनमत को रुष्ट करने की चिन्ता को समझना सहज है। किन्तु इस आधार पर राज्य सरकारे अपने उन उत्तरदायित्वो से नही बच सकती है जिनके लिए वे वचनबद्ध हैं। अनेक राज्यों ने प्रसाधनो को गतिशील बनाने मे बहुत सकोच दिखाया है। उनका विचार था कि यदि वे अपने बजटो मे गम्भीर घाटे न दिखायेगे तो वे विभाजन योग्य-आय मे से अधिक हिस्सा पाने के अपने दावे को चतुर्थ वित्त आयोग के समक्ष बल प्रदान नही कर सकेंगे।

(३) केन्द्र पर राज्यो की बढती हुई निर्भरता—हाल के वर्षों मे एक महत्त्वपूर्ण विकास यह है कि योजना एव गैर-योजना व्ययों की पूर्ति के लिए केन्द्र पर राज्य सरकारों की निर्भरता बढती जा रही है। केन्द्र द्वारा राज्यो को हस्तान्तरित कुल प्रसाधन औसतन प्रति वर्ष पहली योजना मे २८२ करोड रु०, द्वितीय योजनाकाल मे ५७३ करोड रु० और तीसरी योजनावधि मे ११३२ करोड रु० थे। १९६६-६७ मे १७०८ २ करोड रु० और १९६९-७० मे १९२७ करोड़ रु० हस्तान्तरित किये जाने का अनुमान था। इस वृद्धि का मुख्य कारण करो की विभाजन-योग्य राशि मे से तृतीय, चौथे, पाँचवे वित्त आयोगो की सिफारिश पर राज्यो को अधिक हिस्सा मिलना है। साथ ही, केन्द्र की कर-प्राप्तियाँ बढ़ जाने से भी हस्तान्तरित धन की राशि बढ गई है। केन्द्र द्वारा राज्यों को, इनके कुल व्यय के अनुपात के रूप मे, दिये जाने वाले ऋणो मे निरन्तर वृद्धि हो रही है।

(४) ऋण-सेवा-व्ययों में वृद्धि—केन्द्रीय सहायता में वृद्धि होने तथा कर-प्राप्तियाँ बढ़ने के बावजूद राज्यों को एक कठिन आय-व्यय स्थिति से गुजरना पड़ रहा है। गैर-विकास व्यय (Non-development expenditure) बढ़ने का एक कारण ऋणों पर अधिक ब्याज देना है। ऋण-सेवा व्यय (Debt Service charges) १९६०-६१ में ८४ करोड़ रुपये से बढ़कर १९६९-७० में ३७१ करोड़ रुपया हो गये। राजामन्नार आयोग (Rajamannar Commission) ने इस व्यय की समस्या पर विचार किया था। इन व्ययों में कमी लाने हेतु उनका एक प्रस्ताव यह था कि केन्द्र को विशाल सिंचाई परियोजनायें अपने हाथ में ले लेनी चाहिए। योजना आयोग ने इस प्रस्ताव को केवल विशेष दशाओं (जैसे राजस्थान नहर परियोजना) के लिए स्वीकार किया है। यह आलोचना की जाती है कि केन्द्र द्वारा यह नीति अपनाने से विभिन्न राज्यों के प्रति समानता का बर्ताव न हो सकेगा, क्योंकि जिन राज्यों में ऐसी परियोजनायें नहीं हैं वे केन्द्र की विशेष सुविधा का लाभ न उठा सकेंगे।

(५) योजना के लिए वित्तीय साधनों के मूल्यांकन में कठिनाई—जैसा कि हमने पहले भी बताया है, राज्यों के बजट की एक प्रमुख विशेषता यह है कि रेवेन्यू में यथेष्ट वृद्धि होने पर भी विशाल घाटे उदय हुए हैं क्योंकि व्यय में निरन्तर वृद्धि होती गई है। अधिकांश व्यय-वृद्धि सरकारी कर्मचारियों व अध्यापकों के महँगाई भत्ता बढ़ाये जाने के कारण थी। किन्तु वांछनीय तो यह है कि हम मजदूरी कीमत-वृद्धि-चक्र को खुली छूट देने के बजाय कीमतों को स्थायी रखने के लिए आवश्यक उपाय करें।

जिस सीमा तक आवश्यक था उस सीमा तक प्रसाधनों को गतिशील बनाने में राज्यों की असफलता ने आयोजकों के सम्मुख, चतुर्थ योजना (Fourth Plan) के लिए प्रसाधनों का मूल्यांकन करने में बड़ी कठिनाई उत्पन्न की। यह कहना तो ठीक न होगा कि सभी राज्य अपने लक्ष्य पूरे करने में असमर्थ रहे, क्योंकि कुछ राज्य (जैसे मद्रास, उड़ीसा) लक्ष्य से भी आगे बढ़ गये किन्तु कई राज्य नये कर लगने से उत्पन्न होने वाले जनरोष का सामना करने के लिए पर्याप्त साहस नहीं दिखा सके।

(६) ग्रामीण क्षेत्रों से बचत को आकर्षित करने में सकोच—अनेक बार यह बताया जा चुका है कि ग्रामीण क्षेत्रों की बचत आकर्षित करने के लिए आवश्यक उपायों के अपनाने में राज्यों ने जो सकोच प्रदर्शित किया है उसके लिए कोई समुचित आधार नहीं है। योजना आयोग ने भी बारम्बार इस बात पर जोर दिया है कि मालगुजारी और खुशहाली करों में तीव्र वृद्धि करनी चाहिए। ग्रामीण करारोपण के विस्तृत क्षेत्र का अनुमान निम्न आंकड़ों से लगाया जा सकता है—१९६४-६५ में, कुल कर-आय २,३९९ करोड़ रुपया में से ग्रामीण करारोपण से आय केवल ६८७ करोड़ रु० ही थी। इसका अर्थ यह है कि देश की ८०% जनसंख्या वाले क्षेत्र ने केवल २९% आय-दान दिया। इसे एक अन्य दृष्टिकोण से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष कर-भार का राष्ट्रीय औसत ५२ रुपया है। जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह केवल १८ रुपया है तब शहरी क्षेत्रों में २०५ रु० तक है। इससे ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों की कर-सरचनाओं के मध्य गम्भीर असमानताओं का पता चलता है। कोई भी व्यक्ति यह तर्क नहीं करेगा कि समस्त ग्रामीण वर्गों में कर-भार एक समान होना चाहिए। किन्तु प्रगतिशील करारोपण द्वारा ऊँची ग्रामीण आयों पर अधिक कर-भार डालना सम्भव हो सकता है। यदि केन्द्र ही अत्यधिक भार ढोता रहा तथा राज्य सरकारें अपने दायित्वों को न निबाहें, तो चौथी योजना की वित्त-व्यवस्था सम्बन्धी समस्या बहुत जटिल रूप धारण कर लेगी।

राज्य सरकारों के राजस्व में नई प्रवृत्तियाँ
[वित्त-आयोगो की सिफारिशो के आधार पर]

(१) भारत मे जो 'वित्त आयोग' (Finance Commission) गठित किये गये हैं, उनकी रिपोर्ट मे इस बात पर बल दिया जाता रहा कि देश के आर्थिक-उत्थान के लिए **केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय राजस्व में पूर्ण समन्वय** होना चाहिये । कारण, समन्वय के अभाव मे प्रायः असन्तुलित राजस्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिससे देश के विकास और सन्तुलन मे बाधा उत्पन्न हो सकती है ।

(२) इसके अतिरिक्त वह सब राज्य, जिनका औद्योगीकरण उन्नत दशा में पहुँच पाया है, उनकी आमदनी अन्य राज्यो के मुकाबिले अधिक होती है, किन्तु केन्द्रीय राजस्व की कमियो के कारण उन्हें उतना अधिक प्राप्त नही हो रहा था, जितना कि होना चाहिये या उनकी आशायें है । इस सङ्घर्ष को समाप्त करने के लिए तथा राजस्व मे समानता और सन्तुलन लाने के लिये एक **'आय-हस्तान्तरण योजना'** (Devolution Scheme) का निर्माण किया गया । इसके अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा एकत्रित धन मे से विभिन्न राज्यों को कई तरह से अनुमान लगाने के उपरान्त हिस्सा बाँटना आवश्यक समझा गया ।

(३) वित्तीय आयोगों की सिफारिशों के फलस्वरूप देश की **राजस्व-पद्धति और स्वरूप** में एक तीव्र परिवर्तन सम्भव हो सका है । वास्तव मे, इन सिफारिशो की अत्यधिक सराहना की गई । तृतीय वित्तीय आयोग ने एक सुझाव यह भी दिया था कि समय-समय पर तथा आवश्यकतानुसार देश के राजस्व सम्बन्धी तथ्यो के बारे मे पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए वित्तीय आयोगो की स्थापना होनी चाहिए । उनकी जो सिफारिशें प्राप्त हो, उन्ही के आधार पर जहाँ तक सम्भव हो, देश मे राजस्व-व्यवस्था का प्रबन्ध होना चाहिए । इसमें कोई सन्देह नही कि इन वित्तीय आयोगो की रिपोर्टें देश के लिए अत्यधिक लाभपूर्ण और व्यावहारिक सिद्ध हुई ।

(४) इस प्रकार, पिछले १८ वर्ष का राज्यो की वित्तीय परिस्थिति के बारे में यदि हम एक विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो हमे निम्नलिखित बातें मुख्य रूप मे दिखाई देंगी :— (i) इस अवधि में प्रायः सभी राज्यो की आय और व्यय की मात्रा मे अधिक वृद्धि हुई है । (ii) उन स्रोतो से भी अब धन प्राप्त किया जाता है, जिनसे पहले नही किया जाता था । दूसरे शब्दों मे, अब राज्यो में करो की मात्रा और आकार मे अत्यधिक वृद्धि हुई है । (iii) अब तक चार वित्तीय आयोगो ने राज्य के वित्तीय साधनों के बारे मे विस्तृत रिपोर्ट दाखिल की है और उन्ही के अनुसार काम हो रहा है । (iv) केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के राजस्व के क्षेत्र मे अब पहले से अधिक समन्वय हो गया है । (v) केन्द्रीय सरकार की ओर से राज्य सरकारों को विभिन्न करो के हिस्से और अनुदानो के बारे मे विस्तृत और विश्लेषणात्मक तरीके अपनाये जाने लगे हैं, जिनका आधार वित्तीय आयोग की सिफारिशे है ।

राजस्थान का १९६९-७० का बजट

वित्तमंत्री श्री मथुरादास माथुर ने ९ मार्च १९७० को राज्य विधान सभा मे २९·६८ करोड रु० के घाटे का बजट पेश किया । बजट मे चावल की शराब, शीतल पेयों, सिलेसिलाए कपडो, सीमेंट, मोटर के पुर्जों, कार्न फ्लेक्स (खाद्यान्न से बने पदार्थों) और लिखने के कागज पर भारी करो की घोषणा की गई है । उन्होंने उन छात्रो पर शिक्षा-शुल्क बढ़ाने की भी घोषणा की जिनके माँ-बाप आय-कर देते है । वित्तमन्त्री ने विभिन्न मदो मे हेर-फेर और नये कर लगाकर ३ करोड़ ८७ लाख रुपये की अतिरिक्त आय के अनुमान की घोषणा की ।

१९७०-७१ के बजट मे राजस्व एव पूँजी खातो मे ३५ करोड़ ४२ लाख रुपयो का

घाटा बताया गया जो केन्द्रीय करो के २ करोड ४५ लाख रुपये की प्राप्ति से घटकर ३२ करोड ६७ लाख रुपया हो जायेगा। यह घाटा योजनाओं मे ३८ लाख रुपये की रद्दोबदल कर देने से और ३ करोड ६२ लाख की अतिरिक्त अनुमानित आय के कारण घटकर २६ करोड ६८ लाख रुपया रह जायेगा। वित्तमन्त्री ने आशा व्यक्त की कि यह घाटा भारत सरकार से मिलने वाली विशेष सहायता से पूरा हो जायेगा। अतः उन्होंने इसे सन्तुलित बजट माना है।

वित्तमन्त्री ने व्यापारिक फसलो पर शुल्क की समाप्ति की घोषणा की जिससे राजस्व आय मे २५ लाख रुपये की हानि होगी। श्री माथुर ने कहा कि पाँच एकड तक की जोतो पर कोई खुशहाली कर न लेने का प्रस्ताव है। ५ एकड से १६ एकड से कम तक की जोतो पर खुशहाली कर की वसूली की अवधि निर्धारित अवधि से दुगुनी तक बढा दी जायगी।

शहरी भूमि कर, जो १९६४ मे लगाया गया था और जिस पर राज्य सरकार ने अब तक लागू करने पर पाबदी लगा दी थी, अब उसे लागू करने का निर्णय लिया गया है। इससे ५ लाख रु० की आय होगी।

अनिवार्य बीमा योजना के अन्तर्गत राज्य कर्मचारियों द्वारा दिये जाने वाले प्रीमियम मे मामूली बढोत्तरी करने की घोषणा की गई है।

उत्तर प्रदेश का १९७०-७१ का बजट

उत्तर प्रदेश के वित्तमत्री श्री बलबीरसिंह ने १९७०-७१ का अट्ठाइस करोड इक्तीस लाख रुपये घाटे का बजट पेश किया। बजट मे उन्होंने घाटे के बावजूद किसी तरह के नए कर का प्रस्ताव नही रखा है। राजस्व आय ४५५ २५ करोड रुपए और पूँजीगत ४३·१५ करोड रु० दिखाई गई है जब कि दोनो मदो मे क्रमश व्यय ४१३·८० और १०८ ८६ करोड़ रुपये है।

वित्तमन्त्री ने अप्रैल, मई और जून के लिए १५३ करोड़ ६ लाख रुपये के अन्तरिम बजट (लेखानुदान) को भी पेश किया।

बजट पेश करते हुए मन्त्री महोदय ने कहा कि छोटी जोतो पर लगान माफी से सरकार को ५·८ करोड रु० का घाटा होगा। इसके साथ ही रासायनिक खाद पर बिक्री कर खत्म करने से भी सरकार को ३ करोड रुपये की हानि उठानी पड़ेगी।

राजस्व खाते मे जहाँ ४१·४५ करोड रु० की बचत है वहाँ पूँजीगत खाते मे ६५·७१ करोड रुपए का घाटा होगा।

मध्य प्रदेश का बजट

२५ जून १९६९ को विधान सभा मे मध्य प्रदेश का १९६९ ७० का बजट पेश किया गया। बजट मे २९ ६४ करोड रु० का घाटा दिखाया गया। इसमे राजस्व खाते का २४·४६ करोड रु० का गैर-परियोजना घाटा भी शामिल है। बजट पेश करते हुए वित्तमन्त्री श्री के० एल० दुबे ने कहा कि गैर-परियोजना राजस्व के घाटे का कारण महँगाई भत्ते मे वृद्धि, अकाल सहायता कोष मे दिये धन मे वृद्धि आदि है।

इस बजट द्वारा कुछ अतिरिक्त साधन जुटाने के प्रयास किये गये हैं। इनमे अफीम, गन्ना, और तम्बाकू उगाने वाली भूमि पर कर की वर्तमान दर, जिसे वाणिज्य फसल कर कहा जाता है, २ रुपये प्रति एकड से बढाकर ४ रु० प्रति एकड करने का प्रस्ताव है। इसके साथ ही इसी दर से यह कर सन, रमेटा, राईबीज, सरसो, तिल और गुलाबी चना उगाने वाली भूमि पर भी लगाया जायेगा। कपास और मूँगफली पर कर की वर्तमान दर, जो २ रु० प्रति एकड है, कायम रहेगी, किन्तु जिन खेतो का आकार साढ़े सात एकड से अधिक नही है या जिनका भू-राजस्व पाँच रुपयो से अधिक नही है उन पर यह कर नही लगेगा।

वाटर वर्क्स से दिये जाने वाले जल की दरों मे अगस्त से कुछ वृद्धि की गई है।

वाणिज्य फसल कर में वृद्धि से ६६-७० मे ५० लाख रु० की अतिरिक्त आय की और जल की दर वृद्धि से ३० लाख रु० की अतिरिक्त आय होने की आशा है।

मोटर गाड़ी अधिनियम १९६२ के अधीन निजी वाहनो से ली जाने वाली फीस को लोक वाहनों से ली जाने वाली समझौता फीस के बराबर कर दिया जायेगा, जिससे १० लाख रु० की अतिरिक्त आय की सम्भावना है। कपास पर बिक्री कर दर २ प्रतिशत से बढाकर ३ प्रतिशत करने का प्रभाव है, जिससे १० लाख रुपये की अतिरिक्त आय होने की सम्भावना है।

प्रस्तुत किये गये बजट पर राजनैतिक क्षेत्रो मे मिश्रित प्रतिक्रिया हुई है। विपक्षी नेताओ ने वाणिज्य फसल कर का विरोध किया है और नये कर प्रस्तावो को जन विरोधी बताया है। अधिकांश विरोधी नेताओं के मत में सविद शासन काल मे प्रस्तुत किये गये बजट मे जिन करों का कांग्रेस विरोध करती रही, उन्ही को उसने अब जनता पर लाद दिया है। एक जनसघी नेता ने उसमें बेरोजगारी का उल्लेख न होने पर खेद प्रकट करते हुए कहा कि जल-कर मे की गई वृद्धि से मुख्यतः गरीब वर्ग प्रभावित होगा।

वित्त मन्त्री ने आशा प्रकट की कि २४·४६ करोड रु० का सारा गैर-योजना घाटा पाँचवाँ वित्त-आयोग राज्य की जरूरतो को ध्यान में रखकर के केन्द्रीय अनुदान मे पूरा करेगा। केन्द्र द्वारा लगाये गये करों से होने वाली अतिरिक्त प्राप्तियाँ व लॉटरी से होने वाली ४० लाख रु० की आय से अन्य खातों मे घाटा घटकर केवल ३·७३ करोड रु० रह जाने की आशा व्यक्त की गई। नये करो से १·१० करोड रु० प्राप्त होंगे, अतः वास्तव मे २·६३ करोड रु० का घाटा होगा। इसे पूरा करने के लिए कोई व्यवस्था नही की गई है।

परीक्षा प्रश्न :

१. उत्तर प्रदेश या किसी अन्य भारतीय राज्य के आय-व्यय का संक्षिप्त विवरण दीजिये। आँकड़े अधिकतम् होने चाहिये।

२. भारत मे स्वतन्त्रता के पश्चात् राज्यों के वित्त-प्रबन्ध की मुख्य विशेषताओ पर विचार कीजिये।

३. भारत मे राज्य सरकारों की आय के प्रमुख साधन कौन-कौन से है? क्या आप यह समझते हैं कि ये साधन उनके लिए पर्याप्त है? राज्य सरकारो की आय को बढाने के लिए अपने सुझाव दीजिए।

१५

भारत में स्थानीय वित्त

(Local Finance in India)

स्थानीय संस्थाओं का अर्थ

स्थानीय संस्थाओं का आशय नगर निगम (Corporation), नगरपालिका, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और पचायत आदि से है। उत्तर प्रदेश के पांच बडे प्रान्तो—कानपुर, आगरा, बनारस, इलाहाबाद और लखनऊ मे, जिन्हे सक्षेप मे 'KABAL' Towns कहते हैं, नगरपालिका के स्थान पर नगर निगम (Corporations) बना दिये गये हैं। प्रान्त के अन्य शहरो मे नगरपालिकायें ही कार्य कर रही हैं। पहले प्रत्येक जिले मे ग्रामीण क्षेत्रो की देख-भाल के लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्ड बने हुए थे। अब प्रत्येक गांव का प्रबन्ध पचायतो के हाथ मे दे दिया गया है।

विगत वर्षो मे स्थानीय शासन के रूप मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। अधिकांश राज्यो ने शासन के विकेन्द्रीयकरण की नीति अपनाई है, जिसके अन्तर्गत पचायती राज की नयी प्रणाली का उद्घाटन हुआ है। पचायती राज के अन्तर्गत सबसे नीचे तो ग्राम पचायत होती है, इसके ऊपर विकास खण्ड और इसके भी ऊपर पचायत समिति, जो एक पूरे जिले से सम्बन्धित होती है। पचायती राज-सस्थाओं को विकास तथा सार्वजनिक क्षेत्रो मे महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय एव वित्तीय अधिकार दिये गये हैं। आन्ध्र प्रदेश, राजस्थान, मद्रास, मैसूर, असम, उड़ीसा, पजाब, हरियाना और उत्तर प्रदेश ने पचायती राज-व्यवस्था कार्यशील कर दी है। शेष राज्यो मे तो इसे कार्यशील किया जा रहा है या इस सम्बन्ध मे आवश्यक नियम बनाये जा रहे हैं। सविधान की धारा ४० के अन्तर्गत समस्त देश मे ग्राम-पचायते स्थापित की गयी। इन पचायतो का निर्वाचन ग्राम-सभाओ द्वारा किया जाता है, जिन्हे ग्रामो की समस्त वयस्क जन-सख्या चुनती है। कृषि-उत्पादन ग्रामीण-उद्योग, चिकित्सा निवारण, प्रसूत और शिशु-कल्याण, चरागाहो की देख-भाल, ग्रामीण सड़को, तालाबो आदि की देख-भाल, सफाई इत्यादि कार्य ग्राम-पचायतो का सौंप गये हैं। कही-कही पर प्रारम्भिक शिक्षा, ग्रामीण खातो का रखना और भू आगम का एकत्रण भी ग्राम-पचायतो को सौंप दिये गये है। इन पचायतो को मकानो, जमीन, मेलो, त्यौहारो, माल की बिक्री आदि पर कर लगाने का अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त ये चुङ्गी वसूल करती हैं और *स्थानीय सम्पत्ति से आय प्राप्त करती हैं।*

(I) नगरपालिकायें एव नगर निगम

आय-साधन—

भारत मे नगरपालिकायें निम्नलिखित साधनो से आय प्राप्त करती हैं :—(१) **प्रत्यक्ष कर**—स्थानीय सरकार द्वारा लगाये गये प्रत्यक्ष करो मे स्थान, सम्पत्ति तथा मकान का प्रमुख स्थान है। ये कर मालिको पर लगाए जाते हैं जिनका आधार मकानो के वार्षिक किराए को बनाया जाता है। इसके अलावा व्यापार तथा पेशो पर भी कर लगाकर आय प्राप्त की जाती है। कुछ प्रान्तो मे व्यक्ति पर भी कर लगाया जाता है। नगरपालिकायें, पशुओ, यात्रियो, बाजारो

तथा मनोरंजन पर कर लगाती हैं। (२) **अप्रत्यक्ष कर**—नगरपालिकायें कुछ अप्रत्यक्ष कर भी लगाकर आय प्राप्त करती हैं। इन करो मे प्रमुख कर चुङ्गी कर है। यह कर अन्य स्थानो से नगरपालिका के क्षेत्र में आने वाले सामान पर लगाया जाता है। यह कर वस्तु के मूल्य के आधार पर लगाया जाता है। जिन वस्तुओं पर सीमा कर अथवा उत्पादन कर लगा दिया जाता है उन पर यह कर नहीं लगाया जाता, जैसे—नमक, शराब, घरेलू सामान आदि। इस कर के कई दोष हैं:—(i) एकत्र करने मे असुविधा, (ii) व्यापार की उन्नति मे बाधा, (iii) कर से बचाव, (iv) असुविधा तथा अनिश्चितता, (v) रिश्वतखोरी को बढ़ावा। (३) **व्यापारिक कार्यो से प्राप्त आय**—नगरपालिकाएँ कुछ व्यापार भी करती हैं जिनमें उनको काफी आय प्राप्त होती है, जैसे—जल-वितरण, बिजली वितरण तथा आवागमन के साधन। जल-कर दो प्रकार से लिया जाता है—एक तो सामान्य रेट से तथा दूसरा उपभोग के अनुसार। (४) **राज्यों द्वारा प्राप्त अनुदान**—नगरपालिकाओं को उपर्युक्त साधनो से पर्याप्त आय प्राप्त नही हो पाती, अत: इनको राज्य सरकार की ओर से आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। अनुदान तीन प्रकार से मिलता है:—(i) किसी विशेष मद पर जितना व्यय करे उसका निश्चित प्रतिशत, (ii) किसी मद पर व्यय करने के लिए निश्चित मात्रा और (iii) प्रति इकाई के हिसाब से अनुदान। भारतवर्ष मे नगरपालिकाओं को दो प्रकार के अनुदान दिये जाते है—आवर्ती अनुदान जो प्रति वर्ष दिये जाते है तथा समावरुद्ध अनुदान विशेष कार्य के लिए विशेष अवसरो पर दिये जाते हैं।

नगरपालिकाओं के व्यय की मदें—

नगरपालिकाओ के व्यय की मदे निम्नलिखित हैं:—(१) **साधारण प्रबन्ध और कर-प्राप्ति का व्यय**—यह व्यय नगरपालिका के दफ्तरो पर और कर प्राप्ति के लिए रखे जाने वाले कर्मचारियो के वेतन, पेन्शन, वार्षिक वृत्ति आदि पर होता है। (२) **जन शिक्षा**—इसमे निम्नलिखित मदे हैं—यह व्यय सडको और गलियों मे रोशनी, पुलिस या चौकीदारी या आग बुझाने की मोटर, जगली जानवरो तथा साँपो को मारने का इनाम आदि पर होता है। (३) **जन-स्वास्थ्य और सुविधा**—इसमें निम्नलिखित मदें हैं:—(अ) जल प्रबन्ध, गन्दे पानी का बहाव, मैला-सफाई, सडको पर पानी, मवेशी या मशीनें, (आ) हैल्थ ऑफीसर, सैनिट्री इन्सपेक्टर, अस्पताल, डिस्पेन्सरियाँ और चेचक, प्लेग, हैजा आदि का टीका, (इ) बाजार, उद्यान, कसाईखाने, सराय, डाक-बगले और सफाई, पशु-चिकित्सा, जन्म-मृत्यु का ब्यौरा। (४) **नागरिक-निर्माण कार्य**—इस मद मे सडकें और इमारतें बनवाने और मरम्मत कराने का व्यय सम्मिलित है। (५) **शिक्षा**—इस मद मे प्राथमिक पाठशालाओं, स्कूलो, रात्रि-पाठशालाओ, पुस्तकालयो और पाठन-भवनों आदि को दी जाने वाली सहायता सम्मिलित है। (६) **ऋण या ब्याज**—इस मद मे पुराने ऋण को लौटाने और ब्याज का व्यय सम्मिलित है।

(II) जिला बोर्डों की आय-व्यय के साधन

आय-साधन—बोर्डों की आय का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत प्रान्तीय महसूल होता है, जो भूमि पर लगाया जाता है। प्रान्तीय सरकार वार्षिक लगान वसूल करते समय प्राय एक आना फी रुपया और वसूल करते हैं जो इन बोर्डों को दे दिया जाता है। यह कर समान दर पर लगाया जाता है और इसलिए धनिको की अपेक्षा निर्धनो को अधिक बलिदान करना पडता है। किन्तु, क्योकि इसकी आय गाँव वालो के लाभ के लिए ही व्यय की जाती है, इसलिए इसमें बडा दोष नही। आय के दूसरे स्रोत नागरिक निर्माण होते हैं जो तालाब, घाट, सड़क आदि पर कर वसूल किये जाते है। इनकी आय की सम्पूर्ण सूची निम्नलिखित है:—(i) प्रान्तीय सरकार से सहायता, (ii) मालगुजारी के अतिरिक्त भूमि पर लगाया गया स्थानीय कर, (iii) हैसियत कर, (iv) पशुओ के पानी पीने के स्थानों का महसूल, (v) घाट और पुल का महसूल, (vi) शिक्षा

से आय, (vii) चिकित्सा सम्बन्धी आय, (viii) बाजार, दूकान, मेले और प्रदर्शिनियों से आय, (ix) सम्पत्ति से आय, एवं (x) खेती, बीज और औजारों की बिक्री से आय।

बोर्डों के व्यय की सबसे बड़ी मद शिक्षा है जिसका महत्त्व पिछले दस वर्षों में बहुत हो गया है। व्यय का क्रमशः दूसरा महत्त्वपूर्ण मद नागरिक निर्माण, जैसे—सड़क और पुल हैं। चिकित्सा पर भी काफी व्यय किया जाता है। व्यय के प्रमुख मद निम्नलिखित हैं :—(i) सामान्य शासन और कर-वसूली का व्यय, (ii) इमारतें, पशुओं की चरही आदि का बनवाना, रक्षा करना और मरम्मत करना, (iii) स्कूल और शिक्षा पर व्यय, (iv) अस्पताल तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य, (v) पशु-चिकित्सा, (vi) मेले, प्रदर्शनी आदि, (vii) खेती और बागवानी, (viii) सार्वजनिक निर्माण कार्य, और (ix) भूमि को खेती योग्य बनाना।

(III) ग्राम पचायतों के आय-व्यय

आय के साधन—ग्राम-पचायतों की आय के साधनों को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—कर तथा अन्य साधन। पचायतें गाँवों में भूमि पर उपकर लगाकर, गाँव में होने वाले व्यापार पर व्यापार कर लगाकर हैसियत कर तथा मकान-कर लगाकर आय वसूल करती हैं। इन करों के अलावा पचायतें सार्वजनिक स्थानों का किराया लेकर, घास की बिक्री करके, झगड़ों के फैसले में दण्ड द्वारा आय प्राप्त करती हैं। इनको राज्य से सहायता भी प्राप्त होती है।

ग्राम पचायत के व्यय—ग्राम-पचायतें अनिवार्य ऐच्छिक कार्यों पर व्यय करती हैं। मार्ग तथा नालियाँ बनवाना, शुद्ध जल की व्यवस्था करना, तालाब व कुओं की सफाई कराना, मरम्मत तथा रक्षा करना, रोशनी का प्रबन्ध करना, हाट आदि लगाना, पाठशाला चलाना, चिकित्सा का प्रबन्ध करना तथा रोगों को रोकना आदि आवश्यक कार्य हैं। बाग लगाना, सड़कों पर वृक्ष लगाना, खेल के मैदानों की व्यवस्था करना, व्यायामशालायें बनाना, पुस्तकालय खोलना, गरीबों की सहायता करना, आग बुझाने की व्यवस्था करना, उद्योग-धन्धे विकसित करना आदि ऐच्छिक कार्य हैं।

भारत में स्थानीय वित्त के साधनों की अपर्याप्तता

प्रजातन्त्रीय देशों में स्थानीय स्वशासन को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। क्योंकि इसके द्वारा ही जनता को पहले पहल प्रजातन्त्र के नियमों और सिद्धान्तों का परिचय मिलता है। श्री नेहरू के शब्दों में, "स्थानीय स्वशासन वास्तविक प्रजातन्त्र का आधार है और होना भी चाहिए। हम उच्च-स्तर पर तो प्रजातन्त्र के विषय में सोचते हैं लेकिन निम्न स्तर पर प्रजातन्त्र की उपेक्षा कर देते हैं। वास्तव में यदि निम्न स्तर पर प्रजातन्त्र ठीक प्रकार से स्थापित नहीं है, तो उच्च स्तर पर भी प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता है।"

स्थानीय निकायों का इतना महत्त्व होते हुए भी आज उनके वित्तीय साधन उनके कार्यों के अनुपात में बहुत कम हैं। वर्तमान समय में उनके कार्यक्षेत्र को बहुत बढ़ा दिया गया है जबकि आय के साधनों में कोई विस्तार नहीं किया गया है। वास्तविकता तो यह है कि आय के साधनों के सम्बन्ध में स्थानीय निकायों पर अधिक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। नये करों को लगाने के प्रस्ताव पारित करने के लिए स्थानीय संस्थाओं को पहले राज्य-सरकारों की अनुमति लेना पड़ती है। यदि भारत की स्थानीय संस्थाओं के वित्तीय साधनों पर विदेशों के सन्दर्भ में ध्यान दिया जाय, तो वित्तीय साधनों की अपर्याप्तता और भी गम्भीर जचेगी।

वित्तीय साधनों की अत्यधिक अपर्याप्तता के कारण—

भारत में स्वायत्त संस्थाओं के वित्तीय साधनों के अपर्याप्त होने के निम्नलिखित कारण हैं :—(i) उनका कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत है कि वे करदाताओं के निकट सम्पर्क में

नहीं आने पाती। यदि उनका कार्य-क्षेत्र उचित होगा, तो सुगमता से कर लगाने में समर्थ होगी। (ii) लोगों की कर-दान क्षमता बहुत कम है, क्योंकि जबकि आये अल्प हैं तब परिवारों का आकार बड़ा होता है। (iii) आय के कुछ महत्त्वपूर्ण साधनों (जैसे—भूमि-कर) पर राज्य सरकारों ने अधिकार कर रखा है जबकि पश्चिमी देशों में इन पर स्थानीय सरकार का अधिकार होता है। (iv) स्थानीय स्वायत्त संस्थायें नीचे संस्थायें नीचे से उदय न होकर ऊपर से बलात् लादी गई हैं इसलिये व्यक्तियों में इनका समर्थन करने के लिए पर्याप्त उत्साह का अभाव होता है। (v) स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के सदस्यों में साहस की कमी भी आय के साधनों की अपर्याप्तता का मुख्य कारण है। वे लोग इस बात से डरते हैं कि यदि उन्होंने कोई कड़ा कदम उठाया, तो जनता उन्हें अगले चुनाव में नहीं चुनेगी। अतः वे कर लगाने की शक्ति का पूरा प्रयोग नहीं करते। (vi) प्रबन्ध की कमी और अकुशल प्रशासन के कारण भी पुराने करों के धन का भुगतान नहीं होने पाता। (vii) केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार एवं स्वायत्त सरकारों के बीच आय के साधनों का उचित विभाजन नहीं है। (viii) जिला बोर्डों के प्रशासन का तरीका भी उत्तम नहीं है। सदस्य अशिक्षित होते हैं, उन्हें साम्प्रदायिक आधार पर चुन लिया जाता है, चाहे वे अकुशल क्यों न हों। ऐसे लोग प्रशासन-कार्य कुशलता से नहीं चला सकते। (ix) कर इस ढङ्ग से लगाए जाते हैं कि उनका भार गरीब जनता पर अधिक पड़ता है और धनी लोग बच जाते हैं।

अतः यह कहना सत्य है कि धनकी कमी के कारण म्यूनिसिपल प्रगति में बाधा पड रही है और धन की यह कमी मुख्यतः कर बढ़ाने के दायित्व से बचने के प्रयास, करों की वसूली में ढील एवं वित्त-व्यवस्था के सिद्धान्तों का उल्लंघन होने के कारण है।

वित्तीय साधनों की वृद्धि के लिए सुझाव—

भारत सरकार द्वारा नियुक्त की गई इस जाँच कमेटी ने स्थानीय निकायों को आय के साधनों में सुधार करने के लिए निम्न सुझाव दिये :—(i) रेलवे, समुद्र और वायु मार्ग से आने वाली वस्तुओं पर केन्द्रीय सरकार सीमा-कर लगाये तथा इससे प्राप्त आय स्थानीय निकायों को दे, (ii) बिजली, मोटर गाड़ियों के अतिरिक्त अन्य गाड़ियों, भूमि, इमारतों, अचल सम्पत्ति और मनोरंजन कर पूर्णतः स्थानीय निकायों को दे दिये जायें, (iii) स्थानीय निकायों को अधिक से अधिक कर लगाने के लिए प्रेरित किया जाय, (iv) प्रत्येक राज्य में वसूल की जाने वाली चुँगी की एक स्पष्ट सूची बनाई जाय, (v) एक हजार रुपये प्रति वर्ष से अधिक आय वाले व्यक्तियों पर व्यवसाय-कर लगा दिया जाय, (vi) होटलों में जाने वाले व्यक्तियों पर कर लगा देना चाहिए, (vii) स्थानीय निकायों को मोटर गाड़ियों पर कर लगाना चाहिए। इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने से स्थानीय निकायों की आय में ४० करोड़ रुपया वार्षिक की वृद्धि सम्भव बताई गई थी।

निष्कर्ष—

वास्तव में, स्थानीय राजस्व की समस्याओं को हल करने के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है, क्योंकि जब स्थानीय स्वशासन का पूर्ण विकास हो जायेगा, तब स्थानीय सेवाओं का भी पूर्ण विकास करना होगा और इस कार्य के लिए स्थानीय राजस्व के साधनों का पूर्ण विकास करना तथा वित्तीय कुशलता का ऊँचा स्तर स्थापित करना जरूरी है।

परीक्षा प्रश्न :

१. भारत में स्थानीय सरकारों के आय-व्यय के स्रोतों पर संक्षिप्त प्रकाश डालिये।

2. What are the shortcomings of the local finance in India ? Suggest remedies.

परिशिष्ट

पाँचवे वित्त आयोग की सिफारिशें

(Recommendations of the Fifth Finance Commission)

पाँचवे वित्त आयोग की नियुक्ति श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता मे फरवरी १९६८ मे की गई थी। आयोग ने अपनी अन्तरिम रिपोर्ट अक्टूबर १९६८ मे और अन्तिम रिपोर्ट जुलाई १९६९ मे दी।

अन्तरिम रिपोर्ट में की गई सिफारिशें—(i) आय कर, संघीय उत्पादन-कर और सम्पदा-कर के वितरण के वर्तमान स्वरूप को बनाये रखा जाय। किन्तु कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्तियो पर कर की शुद्ध राशि का ३% (पहले यह २% था) केन्द्र शासित भागों को हस्तान्तरित करने की सिफारिश की गई। (ii) अभी तक ११ राज्यो को वार्षिक अनुदान दिये जा रहे थे पाँचवे आयोग ने विहार व प० बगाल को भी अनुदान देने एव आध्र, असम, जम्मू-काश्मीर, म० प्र०, नागालैंड व राजस्थान के अनुदानो मे वृद्धि करने की सिफारिश की। (iii) कुल कर-वसूली मे से सभी राज्यो के भाग की राशियाँ बढाई गई। (iv) रेल यात्री कर को समाप्त कर दिया गया और इसके बदले में क्षति पूरक अनुदान देने की सिफारिश की गई। (v) कुछ राज्यो द्वारा रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया से अनाधिकृत ओवर ड्राफ्ट्स लेने के सम्बन्ध मे भी सिफारिशे की गई, किन्तु सरकार ने अभी इन्हे स्वीकृति नही दी है।

अन्तिम रिपोर्ट—अन्तिम रिपोर्ट मे उक्त सिफारिशो का सक्षिप्त उल्लेख है और अन्य प्रश्नो पर दी गई सिफारिशो पर हमने नीचे सक्षिप्त प्रकाश डाला है। कमीशन की सिफारिशो का शुद्ध परिणाम यह होगा कि राज्यों को भविष्य मे केन्द्रीय सरकार से अधिक रकम हस्तान्तरित हो सकेगी। इस प्रकार आयोग ने राज्यो की अधिक प्रसाधन सम्बन्धी माँग को यथाशक्ति पूरा किया है।

(I) करों एव चुंगियों में हिस्सा—

अभी तक अग्रिम आय कर (Advance Income-tax) की वसूलिया जिस वर्ष मे की जाये उस वर्ष के विभाजन योग्य आय-कर के कोष (Divisible Pool of Income-tax) मे सम्मिलित न होकर उस वर्ष के विभाजन योग्य आय कर के कोष मे सम्मिलित की जाती थी जिसमे कि वह समायोजित (Adjust) की जायें। राज्यो के अनुरोध पर पाँचवें वित्त आयोग ने अग्रिम आय-कर की वसूलियो को वसूली वाले वर्ष के विभाजन योग्य आय-कर-कोष मे ही सम्मिलित करने की सिफारिश की।

(१) आय-कर में हिस्सा—१९६९-७० से १९७३-७४ की अवधि के लिये कमीशन ने संघीय क्षेत्रो का शुद्ध आय-कर-प्राप्तियो मे हिस्सा २.५% (चतुर्थ आयोग) से बढ़ाकर २.६% कर दिया है। राज्यो का हिस्सा पहिले आयोग ने ५०%, दूसरे ने ६०%, तीसरे ने ६६⅔% और चौथे आयोग ने ७५% रखा था, जिसे राज्यो ने बढाकर ८० से १००% तक करने का अनुरोध किया। किन्तु पाँचवे आयोग ने उनका हिस्सा ७५% ही बनाये रखा है।

हाँ, अग्रिम कर की वसूली को शामिल कर लेने से आय-कर के वितरण योग्य कोष का आकार बढ़ जायेगा।

राज्यो के मध्य वितरण का सिद्धान्त कौन-सा अपनाया जाय, इस बारे मे आयोग के सामने विभिन्न सुझाव आये। सब बातों पर विचार करते हुए कमीशन ने प्रत्येक राज्य का हिस्सा निर्धारित करने मे जनसंख्या को ९०% और १०% कर-निर्धारण (Assessments) को भार दिया। पहिले आयोग ने जनसख्या को ८०% और कर सग्रह को २०% भार दिया था। दूसरे आयोग ने इन्हें ९०%और १०% रखा। तीसरे आयोग ने पुन: ८०% और २०% कर दिया। चौथे आयोग ने इन्ही को बनाये रखा किन्तु पाँचवे आयोग ने पुन: ९०% और १०% कर दिया है। द्वितीय आयोग की भाँति उसने भी जन-सख्या को राज्य की आवश्यकता का सामान्य मापक स्वीकार किया। (प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ आयोगो ने जन-सख्या के साथ-साथ कर-वसूली (Collections) को भार दिया था किन्तु पाँचवे आयोग ने जन-सख्या के साथ-साथ कर निर्धारण (Assessments) को।) 'कर-सग्रह' के बजाय 'कर निर्धारण' को महत्त्व देने का कारण यह था कि उसमे उन राज्यो को अधिक लाभ हो जाता था, जिनमे औद्योगिक केन्द्र है।

(२) संघीय उत्पादन-कर—सविधान के अनुच्छेद २७२ के अधीन सघीय (बुनियादी) उत्पादन करो से, जोकि केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये और वसूल किये जाते है, प्राप्त धन मे से राज्य सरकारें हिस्सा पाती हैं; किन्तु विशेष उत्पादन करो एव नियमनकारी ड्यूटियो के सम्बन्ध मे, जो कि विशेष अधिनियमो के अधीन लगाई जायँ, विभाजन के लिये प्रावधान नही है। इस समय राज्य सरकारो को २०% हिस्सा मिल रहा था जिसे उन्होने बढाकर ३० से ५०% करने का अनुरोध किया। कुछ राज्यो ने विशेष उत्पादन करों के प्राप्त धन मे से भी हिस्सा देने की माँग की। सघ व राज्य सरकारो के भावी आय-व्ययो को विचार मे लेते हुये कमीशन ने बुनियादी उत्पादन करो मे राज्यो का हिस्सा २०% ही बनाये रखा है। किन्तु साथ ही १९७२-७३ और १९७३-७४ के वर्षों के लिये वितरण योग्य कोष मे विशेष करो को (नियमनकारी करो को नही) शामिल करके 'बड़ा' बना दिया है। स्मरणीय है कि चौथे वित्त आयोग ने विशेष करो आदि को पृथक् रखा था, क्योकि इन्हे वितरण योग्य कोष मे शामिल करने से व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं और साथ ही उसकी राय मे ऐसे कर सघ सरकार द्वारा अपवाद भूत (Exception) होने चाहिये। पाँचवे वित्त आयोग ने इन्हे पहिले तीन वर्षों के लिये तो अलग रखा है किन्तु बाद के दो वर्षों के लिये शामिल कर लिया है (बशर्ते तब तक ये कर लगाये जाते रहे)।

जहाँ तक राज्यो के मध्य वितरण का प्रश्न है; कमीशन इस बात से प्रभावित हुआ कि राज्यो को हिस्सा देने का मुख्य उद्देश्य उनके प्रसाधनो को न्यायोचित रूप से बढाना है, ताकि वह अपनी बढती हुई आवश्यकताये पूरी कर सकें। उसकी राय मे राज्यो की आवश्यकताये मुख्यत: उसकी जनसख्या के आकार, उनकी सापेक्षिक आय, प्रसाधनो एव आर्थिक विकास के स्तरो पर निर्भर होती है। कमीशन योगदान (Contribution) सम्बन्धी घटक को भार देने के पक्ष मे नही था, क्योकि इच्छानुगत आधार पर बाँटे जाने वाले करो के वितरण मे वह उसकी राय मे कोई 'उपयुक्त' घटक नही था। उपभोग सम्बन्धी घटक को भी अनुपयुक्त समझा गया, क्योकि यह भी कम शहरी-राज्यों (Less urbanised states) के लिये अ-लाभप्रद रहता है। कमीशन की राय मे वितरण का आधार मुख्यत: जन-सख्या को बनाना चाहिये। साथ मे कोई अन्य घटक भी लिया जा सकता है, जैसे—प्रसाधन जुटाने के लिये नीची क्षमता (Low Potential) और आर्थिक एव सामाजिक विकास के सम्बन्ध मे पिछड़ापन। जिन राज्यो मे प्रति व्यक्ति आय का स्तर नीचा है वहाँ प्रसाधनो को जुटाने की क्षमता भी नीची होती है और इसलिये ऐसे राज्य ऊँची प्रति व्यक्ति आय वाले राज्यो की अपेक्षा अलाभप्रद स्थिति मे होते हैं। अत: कमीशन ने

यह न्यायोचित समझा कि औसत स्तर से नीची प्रति व्यक्ति आय वाले राज्यों को अधिक हिस्सा दिया जाय।

राज्य-क्रम से वितरण की स्कीम में आयोग ने जन-संख्या घटक को चतुर्थ आयोग के समान ही भार दिया (अर्थात् ८०%)। शेष २०% के सम्बन्ध मे आयोग ने कहा कि इसका दो-तिहाई उन राज्यो मे वितरित किया जाय जिनकी प्रति व्यक्ति आय औसत स्तर से नीची है (प्रत्येक राज्य का हिस्सा आय-न्यूनता और जनसख्या के गुणन-फल के अनुपात में निर्धारित किया जायगा) शेष (२०%का $\frac{1}{3}$) को सभी राज्यो मे पिछड़ेपन के सूचकांक के आधार पर बाँटा गया है। पिछड़ेपन के सूचकाक (Index of backwardness) बनाते समय आयोग ने निम्नांकित छह घटकों को विचार मे लिया है :—(i) अनुसूचित कबीलो की जनसख्या, (ii) प्रति-लाख कारखाना-श्रमिकों की सख्या, (iii) प्रतिकृषक शुद्ध सींचित क्षेत्रफल, (iv) प्रति १०० वर्ग किलो मीटर रेलो व पक्की सड़कों की लम्बाई, (v) स्कूल जाने की आयु वाले बालकों की तुलना में वास्तव मे स्कूल जाने वाले बालकों की सख्या एव (vi) प्रति हजार जन-संख्या पीछे अस्पताली शैयाओं की सख्या। कमीशन ने पिछड़ेपन के सूचकांक की तालिका प्रकाशित नहीं की है किन्तु इन छहों घटकों के सन्दर्भ में प्रत्येक राज्य की सापेक्षिक स्थिति को दर्शाया है।

(३) बिक्री-कर के बदले में अतिरिक्त उत्पादन कर—ऐसे अतिरिक्त कर केन्द्र द्वारा इस समय चीनी, वस्त्र और तम्बाकू पर लगाये जा रहे हैं और राज्यों को इनके प्राप्त धन मे भी हिस्सा दिया जाता है। विद्यमान वितरण-स्कीम के प्रति राज्यो ने कमीशन के सामने निम्न आपत्तियाँ उठाई :—(i) इनकी दरें नही बढाई गई हैं, यद्यपि बुनियादी उत्पादन कर की दरें काफी बढ गई हैं. एवं कुछ वस्तुओं पर विशेष उत्पादन कर लगाये गये हैं; (ii) विद्यमान स्कीम ने राज्यो को अपनी आय के एक महत्त्वपूर्ण स्रोत से वचित कर दिया है। किन्तु कुछ राज्य विद्यमान स्कीम को जारी रखने के लिये सहमत थे बशर्ते आय को पर्याप्त रूप से बढाने के लिये स्कीम मे कुछ सशोधन कर दिये जायें। अन्य राज्य सशोधन के बावजूद स्कीम को जारी रखने के पक्ष मे न थे। व्यापारियो के प्रतिनिधि मण्डल विद्यमान स्कीम से सामान्यतः सन्तुष्ट थे। कुछ ने राज्यों की आपत्तियो के निवारण के लिये यह सुझाव दिया कि जहाँ-जहाँ सम्भव हो अतिरिक्त करों की विद्यमान विशिष्ट दरो (Specific rates) को मूल्यानुसार दरो (Ad valorem rates) मे बदल दिया जाय तथा अन्य दशाओं में दरो को समय-समय पर सशोधित किया जाय। आयोग ने राज्यों की आपत्ति को सही पाया। १९५७-५८ से १९६७-६८ की मध्यावधि मे बुनियादी उत्पादन करो से आय मे ७०% वृद्धि हो गई थी किन्तु अतिरिक्त करो से आय ४५% बढ सकी थी। इन मदो पर यदि राज्यो को बिक्री कर लगाने की स्वतन्त्रता होती, तो वह उससे कहीं अधिक आय प्राप्त कर सकते थे जोकि उन्हें केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाई गई अतिरिक्त उत्पादन करों की आय के हिस्से के रूप मे प्राप्त होती है। कमीशन ने स्कीम को जारी रखने या न रखने का फैसला भारत सरकार पर छोड़ दिया, किन्तु विद्यमान स्कीम के जारी रहने की दशा में उसने इसमें कुछ संशोधनो की सिफारिशें कीं।

कमीशन की सिफारिश थी कि ड्यूटीज की दरें यथासम्भव मूल्यानुसार (Ad valorem) होनी चाहिये और उन्हें प्रचलित कीमतों तथा मिलती-जुलती मदो पर राज्यो द्वारा लगाये गये बिक्री कर के सामान्य स्तर के सन्दर्भ मे समय-समय पुनर्निरीक्षित किया जाता रहे। राज्यो के मध्य अतिरिक्त उत्पादन करो की आय के बंटवारे का सिद्धान्त इस प्रकार निश्चित किया गया—आय का एक भाग सघीय क्षेत्रो, जम्मू-काश्मीर और नागालैण्ड के लिये सुरक्षित रखा गया। शेष आय मे से एक नियत राशि (जो गारण्टीड राशि कहलायेगी) और मोटे रूप में राज्यो को १९५६-५७ मे, जबसे कि बिक्री-कर के बदले अतिरिक्त उत्पादन कर लगाया जाना

शुरू हुआ, इन मदों पर बिक्री-कर से हुई आय के बराबर होगी) राज्यों को दी जाती है। नियत राशि देने के बाद यदि कोई आधिक्य आय बचे तो वह उनमें आयोग द्वारा सिफारिश किये गये प्रतिशतों के अनुसार बाँटी जायेगी। पाँचवें वित्त आयोग ने संघीय क्षेत्रों और नागालैण्ड के हिस्से को १% और ०·०५% से बढ़ा कर क्रमश २·०५% और ०·०६%, किन्तु जम्मू-काश्मीर का भाग १·५% से घटाकर ०·८३% कर दिया है। संशोधित प्रतिशत उनकी क्रमिक जन-संख्या-अङ्कों के आधार पर नियत किये गये हैं जबकि पिछले प्रतिशत (कमीशन की राय में) तदर्थ आधार (Ad hoc basis) पर नियत थे। कमीशन गारण्टीड राशि के प्रश्न को दुबारा उठाने के पक्ष में न था किन्तु उसने जिस गारण्टीड राशि (=३२·४० करोड़ रु०) की सिफारिश की है वह पिछले दो आयोगों द्वारा निर्धारित राशि (=३२·५४ करोड़ रु०) से कम है। (यह कमी पंजाब व हरयाणा के विभाजनस्वरूप चण्डीगढ़ को सङ्घीय क्षेत्र बनाने का परिणाम है।)

गारण्टीड राशि से ऊपर अतिरिक्त आय (Surplus) के बँटवारे के सम्बन्ध में चौथे आयोग ने बिक्री-कर के संग्रह (१९६१-६२ से १९६३-६४ की अवधि) को आधार बनाया था। किन्तु पाँचवें आयोग ने बिक्री-कर संग्रह के घटक को आधार बनाने में कई दुर्बलतायें अनुभव की, जैसे—दरें राज्य प्रति-राज्य अलग-अलग हैं, विलास एवं अर्द्ध-विलास वस्तुओं के अधिक उपभोग के कारण धनी राज्यों में अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक वसूली होती है। कमीशन की राय में उपभोग घटक सर्वोत्तम आधार है किन्तु इस सम्बन्ध में आँकड़े पर्याप्त उपलब्ध न थे। सब बातों को ध्यान में रखते हुए आयोग ने सुझाव दिया कि आधिक्य का वितरण अंशत. जन-सङ्ख्या के आधार पर और अंशत. बिक्री-कर संग्रह (अन्तर्राज्यीय बिक्री-कर को शामिल न करते हुये) के आधार पर किया जाय। उसने इन दोनों घटकों को बराबर-बराबर भार दिया।

(४) सम्पदा-कर (Estate Duty)—सम्पदा-कर की शुद्ध प्राप्तियों में संघीय क्षेत्रों का हिस्सा २% से बढ़ाकर ३% कर दिया गया है। यह संशोधन इन क्षेत्रों में चंडीगढ़ को संघीय क्षेत्रों में शामिल किये जाने के फलस्वरूप जनसंख्या में हुई वृद्धि के कारण किया गया है। अचल सम्पत्ति के ग्रॉस मूल्य में हुई वृद्धि को भी विचार में लिया गया है। शेष राशि के राज्यों में वितरण के सम्बन्ध में सिद्धान्त वही रखे गये हैं जो कि पिछले आयोगों ने नियत किये थे। इस प्रकार विभिन्न राज्यों को प्रत्येक राज्य में 'स्थित' और 'कराधीन' अचल सम्पत्ति के ग्रॉस मूल्य के अनुपात में हिस्सा मिलेगा। अचल सम्पत्ति के अलावा अन्य सम्पत्ति के लिए नियत राशि राज्यों में जनसंख्या के अनुपात में बाँटी जायेगी। दोनों (चौथे और पाँचवें) आयोगों ने १९६१ की जनसंख्या के अंकों को आधार बनाया है तथापि पाँचवें आयोग ने प्रत्येक राज्य के लिये जो प्रतिशत हिस्से निर्धारित किये हैं वह चौथे आयोग द्वारा नियत प्रतिशतों की अपेक्षा हरयाना व पंजाब के लिए नीचे हैं किन्तु अन्य राज्यों के लिये ऊँचे।

(५) रेल-यात्री भाड़ों पर कर के बदले में अनुदान (Grant in lieu of Tax on Railway Passenger Fares)—इसके वितरण के सिद्धान्त वही रखे गये हैं जो कि चौथे आयोग ने नियत किये थे। प्रत्येक राज्य के लिए प्रतिशत हिस्से वहाँ स्थित रेल-मार्ग की लम्बाई के अनुसार, प्रत्येक रेल-क्षेत्र की यात्री भाड़े की १९६४-१९६७ की अवधि की औसत आय के आँकड़ों के आधार पर निर्धारित किये गये हैं। विद्यमान व्यवस्था के अनुसार १९७०-७१ तक राज्यों में वितरित की जाने वाली अनुदान राशि १६·२५ करोड़ रु० प्रति वर्ष है।

(II) संविधान के अनुच्छेद २७५ के अधीन सहायता-अनुदान—

इस प्रकार के अनुदान उन राज्यों को दिये जाते हैं जिन्हें पंचवर्षीय योजनाओं के अतिरिक्त अन्य आशयों के लिए सहायता की आवश्यकता है। कमीशन ने अनुमान लगाया है कि

१९६९-७४ की पाँच-वर्षीय अवधि के लिये राज्य सरकारों के कुल बजट-घाटे ७,३६८ करोड़ रु० होंगे। कमीशन ने इस बात पर बल दिया कि अनुदानों के प्रश्न पर विचार करते समय व्यापक प्रशुल्व-आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखा जाए, मात्र बजट-आवश्यकताओं को नहीं। राज्यों की आवश्यकताओं का अनुमान लगाते समय कमीशन ने विभागीय व्यापारिक स्कीमों के परिचालन व्ययों और प्राप्तियों, ब्याज व लाभांश की प्राप्तियों और ब्याज सम्बन्धी भुगतान व ऋण-व्यय आदि पर पृथक् से विचार किया। प्राप्तियों और भुगतानों में सम्बन्धित प्रमुख मदों के बारे में कमीशन ने पिछली प्रवृत्तियों, भविष्य की सम्भावनाओं और राज्यों की विशेष समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए उपयुक्त वृद्धि-दरें अपनाईं। अनुमान लगाया गया कि बिहार, गुजरात, हरयाना, म० प्र०, महाराष्ट्र, मैसूर, पंजाब और उ० प्र० को १९६९-७४ की अवधि में आधिक्य (Budget surplus) रहेगा। अतः मैसूर को छोड़कर शेष सात राज्यों को अनुदान नहीं दिये गये हैं। मैसूर को घटती हुई दर से अनुदान दिया गया है क्योंकि पाँच-वर्षीय अवधि में करों में हिस्से की औसत राशि चौथे वित्त आयोग की सिफारिश के आधार पर जो औसत राशि उसे मिलती है उससे कम रहेगी। मैसूर और अन्य नौ राज्यों को कमीशन ने पाँच-वर्षीय अवधि के लिए कुल ६३७ ८५ करोड़ रु० का सहायक अनुदान देने की सिफारिश की है। यह राशि चतुर्थ योजना आयोग द्वारा १९६६-७१ की पाँच-वर्षीय अवधि के लिए सिफारिश की गई राशि (=७०३·०५ करोड़ रु० ११ राज्यों के लिये) से कम है। पिछले आयोगों के असमान पाँचवें आयोग ने घटती हुई दर से वार्षिक राशियाँ निश्चित की हैं। यह पहिले वर्ष में १५२ ७३ करोड़ रु० और पाँचवें वर्ष में १०२ ४१ करोड़ रु० होगी।

(III) अतिरिक्त आय प्राप्त करने के लिये उपलब्ध क्षेत्र—

कमीशन ने अनुच्छेद २६९ में उल्लिखित प्रत्येक मद (अ—कृषि सम्पत्ति पर सम्पदा-कर और अन्तर्राष्ट्रीय बिक्री-कर को छोड़ते हुये) से आय बढ़ाने की सम्भावना पर विचार किया। कमीशन की राय में समाचारपत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों पर कर के लिये क्षेत्र था। आंकड़ों के अभाव में वह इस बात का निश्चय नहीं कर सका कि ऐसे कर से कितनी आय हो सकेगी। अतः कर की मात्रा, दर संरचना, अपवाद आदि की विस्तृत बातें भारत सरकार के निश्चय के लिये छोड़ दी गई। किन्तु कमीशन ने समाचार-पत्रों के विक्रय या क्रय पर कर लगाने का समर्थन नहीं किया, क्योंकि इससे उनके पढ़ने वालों की संख्या में कमी आने का डर था, जो पहिले ही अन्य देशों के मुकाबले भारत में बहुत कम है। उसने विभिन्न आधारों पर (जैसे—*न्यून-आय प्राप्तियाँ, प्रशासनिक कठिनाइयाँ, अर्थ-व्यवस्था पर कुप्रभाव आदि*) अनुच्छेद २६९ के शेष करों (यथा—अ-कृषि सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर, रेलों द्वारा ले जाये गये माल पर टर्मिनल टैक्स, समुद्र द्वारा जाने वाले यात्रियों पर कर, वायुयान से जाने वाले यात्रियों पर कर, हवाई माल परिवहन पर कर, रेल यात्री भाड़ों पर कर, रेल माल-भाड़ों पर कर स्टाम्प ड्यूटी के अलावा स्टाक विपणि और वायदा बाजारों में होने वाले व्यवहारों पर कर) के लगाने का भी समर्थन नहीं किया।

तत्पश्चात् आयोग ने संविधान की सातवीं अनुसूची की द्वितीय सूची में राज्य सरकारों के लिये सुरक्षित रखे गये करों से अतिरिक्त आय जुटाने की सम्भावनाओं पर विचार किया। राज्यों ने कमीशन को पर्याप्त आंकड़े प्रदान नहीं किये और उसके पास समय भी थोड़ा था। *अतः कमीशन ने केवल कुछ सामान्य सुझाव ही दिये और विस्तृत विचार का काम एक कर जाँच आयोग के लिये छोड़ दिया।* प्रत्येक राज्य की प्रति व्यक्ति आय के साथ उस राज्य की प्रति व्यक्ति रेवायू के अनुपात पर विचार करते हुये कमीशन ने यह पाया कि राज्यों के कर-प्रयासों (Tax-efforts) में बहुत विभिन्नता (Disparity) है। समस्त राज्य औसत से नीची प्रति